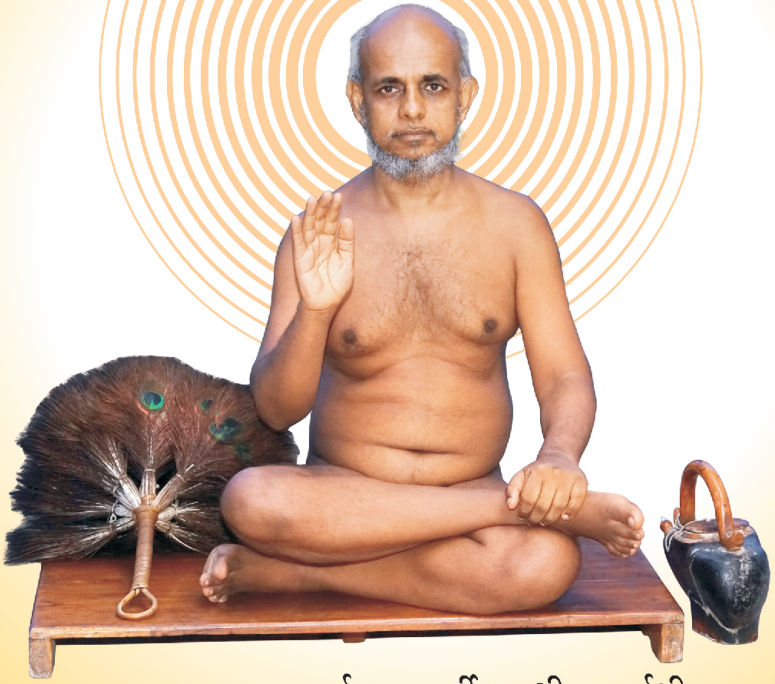

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

चन्द्रप्रभ चरितम्

ग्रन्थकर्त्ता

परम पूज्य आचार्यश्री वीरनन्दी जी महाराज

सम्पादक

अमृतलाल जी शास्त्री

प्रकाशक

जीवराज जैन ग्रन्थमाला
सोलापुर (महाराष्ट्र)

(परम्परानायक)

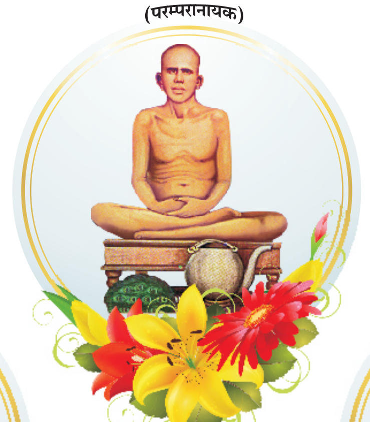

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

जीवराज जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थ २१

ग्रन्थमाला-संपादक
प्रो० आ० ने० उपाध्ये व प्रो० हीरालाल जैन

*

श्री-वीरनन्दि-विरचितं

चन्द्रप्रभचरितम्

(मुनिचन्द्रविरचित-विद्वन्मनोवल्लभाख्य-व्याख्यानेन गुणनन्दिकृत-पञ्जिकया च सहितम्)
हिन्दी अनुवाद, आलोचनात्मक प्रस्तावना व परिशिष्ट आदि सहित

सम्पादक
पं० अमृतलाल शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, साहित्याचार्य,
प्रो० जैनदर्शन विभाग, वा० संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

प्रकाशक
लालचन्द हिराचन्द दोशी
जैन संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापूर

वीर नि० सं० २४९७] सन् १९७१ [वि० सं० २०२८

मूल्य १६ रु० मात्र

प्रकाशक :
लालचन्द हिराचन्द दोशी
जैन संस्कृति संरक्षक संघ,
सोलापूर

— सर्वाधिकार सुरक्षित —

मुद्रक :
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग,
वाराणसी–५

JĪVARĀJA JAINA GRANTHAMĀLĀ, No 21

General Editors :

Dr. A. N. Upadhye & Dr. H. L. Jain

*

VĪRANANDIŚ

Candraprabha-Carita

(along with the Sanskrit-Commentay Vidvanmanovallabhā of Municandra and Pañjikā of Guṇanandi)

Critically Edited with Introduction, Appendices, etc.

by

Pt. Amritlal Shastri

Varanaseya Sanskrit Visva-Vidyalaya

Varanasi

B. 24, [illegible] Ganj

VARANASI.

Published by

Lalchand Hirachand Doshi

Jaina Saṃskṛti Saṃrakṣaka Saṅgha

Sholapur

1971

ALL RIGHTS RESEVERD

Price Rs. 16 only

First Edition; 1000 Copies

Copies of this book can be had direct from Jaina Saṁskṛti Saṁrakṣaka Saṅgha, Santoṣa Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs. 16/- per copy, exclusive of postage

जीवराज जैन ग्रन्थमालाका परिचय

सोलापूर-निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्दजी दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित सम्मतियाँ इस बातकी संग्रह कीं कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाये। स्फुट मत संचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्मकालमें ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपन्था (नासिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्र की और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' की स्थापना की सौर उसके लिए ३०००० तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गयी, और सन् १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,०००, दो लाखकी अपनी संपूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दिनांक १६-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिमरणकी आराधना की। इसी संघके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' का संचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी ग्रन्थमालाका इक्कीसवाँ पुष्प है।

अ नु क्र म

विषय	पृष्ठ
१. प्रधान सम्पादकीय	I-III
२. सम्पादकीय	१-२
३. प्रस्तावना—	३-३३
१. आदर्श प्रतियोंका परिचय	३-६
२. ग्रन्थ-परिचय	७
३. चं० च०की कथावस्तुका संक्षिप्त सार	८-१३
४. ,, ,, कथावस्तुका आधार	१४-१६
५. ,, ,, प्रासङ्गिक कथाएँ	१७
६. ,, में सैद्धान्तिक विवेचन	१८
७. ,, ,, तत्त्वोपप्लव आदि इतरदर्शनोंकी आलोचना	१८
८. ,, की जैन व जैनेतर ग्रन्थोंसे तुलना	१९
९. ,, ,, साहित्यिक सुषमा	२०-२४
१०. ,, में रस योजना	२५
११. ,, ,, अलङ्कार योजना	२६-२७
१२. ,, ,, छन्द योजना	२८
१३. ,, की समीक्षा	२८
१४. ग्रन्थकार-परिचय	२९-३१
१५. संस्कृत व्याख्या	३२
१६. संस्कृत पञ्जिका	३३
४. विषयानुक्रम	३४-४१
५. मूल ग्रन्थ : संस्कृत व्याख्या और हिन्दी भावानुवाद सहित	१-४५९
६. कवि प्रशस्ति	४६०-४६१
७. परिशिष्ट—	४६३-५६०
१. पञ्जिका	४६३-५०६
२. श्लोकानुक्रमणिका	५०७-५२९
३. संस्कृतव्याख्यान्तर्गत ग्रन्थान्तरोंके अवतरण	५३०-५४०
४. पञ्जिकान्तर्गत ग्रन्थान्तरोंके अवतरण	५४१-५४४
५. मूल ग्रन्थकी सूक्तियाँ	५४५-५४९
६. मूल ग्रन्थगत विशिष्ट-शब्द-सूची	५५०-५५६
७. व्याख्यान्तर्गत ,, ,, ,,	५५७
८. पञ्जिकान्तर्गत ,, ,, ,,	५५७
९. चं० च० में प्रयुक्त छन्दोंका विवरण	५५८
१०. संकेत-विवरण	५५९-५६०

प्रधान-सम्पादकीय

उपदेश चाहे छोटा हो या बड़ा, धार्मिक हो या नैतिक, सामाजिक व अन्य किसी विषयक, वह सामान्य जनोंके हृदयमें अथवा स्मृति-पटलपर तबतक स्पष्टतः स्थिरतासे अंकित होकर नहीं बैठता जबतक कि अनुभवमें आनेवाली जीवन-धारासे मेल मिलाकर न समझाया जाये। इसीलिए धर्मके प्रणेताओं तथा आचार्योंने आख्यानों तथा कथानकोंका बहुत उपयोग किया है। किसी भी धार्मिक साहित्यको देखिए, उसका अधिकांश भाग मूलतः कथा-प्रधान ही पाया जावेगा। हिन्दू धर्मके वेद, उपनिषद् व पुराण, बौद्ध धर्मका त्रिपिटक, ईसाई धर्मका बाइबिल आदि सभी ग्रन्थ आख्यानोंसे परिपूर्ण हैं और उनके प्रचारक प्रायः उन्हीं कथानकोंके द्वारा श्रोताओंके हृदयपर अपने धार्मिक तत्त्वों व नियमोंका प्रभाव जमानेका प्रयत्न करते हैं।

जैनधर्ममें यह कथा-प्रवृत्ति विशेष रूपसे मौलिक, प्राचीन तथा परिपुष्ट रही है। इसका कारण यह है कि यहाँ मनुष्यको क्रियाशील बनाने तथा अपने कृत्योंके लिए पूर्ण उत्तरदायी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। मानव-जीवनमें जो उत्कर्ष और अपकर्ष आते हैं, जो सुख और दुःखका घटना-चक्र चलता दिखाई देता है, उसमें विचारशील व्यक्तियोंको कार्य-कारण की श्रृंखला भी दृष्टिगोचर हो जाती है। परन्तु बहुजन समाजके लिए प्रकृतिकी नियामकता समझना-समझाना कठिन हो जाता है। फिर अनेक विषमताएँ तो ऐसी भी सामने आती हैं जिनके किसी नियमित कारणका पता लगाना प्रायः असम्भव हो जाता है। एकने राजाके महल तथा दूसरेने रंककी कुटियामें जन्म क्यों लिया? कोई सुन्दर व धनी तथा कोई कुरूप और दरिद्री क्यों? कोई नियमसे चलनेवाला भी व्याधि-पीड़ित तथा दूसरा खान-पानमें असंयमी रहता हुआ भी स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट क्यों? ईमानदारी करनेवाला व्यापारी उन्नति नहीं कर पाता, जबकि धन्धेमें सदैव धोखेबाजी करनेवाला नित्य उन्नति करता क्यों दिखाई देता है? इत्यादि, इत्यादि।

यों तो जो भी पौराणिक, ऐतिहासिक तथा लोक-प्रचलित व जनश्रुतिकी परम्परासे चले आये सभी प्रकारके कथानकों व आख्यानोंको ग्रहणकर जैनाचार्योंने उन्हें सुरुचिपूर्ण तथा अपने धार्मिक सिद्धान्तोंके अनुकूल बनाकर उन्हें अपने साहित्यमें स्थान देनेका प्रयत्न किया है। किन्तु उन्होंने कुछ ऐसे महापुरुषोंका भी चयन किया है जिनके जीवनकी घटनाएँ मनुष्यके मनको पाप-प्रवृत्तियोंसे विरक्त करके धर्म और पुण्यकी साधनाओंकी ओर विशेष रूपसे आकर्षित करनेमें प्रभावशाली हो सकती हैं। इन महापुरुषोंकी संख्या परम्परासे तिरेसठ मानी गयी है और उन महापुरुषोंको शलाका पुरुषकी संज्ञा दी गयी है। शलाकाका अर्थ है सींक या सलाई। अर्थात्—जिनका स्मरण रखनेके लिए उनके नामकी सींक रखी जाय वे शलाका पुरुष। इनमें प्रायः वे सभी अवतारी, पूज्य एवं प्रतापी पुरुष आ जाते हैं जिन्हें वैदिक परम्परामें भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। वे हैं चक्रवर्ती, वसुदेव, नारायण व इनके महाबलशाली शत्रु भी। किन्तु जिन्हें जैन धर्म व साहित्य-में विशेष रूपसे धर्मकी व्यवस्थाओंकी स्थापनाके लिए उच्च स्थान दिया गया है, वे हैं ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकर। सभी व अनेक तीर्थंकरों व अन्य तिरेसठ शलाका पुरुषोंके वंशों व जीवन वृत्तोंका वर्णन करनेवाले ग्रन्थोंको महापुराण माना गया है, और जिन ग्रन्थोंमें केवल एक-एक मात्र महापुरुषोंका वृत्तान्त हो उन्हें पुराण या चरितकी संज्ञा दी गयी है। चरितोंमें प्रायः उन छन्द, रस, भाव अलंकार आदि गुणोंका समावेश करनेका भी प्रयत्न किया गया है जिन्हें साहित्य-शास्त्रियोंने काव्यगुण कहा है। इस कारण इन चरित ग्रन्थोंने काव्य या महाकाव्यकी संज्ञा भी प्राप्त की है। ये रचनाएँ साहित्यकी उत्कृष्ट उपलब्धियाँ मानी जाती हैं।

जबहम प्राचीनसे लेकर अर्वाचीन जैन साहित्यको कालक्रमके अनुसार देखते हैं तब हमें यह भी ज्ञात हो जाता है कि इन काव्यमय महान् व विशाल पुराणों व चरितोंका विकास किस प्रकार हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि धर्मके व्याख्यानों व उपदेशोंको विशेष स्पष्ट, रोचक व हृदयग्राही बनानेके लिए कथाओं-का उपयोग आदिसे ही किया जाता रहा है। सामान्य मनुष्योंकी दृष्टिको धर्मकी ओर मोड़ने, अर्थात् मिथ्यादृष्टिको सम्यग्दृष्टि बनाने हेतु इन कथाओंका सर्व प्रथम योगदान था। इसी कारण इस कथानक-वर्णन-

को जैन आगममें प्रथमानुयोग अर्थात् धार्मिक शिक्षणका प्रथम चरण कहा गया है। आदिमें इन महापुरुषोंके चरितोंको पूर्णतः लिपिबद्ध किया गया प्रतीत नहीं होता। कथानकोंके नायकोंके नाम, उनके माता-पिताके नाम, जन्म-नगरो, जन्मादि निर्वाण पर्यन्त विशेष अवसरोंकी तिथियाँ आदि ही लिख ली जाती थीं, या याद कर ली जाती थीं, तथा इनका विस्तारसे वर्णन गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा मौखिक रूपसे चलता था। लेखन-सामग्रीकी कठिनाई व अपरिग्रही मुनियों द्वारा साहित्य-सामग्री को लेकर निरन्तर विहार करनेमें असुविधा आदि इसके कारण हो सकते हैं। इन मुख्य-मुख्य बातोंकी सूचियोंको नामावलि कहते थे। स्वयं जैन पौराणिक परम्परा अनुसार प्राचीन पुराणकारों व चरित-रचयिताओंने इस बातका उल्लेख किया है कि उन्हें अपनी रचनाओंकी आधारभूत सामग्री 'नामावलि निबद्ध' ही प्राप्त हुई थी। स्थानांग व समवायांग आदि जैन आगमोंमें ऐसी ही नामावलियाँ प्राप्त होती हैं। तिलोय-पण्णत्तिमें समस्त तीर्थंकरोंका विवरण ऐसी ही नामावलियोंमें पाया जाता है। यह शैली जैन साहित्यमें निरन्तर प्रचलित रही और 'दस ठाणा' 'बीस ठाणा' आदि समय-समय पर संकलित की गयी सूचियाँ आजतक भी प्रचलित हैं। इन्हें कितने ही जैन मुनि कण्ठस्थ भी कर लेते हैं। इन नामावलियोंके आधारसे कथानायकोंके जीवन-चरित्रका उपदेश देनेमें यह तो एक त्रुटि अवश्यम्भावी है कि उसमें समस्त घटनाओंके वर्णनमें एकरूपता नहीं हो सकती। किन्तु दूसरी दृष्टिसे ये ही त्रुटियाँ और दोष उन कथाओं और आख्यानोंके विकासमें सहायक सिद्ध हुए हैं। प्रत्येक गुरु उनके मौलिक ढाँचेको सुरक्षित रखकर उसका विस्तार अपनी प्रतिभानुसार करनेके लिए स्वतन्त्र था। इसी स्वतन्त्रताके फलस्वरूप धीरे-धीरे न केवल कथाओंको उत्तरोत्तर अधिक विस्तृत, रोचक, रोमाञ्चकारी व नाना शैलियोंमें वर्णित किया गया, किन्तु उनमें अलंकार युगमें नाना काव्य गुणोंका तथा प्रसंगानुसार अवान्तर कथाओंका समावेश भी होने लगा। पुराणों व चरितोंको इस विकासशीलताके उदाहरण देनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं हैं; जैन साहित्यिक इतिहासका अवलोकन करनेसे वह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत चन्द्रप्रभ-चरितकी रचना ग्यारहवीं शतीमें हुई है। यह युग भारतीय साहित्यमें छन्द, अलंकार व रस-भावादि काव्यगुणोंके विकासमें चरम सीमापर पहुँच चुका था। अतएव इस चरितकी रचनामें युगकी इस विशेषताका पूरा प्रतिबिम्ब पाया जाता है। धार्मिक दृष्टिसे यह युग बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इसमें एक ओर दार्शनिक व सैद्धान्तिक चिन्तनका, और दूसरी ओर न्याय शैली तथा उसकी खण्डन-मण्डन वृत्तियोंका बहुत उत्कर्ष हुआ। वैदिक परम्परामें षड् दर्शनोंका सुव्यवस्थित रूप सामने आ चुका था तथा शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मण्डन मिश्र आदि महान् दार्शनिक व तार्किक भी हो चुके थे। चार्वाक दर्शन भी परिपुष्ट हो चुका था। तत्त्वोपप्लवसिंह जैसी रचनाएँ भी प्रसिद्ध हो चुकी थीं। जैन समाजमें समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्दि आदिके द्वारा जैन दर्शन और न्यायने उक्त सभी सैद्धान्तिक धाराओंसे लोहा लिया। इस सबका यथोचित प्रतिबिम्बन भी प्रस्तुत रचनामें पाया जाता है। कथाके नायक एक जैन तीर्थंकर थे, तथा मुनियोंकी रचनाओंका उद्देश्य सदैव धार्मिक प्रतिपादन और प्रचार रहा है। अतएव इस रचनामें पद-पदपर प्रसंगानुसार जैन तत्त्वोंका विवरण उपस्थित किया गया है। जैन मान्यताका यह एक सुदृढ़ आधार-स्तम्भ है कि आत्मा अनादि-निधन है, अमर और शाश्वत है, एवं व्यक्ति जब जैसा है वह बहुत अंशमें उसके पूर्व जन्म-जन्मान्तरोंमें किये गये पाप-पुण्यात्मक कर्मोंका परिणाम है। इसी बातको शृंखलाबद्ध बताने हेतु प्रायः कथानकके अनेक, पूर्व जन्मोंका भी वर्णन किया जाता है। और वह वर्णन केवल इहलौकिक मात्र नहीं रहता, किन्तु इस लोकमें किये गये अच्छे-बुरे कर्मोंका परिणाम स्वर्गके सुख व नरककी यातनाओंके सहन द्वारा दर्शाया जाता है। इसका जैन साहित्यमें कितना महत्त्व है यह इसीसे प्रकट होगा कि प्रस्तुत चरितमें कथानक चन्द्रप्रभ तीर्थंकरके छह पूर्व भवोंका वर्णन किया गया है और वह संक्षेपमें नहीं, किन्तु इतने विस्तारसे कि ग्रन्थके प्रथम पन्द्रह सर्ग उसीमें घिर गये हैं, जबकि उनके तीर्थंकर जन्मका चरित मात्र अगले तीन सर्गोंमें वर्णित है। तीर्थंकर चरितका ढाँचा बहुत कुछ बँधा

हुआ है, क्योंकि उसमें वैयक्तिक घटनाएँ बहुत कम हुआ करती हैं, मुख्यतासे उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पाँच कल्याणकोंके वर्णनकी प्रधानता रहती है। फिर भी ऐसा नहीं है कि यह वर्णन कहीं-से जैसाका तैसा रख दिया गया हो। उसमें कविकी अपनी मौलिकता स्पष्ट दिखाई देती है, जिससे वह समस्त विवरण नीरस नहीं किन्तु बहुत सरस पाया जाता है। कविने अपनेसे पूर्वकालीन रचनाओं, जैसे पद्मपुराण, हरिवंश पुराण तथा आदि और उत्तर पुराणमें वर्णित चन्द्रप्रभके जीवनवृत्तको अपना आधार बनाया है। फिर भी रचना-शैली व काव्यकी दृष्टिसे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने उनकी नकल की है। यथार्थतः उनकी रचनामें उक्त पूर्व रचनाओंकी शाब्दिक छाया प्रायः बिल्कुल ही नहीं पायी जाती।

इस चरित या काव्यके रचयिता वीरनन्दिका जैन मुनि-परम्परामें बहुत ऊँचा स्थान है। यह इसी बातसे सिद्ध है कि गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपनेको उनका 'वत्स' कहा है तथा पार्श्वनाथ चरितके कर्ता वादिराज सूरिने उनकी भारतीको कुमुद्वतीके समान 'चन्द्रप्रभाभिसम्बद्ध,' 'रसपुष्ट' और 'मनःप्रिय' कहकर स्मरण किया है। इसपर टीका और पंजिका भी लिखी गयी, तथा उसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ उत्तरसे दक्षिण भारत तक शास्त्रभण्डारोंमें पायी जाती हैं। ये इस रचनाके लोक-प्रियता व प्रचार के प्रमाण हैं।

यह ग्रन्थ पहले भी एक बार मुद्रित हो चुका था, और उसका एक अनुवाद भी छप चुका था। किन्तु वे प्रकाशन न तो इस युगके विद्वत्समाजकी आलोचनात्मक रुचिके अनुकूल थे और न अब उनकी प्रतियाँ ही उपलब्ध थीं। ऐसी अवस्थामें यह आवश्यक समझा गया कि इस प्राचीन रचनाका एक अच्छा संस्करण तैयार कराकर प्रकाशमें लाया जाये। बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि इसका यथेष्ट रीतिसे सम्पादन और अनुवाद पं० अमृतलालजी शास्त्रीने बड़े प्रयासपूर्वक सम्पन्न किया। उन्होंने पूर्वमुद्रित पाठको भी अपने सम्मुख रखा तथा विविध स्थानोंसे प्राप्त भिन्न-भिन्न कालीन सात हस्तलिखित प्रतियोंका मिलान करते हुए पाठ-शोधन किया एवं उन प्रतियोंके पाठान्तर भी संकलित कर पाद-टिप्पण रूपसे दे दिये। उनका अनुवाद भी भावानुवाद होते हुए भी मूल रचनाके साथ पूर्ण न्याय करता है। और भाषाकी दृष्टिसे भी परिमार्जित एवं धारावाही है जिससे मूल आख्यान व वर्णन ही नहीं, किन्तु उसकी काव्य-कलाका भी पाठकको पर्याप्त मात्रामें रसास्वादन मिल सकता है। उन्होंने ग्रन्थकी प्राचीन टीका एवं पंजिकाका भी उनकी अनेक उपलभ्य प्राचीन प्रतियोंपरसे उद्धारकर प्रस्तुत संस्करणमें समावेश कर दिया है। उन्होंने अपनी ३३ पृष्ठकी प्रस्तावनामें सम्पादन-सामग्री, ग्रन्थकार और रचना तथा टीका व पंजिकाके विषयमें सभी ज्ञातव्य बातोंका विवेचन कर दिया है, तथा परिशिष्टोंमें मूल रचनाके पद्यों, व्याख्या व पंजिकामें उद्धृत अवतरणों एवं उनके विशिष्ट शब्दोंकी अनुक्रमणिकाएँ भी संलग्न कर दी हैं। इस प्रकार इस महाकाव्यका प्रस्तुत संस्करण सर्वांग परिपूर्ण कहा जा सकता है जिसके लिए प्रधान सम्पादक पं० अमृत-लाल शास्त्रीके अनुगृहीत हैं।

हमें बारम्बार कहना पड़ता है और कहे बिना रहा भी नहीं जाता कि जिस जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ द्वारा संचालित जीवराज ग्रन्थमालामें इस ग्रन्थका प्रकाशन हो रहा है उसके संस्थापक स्वर्गीय जीव-राज गौतमचन्दजी दोशीकी धार्मिक भावना उनके द्वारा संगठित ट्रस्टके सदस्यों व अधिकारियोंको निरन्तर प्रेरित करती रहती है जिसके फलस्वरूप प्राचीन जैन साहित्यके ऐसे अनुपम रत्नोंको खोजकर उत्तम रीति-से प्रकाशमें लाया जा रहा है। उक्त ट्रस्टके अध्यक्ष श्रीमान् लालचन्द हीराचन्द व मन्त्री श्री बालचन्द देवचन्द शाहके हम विशेष रूपसे कृतज्ञ हैं कि वे इस ग्रन्थमालाकी उन्नति और विकासमें [illegible] व जागरूक रहते हैं।

मैसूर
बालाघाट

आ० ने० उपाध्ये
हीरालाल जैन

सम्पादकीय

'चन्द्रप्रभचरितम्' की रचना महाकवि वीरनन्दीने विक्रमकी ग्यारहवीं शतीके पूर्व भागमें की थी। इसकी संस्कृतव्याख्या-'विद्वन्मनोवल्लभा' मुनिचन्द्रने वि० सं० १५६० में और संस्कृत पञ्जिका गुणनन्दीने वि० सं० १५९७ लिखी जो अभी तक अप्रकाशित रहीं।

१६९१ पद्यों में परिसमाप्त प्रस्तुत चरित महाकाव्यमें अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभका शिक्षाप्रद जीवनवृत्त प्राञ्जल संस्कृत भाषामें वर्णित है।

चन्द्रप्रभका जन्म वाराणसीके निकट चन्द्रपुरीमें, जो सम्प्रति 'चन्द्रवटी', 'चंदरौटी' या 'चन्द्रौटी' नामसे प्रसिद्ध है, राजा महासेन और रानी लक्ष्मणाके यहाँ हुआ था।

प्रस्तुत महाकाव्य केवल मूल रूपमें सबसे पहले सन् १८९२ में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद और पं० वासुदेव शर्माके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था।

पं० रूपनारायण पाण्डेय कृत इसका हिन्दीरूपान्तर हिन्दी साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बईसे सन् १९१६ में मुद्रित हुआ था। इसमें मूलग्रन्थको स्थान नहीं दिया गया था।

आरा, कारंजा, जयपुर, दिल्ली, सोलापुर और ब्यावरसे प्राप्त बारह हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंके आधारपर मूल, व्याख्या और पञ्जिकाका सम्पादन करके प्रस्तुत महाकाव्य हिन्दी भावानुवादके साथ अब इस नये परिवेशमें पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत है।

इस संस्करणकी विशेषताएँ:—१. शुद्ध पाठ; २. संस्कृत व्याख्या; ३. संस्कृत पञ्जिका; ४. मूलानुगामी हिन्दी भावानुवाद; ५. प्रस्तावना; ६. पाठान्तर, टिप्पण तथा परिशिष्ट

आभार :—पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने जीवराज ग्रन्थमालासे इसके सम्पादन व अनुवादका कार्य दिलवाया और संस्कृत व्याख्याकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ भी भेजीं। डॉ० नेमिचन्द्रजी आरा, पन्नालालजी अग्रवाल देहली, डॉ० कस्तूरचन्द्रजी जयपुर, पं० माणिकचन्द्रजी चवरे कारंजा और पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री ब्यावरने हस्तलिखित प्रतियाँ भेजीं। पं० मिलापचन्द्रजी-रतनलालजी कटारियाने विबुध श्रीधरके 'पासनाथचरिउ' के कतिपय पद्योंकी चं० च० के पद्योंसे तुलना करके भेजी। पं० कमलाकान्तजी शुक्ल वाराणसीने व्याख्याकारके काल निर्धारणमें साहाय्य प्रदान किया। पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरने समवसरणसे सम्बद्ध नौ पद्योंके अनुवादमें सहयोग दिया। पं० दलसुखजी मालवणिया अहमदाबाद, डॉ० मोहनलालजी मेहता वाराणसी, अगरचन्द्रजी नाहटा बीकानेर, पं० परमानन्दजी शास्त्री देहली, डॉ० गुलाबचन्द्रजी चौधरी, नवनालन्दा और पं० के० भुजबलीजी शास्त्री धारवाडने पत्रोंके उत्तर दिये। स्थानीय जैन विद्वानोंने उत्साह बढ़ाया। डॉ० गोकुलचन्द्रजीने कलापूर्ण मुद्रणकी ओर ध्यान दिया। पं० महादेवजी चतुर्वेदी, पं० हरगोविन्दजी द्विवेदी, पं० शिवदत्तजी मिश्र और पं० रामाभिलाषजी त्रिपाठी आदि भारतीय ज्ञानपीठके विद्वानोंने पहल. प्रूफ देखा और कम्पोजीटर महावीरजी आदिने कम्पोज करनेमें सावधानी बरती। अतएव इन सभी महानुभावोंका हृदयसे आभारी हूँ।

मेरे ऊपर सबसे अधिक आभार डॉ० ए० एन० उपाध्येका है, जिन्होंने सम्पादन सम्बन्धी अनेक सूचनाएँ भेजीं, प्रारम्भके पाँच फार्मोंके प्रूफ स्वयं देखे, पूरी प्रस्तावना पढ़कर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये और बीच-बीचमें न जाने कितने पत्र भेजकर उत्साहकी मात्राको बढ़ाया। अतएव मैं आपका कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन श्रीजीवराजग्रन्थमाला, सोलापुरकी ओरसे हुआ है, अतः उसके संस्थापक विद्यानुरागी स्व० ब्र० जीवराजजी के प्रति आभार व्यक्त करना मेरा मुख्य कर्तव्य है। दोनों ग्रन्थमालाके मुख्य सम्पादकोंका भी आभारी हूँ।

क्षमा प्रार्थनाः—सावधानी बरतनेपर भी मूल ग्रन्थके दो स्थलोंमें दो अशुद्धियाँ हो गयी हैं—१. नाभिसरोवरम् (रः) (१३,७) और २. काञ्चनमेदिनीषु जनयति धिषणाम् (१४,२८)। इनके स्थानमें शुद्ध पाठ ऐसे होने चाहिए थे—१. नाभिसरो वरम् (१३,७)। यहाँ नाभिसरो विशेष्य है और वरम् उसका विशेषण। २. काञ्चनमेदिनीषु सततं जनयति धिषणाम्। इनके अतिरिक्त कुछ प्रूफ या प्रेस सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी रह गयी हैं, पर उनकी संख्या बहुत कम है। ये अशुद्धियाँ ऐसी नहीं जो भ्रामक हों।

प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन सन् १९५९ में प्रारम्भ किया था, पर मेरी दीर्घसूत्रताके कारण इसके प्रकाशनमें इतना अधिक विलम्ब हो गया है। यदि उपाध्येजी बार-बार शीघ्रताके लिए पत्र न लिखते तो और भी विलम्ब हो सकता था। अतएव अन्तमें ज्ञात-अज्ञात अशुद्धियों और विलम्बके लिए मैं पाठकों एवं उपाध्येजीसे क्षमा प्रार्थी हूँ।

—*अमृतलाल शास्त्री*

प्रस्तावना

[१] आदर्श प्रतियों का परिचय

चन्द्रप्रभचरितम्‌के प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन निम्नांकित हस्तलिखित बारह—मूल (७), संस्कृत-व्याख्या (३) और पञ्जिका (२) की प्राचीन प्रतियोंके आधार पर किया गया है—

मू० १. अ—यह प्रति कारंजाकी है। यह ११६/८ × ५ इंच लम्बे-चौड़े १३० पत्रों (२६० पृष्ठों) में समाप्त हुई है। दोनों ओर डेढ़-डेढ़ इंच का हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्या ८-८ है, पर अन्तके दो पृष्ठों पर ९-९। प्रति पंक्ति लगभग ३५-३६ अक्षर हैं। लिपि सुन्दर एवं सुवाच्य है। इसमें पडिमात्रा या पृष्ठमात्राका उपयोग किया गया है। 'सर्गः'के स्थानमें 'सर्ग्रः' एवं 'च्छ'के स्थान में 'छ' लिखा हुआ है। यत्र-तत्र हासियोंमें टिप्पण भी दिये गये हैं। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। इसमें कलासनाथस्य""इत्यादि (१.५९), ज्ञानमागमनिरोधि""इत्यादि (७.५२) तथा कविप्रशस्तिका यः श्रीवर्म नृपो बभूव""इत्यादि (६) पद्य नहीं हैं। आदिभाग—ॐ नमः सिद्धेभ्यः। श्रियं क्रियाद्यस्य""इत्यादि। पुष्पिका—इति श्रीवीरनंदिकृताबुदयांके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्ग्रः ॥१॥छ॥ अन्तिम भाग—स्वस्ति श्री संवत् १५९१ वर्षे आषाढमासे। कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ सोमवासरे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे। बलात्कारगणे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्रीपद्मनंदिदेवा तत्पट्टे भ० श्रीसकलकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० भुवनकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० ज्ञानभूषणदेवाः तत्पट्टे श्री विजयकीर्तिदेवाः तच्छिष्य श्री ब्र० श्री हंसाख्यः तच्छिष्यब्रह्माराजपालपठनार्थं चंद्रप्रभकाव्यं चिरं तिष्ठतु भूतले। गुरुशिष्ययोः शुभं भूयात्। श्लोक संख्या २३४०॥ चंद्रप्रभकाव्यम।

मू० २. आ—यह प्रति कारंजाकी है। १२ × ५१/२ इञ्च लम्बे-चौड़े ४८ पत्रों (९६ पृष्ठों) में इसकी समाप्ति हुई है। दोनों ओर एक-एक इञ्चका हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ १६-१६ पंक्तियाँ हैं, और प्रति पंक्ति ५१-५२ अक्षर हैं। इसमें भी अङ्कों और मात्राओंकी आकृति 'अ' प्रतिके समान है। ऊपर और नीचेके रिक्त भागोंमें छोटे-छोटे सघन अक्षरोंमें टिप्पण भी दिये गये हैं। इसमें ग्रन्थकारकी प्रशस्तिके पद्य नहीं हैं। इसका लेखन काल १६४३ है। आदि भाग—ॐ नमो वीतरागाय॥ ॥ श्रियं क्रियाद्यस्य""इत्यादि। पुष्पिका—इति श्री वीरनंदिकृताबुदयांके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्ग्रः ॥छ॥१॥ अन्तिम भाग—इति श्री सिद्धान्तवेदी श्रीवीरणंद्याचार्यकृतौ चंद्रप्रभस्वामीमहाकाव्यं समाप्तमिति। संवत् १६४३ वर्षे एकादशी तिथौ भौमवासरे तुलवदेशे बंगबाटिपत्तने जैनराज्यसुराज्ये शान्तीश्वरचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये महामुनीश्वरश्रीमहेन्द्रकीर्तिदेवरुश्रीचिक्कमहेन्द्रकीर्तिदेवरुगुरूणां पादपद्माराधकभट्टारकश्रीभुवनकीर्तितछीस्यब्रह्मज्ञानसागरस्वहस्तेन लखितं स्वपठनार्थं कर्मक्षयार्थं। शुभं भवतु कल्याणमस्तु। मंगल महा श्री श्री श्री ॥श्री॥ ॥श्री॥ ॥श्री॥

मू० ३. इ—यह प्रति भी कारंजाकी है। यह ११३/४ × ५ इञ्च लम्बे-चौड़े ७९ पत्रों (१५८ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ९ (पृ० १४ तक), १० (पृ० १५-३८), ११ (पृ०३९-७४), १० (पृ०७५-७९) और प्रति पंक्ति अक्षरसंख्या प्रारम्भमें ३७-३८ है पर आगे चलकर ४५-४६। दोनों ओर एक-एक इञ्चका हासिया छूटा है। इसमें भी प्रशस्ति-पद्य नहीं हैं, और न टिप्पण भी। अङ्कों और मात्राओं-को आकृति कहीं-कहीं 'अ'-'आ' प्रतियोंके समान भी है। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। इसका भी लेखन-काल १६४३ है। आदि भाग—श्रीवीतरागाय नमः। अथ चन्द्रप्रभस्वामिमहाकाव्य लिख्यते। श्रीयं क्रिया-द्यस्य""इत्यादि। पुष्पिका—इति विनंदिकृताबुदयांके चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥१॥ अन्तिम-भाग—॥ गद्य ॥ इति श्रीवीरणंदिकृताबुदयांक चन्द्रप्रभचरित्त महाकाव्ये निर्वाणगमनो नाम अष्टादशः सर्गः ॥ ꣸ ॥ १८॥ इति श्रीसिद्धान्तवेदी श्रीवीरणंद्याचार्यक्रतो चन्द्रप्रभस्वामीमहाकाव्य संपूर्ण समाप्त-

मिति। संवत् १६४३ वर्षे एकादशीतिथौ भौमवासार तुलवादशे बंगवाडिपत्तने जिनराज्यसुराज्य शान्तिश्वरचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे बलात्कारगणे श्रीकुंकुंदाचार्यान्वये महामुनीश्वरश्रीमहेन्द्रकीर्तिदेवरु-श्रीचिक्कमहेन्द्रकीर्तिदेवरुगुरुणां पादपद्माराधकभट्टारकश्रीभुवनकीर्ति तच्छीस्य ब्रह्मज्ञानसागरस्वहास्तन लिखितं स्वपरपठनार्थं कर्मक्षयार्थं ॥ ॥ शुभं भवतु ॥ कल्याणमस्तु ॥ मंगल महा श्री श्री श्री ॥श्री॥ ॥ श्री ॥ ॥ श्री ॥ छ ॥ ९ ॥ ⫶ ॥ ९ ॥ उक्त तीनों प्रतियोंकी प्राप्ति पं० माणिकचन्द्रजी चवरे कारंजाकी कृपासे हुई।

मू० ४. क—यह प्रति नयामन्दिर, धर्मपुरा, दिल्लीकी है। इसका नम्बर ३८ (क) है। यह १२×६३⁄४ इञ्च लम्बे-चौड़े ११२ पत्रों (२२४ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ ७-७ पंक्तियाँ हैं, कहीं-कहीं ८-८ भी। प्रतिपंक्ति अक्षर संख्या कहीं ४५ तो कहीं ५२ है। लिपि सुन्दर एवं सुवाच्य है, पर अक्षर सर्वत्र एक-से नहीं हैं—१० वें सर्ग तक बड़े-बड़े हैं, और आगे (११-१८) छोटे-छोटे, यद्यपि लेखक एक ही है। कहीं-कहीं टिप्पण भी हैं। लेखन काल सं० १८९९ है। आदिभाग—ओं नमो वीतरागाय—श्रियं क्रियाद्यस्य....इत्यादि। पुष्पिका—इति वीरनंदिकृतावुदयांके चन्द्रप्रभे विरचते महाकाव्ये प्रथमसर्गः ।१। अन्तिम भाग—पूर्ण संवत् १८९९ भाद्रपद शुक्ल ४ गुरुवासरे अस्मिन् ग्रन्थे श्लोकानि द्विसहस्त्रद्विशतविंशतिप्रमाणानि सर्गाः अष्टादशं इदं महाकाव्यं लिपीकृतं श्रावकअगरवालबखतावरसिंह स्वपठनार्थं लिखी दील्लीनगर्यां लाला गीरधारी लालजी पंडत श्रावक तिनोंसे इदं महाकाव्यं मया अधीतं। शुभं भवतु कल्याणमस्तु।

मू० ५. ख—यह प्रति नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्लीकी है। इसका नम्बर अ ३८ (ख) है। यह १२×६ इञ्च लम्बे-चौड़े १४४ पत्रों (२२८ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ पंक्तिसंख्या १० है, और प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ३०। यत्र-तत्र टिप्पण भी हैं। आदि भाग—ओं नमो वीतरागाय। श्रियं क्रियाद्यस्य...इत्यादि। पुष्पिका—इति वीरनंदिकृतावुदयांके चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥१॥ अन्तिमभाग—संवत् १८७२ कार्तिक कृष्णसप्तम्यां बुधवासरे अस्मिन् श्लोकानि द्विसहस्त्रद्विशतविंशतिप्रमाणानि। सर्गाः अष्टादशं। इदं महाकाव्यं गिरधारीलालश्रावकपठनार्थं लिपीकृतं गोपालविप्रेण मेरठनगर्यां।

मू० ६. ग—यह प्रति भी नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्लीकी है। इसका नं० अ ३८ (ग) है। यह १०१⁄२×५ इञ्च लम्बे-चौड़े १६२ पत्रों (३२४ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ८ और प्रति पंक्ति अक्षरसंख्या २९ है। अक्षर सघन और सुवाच्य हैं। यत्र-तत्र टिप्पण भी हैं। लेखन कालका उल्लेख नहीं है। आदि भाग—॥६०॥ ओं नमो वीतरागाय ॥ श्रियं क्रियाद्यस्य....इत्यादि। पुष्पिका—इति वीरनंदिकृतावुदयांके चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥१॥ अन्तिम भाग—ग्रंथप्रमाणं २२२० सर्गाः अठारेहं भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्तिना दत्तं विबुधाय रूपशिने पठनार्थं पावल्यां मध्ये।

मू० ७. घ—यह प्रति पञ्चायती मन्दिर, मसजिद खजूर, दिल्लीकी है। इसका नं० आ ७ है। यह ११×५ इञ्च लम्बे-चौड़े ११० पत्रों (२१९ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या १० और प्रति पंक्ति अक्षरसंख्या ३३ पर कहीं-कहीं-कहीं ३६ भी है। प्रथम पत्र एक ही ओर लिखा गया है और अन्तिम पत्रमें ४ पंक्तियाँ छूटी हुई हैं। अक्षर साधारण हैं। टिप्पणोंकी मात्रा अधिक नहीं है। आदि भाग—ओं नमो वीतरागाय ॥ श्रियं क्रियाद्यस्य....इत्यादि। पुष्पिका—इति वीरनंदिकृतावुदयांके चन्द्रप्रभविरचिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥१ अन्तिमभाग—संवत् १८७५ वैसाषकृष्णतृतीयायां बृहस्पतवासरे लिखितमिदं पुस्तकं दिल्लीमध्ये श्रीभट्टारकश्रीललितकीर्तिजि तच्छिष्यपण्डितरत्नचंदपठनार्थं। शुभमस्तु लेखकपाठकयोः। श्री

देहलीकी उक्त चारों प्रतियोंके पाठ प्रायः एक-से हैं, अतः इनकी प्रतिलिपि किसी एक ही आदर्श प्रतिसे की गयी प्रतीत होती है। इन चारों प्रतियोंमें अशुद्धियोंकी बहुलता है। ये चारों प्रतियाँ श्री पन्नालालजी अग्रवाल, देहलीके सौजन्यसे प्राप्त हुईं।

म—मूलग्रन्थके सम्पादनमें उक्त हस्तलिखित प्रतियोंके साथ निर्णयसागरीय मुद्रित प्रति (चतुर्थ संस्करण, सन् १९२६) का भी उपयोग, पाठान्तर लेने की दृष्टिसे किया गया है।

चं० च० की संस्कृत व्याख्या—'विद्वन्मनोवल्लभा'का सम्पादन निम्नाङ्कित हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर किया गया है—

व्या० १. आ—यह जैन सिद्धान्तभवन, आराकी प्रति है, जो १३ × ८½ इञ्च लम्बे-चौड़े ३०६ पत्रों (६१२ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रति पृष्ठ २० पंक्तियाँ हैं, और प्रतिपंक्ति प्रायः २३ अक्षर हैं। बाईं ओर एक इञ्ची और दाईं ओर आधा इञ्ची हासिया छूटा है। कागज पुष्ट, सफेद रंगका है। इसे दो लेखकोंने पूरा किया है। एकके अक्षर अत्यन्त सुन्दर हैं, और दूसरेके अत्यन्त भद्दे। एकने गाढ़ी चटकीली काली स्याहीसे लिखा, और दूसरेने फीकी नीली स्याहीसे। आदि भाग—श्री सरस्वत्यै नमः। श्री चन्द्रप्रभाय नमः। श्री चारुकीर्तिमुनये नमः। श्री कामयक्षज्वालामालिन्यै नमः। शुभमस्तु। चन्द्रप्रभसंस्कृतव्याख्यानम्। निर्विघ्नमस्तु। पुष्पिका—इति श्री वीरनंदिकृता उदयांके चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ अन्तिम भाग—शकवर्ष १७६१ नेयविकारिसंवत्सरदमाघ शुद्ध १ डयदल्लुश्रीमच्चारुकीर्तिपंडिताचार्यवर्यस्वामियवरपादकमलभृंगोपमानियादबेलगुलदयि वर्गदवशिष्टगोत्रदविजयंणैयनुयीचंद्रप्रभकाव्यदव्याख्यानपुस्तकबरद्रु संपूर्णवायि तु आचन्द्रार्कपर्यंतं भद्रं शुभं मंगलं ॥ यह प्रति डॉ० नेमिचन्द्रजी, आराके सौजन्यसे प्राप्त हुई।

व्या० २. श—यह प्रति श्राविकाश्रम, सोलापुरकी है। यह १२¾ × ७ इञ्च लम्बे-चौड़े १७८ पत्रों (३५६ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। दोनों ओर २-२ इञ्चका हासिया छूटा है। पंक्तिसंख्या प्रथम पृष्ठपर १५, अन्तिमपर १० और शेषपर १६-१६ है। प्रति पंक्ति अक्षरसंख्या कहीं ३८ कहीं ४० और कहीं ५६ भी है। अक्षर सर्वत्र एक-से नहीं हैं, यद्यपि लेखक एक ही है। कहीं गाढ़ी तो कहीं फीकी काली स्याहीका उपयोग किया गया है। पत्रोंपर अङ्क डालनेमें सावधानी नहीं बरती गयी। कागज पुष्ट, पीले रंगका है, पर बाईं ओरका कोना गल गया है। आदिभाग—श्रीचन्द्रप्रभाय नमः। शुभमस्तु। निर्विघ्नमस्तु ॥ वंदेहं सहजानन्दकंदलीकंदबंधुरं चंद्रांकं चंद्रसंकाशं चंद्रनाथं स्मराहरं ॥ पुष्पिका—इतिवीरनंदिकृता उदयांके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ अन्तिमभाग—स्वर्गिणो देवाः। पंचमं परिनिर्वाणाख्यं ॥। कल्याणं मंगलकार्यं। प्रविधाय। स्वं स्वं स्वकीयं स्वकीयं ॥ पदं स्थानं। अगुः ययुः। लुङ् ॥१५४॥ ॥ इति वीरनंदिकृतावुदयांके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये अष्टादशः सर्गः ॥१९॥

व्या० ३ स—यह अपूर्ण प्रति भी श्राविकाश्रम, सोलापुरकी है। इसमें १३½ × ८ इञ्च लम्बे-चौड़े १५९ पत्र (३१८ पृष्ठ) हैं। दोनों ओर १-१ इञ्च का हासिया छूटा है। प्रति पृष्ठ पंक्तिसंख्या १५-१५ और प्रतिपंक्ति अक्षरसंख्या प्रायः ३२-३३ है। उक्त दो व्या० प्रतियोंकी भाँति इसमें भी अक्षरोंकी बनावट सर्वत्र एक-सी नहीं है। हासियों, और पूर्ण विरामोंमें गाढ़ी लाल स्याही तथा व्या० लेखनमें चटकीली गाढ़ी काली स्याही प्रयुक्त हुई है। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। इसमें आदिके बारह सर्गोंकी व्याख्या है। इसमें भी उपान्त्य ११०वें पद्यकी व्याख्या अधूरी है और अन्तिम १११वें की व्याख्या है ही नहीं। इसमें भी लेखनकाल अङ्कित नहीं है। आदिभाग—श्रीचन्द्रप्रभाय नमः। शुभमस्तु। निर्विघ्नमस्तु ॥ वंदेहं सहजानंदकंदलीकंदबंधुरं। चंद्रांकं चंद्रसंकाशं चंद्रनाथं स्मराहरं ॥ पुष्पिका—इति वीरनंदिकृता उदयांके चंद्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥१॥ अन्तिमभाग—समरं संग्रामं वा। प्रदिशामि। इत्येवं। द्व्याश्रयैः द्वयमवलंबनं आश्रयो येषां तैः। वचनैः वचोभिः। रिपुदूतः रिपोः शत्रोर्दू (इस प्रतिकी समाप्ति यहीं हो जाती है।)।

'श' तथा 'स' प्रतियोंकी प्रतिलिपि किसी एक ही आदर्श प्रतिसे की गयी है। यदि कहीं थोड़ा-बहुत पाठभेद है भी, तो उसका कारण लिपिककी असवधानता है। ये दोनों प्रतियाँ पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीके सौजन्यसे प्राप्त हुईं।

प्रस्तुत महाकाव्यकी संस्कृतपञ्जिकाका सम्पादन निम्नलिखित हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर किया गया है—

पं० १. ब—यह प्रति ऐ० प० दि० जैन सरस्वती भवन, ब्यावरकी है। यह १२×५ इञ्च लम्बे-चौड़े ५३ पत्रों (१०४ पृष्ठों) में समाप्त हुई है। प्रारम्भके १८ पत्रोंपर दोनों ओर १-१ इञ्चका हासिया छूटा है। प्रथम और अन्तिम पत्र एक ही ओर लिखे गये हैं। प्रतिपृष्ठ पंक्तिसंख्या ११-११ (१२वें पृ० तक) तथा शेष पृष्ठोंपर १३-१३ है। प्रति पंक्ति अक्षर संख्या प्रायः ४०-४० है। लिपि सुवाच्य है, पर सुन्दर नहीं। कागज पतला, पीले रंगका है। अवस्था जीर्ण-शीर्ण है। इसमें लेखनकाल नहीं दिया गया। आदिभाग—स्वस्ति श्री सरस्वात्ये। श्री श्रुतमुनिमुनये नमः ।। प्रणम्य वीरं नृसुरासुरस्तुतं प्रकृष्टबोधं विबुधेष्ट-सन्मतं। करिष्यते शंसयधामभंजिका मायाथ चंद्रप्रभकाव्यपंजिका ।। अन्तिमभाग—इति चंद्रप्रभकाव्यपंजि-कायां अष्टादशः सर्गः समाप्तः ।।१८।। दशीयगणेऽग्रगण्यः प्रधानः। गुणनन्दी इत्यर्थः ।। ।।छ।।छ।।छ।।

पं० २. ज—यह प्रति श्री महावीर दि० जैन शोधसंस्थान, जयपुरकी है। यह १०×४$\frac{3}{4}$ इञ्च लम्बे-चौड़े ८६ पत्रों (१७० पृष्ठों) में समाप्त हुई है। दोनों ओर १-१ इञ्चका काली स्याहीका हासिया छूटा है। प्रथम और अन्तिम पत्र केवल एक ही ओर लिखे गये हैं। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या १० और प्रति पंक्ति अक्षर संख्या प्रायः ३५ है। कागज पुष्ट, पीले रंगका है। 'ब' प्रतिकी भाँति इसमें भी गाढ़ी काली स्याही-का उपयोग किया गया है। अक्षर सुवाच्य एवं सुन्दर हैं। 'ब' प्रतिकी भाँति इसमें अशुद्धियोंकी बहुलता नहीं है। इसमें भी लेखनकालका उल्लेख नहीं है। प्रतियोंकी स्थिति व मात्राओंकी आकृतिसे इतना स्पष्ट है कि 'ज' प्रतिसे 'ब' प्रति प्राचीन है। आदिभाग—।। स्वस्ति श्री सरस्वत्यै ।। श्री श्रुतमुनिमुनये नमः ।। प्रणम्य वीरं नृसुरासुरस्तुतं प्रकृष्टबोधं विबुधेष्टसन्मतम्। करिष्यते शंशयधामभंजिका मयाथ चंद्रप्रभकाव्यपंजिका ।।१।। अन्तिमभाग—इति चंद्रप्रभकाव्यपंजिकायां अष्टादशः सर्गः ।।१८।। देशीयगणेऽग्रगण्यः प्रधानः। गुण-नन्दी इत्यर्थः ।। ।।छ।।श्रीः।।ब।।श्रीः।।ब।। ।।

सम्पादन पद्धति

[क] शुद्ध पाठ

१. उक्त सातों ह० लि० मूल प्रतियोंके पाठोंमें जो शुद्धतम प्रतीत हुआ, उसे मूलमें रखकर अन्य सभी प्रतियोंके, जिनमें एक मुद्रित प्रति भी सम्मिलित है, पाठोंको पृथक्-पृथक् संकेत चिह्नोंके साथ नीचे स्थान दिया गया है। जहाँ उनके पाठोंसे व्याख्यान्तर्गत मूल पाठ और भी अधिक शुद्ध जान पड़ा, वहाँ उसीको मूलमें मिलाकर सभी प्रतियोंके पाठोंको पाठान्तरोंमें स्थान दिया गया है, और इसकी सूचना भी वहीं दे दी गयी है। व्याख्याका स्वरूप जैसा भी हो, पर उसकी सबसे बड़ी विशेषता है लगभग पचासी प्रतिशत मूलपाठोंकी शुद्धि। व्याख्यामें पहले मूलको स्थान देकर बादमें उसका अर्थ खोला है।

२. व्याख्याकी तीन प्रतियोंमें 'आ' और 'श' अपेक्षाकृत प्राचीन हैं, और 'स' अर्वाचीन। 'स' प्रति अपूर्ण है और अशुद्ध भी। अन्य दो प्रतियोंमें अशुद्धियाँ कम हैं। इन्हीं तीन प्रतियोंके आधार पर व्याख्याको शुद्ध बनानेका प्रयास किया गया है। तीनोंमें जिसका पाठ शुद्ध ज्ञात हुआ उसे यथास्थान रखकर शेषके पाठोंको तत्तत् सङ्केतोंके साथ नीचे पाठान्तरोंके रूपमें स्थान दिया गया है।

कहीं-कहीं अत्यावश्यकता पड़नेपर (   ) इस कोष्ठकमें सम्पादक ने अपनी ओरसे भी लिखा है, और कहीं-कहीं पाठान्तरोंके साथ नीचे भी, जिसे = इस चिह्न से पहचाना जा सकता है।

३. पञ्जिकाकी दो प्रतियोंमें 'ज' अधिक शुद्ध है। 'ज' की तुलनामें 'ब' में अधिक पाठ छूटे हुए हैं। दोनों में जिसका पाठ शुद्ध ज्ञात हुआ, उसे यथास्थान रखकर अन्य प्रतिके पाठको संकेत चिह्नके साथ नीचे पाठान्तरोंमें स्थान दिया गया है। जहाँ दोनोंके ही पाठ अशुद्ध प्रतीत हुए वहाँ (   ) ऐसे कोष्ठकमें सम्पादककी ओरसे नया पाठ प्रस्तुत किया गया है।

[ख] अवतरणोंके चिह्न और मूल स्थलोंके निर्देश

प्रस्तुत ग्रन्थकी व्याख्यामें ३२९ तथा पञ्जिकामें ६३ अवतरण ग्रन्थान्तरोंके हैं। उन्हें '   ' इस चिह्नसे पहचाना जा सकता है। अधिकांश अवतरणोंके मूल स्थलोंके निर्देश [   ] ऐसे कोष्ठकोंमें किया गया है, और अशुद्ध अवतरणोंको मूल ग्रन्थोंके आधारपर शुद्ध भी किया गया है।

उद्धृत कोषवाक्योंके मूल स्थलोंका निर्देश अनेकार्थध्वनिमञ्जरी, अनेकार्थ नाममाला, अनेकार्थसंग्रह, अभिधानचिन्तामणि, अमरकोष, धनञ्जयनाममाला, विश्वप्रकाश, विश्वलोचन और वैजयन्ती–इन ९ संस्कृत कोषोंके आधारपर कर दिया है, पर 'विश्व' कोषके न मिलनेसे उसके स्थलोंका निर्देश नहीं किया जा सका। इस कोषके अवतरण जैन व जैनेतर काव्योंकी टीकाओंमें पाये जाते हैं, पर यह ज्ञात नहीं हो सका कि यह प्रकाशित है या अप्रकाशित।

अप्रकाशित कोष—प्राचीन संस्कृत कोष पद्य शैलीमें निबद्ध मिलते हैं, पर चं० च० की व्याख्यामें नानार्थकोषके नामसे लगभग पन्द्रह अवतरण गद्यसूत्रोंके रूपमें हैं। अर्हद्दासकृत मुनिसुव्रतकाव्यम् और पार्श्वाभ्युदयम्की सं० टी० में भी इसी कोषके अनेक अवतरण हैं, पर मुनिसु० की सं० टी० में पृ० १४३ पर जिस अवतरणके आगे 'नानार्थकोषे' लिखा है, उसीके आगे पृ० १८१ पर 'नानार्थरत्नकोषे'। संभवतः इस कोषके दो नाम प्रसिद्ध रहे हों। जो कुछ भी हो, यह कोष अभी तक कहींसे प्रकाशित नहीं हुआ। जैन साहित्यका बृहद् इतिहास भाग ५ (पृ० ९३) से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता असग थे।[1]

[ग] टिप्पण

प्रस्तुत ग्रन्थमें व्याख्याकारके अभिप्रायको स्पष्ट या पुष्ट करनेके लिए यत्र-तत्र टिप्पण भी दिये गये हैं, जिनमें कुछ तुलनात्मक भी हैं। टिप्पणोंमें कुछ अन्य ग्रन्थोंके, विशेषतः कोषोंके अनेक वाक्य उद्धृत किये गये हैं। प्रायः प्रत्येक पृष्ठके नीचे मूल ग्रन्थ और उसकी व्याख्याके पाठान्तरोंके साथ ही टिप्पण दिये गये हैं। तीनोंके लिए हिन्दी अङ्कोंका उपयोग किया गया है। मूल श्लोकों और व्याख्याके पदोंपर डाले गये अङ्कोंके आधारपर नीचे डाले गये अङ्कोंको देखकर यह स्पष्टतया समझा जा सकता है कि मूलके या व्याख्याके पाठान्तर कौनसे हैं। टिप्पण, पाठान्तरोंमें रले-मिले हैं, पर वे '=' इस चिह्नसे पृथक् ही समझे जा सकते हैं।

[घ] परिशिष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तमें निम्नलिखित परिशिष्ट जोड़े गये हैं—१. संस्कृत पञ्जिका, २. मूलग्रन्थकी पद्यानुक्रमणिका, ३. व्याख्याके अवतरणोंकी अनुक्रमणिका, ४. पञ्जिकाके अवतरणोंकी अनुक्रमणिका, ५. मूलग्रन्थकी सूक्तियाँ, ६. मूल ग्रन्थ गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ७. व्याख्यान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ८. पञ्जिकान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची, ९. चं० च० में प्रयुक्त छन्दोंका विवरण और १०. संकेत विवरण।

[२] ग्रन्थ-परिचय

नाम—अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभके जीवन वृत्तको लेकर लिखे गये प्रस्तुत महाकाव्यका नाम 'चन्द्रप्रभचरितम्' है, जैसा कि प्रतिज्ञावाक्य (१,९), पुष्पिका वाक्यों तथा 'श्रीजिनेन्दुप्रभस्येदं चरितं' इत्यादि पद्य (पृ० ४६०) से स्पष्ट है।

---

१. 'नानार्थ कोश' के रचयिता असग नामक कवि थे, ऐसा मात्र उल्लेख प्राप्त होता है। वे शायद दिगम्बर जैन गृहस्थ थे। वे कब हुए और ग्रन्थकी रचनाशैली कैसी है, यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं होनेसे कहा नहीं जा सकता।—जैन साहित्यका बृ० इ० भाग ५ पृ० ९३

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओंमें निबद्ध प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्योंके परिशीलनसे ज्ञात होता है कि उनके चरितान्त नाम रखनेकी परम्परा प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। उपलब्ध काव्योंमें विमलसूरिका 'पउमचरियं' प्राकृत चरित काव्योंमें, अश्वघोषका 'बुद्धचरितम्' संस्कृत काव्योंमें तथा स्वयम्भू कविका 'पउमचरिउ' अपभ्रंश काव्योंमें सर्वाधिक प्राचीन हैं। इन तीनोंमें प्रारम्भके दो काव्य ई० की प्रथम शतीके तथा तीसरा ई० की सातवीं शतीका है। प्रस्तुत महाकाव्यका नाम इसी परम्पराके अनुकूल है।

विषय—प्रस्तुत ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त है, जो इसके अठारह सर्गोंमें समाप्त हुआ है। प्रारम्भके पन्द्रह सर्गोंमें चरितनायकके छह अतीत भवोंका और अन्तके तीन सर्गोंमें वर्तमान भवका वर्णन किया गया है। सोलहवें सर्गमें गर्भकल्याणक, सत्रहवेंमें जन्म, तप और ज्ञान तथा अठारहवेंमें मोक्ष कल्याणक वर्णित हैं। महाकाव्योचित प्रासङ्गिक वर्णन और अवान्तर कथाएँ भी यत्र-तत्र गुम्फित हैं। सभी सर्गोंके अन्तिम पद्योंमें 'उदय' शब्दका सन्निवेश होनेसे यह 'उदयाङ्क' कहलाता है।

[३] चं० च० की कथावस्तुका संक्षिप्तसार

चं० च० में चरितनायकके राजा श्रीवर्मा, श्रीधरदेव, सम्राट् अजितसेन, अच्युतेन्द्र, राजा पद्मनाभ, अहमिन्द्र और चन्द्रप्रभ—इन सात भवोंका विस्तृत वर्णन है, जिसका संक्षिप्तसार इस प्रकार है—

१. राजा श्रीवर्मा—पुष्करार्ध द्वीपवर्ती सुगन्धि[१] देशमें श्रीपुर नामक पुर था। वहाँ राजा श्रीषेण निवास करते थे। उनकी पत्नी श्रीकान्ता[२] पुत्र न होनेसे सदा चिन्तित[३] रहा करती थी। किसी दिन गेंद खेलते बच्चोंको देखते ही उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उसकी सखीसे इस बातको सुनकर राजा श्रीषेण उसे समझाते हुए कहते हैं—देवि, चिन्ता न करो। मैं शीघ्र ही विशिष्ट ज्ञानी मुनियोंके दर्शन करूँगा, और उन्हींसे पुत्र न होनेका कारण पूछूँगा। कुछ ही दिनोंके पश्चात् वे अपने उद्यानमें अचानक आकाशसे उतरते हुए चारणऋद्धिके धारक मुनिराज अनन्त के दर्शन करते हैं। तत्पश्चात् प्रसङ्ग पाकर वे उनसे पूछते हैं—'भगवन् ! मुझे वैराग्य क्यों नहीं हो रहा है ?'। उन्होंने उत्तर दिया—'राजन् ! पुत्र प्राप्ति-की इच्छा रहनेसे आपको वैराग्य नहीं हो रहा है। अब शीघ्र ही पुत्र होगा। अभी तक पुत्र न होनेका कारण आपकी पत्नीका पिछले जन्मका अशुभ निदान है।' घर जाकर वह अपनी पत्नीको पुत्र होनेकी उक्त बातको सुनाता है। वह प्रसन्न हो जाती है। दोनों धार्मिक कार्योंमें संलग्न रहने लगते हैं। इतनेमें आष्टाह्निक पर्व आ जाता है। दोनोंने आठ-आठ उपवास किये, आष्टाह्निक पूजा की और अभिषेक भी। कुछ ही दिनोंके बाद रानी गर्भधारण करती है[४]। धीरे-धीरे गर्भके चिह्न[५] प्रकट होने लगे। नौ मास बीतनेपर पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है। उसका नाम श्रीवर्मा रखा गया। वयस्क होनेपर राजा उसका विवाह करके युवराज बना देता है। उल्कापात देखकर राजाको वैराग्य हो जाता है। फलतः वह श्रीवर्माको अपना राज्य सौंपकर श्रीप्रभ[६] मुनिसे जिनदीक्षा लेकर घोर तप करता है और फिर मुक्ति कन्याका वरण करता है। पिताके वियोगसे वह कुछ दिनों तक शोकमग्न रहता है। शोकके कम होनेपर वह दिग्विजयके लिए प्रस्थान करता है। उसमें वह पूर्ण सफल होकर घर लौटता है। शरत्कालीन मेघको शीघ्र ही विलीन होते देखकर उसे वैराग्य हो जाता है। फलतः वह अपने पुत्र श्रीकान्त[७] को अपना उत्तराधिकार देकर श्रीप्रभ मुनिके निकट जाकर दीक्षा ग्रहण करता है और घोर तपश्चरण करने लगता है।

---

१. पुराणसार संग्रह (७६,२) में देशका नाम गन्धिल लिखा है। २. पुराणसा० (७६,३) में श्रीमती नाम दिया है। ३. उ० पु० (५४,४४) में राजाका चिन्तित होना लिखा है। ४. उ० पु० (५४, ५१) में गर्भधारण करनेसे पहले चार स्वप्न देखनेका उल्लेख है, और पुराणसा० (७६,५) में पाँच स्वप्न देखनेका। ५. पुराणसा० में गर्भचिह्नोंकी चर्चा नहीं है। ६. उ० पु० (५४,७३) में मुनिका नाम श्रीपद्म और पुराणसा० (७८,१९) में श्रीधर लिखा है। जिस वनमें दीक्षा ली थी, उसका नाम उ० पु० में शिवंकर और पुराणसा० में प्रियंकर दिया है। ७. पुराणसा० (७८,१९) में श्रीकान्तके स्थानमें श्रीधर लिखा है।

२. श्रीधरदेव—घोर तपश्चरणके प्रभावसे श्रीवर्मा पहले स्वर्गमें श्रीधरदेव होता है। वहाँ उसे दो सागरोपम आयु प्राप्त होती है। उसका अभ्युदय अन्य देवोंसे कहीं अच्छा है। देवियोंकी दृष्टि उसे स्थायी उत्सव समझती है।

३. सम्राट् अजितसेन—धातकी खण्ड द्वीपके अलका नामक देशमें कोशला[१] नगरी है। वहाँ राजा अजितंजय और रानी अजितसेना[२] निवास करते हैं। श्रीधर देव इन्हींका पुत्र–अजितसेन[३] होता है, जो वयस्क होते ही युवराज बना दिया जाता है। अजितंजयके देखते-देखते उसके सभाभवनसे अजितसेनको कुख्यात चण्डरुचि नामक असुर पिछले जन्मके वैरके कारण उठा ले जाता है। राजा व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाता है। इसी बीच तपोभूषण मुनि पधारते हैं और यह कहकर वापिस चले जाते हैं कि युवराज कुछ दिनोंके बाद सकुशल घर आ जायगा।[४] उधर वह असुर उसे बहुत ऊँचाईसे एक तालाबमें गिरा देता है। मगर-मच्छोंसे जूझता हुआ वह किसी तरह किनारेपर पहुँच जाता है। वहाँ से वह ज्यों ही परुषा नामकी अटवीमें प्रवेश करता है त्यों ही एक भयङ्कर आदमीसे द्वन्द्व छिड़ जाता है। पराजित होनेपर वह अपने असली रूपको प्रकट कर कहता है—'युवराज, मैं मनुष्य नहीं देव हूँ। मेरा नाम हिरण्य है। मैं आपका मित्र हूँ, पर आपके पौरुषके परीक्षणके लिए मैंने ऐसा व्यवहार किया है, क्षमा कीजिए। पिछले तीसरे भवमें आप सुगन्धि देशके नरेश थे। आपकी राजधानीमें एक दिन शशीने सेंध लगाकर सूर्यके सारे धनको चुरा लिया था। पता लगनेपर आपने शशीको कड़ा दण्ड दिया, जिससे वह मर गया और फिर वह चण्डरुचि असुर हुआ। इसी वैरके कारण उसने आपका अपहरण किया। बरामद धन उसके स्वामीको वापिस दिलवा दिया। युवराज, वही शशी मरनेके बाद हिरण्य नामकदेव हुआ, जो इस समय आपसे बात कर रहा है।'[५]

तत्पश्चात् युवराज विपुलपुरकी ओर प्रस्थान करता है। वहाँके राजाका नाम जयवर्मा, रानीका जयश्री और उनकी कन्याका शशिप्रभा था। महेन्द्र नामक एक राजा जयवर्मासे उसकी कन्याकी मंगिनी करता है, पर किसी निमित्तज्ञानीसे उसे अल्पायुष्क जानकर वह स्वीकृति न दे सका। इससे क्रुद्ध होकर महेन्द्र जयवर्माको युद्धके लिए ललकारता है। युवराज जयवर्मा का साथ देता है और युद्धमें महेन्द्रको मार डालता है। इससे प्रभावित होकर जयवर्मा युवराजके साथ अपनी कन्या शशिप्रभाका विवाह करना चाहता है। इतनेमें विजयार्ध भी दक्षिण श्रेणीके आदित्यपुरका राजा धरणीध्वज जयवर्माको सन्देश भेजता है कि वह अपनी कन्याका विवाह मेरे (धरणीध्वज) के साथ करे। इसके लिए जयवर्मा तैयार नहीं होता। फलतः भयङ्कर युद्ध छिड़ जाता है। पूर्वचर्चित हिरण्यदेवके सहयोगसे युवराज अजितसेन धरणीध्वजको भी युद्धभूमिमें स्वर्गवासी बना देता है। इसके उपरान्त जयवर्मा शुभमुहूर्तमें युवराज अजितसेनके साथ अपनी कन्याका विवाहकर देता है। फिर उसके साथ अपने नगरकी शोभा बढ़ाता है। वहाँ अजितंजय उसे अपना उत्तराधिकार सौंप देते हैं। चक्रवर्ती होनेसे वह चौदह रत्नों एवं नौ निधियोंका स्वामित्व प्राप्त करता है। तीर्थङ्कर स्वयंप्रभके निकट अजितंजय जिन दीक्षा ले लेता है और सम्राट्के हृदयमें सच्ची श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) जाग उठती है। दिग्विजयमें पूर्ण सफलता प्राप्त करके सम्राट् अजितसेन राज्यका संचालन करने लगता है। किसी दिन एक उन्मत्त हाथीने एक मनुष्यकी हत्या कर डाली, इस दुःखद घटना[६] को देखकर सम्राट्को वैराग्य हो जाता है, फलतः वह अपने पुत्र जितशत्रुको उत्तराधिकार सौंपकर शिवंकर[७] उद्यानमें गुणप्रभ मुनिके निकट जिनदीक्षा ग्रहण कर लेता है और घोर तपश्चरण करता है।

---

१. उ० पु० (५४,८७) में और पुराणसा० (८०,२२) में नगरीका नाम अयोध्या लिखा है। २. पुराणसा० (८०,२३) में रानीका नाम श्रीदत्ता लिखा है। ३. उ० पु० (५४,८९) में श्रीधर देवके गर्भमें आनेसे पहले रानीके आठ शुभस्वप्न देखनेका भी उल्लेख है। ४. इस घटनाका उल्लेख उ० पु० और पुराणसा० में नहीं है। ५. इस घटनाका उल्लेख उ० पु० तथा पुराणसा० में नहीं है। ६. इस घटनाका उल्लेख उ० पु० और पुराणसा० में नहीं है। इन दोनोंमें सम्राट्के द्वारा अरिंदम मुनिको आहार दिये जानेका उल्लेख है, जो चं० च० में नहीं है। ७. उ० पु० (५४-१२२) में उद्यानका नाम 'मनोहर' लिखा है।

४. अच्युतेन्द्र—घोर तपश्चरण करनेसे वह अच्युतेन्द्र हो जाता है। वहाँ वह बाईस सागरोपम आयुकी अन्तिम अवधि तक दिव्यसुखका अनुभव करता है।

५. राजा पद्मनाभ—आयु समाप्त होनेपर अच्युतेन्द्र अच्युत स्वर्गसे चयकर धातकीखण्डवर्ती मङ्गलावती देशके रत्नसंचयपुरमें राजा कनकप्रभ[1] के यहाँ उनकी पट्टरानी सुवर्णमाला[2] की कुक्षिसे पद्मनाभ नामक पुत्र होता है। किसी दिन एक बूढ़े बैलको दलदलमें धँसकर मरते देखकर कनकप्रभको वैराग्य हो जाता है[3]। फलतः वह अपने पुत्र पद्मनाभको राज्य दे देता है और श्रीधर मुनिसे जिनदीक्षा लेकर दुर्धर तप करता है। पिताके विरहसे वह कुछ दिन दुःखी रहता है। फिर मन्त्रियोंके प्रयत्नसे वह अपने राज्यका संचालन करने लगता है। कुछ काल बाद अपने पुत्रको युवराज बनाकर वह अपनी रानी सोमप्रभा[4] के साथ आनन्दमय जीवन बिताने लगता है। किसी दिन मालीके द्वारा श्रीधर मुनिके पधारनेके शुभ समाचार सुनकर पद्मनाभ उनके दर्शनोंके लिए मनोहर उद्यानमें जाता है। दर्शन करनेके पश्चात् वह उनके आगे अपनी तत्त्वजिज्ञासा प्रकट करता है। वे तत्त्वोपप्लव आदि दर्शनोंके मन्तव्योंकी विस्तृत मीमांसा करते हुए तत्त्वोंके स्वरूपका निरूपण करते हैं। उसे सुनकर पद्मनाभका संशय दूर हो जाता है। इसके पश्चात् पद्मनाभके पूछनेपर वे उसके पिछले चार भवोंका विस्तृत वृत्तान्त सुनाते हैं। इस वृत्तान्तकी सत्यतापर कैसे विश्वास हो ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए मुनिराजने कहा—'राजन् ! आजसे दसवें दिन एक मदान्ध हाथी अपने झुण्डसे बिछुड़कर आपके नगरमें प्रवेश करेगा। उसे देखकर मेरे कथनपर विश्वास हो जायगा।' इसके उपरान्त मुनिराजसे व्रत ग्रहणकर वह अपनी राजधानीमें लौट आता है। ठीक दसवें दिन एक मदान्ध हाथी सहसा राजधानीमें घुसकर उपद्रव करने लगता है। पद्मनाभ उसे अपने वशमें कर लेता है, और उसपर सवार होकर वनक्रीड़ाके लिए चल देता है। इसी निमित्तसे उस हाथीका 'वनकेलि' नाम पड़ जाता है। क्रीड़ाके पश्चात् पद्मनाभ उसे अपनी गजशालामें बँधवा देता है[5]। राजा पृथिवीपाल इस हाथीको अपना बतलाकर वापिस करवाना चाहता है। पद्मनाभके इनकार करनेपर दोनोंमें युद्ध छिड़ जाता है। युद्धमें पृथिवीपाल मारा जाता है। इसके कटे सिरको देखकर पद्मनाभको वैराग्य हो जाता है, फलतः वह श्रीधर मुनिसे जिनदीक्षा लेकर सिंहनिष्क्रीडित आदि व्रतों व तेरह प्रकारके चारित्रका परिपालन करता हुआ घोर तप करता है। कुछ ही समयमें वह द्वादशाङ्ग श्रुतका ज्ञान प्राप्त करता है और सोलह कारण भावनाओंके प्रभावसे तीर्थङ्कर प्रकृतिका बन्ध कर लेता है।

६. वैजयन्तेश्वर—आयुके अन्तमें संन्यासपूर्वक भौतिक शरीरको छोड़कर पद्मनाभ वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र होते हैं, और तेतीससागरोपम आयुकी अन्तिम अवधि तक वहाँ वे दिव्यसुखका अनुभव करते हैं।

७. तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ—इनका जन्मस्थान पूर्वदेश[6] की चन्द्रपुरी[7] है।

---

१. पुराणसा० (८२-३२) में कनकाभ नाम दिया है। २. पुराणसा० (८२-३२) के अनुसार रानीका नाम कनकमाला है। ३. इस घटनाकी चर्चा उ० पु० और पुराणसा० दोनोंमें नहीं है। ४. उ० पु० (५४-१४१) में पद्मनाभकी अनेक रानियाँ होनेका संकेत है। ५. उ० पु० और पुराणसा० में इस घटनाका तथा इसके बाद होनेवाले युद्धका उल्लेख नहीं है। ६. वाराणसीसे आसामतकका पूर्वी भारत 'पूर्वदेश' के नामसे प्रख्यात रहा। उ० पु०, पुराणसा०, त्रिषष्टिशलाकापुरुष० और त्रिषष्टिस्मृति० में इस देशका उल्लेख नहीं है। ७. त्रिषष्टिशलाकापुरुष० (२९६,१३) में इस नगरीका नाम 'चन्द्रानना', उ० पु० (५४,१६३) में 'चन्द्रपुर', पुराणसा० (८२,३९) में 'चन्द्रपुर', तिलोयपण्णत्ती (४,५३३) में 'चन्द्रपुर' और हरिवंश (६०,१८९) में 'चन्द्रपुरी' लिखा है। सम्प्रति इसका नाम 'चन्द्रवटी' 'चन्द्रौटी' या 'चंदरौटी' प्रसिद्ध है। यह वाराणसीसे १८ मील दूर गङ्गाके बायें तटपर है। यहाँ दि० व श्वे० सम्प्रदायके दो अलग-अलग जैनमन्दिर हैं।

माता-पिता—इनकी माताका नाम लक्ष्मणा[1] और पिताका नाम महासेन है। यह पट्टरानी थी। इक्ष्वाकुवंशी महासेन अनेकानेक गुणोंकी दृष्टिसे अनुपम रहे। दिग्विजयके समय इन्होंने अङ्ग, आन्ध्र, औढ्र, कर्णाटक, कलिङ्ग, कश्मीर, कीर, चेदी, टक्क, द्रविल, पाञ्चाल, पारसीक, मलय, लाट और सिन्धु आदि अनेक देशोंके नरेशोंको अपने अधीन किया था।

रत्नवृष्टि—दिग्विजयके पश्चात् चन्द्रपुरीमें राजा महासेनके राजमहलमें चन्द्रप्रभके गर्भावतरणके छः मास पहलेसे जन्म दिनतक प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वृष्टि होती रही।

गर्भशोधन आदि—रत्नवृष्टिको देखकर महासेनको आश्चर्य होता है, पर कुछ ही समयके पश्चात् इन्द्रकी आज्ञासे आठ दिक्कुमारियाँ उनके यहाँ रानी लक्ष्मणाकी सेवाके लिए उपस्थित होती हैं। उनके साथ हुए वार्तालापसे उनका आश्चर्य दूर हो जाता है। महासेनसे अनुमति लेकर वे उनके अन्तःपुरमें प्रवेश करती हैं और लक्ष्मणाके गर्भशोधन आदि कार्योंमें संलग्न हो जाती हैं।

शुभ स्वप्न—महारानी सुखपूर्वक सोयी हुई थीं, इतनेमें उन्हें रात्रिके अन्तिम प्रहरमें सोलह[2] शुभ स्वप्न हुए। प्रभात होते ही वे अपने पतिके पास पहुँचती हैं।

स्वप्नफल—पत्नीके मुखसे क्रमशः सभी स्वप्नोंको सुनकर महासेनने उनका शुभफल बतलाया, जिसे सुनकर उसे अपार हर्ष हुआ।

गर्भावतरण—आयुके समाप्त होते ही पूर्वचर्चित अहमिन्द्र वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानसे चयकर प्रशस्त [चैत्र कृष्णा पञ्चमीके[3]] दिन महारानी लक्ष्मणाके गर्भमें प्रवेश करता है।

गर्भकल्याणक महोत्सव—इसके पश्चात् इन्द्र महासेनके राजमहलमें पहुँचकर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाते हैं। माताके चरणोंकी अर्चना करके वे वहाँसे वापिस चले जाते हैं, पर श्री, ह्री और धृति देवियाँ वहीं रहकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करती हैं।

जन्म—पौष कृष्णा एकादशी[4] के दिन लक्ष्मणा सुन्दर पुत्र—चन्द्रप्रभको जन्म देती हैं। इस शुभ वेलामें दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं; आकाश निर्मल हो जाता है; सुगन्धित वायुका संचार होता है; दिव्य-पुष्पोंकी वृष्टि होती है; कल्पवासी देवोंके यहाँ मणिघण्टिकाएँ, ज्योतिष्कोंके यहाँ सिंहनाद, भवनवासियोंके यहाँ शङ्ख और व्यन्तरोंके यहाँ दुन्दुभि बाजे स्वयमेव बजने लगते हैं—इन हेतुओं तथा आसनके कम्पनसे इन्द्र चन्द्रप्रभके जन्मको जानकर देवोंके साथ चन्द्रपुरीकी ओर प्रस्थान करते हैं।

अभिषेक—इन्द्राणी माताके निकट मायामयी शिशुको सुलाकर वास्तविक शिशुको राजमहलसे बाहर ले आती है। सौधर्मेन्द्र शिशुको दोनों हाथोंमें लेकर ऐरावतपर सवार होता है और सभी देवोंके साथ सुमेरु पर्वतकी ओर प्रस्थान करता है। वहाँ पाण्डुक शिलापर शिशुको बैठाकर देवों द्वारा लाये गये क्षीर-सागरके जलसे अभिषेक करता है, और विविध अलंकारोंसे अलङ्कृत करके उनका चन्द्रप्रभ नाम रख देता

---

१. तिलोयप० (४,५३३) में माताका नाम 'लक्ष्मीमती' लिखा है। २. उ० पु०, पुराणसा० और त्रिषष्टिशलाकापु० में केवल स्वप्नोंकी संख्याका ही उल्लेख है। गुणभद्र और दामनन्दीने स्वप्नोंकी संख्या १६ और हेमचन्द्रने १४ दी है। हेमचन्द्रकी दृष्टिसे १४ स्वप्न ये हैं—गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी-अभिषेक, माला, चन्द्र, सूर्य, कुम्भ, ध्वज, सागर, सरोवर, विमान, रत्नराशि और अग्नि। सिंहासन और नाग-विमान ये दो स्वप्न दिगम्बर साहित्यमें अधिक हैं। ३. यह मिति उ० पु० (५४,१६६) के आधारपर दी है; क्योंकि तिलोयप०, हरिवंश और पुराणसा० की भाँति प्रस्तुत चं० च० में इसका उल्लेख नहीं है। उ० पु० में जो मिति दी गयी है वही त्रिषष्टिशलाका पु० (२९६,२९) में भी दृष्टिगोचर होती है। ४. यही मिति उ० पु०, हरिवंश तथा तिलोय० में अङ्कित है, त्रिषष्टिशलाकापु० (२९७,३२) में पौष कृष्णा द्वादशी लिखी है, पर पुराणसा० (८४,४४) में केवल अनुराधायोगका ही उल्लेख मिलता है।

है। इसके उपरान्त सौधर्मेन्द्र अन्य इन्द्रोंके साथ चन्द्रप्रभकी[1] स्तुति करता है और फिर उन्हें माताके पास पहुँचाकर महासेनसे अनुमति लेकर वापिस चला जाता है।

बाल्यकाल—शिशु अमृतलिप्त अपनी अंगुलियोंको चूसकर ही तृप्त रहता है, उसे माँके दूधकी विशेष लिप्सा नहीं होती। चन्द्रकलाओंकी भाँति उसका विकास होने लगता है। धीरे-धीरे वह देव कुमारोंके साथ गेंद आदि लेकर क्रीड़ा करने योग्य हो जाता है। इसके पश्चात् वह तैरना, हाथी-घोड़े पर सवारी करना आदि विविध कलाओंमें प्रवीण हो जाता है।

विवाह संस्कार—वयस्क होते ही महासेन उनका विवाह संस्कार[2] करते हैं, जिसमें सभी राजे-महाराजे सम्मिलित होते हैं।

राज्य संचालन—पिताके आग्रह पर चन्द्रप्रभ राज्य संचालन स्वीकार करते हैं। इनके राज्यकाल में प्रजा सुखी रही, किसीका अकाल मरण नहीं हुआ, प्राकृतिक प्रकोप नहीं हुआ तथा स्वचक्र या परचक्र से कभी कोई बाधा नहीं हुई। दिन-रातके समयको आठ भागोंमें विभक्त करके वे दिनचर्याके अनुसार चलकर समस्त प्रजाको नयमार्ग पर चलनेकी शिक्षा देते रहे। विरोधी राजे-महाराजे भी उपहार ले-लेकर उनके पास आते और उन्हें नम्रता पूर्वक प्रणाम करते रहे। इन्द्रके आदेश पर अनेक देवाङ्गनाएँ प्रतिदिन उनके निकट गीत-नृत्य करती रहीं। अपनी कमला आदि अनेक पत्नियोंके साथ वे चिरकाल तक आनन्द-पूर्वक रहे।

वैराग्य—किसी दिन एक वृद्ध लाठी टेकता हुआ उनकी सभामें जाकर दर्दनाक शब्दोंमें कहता है—'भगवन्! एक निमित्तज्ञानीने मुझे मृत्यु की सूचना दी है। मेरी रक्षा कीजिए, आप मृत्युञ्जय हैं, अतः इस कार्यमें सक्षम हैं।' इसके बाद वह अदृश्य हो जाता है। चन्द्रप्रभ समझ जाते हैं कि यह वृद्धके वेषमें देव आया था, जिसका नाम था धर्मरुचि। इसी निमित्तसे वे भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं[3] और दीक्षा लेनेका निश्चय करते हैं। इतनेमें ही वहाँ लौकान्तिक देव आ जाते हैं, और 'साधु' 'साधु' कहकर उनके वैराग्य की सराहना करते हैं। इसके उपरान्त ही वे अपने पुत्र वरचन्द्र को राज्य सौंप देते हैं।

तप—तत्पश्चात् इन्द्र और देव चन्द्रप्रभको 'विमला'[4] नामकी शिबिकामें बैठाकर सकलर्तु[5] वनमें ले जाते हैं, जहाँ वे [पौष कृष्णा एकादशीके[6] दिन] दो उपवासोंका नियम लेकर सिद्धोंको नमन करते हुए एक हजार राजाओंके साथ दीक्षा लेकर तप करते हैं। इसी अवसर पर वे पाँच दृढ़ मुष्टियोंसे केश

---

१. उ० पु० (५४,१७४) में स्तुतिका उल्लेख नहीं है, 'आनन्द' नाटकका उल्लेख है। त्रिषष्टिशलाकापु० में नाटकका नहीं, स्तुतिका उल्लेख है। २. उ० पु० (५४, २१४) में और पुराणसा० (८६, ५७,) में क्रमशः, निष्क्रमणके अवसर पर अपने पुत्र वरचन्द्र, व रवितेजको चन्द्रप्रभके उत्तराधिकार सौंपनेका उल्लेख है पर दोनोंमें उनके विवाहके स्पष्ट उल्लेख करनेवाले पद्य नहीं हैं। त्रिषष्टि शलाका पु० (२९८, ५५) में चन्द्रप्रभकी अनेक पत्नियोंका उल्लेख है, जो चन्द्रप्रभचरितम् (१७,६०) में भी पाया जाता है। ३. चन्द्रप्रभ के वैराग्यका कारण तिलोयप० (४, ६१०) में अध्रुव वस्तुका और उ० पु० (५४, २०३) तथा त्रिषष्टिस्मृति (२८,९) में दर्पण में मुखकी विकृतिका अवलोकन लिखा है। त्रिषष्टिशलाकापु० और पुराणसा० में वैराग्यके कारणका उल्लेख नहीं है। ४. हरिवंश० (७२२,२२२) में शिबिकाका नाम 'मनोहरा', त्रिषष्टिशलाकापु० (२९८,६१) में 'मनोरमा. पुराण सा० (८६,५८) में 'सुविशाला' लिखा है। ५. तिलोयप० (४,६५१) में वनका नाम 'सर्वार्थ' उ० पु० (५४,२१६) में 'सर्वर्तुक', त्रिषष्टिशलाका पु० (२९८,६२) में एवं पुराणसा० (८६,५८) 'सहस्राम्र' लिखा है। ६. चन्द्रप्रभचरितम्में मिति नहीं दी, अतः हरिवंश० (७२३,२३३) के आधार पर यह मिति दी है। उ० पु० (५४,२१६) में भी यही मिति है, पर कृष्ण पक्षका उल्लेख नहीं है। पुराण सा० (८६,६०) में केवल अनुराधा नक्षत्रका ही उल्लेख है और त्रिषष्टिशलापु० (२९८,६४) में पौष कृष्ण त्रयोदशी मिति दी गयी है।

लुञ्चन करते हैं। देवेन्द्र और देव मिलकर तप कल्याणकका उत्सव मनाते हैं, और उन केशोंको मणिमय पात्रमें रखकर क्षीरसागरमें प्रवाहित करते हैं।

पारणा—नलिनपुर[1] में राजा सोमदत्त[2] के यहाँ वे पारणा करते हैं। इसी अवसर पर वहाँ पांच आश्चर्य प्रकट होते हैं।

कैवल्य प्राप्ति—घोर तप करके वे शुक्लध्यानका अवलम्बन लेकर [फाल्गुन कृष्णा सप्तमी[3] के दिन] कैवल्य—पूर्णज्ञानकी प्राप्ति करते हैं।

समवसरण—कैवल्य प्राप्तिके पश्चात् इन्द्रका आदेश पाकर कुबेर साढ़े आठ योजनके विस्तारमें वर्तुलाकार समवसरणका निर्माण करता है। इसके मध्य गन्ध कुटीमें एक सिंहासन पर भ० चन्द्रप्रभ विराजमान हुए और चारों ओर वर्तुलाकार बारह प्रकोष्ठोंमें क्रमशः गणधर आदि।

दिव्य देशना—इसके अनन्तर गणधर (मुख्य शिष्य) के प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् चन्द्रप्रभ ने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वोंके स्वरूपका विस्तृत निरूपण ऐसी भाषामें किया, जिसे सभी श्रोता आसानीसे समझते रहे।

गणधरादिकों की संख्या—दस सहज, दस केवल ज्ञान कृत और चौदह देवरचित अतिशयों तथा आठ प्रातिहार्योंसे विभूषित भ० चन्द्रप्रभके समवसरणमें तेरानवें गणधर, दो हजार[5] कुशाग्रबुद्धि पूर्वधारी, दो लाख चारसौ[6] उपाध्याय, आठ हजार[7] अवधिज्ञानी, दस हजार[8] केवली, चौदह हजार[9] विक्रिया ऋद्धि-धारी साधु, आठ हजार मनःपर्ययज्ञानी साधु, सात हजार[10] छः सौ वादी, एक लाख अस्सी हजार[11] आर्यिकाएँ, तीन लाख सम्यग्दृष्टि श्रावक और पाँच लाख[12] व्रतवती श्राविकाएँ रहीं।

यत्र-तत्र आर्यक्षेत्रमें धर्मामृतकी वर्षा करते हुए भ० चन्द्रप्रभ सम्मेदाचल (शिखर जी) के शिखर पर पहुँचते हैं। भाद्रपद शुक्ला[13] सप्तमीके दिन अवशिष्ट चार अघातिया कर्मोंको नष्ट करके दस लाख पूर्व प्रमाण आयुके समाप्त होते ही वे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

---

१. हरिवंश० (७२४,२४०) में और त्रिषष्टिशलापु० (२९८,६६) में पुरका नाम 'पद्मखण्ड' दिया है, एवं पुराणसा० (८६,६२) में 'नलिनखण्ड'। २. हरिवंश० (७२४,२४६) में और पुराणसा० (८६,६२) में राजाका नाम 'सोमदेव' दिया है। ३. चन्द्रप्रभचरितम्में मिति नहीं दी, अतः उ० पु० (५४,२२४) के आधार पर दी है। चन्द्रप्रभचरितम्में चन्द्रप्रभ भगवान्के जन्म और मोक्ष कल्याणकोंकी मितियाँ दी हैं, शेष तीन कल्याणकों की नहीं। ४. त्रिषष्टिशलाका पु० (२९८,७५) में समवसरणका विस्तार एक योजन लिखा है। ५. तिलोयप० (४,११२०) में पूर्वधारियोंकी संख्या चार हजार दी है। ६. तिलोयप० (४,११२०) में उपाध्यायोंकी संख्या दो लाख दस हजार चारसौ दी है। ७. तिलोयप० (४,११२१) में अवधिज्ञानियोंकी संख्या दो हजार लिखी मिलती है। ८. तिलोयप० (४,११२१) में केवलियोंकी संख्या अठारह हजार दी है। ९. तिलोयप० (४,११२१) में विक्रिया ऋद्धिधारियोंकी संख्या छः सौ दी है; और हरिवंश० (७३६,३८६) में दस हजार चारसौ। १०. तिलोयप० (४.११२१) में वादियोंकी संख्या सात हजार दी है। ११. तिलोयप० (४,११६९) में आर्यिकाओंकी संख्या तीन लाख अस्सी हजार दी है और पुराणसा० (८८,७५) में भी यही संख्या दृष्टिगोचर होती है। १२. पुराणसा० (८८,७७) में श्राविकाओंकी संख्या चार लाख एकानवे हजार दी है। त्रिषष्टिशलाकापु० में दी गयी संख्याएँ इनसे प्रायः भिन्न हैं। १३. उ० पु० (५४,२७१) में चन्द्रप्रभके मोक्षकल्याणककी मिति फाल्गुन शुक्ला सप्तमी दी गयी है, पुराणसा० (९०,७९) में मिती नहीं दी गयी केवल ज्येष्ठा नक्षत्रका उल्लेख किया है।

[४] चं० च० की कथावस्तुका आधार

'चन्द्रप्रभचरितम्'की कथावस्तुके आधारके विषयमें इसके रचयिताने स्वयं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। प्रस्तुत कृतिके प्रारम्भ (१, ६)में जहाँ आचार्य समन्तभद्रका स्मरण किया है, वहाँ किसी एक भी पुराणकारका नहीं। हाँ, इसके प्रथम सर्ग(१, ९-१०)में गुरुपरम्परासे प्राप्त दुष्प्रवेश पुराणसागरमें स्वयं प्रवेशार्थ उद्यत होनेकी चर्चा वीरनन्दीने अवश्य की है। वह इस बातको ध्वनित करती है कि प्रस्तुत कृतिकी सामग्रीके संकलनके लिए वीरनन्दीने अनेक विशालकाय पुराणोंका परिशीलन किया था।

अब देखना यह है कि वे विशालकाय पुराण कौनसे हैं, जो विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके प्रथम चरणमें वीरनन्दीके सामने रहे। सम्प्रति जो पुराण उपलब्ध हैं, उनमें तीन विशालकाय हैं—पद्मपुराण, हरिवंशपुराण और महापुराण। यदि लेखकोंकी भिन्नताके आधारपर महापुराणको आदिपुराण और उत्तर-पुराणके रूपमें विभक्त कर लें तो पुराणोंकी संख्या तीन से चार हो जाती है। चं० च०के परिशीलनसे ज्ञात होता है कि वीरनन्दीके समक्ष इन चारोंके अतिरिक्त अन्य पुराण भी रहे, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

वीरनन्दीका अन्वेष्य विषय चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त था, जो उन्हें उ० पु०से पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध हुआ। यों यह पद्मपुराणमें भी स्वल्पतम मात्रामें विद्यमान है, पर हरिवंशकी तुलनामें सर्वथा नगण्य है। हरिवंशमें इसका जो थोड़ा-बहुत अंश सूत्ररूपमें उपलभ्य है, वह उत्तरपुराणकी तुलनामें अपर्याप्त है। उत्तरपुराणके बाईस (४४-६५) पृष्ठोंपर चन्द्रप्रभका साङ्गोपाङ्ग जीवनवृत्त दो सौ छिहत्तर सुन्दर पद्योंमें अङ्कित है। हरिवंशपुराणमें चन्द्रप्रभके जन्मादि स्थानों, पारिवारिक व्यक्तियों, विभूतियों, अतिशयों, पञ्च-कल्याणमितियों और गणधरादिकोंकी संख्या आदिका ही मुख्यतया उल्लेख है। लगभग इसी ढंगका अत्यन्त ही स्वल्प उल्लेख पद्मपुराणमें है। जिनरत्नकोष (पृ० ११९) आदि ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि आचार्य गुणभद्रके अतिरिक्त अन्य कवियोंके भी भिन्न-भिन्न भाषाओंमें निबद्ध चन्द्रप्रभचरितके संदर्भ मिलते हैं। निष्कर्ष यह कि वीरनन्दीके 'पुराणसागरे' पदसे उन्हें जो विपुल पुराणवाङ्मय विवक्षित है, उनमें सम्प्रति उत्तरपुराण ही ऐसा है, जिसे उनकी कृति चं० च० की कथावस्तुका आधार माना जा सकता है। उ० पु० और चं० च० के प्रतिपाद्य विषयमें जहाँ-कहीं थोड़ा-बहुत वैषम्य है, वहाँ हरिवंशपुराण आधार है, और जहाँ उक्त दोनोंसे भी वैषम्य है, संभव है वहाँ कवि परमेश्वरका 'वागर्थसंग्रहः' नामक पुराण आधार रहा हो, जिसके अनेक पद्य वीरनन्दीके समकालीन चामुण्डरायने अपने पुराणमें उद्धृत किये हैं।

आदिपुराणके आधारपर निर्मित पुरुदेवचम्पूमें यत्र-तत्र आदिपुराणके अनेक श्लोकोंको थोड़े-बहुत परिवर्तनके साथ अपनाया गया है। ऐसा चं० च० में नहीं किया गया। उ० पु० को कथावस्तुका आधार बनाकर वीरनन्दीने अपनी कृतिमें अथसे इति तक सर्वत्र अपनी मौलिक प्रतिभाका उपयोग किया है। चं० च० के केवल एक स्थलमें उ० पु० के दो पदोंका थोड़ा-सा साम्य[१] है, जो अकस्मात् हुआ जान पड़ता है।

चं० च० के 'गुरुसेतुवाहिते' (१, १०) में 'गुरु'का अर्थ टीकाकारने 'गणधर' और पञ्जिकाकारने 'श्रीजिनसेनादि' किया है। यदि पञ्जिकाकारका अर्थ साधार हो तो उ० पु० को चं० च० के आधार माननेकी बात और पुष्ट हो जाती है; क्योंकि उ० पु० जिनसेनकी कृतिका ही अङ्ग है। अथवा 'श्रीजिन-सेनादि' में दिये गये 'आदि'से गुणभद्रको भी लिया जा सकता है। जो कुछ भी हो, यह सुनिश्चित है कि वीरनन्दीने उ० पु० से पर्याप्त लाभ उठाया है। इसके लिए उ० पु० और चं० च० का साम्य ही साधक है, जो इस प्रकार है—

---

१. ग्रामाः कुक्कुटसंपात्याः सारा बहुकृषीबलाः। पशुधान्यधनापूर्णा नित्यारम्भा निराकुलाः॥

—उ० पु०, पृ० ४५, श्लो० १५

ग्रामैः कुक्कुटसंपात्यैः सरोभिर्विकचाम्बुजैः। सीमभिः सस्यसंपन्नैर्यः समन्ताद्विराजते॥

—चं० च०, सर्ग २, श्लो० ११८

साम्य—१. कथानक—दोनोंका एक-सा कथानक।

२. सातभव—दोनोंमें १. श्रीवर्मा, २. श्रीधरदेव, ३. अजितसेन, ४. अच्युतेन्द्र, ५. पद्मनाभ, ६. वैजयन्तेश्वर और ७. चन्द्रप्रभ—इन सात भवोंका एक जैसा उल्लेख।

३. आयु—दोनोंमें श्रीधरदेव, अच्युतेन्द्र और वैजयन्तेश्वरकी आयु आदिकी समानता।

४. नाम—दोनोंमें श्रीवर्मा, अजितसेन, पद्मनाभ और चन्द्रप्रभके जन्मादिस्थानों एवं पारिवारिक व्यक्तियोंके प्रायः समान नाम।

५. मुनिदर्शन—दोनोंमें चिन्ता मिटानेके लिए राजाओंके मुनिदर्शनका प्रायः समान वर्णन।

६. मुनिदीक्षा—दोनोंमें पुत्रके वयस्क होनेपर पिताके दीक्षित होनेका एक-सा वर्णन।

७. संख्या—दोनोंमें चन्द्रप्रभके गणधरों, पूर्वधारियों, अध्यायों, अवधिज्ञानियों, विक्रियर्द्धिक महर्षियों, मनःपर्ययज्ञानियों, वादियों, आर्यिकाओं, श्रावकों, और श्राविकाओंकी समान संख्या।

८. छन्द—दोनोंमें चरितकी समाप्तिमें शार्दूलविक्रीडित छन्दमें निबद्ध दो-दो श्लोकों की रचना।

९. भवोंका उल्लेख—दोनोंमें एक-एक पद्यमें सातों भवोंका एक-सा उल्लेख[1]।

वैषम्य—चं० च० तथा उ० पु० में भ० चन्द्रप्रभके सातों भवोंके वर्णनमें जो वैषम्य है, उसका विवरण इस प्रकार है—

विषय	चं० च०	उ० पु०
१. पुत्र न होनेपर चिन्तित	श्रीषेणकी पत्नी श्रीकान्ता	श्रीषेण
२. चिन्तित होनेपर	चारणमुनि अनन्तके दर्शन	पुरोहितसे भेंट
३. पुत्र न होनेका कारण	श्रीकान्ताका पिछले जन्मका निदान	×
४. गर्भाधानसे पहले	×	श्रीकान्ताको चार स्वप्न
५. श्रीषेणके दीक्षागुरु	श्रीप्रभ मुनि	श्रीपद्मजिन
६. श्रीषेणका दीक्षोद्यान	×	शिवंकर
७. अजितंजयकी राजधानी	कोशला	अयोध्या
८. गर्भधारणसे पूर्व	×	अजितसेनाको आठ स्वप्न
९. अजितसेनका अपहर्ता	चण्डरुचि असुर	×
१०. परुपाटवीके निकट अजितसेनकी भेंट	हिरण्यदेवसे	×
११. अजितसेनके वैराग्यका कारण	मृतपुरुषका अवलोकन	×
१२. अजितसेनके द्वारा आहार	×	मासोपवासी अरिंदम मुनिको
१३. कनकप्रभकी प्रधान रानी	सुवर्णमाला	कनकमाला
१४. पद्मनाभकी रानी	एक	अनेक
१५. पद्मनाभकी राजधानीमें	वन्यगजका प्रवेश	×
१६. पद्मनाभका युद्ध	पृथिवीपालसे	×
१७. चन्द्रप्रभका जन्मस्थान	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुर

१. श्रीवर्मा श्रीधरो देवोऽजितसेनोऽच्युताधिपः। पद्मनाभोऽहमिन्द्रोऽस्मान् पातु चन्द्रप्रभः प्रभुः॥ उ० पु०, पृ० ६५, श्लो० २७६। यः श्रीवर्मनृपो बभूव विबुधः सौधर्मकल्पे ततस्तस्माच्चाजितसेनचक्रभृदभूद्यश्चाच्युतेन्द्रस्ततः। यश्चाजायत पद्मनाभनृपतिर्यो वैजयन्तेश्वरो यः स्यात्तीर्थकरः स सप्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु नः॥ चं० च०, पृ० ४६१, प्रशस्ति श्लो० ६।

विषय	चं० च०	उ० पु०
१८. कल्याणकोंकी तिथियाँ	केवल दो (जन्म और मोक्ष) की	पाँचोंकी
१९. चन्द्रप्रभके जन्माभिषेकके समय	×	आनन्द नाटक
२०. चन्द्रप्रभके विवाह विषयक श्लोक	स्पष्ट	अस्पष्ट
२१. चन्द्रप्रभकी पत्नियाँ	अनेक	,,
२२. चन्द्रप्रभके वैराग्यका कारण	देव	दर्पणमें मुखकी विकृति
२३. चन्द्रप्रभका दीक्षावन	सकलर्तु	सर्वर्तुक
२४. समवसरणमें चन्द्रप्रभकी स्तुति	×	ऐशानेन्द्रके द्वारा
२५. चन्द्रप्रभके गणधरादिकोंकी संख्यामें	पहले उपाध्याय फिर अवधिज्ञानी	पहले अवधिज्ञानी फिर उपाध्याय

इस वैषम्यपर विचार—(१) पुत्रके न होनेपर राजा श्रीषेणका चिन्तित होना उ० पु० में वर्णित है। ठीक ऐसे ही प्रसंगमें रघुवंश (१, ३३-३४) में दिलीपका, रघुवंश (१०,२-४) में दशरथका और धर्मशर्माभ्युदय (२,६९-७४) में महासेनका चिन्तातुर होना लिखा है। किन्तु चं० च० (३,३०-३५) में श्रीकान्ताका चिन्तामग्न होना चर्चित है। इसका आधार उ० पु० के स्थानमें गुणभद्रकी दूसरी कृति 'जिनदत्तचरितम्' है, जिसमें पुत्रके न होनेसे जीवंजसाकी चिन्ताका वर्णन है[1]। अतएव प्रथम वैषम्यके आधारपर यह सिद्ध नहीं होता कि उ० पु० चं० च० की कथावस्तुका आधार नहीं है।

(२) उ० पु० में श्रीषेण पुरोहितसे पुत्र प्राप्तिका उपाय पूछते हैं, पर चं० च० में वे चारण मुनि अनन्तके दर्शन करते हैं, जिससे वे चिन्तासे मुक्त हो जाते हैं। सूक्ष्म विचार करनेपर ज्ञात होता है वीरनन्दीने जैनसंस्कृतिकी अनुकूलताको ध्यानमें रखकर यह परिवर्तन किया।

(७) उ० पु० के अनुसार अजितंजयकी राजधानीका नाम अयोध्या और चं० च० के अनुसार कोशला है। कोषोंके[2] अनुसार दोनोंका अर्थ एक ही है, अतः कोई विरोध नहीं है।

(९–१०) चं० चं० में अजितसेनका अपहरण चण्डरुचि असुर करता है, और बादमें परुपाटवीके निकट हिरण्य देवसे भेंट होती है— यह उ० पु० में चर्चित नहीं है। इन घटनाओंका स्रोत अन्यत्र न मिले तो यह मानना होगा कि वीरनन्दीने गुणभद्रके जिनदत्तचरितम्से सहायता ली है। वह इस प्रकार—

दधिपुरके उद्यानमें जिनदत्तका उसके स्वामी सेठ समुद्रदत्तसे परिचय हो जाता है। जिनदत्तके वृक्षायुर्वेदके ज्ञानका अपने उद्यानमें चमत्कार देखकर समुद्रदत्त उससे प्रसन्न हो जाता है। फलतः वह वसन्तोत्सवमें जिनदत्तका खूब सम्मान करता है और फिर उसे अपने साथ व्यापारके निमित्तसे सिंहलद्वीपमें लिवा ले जाता है। सिंहलद्वीपके राजा मेघवाहनकी पुत्री श्रीमतीके शयनागारकी रक्षाके लिए जो पहरेदार नियुक्त होता रहा वह रात्रिमें मारा जाता था। इससे मेघवाहन हैरान था। जिनदत्तने प्रयत्न करके उस भयंकर सर्पका पता लगा कर पिटारीमें बन्द कर दिया, जो प्रतिदिन पहरेदारके प्राणोंका अपहरण करता रहा। इससे प्रसन्न होकर मेघवाहनने अपनी कन्या श्रीमतीका जिनदत्तके साथ विवाह कर दिया। सिंहलद्वीपसे लौटते समय जिनदत्तकी पत्नीको देखकर सेठ समुद्रदत्तकी दृष्टि दूषित हो जाती है, फलतः वह जिनदत्तको समुद्रमें गिराकर अपने जलयानको द्रुतगतिसे आगे बढ़ा ले जाता है। जिनदत्त एक लकड़ीका सहारा लेकर

---

१. अशोकस्तबकेनेव यौवनेन ममामुना। रागिणा केवलं किन्नु न यत्र फलसंभवः॥ वारिधेरिव लावण्यं विरसं मम सर्वथा। न यत्रापत्यपद्मानि तेन कान्तजलेन किम्॥ नाममात्रेण सा स्त्रीति गुणशून्येन कीर्त्यते। पुत्रोत्पत्त्या न या पूता यथा शक्रवधूटिका॥ प्रसादोऽपि न मे भर्त्तुः शोभायै सूनुना विना। शब्दानुशासनेनैव विद्वत्ताया विजृम्भितम्॥ साहं मोहतमश्छन्ना निशेवोद्वेगदायिनी। दीयते यदि नो पुत्रप्रदीपः कुलवेश्मनि॥ चिन्तयन्तीति सा बाला कपोलन्यस्तहस्तका। पातयामास सख्यानां नेत्रभृङ्गान् मुखाम्बुजे॥ —जिनदत्तच० १,६१-६६। २. 'साकेतं कोशलायोध्या' अभिधानचि० ४,४१।

तटकी ओर बढ़नेका यत्न करता है। इतनेमें दो व्यक्ति आकाशमार्गसे वहाँ पहुँचकर उसे धमकाने लगते हैं, पर उस (जिनदत्त) के वीरतापूर्ण वचनोंको सुनकर वे पानी-पानी हो जाते हैं, और उसे अशोकश्री नामक विद्याधरनरेशके पास लिवा ले जाते हैं। वह अपनी कन्या शृङ्गारमतीका उसके साथ ब्याह कर देता है।

चं० च० में चर्चित हिरण्यदेव पहले अजितसेनको धमकाता है, पर बादमें उसकी वीरतासे प्रसन्न होकर उसकी सहायता करता है। राजा जयवर्माके प्रतिद्वन्द्वी धरणीध्वजको मारनेमें अजितसेनको यही देव सहयोग देता है। अन्ततोगत्वा राजा जयवर्मा प्रसन्न होकर अपनी कन्या शशिप्रभाका अजितसेनके साथ विवाह कर देता है।

सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर जिनदत्तच० और चं० च० की उक्त घटनाओंमें पर्याप्त समानता है, अतः यह स्पष्ट है कि वीरनन्दीने जिनदत्तच० से भी सहायता ली। गुणभद्रने जिन घटनाओंसे जिनदत्तका उत्कर्ष सिद्ध किया है, उन्हीं जैसी घटनाओंसे वीरनन्दीने अजितसेनका।

(१३,१७,२३) सुवर्णमाला, कनकमाला; चन्द्रपुरी, चन्द्रपुर; सकलर्तु, सर्वर्तुक—ये नाम कुछ भिन्न-से प्रतीत होते हैं, पर इनका अभिप्राय भिन्न नहीं है। सुवर्ण कनकका, पुरी पुरका और सकल सर्वका पर्यायवाचक है। इनमें छन्दके अनुरोधसे थोड़ा-सा अन्तर आया है।

(१५) पद्मनाभकी राजधानीमें एक जंगली हाथीके प्रवेशकी घटना जो चं० च० में वर्णित है, उसका आधार उ० पु० के स्थानमें जिनदत्तच० (६,८१-९१) प्रतीत होता है। इन दोनों कृतियोंमें वर्णित घटनाओंमें अत्यधिक साम्य है। उक्त घटनाओंके अतिरिक्त दोनोंमें पद्यगत साम्य भी यत्र-तत्र है। चन्द्रप्रभचरितम् और जिनदत्तचरितम्के कतिपय पद्योंकी क्रमशः तुलना कीजिए—चं० च० १,१७; २,१२४; २,११६; ३,३१; ३,३२; ३,६७; ३,७४; ६,१७; ६,१९; ६,२१; ११,७६–९० क्रमशः जि० च० १,१३; २,७; ३,७४; १,६१; १,६३; १,७२; १,७५–७६; ६,७; ६,९; ६,१३; ६,७७–९१।

अतएव यह स्पष्ट है कि चं० च० का कथानक गुणभद्रके उ० पु० से तथा कतिपय घटनाओंके स्रोत उन्हींके जिनदत्तच० से लिये गये हैं।

(१८) चं० च० में उ० पु० की भाँति पाँच कल्याणकोंकी पाँचों मितियाँ न देकर 'नेमिनिर्वाणम्'की भाँति केवल दो ही मितियाँ दी गयी हैं। इसका कारण कौन-सी परम्परा रही है, यह ज्ञात नहीं हो सका।

शेष विषमताओंके विषयमें सम्भव है वीरनन्दीके सामने कोई अन्य आधार रहा हो। जो कुछ भी हो, तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययनसे यह ज्ञात होता है कि चं० च० की कथावस्तुका मुख्य आधार उपलब्ध पुराणोंमें उ० पु० ही है।

[५] चं० च० की प्रासङ्गिक कथाएँ

(१) **सुनन्दाका निदान**—सुगन्धि देशके श्रीपुर नगरमें देवाङ्गद वणिक् रहता था, जिसकी पत्नीका नाम श्री और पुत्रीका नाम सुनन्दा था। किसी दिन वह एक गर्भवती नवयुवतीके श्रीहीन शरीरको देखकर जन्मान्तरमें भी युवावस्थाके प्रारम्भमें उस जैसी न होनेका निदान बाँध लेती है, और आजीवन गृहस्थधर्मका परिपालन करती है। मृत्युके पश्चात् वह सौधर्म स्वर्गमें देवी होती है। वहाँसे चयकर राजा दुर्योधनकी पुत्री तथा राजा श्रीषेणकी पत्नी श्रीकान्ता होती है। पिछले जन्मके अशुभ निदानके कारण उसे प्रारम्भिक नवयौवनमें सन्तानकी प्राप्ति नहीं होती। [चं० च० ३,५३–५५]

(२) **दो किसान**—सुगन्धि नामका एक देश था। उसमें किसी समय राजा श्रीषेणका शासन रहा। उनके शासनकालमें उन्हींकी राजधानी—श्रीपुरमें दो किसान गृहस्थ रहते थे। उनमें-से एकका नाम शशी था और दूसरेका सूर्य। शशीने किसी दिन सेंध लगाकर सूर्यका सारा धन चुरा लिया। पता लगनेपर राजाने बरामद हुआ धन सूर्यको दिलवाया और शशीको प्राणदण्ड। चोरी करनेसे शशी नाना कुयोनियोंके दुःख भोगकर चण्डरुचि नामक असुर होता है और सूर्य सत्कर्म करनेसे सुयोनियोंके सुख भोगकर हिरण्य नामक देव। [चं० च० ६,३३–३५] इन कथाओंका स्रोत उ० पु० में नहीं है।

[६] चं० च० में सैद्धान्तिक विवेचन

वीरनन्दीने चं० च० के अन्तिम सर्गमें भ० चन्द्रप्रभकी दिव्य देशनाका प्रसङ्ग पाकर जिन सैद्धान्तिक विषयोंका विवेचन किया है, उनमें मुख्य हैं—सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छः द्रव्य, चार गतियाँ, आठ कर्म, बारह तप, चार ध्यान, रत्नत्रय और चौंतीस अतिशय। इस विवेचनसे अभिव्यक्त होता है कि वीरनन्दी सिद्धान्त-विद् भी रहे। इस विवेचन का आधार कुन्दकुन्द साहित्य, तत्त्वार्थसूत्र और उसके व्याख्याग्रन्थ आदि हैं, न कि उ० पु०।

[७] चं० च० में तत्त्वोपप्लव आदि इतर दर्शनोंकी आलोचना

चं० च० (२, ४३-११०) में तत्त्वोपप्लव दर्शनकी विस्तृत आलोचनाकी गयी है, और इसीके प्रसङ्ग-से चार्वाक, सांख्य, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध और मीमांसा दर्शनोंकी भी। तत्त्वोपप्लव दर्शनकी मान्यता है कि विचार करनेपर लोक प्रसिद्ध पृथिवी आदि तत्त्व भी जब सिद्ध नहीं किये जा सकते तब (जैन दर्शन मान्य) अन्य तत्त्वोंकी तो बात ही क्या है; (क्योंकि वे सभी बाधित हैं)—'पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि, तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते किं पुनरन्यानि ?—तत्त्वोपप्लवसिंह पृ० १। चार्वाक दर्शन देहको ही आत्मा मानता है, जो उसीके साथ उत्पन्न होता है और उसीके साथ समाप्त भी हो जाता है—जन्मान्तर ग्रहण नहीं करता। सांख्यदर्शन आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करता है, पर वह उसे कूटस्थनित्य और अकर्ता बतलाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्माको जड़ मानता है—आत्मा स्वयं ज्ञानवान् नहीं है, ज्ञानके समवायसे ज्ञानवान् है। मीमांसा दर्शनको मोक्षके विषयमें विप्रतिपत्ति है (चं० च० २, ९०)। चं० च० की सं० टी० से इसके दो अर्थ प्रतिफलित होते हैं—१. मीमांसा दर्शनके आचार्योंको मोक्षके विषयमें विवाद है और २. मोक्ष नहीं है। दोनों अर्थ सङ्गत है। १. महर्षि जैमिनीयने अपने सूत्रोंमें मोक्षकी चर्चा नहीं की। इनके उत्तरवर्ती भट्ट और प्रभाकरके मोक्षके मन्तव्योंमें वैषम्य है। २. नित्यकर्मोंका अनुष्ठान ही मोक्ष है—नियोग-सिद्धिरेव मोक्षः—प्रकरणपञ्चिका पृ० १८८-१९०। जैमिनीय सम्मत मोक्षका लक्षण लिखते हुए सोमदेव सूरिने कहा है—कोयला और कज्जलकी भाँति स्वभावतः मलिन चित्तवृत्ति कभी शुद्ध नहीं हो सकती—यशस्ति० उ० पृ० २६९। बौद्धदर्शन ज्ञानकी धाराको ही आत्मा मानता है। इस तरह उक्त दर्शनोंकी मान्यताओंकी वीरनन्दीने समालोचना की है। इसकी विशेष जानकारीके लिए पाठक प्रस्तुत ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद और 'तत्त्वसंसिद्धिः' देख लें। इस प्रसङ्गको आद्योपान्त पढ़कर वीरनन्दीके दार्शनिक वैदुष्यका अनुमान लगाया जा सकता है।

[८] चं० च० की जैन व जैनेतर ग्रन्थोंसे तुलना

(अ) जैन ग्रन्थ

[१] आचार्य कुन्दकुन्द (ई० की पहली शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१८,६९;१८,६८;१८,६; १८, ७८-७९.	पञ्चास्तिकाय—८५ नियमसार—३४,१६,२०-२४.

[२] आचार्य उमास्वामी[1] (वि० १-३ शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१८,२;१८,७-८	तत्त्वार्थसूत्र—१,४; ३,१

---

१. इसी तरहसे चं० च० के अन्तिम सर्गका लगभग आधा भाग उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रके आधार-पर बनाया गया है।

[३] पूज्यपादस्वामी (वि० ५वीं शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१८,४;१८,२-३[1-2]; सर्वार्थसिद्धि—१,४; १,४
१८,१२५-१२७ पृ० ३ (ज्ञानपीठ संस्करण)

[४] अकलङ्कदेव (वि० ७वीं शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१८,४३;१८,२३-२६; तत्त्वार्थवार्तिक—अ० ३ पृ० २०१ (ज्ञा० सं०)
१७,७५ अ० ३ पृ० २०८ (ज्ञा० सं०)
अ० ५ पृ० ४८२ (ज्ञा० सं०)

[५] भगवज्जिनसेन (ई० ८वीं शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१;८;१८,७६-७७ आदिपुराण—पर्व १,३१-३२;
पर्व ३,७; पर्व २४,१४७

[६] नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (वि० ११वीं शतीका प्रारम्भ) और वीरनन्दी

चं० च०—१८,२०-२१ गोम्मटसार जीवकाण्ड—गा० ८५

[७] महाकवि असग (वि० ११वीं शतीका प्रारम्भ) और वीरनन्दी

चं० च०—२,१४२;२,१३८-१४०; वर्धमानचरित—५,१२;५,१४;५,१८;
१, ३६; ४, ४८ ७,६४

[८] महाकवि हरिचन्द्र[3] (वि० १२वीं शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१८,२;१८,३;१८,७५; धर्मशर्माभ्युदय—२१,८;२१,९;
१८,१३२ २१,८९;२१,१६६-६७

[९] विबुध सीधर (वि० १२-१३वीं शती) और वीरनन्दी

चं० च०—१५,२७-३०;१५,३२-३४ पासणाहचरिउ[4]—संधि ३ कड़० १६-१७;
संधि ४ कड़० ६

(आ) जैनेतर ग्रन्थ

[१] महाकवि कालिदास (ई० ४-५ शती) और वीरनन्दी

चं० च०—३,४;३,१४;३,७३; रघुवंश—१,२४;३,८;३,१६;
८,८८ ७,८

[२] महाकवि भारवि (ई० ७वीं शती) और वीरनन्दी

चं० च०—३,४८;५,८५;१२,१५; किरातार्जुनीय—३,७;३,१२;
१२,८९ २,४१;१,४२

---

१. 'पुण्यपापयोर्बन्धेऽन्तर्भावान्न भेदेनाभिधानम्'। इति हरिभद्रकृतायां वृत्तौ पृ० २७ (सूरत संस्करण)। २. 'पुण्यपापपदार्थोपसंख्यानमिति चेत्, न; आस्रवे बन्धे वान्तर्भावात्' । इति तत्त्वार्थवा० अ० १ पृ० २७ (ज्ञा० सं०)। ३. महाकवि हरिचन्द्रका 'धर्मशर्माभ्युदयम्' अथ से इति तक चं० च० से प्रभावित है । इसके अन्तिम सर्गका लगभग आधा भाग चं० च० का ऋणी है । ऊपर केवल नमूनेके लिए ४-५ पद्योंकी ही तुलना की गयी है । खरकर्मोंका शब्द साम्य हरिचन्द्रको हेमचन्द्रका उत्तरवर्ती सिद्ध करता है । ४. यह सूचना पं० रतनलालजी कटारिया, केकड़ी (अजमेर) के दिनाङ्क २२।४।६८ के पत्रसे प्राप्त हुई ।

[३] महाकवि माघ (ई० ७वीं शतीका अन्तिम चरण) और वीरनन्दी

चं० च०—१५,६०; ५,७६-७७;	शिशुपाल वध—५,४४; १,१४-१५;
६,२२; ८,५८;	२,१३; ८,६६;
१४,४७,	५,२७,

जैन व जैनेतर ग्रन्थोंके साथ की गयी चं० च० की इस संक्षिप्त तुलनासे वीरनन्दीके व्यापक अध्ययनका पता चलता है।

[९] चं० च० की साहित्यिक सुषमा

चं० च० एक महाकाव्य—निर्दोष, सगुण, सालङ्कार और कहीं (जहाँ रस आदिकी स्पष्ट प्रतीति हो) निरलङ्कार भी शब्द और अर्थ दोनोंका जहाँ सुन्दर सन्निवेश हो उसे काव्य कहते हैं[1]। दृश्यकी भाँति श्रव्यकाव्यकी भी अनेक विधाएँ हैं। महाकाव्य उन्हींमें-से एक है। आठ सर्गोंसे अधिक सर्गबद्ध रचनाको महाकाव्य कहते हैं। इसमें देव या धीरोदात्तत्व आदि गुणोंसे विभूषित कुलीन क्षत्रिय एक नायक होता है। कहीं एक वंशके कुलीन अनेक राजा भी नायक होते हैं। इसमें शृङ्गार, वीर और शान्त—इन तीनों-में-से कोई एक रस अङ्गी (प्रधान) होता है और शेष अङ्ग (अप्रधान)। नाटकोंकी भाँति इसमें भी मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण—ये पाँच सन्धियाँ होती हैं। इसकी कथा ऐतिहासिक या लोक-विख्यात सज्जनसे सम्बद्ध होती है। इसमें धर्म आदि चारों पुरुषार्थोंकी चर्चा रहती है, पर फलका सम्बन्ध एकसे ही रहता है। इसका आरम्भ आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तुके निर्देशसे होता है। इसमें दुर्जनोंकी निन्दा और सज्जनोंकी प्रशंसा रहती है। प्रत्येक सर्गमें एक ही छन्दका प्रयोग रहता है, पर उसके अन्तमें अन्य छन्दोंका भी। किसी एक सर्गमें अनेक छन्द भी प्रयुक्त होते हैं। सर्गके अन्तमें अगले सर्गकी कथाकी सूचना रहती है[2]। इसके वर्ण्य विषय[3] हैं—राजा[4], रानी[5], पुरोहित[6], कुमार[7], अमात्य, सेनापति, देश[8], ग्राम[9], पुर[10], सरोवर[11], समुद्र[12], सरित्[13], उद्यान[14], पर्वत[15], अटवी[16], मन्त्रणा[17], दूत[18], प्रयाण[19], मृगया-अश्व[20], गज[21], ऋतु[22], सूर्य[23], चन्द्र[24], आश्रम[25], युद्ध[26], विवाह, वियोग[27], सुरत[28], स्वयंवर, पुष्प वचय[29], और जलक्रीड़ा[30]। आलङ्कारिकोंके अभिप्रेत महाकाव्यके लक्षणकी कसौटीपर चं० च० का महाकाव्यत्व खरा उतरता है, जो सर्वमान्य है।

---

१. काव्यप्र० १, १। २. साहित्यद० ६, ३१५—३२१। ३. अलङ्कारचि० १, २४। चं० च० के वर्ण्य विषय—४. राजा-कनकप्रभ १, ३९-५४; श्रीषेण ३, १-१३; अजितंजय ५, २३-२५; महासेन १६, ११-१५; चन्द्रप्रभ १७, ५२-६०। ५. रानी—सुवर्णमाला १, ५५-५७; श्रीकान्ता ३, १४-१८; अजितसेना ५, ३६-३९; लक्ष्मणा १६, १६-१९; कमलप्रभा १७, ६०। ६. पुरोहित ७, १४। ७. कुमार—पद्मनाभ १, ५८-६३; श्रीवर्मा ४, १-१४; अजितसेन ५, ४०-४४; चन्द्रप्रभ १७, ५०। ८. देश मङ्गलावती १, १२-२०; सुगन्धिदेश २, ११४-१२४; अलका ५, २-११; अरिंजय ६, ४१; पूर्वदेश १६, १-५। ९. ग्राम १, २०; २, ११८। १०. पुर—रत्नसंचय १, २१-३८; श्रीपुर २, १२५-१३२; कोशला ५, १२-२२; विपुलपुर ६, ४२; आदित्यपुर ६, ७५; चन्द्रपुरी १६, ६-९। ११. सरोवर—मनोरम ६, १। १२. समुद्र ४, ६५; १६, २९-३०। १३. सरित्—जलवाहिनी १३, ५३-६२। १४. उद्यान—मनोहर २, १२-२३। १५. पर्वत ६, १२; मणिकूट १४, १-४०। १६. अटवी—परुषा ६, ५-१०। १७. मन्त्रणा १२, ५७-१११। १८. दूत १२, १-२४। १९. प्रयाण ४, ४७-५१; ७, ५९-८०; १३, १-५२; १६, २४-५३। २०, अश्व १४, ५१-५४। २१. गज १४, ५५-६२। २२. ऋतु ८, १-५१। २३. सूर्योदय १०, ७६-७९; सूर्यास्त १०, १-३। २४. चन्द्रोदय १०, १७-४१; चन्द्रास्त १०, ६३। २५. आश्रम ११, ३४। २६. युद्ध १५, १-१३२।

नामकरण—साहित्यदर्पण (६, ३२४) के अनुसार महाकाव्यका नाम कविके नामपर, जैसे माघ; वर्ण्यविषयके नामपर, जैसे कुमारसम्भव; नायकके नामपर, जैसे विक्रमाङ्कदेव चरित; अथवा रघुवंश आदिकी भाँति वंश आदिके नामपर भी रखा जाता है। प्रस्तुत चं० च० का नामकरण इसके नायक चन्द्रप्रभके नामके आधारपर हुआ है, जो सद्वंश क्षत्रिय रहे।

मङ्गलाचरण[1]—काव्यादर्श (१, १४) के अनुसार महाकाव्यका प्रारम्भ आशीर्वादात्मक किंवा नमस्कारात्मक मङ्गलाचरणसे या सीधे वस्तुनिर्देशसे भी होता है। चं० च० का प्रारम्भ आशीर्वादात्मक (तीन पद्य) और नमस्करात्मक (चतुर्थ पद्य) मङ्गलाचरणसे हुआ है।

चं० च० का तुलनात्मक अध्ययन—रघुवंश, किरातार्जुनीयम्, माघ और नैषधीयचरित—इन चार महाकाव्योंकी विद्वत्संसारमें विशेष ख्याति है। यहाँ इन्हींके साथ चं० च० के कुछ अंशोंका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत है।

१. मङ्गलाचरण—किरात, माघ और नैषधका प्रारम्भ वस्तुनिर्देशसे हुआ है। इसीमें मङ्गलाचरणकी कल्पना की गयी है, जैसा कि उनकी टीकाओंसे ज्ञात होता है। रघुवंशमें कालिदासने नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया है। इसमें उन्होंने अपने आराध्य पार्वती और परमेश्वर (शिवजी) को अभिवादन किया है। इसका मुख्य उद्देश्य शब्द अर्थका ज्ञान प्राप्त करना है। वीरनन्दीने जगत्कल्याणके उद्देश्यसे चं० च० के प्रथम पद्यमें ऋषभदेवको, लोकशान्तिके उद्देश्यसे द्वितीय पद्यमें चन्द्रप्रभको, आत्मशान्तिके उद्देश्यसे तीसरे पद्यमें शान्तिनाथको और विशिष्ट गुणोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे चौथे पद्यमें महावीरको नमस्कार किया है। मङ्गलाचरणके इन पद्योंसे अभिव्यक्त उदात्तभावनाकी दृष्टिसे वीरनन्दी कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष—इन चारों कवियोंसे आगे हैं।

२. सज्जन-दुर्जनोंका वर्णन—रघुवंश आदि चारों महाकाव्योंमें सज्जन-दुर्जनोंका वर्णन नहीं है, पर चं० च० (१, ७-८) में है। इस प्रसङ्गमें एक मार्मिक बात यह भी द्रष्टव्य है कि वीरनन्दीने दुर्जनोंको भी गुरु मानकर नमन किया है[2]।

---

२७. वियोग १०, ७०-७३। २८. सुरत १०, ४२-६१। २९. पुष्पावचय ९, २२-२६। ३०. जलक्रीड़ा ९, २७-५८।

मन्त्रणाके प्रसङ्गमें अमात्यों और प्रमाणके प्रसङ्गमें सेनापतियोंकी चर्चा की गयी है, पर स्वयंवर तथा विवाहकी भाँति इनका भी स्वतन्त्र रूपसे कोई वर्णन चं० च० में नहीं किया गया। मृगयाके स्थानमें पुष्पावचय वर्णित है, जो अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे ठीक है।

१. चं० च० के मङ्गलाचरणके क्रममें विशेषता है। इस युगके आदिमें प्रथमतः धर्मतीर्थका प्रवर्तन करनेसे ऋषभदेवको, प्रस्तुत कृतिके नायक होनेसे चन्द्रप्रभको, कृतिकी निर्विघ्न समाप्तिके लिए शान्तिनाथको और वर्तमान धर्मतीर्थके नायक होनेसे महावीरको नमस्कार किया गया है, जो युक्तिसङ्गत है। वीरनन्दीके इस क्रमने इनके उत्तरवर्ती हरिचन्द्र एवं अर्हद्दास आदि अनेक कवियोंको प्रभावित किया है। चं० च० का प्रारम्भ 'श्री' शब्दसे हुआ है। जहाँतक मैं जानता हूँ यह परम्परा भारविसे प्रारम्भ हुई है। २. आचार्य गुणभद्रने आत्मानुशासन (श्लो० १४१) में लिखा है—कोई गुरु शिष्टतावश अपने शिष्यके दोषोंका, जो औरोंको ज्ञात हैं, यह सोचकर उद्घाटन न करे—छिपाये रहे कि सन्मार्गमें प्रवर्तन करानेसे कभी यह स्वयं ही उन्हें छोड़ देगा, और इसी बीच यदि वह दिवंगत हो जाता है तो उसका वह शिष्य सदोष ही बना रहेगा। फिर कभी कोई मुँहफट खल, जो दूसरोंके अणुप्रमाण भी दोषोंको पर्वताकारमें देखता है, उसके दोषोंको प्रकट कर दे तो उसके मनमें यह बात घर किये बिना नहीं रहेगी कि उसके गुरु तो कोरे गुरु ही रहे, सच्चा गुरु तो यह खल है जिसके निपुण समीक्षणसे उसकी आँखें खुलीं—दोषोंका भान हुआ।

काव्येतर ग्रन्थ अपने नियत विषयोंका ही प्रतिपादन करते हैं, पर काव्यकी यह विशेषता है कि वह प्रसङ्गतः अन्यान्य विषयोंपर भी प्रकाश डालता है। नीरस विषय भी काव्यके सम्पर्कसे सरस बन जाते हैं। इसी दृष्टिसे वीरनन्दीने सज्जन-दुर्जनोंका भी आकर्षक वर्णन किया है।

३. द्वीप वर्णन—चं० चं० में कनकप्रभ आदि सभी राजाओंके अन्य वर्णनके साथ उनके द्वीपोंकी भी चर्चा की गयी है, पर रघुवंश आदि चारों महाकाव्योंमें राजाओंके द्वीपोंकी, जिनके वे निवासी रहे, चर्चा नहीं है। चं० च० की भाँति उनकी भी कथावस्तु पौराणिक है, अतः पुराणोंके आधारपर उनमें भी यह चर्चा दी जा सकती थी।

४. देश-पुर-वर्णन—चं० च० में मङ्गलावती आदि अनेक देशों एवं रत्नसञ्चय आदि पुरोंका सजीव वर्णन द्रष्टव्य है। इनके वर्णनके प्रायः अन्तिम पद्योंमें परिसंख्यालङ्कारमें वहाँकी सामाजिक स्थितिपर सुन्दर प्रकाश डाया गया है। जैसे २, १२२; २, १३८-३९ आदि। यह बात रघुवंश आदि चारोंमें नहीं है।

५. नायकवर्णन—महाकाव्यमें उसके नायकका उत्कर्ष दिखलाना कविका मुख्य लक्ष्य होता है। चं० च० में इसकी जितनी पूर्ति की गयी है, रघुवंश आदि चारोंमें दृष्टिगोचर नहीं होती। चं० च० में नायकका क्रमिक उत्कर्ष पिछले सातवें जन्मसे शुरू होता है जो चन्द्रप्रभके भवमें चरम सीमातक पहुँचता है। वाग्भट, असग, वादिराज, हरिचन्द्र और अर्हद्दास आदि जैन महाकवियोंने अपने महाकाव्योंमें इसी ढंगसे नायकोंका उत्कर्ष सिद्ध किया है। कादम्बरीमें इसकी आंशिक झलक मिलती है, पर वह महाकाव्य नहीं है। रघुवंशमें दिलीपसे लेकर अग्निवर्ण पर्यन्त रामकी अनेक पीढ़ियोंका वर्णन है, न कि उनकी भवावली का। माघ (१, ४२-६८) में शिशुपालके दो पिछले भवोंका वर्णन है, पर वह नायक नहीं, प्रतिनायक है। कुमारसम्भव (१, २१) में पार्वतीके पिछले भवका उल्लेख है, किन्तु वह भी नायक नहीं है। निष्कर्ष यह कि नायकका उत्कर्ष दिखलानेवाली भवावली जिस तरह चं० च० में वर्णित है, उस तरह रघुवंश आदि चारोंमें नहीं है। भवावलीके वर्णनसे महाकाव्यमें पुराणत्व आ जायेगा, यह बात सर्वमान्य नहीं हो सकती। किसी भी व्यक्तिके वर्तमान जीवनके उत्कर्षमें उसके पिछले जन्मोंकी साधनाका प्रभाव रहता है। वर्तमान जीवनकी भी पिछली साधना उसके भावी उत्कर्षका हेतु होती है—यह स्वाभाविक है। अतएव उ० पु० के आधारपर चं० च० में नायकके पिछले छः भवोंका जो वर्णन किया गया है, वह उस (चं० च०) के वैशिष्ट्यका परिचायक है।

६. नायिका वर्णन—चं० च० में चन्द्रप्रभ की पत्नी के अतिरिक्त उनके पिछले जन्मों से सम्बद्ध सुवर्णमाला, श्रीकान्ता, अजितसेना आदिका भी वर्णन है। इसकी विशेषता यह है कि किसीका भी नख-शिख वर्णन नहीं किया गया, सभीके शील आदि गुणोंपर प्रकाश डाला गया है। इसके लिए चं० च० के १, ५५; ३, १६ आदि पद्य द्रष्टव्य हैं। रघुवंश, माघ और किरात में मुख्य नायिकाओंका नाम मात्रका ही वर्णन है। नैषधमें दमयन्तीका नख-शिख वर्णन है, न कि शील आदिका। अतः चं० च० का नायिका वर्णन प्रस्तुत चारों महाकाव्योंसे विलक्षण है।

७. नायिकाओं की चेष्टाओंका वर्णन—किसी विशिष्ट व्यक्तिके आनेपर उसे देखनेके लिए स्वाभाविक कौतूहल (वह इच्छा, जिसे रोका न जा सके) वश नायिकाओं में अनेक चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं। इनका सजीव चित्रण चं० च० (७, ८२-९०), रघुवंश (७, ६-१२), माघ (१३, ३१-४८) और नैषध (१६, १२६-१२७) में द्रष्टव्य है। किरातमें इस प्रसङ्गके पद्य दृष्टिगोचर नहीं हुए। इस प्रसङ्गका चं० च० (७, ८७) का पद्य अत्यन्त सुन्दर है, जिसका भाव है—कोई अन्य नायिका अंगुलियोंमें अंगुलियाँ मिलाकर दोनों बाहुओंको अपने सिरपर रखकर जमुहाई लेने लगी, जिससे वह ऐसी जान पड़ी मानो सम्राट् अजितसेनको देखकर हृदयमें प्रवेश करनेवाले कामदेवके निमित्तसे माङ्गलिक तोरण

तैयार कर रही हो। ऐसी अनूठी कल्पना रघुवंश आदिमें खोजनेपर भी नहीं मिली। चं० च०के इस प्रसङ्ग-के अन्य पद्य भी अभिनव कल्पनाओंसे अनुस्यूत हैं. अतः चं० च०का यह प्रसङ्ग रघुवंश आदि चारों काव्योंके समीक्ष्य सन्दर्भमे कहीं अधिक स्तुत्य है।

प्रस्तुत प्रसङ्गके नैषध (१६, १२७), माघ (१३, ३५), रघुवंश (७, ११) तथा चं० च० (७, ८७) के पद्योंमें क्रमशः चमत्कृति अधिक है। नैषधका यह पद्य अनेक दृष्टियोंसे दोषपूर्ण भी है। यों नैषध श्रेष्ठ महाकाव्योंमें-से एक है, पर उक्त पद्य उसके रूपके अनुरूप नहीं है।

८. **ऋतुवर्णन**—ऋतुओंका वर्णन प्रायः सभी महाकाव्योंमें रहता है। रघुवंश (९, २४-४७) में वसन्त, किरात (१०, १९-३६) में वर्षा, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म एवं (४,१-३६) में शरद्, माघ (६, १-७९) में सभी तथा चं० च० (८, १-५१) में वसन्त वर्णित है। नैषध (१, ७५-१०६) में नलके क्रीडावन-में एक ही साथ अनेक ऋतुओंके फूल, फल और पक्षी वर्णित हैं, इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र ऋतु वर्णन नहीं किया गया। इस प्रसंगके पद्योंमें भारवि और श्रीहर्षको छोड़कर शेष (कालिदास, माघ और वीरनन्दी) ने यमकका प्रयोग किया है। रघुवंशके प्रसंगके पद्योंके केवल उत्तरार्धमें, माघके उत्तरार्धके साथ किसी-किसी पद्यके पूर्वार्धमें भी यमक प्रयुक्त है, पर चं० च० के सभी पद्योंके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनोंमें ही। चं० च० के द्वितीय सर्ग (११-२३) में राजा पद्मनाभके उद्यानमें युगपद् सभी ऋतुओंके फल-फूल और पक्षी वर्णित हैं। इस सन्दर्भमें चमत्कारपूर्ण अर्थालङ्कारोंका प्रयोग हुआ है। इसकी एक झलक नैषध (१, ७५–१०६) में दृष्टिगोचर होती है, जो किरातमें नहींके बराबर है। अतः इस प्रसंगकी रचनामें चं० च० का अपना स्वतन्त्र वैशिष्टच है।

९. **पर्वत वर्णन**—अलंकारशास्त्रके निर्देशानुसार महाकाव्योंके वर्ण्य विषयोंमें पर्वत भी है, पर रघुवंश और नैषधमें इसके वर्णनके लिए स्वतन्त्र सर्ग दृष्टिगोचर नहीं होते। किरात, माघ और चं० च० में क्रमशः हिमालय, रैवतक (गिरनार) और मणिकूट पर्वतके वर्णनके लिए पाँचवें, चौथे तथा चौदहवें सर्गका स्वतन्त्र उपयोग किया गया है। इस सन्दर्भमें भारविने चौदह और माघने उन्नीस छन्दोंका प्रयोग किया है तो वीरनन्दीने बीस का। जलोद्धतगति, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, प्रमिताक्षरा, मालिनी, वसन्ततिलका, शालिनी और मालिनी, इन नौ छन्दोंका उक्त तीनों महाकवियोंने पर्वत वर्णनके प्रसंगमें समानरूपसे उपयोग किया है। प्रस्तुत सन्दर्भमें भारविने कान्तोत्पीडा और प्रभाका, माघने आर्यागीति, कुररीरुता, पथ्या, मत्तमयूर, वंशस्थ, सुमंगला एवं स्रग्विणीका तथा वीरनन्दीने अतिरुचिरा, इन्द्रवज्रा, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता और रथोद्धता छन्दोंका एक-दूसरेसे भिन्न प्रयोग किया है। इन तीनों महाकाव्योंके प्रस्तुत प्रसंग के प्रायः सभी पद्य चमत्कारपूर्ण हैं, पर स्वाभाविकताकी दृष्टिसे वीरनन्दी कहीं-कहीं दोनोंसे आगे चले जाते हैं।

१०. **सूर्यास्त आदिका वर्णन**—कालिदासने रघुवंशमें यत्र-तत्र प्रभात आदिका संक्षिप्त वर्णन किया है, पर इसके लिए किसी पूरे सर्गका उपयोग नहीं किया। श्रीहर्षने नैषधके उन्नीसवें सर्गमें प्रभातका वर्णन किया है, जो माघकी तुलनामें फीका है। भारविने किरातके नवमसर्गमें और माघने माघके तीन (९–११) सर्गोंमें सूर्यास्तसे प्रभात तकका, जिसमें गोष्ठी, मधुपान, प्रणयालाप तथा संभोग शृंगार भी सम्मिलित हैं, आकर्षक वर्णन किया है। वीरनन्दीने चं० च० के दशम सर्गमें मधुपानको छोड़कर शेष सभीका चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है, जो किरात और माघसे भी अच्छा है। इस प्रसङ्गके पद्योंका पाठक वीरनन्दीकी श्लाघा किये बिना नहीं रह सकता। सूर्यास्तके प्रसंगमें किरात (९, १), माघ (९, १) और चं० च० (१०, १) को ध्यानसे पढ़नेपर तीनोंकी चमत्कृतिका उत्तरोत्तर प्रकर्ष ज्ञात होने लगता है। केवल एक ही पद्य नहीं दसवाँ सर्ग पूरा-का-पूरा चमत्कार से भरा हुआ है, चमत्कारका मूलकारण उक्ति वैचित्र्य है। इस दृष्टिसे वीरनन्दी प्रस्तुत अन्य कवियोंसे कहीं अधिक सफल हुए हैं।

११. युद्ध वर्णन—महाकाव्योंमें युद्ध जैसे भयावह विषयका भी सरस वर्णन किया जाता है। रघुवंशके तीन (३, ७, १२) सर्गोंके कुछ पद्योंमें युद्धका संक्षिप्त किन्तु सारगर्भ वर्णन है। किरातके पूरे पन्द्रहवें तथा माघके उन्नीस-बीसवें सर्गोंमें युद्धका वर्णन किया गया है। चं० च० के पूरे पन्द्रहवें सर्गमें युद्धका विस्तृत वर्णन है। रघुवंशकी भाँति अन्य सर्गोंमें भी इसका जो संक्षिप्त वर्णन है, वह इससे भिन्न है। किरात और माघ की भाँति चं० च० का युद्ध वर्णन अनुष्टुप् छन्दमें किया गया है। नैषधमें युद्धका वर्णन दृष्टिगोचर नहीं हुआ। चं० च० में वर्णित युद्धमें अर्धचन्द्र, असि, कुन्त, कवच, गदा, चक्र, चाप, परशु, प्रास, बाण, मुद्गर, यष्टि, वज्रमुष्टि, शङ्कु और शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोगका उल्लेख है। कालिदासने युद्ध वर्णनके पद्योंमें अर्थचित्रको और भारवि तथा माघने शब्दचित्रको मुख्यता दी है, पर वीरनन्दीने इस सन्दर्भमें मध्यमार्गका आश्रय लिया है इसीलिए इन्होंने एक पद्यमें एकाक्षर चित्र, एक पद्यमें द्व्यक्षरचित्र तथा कुछ पद्योंमें यमकका प्रयोग किया और शेषमें अर्थचित्रका। शब्दचित्रके प्रदर्शनमें भारवि और माघ दोनों पटु हैं, पर इसमें माघ अधिक सफल हुए हैं। रघुवंशकी भाँति चं० च० के युद्धवर्णनमें वीर रसका जो आस्वाद प्राप्त होता है, किरात और माघमें नहीं। चं० च० का वर्ण्यविषय किरात और माघ जैसा है, पर भाषा और शैली रघुवंश जैसी। यही कारण है कि युद्ध जैसे विषयमें भी वीरनन्दीको कालिदासकी ही भाँति सफलता प्राप्त हुई है। चं० च० के प्रस्तुत प्रसंगमें एक विशेष बात यह भी है कि रणाङ्गणमें विजय पानेवाले राजा पद्मनाभको जब उसके एक सैनिकने प्रतिद्वन्द्वी राजा पृथिवीपालका कटा हुआ सिर दिखलाया तो उसे उसी समय वैराग्य हो गया। इस अवसर पर उसके मुखसे जो उद्गार निकले वे स्तुत्य हैं। अन्तमें वह पृथिवीपालका राज्य उसके पुत्रको और अपना राज्य अपने पुत्रको देकर श्रीधर मुनिके निकट जिन दीक्षा ले लेता है। माघके अन्तिम सर्गमें भ० कृष्णके द्वारा युद्धमें शिशुपालके सिर काटने का उल्लेख है, पर उसके बाद चं० च० जैसे विचारोंका वर्णन नहीं है। इस ढंगका वर्णन रघुवंश, किरात या अन्य किसी महाकाव्यमें अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किसी भी अच्छे या बुरे कामके बाद उसके करनेवाले व्यक्तिके हृदयमें कुछ-न-कुछ विचार अवश्य उत्पन्न होते हैं। सत्कविके द्वारा उनकी चर्चा अवश्य की जानी चाहिए। निष्कर्ष यह कि चं० च० का युद्धवर्णन भी अपने ढंगका एक है।

१२. चतुर्थ पुरुषार्थका वर्णन—भामहने (काव्या० १,२) में काव्य-प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—सत्काव्यकी रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कला प्रवीणता, आनन्द एवं कीर्ति प्रदान करती है। विश्वनाथने (सा० द० १,२) में लिखा है कि अल्पमति व्यक्तियोंको भी विशेष परिश्रम किये बिना धर्म आदि पुरुषार्थोंके फलकी प्राप्ति काव्यसे ही हो सकती है, अतः''''। इस प्रयोजनकी दृष्टिसे वीरनन्दी अपने काव्य निर्माणमें पूर्ण सफल हुए हैं। काव्योचित अन्यान्य विषयोंके साथ चं० च० में चारों पुरुषार्थों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। चं० च० के अन्तिम सर्गमें केवल चतुर्थ पुरुषार्थका ही वर्णन है। इसमें सात तत्त्व, मोक्षका स्वरूप और उसके प्राप्त करनेके उपाय—इन विषयोंका विस्तृत वर्णन है। इसका सीधा सम्बन्ध चन्द्रप्रभकी दिव्य देशनासे है। नायककी मुक्ति प्राप्ति पर प्रस्तुत महाकाव्यकी समाप्ति हुई है। सत्काव्योंके अध्ययनसे चतुर्वर्ग रूप फलकी प्राप्ति अलङ्कार ग्रन्थोंमें बतलायी गयी है तो धर्मसे लेकर मोक्ष पर्यन्त चारों वर्गों या पुरुषार्थोंका वर्णन भी सत्काव्योंमें होना चाहिए, जैसा कि चं० च० में है। रघुवंश आदि चारों जैनेतर काव्योंमें यह दृष्टिगोचर नहीं होता। किसी एकाध पद्यसे इसका सम्बन्ध जोड़ दिया जाये तो वह अलग बात होगी। चं० च० का अङ्गी रस शान्त है, जिसका फल मोक्ष है, अतः इसमें मोक्ष पुरुषार्थका वर्णन आवश्यक था, जिसे वीरनन्दीने पूरा किया।

इस तुलनात्मक संक्षिप्त अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि वीरनन्दी अपने महाकाव्यके निर्माणमें कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि महाकवियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सफल हुए हैं। वीरनन्दी यदि जैन न होते तो इनका महाकाव्य भी रघुवंश आदि की भाँति ख्याति प्राप्त करता और प्रचारमें भी आ जाता।

[१०] चं० च० में रस योजना

'स कविर्यस्य वचो न नीरसम्' (चं० च० १२, १०८)—इस उक्तिसे स्पष्ट है कि वीरनन्दीकी दृष्टिमें श्रेष्ठ कवि वह है, जिसका काव्य सरस हो। यही कारण है कि चं० च० में आदिसे अन्त तक रसकी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित है। यहाँ इसके मुख्य रसोंका उल्लेख प्रस्तुत है।

शान्तरस—चं० च० का अङ्गी (प्रधान) रस शान्त है, जो इसके प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम, एकादश, पंचदश (१३३-१६१), सप्तदश और अन्तिम अष्टादश सर्गमें प्रवाहित है। इन सर्गोंमें विरक्तिके कारणोंके मिलने पर संसार, शरीर, यौवन, जीवन और विषयोंकी अनित्यता, मुनिदर्शन, दीक्षा, तपस्या, दिव्य देशना और मुक्ति की प्राप्ति वर्णित है। उदाहरण के लिए १, ७८; ४, २५; ११, १७; १५, १३५; १७, ६९ इत्यादि पद्य द्रष्टव्य हैं।

शृङ्गाररस—चं० च० के सप्तम सर्गके बयासीवें पद्यसे लेकर दशम सर्गके अन्त तक शृङ्गार रस प्रवाहित है। सप्तम सर्गके उक्त अंशमें दिग्विजयके उपरान्त सम्राट् अजितसेन अपनी राजधानीमें प्रवेश करते हैं। इन्हें देखने वाली नायिकाओंकी विविध चेष्टाएँ शृङ्गार रस (पूर्वराग) को अभिव्यक्त करती हैं। अष्टम सर्गमें वसन्त ऋतु, नवममें उपवन यात्रा, उपवन विहार एवं जलक्रीड़ा तथा दशममें सायंकाल, अन्धकार, चन्द्रोदय और रात्रिक्रीड़ा (सुरत) वर्णित हैं, जिनमें संभोग और विप्रलम्भ दोनोंका आस्वाद मिलता है। अन्य सर्गोंमें भी न्यूनाधिक मात्रामें शृङ्गार रस विद्यमान है। ७, ८३; ८, ३९; ९, २४; १०, ६० इत्यादि पद्य शृङ्गार रसके उदाहरणके रूपमें द्रष्टव्य हैं।

पति-पत्नीके हृदयमें विद्यमान रति (स्थायीभाव) यदि एक-दूसरेके प्रति हो तो वह विभाव, अनुभाव और संचारी भावके संयोगसे शृङ्गार रसके रूपमें परिणत हो जाती है। यदि यही रति देव, मुनि या राजा आदिके विषयमें हो तो वह 'भाव' रूपमें परिणत होती है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं। देवविषया रति—१७, ३२; मुनिविषया रति ११, ४२; राजविषया रति–१२-६८।

वीररस—ग्यारहवें सर्ग (८५-९२) में तथा पन्द्रहवें (१-१३१) में वीररस है। ग्यारहवें सर्गके अन्तमें राजा पद्मनाभके द्वारा अदम्य उत्साह पूर्वक, राजधानीमें प्रलय मचाने वाले एक जंगली हाथीको वशमें लानेका वर्णन है और पन्द्रहवें सर्गके इसी हाथीको अपना बतलाकर अपमानजनक व्यवहार करनेवाले राजा पृथिवीपालके साथ पद्मनाभके युद्धका वर्णन है, जो वीररससे आप्लावित हैं। १५, ३६; १५, ४८; १५, ५८; १५, ९९ इत्यादि पद्य इसके उदाहरणके लिए अवलोकनीय हैं।

रौद्ररस—चं० च० के छठे सर्गमें कुख्यात चण्डरुचि नामक असुर पिछले वैरके कारण राजकुमार अजितसेनका अपहरण करके उसकी हत्याका दुष्प्रयास करता है। राजा महेन्द्र राजा जयवर्माकी अनुपम सुन्दरी कन्या शशिप्रभाको बलात् छीननेके लिए युद्ध छेड़ देता है, और इसके पराजित होने पर धरणीध्वज भी शशिप्रभाको पानेके उद्देश्यसे युद्धके मैदानमें उतर आता है, पर जयवर्मा महेन्द्रकी भाँति इसके भी छक्के छुड़ा देता है। इन तीनों प्रसंगोंमें रौद्ररसका परिपोष हुआ है।

बीभत्सरस—चं० च० के (१५, ५३) आदि कतिपय पद्योंमें बीभत्स रस अभिव्यक्त है, जिनमें मांस और रक्तासवके सेवनसे उन्मत्त डाकनियोंका धड़ोंके साथ नाचना वर्णित है।

करुणरस—चं० च० (५, ५५-७१) में करुण रस[1] प्रवाहित है, जहाँ अपहृत पुत्रके शोकमें उसके पिता अजितंजयका विलाप वर्णित है। इसके उदाहरणके लिए ५, ५८; ५, ६२ आदि पद्य द्रष्टव्य हैं।

---

१. मृत्युके उपरान्त करुण रसकी अभिव्यक्ति होती है। यहाँ अजितसेनकी मृत्यु नहीं हुई, अनिष्टकी प्राप्ति हुई—इसी दृष्टिसे करुणरस अभिव्यक्त हुआ है। 'इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्' (सा० द० ३, २२२)। काव्यानु० (२, पृ० ९१) और अलङ्कारचि० (५, १०१) से भी इसका समर्थन होता है, अतः चं० च० के उक्त सन्दर्भमें करुणरस मान्य है।

अद्भुतरस—चं० च० (५, ७२-७३) में अद्भुत रसका आस्वाद होता है, जहाँ आकाश मार्गसे उतरते हुए दीप्ति सम्पन्न एक चारण मुनिको अकस्मात् देखते ही अजितंजय और उसकी सभाका विस्मित होना वर्णित है ।

वात्सल्यरस—चं० च० (१७, ४३-४८) में वात्सल्य रसका भी परिपोष हुआ है, जहाँ शिशु चन्द्रप्रभकी बाललीलाको देख कर उनके माता-पिता आनन्दका अनुभव करते हैं । भरत मुनिकी भाँति विश्वनाथ कविराज (सा. द. ३, २५१) ने इसे स्वतन्त्र रस माना है । यदि यह रस वीरनन्दीको मान्य न रहा हो, तो उक्त सन्दर्भमें पुत्र विषयक रतिभाव स्वीकार्य होना चाहिए । भक्तिरस, लौल्यरस और स्नेहरस आदि सर्वमान्य नहीं हैं, अतः चं० च० में इन्हें खोज निकालना निष्फल होगा ।

इस तरह चं० च० में अङ्गाङ्गीभावसे प्रायः सभी रस प्रवाहित हुए हैं ।

[११] चं० च० में अलङ्कार योजना

चं० च० में जिन अलङ्कारोंका सन्निवेश है, उनका एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है ।

(क) शब्दालङ्कार

छेकानुप्रास—दिव्यान् दिव्याकारकान्तासहायो भोगान् भोगी निर्विशन्निर्विशङ्कः ।
राज्यं राज्यभ्रंशिताकारलोकश्चक्रे चक्री पूर्वपुण्योदयेन ॥७,९४

यहाँ व्यञ्जनोंकी एक-एक बार आवृत्ति होनेसे छेकानुप्रास है । इसमें स्वरसाम्य नहीं देखा जाता ।

वृत्त्यनुप्रास—इत्थं नारीः क्षणरुचिरुचः क्षोभयन्नीतिरक्षः
क्षीणक्षोभः क्षपितनिखिलारातिपक्षोऽम्बुजाक्षः ।
क्षोणीनाथो विनिहितमहामङ्गलद्रव्यशोभं
प्रापत्तेजोविजिततपनो मन्दिरद्वारदेशम् ॥७,९१

यहाँ व्यञ्जनोंकी अनेक बार आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास, और आनुनासिक वर्णोंकी आवृत्तिके कारण श्रुत्यनुप्रास भी है । इनके अतिरिक्त लुप्तोपमा (अर्थालङ्कार) भी विद्यमान है ।

श्रुत्यनुप्रास—नयेन नृणां विभवेन नाकिनां गतस्पृहाणां विनयेन योगिनाम् ।
महीभुजामेष निजेन तेजसा तनोति चित्ते सततं चमत्कृतिम् ॥११,५२

आनुनासिक वर्णोंकी आवृत्ति होनेसे यहाँ श्रुत्यनुप्रास है, और उत्तरार्धमें 'त' की अनेक बार आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास भी । इनके अतिरिक्त दीपक (अर्थालङ्कार) भी है ।

अन्त्यानुप्रास—मानोन्मादव्यपनयचतुराश्चैत्रारम्भे विदधति मधुराः ।
यूनामस्मिन् घटितयुवतयो दूतीकृत्यं परभृतरुतयः ॥१४,३०

पूर्वार्धके चरणोंके अन्तमें 'राः' और उत्तरार्धके दोनों चरणोंके अन्तमें 'तयः' की आवृत्ति होनेसे यहाँ अन्त्यानुप्रास है ।

अथवा

सहसैव समुद्भिद्य सुस्रुवे करिणां कटैः ।
भेजे कोऽपि महोत्साहो रोमाञ्चकवचैर्भटैः ॥१५,२९

पूर्वार्ध और उत्तरार्धके अन्तमें 'टैः' की आवृत्ति होनेसे यहाँ अन्त्यानुप्रास है ।

पादयमक—भूरिभैरवधीरायाः रुष्टैः प्रतिगजश्रुतेः ।
भूरिभैरवधीरायाः समदानैः स्वपाणिना ॥१५,१०

यहाँ प्रथम और तृतीय चरणोंमें अयुतावृत्तिमूलक पादयमक है। यहाँ विसर्गकृत दोष नहीं है, जैसा कि वाग्भटा० (१,२०) में बतलाया गया है।

पादयमक—शस्त्रप्रहारैर्गुरुभिः समुदा येन योजितः।
तेनामर्षात् पुनः सोऽस्त्रसमुदायेन योजितः ॥१५,४५

यहाँ द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में अयुतावृत्तिमूलक पादयमक है।

पदयमक—सेना सेना यती बद्धराजिराजिसमुत्सुका।
चक्रे चक्रेषुखङ्गास्त्रसारा सारातिसाध्वसम् ॥१५,२०

यहाँ संयुतावृत्तिमूलक प्रतिपादादि पदयमक है।

पदयमक—वणिक्पथस्तूपितरत्नसंचयं समस्ति तस्मिन्नथ रत्नसंचयम्।
पुरं यदालानितमत्तवारणैर्विभाति हर्म्यैश्च समत्तवारणैः ॥१,२१

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक प्रत्यर्धभागभिन्न पादान्त्य पदयमक है।

पदयमक—यथा पलाशास्तत्रेश शोभन्ते नवकिंशुकैः।
तथैव जम्बूतरवो विराजन्ते न किंशुकैः ॥२,१७

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक पद्यार्धान्त्य पदयमक है।

पदयमक—भयात् पलायमानस्य कामस्य गलितः करात्।
बाणावलिरिवाभाति बाणावलिरितस्ततः ॥२,२०

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक तृतीय-चतुर्थ पादादिगत पदयमक है।

पदयमक—तत्र शासति महीं जनतायास्त्रातरि क्रमसरोजनतायाः।
मोदयन्मधुरभून्मधुपानां संततिं कृतगलन्मधुपानाम् ॥८,१

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थपादान्तगत पदयमक है। चं० च० के आठवें, चौदहवें तथा पन्द्रहवें सर्गमें ऐसे ही उदाहरण और भी हैं।

वर्णयमक—सपौरः ससुहृद्वर्गः सकलत्रः सबान्धवः।
सतनूजः ससामन्तः स चचाल ससैनिकः ॥२,३०

यहाँ अयुतावृत्तिमूलक आद्यन्त वर्णयमक है।

एकाक्षरचित्र—रैरोरा रैररैरेरी रोरो रोरुररेररि—
रुरूरुररुरूरोरारारीरैरुरोररम् ॥१५,३९

आदिसे अन्त तक केवल 'र' व्यञ्जनके होनेसे यहाँ एक व्यञ्जनचित्र या एकाक्षरचित्र है।

द्व्यक्षरचित्र—धीरधीरारिरुधिरैरुरुधाराधरैररम्।
धरा धराधराधारा रुरुधेऽधोऽधराधरा ॥१५,४९

आदिसे अन्त तक 'ध' और 'र'—इन दो व्यञ्जनोंके रहनेसे यहाँ द्विव्यञ्जनचित्र या द्व्यक्षर चित्र है।

काकुवक्रोक्ति—विशदामसमुज्झितान्वयां नयसाराममविहीनसौष्ठवाम्।
गिरमेष कदाचिदीदृशीमभिदध्यादथवा बृहस्पतिः ॥१२,१००

'अथवा बृहस्पति भी कभी ऐसे वचन कह सकते हैं ?'—इस तरह कण्ठध्वनिके परिवर्तनके साथ अर्थ करनेपर यहाँ 'काकुवक्रोक्ति' अलङ्कार घटित होता है।

(ख) अर्थालङ्कार

चं० च० में जिन अर्थालङ्कारोंका प्रचुरमात्रामें सन्निवेश है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

पूर्णोपमा (१,३१), मालोपमा (१६,१७), लुप्तोपमा (११,१५), उपमेयोपमा (१०,२७), प्रतीप (३,३) रूपक (१५,५३), परम्परितरूपक (१,१०), परिणाम (५,६०), भ्रान्तिमान् (१,२६;१,२७;६,९;९,६;९,३०;१५,५;१४,३२;१४,३८ आदि), अपह्नुति (५,४३), कैतवापह्नुति (१४,६४), उत्प्रेक्षा (१,१३), अतिशय (१६,३६), अन्तदीपक (१,४५), तुल्ययोगिता (१५,१३५), प्रतिवस्तूपमा (१,६३), दृष्टान्त (११,२१), निदर्शना (४,२४), व्यतिरेक (१,४४), सहोक्ति (३,६६), समासोक्ति (१,१६), परिकर (१७,६२), श्लेष (२,१४२), अप्रस्तुतप्रशंसा (१५,१३४), पर्यायोक्त (१६,२६), अन्य प्रकारका पर्यायोक्त (९,२४), विरोधाभास (१,३७), विभावना (१,५९), अन्य प्रकारकी विभावना (६, ६६), विशेषोक्ति (४, ६), विषम (१५, १३०), अधिक (२, २४), अन्योन्य (१४, १४), कारणमाला (४,३७; ४, ३८), एकावली (१, ३५) परिवृत्ति (९, ४३), परिसंख्या (२, १३८), समुच्चय (३, ४९), अर्थापत्ति (१, ७३), काव्यलिङ्ग (४, १९), अर्थान्तरन्यास (४, ११), तद्गुण (१४, २९), लोकोक्ति (२, २६), स्वभावोक्ति (१४, ६३), उदात्त (२, १२८), अनुमान (९, १३), रसवत् (१५, ८), प्रेय (१५, १४४), ऊर्जस्वित् (८, २०), समाहित (८, ४५), भावोदय (८, २१), संसृष्टि (१, १०) और सङ्कर[1] (८, ४३)।

[१२] चं० च० में छन्द योजना

चं० च० में एक मात्रिक (औपच्छन्दसिक) और तीस वर्णिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

(१) अतिरुचिरा, (२) अनुष्टुप्, (३) इन्द्रवज्रा, (४) उद्गता, (५) उपजाति, (६) उपेन्द्रवज्रा, (७) औपच्छन्दसिक, (८) क्षमा, (९) जलधरमाला, (१०) जलोद्धतगति, (११) द्रुतविलम्बित, (१२) नर्कुटक, (१३) पुष्पिताग्रा, (१४) पृथ्वी, (१५) प्रमिताक्षरा, (१६) प्रहर्षिणी, (१७) भ्रमरविलसित, (१८) मन्दाक्रान्ता, (१९) मालिनी, (२०) रथोद्धता, (२१) वंशस्थ, (२२) वंशपत्रपतित, (२३) वसन्ततिलका, (२४) वसन्तमालिका, (२५) शार्दूलविक्रीडित, (२६) शालिनी, (२७) शिखरिणी, (२८) सुन्दरी, (२९) स्रग्धरा, (३०) स्वागता, (३१) हरिणी[2] ।

[१३] चं० च० की समीक्षा

वीरनन्दीको चन्द्रप्रभका जो संक्षिप्त जीवनवृत्त प्राचीन स्रोतोंसे समुपलब्ध हुआ, उसे उन्होंने अपने चं० च० में खूब ही पल्लवित किया है। चन्द्रप्रभके जीवन वृत्तको लेकर बनायी गयीं जितनी भी दि०-श्वे० कृतियाँ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनमें वीरनन्दीकी प्रस्तुत कृति ही सर्वाङ्गपूर्ण है। इसकी तुलनामें उ० पु० गत चं० च० भी संक्षिप्त-सा प्रतीत होता है, जो उपलब्ध अन्य सभी चन्द्रप्रभचरितोंसे, जिनमें हेमचन्द्रका चं० च० भी शामिल है, विस्तृत है। अतः केवल कथानकके आधार पर ही विचार किया जाये तो भी यह मानना पड़ेगा कि वीरनन्दीको सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है। सरसताकी दृष्टिसे तो इनकी कृतिका महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है।

---

१. सभी अलङ्कारोंके लक्षण घटानेमें प्रायः कुवलयानन्दका उपयोग किया गया है। २. सभी छन्दोंके लक्षण वृत्तरत्नाकरके अनुसार घटाये गये हैं।

वीरनन्दी का चं० च० अपनी विशेषताओंके कारण संस्कृत महाकाव्योंमें विशिष्ट स्थान रखता है। कोमल पदावली, अर्थ सौष्ठव, विस्मयजनक कल्पनाएँ, अद्भुत घटनाएँ, विशिष्ट संवाद, वैदर्भी रीति, ओज, प्रसाद तथा माधुर्य गुण, विविध छन्दों और अलङ्कारोंकी योजना, रसका अविच्छिन्न प्रवाह, प्राञ्जल संस्कृत, महाकाव्योचित प्रासंगिक वर्णन और मानवोचित शिक्षा आदिकी दृष्टिसे प्रस्तुत कृति अत्यन्त श्लाघ्य है।

प्रस्तुत कृतिमें वीरनन्दीकी साहित्यिक, दार्शनिक और सैद्धान्तिक विद्वत्ताकी त्रिवेणी प्रवाहित है। साहित्यिक वेणी (धारा) अथसे इति तक अविच्छिन्न गतिसे बही है। दार्शनिक धाराका सङ्गम दूसरे सर्गमें हुआ है, और सैद्धान्तिक धारा सरस्वतीकी भाँति कहीं दृश्य तो कहीं अदृश्य होकर भी अन्तिम सर्गमें विशिष्ट रूप धारण करती है। पर कविकी अप्रतिम प्रतिभाने साहित्यिक धाराको कहीं पर भी क्षीण नहीं होने दिया। फलतः दार्शनिक और सैद्धान्तिक धाराओंमें भी पूर्ण सरसता अनुस्यूत है।

अश्वघोष और कालिदासकी भाँति वीरनन्दीको अर्थ चित्रसे अनुरक्ति है। यों इन तीनों महाकवियों-की कृतियोंमें शब्दचित्रके भी दर्शन होते हैं, पर भारवि और माघकी कृतियोंकी भाँति नहीं, जिनमें शब्द चित्र आवश्यकताकी सीमासे बाहर चले गये हैं।

बुद्धचरित, सौन्दरनन्द, रघुवंश और चन्द्रप्रभचरित इन चारोंकी रचना शैलीमें पर्याप्त साम्य है, फिर भी इतना अवश्य है कि वीरनन्दीको कालिदासकी अपेक्षा अश्वघोषने अधिक मात्रामें प्रभावित किया है। जान पड़ता है कि चं० च० का नामकरण बु० च० से और सर्ग संख्या सौ० न० की सर्ग संख्यासे प्रभा-वित है। बु० च० में वर्णित भ० बुद्धके जन्मसे निर्वाण तकके जीवन वृत्तकी भाँति चं० च० में चन्द्रप्रभका जीवन वृत्त वर्णित है। हाँ, चन्द्रप्रभचरितमें वर्णित चन्द्रप्रभके पिछले जन्मोंका वृत्त उसकी अपनी विशेषता है, जो जैनेतर काव्योंमें नहीं है। अश्वघोषकी कृतियोंमें बौद्ध धर्मके अनुसार जिस तरह मानव जन्म के लाभ, सांसारिक सुखकी असारता बतलायी गयी है, दार्शनिक चर्चा की गयी है और पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग किया गया है, उसी तरह वीरनन्दीकी कृति चं० च० में जैन धर्मके अनुसार। अथ च अश्वघोषकी भाँति वीरनन्दीको भी शान्तरस अभिप्रेत है। इसी आधारपर जान पड़ता है कि वीरनन्दी अश्वघोषसे से अधिक प्रभावित रहे।

चं० च० में वर्णित चन्द्रप्रभका जीवनवृत्त अतीत और वर्तमानकी दृष्टिसे दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रारम्भके पन्द्रह सर्गोंमें अतीतका और अन्तिम तीन सर्गोंमें वर्तमानका वर्णन है। इस लिए अतीतके वर्णनसे वर्तमानका वर्णन कुछ दब-सा गया है। चन्द्रप्रभकी प्रधान पत्नीका नाम कमलप्रभा है। नायिका होनेके नाते इनका विस्तृत वर्णन होना चाहिए था, पर केवल एक (१७, ६०) पद्यमें इनके नाम-मात्रका ही उल्लेख किया गया है। इसी तरह इनके पुत्र वरचन्द्रकी भी केवल एक (१७, ७४) पद्यमें ही नाममात्रकी चर्चा की गयी है। दोनोंके प्रति बरती गयी यह उपेक्षा खटकने वाली है। दूसरे सर्गमें की गयी दार्शनिक चर्चा अधिक लम्बी है। इसके कारण कथाका प्रवाह कुछ अवरुद्ध-सा हो गया है। इतना होते हुए भी कवित्वकी दृष्टिसे प्रस्तुत महाकाव्य प्रशंसनीय है। क्लिष्टता और दूरान्वयके न होनेसे इसके पद्य पढ़ते ही समझमें आ जाते हैं। इसकी सरलता रघुवंश और बुद्धचरितसे भी कहीं अधिक है।

[१४] ग्रन्थकार-परिचय

चं० च० के अन्तमें मुद्रित ग्रन्थकारकी प्रशस्ति (श्लो० १-४) से उनका निम्नलिखित परिचय प्राप्त होता है—

(क) संघ और गण—ग्रन्थकार वीरनन्दी 'नन्दी' संघके 'देशीय' गणमें हुए हैं। मूल संघ अर्थात् दि० सम्प्रदायकी चार शाखाएँ हैं—(१) नन्दी, (२) सिंह, (३) सेन और (४) देव। इन शाखाओंकी प्रतिशाखाएँ गण, गच्छ आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। नन्दी संघमें जो कई गण, गच्छ आदि हैं, देशीय गण उन्हीं में से एक है।

(ख) गुरुपरम्परा—वीरनन्दीके गुरुका नाम अभयनन्दी, दादा गुरुका नाम 'विबुध' गुणनन्दी और परदादा गुरुका नाम गुणनन्दी था।

वीरनन्दी असाधारण विद्वान् थे, जैसा कि उनकी कृतिके अध्ययन एवं अन्य ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है।

विद्वत्ता तथा प्रभाव

(क) विद्वत्ता—चं० च० के क्रियापदोंके देखनेसे स्पष्ट है कि वीरनन्दीका व्याकरणशास्त्रपर पूर्ण अधिकार रहा। द्वितीय सर्ग (श्लो० ४४-११०) यह सिद्ध करता है कि वीरनन्दी जैन व जैनेतरदर्शनोंके अधिकारी विद्वान् थे। तत्त्वोपप्लव दर्शनको समीक्षाके सन्दर्भमें उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं, वे अष्टसहस्री आदि विशिष्ट दार्शनिक ग्रन्थोंमें भी दृष्टिगोचर नहीं होतीं। अन्तिम सर्ग वीरनन्दीकी सिद्धान्त मर्मज्ञताको व्यक्त करता है। चं० च० के तत्तत्प्रसङ्गोंमें चर्चित राजनीति, गजवशीकरण और शकुन-अपशकुन आदि विषय उनकी बहुज्ञताको प्रमाणित करनेमें सक्षम हैं।

(ख) प्रभाव—अभयनन्दीके शिष्य होनेके नाते वीरनन्दी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके सतीर्थ रहे, जिन्होंने शौरसेनी प्राकृतमें गोम्मटसार (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड), त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार आदि विशिष्ट ग्रन्थोंकी रचना की थी, फिर भी उन्होंने कर्मकाण्डमें अपनेको वीरनन्दीका 'वच्छो'[1] (वत्स) लिखा है, और एकाधिक बार उनका नामोल्लेख[2] किया है। वीरनन्दीके नामके आगे 'णाह' (नाथ) और चंद (चन्द्र) का प्रयोग और मङ्गलाचरणके प्रसङ्गमें उनका बार-बार स्मरण किया जाना उनके प्रभावका द्योतक है। वादिराज सूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें नामोल्लेखपूर्वक उनकी कृति—चं० च०की सराहना[3] की है। कविवर दामोदरने अपने चन्द्रप्रभचरितमें उन्हें 'कवीश' बतलाया है और वन्दन[4] भी किया है। पण्डित गोविन्दने अपने पुरुषार्थानुशासनमें उनका उल्लेख धनञ्जय, असग और हरिचन्द्रसे भी पहले किया है और उनके काव्यको प्रशंसा भी[5]। पण्डित प्रवर आशाधरने उनके चं० च० के एक (४, ३८) पद्यको उद्धृत करके अपने सागारधर्मामृतके न्यायोपात्त—इत्यादि (१, ११) श्लोकमें चर्चित कृतज्ञता गुणका समर्थन किया है, और इष्टोपदेशकी अपनी टीकामें भी चं० च० का एक पद्य उद्धृत किया है।

जीव० च० तथा धर्मश०के कर्ता महाकवि हरिचन्द्रने धर्मशर्माभ्युदयकी रूपरेखा चं० च० को सामने रखकर बनायी। चं० च० और धर्मश० की मङ्गलाचरणपद्धति, पुराणोंके आश्रयकी सूचना, दार्शनिक चर्चा और धर्मदेशना प्रायः एक-सी है। धर्मदेशनाके कतिपय पद्योंके चरण-के-चरण मिलते हैं[6]। यदि अनुक्रम और भावकी समानतापर ध्यान दिया जाये तो लगभग आधी धर्मदेशना दोनोंकी एक जैसी ही सिद्ध होगी। अतएव यह स्पष्ट है कि समकालीन और उत्तरकालीन अनेक विद्वानोंपर वीरनन्दीकी विद्वत्ताका महान् प्रभाव रहा है।

---

१. जस्स पायपसायेण णंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो। वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं ॥गा० ४३६॥ २. णमिऊण अभयणंदि सुदसागरपारगिंदणंदिगुरुं। वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥गा० ७८५॥ णमह गुणरयणभूसणसिद्धंतामियमहद्धिभवभावं। वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदिगुरुं ॥गा० ८९६॥ ३. चन्द्रप्रभाभिसंबद्धा रसपुष्टा मनः प्रियम्। कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः ॥१. ३०॥ ४. चन्द्रप्रभजिनेशस्य चरितं येन वर्णितम्। तं वीरनन्दिनं वन्दे कवीशं ज्ञानलब्धये ॥१. १९॥ ५. श्रीवीरनन्दिदेवो धनञ्जयासगौ हरिश्चन्द्रः। व्यधुरित्याद्याः कवयः काव्यानि सदुक्तियुक्तीनि ॥—'जैनग्रन्थप्रशस्ति-संग्रह' पृ० १२७ से उद्धृत। ६. तुलना कीजिए—चं० च० १८, २ तथा धर्मश० २१, ८; चं० च० १८, ७८ तथा धर्मश० २१, ९०; चं० च० १८, ८८ तथा धर्मश० २१, ९९ इत्यादि।

प्रशस्त विचारधारा

वीरनन्दी साधु थे, अतः उनका मन विरागतासे प्रभावित रहा। इसका आभास उनके चं च० में ही यत्र-तत्र उपलब्ध है। लगभग आठ स्थलोंपर उन्होंने विरक्तिके विचारों एवं नरेशोंके दीक्षित होनेका वर्णन किया है। प्रायः ऐसे ही प्रसङ्गोंमें उनकी प्रशस्त विचारधाराकी झलक मिलती है, जो इस प्रकार है—

प्रत्येक जन्तुका जीवन मरणसे और यौवन बुढ़ापेसे आक्रान्त है—इसे देखता हुआ भी जड़ मनुष्य अपने हितकी ओर ध्यान नहीं देता, यह खेद और आश्चर्यकी बात है ॥१, ६९॥ यह मनुष्य जन्म अशुभ-कर्मोदयकी मन्दतासे किसी तरह काकतालीय न्यायसे प्राप्त हुआ है। अतः इसे पाकर चतुर्गतिपरिभ्रमणके वृत्तान्तको समझनेवाले व्यक्तिको आत्महितके विषयमें प्रमाद करना उचित नहीं है ॥४, २६॥ अनिष्ट संयोग और इष्टवियोग समानरूपसे सभीके साथ लगे हुए हैं—इस बातको सोचकर बुद्धिमान् मानव विषाद करके अपने मनको खिन्न नहीं करता ॥५, ८७॥ बुद्धिमान् मानव खूब आगा-पीछा सोचकर कार्य करता है या फिर उसका आरम्भ ही नहीं करता; क्योंकि सहसा कार्य करना पशुओंका धर्म है, वह मानवमें कैसे हो सकता है? ॥१२, १०२॥ पुत्र वह है, जो अपने कुलका विस्तार करे; मित्र वह है, जो विपत्तिमें साथ दे; राजा वह है, जो प्रजाकी रक्षा करे और कवि वह है, जिसके वचन नीरस न हों ॥१२, १०८॥ प्रेमसे बढ़कर कोई बन्धन नहीं है; विषयसे बढ़कर कोई विष नहीं है; क्रोधसे बढ़कर कोई शत्रु नहीं है और जन्मसे बढ़कर कोई दुःख नहीं है ॥१५, १४३॥ ऐसे विचार चं० च० में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। विस्तारका भय न होता तो उन सभीका संकलन यहाँ प्रस्तुत किया जाता।

अन्य वीरनन्दी—प्रस्तुत वीरनन्दीके अतिरिक्त अन्य वीरनन्दी भी हुए हैं। (१) आचारसारके प्रणेता, जो मेघचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य थे, (२) महेन्द्रकीर्तिके शिष्य एवं कलधौतनन्दीके प्रशिष्य। (३) 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' उपाधिसे विभूषित और (४) पण्डित महेन्द्रके शिष्य।

वीरनन्दीका समय

चं० च० के रचयिता—वीरनन्दीने अपनी इस कृतिमें कहीं पर भी अपने समयका उल्लेख नहीं किया, पर अन्य आचार्योंके, जिन्होंने अपनी कृतियोंमें उनके नामका उल्लेख किया है, समयके आधारपर उनका समय सुनिश्चित है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने अपने कर्मकाण्डमें उनके नामका तीन बार उल्लेख किया है जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वे नेमिचन्द्र सि० च० के सम-कालीन हैं। प्रेमीजीने नेमिचन्द्र सि० स० का समय विक्रमकी ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध सिद्ध किया है, अतः चं० च० के कर्ताका भी यही समय सिद्ध होता है[1]। बलदेव उपाध्यायने चं० च० के कर्ता वीरनन्दीका समय १३०० ई० लिखा है[2], और डॉ० बहादुरचन्दने भी लगभग यही समय बतलाया है[3], जो भ्रम-मूलक है।

वादिराज सूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें वीरनन्दी और उनके चं० च० की प्रशंसा[4] की है, जिसकी समाप्ति शक स० ९४७ (वि० सं० १०८२) में समाप्त[5] हुई थी। अतः वीरनन्दी इनसे पूर्ववर्ती ही ठहरते हैं। ऐसी स्थितिमें वीरनन्दीका सुनिश्चित समय विक्रमकी ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्ध ही सिद्ध होता है।

---

१. इससे उक्त दोनों ग्रन्थोंके कर्ता नेमिचन्द्र सि० च० और उनके सहयोगियों—वीरनन्दी, इन्द्रनन्दी, कनकनन्दी—का समय भी विक्रमकी ग्यारहवीं सदीका पूर्वार्ध ठहरता है।—जैन साहित्य और इतिहास पृ० २७४। २. वीरनन्दी (१३०० ई०)—चन्द्रप्रभचरित।—संस्कृत साहित्यका इतिहास पृ० २७३। ३. संस्कृत साहित्यका इतिहास (१३वीं शताब्दीके महाकाव्य) पृ० ८६८। ४. 'चन्द्रप्रभाभिसंबद्धा रसपुष्टा मनः प्रियम्। कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः॥ पार्श्वनाथच० १, ३०॥ ५. 'शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्र-गणने संवत्सरे क्रोधने, मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने। सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया, निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥पार्श्वनाथच० प्र० प० ५॥

[१५] संस्कृत व्याख्या

नाम—प्रस्तुत ग्रन्थके साथ मुद्रित संस्कृत व्याख्याका सम्पादन जिन आदर्श ह० लि० प्रतियोंके आधारपर किया गया है, उनके पुष्पिकावाक्योंके अनुसार यह 'व्याख्या' नहीं 'व्याख्यान' है और इसका नाम 'विद्वन्मनोवल्लभ' है, पर 'श' प्रति (सर्ग ११) के पुष्पिकावाक्यको ध्यानमें रखकर सौन्दर्यकी दृष्टिसे चं० च० के ऊपर व्याख्याका नाम 'विद्वन्मनोवल्लभा' प्रकाशित किया गया है, और अन्दर 'विद्वन्मनोवल्लभ', यद्यपि समस्यन्त पदके कारण इतना सूक्ष्म अन्तर बादमें ज्ञात हो पाता है।

विशेषता—प्रस्तुत व्याख्या साधारण-सी ही है। विज्ञ पाठकोंको इसमें स्वयं व्याख्याकारकी कुछ अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर होंगी। अलङ्कारोंके निर्देश भी यत्र-तत्र भ्रान्तिपूर्ण हैं। पर इसकी सबसे बड़ी विशेषता शुद्धपाठोंकी बहुलता है, जिसके कारण मूल ग्रन्थके सम्पादनमें बड़ी सहायता मिली है। मूल ग्रन्थके पदोंको अन्वयके अनुसार रखकर उनकी व्याख्या की गयी है। इसके साहाय्यसे दार्शनिक अंशको छोड़कर प्रायः पूरे मूलग्रन्थका अर्थ खुल जाता है। व्याकरण और कोष आदि ग्रन्थोंके इसमें जो उद्धरण दिये गये हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं। इसकी तुलना अर्हद्दासके मुनिसुव्रतकाव्यकी संस्कृत टीका-'सुखबोधिनी'से की जा सकती है।

व्याख्याकारका परिचय—इस व्याख्याके रचयिताका नाम 'मुनिचन्द्र' है। इन्होंने अपनेको 'विद्यार्थी' लिखा है। 'कन्नडप्रान्तीय-ताडपत्र-ग्रन्थ सूची' (पृ० १२३) के अनुसार ये अलगंचपुरीके निवासी द्विजोत्तम देवचन्द्रके पुत्र थे।

व्याख्याकारका समय

प्रस्तुत व्याख्यामें अनेकार्थध्वनिमंजरी, अनेकार्थसंग्रह, अभिधानचिन्तामणि, अमरकोष, नाममाला, नानार्थकोष (गद्यात्मक), नीतिवाक्यामृत, वाग्भटालङ्कार, विश्वप्रकाश, विश्वलोचन, वैजयन्ती, शाकटायन और समवसरण स्तोत्र—इत्यादि ग्रन्थोंके अवतरण हैं। इनमें अनेकार्थ संग्रह और अभिधानचिन्तामणिके रचयिता आ० हेमचन्द्र (वि० १२ वीं शती) हैं, अतः व्याख्याकार इनके उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। चं० च० (१८,१; पृ० ४२९) की व्याख्यामें 'गंभीरं मधुरं''''' इत्यादि पद्य उद्धृत है, जो अज्ञातसमय विष्णुसेनके समवसरण-स्तोत्र (प० २९) और वि० १३ वीं शतीके आचारसार (४,९५) में पाया जाता है। यदि यह पद्य आचारसारका ही सिद्ध हो जाये तो व्याख्याकार इनके बादके सिद्ध होते हैं। भा० ज्ञानपीठसे प्रकाशित 'कन्नड प्रान्तीय-ताडपत्र-ग्रन्थसूची (पृ० १२३) के अनुसार व्याख्याकारका समय 'प्रमोदूत' (प्रमोद) संवत्सर माघ शु० प्रतिपद् रोहिणी नक्षत्र है, जिसे पं० कमलाकान्तजी शुक्ल, प्रा० ज्योतिष विभाग, वा० सं० वि० वि०, वाराणसीने वि० सं० १५६० (शक सं० १४२५) माघ शुक्ला प्रतिपद् शनिवार प्रमाणित किया है।[1]

---

१. प्रस्तुत 'प्रमोदूत' (प्रमोद) संवत्सर वि० सं० १५६० (शक सं० १४२५) माघ शुक्ला प्रतिपद् शनिवार घटी ५३।४८ श्रवण नक्षत्रमें सिद्ध होता है। जिसका नियामक ग्रहलाघवीय ऋणाहर्गण १८९० तथा मध्यम सूर्य ९।१८।४२।४७ त्रिफल चन्द्रमा ९।१९।४६ हैं।

विशेष—माघ शुक्ला प्रतिपद्को रोहिणी नक्षत्रका होना संभव नहीं है, जैसा कि सूर्यसिद्धान्त मान अध्याय श्लोक १६ से ज्ञात होता है—

'कार्तिकादिषु संयोगे कृत्तिकादिद्वयं द्वयम्।
अन्त्योपान्त्यौ पञ्चमश्च त्रिधा मासत्रयं स्मृतम्॥'

इस आधारपर माघ शुक्ला पूर्णिमाको श्लेषा या मघाका होना संभव है। इससे पूर्व पन्द्रहवें दिन प्रतिपद्को श्रवण या धनिष्ठा नक्षत्र हो सकता है, न कि रोहिणी।

[१६] संस्कृत पञ्जिका

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम परिशिष्टमें संस्कृत पञ्जिका भी मुद्रित की गयी है। संस्कृत व्याख्याकी भाँति यह भी अभी तक अप्रकाशित रहा। जिसमें ग्रन्थके क्लिष्ट पदोंका अर्थ खोला जाये, उसे पञ्जिका कहते हैं—'विषमपदभञ्जिका पञ्जिका'—यह परिभाषा प्रस्तुत पञ्जिकामें अक्षरशः घटित होती है। द्वितीय सर्गके दार्शनिक पद्यों पर इसमें अच्छा प्रकाश डाला गया है, जिससे पञ्जिकाकारका दार्शनिक वैदुष्य व्यक्त होता है। प्रारम्भिक दो सर्गोंकी पञ्जिका व्याख्याका काम करती है। इसकी रचना अपेक्षाकृत प्रौढ़ है।

पञ्जिकाकारका नाम—जिन आदर्श प्रतियोंके आधारपर इसका सम्पादन किया गया है, उनमें इसके रचयिताका नाम अङ्कित नहीं है, पर डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल, जयपुरने अपने यहाँकी हस्त-लिखित प्रतियाँ देख कर इनका नाम गुणनन्दी बतलाया है, जो 'जिनरत्नकोष' (भाग १, पृ० १२०) में भी दिया गया है।

पञ्जिकाकारका समय—'जिनरत्नकोष' (भा० १, पृ० १२०) में पञ्जिकाकारका समय वि० सं० १५९७ दिया गया है। पञ्जिकामें अनगारधर्मामृत, अनेकार्थध्वनिमञ्जरी, अमरकोष, आत्मानुशासन, आप्तमीमांसा, कामन्दकीय नीतिसार[1], काव्यादर्श, तत्त्वार्थसूत्र, पञ्चसंग्रह, पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, माधव-निदान, रघुवंश, और वाग्भटालङ्कार आदि ग्रन्थोंके उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें-से अनगारधर्मामृतकी रचना वि० सं० १३०० में समाप्त हुई। इससे पञ्जिकाकार आशाधरके उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। पञ्जिका-कारने प्रथमको छोड़ कर शेष सभी सर्गोंकी पञ्जिकाके प्रारम्भमें श्रुतमुनिका जयघोष किया है और उनके वैदुष्यकी श्लाघा भी। वि० सं० १३९८ में समाप्त परमागमसारके रचयिताका नाम भी श्रुतमुनि है। यदि इन्हींका जयघोष पञ्जिकाकारने किया हो तो वे इनसे परवर्ती ही ठहरते हैं। ऐसी स्थितिमें जिनरत्नकोष (भा० १, पृ० १२०) में दिया गया इनका समय (वि० सं० १५९७) सही-सा प्रतीत होता है। विशेष निर्णयके लिए अन्य सामग्रीकी अपेक्षा है।

इस तरह प्राप्त सामग्रीके आधारपर ग्रन्थ, ग्रन्थकार, व्याख्याकार और पञ्जिकाकारके विषयमें संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

—*अमृतलाल शास्त्री*

१. 'जैन साहित्यका बृहद् इतिहास' (भाग ५, पृष्ठ २४१) के अनुसार 'कामन्दकीयनीतिसारः' का संकलन उपाध्याय भानुचन्द्रके शिष्य सिद्धिचन्द्र (अकबर बादशाहके समकालीन) ने किया था। यदि यह प्रमाणित हो जाये तो पञ्जिकाकार के समय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

विषयानुक्रमः

१. प्रथमः सर्गः

१-५ मङ्गलाचरणम् । ६ समन्तभद्रप्रशंसा । ७-८ सज्जनदुर्जनवर्णनम् । ९ आत्मनो लघुताप्रदर्शनम् । १० पुराणसागरप्रवेशनिवेदनम् । ११ पूर्वमन्दरवर्णनम् । १२-२० मङ्गलावतीनाम्नो देशस्य वर्णनम् । २१-३८ रत्नसंचयपुरवर्णनम् । ३९-५३ राज्ञः कनकप्रभस्य वर्णनम् । ५४-५७ तन्महिष्याः सुवर्णमालाया वर्णनम् । ५८-६३ तत्पुत्रस्य पद्मनाभस्य वर्णनम् । ६४-८० सौधशिखरारूढस्य राज्ञ आसन्नतमैकपल्वले धनपङ्कनिमग्नमक्षमं म्रियमाणमेकं जरद्गवमुदीक्ष्य निर्वेदप्राप्तेर्वर्णनम् । ८१ पद्मनाभाय राज्यं वितीर्य राज्ञः कनकप्रभस्य जिनदीक्षाया वर्णनम् । ८२ पितृविरहतः पद्मनाभस्य शोकानुभूतेर्वर्णनम् । ८३ अमात्यैः पद्मनाभप्रतिबोधनवर्णनम् । ८४ सिंहासनासीनं पद्मनाभं प्रति सामन्तानां व्यवहृतेर्वर्णनम् । ८५ स्वसुताय सुवर्णनाभाय यौवराज्यं दत्वा पद्मनाभस्य भोगानुभवनस्य वर्णनम् ।

२. द्वितीयः सर्गः

१-२ राज्ञः पद्मनाभस्य वनपालमुखाच्छ्रीधराभिधस्य मुनेरागमनश्रवणम् । ३-१० मुनेर्वैशिष्ट्यवर्णनम् । ११-२३ मुनिप्रभावतः संजाताया उद्यानविभूतेर्वर्णनम् । २४ मुनिवृत्तान्तं निशम्य राज्ञो हर्षोद्रेकः । २५ वनपालाय पारितोषिकप्रदानम् । २६-२७ मुनिचरणयो राज्ञः परोक्षनमस्कृतिः । २८ मुनिवन्दनयात्रायाः कृते सर्वेऽपि पौरजनाः सज्जीभवन्त्विति राज्ञ आदेशः । २९ राजगोपुरे राज्ञां समागमनम् । ३० सपरिकरस्य राज्ञो मुनिदर्शनार्थं गमनवर्णनम् । ३१ गमनवेलायामिलापतेः शोभाया वर्णनम् । ३२ वनं प्राप्य राज्ञः प्रसन्नता । ३३ वायुवर्णनम् । ३४ सेनामावासयेति सेनापतिं प्रति राज्ञ आदेशो वनप्रवेशश्च । ३५ राज्ञो मुनिदर्शनम् । ३६ नीलशिलातले स्थितस्य मुनेः शोभा । ३७ सविनयं, मुनिं प्रणम्य राज्ञस्तत्पुरस्तादुपवेशनम् । ३८ राज्ञः कमलमुकुलाकारयोः करयोर्वर्णनम् । ३९ संगतयोर्मुनीन्द्रनरेन्द्रयोः शोभा । ४०-५१ जीवादिसप्ततत्त्वविषयको राज्ञः प्रश्नः । ५२-५३ मुनिद्वारा राज्ञः प्रश्नस्य प्रशंसा तदुत्तरदानस्य स्वीकृतिश्च । ५४ तत्त्वोपप्लववादिनां 'जीवो नास्तीति' पक्षस्य प्रतिक्षेपः । ५५ प्रतिजन्तु जीवस्य स्वसंवेदनगोचरत्वम् । ५६-६१ ज्ञानस्यास्वसंवेदित्वं निराकृत्य स्वसंवेदित्वस्य संसिद्धिः पूर्वपक्षिणां पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा च । ६२ गर्भकालतो मरणं यावज्जीवस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षतः सिद्धिः । ६३ सदकारणवत्त्वेन जीवस्यानादितायाः अनन्ततायाश्च सिद्धिः । ६४-७२ हेतोरसिद्धत्वदोषस्य वारणं, भूतानां हेतुत्वस्य खण्डनं, पक्षस्यानुमानबाधितत्वं, तत्त्वोपलववादिनाम् आत्मनोऽभावसाधनार्थं प्रयुक्तस्य 'अनुपलम्भात्' इति हेतोरसिद्धत्वसाधनं च । ७३ आत्मभूतयोरैक्यनिरासः । ७४-७५ आत्मनो नित्यताया निराकरणम् । ७६ आत्मनः सुखदुःखादिपर्यायैः सहाभेदत्वोपपादनम् । ७७. समवायसंबन्धमीमांसा । ७८-७९ समवायकृत उपकारस्तद्भिन्नोऽभिन्नो वेति विचारः । ८० आत्मनो जडताया निवारणम् । ८१ आत्मनोऽकर्तृतायाः खण्डनम् । ८२ आत्मनः कर्तृत्वोपपादनम् । ८३ आत्मनोऽकर्तृता पापीयसीति प्रतिपादनम् । ८४-८६ आत्मनश्चित्तसंततिमात्रत्वस्य खण्डनम् । ८७ आत्मनो व्यापकत्वस्य निरसनम् । ८८ जीवोऽनादिनिधनो देहप्रमाणकः कर्ता भोक्ता चिदाकारश्चेत्यभिप्रायगर्भ उपसंहारः । ८९ जीवे सिद्धेऽजीवादयोऽपि व्यवस्थिता अतस्तत्त्वमुपप्लुतमित्यभिप्रायगर्भस्तत्त्वोपप्लववादिनां खण्डनस्योपसंहारः । ९०-११० मोक्षे विप्रतिपद्यमानानां सर्वज्ञाभाववादिनां मीमांसापक्षपातिनां मीमांसकानां खण्डनं सर्वज्ञसिद्धि-

पुरःसरं मोक्षतत्त्वस्य प्रसाधनं च। १११ पुनरपि मुनिं प्रति राज्ञः स्वपूर्वजन्मविषयकः प्रश्नः। ११२ राजानं प्रति मुनेरुत्तरदानस्योपक्रमः। ११३ पुष्करार्धवर्तिनः पूर्वमन्दरस्य वर्णनम्। ११४-१२४ तत्पूर्वविदेहवर्तिनः सुगन्धिनाम्नो देशस्य वर्णनम्। १२५-१४३ श्रीपुराख्यस्य पुरस्य वर्णनम्।

३. तृतीयः सर्गः

१-१३ राज्ञः श्रीषेणस्य वर्णनम्। १४-१८ तन्महिष्याः श्रीकान्ताया वर्णनम्। १९ राज्ञस्त्रिवर्ग-सेवनवर्णनम्। २० अनपत्यतया श्रीकान्तायाः शोकवर्णनम्। २१-२६ राज्ञः तत्कारणजिज्ञासाया वर्णनम्। २७-३५ श्रीकान्ताया बालसख्या तच्छोककारणप्रकाशनम्। ३६-४१ राज्ञा तत्प्रतिबोधनम्। ४२-४३ राज्ञः क्रीडावनविहारः। ४४ तत्र तारापथादवतीर्णेनानन्तसंज्ञकेन चारणमुनिना सह राज्ञः समागमवर्णनम्। ४५-४९ मुनिचरणवन्दना स्तुतिश्च। ५० 'अद्यापि मे मानसं विरतिं किं नोपयाति'—इति मुनिं प्रति राज्ञः प्रश्नः। ५१-५८ राजानं प्रति मुनेरुत्तरदानम्। ५९ राज्ञो धर्मप्रवृत्तिः। ६०-६१ आष्टाह्निकपर्वणि समीहितनिमित्तं पत्न्या सह राज्ञस्तद्व्रतसेवनवर्णनम्। ६२ श्रीकान्ताया गर्भधारणवर्णनम्। ६३-६७ गर्भचिह्नवर्णनम्। ६८ दोहदवर्णनम्। ६९ पुत्रजन्मवर्णनम्। ७० पुत्रजन्मनि नभःप्रभृतीनां शुभ्रतादिवर्णनम्। ७०-७४ राजभवने पौरसदनेषु च तज्जन्मोत्सववर्णनम्। ७५ पुत्रस्य 'श्रीवर्मा' इति नामकरणवर्णनम्। ७६ सुते जाते राज्ञोऽभ्यु-दयावाप्तेर्वर्णनम्।

४. चतुर्थः सर्गः

१-२ शिशोः श्रीवर्मणो वृद्धिवर्णनम्। ३ श्रीवर्मणो विद्योपविद्याध्ययनम्। ४ श्रीवर्मणः कलाभ्यासस्य प्रकर्षः। ५ श्रीवर्मणः शस्त्रास्त्रप्रयोगपटुत्वमश्वगजारोहणप्रवीणत्वं च। ६ श्रीवर्मणः सौन्दर्यवर्णनम्। ७ श्रीवर्मण औदार्यम्। ८ श्रीवर्मणः शौर्यम्। ९ श्रीवर्मणः त्यागादिगुणानां विकासः। १० श्रीवर्मण आश्रयिजनानां पतित्वं गुरुत्वं च। ११ श्रीवर्मणा स्वपक्षवद्विपक्षोऽपि प्रहर्षितः। १२ श्रीवर्मणोऽनुपमा रूपसंपत्। १३ श्रीवर्मणो गर्वराहित्यम्। १४ श्रीवर्मणः षड्वर्गजेतृत्वं दोषस्पर्शशून्यत्वं च। १५ श्रीवर्मणः प्रभावत्या सह परिणयः। १६-१७ श्रीवर्मणे यौवराज्यं वितीर्य तत्पितुः श्रीषेणस्य निश्चिन्ततया राज्यसौख्यानुभूतिः। १८ अम्बरतः पतन्तीमुल्कां विलोक्य श्रीषेणस्य वैराग्यम्। १९-२७ श्रीषेणस्य विषयगर्हणम्। २८-३३ श्रीवर्मणः पुरस्तात्तत्पितुः श्रीषेणस्य जिनदीक्षाग्रहणाभिलाषप्रकाशनम्। ३४-४४ श्रीवर्माणं प्रति श्रीषेणस्य सदुपदेशः, तस्मै राज्यसमर्पणं च। ४५ श्रीप्रभमुनेः पादमूले जिनदीक्षाग्रहणं विधाय तपस्तप्त्वा च श्रीषेणस्य निर्वाण-गमनम्। ४६ श्रीवर्मणो दिग्जैत्रयात्रा। ४७ मौलं बलमात्ममूले विधाय श्रीवर्मणः प्रयाणम्। ४८ सेनारजोवर्ण-नम्। ४९ सैन्यध्वजवर्णनम्। ५० मातङ्गमदप्रवाहवर्णनम्। ५१ पटहप्रणादवर्णनम्। ५२ पौरैर्ग्रामिमहत्तरैश्च श्रीवर्मणोऽभिनन्दनम्। ५३-५५ द्विषां चेष्टितानि। ५६-६७ दिग्विजयवर्णनम्। ६८ श्रीवर्मणः श्रीपुरं प्रत्याग-मनवर्णनम्। ६९ प्रत्यागतं तं प्रणन्तुं सत्कर्तुं चार्घहस्ताया जनताया बहिरवस्थानम्। ७० मनोहरान् कच्छवाटान् ('कछवारे'—इति बुन्देलखण्डभाषया व्यवहृतान्) विलोकयन् स श्रीवर्मा गोपुराभिमुखो बभूवेति वर्णनम्। ७१ तरुमूलबद्धानां शिरोधीन् धुनतां कृतप्रणामानामिव गजानामवलोकनम्। ७२ परिखातटीषु हंसावलीनां दर्शनम्। ७३ खातिकायाः पयसो विनिर्गच्छतः पाठीनकुलस्य निरीक्षणम्। ७४ श्रीवर्मदर्शनार्थं पौराङ्गनानामौत्सुक्यं चेष्टितं च। ७५ पुरप्रवेशवर्णनम्। ७६ श्रीवर्मणो राज्यसंचालनं विषयानुभवश्च। ७७ शरन्मेघावलोकनेन श्रीवर्मणो वैराग्यम्। ७८ स्वसुताय श्रीकान्ताय राज्यं समर्प्य श्रीप्रभपादमूले प्रव्रज्य च दुश्चरं तपस्तप्त्वा श्रीवर्मा सौधर्मस्वर्गे श्रीधराभिधो देवो बभूव इति वर्णनम्।

५. पञ्चमः सर्गः

१ धातकीखण्डद्वीपस्य दक्षिणदिग्वर्तिन इषुकारगिरेर्वर्णनम्। २-११ तत्पूर्वभरतवर्तिनोऽलकाभिधस्य देशस्य वर्णनम्। १२-२२ तत्र कोशलाख्यनगरीवर्णनम्। २३-३५ तदधिपते राज्ञोऽजितंजयस्य वर्णनम्। ३६-३९ तन्महिष्या अजितसेनाया वर्णनम्। ४० स श्रीधराभिधो देवस्तयोरजितसेनसंज्ञः सुतः समजनीति वर्णनम्। ४१-४५ अजितसेनस्य कलानां यशसो रूपसंपदो विनयस्य तत्पितुः प्रसन्नतायाश्च वर्णनम्। ४६-४८ अजितसेनविषये तत्पितुर्विचारः। ४९ अजितसेनाय तत्पिता यौवराज्यपदवीं प्रायच्छदिति वर्णनम्। ५०-५१ यौवराज्यपदवीप्राप्त्यनन्तरमजितसेनं प्रति राज्ञां प्रजाजनानां च विनयम्यवहारवर्णनम्। ५२ उपहारप्रदानार्थं समुपागतैः सामन्तैः सह राज्ञो युवराजस्य च सभाभवनेऽवस्थानम्। ५३ चण्डरुचिनामासुरः सभाभवनतो युवराजमपजहारेति वर्णनम्। ५४-७१ युवराजविकलां सकलां सभामवलोक्येलाधिपतेर्विलापो मूर्च्छावस्था च। ७२ अपनीतमूर्च्छो राजा तपोभूषणनामानं मुनिं ददर्श। ७३ मुनिमीक्षमाणा सभा विस्मयमाजगाम। ७४ मुनिसमागनवर्णनम्। ७५ तद्दर्शनाद्राज्ञः शोकोपशमः। ७६-८० मुनिराजस्य सत्कृतिमर्चनां च विधाय राज्ञोऽभूतपूर्वः तोष आशीर्वादावाप्तिश्च। ८१-८३ मुनिश्लाघा। ८४-८९ 'कतिपयैरहोभिस्त्वं समायातं स्वसुतं द्रक्ष्यसि' इति राजानं प्रति मुनेराश्वासनम्। ९०-९१ मुनीन्द्रे गतवति सति तद्वचनविश्वासाद्राज्ञः सुखावस्थितिः।

६. षष्ठः सर्गः

१ तेनासुरेण परिभ्रमय्य नभस्तो मुक्तस्य युवराजस्य मनोरमाख्ये सरसि निपतनम्। २ तन्निपतनाज्जातायाः सरसोऽवस्थाया वर्णनम्। ३ तत उत्तरणवर्णनम्। ४-११ परुषाभिधाटवीवर्णनं ततो युवराजस्य प्रस्थानं च। १२ पर्वतवर्णनम्। १३ वनसीमान्तबुभुत्सया तदुपरि युवराजावरोहणम्। १४-२६ तत्र सहसा समायातेन केनचित्करालवक्त्रेण पुरुषेण सह युवराजस्य वाक्कलहो नियुद्धं युद्धं विजयावाप्तिश्चेति वर्णनम्। २७-३७ युवराजेन पराजितः स पुरुषो दिव्यरूपमास्थाय 'अहं हिरण्यनामा देवस्तव मित्रमस्मि चण्डरुचिश्च शत्रुर्यो भवन्तं सभाभवनतो जहार नभस्तः पातयामास च' इति जगादेति वर्णनम्। युवराजो हिरण्यप्रभावेणात्मानं वनसीम्नि व्यलोकयदिति वर्णनम्। ततो युवराजस्य राष्ट्रप्रवेशस्तत्र च पलायमानान् जनान् निरीक्ष्य तत्कारणजिज्ञासेति वर्णनम्। ३८-४८ ततो 'अरिंजयाख्ये देशे विपुलाभिधपुरे राज्ञो जयवर्मणः शशिप्रभानामधेयां कन्यामपहर्तुं महेन्द्राह्वो भूपतिरायातो युद्धे जयवर्मबलं च निहत्य पुरमावृत्य वितिष्ठते। तद्भयाज्जनाः पलायन्ते' इति ज्ञात्वा युवराजस्य विपुलपुरं प्रति प्रस्थानमिति वर्णनम्। ४९-५६ तत्र महेन्द्रं निहत्य जयवर्मणा सह युवराजस्य तत्पुरप्रवेशः। ५७ पुरनारीणाममन्दानन्दानुभूतिः। ५८ जयवर्मणा युवराजस्य वपुषा पौरुषेण च तज्जातिकुलोन्नतेरनुमानम्। ५९ कृतसत्कृतिर्युवराजो जयवर्मणो धरित्रीं वश्यां चकारेति वर्णनम्। ६०-६९ युवराजे शशिप्रभाया अनुरागवर्णनम्। ७० तदाकर्ण्य जयवर्मणः प्रसन्नता। ७१ निमित्तिनमापृच्छ्य जयवर्मणो विवाहनिश्चयः। ७२ ततो युवराजस्य औत्सुक्यम्। ७३-७४ विजयार्धगिरेर्वर्णनम्। ७५ तद्दक्षिणतो रम्यस्यादित्याख्यस्य पुरस्य वर्णनम्। ७६ तदधिपतेः खेचरेन्द्रस्य धरणीध्वजस्य वर्णनम्। ७७ स प्रियधर्मनामधेयं क्षुल्लकं ददर्शेति वणनम्। ७८ तत्सत्कृतेर्वर्णनम्। ७९-८७ तन्मुखाच्छशिप्रभापरिणेतुः सकाशादात्मनो वधमश्रौषीदिति वर्णनम्। ८८ स खेचरेन्द्रो जयवर्मपुरं रुरोधेति वर्णनम्। ८९ जयवर्माणं प्रति खेचरेन्द्रेण दूतप्रेषणम्। ९०-९४ दूतोक्तिवर्णनम्। ९५-९७ दूतविसर्जनम्। ९८ जयवर्मसमीपेऽजितसेनस्य खेचरेन्द्रवधप्रतिज्ञावर्णनम्। ९९ अजितसेनो हृदि हिरण्यदेवं सस्मार, स च स्मृत एव दिव्यं रथं गृहीत्वा तत्पुरोऽभवदिति वर्णनम्। १००-१०६ अजितसेनधरणीध्वजयोर्युद्धे धरणीध्वजस्य वधः। १०७ विजयानन्तरमजितसेनस्य विपुलपुरप्रवेशः। १०८ अजितसेनस्य शशिप्रभया सह विवाहः। १०९-११० वध्वा सह तस्य स्वपुरं प्रति प्रस्थानम्। १११ स्वपुरप्रवेशवर्णनम्।

७. सप्तमः सर्गः

१-१७ अजितसेनस्य चतुर्दशरत्नानां वर्णनम् । १८-२७ तस्य नवनिधीनां वर्णनम् । २८ तादृशीं श्रियं समवाप्यापि स नोदसिक्त-इति वर्णनम् । २९ निधिरत्नपूजनम् । ३०-३९ राज्याभिषेकमहोत्सवस्य वर्णनम् । ४० स्वयंप्रभामिधस्य जिनपतेरागमनवर्णनम् । ४१ तं वन्दितुमजितसेनाजितंजययोर्गमनवर्णनम् । ४२-४३ प्रणामानन्तरं स्वयंप्रभं प्रति राज्ञोऽजितंजयस्य 'जन्तुः कर्मभिः कथं बध्यते कथं च मुच्यते' इति प्रश्नः । ४४-५३ तदुत्तरदानम् । ५४ तच्छ्रुत्वाजितसेनस्य विरक्तेर्वर्णनम् । ५५ ततो जिनदीक्षाग्रहणम् । ५६ जिनं प्रणम्य चक्रवर्तिनः स्वपुरप्रवेशवर्णनम् । ५७-६९ अजितसेनस्य दिग्विजयवर्णनम् । ७०-७९ तत्समृद्धिवर्णनम् । ८० स्वपुरप्रवेशवर्णनम् । ८१-९० पुरस्त्रीचेष्टावर्णनम् । ९१-९२ राजभवनप्रवेशवर्णनम् । ९३ कृतचरणनमस्क्रियाणां नृपाणां विद्याधराणां च विसर्जनम् । ९४ राज्योपभोगवर्णनम् ।

८. अष्टमः सर्गः

१-५० वसन्तवर्णनम् । ५१-६० शशिप्रभाख्याया महिष्याः पुरतो राजमुखेन पुरोपवनशोभाया वर्णनम् । ६१ राज्ञोऽजितसेनस्य वनविहरणयात्राघोषणा । ६२ प्रस्थानशंसी ध्वनिर्व्योम व्याप—इति वर्णनम् ।

९. नवमः सर्गः

१ वनश्रियं वीक्षितुं चक्रिणोऽजितसेनस्य प्रस्थानम् । २ तामेव श्रियं विक्षितुं रमणीनां प्रस्थानम् । ३-१७ उपवनयात्रावर्णनम् । १८ उपवनप्रवेशवर्णनम् । १९-२६ उपवनविहारस्य पुष्पावचायस्य च वर्णनम् । २७-५७ जलकेलिवर्णनम् । ५८ वस्त्रपरिवर्तनम् । ५९ रवौ पश्चिमाचलस्य प्रस्थं समनुसरति सति चक्री परिजनैः सहान्नपानादिकृत्यं चक्रे—इति वर्णनम् ।

१०. दशमः सर्गः

१ सूर्यस्यास्ताचलसंश्रयः । २ सूर्यस्यारुण्यम् । ३-६ सायंकालवर्णनम् । ७-१६ अन्धकारवर्णनम् । १७-४० चन्द्रोदयवर्णनम् । ४१-७४ रात्रिक्रीडाया (सुरतस्य) वर्णनम् । ७५-७६ वैतालिकमुखेन निशावसानवर्णनम् । ७७-७९ राज्ञः प्रबोधः शय्यात्यागः शयनागारतो निर्गमनं च ।

११. एकादशः सर्गः

१-२ राज्ञोऽजितसेनस्य सभाभवनप्रवेशवर्णनम् । ३-६ राज्ञो गजक्रीडावलोकनवर्णनम् । ७-९ गजेन निहतं कंचनमानवमवलोक्य राज्ञो वैराग्यम् । १०-३० विषयगर्हणम् । ३१-३३ तदैव वनपालमुखाद् गुणप्रभाभिधस्य मुनीन्द्रस्यागमनश्रवणं सपरिकरस्य राज्ञो तद्दर्शनार्थं गमनवर्णनं च । ३४-३८ आश्रमावलोकनं नानामुनीनां दर्शनं च । ३९-४९ राजमुखेन मुनीन्द्रस्तुतिः । ५०-६६ मुनीन्द्रनरेन्द्रयोः परिचर्चावर्णनम् । ६७ जितशत्रुसंज्ञकाय पुत्राय राज्यं वितीर्य राज्ञो जिनदीक्षाग्रहणम् । ६८-७२ तत्तपश्चरणवर्णनम् । ७३ राज्ञोऽच्युतेन्द्रपदावाप्तिः । ७४ ततश्च्युत्वात्र रत्नसंचयपुरे सुवर्णमालाकनकप्रभयोः पुत्रः पद्मनाभो जातोऽसि-इति प्रतिपादनम् । ७५-७६ स्वजन्मान्तराणि समाकर्ण्य तत्र संदिहानः पद्मनाभस्तत्प्रत्ययार्थं श्रीधरमुनिं पुनः पप्रच्छेति वर्णनम् । ७७-७८ इतो 'दशमेऽहनि तव नगरे यूथं परित्यज्य कश्चिदेको मदान्धगज आगमिष्यति तत्प्रत्ययात् त्वमखिलं मदुक्तं वचनं निश्चेष्यसि' इति राजानं प्रति मुनेरुक्तिवर्णनम् । ७९ पद्मनाभस्य निजपुरं प्रति प्रत्यावर्तनम् । ८० तत्पुरे महान् कलकलः । ८१ तत्परिज्ञानाय भृत्यप्रेषणम् । ८२-८४ ततो गजप्रवेशस्य तत्कृतायाः संहारलीलायाश्च वृत्तं परिज्ञाय राजा विषादं भेजे मुनिवचनस्य प्रामाण्यं च निश्चित्य

जहर्ष—इति वर्णनम् । ८५-९१ तद्वशीकरणवर्णनम् । ९२ तमारुह्य वने क्रीडाकरणं, ततस्तस्य 'वनकेलिः' इति नामकरणं तत्पश्चाच्च पुरप्रवेशकरणम्—इति कथनम् ।

१२. द्वादशः सर्गः

१-२४ गजार्थं राजानं पद्मनाभं प्रति प्रेषितस्य पृथिवीपालदूतस्योक्तिवर्णनम् । २५-४१ दूतं प्रति युवराजोक्तिवर्णनम् । ४२-५४ युवराजं प्रति पृथिवीपालदूतस्य प्रत्युक्तिवर्णनम् । ५५ दूतभाषितैः क्षुभितां सभां राजावारयदिति प्रतिपादनम् । ५६ दूतसत्कृतेरादेशः । ५७-१११ मन्त्रगृहे राज्ञः पुरतो मन्त्रिणां मन्त्रणा ।

१३. त्रयोदशः सर्गः

१ पृथिवीपालजिगीषया राज्ञः पद्मनाभस्य प्रयाणोपक्रमः । २ राज्ञः सितच्छत्रस्य सुषमा । ३-७ राज्ञो हार-कुण्डल-मुकुट-अङ्गद-रशनाभरणानां वर्णनम् । ८ तमन्येऽपि भूभुजोऽनुजग्मुरिति वर्णनम् । ९-२३ सेनाङ्गानामश्वादीनां वर्णनम् । २४ गजवधूषु कृतासनानामवरोधपुरन्ध्रीणां वर्णना । २५ दर्शनार्थिनामागमनम् । २६ पुरयोषितां कौतुकम् । २७ तरलवेगसरादवरोधिकापतनम् । २८ करिभयात्पलायत उष्ट्रस्य वर्णना । २९ शकटवृषभाणां करिसूत्कृतिभियासन्मार्गाश्रयणाद् वणिजां घृतघटानां विघटनम् । ३० वारणभयभवत्पतन-भग्नदधिपात्राया बल्लवयोषितो राजमार्गात्प्रत्यावर्तनम् । ३१ वैवधिकानामाशुगमनवर्णनम् । ३२ नृपवधूजन-यानवर्णनम् । ३३ पुरवीथीषु सेनायाः सुषमा । ३४ अश्वसेनावर्णनम् । ३५ प्रस्थानपटहध्वनिवर्णनम् । ३६ रथारूढस्य पद्मनाभस्य पुरशोभावलोकनम् । ३७ पुरगोपुरतः सैन्यनिर्गमनवर्णनम् । ३७-५२ मार्गे नानामनोरम-पदार्थानामवलोकनवर्णनम् । ५३-६१ मार्गे प्राप्ताया 'जलवाहिनी' इति ख्यातायाः सरितो वर्णनम् । ६२ राज्ञस्तदुत्तरणवर्णनम् ।

१४. चतुर्दशः सर्गः

१-१८ राज्ञः पद्मनाभस्य मणिकूटाभिधपर्वतस्यावलोकनम् । १९-४० राज्ञः पुरतः सेनापतिमुखेन तच्छोभावर्णनम् । ४१ तदाकर्ण्य राजा तत्र रन्तुमियेष । ४२ तत्रानुतटं पर्यटन् राजा मध्यंदिनवेलायां सेनानिवेशप्रदेशं प्राप्तः । ४३ प्रियाणां कपोलस्थलीषु घर्मोदबिन्दूनवलोकयतो राज्ञो बाधाकरोऽपि मध्यंदिन-दिवाकरोऽभिमतो बभूव । ४४ वणिग्विपणिवर्णनम् । ४५ आश्रयस्थानं प्रति यान्तीनां सामन्तसन्ततीनां वर्णनम् । ४६ पद्मनाभवसतिं विलोक्य पश्चादागतानां जनानां स्वावासभूमेरवगमः । ४७ वेश्यावर्गवर्णना । ४८ विलम्बतः समायातानां स्थानान्वेषणप्रयासवर्णनम् । ४९ कान्दविक (हलवाई) धाम कटकिभिर्व्याप्तमिति वर्णनम् । ५० शैलानिलवर्णना । ५१-५३ सेनाया अश्वानां वर्णना । ५४-६२ गजवर्णनम् । ६३-६४ वृषभवर्णनम् । ६५-६६ उष्ट्रवर्णनम् । ६७ स्कन्धावारवर्णनम् । (इत्थं ४४-६७ सेनासंनिवेशवर्णनम्) । ६८ तत्र ससैन्यस्य प्रतिद्वन्द्विनः पृथिवीपालनरपतेरभिगमनम् । ६९ रात्रिवर्णनम् । ७० पद्मनाभस्य निजभटैः सह भाविसङ्ग्रामचर्चा । ७१ रात्रिसमाप्तिवर्णनम् ।

१५. पञ्चदशः सर्गः

१ संनाहपटहध्वनिः । २-५ भटानां संनाहोपक्रमः । ६-१४ कवचादिधारणवर्णनम् । १५-१८ दीनानाथकृतोत्सर्गः पद्मनाभो मणिकङ्कणादिभिः स्वाभरणैः सहयोगिनः सामन्तान् सच्चकार—इतिवर्णनम् । १९-२५ युयुत्सूनां राज्ञां सैनिकानां च शस्त्रास्त्रग्रहणस्य रथाद्यारोहणस्य च वर्णनम् । २६ युद्धोद्यतसेना व्यक्तेयत्ता न-इति कथनम् । २७-३० शुभशकुनवर्णनम् । ३१ सराजकः पृथिवीपालोऽपि संनह्यामर्षादभिनिर्ययौ । ३२-३४ अपशकुनवर्णनम् । ३५-६० युद्धवर्णनम् । ६१-६५ पृथिवीपालस्य सेनापतिश्चन्द्रशेखरो रणपराङ्मुख-

मात्मसैन्यं संधीरयन् सोत्साहं चकार इति वर्णनम् । ६६-७४ चन्द्रशेखरस्य पद्मनाभसेनापतिना भीमेन सह युद्धम् । ७५-९६ सामन्तानां प्रतिद्वन्द्विभिः सामन्तैः सह युद्धम् । ९७-१०५ सुवर्णनाभधर्मपालयोः (पद्मनाभ-पृथिवीपालपुत्रयोः) वाग्युद्धवर्णनम् । १०६-१११ द्वन्द्वयुद्धे सुवर्णनाभो धर्मपालं बन्दीकृत्य पितुरन्तिकं निनायेति वर्णनम् । ११२-११३ पद्मनाभसामन्तैः पृथिवीपालसामन्ता भग्नमनोरथाः कृताः—इति वर्णनम् । ११४-१२९ पद्मनाभपृथिवीपालयोर्युद्धम् । १३० पद्मनाभस्तत्र पृथिवीपालस्य शिरश्चिच्छेद—इति वर्णनम् । १३१ शत्रूणां पलायनं रणभूमिसंशोधनं च । १३२ युद्धमूर्ध्नि मृतानां दाहसंस्कारः । १३३ शत्रोश्छिन्नं शिरो निरीक्ष्य पद्मनाभस्य वैराग्यम् । १३४-१४४ वैराग्यविचारः । १४५-१४७ निजतनूजाय सुवर्णनाभाय राज्यभारं वितीर्य पृथिवीपालनन्दनाय च तत्पितुः पदं, पद्मनाभः श्रीधरमुनेः सकाशाद्दीक्षामादाय श्रमणो बभूव । १४८-१५० पद्मनाभस्य ज्ञानर्द्धिप्राप्तेस्तपश्चरणस्य च वर्णनम् । १५१-१६० षोडश भावना भावयन् पद्मनाभस्तीर्थकृन्नामकर्म बबन्ध—इति वर्णनम् । १६१-१६२ स्वतनुं त्यक्त्वा सोऽनुत्तरवैजयन्तं भेजे, तत्र दिव्यं सुखं च लेभे ।

१६. षोडशः सर्गः

१-५ पूर्वदेशवर्णनम् । ६-९ चन्द्रपुरीवर्णनम् । १० राजवेश्मवर्णनम् । ११-१५ तदधिपतेर्महासेन-नृपतेर्वर्णनम् । १६-२० तन्महिष्या लक्ष्मणाया वर्णनम् । २१ तां लक्ष्मणामवाप्य राजा महासेन आत्मानं सार्वभौमं कलयतिस्म—इति वर्णनम् । २२ तां प्रति राज्ञोऽनुरक्तेर्वर्णनम् । २३ तदनुरक्तेः प्रभावात् सामन्तानां स्वाच्छन्द्यम् । २४ सचिवमुखात्तच्छ्रुत्वा राज्ञस्तन्निग्रहस्य विचारः । २५-५२ राज्ञो दिग्विजयवर्णनम् । ५३ राज्ञः स्वपुरीं प्रति प्रत्यागमनम् । ५४ सत्कृत्यनन्तरं राज्ञां विसर्जनम् । ५५ रत्नवृष्टिवर्णनम् । ५६ दिक्कुमार्यो लक्ष्मणाया गर्भशोधनादि कर्तव्यं व्यधिषत—इति वर्णनम् । ५७-६२ देवी षोडश स्वप्नान् ददर्श—इति वर्णनम् । ६३-६६ राजमुखेन स्वप्नफलवर्णनम् । ६७ तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणा देवी प्रमोदं भेजे—इति वर्णनम् । ६८ चन्द्रप्रभस्य गर्भावतरणम् । ६९ गर्भकल्याणमहोत्सवस्य वर्णनम् । ७० श्रीह्रीधृत्यादिभिर्देवीभिः सेव्यमाना लक्ष्मणा देवी नवमासान् सुखेनैव निन्ये—इति वर्णनम् ।

१७. सप्तदशः सर्गः

१ जिनजन्मवर्णनम् । २-३ जिनजन्मसमये ककुभः प्रसेदुः, नभस्तलममलं जातं, सुरभिर्वायुर्ववौ, वियतो दिव्यकुसुमवृष्टिर्जाता—इति वर्णनम् । ४-५ कल्पवासिप्रभृतिदेवानामावासस्थानेषु मणिघण्टिकादयः स्वयमेव रेणुः—इति वर्णनम् । ६ ज्ञातचन्द्रप्रभजिनजन्मनां देवानां चन्द्रपुरीं प्रति प्रस्थानम् । ७ सुरासुराभरणकिरणैः ककुभां शोभाया वर्णनम् । ८ नभसि देवविमानानां सुषमा । ९ अमरालयादानृपतिगेहं विस्तृताया देवपङ्क्तेः सौन्दर्यम् । १० सत्रासवः सुरगणो नृपसद्म प्राप—इति वर्णनम् । ११ शची मायाशिशुं मातुरुरसि विनिवेश्य जिनमुज्जहार—इति वर्णनम् । १२ तमुदीक्ष्य हरेर्हर्षप्रकर्षः समजनि—इति वर्णनम् । १३ सौधर्मेन्द्रस्तमर्भक-मात्मगजमरोपयत्—इति वर्णनम् । १४ अन्येषाममरपतीनामानमनवर्णनम् । १५ मङ्गलगानपूर्वकं देवीना-मग्रतोऽभिमेरु प्रस्थानम् । १६ देवानां प्रस्थानवेलायां दुन्दुभिनादः । १७ तदवसरे नभस्तले देवनृत्यमजनि—इति वर्णनम् । १८ सुमेरुप्राप्तिवर्णनम् । १९ सुमेरुशिखरस्थ पाण्डुकशिलायां सिंहासने जिनार्भकस्य स्थापनम् । २० तदभिषेकवर्णनम् । २१ सोत्सवं तत्कर्णच्छेदनसंस्कारं सुरेश्वराश्चक्रुः—इति वर्णनम् । २२ सुरास्तं जिनार्भकं मणिकुण्डलादिभिराभरणैरभूषयन्—इति वर्णनम् । २३ तन्नामकरणसंस्कारः । २४ तत्स्तुतेरुपक्रमः । २५-४० इन्द्रमुखेन जिनार्भकस्तुतिः । ४१ सुमेरुतश्चन्द्रपुरीं प्रति प्रस्थानम् । ४२ जिनार्भकं समर्प्य सुराः सुरे-न्द्राश्च तत्र महोत्सवं चक्रुः—इति वर्णनम् । ४३-४८ जिनार्भकस्य बालक्रीडाया वर्णनम् । ४९ धनदप्रेषितानां तदाभरणानां वर्णनम् । ५० तत्कलावगमनवैशिष्ट्यम् । ५१ तद्विवाहसंस्कारः । ५२ राज्यलाभः तत्प्रशासनं च । ५३-५६ तच्छासने प्रजायाः सुखावस्थितिः । ५७ सामन्तानामानुकूल्यम् । ५८ रजनीमहश्चाष्टधा विभज्य विहितः

कार्यक्रमः । ५९ समये समये सुरवनितानामागमनं ललितगीतनर्तनादिविधानं च । ६० चन्द्रप्रभस्य भोगसुखानुभवनम् । ६१-६४ चन्द्रप्रभस्य पुरतो धर्मरुचिनाम्नो धृतवृद्धविग्रहस्य सुरस्य पूत्कृतिः । ६५ अन्तर्हिते तस्मिन् स क इति सभ्यजनानां जिनं प्रति जिज्ञासा । ६६ तदुत्तरम् । ६७-७० संसारासारतायाश्चिन्तनम् । ७१ कृत्स्नकर्मक्षयस्य निश्चयः । ७२ लौकान्तिकदेवानामागमनम् । ७३ विमलाभिधां शिबिकामारुह्य चन्द्रप्रभः सकलर्तुवनं प्रापत्—इति वर्णनम् । ७४ वरचन्द्राभिधानाय स्वपुत्राय राज्यं वितीर्य स तपोऽग्रहीत्–इति वर्णनम् । ७५ अपाकृतांस्तत्कचानमराधिपः क्षीरसमुद्रे निदधे—इति वर्णनम् । ७६ दीक्षाकल्याणमहोत्सवः । ७७ नलिनपुरपालिनः सोमदत्तस्य गृहे चन्द्रप्रभस्य पारणा । ७८ चतुर्णां कषायाणां नाशनम् । ७९ परीषहजयवर्णनम् । ८० चन्द्रप्रभस्य पार्श्वे संशयनिरासाय नानामुनीनामनुदिनमागमनम् । ८१ पुनरपि दीक्षावनं प्रति गमनम् । ८२ तत्र नागशाखिनस्तस्तलभुवि कैवल्यलाभः । ८३-९१ समवसरणवर्णनम् ।

१८. अष्टादशः सर्गः

१ गणधरप्रश्नाज्जिनेश्वरश्चन्द्रप्रभस्तत्त्वं जगाद–इति कथनम् । २ सप्ततत्त्वानां नामानि । ३ पुण्यपापयोर्बन्धेऽन्तर्भावेऽनन्तर्भावे च नवपदार्थाः- इति प्रतिपादनम् । ४. जीवस्वरूपनिरूपणम् । ५ विवक्षावशाज्जीवस्य द्वैविध्यं चातुर्विध्यं च । ६ पृथिवीभेदान्नारकः सप्तधा प्रभिद्यते । ७-८ अधोलोकस्थितानां सप्तपृथिवीनां नामानि । ९-१० नारकाणामुत्सेधः । ११-१२ नारकाणामायुः । १३-१४ नारकबिलानां संख्या । १५ पापा नरकं प्रयान्ति तत्र दुःखं चानुभवन्ति । १६ नरकगतिवर्णनस्योपसंहारस्तिर्यग्गतिवर्णनस्योपक्रमश्च । १७ तिर्यग्योनिजानां जीवानां भेदाः । १८-१९ स्थावरजीवानां भेदाः । २०-२१ इन्द्रियापेक्षया जीवानामुत्कृष्टावगाहना । २२. इन्द्रियाणां नामानि द्वीन्द्रियादिजीवेषु तद्वृद्धिक्रमश्च । २३-२४ स्थावरजीवानामायुषः प्रमाणम् । २५-२६ त्रसजीवानामायुषः प्रमाणम् । २७ तिर्यग्गतिवर्णनस्योपसंहारो मनुष्यगतिवर्णनस्योपक्रमश्च । २८ मनुष्याणां भेदा भोगभूमीनां संख्या च । २९ उत्तमादिभेदेन भोगभूमीनां त्रैविध्यमुत्तमासु च भोगभूमिषु नृणामुत्सेधः । ३० भोगभूमिजानामायुः । ३१ भोगभूमिजाः कल्पद्रुमोद्भवं फलं भुञ्जते—इति कथनम् । ३२ कर्मभूमिजानां मानवानां भेदाः कर्मभूमीनां संख्या च । ३३ कर्मभूमिजानां मानवानामुत्कृष्ट उत्सेधः । ३४ कर्मभूमिजानामायुः, विदेहे वृद्धिह्रासौ न—इति कथनम् । ३५ भरतैरावतयोः कालकृतौ वृद्धिह्रासौ, कालश्च द्विविधः— इति प्रतिपादनम् । ३६ उत्सर्पिण्या अवसर्पिण्याश्च कालस्य प्रमाणम् । ३७-३८ तयोः सुषमासुषमादयो भेदाः । ३९-४१ सुषमासुषमादीनां कालस्य प्रमाणम् । ४२ म्लेच्छानां भेदाः । ४३ आर्याणां भेदाः । ४४-४६ गुणस्थानानां नामानि । ४७ मनुष्यगतिवर्णनस्योपसंहारो देवगतिवर्णनस्योपक्रमश्च । ४८ निकायापेक्षया देवानां चातुर्विध्यं तत्र च भवनवासिनां दशविधत्वम् । ४९ व्यन्तरा अष्टधा । ५० वैमानिकदेवानां भेदाः । ५१ कल्पातीतदेवानां वर्णनम् । ५२ भवनवासिनां देवानामवगाहना । ५३ व्यन्तरज्यौतिषसौधर्मैशानदेवानामुत्सेधः । ५४-५८ अन्येषां सुमनसां (वैमानिकानां) कायोच्छ्रायः । ५९-६५ देवानामायुःप्रमाणम् । ६६ जीवनिरूपणाया उपसंहारोऽजीववर्णनाया उपक्रमश्च । ६७ अजीवद्रव्यस्य पञ्चविधत्वम् । ६८ षष्ठस्य जीवद्रव्यस्य पञ्चास्तिकायानां च प्रतिपादनम् । ६९-७० धर्मद्रव्यस्य स्वरूपनिरूपणम् । ७१ अधर्मद्रव्यस्य स्वरूपम् । ७२ आकाशद्रव्यस्य निरूपणम् । ७३ धर्मादिद्रव्याणां प्रदेशसंख्या । ७४ कालद्रव्यस्य लक्षणमुपकारश्च । ७५-७७ दिनकरादीनां क्रियां विहायापरः कालो नास्तीति पूर्वपक्षस्तदुत्तरपक्षश्च । ७८ पुद्गलस्य स्वरूपनिरूपणमणुस्कन्धविवक्षया द्वैविध्यं च । ७९ स्थूलसूक्ष्मादिभेदतः पुद्गलानां बहुविधत्वम् । ८० पुद्गलद्रव्यस्योपकारः । ८१ पुद्गलवर्णनस्योपसंहार आस्रवतत्त्वस्योपक्रमश्च । ८२ आस्रवस्य स्वरूपम् । ८३ आस्रवस्य भेदौ तत्स्वामिनौ च । ८४ ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रवहेतवः । ८५ असातवेदनीयस्यास्रवहेतवः । ८६ सातवेद्यस्यास्रवहेतवः । ८७ दर्शनमोहनीयस्यास्रवहेतवः । ८८ चारित्रमोहनीयस्यास्रवहेतवः । ८९ नारकायुषस्तिर्यगायुषश्चास्रवहेतवः । ९० मनुष्यायुषो देवायुषश्चा-

स्रवहेतवः । ९१ शुभस्याशुभस्य च नामकर्मण आस्रवहेतवः । ९२ तीर्थकृन्नामकर्मणो नीचगोत्रस्य चास्रवहेतवः । ९३ अन्तरायकर्मण आस्रवहेतवः । ९४ आस्रवस्योपसंहारो बन्धस्योपक्रमश्च । ९५ बन्धहेतवः । ९६ बन्धस्वरूपम् । ९७ बन्धस्य भेदाः । ९८ मूलप्रकृतयः । ९९ मूलप्रकृतीनां भेदाः । १०० ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीयान्तरायाणां परा स्थितिः । १०१ मोहनीयनामगोत्रायुःकर्मणां परा स्थितिः । १०२ अष्टकर्मणामपरा स्थितिः । १०३ अनुभावबन्धस्य स्वरूपम् । १०४ प्रदेशबन्धस्य स्वरूपम् । १०५ बन्धस्योपसंहारः संवरस्योपक्रमश्च । १०६ संवरस्य स्वरूपं व्युत्पत्तिश्च । १०७ संवरहेतवः । १०८ संवरस्योपसंहारो निर्जराया उपक्रमश्च । १०९-११० निर्जरायाः स्वरूपं भेदौ तत्स्वरूपं च । १११ निर्जराया कारणं तपो बाह्याभ्यन्तरविवक्षया द्विविधं तदुत्तरभेदापेक्षया च द्वादशविधम् । ११२ बाह्यतपसः षड्भेदाः । ११३ आभ्यन्तरतपसः षड्भेदाः । ११४ स्वाध्यायादीनां व्यक्तत्वात् केवलं ध्यानवर्णनस्योपक्रमः । ११५ ध्यानस्य चत्वारो भेदाः । ११६-११७ आर्त्तध्यानस्य चत्वारो भेदाः । ११८ रौद्रध्यानस्य चतुर्विधत्वम् । ११९ धर्म्यध्यानस्य चत्वारो भेदाः । १२०-१२१ शुक्लध्यानस्य चत्वारो भेदाः । १२२ निर्जरावर्णनस्योपसंहारो मोक्षतत्त्ववर्णनस्योपक्रमश्च । १२३ मोक्षस्य स्वरूपमुपायः स्वामी च । १२४ रत्नत्रयस्य स्वरूपम् । १२५-१२७ एकाङ्गविकलं रत्नत्रयं भेषजमिव कार्यकारि न । १२८-१२९ मुक्तिं प्रति रत्नत्रयस्य हेतुत्वोपपादनम् । १३० क्षीणकर्मा जीवोऽग्निज्वालाकलापवत् स्वभावत ऊर्ध्वं प्रयाति । १३१ मुक्तजीवस्य लोकाग्रावस्थाने हेतुः । १३२ भगवतश्चन्द्रप्रभस्य विहारः । १३३-१४४ भगवतश्चन्द्रप्रभस्यातिशयानां वर्णनम् । १४५ प्रातिहार्याणां निरूपणम् । १४६ भगवतः समवसरणे गणधराणां पूर्वधारिणां च संख्या । १४७ उपाध्यायानामवधिज्ञानिनां च संख्या । १४८ केवलज्ञानिनां विक्रियर्द्धिमुपेयुषां च संख्या । १४९ मनःपर्ययज्ञानिनां वादिनां च संख्या । १५० आर्यिकाणां संख्या । १५१ श्रावकाणां श्राविकाणां च संख्या । १५२ भगवान् संमेदशैलशिखरं समाससाद—इति वर्णनम् । १५३ भगवतो मुक्तिः । १५४ अन्तिमसंस्कारो मोक्षकल्याणकमहोत्सवश्च ।

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः

१ आचार्यश्रीगुणनन्दिनः परिचयः । २ विबुधगुणनन्दिनः परिचयः । ३ अभयनन्दिनः परिचयः । ४ वीरनन्दिनः (ग्रन्थकर्तुः) परिचयः । ५ तद्रचितस्य चन्द्रप्रभचरितस्य समुल्लेखः । ६ भगवतश्चन्द्रप्रभस्य भवावलिः ।

यः श्रीवर्मनृपो बभूव विबुधः सौधर्मकल्पे तत-
स्तस्माच्चाजितसेनचक्रभृदभूद्यश्चाच्युतेन्द्रस्ततः ।
यश्चाजायत पद्मनाभनृपतिर्यो वैजयन्तेश्वरो
यः स्यात्तीर्थकरः स सप्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु नः ॥

ॐ

श्री वीरनन्दि-प्रणीतं

चन्द्रप्रभचरितम्

[१. प्रथमः सर्गः]

श्रियं क्रियाद्यस्य सुरागमे नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता।
सभा बभौ रत्नमयी महोत्पलैः कृतोपहारेव स वोऽग्रजो जिनः ॥१॥
स पातु यस्य स्फटिकोपलप्रभे प्रभावितानेे विनिमग्नमूर्तिभिः।
विदिद्युते दुग्धपयोधिमध्यगैरिवामरैर्वः शशिलाञ्छनो जिनः ॥२॥

विद्वन्मनोवल्लभा

वन्देऽहं सहजानन्दकन्दलीकन्दबन्धुरम्। चन्द्राङ्कं चन्द्रसंकाशं चन्द्रनाथं स्मराहरम् ॥ १ ॥

चन्द्रप्रभार्हदीशस्य[1] काव्यं व्याख्यायते मया। विश्वमन्वयरूपेण स्पष्टसंस्कृतभाषया ॥ २ ॥

श्रियमित्यादि। यस्य स्वामिनः। सुरागमे सुराणामागमस्तस्मिन्। नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता नटतां नृत्यतां सुरेन्द्राणां देवेन्द्राणां नेत्राणां प्रतिबिम्बैर्लाञ्छिता चिह्निता तथोक्ता। रत्नमयी रत्नस्य [रत्नानां] [2]विकारस्तथोक्ता मणिनिर्मिता। सभा समवसरणम्। महोत्पलैः महान्ति च च तान्युत्पलानि च[3] तैर्नीलोत्पलैः। कृतोपहारेव कृता उपहारा यस्याः सा[4] विरचितपुष्पाञ्जलियुक्तेवेत्यर्थः। बभौ रेजे। सः[5] अग्रजः अग्रे जायत इत्यग्रजः प्रथमकाले जातः। जिनः दुर्जयकर्मठकर्मारातीन् जयति निर्मूलयतीति जिनः पुरुपरमेश्वरः। वः युष्माकम्। 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना युष्मदः षष्ठीबहुवचनस्य वसादेशः। श्रियम् अन्तरङ्गबहिरङ्गसंपत्तिम्। क्रियात् विधेयात्[6] डुकृञ्[7] करणे लिङ्। उत्प्रेक्षा ॥ १ ॥ स इत्यादि। यस्य स्वामिनः। स्फटिकोपलप्रभे स्फटिकस्योपलस्येव प्रभा यस्य तस्मिन्। उपमा। प्रभाविताने प्रभाणां कान्तीनां विताने समूहे। विनिमग्नमूर्तिभिः विनिमज्जन्ति स्म विनिमग्नास्ता मूर्तयो येषां ते तथोक्तास्तैः। अमरैः

भावानुवाद

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तुम सबको कल्याण सम्पत्ति प्रदान करें। इस युगमें सबसे पहले अवतरित होनेसे वे अग्रज अर्थात् आदिपुरुष कहे जाते हैं। उन्हें जब केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी तब समस्त इन्द्रोंने उत्सव मनाया था। उन्होंने देवोंकी उपस्थितिमें उक्त ऋषभदेवके सामने सभा (समवसरण) में नृत्य किया था। सभाकी भूमि चूँकि रत्नजटित थी, अतः वहाँ इन्द्रोंके नेत्रोंकी छाया पड़नेसे ऐसा प्रतीत होता था मानो वह उन (ऋषभदेव) के लिए स्वयं नील कमलोंका उपहार भेंट कर रही हो ॥१॥ चन्द्र-चिह्नसे विभूषित अष्टम तीर्थंकर भगवान् चन्द्रप्रभ (चरितनायक) तुम सबकी रक्षा करें। उनके देहकी कान्ति स्फटिक

---

१. आ °र्हद्धीरस्य। २. आ स विकारास्त°। ३. आ च तथोक्तानि तैर्नी°। ४. = कृत उपहारः पूजाविशेषो यस्यां सा। ५. = सचराचरे जगति प्रसिद्धः। ६. श स विधीयात्। ७. आ डुकृड् श स डुकृिञ्।

अनन्तविज्ञानमनन्तवीर्यतामनन्तसौख्यत्वमनन्तदर्शनम् ।
बिभर्ति योऽनन्तचतुष्टयं विभुः स नोऽस्तु शान्तिर्भवदुःखशान्तये ॥३॥
[1]जराजरत्यास्मरणीयमीश्वरं स्वयंवरीभूतमनश्वरश्रियः ।
निरामयं वीतभयं भवच्छिदं नमामि वीरं नृसुरासुरैः स्तुतम् ॥४॥

देवैः । दुग्धपयोधिमध्यगैः दुग्धस्य पयोधिर्दुग्धपयोधि[2]: क्षीरसमुद्रः तस्य मध्यं गच्छन्ति स्म तथोक्तास्तैरिव । विदिद्युते । द्युति दीप्तौ भावे लिट् । सः शशिलाञ्छनः शशयेव लाञ्छनं यस्य सः, चन्द्रलाञ्छन इत्यर्थ । जिनः अष्टमतीर्थंकरः । वः युष्मान् । 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना युष्मच्छब्दस्य द्वितीयाबहुवचने वसादेशः । पातु रक्षतु । पा रक्षणे लोट्[3] । उत्प्रेक्षा ॥ २ ॥ अनन्तविज्ञानमित्यादि । यः स्वामी । अनन्तविज्ञानं न विद्यतेऽन्तोऽवसानो(नं) यस्य तत् अनन्तं च तद्विज्ञानं तथोक्तम् । अनन्तवीर्यताम् अनन्तं च तद्वीर्यं चानन्तवीर्यम्, तस्य भावस्ताम् । अनन्तसौख्यत्वं सुखमेव सौख्यम् । 'भेषजादि-' इत्यादिना स्वार्थिकस्टयण्[3] अनन्तं च तत्सौख्यं चानन्तसौख्यं तस्य भावस्तत् । अनन्तदर्शनम् अनन्तं च तद्दर्शनं च तथोक्तम् । इति अनन्तचतुष्टयम् अनन्तानां चतुष्टयं तथोक्तम् । बिभर्ति धरति[4] । डुभृञ्[5] धारण-पोषणयोर्लट् । सः । शान्तिः शान्तिजिनः । विभुः स्वामी । नः अस्माकम् । 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना युष्मदस्मत्षष्ठीबहुवचनस्य नसादेशः । भवदुःखशान्तये भवस्य संसारस्य दुःखस्य शान्तये शमननिमित्तम् । अस्तु भूयात् ।[6] ॥ ३ ॥ जरेत्यादि । जराजरत्या जरैव जरती[7] तया । अस्मरणीयं ध्यातुमयोग्यम् । ईश्वरं स्वामिनम् । अनश्वरश्रियः नित्यश्रियः । स्वयंवरीभूतं प्रागवर इदानीं वरो भवति स्म तथोक्तस्तम् 'कर्मकर्तृभ्याम्-' इत्यादिना च्विः । 'च्वौ चास्यानव्ययस्य' इतीकारादेशः । निरामयम् आमयान्निर्गतो निरामयः तं व्याधिरहितम् । वीतभयम् वीतं भयं यस्य तं भयरहितम् । भवच्छिदम् भवं छिनत्तीति भवच्छित् तं संसारनाशकम् । नृ-सुरासुरस्तुतम् नरामरासुरैः संस्तुतम् । वीरम् विशिष्टाम् ई लक्ष्मीं राति[8] ददातीति वीरः तं वर्धमानस्वामिनम् । नमामि

मणिकी प्रभा जैसी धवल थी । अतः चारों ओर बैठे हुए देव उस (कान्ति) में निमग्न होकर ऐसे सुशोभित होते थे मानो वे क्षीरसागरमें डुबकी लगा रहे हों ॥२॥ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस अनन्तचतुष्टयके धारण करनेवाले सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ हम सबके सांसारिक दुःखोंका उपशमन करें ॥३॥ मैं (वीरनन्दी) चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीरको नमन करता हूँ । वे सर्वथा नीरोग व निर्भय थे । उन्होंने भवपरम्पराको नाश कर दिया था, तथा क्या नर, क्या सुर और क्या असुर सभी उनके पवित्र गुणोंकी प्रशंसा करते थे । उनमें वे सब गुण विद्यमान थे जो मुक्तिके योग्य वरमें आवश्यक होते हैं । इसीलिए अनन्तचतुष्टयादिस्वरूप अविनश्वर लक्ष्मीसे सम्पन्न मुक्ति-श्रीने, स्वयं ही उनका वरण किया था । वेचारी जरा (वृद्धावस्था) उनके साथ अपने सम्बन्धके विषयमें उनका स्मरण भी नहीं कर सकती थी । कारण कि उसका तारुण्य ढल चुका था –

१. टीकाश्रितोऽयं पाठः प्रतिषु तु °त्याः स्मरणीय° इत्येवंविध एव पाठ उपलभ्यते । २. आ लेट् । ३. आ इत्यादिना शास्त्रार्थिक-वत् । ४. आ धरति स्म । ५. आ भृञ् । ६. श स लेट् । ७. आ जरतिः । ८. श स विशिष्टं इ इष्टं राति ।

हितं विसंवादविवर्जितस्थितिं परैरभेद्यं प्रवितीर्णनिर्वृतिम् ।
शरण्यभूतं शरणं जिनागमं गतोऽस्म्यहं भव्यजनैकबान्धवम् ॥५॥
गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥६॥

नौमि । णम प्रह्वत्वे शब्दे लट् । रूपकम् ॥ ४ ॥ हितमित्यादि । हितम् उपकारकम् । विसंवादविवर्जितस्थितिं विसंवादेन विरोधवचनेन विवर्जिता रहिता स्थितिर्यस्य तम् । 'मर्यादा धारणा स्थितिः' इत्यमरः । परैः अन्यवादिभिः । अभेद्यं कुहेतुदृष्टान्तैरभेद्यम् । प्रवितीर्णनिर्वृतिं प्रवितीर्णा प्रदत्ता निर्वृतिर्मोक्षो येन तम् । शरण्यभूतं शरण्यमपायसंरक्षणोपायो भवति स्म, तथोक्तस्तम् । भव्यजनैकबान्धवं रत्नत्रयाविर्भवनयोग्या भव्याः ते च ते जनाः तेषामेको मुख्यो बान्धवः तम् । जिनागमं जिनेन प्रणीत आगमः तम् । अहं वीरनन्दी । शरणं रक्षकम् । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । गतः यातः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् ॥ ५ ॥ गुणान्वितेत्यादि । [गुणान्विता] गुणैः तन्तुभिः पक्षे प्रसादमाधुर्यादिभिरन्विता । 'मौर्व्यप्रदा[धा]नपारदेन्द्रियसूत्रसत्त्वादिसंध्यादिविद्यादिहरितादिषु गुणः' इति नानार्थकोशे । निर्मल-वृत्तमौक्तिका निर्मलं निर्दोषं त्रासादिदोषरहितं वृत्तं पद्यं वर्तुलं येषां ते तथोक्ता मौक्तिका मुक्तिः प्रयोजनं येषां ते मौक्तिका भव्याः, पक्षे मुक्तामणयः निर्मला वृत्ता मौक्तिका यस्याः सा तथोक्ता । (निर्मलानि त्रासादिदोषरतिहानि वृत्तानि वर्तुलानि मौक्तिकानि मुक्ताफलानि, पक्षे निर्मलानि यतिभङ्गप्रभृतिदोषशून्यानि वृत्तमौक्तिकानि श्रेष्ठच्छन्दांसि यस्यां सा) हारयष्टिरिव[रेव] हारलतेव[तैव] । परम् अत्यन्तम् । नरोत्तमैः नरेषूत्तमैः श्रेष्ठैः । कण्ठविभूषणीकृता प्रागकण्ठविभूषणमिदानीं कण्ठविभूषणं क्रियते स्म तथोक्ता । [न] नासीत्, सैकैव न धृतेत्यर्थः । पुनः कापीति चेत् । दुर्लभा दुःखेन महता कष्टेन लभ्यत इति दुर्लभा । समन्तभद्रादिभवा समन्ताद्भद्रं कल्याणं यस्यासौ समन्तभद्रः, स आदिर्येषां ते समन्तभद्रादयः, तेषु भवा तथोक्ता । भारती च भाषा

वह बुढ़िया हो चुकी थी ॥४॥ मेरे लिए जिनागम ही शरण (रक्षक) है । मैं उसीकी शरण आया हूँ । वह सबको हितकारी है । उसकी स्थिति पूर्वापर विरोधसे रहित है । उसके सिद्धान्त दूसरोंके लिए अकाट्य हैं । वह शान्ति और मुक्ति प्रदान करनेवाला है तथा भव्यजीवोंका तो एक मात्र बन्धु है ॥५॥ इस युगमें केवल हार ही नहीं, बल्कि समन्तभद्र आदि आचार्योंकी वाणी भी अत्यन्त दुर्लभ है । हार और समन्तभद्र आदि आचार्योंकी वाणीमें अद्भुत साम्य है – जिस प्रकार निर्मल गोल मोतियोंको धागेमें पिरोकर हार बनाया जाता है और उत्तम पुरुष उसे अपने गलेमें आभूषणके रूपमें पहनते हैं इसी प्रकार समन्तभद्र आदि आचार्योंकी वाणी ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणोंसे गुम्फित है, निर्दोष सुन्दर छन्दोंमें निबद्ध

१. = ननु च चत्वार एव तीर्थकराः कथमभिष्टुता न सर्वेऽपि, इति चेत्; उच्यतेऽत्र कवेरभिप्रायः – बृहत्कथाप्रबरस्यास्य काव्यस्य विस्तरभयात् । अथत्रोत्सर्पिणीसमयादितीर्थप्रवर्तनादादिजिनस्याभिष्टवः, प्रारब्धकथानायकत्वादष्टमस्य, निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्तेः कारणत्वात् शान्तेः, वर्तमानतीर्थस्वामित्वादन्त्यस्येति । तदापि शेषाणां नमनाकरणेऽपरीक्षकत्वमिति चेत् सर्वेऽपि नुता भगवताचार्येण – वीरं विशिष्टाम् ई समवसरणादिलक्षणां लक्ष्मीम् ईरते इति वीरः तीर्थकरसमुदायः तं नमामि, यतः सर्वेषामपि श्रीः पञ्चकल्याणाभिधा प्रातिहार्यातिशयादिलक्षणा समानैव श्रूयते श्रुते ।

गुणानगृह्णन् सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन्न दुर्जनः ।
चिरंतनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः ॥७॥
गुणान्यथैवोपदिशन्प्रशंसया गुरुत्वबुद्ध्या सुजनो नमस्यते ।
तथैव दोषान्दिशतः प्रणिन्दया कृतः खलस्यापि मयायमञ्जलिः ॥८॥
सुदुष्करं यन्मनुते गणाधिपोऽप्यवैति वाग्देव्यपि भारमात्मनः ।
विधित्सुरर्हच्चरितं तदल्पधीर्ध्रुवं न यास्यामि न हास्यतां सताम् ॥९॥

च, नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृतेत्यर्थः । श्लेषः ॥ ६ ॥ गुणानित्यादि । सुजनः शोभनो जनः । गुणान् अगृह्णन् गृह्णातीति गृह्णन्, न गृह्णन् [अगृह्णन्] तथोक्तः, अस्वीकुर्वन् । निर्वृतिं संतोषम् । 'निर्वृतिस्तु मनस्तोषे मोक्षे समयबाढयोः' इति विश्वः । न प्रयाति । दुर्जनः निन्दितो जनो दुर्जनः । दोषान् अवदन् वदतीति वदन् न वदन् अवदन् तथोक्तोऽब्रुवन् निर्वृतिम् । न प्रयाति । चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता चिरं भवश्चिरन्तनः । 'सायं चिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययात्' इति तनट् । चिरन्तनश्चासावभ्यासश्च स एव निबन्धनं तेनेरिता प्रेरिता । मतिः बुद्धिः । गुणेषु सम्यग्ज्ञानादिसहभाविपरिणामेषु । दोषेषु च तद्विपरीतेषु च । च-शब्दः समुच्चयार्थः । जायते उत्पद्यते । जनैङ् प्रादुर्भावे लट् ॥ ७ ॥ गुणानित्यादि । गुणान् उपदिशन् उपदिशत्युपदिशन् । 'लक्षणहेत्वोः' इत्यादिना शतृप्रत्ययः । उपदेशं कुर्वन् । सुजनः सत्पुरुषः । प्रशंसया स्तुत्या । गुरुत्वबुद्ध्या गुरुत्वस्य महत्त्वस्य बुद्ध्या । यथैव नमस्यते नमस्क्रियते । 'नमो वरिवस्तपसः क्यच्' । तथैव दोषान् दिशतः ब्रुवतः । खलस्य दुर्जनस्यापि प्रणिन्दया प्रगर्हया । मया कविना । अयम् एषः अञ्जलिः मुकुलितहस्तः । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः । कृतः क्रियते स्म कृतो विहितः[1] ॥ ८ ॥ सुदुष्करमित्यादि[2] । यत् चरितम् । गणाधिपोऽपि गणानां द्वादशानामधिपोऽपि गणाधिपोऽपि । सुदुष्करं सु सुष्ठु दुःखेन महता कष्टेन क्रियत इति तथोक्तम् । मनुते जानाति । वाग्देव्यपि सरस्वत्यपि । आत्मनः स्वस्य । भारम् । अवैति बुध्यते । तत् अर्हच्चरितम् अर्हतश्चरितम् । विधित्सुः विधातुमिच्छुः । 'सन्भिक्षा–' इत्यादिना[3] उ–प्रत्ययः । अल्पधीः अल्पाधीर्यस्य सः, स्तोकबुद्धिरित्यर्थः । ध्रुवं निश्चयम् । सतां सत्पुरुषैः । 'वा नाकस्य' इत्यादिना करणे षष्ठी । हास्यतां हास्यस्य भावम् । न यास्यामि न गमिष्यामि । न इति न, अपि तु यास्याम्येव । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः

है और उसे श्रेष्ठ पुरुष कण्ठस्थ करते हैं ॥६॥ दूसरोंसे गुण ग्रहण किये बिना सज्जनको और उनके दोषोंका व्याख्यान किये बिना दुर्जनको चैन नहीं पड़ती । इसका एक मात्र कारण है अपना-अपना चिरन्तन अभ्यास, जिससे प्रेरित होकर मानव (सज्जन और दुर्जन) की मति गुणों या दोषोंकी ओर झुकती है ॥७॥ सज्जन दूसरोंके सद्गुणोंकी—उनकी कृतिकी—प्रशंसा करता है और उनके ग्रहण करनेका उपदेश भी देता है, अतः लोग उसे अपना गुरु मानकर नमस्कार करते हैं । इसी प्रकार दुर्जन दूसरोंके दोषोंकी—उनकी कृतिकी—निन्दा करता हुआ उनको प्रख्यात करता है, अतः मैं उसे भी हाथ जोड़ता हूँ ॥८॥ अरहंत भगवान्के जिस चरितको चार ज्ञानके धारी, स्वयं गणधर भगवान् भी कठिन मानते हैं और जिसे भगवती सरस्वती देवी (तीर्थंकरकी वाणी) भी अपना बोझा समझती है, अर्थात् अपरिमित होनेसे जिसका वर्ण, पद व वाक्योंके द्वारा पूर्णतया वर्णन नहीं किया जा सकता है, उसीको लिखनेके लिए मैं मन्द बुद्धि होकर भी प्रवृत्त हुआ हूँ । अतः सत्पुरुषोंके सामने परिहास योग्य नहीं बनूँगा, यह कभी नहीं हो सकता—निश्चित ही उनकी हँसीका भाजन बनूँगा ॥ ९ ॥

१. श स 'विहितः' नास्ति । २. श स सुदुष्करमिति । ३. श स सन्विषेत्यादिना ।

तथापि तस्मिन् गुरुसेतुवाहिते सुदुष्प्रवेशेऽपि पुराणसागरे ।
यथात्मशक्ति प्रयतोऽस्मि पोतकः पथीव यूथाधिपतिप्रवर्तिते ॥१०॥
अथास्ति[1] शृङ्गोल्लिखितामरालयो द्विपूरणद्वीपगतो गभस्तिभिः ।
सृजन्नमेघां कलमाग्रपिङ्गलैस्तडिच्छ्रियं व्योमनि पूर्वमन्दरः ॥११॥
विभूष्य तत्पूर्वविदेहमात्मनः श्रिया स्थितो नाकिनिवाससंनिभः ।
समस्ति देशो भुवि मङ्गलावतीत्यभिख्यया यः प्रथितोऽर्थयुक्तया ॥ १२ ॥

॥ ९ ॥ तथेत्यादि । तथापि हास्यगमनप्रकारेणापि [प्रकारेऽपि] । सुदुष्प्रवेशेऽपि[2] सुष्ठु दुःखेन महता कष्टेन प्रवेशनीयेऽपि । गुरुसेतुवाहिते गुरवो गणधरादयः त एव सेतुस्तेन वाहिते प्रापिते । तस्मिन्[3] पुराणसागरे पुराणमेव सागरः तस्मिन् । यथात्मशक्ति आत्मनः शक्तिस्तथोक्ता, आत्मशक्तिमनतिक्रम्य यथात्मशक्ति । यूथाधिपतिप्रवर्तिते यूथानामधिपतिर्गजाधिपः तेन प्रवर्तितः शोधितः[4] तस्मिन् । पथि मार्गे । पोतक इव करिशावक इव । प्रयतः उद्यतः । अस्मि भवामि । उपमा ॥ १० ॥

अथेत्यादि । अथ पुराणप्रवेशानन्तरम्[5] । शृङ्गोल्लिखितामरालयः शृङ्गेणोल्लिखितः संस्पृष्टः सुरालयः स्वर्गो यस्यासौ तथोक्तः, अत्युन्नतत्वादित्यर्थः । द्विपूरणद्वीपगतः द्वयोः पूरणं द्वीपं गच्छति स्म तथोक्तः, द्वितीयद्वीपस्य धातकीखण्डस्य मध्यगत इत्यर्थः । कलमाग्रपिङ्गलैः कलमानां शालीनामग्राणि मञ्जर्यः तानीव पिङ्गलाः सुवर्णवर्णाः तैः । गभस्तिभिः किरणैः । अमेघां जलधररहिताम् । व्योमनि आकाशे । तटिच्छ्रियं तटितो विद्युतः श्रियं संपत्तिम् । सृजन् सृजतीति सृजन् निर्मापयन् । पूर्वमन्दरः पूर्वमन्दरो मेरुः । अस्ति वर्त्तते । अस भुवि लट् ॥११॥ विभूष्येत्यादि । यः विषयः । आत्मनः स्वस्य । श्रिया पुण्यवतः पुरुषान् श्रयतीति श्रीः, तया संपदा । तत्पूर्वविदेहं तस्य पूर्वमन्दरस्य पूर्वं पौरस्त्यं विदेहं जनपदम् । विभूष्य विभूषणं पूर्वं पश्चात् किंचिदिति, अलंकृत्य । स्थितः नाकिनिवाससंनिभः नाकिनां देवानां निवासस्य स्वर्गस्य संनिभः समानः । अर्थयुक्तया अर्थेन युक्ता तया, सार्थकया । मङ्गलावतीत्यभिख्यया 'मङ्गलावती' इति अभिख्यया अभिधानेन । भुवि भूमौ । प्रथितः प्रतीतः । देशः विषयः । समस्ति सम्यग् वर्तते । अस भुवि लट् ॥१२॥

यद्यपि मुझे अपने परिहासका पहलेसे ही भान हो गया है, किन्तु फिर भी जैसे सेतु (पुल) की सहायतासे समुद्रमें प्रवेश करना सरल हो जाता है, इसी तरह गुरु-परम्पराकी कृपासे मुझे पुराण (उत्तरपुराण, जिसके आधारसे चन्द्रप्रभचरित लिखा गया है) में प्रवेश करना सरल हो गया है । यह पुराण भी समुद्रसे किसी अंशमें कम नहीं है, तो भी गुरुओंकी कृपासे अपनी प्रतिभा शक्तिके अनुसार इसमें प्रवेश करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ । जैसे गजराजके द्वारा बनाये गये मार्गमें उसका बच्चा (पोतक) प्रवेश करनेके लिए उद्यत होता है ॥१०॥

अब यहाँसे कथाका प्रारम्भ होता है—दूसरे द्वीपका नाम धातकी खण्ड है । वहाँ पूर्व दिशामें जो मेरु पर्वत अवस्थित है, उसका शिखर स्वर्गको छूनेवाला—बहुत ऊँचा—है । उसका ऊपरी भाग सुनहरे रंगका है, अतः वह पकी धानकी बालों (मञ्जरी) के समान पीली किरणोंके द्वारा आकाशमें मेघोंके न रहनेपर भी बिजलीकी छटा दिखलाता है ॥११॥ उसके उस क्षेत्रमें—जिसका नाम पूर्व विदेह है—एक मंगलावती नामका देश है । सदा मंगलमय रहनेसे वह सार्थक नामवाला है । वह उस विदेहका भूषण है । वह अपनी श्री—विभूति और उत्कृष्ट शोभा—की दृष्टिसे स्वर्गके समान है । इसीलिए वह सारे भूमण्डलमें विख्यात है ॥१२॥

१. अ अथोस्ति । २. स प्रवेशनीयोऽपि । ३. श स अस्मिन् । ४. आ लोभितः । ५. आ श स प्रवेशानन्तरे ।

निरन्तरैर्यत्र शुकाङ्गकोमलैः समानसस्याङ्कुरसंचयैश्चिताः।
जनस्य चेतांसि हरन्ति भूमयो हरिन्मणिव्रातविनिर्मिता इव ॥१३॥
निशाकरांशुप्रकराच्छवारिभिर्विनिद्रनीलोत्पलरश्मिरञ्जितैः ।
च्युतैर्निरालम्बतया विहायसो विभाति खण्डैरिव यः सरोवरैः ॥१४॥
निशासु शीतांशुमणिस्थलच्युतैः पयःप्रवाहैः परिपूरितान्तराः।
वहन्ति यस्मिञ्जलराशियोषितो निदाघकालेष्वपि कूलमुद्रुजाः॥१५॥

निरन्तरैरित्यादि । यत्र यस्यां मङ्गलावत्याम् । निरन्तरैः अन्तरान्निर्गतैः, निरवकाशैरित्यर्थः । शुकाङ्गकोमलैः शुकानामङ्गानीव कोमलैर्मृदुलैः । समानसस्याङ्कुरसंचयैः समानानां सस्यानाम् अङ्कुराणां संचयैः समूहैः । चिताः चीयन्ते स्म चिताः, व्याप्ताः । भूमयः भुवः । हरिन्मणिव्रातविनिर्मिता इव हरितां मणीनां मरकत-रत्नानां व्रातेन समूहेन विनिर्मिताः सृष्टा इव । जनस्य लोकस्य । चेतांसि चित्तानि । हरन्ति अपहरन्ति । हृञ् हरणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥१३॥ निशाकरेत्यादि । यः देशः । निशाकरांशुप्रकराच्छवारिभिः निशाकरस्य चन्द्रस्य अंशूनां प्रकरः समूह इव अच्छानि निर्मलानि वारीणि जलानि येषां तैः । विनिद्रनीलोत्पलरश्मिरञ्जितैः विनिद्राणां विकसितानां नीलोत्पलानाम् इन्दीवराणां रश्मिभिः कान्तिभी रञ्जितैर्बिम्बितैः (नीलवर्णीकृतैः) । सरोवरैः महासरोभिः । निरालम्बतया आलम्बनात् [आलम्बात्] निर्गतं निरालम्बं[1] तस्य भावः तया, आधाररहितत्वेनेत्यर्थः । च्युतैः च्यवन्ते स्म च्युताः तैः, पतितैः । विहायसः गगनस्य । खण्डैरिव शकलैरिव । विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥१४॥ निशास्वित्यादि । यस्मिन् देशे । निशासु रात्रिषु । शीतांशुमणिस्थलच्युतैः शीतांशुमणेः चन्द्रकान्तमणेः स्थलात् प्रदेशात् च्युतैः पतितैः । पयःप्रवाहैः पयसां सलिलानां प्रवाहैः । परिपूरितान्तराः परिपूर्यते स्म परिपूरितम् अन्तरं मध्यप्रदेशो यासां[2] ताः । जलराशि-योषितः जलराशेः समुद्रस्य योषितः स्त्रियो नद्य इत्यर्थः । निदाघकालेष्वपि[3] निदाघाश्च ते कालाश्च निदाघ-कालाः तेष्वपि, उष्णकालेष्वपि । कूलमुद्रुजाः कूलम् उद्रुजन्तीति कूलमुद्रुजाः । 'कूलादुदिरुज्वहः' इति खः, 'खित्यनः –' इत्यादिना अम्[4] [मम्] । तटविदारकाः सत्यः । वहन्ति स्रवन्ति । वह[5] प्रापणे

वहाँ धान्यकी खेती प्रचुर मात्रामें होती है । वहाँकी भूमि उपजाऊ है । जब उसमें चारों ओर समान ऊँचाईवाले कोमल, इतने कोमल जितना कि तोतेका शरीर कोमल होता है, धान्यके अंकुर दृष्टि-गोचर होते हैं, तब वह ऐसी जान पड़ती है मानो उसमें हरे मणि जड़ दिये गये हों । इसीलिए वह देखनेवालोंके मनको बरबस हर लेती है—देखनेवाले वहाँसे भले ही चले जाँय, किन्तु उनका मन वहीं रमा रह जाता है ॥१३॥ वहाँ जो बड़े-बड़े सरोवर हैं उनमें चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल जल भरा हुआ है और उसमें नील कमल खिले हुए हैं । उन कमलोंकी नीली प्रभासे सरोवरोंका जल नीला दिख रहा है । अतः वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो आधार न रहनेसे टूटकर गिरे हुए आकाशके टुकड़े हों ॥१४॥ वहाँ जहाँ-तहाँ जो चन्द्रकान्त मणिमय भवन हैं उनसे रात्रिके समय चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श होते ही जो जलका पूर बहने लगता है उसके प्रभावसे वहाँकी नदियोंके प्रवाह ग्रीष्मकालमें भी अपने दोनों

१. श स निरालम्बनं । २. आ येषां । ३. श ष निदाघकालेऽपि । ४. श स मट् । ५. आ वहि प्रापणे ।

सदायमस्मत्प्रतिपक्षभूतया कृताधिवासो धनधान्यसंपदा ।
इतीव यस्मिन् विहिताभ्यसूयया न जातु लोको विपदा विलोक्यते ॥१६॥
विकासवद्भिः शरदभ्रपाण्डुरैः सितातपत्रैरिव यः प्रसारितैः ।
समस्तदेशाधिपतित्वमात्मनो व्यनक्ति लोके स्थलनीरजाकरैः ॥१७॥
समुज्ज्वलाभिः कनकादियोनिभिर्विकासिनीभिः[1] खनिभिः समन्ततः ।
कृतास्पदा यत्र जनर्द्धिहेतुभिर्यथार्थनामा वसुमत्यजायत ॥१८॥
शिखावलीलीढघनाघनाध्वभिर्बहिः स्थितैर्नूतनधान्यराशिभिः ।
विभान्ति यस्मिन्निगमाः कुतूहलादिवोपयातैः कुलमेदिनीधरैः ॥१९॥

लट् ॥१५॥ सदेत्यादि । यस्मिन् विदेहे[2] । अयम् एष मङ्गलावतीदेशः । अस्मत्प्रतिपक्षभूतया अस्माकं प्रतिपक्षभूतया विरुद्धभूतया । धनधान्यसंपदा धनानां धान्यानां संपदा संपत्त्या । सदा सर्वस्मिन् काले । कृताधिवासः कृतो विहितो अधिवासः स्थानं यस्यासौ[3] इति एवं प्रकारेण । विहिताभ्यसूयया विहितया कृतया अभ्यसूयया ईर्ष्ययेव यद्वा विहिता अभ्यसूया यया सा तथोक्ता तया । विपदा विपत्त्या । लोकः जनः । जातु कदाचिदपि । न विलोक्यते न वीक्ष्यते । लोकृङ्[4] दर्शने कर्मणि लट् ॥१६॥ विकासवद्भिरित्यादि । यः देशः । विकासवद्भिः विकासोऽस्त्येषामिति विकासवन्तः तैः विकसनयुक्तैः । 'अस्त्यस्मिन्वेति मतुः' इति मतुः, 'मान्तोपान्त –' इत्यादिना मस्य वः । शरदभ्रपाण्डुरैः शरदि शरत्काले प्रवर्तमानम् अभ्रं मेघ इव पाण्डुराः शुभ्राः तैः । प्रसारितैः विस्तृतैः । स्थलनीरजाकरैः स्थले प्रवर्तमानानां नीरजानाम् आकरैः खनिभिः[5] सितातपत्रैरिव सितैः आतपत्रैरिव श्वेतच्छत्रैरिव । लोके जगति । आत्मनः स्वस्य । समस्तदेशाधिपतित्वं समस्तानां देशानाम् अधिपतित्वं प्रभुत्वम् । व्यनक्ति व्यक्तीकरोति । अञ्जू गतिव्यक्तिम्रक्षणेषु लट् ॥१७॥ समुज्ज्वलाभिरित्यादि । यत्र देशे । जनर्द्धिहेतुभिः जनानाम् ऋद्धीनाम् ऐश्वर्याणां हेतुभिः कारणभूतैः । समुज्ज्वलाभिः प्रकाशमानाभिः । कनकादियोनिभिः कनकादीनां योनिभिः उत्पत्तिस्थानैः । विकासिनीभिः विकसनशीलाभिः । खनिभिः आकरैः । समन्ततः परितः कृतास्पदा कृतो विहित आस्पदं[6] आश्रयो यस्याः सा तथोक्ता । वसुमती वसु द्रव्यम् अस्या अस्तीति वसुमती । यथार्थनामा यथार्थं नाम यस्याः सा यथार्थनामा यथार्थाभिधाना । अजायत जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् ॥१८॥ शिखेत्यादि । यस्मिन् देशे । शिखावलीलीढघनाघनाध्वभिः शिखानाम् अग्राणाम् आवल्यां लीढः संश्लिष्टो घनाघनस्य मेघस्याध्वा मार्गो येषां तैः, अत्युदग्रैः इत्यर्थः । 'घनाघनो घनो मेघः'

किनारोंसे टकराते हुए बहा करते हैं ॥१५॥ यहाँके लोगोंके पास सदा मेरी विरोधिनी (सौत) धन-धान्य-सम्पत्ति निवास करती है । अतः यहाँ मेरी दाल गलना कठिन है । मानो इसी सौतियाडाहके कारण विपत्ति वहाँके किसी मनुष्यकी ओर देखती तक न थी ॥१६॥ वहाँ जो शरत्कालीन मेघके समान धवल स्थलकमल खिले हुए हैं वे खुले हुए शुभ्रवर्ण छातोंके समान दिखते हैं । अतः लगता है कि वह देश उनसे यह व्यक्त कर रहा है कि 'मैं सभी देशोंका राजा हूँ' ॥१७॥ वहाँ चारों ओर जो निर्मल, स्वर्ण आदि धातुओंकी उत्पादक एवं लोगोंकी समृद्धिकी कारणभूत खानें फैली हुई थीं उनसे वहाँकी वसुमती—भूमि—का वसुमती—धनवाली—नाम सार्थक हो गया है ॥१८॥ उस देशके निकटवर्ती गाँवोंमें अन्न बहुतायतसे उत्पन्न होता है । उन गाँवोंके बाहर खलिहानोंमें मेघ मार्गको छूनेवाली—अतिशय ऊँची—जो नवीन

१. अ विकाशनोभिः, आ इ विकाशिनीभिः । २. [मङ्गलावतीविषये] । ३. [यस्मिन्नसौ] । ४. स लोकृच् । ५. [समूहैः] । ६. [आस्पदम्] ।

गतैः समासत्तिमिवेतरेतरश्रियामनन्यत्रभुवां दिदृक्षया।
निरन्तरोद्यानवितानराजितैर्महागृहैर्ग्रामपुरैर्विभाति यः ॥२०॥
वणिक्पथस्तूपितरत्नसंचयं समस्ति तस्मिन्नथ रत्नसंचयम्।
पुरं यदालानितमत्तवारणैर्विभाति हर्म्यैश्च समत्तवारणैः ॥२१॥
गभीरनादैः प्रतिमानिपातिभिः पयोधरैर्मन्दसमीरणेरितैः।
जलेभयूथैरिव संकुलान्तरा विराजते यत्परिखा प्रथीयसी ॥२२॥

इति धनंजयः। बहिःस्थितैः बाह्यस्थितैः। नूतनधान्यराशिभिः नूतनानां नवीनानां धान्यानां राशिभिः पुञ्जैः। कुतूहलात् कौतुकात्। उपयातैः उपागतैः। कुलमेदिनीधरैः कुलभूधरैरिव। निगमाः भक्तग्रामाः। विभान्ति विराजन्ते। भा दीप्तौ लट्। उत्प्रेक्षा ॥१९॥ गतैरित्यादि। यः देशः। अनन्यत्रभुवाम् अन्यत्र भवन्तीत्यन्यत्रभुवो नान्यत्रभुवोऽनन्यत्रभुवः तासाम् अन्यत्र [°त्रा] संभूतानाम्। इतरेतरश्रियाम् इतरेतरस्य श्रियः तासाम् अन्योन्यसंपदाम्। दिदृक्षया द्रष्टुं वाञ्छया। 'सन्भिक्षा—' इत्यादिना उ-प्रत्ययः। समासत्ति सामीप्यम्। गतैः यातैरिव[1]। निरन्तरोद्यानवितानराजितैः निरन्तराणां निबिडानाम् उद्यानानाम् आरामाणां वितानेन निवहेन राजितैः। [2]'विस्तारावसरक्रतुवृत्तभेदतुच्छमन्दसमाजेषु वितानम्' इति नानार्थकोशे। महागृहैः [महान्ति विशालानि गृहाणि भवनानि येषु तैस्तथोक्तैः]। ग्रामाश्च पुराणि च तैः ग्रामैः पत्तनैश्च। विभाति विराजते। भा दीप्तौ लट्। उत्प्रेक्षा ॥ २० ॥ वणिक्पथेत्यादि। अथ देशवर्णनानन्तरम्। तस्मिन् देशे। यत् यस्मात्[3] आलानितमत्तवारणैः बन्धसंभाविता[4] मत्तवारणा मत्तगजा येषां तैः[5]। समत्तवारणैः मत्तवारणेन सह वर्तन्त इति समत्तवारणाः, तैः, उपधानफलकविशेषयुतैः। 'मत्तवारणमिच्छन्ति दानक्लिन्नकटद्विपे। महाप्रासादवीथीनां वरण्डे चाप्युपाश्रये' इति विश्वः। हर्म्यैः धनिनिवासैः। विभाति विराजते। वणिक्पथस्तूपितरत्नसंचयं वणिजां पथिषु वणिक्पथेषु। 'ऋक्पू: पथ्यपोऽत्' इति अत्, स्तूपितो राशीकृतो[6] रत्नानां संचयो यस्मिन् तत्तथोक्तम्। रत्नसंचयं नाम [रत्नसंचयनामकम्]। पुरं पत्तनम्। समस्ति प्रवर्तते। अस भुवि लट्। पादान्त्ययमकम् ॥२१॥ गभीरनादैरित्यादि। प्रथीयसी प्रकृष्टा पृथ्वी प्रथीयसी,[7] अत्यन्तं महती। 'गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसु' इति[8] ईयसु। यत्परिखा यस्य पुरस्य परिखा खातिका। गभीरनादैः गभीरो नादो येषां तैर्गभीरध्वनिसहितैः। प्रतिमानिपातिभिः प्रतिमां निपातयन्तीत्येवं

अन्नकी ढेरियाँ लगी हुई हैं वे ऐसी प्रतीत होती हैं मानो उन गाँवोंकी शोभाके देखनेकी इच्छासे कौतूहलवश कुलाचल ही चले आये हों ॥१९॥ वहाँके निकटवर्ती ग्रामों और नगरोंमें अटूट सम्पत्ति है, ऐसी सम्पत्ति और कहीं सम्भव नहीं है। वे ग्राम-नगरादि मानो एक दूसरेकी इस सम्पत्तिके देखनेकी इच्छासे ही समीपताको प्राप्त हुए हैं। थोड़े-थोड़े अन्तरसे लगे हुए बाग-बगीचोंके समूहों और बड़े-बड़े महलोंसे उन ग्रामों और नगरोंकी शोभा देखते ही बनती है ॥२०॥ अब यहाँसे नगरका वर्णन प्रारम्भ होता है—उस देशमें एक रत्न संचय नामका नगर है। उस नगरके बाजारोंमें रत्नोंकी ढेरियाँ लगायी जाती हैं। इससे उसका 'रत्नसंचय' यह सार्थक नाम ही समझना चाहिए। वह पुर खम्भेसे बँधे हुए मत्तवारणों—हाथियों—और मत्तवारण सहित—छज्जेवाले—बड़े-बड़े भवनोंसे सुशोभित है ॥२१॥ मेघों और हाथियोंमें बड़ी समानता पाई जाती है। दोनोंका गर्जन एक-जैसा गम्भीर होता है। दोनोंकी विशाल छाया दृष्टिगोचर होती है। दोनों ही मन्दवायुसे प्रभावित होते हैं – मेघ उसी दिशाकी ओर जाते हैं, जिधर

१. श स यातैः। २. °रापसर। ३. [यत् पुरं]। ४. आ बन्धासम्भाविता। ५. [बन्धसम्भाविताश्च ते मत्तवारणा मत्तगजाः तैः]। ६ श स राशितो। ७. [अतिशयेन पृथ्वी पृथीयसी]। ८. आ श स ईयस्।

परीतशृङ्गः[1] स्फुरदंशुजालकैर्निशासु नक्षत्रगणैः समन्ततः ।
विभाति यस्मिन् परिधिः स्थिरप्रभैरिव प्रदीपप्रकरैः प्रबोधितैः[2] ॥२३॥
मलीमसं भृङ्गनिभेन लक्ष्मणा विलोक्यते यत्र घनाध्वमध्यगम् ।
गृहैरिवाभ्रंलिहशृङ्गकोटिभिर्निघृष्टदेहच्छवि चन्द्रमण्डलम् ॥२४॥
मदाभमम्भो विसृजद्भिरुल्लसत्तडिल्लतालंकरणैरधोगतैः ।
शरीरिणां गोपुरशृङ्गवर्तिनां वितन्यते यत्र गजभ्रमो घनैः ॥२५॥

शीलाः तैः प्रतिबिम्बप्रदानशीलैः । मन्दसमीरणेरितैः मन्देन समीरणेन वायुना ईरितैः प्रेरितैः । पयोधरैः मेघैः । व्योमगतैरिति शेषः । जलेभयूथैः जलगजानां समूहैः । संकुलान्तरेव संकुलं संघटितमन्तरं मध्यं यस्याः सेव । विराजते विभाति । राजृञ् दीप्तौ लट् ॥ २२ ॥ परीतशृङ्ग इत्यादि । यस्मिन् पुरे । निशासु रात्रिषु । प्रबोधितैः प्रदीपितैः । स्थिरप्रभैः स्थिरा निश्चलाः प्रभाः कान्तयो येषां तैः । प्रदीपप्रकरैः प्रदीपानां प्रकरैः समूहैरिव । समन्ततः समन्तात् समन्ततः सर्वतः । स्फुरदंशुजालकैः स्फुरत्प्रज्वलदंशूनां किरणानां जालं समूहो येषां तैः । नक्षत्रगणैः नक्षत्राणां गणैर्नित्रहैः । परीतशृङ्गः परीतानि परिवेष्टितानि शृङ्गाणि शिखराणि यस्य सः । परिधिः प्राकारः । विभाति विराजते । उत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥ **मलीमसमित्यादि**[3] । यत्र पुरे । भृङ्गनिभेन भृङ्गस्य भ्रमरस्य निभेन समानेन । उपमा । लक्ष्मणा चिह्नेन । मलीमसम् मलम-[4] स्यास्तीति मलीमसम् । 'मलादीमसश्च' इति ईमसः प्रत्ययः । 'मलीमसं तु मलिनम्' इत्यमरः । घनाध्वमध्यगम् घनाध्वन आकाशस्य मध्यं गच्छतीति मध्यगम् । 'गमः[5] क्वचिड्डः' इति ड–प्रत्ययः । चन्द्रमण्डलं चन्द्रस्य[6] मण्डलं बिम्बम् । अभ्रंलिहशृङ्गकोटिभिः अभ्रं लिहन्तीत्यभ्रंलिहानि तानि च तानि शृङ्गाणि च तथोक्तानि तेषां कोटयोऽग्रभागा येषां तैः । 'वहाभ्रालिलहः' इति खशः । 'खित्यन—' इत्यादिना ममागमः । गृहैः मन्दिरैः । निघृष्टदेहच्छवि निघृष्टा घृष्टा[7] देहस्य छविः कान्तिर्यस्य तत्, तदिव । विलोक्यते लक्ष्यते । लोकृञ्[8] दर्शने लट् । उत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥ मदाभमित्यादि । यत्र पुरे । मदाभं मदजलाभम् । अम्भः सलिलम् । विसृजद्भिः विस्रवद्भिः[9] । उल्लसत्तडिल्लतालङ्करणैः उल्लसन्त्यो विभान्त्यः तडितां लता एवालङ्करणं येषां तैः । अधोगतैः अधोयातैः । घनैः वारिवाहैः । गोपुरशृङ्गवर्तिनां गोपुरस्य पुरद्वारस्य शृङ्गे शिखरे वर्तिनां

उसका रुख हो और हाथी उसीकी चाल (मन्दगति) से चलते हैं । अतएव मेघोंकी छाया पड़नेसे उस नगरकी विशाल परिखा (खाई) ऐसी जान पड़ती है मानो उसके बीचमें जल-गजोंका झुण्ड इकट्ठा हो गया हो ॥२२॥ उस नगरके चारों ओर विशाल परकोटा है । उसके उन्नत शिखरोंपर रात्रिके समय जब चारों ओरसे चमचमाते हुए नक्षत्र दृष्टिगोचर होते हैं तब ऐसा मालूम पड़ता है मानो वहाँ (शिखरोंपर) स्थिर प्रभाको धारण करनेवाले दीपक जलाकर रख दिये गये हों । इस अवसरपर उस (परकोटे) की छवि देखते ही बनती है ॥२३॥ उस नगरमें रात्रिके समय आकाशके बीचसे जाते हुए चन्द्रमण्डलके भ्रमरके समान काले चिह्न-को देखकर ऐसा भान होता था कि मानो वहाँके गगनचुम्बी शिखरोंके अग्रभागवाले भवनोंसे उसके शरीरकी कान्ति घिस गई है ॥२४॥ मेघों और हाथियोंमें अनेक दृष्टियोंसे बड़ी समानता है । मेघ मदजलके समान सुगन्धित जल बरसाते हैं व कौंधती हुई बिजलीके आभूषणसे भूषित रहते हैं और हाथी भी सुगन्धित मदजल बरसाते हैं एवं बिजली सरीखे चमचमाते हुए सोनेके

१. म परीतशृङ्गैः । २. अ 'युग्मं' इत्युपलभ्यते । ३. श स मलीमस इत्यादि । ४. [मलोऽस्या०] । ५. श स 'गमः –' इत्यादि नास्ति । ६. आ 'चन्द्रस्य' नास्ति । ७. आ विस्पृष्टा । ८. आ लोकृ दर्शने । ९. श स विसृपद्भिः ।

सुगन्धिनिःश्वासमरुन्मनोहरे मनोभुवापाण्डुनि कामिनीमुखे।
समापतन् राहुरिवेन्दुशङ्कया विलोक्यते यत्र मधुव्रतव्रजः ॥२६॥
निपातयन्ती तरले विलोचने सजीवचित्रासु निवासभित्तिषु।
नवा वधूर्यत्र जनाभिशङ्कया न गाढमालिङ्गति जीवितेश्वरम् ॥२७॥
शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभूमिकात् पतत्पयः सौधचयाद् विधूद्गमे।
शिखण्डिनां यत्र पयोदशङ्किनां तनोत्यकाण्डेऽपि विकासि[7] ताण्डवम् ॥२८॥

वर्तनशीलानाम्। शरीरिणां शरीरमस्त्येषामिति शरीरिणस्तेषां प्राणिनाम्। गजभ्रमः गजा इति भ्रमः। वितन्यते विस्तार्यते। तनु विस्तारे कर्मणि लट्। भ्रान्तिमान् ॥ २५ ॥ सुगन्धीत्यादि। यत्र पुरे। सुगन्धिनिश्वासमरुन्मनोहरे सु शोभनो गन्धो यस्य [स] सुगन्धिः, 'सूत्पूतिसुरभेर्गन्धादिद् गुणे' इति इत्, स चासौ निश्वासश्च तस्य मरुद् वायुः तेन मनोहरं तस्मिन्[2]। मनोभुवा पाण्डुनि[3] मनोभवेन मन्मथेन मन्मथक्रीडयेत्यर्थ आपाण्डुनि ईषच्छुभ्रे। कामिनीमुखे कामिनीनां वनितानां मुखे। मधुव्रतव्रजः मधुव्रतानां भ्रमराणां व्रजः समूहः। इन्दुशङ्कया इन्दुरिति चन्द्र इति शङ्कया संदेहेन। समापतन् समागच्छन्। राहुरिव राहुग्रह इव। विलोक्यते वीक्ष्यते। लोकृञ् दर्शने कर्मणि लट्। भ्रान्तिरुत्प्रेक्षा च[4] ॥ २६ ॥ निपातयन्तीत्यादि। यत्र पुरे। सजीवचित्रासु जीवचित्रैः सह वर्तन्त इति तथोक्ताः तासु भावचित्रसहितासु। निवासभित्तिषु निवासस्य गृहस्य भित्तिषु कुड्येषु। तरले चञ्चले। विलोचने नयने। निपातयन्ती व्यापारयन्ती। नवा नवोढा। वधूः नारी। जनाभिशङ्कया जना वर्तन्त इत्यभिशङ्कया संदेहेन। जीवितेश्वरं प्राणकान्तम्[5]। गाढम् दृढम्। न आलिङ्गति आलिङ्गनं न करोति। लिगु गतौ लट् ॥ २७ ॥ शशाङ्केत्यादि। यत्र पुरे। विधूद्गमे विधोश्चन्द्रस्योद्गम उदयः तस्मिन्। शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभूमिकात् शशाङ्ककान्तश्चासावश्मा च शशाङ्ककान्ताश्मा चन्द्रकान्तशिला तस्य विकाराः शशाङ्ककान्ताश्ममयाः[6], ऊर्ध्वा चासौ भूमिश्च तथोक्ता शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभूमिर्यस्य तस्मात्। सौधचयात् सौधानां चयः तस्मात्। पतत्पयः स्रवदुदकम्। अकाण्डेऽपि अकालेऽपि। 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु' इत्यमरः। पयोदशङ्किनां पयोदो मेघ इति शङ्किनां शिखण्डिनां शिखण्डोऽस्त्येषामिति शिखण्डिनः तेषां मयूराणाम्। विकासिताण्डवम्, विकासि मनोहरं[2] ताण्डवं नर्तनम्। तनोति

आभूषण पहनते हैं। फलतः उस नगरके प्रमुख द्वारके शिखरपर जो भी मनुष्य पहुँचते हैं, उन्हें नीचे घुमड़ते हुए मेघोंमें हाथियोंका भ्रम हो जाता है ॥२५॥ वहाँ अत्यन्त सुन्दर स्त्रियाँ निवास करती हैं। उनके गोरे मुखमण्डलको कामदेवने और भी अधिक गोरा कर दिया है। उनके श्वासवायुमें मनको हरनेवाली सुगन्धि निकलती है। फलतः उनके मुखमण्डलपर जो भौरोंका झुण्ड गिरता है, उसे देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो वह उनके उस मुखमण्डलको पूर्णमासीका चन्द्रमण्डल समझकर ही उसपर गिर रहा है ॥२६॥ वहाँकी चित्रकला और महलोंकी सजावट दर्शनीय है। उन महलोंकी दीवालोंपर जो मनुष्य आदि प्राणियोंके अनेक चित्र बने हुए हैं वे सब-के-सब सजीव जान पड़ते हैं। ऐसी अवस्थामें पहली बार आई हुई बहू उन्हें अपनी चंचल दृष्टिसे देखकर वहाँ अन्य लोगोंकी उपस्थितिके भ्रममें पड़ जाती है अत एंव वह अपने पतिके साथ गाढ आलिंगन नहीं करती ॥ २७ ॥ वहाँके महल बहुत ऊँचे हैं। उनकी छतों पर चन्द्रकान्तमणि जड़े हुए हैं। अतः चन्द्रोदय होते ही उनसे पानी झरने लगता है।

१. अ आ इ विकाशि। २. =अत्र मुख-चन्द्रयोः कान्तिमत्तया समानत्वेऽपि सुगन्धित्वेन कामिनीमुखे विशेष इति भावः। ३. श स मनोभुवापाण्डुर°। ४. आ 'च' नास्ति। ५. प्राणनाथम्। ६. अ °श्ममयो। ७. [विकासि प्रोत्फुल्लबर्हं]।

निशागमे सौधशिरोधिरोहिणो वधूजनस्यामलगण्डमण्डलात् ।
अभिन्नदेशो विधुराननाम्बुजाद् विभज्यते यत्र कलङ्करेखया ॥२९॥
समुल्लसद्भिः शरदभ्रपाण्डुभिर्ध्वजांशुकैर्यद्विनिवारितातपैः ।
गृहाग्रभागोल्लिखितस्य निर्मलैर्विभाति निर्मोकलवैरिवोष्णगोः ॥३०॥
विशालशालोपवनोपशोभिनः शिरःसमुत्तम्भितमेघपङ्क्तयः ।
जिनालयाः सिंहसनाथमूर्तयो विभान्ति यस्मिन् धरणीधरा इव ॥३१॥

विस्तारयति । उत्प्रेक्षा[1] ॥ २८ ॥ **निशागम** इत्यादि । यत्र पुरे । निशागमे निशाया रात्र्या आगमः तस्मिन् । सौधशिरोधिरोहिणः सौधानां हर्म्याणां शिरोऽग्रभागमधिरोहिण आरोहणशीलस्य । वधूजनस्य वनितालोकस्य अमलगण्डमण्डलात् अमलं गण्डयोर्मण्डलं यस्य तस्माद् विशुद्धकपोलतलयुतात् । आननाम्बुजात् वदनकमलात् । रूपकम् । अभिन्नदेशः अभिन्नो देशो यस्य सोऽविभक्तप्रदेशयुक्तः । विधुः चन्द्रः । कलङ्करेखया कलङ्कस्य लाञ्छनस्य रेखया लेखया । विभज्यते विभिद्यते । भज सेवायां कर्मणि लट् ॥ २९ ॥ **समुल्लसद्भिरित्यादि** । यत् पुरम् । समुल्लसद्भिः समुल्लसन्तीति समुल्लसन्तः तैर्विराजमानैः । शतृप्रत्ययः । शरदभ्रपाण्डुभिः शरदः शरत्कालस्याभ्रवन्मेघवत्पाण्डुभिः शुभ्रैः । विनिवारितातपैः निरुद्धातपैः[2] । ध्वजांशुकैः ध्वजानां पताकानामंशुकैर्वस्त्रैः । गृहाग्रभागोल्लिखितस्य गृहाणां सदनानामग्रभागैरुल्लिखितस्य विदारितस्य । उष्णगोः उष्णाः तीक्ष्णा गावः किरणा यस्य सः, सूर्यस्य । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्षदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः । निर्मलैः शुभ्रैः । निर्मोकलवैरिव कञ्चुकलेशैरिव । विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३० ॥ विशालेत्यादि । यस्मिन् पुरे । विशालशालोपवनोपशोभिनः विशालाभ्यां[3] शालोपवनाभ्यां प्राकारोद्यानाभ्यामुपशोभिनः शोभनशीलाः पक्षे शालाश्च ते सालाश्च शालसालाः विशिष्टा शालसाला विशालसाला विशालसालाश्चोपवनानि च विशालशालोपवनानि तैः शोभिनो विशिष्टसर्जवृक्षैः समीपगतवनैश्च विराजमानाः । 'शालो हाले नृपे मत्स्यप्रभेदे सर्जपादपे । सालः पादपमात्रे स्यात्प्राकारे शिशुकद्रुमे[4] ।' इत्युभयत्रापि विश्वः । शिरःसमुत्तम्भितमेघपंक्तयः शिरोभिः शिखरैः समुत्तम्भिता संरुद्धा मेघानां जलधराणां पंक्तिर्येषां ते तथोक्ताः । सिंहसनाथमूर्तयः सिंहैः मृगेन्द्रैः सनाथाः सहिता मूर्तयः प्रतिमाः,

फलतः मयूरोंको मेघका भ्रम हो जाता है । इसीलिये वे असमयमें ही—वर्षाका समय न रहने पर भी—अपने पिच्छको फैलाकर नृत्य प्रारम्भ कर देते हैं ॥ २८ ॥ वहाँ को स्त्रियाँ चाँदनीका आनन्द लेनेके लिए रात्रिके समय महलोंकी छतपर चली जाती हैं । वहाँ उनके निर्मल कपोल-मण्डलवाले मुखकमल और चन्द्रमण्डल एक ही प्रदेशमें पहुँच कर—ऊपर आकाशमें स्थित होकर—समान दिखते हैं । तब उस अवस्थामें चन्द्रकी पहचान केवल उसके कलंककी रेखासे ही हो पाती है ॥ २९ ॥ वहांके महलोंपर शरत्कालीन मेघके समान श्वेत ध्वजाओंके वस्त्र लहरा रहे हैं : वे धूपको रोकते हैं : वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो वहाँके महलोंके उन्नत शिखरोंसे घिसकर गिरे हुए सूर्यके स्वच्छ वस्त्रके टुकड़े ही हों ॥ ३० ॥ वहाँके जैन मन्दिर पर्वतोंके समान हैं—मन्दिरोंके चारों ओर विशाल चहार दीवारी खिंची हुई है। उनके आस-पासमें अनेक उपवन हैं। उनमें अनेक प्रकारके वृक्ष लगे हुए हैं। उन (मन्दिरों) के शिखरोंपर मेघ विश्राम करते हैं । उनके अन्दर वेदियोंपर ऐसी मूर्तियाँ विराज-मान हैं, जिनका चिह्न सिंह है और उनके प्रवेश द्वारके ऊपर भी सिंहोंकी मूर्तियाँ बनी हुई हैं ।

१. [उदात्तो भ्रान्तिमांश्च] । २. श स विरुद्धातपैः । आ अक्षदृष्ट्योः । श स लक्ष्यदृष्ट्योः ।
३. श स 'विशालाभ्यां' इत्यतः प्रारभ्य 'तैः शोभिनो' पर्यन्तः संदर्भो नोपलभ्यते । ४. श स शंखकद्रुमे ।

मदेन योगो द्विरदेषु केवलं विलोक्यते धातुषु सोपसर्गता ।
भवन्ति शब्देषु निपातनक्रियाः कुचेषु यस्मिन् करपीडनानि च ॥३२॥
द्विजिह्वता यत्र परं फणाभृतां कुलेषु चिन्तापरता च योगिषु ।
नितम्बिनीनामुदरेषु केवलं दरिद्रतौष्ठेष्वधरत्वसंभवः ॥३३॥

पक्षे मूर्तिः स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः । 'मूर्तिः काठिन्यकाययोः' इत्यमरः । जिनालयाः चैत्यालयाः । धरणीधरा इव पर्वता इव । विभान्ति विराजन्ते । श्लेषोपमालङ्कारः ॥ ३१ ॥ मदेनेत्यादि । यस्मिन् पुरे । मदेन गर्वेण[1] । 'मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः । मद्येऽपि मद आख्यातो मुदि कृतकवस्तुनि ।' इति विश्वः । योगः संबन्धः । केवलं परम् । द्विरदेषु गजेषु विलोक्यते दृश्यते, नान्यत्रेत्यर्थः । सोपसर्गता उपसर्गसहितत्वं, पक्षे प्राद्युपसर्गयुतत्वं क्रियावसनस्यादि (?) 'उपसर्गः स्मृतो रोगे विघ्नोपप्लवयोरपि' इति विश्वः । धातुषु धातुपाठेषु विलोक्यते । निपातनक्रियाः निपातनस्य नाशनस्य क्रियाः कार्याणि, पक्षे 'लोकप्रसिद्धशब्दस्वरूपोच्चारणं निपातनम्' इति वचनात् तेषां व्यापाराः । शब्देषु शब्दशास्त्रेषु भवन्ति । करपीडनानि च करस्य सिद्धायस्य, पक्षे करयोर्हस्तयोः पीडनानि बाधनानि च । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । कुचेषु स्तनेषु भवन्ति, नान्यत्र । परिसंख्यालङ्कारः ॥ ३२ ॥ द्विजिह्वतेत्यादि । यत्र पुरे । द्विजिह्वता द्विजिह्वस्य भावः सूचकत्वं, पक्षे सर्पत्वम् । 'द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ' इत्यमरः । परं केवलम् । फणाभृतां सर्पाणाम् । कुलेषु समूहेषु, नान्यत्र । चिन्तापरता उद्वेगपरत्वं, पक्षे ध्यानतत्परत्वम् । योगिषु मुनीश्वरेषु । दरिद्रता दरिद्रत्वं, पक्षे अमांसलत्वम्[2] । केवलं परम् । नितम्बिनीनाम् वनितानाम् । उदरेषु गर्भेषु[3] । अधरत्वसंभवः अधरत्वस्य हीनत्वस्य, पक्षे रदनच्छदत्वस्य संभवोऽस्तित्वम् । 'अधरो दन्तवसनेऽनूर्ध्वे हीने धरोऽन्यवत् ।' इति विश्वः । ओष्ठेषु रदनच्छदेषु संभवति, नान्यत्रेति । इयमपि परिसंख्या[4]

इसी तरह पर्वत भी बड़े-बड़े सर्ज वृक्षोंके उपवनोंसे विभूषित हैं। उनके शिखर मेघोंको विश्राम देते हैं। उनकी गुफाओंमें सिंह निवास करते हैं। वहाँके जिनालयों और वहाँके पर्वतोंकी शोभा एक सी है ॥ ३१ ॥ वहाँ मद–मदजलका सम्बन्ध केवल जवान हाथियोंमें ही दृष्टि-गोचर होता है; वहाँके निवासियोंमें मद—घमण्डका सम्बन्ध नहीं है—वे अहंकारी नहीं हैं। केवल 'भू' आदि धातुओंमें ही 'प्र' आदि बाईस उपसर्गोंका सम्बन्ध देखा जाता है; वहाँके निवासियोंके ऊपर किसी प्रकारका उपद्रव नहीं होता। केवल शब्द—शब्दशास्त्र व्याकरणमें ही निपातनसे सिद्धि होती है; वहाँके निवासियोंमें एक दूसरेको गिरानेकी चेष्टा नहीं देखी जाती। केवल स्त्रियोंके स्तनोंमें ही उनके पतियोंके द्वारा करमर्दन होता है; वहाँके निवासियोंको टैक्सकी बाधा नहीं है—इतना टैक्स नहीं देना पड़ता, जिससे उन्हें पीड़ा हो ॥ ३२ ॥ केवल सर्पोंके कुलमें ही दो जीभें पाई जाती हैं; वहाँके निवासियोंमें दो जीभें नहीं हैं—प्रत्यक्षमें एक और परोक्षमें दूसरी—वे चुगलखोर नहीं हैं। केवल योगियोंमें ही ध्यानकी तत्परता दृष्टिगोचर होती है; वहाँके निवासियोंको किसी बातकी चिन्ता नहीं है। केवल स्त्रियोंके उदरमें ही कृशता देखी जाती है; वहाँके निवासियोंमें दरिद्रता–गरीबी नहीं है। केवल स्त्रियोंके नीचेके होठमें ही 'अधर' शब्दका प्रयोग होता है; वहाँके निवासियोंमें कोई अधर—नीच नहीं है ॥ ३३ ॥

१. [द्विरदपक्षे मदजलेन]। २. श स अमांसत्वम् । ३. [जठरेषु]। ४. श स नान्यत्रेति परिसंख्या ।

विभान्ति यस्मिन् बहुधोज्ज्वलोपलप्रणद्धभित्तीनि गृहाणि सर्वतः ।
निजेषु लीनानि दधत्सु दीप्रतां पतङ्गसंतापभियेव धामसु ॥३४॥
स न प्रदेशोऽस्ति न यो जनाकुलो जनोऽप्यसौ नास्ति न यो धनेश्वरः ।
धनं न तद् भोगसमन्वितं न यन्न यत्र भोगोऽपि स यो न संततः ॥३५॥
विलुप्तशोभानि विलोचनोत्पलैः सितेतराण्यम्बुरुहाणि योषिताम् ।
मरुच्चलद्वीचिनि यत्र शीतले लुठन्ति तापादिव दीर्घिकाजले ॥३६॥
महागुणैरप्यगुणैर्मदोज्झितैरपि प्रवृत्तप्रमदैर्महाजनैः ।
अधिष्ठितं यत्प्रविभाति निर्भयैरपि प्रकामं परलोकभीरुभिः ॥३७॥

॥ ३३ ॥ विभान्तीत्यादि । यस्मिन् पुरे । विविधोज्ज्वलोपलप्रणद्धभित्तीनि विविधैर्नानाप्रकारैरुज्ज्वलैर्दिव्यैरुपलैः रत्नशिलाभिः प्रणद्धा निबद्धा भित्तयो येषां तानि । गृहाणि सदनानि । सर्वतः समन्ततः । दीप्रताम् प्रकाशनशोलताम्[1] । 'नम्कम्यजस्कम्पस्मिहिंसदीपो रः' इति र-प्रत्ययः । दधत्सु धरत्सु । निजेषु स्वकीयेषु । धामसु कान्तिषु । 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमरः । पतङ्गसंतापभिया पतङ्गस्य सूर्यस्य संतापाज्जातया[2] भिया भीत्या[3] । 'पञ्चमी भयादिभिः' इति पञ्चमी । 'पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरः । लीनानि स्थगितानीव[4] । विभान्ति विराजन्ते । उत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥ स इत्यादि । यत्र पुरे । यः प्रदेशः । जनाकुलः लोकसंकीर्णः । न-न भवति । स प्रदेशः । न अस्ति न विद्यते । यः जनोऽपि लोकोऽपि । धनेश्वरः द्रव्यपतिः । न-न भवति । असौ जनोऽपि । नास्ति न विद्यते । यत् धनम् । भोगसमन्वितं भोगसंयुतम्[5] । न—न संभवति । तत् धनम् । न—न संभवति[6] । यः भोगोऽपि । सन्ततः शाश्वतः । न—न भवति । सः भोगः । न—न विद्यते । एकावल्यलंकारः ॥ ३५ ॥ विलुप्तशोभानीत्यादि । यत्र पुरे । योषितां वनितानाम् । विलोचनोत्पलैः विलोचनानि एव उत्पलानि तैः । विलुप्तशोभानि विलुप्ता अपहृता शोभा येषां तानि तथोक्तानि । सितेतराणि सितस्य[7] इतराणि सितेतराणि । अम्बुरुहाणि अम्बुनि रुहन्तीत्यम्बुरुहाणि, नीलोत्पलानि इत्यर्थः । मरुच्चलद्वीचिनि मरुता चलन्त्यो वीचयो यस्मिन् तस्मिन् । शीतले दीर्घिकाजले दीर्घिकायाः सरोवरस्य जले । तापादिव संतापादिव । लुठन्ति[8] । लुठि प्रतिघाते लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥ महागुणैरित्यादि । यत् पुरम् । महागुणैरपि महान्तो गुणा येषां तैः सम्यक्त्वादिगुणयुक्तैरपि । अगुणैः गुणहीनैः, पक्षे न गुणा अगुणाः तैर्मुख्यैः [मुख्यैः] । 'रूपादौ तन्तुषु ज्यायामप्रधाने नये गुणः' इत्यभिधानात् । मदोज्झितैरपि गर्वरहितैरपि । प्रवृत्तप्रमदैः प्रकृष्टो मदः प्रमदो महाहंकारः, पक्षे प्रमदः संतोषः, प्रवृत्तो निष्पन्नः प्रमदो येषां तैः । निर्भयैरपि सप्तभयरहितैरपि ।

वहाँके भवनोंकी भित्तियाँ बहुत प्रकारके उज्ज्वल—चमकीले—पाषाणोंसे निर्मित थीं । इसलिये वे दिनमें खूब चमकते हैं। उनका तेज इतना अधिक है कि उसमें वे स्वयं दृष्टिगोचर नहीं होते। अत एव ऐसा जान पड़ता है मानो वे सूर्यकी तेज धूपके भयसे अपने धाम—तेज—में छिप रहे हैं ॥३४॥ वहाँ ऐसा कोई प्रदेश (मुहल्ला) नहीं जो मनुष्योंसे व्याप्त न हो; ऐसा कोई मनुष्य भी नहीं, जो धनकुबेर न हो; ऐसा धन भी नहीं, जो भोगमें न आता हो; और ऐसा कोई भोग भी नहीं, जो निरन्तर उपलब्ध न हो ॥३५॥ वहाँकी स्त्रियोंके नेत्र-कमलोंने नील कमलोंकी शोभाको लुप्त कर दिया है—जीत लिया है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस पराजयजनित सन्तापके कारण ही मानो वे दीर्घिकाओं (जलाशयों) के भीतर वायुके वेगसे लहराते हुए शीतल जलमें इधर-उधर लोट रहे हैं ॥ ३६ ॥ उस नगरकी शोभा जिन महान् पुरुषोंसे है, वे सम्यग्दर्शन

१. श स प्रकाशशीलतां । २. श स 'सन्तापाज्जातया' नास्ति । ३. आ 'भिया' नास्ति । ४. [तिरोहितानीव] । ५. आ भोगैः संयुतं । ६ श न विद्यते । ७. [सितेभ्यः] । ८. =लुठन्ति प्रकम्पन्ते ।

स यत्र दोषः परमेव वेदिकाशिरःशिखाशायिनि मानभञ्जने ।
पतत्कुले कूजति यन्न जानते रसं स्वकान्तानुनयस्य कामिनः ॥३८॥
अथाभवद् भूरिगुणैरलंकृतो नरेश्वरस्तस्य पुरस्य शासिता ।
न केनचिद्यस्तुलितद्युतिस्तथाप्युवाह रूढ्या कनकप्रभाभिधाम् ॥३९॥
यशोभिरेणाङ्ककलासमुज्ज्वलैः पुरः प्रयातैरिव पूरितान्तरे ।
विधूपितारातिकुलानि भूतले न यस्य तेजांसि ममुर्महौजसः ॥४०॥

परलोकभीरुभिः परलोकेभ्यः शत्रुलोकेभ्यः, पक्षे परलोकेभ्यो जन्मान्तरेभ्यो भीरुभिर्भयचाकितैः महाजनैः सत्पुरुषैः । प्रकामं यथेष्टम् । अधिष्ठितम् आश्रितम् । प्रविभाति प्रविराजते । भा दीप्तौ लट् । विरोधः । ॥ ३७ ॥ स इत्यादि । यत्र पुरे । वेदिकाशिरःशिखाशायिनि वेदिकायाः शिरसः पुरोभागस्य शिखायामग्रभागे शायिनि स्वापिनि । मानभञ्जने मानं गर्वं भनक्तीति मानभञ्जनं तस्मिन् गर्वविमर्दने । पतत्कुले पततां पक्षिणां कुले समूहे । कूजति ध्वनति सति । कामिनः कामुकाः । स्वकान्तानुनयस्य स्वेषां कान्तानां प्राणनायिकानाम्[1] । अनुनयस्य प्रार्थनायाः । रसं स्वादम् । यत् यस्माद्धेतोः । न जानते न बुध्यन्ते । ज्ञा अवबोधने लट् । यत्तदोर्नित्यसंबन्धादिति ततो हेतोः । सः अरसज्ञतालक्षणो गुणः । परमेव केवलमेव । दोषः स्यान्नापरो भवेत् । तद्ध्वनिः ततोऽप्यधिकः (?) इति भावः ॥ ३८ ॥

अथेत्यादि । अथ पुरवर्णनानन्तरम्[2] । यः राजा । केनचित् चेतनाचेतनद्रव्येण । तुलितद्युतिः तुलिता उपमिता द्युतिः कान्तिर्यस्य सः । न—न भवति । तथापि कनकप्रभाभिधां कनकप्रभ इत्यभिधाम् अभिधानम् । रूढ्या प्रतीत्या । उवाह दधौ । वह प्रापणे लिटि[3] । भूरिगुणैः भूरिभिर्बहुलैर्गुणैर्नय-प्रतापादिभिः । अलंकृतः भूषितः । स नरेश्वरः नराणामीश्वरो नरपतिः । तस्य पुरस्य रत्नसंचयपुरस्य । शासिता रक्षकः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् ॥ ३९ ॥ यशोभिरित्यादि । एणाङ्ककलासमुज्ज्वलैः एणाङ्कस्य चन्द्रस्य कला[4] इव समुज्ज्वलैः प्रकाशमानैः । पुरःप्रयातैरिव अग्रे धावद्भिरिव । यशोभिः कीर्तिभिः । पूरितान्तरे पूरितं परिपूर्णम् अन्तरं मध्यं यस्य तस्मिन् । भूतले भूमिप्रदेशे । महौजसः महापराक्रमस्य । यस्य राज्ञः । विधूपितारातिकुलानि विधूपितानि[5] संतापितानि अरातीनां शत्रूणां कुलानि यैः तानि । तेजांसि पराक्रमाः । न ममुः

आदि उत्तम गुणोंसे विभूषित हैं; मुख्य हैं; अरहंत या विष्णुके समान गुणी हैं; मद रहित हैं; सदा हर्ष मनाते हैं; निर्भय हैं और कभी किसीसे शत्रुता नहीं रखना चाहते ॥ ३७ ॥ वहाँ यदि कोई दोष है तो केवल यही कि वेदिकाके ऊपरी भागमें सोनेवाले पक्षी, जो अव्यक्त मधुर ध्वनि—कलकल शब्द—करते हैं उसे सुनते ही मानवती नायिकोंका मान गलित हो जाता है । फलतः उनके साथ अनुनय करनेसे जो रस मिल सकता है, उससे उनके कामक्रीडाके इच्छुक पतिदेव सर्वथा वंचित रह जाते हैं—उसके अनुभवका उन्हें अवसर प्राप्त हो नहीं होता ॥ ३८ ॥

अब आगे उस पुरके राजाका वर्णन प्रारम्भ होता है । उस नगरका शासक—राजा अनेक गुणोंसे विभूषित था । उसके शरीरको आसाधारण कान्तिके लिए यद्यपि किसी सुवर्णादिकी उपमा नहीं दी जा सकती थी, फिर भी वह रूढिवश कनकप्रभ—सुवर्ण-जैसी कान्तिवाला इस नामको धारण करता था—उसका नाम कनकप्रभ था ॥ ३९ ॥ वह बड़ा बलवान था । उसका यश चन्द्रमाकी कलाओंके समान निर्मल था—जो पहलेसे हो पृथ्वीको व्याप्त कर चुका था—उसका पराक्रम प्रसिद्ध हो चुका था । मानो इसीलिए शत्रुओंको सन्ताप देनेवाला उसका

१. [प्रणयिनीनाम्] । २. आ तद्दर्शनानन्तरे । ३. आ वहि प्रापणे लिटि । ४. [कलाभिः] । ५. आ प्रधूपितानि श स प्रधूपितानि ।

प्रयासमुच्चैःकटकेषु भूभृतां गणेषु संचारवशादवाप या ।
बभूव भीतेव ततः पुनश्चिरं स्थिरा जयश्रीरधिगम्य यद्भुजम् ॥४१॥
अचिन्त्यमाहात्म्यगुणो जनाश्रयः स्वविक्रमाक्रान्तसमस्तविष्टपः ।
श्रिया सनाथः पुरुषोत्तमोऽप्यभून्न यो वृषोच्छेदविधायिचेष्टितः ॥४२॥
गरीयसा यस्य परार्थसंपदो[1] निसर्गजत्यागगुणेन निर्जितैः ।
शुचेव कल्पोपपदैर्महीरुहैर्दधे नितान्तं विमनस्कवृत्तिता ॥४३॥

न प्रमान्ति स्म । मा माने लिट् ॥ ४० ॥ प्रयासमित्यादि । या जयलक्ष्मीः उच्चैःकटकेषु उच्चैर्महत् कटकं सेना, पक्षे सानु येषां तेषु । 'कटकं वलये सानौ राजधानीनितम्बयोः' इति विश्वः । भूभृतां भूपतीनाम्, पक्षे पर्वतानाम् । 'भूभृद् भूमिधरे नृपे' इत्यमरः । गणेषु समवायेषु । श्लेषः[2] । संचारवशात् पर्यटनवशात् । प्रयासं परिश्रमम् । अवाप प्राप । पुनः भूयः । ततः संचारवशतः । भीतेव त्रस्तेव । जयश्रीः जयलक्ष्मीः । यद्भुजम्, यस्य कनकप्रभस्य भुजं बाहुम् । अधिगम्य प्राप्य । चिरं दीर्घकालम् । स्थिरा निश्चला । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् ॥ ४१ ॥ अचिन्त्येत्यादि । यः भूपः । अचिन्त्यमाहात्म्यगुणः अचिन्त्यम् अगण्यं[3] माहात्म्यं महिमा, पक्षे[4] व्यपगता(?)तदेव गुणः सहभावपरिणामो यस्य सः । जनाश्रयः जनानाम् आश्रयः शरण्यभूतः, पक्षे जनार्दनत्वात् जगत्सुखहेतुरित्यर्थः । स्वविक्रमाक्रान्तसमस्तविष्टपः स्वस्य विक्रमेण पराक्रमेण, पक्षे विशिष्टः क्रमो विक्रमो विक्रियर्द्धिप्राप्तश्चरणः, तेन आक्रान्तं व्याप्तं समस्तं विष्टपं लोको यस्य[5] सः । श्रिया संपदा, पक्षे लक्ष्म्या । सनाथः युक्तः । पुरुषोत्तमोऽपि पुरुषेषु उत्तमोऽपि श्रेष्ठोऽपि, विष्णुरपि[6] । वृषोच्छेदविधायिचेष्टितः वृषस्य धर्मस्य, पक्षे वृष इति अरिष्टासुरस्य [स्यो] च्छेदविधायि नाशकारि चेष्टितं व्यापारो यस्य सः । 'श्रेष्ठवासकसौरभेयधर्मराशिभेदपुरुषेषु वृषः' इति नानार्थकोशे । नाभूत् नाभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥४२॥ गरीयसेत्यादि । परार्थसंपदः परार्थं परनिमित्तं संपद् यस्य तस्य । यस्य कनकप्रभस्य । गरीयसा प्रकृष्टो[7] गुरुर्गरीयान् तेन । 'गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू' इति ईयसु । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना गुरुशब्दस्य गरा-

प्रताप पृथ्वीतल पर समा नहीं रहा था—ऊपर और नीचे भी चला गया ॥ ४० ॥ बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखनेवाले अनेक राजा महाराजाओंके पास बारी-बारीसे जानेके कारण विजयलक्ष्मी बहुत थक चुकी थी । मानो इसीलिए वह कनकप्रभकी भुजाका आश्रय पाकर वहीं स्थिर होकर बस गई । भूभृत् शब्दका अर्थ राजा और पर्वत तथा कटक शब्दका अर्थ शिबिर (छावनी) और नितम्ब भाग भी होता है । इससे यहाँ यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि वह विजय लक्ष्मी मानो पर्वतोंके नितम्ब भागोंमें भटकते रहनेसे चूँकि अत्यन्त थक चुकी थी, इसीलिये वह उस राजाकी प्रबल भुजाको पाकर वहीं स्थिर हो गई थी ॥ ४१ ॥ विष्णुकी महिमा अचिन्त्य थी । वे मानवमात्रके आश्रयदाता थे । उन्होंने वामनावतारमें तीन कदममें सारी भूमि माप ली थी । वे श्री—लक्ष्मीके पति थे और वे पुरुषोत्तम कहलाते थे । इसी तरह महाराज कनकप्रभकी भी महिमा अचिन्त्य थी । वह शरणागतका रक्षक था । उसका पराक्रम सारे संसार में फैला हुआ था । वह श्री—सम्पत्तिका स्वामी था और पुरुषोंमें उत्तम (विष्णु) था । यों वह और विष्णु दोनों समान थे । किन्तु विष्णुने वृष—वृषासुर (धर्म या बैल) का उच्छेद—विनाश या वध कर डाला था, जब कि कनकप्रभने वृष—असुर (धर्म या बैल) के उच्छेद—विनाश या वधके लिए कभी कोई चेष्टा नहीं की ॥ ४२ ॥ वह बड़ा उदार था । उसकी सारी सम्पत्ति

१. अ परार्थसंपदा । २. आ श्लिष्टः । ३. [मनोज्ञोचरम्] । ४. [महत्त्वगुणः – सर्वव्यापकता] । ५. [येन] । ६. आ 'विष्णुरपि' नास्ति । ७. [अतिशयेन] ।

कलासमग्रोऽपि जनाभिनन्द्यपि श्रियं दधानोऽप्यभिभूतविष्टपाम् ।
प्रदोषसंसर्गितया यमुज्ज्वलं शशाक जेतुं न[1] कुरङ्गलाञ्छनः ॥४४॥
कुलं चरित्रेण विशुद्धवृत्तिना यशोभिराशाः शरदभ्रविभ्रमैः ।
वपुर्गुणौघैः श्रवणेन शेमुषीं विशेषयामास जगद्विशेषकः ॥४५॥

देशः । निसर्गजत्यागगुणेन निसर्गजेन स्वभावजनितेन त्यागगुणेन वितरणगुणेन । निर्जितैः पराजितैः । कल्पोपपदैः कल्प एवोपपदं येषां तैः । महीरुहैः वृक्षैः, कल्पवृक्षैरित्यर्थः । शुचेव शोकेनेव । नितान्तम् अत्यन्तम् । विमनस्कवृत्तिता विनष्टं मनो यस्या सा विमनस्का सा वृत्तिर्येषां ते विमनस्कवृत्तयः तेषां भावः तथोक्ता मनोविहीनवर्त्तनत्वम्[2] । दधे दध्रे । डुधाञ् धारणे च कर्मणि लिट् ॥४३॥ कलासमग्रोऽपीत्यादि । कुरङ्गलाञ्छनः मृगाङ्कः चन्द्रः । कलासमग्रोऽपि कलाभिः षोडशभागैः समग्रोऽपि संपूर्णोऽपि, पक्षे कलाभिः शिल्पादिकौशलैः संपूर्णोऽपि । 'कला स्यान्मूलरैवृद्धौ[3] शिल्पादावंशमात्रके । षोडशांशे च चन्द्रस्य कलना[4] कालयोः कलाः ॥' इति विश्वः । जनाभिनन्द्यपि लोकपोषणशीलोऽपि, पक्षे जगदाह्लाद्यपि । अभिभूतविष्टपाम् अभिभूतं तिरस्कृतं विष्टपं यथा ताम् । श्रियं शोभाम्, पक्षे संपत्तिम् । दधानोऽपि धत्त इति दधानः । 'लक्षड्—' इत्यादिना आनश्-प्रत्ययः । प्रदोषसंसर्गितया प्रदोषस्य रजनीमुखस्य, पक्षे प्रकृष्टो दोषः[5] प्रदोष इति ध्वनिः तस्य संसर्गितया संबन्धित्वेन । उज्ज्वलम् उत्तेजसम् । यं कनकप्रभम् । जेतुं जयनाय । न शशाक समर्थो न बभूव । शक्लृ शक्तौ लिट् ॥४४॥ कुलमित्यादि । जगद्विशेषकः जगतां विशेषको जगत्तिलक इत्यर्थः । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्' इत्यमरः । यः कनकप्रभः । विशुद्धवृत्तिना विशुद्धया निर्मलरूपया वृत्त्या युक्तेन । चरित्रेण चारित्रेण । कुलं गोत्रम् । विशेषयामास अलंचकार । शिष्लृ विशेषणे णिजन्ताल्लिट् तद्योगे 'दयायास्क–' इत्यादिना अस भुवीति धातोर्योगः । शरदभ्रविभ्रमैः शरदः शरत्कालस्याभ्रस्येव विभ्रमो येषां तैः, शुभ्रैः यशोभिः कीर्तिभिः । आशाः दिशाः । विशेषयामास । गुणैः शक्तित्रयादिभिः । वपुः शरीरम् । विशेषयामास । श्रवणेन शास्त्रेण । 'श्रवणं श्रुतिकर्णयोः' इति

दूसरोंके लिए थी । उसने अपने सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक दानगुणसे कल्पवृक्षोंको जीत लिया था । इसी शोकसे मानो उन सबने अतिशय अचेतनाको—पृथिवीकायिकरूपताको—ग्रहण किया था ॥ ४३ ॥ वह समस्त (७२) कलाओंमें प्रवीण था, प्रजाको आनन्द देता था और उसके पास अपार सम्पत्ति थी यों चन्द्रमा भी समस्त (१६) कलाओंका स्वामी है, लोगोंको आह्लाद प्रदान करता है और उत्कृष्ट शोभा व लक्ष्मीको धारण करता है । फिर भी वह चूँकि प्रदोष संसर्गितासे—रात्रिके समागम रूप दोषसे—दूषित है अतः वह कुरंगलांछन—मृगले चिह्नसे उपलक्षित (कलंको) चन्द्रमा—उस उक्त प्रदोषसंसर्गिता दोषसे—अनेक निष्कृष्ट दोषोंके सम्बन्धरूप कलंकसे रहित उस कनकप्रभको जीतनेके लिए समर्थ नहीं हो सका ॥ ४४ ॥ वह समस्त जगत्का तिलक था । उसने पवित्र चरित्रसे अपने कुलको, धवल यशसे दिशाओंको,

---

१. अ क ख ग घ शशांककेतुर्न आ इ शशांक जेतुं न । २. विगतं मनो यस्यासौ विमनस्कोऽचेतनस्तस्य वृत्तिर्व्यापारस्तस्या भावस्ताम्, अचेतनत्वमित्यर्थः] । ३. आ मूलगैवृद्धा श स मूलगै वृद्धौ । ४. आ श स कलानां । ५. आ प्रकृष्टदोषः ।

न भूरिदानोऽपि मदेन संगतिं जगाम यः साधितशत्रुषड्गुणः[1] ।
[2]अहीनसंसर्गसमन्वितोऽपि वा द्विजिह्वसंसर्गतया न दूषितः ॥४६॥
निजैः समस्तानभिभूय धामभिः समुद्धतान् मण्डलिनोऽतिदुःसहैः[3] ।
चकार यो गामपि सर्वविष्टपप्रतीतकीर्तिः करिणीं वसुंधराम् ॥४७॥
नितान्तवृद्धेन कठोरवृत्तिना सनीतिना कञ्चुकिनेव तेजसा ।
निरन्तरं यस्य विभोर्वधूरिव व्यधीयत श्रीश्चपलापि निश्चला ॥४८॥

विश्व: । शेमुषीम् बुद्धिं च । विशेषयामास ॥४५॥ नेत्यादि । साधितशत्रुषड्गुणः[4] साधिताः शत्रवः षड्गुणाश्च येन सः 'संधिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः' इत्यमरः । यः कनकप्रभः । भूरिदानोऽपि भूरि बहुलं दानं वितरणं यस्य, बहुवितरणोऽपि, पक्षे बहुगर्वयुक्तोऽपि । 'त्यागग[5]जमदशुद्धिपालनच्छेदनेषु दानम्' इति नानार्थकोषे । मदेन अहंकारेण । संगतिं संसर्गम् । न जगाम न ययौ । गम्लृ गतौ लिट् । अहीनसंसर्गसमन्वितोऽपि न हीना अहीनाः, तेषां महतां संसर्गेण संपर्केण समन्वितोऽपि युक्तोऽपि, पक्षे अहीनाम् इनोऽहीनः तस्य सर्पराजस्य-संसर्गसहितोऽपि । द्विजिह्वसंसर्गतया द्विजिह्वस्य दुर्जनस्य, पक्षे, सर्पस्य संसर्गतया[6] संपर्कयुक्तया [युक्ततया] दूषितः निन्दितः । न–न बभूव ॥४६॥ निजैरित्यादि । सर्वविष्टपप्रतीतकीर्तिः सर्वेषु विष्टपेषु प्रतीता प्रथिता कीर्तिर्यस्य सः । यः कनकप्रभः । अन्यदुःसहैः अन्यैः इतरैः सोढुमशक्यैः । निजैः स्वकीयैः । धामभिः तेजोभिः । 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमरः । समुद्धतान् गर्वितान् । समस्तान् सकलान् । मण्डलिनः मण्डलम् अस्त्येषाम् इति मण्डलिनः भूपालान् । 'स्यान्मण्डलं द्वादशराजके च देशे च बिम्बे च कदम्बके च । कुष्ठप्रभेदेऽप्युपसूर्यकेऽपि भुजङ्गभेदे शुनि मण्डलः स्यात् ॥' इति विश्वः । अभिभूय तिरस्कृत्य । वसुंधरां वसु द्रव्यं धरतीति वसुंधरा तां द्रव्यधारिणीं [7]भूमिम् । गाम् अपि गोसंज्ञाम् अपि । करिणीं हस्तिनीं करवतीं च । चकार विदधौ । डुकृञ् करणे लिट् ॥४७॥ नितान्तेत्यादि । विभोः प्रभोः । यस्य कनकप्रभस्य । नितान्तवृद्धेन नितान्तम् अत्यन्तं वृद्धेन वर्षीयसा प्रवृद्धेन च । कठोरवृत्तिना निष्ठुरवर्तनायुक्तेन । सनीतिना नीतियुक्तेन । कञ्चुकिनेव अन्तःपुराधिकारिणेव । तेजसा पराक्रमेण । श्रीः लक्ष्मीः । चपला चञ्चलापि । वधूरिव सीमन्तिनीव । निरन्तरं सदैव । निश्चला स्थिरीभूता । व्यधीयत अक्रियत । डुधाञ् धारणे च कर्मणि लङ्

गुणोंसे शरीरको और शास्त्र-श्रवणसे बुद्धिको विभूषित किया था ॥ ४५ ॥ वह बड़ा दानी (हाथी) था किन्तु उसे तनिक भी मद-घमण्ड (मदजल) नहीं था, हो भी कैसे सकता था; क्योंकि उसने काम, क्रोध, हर्ष, मान, लोभ और मद इन छः अन्तरङ्ग शत्रुओंपर पूर्ण विजय पा ली थी। वह उत्तम पुरुषों (शेषनाग) से सम्बन्ध रखता था, किन्तु उसे चुगलखोरों व दुर्जनों (सर्पों) का संसर्ग दूषित नहीं कर सका था—वह कानका कच्चा नहीं था ॥ ४६ ॥ उसकी कीर्ति सारे संसारमें फैली हुई थी। उसने अपने असह्य तेज व प्रभावसे उद्दण्ड मण्डलेश्वरोंको जीतकर अपने अधीन कर लिया था । इस प्रकारसे उसने गोको—गायको—भी करिणी—हथिनी—बना दिया था, (विरोधाभास है; उसका परिहार है–) गोको—पृथिवीको—करिणी—करवाली (राजशासन ग्राह्य भागसे संयुक्त)—बना दिया ॥ ४७ ॥ उसका प्रताप उन्नतिकी चरम सीमापर था, कठोर व्यवहार करनेवाला था तथा कानून उसका साथ दे रहा था। उस (प्रताप) ने उस (कनकप्रभ) की चञ्चल लक्ष्मीको हमेशाके लिए स्थिर कर दिया था।

---

१. टीकानुसृतोऽयं पाठः, प्रतिषु षड्गणः । २. आ इ अदीन । ३. अ आ (टीकाकृतस्तु समक्षं °नोऽन्यदुःसहैः' पाठ आसीदिति प्रतीयते) इ °नोरिदुःसहैः । ४. = साधितो वशं नीतः शत्रूणां षड्गणो येन सः । तदुक्तम् – कामः क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा मदः । अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः क्षितीशानां भवत्ययम् । ५. श स त्यागमद गजमद । ६ आ श स संसर्गितया । ७. आ श स तां भूमिं द्रव्यधारिणीं ।

धराश्रयः संततभूतिसंगमः शशाङ्ककान्तो धृतनागनायकः ।
अधोभवद्गोपतिरीश्वरोऽपि सन् बभूव यो नासमदृष्टि[1]दूषितः ॥४९॥
यदीयगाम्भीर्यगुणेन निर्मलप्रसिद्धिना लुप्तयशोमहाधनः ।
करोति पूत्कारमिवाधुनाप्यसावुदस्तकल्लोलभुजः पयोनिधिः ॥५०॥
नरेन्द्रविद्याधिगमाद्विशुद्धया विमृश्य कार्याणि विधित्सतो धिया ।
न यस्य निःशेषितशत्रुसंततेरजायताष्टापदवृत्तिचेष्टितम् ॥५१॥

॥४८॥ **धराश्रय इत्यादि** । यः कनकप्रभः । धराश्रयः धरायाः भूमेः आश्रयः, पक्षे पर्वत आश्रयः स्थानं यस्य सः । संततभूतिसंगमः संततम् अनवरतं भूत्या संपदा, पक्षे भस्मना संगमो यस्य सः । 'भूतिर्भस्मनि संपदि' इत्यमरः। शशाङ्ककान्तः शशाङ्क इव कान्तो मनोहरः, पक्षे शशाङ्केन चन्द्रेण कान्तो मनोहरः, चन्द्रशेखरत्वात् । धृतनागनायकः धृतो नागानां गजानां नायको येन सः, पक्षे धृतो नागानां सर्पाणां नायको येन सः, सर्पाभरण इत्यर्थः । अधोभवद्गोपतिः अधोभवन्तो गवां भूमीनां पतयो यस्य सः पक्षे अधोभवन् गोपतिर्वृषभो यस्य सः । ईश्वरः सन् अपि शंकरः सन्नपि भवन्नपि । असमदृष्टिदूषितः असमाभिः विषमाभिर्दृष्टिभिर्नेत्रैर्दूषितो निन्दितः पक्षपातेन निन्दितः, पक्षे विषमदृष्टिभिस्त्रिनयनैः निन्दितो न बभूव न भवति स्म । भू सत्तायां लिट् ॥४९॥ **यदीयेत्यादि** । निर्मलप्रसिद्धिना निर्मलेन विमलेन प्रसिद्धिना प्रतीतिना[2] । यदीयगाम्भीर्यगुणेन यदीयेन यत्संबन्धिना गाम्भीर्यगुणेन । लुप्तयशोमहाधनः लुप्तम् अपहृतं यश एव महाधनं यस्य सः । असौ पयोनिधिः समुद्रः । अधुनापि इदानीमपि । उदस्तकल्लोलभुजः उदस्ता उद्धृताः[3] कल्लोलाः तरङ्गाः त एव भुजा बाहवो यस्य सः, एवंभूतः सन् । पूत्कारमिव फूत्कारध्वनिमिव[4] । करोति विदधाति । डुकृञ् करणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥ ५० ॥ **नरेन्द्रेत्यादि** । नरेन्द्रविद्याधिगमात् नरेन्द्रस्य राज्ञः विद्यानाम् आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तादण्डनीतीनाम् अधिगमात् परिज्ञानात् । विशुद्धया निर्मलया । धिया बुद्धया । कार्याणि कृत्यानि । विमृश्य विचार्य । विधित्सतः विधातुमिच्छतः ।

जैसे एक वृद्ध, कठोर और नीतिकुशल कञ्चुकी अन्तःपुरमें आनेवाली नववधूको, उसकी चञ्चलताको दूर कर गम्भीर बना देता है ॥ ४८ ॥ वह सारी पृथ्वीका रक्षक था । उसके यहाँ सदा सम्पत्ति आती रहती थी । वह चन्द्रमाके समान सुन्दर था । उसके पास बड़े-बड़े गजराज थे । उसने समस्त राजों-महराजोंको अपने अधीन कर लिया था तथा वह सब कुछ करनेके लिए समर्थ था । अतः वह साक्षात् ईश्वर-शङ्कर था; क्योंकि यही विशेषता शङ्करमें भी है—वे कैलास पर्वतका आश्रय लेते हैं—वहींपर निवास करते हैं, भस्म रमाते हैं, मस्तकपर चन्द्रकला धारण करनेसे बड़े ही सुन्दर लगते हैं—उनके मस्तकपर चन्द्रकला फबती है, सर्पोंके विभूषणसे विभूषित हैं और बैल-नन्दीपर सवारी करते हैं । इस तरह दोनोंमें इतनी समानता होनेपर भी एक अन्तर था—शङ्कर असम दृष्टि—तीन नेत्रों (पक्षपात) से दूषित और विरूप थे, किन्तु वह राजा समदृष्टि-दो नेत्रों (निष्पक्षता) से भूषित तथा सुरूप था । अतः वह शङ्करसे कहीं अच्छा था ॥ ४९ ॥ गम्भीरता भी एक गुण है । यह गम्भीरता गुण(गहराई) समुद्रमें सदा ही रहा है और इसीसे उसने बड़ा यश कमाया जो उसका धन है । किन्तु ज्यों-ज्यों राजा कनकप्रभकी गम्भीरताका निर्मल यश पृथिवीके कोने-कोनेमें फैला त्यों-त्यों समुद्रका यश कम होता गया—यहाँ तक कि वह उस राजाके सामने सर्वथा ही लुप्त हो गया । फलतः वह यह सोचकर कि उसके यशोधनका अपहरण कनकप्रभके गम्भीरता गुणने किया

१. अ बभूव भूपो न स दृष्टि° । २. [निर्मला विमला प्रसिद्धिः ख्यातिर्यस्य स तेन] । ३ श श 'उद्धृताः' नास्ति । ४. टीकाकारस्य पुरतः 'फूत्कार' पाठ आसीत् ।

[1]रतिप्रदानप्रवणेन कुर्वता विचित्रवर्णक्रमवृत्ति[2]मुज्ज्वलाम् ।
गुणानुरागोपनता कृतायतिः प्रसाधिता येन वधूरिव प्रजा ॥५२॥
अतीतसंख्यः[3]परिरब्धकीर्तिभिः शरन्निशानाथमरीचिनिर्मलैः ।
रुरुत्सुभिर्दोषचमूमिवाखिलैरकारि यस्मिन् समुदायिता गुणैः ॥५३॥

निःशेपितशत्रुसंततेः निःशेषिता निराकृता शत्रूणाम् अरीणां संततिर्येन तस्य । यस्य कनकप्रभस्य । पौरुषं सामर्थ्यम् । अष्टापदवृत्ति अष्टापदस्येव वृत्तिर्यस्य तदविचारितवर्तनम् । नाजायत नाभवत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् ॥ ५१ ॥ रतिप्रदानेत्यादि । रतिप्रदानप्रवणेन रत्याः सुरतस्य संतोषस्य च प्रदाने करणे प्रवणेन समर्थेन । उज्ज्वलाम् प्रज्वलाम्[4] । विचित्रवर्णक्रमवृत्तिम्, विचित्रां विविधां वर्णानां जातीनां, पक्षेऽद्भुतमकरिका-पत्रमाल्यानुलेपनादीनां वा क्रमस्य परिपाट्या वृत्ति वर्तनं जीवनं वा । 'स्तुतिरूपयशोक्षरविलेपनद्विजाति-शुक्लादिषु वर्णः' इति नानार्थकोशे । कुर्वता विदधता । येन कनकप्रभेण । गुणानुरागोपनता गुणानाम् अनुरागेण प्रीत्योपनता वशंगता । कृतायतिः कृता आयतिः प्रभुत्वं, पक्षे उन्नतिर्यस्याः सा । 'आयति-र्दीर्घतायां स्यात् प्रभुताऽऽगामिकालयोः' इत्यभिधानात् । प्रजा जनः । वधूरिव नारीव प्रसाधिता संतोषिता पक्षेऽलंकृता ॥ ५२ ॥ अतीतेत्यादि । अतीतसंख्यैः अतीता अतिक्रान्ता[5] संख्या येषां तैः । परिरब्धकीर्तिभिः[6] परिरब्धा[7] कीर्तिर्येषां [यैः] ते[8] । शरन्निशानाथमरीचिनिर्मलैः शरदः शरत्कालस्य निशानाथस्य चन्द्रस्य मरीचयः कान्तय इव निर्मलैर्विमलैः । अखिलैः सकलैः । गुणैः । दोषचमूं दोषसेनाम् । रुरुत्सुभिः रोद्धुमिच्छुभिः । यस्मिन् कनकप्रभे । समुदायिता समुदाययुक्तता । अकारि व्यधायि । डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् ॥ ५३ ॥ पराक्रमेत्यादि

है, बड़ा दुःखी रहने लगा । आज भी जब उसमें उत्ताल तरंगें उठती हैं और भयानक शब्द होता है तब लगता है मानो वह आज भी अपने कल्लोल-बाहुओंको ऊपर उठाकर करुण क्रन्दन कर रहा है ॥ ५० ॥

उसने राजनीतिके ज्ञानसे तथा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति इन चार विद्याओं-के अभ्याससे अपनी बुद्धिको निर्मल बना लिया था । वह जो भी काम करना चाहता था, उसके बारेमें पहले खूब सोच लेता था । फलतः उसके शत्रुओंकी परम्परा सर्वथा निर्मूल हो चुकी थी । इसीलिये उसे कभी अष्टापद (एक हिंसक पशु—देखिये द्विसंधान २,२०) के समान प्रवृत्ति—युद्ध-जन्य घोर हिंसा—नहीं करनी पड़ी ॥ ५१ ॥ वह सभीके साथ ऐसा व्यवहार करनेमें कुशल था, जिससे उनकी प्रेमकी भूख मिटती थी और सन्तोष होता था । उसने ब्राह्मण आदि चारों वर्णों-की निर्दोष व्यवस्था की थी । इसीलिए सारी उन्नतिशील प्रजा उसके गुणोंसे उसके पास खिची चली आती थी । इस तरह उसने अपनी प्रजाको वशमें कर लिया था । जैसे सम्भोगकी कला-में कुशल पति अपनी नववधूको उसके ललाट, कपोल और स्तन आदि अङ्गोंमें रंग-बिरंगे नाना प्रकारके चित्र बनाकर अपने सौन्दर्य आदि गुणोंसे आकृष्ट कर उसे अपने वशमें कर लेता है ॥ ५२ ॥ जैसे एक सेना अपनी विरोधिनी सेनाको जीतनेके लिए आपसमें संगठन करती है व योग्य स्थानमें स्थित होकर डटकर प्रतीकार करती है । इसी तरह शरत्कालीन चन्द्रमाके निर्मल और कीर्ति उत्पन्न करनेवाले अगणित गुण मानो दोषोंकी सेनाको रोकनेके लिए उस राजाके भीतर संगठित हुए थे ॥ ५३ ॥

१. अ रतिप्रदाने प्र° । २. अ क्रम-वृद्धिमु° । ३. आ परिलब्ध° । ४. श स 'प्रज्वला' नास्ति । ५. श स अतिक्रान्ताः । ६. श स परिलब्ध° । ७. श स परिलब्धा । ८. =परिलब्धा कीर्तिर्यैस्ते तैः ।

पराक्रमाक्रान्तमहीभुजो जगल्ललामलक्ष्मीनिलयीकृतोरसः।
नृपस्य तस्याथ निशान्तनायिका सुवर्णमालेति बभूव भामिनी[1] ॥५४॥
यदीयमेणाङ्कमरीचिहारिणा विसारिणा कान्तिमयेन वारिणा।
नितान्तनिर्धौतमिवाविनिन्दितं[2] न जातुचिच्छीलमभून्मलीमसम् ॥५५॥
वहन् स्मरापाण्डुकपोलमण्डले शशाङ्कशङ्कामिव वक्त्रपङ्कजे।
सहासफेनो विचकास यत्तनावनूनलावण्यमयः पयोनिधिः ॥५६॥
भुवः समुद्धर्तुरधिष्ठितात्मनो बलेन सत्यानुरतैकचेतसः।
बभूव लक्ष्मीः पुरुषोत्तमस्य सा मृगेक्षणा तस्य नृपस्य मन्दिरे ॥५७॥

अथ नरपतिवर्णनानन्तरम्। पराक्रमाक्रान्तमहीभुजः पराक्रमेण विक्रमेण आक्रान्ता निराकृता महीभुजो राजानो यस्य, तस्य। जगल्ललामलक्ष्मीनिलयीकृतोरसः जगतो लोकस्य ललाम्ना श्रेष्ठया लक्ष्म्या रमया निलयीकृतम् आवासीकृतम् उरो वक्षो यस्य तस्य। नृपस्य कनकप्रभस्य। सुवर्णमालेति सुवर्णमालेत्यभिख्या निशान्तनायिका अन्तःपुरप्रधाना। भामिनी कामिनी। बभूव भवति स्म। भू सत्तायां लिट् ॥ ५४ ॥ यदीयमित्यादि। यस्याः सुवर्णमालाया इदं यदीयम्। 'दोश्छः' इति छ-प्रत्ययः। अविनिन्दितम् अकुत्सितम्। शीलं स्वभावः। 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः। एणाङ्कमरीचिहारिणा एणाङ्कस्य चन्द्रस्य मरीचिहारिणा अपहारशीलेन[3]। विसारिणा प्रसारिणा। कान्तिमयेन कान्तिस्वरूपेण। वारिणा सलिलेन। नितान्तनिर्धौतमिव नितान्तम् अत्यन्तं निर्धौतमिव प्रक्षालितमिव। जातुचित् सकृदपि। मलीमसं मलयुक्तम्। नाभूत् नाभवत्। भू सत्तायां लुङ्[4]। ॥ ५५ ॥ वहन्नित्यादि। यत्तनौ यस्याः सुवर्णमालायाः तनौ शरीरे। सहासफेनः हास एव फेनः तेन सहितः। अनूनलावण्यमयः अनूनं संपूर्णं लावण्यमयं देहकान्तिमयं लवणमयं वा यस्य सः (?)। पयोनिधिः समुद्रः। स्मरापाण्डुकपोलमण्डले स्मरेण मन्मथेन आपाण्डु ईषच्छुभ्रं कपोलयोर्गण्डयो मण्डलं प्रदेशो यस्य तस्मिन्। वक्त्रपङ्कजे मुखकमले। शशाङ्कशङ्कां चन्द्र इति शङ्कां संशयम्। वहन्निव धरन्निव। विचकास ववृधे। कस गतौ लिट्। उत्प्रेक्षा ॥ ५६ ॥ भुव इत्यादि। भुवः भूमेः। समुद्धर्तुः रक्षकस्य। 'कृतकामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी। पक्षे समुद्धर्तुः धारकस्य। बलेन सामर्थ्येन, बलदेवेन। अधिष्ठितात्मनः अधिष्ठितो युक्त आत्मा बुद्धिः, पक्षे देहो यस्य। 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च।' इत्यमरः। सत्यानुरतैकचेतसः सत्येऽनुरतं तत्परम् एकं मुख्यं चेतः चित्तं यस्य तस्य, पक्षे सत्यायां सत्यभामायाम् अनुरतम्

अब यहाँसे रानीका वर्णन प्रारम्भ होता है। उसके पराक्रमसे सभी राजा-महराजा प्रभावित थे। जगत्के पदार्थोंमें सबसे श्रेष्ठ जो लक्ष्मी है उसने कनकप्रभके वक्षस्थलको अपना निवासगृह बना लिया था। उसके अन्तःपुरमें रानी सुवर्णमाला मुख्य थी। वही उसकी पटरानी थी ॥ ५४ ॥ सुवर्णमालाका शील कभी मलिन नहीं हुआ, उसकी सभी प्रशंसा करते थे। वह मानो चन्द्रकिरणोंके समान मनोहर व चारों ओर फैलनेवाले उसके कान्ति-जलसे खूब धो दिया गया था ॥ ५५ ॥ उसका कपोल मण्डल गोरा था। कामदेवने उसे और भी गोरा कर दिया। अतएव वह चन्द्र सदृश दिखता था। लावण्यके समुद्रने उसे साक्षात् चन्द्रमा समझ लिया। फलतः वह उसके शरीरमें वृद्धिको प्राप्त हुआ था। उसका मन्दहास उसमें फेनका स्थान ले रहा था ॥५६॥ कनक प्रभने कृष्णके समान पृथ्वीका उद्धार किया था। कृष्ण जहाँ बलरामसे युक्त थे वहाँ कनकप्रभ आत्मबलसे संयुक्त था। कृष्णका मन यदि सत्यभामा

१. अ भोगिनी। २. अ °मिवावनिन्दितं म °मिवारिनिन्दितं। ३. [एणाङ्कः चन्द्रः, तस्य मरीचयः किरणाः, तद्वत् हारिणा मनोहरेण]। 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा भवन्ति प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषाः' इति सूचितम्। ४. श स 'भू सत्तायां लुङ्' नास्ति।

परस्परस्नेहनिबद्धचेतसोस्तयोरभूद्धामनिधिस्तनंधयः ।
स येन दध्रे नरकद्विषा परं न संज्ञयार्थेन च पद्मनाभता ॥५८॥
[1]कलासनाथस्य हिमद्युतेरिव हिमेतरांशोरिव तीव्रतेजसः ।
न यस्य निःशेषजनानुकम्पिनो बभूव बाल्येऽपि विवेकरिक्तता ॥५९॥
समाचरन् यः शिशुभावदुर्लभाः क्रियाः कृतज्ञो नयमार्गशालिनीः ।
समस्तविद्याधिगम[2]प्रवृद्धधीर्बभूव वृद्धः पलिताङ्कुरैर्विना ॥६०॥

एकं चेतो यस्य तस्य । 'श्लुग्वा' इति समासविधाद् [वु] त्तरपदस्य लोपः । पुरुषोत्तमस्य पुरुषेषूत्तमस्य श्रेष्ठस्य, नारायणस्य । तस्य नृपस्य कनकप्रभस्य । मन्दिरे राजसदने । मृगेक्षणा मृगस्येव ईक्षणे लोचने यस्याः सा, मृगसदृशनयनेत्यर्थः । सा सुवर्णमाला । लक्ष्मीः श्रीः । बभूव भवति स्म । लिट् । श्लेषः ॥ ५७ ॥

परस्परेत्यादि । नरकद्विषा नरकगतेर्द्विषा वैरिणाऽऽसन्नभव्यत्वाद् इत्यर्थः, पक्षे नरकासुरवैरिणा । येन परं केवलम् । संज्ञया नाम्ना । पद्मनाभता नाभौ पद्मं[3] यस्यासौ पद्मनाभः तस्य भावः । **'नाभेर्नाम्नि'** इत्यप्–प्रत्ययः । न दध्रे न बभ्रे । धृञ् धारणे कर्मणि लिट् । किंतु अर्थेन च अभिधेयेन च । च–शब्दोऽपिशब्दार्थः । दध्रे बभ्रे । परस्परस्नेहनिद्धचेतसोः परस्परस्य अन्योन्यस्य[4] स्नेहेन प्रेम्णा निबद्धम् आसक्तं चेतः चित्तं ययोः, तयोः कनकप्रभस्वर्णमालयोः । धामनिधिः धाम्नः तेजसो निधिर्निधानम् । स[5] : स्तनंधयः पुत्रः । अभूत् अभवत् । लुङ् ॥ ५८ ॥ **कलासनाथस्येत्यादि** । हिमद्युतेरिव हिमरूपा द्युतिः किरणा[6] यस्य तस्येव[7] । **कलासनाथस्य** कलाभिः चतुःषष्टिकलाभिः षोडशभागैर्वा सनाथस्य युक्तस्य । हिमेतरांशोरिव हिमादितरे तीक्ष्णा अंशवो यस्य तस्येव, सूर्यस्येवेत्यर्थः । तीव्रतेजसः तीव्रं तीक्ष्णं तेजो धाम यस्य, तस्य । निःशेषजनानुकम्पिनः निःशेषेषु सर्वेषु जनेषु लोकेषु अनुकम्पिनः कृपावतः । यस्य पद्मनाभस्य[8] । बाल्येऽपि बाल्यावस्थायामपि । विवेकरिक्तता हेयोपादेयविज्ञानशून्यत्वम् । न बभूव न भवति स्म ॥ ५९ ॥ **समाचरन्नित्यादि** । शिशुभावदुर्लभाः शिशुभावे बाल्यावस्थायां दुर्लभा दुष्प्रापाः । नयमार्गशालिनीः नयस्य नीते-

---

में आसक्त था तो कनकप्रभका मन सत्य बोलनेमें आसक्त था । कृष्ण नामसे पुरुषोत्तम कहे जाते थे तो कनक प्रभ पुरुषोंमें उत्तम समझा जाता था । कृष्णके महलमें जहाँ साक्षात् लक्ष्मी निवास करती थी वहाँ स्वर्णमाला कनकप्रभके महलकी लक्ष्मी थी । इस तरह राजा कृष्णके समान और रानी लक्ष्मीके समान थी ॥ ५७ ॥

कनकप्रभ और स्वर्णमालाका हृदय एक दूसरेके स्नेह रूप बन्धनमें बँधा हुआ था । उन दोनोंके एक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह बड़ा तेजस्वी था । उसका नाम पद्मनाभ था । पद्मनाभ—कृष्ण—ने, यदि नरक—नरकासुर—का बध किया था तो राजकुमार पद्मनाभने सद्विचारोंके बलसे नरकके कारणोंका निरोध किया था । इस प्रकार नरकद्वेषी दोनों ही थे । अतएव उसका 'पद्मनाभ' नाम सर्वथा सार्थक था ॥ ५८ ॥ वह चन्द्रमाके समान कलाओंका स्वामी—शीतल और सूर्यके समान तेजस्वी होकर भी मनुष्यमात्रके प्रति दयालु था । बचपनमें जो स्वभावतः विवेक शून्यता होती है वह उसमें नहीं थी, यह उसकी एक विशेषता थी ॥ ५९ ॥ उसे दूसरोंके द्वारा कृत उपकारका सदा स्मरण रहता था । जो काम बचपनमें कठिन समझे

---

१. अ एतत् पद्यमत्र नोपलभ्यते । २. टीकानुगतोऽयं पाठः । मूल प्रतिषु तु 'प्रबुद्धधी°' पाठोऽस्ति । ३. [पद्म नाभौ] । ४. [परस्परम् अन्योन्यम्] । ५. श स 'सः' नास्ति । ६. श स किरणो । ७. [हिमा शीतला द्युतिः कान्तिर्यस्य सः, तस्येव] । ८. आ यस्य युक्तस्य पद्मनाभस्य ।

गलन्मदस्योन्नतवंशशालिनो गृहीतसम्यग्विनयस्य सोन्नतेः ।
गजाधिपस्येव गरीयसौजसा युतस्य यस्याभवदङ्कुशो गुरुः ॥६१॥
विभूषितं यौवनरूपसंपदा विकारवत्या दधतोऽपि विग्रहम् ।
प्रमाथिभिर्यस्य जितान्तरद्विषो मनो न जह्रे व्यसनैर्मनस्विनः ॥६२॥
स बह्वपत्योऽपि विशामधीश्वरः सुतेन तेनैव रराज जिष्णुना ।
विराजतेऽनेकशकुन्तसंकुलो न राजहंसेन विना जलाशयः ॥६३॥

मार्गेण शालिनोः शोभमानाः । क्रियाः जिनपूजादिव्यापारान् । समाचरन्[1] प्रवर्तयन् । कृतज्ञः कृतं जानातीति कृतज्ञः उपकारस्मरणवान् । समस्तविद्याधिगमात् समस्तविद्यायाः परिज्ञानात् । प्रवृद्धधीः [2]प्रवृद्धा धीर्यस्य तथोक्तः समृद्धबुद्धिरित्यर्थः । सः पद्मनाभः । पलिताङ्कुरैर्विना सितकेशैर्विना । वृद्धः स्थविरः । बभूव भवति स्म । लिट् ॥६०॥ **गलन्नित्यादि** । गलन्मदस्य गलन् स्रवन् मदो गर्वो मदजलं वा यस्य तस्य । उन्नतवंशशालिनः उन्नतेन महता वंशेन गोत्रेण, पक्षे महता भद्रजात्या अथवा पृष्ठास्थिना शालिनः शोभमानस्य । 'वंशो वेणौ कुले वर्गे पृष्ठस्यावयवेऽपि च ।' इति विश्वः । गृहीतसम्यग्विनयस्य गृहीतः सम्यक् समीचीनो विनयः सत्कारो येन तस्य । सोन्नतेः उन्नत्या गाम्भीर्येण दैर्घ्येण च सहितस्य । गजाधिपस्येव हस्तिन[3] इव । यस्य पद्मनाभस्य । गुरुः पिता । अङ्कुशः सृणिरिव । अभवत् अभूत् । लङ् । श्लेषोपमा । ॥ ६१ ॥ **विभूषितमित्यादि** विकारवत्या विकारयुक्तया । यौवनरूपसंपदा यौवनस्वरूपसंपत्त्या । विभूषितम् अलंकृतम् । विग्रहं शरीरम् । दधतोऽपि धरतोऽपि । जितान्तरद्विषः जिता निराकृता अन्तरद्विषः कामक्रोधलोभमानमदरूपा अरिषड्वर्गा[4] येन तस्य । मनस्विनः सुमनोयुक्तस्य[5] । यस्य पद्मनाभस्य । प्रमादिभिः[6] तिरस्करणशीलैः । व्यसनैः स्वाभाविकादिभिः[7] । न जह्रे नापह्रियते स्म । हृञ् हरणे कर्मणि लिट् ॥ ६२ ॥ **स इत्यादि** । विशां मनुजानाम् । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । अधीश्वरः प्रभुः । सः कनकप्रभः । बह्वपत्योऽपि बहुपुत्रयुक्तोऽपि । जिष्णुना जयशीलेन । 'भूजेस्स्नुक्' इति शीलार्थे स्नुक् । तेनैव पद्मनाभेनैव । सुतेन पुत्रेण ।

जाते हैं उन्हें भी वह आसानीसे कर दिखलाता था, तथा वे सब न्याय मार्गके अनुकूल होनेसे सुन्दर दृष्टिगोचर होते थे । समस्त विद्याओंका अभ्यासकर लेनेसे उसकी बुद्धि विकसित हो गई थी । यद्यपि उसके बाल श्वेत नहीं हुए थे, फिर भी वह बुद्धिसे वृद्ध हो गया था ॥ ६० ॥ जैसे गजराजके गण्डस्थलसे मदजल झरता है; उसको पीठकी हड्डी उभरी रहती है; वह अच्छी शिक्षा प्राप्त करता है; वह ऊँचा होता है; बहुत अधिक बलवान् होता है और उसका दबानेवाला केवल अङ्कुश ही होता है । इसी तरह पद्मनाभको ज्ञान आदिका मद-अहङ्कार नहीं था; उसने उन्नत वंशमें जन्म लिया था; उसने अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी; वह निरन्तर उन्नतिशील था, वह बलवान था और वह अपने पिताजीको ही अपना अङ्कुश मानता था—केवल पिताजीसे ही दबता था, और किसीसे भी नहीं दबता था ॥ ६१ ॥ यौवन रूप सम्पत्ति कामक्रोधादि विकारोंको उत्पन्न करनेवाली होती है ! किन्तु पद्मनाभके शरीरको विभूषित करके भी वह उसे विकारयुक्त नहीं बना सकी। वह बड़ा मनस्वी था। उसने काम आदि आभ्यन्तर शत्रुओंपर उसने विजय पाली थी । अतः घोर दुःख देनेवाले व्यसन उसके मनको नहीं हर सके ॥ ६२ ॥ कनकप्रभके और भी अनेक पुत्र थे, किन्तु उसकी शोभा केवल विजयशील पद्मनाभसे ही थी, सो

१. स 'समाचरन् प्रवर्त्तयन्' नास्ति । २. =प्रबुद्धा धीर्यस्य सः । ३. श स यागहस्तिन । ४. श स वर्गो । ५. =मनस्विनः पण्डितस्य । ६. मूलप्रतिषु 'प्रमाथिभिः' पाठोऽस्ति । =प्रमाथिभिः प्रपातिभिः । ७. आ भाविकादिभिः ।

अथ जातु स मेदिनीपतिर्निजलक्ष्मीपरिभूषितं पुरम् ।
परिहृष्टमतिर्विलोकयन्नवतस्थे गुरुसौधमूर्धनि ॥६४॥
विनिपातयता यदृच्छया दृशमासन्नतमैकपल्वले ।
परिपीय[1] पयः समुत्तरन् ददृशे तेन तदा गवां गणः ॥६५॥
घनपङ्कनिमग्नमक्षमं किल तत्रैकमसौ जरद्गवम् ।
म्रियमाणमवेक्ष्य तत्क्षणादिति निर्वेदमगाद्विचक्षणः ॥६६॥
क्षणभङ्गुरवृत्ति जीवितं भवभाजामिति नात्र विस्मयः ।
तदिहाद्भुतमेतदीदृशं यदवस्यद्भिरपि[2] प्रमुह्यते ॥६७॥

रराज बभौ । राजृ दीप्तौ लिट् । अनेकशकुन्तसंकुलः अनेकं शकुन्तानां संकुलं यस्य स जलाशयः सरोवरः । राजहंसेन विना राजहंसपक्षिणा विना । न विराजते न भाति । लट् ॥ ६३ ॥

अथेत्यादि । अथ अनन्तरम् । स मेदिनीपतिः कनकप्रभः । निजलक्ष्मीपरिभूषितम्, निजस्य स्वस्य लक्ष्म्या संपदा परिभूषितम् अलंकृतम् । पुरम् रत्नसंचयम् । परिहृष्टमतिः परिहृष्टा संतुष्टा मतिर्यस्य सः, संतुष्टबुद्धिः सन् । विलोकयन् गुरुसौधमूर्धनि गुरौ महति सौधस्य हर्म्यस्य मूर्धनि उपरि । अवतस्थे अवतिष्ठति स्म । स्था गतिनिवृत्तौ लिट् ॥६४॥ विनिपातयतेत्यादि । यदृच्छया स्वेच्छया । दृशं नेत्रम् । विनिपातयता व्यापारयता । तेन कनकप्रभेण । तदा तत्समये । आसन्नतमे अत्यन्तसमीपे । एकस्मिन् पल्वले सरसि । पयः सलिलम् । परिपीय परिपानं पूर्वं पीत्वा । समुत्तरन् निर्गच्छन् । गवां पशूनाम् । ददृशे दृश्यते स्म । दृशृ प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥६५॥ घनपङ्केत्यादि । विचक्षणः प्रौढः । असौ कनकप्रभः । तत्र सरसि । घनपङ्कनिमग्नं घने सान्द्रे पङ्के कर्दमे निमग्नं पतितम् । म्रियमाणम्, म्रियत इति म्रियमाणः तं जीवितं त्यजन्तम् । एकं जरद्गवम् जरंश्चासौ गौश्च जरद्गवः तं 'गोस्तत्पुरुषात्' इत्यट्, वृद्धवृषभम् । अवेक्ष्य अवेक्षणं पूर्वं दृष्ट्वा । तत्क्षणात् तस्मात्क्षणात् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । अगात् अगमत् । इण गतौ लुङ् । 'गैत्योः' इति गादेशः ॥६६॥ क्षणभङ्गुरेत्यादि । भवभाजां भवं भजन्ति स्म[4] भवभाजः तेषाम्, संसारिणामित्यर्थः । जीवितं जीवनम् । [क्षणभङ्गुरवृत्ति क्षणभङ्गुरा विनश्वरा वृत्तिर्यस्य तत्] । इति एवं प्रकारेण । अत्र लोके । विस्मयः आश्चर्यम् । न—न भवति । किंतु यत् एतत् इदम् । ईदृशम् एतत्प्रकारम् 'त्यदाद्य—' इत्यादिना दृशि-धातोःकट् प्रत्ययः । अवस्यद्भिरपि जानद्भिरपि । प्रमुह्यते मुग्धीभूयते[5] । मुह वैचित्ये लट् । [एष विस्मयः]

ठीक भी है—जलाशयमें कितने ही अन्य पक्षी क्यों न रहें, किन्तु राजहंसके बिना वह शोभा नहीं पाता ॥ ६३ ॥

एक दिन राजा कनकप्रभ विशाल राजमहलकी छतपर बैठे हुए अपनी विभूतिसे विभूषित राजधानीकी शोभाको देखकर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हो रहे थे ॥ ६४ ॥ इतनेमें उनकी दृष्टि पासके एक जलाशयपर पड़ी जहाँ पानी पीकर एक बैलोंका झुण्ड वापिस लौट रहा था ॥ ६५ ॥ जिधरसे वह झुण्ड लौट रहा था वहाँ सघन कीचड़ जमा हुआ था । उसमें एक बूढ़ा बैल फँस गया था । उसे मरते हुए देखकर बुद्धिमान् राजाको वैराग्य उत्पन्न हो गया, वह मनमें इस प्रकार विचार करने लगा ॥ ६६ ॥

संसारी जीवोंका जीवन यदि क्षणभङ्गुर बिजलीके समान देखते-देखते नष्ट होनेवाला है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, आश्चर्य तो केवल यही है कि जीवनकी क्षणभङ्गुरताको

१. अ परिपाय । २. क ख ग ब यद्वश्यद्भिरपि । ३. [अनेके नाना शकुन्ताः पक्षिणः तैः संकुलो व्याप्तः] । ४. [भजन्तीति] । ५. आ मूढो भूयते ।

क्षणदृष्टतिरोहितैर्जनो विषयैः स्वप्न इव प्रतार्यते ।
रतिमेति तथापि तेष्वयं जडबुद्धिर्धिगनात्मवेदिताम्[1] ॥६८॥
प्रहतं मरणेन जीवितं जरसा यौवनमेष पश्यति ।
प्रतिजन्तु जनस्तदप्यहो स्वहितं मन्दमतिर्न पश्यति ॥६९॥
यदतीतमतीतमेव तत्सुखमागामिनि को विनिश्चयः ।
समुपैति वृथा बत श्रमं पुरुषस्तत्क्षणसौख्यमोहितः ॥७०॥
परिणामहिते समीहते[2] पथि सद्यः सुखलिप्सया न यः ।
स शिवादतिविप्रकृष्यते ज्वररोगीव विरुद्धसेवया ॥७१॥

॥६७॥ क्षणदृष्टेत्यादि । स्वप्न इव स्वप्ने यथा । क्षणदृष्टतिरोहितैः क्षणे स्वल्पकाले[3] दृष्टैः पश्चात् तिरोहितैः अदृष्टैः[4] । विषयैः पञ्चेन्द्रियविषयैः । जनः लोकः । प्रतार्यते वञ्च्यते । तॄ प्लवन-तरणयोः । णिजन्तात्कर्मणि लट् । तथापि तेन प्रकारेणापि । मन्दबुद्धिः मन्दमतिः । अयं जनः । तेषु विषयेषु । रतिं प्रीतिम् । एति गच्छति । इण गतौ लट् । अनात्मवेदिताम् आत्मज्ञानरहिताम् । धिक् कष्टम् । 'हा धिक् समया—' इत्यादिना द्वितीया ॥६८॥ प्रहतमित्यादि । एषः अयम् । जनः लोकः । प्रतिजन्तु जन्तून् जन्तून् प्रतिजन्तु[5] तेषु सकलजीवेषु । जीवितं जीवनम् । मरणेन मृत्युना । प्रहतं विनष्टम् । यौवनं जरसा जरया । 'जराया ङसिन्द्रयस्याचि' इति जसादेशः । प्रहतम् इति पश्यति स्वयमीक्षते । तदपि तथापि । मन्दबुद्धिः मन्दमतिः स्वहितं स्वस्मै हितम् आत्मनेहितम् । न पश्यति । दृश् प्रेक्षणे लट् । '[पाघ्राध्मा-] धेट् दृशः शः' इत्यादिनाति (?) इति पश्यादेशः[6] । अहो आश्चर्यम् ॥६९॥ यदित्यादि । यत्सुखम् अतीतं भूतम्[7] । तदतीतमेव अतिगतमेव[8] । आगामिनि भविष्यति । सुखे विनिश्चयः व्यवसायः कः, न कोऽपीत्यर्थः । तत्क्षणसौख्यमोहितः । तत्क्षणे तत्काले जातसौख्येन सुखेन मोहितो मूढः । पुरुषः । वृथा मुधा । श्रमं प्रयासम् । समुपैति संप्रयाति । बत हन्त ॥७०॥ परिणामहित इत्यादि । यः सद्यः शीघ्रम् । सुखलिप्सया सुखं लब्धुमिच्छया[9] । परिणामहिते परिणामेऽन्ते हिते । पथि रत्नत्रयात्मके[10] । न समीहते न चेष्टते । सः जनः शिवात् मोक्षात् । 'सुखसलिलमोक्षमङ्गलकीलकवालुकाभयाम-

जाननेवाले भी मोहजालमें फँसे हुए हैं ॥ ६७ ॥ स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंके विषय स्वप्नमें देखे गये राज्यादिके समान क्षणभर दिखलायी देते हैं, बादमें वे दृष्टिसे ओझल हो जाते हैं। वे विषय प्राणीको धोखा देकर चले जाते हैं। फिर भी उनकी मूर्खता देखिए जो वे उन्हीं विषयोंमें आनन्द मानते हैं वे अपनी आत्माकी ओर जरा भी ध्यान नहीं देते इस अनात्मज्ञताको धिक्कार है ॥ ६८ ॥ प्रत्येक जीवका जीवन मृत्युके द्वारा और यौवन बुढ़ापेके द्वारा नष्ट किया जाता है। परन्तु इसे देखते हुए भी मूर्ख जीव अपने हितकी ओर ध्यान नहीं देता, यह कितने आश्चर्यकी बात है ॥६९॥ भूतकालमें जो भोगनेमें आया, वह तो बीत ही गया—अब वह लौटकर नहीं आयगा। रहा भावी सुख, सो उसका निश्चय ही क्या है—कदाचित् वह न भी प्राप्त हो सके? फिर भी बड़ा खेद और आश्चर्य है कि मनुष्य उस क्षणिक तात्कालिक सुखके मोहमें मग्न होकर व्यर्थ ही परिश्रम करता रहता है ॥ ७० ॥ जो मनुष्य आगे सुख देनेवाले मार्ग (रत्नत्रय) इच्छासे तात्कालिक सुखकी अभिलाषासे शीघ्र ही नहीं लगता, वह मोक्षसे

१. क ख ग घ °वेदितम् । २. अ समीहिते । ३. [क्षणं स्वल्पकालं] । ४. आ दृष्टैः पाश्चात्त्र दृष्टैः अदृष्टैः श स दृष्टैः तिरोहितैः पाश्चात्त्र दृष्टैः अदृष्टैः । ५. [जन्तुं जन्तुं प्रति इति प्रतिजन्तु] । ६. आ धेड्वेत्यादिना शिधे पश्यादेशः । ७. [गतम्] । ८. श स अतिगतमिव । ९. [सुखस्य लब्धुम् इच्छा लिप्सा, तया] । १०. स आत्मत्रयात्मके ।

दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः ।
न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्मणः ॥७२॥
वपुरप्यतिमात्रमान्तरं त्यजति प्राणिनमायुषः क्षये ।
विरहे खलु कोऽत्र विस्मयो बहिरङ्गैर्धनमित्रबान्धवैः ॥७३॥
सुखमिष्टसमागमे यथा विरहे तस्य तथैव चासुखम् ।
अत एव सजन्ति निर्वृतौ सुधियः संगसुखैकनिःस्पृहाः ॥७४॥
हितमेव न वेत्ति कश्चन भजतेऽन्यः खलु तत्र संशयम् ।
विपरीतरुचिः परो जगत्त्रिभिरज्ञानतमोभिराहतम् ॥७५॥

लक्ष्यद्विजाक्रोष्टुशङ्करेषु शिवम्' इति नानार्थकोशे । अतिविप्रकृष्यते दूरीक्रियते । विरुद्धसेवया विरोध–[धि] वस्तुसेवनेन । ज्वररोगीव ज्वररोगवानिव । उपमा ॥७१॥ दहन इत्यादि । अपि यदि । तृणकाष्ठसंचयैः तृणानां काष्ठानां संचयैः समूहैः । दहनः अग्निः । तृप्येत् प्रीणयेत्[1] नदीशतैः नदीनाम् अनेकैः[2] । उदधिः समुद्रः । पुमान् तु पुरुषस्तु । कामसुखैः कामस्य सुखैः । न तृप्येत् । कर्मणः दुरितस्य । कापि काचित् । बलवत्ता खलु बलयुक्तता हि । अहो अद्भुतम् ॥७२॥ वपुरित्यादि । अत्र संसारे । वपुरपि शरीरमपि । आयुषः आयुष्यस्य । क्षये नाशे । आन्तरम् अन्तःस्थितम् । प्राणिनं जीवम् । अतिमात्रं भृशम् । त्यजति विमुञ्चति । बहिरङ्गैः बाह्यैः । धनमित्रबान्धवैः धनैः द्रव्यैः मित्रैः सखिभिः बान्धवैः बन्धुभिः । सह । विरहे विगमे । विस्मयः आश्चर्यम् । कः खलु न कोऽपीत्यर्थः ॥७३॥ सुखमित्यादि । यथा येन प्रकारेण । इष्टसमागमे इष्टस्य वनितादेः समागमे संप्राप्तौ । सुखम् । तथैव च । तस्य इष्टस्य । विरहे विगमे । असुखं दुःखम् । स्यादित्यध्याहारः । अतएव एतस्मात्कारणादेव । [3]संगसुखैकनिस्पृहाः संगेन[4] परिग्रहेण जाते सुखे एकं केवलं निस्पृहा वाञ्छारहिताः । सुधियः कल्याणबुद्धयो जनाः । निर्वृत्तौ मोक्षकारणे[5] । सजन्ति सन्नह्यन्ति, सन्नद्धा भवन्तीत्यर्थः । षञ्ज संगे लट् । 'दन्शसन्जश्शपि' इति न लुक् ॥७४॥ हितमित्यादि । कश्चन पुरुषः । हितमेव न वेत्ति न जानाति । अन्यः अपरः । तत्र हिते । संशयं संदेहम् । भजते[6] सेवते । खलु स्फुटम् । परः अन्यः । विपरीतरुचिः विपरीता रुचिः श्रद्धानं यस्य सः । जगत्त्रिभिः जगतां[7] त्रिभिर्मूढसंशयविपरीतलक्षणैः त्रिभिः । अज्ञानतमोभिः

बहुत दूर पहुँच जाता है। जैसे ज्वरका रोगी कुपथ्यका सेवन करनेसे ज्वरके मोक्षसे-आरोग्य लाभसे–दूर जा पहुँचता है ॥ ७१ ॥ सम्भव है कभी अग्नि घास व लकड़ी आदिके ढेरसे और समुद्र सैकड़ों नदियोंसे तृप्त हो जाय। किन्तु मनुष्य विषय-सुखसे कभी भी तृप्त नहीं हो सकता। कर्मोंकी प्रबलता आश्चर्य जनक है ॥ ७२ ॥ आयुके नष्ट होते ही जब शरीर भी सदा अपने अन्तरवर्ती–शरीरसे कभी पृथक् न दिखनेवाले–जीवको छोड़ देता है, तो प्रत्यक्षमें पृथक् दृष्टिगोचर होनेवाले सम्पत्ति, मित्र और भाइयोंसे विरह होनेमें आश्चर्य ही क्या है ॥७३॥ पत्नी व धन आदि इष्ट वस्तुओंके संयोगमें जैसे सुख होता है, वैसे ही उनके वियोगमें दुःख भी होता है। इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्य उस संयोगजनित सुखकी चाहको ठुकराकर मुक्तिसुखकी प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं—मोक्षमार्गमें लग जाते हैं ॥७४॥ इस जगत्में तीन प्रकारके अज्ञानी हैं—पहले वे जो अपने हितको जानते ही नहीं, दूसरे वे जो हितको जानकर भी उसके विषयमें सन्देह करते हैं, और तीसरे वे जो हितको अहित या अहितको ही हित समझते हैं। इस प्रकार सभी संसारी प्राणी इन तीन प्रकारके अज्ञानोंसे नष्ट हो रहे हैं—सदा दुखका अनुभव कर रहे हैं। जिस

१. [तृप्तिमवाप्नुयात्]। २. [नदीनां शतानि तैः शतसंख्यापरिमिताभिर्नदीभिरित्यर्थः]। ३. श स संगमसु॰। ४. श स संगमेन। ५. आ मोक्षकारणं। ६. श स भजति। ७. [जगत् लोकः त्रिभिः॰]।

परिणामसुखं शरीरिणां जिनवाक्यं न विहाय विद्यते ।
सरुजामिव पथ्यमौषधं तदनात्मज्ञतया[1] न रोचते ॥७६॥
अधिगम्य यथाविधि श्रुतं प्रतिपद्योत्तमसाधुसंगमम् ।
अवयन् भवफल्गुतामिमामपरः कोऽहमिव प्रमाद्यति ॥७७॥
सुखमायतिदुःखमक्षजं भजते मन्दमतिर्न बुद्धिमान् ।
मधुदिग्धमुखाममन्दधीरसिधारां खलु को लिलिक्षति ॥७८॥

स्वरूपज्ञानरहितैः[2] । आहतं विनष्टम् ॥७५॥ परिणामेत्यादि । सरुजां रोगसहितानाम् । औषधम् । पथ्यं हितमिव । शरीरिणां देहिनाम् । जिनवाक्यं जिनस्य जिनेश्वरस्य वाक्यम् आगमम् । विहाय त्यक्त्वा । परिणामसुखं परिणामेऽन्ते सुखं सौख्यम्[3] । न विद्यते नास्ति । तत् जिनवाक्यम् । अनात्मज्ञतया स्वरूपज्ञानरहिततया । न रोचते न प्रीणाति[4] । रुचि अभिप्रीत्याञ्च । लट् ॥७६॥ अधिगम्येत्यादि । यथाविधि विधिमनतिक्रम्य । श्रुतं द्वादशाङ्गरूपम् । अधिगम्य ज्ञात्वा निश्चित्य वा । उत्तमसाधुसंगमम् उत्तमानां वरेण्यानां-साधूनां मुनीश्वराणां संगमं संसर्गम् । प्रतिपद्य प्रतिपदनं पूर्वं[5] पश्चात् किंचित्, लब्ध्वा । इमाम् एताम् । भवफल्गुताम् निःसारताम् । अवयन् जानन् । अहमिव कः परः[6] अन्यः । प्रमाद्यति प्रमादोभवति । मदि हर्षग्लपनयोः ॥७७॥ सुखमित्यादि । आयतिदुःखम् आयतौ उत्तरकाले दुःखं कष्टकरम् । 'उत्तरःकाल आयतिः' इत्यमरः । अक्षजम् अक्षेभ्य इन्द्रियेभ्यो जायत इति तथोक्तं पञ्चेन्द्रियजनितं सुखम् । मन्दमतिः मन्दबुद्धियुतः । भजते सेवते । भज सेवायां लट् । बुद्धिमान् मतिमान् । न भजते । तथा हि मधुदिग्धमुखां मधुना दिग्धं लिप्तं मुखं यस्याः ताम् । असिधाराम् असेः खड्गस्य धाराम्[7] । अमन्दधीः अमन्दा महती धीर्यस्य । कः को वा । खलु स्फुटम् । लिलिक्षति लेढुमिच्छति । लिह् आस्वादने सन्नन्ताल्लट् । न कोऽपीत्यर्थः ॥७८॥

प्रकार अन्धकारसे आच्छादितमार्गमें चलनेवालोंमें-से किसीको तो अपना मार्ग ही नहीं सूझता, किसीको कुछ सूझता भी है तो उसमें सन्देह होता है, और किसीको वह ठीक विपरीत प्रतीत होता है, इसी प्रकार मिथ्याज्ञानके वशीभूत होनेपर कोई तो हितमार्गको समझ ही नहीं पाता, कोई समझकर भी उसमें सन्देह करता है, और कोई उसे अहितका ही मार्ग समझ बैठता है ॥७५॥ प्राणियोंको भविष्यमें सुख देनेवाली केवल जिन-वाणी (जैनागम) ही है—उसे छोड़कर अन्य कोई भी वस्तु भविष्यमें सुख नहीं दे सकती । किन्तु जिन्हें आत्मज्ञान नहीं है उन्हें वह रुचती नहीं है । जैसे रोगीको केवल औषधि ही हितकर होती है—उसे छोड़कर उसके लिए अन्य कोई वस्तु हितकर नहीं हो सकती । किन्तु जिस रोगीको स्वयं अपने हितका विवेक नहीं है, उसे वह रुचती नहीं है ॥७६॥ विधिपूर्वक शास्त्रको पढ़कर, उत्तम साधुओंकी सङ्गतिको पाकर और संसारकी असारताको जानकर भी मेरे समान आत्महितमें प्रमाद करनेवाला दूसरा कौन होगा ॥७७॥ इन्द्रियजन्यसुख परिणाममें दुखप्रद होता है । अतएव उसका सेवन केवल मूर्ख ही किया करते हैं, न कि बुद्धिमान् । ठीक है, कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो शहदल-

---

१. अ तदिहाज्ञानतया । २. [मिथ्याज्ञानतिमिरैः] । ३. [सुखकरम्] । ४. [न रुचिरं प्रतिभाति] । ५. श स 'पूर्वं' नास्ति । ६. [अपरः कः] । ७. श स 'धारां' नास्ति ।

असुखैकफलं प्रभज्य यो रसति[1] प्रेममयं न पल्लवम् ।
प्रविरक्तमतिः प्रवर्तते पुरुषः श्रेयसि हा स वञ्चितः ॥७९॥

इति विषयविरक्तश्छद्मया कर्णजाहं
स्वयमिव स समेत्य व्याहृतो मुक्तिदूत्या ।
न्यविशत मुनिमार्गे चेतसा चारुचेता
भवति हि मतिभाजां काललब्धिर्न वन्ध्या ॥८०॥

प्रपृच्छ्य सुतमात्मनस्तमपरेद्युरुद्यच्छ्रियं
प्रमृज्य च तदक्षिणी विगलदश्रुणी पाणिना ।

असुखैकफलमित्यादि । प्रविरक्तमतिः प्रविरक्ता बुद्धिर्यस्य सः, प्रकृष्टविरक्तबुद्धिः सन् । यः पुरुषः ! असुखैकफलम् असुखं दुःखमेवैकं मुख्यं फलं यस्य तम् । प्रेममयं रागरूपम् । पल्लवं किसलयम् । रसति[2] रसतीत्यनुकरणम्[3] । न प्रभज्य प्रभञ्जनं पूर्वं नावमर्द्य । प्रवर्तते । सः पुरुषः । श्रेयसि सुखनिमित्तम् ! वञ्चितः प्रतारितः । हा कष्टम् । 'हा दुःखहेता उद्दिष्टो[4] विस्मयविषादयोः' इति विश्वः ॥७९॥ इतीत्यादि । छद्मया गूढया । मुक्तिदूत्या मुक्त्या मोक्षलक्ष्म्या दूत्या सख्या । कर्णजाहम् कर्णमूलम् । 'कर्णादि पक्षाज्जाहति मूले' इति जाह प्रत्ययः । समेत्य संप्राप्य । स्वयम् आत्मनैव । व्याहृत आहूत इव । इति उक्तप्रकारेण । विषयविरक्तः विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु विरक्तः । चारुचेताः चारु शोभनं चेतः चित्तं यस्य स तथोक्तः । सः कनकप्रभः । चेतसा चित्तेन । मुनिमार्गे मुनीनां यतीनां मार्गे । न्यविशत प्रविशति स्म । तथा हि—मतिभाजां मतिं भजन्ति[5] स्म मतिभाजः तेषां बुद्धिमताम् । काललब्धिः कालस्य लब्धिः प्राप्तिः । वन्ध्या निष्फला । न भवति[6] ॥ ८० ॥ प्रपृच्छ्येत्यादि । सः कनकप्रभः[7] । अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिने । 'पूर्वा-पर—' इत्यादिना एद्युस् प्रत्ययः । उद्यच्छ्रियम् उद्यन्ती श्रीर्यस्य तमुदयोन्मुखसंपदम् । आत्मनः स्वस्य । तं सुतम्—पद्मनाभसुतम् । प्रपृच्छ्य प्रार्थ्य[8] । विगलदश्रुणी विगलत् स्यन्दन्नेत्रोदकं[9] ययोः[10] ते तदक्षिणी तस्य

पेटो तलवारकी धारको चाटना चाहेगा ॥७८॥ जो विरक्त मनुष्य एकमात्र दुःखरूप फलके देनेवाले रागरूप नवीन कोमल पत्तेको तोड़कर शीघ्र ही कल्याणके मार्गमें नहीं लगता, खेद है कि वह ठगा जाता है—उस कल्याणसे वञ्चित हो रह जाता है ॥७७॥

इस प्रकारका विचार करते हुए निर्मलबुद्धि महाराज कनकप्रभको विषयसुखसे अतिशय वैराग्य उत्पन्न हुआ । फलतः वह हृदयसे मुनिमार्गमें प्रविष्ट हुआ । मानो मुक्ति-दूतीने गुप्तरूपमें स्वयं पहुँचकर इसके लिये उसके कानमें कहा हो । सच है, बुद्धिमानोंकी काललब्धि कभी व्यर्थ नहीं जाती ॥८०॥ जिस दिन उसे वैराग्य हुआ, उसके दूसरे ही दिन कनकप्रभने अपने उत्तराधिकारी पुत्र पद्मनाभसे दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति माँगी । यह सुनते ही उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये । इसपर कनकप्रभने अपने हाथसे उसके आँसू पोंछकर उसे संसारकी स्थिति समझायी ! तत्पश्चात् वह

१. अ यः स्पृशति आ इ यः पृशति । (मुद्रितप्रतौ 'झटिति' पाठान्तरमुपलभ्यते) । २. =रसिति झटिति प्रभज्य आमर्द्य न प्रवर्तते स पुरुषः श्रेयसि मुक्त्यर्थं वञ्चितः विप्रलब्धः । हि विस्मये । निर्विण्णेन झटित्युद्यमो विधेय इति भावः । ३. आ सति – सितीत्यनुकरणम् । ४. आ हि दुःखहेता उद्दिष्टो हि वि० । ५. [भजन्तीति] । ६. आ श स न भवति हि । ७. आ 'कलकप्रभः' नास्ति । ८. [पृष्ट्वा] । ९. श स स्यन्ददात्मनेत्रोदकम् । १०. [याभ्याम्] ।

मुनीन्द्रमविनिन्दितं समभिवन्द्य स श्रीधरं
तपः समधिशिश्रिये नृपतिभिः समं भूरिभिः ॥८१॥

गुरुविरहभवेन पद्मनाभो भृशमसुखेन हतस्तदा तताम ।
नरपतिपदमास्थितोऽपि लक्ष्मीर्भवति मुदे नहि बान्धवैर्वियुक्ता ॥८२॥

विपुलमतिभिर्वृद्धामात्यैः कृतप्रतिबोधनः
पितृविरहजं हित्वा शोकं कियद्भिरसौ दिनैः ।
नयनविगलद्बाष्पापूरां सुधीः समभावयत्
प्रकृतिमुभयीं स्वामिस्नेहाकुलीकृतचेतसम् ॥८३॥

पद्मनाभस्य अक्षिणी नयने । पाणिना हस्तेन । प्रमृज्य प्रमार्जनं पूर्वं संमार्ज्य । अविनिन्दितम् अकुत्सितं संपूर्णचारित्रम् इत्यर्थः । श्रीधरं श्रीधरनामधेयम् । मुनीन्द्रं मुनीनाम् इन्द्रः तं मुनिपतिम् । समभिवन्द्य संस्तुत्य । भूरिभिः अनेकैः । नृपतिभिः नृणां नराणां पतिभिः । समं साकम् । तपः बाह्याभ्यन्तरभेदम् । समधिशिश्रिये स्वीकरोति स्म । श्रिञ् सेवायां लिट् ॥ ८१ ॥ गुरुविरहेत्यादि । गुरुविरहभवेन पितृवियोगजनितेन । असुखेन दुःखेन । हतः पीडितः । पद्मनाभः पद्मनाभनरेन्द्रः । नरपतिपदम् अधिराजपदम् । आस्थितोऽपि आरूढोऽपि । 'शीङ्स्थासोऽधेराधारः' इत्याधारे द्वितीया । तदा तस्मिन् अवसरे । भृशम् अत्यन्तम् । ततामं संक्लिष्टवान् । तमु ग्लानौ लिट् । बान्धवैः ज्ञातिभिः । वियुक्ता रहिता । लक्ष्मीः संपत्तिः । मुदे प्रीतये । न भवति[1] । अर्थान्तरन्यासः ॥ ८२ ॥ विपुलमतिभिरित्यादि । विपुलमतिभिः विपुलया महत्या मत्या बुद्ध्या सहितैः[2] । वृद्धामात्यैः वृद्धैः परंपरागतैः अमात्यैःमन्त्रिभिः । कृतप्रतिबोधनः कृता प्रतिबोधना यस्य सः । सुधीः शोभनधिषणः । असौ पद्मनाभः । कियद्भिः किं मानम् अस्त्येषाम् इति कियन्ति तैः कतिचिद्भिः । दिनैः दिवसैः । पितृविरहजं पितुः विरहेण जातम् । शोकं दुःखम् । हित्वा त्यक्त्वा । नयनविगलद्बाष्पापूराम् नयनैः[3] विगलन् बाष्पस्य आपूरः प्रवाहो यस्याः ताम् । स्वामिस्नेहाकुलीकृतचेतसम् स्वामिनः स्नेहेन प्रेम्णा प्रागनाकुलमिदानीमाकुलं क्रियते, आकुलीकृतं स्वामिस्नेहेन आकुलीकृतं चेतो यस्य तम्[4] उभयाम् उभयरूपां प्रजापरिवारभेदभिन्नाम् आप्तबलमूलबलविकल्पां वा । प्रकृतिम् अमात्यादिसंहतिम् । 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । छन्दःकारणगुह्येषु जन्त्वमात्यादिमातृषु ।' इति वैजयन्ती । समभावयत् आश्वासयत्[5] । भू कृपाव-

श्रीधर मुनिके पास पहुँचे । निर्मल चारित्रके धारक होनेसे उनकी प्रशंसा सभी करते थे । उनको नमस्कारकर कनकप्रभने अनेक राजाओंके साथ जिनदीक्षा ले ली और तपस्या प्रारम्भ कर दी ॥८१॥ राजगद्दीपर बैठकर भी पद्मनाभको, पिताके चले जानेसे बड़ा दुःख हुआ, उससे उसके हृदयको बड़ी चोट पहुँची । ठीक है—बन्धुओंके बिना राज्यलक्ष्मी भी सुख नहीं दे सकती ॥८२॥ कनकप्रभके चले जानेसे पद्मनाभके समान प्रजाको भी बहुत सन्ताप हुआ । उसकी आँखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी और उसका हृदय भी व्याकुल हो उठा था । स्वामीके प्रति उसे स्नेह जो था । इस स्थितिको देखकर बुद्धिमान् वृद्ध मन्त्रियोंने पद्मनाभको सान्त्वना दी । फलतः कुछ दिनोंमें उसका वह शोक दूर हो सका । इस प्रकार स्वयं शोकको छोड़कर उसने दोनों प्रकारकी प्रकृतिको अपने स्वभाव (स्वास्थ्य) और प्रजा

१. आ श स न भवति हि । २. श प आ 'विपुलया महत्या मत्या बुद्ध्या सहितैः' नास्ति । ३. [नयनेभ्यो] ४. [यस्याः ताम्] । ५. = संस्कृतवान् ।

एतस्यानृजुरयमष्टमीमृगाङ्को व्याक्षिप्तो विकटललाटपट्टकेन ।
संजातानतिभिरितीव तत्र भेजे भूपालैर्न कुटिलता नृपासनस्थे ॥८४॥
तेजोनिधावुदयधाम्नि सुवर्णनाभ-
नाम्नि प्रवर्त्य तनये युवराजशब्दम् ।
भोगानवास्थित सदानुभवन् स भूपः
सोमप्रभादशनजातकिणाङ्कितौष्ठः ॥८५॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

कल्पने लङ् ॥ ८३ ॥ एतस्येत्यादि । एतस्य पद्मनाभस्य । विकटललाटपट्टकेन विकटस्य विशालस्य ललाटस्य पट्टकेन प्रदेशेन 'सुन्दरविशालविकरालेषु विकटः' इति नानार्थकोशे । अनृजुः वक्रः । अयम् एषः । अष्टमीमृगाङ्कः अष्टम्याः चन्द्रः । व्याक्षिप्तः[1] निराकृतः । इतीव संजातानतिभिः संजाता निष्पन्ना आनतिर्नमस्कारो येषां तैः । भूपालैः भूपतिभिः । नृपासनस्थे सिंहासनस्थिते तत्र तस्मिन् पद्मनाभे । कुटिलता वक्रता । न भेजे न सिषेवे[2] । भज सेवायां कर्मणि लिट् ॥ ८४ ॥ तेज इत्यादि । सोमप्रभादशनजातकिणाङ्कितौष्ठः[3] सोमप्रभादेव्या दशनैर्दन्तैर्जातेन किणेन कलङ्केन[4] अङ्कितः चिह्नित[5] ओष्ठो यस्य सः । सः भूपः पद्मनाभः । तेजोनिधौ पराक्रमनिधाने । उदयधाम्नि उदयस्य भाग्यस्य धाम्नि निलये । सुवर्णनाभनाम्नि सुवर्णनाभनामधेये । तनये पुत्रे । युवराजशब्दं युवराजाभिधानम् । प्रवर्त्य प्रवर्तनं कृत्वा । भोगान् पञ्चेन्द्रियभोगान् । सदा अनवरतम् । अनुभवन् । निविशन् । अवास्थित अवसत् । स्था गतिनिवृत्तौ लुङ् । 'संविप्रावात्' इति तङ् ॥ ८५ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

दोनोंको सम्हाला ॥८३॥ पद्मनाभने जब अपने विस्तीर्ण सुन्दर ललाटकी शोभासे कुटिल अष्टमीके चन्द्रमाको भी जीत लिया, तब उसके सामने हमारी क्या दशा होगी, मानो इसी चिन्ताके कारण पद्मनाभके राजसिंहासनपर आरोहण करते ही सभी राजा उसके सामने नतमस्तक हो गये और उन्होंने अपनी कुटिलवृत्ति छोड़ दी ॥८४॥ पद्मनाभकी रानीका नाम सोमप्रभा और पुत्रका नाम सुवर्णनाभ था। पुत्र बड़ा तेजस्वी और प्रगतिशील था। उसे युवराज बनाकर पद्मनाभ अपनी पत्नी सोमप्रभाके साथ—जिसने सम्भोगके समय अनुरागवश उसके होठको दन्तक्षतसे चिह्नित कर दिया था—भोगोंका अनुभव करने लगा ॥८५॥

इस प्रकार वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें
पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥१॥

---

१. श स व्याक्लृष्टः । २. = भूपालैः राजभिः । नृपासनस्थे सिंहासनस्थिते । तत्र राजनि । कुटिलता वक्रत्वम् । न भेजे । यथायमष्टमीमृगाङ्कोऽनेन वक्रतरोऽपि जितः तत्र के वयम्, इति वक्रत्वं विहाय पदयोः पतिता इति भावः । ३. श स तोष्ठः । ४. श स 'कलङ्केन' नास्ति । ५. आ अङ्कितौ चिह्नितावोष्ठौ यस्य सः । ६. श स 'श्री' नास्ति ।

[२. द्वितीयः सर्गः]

अथैकदास्थानगतं प्रतीहारनिवेदितः ।
वनपालो महीपालमिति नत्वा व्यजिज्ञपत् ॥१॥
देव देवोचितस्थाने सुगन्धिपवने वने ।
मुनिरेकः समायातः शब्दार्थाभ्यां मनोहरे ॥२॥
भुवनव्यापिनीं भव्यपुण्डरीकाभिनन्दिनीम् ।
धत्ते श्रीधर इत्याख्यां यो भानुरिव दीधितिम् ॥३॥

श्रीपुष्पदन्तजिनपं प्रणमामि नित्यं यत्कायकान्तिरजताद्रिसमानशोभम् ।
देवासुरोरगनरेन्द्रकिरीटकोटीमाणिक्यकान्तिपरिचर्चितपादपीठम् ॥

अथेत्यादि । अथ प्रथमसर्गनिरूपणानन्तरम्[1] । एकदा एकस्मिन् दिने । प्रतीहारनिवेदितः प्रतीहारेण द्वारपालेन[2] निवेदितो ज्ञापितः । वनपालः उद्यानपालः । आस्थानगतं सभायां स्थितम् । महीपालं पद्मनाभमहीपतिम् । नत्वा नमनं पूर्वं (पश्चात् किंचित्) प्रणम्य । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । व्यजिज्ञपत् व्यज्ञापयत्[3] । ज्ञा अवबोधने[4] णिजन्ताल्लुङ् ॥१॥ देवेत्यादि । देव भो राजन् । देवोचितस्थाने देवानाम् उचितं योग्यं स्थानं यस्य[5] तस्मिन् । सुगन्धिपवने शोभनगन्धसहितवायुयुक्ते[6] । शब्दार्थाभ्यां शब्देन नाम्ना अर्थेन च अभिधेयेनापि च । मनोहरे मनोहरनाम्नि । वने उद्याने । एकः कश्चित् । मुनिः यतीश्वरः । समायातः समागतः ॥ २ ॥ भुवनव्यापिनीमित्यादि । यः मुनिपतिः । भुवनव्यापिनीं भुवनं लोकं व्याप्नोतीत्येवं शीला ताम् । भव्यपुण्डरीकाभिनन्दिनीं भव्यपुण्डरीकाणां भव्यश्रेष्ठानाम् अभिनन्दिनीं संतोषकरीम्, पक्षे भव्यानि मनोहराणि पुण्डरीकाणि कमलानि अभिनन्दनशीला (अभिनन्दयतीत्येवंशीला) विकासनशीला ताम् । भानुः सूर्यः । दीधितिमिव किरणमिव[7] । श्रीधर इत्याख्यां श्रीधर इति नामधेयम् । धत्ते डुधाञ् धारणे च

इसके बाद एक दिनकी बात है। राजा पद्मनाभ सभामें बैठा हुआ था। इतनेमें द्वारपालने उसे मनोहर बागके मालीके आनेकी सूचना दी, और उसकी अनुमति लेकर मालीको अन्दर लिवा ले गया। वहाँ पहुँचते ही मालीने राजाको प्रणाम किया और कहा— ॥१॥ राजन्! जिसमें देवोंके योग्य स्थान है और जहाँ सदा सुगन्धित वायु बहा करती है, वह बाग न केवल नामसे बल्कि अर्थसे भी मनोहर है। वहींपर एक मुनिराज पधारे हैं ॥२॥ उनका नाम श्रीधर है जो विश्वके कोने-कोनेमें प्रसिद्ध है। उसे सुनकर भव्य जीवोंको बड़ा आनन्द होता है। जैसे सूर्यकी किरणें सारे संसारमें फैली हुई है। वे सुन्दर कमलोंको विकसित कर

१. श स °नन्तरे। २. आ °पालकेन। ३. = विज्ञापयामास। ४. = ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च। ५. = यस्मिन्। ६. शोभनो गन्धो यस्य स सुगन्धिः, सुगन्धिः पवनः पवमानो यस्मिन् स तस्मिन्। ७. आ प्रतावेव 'किरणमिव' इति समुपलभ्यते।

दारुणं यस्तपस्तेजः सौम्यां च दधदाकृतिम् ।
समाहारेण निर्वृत्तः सूर्याचन्द्रमसोरिव ॥४॥
मोक्षसंधानचित्तेन गुणमार्गणशालिना ।
येन चापधरेणेव भूतेभ्योऽदीयताभयम् ॥५॥
त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितम् ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे जगद्यद्वचसीक्ष्यते ॥६॥
सुवर्णैरभिनिर्वृत्ता दत्तमुक्तोत्तमास्पदाः ।
यस्याश्चर्यकथाः कर्णपूरायन्ते विपश्चिताम् ॥७॥

लट् ॥ ३ ॥ दारुणमित्यादि । यः मुनिपतिः । दारुणं भयंकरम् (तीव्रम्) । तपस्तेजः तप एव तेजः[1] तपःप्रतापम् । सौम्यां मनोहराम् । आकृति च आकारं च । दधत् दधातीति दधत् धरन् । सूर्याचन्द्रमसोः सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ तयोः । 'इन्द्रासोमादिषु देवतानाम्' इति साधुः । समाहारेण समूहेन[2] निर्वृत्तः निष्पन्न इव । भातीत्यध्याहारः ॥ ४ ॥ मोक्षेत्यादि । मोक्षसंधानचित्तेन मोक्षे परमनिर्वाणे संधानं संबन्धो यस्य तत् तथोक्तं मोक्षसंधानं चित्तं यस्य तेन, पक्षे मोक्षश्च संधानं च तयोः शरमोक्षणशरसंधानयोः चित्तं यस्य तेन । गुणमार्गणशालिना गुणैः गुणस्थानैः मार्गणैः मार्गणास्थानैः शालिना सम्पूर्णेन, पक्षे गुणेन मौर्व्या मार्गणैः बाणैश्च शालिना । येन मुनिपतिना । चापधरेणेव धनुर्धरेणेव । भूतेभ्यः प्राणिभ्यः । अभयम् अदीयत । दाण् दाने कर्मणि लङ् , पक्षे अभयम् अदीयत अखण्डयत[3] । दो अवखण्डने । श्लेषोपमा ॥ ५ ॥ त्रिकालेत्यादि । त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितं त्रिकाल एव गोचरो येषां ते त्रिकालगोचराः अनन्ताः अनन्तसंख्यावच्छिन्नाः पर्यायाः सहभाविपरिभावि[4]परिणामाः तथोक्ताः त्रिकालगोचराश्च ते[5] अनन्तपर्यायाश्च तैः परिनिष्ठितं युक्तम् । जगत् लोकः । यद्वचसि यस्य श्रीधरमुनीन्द्रस्य वचसि वचने । आदर्शे दर्पणे । प्रतिबिम्बमिव प्रतिकृतिरिव । ईक्ष्यते दृश्यते । ईक्षि दर्शने कर्मणि लट् ॥ ६ ॥ सुवर्णैरित्यादि । सुवर्णैः स्पष्टाक्षरैः, पक्षे कनकैः । अभिनिर्वृत्ताः विरचिताः । दत्तमुक्तोत्तमास्पदाः दत्तं मुक्तानां सिद्धानाम् उत्तमं श्रेष्ठम् आस्पदं येषां तैः[6], पक्षे दत्तं मुक्तानां मौक्तिकानाम् उत्तमम् आस्पदं येषां ते[7] । यस्य मुनिपतेः ।

उन्हें आनन्द देती हैं ॥३॥ उनकी आकृति सौम्य है और उसपर उनके तपका तीव्र तेज है । अतः लगता है वे सूर्य और चन्द्रके संमिश्रणसे रचे गये हैं। वे तेजस्वी होकर भी शान्त हैं ॥४॥ उनका मन मुक्तिके अनुसन्धानमें लगा हुआ है, सद्गुणोंके अन्वेषणसे उनको शोभा है और वे समस्त प्राणियोंको अभय प्रदान करते हैं । अतएव वे इस समय उस धनुर्धारीके समान जान पड़ते हैं, जिसका मन केवल बाण छोड़ने और उसके स्थानमें दूसरा बाण रखनेमें लगा हुआ है; जिसकी शोभा डोरी और बाणोंसे है तथा जो लोगोंको निर्भय कर रहा है ॥५॥ जिस प्रकार दर्पणमें, सामने रखे सभी पदार्थों और उनकी वर्तमान अवस्था की स्पष्ट झलक मिल जाती है, उसी प्रकार उनके वचनोंमें सारे जगत् और उसकी भूत, वर्तमान और भविष्यमें होनेवाली सभी अवस्थाओंकी स्पष्ट झाँकी मिल जाती है ॥६॥ उपदेश देते समय वे प्रसंगवश जो कथाएं सुनाते हैं, वे कर्णभूषण सरीखी रहती हैं । जिस प्रकार कर्णभूषण सोनेसे बनाये

१. = तपसस्तेजस्तपस्तेजः । २. = समुच्चयेन । ३. श स अखण्डयत । ४. °परिभावि° । ५. आ प्रतौ केवलं 'ते' इति दृश्यते । ६. = यासु ताः । ७. = यासु ताः ।

भ्रमन्ति भुवनाभोगे निश्चला अपि यद्गुणाः ।
असंख्येयाश्च सर्वत्र व्रजन्ति गणनीयताम् ॥८॥
यत्पादपांसुसंपर्कादलंकृतशिरोरुहाः ।
निस्पृहा वासचूर्णेषु भवन्ति नृसुरासुराः ॥९॥
भास्वानपि च यः सेव्यपादोऽभूत्तापवर्जितः ।
विकासयति चाशेषकुमुदं कुमुदोज्ज्वलः ॥१०॥

आश्चर्यकथाः विस्मयकथाः । विपश्चितां विदुषाम् । कर्णपूरायन्ते कुण्डलमिवाचरन्ति । कर्णपूरमिति सुब्धातोः क्यङ्प्रत्ययः ॥ ७ ॥ भ्रमन्तीत्यादि[1] । यद्गुणाः यस्य मुनिपतेर्गुणाः । निश्चला अपि स्थिरा अपि । भुवनाभोगे भुवनानां लोकानाम् आभोगे विस्तारे । 'आभोगः परिपूर्णता' इत्यमरः । भ्रमन्ति चलन्ति । भ्रमु[2] चलने लट् । असंख्येयाश्च अगणेयाश्च[3] । सर्वत्र सर्वस्मिन् सर्वत्र । गणनीयतां,[4] (पक्षे) श्लाघ्यतां । व्रजन्ति गच्छन्ति ॥ ८ ॥ यदित्यादि । यत्पादपांसुसंपर्कात् यस्य मुनिपतेः पादयोः चरणयोः रजसो धूल्याः सम्पर्कात् संगात् । अलङ्कृतशिरोरुहाः अलङ्कृताः भूषिताः शिरोरुहाः केशाः येषां ते । नृसुरासुराः मनुष्यदेवासुराः । वासचूर्णेषु सुगन्धिचूर्णेषु । निस्पृहाः वाञ्छारहिताः । भवन्ति ॥ ९ ॥ भास्वानित्यादि । यः मुनिपतिः । भास्वानपि च तेजोयुक्तोऽपि च, सूर्य इति ध्वनिः । सेव्यपादः सेव्यौ पूजनीयौ पादौ यस्य, पक्षे सेव्याः किरणाः यस्य सः । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । अभूत् अभवत् । लुङ् । तापवर्जितः तीक्ष्णपरिणामरहितः सन्तापरहितश्च । कुमुदोज्ज्वलः कुमुदवत् चन्द्रवदुज्ज्वलो भासमानः । 'शशिवृक्षोत्पलकपिकृपणदिग्गजेषु कुमुदः' इति नानार्थकोशे । यो भास्वानपीत्यत्रापि योज्यः । अशेषकुमुदम् अशेषा चासौ कुश्च अशेषकुः तस्याः मुत् हर्षः तां, पक्षे अशेषं च तत् कुमुदं चेति कसः (?) समस्तकैरवम् । विकासयति च प्रकाशयति, पक्षे

जाते हैं; उनमें मोती जड़े रहते हैं और वे पहरनेवालोंके कानोंकी शोभा बढ़ाते हैं । इसी प्रकार उनकी कथाएँ अच्छे अक्षरोंसे रची रहती हैं; उनमें यथास्थान मुक्त जीवोंकी उत्तम चर्चा रहती है और अनेक विशेषताओंके रहनेसे वे आश्चर्यजनक होती हैं तथा उनका श्रवण विद्वान् श्रोताओंके कानोंको सुशोभित करता है ॥७॥ उनके गुणोंमें दो विचित्र बातें हैं—पहली यह कि वे चलते नहीं हैं किन्तु घूमते सारे संसारमें हैं और दूसरी यह कि वे गणनाके बाहर हैं पर सब जगह गणनामें आते हैं । वस्तुतः वे बड़े ही गुणी हैं—उनके गुण अविनाशी हैं; उनके गुणोंकी चर्चा सभी करते हैं; उनके गुणोंको गिनाया नहीं जा सकता और वे (गुण) सर्वत्र आदर पाते हैं ॥८॥ जो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी और मनुष्य उनके चरण-रजसे अपने बालोंको विभूषित कर लेते हैं, उन्हें सुगन्धि-चूर्णकी चाह नहीं रहती ॥९॥ श्रीधर मुनि तेजकी दृष्टिसे सूर्य हैं, किन्तु उनमें कुछ ऐसी भी विशेषताएँ हैं, जिनसे वे उससे कहीं अच्छे हैं; क्योंकि उष्णताके कारण सूर्यके किरण (चरण) सेवन करने योग्य नहीं है जब कि उनके चरण सेवन करने योग्य हैं । सूर्य सन्तापसहित है किन्तु वे सन्तापरहित हैं; क्योंकि वे कभी ऐसा कार्य ही नहीं करते जिससे उन्हें सन्ताप हो । सूर्यका वर्ण चन्द्र-जैसा उज्ज्वल नहीं है । किन्तु उनका शरीर चन्द्र-जैसा उज्ज्वल है । वे सारे भूमण्डलके प्रमोदको बढ़ाते हैं पर सूर्य सारे भूमण्डलकी बात तो दूर रही कुमुदको भी प्रमोद नहीं दे पाता ॥ १० ॥

१. श स 'भ्रमन्ति इत्यादि' इति । २. श भ्रमु स भ्रम । ३. श स अगणीयाश्च ।
४. = गणनीयतां गणनाविषयतां, गणेन जनवृन्देन नीयतां प्राप्यतां च ।

मुनेस्तस्य प्रभावेण[1] या विभूतिरभूद्वने ।
तां विवक्षाम्यहं किं तु वक्त्रं नोक्तं करोति मे ॥११॥
वसन्तमनपेक्ष्यैव तस्यातिशय[2]विस्मिताः ।
रोमाञ्चानिव मुञ्चन्ति कोरकांश्चूतपादपाः ॥१२॥
तत्संगादिव संजातशान्तचित्तेन पुष्यता[3] ।
न विसोढमशोकेन कामिनीपादताडनम् ॥१३॥
बकुला अपि दृष्ट्वा तमणुव्रतमिवाश्रिताः ।
यद्वधूमधुगण्डूषाननादृत्यैव पुष्पिताः ॥१४॥
तिलकस्तिलकं पृथ्व्यास्तं दृष्ट्वा व्यक्तसत्त्वणात् ।
स्वपक्षदर्शनात्कस्य न प्रीतिरुपजायते ॥१५॥

स्फुटयति । काशि[4] दीप्तौ णिजन्ताल्लट् ॥१०॥ मुनेरित्यादि । तस्य मुनेः श्रीधरमुनिपस्य । प्रभावेण[5] सामर्थ्येन । वने मनोहरोद्याने । या विभूतिः संपत्तिः । अभूत् अभवत् । तां विभूतिम् । अहं विवक्षामि वक्तुमिच्छामि । वच् परिभाषणे । 'कर्मणेककर्तृकात्' इत्यादिना सन् प्रत्ययः तस्माल्लट् । किंतु विशेषोऽस्ति । मे मम । 'ते मयावेकत्वे' इति अस्मच्छब्दस्य षष्ठ्येकवचने मे इत्यादेशः । वक्त्रं वदनम् । उक्तं भाषितम् । न करोति न विदधाति । डुकृञ् करणे लट् । तद्विभूतिर्वाचामगोचरेति भावः ॥११॥ वसन्तमित्यादि । तस्य मुनिपतेः । अतिशयविस्मिताः अतिशयेन उत्कर्षेण विस्मिताः आश्चर्यं गताः । चूतपादपाः सहकारवृक्षाः । वसन्तं वसन्तकालम् । अनपेक्ष्यैव अपेक्षामकृत्वैव । रोमाञ्चानिव रोमहर्षणानीव । कोरकान् मुकुलानि । मुञ्चन्ति धरन्तीत्यर्थः । मुच्लृ[6] मोक्षणे ॥१२॥ तत्संगादित्यादि[7] । पुष्यता[8] विकसता । अशोकेन अशोकवृक्षेण । तत्संगात् तस्य मुनिपतेः संगात् सम्पर्कात् । संजातशान्तचित्तेन सम्यग्ज्ञानशान्तहृदयेनेव । कामिनीपादताडनं कामिनीनां स्त्रीणां पादताडनं चरणाघातम् । न विषोढं न मृष्टम्, वाञ्छितं न भवतीत्यर्थः ॥१३॥ बकुला इत्यादि । बकुलाः बकुलवृक्षाः अपि । तं मुनीन्द्रम् । दृष्ट्वा वीक्ष्य । अणुव्रतं सूक्ष्मव्रतं-श्रावकव्रतम् । श्रिता इव आश्रिता इव । 'श्रितादिभिः' इति समासः । यत् यस्मात्कारणात् । वधूमधुगण्डूषान् वधूनां स्त्रीणां मधुनो मद्यस्य गण्डूषान् निष्ठीवनक्रियाः । अनादृत्यैव उदासीनं कृत्वैव[9] । पुष्पिताः पुष्पाणि संजातानि एषाम् इति पुष्पिताः कुसुमिताः । बकुलवृक्षाणां स्त्रीणां मद्यगण्डूषेण पुष्पाणि जायन्तेऽत्र तदपेक्षा नास्तीत्यर्थः ॥१४॥ तिलक इत्यादि । तिलकः

उनके प्रभावसे मनोहर बागकी जो विभूति प्रकट हुई है, उसे मैं तो कहना चाहता हूँ, किन्तु मेरा मुँह कहना नहीं मान रहा है । शब्दोंमें इतना सामर्थ्य ही कहाँ, जो वे उसे कह सकें; वह तो केवल देखते ही बनती है ॥११॥ सभी जगह वसन्त ऋतुके आनेपर ही आमके पेड़ोंमें बौर लगती है, किन्तु राजन्, आपके मनोहर बागमें बिना वसन्तके आये ही उनमें बौर लग गई है । लगता है मुनिराजके अतिशयसे चकित हो जानेके कारण उन्हें रोमाञ्च हो आया है ॥१२॥ स्त्रियोंके चरणोंकी चोट सहे बिना ही अशोक वृक्ष विकसित हो गये हैं । मानो मुनिराजके समागमसे उनका चित्त शान्त हो गया है ॥१३॥ मौलसिरी वृक्ष स्त्रियोंके मद्यके कुरलोंकी अवहेलना करके अपने-आप विकसित हो गये हैं । मानों मुनिराजके दर्शन पाकर उन्होंने पाँच अणुव्रत ग्रहण कर लिये हैं ॥१४॥ मुनिराज पृथिवीके तिलक हैं । मानो इसीलिए उनके दर्शन

---

१. क ख ग घ प्रभावेन । २. अ °तिशयि° । ३. अ आ इ क ख ग घ श स पुष्यता । ४. कासृङ् दीप्तौ इति शाकटा० धातुपाठे, काशृ दीप्तौ इति पाणिनीये । ५. श स °भावेन । ६. श स मुच । ७. श स °ङ्गादिति । ८. श स पुष्यता । ९. = अनपेक्ष्यैव ।

तद्धर्मश्रवणज्जातविबोधा इव चम्पकाः ।
न मनागप्यजायन्त मलिनालिसमाश्रयाः ॥१६॥
यथा पलाशास्तत्रैव[1] शोभन्ते नव किंशुकैः ।
तथैव जम्बूतरवो विराजन्ते न किं शुकैः ॥१७॥
जयशब्दं वयःशब्दैः कुर्वत्याः काननश्रियः ।
दन्तावलिरिवाभाति कुन्दकुड्मलसंततिः[2] ॥१८॥
हासानिव विमुञ्चन्तः संतोषात्कुसुमोद्गमान् ।
शिखण्डिताण्डवाटोपं तन्वन्ति कुटजद्रुमाः ॥१९॥

तिलकवृक्षः । पृथ्व्याः भूमेः । तिलकं श्रेष्ठम् । तं मुनिम् । दृष्ट्वा वीक्ष्य । क्षणात् उत्सवात् । 'कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः । व्यकसत् अस्फुटत् । कस गतौ लङ् । तथा[3] हि—स्वपक्षदर्शनात् स्वेषां पक्षाणां सहायानां दर्शनात् वीक्षणात् । कस्य पुरुषस्य । प्रीतिः संतोषः । नोपजायते नोत्पद्यते, अपि तु उपजायते एव ॥१५॥ तद्धर्मेत्यादि । चम्पकाः चम्पकवृक्षाः । तद्धर्मश्रवणात् तस्य श्रीधरमुनीन्द्रस्य धर्मस्य धर्मोपदेशस्य श्रवणात् । जातविबोधा इव जात उत्पन्नो बोधो[4] येषां ते त इव । मनागपि स्वल्पमपि । मलिनालिसमाश्रयाः मलिनानां कृष्णवर्णानाम् अलीनां भ्रमराणां समाश्रयाः संबन्धयुक्ताः, पापसमूहस्याधारा न भवन्तीति ध्वनिः । नाजायन्त नाभवन् । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् ॥१६॥ यथेत्यादि । तत्रैव मनोहरोद्यान एव । पलाशाः पलाशवृक्षाः । नवकिंशुकैः नवैर्नवीनैः किंशुकैः किंशुकवृक्षस्य पुष्पाणि किंशुकानि तैः । 'बहुलं श्लुक् पुष्पमूले' इति विहितप्रत्ययस्य श्लुक् । यथा येन प्रकारेण । शोभन्ते विराजन्ते । तथैव तेन प्रकारेणैव । जम्बूतरवः जम्बूवृक्षाः । शुकैः कीरपक्षिभिः । न विराजन्ते किं न शोभन्ते किम् । अपि तु विराजन्त एव । राजृ दीप्तौ लट् । यमकम् ॥१७॥ जयशब्दमित्यादि । कुन्दकुड्मलसंततिः कुन्दानां माध्यानां कुड्मलानां मुकुलानां संततिः समूहः । वयःशब्दैः वयसां शब्दैः पक्षिध्वनिभिः । 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः । जयशब्दं जयेतिशब्दम् । कुर्वत्याः विदधत्याः । काननश्रियः उद्यानलक्ष्म्याः । दन्तावलिरिव दन्तानां रदनानाम् आवलिः पंक्तिः समूह इव । आभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ हासानित्यादि । संतोषात् प्रमोदात् । हासानिव हास्यानीव । कुसुमोद्गमान् कुसुमानां पुष्पाणाम् उद्गमान् [5]कुड्मलानि ।

पाकर तिलकवृक्ष मारे खुशीके फूल उठे हैं । अपने पक्षके व्यक्तिको देखकर किसे प्रसन्नता नहीं होती ? ॥१५॥ जान पड़ता है उनके श्रीमुखसे धर्मोपदेश सुनकर चम्पक वृक्षोंका विवेक जाग उठा है, मानो इसीलिए उन्होंने अपना पूर्ण विकास कर लिया है और इसके पश्चात् काले भौंरोंको—भौंरोंको क्या पापपुञ्जको—आश्रय लेनेके लिए अपने पास तनिक भी नहीं फटकने दिया ॥१६॥ राजन् ! यह तो सभी जानते हैं कि ढाकके पेड़ वसन्तमें और जामुनके पेड़ वर्षा ऋतुमें विकसित होते हैं । किन्तु आपके बागमें इस समय ढाकके पेड़ जैसे नवीन फूलोंसे शोभा पा रहे हैं क्या उसी प्रकार जामुनके पेड़ तोतोंसे शोभा नहीं पा रहे हैं ? ॥१७॥ राजन् ! वहाँ पक्षी चहचहा रहे हैं, अतः लगता है मुनिराजको देखकर वनलक्ष्मी जयजयकार कर रही है । कुन्द वृक्षोंमें कलियाँ खिल रही हैं । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो जयजयकार करनेसे उसके दाँतोंकी पंक्ति देख पड़ रही हो ॥१८॥ कुटजवृक्ष विकसित हो गये हैं । उनमें कलियाँ खिल उठी हैं । अतएव ऐसा जान पड़ता है कि मुनिसमागमके सन्तोषसे वे हँस रहे हैं ।

---

१. आ इ तत्रैव म तत्रेश । २. अ क ख ग घ म संहृतिः । ३. श स तथापि । ४. = विबोधो॰ । ५. आ कुट्म॰ ।

भयात्पलायमानस्य कामस्य गलिता करात् ।
बाणावलिरिवाभाति बाणावलिरितस्ततः ॥२०॥
शुचिसंगाद्विकासो मे कश्चातोऽपि मुनेः शुचिः ।
इतीव मन्यमानागाद्विकासं नवमल्लिका ॥२१॥
कदम्बैः सहसा नाथ विकसत्कुसुमोत्करैः ।
रोमाञ्चकञ्चुकादानादलमात्मसमीकृतः ॥२२॥
तिरश्चां संहतिस्तत्र परस्परविरोधिनी ।
विरोधं सहजं हित्वा बन्धुभावेन वर्तते ॥२३॥

विमुञ्चन्तः विमुञ्चमानाः । कुटजद्रुमाः कुटजवृक्षाः । शिखण्डिताण्डवाटोपं शिखण्डिनां मयूराणां ताण्डवस्य नर्त्तनस्य आटोपं संभ्रमम् । तन्वन्ति विस्तारयन्ति । तनूञ्[2] विस्तारे लट् ॥१९॥ भयादित्यादि । भयात् भीतेः । इतस्ततः इतोऽमुतश्च[3] । पलायमानस्य । कामस्य मन्मथस्य । करात् हस्तात् । गलिता पतिता । बाणावलिरिव बाणानां शराणाम् आवलिरिव समूह इव । बाणावलिः बाणानां कुरण्टकानाम् आवलिः समूहः । आभाति शोभते ॥२०॥ शुचिसंगादित्यादि । मे मम । शुचिसंगात् शुचेः आषाढमासस्य संगात् संपर्कात्, पक्षे शुचेः निर्मलपुरुषस्य संगात् । विकासः विकसनम् । भवितव्य इति शेषः । अतो[4] अमुष्मात् । मुनेरपि योगीन्द्रादपि । कः शुचिः को निर्मलः न कोऽप्यन्य इति भावः । इति इत्थम् । मन्यमानेव बुध्यमानेव । नवमल्लिका नूतनमल्लिका । विकासं विकसनम् । अगात् आयात् । इण गतौ लुङ् । 'गैत्योः' इति गादेशः ॥२१॥ कदम्बैरित्यादि । नाथ, भो स्वामिन् । विकसत्कुसुमोत्करैः विकसन् कुसुमानाम् उत्करो येषां तैः, विकसत्पुष्पसमूहयुक्तैरित्यर्थः । कदम्बैः कदम्बवृक्षैः । रोमाञ्चकञ्चुकादानात्[5] रोमाञ्च एव रोमहर्षणम् एव कञ्चुको वारबाणः तस्य आदानात् । आत्मा स्वयम् । सहसा शीघ्रेण[6] । अलम् अत्यन्तम् । समीकृतः प्राक् असम इदानीं समः क्रियते स्म समीकृतः, अभूवम् इति भावः ॥२२॥ तिरश्चामित्यादि । तत्र मनोहरोद्याने । परस्परविरोधिनी परस्पर[7]वैरवती । तिरश्चां तिर्यग्जीवानाम् । संहतिः संदोहः । सहजं सहभाविनम् । विरोधं । हित्वा त्यक्त्वा[8] । बन्धुभावेन बन्धुत्वेन, उपशमभावेनेत्यर्थः ।

कुटज वृक्षोंका विकास देखकर मयूर यह समझ रहे हैं कि वर्षाऋतु आ गयी है, अतः वे भी नाच रहे हैं ॥१९॥ राजन् ! वहाँ इधर-उधर बाण-वृक्षोंकी पंक्तियाँ लगी हुई हैं । वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो मुनिराजके भयसे भागे हुए कामदेवके हाथसे गिरे हुए बाणोंकी पंक्तियाँ हों ॥२०॥ 'शुचि-आषाढ़मासके समागमसे मेरा विकास होता है । इन मुनिराजसे बढ़कर शुचि-पवित्र (आषाढ़ मास) और कौन होगा' मानो यही सोचकर चमेली खिल उठी ॥२१॥ राजन् ! मुनिराजके आनेपर जिस समय कदम्ब वृक्षोंमें फूल खिले उसी समय मेरे सारे शरीरमें रोमांच हो आया, इससे ऐसा जान पड़ा मानो मैंने कवच पहन लिया हो । इस अवसरपर कदम्ब वृक्षोंने मुझे पूरी तरहसे अपने समान बना लिया ॥२२॥ जिन पशुओंमें आपसी विरोध है, उनका झुण्ड वहाँ जन्मजात विरोध छोड़कर मित्रोंकी भाँति हिल-मिलकर बैठा हुआ

---

१. अ क ख ग घ म °दहमा° । २. श स तनुङ् । ३. आ प्रतौ केवलं 'इतोऽमुतश्च' इति पाठो दृश्यते । ४. आ 'अतो' इति नास्ति । ५. °'दानात्' इति टीकाकारसंमतः पाठः, °'धानात्' इति सर्वासु प्रतिषु । ६. = शीघ्रम् । ७. आ 'परस्पर' इति नास्ति । ८. आ हित्वा हा संपूर्वं त्यक्त्वा ।

इति श्रुत्वा स तद्वाणीं मुनिवृत्तान्तशंसिनीम् ।
स्वाङ्गेऽपि न ममौ हर्षादुद्वेल इव वारिधिः[1] ॥२४॥
सत्कृत्य स स्वकीयैस्तं भूषणैः[2] पारितोषिकैः ।
वनपालमथान्यैश्च कृतार्थमकरोद्धनैः ॥२५॥
यस्य देवस्य गन्तव्यं स देवो गृहमागतः ।
इत्युक्तिं घोषयन्नुच्चैरुदस्थादासनादसौ ॥२६॥
दिशि तस्यामवस्थाय यत्रासौ परमेश्वरः ।
बद्ध्वा लक्ष्यमसौ भूमावनंसीत्तस्य पादयोः ॥२७॥
व्यानशेऽथ तदादेशात्पुरं पटहनिःस्वनः ।
मुनिवन्दनयात्रायां कुर्वन्संकेतिनीः प्रजाः ॥२८॥

वर्तते तिष्ठति । वृतु वर्तने आत्मनेपदम्[3] ॥२३॥ इतीत्यादि । सः पद्मनाभमहीपतिः । मुनिवृत्तान्तशंसिनीं मुनेः श्रीधरमुनीन्द्रस्य वृत्तान्तशंसिनीं वार्ताभिधायिनीम् । तद्वाणीं तस्य वनपालस्य वाणीं वचनम् । इति उक्तप्रकारेण । श्रुत्वा निशम्य । हर्षात् संतोषात् । स्वाङ्गेऽपि स्वस्य आत्मनः अङ्गेऽपि शरीरेऽपि । उद्वेलः वेलामुद्गतः, तीरमतिक्रान्त इत्यर्थः । वारिधिरिव समुद्र इव । न ममौ न प्रमिमीते स्म[4] । मा माने लिट् ॥२४॥ सत्कृत्येत्यादि । सः पद्मनाभः । अथ वार्ताश्रवणानन्तरम् । स्वकीयैः स्वस्य संबन्धैः[5] । पारितोषकैः पारितोषस्य संतोषस्य योग्यानि पारितोषकाणि तैः । भूषणैः आभरणैः । तं वनपालम् ऋषिनिवेदकम्[6] । सत्कृत्य सत्कारं कृत्वा[7] । 'कारिका'—इत्यादिना ति संज्ञा । अन्यैश्च शेषैश्च । धनैः द्रव्यैः । कृतार्थं कृतो निष्पन्नोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तम् । अकरोत् अकार्षीत् । डुकृञ् करणे लङ् ॥२५॥ यस्येत्यादि । यस्य देवस्य देवतायाः । गृहम् आवासः । गन्तव्यं गन्तुं योग्यम् । स देवः देवता । आगतः समायातः । इत्युक्तिम्[8] एवं प्रकार [कं] नीतिवचनम् । उच्चैः नितान्तम् । घोषयन् उच्चारयन् । असौ पद्मनाभमहीपतिः । आसनात् सिंहासनात् । उदस्थात् उदतिष्ठत् । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लुङ् ॥२६॥ दिशीत्यादि । असौ पद्मनाभभूपतिः । यत्र यस्यां दिशि । असौ अयम् । परमेश्वरः श्रीधरमुनिपरमेष्ठी वर्तते । तस्यां दिशि । अवस्थाय अवस्थानं पूर्वं[9] स्थित्वा । लक्ष्यम् अङ्कम्[10] । बद्ध्वा कृत्वा । तस्य श्रीधरमुनीन्द्रस्य । पादयोः चरणारविन्दयोः । भूमौ धरण्याम् । अनंसीत् अनमत् । णम् प्रह्वत्वे शब्दे । लुङ् ॥२७॥ व्यानश इत्यादि । अथ वन्दनानन्तरम् । तदादेशात् तस्य पद्मनाभमहीपतेः आदेशात् आज्ञायाः । मुनिवन्दनयात्रायां मुनेः मुनीन्द्रस्य वन्दनस्य यात्रायां प्रस्थाने । प्रजाः पौरजनान् । संकेतिनीः संकेतवतीः । कुर्वन् विदधानः । पटहस्वनः पटहस्य आनकस्य स्वनः ध्वनिः । पुरं रत्नसं-

है ॥२३॥ इस प्रकार मालीसे मनोहर बागमें मुनिराजके आनेके समाचार सुनकर महाराज पद्मनाभ चन्द्रोदय होनेपर उमड़े हुए सागरकी भाँति ख़ुशीके मारे अपने शरीरमें फूला नहीं समाया ॥२४॥ पद्मनाभने अपने आभूषण देकर उस मालीका सत्कार किया और उसे और भी धन इनाममें देकर कृतार्थ कर दिया ॥२५॥ 'जिनके मन्दिरमें मुझे स्वयं जाना चाहिए था वे देव स्वयं ही मेरे घर पधारे हैं' इस उक्तिको जोरसे दुहराता हुआ राजा पद्मनाभ उन्नत सिंहासनसे उठ खड़ा हुआ ॥२६॥ और जिस दिशामें मुनिराज विराजे थे उसी ओर खड़े होकर पद्मनाभने भूमिपर उनके चरणोंका ध्यान कर नमस्कार किया ॥२७॥ इसके पश्चात् महाराज पद्मनाभके आदेशसे प्रजाको मुनिराजकी वन्दनाके लिए जानेवाले जुलूसमें सम्मिलित होनेकी सूचना देनेके

१. अ वारिधेः । २. °यैः संभूष° । ३. आ ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् आत्मने पदम् । ४. = न माति स्म । ५. = आत्मीयैः । ६. आ प्रतावेव 'ऋषिनिवेदकम्' इति समुपलभ्यते । ७. = आदृत्य । ८. आ श स इत्युक्तम् । ९. = पश्चात् किञ्चित् । १०. = नमनोद्देश्यम् ।

पञ्चषानपि कृत्वाग्रे पत्तीन्प्राप्तैर्नराधिपैः ।
क्रमशः संमिलल्लोकैरक्षुभ्यद्राजगोपुरम् ॥२९॥
सपौरः ससुहृद्वर्गः सकलत्रः सबान्धवः ।
सतनूजः ससामन्तः स चचाल ससैनिकः ॥३०॥
गच्छंल्लावण्यसंक्रान्तदिदृक्षुनयनो वनम् ।
नन्दनाभिमुखीभूतशक्रशोभां बभार सः ॥३१॥
क्षणादशोकसंयुक्तं पुंनागपरिवारितम् ।
वनमात्मसमं प्राप्य पिप्रिये पृथिवीपतिः ॥३२॥

चयम् । व्यानशे व्याप्नोति स्म । अशौङ् व्याप्तौ कर्त्तरि लिट् । 'नश्चाश्न्वृदाद्यनेकहलः'[1] इति नगागमः ॥२८॥ **पञ्चषानपीत्यादि** । पञ्चषानपि पञ्च वा षड्वा इति पञ्चषाः तान् । 'सुज्वा—' इति समासः । 'प्रमाणीसंख्याड्डः' इति ड-प्रत्ययः । पत्तीन् पदातीन्, पादचारिभृत्यानित्यर्थः । अग्रे पुरः । कृत्वा विधाय ! प्राप्तैः प्रयातैः । नराधिपैः नराणाम् अधिपाः तैः भूपालैः । क्रमशः क्रमात् । 'बह्वल्पार्थ—' इत्यादिना शसि प्रत्ययः[2] । संमिलल्लोकैः संमिलद्भिः संयुञ्जानैः लोकैः जनैः । राजगोपुरं राजद्वारम् । अक्षुभ्यत्[3] । क्षुभ संचलने ॥२९॥ **सपौर इत्यादि** । सपौरः पौरजनसहितः । ससुहृद्वर्गः सुहृदां वर्गेण समूहेन सहितः । सकलत्रः अन्तःपुरसंयुक्तः । सबान्धवः बन्धुजनैः युतः । सतनूजः तनूजैः[4] पुत्रैः युक्तः । ससामन्तः राज्यसंधिस्थभूपैः[5] सहितः । [6]ससैनिकः सेनापतिसनाथः । सः पद्मनाभमहीपालः । चचाल प्रतस्थे । चल कम्पने लिट् ॥३०॥ **गच्छन्नित्यादि** । [7]लावण्यसंक्रान्तदिदृक्षुनयनः लावण्ये देहकान्तौ संक्रान्तानि प्रतिबिम्बितानि दिदृक्षूणां द्रष्टुमिच्छूनां नयनानि नेत्राणि यस्य सः । वनं मनोहरोद्यानम् । गच्छन् यान्[8] । सः पद्मनाभभूपतिः । नन्दनाभिमुखीभूतशक्रशोभां प्रागनभिमुख इदानीमभिमुखो भवति स्म अभिमुखीभूतः नन्दनस्य नन्दनवनस्याभिमुखीभूतः तथोक्तः स चासौ शक्रश्च तस्य शोभां लीलाम् । बभार धरति स्म । भृञ् भरणे । लिट् ॥३१॥ **क्षणादित्यादि** । पृथिवीपतिः पद्मनाभमहीपतिः । अशोकसंयुक्तम् अशोकैः अशोकवृक्षैः, पक्षे शोकरहितजनैः संयुक्तं[9] सहितम् । पुंनागपरिवारितं पुन्नागैः पुन्नागवृक्षैः, पक्षे पुंसां पुरुषाणां नागैः श्रेष्ठैः परिवारितं वेष्टितम् । 'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुंगवर्षभकुञ्जराः । सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः ।' इत्यमरः । आत्मसमं आत्मनः स्वस्य

लिए भेरीकी आवाज सारे नगरमें गूँज उठी ॥२८॥ इस समाचारको सुनते ही आस-पासके अन्य नगरोंके राजे-जिनके आगे पाँच-छह नौकर थे—पुरके दरवाजेपर जा पहुँचे । धीरे-धीरे और लोग भी क्रमसे आ गये । फलतः वहाँ बड़ी भीड़ हो गयी ॥२९॥ फिर अपने पुत्र, मित्र, कलत्र, भाई, पुरवासी और सामन्तोंके साथ महाराज पद्मनाभने भी प्रस्थान किया ॥३०॥ महाराज पद्मनाभ जब वनकी ओर जा रहे थे, उस समय सभी दर्शकोंकी दृष्टि उन्हींकी ओर लगी हुई थी । इससे उनके दीप्तिमय देहमें हजारों नेत्र दृष्टिगोचर होने लगे । फलतः वे नन्दन वनकी ओर जानेवाले इन्द्रकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥३१॥ महाराज पद्मनाभ शीघ्र ही वन पहुँच गये । उस वनमें अशोक वृक्ष थे और वह चारों ओरसे नागकेसरके वृक्षोंसे घिरा हुआ था । पद्मनाभके साथ जितने मनुष्य थे वे सबके सब अशोक—शोक रहित थे तथा उसे चारों ओरसे श्रेष्ठ पुरुष घेरे हुए थे । अतः उस वनको अपने ही समान पाकर पद्मनाभको

१. आ प्रतावेव केवलं सूत्रमिदं दृश्यते । २. श स शः-प्रत्ययः । ३. = चुक्षोभ । ४. श स तनुजैः । ५. श स °स्थभावैः । ६. अ ससैन्यकः । ७. = 'मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' ८. श स यन् । ९. श स सह संयु° ।

वायुना विदधे किंचित्संजाताध्वपरिश्रमः ।
वनलक्ष्मीविनिःश्वाससमेन विपरिश्रमः ॥३३॥
सेनापतिं समादिश्य सेनामावासयेति सः ।
प्रविवेश महानागादवतीर्य महावनम् ॥३४॥
राजलीलां[1] परित्यज्य चामरादिपरिच्छदाम् ।
विनीतः शिष्यवद् भेजे देशं मुनिसमाश्रितम् ॥३५॥
ददृशे च मुनिस्तेन स्थितो नीलशिलातले ।
शरत्प्रसन्ने शीतांशुरिवाकाशैकमण्डले ॥३६॥
त्रिः परीत्य प्रणम्य त्रिस्त्रिर्जयेति निगद्य सः ।
त्रिरुक्तमखिलं कृत्वा न्यविक्षत मुनेः पुरः ॥३७॥

समं सदृशम् । वनं मनोहरोद्यानम् । क्षणात् शीघ्रात्[2] । प्राप्य गत्वा । पिप्रिये प्रीतिं ययौ । प्रीञ् प्रीतौ । लिट् । श्लेषः ॥३२॥ वायुनेत्यादि । किंचित्संजाताध्वपरिश्रमः[3] किंचित् ईषत् संजातेन उत्पन्नेन अध्वनः मार्गस्य परिश्रमेण युक्तः वनलक्ष्मीनि[विनि] श्वाससमेन वनस्य उद्यानस्य लक्ष्म्याः श्रियः नि[विनि] श्वासस्य समेन सदृशेन । वायुना मन्दमारुतेन । विपरिश्रमः विगतपरिश्रमः । विदधे चक्रे । डुधाञ् धारणे च । कर्मणि लिट् । उपमा ॥३३॥ सेनापतिमित्यादि । सः पद्मनाभभूपालः । सेनां चमूम् । आवासयेति निवासयेति[4] सेनापतिं सेनानायकम् । समादिश्य आज्ञापयित्वा । महानागात् महागजपतेः[5] । अवतीर्य अवरुह्य । [महावनं] महत् पृथु वनम् उद्यानम् । प्रविवेश जगाम[6] । विश प्रवेशने लिट् ॥३४॥ राजलीलामित्यादि । विनीतः विनययुतः । चामरादिपरिच्छदां चामरादिभिः प्रकीर्णकादिभिः परिच्छदैः परिकरैः युक्तां राजलीलां राजविलासम्[7] । परित्यज्य विमुच्य । मुनिसमाश्रितं मुनिना मुनीन्द्रेण समाश्रितम् । देशं प्रदेशम् । शिष्यवत् छात्रवत् । भेजे सिषेवे[8] । भज सेवायाम् । लिट् ॥३५॥ ददृश इत्यादि । शरत्प्रसन्ने शरदा प्रसन्ने निर्मले । आकाशैकमण्डले आकाशस्य एकमण्डले एकप्रदेशे । शीतांशुरिव चन्द्र इव । नीलशिलातले इन्द्रनीलशिलाप्रदेशे । स्थितः । मुनिः मुनीन्द्रः । तेन पद्मनाभभूपेन । ददृशे च वीक्ष्ये[9] । दृशु प्रेक्षणे[10] । कर्मणि लिट् ॥३६॥ त्रिःपरीत्येत्यादि । सः पद्मनाभभूपः । त्रिः परीत्य त्रीन् वारान् परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य । त्रिः त्रीन् वारान् जयेति सर्वोत्कर्षेण वर्तस्वेति । निगद्य उच्चार्य । अखिलं समस्तम् । त्रिरुक्तं त्रिवारोक्तम् । कृत्वा विधाय ।

बड़ी प्रसन्नता हुई ॥३२॥ पद्मनाभको रास्तेकी थोड़ी-सी थकान हो गयी थी । किन्तु उसे वनलक्ष्मीकी श्वास-सरीखी वहाँकी मन्द, सुगन्ध और शीतल वायुने शीघ्र ही दूर कर दिया ॥३३॥ पद्मनाभने पहले सेनापतिको आदेश दिया कि सेनाको यहींपर ठहरा दो और फिर हाथीसे उतरकर वनमें प्रवेश किया ॥३४॥ पद्मनाभने चामर आदि शाही ठाटको हटा दिया और फिर एक विनीत शिष्यकी भाँति वे उस प्रदेशमें जा पहुँचे जहाँ मुनिराज विराजे थे ॥३५॥ वहाँ पहुँचकर पद्मनाभने मुनिराजके दर्शन किये । वे उस समय नीली चट्टानपर विराजमान थे । अतः वे शरत्कालीन निर्मल आकाशके एक प्रदेशमें पूर्णचन्द्रकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥३६॥ फिर पद्मनाभने मुनिराजकी तीन बार परिक्रमा की; उन्हें तीन बार प्रणाम किया और तीन बार उनका जयजयकार किया । इस तरह सब तीन-तीन बार करके उनके आगे

---

१. क ख ग राजलक्ष्मीम् । २. = शीघ्रम् । ३. = किंचिद् ईषत् संजात उत्पन्नोऽध्वपरिश्रमो यस्य सः । ४. = निवेशय, इति-इत्थम् । ५. आ श स महागजपतेः सकाशात् । ६ = प्रवेशं चकार । ७. क ख घ राजलक्ष्मीम् । ८. = प्राप इत्यर्थः । ९. = दृष्टश्च । १०. आ दृश्रृ प्रेक्षणे श स दृश प्रेक्षणे ।

नृपतेर्मुकुलीकुर्वन्स कराम्भोरुहद्वयम् ।
शीतगुत्वं व्यनक्ति स्म स्वकीयं मुनिपुंगवः ॥३८॥
भुवः शोभाभवद्योगाद्या जिनेन्द्रसुरेन्द्रयोः ।
तयोः संगतयोरासीत्सा मुनीन्द्रनरेन्द्रयोः[1] ॥३९॥
शान्ते जयजयेत्युच्चैर्भव्यकोलाहले ततः ।
दत्ताशीर्मुनिना तेन जगाद जगतीपतिः ॥४०॥
निरालोके जगत्यस्मिन्नदृष्टशिववर्त्मनि ।
सन्मार्गदर्शनान्नाथ[2] त्वमालोक इवोद्‌गतः ॥४१॥
खपुष्पं तदहं मन्ये भुवने सचराचरे ।
दिव्यज्ञानमये यन्न स्फुरितं तव चक्षुषि ॥४२॥

मुनेः मुनीन्द्रस्य । पुरः अग्रे । न्यविक्षत उपाविशत । विश प्रवेशने । लुङ् ॥३७॥ नृपतेरित्यादि । नृपतेः पद्मनाभमहीपतेः । कराम्भोरुहद्वयं[3] मुकुलीकुर्वन् कुड्मलीकुर्वन्[4] । सः मुनिपुंगवः मुनीनां पुंगवः श्रेष्ठः । स्वकीयं स्वसंबन्धम्[5] शीतगुत्वं शीताः गावः किरणाः[6] यस्य [सः] शीतगुः, तस्य भावः तत् । व्यनक्ति स्म व्यक्तीकरोति स्म । अञ्जु गतिव्यक्तिम्रक्षणेषु । लट् । लटः स्म योगे भूतार्थः ॥३८॥ भुव[7] इत्यादि । जिनेन्द्र-सुरेन्द्रयोः तीर्थंकरदेवेन्द्रयोः । योगात् संबन्धात् । भुवः भूमेः । या शोभा द्युतिः । अभवत् अभूत् । लङ् । संगतयोः संयुक्तयोः । तयोः मुनीन्द्रनरेन्द्रयोः[8] श्रीधरमुनीन्द्रपद्मनाभयोः । योगात् सा शोभा । आसीत् अभवत् । अस भुवि लङ् ॥३९॥ शान्त इत्यादि । ततः पश्चात् । जय जयेति सर्वोत्कर्षेण वर्तस्वेति । उच्चैः नितान्तम् । भव्यकोलाहले भव्यानां रत्नत्रयाविर्भवनयोग्यानां कोलाहले कलकले । शान्ते स्तिमिते । तेन मुनिना मुनीन्द्रेण । दत्ताशीः वितीर्णाशीः । जगतीपतिः जगत्याः लोकस्य पतिः । जगाद उवाच । गद व्यक्तायां वाचि । लिट् ॥४०॥ निरालोक इत्यादि । नाथ स्वामिन् । अदृष्टशिववर्त्मनि शिवस्य मोक्षस्य वर्त्म मार्गः[9] शिव-वर्त्म, अदृष्टं शिववर्त्म येन (यस्मिन्) तस्मिन् । निरालोके आलोकान्निर्गतो[तं] निरालोकः[कं] तस्मिन्, प्रकाशरहित इत्यर्थः । 'आलोकौ[10] दर्शनोद्योतौ' इत्यमरः । अस्मिन् एतस्मिन् । जगति लोके । सन्मार्ग-दर्शनात्[11] सतो विशिष्टस्य मार्गस्य अभ्युपेतप्राप्त्युपायस्य[12] दर्शनात् प्रकाशनात् । त्वं भवान् । आलोक इव प्रदीप इव । उद्‌गतः उद्‌गच्छति स्म तथोक्तः अधिगतः । गम्लृ गतौ । क्तप्रत्ययः । उपमा ॥४१॥ खपुष्पमि-

---

बैठ गया ॥३७॥ मुनिराजके आगे बैठते ही पद्मनाभके दोनों हाथ अपने आप संकुचित कमलकी कलीकी भाँति जुड़ गये । अतः ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो मुनिराजने अपना चन्द्रपना व्यक्त कर दिया हो ॥३८॥ मुनिराज और राजा पद्मनाभके संयोगसे उस समय पृथिवीकी वही शोभा उत्पन्न हो गयी जो पहले तीर्थंकर और इन्द्रके संयोगसे हुई थी ॥३९॥ भव्य जीव इस समय मुनिराजकी जयजयकार कर रहे थे । इससे बड़ा कोलाहल सुनायी पड़ रहा था । उसके शान्त होते ही पद्मनाभ मुनिराजसे आशीर्वाद लेकर यों बोला—नाथ ! इस जगत्‌में ज्ञानका प्रकाश न रहनेसे कल्याणका मार्ग नहीं सूझ रहा था । आपके आते ही वह सूझने लगा है, अतः आप प्रकट हुए प्रकाशके समान हैं ॥४२॥ इस जंगम

---

१. म नरेन्द्रमुनीन्द्रयोः । २. अ आ इ °देशनान्नाथ । ३. आ कर एवाम्भोरुहयो र्द्वयम् (करावेवा-म्भोरुहे तयोर्द्वयं करकमलयुगलम्) । ४. श स कराम्भो–इत्यादि मूलं तद्व्याख्यानं च नास्ति । ५. = आत्मीयम् । ६. श स किरणानि । ७. श स भवन इत्यादि । ८. म नरेन्द्रमुनीन्द्रयोः । ९. आ मार्गं । १०. आ °लोको । ११. अ आ इ °देशनान्नाथ । १२. आ प्रतौ केवलम् 'अभ्युपेतप्राप्त्युपायस्य' इति समुपलभ्यते ।

ततोऽवगन्तुमिच्छामि त्वत्तस्तत्त्वं जगत्प्रभो ।
संदिग्धं हि परिज्ञानं गुरुप्रत्ययवर्जितम् ॥४३॥
केचिदित्थं यतः प्राहुर्नास्तिकागममाश्रिताः ।[1]
न जीवः कश्चिदप्यस्ति पदार्थो मानगोचरः ॥४४॥

त्यादि । सचराचरे चराश्च अचराश्च चराचराः तैः सह वर्तन्ते इति सचराचरं[2] तस्मिन्, जङ्गमस्थावरसहिते इत्यर्थः । भुवने जगति । यत् वस्तु । दिव्यज्ञानमये अपूर्वज्ञानस्वरूपे । तव भवतः । चक्षुषि ज्ञानचक्षुषि । न स्फुरितं न दृष्टम् । तत् वस्तु । खपुष्पम् आकाशकुसुममिति । मन्ये जानामि । मनि ज्ञाने लट् ॥४२॥ तत इत्यादि । ततः तस्मात् कारणात् । जगत्प्रभो जगतां प्रभो जगन्नाथ । त्वत्तः त्वत् त्वत्तः भवतः सकाशात् । तत्त्वं वस्तुस्वरूपम् । अधिगन्तुम् अधिगमनाय अधिगन्तुं ज्ञातुम् । गत्यर्थानां धातूनां ज्ञानार्थत्वादित्यर्थः । इच्छामि वाञ्छामि । इषु इच्छायां लट् । 'यं मिषोः इच्छ इति दादेशः'[3] ('यम्गमिषोश्शि च्छः' शाकटा० ४।२।५७ यम् गम् इषु इत्येतेषां धातूनां शि प्रत्यये छकारादेशो भवति । यच्छति गच्छति इच्छति) । गुरुप्रत्ययवर्जितं गुरोः प्रत्ययेन उपदेशेन वर्जितम् । परिज्ञानं विज्ञानम् । संदिग्धं संशयितम् । हि स्फुटम् । अर्थान्तरन्यासः ॥४३॥ केचिदित्यादि । मानगोचरः मानस्य प्रमाणस्य गोचरो विषयः सामान्यविशेषात्मा प्रमाणार्थो विषय इत्यभिप्रायः । कश्चिदपि एकोऽपि । जीवः जीवति जीविष्यति अजीजीवत्[4] इति जीवः प्राणिपदार्थः[5] वस्तु । नास्ति न विद्यते । अस भुवि । लट् । नास्तिकागमं नास्ति परलोकादिमदिमतिर्यस्य [सः] नास्तिकः चार्वाकः, तस्य आगमं[6] मतम् । आश्रिताः आश्रयन्ते स्म तथोक्ताः, अङ्गीकृता[7] इत्यर्थः । केचित् अन्ये । इत्थम् अनेन प्रकारेण । 'कथमित्थमुः' इति साधुः । यतः यस्मात् । यतः कस्मात्(?) । प्राहुः

औरस्थावर जगत्में, मैं उस वस्तुको आकाशका फूल समझता हूँ, जो आपकी दिव्यज्ञानकी दृष्टिसे ओझल हो ॥४२॥ हे जगन्नाथ ! इसीलिए मैं आपसे तत्त्वोंका स्वरूप जानना चाहता हूँ; क्योंकि गुरुके उपदेशके बिना तत्त्वज्ञानमें सन्देह बना रहता है ॥४३॥ कोई नास्तिकागमानुयायी (चार्वाक दर्शनवाले, और कुछ बातोंमें चार्वाकोंसे भी चार कदम आगे चलनेवाले 'तत्त्वोपप्लव'[1] दर्शनके अनुयायी) यह कहते हैं कि 'जीव' नामका ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है,

१. चार्वाक दर्शन बहुत पुराना है । इसका उल्लेख महाभारतमें भी मिलता है । इस दर्शनकी दृष्टिसे पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक और आत्मा-परमात्माकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार भूत हैं (आकाश नहीं); जीव भूत चतुष्टयके संयोगसे उत्पन्न होता है, जो देहके साथ उत्पन्न होकर, उसीके साथ नष्ट हो जाता है और केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है । तत्त्वोपप्लवदर्शन, चार्वाकदर्शनसे उत्पन्न हुआ एक नवीन दर्शन है । यों यह दर्शन स्थूल रूपसे चार्वाकदर्शन समझा जाता है, किन्तु सूक्ष्म विचार किया जाये, तो उससे भिन्न है, यद्यपि उसीसे उत्पन्न हुआ है । भिन्नताका कारण मान्यताका भेद है । चार्वाकदर्शन, भूतचतुष्टय रूप चार तत्त्व, किसी-न-किसी रूपमें जीवतत्त्व, और अन्य प्रमाणको न मानकर भी प्रत्यक्ष प्रमाणको स्वीकार करता है, जब कि तत्त्वोपप्लव दर्शन किसी भी तत्त्व और किसी भी प्रमाणको नहीं मानता । इस दर्शनकी दृष्टिसे सर्वत्र बाधा-ही-बाधा है । इसीलिए आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें उक्त दोनों दर्शनोंकी पृथक्-पृथक् समालोचना की है । प्रस्तुत प्रकरणमें महाकवि वीरनन्दीने तत्त्वोपप्लवदर्शनको यहाँ पूर्वपक्षके रूपमें उपस्थित किया है । २. आ °चरः । ३. श स ' '-चिह्नितः पाठो नास्ति । ४. आ अजिजीवत् । ५. = प्राणी । पदार्थः वस्तु । ६. श स आगमो° । ७. = अङ्गीकृतवन्तः ।

अजीवश्च कथं जीवापेक्षस्तस्यात्यये भवेत् ।
अन्योन्यापेक्षया तौ हि स्थूलसूक्ष्माविव स्थितौ ॥४५॥
कथं च जीवधर्माः स्युर्बन्धमोक्षादयस्ततः ।
सति धर्मिणि धर्मा[1] हि भवन्ति न तदत्यये ॥४६॥
तस्मादुपप्लुतं सर्वं तत्त्वं तिष्ठतु संवृतम् ।
प्रसार्यमाणं शतधा शीर्यते जीर्णवस्त्रवत् ॥४७॥

ब्रुवन्ति । 'ब्रुवस्तिप्यञ्चत—' इत्यादिना रोरु सादेशः ब्रुव आह इत्यादेशश्च । लट् ॥४४॥ अजीव इत्यादि । तस्य जीवपदार्थस्य । अत्यये अभावे सति । जीवापेक्षः जीवपदार्थसापेक्षः । अजीवश्च अजीवपदार्थः । कथं केन प्रकारेण । भवेत् स्यात् । जीवपदार्थस्य विद्यमानत्वे अजीवपदार्थ इति व्यपदेशः, तदभावे तद्व्यपदेशाभावः, तस्मात्कारणात् अजीवपदार्थस्य जीवपदार्थापेक्षेत्यर्थः । अजीवजीवपदार्थौ स्थूलसूक्ष्माविव[2] । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे ।[3] अन्योन्यापेक्षया परस्परापेक्षया । स्थितौ तिष्ठतः स्म हि । ष्ठा गतिनिवृत्तौ कर्त्तरि क्तः ॥४५॥ कथमित्यादि । ततः जीवाजीवयोः परस्परापेक्षया विद्यमानत्वात् । बन्धमोक्षादयः बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ तौ आदी[4] येषां ते तथोक्ताः । जीवधर्माः जीवस्य धर्माः । कथं च केन प्रकारेण । स्युः भवेयुः । धर्मिणि धर्माः सन्ति अस्य इति धर्मी तस्मिन् । सति विद्यमाने । धर्माः स्वभावाः । भवन्ति सन्ति । भू सत्तायां लट् । तदत्यये तस्य धर्मिणः अत्यये नाशे । न हि धर्माः न भवन्ति हि ॥४६॥ तस्मादित्यादि । तस्मात् कारणात् । सर्वं विश्वम् । तत्त्वं जीवादि वस्तुस्वरूपम् । उपप्लुतं[5] निराकृतं संवृतम् असत्यम् । तिष्ठतु वर्त्तताम् । प्रसार्यमाणं प्रसार्यते इति प्रसार्यमाणं विस्तीर्यमाणम्[6] । कर्मण्यानश्[7] । जीर्णवस्त्रवत् विशीर्णवस्त्रमिव[8] । शतधा

जो प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध हो ॥४४॥ जीव पदार्थकी सत्ता जब किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, तो उसका अभाव ही मानना होगा, और उसका अभाव माननेपर अजीव पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि जीव और अजीव पदार्थोंका व्यवहार परस्पर सापेक्ष है । जैसे स्थूल और सूक्ष्मका व्यवहार । स्थूल व्यवहार तभी होता है, जब कोई सूक्ष्म हो और सूक्ष्म व्यवहार भी तभी होता है, जब कोई स्थूल हो । इसी तरह जीव व्यवहार अजीवको जानकर और अजीव व्यवहार जीवको जानकर किया जाता है ॥४५॥ और जब जीव पदार्थ ही सिद्ध नहीं है, तो उसके बन्ध और मोक्ष आदि धर्म कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? क्योंकि धर्मी–पदार्थके होनेपर ही उसका कर्म–स्वभाव या गुण सिद्ध होता है, न कि उसके अभावमें ॥४६॥ अतः जीव, अजीव, बन्ध और मोक्ष आदि सभी तत्त्व बाधित हैं । ऐसी स्थितिमें वे शास्त्रोंमें ही छिपे रहें । अन्यथा ज्यों-ज्यों विचार किया जायगा त्यों-त्यों पुराने सड़े-गले वस्त्रकी तरह उनमें सैकड़ों उलझनें उपस्थित हो जायेंगी । गला हुआ पुराना कपड़ा तभीतक सुन्दर मालूम पड़ता है, जबतक उसकी तह न खोली जाये । तह खोलनेपर तो उसकी सैकड़ों धज्जियाँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं, और वे आपसमें उलझने भी लगती हैं ॥४७॥

१. इ 'धर्मा' इति नास्ति । २. = स्थूलश्च सूक्ष्मश्चेति स्थूलसूक्ष्मौ तद्वत् । ३. = इवशब्द औपम्य वाचकः । ४. आ आदिः । ५. = उपप्लुतं बाधितं संवृतमप्रसारितं वा । ६. = विस्तार्यमाणम् । ७. श स °नत् । ८. श °वस्त्र इव ।

जीवमन्ये प्रपद्यापि तद्धर्मं प्रति वादिनः ।
विवदन्ते प्रबन्धेन विविधागमवासिताः ॥ ४८ ॥
कूटस्थनित्यतां केचित्केचिदाहुरकर्तृताम् ।
अन्ये तु जडतामन्ये चित्तसंततिरूपताम् ॥ ४९ ॥
इत्याद्यनेकसिद्धान्तगहने गहने स्थितः ।
यातु दिग्भ्रमसंभ्रान्तः पुरुषः केन वर्त्मना ॥ ५० ॥

शतैः प्रकारैः शतधा अनेकप्रकारैरित्यर्थः । विशीर्यते विनश्यति । शॄ हिंसायां कर्मणि लट् ॥४७॥ जीवमित्यादि । अन्ये केचित् । विविधागमवासिताः विविधैर्नानाप्रकारैः आगमैर्वासिताः संस्कृताः । वादिनः मिथ्यावादिनः । जीवं जीवपदार्थम् । प्रपद्यापि अङ्गीकृत्यापि । तद्धर्मं प्रति जीवस्य धर्मं प्रति । 'भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः' इति द्वितीया । प्रबन्धेन नाना प्रविधेन[1] विवदन्ते विवादं कुर्वन्ति । वद व्यक्तायां वाचि । 'विप्रलापे वा' इति तङ् ॥४८॥ कूटस्थेत्यादि । केचित् अन्ये[2] । कूटस्थनित्यतां कूटस्थश्चासौ नित्यश्च तथोक्तः तस्य भावः तां त्रिकालव्याप्यविनश्वरस्वरूपम् । आहुः ब्रुवन्ति । केचित् अन्ये । अकर्तृताम् अकर्तुः भावः तां सुखदुःखाद्यकर्तृत्वम् । आहुः ब्रुवन्ति । अन्ये तु[3] केचित्तु जडताम् अज्ञानत्वम् । 'जडोऽज्ञः' इत्यमरः । आहुः ब्रुवन्ति । अन्ये[4] केऽपि । चित्तसन्ततिरूपतां चित्तस्य ज्ञानस्य सन्ततिरेव सन्तानमेव[5] रूपं स्वरूपं यस्य तस्य भावः ताम्, विज्ञानाद्वैतस्वरूपत्वमित्यर्थः । आहुः ब्रुवन्ति ॥४९॥ इतीत्यादि । गहने प्रवेष्टुमशक्ये । 'गह्वरदुःखविपिनकलिलेषु गहनम्' इति नानार्थकोशे । इत्याद्यनेकसिद्धान्तगहने इति आदिर्येषां ते इत्यादयः, अनेके च ते सिद्धान्ताश्च तथोक्ताः, त एव गहनं तस्मिन् इत्यादिनानामतारण्ये । स्थितः तिष्ठतिस्म स्थितः । दिग्भ्रमसंभ्रान्तः दिशां ककुभां भ्रमेण मोहेन संभ्रान्तो मोहितः । पुरुषः जीवः । केन वर्त्मना केन मार्गेण । यातु गच्छतु । या प्रापणे लोट् ॥५०॥

सांख्य, नैयायिक और बौद्ध आदि अन्यवादी जीवतत्त्वको स्वीकार करके भी उसके नित्यत्व आदि धर्मोंको लेकर आपसमें विवाद करते हैं, तथा अपने-अपने पक्षके समर्थनमें अपने-अपने शास्त्रोंके संस्कारवश प्रमाण भी उपस्थित करते हैं ॥४८॥ सांख्य लोग जीवको सर्वथा नित्य और सुख-दुःख आदिका अकर्त्ता[6] मानते हैं। ये लोग कहते हैं कि प्रधान-अचेतन सुख आदिका कर्त्ता है और पुरुष-चेतन उसका भोक्ता। नैयायिक लोग जीवको जड़ मानते हैं। वे कहते हैं कि जीव स्वयं ज्ञानवान् नहीं है; ज्ञानके समवायसे वह ज्ञानवान् है। बौद्ध लोग जीवको चित्त-ज्ञानकी सन्तति रूप मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञानकी सन्तान ही जीव है ॥४९॥ इत्यादि अनेक सिद्धान्तोंके दुर्गम एवं बीहड़ जंगलमें जो यात्री अपनी गन्तव्य दिशा ही भूल गया हो, वह किस मार्गसे जाये-किस सिद्धान्तको अपनाकर अपने लक्ष्यको सिद्ध करे? भगवन्

---

१. आ नाना प्रविदेन । २. = सांख्याः । ३. = नैयायिकाः । ४. बौद्धाः । ५. = सन्तान एव ।
६. कूटस्थ…इत्यादि श्लोकके पूर्वार्द्धमें सांख्योंके दो सिद्धान्त बतलाये गये हैं—पहला कूटस्थ नित्यताका और दूसरा अकर्तृत्वका। निर्णयसागरको मुद्रित प्रतिके टिप्पणसे ज्ञात होता है कि पूर्वार्द्धमें पहला सिद्धान्त सांख्योंका और दूसरा मीमांसकोंका है। किन्तु टिप्पणकारका यह निरा भ्रम है। यदि टिप्पणकारकी दृष्टि इसी सर्गके ८१, ८२, ८३ नं० के श्लोकोंपर पड़ जाती, तो उन्हें यह भ्रम नहीं होता। पूर्वार्द्धमें 'केचित्' का दो बार प्रयोग न होता, तो भी वे इस भ्रमसे बच सकते थे।

इत्युक्त्वा वाचमुच्चार्थां विरराम नरेश्वरः ।
भारतीमथ गम्भीरां जगाद परमेश्वरः ॥ ५१ ॥
त्वयैवं ब्रुवता सूक्तं नृप सत्यमिदं कृतम् ।
उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः ॥ ५२ ॥
जीवाजीवादि यत्पृष्टमस्पृष्टपरदूषणम् ।
यथा भवति तत्सर्वं तथाहं कथयामि ते ॥ ५३ ॥
जीवो नास्तीति पक्षोऽयं प्रत्यक्षादिनिराकृतः ।
तत्र हेतुमुपन्यस्यन्कुर्यात्कः स्वविडम्बनाम् ॥ ५४ ॥

इतीत्यादि । नरेश्वरः नराणां मनुष्याणामीश्वरः पद्मनाभः । उच्चार्थाम् उच्चो गम्भीरभूतो अर्थोऽभिधेयो यस्याः ताम् । वाचं वाणीम् । इति एवं प्रकारेण । उक्त्वा प्रोच्य । विरराम तूष्णीं स्थितः । रमि[२] क्रीडायाम् । लिट् । 'न पर्याङ्वे रमः' इति तङ्–निषेधः । अथ विरामानन्तरम् । परमेश्वरः परमश्चासौ ईश्वरश्च तथोक्तः श्रीधराचार्यवर्यः । गम्भीरां गम्भीरभूताम् । भारतीं वाणीम् । जगाद उवाच । गद व्यक्तायां वाचि । लिट् ॥५१॥ त्वयेत्यादि । नृप ! नृन् जनान् पातीति नृपः, तस्य संबुद्धिः । एवम् उक्तप्रकारेण । ब्रुवता ब्रूञ्[४] व्यक्तायां वाचि ब्रवीतीति ब्रुवन् तेन ब्रुवता शतृप्रत्ययः वदता इत्यर्थः । त्वया भवता । इदं सूक्तं प्रश्नवचनम्[५] । सत्यं तथ्यम् । कृतं विहितम्[६] । ईश्वरबुद्धयः[७] ईश्वराणां पुण्यवतां बुद्धयो मतयः । "ईश्वरो विभवैराढ्ये शम्भौ स्वामिनि मन्मथे ।" इति विश्वः । बुद्धीनां ज्ञानानाम् । उपर्युपरि पुरः पुरः । चरन्ति प्रवर्त्तन्ते । उपर्युपरि वैशद्यरूपेण वर्त्तन्ते इत्यर्थः । चर गतौ लट् ॥५२॥ जीवेत्यादि[८] । यत् जीवाजीवादितत्त्वम् । दृष्टं श्रुतम्[९] (?) । अस्पृष्टपरदूषणं न स्पृष्टम् अस्पृष्टं परेषां मिथ्यावादिभिरुक्तं दूषणं तथोक्तम् अस्पृष्टं परदूषणं यस्मिन् कर्मणि तत् । यथा येन प्रकारेण भवति । तथा तेन प्रकारेण । अहं श्रीधरमुनिः । तत्सर्वं तत्समस्तम् । ते तव । कथयामि ब्रवीमि । कथ वाक्यप्रबन्धे । लट् ॥५३॥ जीव इत्यादि । जीवः जीवपदार्थः, नास्तीति, अयम् एषः, पक्षः अङ्गीकारः । प्रत्यक्षादिनिराकृतः प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणैर्निराकृतः तिरस्कृतः[१०] । तत्र जीवो नास्तीति पक्षे हेतुं जीवो नास्त्यनुपलम्भादिति साधनम् । उपन्यस्य प्रयोज्य । स्वविडम्बनां स्वस्य विडम्बनां तिरस्कारम् । कः पुरुषः । कुर्यात् विधीयात् । डुकृञ् करणे । लिङ् ॥५४॥

बताइए ॥५०॥ इस प्रकार राजा पद्मनाभ उत्कृष्ट अर्थ-भरे शब्दोंमें अपनी बात कहकर चुप हो गये । इसके बाद मुनिराजने गम्भीर शब्दोंमें यों उत्तर दिया—॥५१॥ राजन् ! इस प्रकारसे अपनी बात कहकर तुमने इस कहावतको सत्य सिद्ध कर दिया कि 'पुण्यवान् पुरुषोंकी बुद्धि अन्य बुद्धिमानोंकी बुद्धिके आगे चलती है' ॥५२॥ जिन जीव और अजीव आदि तत्त्वोंके विषयमें तुमने पूछा है, उनको मैं तुम्हें ऐसे ढंगसे बतलाये देता हूँ, जिससे अन्यवादियोंके दोष उनका स्पर्श तक न कर सकें ॥५३॥ 'जीव नहीं है' यह तत्त्वोपप्लववादियोंका पक्ष प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे खण्डित है । ऐसी अवस्थामें 'क्योंकि उसकी उपलब्धि

---

१. अ °परहर्षणम् । २. आ रम् । ३. संबुद्धौ । ४. आ ब्रूङ् । ५. = सुभाषितम् । ६. आ श स कृतं विहितम् । इदं सूक्तं प्रश्नवचनम् । सत्यं तथ्यम् । ७. = प्रत्यग्रप्रतिभाः । ८. आ प्रतौ श्लोकस्यास्य व्याख्या नोपलभ्यते । ९. = पृष्टं जिज्ञासितम् । १०. = जीवो नास्तीति चार्वाकैरुपन्यस्यते । प्रसिद्धो धर्मी पक्षः, तत्र चार्वाकाप्रसिद्धस्य जीवस्य पक्षत्वकरणे स्वविडम्बनां कः कुर्यात् ? प्रसिद्धपक्षस्य हेतुविषयत्वं क्रियते । अथवा जीवो नास्ति, अनुपलब्धेः—इति भवतानुपलम्भविषयीक्रियमाणो जीवः पक्षः, प्रत्यक्षेणोपलम्भेन स्वसंवेदनलक्षणेनैव निराकृत इति ।

प्रतिजन्तु यतो जीवः स्वसंवेदनगोचरः ।
सुखदुःखादिपर्यायैराक्रान्तः प्रतिभासते ॥ ५५ ॥
नचास्वविदितं[1] ज्ञानं वेद्यत्वात्कलशादिवत् ।
स्वात्मन्यपि क्रियादृष्टेर्दीपादेः स्वप्रकाशनात् ॥ ५६ ॥
विषयान्तरसंचारो न च स्यादस्ववेदिनः ।
अपरापरबोधस्य वेदनीयस्य संभवात् ॥ ५७ ॥

प्रतीत्यादि । यतः यतः कारणात् । प्रतिजन्तु जन्तुं जन्तुं प्रति [इति] प्रतिजन्तु । अव्ययीभावः । स्वसंवेदनगोचरः स्वसंवेदनस्य सुखी अहं दुःखो अहम् इत्यादि स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्य गोचरो विषयः । सुखदुःखादिपर्यायैः सुखं च दुःखं सुखदुःखं ते आदौ[2] येषां ते तथोक्ताः सुखदुःखादयश्च ते पर्यायाश्च तैः, आदिपदेन रागद्वेषादि [3]विपरिणामाः परिगृह्यन्ते । आक्रान्तः प्रापितः, जीवः जीवपदार्थः । प्रतिभासते प्रकाशते । भासि दीप्तौ । लट् ॥५५॥ न चेत्यादि । ज्ञानं धर्मि[4] । अस्वविदितं स्वविदितं न; अस्वविदितम् इति साध्यम् । वेद्यत्वात् ज्ञातुं योग्यत्वात् । इति प्रमेयत्वात्[5] हेतुः । कलशादिवत् इति दृष्टान्तः एवं न च[6] । स्वात्मनि स्वरूपे । क्रियावृत्तेः[7] क्रियायाः व्यापारस्य वृत्तेः प्रवृत्तेः[8] । दीपादेः प्रदीपादेः । आदिशब्देन सूर्यादिः[9], स्वप्रकाशनात्[10] स्वस्य प्रकाशनं प्रभासनं स्वप्रकाशनं तस्मात्, स्वप्रकाशनाभावे परप्रकाशनानुपपत्तिरित्यर्थः ॥५६॥ विषयेत्यादि । अस्ववेदिनः स्वव्यवसायरहितस्य ज्ञानस्य । विषयान्तरसंचारः विषयान्तरेषु परविषयेषु संचारः प्रवृत्तिः । न स्यात् न भवेत् ।

नहीं होती' यह हेतु देकर कौन अपना परिहास करावेगा ? ॥५४॥ 'अनुपलब्धि' हेतु देकर जीवका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि जगत्में जितने भी जन्तु हैं, उनमें जीवकी सत्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है—प्रत्येक जन्तुके–जीवके साथ सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ लगी हुई हैं, और इसीलिए उन्हें 'मैं सुखी हूँ' (सुखावस्थामें) 'मैं दुःखी हूँ' (दुःखावस्थामें) इस प्रकारका स्पष्ट आभास होता रहता है ॥५५॥ यदि यह कहो कि 'ज्ञान स्वसंवेदी-अपनेको जाननेवाला नहीं है; क्योंकि उसे दूसरा ज्ञान जानता है, अतः वह वेद्य है । जैसे कलश आदि । जैसे कलश आदि अपनेको नहीं जानते, वैसे ज्ञान भी अपनेको नहीं जानता; क्योंकि अपनेमें क्रिया नहीं होती । जिस प्रकार नट नृत्यकलामें कितना ही कुशल क्यों न हो, पर वह स्वयं अपने ही कन्धेपर चढ़कर नृत्य नहीं कर सकता । इसी प्रकार ज्ञान कितना ही निर्मल हो, किन्तु वह अपनेको नहीं जान सकता ।' ठीक नहीं; क्योंकि अपनेमें भी क्रिया देखी जाती है । देखिए न, दीपक, चन्द्र और सूर्य आदि अपनेको भी प्रकाशित करते हैं । दीपक आदि अपनेको प्रकाशित करनेसे यदि प्रकाश्य हैं, तो अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करनेके कारण प्रकाशक भी । इसी प्रकार ज्ञान अपनेको जानता है, अतः वेद्य है और अन्य पदार्थोंको जानता है, अतः वेदक भी ॥५६॥ यदि ज्ञान अस्वसंवेदी हो तो वह चेतन या अचेतन किसी भी पदार्थको नहीं जान सकता । यदि यह कहो कि 'पहले ज्ञानको दूसरा ज्ञान जान लेता है, अतः पहला ज्ञान पदार्थों-

---

१. इ नत्वास्व° । २. आ आदिः श स आदि । ३. आ 'वि' नास्ति । ४. श स धर्मी । ५. = इति हेतुः । ६. = वाच्यम् । ७. श स °वृत्ति । ८. = क्रियादृष्टेः क्रियादर्शनात् । ९. श स सूर्यादिः । १०. = प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयस्य । अतः प्रमाणमेव मीमांस्यते । ननु चेदं स्वसंवेदनलक्षणं प्रमाणमसिद्धमिति चेत्; उच्यते–न चेत्यादि । ज्ञानं-स्वसंवेदनम् अस्वविदितं भवति, वेद्यत्वात् । यद्वेद्यं तद् अस्वविदितम् । यथा कलशादिः । [इति] न च–न वाच्यम् । स्वात्मन्यपि क्रियादृष्टेः–क्रियादर्शनात् । दीपादेः स्वप्रकाशनात् यथा दीपः स्वं प्रकाशयन्नेवार्थं प्रकाशयति । तथा ज्ञानम् ।

अनवस्थालता च स्यान्नभस्तलविसर्पिणी ।
यदेवाविदितं तेषु तन्न पूर्वस्य वेदकम् ॥ ५८ ॥
तस्माद्विषयविज्ञानमप्रत्यक्षमवस्थितम् ।
तदप्रत्यक्षतायां च विषयस्यापि सा गतिः ॥ ५९ ॥
परोक्षादपि चेज्ज्ञानादर्थाधिगतिरिष्यते ।
परेण विदितोऽप्यर्थस्तथा स्वविदितो भवेत् ॥ ६० ॥
तस्मात्स्ववेदने सिद्धे प्रत्यक्षे सति युक्तितः ।
प्रत्यक्षबाधा न भवेत्कथं नास्तित्ववादिनाम् ॥ ६१ ॥

कस्मात्, इत्युक्ते । अपरापरबोधस्य अपरापरस्य उत्तरोत्तरस्य बोधस्य ज्ञानस्य । वेदनीयस्य ज्ञातव्यस्य । संभवात् अस्तित्वात् ॥५७॥ अनवस्थेत्यादि । तेषु अपरापरबोधेषु । यदेव ज्ञानम् । अविदितम् अज्ञातम् । ज्ञानम् । पूर्वस्य प्रथमज्ञानस्य । वेदकं बोधकम् । 'कृतकामुकस्य'—इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । न भवति[1] । नभस्तलविसर्पिणी नभसः आकाशस्य तले प्रदेशे विसर्पिणी प्रसारिणी, अवसानरहितेत्यर्थः । अनवस्थालता अनवस्थैव अनवस्था दोष एव लता व्रततिश्च तथोक्ता । स्यात् । अस भुवि लिङ् ॥५८॥ तस्मादित्यादि । तस्मात् कारणात् । विषयविज्ञानं विषयस्य पदार्थस्य विज्ञानं परिज्ञानम् । अप्रत्यक्षं परोक्षम्[2] । अवस्थितं स्थितम्[3] । तदप्रत्यक्षतायां तस्य विषयपरिज्ञानस्याप्रत्यक्षतायां च । विषयस्यापि पदार्थस्यापि । सा परोक्षता । गतिः शरणम् । स्यादित्यध्याहारः ॥५९॥ परोक्षादित्यादि । परोक्षादपि अप्रत्यक्षादपि । ज्ञानात् परिज्ञानात् । अर्थाधिगतिः अर्थस्य विषयस्य अधिगतिः निश्चयः । इष्यते चेत् अङ्गीक्रियते चेत् । परेण अन्यज्ञानेन सन्तानान्तरज्ञानेन वा । विदितोऽपि ज्ञातोऽपि । अर्थः घटादिपदार्थः । तथा परप्रत्यक्षप्रकारेण । स्वविदितः स्वेन विदितो ज्ञातः । भवेत् स्यात् । भू सत्तायां लिङ् ॥६०॥ तस्मादित्यादि । तस्मात्[4] स्वेन ज्ञातः (?) अन्यस्य ज्ञानेन स्वस्य ज्ञानं न जायते तस्मात् । युक्तितः विचारात् । स्ववेदने स्वस्य वेदनं तस्मिन् स्वसंवेदने प्रत्यक्षे—प्रत्यक्षप्रमाणे । सिद्धे निष्पन्ने सति । 'यदभावो भावलक्षणम्' इति सप्तमी । नास्तित्ववादिनां नास्तित्वं वदन्तीत्येवंशीलाः तेषां शून्यवादिनाम्[5] । प्रत्यक्षबाधा प्रत्यक्षेण प्रत्यक्ष-

को जान लेता है' तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि उत्तरोत्तर जितने भी ज्ञान होंगे, वे सब अगले-अगले ज्ञानके वेद्य ही तो होंगे ॥५७॥ पूर्व-पूर्व ज्ञानको उत्तरोत्तर होनेवाले ज्ञान जानकर उन्हें पदार्थोंको जानने योग्य बनाते रहेंगे, ऐसा माननेपर तो अनवस्था दोषकी बेल पूरे आकाशमें फैल जायेगी—आकाशकी तरह उसका भी अन्त नहीं आयेगा । उत्तरोत्तर होनेवाले ज्ञानोंको यदि स्वतः अस्वसंवेदी ही मानते हैं तो वे पूर्व-पूर्व ज्ञानको नहीं ही जान सकेंगे ॥५८॥ ऐसी अवस्थामें पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान अप्रत्यक्ष ही बना रहेगा । उसके अप्रत्यक्ष रहनेसे विषयकी भी वही गति होगी—वह भी अप्रत्यक्ष बना रहेगा ॥५९॥ यदि परोक्ष ज्ञानसे भी पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, यह स्वीकार करते हो तो एक मनुष्यने जिस पदार्थको जाना है, उसकी जानकारी दूसरेको भी हो जानी चाहिए ॥६०॥ इसलिए युक्तिबलसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षके

१. = यदि ज्ञानमन्येन ज्ञानेन विदितं सद् वेदकं स्यात् तदा । २. आ प्रतावेव केवलं 'परोक्षम्' इत्युपलभ्यते । ३. आ निराकृतम् । ४. = तस्मात् कारणाद् युक्तितः प्रमाणोपपत्त्या स्ववेदने स्वसंवेदने नाम्नि प्रत्यक्षे प्रमाणे सिद्धे व्यवस्थापिते सति नास्तित्ववादिनां चार्वाकतत्त्वोपप्लवानां प्रत्यक्षेण बाधा प्रत्यक्षबाधा कथं न भवेत् ? अध्यक्षेण जीवमपह्नुवानानां तेषां प्रत्यक्षमेव जीवव्यवस्थापकं भवेत् इति भावः । ५. तत्त्वोपप्लववादिनाम् ।

जीवे सिद्धेऽपि गर्भादिमरणान्ते स्ववेदनात् ।
प्रागूर्ध्वं च कथं सिद्धस्तस्येति यदि मन्यसे ॥ ६२ ॥

सदकारणवत्त्वेन सिद्धा तत्राप्यनादिता ।
अनन्तता च वाय्वग्निपृथिवीपयसामिव ॥ ६३ ॥

न च सिद्धमहेतुत्वं हेतोः कस्याप्ययोगतः ।
भूतानां न च हेतुत्वं सहप्रत्येकपक्षयोः ॥ ६४ ॥

प्रमाणेन बाधा पीडा[1] । कथं केन प्रकारेण । न भवेत्, अपितु भवेदेव । भू सत्तायां लिङ् ॥६१॥ जीव इत्यादि । स्ववेदनात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् । गर्भादिमरणान्ते गर्भ एवादिर्मरणमेवान्तो मरणान्तः; गर्भादिर्मरणान्तो यस्य[2] तस्मिन् । जीवे जीवपदार्थे । सिद्धेऽपि निष्पन्नेऽपि । तस्य जीवपदार्थस्य । प्राक् गर्भात् प्राक् । ऊर्ध्वं च मरणादूर्ध्वं च । चकारः समुच्चयार्थः । कथं केन प्रकारेण । सिद्धिः अस्तित्वम् । इति यदि मन्यसे जानासि । मनि ज्ञाने लट् ॥६२॥ सदित्यादि । तत्रापि जीवपदार्थेऽपि । सदकारणवत्त्वेन सतो नित्यस्याकारणवत्त्वं तेन, 'सदकारणवन्नित्यम्'[3] इत्यभिधानात् । वाय्वग्निपृथिवीपयसामिव वायुश्चाग्निश्च पृथिवी च पयश्च तथोक्तानि । अनादिता न विद्यते आदिर्यस्य [सः] अनादिः तस्य भावः तथोक्ता आदिरहितत्वम् । अनन्तता न विद्यतेऽन्तोऽवसानो [नं] यस्य [सः] अनन्तः तस्य भावोऽनन्तता अवसानराहित्यम् । सिद्धा निष्पन्ना[4] ॥६३॥ न चेत्यादि । अहेतुत्वम् असाधनत्वम्[5] । असिद्धम् अप्रसिद्धम् [अनिष्पन्नम्] । न च न भवति । कस्यापि हेतोः साधनस्य । अयोगतः अयोगादयोगतोऽघटनात् । सहप्रत्येकपक्षयोः सह सहितश्च प्रत्येकश्च सहप्रत्येकौ[6] (?) तौ च तौ पक्षौ च तथोक्तौ, तयोः योगपद्य—अ(पा)र्थक्यपक्षयोः, वाय्वग्निपृथिवीपयांसि जीवस्य युगत्कारणानि पृथिव्याद्येकैकं प्रत्येकतया कारणम् इति सहप्रत्येकपक्षौ तयोरित्यर्थः । भूतानां पृथिव्यादीनाम् । हेतुत्वं

सिद्ध हो जानेपर तत्त्वोपप्लववादियोंको प्रत्यक्ष बाधा क्यों नहीं होगी ? ॥६१॥ यदि तुम स्वसंवेदन प्रत्यक्षके आधारपर गर्भसे लेकर मरण पर्यंत जीवको सत्ताको मानकर भी यह पूछो कि 'गर्भसे पहले और मरणके बाद उसकी सत्ता कैसे मानी जा सकती है ?' तो सुनो, जो पदार्थ सत् हों और जिनकी उत्पत्ति किसीसे न हुई हो, वे सब निश्चित ही अनादि और अनन्त होते हैं । जैसे पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ॥६२-६३॥ जीवकी उत्पत्तिका कोई हेतु नहीं है—वह किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ, यह असिद्ध है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि उसकी उत्पत्तिका कोई हेतु सिद्ध नहीं है । यदि यह कहा जाये कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूत उसकी उत्पत्तिमें हेतु हैं, तो दो विकल्प उठते हैं—(१) चारों भूत मिलकर जीवकी उत्पत्तिमें हेतु हैं, (२) या एक-एक करके ? वे दोनों ही तरह जीवकी उत्पत्तिमें हेतु

१. विरोधः । २. श स यस्मिन् । ३. श स °वन्नित्याभिधानात् । ४. =वादिप्रतिवाद्यपेक्षया व्यवस्थाप्यमानो जीवः पक्षः, अनाद्यनन्तो भवति, सदकारणवत्त्वात् । येषां सदकारणवत्त्वं तेषामनाद्यनन्तत्वम् । यथा वाय्वग्निपृथिवीपयसाम् । सदकारणवांश्चासौ तस्मादनाद्यनन्तः । ५. अ आ इ न च न हेतु° = अकारणवत्त्वम् । ६. = सहपक्षो यौगपद्यपक्षः, प्रत्येकपक्षः क्रमपक्षः ।

प्रत्येकपक्षे जीवानां भूतसंख्या प्रसज्यते ।
सहपक्षेऽप्यसंविद्भ्यस्तेभ्यः स्याच्चेतनः कथम् ॥ ६५ ॥

सजातीयं ह्युपादानं दृष्टं घटपटादिषु ।
मृदादीनां हि हेतूनां घटाद्यनुगमेक्षणात् ॥ ६६ ॥

साधनत्वम् । न च भवेत् ॥६४॥ प्रत्येकेत्यादि । प्रत्येकपक्षे पृथक् पक्षे[1] । जीवानां जीवपदार्थानाम् । भूतसंख्या भूतानां पृथिव्यादीनां संख्या गणना । प्रसज्यते प्रशंस्यते[2] (?) सहपक्षेऽपि योगपद्यपक्षेऽपि । असंविद्भ्यः । न विद्यते संवित् येषां तेभ्योऽचेतनेभ्यः । तेभ्यः भूतचतुष्टयेभ्यः । चेतनः जीवपदार्थः । कथं केनप्रकारेण । स्यात् भवेत् न स्यादित्यर्थः । अस भुवि लिङ् ॥६५॥ सजातीयमित्यादि । घटपटादिषु घटश्च पटश्च घटपटौ तौ आदी[3] येषां तेषु घटपटादिपदार्थेषु । सजातीयं समानाजातिर्यस्य [तत्] सजातीयम्, 'जातेश्छः सामान्यवति' इति छ–प्रत्ययः, समानजातियुक्तम् । उपादानं त्यक्तात्यक्तरूपम् उपादानम्[4] इति लक्षणम्, मुख्यकारणमित्यर्थः । दृष्टं दृश्यते स्म दृष्टम् । हि स्फुटम् । हि यस्मात् । मृदादीनां मृत्पिण्डादीनाम्[5] । हेतूनां मुख्यकारणानाम् । घटाद्यनुगमेक्षणात् घटादिषु कलशादिषु अनुगमस्यान्वयस्य ईक्षणात् दर्शनात् । इदं हेतुरूपम् ॥६६॥

नहीं हो सकते । क्यों ? सुनिए—॥६४॥ यदि चार भूतोंमें-से किसी भी एकको जीवकी उत्पत्तिमें हेतु मान लिया जाये तो जीवमें उसकी संख्याका प्रसंग आयेगा—जिस भूतसे जीवकी उत्पत्ति होगी, उसके प्रत्येक कणमें जीवोत्पादनकी शक्ति होगी या उनके समुदायमें ? यदि प्रत्येकमें, तो जितनी संख्या कणोंकी होगी, उतनी ही जीवोंकी संख्या होगी । किन्तु किसी भी एक शरीरमें अनेक जीवोंकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं; क्योंकि सभी जीवोंकी अलग-अलग इच्छाएँ उत्पन्न होंगी, फलतः उन इच्छाओंकी पूर्तिके लिए सभी जीवोंमें सदा महाभारत छिड़ा रहेगा । यदि इस संख्याके प्रसंगसे बचनेके लिए किसी एक या चारों भूतोंके कण-समुदायमें जीवोत्पादनकी शक्ति मान ली जाये, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि चाहे एक भूतके कण हों चाहे चारोंके, वे सबके सब अचेतन हैं, और अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति हो नहीं सकती । ऐसा एक भी उदाहरण नहीं जो अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति सिद्ध करनेमें सहायक हो ॥६५॥ प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान और निमित्त ये दो कारण होते हैं । उनमें उपादान कारण सदा सजातीय ही होता है, यह नियम है । घटकी उत्पत्तिमें उपादान कारण मिट्टी है और कपड़ेकी उत्पत्तिमें तन्तु । मिट्टी घड़ेकी सजातीय है और तन्तु कपड़ेके । इन सजातीय उपादान कारणोंका घड़े और कपड़ेमें सदा अन्वय बना रहता है, जिसे हम सब देखते ही हैं । अतः चारों भूत चूँकि जीवके सजातीय नहीं, विजातीय हैं, इसलिए उन्हें जीवकी उत्पत्तिमें उपादान कारण नहीं मान सकते । उन चारोंका जीवमें अन्वय भी तो हम नहीं देखते ॥६६॥

---

१. प्रत्येकभूताज्जीवो जायते-इति पक्षे । २. = भूतानां यावती संख्या तावती संख्या तदुत्पन्नानां जीवानामपि स्यादित्यर्थः । ३. श स आदिः । ४. = त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्त्तते । कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् । अष्टसहस्री–२१० । ५. श स मृद्घटादीनाम् ।

युज्यते व्यभिचारोऽपि न शृङ्गादेः शरादिना ।
तत्रापि पुद्गलत्वेन सजातीयत्वसंभवात् ॥ ६७ ॥
विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यो जायते यदि चेतनः ।
पयसोऽपि भवेत्पृथ्वी तन्न तत्त्वचतुष्टयम् ॥ ६८ ॥
न चान्यदस्त्युपादानं भूम्यादिव्यतिरेकतः ।
भूतानां संहतिर्येन कल्प्येत[1] सहकारिणी ॥ ६९ ॥

युज्यत इत्यादि । शृङ्गादेः विषाणादेः सकाशात्—विजातीयादपि शृङ्गादेः शराद्युत्पत्तिदर्शनात् । शरादिना बाणादिना[2] व्यभिचारोऽपि अनैकान्तिकोऽपि । न युज्यते न संबध्यते[3] । तत्रापि शरादावपि । पुद्गलत्वेन गलति पूरयतीति पुद्गलः[4] तस्य भावः तेन अचेतनत्वेन । सजातीयत्व संभवात् समानजातियुक्तत्वस्य संभवात् सद्भावात् । इदमपि हेतुरूपम् । अचेतनेभ्योऽपि भूतेभ्यश्चेतनो जीवो जनिष्यते इति व्यभिचारिता न, सजातीयादेव सजातीयोत्पत्तिनियम इति चेत्, न युक्तम्, तत्रापि शरादिषु पुद्गलत्वेन[5] सजातीयत्वसंभवादिति भावः ॥६७॥ विजातिभ्योऽपीत्यादि[6] । यत्र कुत्रापि विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः । चेतनः जीवपदार्थः । जायेत उत्पद्येत । तत् तर्हि । पयसोऽपि जलादपि । पृथ्वी पृथिवी । भवेत् जायेत । तत्त्वचतुष्टयं चत्वारोऽवयवा अस्य चतुष्टयम् 'अवयवात्तयट्' तत्त्वानां चतुष्टयं तथोक्तम् । न नभवेत् । विजातीयाद्विजातीयोत्पत्तिरित्युक्ते भूत[7]चतुष्टयस्यैकत्वापत्तिः, तेषामन्योन्योत्पत्तिदर्शनादित्यर्थः ॥६८॥ न चेत्यादि । उपादानकारणानि मा भूवन् सहकारिकारणानि भविष्यन्तीत्यपि युक्तं न भवति, भूतचतुष्टयमन्तरेण पदार्थान्तराभावादनुपादानसिद्धिप्रसंगात् । तस्मात् कथं सहकारिकारणभावो भूतचतुष्टयस्येत्यभिप्रायेण न चान्यदपीत्याह । भूम्यादिव्यतिरेकतो भूम्यादिभ्यो व्यतिरेकतो भिन्नत्वात् । अन्यदपि अपरमपि । उपादानं मुख्यं कारणम् । न च न भवति । भूतानां पृथिव्या-

यदि यह कहा जाये कि 'सींग यद्यपि बाणका सजातीय नहीं है, फिर भी उससे बाण बनाया जाता है, अतः सजातीय ही उपादानकारण होता है, यह नियम कहाँ रहा ? वह तो व्यभिचरित हो जाता है।' तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सींग पुद्गल है और बाण भी पुद्गल है, अतः दोनों सजातीय ही हैं, विजातीय नहीं। चारों भूत अचेतन हैं और जीव चेतन, अतः जीवकी उत्पत्तिमें वे सजातीय नहीं, विजातीय हैं ॥६७॥ यदि विजातीय भूतोंसे भी जीव उत्पन्न हो जाये तो जलसे पृथिवीकी भी उत्पत्ति हो जाये, और ऐसी दशामें आपके चार भूत तत्त्व भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे ॥६८॥ पृथिवी आदि चार भूतोंको छोड़कर कोई पदार्थ जीवकी उत्पत्तिमें उपादानकारण नहीं है, जिससे भूत समुदायको उसकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण माना जाय। अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि जीवकी उत्पत्तिमें भूत समुदाय सहकारी कारण है। क्योंकि जीवकी उत्पत्तिमें यदि कोई उपादान कारण सिद्ध हो जाता तो भूत समुदायको उसमें सहकारी कारण कल्पित किया जा सकता था। उपादानके बिना सहकारी कारण

१. अ आ इ कल्पेत । २. श स शरादीनां बाणादीनाम् । ३. आ °बन्ध्यते । ४. = पूरयति गलतीति पुद्गलः पूरणाद् गलनाद्वा पुद्गलः । ५. श स °त्वेन न । ६. आ विजातीयेत्यादि । ७. श स °त्पत्तिरित्युक्ते भूत° ।

न चोपादानधर्मोऽपि[1] कार्ये कोऽप्यवलोक्यते ।
शरीरे तदवस्थेऽपि जीवे विकृतिदर्शनात् ॥ ७० ॥
घटादिकारणेष्वेतन्मृदादिषु न चेष्यते ।
ततोऽनुमानबाधापि[2] पक्षं व्याघ्रीव वीक्षते[3] ॥ ७१ ॥

दीनाम् । संहतिः समूहः । सहकारिणी सहकारिकारणभूता । येन कथं कल्प्येत ? काकुः ॥६९॥ न चेत्यादि । काये देहे । कोऽपि[4] उपादानधर्मः उपादानस्य मुख्यकारणस्य धर्मोऽपि स्वरूपमपि । न चावलोक्यते न च दृश्यते । शरीरे देहे[5] । तदवस्थेऽपि पूर्वाकारसहिते सत्यपि । जीवे जीवपदार्थे । विकृतिदर्शनात् विकृतेर्विकारस्य दर्शनात् अवलोकनात् ॥७०॥ घटादीत्यादि । घटादिकारणेषु घटादीनां कारणेषु मृदादिषु मृदादिर्येषां तेषु मृत्पिण्डादिषु । एतत् चैतन्यम् । न चेष्यते नाङ्गीक्रियते । इष इच्छायाम् । कर्मणि लट् । ततो मृदादिषु चैतन्याभावादेव । अनुमानबाधापि अनुमानप्रमाणेन बाधापि[6] । व्याघ्रीव शार्दूलीव । पक्षं जीवो नास्तीति पक्षम् ।

कार्यकी उत्पत्ति नहीं कर सकता है ॥६९॥ यदि यह कहो कि जीवकी उत्पत्तिमें उसका शरीर उपादान कारण है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि आत्मामें उपादानरूप शरीरका स्वभाव नहीं देख पड़ता । उपादान कारणमें यदि कोई विकार उत्पन्न हो तो उसका प्रभाव कार्यपर अवश्य ही पड़ता है, किन्तु शरीरके ज्यों-के-त्यों बने रहनेपर भी जीवमें विकार देखा जाता है । यदि शरीर उपादान कारण होता तो उसके अविकृत रहनेपर जीवको भी अविकृत रहना चाहिए । उपादानका धर्म उपादेयपर अपना प्रभाव अवश्य ही डालता है । यदि शरीरको उपादान और आत्माको उपादेय मानते हैं, तो आत्मामें शरीरका कोई धर्म अवश्य देख पड़ना चाहिए, किन्तु नहीं देख पड़ता—शरीर आँखोंसे देख लिया जाता है, किन्तु आत्मा आँखोंसे कभी नहीं देखा जा सकता; शरीरमें अनेक विकार देखे जाते हैं, किन्तु वे आत्मामें नहीं देखे जाते; शरीरके बलमें न्यूनता देखनेपर भी आत्माके बलमें अधिकता देखी जाती है । अतः शरीर आत्माका उपादान कारण नहीं माना जा सकता है ॥७०॥ घट आदि पदार्थोंके जो मिट्टी आदि उपादान कारण हैं, उनमें यह बात नहीं देखी जाती कि मिट्टी आदि उपादान कारणमें विकार होनेपर भी घट आदिमें विकार न हो । अतः अनुमान बाधा भी आपके पक्षपर व्याघ्रीकी तरह क्रूर दृष्टि डाल रही है । चवालीसवें श्लोकमें तत्त्वोपप्लववादीने कहा था कि जीव पदार्थकी कोई प्रमाणसिद्ध सत्ता नहीं है । उसके 'जीव नहीं है' इस पक्षमें चौवनसे इकसठवें श्लोक तक प्रत्यक्ष-स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे बाधा दिखलाई थी । उसके पश्चात् बासठवें श्लोकसे बहत्तरवें श्लोक तक अनुमान बाधा दिखलाई गयी । स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त जीवकी सत्ता सिद्ध होती है और 'जीव अनादि और अनन्त है; क्योंकि वह सत् पदार्थ है और उसकी उत्पत्ति किसी अन्य पदार्थसे नहीं हुई है । जैसे भूत चतुष्टय' इस अनुमानसे जीवकी अनादिता और अनन्तता सिद्ध होती है और इसलिए यही अनुमान पूर्व पक्षीके पक्षमें बाधा उपस्थित करता है ॥७१॥

---

१. अ मद्योपादानधर्मोऽपि । २. म °बाधादि । ३. अ व्याघ्रावतीक्षते । ४. आ कापि । ५. श स शरीरी देही । ६. =घटादिकारणेषु मृदादिषु, एतद्भिन्नलक्षणत्वं नेष्यते च, ततस्तस्मादनुमानबाधापि पक्षं वीक्षते । व्याघ्रीवत् । यथा प्रत्यक्षेण पक्षबाधा तथानुमानतोऽपीति रहस्यम् ।

हेतुश्चानुपलम्भादिरसिद्धोऽभावसाधने ।
तस्य स्ववेदनाध्यक्षादुपलम्भस्य संभवात् ॥ ७२ ॥
न चात्मभूतयोरैक्यं चिदचिद्रूपभेदतः ।
विभिन्नप्रतिभासित्वाद्भेदलक्षणसंभवात् ॥ ७३ ॥
इत्थमात्मनि संसिद्धेऽनित्यत्वैकान्तकल्पना ।
तस्यान्यैः क्रियते तेऽपि प्रत्यक्षेणैव बाधिताः ॥ ७४ ॥
यतः स्ववेदनादात्मा[1] सुखदुःखादिपर्ययैः ।
विवर्तमानः सततं प्रतिप्राणि प्रकाशते ॥ ७५ ॥

वीक्षते पश्यति । ईक्षि दर्शने । लट् ॥७१॥ हेतुरित्यादि । अभावसाधने अभावस्य नास्तित्वस्य साधने । अनुपलम्भादिः अप्रमेयत्वादिः । हेतुः साधनम् । असिद्धः असत्सत्तानिश्चयरूपः । कस्मादित्युक्ते, तस्य चैतन्यस्य, स्ववेदनाध्यक्षात् स्ववेदनं तच्च तदध्यक्षं च प्रत्यक्षं च तस्मात्, स्वसंवेदनप्रत्यक्षादित्यर्थः । उपलम्भस्य अस्तित्वस्य । संभवात् सद्भावात् ॥७२॥ न चेत्यादि । चिदचिद्रूपभेदतः[2] चिच्च अचिच्च चिदचितौ तयोः रूपं भेदस्तस्मात् ततः, चेतनाचेतनस्वरूपविशेषात् । विभिन्नप्रतिभासित्वात् विभिन्नेन भेदेन प्रतिभासत्वात् प्रकाशत्वात् । भेदलक्षणसंभवात् भेदलक्षणस्य संभवात् सद्भावात् । आत्मभूतयोः चेतनाचेतनयोः । ऐक्यम् अभेदः । न च नच भवति ॥७३॥ इत्थमित्यादि । इत्थम् अनेन प्रकारेण[3] । आत्मनि चैतन्यपदार्थे । संसिद्धे निष्पन्ने सति । तस्य जीवपदार्थस्य । यैः वादिभिः । नित्यत्वैकान्तकल्पना नित्यत्वमेवैकान्तः तस्य कल्पना । क्रियते विधीयते । तेऽपि वादिनः । प्रत्यक्षेणैव प्रत्यक्षप्रमाणेनैव । बाधिताः बाध्यन्ते स्म बाधिताः । क्त-प्रत्ययः॥७४॥ यत इत्यादि । यतः यस्मादित्युक्ते । सुखदुःखादिपर्ययैः[4] सुखं च दुःखं च सुखदुःखे ते आदिः[5] येषां ते च ते पर्यायाश्च[6] तैः सुखदुःखादिपरिणामैः । सततम् अनवरतम् । विवर्तमानः प्रवर्त्तमानः विकुर्वाणो वा । आत्मा जीवपदार्थः । स्ववेदनात् स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् । प्रतिप्राणि प्राणिषु प्राणिषु प्रतिप्राणि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः ।

जीवका अभाव सिद्ध करनेके लिए तत्त्वोपप्लववादीने जो अनुपलम्भ ('अनुपलम्भात्'—'उपलब्धि न होनेसे' यह) हेतु दिया है, वह असिद्ध है; क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उसका सद्भाव सिद्ध है ॥७२॥ दूसरी बात यह है कि जीव तथा भूतोंमें एकता नहीं मानी जा सकती; क्योंकि उनके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं—जीवका स्वरूप चेतन और भूतोंका स्वरूप अचेतन है। जीव और भूतोंका पृथक्-पृथक् प्रतिभास होता है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रतिभास होनेसे पृथ्वी आदि चार भूतोंको पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है, इसी प्रकार जीवका भी तो भूतोंसे भिन्न प्रतिभास होता है। अतः उसे भी भूतोंसे भिन्न मानना चाहिए । जीव और भूतोंमें भेद सिद्ध करनेवाले उनके भिन्न लक्षण पाये जाते हैं ॥७३॥ इस प्रकार जीवकी सिद्धि हो जानेपर जो (सांख्य) लोग उसे सर्वथा नित्य मानते हैं, उनका भी खण्डन प्रत्यक्षसे ही हो जाता है ॥७४॥ क्योंकि प्रत्येक प्राणी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे यह सदैव अनुभव करता है कि उसकी आत्मा कभी सुखकी अवस्थाको और कभी दुःखकी अवस्थाको प्राप्त होता है—उसकी सुख-दुःखकी अवस्था बदलती रहती है। आत्मा द्रव्य है और सुख-दुःखादि उसकी पर्यायें हैं। गुण और पर्यायोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं। पर्यायोंके परिवर्त्तनका प्रभाव द्रव्यपर भी पड़ता है। अतः पर्यायोंकी अनित्यताके कारण द्रव्य भी कथञ्चित् अनित्य ठहरता है।

१. म °दनावात्या । २. श स जीवचिद्रू° । ३. आ श स °कारेणेत्थम् । ४. आ श स °पर्यायैः । ५. = आदौ । ६. = पर्ययाश्च ।

सुखदुःखादिपर्याया जीवान्न च विभेदिनः ।
तस्यायमिति[1] सम्बन्धकल्पनानुपपत्तितः ॥ ७६ ॥
नित्यस्यानुपकारित्वात्समवायो न युज्यते ।
उपकाराश्रया सर्वा संबन्धसमवस्थितिः ॥ ७७ ॥
उपकारोऽपि भिन्नत्वात्तस्येति कथमुच्यते ।
उपकारान्तरापेक्षा विदध्यादनवस्थितिम् ॥ ७८ ॥

प्रकाशते प्रतिभासते । काशि दीप्तौ लट् ॥७५॥ सुखेत्यादि । सुखदुःखादिपर्यायाः सुखदुःखादिपरिणामाः । जीवात् चैतन्यपदार्थात् । विभेदिनः अत्यन्तं भिन्नरूपाः[2] । न च न च भवन्ति । कस्मादिति चेत्—तस्य जीवपदार्थस्य अयम् इति[3] एष पर्याय इति संबन्धकल्पनानुपपत्तेः संबन्धस्य समवायादेः कल्पनायाः अनुपपत्तेरभावात् ॥७६॥ नित्यस्येत्यादि । समवायसंबन्धो वर्तते इत्युक्ते—नित्यस्य सर्वथा नित्यपदार्थस्य । अनुपकारित्वात् उपकाररहितत्वात् । समवायः समवायाख्यसंबन्धः । न युज्यते न संबध्यते । युजूञ् योगे कर्मणि लट् । सर्वा समस्ता । संबन्धसमवस्थितिः सम्बन्धस्य समवायादेः समवस्थितिः संप्राप्तिः । उपकाराश्रया उपकार एवाश्रय आधारो यस्याः सा तथोक्ता ॥७७॥ उपकार इत्यादि । उपकारोऽपि प्रकृतोपकारोऽपि । भिन्नत्वात् उपकारिणः सकाशात् सर्वथा भिन्नत्वात् पृथक्त्वादित्यर्थः । तस्येति तस्य उपकारिणोऽयमुपकार इति । कथं केन प्रकारेण । उच्यते भाष्यते । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि कर्मणि लट् । 'अस्ति ब्रुवोर्भूवचौ' इति वचादेशः । 'स्व्या—' इत्यादिना य इग् रूपस्य वकारस्य इग्रूप उकारादेशः । उपकारान्तरापेक्षप्रकृतोपकारादन्य उपकार उपकारान्तरं तस्यापेक्षा वर्तते चेत् न ।

अतः उसे सर्वथा नित्य मानना ठीक नहीं ॥७५॥ सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ जीवसे भिन्न नहीं हैं । यदि इन अवस्थाओंको जीवसे भिन्न माना जाये तो 'ये अवस्थाएँ—पर्यायें इस जीवकी हैं' इस प्रकारके सम्बन्धकी कल्पनाएँ नहीं हो सकती ॥७६॥ यदि कहा जाये कि पर्यायोंके साथ जीवका समवाय सम्बन्ध है तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि वैशेषिक लोग समवायको सर्वथा नित्य मानते हैं । सर्वथा नित्य होनेसे वह किसीका उपकार नहीं कर सकता । फलतः समवाय सम्बन्धसे भी पर्यायोंके साथ जीवका सम्बन्ध नहीं हो सकता । उपकारके आधारपर ही सम्बन्धोंकी व्यवस्था की जाती है । जब समवाय उपकार नहीं कर सकता, तो वह द्रव्य और पर्यायोंके बीच कैसे माना जा सकता है ? ॥७७॥ अच्छा, थोड़ी देरको यह मान भी लें कि समवाय उपकार करता है, तो उपकार तो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है, अतः वह अनित्य है और समवाय नित्य है । ऐसी स्थितिमें उपकारको समवायसे भिन्न मानना होगा । भिन्न मान लेनेपर 'यह उपकार समवायका है' वह कैसे सिद्ध होगा ? यदि प्रस्तुत समवायका उसके उपकारके साथ सम्बन्ध सिद्ध करनेके लिए दूसरे समवायको माना जाय, तो फिर यह प्रश्न होगा कि दूसरे समवायका उसके उपकारके साथ सम्बन्ध कैसे होगा ? इसके उत्तरमें भी यह कहा जाय कि तीसरा समवाय मान लिया जायगा तो फिर वही प्रश्न होगा । फलतः अनवस्था हो

१. अ आ इ क ख ग घ म तस्यामी इति । २. आ श स °त्यन्तभिन्न° । ३. 'तस्यायमिति' टीकाकृदभिमतः पाठः, सर्वासु प्रतिषु 'तस्यामी इति' इत्येव समुपलभ्यते । पञ्जिकायामपि 'तस्यामी इति' इति वर्तते—'ते च सुखदुःखादि पर्याया जीवात् सर्वथा विभेदिन इति चेत्, न, भेदे सति 'तस्यामी' इति संबन्धानुपपत्तेः ।'

स्यादभिन्नस्ततो जीवः सुखदुःखादिपर्ययैः ।
तथा च[1] परिणामित्वात्कथं कूटस्थनित्यता ॥ ७९ ॥
एतेन जडतां तस्य ब्रुवाणा विनिवारिताः ।
चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायैरैक्यसंभवात् ॥ ८० ॥
न चाप्यकर्तृता तस्य बन्धाभावादिदोषतः ।
कथं ह्यकुर्वन्बध्येत कुशलाकुशलक्रियाः ॥ ८१ ॥

अनवस्थितिं[2] मूलक्षयकरीम्[3] । विदध्यात् कुर्यात् । डुधाञ् धारणे च कर्त्तरि लिङ् ॥७८॥ स्यादित्यादि । ततः अनवस्थादोषात् । जीवः चैतन्यपदार्थः । सुखदुःखादिपर्ययैः सुखदुःखादिपरिणामरूपैः । अभिन्नः अभेदरूपः । स्यात् यदि भवेत् । अस भुवि लिङ् । तथा च परिणामित्वात् पूर्वाकारं त्यजत्युत्तराकारमवाप्नोति केनचित्प्रकारेण तिष्ठतीति परिणामी तस्मात् परिणामरूपपर्यायादभिन्नत्वात् नित्यस्य कूटस्थनित्यता त्रिकालव्याप्तिरूपनित्यत्वम् । कथं केन [प्रकारेण] स्यात्[4] ? ॥७९॥ एतेनेति । एतेन[5] अनेन नित्यत्वाभावेन । तस्य जीवस्य । जडताम् अज्ञत्वम् । ब्रुवाणाः भाषमाणाः । विनिवारिताः निराकृताः । कस्मादिति चेत्—चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायैः चित्[6] चेतनाया रूपैः सुखदुःखादिभिः सुखदुःखप्रमुखैः पर्यायैः परिणामैः। ऐक्यसंभवात् ऐक्यस्य एकत्वस्य संभवात् सद्भावात्, चेतनास्वरूपसुखदुःखादिपरिणामैरभिन्नत्वादित्यर्थः ॥८०॥ न चेति । तस्य जीवपदार्थस्य । अकर्तृता[7] पुण्यपापाद्यकर्तृत्वम् । न च न च भवति । बन्धाभावादिदोषतः बन्धस्य पुण्यपापादिबन्धस्याभावः तथोक्तः स एवादिर्यस्य, बन्धाभावादिश्चासौ दोषश्च तस्मात् ततः । कुशलाकुशलक्रियाः पुण्यपापकर्माणि[8] । अकुर्वन् न करोतीत्यकुर्वन् । शतृ प्रत्ययः । कथं हि येन हि (केन प्रकारेण हि) । बध्येत[9] । बधि

जायगी ॥७८॥ इसलिए यह सिद्ध है कि सुख-दुःख आदि पर्यायोंके साथ जीवका कथञ्चित् अभेद है । और इसीलिए यह निश्चित है कि वह परिणमनशील है । ऐसी स्थितिमें जीव कूटस्थ नित्य कैसे हो सकता है ? ॥७९॥ 'सुख-दुःख आदि पर्यायें आत्मासे भिन्न हैं' इस सिद्धान्तके खण्डनसे आत्माको जड़ माननेवालोंका भी खण्डन हो जाता है । क्योंकि चेतन स्वरूप सुख-दुःख परिणामोंके साथ उसका अभेद सम्भव है (भेद[10] नहीं) ॥८०॥ सांख्योंका जीवको अकर्त्ता मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि अकर्त्ता माननेसे कर्मबन्धका अभाव हो जायगा । ध्यान देनेकी बात है, यदि जीव अच्छे-बुरे काम नहीं करेगा तो उसे पुण्य-पापका बन्ध कैसे होगा ? अच्छे काम करनेसे पुण्य बन्ध होता है और बुरे काम करनेसे पापबन्ध । जीवको अकर्त्ता माननेसे ये बन्ध नहीं होगा और बन्धके न होनेपर मोक्ष कैसे होगा ? ॥८१॥

१. अ आ इ क ख ग घ म तथापि । २. = अस्ति नित्यस्योपकारित्वमिति चेत्, तस्मादुपकारोऽभिन्नो भिन्नो वा ? अभिन्नश्चेत् तत्समः, भिन्नश्चेत् संबन्धासिद्धिः । उपकारान्तरमपेक्ष्य संबन्धकरणेऽनवस्थितिः स्यात् । ३. = 'मूलक्षयकरीमाहुरनवस्थां च दूषणम् ।' ४. = 'परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ।' ५. = एतेन कूटस्थतानिराकरणेन तस्यात्मनो जडतामज्ञत्वं ब्रुवाणा नैयायिकविशेषा विनिवारिताः–प्रक्षिप्ताः; चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायैर्विवर्तैरैक्यसंभवात्, परिणामित्वेनैक्यघटनात् । ६. श स चेतश्चे° । ७. = तर्हि आत्माऽकर्त्ता–इति चेत्, तस्यात्मनोऽकर्तृतापि न च, बन्धाभावादिदोषात् । हि यस्मात् । कुशलाकुशलक्रियाः—मनोज्ञामनोज्ञकार्याणि अकुर्वन्नात्मा कथं बध्येत ? न कथमपि । ८. श स °कर्मणो । ९. = बद्धो भवेत् । १०. वैशेषिक लोग यह मानते हैं कि सुख-दुःख आदि आत्मासे भिन्न हैं और वे यह भी मानते हैं कि ज्ञान आत्मासे भिन्न है । इनकी यह भी मान्यता है कि आत्मा स्वयं न आत्मा है और न अनात्मा, किन्तु आत्मत्वके समवायसे आत्मा है ।

भुक्तिक्रियायाः कर्तृत्वं भोक्तात्मेति स्वयं वदन् ।
तदेवापह्नुवानः सन्किं न जिह्रेति कापिलः ॥ ८२ ॥
अचेतनस्य बन्धादिः प्रधानस्याप्ययुक्तिकः ।
तस्मादकर्तृता पापादपि पापीयसी मता ॥ ८३ ॥
चित्तसंततिमात्रत्वमप्ययुक्तं प्रकल्पितम् ।
संतानिव्यतिरेकेण यतः काचिन्न संततिः ॥ ८४ ॥
व्यतिरेकेऽपि नित्यत्वं संतानस्य यदीष्यते ।
प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात्क्षणिकैकान्तवादिनाम् ॥ ८५ ॥

बन्धने कर्मणि लिङ् ॥८१॥ भुक्तीति । आत्मा जीवपदार्थः । भोक्ता सुखादिभोक्ता । इति एवम् । भुक्ति-[2]क्रियायां भुक्तेरनुभवस्य क्रियायां कार्ये । कर्तृत्वं स्वतन्त्रत्वम् । स्वयं वदन् वदतीति वदन् ब्रुवन् । कापिलः सांख्यः । तदेव कर्तृत्वमेव । अपह्नुवानः सन् अपह्नुते इति अपह्नुवानः अपलपन् सन् । किं किं निमित्तम् । न जिह्रेति लज्जां न प्राप्नोति । ह्री लज्जायां लट् । आत्मनः स्वयं कर्तृत्वोपगमाभावे भोक्तृत्वं न घटते इति तात्पर्यम् ॥८२॥ अचेतनस्येति[3] । अचेतनस्य अचेतनद्रव्यस्य । प्रधानस्यापि प्रकृतितत्त्वस्यापि । अयुक्तितः[4] अयुक्तेरयुक्तितः । प्रधानस्य शुभाशुभकर्मकरणे युक्तेरसंभवात् । बन्धादिः कर्मबन्धादिः । न न भवति । तस्मात् युक्तेरभावात् । अकर्तृता अकर्तृत्वम् । पापादपि कष्टादपि । पापीयसी[5] अतिशयेन पापरूपेति । मता मन्यते स्म मता ज्ञाता ॥८३॥ चित्तेति । यतः यस्मात् । संतानिव्यतिरेकेण संतानिनमन्तरेण । काचित् एका । संततिः संतानः । न न भवति । चित्तसंततिमात्र [त्व-] मपि चित्तस्य चेतसः[6] संततिरेव संततिमात्रं तस्य भावः तत्त्वम् । तदपि [7]अयुक्तप्रकल्पितम् अयुक्तेन युक्तिरहितेन प्रकल्पितं विहितम् ॥८४॥ व्यतिरेक इति । व्यति-रेकेऽपि संतानिव्यतिरेकेऽपि[8] सति । संतानस्य संततेः । नित्यत्वं स्थिरत्वम् । यदीष्यते यद्यङ्गीक्रियते । तर्हि ।

'आत्मा भोक्ता है' यह कहकर सांख्यने स्वयं ही यह स्वीकार कर लिया कि वह 'भुक्ति' क्रियाका कर्त्ता है, किन्तु फिर भी उसके कर्त्तृत्वको छिपाते हुए उसे क्यों संकोच नहीं होता ? आत्माको कर्त्ता माने बिना उसे भोक्ता नहीं माना जा सकता ॥८२॥ यदि यह कहा जाय कि यह प्रधान-प्रकृतिके बन्ध आदि होते हैं, तो यह भी युक्तिसङ्गत नहीं; क्योंकि वह अचेतन है। अचेतनको न बन्ध होता है और न मोक्ष। इसलिए आत्माको अकर्त्ता मानना पाप है, पाप ही नहीं महापाप है ॥८३॥ बौद्ध लोगोंकी कल्पना है कि केवल चित्त सन्तान—ज्ञानधारा ही आत्मा है, यह भी असङ्गत है; क्योंकि सन्तानी—सन्तानवान् द्रव्यके बिना कोई भी सन्तान—गुण या पर्याय सम्भव नहीं। गुण, द्रव्यको आश्रय बनाकर उसीमें रहते हैं। द्रव्यके बिना गुण नहीं रह सकते, यह सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं। बौद्ध ज्ञानकी धाराको ही आत्मा मानते हैं, किन्तु ज्ञानकी धारा तो गुण है, अतः गुणी-आत्माके बिना गुण-ज्ञानधाराकी सत्ता कैसे रह सकती है ? ॥८४॥ यदि आप सन्तानको सन्तानीके अभावमें भी मानते हैं, तो हम आपसे पूछते हैं कि वह सन्तान नित्य है या अनित्य ? यदि आप नित्य मानते हैं, तो आपकी

१. श्र सत्तादि॰ । २. 'भुक्तिक्रियायां' इति टीकाकारधृतः पाठः । सर्वासु प्रतिषु तु 'भुक्तिक्रियायाः' इत्येव दृश्यते । ३. आ श स ॰चेतनेति । ४. अयमपि पाठः टीकाकृताधृतः, प्रतिषु तु 'अयुक्तिकः' इत्येव समुपलभ्यते । ५. = नन्वात्मा न बध्यते, इति चेत्, न, अचेतनस्य प्रधानस्य बन्धादिरप्ययुक्तिकः, चेतन एव बध्यते—इत्यर्थः । तस्मादात्मनोऽकर्तृता पापादपि पापीयसी । ६. = ज्ञानस्य । ७. प्रतिषु तु 'अयुक्तं' इत्येवास्ति । ८. = संतानिनः सकाशाद् भिन्नत्वेऽपीत्यर्थः ।

क्षणिकत्वेऽपि संतानिपक्षनिक्षिप्तदूषणम् ।
कृतनाशादिकं तस्य सर्वमेव प्रसज्यते ॥ ८६ ॥
न च व्यापकता तस्य घटनामुपढौकते ।
स्वसंविदितरूपस्य बहिर्देहादवेदनात् ॥ ८७ ॥
तस्मादनादिनिधनः स्थितो देहप्रमाणकः[1] ।
कर्ता भोक्ता चिदाकारः[2] सिद्धो जीवः प्रमाणतः ॥ ८८ ॥

क्षणिकैकान्तवादिनां सर्वं क्षणिकमिति क्षणिकैकान्तवादिसौगतानाम्[3] । प्रतिज्ञाहानिदोषः[4] प्रतिज्ञायाः संगरस्य[5] हानिरेव दोषः । स्यात् भवेत् । नित्यत्वाङ्गीकारादेव क्षणिकैकान्त इति प्रतिज्ञाहानिदोषः ॥८५॥ क्षणिकत्व इति । क्षणिकत्वेऽपि संतानस्य क्षणिकधर्मवत्त्वेऽपि । तस्य आत्मनः । कृतनाशादिकं कृतस्य पापादेः नाशादिकं कृतनाशाकृताभ्यागमादिकम्[6] । सर्वमेव सकलमेव । [7]संतानिपक्षनिक्षिप्तदूषणं संतानस्य[8] पक्षे निक्षिप्तं प्रोक्तं तच्च तद्दूषणं च तथोक्तम् । प्रसज्यते प्राप्यते ॥८६॥ न चेति । तस्य जीवस्य । व्यापकता विभुत्वम् । घटनां व्यापृतिम् । न चोपढौकते नोपयाति । स्वसंविदितरूपस्य स्वेन संविदितं ज्ञातं रूपं स्वरूपं यस्य तस्य । देहात् शरीरात् । बहिः बाह्ये । अवेदनात् अदर्शनात्[9] । आत्मनो व्यापकत्वे देहादपि बहिः दृश्यतामित्यर्थः ॥८७॥ तस्मादिति । तस्मात् देहाद्बहिर्दर्शनं न भवति यस्मात् तस्मात्[10] अनादिनिधनः आदिश्च निधनं च आदिनिधने, न विद्येते आदिनिधने यस्य स तथोक्तः, आद्यन्तरहित इत्यर्थः । स्थितः नित्यरूपः । देहप्रमाणकः देह एव प्रमाणं यस्य तथोक्तः, स्वीकृतदेहप्रमाण इत्यर्थः । कर्त्ता पुण्यपापयोः कर्त्ता । भोक्ता पुण्यपापजनित-सुखदुःखादीनां भोक्ता भुंजानः । चिदाकारः चिदेवाकारो यस्य तथोक्तः, चैतन्यरूप इत्यर्थः । प्रमाणतः प्रत्यक्षादि-

यह प्रतिज्ञा कि 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'—'सभी पदार्थं क्षणिक हैं; क्योंकि वे सत् हैं' टूट जायगी, और प्रतिज्ञाका भङ्ग (टूटना) एक महान् दोष है, जिससे आप नहीं बच सकेंगे ॥८५॥ यदि इस दोषसे बचनेके लिए आप सन्तानको क्षणिक स्वीकार करते हैं, तो क्षणिक सन्तानीके माननेमें जो कृतनाश आदि दोष दिये जाते हैं, वे सब-के-सब सन्तानमें भी आयेंगे – यदि सन्तान क्षणिक मानी जाय तो जो सन्तान क्षण अच्छे-बुरे कर्म करेगा, वह दूसरे क्षणमें तो रहेगा नहीं, फलतः जो दूसरे क्षणमें उत्पन्न होगा, वह उसके फलको भोगेगा । ऐसी अवस्थामें करनेवाले सन्तान क्षणको कृतनाश और न करनेवाले भोक्ता सन्तान-क्षणको अकृताभ्यागमका दोष लगेगा ॥८६॥ कुछ दार्शनिक आत्माको व्यापक मानते हैं । किन्तु उनका यह मानना ठीक नहीं; क्योंकि उसकी व्यापकता सिद्ध नहीं होती । शरीरके भीतर उसकी सत्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है पर शरीरके बाहर रहनेवाली आत्माकी सत्ता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं है ॥८७॥ अतः प्रमाणके आधारपर जीव अनादि—आदिरहित; अनिधन—अन्तरहित; नित्य; शरीर-प्रमाण; अच्छे-बुरे कर्मोंका कर्त्ता तथा उनके फलका भोक्ता और चेतनास्वरूप सिद्ध होता

१. अ आ इ °प्रमाणतः । २. अ आ इ चिदाकारः । ३. =क्षणिकैकान्तं वदन्तीत्येवं शीलाः क्षणिकैकान्तवादिनः तेषां सौगतानामित्यर्थः । ४. =संतानिनः सकाशात् सन्ततिर्भिन्नाऽभिन्ना वा ? यद्यभिन्ना तर्हि तत्समा, अभिन्ना चेत्, नित्याऽनित्या वा ? नित्यत्वे क्षणिकैकान्तवादिनां प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात् । 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इति तेषां प्रतिज्ञा । ५. आ अङ्गस्य । ६. = 'कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्ग-दोषान् । उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परोऽसौ ।' ७. आ श स संतान° । ८. =संतानिनः । ९. =अननुभवात् । १०. = उक्तविवेचनात् ।

येऽप्यजीवादयो भावास्तदपेक्षा व्यवस्थिताः ।
तेऽपि संप्रति संसिद्धास्तन्न तत्त्वमुपप्लुतम् ॥ ८९ ॥
जीवाजीवादिषड्वर्गं प्रतिपद्यापरे पुनः ।
मोक्षे विप्रतिपद्यन्ते मीमांसापक्षपातिनः ॥ ९० ॥
तेषामप्यनुमाबाधा परिधावति पृष्ठतः ।
यतः कर्मक्षयो मोक्षः स च सिद्धोऽनुमानतः ॥ ९१ ॥
तथाहि क्वचिदप्यस्ति पुंसि कृत्स्नावृतिक्षयः ।
तत्कार्यसकलज्ञत्वस्यान्यथानुपपत्तितः ॥ ९२ ॥

प्रमाणात्।[1] जीवः आत्मा । सिद्धः निश्चितः ॥८८॥ ये इति । येऽपि तदपेक्षाः तस्यापेक्षा येषां ते तदपेक्षा जीवतत्त्वव्यपेक्षाः[2] । अजीवादयः न विद्यते जीवो यस्य स एवादिर्येषां ते तथोक्ताः अजीवप्रमुखाः । भावाः पदार्थाः । व्यवस्थिताः स्थापिताः । स्युरित्यध्याहारः । तेऽपि अजीवादयोऽपि । संप्रति इदानीम् । संसिद्धाः प्रमाणप्रसिद्धाः । तत् तस्मात् कारणात् । तत्त्वं द्रव्यम् । उपप्लुतं[3] बाधितम् । न न भवति ॥८९॥ जीवेति । मीमांसापक्षपातिनः मीमांसायाः मीमांसेति नामधेयशास्त्रस्य पक्षेऽङ्गीकारे पातिनः प्रवर्तमानाः । अन्यवादिनः अपरे केचित्[4] । जीवाजीवादिषड्वर्गं जीवाजीवादीनां षण्णां वर्गम् । प्रतिपद्य प्रतिपदनं पूर्वं[5] । पुनः पश्चात् अङ्गीकृत्य । मोक्षे परमनिर्वाणे । विप्रतिपद्यन्ते विवादं कुर्वन्ति, जीवस्य मोक्ष एव नास्तीति विवदन्ते इत्यर्थः । पदि गतौ लट् ॥९०॥ तेषामिति[6] । यतः यस्मात् । कर्मक्षयः कर्मणां क्षयो नाशः । मोक्षः परमनिर्वाणं, पुण्यपापकर्मणां प्रध्वंस एव मोक्ष इत्यर्थः । न च [स च] मोक्षः । अनुमानतः अनुमानप्रमाणात्, दोषावरणयोर्हानिः क्वचित् पुंसि निःशेषास्त्यतिशायनादित्यनुमानादित्यर्थः[6] । 'बन्धहेत्वाभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इति सूत्रकारवचनाच्च । सिद्धः निश्चितः । तेषामपि मीमांसकानामपि । पृष्ठतः पृष्ठे पृष्ठतः पश्चाद्भागे । अनुमाबाधा अनुमानबाधा । परिधावति परिपलायते, कथमपि न मुञ्चतीति भावः । सृ गतौ लट् । 'सर्तेर्धौ वेगे'[7] इति धावादेशः ॥९१॥ तथेति । तथाहि-उक्तार्थं विवृणोति । क्वचिदपि कस्मिंश्चिदपि । पुंसि पुरुषविशेषे । कृत्स्नावृतिक्षयः कृत्स्नायाः समस्ताया आवृतेरावरणस्य क्षयो नाशः । अस्ति वर्तते । तत्कार्यसकलज्ञत्वस्य तस्य समस्तावरणक्षयस्य कार्यस्य सकलज्ञत्वस्य सर्वज्ञ-

है ॥८८॥ इस प्रकार जोवकी सत्ता सिद्ध हो जानेपर, उसकी अपेक्षा रखनेवाले अन्य अजीव आदि पदार्थ भी प्रस्तुत प्रसङ्गमें सिद्ध हो जाते हैं, और उन सभी पदार्थोंके सिद्ध हो जानेपर यह निश्चत हुआ कि तत्त्वोपप्लववादीका कहना ठीक नहीं । तत्त्वोपप्लव वादी सभी तत्त्वोंको बाधित मानता है ॥८९॥ मीमांसक लोग जीव-अजोव आदि छहों पदार्थोंको स्वीकार करते हैं, किन्तु वे मोक्षके विषयमें विवाद करते हैं—मोक्ष नहीं मानते ॥९०॥ मीमांसकोंका यह विवाद ठीक नहीं; क्योंकि अनुमान बाधा उनका पीछा कर रही है । कारण कि समस्त कर्मोंके क्षयको मोक्ष कहते हैं, जो अनुमान प्रमाणसे सिद्ध है ॥९१॥ वह इस प्रकार सिद्ध है—किसी भी पुरुषमें समस्त आवरणोंका क्षय हो जाता है; क्योंकि आवरणोंका क्षय हुए बिना उसमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती । कार्यसे कारणका अनुमान किया जाता है, यह निश्चित है । प्रस्तुत प्रसङ्गमें कर्मोंका क्षय कारण हैं और सर्वज्ञता उसका कार्य है । पुरुषमें सर्वज्ञता

१. श स °क्षप्रमा° । २. आ °स्वस्यापेक्षाः । ३. °प्लुतं । ४. = अपरे अन्ये केचित्, मीमांसका इत्यर्थः । ५. = पश्चात् किञ्चित् । ६. आ प्रतौ केवलं 'तेषामिति' इति समुपलभ्यते । ६. = 'दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥' । ७. आ 'सर्तेर्धौ व्वेन' श स 'सृते धो वेग' ।

सर्वज्ञत्वं न चासिद्धं कस्यचिद्बाधकात्ययात् ।
सर्वत्र बाधकाभावादेव वस्तुव्यवस्थितिः ॥ ९३ ॥
न तस्य बाधकं तावत्प्रत्यक्षमुपपद्यते ।
तस्याक्षजत्वादध्यक्षे न विधिर्न निषेधनम् ॥ ९४ ॥
न चानुमानं तद्बाधां विधातुं भवति क्षमम् ।
तल्लिङ्गं पुरुषत्वादि व्यभिचारि यतोऽखिलम् ॥ ९५ ॥
यथाहि पुरुषत्वेऽपि वेदार्थज्ञानगोचरः ।
कस्याप्यतिशयस्तद्वत्सर्वार्थज्ञानगोचरः ॥ ९६ ॥

त्वस्य । अन्यथानुपपत्तितः अन्यथा सकलावरणक्षयाभावे[1] अनुपपत्तितः असंभवात् ॥९२॥ **सर्वज्ञत्वमिति** । कस्यचित् पुरुषस्य । सर्वज्ञत्वं सकलज्ञत्वम् । असिद्धम् अनिश्चितम्[2] । न च नच भवति । बाधकात्ययात् बाधकाभावात् । सर्वत्र सर्वस्मिन् सर्वत्र, सर्वस्मिन् अनुमानादौ । वस्तुव्यवस्थितिः वस्तुनः पदार्थस्य व्यवस्थितिः संसिद्धिः[3] । बाधकाभावादेव बाधकस्यासंभवादेव ॥९३॥ **नेति** । तस्य सर्वज्ञत्वस्य । तावत् प्रथमम् । प्रत्यक्षं प्रत्यक्ष[4]प्रमाणम् । बाधकं बाधाकारकम् । न उपपद्यते नोपयाति[5] भवितुं । तस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्य । अक्षजत्वात् इन्द्रियोत्पन्नत्वात् । अप्रत्यक्षे अतीन्द्रियविषयपदार्थे । विधिर्न विधिर्न भवति । निषेधनं च निषेधनमपि न भवति ॥९४॥ **न चेति**–'अनुमानं च अनुमानप्रमाणमपि । तद्बाधां तस्य सर्वज्ञत्वस्य बाधाम् । विधातुं कर्त्तुम् । क्षमं समर्थम् । न भवति न वर्त्तते ।' यतः यस्मात् । अखिलं समस्तम् । पुरुषत्वादि—कश्चित् सर्वज्ञो न भवति पुरुषत्वात् शिरःपाण्यादिमत्वात् रथ्यापुरुषवदिति । तल्लिङ्गं तस्य सर्वज्ञाभावस्य साधकं लिङ्गम् । व्यभिचारि अनैकान्तिकं भवति । अनुमानम् (?) । अथवा अर्हन् सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात् पुरुषत्वात् ब्रह्मादिवदित्यनुमानम् । तद्बाधां तस्य सद्भावबाधाम् । विधातुं विधानाय विधातुं कर्त्तुम् । क्षमं समर्थम् । न च भवति । भू सत्तायां लट् ॥९५॥ **यथेति** । यथा हि[6] पुरुषत्वेऽपि पुरुषत्वसद्भावेऽपि । कस्यापि पुरुषस्य । वेदार्थज्ञानगोचरः वेदानाम् अर्थो वेदार्थः तस्य ज्ञानं गोचरो विषयः [यस्य सः] अतिशयो

युक्ति सिद्ध होनेसे कर्मोंके क्षयका अनुमान होता है। सर्वज्ञता कर्मक्षयको छोड़कर और किसी तरह नहीं हो सकती ॥९२॥ और सर्वज्ञता असिद्ध नहीं है; क्योंकि पुरुषको सर्वज्ञ माननेमें कोई बाधा नहीं है। बाधा न होनेसे ही सब जगह वस्तुकी व्यवस्था होती है ॥९३॥ आप हमें यह समझाइए कि अमुक प्रमाण सर्वज्ञताका बाधक है। यदि आप प्रत्यक्षको सर्वज्ञताका बाधक समझते हैं, तो ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष उसका बाधक सिद्ध नहीं हो सकता। चूँकि प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है, इसलिए वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका न साधक है और न बाधक। सर्वज्ञता अतीन्द्रिय है, अतः इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष उसका सद्भाव या असद्भाव सिद्ध नहीं कर सकता ॥९४॥ और इसी प्रकार अनुमान भी सर्वज्ञतामें बाधा डालनेमें समर्थ नहीं है; क्योंकि ऐसा कोई हेतु ही नहीं है, जो सर्वज्ञताका अभाव सिद्ध कर सके। यदि यह कहा जाय कि पुरुषत्व आदि हेतु उसके बाधक हैं—'कश्चित्सर्वज्ञो न भवति पुरुषत्वात् शिरः पाण्यादिमत्वाद् रथ्यापुरुषवत्'—अर्थात् 'कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि वह पुरुष है और उसके शिर तथा हाथ आदि हैं। जैसे गलीमें फिरनेवाला आदमी'। तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि उक्त हेतु दूषित हैं ॥९५॥ जिस प्रकार पुरुषत्वके रहते हुए भी किसी व्यक्तिमें

---

१. आ प्रतौ केवलं 'सकलावरणक्षयाभावे' इति समुपलभ्यते । २. = अनुपपन्नम् । ३. = व्यवस्था । ४. श स प्रत्यक्षं । ५. = भवितुं नार्हति । ६. = यथा हि पुरुषत्वेऽपि कस्यापि वेदार्थज्ञानगोचरोऽतिशयस्तद्वत् कस्यापि सर्वार्थज्ञानगोचरोऽपि ।

रासभो न यथा शृङ्गी देशकालान्तरेऽखिलः ।
तथा पुमान्न सर्वज्ञो देशकालान्तरेऽखिलः ॥ ९७ ॥
इत्यादि नोपमानं च युक्तमिष्टविघाततः ।
तथा हि खचरादीनां न स्यात्खगमनादिकम् ॥ ९८ ॥
तस्मान्नरविशेषोऽसौ यस्य सा सकलज्ञता ।
तथा खरविशेषश्चेदिष्टा तस्यापि शृङ्गिता ॥ ९९ ॥

भवति । न [च] वेदार्थवेदी सर्वार्थवेदी इति । तद्वत् वेदार्थज्ञानगोचरातिशयवत् । सर्वार्थज्ञानगोचरः सर्वेषामर्थानां ज्ञानस्य गोचरो विषयः (सर्वे च तेऽर्थाश्च सर्वार्थाः तेषां ज्ञानं गोचरो विषयो यस्य सः, अतिशयः पुरुषत्वेऽपि कस्यचित्) । भवति ॥९६॥ रासभ इति । यथा देशकालान्तरे देशान्तरे कालान्तरे वा । अखिलः सकलः । रासभः खरः । शृङ्गो विषाणी । न भवति । तथा तेन प्रकारेण । अखिलः सकलः । पुमान् पुरुषः । देशकालान्तरे देशान्तरे कालातरे । सर्वज्ञः सकलार्थवेदी । न भवति । इति मीमांसकाभिप्रायः ॥९७॥ इत्यादीति । इत्यादि एवमादि । उपमानम् उपमानप्रमाणमपि । इष्टविघाततः इष्टस्याङ्गीकारस्य विघाततो बाधनात्, इष्टविरोधादित्यर्थः । न युक्तं न संगतम् । तथा हि उक्तार्थं विवृणोति तथा हीति । खचरादीनां खे चरन्तीति खचराः ते आदयो येषां तेषां विद्याधरादीनाम् । खगमनादिकं खगमनमादि यस्य (तत्) खगमनादिकम् आकाशगमनादिकम् । स्यात् न भवेत् ॥९८॥ तस्मादिति । तस्मात् कारणात् यस्य पुरुषस्य । सा सकलज्ञता सकलं जानातीति सकलज्ञः तस्य भावः सकलज्ञता सर्वज्ञता । असौ अयम् । नरविशेषः पुरुष विशेषः । तथा तेन प्रकारेण । खरविशेषश्च[चेत्]रासभविशेषश्च[चेत्] । तस्यापि खरस्यापि । शृङ्गिता विषाणिता ।

समस्त वेदोंके अर्थको जाननेका अतिशय[1] पाया जाता है, इसी प्रकार पुरुषत्व आदिके रहते हुए भी किसी पुरुषमें समस्त पदार्थ जाननेका अतिशय पाया जा सकता है ॥९६॥ यदि यह कहा जाये कि 'जैसे किसी भी देश और किसी भी कालमें गदहे सींगवाले नहीं देखे जाते, वैसे ही किसी भी देश और किसी भी कालमें मनुष्य सर्वज्ञ नहीं देखा जाता, इत्यादि उपमान सर्वज्ञता का बाधक है' तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा माननेपर आपके ही इष्टका विनाश होगा। वह इस तरह—जैसे किसी देश और किसी भी कालमें आपलोग आकाशमें गमन करनेवालेके अभावको उपमान मानकर मनुष्यमात्रमें आकाश गमनरूप उपमेयका अभाव मान लें तो आपको विद्याधरोंमें भी आकाश गमनका अभाव मानना पड़ेगा। किन्तु यह आपको इष्ट नहीं है। इसी तरह उपमानके आधारपर सर्वज्ञताका अभाव मानना भी आपको इष्ट नहीं होना चाहिए ॥९७-९८॥ इस कारण यदि यह कहा जाये कि वह विशिष्ट पुरुष होता है, जो आकाशमें गमन कर सकता है, तो हम भी यह कह सकते हैं कि वह विशिष्ट पुरुष होता है, जिसमें सर्वज्ञता होती है। यदि कहें कि इस प्रकार तो कोई विशेष प्रकारका गदहा भी ऐसा हो सकता है, जिसके सींग हों, तो ठीक है यदि आपको कहीं ऐसा गदहा मिल जाये, जिसके सींग सचमुच हों। किन्तु ऐसा गदहा मिलना असम्भव है, पर किसी विशिष्ट

१. मीमांसकोंकी मान्यता है कि वेद ही पुरुषको त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंका बोध करा देता है। अतः वेदके आधारपर पुरुषमें सभी पदार्थोंको जाननेका अतिशय प्रकट हो जाता है।

न चार्थापत्तिरप्यस्ति सर्वज्ञाभावसाधिनी ।[1]
को ह्यर्थोऽसंभवो तेन विना यस्तं प्रकल्पयेत् ॥ १०० ॥
नाप्यागमेन सर्वज्ञः कृतकेनेतरेण वा ।
बाध्यते कर्तृहीनस्य तस्यात्यन्तमसंभवात् ॥ १०१ ॥
कर्तुरस्मरणादिभ्यः कर्त्रभावो न सिद्ध्यति ।
अज्ञातकर्तृकैर्वाक्यैर्व्यभिचारस्य संभवात् ॥ १०२ ॥
न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति पौरुषेयेष्वसंभवो[2] ।
अतीन्द्रियार्थसंवादः सर्वज्ञोक्तेऽपि संभवेत् ॥ १०३ ॥

इष्टा अङ्गीकृता ॥९९॥ न चेति । सर्वज्ञाभावसाधिनी । सर्वज्ञाभावस्य साधिनी अर्थापत्तिरपि अर्थापत्तिप्रमाणमपि । न चास्ति न संभवति । तेन विना सर्वज्ञाभावेन विना । असंभवो[3] अभावरूपः (अनुपपद्यमानः) । अर्थः पदार्थः । को हि न कोपीत्यर्थः । यः को वा । तं सर्वज्ञम् । प्रकल्पयेत् समर्थयेत् । कृपौङ् सामर्थ्ये णिजन्ताल्लिङ् ॥१००॥ नेति । कृतकेन पौरुषेयेण, पुरुषप्रोक्तेनेत्यर्थः । इतरेण वा अपौरुषेयेण, अनादिरूपेणेत्यर्थः । आगमेन आगमप्रमाणेन । सर्वज्ञः । न बाध्यते न निराक्रियते । कर्तृहीनस्य कर्त्रा प्रणेत्रा हीनस्य रहितस्य । अत्यन्तम् असंभवात् अभावात्, [4]कर्तृरहितस्यागमस्य सर्वथाऽसंभव इत्यर्थः ॥१०१॥ कर्तुरिति । कर्तुः देवस्य [वेदस्य] कर्तुः । अस्मरणादिभ्यः वेदः पुरुषेण[5] प्रोक्त इति स्मरणाभावादिभ्यः । कर्त्रभावः वेदकर्तुरभावः । न[6] सिद्ध्यति न संभवति । अज्ञातकर्तृकैः अज्ञातः कर्ता येषां[7] तैः । वाक्यैः तिङ्सुबन्तचयरूपवाक्यैः[8] । व्यभिचारस्य अनैकान्तिकस्य संभवात् सद्भावात् ॥१०२॥ न चेति । पौरुषेयेषु पुरुषप्रोक्तेषु वेदेषु सत्सु, एवं कथनं न संभवतीति कश्चिद्विशेषो नास्ति । अतीन्द्रियार्थसंवादः तेषु न संभवतीति चेत्, सर्वविदुक्ते वेदे सोऽपि संभवत्येव । असंभवो असंभवरूपः । कश्चिद्विशेषः कोऽपिविशेषः । न चास्ति नास्ति । अतीन्द्रियार्थ-

पुरुषका सर्वज्ञ होना असम्भव नहीं है ॥९९॥ अर्थापत्ति भी सर्वज्ञके अभावको सिद्ध नहीं कर सकती; क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो सर्वज्ञके अभावके बिना असम्भव होकर उसके अभावको सिद्ध कर सके। यदि ऐसा कोई पदार्थ हो, जो सर्वज्ञके अभावमें ही हो, तो उसे देखकर सर्वज्ञके अभावकी कल्पना की जा सकती है। किन्तु ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है ॥१००॥ यदि आप यह कहें कि आगमसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होता है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि हम आपसे पूछते हैं कि पौरुषेय आगमसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध होता है, या अपौरुषेयसे? अपौरुषेय आगमसे उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा आगम अत्यन्त असम्भव है, जो बिना पुरुषके ही बन गया हो ॥१०१॥ कर्ताका स्मरण न होना आदि हेतुओंसे उसके कर्ताका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कर्ताके स्मरण न होनेसे किसी आगमको कर्ता-रहित-पौरुषेय माना जाये, तो ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिनके कर्ताका किसीको पता नहीं है, अतः उन वाक्योंके साथ उक्त हेतु व्यभिचारी है ॥१०२॥ जिसे आप अपौरुषेय आगम सिद्ध करना चाहते हैं, उसमें ऐसी कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती, जो पौरुषेय आगममें सर्वथा असम्भव हो। यदि आप यह कहें कि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी प्रामाणिक चर्चा अपौरुषेय आगमकी विशेषता है, जो पौरुषेय आगममें असम्भव है, तो यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि सर्वज्ञ

१. अ आ इ म °धनी । २. आ पौरुषेयस्य संभवी । ३. = पौरुषेयेष्वसंभवो कश्चिद्विशेषोऽपौरुषेये नास्ति । यथातीन्द्रियार्थसंवादोऽपौरुषेये तथा पौरुषेयेऽपि दृश्यते । ४. आ वक्तृर° । ५. श स सर्वदा । ६. श स देवपुरुषेण । ७. आ स न । ८. आ एषां । ९. = सुप्तिङन्तचयरूपवाक्यैः ।

विवादविषयापन्नं ततः शास्त्रं सकर्तृकम् ।
दृष्टकर्तृकतुल्यत्वादकलङ्कादिशास्त्रवत् ॥ १०४ ॥
तस्मादकर्तृकं शास्त्रं नास्ति सर्वज्ञबाधकम् ।
कृतकं च द्विधाभिन्नं सर्वज्ञेतरहेतुकम् ॥ १०५ ॥
असर्वज्ञकृतं तावन्न प्रमाणमतीन्द्रिये ।
सकलज्ञप्रणीतं तु तस्य प्रत्युत साधकम् ॥ १०६ ॥
प्रस्तुतस्यानुमानस्य साधकत्वेन संभावात् ।
प्रमाणपञ्चकाभावोऽप्यखिलज्ञं न बाधते ॥ १०७ ॥

संवादः अतीन्द्रियार्थस्य संवादः[1] । सर्वज्ञोक्तेऽपि सर्वज्ञेनोक्तेऽपि । संभवेत् ॥१०३॥ विवादेति[2] । ततः तस्मात्कारणात् । विवादविषयापन्नं विवादस्य विषयप्राप्तम् (विषयं प्राप्तम्) शास्त्रम् आगमो धर्मि । सकर्तृकं कर्तृसहितम्, इति साध्यम् । [3]दृष्टकर्तृकतुल्यत्वात् [4]दृष्टकर्तृकस्य समानत्वात्, इति साधनम् । अकलङ्कादिशास्त्रवत् अकलङ्कादीनां शास्त्रमिव, इति दृष्टान्तः ॥१०४॥ तस्मादिति । तस्मात् कारणात् । सर्वज्ञबोधकं सर्वज्ञस्य बोधकं (सर्वज्ञबाधकं सर्वज्ञस्य बाधकं) नास्तित्वज्ञापकम् अकर्तृकं कर्तृरहितम् । शास्त्रम् आगमः । नास्ति न संभवति । कृतकं च स कर्तृकं च सर्वज्ञेतरहेतुकं सर्वज्ञश्चेतरश्च सर्वज्ञेतरौ तौ एव हेतू यस्य तथोक्तं, सर्वज्ञासर्वज्ञकारणकमित्यर्थः । द्विधा द्विप्रकारेण । भिन्नं भेदयुक्तम् । स्यादित्यध्याहारः ॥१०५॥ असर्वज्ञेति । तावत् प्रथमम् । [5]असर्वज्ञकृतम् असर्वज्ञेन किंचिज्ज्ञेन कृतं प्रणीतम् । अतीन्द्रिये अतीन्द्रियविषये । प्रमाणं विषयाव्यभिचाररूपम्[6] (प्रमाणभूतमित्यर्थः) । न न भवति । प्रत्युत तर्हि[7] सकलज्ञप्रणीतं तु सकलज्ञेन सर्वज्ञेन प्रणीतं तु । तस्य सर्वज्ञस्य । साधकं साधकमेव । भवति न बाधकम् ॥१०६॥ प्रस्तुतस्येति । प्रमाणपञ्चकाभावोऽपि पञ्च अवयवा यस्य (तत्) पञ्चकं, 'संख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः' इति क-प्रत्ययः, प्रमाणानां पञ्चकं प्रमाणपञ्चकं तस्याभाव एव स्वरूपं यस्य तथोक्तः, प्रमाणपञ्चकाभावरूपाभावप्रमाणमपीत्यर्थः । अखिलज्ञं सर्वज्ञम् । न बाधते । प्रस्तुतस्य प्रकृतस्य । अनुमानस्य—कश्चित्[8] पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् इत्यनुमानस्य ।

कथित आगममें अतीन्द्रिय पदार्थोंकी चर्चा सम्भव है ॥१०३॥ अतः विवाद कोटिमें स्थित प्रस्तुत आगम निम्न अनुमान प्रमाणसे भी पौरुषेय सिद्ध होता है—विवादस्थ आगम पौरुषेय है; क्योंकि वह कर्त्तावाले आगमोंके समान है। जैसे अकलंक आदिके शास्त्र ॥१०४॥ ऐसी स्थितिमें अपौरुषेय आगम सर्वज्ञका बाधक नहीं हो सकता। तथा पौरुषेय आगम दो प्रकारका होता है—एक सर्वज्ञ प्रणीत और दूसरा असर्वज्ञ प्रणीत। दोनोंमें-से आप किसे सर्वज्ञका बाधक मानते हैं ? ॥१०५॥ यदि असर्वज्ञ प्रणीत आगमको सर्वज्ञका बाधक मानते हैं, तो वह अतीन्द्रिय पदार्थोंके निरूपण करनेमें प्रमाण नहीं है, अतः वह सर्वज्ञका बाधक नहीं हो सकता। यदि सर्वज्ञ प्रणीत आगमको बाधक मानते हो तो ठीक नहीं; क्योंकि वह उसका बाधक नहीं बल्कि साधक ही है ॥१०६॥ चूँकि प्रस्तुत अनुमान, जो बावनवे-तेरावनवे वें श्लोकमें दिया गया है, सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध करनेमें समर्थ है, अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति

१. आ सत्यवादः । २. आ श स विवाद इति । ३. श स दृष्टक° । ४. श स दृष्टक° । ५. आ 'अ' नास्ति । ६. =श स विषयव्यभि° । ७. =वैपरीत्येन । ८ ='यत्तावदुक्तं प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वमशेषज्ञस्येति, तदयुक्तं, तद्ग्राहकस्यानुमानस्य संभवात् । तथा हि कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् ।' प्रमेयरत्न० पृ० ५४ ।

तस्मादशेषवित्कश्चिदस्तीत्यागमसंभवा[1] ।
प्रमाणं बाधकाभावाद्बुद्धिरक्षादिबुद्धिवत् ॥ १०८ ॥
ततो मोक्षोऽपि संसिद्धो रत्नत्रयनिबन्धनः ।
जीवाजीवास्रवैर्बन्धनिर्जरासंवरैः समम् ॥ १०९ ॥
वचोभिरिति तत्त्वार्थशंसिभिश्चुम्बकैरिव ।
स शल्यमिव संदेहमाचकर्ष महीपतेः ॥ ११० ॥
यदुक्तं सूरिणा तेन तत्तथेति प्रपद्य सः ।
पप्रच्छ पुनरात्मीयान्भवान्मुदितमानसः ॥ १११ ॥

'तथाहि क्वचिदप्यस्ति पुंसि कृत्स्नावृतिक्षयः । तत्कार्यसकलज्ञत्वस्यान्यथानुपपत्तितः' इत्यनुमानस्य च । साधकत्वेन सार्वज्ञसाधकत्वेन[2] । संभवात् ॥१०७॥ तस्मादिति । तस्मात् प्रमाणषट्केनापि सर्वज्ञो न बाध्यते यस्मात्, तस्मात् । अशेषवित् अशेषं वेत्तीत्यशेषवित् सर्वज्ञः । कश्चिदस्ति कश्चिद् वर्तते । इति आगमसंभवा बुद्धिः शास्त्रसंभूता एवं मतिः । प्रमाणं प्रमाणभूतैव । बाधकाभावात् बाधकस्य प्रतिबन्धकस्य[3] अभावात् असंभवात् । अक्षादिबुद्धिवत् प्रत्यक्षादिज्ञानवत् ॥१०८॥ तत इति । ततः अनुमानप्रमाणेन सर्वज्ञः सिद्धो यतः, ततः रत्नत्रयनिबन्धनः रत्नत्रयमेव निबन्धनं यस्य सः, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकारणकः । मोक्षः परम-निर्वाणरूपमोक्षपदार्थः । जीवाजीवास्रवैः जीवश्चाजीवश्चास्रवश्च[4] तथोक्ताः तैः । एवं षट्तत्त्वैः समं साकम् । सिद्धः निश्चितः ॥१०९॥ वचोभिरिति । सः मुनिपतिः । चुम्बकैरिव अयस्कान्तैरिव । 'चुम्बको[5] बहुगुरुधूर्तायस्कान्तकार्मुके' इत्यभिधानात् । तत्त्वार्थशंसिभिः[6] तत्त्वार्थस्य शंसिभिः आविष्कारिभिः[7] । इति प्रागुक्तैः । वचोभिः वचनैः । महीपतेः पद्मनाभस्य । शल्यमिव शंक्वायुधमिव । सन्देहं संशयम् । आचकर्ष निराचकार । कृष विलेखने लिट् ॥११०॥ यदिति । तेन[8] सूरिणा तेन मुनिनाथेन । यत् उक्तं भाषितम् । तत् तद्वचनम् । तथेति तेन प्रकारेणैवेति । प्रपद्य अङ्गीकृत्य । मुदितमानसः मुदितं संतुष्टं मानसं चित्तं यस्य सः । सः पद्मनाभमहीपतिः । पुनः पश्चात् । आत्मीयान् आत्मन इमे आत्मीयाः तान् स्वसंबन्धान् । भवान्

और आगम इन पाँच सद्भाव साधक प्रमाणोंका अभाव रूप अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक नहीं हो सकता ॥१०७॥ अतः 'कोई सर्वज्ञ है' इस प्रकारके शब्दसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धि प्रमाण है; क्योंकि इसमें कोई बाधक नहीं है। जैसे प्रत्यक्ष आदि ज्ञान। अर्थात् जैसे 'अयं घटः'–'यह घड़ा है' इत्याकारक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण है, इसी प्रकार 'कश्चित् सर्वज्ञः'–'कोई सर्वज्ञ है' इत्याकारक शाब्द ज्ञान भी प्रमाण है ॥१०८॥ सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध हो जानेसे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा इन छह तत्त्वोंके साथ मोक्ष भी सिद्ध हो जाता है, जिसका कारण रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र है ॥१०९॥ इस प्रकार सात तत्त्वोंके प्रतिपादन करनेवाले वचनोंसे मुनिराज श्रीधरने राजा पद्मनाभके सन्देहको निकाल दिया। जैसे चुम्बक लोहेकी कीलको निकाल देता है ॥११०॥ मुनिराज महान् विद्वान् थे, अतः उनके उपदेशकी वास्तविकतासे राजा बड़ा प्रसन्न हुआ, और उसने कहा—'मुनिराज, जीव आदि तत्त्वोंके विषयमें जो आपने उपदेश दिया, वह वैसा ही है, जैसा आगममें बतलाया गया है।' इसके बाद उसने उनसे अपने पिछले और अगले भवोंके बारेमें पूछा ॥१११॥

१. अ आ इ म °भवात्। २. श स सर्वज्ञ°। ३. श स °बन्धस्य। ४. श स जीवोऽजी°। ५. आ चुम्बकवहु°। ६. आ शंशिभिः। ७. श स आविः का°। ८. आ प्रतौ 'तेन' इति समुपलभ्यते नान्यासु।

मुनिना वक्तुमारेभे तस्मै भवपरम्परा ।
चक्रे भव्यसभा चित्तमवधानपरम्परा ॥ ११२ ॥
द्वीपे नृप तृतीये यो विद्यते पूर्वमन्दरः ।
क्रीडत्किन्नरसंकीर्णलताभवनसुन्दरः ॥ ११३ ॥
तस्यापरविदेहेऽस्ति सुगन्धिरिति नामतः ।
देशो विभूष्य शीतोदानद्युत्तरतटं स्थितः ॥ ११४ ॥
बिभ्राणैर्बृहदुद्दण्डपिण्डच्छत्रावलिश्रियम् ।
राजन्ते राजवद्यस्य प्रदेशाः क्रमुकद्रुमैः ॥ ११५ ॥

भूतभविष्यज्जन्मानि । पप्रच्छ व्याजज्ञे[1] । प्रच्छ ज्ञीप्सायां[2] लिट् ॥१११॥ **मुनिनेति** । मुनिना मुनिनाथेन । भवपरम्परा भवानां जन्मनां परम्परा संततिः । तस्मै पद्मनाभमहीपतये । वक्तुं भाषितुम् । आरेभे उपचक्रमे । रभि राभस्ये कर्मणि लिट्[3] । परा उत्कृष्टा । भव्यसभा भव्यानां रत्नत्रयाविर्भवनयोग्यानां विनेयजनानां सभा संसत् । अवधानपरं अवधाने सावधाने[4] परं तत्परम् । चित्तं मानसम् । चक्रे विधत्ते स्म । डुकृञ् करणे लिट् ॥११२॥ **द्वीप इति** । नृप नॄन् पातीति नृपः तस्य आमन्त्रणं[5]—हे पद्मनाभ ! तृतीये त्रयाणां पूरणः तृतीयः तस्मिन् । 'द्वित्रेस्तीयद्रेश्च ऋश्' इति तीयत् प्रत्ययः तद्योगे त्रिशब्दस्य रिकारस्य ऋश्—आदेशः । शित्वात् सर्वस्य । द्वीपे पुष्करार्द्धद्वीपे । क्रीडत्किन्नरसंकीर्णलताभवनसुन्दरः क्रीडन्तीति क्रीडन्तः(तैः) क्रीडद्भिः किन्नरैः किन्नरदेवैः संकीर्णानामाकीर्णानां लतानां व्रततीनां भवनैः आलयैः सुन्दरो मनोहरः । यः पूर्वमन्दरः पूर्वस्मिन् पूर्वभागे विद्यमानो मन्दरो मेरुः तथोक्तः । विद्यते वर्त्तते । विदिसत्तायां लट् ॥११३॥ **तस्येति** । तस्य मन्दरस्य[6] अपरविदेहे अपरश्चासौ विदेहश्चापरविदेहः तस्मिन्, पश्चिमविदेहक्षेत्रे । शीतोदानद्युत्तरतटं शीतोदाया नद्याः उत्तरं तटं तीरम् । विभूष्य विभूषणं पूर्वं[7] अलङ्कृत्य । स्थितः[8] नामतः नाम्नो नामतो नामधेयात्[9] । सुगन्धिरिति[10] देशः जनपदः । अस्ति विद्यते । अस भुवि लट् ॥११४॥ **बिभ्रेति** । यस्य सुगन्धिदेशस्य । प्रदेशाः क्षेत्राणि । [11]बृहदुद्दण्डपिण्डच्छत्रावलिश्रियम् उद्गता दण्डा उद्दण्डा बृहन्त उद्दण्डा येषां तानि तथोक्तानि [12]पिण्डैर्निर्मितानि छत्राणि पिण्डच्छत्राणि बृहदुद्दण्डानि च पिण्डच्छत्राणि च तेषा मावलिः तस्याः श्रियं शोभाम् । बिभ्राणैः बिभ्रत इति बिभ्राणाः तैः । डुभृञ् धारणपोषणयोः । 'सल्लट्'— इत्यादिना नश्-प्रत्ययः । क्रमुकद्रुमैः क्रमुकानां पूगानां द्रुमैः वृक्षैः । राजवत् राजान इव । राजन्ते भासन्ते ।

मुनिराजने पद्मनाभसे उनके भवोंके बारेमें कहना प्रारम्भ कर दिया और उस समय वहाँ श्रेष्ठ सभामें जितने भव्य लोग उपस्थित थे, सभीने उसे सुननेके लिए अपने-अपने मनको सावधान कर लिया—सभी सावधान होकर सुनने लगे ॥११२॥ राजन् ! तीसरे द्वीपका नाम पुष्करार्द्ध है, उसके पूर्वमें 'मेरु' पर्वत है, जो 'पूर्व मन्दर' नामसे प्रसिद्ध है। उसके मण्डपोंमें किन्नरगण क्रीड़ा किया करते हैं, जिससे वह बड़ा सुन्दर मालूम पड़ता है ॥११३॥ उस पूर्व मन्दरके पश्चिम विदेहमें शीतोदा नदीके उत्तरी तटपर एक सुगन्धि नामका देश है। उसीसे शीतोदा नदीके उत्तरी तटकी शोभा है ॥११४॥ उस देशमें सुपारीके पेड़ प्रचुर मात्रामें पाये जाते हैं। उनके तने ऊँचे हैं; और उनके ऊपरी भाग, जहाँ सभी ओरसे पत्ते लगे हुए हैं, बिलकुल गोल हैं। अतएव उनमें छातोंकी पूरी शोभा उतर आयी है। उनसे उस देशके प्रदेश छत्रधारी राजाओंके

१. =पृच्छतिस्म । २. श स प्रछ ज्ञीप्सा° । ३. आ प्रतौ केवलं 'रभि राभस्ये कर्मणि लिट्' इति समुपलभ्यते । ४. =एकाग्रतायाम् । ५. =आमन्त्रणे । ६. =पूर्वमन्दरस्य । ७. =पश्चात् किञ्चित् । ८. =विद्यमानः । ९. प्रसिद्ध इति शेषः । १०. =सुगन्धिनामधेयः । ११. अ आ इ म °दुद्दण्डपिच्छ° । १२. =वस्तुतस्त्वत्र पिण्डपदस्य स्थाने पिच्छपदेनैव भाव्यम् ।

सुगन्धिकुसुमामोदैः सुगन्धयति यो दिशः ।
सर्वतोऽपि निजामाख्यां कर्तुमर्थवतीमिव ॥ ११६ ॥
अकृष्टपच्यसस्याढ्ये निरीतौ निरवग्रहे ।
यत्रानित्यप्रमोदिन्यो मोक्षप्राप्ता इव प्रजाः ॥ ११७ ॥
ग्रामैः कुक्कुटसंपात्यैः सरोभिर्विकचाम्बुजैः ।
सीमभिः सस्यसंपन्नैः समन्ताद्विराजते ॥ ११८ ॥
अर्थं धर्माय सेवन्ते कामं संतानवृद्धये ।
यत्र न व्यसनाल्लोकाः परलोकक्रियोद्यताः ॥ ११९ ॥

राजृ् दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥११५॥ सुगन्धीति । यः देशः । निजां स्वकीयाम् । आख्यां नामधेयम् । अर्थवतीं सार्थकाम् । कर्तुमिव कारणायेव । सुगन्धिकुसुमामोदैः सुगन्धिनां सुशोभनो गन्धो येषां तानि सूत्पूतिसुरभेर्गन्धादिद् गुणे' इति इत्-प्रत्ययः 卐 सुगन्धिनां कुसुमानाम् आमोदैः मनोहरपरिमलैः । 'आमोदः सोऽतिनिर्हारी' इत्यमरः । दिशः ककुभः । सुगन्धयति सुगन्धीकरोतीति सुगन्धयति । सुगन्धीति सुब्धातोः 'णिज्बहुलं कृत्रादिषु' इति णिच् प्रत्ययः । उत्प्रेक्षा[1] 卐 ॥११६॥ अकृष्टेति । यत्र सुगन्धिदेशे । अकृष्टपच्यसस्याढ्ये[2] अकृष्टेन पच्यैः परिपक्वैः सस्यैः आढ्ये परिपूर्णे निरीतौ[3] निर्गता ईतयोऽतिवृष्ट्यादयो यस्मिन् (यस्मात्) तस्मिन् । निरवग्रहे[4] निर्गतोऽवग्रहो दुर्भिक्षो (वृष्टिप्रतिबन्धो) यस्मिन् (यस्मात्) तस्मिन् । 'प्रतिबन्धगजालीकवृष्टिबन्धेष्ववग्रहः' इत्यभिधानात् । [यत्र सुगन्धिदेशे]। प्रजाः जनाः । मोक्षप्राप्ता इव परमनिर्वाणं गता इव । [5]नित्यप्रमोदिन्यः प्रमोदोऽस्त्यासामिति तथोक्ताः । वर्तन्ते उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥११७॥ ग्रामैः । यः सुगन्धिदेशः । कुक्कुटसंपातैः[6] [रयैः] कुक्कुटैः ताम्रचूडैः संपातैः[रयैः] लङ्घयितुं शक्यैः, अतिसमीपस्थैरित्यर्थः । ग्रामैः निगमैः विकचाम्बुजैः विकचान्यम्बुजानि येषु तानि, तैः । सरोभिः कासारैः । सस्यसंपन्नैः सस्यैः धान्यैः संपन्नैः समृद्धैः । सीमभिः क्षेत्रैः । 'सीमसीमे स्त्रियामुभे' इत्यमरः । समन्तात् परितः । विराजते विभासते । राजृ् दीप्तौ ॥११८॥ अर्थमिति । यत्र सुगन्धिदेशे । परलोकक्रियोद्यताः[7] परस्य उत्तरलोकस्य क्रियायां कारणभूताचरणादिकृत्ये उद्यताः सन्नद्धाः । लोकाः जनाः । धर्माय धर्मार्थम् । अर्थं

समान सुशोभित हो रहे हैं ॥११५॥ उस देशमें सभी ओर बाग-बगीचे हैं । उनमें फूल खिले हुए हैं । उनकी सुगन्धि दसों दिशाओंको सुवासित कर रही है । इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो वह देश अपने 'सुगन्धि' नामको सार्थक सिद्ध करना चाहता है ॥११६॥ उस देशकी भूमि बहुत उपजाऊ है, अतः बिना जोते ही वहाँ भरपूर अनाज उत्पन्न होता है । वहाँ अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शलभ, शुक और अत्यन्त पास निवास करनेवाले राजा ये छह ईतियाँ नहीं हैं । वहाँ कोई रुकावट नहीं है । अतएव वहाँके निवासी सदा आनन्दसे रहते हैं । फलतः वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो उन्हें मोक्ष प्राप्त हो गया हो ॥११७॥ वहाँके गाँव बिलकुल पास-पासमें हैं, इतने पास कि एक गाँवके मुर्गे दूसरे गाँवमें पहुँच जाते हैं । वहाँके सरोवरोंमें कमल खिले हुए हैं । वहाँकी सीमाएँ धान्यसे परिपूर्ण हैं । उन गाँवों, सरोवरों और सीमाओंसे उस देशकी सभी ओरसे शोभा है ॥११८॥ वहाँके निवासी धर्मके लिए धनका उपार्जन करते हैं और सन्तति उत्पन्न करनेके लिए विषय सेवन करते हैं । उन्हें धन बटोरने और ऐश करनेका

१. आ प्रतावेव केवलं स्वस्तिकान्तर्गतः पाठः समुपलभ्यते । २. = कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपच्यानि न कृष्टपच्यान्यकृष्टपच्यानि यानि सस्यानि धान्यानि तैराढ्ये व्याप्ते । ३. = निरीतौ ईति रहिते । 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः । स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः ॥' । ४. = अवृष्टिरहिते । ५. आ इ निप्रमोदि° । ६. = कुक्कुटसंपाते वसन्तीति कुक्कुटसंपात्यास्तैः । ७. आ इ °लोककृतोद्यमाः ।

यस्मिन्निरन्तरारामविश्रामैर्विधुतश्रमाः ।
मन्यन्तेऽध्वानमध्वन्या गृहप्राङ्गणसंनिभम् ॥ १२०
यथाभिलषितं वस्तु शश्वत्संपादयन्नृणाम् ।
जिगीषतीव यः कल्पपादपैर्मण्डितां महीम् ॥ १२१ ॥
विद्युतश्चञ्चला यत्र स्वभावेन न संपदः ।
कृष्णानि प्रावृडभ्राणि चरितानि न देहिनाम् ॥ १२२ ॥
क्वचिद्गोधनहुंकारैरिक्षुयन्त्रारवैः क्वचित् ।
[1]क्वचिच्छिखण्डिनां नादैर्निगमा यस्य सुन्दराः ॥ १२३ ॥

द्रव्यम् । संतानस्यान्वयस्य वृद्धये । कामं वनितासंभोगम् । सेवन्ते अनुभवन्ति स्वीकुर्वन्ति वा । व्यसनात् पुरुषप्रत्यावर्त्तनहेतुभूतात् । न सेवन्ते इत्यर्थः ॥११९॥ यस्मिन्निति । यस्मिन् यत्र सुगन्धिदेशे । निरन्तरारामविश्रामैः निरन्तराणां निरवकाशानाम् आरामाणाम् उद्यानानां विश्रामैः विश्रान्तिभिः । विधुतश्रमाः[2] विधुतो[3] निराकृतोऽश्रमो येषां ते तथोक्ताः । अध्वन्याः अध्वानमलंगामिनोऽध्वन्याः पथिकाः । 'यध्वानं यखौ' इति य-प्रत्ययः । अध्वानं मार्गम् । गृहप्राङ्गणसन्निभं गृहाणां स्वालयानां प्राङ्गणानामङ्गणानां सन्निभं समानमिति । मन्यते जानन्ति ॥१२०॥ यथेति । यः सुगन्धिदेशः । नृणां नराणाम् । यथामिलषितं अभिलषितमनतिक्रम्य यथाभिलषितम् । 'यथाथाः' इत्यव्ययीभावः । वस्तु भोगोपभोगवस्तु । शश्वत् अनवरतम् । संपादयन् संचयन्[4] । कल्पपादपैः कल्पाश्चते पादपाश्च कल्पपादपाः तैः कल्पवृक्षैः । मण्डिताम् अलङ्कृताम् । महीं भोगभूमिम् । जिगीषतीव जेतुमिच्छति जिगीषति[5] जि अभिभवे[6] । 'कर्म्येककर्तृकात्—' इत्यादिना कर्म्यर्थे सन् प्रत्ययः । 'जे लिट् सनि' इति नित्यादेशः । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥१२१॥ विद्युत इति । यत्र सुगन्धिदेशे । स्वभावेन निसर्गेण । चञ्चलाः चलनरूपाः । विद्युतः तडितः । संपदः ऐश्वर्याणि न चञ्चलाः । कृष्णानि कलुषितानि[7] प्रावृडभ्राणि प्रावृषो वर्षाकालस्याभ्राणि मेघाः । देहिनां च प्राणिनां च । तानि[8] कृष्णानि न-न सन्तीत्यर्थः । परिसंख्या ॥१२२॥ क्वचिदिति । यस्य सुगन्धिदेशस्य । निगमाः ग्रामाः । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । गोधनहुङ्कारैः गोधनस्य गोसमूहस्य हुङ्कारैः हुङ्कारध्वनिभिः । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । इक्षुयन्त्रारवैः इक्षूणां रसालानां[9] यन्त्राणाम् आरवैर्ध्वनिभिः । क्वचित् एकस्मिन्प्रदेशे । शिखण्डिनां मयूरा-

व्यसन—चस्का नहीं है । उन्हें परलोकका खयाल रहता है, इसीलिए वे सदा पारलौकिक क्रियाओंमें तत्पर रहते हैं—वे धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका सेवन करते हैं, किन्तु उनका ध्यान मुख्यतया धर्मकी ओर ही रहता है ॥११९॥ वहाँ लगातार बाग-बगीचे हैं । उनमें विश्राम करके पथिक अपनी थकावट दूर करते हैं । अतः वे मार्गको अपने घरका आँगन सरीखा मानते हैं ॥१२०॥ उस देशमें वहाँके निवासियोंके मनके अनुकूल वस्तुएँ उत्पन्न होती थीं । अतएव वह देश ऐसा मालूम पड़ता था मानो कल्पवृक्षोंसे विभूषित भोगभूमि और स्वर्गभूमिको जीतना चाहता हो ॥२२१॥ यहाँ केवल बिजली ही स्वभावसे चञ्चल हैं; सम्पदाएँ चञ्चल नहीं हैं । इसी प्रकार केवल वर्षाकालीन बादल ही काले हैं; वहाँके मनुष्योंके चरित काले-मलिन नहीं हैं ॥१२२॥ वहाँके गाँव अत्यन्त सुन्दर हैं । उनकी सुन्दरता कहीं गायों और बैलोंके रंभानेसे, कहीं गन्ने पेरनेवाले कोल्हुओंके शब्दसे और कहीं मयूरोंके स्वरसे देखते ही

१. इ 'क्वचिच्' इति नास्ति । २. श स °धूत° । ३. श स °धूतो° । ४. = समुत्पादयन् । ५. = जेतुमिच्छतीव । ६. आ जि ज्रि अभि° । ७. श स कलुषानि । ८. = चरितानि-आचरणानि । ९. = 'रसाल इक्षुस्तद्भेदाः पुण्ड्रकान्तारकादयः ।' इत्यमरः ।

मज्जत्सीमन्तिनीसार्थकुचसंक्रान्तकुङ्कुमैः ।
रक्तांशुकैरिवाभान्ति यस्मिञ्जलधियोषितः ॥ १२४ ॥

महाविभवसंपन्नं तत्रास्ति श्रीपुरं पुरम् ।
लोकपुण्यैः समुत्पन्नं त्रिविष्टपमिवापरम् ॥ १२५ ॥

प्रासादशृङ्गसंलग्नरत्नोपलमरीचिभिः ।
सदैवान्तरिता यत्र ज्योतिर्गणविभाभवत् ॥ १२६ ॥

चन्द्रकान्तस्रुतेर्यत्र सूर्यकान्तोद्भवाग्नितः ।
मिमीते सालसंरुद्धरविचन्द्रोदयं जनः ॥ १२७ ॥

णाम् । नादैः केकारवैः । सुन्दराः मनोहराः । भवन्ति[1] ॥१२३॥ **मज्जदिति** । यस्मिन् सुगन्धिदेशे । जलधियोषितः जलधेर्योषितो नद्यः । मज्जत्सीमन्तिनीसार्थकुचसंक्रान्तकुङ्कुमैः मज्जन्तीनां स्नानं कुर्वन्तीनां सीमन्तिनीनां नारीणां सार्थस्य समूहस्य कुचेषु स्तनभरेषु संक्रान्तैराकान्तैः कुङ्कुमैः काश्मीरैः । 'सार्थो वणिक्समूहः स्यादपि संघातमात्रके' इति विश्वः । रक्तांशुकैरिव रक्तवसनैरिव[2] । आभान्ति विराजन्ते । भा दीप्तौ लट् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥१२४॥ **महेति** । यत्र सुगन्धिदेशे । महाविभवसंपन्नं महान्तं पृथुलं विभवम् ऐश्वर्यं संपन्नं संप्राप्तम्[3] । श्रीपुरं श्रिया संपत्त्योपलक्षितं पुरं 'श्रीपुरम्' इति । पुरं पुरी । अपरम् अन्यत् । त्रिविष्टपमिव त्रिदशालय इव । लोकपुण्यैः लोकानां जनानां पुण्यैः सुकृतैः समुत्पन्नं संजातम् । उपमालङ्कारः[4] ॥१२५॥ **प्रासादेति** । यत्र श्रीपुरे । ज्योतिर्गणविभा ज्योतिषां चन्द्रसूर्यादीनां गणस्य समूहस्य विभा कान्तिः । प्रासादशृङ्गसंलग्नरत्नोपलमरीचिभिः प्रासादानां सौधानां शृङ्गेषु शिखरेषु संलग्नानां संबद्धानां रत्नोपलानां मरीचिभिः कान्तिभिः । सदैव सर्वस्मिन् काले सदैव । 'सदैतर्ह्यधुनेदानीं तदानीं सद्यः' इति साधुः । अन्तरिता आच्छादिता । अभवत् आसीत् । भू सत्तायां लङ् । सामान्यालङ्कारः ॥१२६॥ **चन्द्रेति** । यत्र श्रीपुरे । जनः लोकः । सालसंरुद्धरविचन्द्रोदयं सालेन प्राकारेण संरुद्धयोरावृतयोः रविचन्द्रयोः सूर्याचन्द्रमसोः उदयमुद्गमनम् । चन्द्रकान्तस्रुतेः चन्द्रकान्तस्य[5] चन्द्रकान्तपाषाणस्य स्रुतेः स्यन्दनात् । सूर्यकान्तोद्भवाग्नितः सूर्यकान्तात् सूर्यकान्तशिलायाः सकाशात् उद्भवात् उत्पन्नात् अग्नितः वह्नेः सकाशात् । मिमीते अनुमिनोति ।

बनते हैं ॥१२३॥ वहाँकी नदियोंमें जिस समय स्त्रियाँ स्नान करती हैं, उस समय वे, बहते हुए उनके स्तनोंके केशरके रंगसे रंगीन होकर लाल कपड़ोंको पहननेवाली सौभाग्यवती स्त्रियों सरीखी जान पड़ती हैं ॥१२४॥ उस सुगन्धि देशमें एक श्रीपुर नामका पुर है । वहाँ अटूट सम्पत्ति है । वह ऐसा जान पड़ता है मानो वहाँके निवासियोंके प्रचुर पुण्यसे रचा गया दूसरा स्वर्ग हो ॥१२५॥ वहाँके महलोंके शिखरों पर नाना प्रकारके रत्न जड़े हुए हैं । उनकी किरणें आकाशमें फैली रहती हैं । अतः सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और ताराओंकी प्रभा सदा छिपी रहती है ॥१२६॥ उस पुरकी चहार दीवारी बहुत ऊँची है । अतः वहाँके निवासी कभी सूर्य और चन्द्रमाके उदयको नहीं देख पाते; किन्तु सूर्यकान्त मणियोंमें-से निकलती हुई अग्नि देखकर सूर्योदयका तथा

---

१. = सन्ति । २. = उपलक्षिता इवेति यावत् । ३. = महता विपुलेन विभवेनैश्वर्येण संपन्नं संयुक्तम् । ४. = उत्प्रेक्षा यमकं च । ५. आ °कान्तस्य ।

यत्प्रासादशिरोलग्नपद्मरागांशुभिर्नभः ।
भिन्नं करोत्यकाण्डेऽपि संध्याशङ्कां शरीरिणाम् ॥ १२८ ॥

वासराधिपतिस्तुङ्गप्रतोलीशिखरं शनैः ।
यत्राधिरुह्य पूर्वाह्णे प्रपूर्णकलशायते ॥ १२९ ॥

प्राकारशिखरासन्नैस्तारतारकदम्बकैः ।
यत्र दीपोत्सवभ्रान्तिस्तन्यतेऽनुदिनं निशि ॥ १३० ॥

प्राकारः परितो यत्र शृङ्गैरुत्तम्भितोडुभिः ।
नाकावलोकनोत्कण्ठां बिभ्राण इव भासते ॥ १३१ ॥

माङ् माने लट् । अनुमित्यलङ्कारः ॥१२७॥ यदिति । यत्प्रासादशिरोलग्नपद्मरागांशुभिः यस्य श्रीपुरस्य प्रासादानां सौधानां शिरस्सु शिखरेषु लग्नानां संनद्धानां पद्मरागाणां पद्मरागरत्नानामंशुभिः कान्तिभिः । भिन्नं छन्नम् । नभः आकाशम् । शरीरिणां जनानाम् । अकाण्डेऽपि । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्वत्रर्गावसरवारिषु' इत्यमरः । संध्याशङ्कां संध्यायाः रागस्य शङ्कां सन्देहम् । करोति विदधाति । डुकृञ् करणे लट् । भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥१२८॥ वासरेति । यत्र पुरे । वासराधिपतिः वासरस्य दिवसस्याधिपतिः सूर्यः । पूर्वाह्णे अह्नः पूर्वः पूर्वाह्णः तस्मिन् । तुङ्गप्रतोलीशिखरं तुङ्गस्योन्नतस्य[1] प्रतोल्याः गोपुरस्य शिखरमग्रभागम्[2] । शनैः नीचैः[3] अधिरुह्य अधिरोहणं पूर्वं[4] आरुह्य । प्रपूर्णकलशायते प्रपूर्णश्चासौ कलशश्च तथोक्तः, प्रपूर्णकलश इवाचरतीति तथोक्तः । 'क्यङ्' इत्याचयर्थे क्यङ्-प्रत्ययः । उपमा ॥१२९॥ प्राकार इति । यत्र श्रीपुरे । प्राकारशिखरासन्नैः प्राकारस्य सालस्य शिखरस्य अग्रस्य[5] आसन्नैः समीपगतैः । तारतारकदम्बकैः ताराणां महतीनां ताराणां नक्षत्राणां कदम्बकैः समूहैः । अनुदिनं प्रतिदिनम् । निशि रात्रौ । दीपोत्सवभ्रान्तिः दीपानामुत्सवस्य भ्रान्तिर्भ्रमणं[6] । तन्यते क्रियते । तनूञ् विस्तारे कर्मणि लट् । भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥१३०॥ प्राकार इति । प्राकारः सालः । परितः समन्ततः । उत्तम्भितोडुभिः उत्तम्भिताः धृताः उडवो नक्षत्राणि येषां (यैः) तैः । शृंगैः शिरोभागैः । नाकावलोकनोत्कण्ठां नाकस्य स्वर्गस्यावलोकने दर्शने उत्कण्ठामुत्कलिकाम्[7] ।

चन्द्रकान्त मणियोंका पसीजना देखकर चन्द्रोदयका अनुमान कर लेते हैं ।।१२७।। वहाँके महलों-के ऊपरी सिरेपर पद्मराग मणि जड़े हुए हैं । उनकी लाल किरणोंसे आकाशका रंग लाल हो जाता है । अतः वह सन्ध्या-समय न रहनेपर भी लोगोंको सन्ध्याका भ्रम उत्पन्न कर देता है ।।१२८।। सूर्य दिनके पूर्व भागमें जब धीरे-धीरे उस पुरके दरवाजेके शिखरपर चढ़ जाता है तब वह पूर्ण स्वर्ण कलश-सा प्रतीत होने लगता है ।।१२९।। चहारदीवारीकी चोटीपर रात्रिके समय जब ताराओंका चमकीला गण पहुँच जाता है तब वह उस पुरमें प्रतिदिन दीपावलीका भ्रम फैला देता है ।।१३०।। उस पुरकी चहारदीवारी रात्रिके समय जब नक्षत्रोंको अपने शिखरोंसे उठा लेती है तब वह ऐसी जान पड़ती है मानो उसे स्वर्ग देखनेकी उत्कण्ठा उत्पन्न

---

१. = तुङ्गायाः उन्नतायाः । २. = तुङ्गप्रतोलीशिखरम्—उच्चपुरद्वारशिरः । ३. = मन्दम् । ४. = पश्चात् किञ्चित् । ५. = अग्रभागस्य । ६. = भ्रमः । ७. = 'उत्कण्ठोत्कलिके समे' इत्यमरः ।

मानोन्नता महाभोगा मत्तवारणशालिनः ।
बहुभूमियुता यत्र प्रासादाः पार्थिवोपमाः ॥ १३२ ॥
अम्बुना घनकिंजल्कच्छादितेन निरन्तरम् ।
स्वीकुर्वाणा क्वचिल्लक्ष्मीं हिरण्यखचितक्षितेः ॥ १३३ ॥
तीरजैस्तरुसंतानैः पयसि प्रतिबिम्बितैः ।
पातालोपवनारेकां कुर्वन्त्यन्यत्र[1] पत्त्रिणाम् ॥ १३४ ॥
बिभ्रती काशसंकाशपक्षविक्षेपशोभिनः ।
हंसान्क्वापि मरुल्लोलान्फेनपुञ्जानिवात्मनः ॥ १३५ ॥

बिभ्राण इव दधान इव । भासते भाति । भासृञ् दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥१३१॥ मानेति । यत्र श्रीपुरे । मानोन्नताः मानेन प्रमाणेन, पक्षे मानेन गर्वेण उन्नता उत्तुङ्गाः । 'मानं प्रमाणे प्रस्थादौ मानश्चित्तोन्नतौ ग्रहे' इति विश्वः । महाभोगाः महान् आभोगो विस्तारो येषां ते, पक्षे महान् भोगः स्त्रीचन्दनादिविषयानुभवो येषां ते । 'भोगः सुखे धने चाहेः शरीरफणयोरपि । पालने व्यवहारे च निर्वेशे पण्ययोषिताम् ॥' इति विश्वः । मत्तवारणशालिनः मत्तवारणैः मदगजैः, पक्षे उपधानफलकविशेषैः शालिनः शोभमानाः । 'मत्तवारणमिच्छन्ति दानक्लिन्ने मदद्विपे[2] । महाप्रासादवीथीनां वरण्डे चाप्युपाश्रये ॥' इति विश्वः । बहुभूमियुताः बह्वीभिर्भूमिभिः क्षेत्रैः युताः सहिताः । प्रासादाः सौधाः । पार्थिवोपमाः पार्थिवानां भूपतीनामुपमाः[3] सदृशाः भवन्ति[4] । श्लेषोपमा ॥१३२॥ अम्बुनेति । क्वचित् एकस्मिन् प्रदेशे । निरन्तरम् अन्तरान्निर्गतं निरन्तरं निरवकाशं यथा तथा । घनकिञ्जल्कच्छादितेन घनैः किञ्जल्कैः केसरैः छादितेन पिहितेन । अम्बुना जलेन हिरण्यखचितक्षितेः हिरण्येन स्वर्णेन खचितायाः निर्मितायाः[5] क्षितेः भूमेः । लक्ष्मीं शोभाम् । स्वीकुर्वाणा आददाना । कुलकत्वात् पुरस्तात् खातिका भाति (१३७) इत्यन्वीयते ॥१३३॥ तीरेति । अन्यत्र पयसि सलिले । प्रतिबिम्बितैः प्रतिच्छायां गतैः । तीरजैः तीरे जायन्त इति तीरजाः तैः, तटजातैः । तरुसन्तानैः तरूणां वृक्षाणां सन्तानैः समूहैः । 'अपत्यगोत्रसमूहसुरकुजेषु सन्तानः' इति नानार्थकोशे । पत्त्रिणां पत्त्रमस्त्येषामिति पत्त्रिणः खगाः तेषाम् । पातालोपवनारेकां[6] पातालस्य अधोभुवनस्य[7] उपवनस्य उद्यानस्य आरेकां सन्देहम् । कुर्वन्ती विदधती[8] । उत्प्रेक्षा ॥१३४॥ बिभ्रतीति । क्वापि अन्यत्र । काशसंकाशपक्षविक्षेपशोभिनः काशस्योन्मत्तेक्षोः संकाशानां पत्त्राणां विक्षेपेण प्रेरणेन शोभिनो भासिनः । हंसान् मरालान् । आत्मनः स्वस्य मरुल्लोलान् मरुता वायुना लोलान् चञ्चलान् । फेनपुञ्जानिव फेनानां डिण्डीराणां पुञ्जानिव पिण्डानिव ।

हो गई हो ॥१३१॥ उस पुरके महल राजाओं सरीखे हैं—राजा गर्वोन्नत होते हैं; वे मापमें उन्नत हैं—बहुत ऊँचे हैं। राजाओंके पास भोग सामग्री खूब होती है; उनका विस्तार बहुत है। राजाओंकी शोभा मदमाते हाथियोंसे होती है; वे छज्जोंसे सुशोभित हैं और राजाओंके पास बहुत भूमि होती है तो वे भी तो बहुत भूमिसे युक्त हैं॥ ३२॥ उस पुरके चारों ओर परिखा-खाई खुदी हुई है। उसमें लबालब जल भरा हुआ है, और उसमें कमल लहलहा रहे हैं। उनका पराग झड़ कर जलके ऊपर जितने भागमें फैल जाता है, उतना भाग स्वर्ण जटित भूमिकी छविको ग्रहण कर लेता है ॥१३३॥ उस परिखाके जलमें एक ओर किनारेके वृक्षोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है उसे देखकर पक्षियोंको पातालमें उपवनका सन्देह हो रहा है ॥१३४॥ उस परिखाके जलमें जिस ओर हंस तैर रहे हैं, और वे कांसके फूलोंकी भाँति अपने सफेद पंख

१. अ क ख ग घ म कुर्वत्य° । २. श स दानक्लिन्नतटद्विपे । ३. उपमा सादृश्यं येषां ते । ४. =सन्तीति शेषः । ५. आ 'निर्मितायाः' इति नास्ति । ६. श स °रेकं । ७. °भवनलोकस्य । ८. आ कुर्वन्ति विदधति ।

तटपादपसंरुद्धैर्निष्कम्पसलिलानिलैः ।
मुग्धस्त्रीणां वितन्वाना क्वापि स्फटिकभूभ्रमम्[1] ॥ १३६ ॥
मज्जत्पुरंध्रिधम्मिल्लगलदुज्ज्वलमल्लिका ।
यत्र तारकितेव द्यौः सर्वतो भाति खातिका ॥ १३७ ॥ (पञ्चभिः कुलकम्)
तीक्ष्णत्वं केवलं यत्र बोधे न वचने नृणाम् ।
काठिन्यं कुचद्वन्द्वे कामिनीनां न मानसे ॥ १३८ ॥
भङ्गः कचेषु नारीणां व्रतेषु न तपस्विनाम् ।
विरसत्वं कुकाव्येषु मिथुनेषु न कामिनाम् ॥ १३९ ॥

बिभ्रती धरती ॥१३५॥ तटेति । क्वापि अन्यत्रापि । तटपादपसंरुद्धैः तटस्य तीरस्य पादपैर्वृक्षैः संरुद्धैरावृतैः । अनिलैः मरुद्भिः । निष्कम्पसलिला निष्कम्पं सलिलं जलं यस्यां सा तथोक्ता । मुग्धस्त्रीणां मुग्धानां मोहितानां[2] मूढानां वा स्त्रीणां वनितानाम् । स्फटिकभूभ्रमं स्फटिकेन पाषाणेन निर्मितायाः भुवो भूमेर्भ्रमं भ्रान्तिम् । वितन्वाना कुर्वाणा । तनूञ् विस्तारे । 'सल्लट्—' इत्यादिना नश्-प्रत्ययः । भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥१३६॥ मज्जदिति । यत्र श्रीपुरे । मज्जत्पुरन्ध्रीधम्मिल्लगलदुज्ज्वलमल्लिका मज्जन्तीनां स्नानं कुर्वतीनां पुरन्ध्रीणां सुचरित्रवनितानां धम्मिल्लैः[3] संयतकचैः गलन्ती उज्ज्वला मल्लिका मल्लिकापुष्पं यस्यां सा । खातिका परिखा । सर्वतः सर्वप्रदेशतः । द्यौः आकाशम् । तारकितेव तारकाः संजाता यस्यामिति तारकिता सेव । भाति स्म रराज[4] । उत्प्रेक्षा । पञ्चभिः कुलकम् ॥१३७॥ तीक्ष्णत्वमिति । यत्र श्रीपुरे । तीक्ष्णत्वं कुशाग्रीयत्वं, पक्षे क्रूरत्वम् । केवलं परम् । नृणां जनानाम् । बोधे ज्ञाने, भवतीति शेषः । वचने भाषणे । न न भवति । कठिनत्वं कर्कशत्वम् । कामिनीनां वनितानाम् । कुचद्वन्द्वे स्तनयुगे, भवतीति शेषः । मानसे हृदये । न न वर्तते । परिसंख्यालङ्कारः ॥१३८॥ भङ्ग इति । नारीणां वनितानाम् । कचेषु[5] केशेषु । भङ्गः अवमर्दनं (वक्रत्वम्) स्यात् । तपस्विनां तपोऽस्ति येषामिति तपस्विनः, तेषाम् । 'तपस्सहस्राभ्यां विनीनी' इति विन्-प्रत्ययः । स्तं मत्वर्थे इति पदसंज्ञाभावः । व्रतेषु चारित्रेषु । न न स्यात् । कुकाव्येषु कुत्सितकवित्वेषु । विरसत्वं शृङ्गारादिनवरसाभावो भवेत् । कामिनां कामुकानाम् । मिथुनेषु द्वन्द्वेषु । न न वर्तते ।

हिला रहे हैं, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो हवाके झोंकेसे उसके ऊपर फेनका पुञ्ज लहरा रहा हो ॥१३५॥ एक ओर परिखाके किनारेपर बहुत ही घनी वृक्षावली है । उससे हवा रुक जानेके कारण उसके जलका जितना अंश बिलकुल ही निश्चल हो रहा है उसे देखकर भोली-भाली स्त्रियोंको स्फटिकमणिजटित भूमि(फर्श)का भ्रम हो रहा है ॥१३६॥ स्नान करते समय सौभाग्यवती स्त्रियोंके केश पाशसे गिरे हुए सफेद चमेलीके फूल उसके जलमें चारों ओर लहराने लगते हैं । अतः वह झिलमिलाते तारोंसे युक्त आकाश सरीखी देख पड़ती है ॥१३७॥ उस पुरके निवासियोंकी केवल बुद्धिमें ही तीक्ष्णता है; उनके बचनोंमें तीक्ष्णता—तीखापन नहीं है । वहाँ केवल स्त्रियोंके स्तन युगलमें कठोरता पायी जाती है; उनके मनमें कठोरता नहीं पायी जाती ॥१३८॥ वहाँकी स्त्रियोंके केवल केशोंमें ही घुंघरालापन पाया जाता है । और उन्हींमें मर्दन भी (साफ़ करते समय) देखा जाता है । किन्तु साधुओंके व्रतोंमें दोष नहीं देख पड़ते, और व्रत धारण करनेके पश्चात् उनका मानभङ्ग भी नहीं होता । केवल कुकवियोंके काव्योंमें ही वहाँ नीरसता पायी जाती है, कामियोंके युगलमें नीरसता नहीं

---

१. अ °कविभ्रमम् । २. आ मोहिनीनाम् । ३. =धम्मिल्लेभ्यः संयतकचेभ्यो गलन्ती पतन्ती उज्ज्वला मल्लिका यस्यां सा । ४. =सर्वतस्तारकिता द्यौरिव भाति राजते । ५. क म कुचेषु ।

विरोधः पञ्जरेष्वेव न मनःसु महात्मनाम् ।
नाभिष्वेव च नीचत्वं नाचारेषु कुटुम्बिनाम् ।। १४० ।।
प्राकारपरिखावप्रैः परितः परिवेष्टितम् ।
परिवेषत्रयान्वीतचन्द्रवद्यद्विराजते ।। १४१ ।।
प्रसिद्धेनाविरुद्धेन मानेनाव्यभिचारिणा ।
वणिजस्तार्किकाश्चापि यत्र वस्तु प्रमिन्वते ।। १४२ ।।

इयमपि परिसंख्या ।।१३९।। विरोध इति । पञ्जरेष्वेव पक्षिनिरोधककाष्ठयन्त्रेषु [एव] । विरोधः वीनां पक्षिणां रोधः तिरोधानं, पक्षे वैरं भवेत् । महात्मनां महानात्मा येषां तेषां सज्जनानाम् । मनःसु मानसेषु । न नास्ति । नाभिष्वेव नाभिप्रदेशेषु [एव] नीचत्वं निम्नत्वं, पक्षे निकृष्टत्वमस्ति । कुटुम्बिनां गृहस्थानाम् । आचारेषु चारित्रेषु । न नास्ति । इयमपि परिसंख्या ।।१४०।। प्राकारेति । परितः समन्तात् । प्राकार-परिखावप्रैः प्राकारश्च परिखा च वप्रश्च प्राकारपरिखावप्राः तैः सालजलखातिकाप्राकारान्तर्वेदिकाभिः । परिवेष्टितं परिवृतम् । यत् श्रीपुरम् । परिवेषत्रयान्वीतचन्द्रवत् परिवेषाणां परिधीनां त्रयेण अन्वितश्चासौ चन्द्रश्च स इव । भासते । राजृ, दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ।।१४१।। प्रसिद्धेनेति । यत्र श्रीपुरे । वणिजो वाणिजाः[1] । तार्किकाश्चापि तर्कं न्यायशास्त्रं[2] बोद्धारोऽध्येतारो वा । प्रसिद्धेन लोकप्रतीतेन । अविरुद्धेन विरोधरहितेन, विरुद्धरूपहेतुदोषरहितेन । अव्यभिचारिणा क्रयविक्रयकरणे व्यभिचाररहितेन व्यभिचाररूप-हेतुदोषरहितेन च । मानेन प्रमाणेन[3] । वस्तु रत्नादिवस्तु वह्न्यादिपदार्थं च । प्रमिण्वते अनुमिमते । ममिञ्[4]

पायी जाती ।।१३९।। उस पुरमें विरोध—वि + रोध = पक्षियोंको रोक रखना केवल पिंजरोंमें ही देखा जाता है; महात्माओंके मनमें विरोध नहीं देख पड़ता । केवल स्त्रियोंकी नाभिमें ही गहरायी पायी जाती है; गृहस्थोंके आचरणमें नीचता नहीं पायी जाती ।।१४०।। वह नगर चारों ओरसे चहारदीवारी, खाई और अन्तर्वेदीसे घिरा हुआ है, अतः वह तीन परिधियोंके बीचों-बीच पहुँचे हुए चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहा है ।।१४१।। उस पुरके वणिक्-व्यापारी जिन मापनेके पात्रों और तौलनेके बांटोंसे सौदा मापते या तौलते हैं, वे सब लोक प्रसिद्ध हैं । वे लेनेके बड़े और देनेके छोटे नहीं हैं और उनमें कोई पासंग या करामात नहीं है—वहाँके व्यापारी अत्यन्त प्रामाणिक हैं । इसी प्रकार वहांके तार्किक भी प्रमेयका निश्चय जिस अनुमान प्रमाणसे करते हैं, उसका अङ्ग-हेतु असिद्ध, विरुद्ध और व्यभिचारी नहीं रहता—वे अग्नि आदि प्रमेयोंका निश्चय धूम आदि सच्चे हेतुओंसे करते हैं, झूठे हेतुओं—हेत्वाभासोंसे

---

१. = 'वैदेहकः सार्थवाहो नैगमो वाणिजो वणिक् ।' इत्यमरः । २. = तर्कस्य न्यायशास्त्रस्य बोद्धारोऽध्येतारो वा, तेऽपि । ३. श स प्रमाणेन च । ४. श स डुमिञ् प्रक्षेपणे ।

वापीवनायतनसौधतडागरम्यं स्वर्गाभिभाविविभवोदयवर्द्धमानम् ।[1]
शक्येत तन्न गुरुणापि पुरं यथावदाख्यातुमल्पमतिना किमु मद्विधेन ॥ १४३ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

प्रक्षेपणे । श्लेषालङ्कारः ॥१४२॥ वापीति । वापीवनायतनसौधतटाकरम्यं वापीभिर्दीर्घिकाभिर्वनैरुद्यानैः आयतनैः चैत्यालयैः सौधैः प्रासादैः तटाकैः पद्माकरैश्च रम्यं मनोहरम् । स्वर्गाभिभाविविभवोदयवर्द्धमानं स्वर्गं सुरलोकम् अभिभवतीत्येवंशीलः स्वर्गाभिभावी स्वर्गतिरस्कारी स चासौ विभवश्च तथोक्तः, स्वर्गाभिभाविविभवस्यैश्वर्यस्योदयः प्रादुर्भावः तेन वर्धमानम् एधमानम् । तत् पुरं श्रीपुरम् । गुरुणापि बृहस्पतिनापि । यथावत् यथैवास्येति[2] यथावत् सत्यम् । आख्यातुं न शक्येत न समर्थ्येत । शक्लृ शक्तौ कर्मणि लिङ् । मद्विधेन मम विधः समानः तेन मत्सदृशेन । अल्पमतिना अल्पा मतिर्यस्य तेन । किमु शक्येत । अनेन कवेरस्यौद्धत्यपरिहारः कृतः । अतिशयोक्तिः ॥१४३॥

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये द्वितीयः सर्गः ॥२॥

नहीं ॥१४२॥ उस पुरकी सुन्दरतामें वापिकाओं, बाग-बगीचों, देवालयों, महलों और सरोवरोंने चार चाँद लगा दिये हैं। वहाँपर स्वर्गके वैभवको भी मात करनेवाला वैभव-अटूट सम्पत्ति है, अतः दिनोंदिन उसकी प्रगति हो रही है। इस लिए उस पुरका वास्तविक वर्णन देवगुरु बृहस्पति भी नहीं कर सकते, फिर मुझ जैसा मन्दमति कर ही कैसे सकता है ?॥१४३॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥२॥

---

१. अ °भिभावविभ° क ख ग घ स्वर्गाविपस्य विभ । २. स यथैवास्तीति यथावत् ।

तृतीयः सर्गः ।

तत्राभिनन्दितनिजाखिलबन्धुपद्मो न्यायांशुजालनिहतापनयान्धकारः ।
संकोचितारिवनितास्यनिशाकरश्रीः श्रीषेण इत्यजनि भानुनिभो नरेन्द्रः ॥ १ ॥
यस्य प्रतापदहनेन विलङ्घ्यमानमूर्तिर्निरन्तरमरातिगणः समस्तः ।
द्रष्टुं दिशं न विदिशं चकितः प्रभूष्णुर्घूकोपमः समभवद्गिरिगह्वरस्थः ॥२॥
यस्य स्फुरद्भिरनुरागकरैर्यशोभिरुद्भासितासु सकलासु दिगङ्गनासु ।
तन्मात्रकार्यकरणप्रवणाय लोकः शीतांशवे न नितरां स्पृहयांबभूव ॥३॥

गर्भावतारसमयं (ये) भुवनं समस्तं गङ्गाम्बुहेममणिरत्नसुधाभिषिक्तम् ।
क्षीराब्धिनीरपरिशोभितदिव्यकायं श्रीशीतलं जिनपतिं प्रणमामि नित्यम् ॥

तत्रेति । तत्र श्रीपुरे । अभिनन्दितनिजाखिलबन्धुपद्मः अभिनन्दिताः प्रवर्धिता निजस्य स्वस्य अखिलाः समस्ता बन्धव एव पद्मानि[1] नलिनानि येन(सः) तथोक्तः । अथवा अभिनन्दिता निजाखिलबन्धूनां पद्मा लक्ष्मी येन । न्यायांशुजालनिहतापनयान्धकारः न्याया नीतयः त एवांशवो मयूखाः तेषां जालं समूहः तेन निहतो-निराकृतोऽपनयो दुर्नीतिः स एवान्धकारः, रूपकं, न्यायांशुजालनिहतोऽपनयान्धकारो यस्य (येन सः) तथोक्तः । संकोचितारिवनितास्यनिशाकरश्रीः संकोचिताऽरीणां शत्रूणां वनितानां नारीणामास्यान्येव निशाकरश्चन्द्रस्तस्य श्रीः शोभा येन तथोक्तः । भानुनिभः भानोः सूर्यस्य निभः समानः । श्रीषेण इति । नरेन्द्रः नृपतिः । अजनि अजायत । जनैङ्[2] प्रादुर्भावे लुङ् । श्लेषोपमा ॥१॥ यस्येति । यस्य श्रीषेणस्य । प्रतापदहनेन प्रतापः तेजः स एव दहनोऽग्निः तेन । रूपकम् । निरन्तरं निरवकाशम् । विलङ्घ्यमानमूर्तिः विलङ्घ्यमाना अनुलङ्घ्यमाना मूर्तिरवयवो यस्य सः (अतिक्रम्यमाणतनुः) । चकितः भीतः । दिशम् आशाम् । विदिशं च । द्रष्टुं वीक्षितुम् । न प्रभूष्णुः समर्थः । भू सत्तायामिति धातोः 'भूजेस्स्नुक्' इति साधुः । धर्मशीलेषु स्नुप्रत्ययः । समस्तः सकलः । अरातिगणः अरातीनां शत्रूणां गणः समूहः । गिरिगह्वरस्थः गिरीणां गह्वरेषु स्थः स्थितः(गिरिगह्वरेषु तिष्ठतीति गिरिगह्वरस्थः) । घूकोपमः घूकस्योलूकस्योपमः समानः (घूकस्योलूकस्योपमा यस्य सः) । समभवत् समभूत् । भू सत्तायां लङ् ॥२॥ यस्येति । यस्य श्रीषेणस्य । स्फुरद्भिः प्रज्वलद्भिः (स्फुरणशीलैः) । अनुरागकरैः अनुरागं सन्तोषं कुर्वन्तीत्यनुरागकराः तैः । यशोभिः कीर्तिभिः । सकलासु सर्वासु । दिगङ्गनासु दिशां ककुभामङ्गनाः कन्यकाः (दिश आशा एवाङ्गना दिगङ्गनाः) तासु । उद्भासितासु प्रकाशितासु सतीषु[3] । लोकः जनः । तन्मात्रकार्यकरणप्रवणाय तदेव तन्मात्रं प्रकाशनमात्रं तस्य कार्यस्य करणे

उस श्रीपुरमें श्रीषेण नामका राजा राज्य करता था । वह सूर्य सरीखा था । सूर्य अपने कमल-बन्धुओंका विकास करता है, इसने अपने बन्धु-कमलोंका विकास किया था । सूर्य अपनी किरणोंसे अन्धकारको हटाता है, इसने अपने न्यायसे अन्यायको मिटा दिया था । सूर्य चन्द्रमाकी श्रीको फीका कर देता है, इसने अपने शत्रुओंकी स्त्रियोंके चन्द्रमुखको फीका कर दिया था ॥१॥ उसका प्रताप अग्निके समान सन्ताप देनेवाला था । उसके सभी शत्रु उससे सन्तप्त होकर ऐसे घबरा उठे कि वे दिशा और विदिशाको पहचाननेमें असमर्थ हो गये । फलतः वे पहाड़ोंकी गुफाओंमें जा घुसे और वहीं उल्लुओंकी तरह छिपकर बैठ गये ॥२॥ उसका यश सभी ओर बड़ी तेजीसे फैल रहा था, और लोगोंके मनमें अनुराग उत्पन्न कर रहा था । जब उसने सभी

---

१. आ पद्माः । २. श स जनेर्जा । ३. आ सत्सु स सती ।

संपूर्णशारदनिशाकरकान्तकीर्तिवल्लीवितानपरिवेष्टितविष्टपान्तः ।
यः पोषणाद्विनयनाद्व्यसनापनोदात्स्वामी गुरुः सुहृदभूदखिलप्रजानाम् ॥४॥
यत्र प्रशान्तसकलव्यसने विनीते स्वाभाविकं मतिमहातिशयं प्रपन्ने ।
चक्रुर्निवासमखिला नरनाथविद्याः पर्युत्सुका इव परस्परदर्शनस्य ॥५॥
तुङ्गत्वमद्रिपतिना हरिणेश्वरत्वं शीतांशुना सुभगता वशिता मुनीन्द्रैः ।
शौर्यं मृगाधिपतिना गुरुणा मनीषा गाम्भीर्यमम्बुनिधिना तुलितं यदीयम् ॥६॥
नागाः पदातिवृषभास्तुरगा रथाश्च शोभानिमित्तमभवन्खलु यस्य सर्वे ।
आक्रम्य मण्डलपतीनखिलान्स यस्मात्सर्वां बुभोज वसुधां निजतेजसैव ॥७॥

विधाने प्रवणाय समर्थाय (प्रकाशमात्रकार्यकरणसमर्थाय) । शीतांशवे चन्द्राय । नितराम् अत्यन्तम् । न स्पृहयांबभूव वाञ्छयतिस्म (वाञ्छतिस्म) । स्पृह ईप्सायां[1] लिट् । सामान्यालङ्कारः (व्यतिरेकालङ्कारः) ॥३॥ संपूर्णेति । संपूर्णशारदनिशाकरकान्तकीर्तिवल्लीवितानपरिवेष्टितविष्टपान्तः संपूर्णः पूर्णकलः शारदः शरत्कालभवो निशाकरश्चन्द्रः (स) इव कान्ता मनोहराः कीर्त्तयो यशांसि, उपमा, ता एव वल्यो लताः, रूपकं, तासां वितानः (नं) समूहस्तेन वेष्टितः परिवृतो विष्टपस्य लोकस्यान्तो मध्यं (मध्य.) यस्य (येन) सः । यः श्रीषेणः । अखिलप्रजानाम् अखिलानां प्रजानां पोषणात् रक्षणात् । विनयनात् शिक्षणात् । व्यसनापनोदात् व्यसनस्यापनोदनात् निराकरणात् । यथाक्रमम् । स्वामी पालनात् । गुरुः शिक्षणात् । सुहृत् दुःखनिवारणात् । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् । यथासंख्यालङ्कारः ॥४॥ यत्रेति । प्रशान्तसकलव्यसने प्रशान्तं विनष्टं सकलं समस्तं व्यसनं दुःखं यस्य तस्मिन् । विनीते विश्रुते (विनयान्विते) । स्वाभाविकं स्वभावभवम् । मतिमहातिशयं मतेर्बुद्धेर्महान्तमतिशयम् । प्रपन्ने प्रयाते (प्राप्ते) । यत्र श्रीषेणे । अखिलाः समस्ताः । नरनाथविद्याः नरनाथस्य राज्ञो विद्याः । परस्परदर्शनाय परस्परस्य दर्शनाय वीक्षणाय । पर्युत्सुका इव पर्युत्कलिका इव (उत्कण्ठिता इव) । निवासम् आवासम् । चक्रुः विदधुः । डुकृञ् करणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥५॥ तुङ्गत्वमिति । यदीयं यस्येदं यदीयम् । 'दोश्छः' । तुङ्गत्वम् उन्नतत्वम्[2] । अद्रिपतिना महामेरुणा सह । ईश्वरत्वं प्रभुत्वम् । हरिणा देवेन्द्रेण । सुभगता सौन्दर्यम् । शीतांशुना शीताः शीतरूपा अंशवो मयूखा यस्य तेन चन्द्रेण । वशिता इन्द्रियजयत्वम् । मुनीन्द्रैः यतीन्द्रैः । शौर्यं शूरत्वम् । मृगाधिपतिना सिंहेन । मनीषा बुद्धिः । गुरुणा बृहस्पतिना । गाम्भीर्यं गम्भीरत्वम् । अम्बुनिधिना समुद्रेण । तुलितं समानीकृतम् । उपमा (दीपकम्) ॥६॥ नागा इति । सः श्रीषेणः । यस्मात् । निजतेजसैव निजस्य स्वस्य तेजसैव प्रतापेनैव । अखिलान् समस्तान् । मण्डलपतीन् भूपालान् । आक्रम्य आक्रमणं पूर्वं (पश्चात् किञ्चित्) तिरस्कृत्य ।

दिशाओंको प्रकाशित कर दिया तब लोगोंको, केवल प्रकाश फैलानेमें चतुर चन्द्रमाकी चाह बिलकुल ही नहीं रही ॥३॥ उसकी कीर्ति शरत्कालीन पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान सुन्दर थी । वह दुनियाके कोने-कोनेमें लताकी तरह फैल गयी थी । भरण-पोषण करनेसे वह राजा सारी प्रजाका स्वामी था; शिक्षा देनेसे गुरु था और संकट निवारण करनेसे मित्र भी था ॥४॥ उसमें कोई बुरा व्यसन नहीं था; वह अत्यन्त नम्र था; उसकी बुद्धि स्वभावतः अत्यन्त तीक्ष्ण थी और इसीलिए उसमें वे सारी विद्याएँ, जिनका अध्ययन राजाओंको अवश्य ही करना चाहिए, आकर रहने लगीं । मानो वे पहले से ही एक-दूसरेसे मिलनेके लिए उत्सुक थीं ॥५॥ उसकी ऊँचाईकी तुलना सुमेरुसे, ऐश्वर्यकी इन्द्रसे, सुन्दरताकी चन्द्रमासे, जितेन्द्रियताकी बड़े-बड़े मुनियोंसे, शूरताकी सिंहसे, बुद्धिकी बृहस्पतिसे और गम्भीरताकी सागरसे की जाती थी ॥६॥ हाथी, घोड़े, रथ और वीर सैनिक ये सभी केवल उसकी शोभाके निमित्त थे; क्योंकि केवल

---

१. श स इच्छायाम् । २. आ प्रतावेव 'उन्नतत्वम्' इति समुपलभ्यते ।

यत्र क्वचिद्गुणगणो गतवान्सहैव वृद्धिं मया नृपतिरेष पुनर्न जाने ।
मां द्वेष्टि शंसति शमप्रभृतीनितीव यो जातनिर्भररुषा मुमुचे मदेन ॥८॥
वक्षः श्रियो भुजयुगं वरवीरलक्ष्म्याः कान्तेः शरीरमखिलं हृदयं क्षमायाः ।
यस्यास्पदं मुखमजायत वाग्विभूतेरन्याश्रयाय सकलस्य सतां प्रयासः ॥९॥
भेजे नितान्तमजलोऽपि नदीनभावं यश्चाभवद्वसुमतीतिलकोऽप्यशोकः ।
दोषाकरश्च न बभूव कलाधरोऽपि सर्वं हि विस्मयकरं महतां स्वरूपम् ॥१०॥

सर्वां समस्ताम् । वसुधां भूमिम् । बुभोज पालयति स्म । भुज पालनाभ्यवहारयोः लिट् । 'शपनाथशिक्ष—' इत्यादि सूत्रेण पालनार्थे तङ्[2] । यस्य श्रीषेणस्य । नागाः गजाः । [पदातिवृषभाः] पदातयो वृषभा इव तथोक्ताः, 'व्याघ्रादिभि[3] र्गौणैस्तदनुक्तौ' इति कर्मधारयः, भटश्रेष्ठाः । तुरगाः वाजिनः । रथाश्च । सर्वे समस्ताः[4] । शोभानिमित्तं विलासार्थम् । अभवन् अभूवन् । भू सत्तायां लङ् । अतिशयोक्तिः ॥७॥ यत्रेति । (यत्र) क्वचित्[5] राज्ञि । गुणगणः गुणानां गणः समूहः । मया सहैव[6] सममेव । वृद्धिं समृद्धिम् । गतवान् यातवान् । यत्र राज्ञि (?) । न जाने न बुध्ये । ज्ञा अवबोधने । 'अनुपसर्गे ज्ञः'[7] इति लङात्मने पदम् । पुनः पश्चात् । एष नृपतिः अयं नरनाथः । मां द्वेष्टि क्रुध्यति । शमप्रभृतीन् क्षमादीन् । शंसति सत्करोति । इति एवम् । जातनिर्भररुषेव जातयोत्पन्नया निर्भरयाऽधिकया रुषेव कोपेनेव । मदेन गर्वेण । मुमुचे त्यज्यते स्म[8] । मुच्लृ[9] मोक्षणे कर्मणि लिट् ॥८॥ वक्ष इति । यस्य श्रीषेणस्य । वक्षः उरः । श्रियः श्रीदेव्याः । आस्पदं स्थानम् । भुजयुगं भुजयोर्युगं युगलम् । [वर-] वीरलक्ष्म्याः (श्रेष्ठ-) जयलक्ष्म्याः स्थानम् । अखिलं सकलम् । शरीरं गात्रम् । कान्तेः देहदीप्त्याः स्थानम् । हृदयं स्वान्तम् । क्षमायाः क्षान्त्याः स्थानम् । मुखं वदनम् । वाग्विभूतेः वाचः सरस्वत्याः विभूतेः ऐश्वर्यस्य स्थानम् । अजायत अजनि । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् । सतां सत्पुरुषाणाम् । प्रयासः प्रयत्नः । [ननु] (निश्चयेन) । सकलस्य सर्वजनस्य । आश्रयाय आधाराय (भवतीति शेषः) । ननु तथाहि (?) । अर्थान्तरन्यासः ॥९॥ भेजे इति । यः श्रीषेणः । नितान्तं भृशम् । अजडोऽपि, जलरहित इति ध्वनिः । 卐 न दीनभावं न दीनः, न दीन इति नयो नस्य लुग्मास (?) तस्य भावं दैन्यभावमित्यर्थः । नदीनां सरितामिनः स्वामी तस्य भावः तम् । समुद्रस्वरूपममिति ध्वनिः । भेजे सिषेवे ! भजी सेवायां लिट् । वसुमतीतिलकोऽपि वसुमत्याः भूमेस्तिलकोऽप्यलङ्कारोऽपि, वसुमत्यां वर्तमान-तिलकवृक्षोऽपि, इति ध्वनिः । अशोकः दुःखरहितः, अशोकवृक्ष इति ध्वनिः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां

अपने प्रतापसे ही सभी माण्डलीक राजाओंको जीत करके वह समस्त भूमण्डलका परिपालन कर रहा था ॥७॥ 'जिस किसी भी राजाके गुण अभी तक मेरे ही साथ बढ़े हैं, किन्तु यह राजा न जाने कैसा है, कि मुझसे द्वेष करता है और शम-शान्ति आदि गुणोंकी प्रशंसा किया करता है' मानो इसीलिए अहंकार अत्यन्त रुष्ट हो गया और उसे छोड़कर चला गया ॥८॥ उसका वक्षस्थल लक्ष्मीका, बाहु युगल श्रेष्ठ विजयलक्ष्मी या वीरताका, पूरा शरीर कान्तिका, हृदय क्षमाका और मुख वाणीके वैभवका निवासस्थान हो गया । सज्जनोंका प्रयत्न निश्चय ही दूसरोंको आश्रय देनेके लिए हुआ करता है ॥९॥ वह (विरोध पक्षमें—) बिलकुल जल-रहित था, पर था समुद्र (परिहार पक्षमें—) वह अत्यन्त बुद्धिमान था, और उनके मनमें कभी दीनताके भाव उत्पन्न नहीं होते थे । वह (विरोध पक्षमें—) पृथ्वीका तिलक वृक्ष था तो भी अशोक वृक्ष था (परिहार पक्षमें—) वह भूमण्डलका मण्डन था और उसे कभी शोक नहीं

---

१. अ आ इ क ख ग घ म नत्वाश्र° । २. आ लेप् श स तिप् । ३. श स गणैः । ४. श स समग्राः । ५. = यत्र क्वचित् यस्मिन् कस्मिंश्चित् पुरुषे । ६. श स सहैव । ७. श स °सर्गज्ञः । ८. आ त्यजति स्म । ९. श स मुचञ् मो° ।

धर्मोऽर्थसंचयनिमित्तमुदारमर्थः कामस्य हेतुरितरः सुखयोनिरेते ।
यत्र त्रयोऽप्यविरतं न परस्परस्य जैनेश्वरा इव नया विजहुर्व्यपेक्षाम् ॥११॥
वाञ्छद्भिराश्रयविशेषमिवात्मयोग्यमौदार्यधैर्यविनयादिगुणैरशेषैः ।
अभ्यर्थितः सततमादरवद्भिरेषां[1] वेधाः ससर्ज नृपमालयभूतमेनम् ॥१२॥
भानुर्भवेद्यदि मनागिह सौम्यरूपस्तेजस्वितामुपगतो मृगलाञ्छनो वा ।
धामाधिको विदधदेष जनानुरागं तेनोपमानपदवीं प्रभुरुद्वहेत ॥१३॥

लङ् । कलाधरोऽपि द्वासप्ततिकलाधरोऽपि, चन्द्र इति ध्वनिः[2] 卐 । दोषाकरश्च दोषाणां पापाचरणानामाकर उत्पत्तिस्थानम्, रात्रिकर इति ध्वनिः (न बभूव न समजनि) । महतां सत्पुरुषाणाम् । सर्वं निखिलम् । स्वरूपं धर्मः । विस्मयकरं हि विस्मयमाश्चर्यं करोतीति विस्मयकरं हि[3] । विरोधार्थान्तरन्यासयोः सङ्करः ॥१०॥ **धर्म इति** । यत्र श्रीषेणे । धर्मः । उदारम् अत्यन्तम् । अर्थसंचयनिमित्तम् अर्थस्य संचयस्य संपादनस्य[4] । निमित्तं कारणम् । अर्थः कामस्य विषयानुभवस्य हेतुः कारणम् । इतरः अन्यः कामः । सुखयोनिः सुखस्येन्द्रियसुखस्य योनिः कारणम् । एते त्रयोऽपि–धर्मार्थकामा अपि । परस्परस्य अन्योन्यस्य । जैनेश्वराः जिनेश्वरस्येमे तथोक्ताः जिनसंबन्धिनः । नया इव नैगमसंग्रहनया इव । अविरतम् अनवरतम् । व्यपेक्षाम् आकांक्षाम् । न जहुः न तत्यजुः । ओहाक् त्यागे लिट् । उपमा ॥११॥ **वाञ्छेति** । आत्मयोग्यम् आत्मनां स्वेषां योग्यमुचितम् । आश्रयविशेषम् । आश्रयस्याधारस्य विशेषं[5] भेदम् वाञ्छद्भिः : इच्छद्भिः । आदरवद्भिः आश्रये प्रीतियुक्तैः । अशेषैः सकलैः । औदार्यशौर्यविनयादिगुणैः औदार्यं च शौर्यं च विनयश्च तथोक्ताः ते आदिर्येषां ते औदार्यशौर्यविनयादयः ते (च) ते गुणाश्च तथोक्ताः तैः, त्यागप्रतापसत्कारादिगुणैरित्यर्थः । सततमनवरतम् । अभ्यर्थितः प्रार्थित इव । वेधाः ब्रह्मा । एषां गुणानाम् । आलयभूतम् अधारभूतम् । एनं नृपम् इमं श्रीषेणराजम्[6] । सृज विसर्गे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१२॥ **भानुरिति** । इह लोके । यदि मनाक् ईषत् । भानुः सूर्यः । सौम्यरूपः सौम्यं मनोहरं रूपं यस्य सः । भवेत् स्यात् । भू सत्तायां लिङ् । मृगलाञ्छनः मृग एव लाञ्छनं

होता था । वह (विरोध पक्षमें—) था तो चन्द्रमा पर रात्रिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं था (परिहार पक्षमें—) वह समस्त कलाओंमें कोविद था और उसमें कोई दोष नहीं था । महान् पुरुषोंका सारा स्वरूप निश्चय ही आश्चर्यजनक होता है ॥१०॥ धर्म उसके धन-संचयका एक बड़ा निमित्त था, धनसंचय काम पुरुषार्थका और काम पुरुषार्थ इन्द्रिय सुखका और ये तीनों—धर्म, अर्थ तथा काम कभी भी एक-दूसरेकी उपेक्षा नहीं करते थे—सभीको एक-दूसरेकी अपेक्षा रहती थी । तीनों पुरुषार्थ जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित नैगम आदि नयोंके समान एक दूसरेसे सम्बन्ध रखते थे ॥११॥ उदारता, धैर्य और विनय आदि सभी गुण अपने निवास करने योग्य किसी विशेष आश्रयको चाह रहे थे, और उन्होंने बड़े आदरके साथ इसके लिए कुछ दिन लगातार ब्रह्मदेवसे प्रार्थना थी । मानो इसी प्रार्थनापर उसने इन गुणोंके रहनेके लिए इस राजाकी सृष्टि की ॥१२॥ इस संसारमें सूर्य यदि थोड़े सौम्य रूपको धारण कर लेता अथवा चन्द्रमा ही तेजस्वी हो जाता, तो इन दोनोंमें-से कोई भी एक, तेजस्वी और प्रजाका रंजन करनेवाले

१. म °द्भिरेष° । २. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ३. = अजलोऽपि जलरहितोऽपि नदीनभावं समुद्रत्वं [भेजे] । वसुमत्यां तिलको वृक्षविशेषोऽपि, अशोको वृक्षजातिः । कलाधरोऽपि चन्द्रोऽपि दोषाकरो न बभूव । विरोधोऽयम् । तत्परिहारः—अपि निश्चयेन । यतोऽजडः पण्डितोऽत एव दीनभावं दीनत्वं न भेजे । यतश्च वसुमत्याः वसुधायाः तिलको ललामभूतोऽत एवाशोकः शोकरहितः । यतश्च कलाधरोऽत एव दोषाणामसौजन्यादीनामाकरो न बभूव । ४. आ संपादकस्य । = अर्थसंग्रहसंपादनस्येत्यर्थः । ५. = विशिष्टमाश्रयम् । ६. श स° राजानम् ।

श्रीकान्तया सरसिजाकरसंनिवासिश्रीकान्तया सकललोकमनोभिरामः।
देव्या स्वकीयवपुरव्यतिरिक्तयाप योगं शशीव कलयामलया स भूपः ॥१४॥
लावण्यसंपदमलाम्भसि संनिमज्ज्य देहं स्वमुज्ज्वलमिवातितरां विधातुम्।
श्लाघ्यः शरद्विशदचन्द्रगभस्तिगौरो यस्यास्तनौ समुदितः सकलो गुणौघः ॥१५॥
शीलक्षमाविनयरूपगुणैर्महार्घामुच्चित्य यामखिलविष्टपसुन्दरीषु।
भर्तुर्मनो रमयितुं स्वसहायभूतां लक्ष्मीरिवादरपरा स्वयमेव वव्रे ॥१६॥

यस्य सः, चन्द्रो वा। रूपकम् (?)। तेजस्वितां तेजोऽस्यास्तीति तेजस्वी तस्य भावम्। परिगतः गतवान्। धामाधिकः प्रतापाधिकः। जनानुरागं जनानां लोकानामनुरागं प्रीतिम्। विदधत् विदधातीति विदधत्, कुर्वन्, शतृप्रत्ययः। 'न नम्' इति नम् न भवति। एषः अयम्। प्रभुः श्रीषेणः। तेन[1] भानुना चन्द्रेण वा। उपमानपदवीम् उपमानस्य सादृश्यस्य पदवीं स्थानम्। उद्वहेत दध्यात्। अतिशयोक्तिः ॥१३॥ श्रीति। सकललोकमनोभिरामः सकलानां जनानां मनोभिरामो मनोहरः। स भूपः श्रीषेणनृपः। सरसिजाकरसंनिवासिश्रीकान्तया[2] सरसिजाकरे सरोवरे संनिवासिनी निवसनशीला श्रीरिव[3] कान्तया मनोहरया। स्वकीयवपुरव्यतिरिक्तया स्वकीयस्य स्वस्य[4] वपुषा शरीरेणाव्यतिरिक्तयाऽभिन्नरूपया। श्रीकान्तया श्रीकान्तासंज्ञया। देव्या महिष्या। अमलया निर्मलरूपया। कलया षोडशभागेन। शशीव चन्द्र इव। योगं संबन्धम्। आप ययौ। आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥१४॥ लावण्येति। लावण्यसंपदमलाम्भसि लावण्यस्य देहकान्तेः संपदेव[5] अमलेऽम्भसि जले। रूपकम्। स्वं स्वकीयम्। देहं शरीरम्। अतितराम् अत्यन्तम्। उज्ज्वलं निर्मलम्। विधातुमिव कर्तुमिव। संनिमज्य संस्नाप्य[6] श्लाघ्यः पूज्यः। शरद्विशदचन्द्रगभस्तिगौरः शरदः शरत्कालस्य विशदस्य निर्मलस्य चन्द्रस्य गभस्तिरिव कान्तिरिव गौरो मनोहरः। सकलः सर्वः। गुणौघः गुणानां पातिव्रत्यादीनामोघः समूहः। यस्याः श्रीकान्तायाः। तनौ शरीरे। समुदितः संचितः। उत्प्रेक्षा ॥१५॥ शीलेति। आदरपरा प्रीतिपरा। लक्ष्मीः। अखिलविष्टपसुन्दरीषु अखिलस्य विष्टपस्य सुन्दरीषु स्त्रीषु। शीलक्षमाविनयरूपगुणैः शीलं च क्षमा च विनयश्च तथोक्ताः त एव[7] रूपं येषां तैः गुणैः। महार्घाम् अतिशयेन पूज्याम्। स्वसहायभूतां स्वस्य सहायभूतां सुहृद्भूताम्। यां श्रीकान्तादेवीम्। उच्चित्य गृहीत्वा[8] भर्तुः श्रीषेणभूपस्य।

उस राजाका उपमान हो सकता था, तथा राजा भी उपमेयका रूप लेकर उसकी समानता धारण कर लेता ॥१३॥ वह सभी लोगोंकी दृष्टिमें सुन्दर था। उसका विवाह श्रीकान्ता देवीके साथ हुआ था। वह कमलोंमें निवास करनेवाली लक्ष्मीके समान सुन्दर थी और चन्द्रमाकी कलाकी भाँति निर्मल। राजा उसे अपने शरीरसे विलग नहीं समझता था। उसकी अर्धाङ्गिनी जो थी। वह उससे घुलमिल गई जैसे कला चन्द्रमासे सम्बन्ध जोड़कर उससे घुलमिल जाती है ॥१४॥ श्रीकान्ताके शरीरमें प्रशंसनीय तथा शरत्कालीन चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल सभी गुण प्रकट हो गये। मानो वे उसकी कान्तिके निर्मल जलमें स्नान करके अपने शरीरको और भी अधिक उज्ज्वल करना चाहते थे ॥१५॥ वह शील, क्षमा, विनय और रूप आदि गुणोंके कारण सारे संसारकी सुन्दर स्त्रियोंके द्वारा पूज्य थी। इसे खोजकर लक्ष्मीने मानो अपने पति श्रीषेण (राजा लक्ष्मीपति कहे जाते हैं) के मनोरञ्जनके लिए बड़े सम्मानके साथ

---

१. आ श स केन। २. = सरसिजाकरसंनिवासिनी कमलवनवासिनी चासौ श्रीश्च तद्वत् कान्तया मनोरमया। ३. = या श्रीः सेव। ४. = आत्मीयस्य। ५. = संपदेव। ६. = निमज्जनं विधाय। ७. आ स एव। ८. = अन्विष्य।

चन्द्रोज्ज्वलेन यशसा कथितं सुराणामीशस्य संसदि परीतवता त्रिलोकीम् ।
रूपं ग्रहीतुमनसः स्पृहयन्ति यस्या देव्यो दिवोवतरणाय तपांसि कर्तुम् ॥१७॥
दोषानुबन्धरहिता तमसा विमुक्ता रम्या निजोदयविकासितबन्धुपद्मा ।
प्राभातिकी द्युतिरिवाम्बुजबान्धवस्य या कान्तिमोषधिपतेः परिभूय तस्थौ ॥१८॥
धर्मार्थयोरविदधत्सविशामधीशो बाधा विधूपमयशोधवलीकृताशः ।
सार्धं तया प्रणयकोपकृतान्तराणि देव्या सुखान्यनुभवन्दिवसान्निनाय ॥१९॥

मनः स्वान्तम् । रमयितुं वशीकर्तुमिव[1] स्वयमेव[2] वव्रे विवाहं चक्रे[3] । वृञ् वरणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१६॥ चन्द्रेति । त्रिलोकीं त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी, ताम् । 'द्विगोः' इति ङी । परीतवता व्याप्तवता । चन्द्रोज्ज्वलेन चन्द्रेणेवोज्ज्वलेन । यशसा कीर्त्या । सुराणां देवानाम् । ईशस्य इन्द्रस्य । संसदि सभायाम् । कथितं प्रोक्तम् । यस्याः श्रीकान्तायाः । रूपं सौन्दर्यम्[4] । गृहीतुमनसः गृहीतुं स्वीकर्तुं मनसो मानसाः चित्ताः[5] 'तुमो मनस्कामे' इति तुमो मकारस्य लोपः । देव्यः देवस्त्रियः । तपांसि तपश्चरणानि । कर्तुं करणाय । दिवः स्वर्गात् । अवतरणाय आगमनाय[6] स्पृहयन्ति वाञ्छन्ति । स्पृह ईप्सायां लट् । 'स्पृहेर्वा' इति चतुर्थी । उत्प्रेक्षा ॥१७॥ दोषेति । दोषानुबन्धरहिता दोषाया रात्रेर्दोषस्य पापस्यानुबन्धेन संबन्धेन रहिता वियुक्ता । तमसा अन्धकारेण, अज्ञानेन वा । विमुक्ता रहिता । रम्या मनोहरा । निजोदयविकासितबन्धुपद्मा निजस्य स्वस्योदयेन विकासितानि प्रस्फु[स्फो]टितानि बन्धव एव पद्मानि यस्याः (यया) सा । या श्रीकान्ता । अम्बुजबान्धवस्य अम्बुजस्याम्भोजस्य बान्धवस्य सूर्यस्य । प्राभातिकी प्राभातस्योदयकालस्येयं प्राभातिकी । द्युतिरिव प्रकाश इव । ओषधिपतेः ओषधीनां पतिश्चन्द्रः, तस्य । कान्ति द्युतिम् । परिभूय तिरस्कृत्य । तस्थौ तिष्ठति स्म । स्था गतिनिवृत्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ धर्मेति । धर्मार्थयोः द्वयोः । बाधां विरोधम् । अविदधत् अकुर्वन् । विधूपमयशोधवलीकृताशः विधोश्चन्द्रस्योपमेन समानेन[7] यशसा प्रागधवला इदानीं धवलाः क्रियन्ते स्म धवलीकृता आशा दिशो यस्य (येन) सः । विशां राज्ञाम् । अधीशः प्रभुः । सः श्रीषेणः । तया श्रीकान्तया ।

स्वयं अपना सहायक बना लिया था ॥१६॥ उसका निर्मल यश तीनों लोकोंमें फैल गया था । उसकी चर्चा इन्द्रकी सभामें भी होती थी । उसे सुनकर स्वर्गकी देवियाँ उसके रूपको पानेकी इच्छासे तपश्चरण करनेके लिए स्वर्गसे उतरकर मनुष्यलोकमें आना चाहती थीं ॥१७॥ जिस प्रकार प्रभात वेलामें सूर्यकी प्रभा रात्रिके संसर्गसे रहित और अन्धकार-शून्य होती है । सुन्दर होती है और अपने उदयके साथ ही कमल-बन्धुओंको विकसित करती है । चन्द्रमाकी कान्तिको फीका कर देती है । इसी प्रकार वह रानी दोषोंसे रहित, अज्ञान रहित, सुन्दर, अपने अभ्युदयसे अपने बन्धुओंकी वृद्धि करनेवाली और चन्द्रमाकी कन्तिको फीका करनेवाली थी ॥१८॥ श्रीषेणने अपने निर्मल यशसे समस्त दिशाओंको धवल कर दिया था—उसका यश दुनियाके कोने-कोनेमें फैला हुआ था । धार्मिक और आर्थिक कार्योंमें बाधा पहुँचाये बिना वह अपनी पट्टरानीके साथ कामसुखका अनुभव करता हुआ काल बिता रहा था । सुखके उन

---

१. = अनुरञ्जयितुम् । २. = स्वत एव । ३. = वृतवती स्वीकृतवती । ४. आ रूपं सौन्दर्यं रूपम् श रूपं सौन्दर्यरूपम् स सौन्दर्यं रूपम् । ५. = मनांसि मानसानि चित्तानि यासां ताः । 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः ।' इत्यमरः । ६. = मानवपर्यायधारणायेति यावत् । ७. = विधोश्चन्द्रस्योपमा यस्य तेन, शशधरधवलेनेत्यर्थः ।

कृत्वापरेद्युरखिलावसरं स यावदन्तःपुरं व्रजति किन्नरगीतकीर्तिः।
तावत्कराग्रविनिविष्टकपोलमूलां देवीमुदश्रुनयनां सहसा ददर्श ॥२०॥
तां तादृशीं समवलोक्य समानदुःखो दुःखं विभक्तुमिव तन्मनसि प्रवृत्तम्।
स व्याकुलेन मनसा त्वरमाणवृत्तिः पप्रच्छ हेतुमतिशोकसमुद्भवस्य ॥२१॥
दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दलनप्रवीणे[1] पृथ्वीतलप्रसृतदुर्विषहप्रतापे।
पद्मायताक्षि मयि जीवति जीवितेशे संभाव्यते परभवो न पराभवस्ते ॥२२॥

देव्या महिष्या। प्रणयकोपकृतान्तराणि प्रणयकोपेन कृतं विहितम् अन्तरमवकाशं(शो) येषां (येषु) तानि। सुखानि। अनुभवन्। वासरान्। निनाय [2]यापयति स्म। णीञ्[3] प्रापणे लिट् ॥१९॥ कृत्वेति। किन्नरगीतकीर्तिः किन्नरैर्देवविशेषैर्गीता स्तुता कीर्तिर्यस्य सः। सः श्रीषेणः[4]। अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिने। 'पूर्वापर—' इत्यादिना एद्युस्प्रत्ययः। अखिलावसरं सर्वावसरम्[5]। कृत्वा विधाय। यावत् यावत्पर्यन्तम्। अन्तःपुरम् अवरोधम्। व्रजति गच्छति। तावत्। कराग्रविनिविष्टकपोलमूलां करस्य हस्तस्य अग्रे उपरिभागे विनिविष्टं स्थापितं कपोलस्य गण्डस्य मूलं यया ताम्। उदश्रुनयनाम् उदश्रुणी उत्पतदश्रुणी[6] नयने नेत्रे यस्याः ताम्। देवीं श्रीकान्तादेवीम्। सहसा शीघ्रेण (शीघ्रम्)। ददर्श पश्यति स्म। दृश् प्रेक्षणे लिट्। स्वभावोक्तिः ॥२०॥ तामिति। तादृशीं तादृग्रूपाम्। तां श्रीकान्तादेवीम्। समवलोक्य सम्यग् दृष्ट्वा। समानदुःखः समानं दुःखं यस्य सः। सः श्रीषेणः। व्याकुलेन कातरेण। मनसा मानसेन। त्वरमाणवृत्तिः सन् त्वरमाणा वृत्तिर्यस्य सः विह्वलवर्तनायुक्तः सन्। तन्मनसि तस्याः देव्याः मनसि चित्ते। प्रवृत्तं स्थितम्। दुःखम् असातम्[7]। विभक्तुमिव विभागं कर्तुमिव। शोकसमुद्भवस्य दुःखोद्भवस्य। हेतुं कारणम्। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। पप्रच्छ पृच्छति स्म। प्रच्छ ज्ञीप्सायां लिट् ॥२१॥ दुर्वारेति। पद्मायताक्षि पद्मे इवायते दीर्घे अक्षिणी नेत्रे यस्याः तस्याः संबोधनम्[8]। दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दलनप्रवीणे निवारयितुमशक्यं वीर्यं येषां तेषां[9] शत्रूणां निर्दलने विभेदने प्रवीणे समर्थे। पृथ्वीतलप्रसृतदुर्विषहप्रतापे पृथ्वीतले भूतले प्रसृतो विसृतः[10] प्रतापः तेजो यस्य तस्मिन्। जीवितेशे प्राणकान्ते। मयि जीवति सति प्राणति[11] सति। परभवः परैः[12] भवः उत्पन्नः[13]। पराभवः

दिनोंमें कभी-कभी रानीके प्रणयकोपके कारण कुछ-कुछ सम्भोगमें व्यवधान पड़ जाया करता था ॥१९॥ उसका यशोगान गन्धर्व देव किया करते थे। एक दिनकी बात है—वह आमसभा का काम पूरा करके ज्यों ही अन्तःपुरमें प्रवेश करता है त्यों ही उसकी दृष्टि एकाएक पट्टरानीपर पड़ी। उसका कपोल हथेलीपर झुका हुआ था और उसकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे ॥२०॥ उसे रोते देखकर श्रीषेण भी उसीके समान दुखी हुआ—उसकी आँखोंमें आँसू भर आये। उसका हृदय व्याकुल हो उठा और उसने शीघ्र ही रानीसे इतने बड़े शोक होनेका कारण पूछा। मानो वह उसके दुःखको बाँटना चाहता था ॥२१॥ हे कमललोचने! हे प्रिये! बड़े-बड़े पराक्रमी शत्रुओंके छक्के छुड़ानेमें मैं कुशल हूँ, सारे भूमण्डलपर मेरा प्रबल प्रताप फैला हुआ है और मैं तुम्हारे जीवनका रक्षक हूँ। रोनेका कारण बताओ। क्या किसीने तुम्हारा

१. अ °रिपुराड्दहनप्रवीण म° °रिपुनिर्दहनप्रवीणे। २ आ प्राप°। ३. नीञ् प्रापणे। ४. श स श्रीषेणः तया श्रीकान्तया। ५. = सभाकार्यम्। ६. आ उदश्रूणि उत्पतदश्रूणि। ७. = 'शर्मसातसुखानि च' इत्यमरः; 'सातं सौख्यं सुखम्' इति हेमचन्द्रश्च। ८. = यस्याः सा, तत्संबुद्धौ। ९. = रिपूणाम्। १०. = विस्तृत इत्यर्थः। ११. = प्राणिति। १२. = परेभ्यः। १३. = शत्रुकृत इत्यर्थः।

संतापमूलसुहृदं विरहं विसोढुमुन्मेषमात्रमपि तावकमप्रभूष्णोः ।
मत्तोऽपि मत्तगजगामिनि निश्चयेन जानीहि संभवति न प्रणयस्य भङ्गः ॥२३॥
त्वत्पादपद्मशरणे त्वदधीनवृत्तौ त्वत्प्रेमनिघ्नमनसि त्वदभिन्नदेहे ।
शाठ्यं मनागपि मृगाङ्कमुखि त्वदीये संभावयामि सरले न सखीजनेऽपि ॥२४॥
छन्दानुवर्तिषु पदातिषु बान्धवेषु दास्यं गतेषु च निशान्तवधूजनेषु ।
भ्रूभङ्गमात्रमपि सोढुमशक्नुवत्सु संजायते न तव तन्वि निदेशभङ्गः ॥२५॥

पराजयः[1] । न संभाव्यते न नीयते[2] । भू कृपोत्रकल्पने कर्मणि लट् । अनुमितिः ॥२२॥ संतामेति । मत्तगजगामिनि मत्तगज इव मदगज इव गामिनि गमनशीले[3] संतापमूल-मूलसुहृदं संतापस्य मूलं मुख्यं सुहृदं मित्रम् । तावकं तव संबन्धम् । 'युष्मदस्मदो—' इत्यादिना अञ्[4] तद्योगे एकत्वे तवकादेशः । विरहं[5] । उन्मेषमात्रमपि उन्मेषमेव उन्मेषमात्रं क्षणमात्रमपि । विसोढुं मर्षितुम् । अप्रभूष्णोः असमर्थात् । मत्तोऽपि मत्सकाशादपि । प्रणयस्य विनयस्य (स्नेहस्य) । भङ्गो नाशः । न संभवति नोत्पद्यते । इति निश्चयेन नियमेन । जानीहि मन्यस्व । ज्ञा अवबोधने लोट् ॥२३॥ त्वदिति । मृगाङ्कमुखि । मृगाङ्क इव मुखं यस्याः सा तस्याः संबोधनं[6] चन्द्रमुखि ! इत्यर्थः 'असहनञ्—' इत्यादिना ङी । त्वत्पादपद्मशरणे तव पादावेव पद्मं तदेव शरणं रक्षणं यस्य तस्मिन् । त्वदधीनवृत्तौ तवाधीना वृत्तिर्यस्य तस्मिन् । त्वत्प्रेमनिघ्नमनसि तव प्रेम्णि प्रीतौ निघ्नमधीनं मनो यस्य तस्मिन् । त्वदभिन्नदेहे त्वत्सकाशादभिन्नो देहः कायो यस्य तस्मिन् । सरले ऋजुभावयुक्ते । त्वदीये तव संबन्धे । 'दोश्छः' इति छः । सखीजनेऽपि सख्य एव जनः तस्मिन् । (शाठ्यं शठत्वं धूर्तत्वं वा) । न संभावयामि [न] निश्चिनोमि । भू कृपोत्रकल्पने लट् । रूपकम् ॥२४॥ छन्देति[7] । तन्वि कृशाङ्गि । छन्दानुवर्तिषु[8] अनुवर्तन्ते इत्येवंशीला अनुवर्तिनः छन्दस्यानुवर्तिनः[9] तेषु अनुकूलवृत्तिषु । 'छन्दो वशेऽप्यभिप्राये हार्दाख्या[10] चित्तवृत्तयोः' इति विश्वः । पदातिषु भृत्येषु । दास्यं गतेषु कैङ्कर्यं गतेषु । बान्धवेषु बन्धुषु । बन्धूनामपि दास्यकथनेन तस्या महत्त्वं व्यज्यते । भ्रूभङ्गमात्रमपि भ्रुवो भङ्ग एव भ्रूभङ्गमात्रं तदपि । सोढुं

अपमान किया है ? मुझे तो इसकी सम्भावना नहीं है कि मेरे जीवित रहते कोई तुम्हारा अपमान कर सके ॥२२॥ हे मदमाते गजकी भाँति गमन करनेवाली ! तुम्हारा विछोह होते ही मेरे मनमें सन्ताप होने लगता है । मेरे सन्तापका मूल कारण तुम्हारा विछोह है । इसलिये तुम यह निश्चित समझो कि मैं तुम्हारे स्नेहको नहीं ठुकरा सकता ॥२३॥ हे चन्द्रवदने ! देवि ! तुम्हारी सखियोंने तुम्हारे साथ कोई अनुचित व्यवहार किया हो, यह भी मेरी दृष्टिसे सम्भव नहीं है; क्योंकि उन्हें केवल तुम्हारे चरणकमल ही शरण हैं; उनकी जीविका तुम्हारे अधीन है; वे हृदयसे तुम्हारे प्रेमके लिए लालायित रहती हैं; वे सदा यही सोचती रहती हैं कि तुम्हारे मनमें प्रेम बना रहे; वे क्षड़भर भी तुमसे विलग नहीं होतीं और सबसे मुख्य बात यह है कि वे सभी सरल हैं––उनके मनमें छल नहीं है ॥२४॥ हे कृशाङ्गि ! सभी नौकर-चाकर तुम्हारे इशारेपर नाचते हैं––तुम्हारी इच्छाके अनुकूल चलते हैं; परिवारके बन्धुओंने तुम्हारी दासता स्वीकार कर ली है और अन्तःपुरकी रानियाँ तुम्हारी भ्रकुटी–भौंके टेढ़ेपनको सहन करनेमें

---

१. =तिरस्कारः । २. =न उन्नीयते न तर्क्यते । ३. =मत्तगज इव गच्छतीत्येवं शीला मत्तगजगामिनी तत्संबुद्धौ मत्तगजगामिनि । ४. श स लञ् । ५. =वियोगम् । ६. =तत्संबुद्धौ । ७. अ पद्यमिदं नोपलभ्यते यस्येयं टीका । ८. श स °नुवृत्तिषु । ९. छन्दानुवर्तिनः । १०. आ हृदाख्या ।

एतेष्वसत्स्व[1]परितोषनिबन्धनेषु किं कारणं कथय देवि शुचस्तवास्याः ।
पृष्टेति सा क्षितिभुजा त्रपया न किंचिदूचे परं मुखमलोकत बालसख्याः ॥२६॥
सा ह्रीवशादथ गिरा किमपि स्खलन्त्या[2] तस्याः सखीति निजगाद परेङ्गितज्ञा ।
सत्यं न संभवति देव पराभवादिरस्या भवत्प्रणयभारमहार्घिकायाः ॥२७॥
किंत्वत्र कारणमभूदपरं विषादे दैवं विहाय न यदन्यजनस्य साध्यम् ।
देवस्य तत्सकलमेव निवेदयामि कर्तव्यवस्तुनि पुनर्नियतिः प्रमाणम् ॥२८॥

मपितुम् । अशक्नुवत्सु असमर्थेषु । निशान्तवधूजनेषु अन्तःपुरस्त्रीजनेषु । तव ते । निदेशभङ्गः निदेशस्याज्ञाया भङ्गो नाशः । न संजायते न संभवति । जनैङ् प्रादुर्भावे लट् । रूपकमनुमितिश्च ॥२५॥ एतेष्विति । देवि भोः श्रीकान्ता देवि[3] । अपरितोषनिबन्धनेषु अपरितोषस्य दुःखस्य निबन्धनेषु कारणेषु । एतेषु उक्तबान्धवादिषु[4] । असत्सु अविद्यमानेषु । तव ते । अस्याः एतस्याः । शुचः शोकस्य । कारणं हेतुम् । किम् ? कथय किम् इति ब्रूहि । कथ वाक्यप्रबन्धे लोट् । इति एवंप्रकारेण । क्षितिभुजा भूपतिना । पृष्टा श्रुता[5] । सा श्रीकान्ता । त्रपया लज्जया । किंचित् ईषत् (अपि) । नोचे न ब्रवीति स्म । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । 'अस्ति ब्रुवोः—' इत्यादिना वचादेशः । बालसख्याः बालायाः सख्याः । मुखं[6] । परम्[7] अधिकम् । अलोकत ददर्श । लोकृञ् दर्शने लङ् ॥२६॥ सेति । अथ सखीमुखावलोकनानन्तरम् । परेङ्गितज्ञा परेषामन्येषामिङ्गितज्ञा अभिप्रायज्ञा । तस्याः श्रीकान्तायाः । सा सखी बालसखी । ह्रीवशात् लज्जावशात् । स्खलन्त्या मिथ्या । गिरा वचनेन । किमपि किंचित् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निजगाद ब्रवीति स्म । गद व्यक्तायां वाचि लिट् । देव भोः स्वामिन् । भवत्प्रणयभारमहार्घिकायाः भवतः तव प्रणयस्य स्नेहस्य भारेण महार्घिकायाः महापूजायुक्तायाः । अस्याः देव्याः । पराभवादिः तिरस्कारादिः । न संभवति न जायते । इति सत्यं सत्यमेव ॥२७॥ किन्त्विति । किन्तु किमित्युक्ते । अत्र अस्मिन् । विषादे दुःखे । परम् अन्यत् । कारणं हेतुः । अभूत् अभवत् । दैवं पुण्यम् । विहाय त्यक्त्वा । यत् यत्किंचित् । अन्यजनस्य अन्यलोकस्य । न साध्यं साध्यं न भवति । तत्सकलमेव तत्सर्वमेव । देवस्य स्वामिनो भवतः । निवेदयामि विज्ञापयामि । पुनः पश्चात् । कर्त्तव्यवस्तुनि कर्त्तव्ये विधातव्ये वस्तुनि पदार्थे । नियतिः[8] नियमः प्रमाणं सत्यभूतम्[9] ॥२८॥

असमर्थ हैं । अतः इनसे तुम्हारी आज्ञाका उल्लंघन नहीं हो सकता है ॥२५॥ हे देवि ! जिनकी मैंने सम्भावना की है, वे तुम्हारे असन्तोषके कारण नहीं हैं । फिर तुम्हीं कहो, तुम्हारे इस शोकका क्या कारण है ? राजाके यों पूछनेपर रानी लज्जावश कुछ नहीं बोली, किन्तु अपनी बचपनकी सहेलीके मुखकी ओर ताकने लगी ॥२६॥ उसकी सहेली दूसरोंके भावको भाँपनेमें बड़ी कुशल थी । वह तुरन्त ही रानीका भाव समझ गई । यों उसे भी राजाके सामने बोलनेमें लज्जाका अनुभव हो रहा था, और वाणी भी स्खलित हो रही थी । किन्तु फिर भी रानीकी आज्ञा शिरोधार्य थी, अतः यों कहने लगी—राजन् ! आपके स्नेहके कारण इसे सभी पूज्य मानते हैं । अतः यह सच है कि पराभव-अपमान आदि इसके शोकके कारण नहीं हैं ॥२७॥ इसके विषादका कारण कुछ और ही है । उसका प्रतीकार केवल भाग्य ही कर सकता है, और कोई नहीं । मैं आपको सब सुना रही हूँ, किन्तु उसे सुनकर क्या कर्त्तव्य है, इस विषयमें

१. म एतेषु सत्स्व° । २. म °लन्त्याः । ३. = भोः देवि श्रीकान्ते । ४. = पूर्वोक्तेषु । ५. = अनुयुक्ता । ६. = वदनम् । ७. = केवलम् । ८. = नियतिः भाग्यम् । 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः ।' इत्यमरः । ९. = शरणमिति यावत् ।

एषा पुरं त्वदनुभावविवृद्धशोभं द्रष्टुं मयाद्य सह मन्दिरमभ्यरुक्षत् ।
चेक्रीडतो निजकराहतकन्दुकेन तत्रैक्षताढ्यपृथुकान्पृथुकान्तियुक्तान् ॥२९॥
तानिन्दुसुन्दरमुखानवलोकयन्ती चिन्तामगादिति विषण्णमुखारविन्दा ।
धन्याः स्त्रियो जगति ताः स्पृहयामि ताभ्यो यासाममीभिरफला तनयैर्न सृष्टिः ॥३०॥
या मद्विधाः पुनरसंचितपूर्वपुण्याः पुष्पं सदा फलविवर्जितमुद्वहन्ति ।
ताः सर्वलोकपरिनिन्दितजन्मलाभा वन्ध्या लता इव भृशं न विभान्ति लोके ॥३१॥

एषेति । एषा श्रीकान्ता । त्वदनुभावविवृद्धशोभं त्वत् (?) तव अनुभावेन विवृद्धा प्रवृद्धा शोभा यस्य तत् । पुरं पत्तनम् । द्रष्टुं दर्शनाय । अद्य इदानीम् । मया सह मया साकम् । मन्दिरं सौधम् । अभ्यरुक्षत् अधिरुरोह । तत्र पुरे । निजकराहतकन्दुकेन स्वकरताडितेन कन्दुकेन गोलकेन[1] चेक्रीडतः पुनः पुनः क्रीडन्तीति चेक्रीडतः [चेक्रीडन्तः] तान् पृथुकान्तियुक्तान् पृथ्व्या महत्या कान्त्या युक्तान् । आढ्यपृथुकान् आढ्यानां धनिकानां पृथुकान् बालकान् । 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । ऐक्षत ददर्श । ईक्षि[2] दर्शने लङ् । जात्यलङ्कारः ॥२९॥ तानिति । इन्दुसुन्दरमुखान् इन्दुरिव चन्द्र इव सुन्दरं मुखं येषां तान् । तान् बालकान् । अवलोकयन्ती पश्यन्ती । विषण्णमुखारविन्दा विषण्णं म्लानं मुखमेवारविन्दं सरसिजं यस्याः सा । अमीभिः एभिः । तनयैः बालकैः । यासां स्त्रीणाम् । सृष्टिः उत्पत्तिः । अफला निष्फला । न न भवति । ताः स्त्रियः । जगति लोके । धन्याः कृतार्थाः भवन्ति । ताभ्यः स्त्रीभ्यः । स्पृहयामि[3] वाञ्छामि 'स्पृहेर्वा' इति चतुर्थी । इति एवम् । चिन्ताम् अगात् अगच्छत् । इण् गतौ लुङि । 'गैत्योः' इति गादेशः । 'घुमास्थागापाहाक्सः' इति सेर्लुक् । अर्थान्तरन्यासः ॥३०॥ या इति । पुनः पश्चात् । असंचितपूर्वपुण्याः असंचितमसंपादितं पूर्वं पुरातनं पुण्यं सुकृतं याभिः ताः । मद्विधाः मम सदृशाः । स्त्रियः । सदा सर्वकाले । फलविवर्जितं फलरहितम् । पुष्पं कुसुमम् । उद्वहन्ति धरन्ति[4] । सर्वलोकपरिनिन्दितजन्मलाभा सर्वैः सकलैर्लोकैः परिनिन्दितो जन्मनो लाभो यासां ताः । ताः । वन्ध्याः अफलाः[5] पुत्ररहिताश्च । लता इव वल्लर्य इव । लोके जगति । भृशम् अत्यर्थम् ।

केवल भाग्य ही शरण है ॥२८॥ आपके प्रभावसे इस नगरकी शोभा अन्य नगरोंसे बहुत बढ़ी-चढ़ी है । इसे देखनेके लिए यह आज मेरे साथ छत पर गयी थी । वहाँसे इसने खेलके मैदानमें धनिकोंके कुछ तेजस्वी बच्चोंको देखा, जो हाथकी थपकी दे-देकर जी भरकर गेंद खेल रहे थे ॥२९॥ उनके मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर थे । उन्हें देखते ही यह चिन्तामग्न हो गई । इसका मुख कमल म्लान हो गया, और यह सोचने लगी कि इस लोकमें वे स्त्रियाँ धन्य हैं और उनसे मुझे स्पर्द्धा है, जिन्होंने इन बच्चोंको जन्म देकर अपना जन्म सफल कर लिया है ॥३०॥ मेरे समान जिन स्त्रियोंने पूर्व जन्ममें पुण्य संचय नहीं किया और इसीलिए जो सदा पुष्पवती (यहाँ पुष्प शब्दका अर्थ मासिक धर्म है) होकर भी उसके फल (गर्भ) से वंचित रहती हैं, वे बाँझ समझी जाती हैं । वे उन लताओंके समान सर्वथा श्रीहीन मालूम पड़ती हैं, जिनमें फूल तो लगते हैं, पर फल नहीं लगते । सभी लोग उनके जन्मकी निन्दा किया करते हैं ॥३१॥

---

१. = गेन्दुकेन । 'गेन्दुकः कन्दुकः' इत्यमरः । २. श स ईक्ष । ३. = ईर्ष्यामि । ४. आ प्रतावेव 'उद्वहन्ति धरन्ति' इति समुपलभ्यते । ५. आ अबलाः ।

या स्त्यानधर्मिणि पुरंध्रिजने प्रसिद्धं स्त्रीशब्दमुद्वहति कारणनिर्व्यपेक्षम् ।
सा हास्यभावमुपयाति जनेषु यद्वदन्धः सुलोचन इति व्यपदेशकामः ॥३२॥
चन्द्रोज्झितां रविरलंकुरुते घनानां वीथीं सरोजनिकरः सरसीमहंसाम् ।
पुत्रं विहाय निजसंततिबीजमन्यो न त्वस्ति मण्डनविधिः कुलपुत्रिकाणाम् ॥३३॥
तेनोज्झितां निजकुलैकविभूषणेन सौभाग्यसौख्यविभवस्थिरकारणेन ।
मां शक्नुवन्ति परितर्पयितुं विपुण्यां न ज्ञातयो न सुहृदो न पतिप्रसादाः ॥३४॥

न विभान्ति न भासन्ते । भा दीप्तौ लट् । उपमा ॥३१॥ येति । 卐 या[1] स्त्री । स्त्यानधर्मिणी स्त्यानस्य गर्भधारणस्य 卐 धर्मिणि धर्मवति (स्त्यानं धर्मो यस्य स स्त्यानधर्मा तस्मिन्) पुरंध्रिजने पुरन्ध्र्येव जनः (पुरन्ध्रीणां जनो वर्गः) तस्मिन् । रूपकम् (?) । प्रसिद्धं प्रतीतम् । स्त्रीशब्दम् । कारणनिर्व्यपेक्षं यथा भवति तथा, गर्भधारणं विनापीत्यर्थः, स्त्यानधर्मवती स्त्री (स्त्यायते गर्भो यस्यां सा स्त्री) इति व्युत्पत्तेः ! उद्वहति धरति । सा स्त्री । जनेषु लोकेषु । हास्यभावं परिहासत्वम् । उपयाति[2] अन्धः दृष्टिरहितः । यद्वत् यथा । सुलोचन इति शोभननयन इति । व्यपदेशकामः नामारोपण[3]वांछनः । अर्थान्तरन्यासः ॥३२॥ चन्द्रेति । चन्द्रोज्झितां चन्द्रेणोज्झितां रहिताम्[4] । घनानां मेघानाम् । वीथीं रथ्यां गगनम् । रविः सूर्यः । अलङ्कुरुते भूषयति[5] । अहंसां हंसरहिताम् । सरसीं सरोवरम् । सरोजनिकरः सरोजानां पद्मानां निकरः समूहः । [अलङ्कुरुते] कुलपुत्रिकाणां कुलोद्भवानां स्त्रीणाम्[6] । निजसंततिबीजं स्वस्य संततेः संतानस्य बीजं कारणम् । पुत्रं तनयम् । विहाय त्यक्त्वा[7] । अन्यः भिन्नः । मण्डनविधिः अलङ्कारविधिः । नास्ति ॥३३॥ तेनेति । निजकुलैकविभूषणेन निजस्य स्वस्य कुलस्य एकेन मुख्येन विभूषणेन अलङ्कारभूतेन । सौभाग्यसौख्यविभवस्थिरकारणेन सौभाग्यस्य सुभगत्वस्य सौख्यस्य सुखस्य विभवस्य ऐश्वर्यस्य स्थिरस्य स्थितेः (स्थिरेण दृढेन) कारणेन हेतुना । तेन पुत्रेण । उज्झितां रहिताम् । विषण्णां[8] दुःखिताम् (विपुण्यां हतभाग्याम्) । माम् । परितर्पयितुं संतर्पयितुम् । ज्ञातयः बन्धवः । न शक्नुवन्ति न समर्था भवन्ति । सुहृदः मित्राणि न शक्नुवन्ति ।

गर्भ धारण करना स्त्रीका धर्म है। इस धर्मके बिना भी जो निरर्थक 'स्त्री' संज्ञाको धारण करती हैं, लोग उनका परिहास करते हैं। उनकी स्थिति ठीक उस मनुष्यके समान हो जाती है, जो अन्धा होकर भी अपना नाम 'सुलोचन' रखवाना चाहता हो। लोग ऐसे व्यक्तिका परिहास 'आँखोंके अन्धे नामके नयनसुख' कहकर किया करते हैं ॥३२॥ रात्रिके समय चन्द्रमा आकाशकी शोभा बढ़ाता है और उसके अस्त होते ही दिनमें सूर्य उसकी शोभा बढ़ाता है। इसी तरह हंस सरोवरकी शोभा बढ़ाते हैं और उनके चले जानेपर कमल उसकी शोभा बढ़ाते हैं। किन्तु कुलकी सन्ततिको आगे बढ़ानेके मुख्य कारण स्वरूप पुत्रके बिना कुलवती स्त्रियोंके लिए कोई दूसरा मण्डनका उपाय नहीं है ॥३३॥ पुत्र कुलका एकमात्र भूषण है, और वही मेरे सौभाग्य, सुख और वैभवका निश्चल कारण है। यदि मैं उससे वंचित रहती हूँ, तो मैं बड़ी अभागिन हूँ। ऐसी दशामें मुझे परिवारके लोग तृप्त नहीं कर सकते और न मित्र ही। पत्नीके लिए पतिके उपहार तृप्ति जनक होते हैं, किन्तु सखि ! मैं दिलकी बात कहती हूँ, इस समय मुझे उनसे भी तृप्ति नहीं हो सकती। पुत्र न रहने पर भी मेरे पति देव भले ही प्रसन्न रहें, किन्तु उनके

---

१. आ प्रतावत्र स्वस्तिकान्तर्गतः पाठः समवलोक्यते । २. =प्राप्नोति । ३. आ श स नामारोपणम् । ४. श स °हितानाम् । ५. आ भूषति । ६. = 'कुलस्त्री कुलबालिका' इति हेमचन्द्रः । ७. आ विहाय विहानं पूर्वं त्यक्त्वा । ८. एष टीकाकारधृतः पाठः ।

कृत्वा विषादमिति दुःस्थितचित्तवृत्तिर्दुःखं निवेद्य मयि तल्पतले न्यपप्तत् ।
संबोधितापि न मया बहुभिः प्रकारैः शोकं विमुञ्चति मनागपि देव देवी ॥३५॥
सख्या मुखादिति निशम्य विषादहेतुं निःश्वस्य किंचिदथ भूमिपतिर्बभाषे ।
शोकः शरीरहृदयेन्द्रियशोषहेतुर्युक्तो न देवि तव वस्तुनि दैवसाध्ये ॥३६॥
दुःखेन ते प्रथममस्म्यहमेव दुःखी मद्दुःखतो[1] भवति सर्वजनस्य दुःखम् ।
इत्थं समस्तजनतापरितापहेतोर्मा गाः कृपावति शुचो वशमुद्धतायाः ॥३७॥
जन्मान्तरे शुभमथाप्यशुभं यदेव यैरर्जितं स्वपरिणामवशेन कर्म ।
तद्योग्यमेव फलमिष्टमनीप्सितं वा तैः प्राप्यते किमिति शोचसि हेतुहीनम् ॥३८॥

पतिप्रसादाः पत्युर्धवस्य प्रसादाः प्रसन्नताः । न शक्नुवन्ति ॥३४॥ कृत्वेति । देव भोः स्वामिन् । इति एवं प्रकारेण । विषादं शोकम् । कृत्वा विधाय । दुःस्थितचित्तवृत्तिः दुःस्थिता दैन्यं गता चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारो यस्याः सा । देवी स्वामिनी[2] । मयि (सख्याम्) । दुःखं विषादम् । निवेद्य उक्त्वा[3] । तल्पतले शय्यातले । न्यपप्तत् अपतत् । पत्लृ[4] गतौ लुङ् । 卐 'सर्तिशास्तिलिद्युतपुष्यादेः' अङ्-प्रत्ययः । तद्योगे 'श्वयत्यस्वच्पतोऽङ्चथगुम्यम्' इति पमागमः मया बहुभिः बहुलैः । प्रकारैः भेदैः । संबोधितापि विज्ञापितापि । शोकं विषादम् । मनागपि न विमुञ्चति न त्यजति । मुच्लृ मोक्षणे लट्[5] 卐 ।।३५॥ सख्या इति । भूमिपतिः श्रीषेणः । सख्याः बालसख्याः । विषादहेतुं विषादस्य शोकस्य हेतुं कारणम् । इति उक्तप्रकारेण । निशम्य श्रुत्वा । किंचित् ईषत् । निश्वस्य निश्वासं कृत्वा । अथ अनन्तरम् । बभाषे ब्रवीति स्म । देवि भो देवि । दैवसाध्ये दैवेन पुण्येन साध्ये । वस्तुनि पदार्थे । शरीरेन्द्रियशोषहेतुः शरीरस्य देहस्य हृदयस्य चित्तस्येन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां शोषस्य संतापस्य हेतुः कारणम् । शोकः विषादः । तव भवत्याः । युक्तो न उचितो[6] न भवति ॥३६॥ दुःखेनेति । कृपावति दयावति, कृपा अस्या अस्तीति कृपावती तस्याः संबोधनम्[7] । 'अस्त्यस्मिन्वेति मतुः' इति मतुः, 'मान्तोपान्त—' इत्यादिना मस्य वः, 'नृदुगि—' इति ङी । ते तव । दुःखेन शोकेन । प्रथमं[8] अहमेव दुःखी शोकी । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । मद्दुःखतः मत् (?) मम दुःखतः शोकतः । सर्वजनस्य सर्वस्य सकलस्य जनस्य । दुःखं विषादः । भवति जायते । इत्थम् अनेन प्रकारेण । समस्तजनतापरितापहेतोः समस्ताया जनतायाः जनसमूहस्य, 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्' इति तल्, परितापस्य संतापस्य हेतोः । उद्धतायाः प्रवृद्धायाः । शुचः शोकस्य । वशम् अधीनम्[9] । मा गाः मा गमः । इण् गतौ लुङ् । 'गैत्योः' इति गादेशः ॥३७॥ जन्मेति । यैः जनैः । जन्मान्तरे प्रकृतजन्मनोऽन्यज्जन्म[10] जन्मान्तरम्, तस्मिन् पूर्वजन्मनि ।

प्रसन्न रहनेसे भी मुझे तृप्ति नहीं ॥३४॥ इस प्रकार इसे विषाद हुआ, जिसके फल स्वरूप इसका हृदय व्याकुल हो उठा । इसने अपने मनका सारा दुःख मुझे सुनाया फिर पलंगपर जा गिरी । राजन् ! मैंने इसे नाना प्रकारसे समझाया, किन्तु यह शोकको जरा भी नहीं छोड़ रही है ॥३५॥ सखीके मुखसे इस प्रकार रानीके शोकका कारण सुनकर राजाने लम्बी साँस ली और फिर कुछ रुककर रानीसे बोला—देवि ! जो वस्तु भाग्याधीन है, उसके विषयमें तुम्हें शोक करना उचित नहीं; क्योंकि शोक शरीर, हृदय और इन्द्रियोंके शोषणका कारण है ॥३६॥ तुम्हारे दुःखसे सबसे पहले मैं ही दुखी हो रहा हूँ, और मेरे दुःखसे परिवार एवं प्रजाके लोगोंको भी दुःख होगा । इस तरह तुम्हारा दुःख सबके दुःखका कारण है । यदि इन सबके प्रति तुम्हें दया है तो हे दयावति ! इतना अधिक शोक न करो ॥३७॥ अपने-अपने शुभ या अशुभ परिणामोंके अनु-

१. क ख ग घ मे दुःखतो । २. आ श स देवे स्वामिनि । ३. श स त्यक्त्वा । ४. श स पत् गतौ । ५. आ प्रतौ केवलं स्वस्तिकान्तर्गतः पाठः समुपलभ्यते । ६. आ उचितम् । ७. = तत्संबुद्धौ । ८. = पूर्वम् । ९. = अधीनताम् । १०. श स अन्यज्ज[illegible] ।

अत्यन्तदुर्घटमिदं न हि वस्तुनोऽस्य निष्पत्तिरित्यलसगामिनि मावमंस्थाः ।
संपत्स्यते तव मनोरथ एष शीघ्रमेकान्ततो यदि भवेन्न विधिर्विपक्षः ॥३९॥
सन्त्येव केवलदृशोऽवधिलोचनाश्च तीर्थे जिनस्य मुनयो विविधर्द्धियुक्ताः ।
जाग्रत्स्वपत्प्रचदलप्रचलच्च विश्वं येषामिदं करतलस्थितवच्चकास्ति ॥४०॥
तेभ्योऽधिगम्य तव संततिलोपहेतुमभ्युद्यतं[1] प्रतिविधातुमहं यतिष्ये ।
कम्रैर्वचोभिरिति लोकपतिः प्रियायाः शोकापनोदमकरोत्करदीकृताशः ॥४१॥

स्वपरिणामवशेन स्वस्य[2] परिणामस्य वशेनाधीनतया । शुभं प्रशस्तम् । अथापि अथवा । अशुभम् अप्रशस्तं वा यदेव कर्म पुण्यपापरूपं कर्म[3] । अर्जितं संपादितम्[4] । तैः जनैः । तद्योग्यमेव तस्य परिणामस्य योग्यमेव । इष्टम् ईप्सितम् । अनीप्सितम् अनिष्टं वा । फलं निष्पत्तिः[5] (परिणामः) । प्राप्यते नीयते[6] । आप्लृ व्याप्तौ कर्मणि लट् । [इति] हेतुहीनं हेतुना कारणेन हीनं रहितं यथा तथा । किमिति किं कारणम्[7] शोचसि[8] । शुच शोके लट् ॥३८॥ अत्यन्तेति । अलसगामिनि अलसं मन्दं गच्छतीत्येवं शीला तथोक्ता तस्या संबोधनम्[9] तत्संबुद्धौ । इदम् एतत् । अत्यन्तदुर्घटम् अत्यन्तमधिकं दुर्घटमसाध्यम् । अस्य वस्तुनः अस्य पदार्थस्य । निष्पत्तिर्लाभः । नहीति नास्तीति । मावमंस्थाः मा बुध्यस्व । यदि विधिः पुण्यम् । विपक्षः प्रतिपक्षः । न भवेत् न जायेत । एकान्ततः निश्चयेन । शीघ्रं लघु । एषः अयम् । मनोरथः मनोऽभीष्टः[10] । संपत्स्यते संभविष्यते(ति) । पदि गतौ लृट्[11] ॥३९॥ सन्तीति । एषां [येषां] मुनीनाम् । जाग्रत् बुध्यमानम् । स्वपत् मुह्यत् । द्रव्यम् [इदम्] । प्रचलत् जङ्गमम् । अप्रचलत् स्थावरम् । विश्वं समस्तम् । करतलस्थितवत् करतले हस्ततले स्थितवत् । चकास्ति भासते । केवलदृशः[12] केवलं दृग् दर्शनं ज्ञानं येषां ते केवलज्ञानिनः । अवधिलोचनाः अवधिरेव लोचनं नेत्रं[13] येषां ते, अवधिज्ञानिनः । विविधर्द्धियुक्ताः विविधाभिः ऋद्धिभिर्युक्ताः सहिताः, नाना ऋद्धि प्राप्ताः[14] । [ते] मुनयः[15] मुमुक्षवश्च । जिनस्य जिनेश्वरस्य । तीर्थे सन्ताने समये इत्यर्थः । सन्त्येव वर्त्तन्त एव ॥४०॥ तेभ्य इति । अहं[16] तेभ्यः[17] केवलदृगादिभ्यः । अधिगम्य ज्ञात्वा । अभ्युद्यतम् उदयगतम् । तव ते । संततिलोपहेतुं संततेः संतानस्य लोपस्य नाशस्य (अभावस्य) हेतुं कारणम् । प्रतिविधातुं प्रतिकारं कर्त्तुम् । प्रयतिष्ये प्रयत्नं करिष्ये । इति एवं प्रकारेण । कम्रैः मनोहरैः । वचोभिः वचनैः । करदीकृताशः प्रागकरदा इदानीं करदाः क्रियन्ते स्म करदीकृताः आशा दिशो येन[18] सः । लोकपतिः

सार जिन्होंने पूर्व जन्ममें अच्छे या बुरे जैसे भी कर्म बाँधे हैं, वे उन्हींके अनुकूल अच्छे या बुरे फलको प्राप्त करते हैं । ऐसी स्थितिमें तुम व्यर्थ ही शोक क्यों मना रही हो ? ॥३८॥ हे मन्दगामिनि ! पुत्र होना कठिन है या असम्भव है ऐसा न समझो । यदि भाग्य सर्वथा प्रतिकूल न हुआ तो तुम्हारा यह मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा ॥३९॥ सुपार्श्वनाथके तीर्थमें इस समय केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी और नाना ऋद्धियोंके धारी मुनि विद्यमान हैं, जिन्हें मोह निद्रासे जागे हुए और मोह निद्रामें अचेत पड़े हुए इस सारे जंगम और स्थावर जगत्का स्पष्ट ज्ञान है । जैसे वह उनकी हथेलीमें स्थित हो ॥४०॥ किस कारणके रहनेसे तुम्हारे सन्तान नहीं हो रही है, यह उन मुनियोंसे जानकर, उसका प्रतिकार करनेके लिए मैं प्रयत्न करूँगा । इस प्रकारके मधुर वचनोंसे राजाने रानीका शोक दूर कर दिया । सारा संसार उसे अपना स्वामी समझता था,

१. अ आ इ क ख ग घ म ॰द्यत. । २. आ 'स्वस्य' नास्ति । ३. आ ॰रूपकर्म । ४. आ संसादितम् । ५. आ ॰ष्पत्तिम् । ६. =अवाप्यते । ७. = किमर्थं व्यर्थम् । ८. =शोकमनुभवसि । ९. =तत्संबुद्धौ । १०. =मनोऽभीष्टम् । ११. श स लट् । १२. आ केवलं मुख्यं दृक् दृगं (?) येषाम् । १३. आ लोचने नेत्रे । १४. आ नानावृद्धिप्राप्ताः । =नाना बुद्ध्यादिलब्धिसहिताः । १५. स मुनिवराः । १६. =श्रीषेणः । १७. श स 'केवल' इति नोपलभ्यते । १८. श स यस्य ।

युक्तोऽन्यदा क्षितिपतिः स निजैः सुहृद्भिरालिङ्गितं समधिगम्य [1]वसन्तलक्ष्म्या ।
क्रीडावनं समवलोकितुमभ्ययासीदुद्दामकौतुकरसप्रसरप्रणुन्नः ॥४२॥
नृत्यच्छिखण्डिनि मृदुक्वणदन्यपुष्टे सुस्वादुसुन्दरफले सुमनःसुगन्धौ ।
तस्मिन्वने शिशिरमन्दमरुत्प्रचारे सर्वेन्द्रियोत्सवकरे विजहार भूपः॥४३॥
अत्रान्तरे पृथुतपःश्रियमुन्नतश्रीरुन्मीलितावधिदृशं सुविशुद्धदृष्टिः ।
तारापथादवतरन्तमनन्तसंज्ञमैक्षिष्ट चारणमुनिं सहसा नरेन्द्रः ॥४४॥
रोमाञ्चचर्चिततनू रभसेन गत्वा भूपस्तमालतरुमूलगतस्य तस्य ।
मूर्ध्ना ननाम गुरुभक्तिभरानतेन संसारसिन्धुतरणौ चरणौ महर्षेः ॥४५॥

जनपतिः । प्रियायाः कान्तायाः । शोकापनोदं शोकस्य दुःखस्य अपनोदं निराकरणम् । अकरोत् अदधात् (व्यधात्) । डुकृञ् करणे लङ् ॥४१॥ युक्त इति । अन्यदा अन्यस्मिन् कालेऽन्यदा, एकदा । निजैः स्वकीयैः । सुहृद्भिः बन्धुभिः । युक्तः सहितः । सः क्षितिपतिः श्रीषेणभूपतिः । वसन्तलक्ष्म्या वसन्तस्य लक्ष्म्या श्रिया । आलिङ्गितं परिष्वक्तम् । क्रीडावनं क्रीडोद्यानम् । समधिगम्य ज्ञात्वा । उद्दामकौतुकरसप्रसरप्रणुन्नः उद्दाम्नो महतः कौतुकस्याद्भुतस्य रसस्य प्रसरेण प्रवाहेण प्रणुन्नः प्रेरितः सन् । समवलोकितुं समीक्षितुम् अभ्ययासीत् अभ्यगच्छत् । या प्रापणे लुङ् ॥४२॥ नृत्यदिति । भूपः श्रीषेणः । नृत्यच्छिखण्डिनि नृत्यन्तः शिखण्डिनो मयूरा यस्मिन्, तस्मिन् । मृदुक्वणदन्यपुष्टे मृदु मधुरं क्वणन्तो ध्वनन्तोऽन्यपुष्टाः कोकिलाः यस्मिन् (तत् तस्मिन्) । सुस्वादुसुन्दरफले सु शोभनं स्वादुः (शोभनः स्वादः) येषां तानि सुस्वादूनि सुन्दराणि मनोहराणि फलानि पक्वानि [फलानि] यस्मिन्, तस्मिन् । सुमनःसुगन्धौ सुमनसां पुष्पाणां सुगन्धौ (सुगन्धिर्यस्मिन्, तस्मिन्) मनोहरपरिमलयुक्ते । शिशिरमन्दमरुत्प्रचारे शिशिरस्य शीतलस्य मन्दस्य मृदोर्मरुतः पवमानस्य प्रचारः संचारो यस्मिन्, तस्मिन् । सर्वेन्द्रियोत्सवकरे सर्वेषामिन्द्रियाणामुत्सवकरे संतोषकरे । वने विजहार । हृञ् हरणे लिट् । जातिः ॥४३॥ अत्रेति । अत्रान्तरे अस्मिन् प्रस्तावे । उन्नतश्रीः उन्नता श्रीर्यस्य सः । विशुद्धदृष्टिः[3] विशुद्धा पञ्चविंशतिमलरहिता दृष्टिर्यस्य सः । स नरेन्द्रः श्रीषेणः । पृथुतपःश्रियं पृथुः (पृथ्वी) महती तपसः श्रीर्यस्य तम् । उन्मीलितावधिदृशं उन्मीलित उन्निमेषणो[4] अवधिरेव दृग् लोचनं यस्य तम् । तारापथात्[5] आकाशात् । अवतरन्तम् आगच्छन्तम् । अनन्तसंज्ञम् अनन्त इति संज्ञा नाम यस्य तम् । चारणमुनिम् आकाशचारणमुनीश्वरम् । ऐक्षिष्ट ददर्श । ईक्षि दर्शने ॥४४॥ रोमाञ्चेति । रोमाञ्चचर्चित-तनुः रोमाञ्चेन रोमहर्षेण चर्चिता तनुः शरीरं यस्य सः । भूपः श्रीषेणः । रभसेन शीघ्रम् । गत्वा प्राप्य ।

और सभी ओरसे उसके पास टैक्स आता था—सभी राजाओंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी ॥४१॥ वसन्तकी सुषमाके चारों ओर फैल जानेसे क्रीड़ावन दर्शनीय हो गया है, यह जानकर श्रीषेणको बड़ा कौतूहल हुआ, जिससे प्रेरणा पाकर वह एक दिन अपने मित्रोंके साथ उसे देखने के लिए गया ॥४२॥ उस क्रीड़ावनमें मयूर नाच रहे थे; मधुर स्वरमें कोकिल गा रहे थे; अत्यन्त स्वादिष्ट अच्छे-अच्छे फल लगे हुए थे; फूलोंकी भीनी-भीनी सुगन्धि आ रही थी और मन्द-सुगन्ध वायु बह रही थी । इस तरह वह पाँचों इन्द्रियोंको आनन्द दे रहा था । लगता था वहाँ कोई उत्सव मनाया जा रहा है । राजा वहीं पर घूमने लगा ॥४३॥ राजाके पास अटूट सम्पत्ति थी और वह निर्मल सम्यग्दृष्टि था । उसने इसी बीचमें वहाँ आकाशसे उतरते हुए एक चारण ऋद्धिके धारी मुनिको अचानक देखा । वे मुनि बड़े तपस्वी थे और थे अवधिज्ञानी । उनका नाम अनन्त था ॥४४॥ उनका दर्शन करते ही राजाका शरीर पुलकित हो गया ।

१. आ इ °रम्यवसन्त° । २. श स लोकपतेः जनपतेः । ३. एष टीकाकारधृतः पाठः, प्रतिषु 'सुविशुद्ध दृष्टिः' इत्येवास्ति । ४. आ °मेषतः । उन्मेषितः । ५. आ °पदात् । ६. = चारिणम् ।

सोऽप्यात्मनः परिसमाप्य समाधियोगमाशीर्वचांसि निपपाठ विशुद्धपाठः।
संस्नापयन्नरपतिं कुमुदोज्ज्वलेन धर्माभिषेकपयसेव निजस्मितेन ॥४६॥
कृत्वा करावथ स संकुचदब्जकान्ती सप्रश्रयामिति जगाद गिरं क्षितीशः।
दन्तावलीविशदरश्मिवितानकेन लिम्पन्मुनीन्द्रचरणाविव चन्दनेन ॥४७॥
गत्वा सुदूरमपि यस्य विलोकनीयौ पादौ पवित्ररजसौ रजसः क्षयाय।
तस्यागमे तव मुनीन्द्र न हेतुरन्यो मुक्त्वा ममान्यभवसंचितपुण्यपाकम् ॥४८॥

तमालतरुमूलगतस्य तमालस्य तरोर्वृक्षस्य मूलं गतस्य। तस्य महर्षेः महामुनेः। संसारसिन्धुतरणौ संसार एव सिन्धुः समुद्रः तस्यः तरणौ[2]। चरणौ पादौ। गुरुभक्तिभरानतेन गुरोर्भक्त्या भरेणातिशयेनानतेन विनतेन[3] मूर्ध्ना शिरसा। ननाम नमतिस्म। णम प्रह्वत्वे शब्दे च[4] लिट्। रूपकम् ॥४५॥ स इति। विशुद्धपाठः विशुद्धो दोषरहितः पाठः परमागमोपदेशो यस्य सः। सोऽपि चारणमुनीश्वरः। आत्मनः आत्मस्वरूपस्य। समाधियोगं[5] समाधेर्ध्यानस्य योगं संबन्धम्। परिसमाप्य संपूर्णयित्वा। धर्माभिषेकपयसेव धर्म एवाभिषेकस्य[6] स्नानस्य[7] पयसेव जलेनेव। रूपकोपमे च[8] कुमुदोज्ज्वलेन कुमुदमिव सितकमल[9]मिवोज्ज्वलेन निजस्य स्वस्य स्मितेन दरहसनेन। नरपतिं श्रीषेणमहीपतिम्। संस्नापयन् स्नानं कारयन्। आशीर्वचांसि आशिस इष्टप्रशंसनस्य वचांसि वचनानि। निपपाठ निरूपयति स्म। पठ व्यक्तायां वाचि लिट् ॥४६॥ कृत्वेति। अथ आशीर्वादानन्तरम्। सः क्षितीशः श्रीषेणभूपतिः। संकुचदब्जकान्ती संकुचतो मुकुलितस्याब्जस्येव कान्तिर्ययोस्तौ। करौ हस्तौ। कृत्वा विरचय्य। दन्तावलीविशदरश्मिवितानकेन दन्तानां दशनानामावल्याः समूहस्य (पंक्तेः) विशदानां धवलानां रश्मीनां कान्तीनां वितानकेन निवहेन। चन्दनेनेव श्रीगन्धेनेव[10] मुनीन्द्रचरणौ मुनीन्द्रस्य अनन्तमुनीश्वरस्य चरणौ पादौ। लिम्पन्। लेपनं कुर्वन् (चर्चयन्)। सप्रश्रया विनयसहिताम्। गिरं वाणीम्। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। जगाद बभाषे। गद व्यक्तायां वाचि लिट्। उत्प्रेक्षा ॥४७॥ गत्वेति। मुनीन्द्र मुनीश। यस्य मुनीशस्य। पवित्ररजसौ पवित्रं रजो धूलिर्ययोस्तौ

फलतः ऐसा जान पड़ता था मानों उस पर कोई लेप किया गया हो। वह शीघ्र ही उस तमाल वृक्षके नीचे पहुँचा, जिसके नीचे वे मुनिराज जा पहुँचे थे। वे अपने समयके बहुत बड़े ऋषि थे। उनके चरण संसार सागरसे पार उतारने वाले थे। उन चरणोंमें राजाने अपना मस्तक झुकाकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया ॥४५॥ जिस समय राजाने प्रणाम किया, उस समय वे मुनिराज समाधिमग्न थे। समाधि समाप्त होनेके बाद उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें शुद्ध पाठ किया और फिर आशीर्वादके शब्द (धर्मवृद्धिरस्तु—धर्मकी वृद्धि हो) राजासे कहे। जिस समय वे आशीर्वादके शब्द कह रहे थे, उस समय उनके मुखपर मुसकान थी। मुसकानकी प्रभा कुमुद सरीखी सफेद थी। राजाके ऊपर उसके पड़नेसे ऐसा जान पड़ता था मानो वे धर्माभिषेकके जलसे उसे स्नान करा रहे हों ॥४६॥ मुनिराजका आशीर्वाद प्राप्तकर राजा श्रीषेण अपने दोनों हाथोंको मुकुलित कमलकी कलीके आकारमें जोड़कर उनसे विनयपूर्वक यों बोला—। बोलते समय उसके दांतोंकी स्वच्छ किरणें मुनिराजके चरणोंपर पड़ रही थीं, अतः ऐसा जान पड़ता था मानो वह उनके ऊपर चन्दनका लेप कर रहा हो ॥४७॥ मुनिराज! आपके चरण अत्यन्त पवित्र हैं। वे जिस मार्गसे चलते हैं उसकी धूलिको पवित्र कर देते हैं, और चलते समय

---

१. =तलम्। २. =तारकौ। ३. आ गुरुभक्तिभरान्वितेन गुरोर्भक्त्या भरेणातिशयेन गतेन विनयेन। ४. आ णमु प्रह्वत्वे शब्दे। ५. आ समयोगम्। ६. =धर्माभिषेकस्य। ७. =धर्मस्नानस्य। ८. =रूपकमुपमा च। ९. आ °तकुवलय°। १०. =श्रीखण्डेनेव।

श्रेयस्तनोति परिवर्धयते विवेकमुन्मूलयत्यघमुदीरयते विभूतिम् ।
त्वद्दर्शनं सुचरिताखिलभद्रहेतुर्नाल्पीयसो भवति गम्यमिदं शुभस्य ॥४९॥
यद्भावि भूतमथवा मुनिनाथ तत्ते बाह्यं न वस्तु कथयेदमतः प्रसीद ।
संसारवृत्तमखिलं परिजानतोऽपि नाद्यापि याति विरतिं किमु मानसं मे ॥५०॥
श्रुत्वेति तद्वचनमेवमुवाच चिन्तां चेतोगतां स नृपतेरवबुध्यमानः ।
यावत्तव स्फुरति चेतसि सूनुवाञ्छा तावन्न यासि विरतिं नृपपुंगव त्वम् ॥५१॥

पादौ चरणौ । सुदूरमपि महद्दूरमपि । गत्वा समेत्य । रजसः पापस्य । क्षयाय नाशाय । बिलोकनीयौ वीक्षणीयौ[1] । तस्य तव भवतः[2] । आगमे आगमने । मम मे । अन्यभवसंचितपुण्यपाकम् अन्यस्मिन् पूर्वस्मिन् भवे जन्मनि संचितं संपादितं पुण्यपाकं सुकृतपरिपाकम् । मुक्त्वा त्यक्त्वा । अन्यः परः । हेतुः कारणम् । न नास्ति ॥४८॥ श्रिय इति । सुचरित भो संपूर्णचारित्र । अखिलभद्रहेतुः अखिलस्य भद्रस्य[3] मङ्गलस्य हेतुः कारणम् । त्वद्दर्शनं त्वत (?) तव दर्शनम् । श्रेयः[4] सौख्यम्[5] तनोति[6] करोति तनूञ् विस्तारे लट् । विवेकं हेयोपादेयविवेकभेदम्[7] । परिवर्द्धयते[8] पर्येधयते । वृधूङ् वृद्धौ लट् । अघं पापम् । उन्मूलयति नाशयति । मूल प्रतिष्ठायां लट् । विभूतिम् ऐश्वर्यम् । उदीरयते प्रवर्द्धयते । ईर प्रेरणे लट् । इदम् एतद्दर्शनम् । अल्पीयसः अल्पतरस्य । शुभस्य पुण्यस्य । गम्यं[9] लब्धुं शक्यम् । न भवति । अनुमितिः ॥४९॥ यदिति । मुनिनाथ भो मुनीन्द्र । यद् वस्तु । भावि भविष्यत्[10] । अथवा भूतम् अतीतम् । तद्वस्तु पदार्थः । ते भवतः । बाह्यं बहिर्भूतम् । न न भवति । अत एतस्मात्कारणात्[11] । इदं वैराग्याभावकारणम् । कथय ब्रूहि । कथ वाक्यप्रबन्धे लोट् । प्रसीद प्रसन्नो भव । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । 'पाघ्राध्मास्था—' इत्यादिना सीद[12] इत्यादेशः, लोट् । अखिलं निखिलम् । संसारवृत्तं संसारस्य वृत्तं वर्त्तनम् । परिजानतोऽपि विजानतोऽपि । मे मम । मानसं मनः अद्यापि इदानीमपि । विरतिं वैराग्यम् । किमु किं कारणम्[13] । न याति न गच्छति । या प्रापणे लट् ॥५०॥ श्रुत्वेति । इति एवम् । तद्वचनं तस्य भूपस्य वचनम् । श्रुत्वा निशम्य । नृपतेः भूपतेः । चेतोगतां मनोगताम् । चिन्ताम् आध्यानम् । अवबुध्यमानः जानन् । सः मुनिवृन्दारकः । एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण । उवाच बभाषे । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । नृपपुङ्गव नृपश्चासौ पुङ्गवश्च[14] तस्य संबोधनं[15] भो नृपश्रेष्ठ । यावत्

जो धूलि उनके ऊपर पड़ जाती है, वह उनका स्पर्श पाकर पवित्र हो जाती है । अपने पापको नष्ट करनेके लिए दूर जाकर मुझे उन (चरणों) का दर्शन करना चाहिए था । किन्तु आप स्वयं यहाँ पधारे हैं । आपके पधारनेमें मेरे पूर्व जन्ममें संचित पुण्यके उदयके सिवा और क्या कारण हो सकता है ? ॥४८॥ मुनिराज ! आपका चरित निर्मल है । आपका दर्शन कल्याणकारी है । आपका दर्शन विवेकको बढ़ता है, पापको मूलसे नष्ट करता है, बिभूतिको प्रकट करता है और समस्त मंगलोंका कारण है । आपका दर्शन थोड़े पुण्यसे नहीं हो सकता ॥४९॥ मुनिराज ! जो वस्तु पहले हो चुकी है अथवा आगे होगी वह आपके ज्ञानसे बाहर नहीं है—आप न केवल वर्त्तमान को, बल्कि भूत और भविष्यको भी जानते हैं । अतः प्रसन्नता पूर्वक मुझे यह बतलाइये कि मैं संसारके सारे व्यवहारको जानता हूँ, किन्तु फिर भी अभीतक मेरा मन विरक्त क्यों नहीं हो रहा है ? ॥५०॥ राजाके ये वचन सुनकर मुनिराज उसके मनकी चिन्ताको समझ

१. = दर्शनीयौ । २. आ भगवतः । ३. आ अखिलानां भद्रस्य स अखिलभद्रस्य । ४. श स श्रियः । ५. = कल्याणम् । ६. = विस्तारयति । ७. = हेयोपादेयभेदम् । ८. श स परिवर्द्धयति । ९. = प्राप्यं विषयो वा । १०. आ भविष्यति, अथवा भूत यति तं वस्तु पदार्थः, तद्वस्तु । ११. श स अत एव तस्मात् कारणात् । १२. श स सिद । १३. = कथम् । १४. = नृपाणां पुङ्गवो नृपपुङ्गवः । १५. = तत्संबुद्धौ ।

सा च प्रणश्यति न तावदसौ न यावपुत्त्रो भवत्यरिकुलोन्मथनैकवीरः ।
पुत्रोदयेऽपि भवतोऽस्ति निबन्धहेतुरन्यो भवान्तरगतं शृणु तं ब्रवीमि ॥५२॥
एषा तवाग्रमहिषी पुटभेदनेऽभूदत्रैव पूर्वमभिनन्दितसर्वबन्धोः ।
देवाङ्गदस्य वणिजस्तनया सुनन्दा श्रीकुक्षिजा गुणगणाभरणाभिरामा॥५३॥
सान्यां विलोक्य नवयौवन एव नारीं गर्भेण पीडिततनुं गलिताङ्गशोभाम् ।
जन्मान्तरेऽपि वयसि प्रथमेऽहमीदृङ्मा भूवमित्यकृत मन्दमतिर्निदानम् ॥५४॥

यन्मानम् अस्य यावत् । 'यत्तदः' इति वतु-प्रत्ययः, वस्य वः । तव ते । चेतसि चित्ते । सूनुवाञ्छा सूनोः पुत्रस्य वाञ्छा अभिलाषः । स्फुरति प्रवर्त्तते । तावत् पर्यन्तम् । त्वं भवान् । विरतिं वैराग्यम् । न यासि न गच्छसि । या प्रापणे लट् ॥५१॥ सा चेति । यावत् [1]यावत्पर्यन्तम् । अरिकुलोन्मथनैकवीरः अरीणां शत्रूणां कुलस्य समूहस्योन्मथने निराकरणे एकोऽसहायो वीरः शूरः । असौ पुत्रः तनयः । न भवति न जायते । तावत् तावत्पर्यन्तम् । सा च चिन्ता । न प्रणश्यति न विनश्यति । पुत्रोदये च पुत्रस्य नन्दनस्योदये उत्पत्तौ च । भवतः तव । भवान्तरगतः जन्मान्तरगतः । अन्यः अपरः । निबन्धहेतुः निबन्धस्य निरोधस्य हेतुः । अस्ति वर्त्तते । तं हेतुम् । ब्रवीमि निगदामि । शृणु आकर्णय श्रु श्रवणे लोट् ॥५२॥ एषेति[2] । तव ते । अग्रमहिषी श्रेष्ठमहिषी । एषा इयम् । पूर्वं प्राक् । अत्रैव अस्मिन्नेव । पुटभेदने पत्तने । 'पत्तनं पुटभेदनम्' इत्यमरः । श्रीकुक्षिजा श्रियाः श्रीनामधेयायाः कुक्षिजा गर्भजाता । गुणगणाभरणाभिरामा गुणानां गणः समूहः स एवाभरणमलंकारस्तेनाभिरामा मनोहरा । अभिनन्दितसर्वबन्धोः अभिनन्दिताः[3] संतोपिताः सर्वे बन्धवो यस्यास्तस्याः[4] । देवाङ्गदस्य देवाङ्गदनामधेयस्य । वणिजः वैश्यस्य । सुनन्दा सुनन्देति । तनया कुमारी । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् । रूपकम् ॥५३॥ सेति । मन्दमतिः मन्दा मतिर्यस्याः सा । सा सुनन्दा । नवयौवन एव नवे नूतने यौवन एव तारुण्य एव । गर्भेण[5] पुत्रयुतगर्भेण । पीडिततनुं पीडिता बाधिता तनुर्यस्याः ताम् । गलिताङ्गशोभां[6] गलिता शिथिलिताऽङ्गस्य शोभा यस्यास्ताम् । अन्याम् एकाम् । नारीं वनिताम् । विलोक्य दृष्ट्वा । जन्मान्तरेऽपि उत्तरभवेऽपि । प्रथमे वयसि यौवनकाले । अहम् । ईदृक् इयमिव दृश्यत इतीदृक्, एतत्प्रकारावयवयुक्ता । मा भूवं मा जनिषम्[7] न भविष्यामि, इति निदानं निदानशल्यम् । अकृत

गये और वे उससे यों बोले—राजन् ! जब तक तुम्हारे मनमें पुत्रकी अभिलाषा बनी रहेगी, तब तक तुम्हें वैराग्य नहीं हो सकता ॥५१॥ राजन् ! तुम्हारे चित्तकी चिन्ता तबतक नहीं मिट सकती जब तक कि शत्रु वर्गके छक्के छुड़ानेवाले अद्वितीय वीर पुत्रका जन्म तुम्हारे यहाँ नहीं होता । तुम्हारे यहाँ पुत्रकी उत्पत्तिमें भी रुकावट डालनेवाला कारण कुछ और ही है, जिसका सम्बन्ध पिछले जन्मसे है । मैं उसे बताता हूँ, तुम सुनो ॥५२॥ तुम्हारी यह पट्टरानी (श्रीकान्ता) पिछले जन्ममें इसी नगरमें उत्पन्न हुई थी । इसके पिताका नाम देवांगद था । वे जातिके वणिक् थे । उनके सभी बन्धु उनसे प्रसन्न रहते थे । उनकी पत्नीका नाम श्री था । उसीके गर्भसे सुनन्दा नामकी गुणवती सुन्दर कन्या उत्पन्न हुई थी, जो इस समय आपकी पट्टरानी है ॥५३॥ उस सुनन्दाने यौवनके प्रारम्भमें ही एक स्त्रीको देखा, जिसका शरीर गर्भके कारण पीड़ित और श्रीहीन था । उसे देखकर उस (सुनन्दा) ने यह निदान बाँध लिया कि

---

१. श स 'यावत्' इति नास्ति । २. श स वक्षेति । ३. °संदिताः । ४. श स यस्य तस्य । = येन तस्य । ५. = गर्भधारणेन । ६. अ °ङ्गलाभाम् । ७. श स मा जनि । = न स्याम् ।

सागारधर्मनिरता प्रतिपद्य कालं सौधर्मकल्पमुपगम्य बभूव देवी ।
च्युत्वा ततः पुनरभूदिह पुण्यशेषाद्दुर्योधनस्य दुहिता भवतश्च पत्नी ॥५५॥
तस्माद्भवान्तरभवादशुभान्निदानादस्या वयो नवमगादनपत्यमेव ।
कैश्चिद्दिनैः प्रशममीयुषि तस्य दोषे निःसंशयं तव भविष्यति पुत्रजन्म ॥५६॥
तस्मिन्मृगाङ्क इव सर्वमनोभिरामे सूनौ निधाय पृथुधाम्नि धुरं धरित्र्याः ।
संपत्स्यसे त्वमधिगम्य जिनेन्द्रदीक्षां सिद्धालयातिथिरशेषितकर्मबन्धः ॥५७॥
संक्षेपतो गिरमिमामभिधाय सम्यगानन्द्य भूमिपतिमिष्टनिवेदनेन[1] ।
धामेप्सितं मुनिरगान्नृपतिश्च राजधानीमणुव्रतविभूषणभूषिताङ्गः ॥५८॥

अकुरुत । डुकृञ् करणे लुङ् ॥५४॥ सेति । सा सुनन्दा । आ[सा]गारधर्मनिरता । आगारधर्मे श्रावकाचारे निरता तत्परा । कालं मरणम् । प्रतिपद्य प्राप्य । सौधर्मकल्पं सौधर्मनामस्वर्गम् । उपगम्य एत्य । देवी देवस्त्री । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । ततः सौधर्मकल्पात् । पुनः पश्चात् । च्युत्वा आगत्य । इह अस्मिन् पुरे । पुण्यशेषात् पुण्यस्य सुकृतस्यावशेषात् । दुर्योधनस्य दुर्योधनराजस्य । दुहिता पुत्री । भूत्वा । भवतश्च तव । पत्नी भार्या । अभूत् अभवत् ॥५५॥ तस्मादिति । भवान्तरभवात् भवान्तरे जन्मान्तरे भवात् जनितात्[2] । अशुभात् अप्रशस्तात् । तस्मात् निदानात्, प्रागुक्तनिदानशल्यात् । अस्याः देव्याः । नवं प्रथमम् । वयः यौवनकालः । अनपत्यमेव न विद्यतेऽपत्यं संतानो यस्मिन् तत्, संतानरहितं सत् आगात् अगच्छत् । इण् गतौ लुङि 'गैत्योः' इति गादेशः । तस्य निदानशल्यस्य । दोषे कर्मणि । कैश्चिद् दिनैः दिवसैः । प्रशमं शान्तिम् । ईयुषि इयाय इति इयान्[3] तस्मिन् । 'लिटः क्वसुकानौ' इति क्वसुः, 'क्वस उस्' इति उस् । तव भवतः । पुत्रजन्म पुत्रस्य नन्दनस्य जन्म जननम् । निःसंशयं सन्देहरहितम् । भविष्यति । भू सत्तायां लृट् ॥५६॥ तस्मिन्निति । मृगाङ्क इव चन्द्र इव । सर्वमनोऽभिरामे सर्वेषां जनानां मनसश्चित्तस्याभिरामे विराजमाने[4] पृथुधाम्नि पृथु महद् धाम तेजो यस्य तस्मिन्, महातेजस्विनीत्यर्थः । तस्मिन् सूनौ तत्पुत्रे । धारित्र्याः भूमेः । धुरं भारम् । निधाय संस्थाप्य । त्वं भवान् । जिनेन्द्रदीक्षां जिनेन्द्रस्य दीक्षाम्, दिगम्बर-रूपमित्यर्थः । अधिगम्य गृहीत्वा । अशेषितकर्मबन्धः अशेषितो निर्मूलितः कर्मणां बन्धो येन सः । सिद्धालयातिथिः सिद्धानां मुक्तानामालयो मोक्षस्तस्यातिथिरुत्सवहेतुः । संपत्स्यते संभविष्यसि । पदि गतौ लृट् ॥५७॥ संक्षेपत इति । मुनिः मुनिपतिः । संक्षेपतः[5] संवृततः । इमाम् एताम्[6] । गिरं वाणीम् । सम्यक् समीचीनम् । अभिधाय उक्त्वा । इष्टनिवेदनेन[7] इष्टस्य समीहितस्य निवेदनेन निरूपणेन । भूमिपतिं श्रीषेणमहाराजम् ।

जन्मान्तरमें भी मैं युवावस्थामें इस जैसी न होऊँ । नादान जो ठहरी ॥५४॥ निदान बाँध लेनेके बाद उसने जीवन भर गृहस्थ धर्मका पालन किया और अन्तमें जीवन लीला समाप्त होनेपर वह सौद्धर्म स्वर्गमें देवी हुई । वहाँसे च्युत होकर शेष पुण्यके फलसे दुर्योधनकी पुत्री और आपकी पत्नी हुई ॥५५॥ पिछले जन्मके उसी अशुभ निदानके निमित्तसे इसका नवयौवन बिना सन्तानके ही बीत गया है । अब थोड़े ही दिनोंमें उस निदान-दोषके शान्त होते ही तुम्हारे यहाँ पुत्रका जन्म होगा । इसमें कोई संशय नहीं ॥५६॥ वह पुत्र चन्द्रमाके समान सबके चित्तको आह्लाद देनेवाला और (सूर्यके समान) बहुत तेजस्वी होगा । उसीको अपना राज्य भार सौंपकर तुम दिगम्बर-दीक्षा ले लोगे । इसके बाद अष्ट कर्मोंको नष्ट कर तुम सिद्धालयके अतिथि-मुक्त हो जाओगे ॥५७॥ संक्षेपमें इतना कहकर और पुत्रोत्पत्तिकी सूचना देकर मुनिराजके दर्शनों और उनके वचनोंसे राजा बहुत प्रभावित हुआ । फलतः उसने अपने मनमें पाँच अणु-

१. अ आ इ म निबन्धनेन । २. आ विकितात् । ३. आ एयिवान् । ४. = रञ्जके । ५. = समासतः । ६. आ एषाम् । ७. टीकाकारधृतः पाठः, प्रतिषु 'इष्टनिबन्धनेन' इत्येव पाठः समुपलभ्यते ।

पुंसां पुरोपचितपुण्यनिबद्धमिष्टमित्याकलय्य निबबन्ध मतिं स धर्मे ।
तत्रोत्सुकं[1] भवति भाग्यवतां हि चेतो यत्संपदां नियतमङ्गमनागतानाम् ॥५९॥
दानेन संयमिजनस्य जिनार्चनेन तस्य प्रभोरविरतं नयतो दिनानि ।
प्रक्षोभिताखिलसुरासुरनागलोकं नान्दीश्वरं परमपर्व समाससाद ॥६०॥
तस्मिन्विधाय महतीमुपवासपूर्वां[2] पूजां जगद्विजयिनो जिनपुंगवस्य ।
स्नानं समीहितनिमित्तमतः[3]स्तदीयबिम्बस्य स प्रविदधे सहितोऽग्रदेव्या ॥६१॥

आनन्द्य संतोष्य । ईप्सितम् अभीष्टम् । धाम स्थानम् । अगात् अगमत् । अणुव्रतविभूषणभूषिताङ्गः अणूनि च तानि व्रतानि च तथोक्तानि, श्रावकव्रतानीत्यर्थः, तान्येव विभूषणानि तैर्भूषितम् अङ्गं यस्य सः । रूपकम् । नृपतिश्च श्रीषेणभूपश्च । राजधानीं निजपुरम् । अगात् । दीपकम् ॥५८॥ पुंसामिति । पुंसां पुरुषाणाम् । इष्टम् अभीष्टम् । पुरोपचितपुण्यनिबद्धं पुरोपचितेन प्राक्संपादितेन पुण्येन निबद्धं कृतम् । इति एवं प्रकारेण । आकलय्य विचार्य । सः भूपतिः । धर्मे [4]सर्वज्ञप्रणीतधर्मे । मतिं बुद्धिम् । निबबन्ध चकार । बन्ध बन्धने लिट् । तथाहि—यत् अनागतानां भविष्यतां संपदाम्[5] नियतं निश्चयम् । अङ्गं कारणम् । तत्र धर्मे । भाग्यवतां पुण्यवताम्[6] । चेतः चित्तम् । उत्सुकं संभ्रमयुक्तम्[7] भवति हि । अर्थान्तरन्यासः ॥५९॥ दानेनेति । संयमिजनस्य[8] संयम्येव जनस्तस्य । रूपकम् (?) दानेन आहारादिदानेन जिनार्चनेन जिनेन्द्रपूजनेन । अविरतम् अनवरतम् । दिनानि वासरान्[9] । नयतः यापयतः । तस्य प्रभोः श्रीषेण भूपतेः । प्रक्षोभिताखिलसुरासुरनागलोकं सुराश्चासुराश्च नागाश्च तेषां लोकस्तथोक्तः, प्रक्षोभितः संभ्रमितोऽखिलः सुरासुरनागलोको येन तत् । नान्दीश्वरं नन्दीश्वरस्येदं नान्दीश्वरम् । परमपर्व परमम् उत्कृष्टं पर्व तिथिः[10] समाससाद सम्यगाजगाम । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु लिट् । सहामितः (?) ॥६०॥ तस्मिन्निति । अग्रदेव्या श्रीकान्तया । सहितः संयुक्तः । सः श्रीषेणः । तस्मिन् नन्दीश्वरपर्वणि । जगद्विजयिनः जगद्विजयशीलस्य । जिनपुङ्गवस्य जिनश्चासौ पुङ्गवश्च (?) जिनानामप्रमत्तादिक्षीणकषायावसानैकदेश जिनानां पुङ्गवस्तथोक्तः, तस्य जिनेन्द्रस्य । उपवासपूर्वाम् उपवासः पूर्वं मुख्यं यस्यां[11] ताम् । महतीं[12] पृथुलाम् पूजाम् अर्चनाम् । विधाय कृत्वा । अतः पश्चात् । तदीयबिम्बस्य तदीयस्य जिनपुङ्गवसंबन्धस्य बिम्बस्य । समीहितनिमित्तं समीहितस्याभीष्टफल-

---

व्रतोंके परिपालन करनेका संकल्प किया, और वह सोचने लगा कि वास्तविक आभूषण गुण ही हैं । यह सोचते हुए वह भी अपनी राजधानीमें चला गया ॥५८॥ मानवका मनोरथ पूर्वोपार्जित पुण्यसे ही पूरा होता है, यह सोचकर राजाने अपनी बुद्धिको धर्ममें लगा दिया । सच है भाग्यवानोंका मन उस कार्यमें उत्सुक होता है, जो भविष्यमें होनेवाली कल्याण-सम्पत्तिका निश्चित कारण हो ॥५९॥ राजाके दिन जिनेन्द्रदेवकी पूजा और साधु-सन्तोंको दान देनेमें बीतने लगे । वह इन धार्मिक कार्योंको अविराम गतिसे कर रहा था । इतनेमें सर्वोत्कृष्ट आष्टाह्निक पर्व आ गया । फिर क्या था ऊर्ध्व मध्य और अधोलोकमें उत्सवकी तैयारी होने लगी और क्या सुर, क्या असुर क्या धरणेन्द्र सभीके मनमें आनन्दका सागर लहराने लगा ॥६०॥ उस पर्वके अवसरपर राजाने अपनी पट्टरानीके साथ आठ उपवास किये और आठ दिन जगद्विजयी जिनेन्द्रदेवकी बड़ी भारी (महामह) पूजा की और इसके पश्चात् उसने इष्टसिद्धिके

---

१. अ क ख ग घ म °न्मुखम् । २. अ °वासपूर्वं । ३. अ क ख ग घ म °मथस्त° । ४. श स धर्मज्ञ° । ५. आ प्रतौ 'संपदाम्' इति नोपलभ्यते । ६. आ 'पुण्यवताम्' इति नास्ति । ७. = उत्कण्ठितम् । ८. = संयमिनां संयमवतां जनो वर्गः संघो वा तस्य । ९. आ वासराः । १०. = आष्टाह्निकमहोत्सवः । ११. श स यस्याः । १२. = विपुलाम् ।

प्रह्लादनं विदधती शशिनः कलेव संपादयन्त्यभिमतं कुलदेवतेव ।
गर्भं कियद्भिरथ सा दिवसैर्बभार मुक्ताफलं परममम्बुधिशुक्तिकेव ॥६२॥
किंचिद्वपुः शिथिलतामगमत्तदानीमापाण्डुरं वदननीरुरुहं बभूव ।
गर्भस्थबालगुणभूरिभरादिवागान्मन्दापि मन्दतरतां गतिरायताक्ष्याः ॥६३॥
नीलाननं प्रसृतपाण्डिम धारयन्ती वक्षोरुहद्वयमधःकृतचन्द्रकान्ति ।
गन्धान्धषट्चरणचुम्बितपद्मयुग्मामम्भोजिनीमनुचकार चकोरचक्षुः ॥६४॥
सर्पत्कुचद्वयविपाण्डुरतागुणेन हारो हृतद्युतिरिवास्य मुखे चकार ।
संघर्षणेन मलयोजनिकां कुतोऽपि निर्मत्सरो हि विरलो गुणिनां गुणेषु ॥६५॥

प्राप्तेर्निमित्तं कारणम् । स्नानम् अभिषेकम् । प्रविदधे प्रचक्रे । डुधाञ् धारणे च लिट् ॥६१॥ प्रह्लादनमिति । शशिनः चन्द्रस्य । कलेव षोडशभाग इव । प्रह्लादनं संतोषम् । विदधती[3] । कुलदेवतेव अन्वयागतदेवतेव । अभिमतम् अभीष्टम् । संपादयन्ती संचिन्वती । सा श्रीकान्ता । अथ नन्दीश्वरानन्तरम्[4] । कियद्भिः कतिभिः[5] । दिवसैः दिनैः । अम्बुधिशुक्तिका अम्बुधौ समुद्रे विद्यमाना शुक्तिका । परमम् उत्कृष्टम् । मुक्ताफलं मुक्तामणिमिव । गर्भं शिशुम् । बभार दधौ । भृञ् भरणे लिट् । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥६२॥ किञ्चिदिति । तदानीं गर्भसमये । आयताक्ष्याः आयते दीर्घे अक्षिणी नेत्रे यस्याः तस्याः श्रीकान्तायाः । वपुः गात्रम् । किञ्चित् ईषत् । शिथिलतां कृशत्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम्लृ गतौ लुङ् । 'सर्तिशास्ति–' इत्यादिना अङ् । वदननीरुरुहं वदनं मुखमेव नीरुरुहं कमलम् । आपाण्डुरं किञ्चिच्छ्वेतम् । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । गर्भस्थबालगुणभूरिभरादिव गर्भस्थस्य गर्भे स्थितस्य बालस्य शिशोर्गुणानां भूरेर्बहुलाद्भरादिव भारादिव । मन्दा [पि] अलसा [पि] गतिर्गमनम् । मन्दतरताम् । अत्यन्तमन्दत्वम् । अगात् अयासीत् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥६३॥ नीलेति । नीलाननं नीलं कृष्णम् आननं कुचाग्रं[6] यस्य तत् । प्रसृतपाण्डिम विस्तृतपाण्डिम, शुभ्रत्वयुक्तम् । अधःकृतचन्द्रकान्तीव [न्ति] अधःकृता तिरस्कृता चन्द्रस्य कान्तिः शोभा यस्य (येन) तदिव (तत्) । वक्षोरुहद्वयं वक्षोरुहयोर्द्वयं युगलम् । धारयन्ती दधती । चकोरचक्षुः चकोर इव चक्षुषी यस्याः सा श्रीकान्ता । गन्धान्धषट्चरणचुम्बितपद्मयुग्मां गन्धेन परिमलेनान्धैरासक्तैः षट्चरणैश्चञ्चरीकैश्चुम्बितं पद्मयोः कमलयोर्युग्मं युगलं यस्यास्ताम् । अम्भोजिनीं नलिनीम् । अनुचकार[7] स्वीकृता । डुकृञ् करणे लिट् । उपमा ॥६४॥ सर्पदित्यादि । सर्पत्कुचद्वयविपाण्डुरतागुणेन कुचयोर्द्वयं

निमित्तसे उसने जिनबिम्ब-जिनमूर्तिका अभिषेक किया ॥६१॥ पर्वके पश्चात् रानी चन्द्रमाकी कलाकी भाँति सबको आह्लाद देने लगी और कुल देवताकी तरह सबके मनोरथको पूरा करने लगी। फिर कुछ दिनोंके बाद उसने गर्भ धारण किया। जैसे समुद्रकी सीप उत्तम मोतीको धारण करती है ॥६२॥ गर्भके समय उस रानीका शरीर कुछ शिथिल हो गया और उसका मुखकमल भी सफेद हो चला। यों उसकी चाल पहलेसे ही धीमी थी किन्तु इन दिनोंमें और भी धीमी हो गयी। मानो गर्भस्थ बालकके गुणोंका भारी बोझ हो गया हो ॥६३॥ उस चकोराक्षी रानीके स्तनोंका अगला भाग बिलकुल काला और शेष सभी भाग सभी ओरसे सफेद हो गया। ऐसी स्थितिमें उसने चन्द्रमाकी शोभाको मात कर दिया। इन दिनोंमें उसने उस कमलिनीका अनुसरण किया, जिसमें दो सफेद कमल खिले हों और दोनोंके बीचों-बीच उनकी सुगन्धिमें आसक्त होकर भौरोंका मण्डल बैठा हुआ हो ॥६४॥ रानीके दोनों स्तनोंकी

१. क ख ग घ म हतद्युति। २. म क ख ग घ कुशोऽपि। ३. = कुर्वन्ती। ४. = नन्दीश्वरपर्वसमाप्त्यनन्तरम्। ५. = कतिपयैः। ६. = चूचुकाग्रम्। ७. = अनुसार।

जृम्भाभवत्सततसंनिहिता सखीव नान्तं मुमोच वरमित्रमिवालसत्वम् ।
लज्जाभरः सममगादुदरेण वृद्धिमभ्युद्यमः सह ननाश बलित्रयेण ॥ ६६ ॥
नीलोत्पलानि निजया विजितानि तावत्कान्त्या मया सहजया सह पुण्डरीकैः ।
स्पर्धेऽधुनात्वह[1]मितीव विचिन्त्य तस्या नेत्रद्वयं धवलतामगमत्कृशाङ्ग्याः ॥ ६७ ॥
गर्भस्थितस्य जननान्तरबीजबन्धं बालस्य तस्य वचनेन विना वदन्ति ।
तस्याः शिरीषसुकुमारतनोर्बभूवुरेकान्ततोऽपि जिनपूजनदौर्हृदानि ॥ ६८ ॥

कुचद्वयं तस्य विपाण्डुरता एव गुणः सर्पश्चासौ कुचद्वयस्य विपाण्डुरतागुणश्च तेन । हृतद्युतिरिव हृतापहृता द्युतिर्यस्य स इव । हारः मुक्ताहारः । संघर्षणेन संमर्दनेन । अस्य कुचद्वयस्य । मुखे अग्रे । मलयोजनिकां मलस्य योजनिकाम् । चकार करोति स्म । डुकृञ् करणे लिट् । गुणिनां गुणसहितानाम् । गुणेषु[2] । कुतोऽपि कस्मादपि [हेतोः] निर्मत्सरः मत्सररहितः । विरलः अल्पो हि । अर्थान्तरन्यासः[3] ॥६५॥ जृम्भेति । जृम्भा जृम्भणम् । सखीव वयस्येव । सततसंनिहिता सततं संनिहिता समीपस्था । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । अलसत्वम् आलस्यम् । परममित्रमिव मित्रश्रेष्ठ इव । अन्तं समीपम् । न मुमोच न त्यजति स्म । मुच्लृञ् मोक्षणे लिट् । लज्जाभरः लज्जायास्त्रपाया भरो भारोऽतिशयो वा । अधरेण[4] रदनच्छदेन । समं साकम् । वृद्धिं समृद्धिम् । अगात् अगमत् । इण् गतौ लुङ् । अभ्युद्यमः उद्योगः । बलित्रयेण सह त्रिवलिना[5] साकम् । ननाश नश्यति स्म । नश अदर्शने लिट् । उपमालङ्कारः[6] ॥६६॥ नीलेति । मया निजया स्वकीयया । सहजया सहजातया । कान्त्या[7] किरणेन । नीलोत्पलानि कुमुदानि । तावत् प्रथमम् । विजितानि निराकृतानि। अधुना इदानीं तु । अहं पुण्डरीकैः सह सिताम्भोजैः साकम् । स्पर्द्धे संघर्षणं करोमि । स्पर्द्ध संघर्षे लट् । इति एवम् । विचिन्त्यैव ध्यात्वैव (विचिन्त्येव ध्यात्वेव) । कृशाङ्ग्याः तन्वङ्ग्याः । तस्याः श्रीकान्तायाः । नेत्रद्वयं नयनयुगलम् । धवलतां शुभ्रत्वम् । अगमत् अगात् । गम्लृ गतौ लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥६७॥ गर्भेति । शिरीषसुकुमारतनोः शिरीषमिव सुकुमारा तनुर्गात्रं यस्याः सा तस्याः । तस्याः[8] श्रीकान्तायाः । गर्भस्थितस्य गर्भे कुक्षौ स्थितस्य । तस्य बालस्य । जननान्तरबीजबन्धं[9] जननान्तरमेव बीजं कारणं यस्य स चासौ

सफेदी चारों फैल रही थी और उनके ऊपर पड़े हुए हारकी कान्ति लुप्त हो गयी । अतएव ऐसा जान पड़ता था मानो उसे स्तनोंकी सफेदीने हर लिया हो । और इसीलिए लगता है कि उस (हार) ने उनके मुखपर खूब मलकर कज्जल पोत दिया है (स्तनोंका अग्रभाग बिलकुल काला पड़ गया था, इसीलिए यह कल्पना की गयी है) । सच तो यह है कि गुणियोंके समुदायमें भी ऐसे विरले ही होते हैं, जो किसीसे भी डाह न करते हों ॥६५॥ जमुहाई सखीकी तरह निरन्तर उसकी निकटवर्तिनी हो गयी— सदा जमुहाईयाँ आने लगीं । अच्छे मित्रके समान आलस उसके पाससे नहीं हटता था । पेटके साथ लज्जा बढ़ गयी और उदरकी तीन बलियोंके साथ स्फूर्ति लुप्त हो गयी ॥६६॥ 'हमने अपनी स्वाभाविक कान्तिसे नीलकमलोंको पहले ही जीत लिया है, अब केवल सफेद कमलोंसे ही हमें डाह है' मानो यही सोचकर उस कृशांगी रानीके दोनों नेत्र सफेद हो गये ॥६७॥ रानी पहलेसे ही सुकुमारशरीरा थी, पर इस अवस्थामें उसका शरीर शिरीष पुष्पके समान और भी अधिक सुकुमार हो गया, और

---

१. क ख ग घ म °नान्वह° । २. श प्रतावेव 'गुणेषु' इति समुपलभ्यते । ३. आ प्रतौ केवलम् 'अर्थान्तरन्यासः' इति । ४. 'अधरेण' इति टीकाकारसंमतः पाठः, सर्वास्वपि प्रतिषु 'उदरेण' पदं समुपलभ्यते । ५. =त्रिबल्या । ६. =सहोक्तिश्च । ७. =दीप्त्या । ८. आ प्रतौ केवलं 'तस्याः' इति समुपलभ्यते । ९. श स °संबन्धम् ।

प्राप्ते प्रसूतिसमयेऽथ तिथौ शुभायामुच्चस्थितेषु सकलेषु शुभग्रहेषु ।
सा भावितीर्थकरमुज्ज्वलदेहदीप्तिप्रध्वंसितान्धतमसं सुषुवे कुमारम् ॥ ६९ ॥
शुभ्रं नभोऽभवदभीषुमतीव तस्मिन्नभ्युद्गते परमधामनिधानभूते ।
लक्ष्मीः सरःकमलिनी सहसाभ्यनन्ददाशाङ्गना मलिनिमापगमाद्विरेजुः ॥ ७० ॥
निःशेषमम्बुधरधीरगभीरनादैस्तूर्यैर्बभूव मुखरं नरनाथवेश्म ।
पौरो जनस्त्वरितमेव निजे निजेऽसौ गेहे महोत्सवमकारयत प्रहृष्टः ॥ ७१ ॥

बन्धश्च[1] संबन्धश्च तम् (जननान्तरस्य बीजबन्धं संस्कारविशेषम्)। वचनेन विना वचसा विना। वदन्ति ब्रुवन्ति। जिनपूजनदौहृदानि जिनस्य जिनेश्वरस्य पूजने पूजायां दौहृदानि[2] दोहलानि। एकान्ततः निश्चयादपि। बभूवुः भवन्ति स्म। भू सत्तायां लिट् ॥६८॥ प्राप्त इति। सा श्रीकान्ता। अथ अनन्तरम्। प्रसूतिसमये प्रसवकाले। प्राप्ते आयाते। शुभायां प्रशस्तायां। तिथौ[3]। सकलेषु सर्वेषु। शुभग्रहेषु प्रशस्तग्रहेषु। उच्चे उन्नते[4] स्थितेषु—उच्चग्रहेषु। भावितीर्थकरं भाविनं भविष्यन्तं तीर्थकरं तीर्थेश्वरम्। उज्ज्वलदेहदीप्तिप्रध्वंसितान्धतमसम् उज्ज्वलस्य दीप्तस्य देहस्य दीप्त्या कान्त्या प्रध्वंसितं विनाशितमन्धतमसं यस्य [येन] तं कुमारं बालकम्। सुषुवे प्रसूते स्म। षूङ् प्राणिप्रसवे लिट् ॥६९॥ शुभ्रमिति। अभीषुमतीव अभीषुरस्यास्तीत्यभीषुमान्[5] तस्मिन् सूर्ये इव। परमधामनिधानभूते परमस्योत्कृष्टस्य धाम्नस्तेजसो निधानभूते निधिभूते। तस्मिन् कुमारे। अभ्युदिते[6] उदिते सति। नभः आकाशम्। शुभ्रं निर्मलम्। अभवत् अभूत्। लक्ष्मीः शोभारूपा। सरःकमलिनी[7] सरसि सरोवरे स्थिता कमलिनी नलिनी। सहसा शीघ्रम्। अभ्यनन्दत् अविकसत्। टुनदु समृद्धौ लङ्। आशाङ्गनाः दिगङ्गनाः। मलिनिमापगमात् मलिनिम्नो मलीमसत्वस्यापगमात् विगमात्। रेजुः बभुः। राजृ दीप्तौ लिट् ॥७०॥ निःशेषमिति। अम्बुधरधीरगभीरनादैः अम्बुधरस्य मेघस्य ध्वनिरिव धीरः पटुर्गभीरो गम्भीरो नादो ध्वनि येषां तैः। तूर्यैः वाद्यैः। निःशेषं समस्तम्। नरनाथवेश्म नराणां नाथो नरनाथो राजा तस्य वेश्म गृहम्। मुखरं वाचालम्। बभूव भवति स्म। भू सत्तायां लिट्। प्रहृष्टः संतुष्टः। असौ पौरजनः पुरे भवः पौरः स एव जनः तथोक्तः। रूपकम् (?)। त्वरितमेव शीघ्रमेव। निजे निजे स्वकीये स्वकीये। 'वीप्सायाम्' इति द्विः। गेहे मन्दिरे। महोत्सवं महासंभ्रमम्। अकारयत व्यरचयत्। डुकृञ्

उसके कोमल मनमें केवल जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेकी आकांक्षा (दोहला) रहने लगी, जो गर्भस्थ बालकके जन्मान्तरके शुभ संस्कारोंके सम्बन्धको वचनोंके बिना भी कह रही थी ॥६८॥ इसके पश्चात् प्रसूति-प्रसवका समय आनेपर रानी श्रीकान्ताने पुत्रको जन्म दिया। जन्मके समयकी तिथि शुभ थी और सभी शुभग्रह उच्च स्थानपर थे। पुत्र भावी तीर्थङ्कर था – आगे अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ होगा, और वह बड़ा तेजस्वी था, उसके देहकी उज्ज्वल दीप्तिसे प्रसूति-गृहका अन्धकार नष्ट हो गया था ॥ ६९ ॥ उसके जन्म लेनेपर आकाश निर्मल हो गया, शोभास्वरूपा सरोवरकी कमलिनी सहसा खिल उठी और धुँधलापन मिट जानेसे दिशारूपी स्त्रियोंकी शोभा निराली हो गई। वह सूर्यके समान अत्यन्त तेजस्वी था। सूर्योदय होनेपर जिस तरह प्रकृतिकी अपूर्व सुषमा हो जाती है, उसी तरह उस बालकके जन्म लेनेपर हुई ॥ ७० ॥ मेघोंके समान बाजोंकी गम्भीर ध्वनिसे सारा राजमहल गूँज उठा। इस अवसरपर पुरवासियोंको बड़ा हर्ष हुआ। फलतः उन्होंने भी अपने-अपने घरोंमें महान् उत्सव मनाया

---

१. आ प्रतावेव 'बन्धश्च' इति पदं वर्तते। २. = अभिलाषविशेषाः। ३. = दिवसे। ४. = स्थाने। ५. = अभीषवः सन्ति यस्य सोऽभीषुमान्। ६. = जाते। ७. अ°लिनी।

स्वस्माद्‌बहिर्भवनतः प्रकटं निरेत्य नृत्यान्यतन्वत गणो गणिकाजनानाम् ।
लब्धोऽधुना वसुमति प्रभुरद्वितीयो नन्द त्वमित्यजनि जन्मवतां प्रघोषः ॥ ७२ ॥

तुष्ट्या ददत्स्वसुतजन्म निवेदयद्भ्यो देयं न देयमिदमित्यथवा क्षितीशः ।
नाजीगणत्प्रमदविह्वलचित्तवृत्तिर्विक्षिप्तवृत्ति हि मनो न विचारदक्षम् ॥ ७३ ॥

गायत्प्रनृत्यदभितो रभसेन वल्गादुन्मत्ततामिव जगाम पुरं समस्तम् ।
तत्राभवन्न खलु कोऽपि स यस्य नान्तर्जज्ञे विकासि हृदयं सहसा द्विषोऽपि ॥ ७४ ॥

करणे णिजन्तात् लङ् ॥७१॥ स्वस्मादिति । गणिकाजनानां गणिका एव जनास्तेषाम्[2] । रूपकम् (?) । गणाः समूहाः [गणः समूहः] स्वस्मात् स्वकीयात् । भवनतः गृहात् । बहिः बाह्ये । निरेत्य[3] निर्गत्य । नृत्यानि नर्त्तनानि । प्रकटं प्रसिद्धं यथा भवति तथा[4] (सर्वजनसमक्षम्) अतन्वत अकुरुत । तनूञ् विस्तारे लङ् । अधुना इदानीम् । अद्वितीयः उपमातीतः[5] । वसुमती[6] प्रभुः वसुमत्याः भूमेः । [वसुमति वसुन्धरे] प्रभुः पतिः । लब्धः प्राप्तः[7] । त्वं नन्द एधस्व । इति जन्मवतां जन्मास्त्येषामिति मतुः 'अस्त्यस्मिन्वेति मतुः' 'मान्तोपान्त—' इत्यादिना मस्य वः । प्रघोषः शब्दः । अजनि अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् ॥७२॥ तुष्ट्येति । स्वसुतजन्म स्वस्य आत्मनः सुतस्य पुत्रस्य जन्म उत्पत्तिम्[9] । निवेदयद्भ्यः विज्ञापयद्भ्यः । तुष्ट्या संतोषेण । आददत् [ददत्] दानं कुर्वन् । प्रमदविह्वलचित्तवृत्तिः । प्रमदेन संतोषेण विह्वला 'विक्लवो विह्वलः स्यात्तु विवशोऽरिष्ट दुष्टधीः ।' इत्यमरः, विभ्रमा[10] चित्तस्य मनसो वृत्ति वर्त्तनं यस्य सः । क्षितीशः भूपालः । इदम् एतत् । देयं दातुं योग्यम् । अथवा न देयं दातुं योग्यं न भवतीति । नाजीगणत् नागणयत् । विक्षिप्तवृत्ति विक्षिप्तेन संतोषेण युक्ता (विक्षिप्तास्थिरा) वृत्ति र्यस्य । मनः चित्तम् । विचारदक्षं परीक्षादक्षम् । न हि न भवति हि । अर्थान्तरन्यासः ॥७३॥ गायदिति । तत्र पुत्रोदये अभितः सर्वतः । रभसेन[11] संतोषेण । गायत् गीतं कुर्वत् । प्रनृत्यत् नटत् । वल्गत्[12] लङ्घत् (गच्छत्) समस्तं सर्वम् । पुरं नगरम् । उन्मत्ततां भ्रान्तताम्[13] । जगामेव इयायेव । गम्लृ[14] गतौ लिट् । अभवत् अभूत् । द्विषोऽपि शत्रोरपि । यस्य कस्य । अन्तः अर्वाक् (?) हृदयं चित्तम् । सहसा शीघ्रम् । विकासि संतुष्टम् । न जज्ञे न जायते । सः पुरुषः । कः न कोऽपीत्यर्थः । यस्यान्तरङ्गं संतुष्टं न । स कश्चित् पुमान् नास्ति । शत्रूणां मानसमपि संतुष्टं जात-

॥ ७१ ॥ गणिकावर्ग अपने घरसे बाहर निकला और उसने खुले मैदानमें नृत्य किया । सभी मनुष्योंके मुखसे एक ही बात निकल रही थी—'पृथ्वि !' तुमने अद्वितीय पति पा लिया है, अतः अब तुम खूब समृद्ध हो' । ७२ । राजाने पुत्र-जन्मकी सूचना देने वालोंको आनन्द बिभोर होकर दान देते समय यह बिलकुल नहीं सोचा कि क्या दान देने योग्य है और क्या अयोग्य । उसका मन उस समय केवल देनेमें ही सन्तुष्टिका अनुभवकर रहा था, और सच तो यह है कि विक्षिप्त मनमें विचारकी चतुरता नहीं रहती ॥ ७३ ॥ उस समय सारा नगर सभी ओरसे गाता नाचता और बड़े वेगसे दौड़ता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था । अतः ऐसा जान पड़ता था मानो खुशीके मारे पागल हो गया हो । वहाँ ऐसा एक भी मनुष्य नहीं था जिसका हृदय भीतरसे प्रसन्न न

१. म निरित्य । २. श स जनः । ३. आ निरीत्य । ४. आ प्रतावेव 'भवति तथा' इति दृश्यते । ५. = असाधारणः । ६. आ °सुमति° । ७. = त्वयेति शेषः । ८. = जन्मास्ति येषां तेषाम् । ९. आ उत्पत्तिः । १०. = विक्लवा । ११. = 'रभसो वेगहर्षयोः' इत्यनेकार्थसंग्रहः । १२. श स वल्लत् । १३. आ भ्रान्तिताम् । १४. श स गम ।

सर्वज्ञं कनकमयैः समर्च्य पुष्पैः कल्याणेऽहनि सहितेन वंशवृद्धैः।
श्रीवर्मेत्यवनिभुजाथ तस्य नाम श्रीशब्दानुगतमकारि मङ्गलाय ॥ ७५ ॥
विदधदखिलांस्तेजस्तीव्रान्परानतनताननतानवनिममितामोजोभिः स्वैर्वशं विवशां नयन्।
निधिशतमहालाभैर्भूभृच्छतप्रहितैर्धनैरुदयनिलये जाते तस्मिन्ननन्द स नन्दने ॥ ७६ ॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

मित्युक्तेषु नान्येषां जातं किमित्याश्चर्यम्। उत्प्रेक्षा[1] ॥७४॥ सर्वज्ञमिति। वंशवृद्धैः कुलश्रेष्ठैः। सहितेन[2] संयुतेन। अवनिभुजा भूपालेन। कल्याणे मङ्गलरूपे। अहनि दिने। कनकमयैः कनकनिर्मितैः। पुष्पैः कुसुमैः। सर्वज्ञं सर्ववेदिनम्। समर्च्य पूजयित्वा[3]। अथ पूजानन्तरम्। तस्य बालस्य। श्रीशब्दानुगतं श्रीरितिशब्देन अनु संयुक्तं श्रीवर्मेति श्रीवर्मकुमार इति। नाम नामधेयम्। मङ्गलाय मङ्गलार्थम्। अकारि[4] अकरोत्। डुकृञ् करणे लुङ् ॥७५॥ विदधदिति। उदयनिलये उदयस्य ऐश्वर्यस्य निलये स्थाने। तस्मिन् नन्दने कुमारे। जाते सति। स्वैः स्वकीयैः। ओजोभिः तेजोभिः। तेजस्तीव्रान् तेजसा प्रतापेन तीव्रान् तीक्ष्णान्। अनतान् अप्रणतान्[5]। अखिलान् सर्वान्[6]। परान् शत्रून्। नतान् प्रणतान्। विदधत् कुर्वन्। विवशां[7] वशगताम्। अमिताम् अमर्यादाम्। अवनिं[8] भूमिम्। वशम् अधीनम्[9]। नयन्[10]। सः नृपः। निधिशतमहालाभैः निधीनां निधानानां शतस्य अनेकस्य महद्भिः लाभैः। भूभृच्छतप्रहितैः भूभृतां भूपतीनां शतेन अनेकेन प्रहितैः प्रेषितैः। धनैः[11]। ननन्द तुतोष। टुनदु समृद्धौ लिट् ॥७६॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने
च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये तृतीयः सर्गः ॥३॥

हुआ हो और तो क्या शत्रुवर्गको भी हार्दिक प्रसन्नता हुई ॥ ७४ ॥ इसके पश्चात् उस राजाने अपने वंशके विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ शुभ दिनमें स्वर्ण पुष्पोंसे सर्वज्ञ भगवान्‌को पूजाकी, और पूजाके बाद अपने पुत्रका माङ्गलिक 'श्री'से युक्त 'श्रीवर्मा' नाम रखा ॥ ७५ ॥ बालक बड़ा भाग्यशाली था। उसके जन्मते ही श्रीषेणने अपने बलसे, बड़े-बड़े तेजस्वी उद्धत राजाओंको नम्रकर दिया, अपरिमित भूमिको—जिसपर शत्रुओंने अधिकार जमा लिया था—अपने वशमें कर लिया और सैकड़ों राजाओंने उपहारमें धन भेजा, जिससे उसे सैकड़ों निधियोंका लाभ हुआ। इस तरह सभी ओरसे उसकी समृद्धि बढ़ने लगी। फलतः वह बहुत आनन्दित हुआ ॥ ७६ ॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित
महाकाव्यमें तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

१. आ प्रतावेव 'उत्प्रेक्षा' इति समुपलभ्यते। =वस्तुतस्तु पद्यमिदमित्थं व्याख्येयम्—गायत् गानं कुर्वत्। प्रनृत्यत् नृत्यं कुर्वत्। रभसेन वेगेन। वलगत् गच्छत्। समस्तं पुरं निखिलं नगरम्। उन्मत्ततामिव प्रमत्ततामिव। जगाम ययौ। तत्र तस्मिन् पुरे। खलु निश्चयेन। सः सकः। कोऽपि कश्चिदपि। न अभवत् न बभूव। यस्य हृदयं मनः। अन्तः अन्तस्तः। विकासि प्रसन्नम्। न जज्ञे नाजायत। द्विषोऽपि शत्रोरपि। हृदयं मनः। अन्तः अन्तस्तः। विकासि प्रसन्नम्। जज्ञे समजनि ॥७४॥ २. क ख ग घ म सह तेन। ३. श पूजित्वा। ४. =व्यधायि। ५. आ आनतान् प्रणतान्। ६. आ 'सर्वान्' इति पदं नास्ति। ७. =परकरगतामित्यर्थः। ८. आ अवनीम्। ९. आ अधीशम्। १०. =कुर्वन्। ११. =वित्तैः।

चतुर्थः सर्गः ।

अथ प्रजानां नयनाभिरामो लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्गः ।
वृद्धिं स पद्माकरवत्प्रपेदे दिनानुसारेण शनैः कुमारः ॥ १ ॥
व्रजन्सहैवोन्नतिमुज्ज्वलाभिः कलाभिरानन्दितसर्वलोकः ।
स कान्तिमांश्चन्द्रमसा तदानीं जनैरुपामीयत राजपुत्रः ॥ २ ॥
गुरून्गुरून्सम्यगुपास्य तेभ्यो विद्योपविद्या विधिना विदित्वा ।
तद्वेदिनोऽसौ गणितैरहोभिरधो व्यधाद्दीधितिमानिवेद्धः ॥ ३ ॥

श्रेयोनिधिं सकलमङ्गलहेतुभूतं लोकोत्तमं शरणमप्रतिमं जिनेशम् ।
श्रेयः सदानतमहोत्सवदानदक्षं श्रेयोऽभिधानजिनपं प्रणमामि नित्यम्[1] ॥

अथेति । अथ कुमारोदयानन्तरम् । प्रजानां जनानाम् । नयनाभिरामः नयनानां नेत्राणामभिरामो मनोहरः । लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्गः लक्ष्मीः सम्पत्तिरेवलता[2] वल्लरी तयालिङ्गितं लालितं सुन्दरं मनोहरमङ्गं गात्रं यस्य सः । रूपकम् । सः श्रीवर्मकुमारः । पद्माकरवत् सरोवरवत्[3] । दिनानुसारेण दिनस्यानुसारेणानुक्रमेण । शनैः मन्दम् । वृद्धिं वर्धनम् । प्रपेदे प्रययौ । पदि गतौ लिट् ॥१॥ व्रजन्निति । उज्ज्वलाभिः प्रदीप्ताभिः । कलाभिः चतुःषष्टिकलाभिः षोडशभागैश्च । सहैव साकमेव । उन्नतिं वृद्धिम् । व्रजन् गच्छन् । आनन्दितसर्वलोकः आनन्दिताः आह्लादिताः सर्वे लोकाः जनाः येन सः । कान्तिमान् द्युतिमान् । सः राजपुत्रः । तदानीं तस्मिन् काले । जनैः लोकैः । चन्द्रमसा चन्द्रेण । उपामीयत उपमा [-विषयोऽ] क्रियत । माङ् माने कर्मणि लङ् । श्लेषोपमा ॥२॥ गुरूनिति । दीधितिमानिव दीधितिरस्यास्तीति दीधितिमान् सूर्य इव [दीधितयोऽस्य सन्तीति दीधितिमान् सूर्यः, स इव] । इद्धः दीप्तः । असौ कुमारः । गुरून् श्रेष्ठान् । गुरून् उपदेशकान् । सम्यगुपास्य आराध्य । तेभ्यः गुरुभ्यः । विद्योपविद्याः विद्याः आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिः इति चतस्रो

जिस प्रकार सरोवर सबके नेत्रोंको सुन्दर लगता है, बांधपर लगी हुई सुन्दर लताएँ उसके प्रदेशोंकी छविको बढ़ाती हैं और वर्षा ऋतुके दिनोंके अनुसार धीरे-धीरे उसकी वृद्धि होती है, तथा जिस प्रकार कमलोंका समूह सबके नेत्रोंको सुन्दर प्रतीत होता है, उसके ऊपर लक्ष्मी निवास करती है और वह दिनके समयके अनुसार धीरे-धीरे विकसित होता है, उसी प्रकार वह राजकुमार श्रीवर्मा समस्त प्रजाके नेत्रोंको प्रिय था, उसके पूरे शरीरपर लक्ष्मीकी छाया थी और वह अपनी आयुके दिनोंके अनुसार धीरे-धीरे बढ़ रहा था ॥१॥ राजकुमार चौंसठ उज्ज्वल कलाओंकी उन्नतिके साथ-ही-साथ अपनी उन्नति कर रहा था, उसके शरीरपर कान्ति थी और इसीलिए उसे देखकर सभी लोगोंको बड़ा आनन्द होता था। उस समय उसे जो भी देखते थे वे उसकी तुलना चन्द्रमासे करते थे, क्योंकि चन्द्रमा भी सोलह कलाओंकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नति करता है, सारे संसारको आनन्द देता है और मनोहर कान्तिको धारण करता है ॥२॥ वह सूर्यके समान तेजस्वी था। उसने श्रेष्ठ गुरुओंकी सच्ची उपासना की और उनसे आन्वीक्षिकी आदि चार विद्याओं तथा उनकी सहायक चौंसठ उपविद्याओंको सीखा।

---

१. आ प्रतौ पद्यमिदं नोपलभ्यते । २. आ संप्रीति° । ३. आ प्रतावेव केवलं 'सरोवरवत्' इति पदमुपलभ्यते ।

जनादशेषाद्वयसा लघीयानपि प्रवृद्धैः स महान्बभूव ।
कलागुणैरुज्ज्वलरश्मिजालैरिव स्वकीयैर्मणिराकरोत्थः ॥ ४ ॥
धनुर्धरैः खड्गिभिरश्ववारैर्गजेन्द्रशिक्षाधिकृतैश्च लोकैः ।
स्वं स्वं गुणोत्कर्षमसाववाप्तुं सदाभियुक्तैरुपजीव्यते स्म ॥ ५ ॥
तुषाररश्मिं भजते निशायां दिनागमे याति सरोजषण्डम् ।
इति प्रकृत्या चपलापि लक्ष्मीरियेष मोक्तुं न तनुं तदीयाम् ॥ ६ ॥
वदान्यतां तस्य विलोक्य गुर्वीं तद्वद्भिरत्याजि वृथाभिमानः ।
गतस्य लोके परतोऽभिभूतिं न मानिनो राजति मानयोगः ॥ ७ ॥

राजविद्याः, ताश्च, उपविद्याश्च चतुःषष्टिरूपाः, ताश्च । विधिना क्रमेण । विदित्वा ज्ञात्वा । गणितैः कियद्भिः । अहोभिः दिवसैः । तद्वेदिनः विद्योपविद्यावेदिनः पुरुषान् । अधो व्यधात् तिरस्कृतवान् । डुधाञ् धारणे च लुङ् । उपमा ॥३॥ जनादिति । सः कुमारः । अशेषात् सकलात्[2] । जनात् लोकात्[3] । वयसा वयोधर्मेण । लघीयानपि अत्यन्तं लघुरपि 'गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू' इति ईयसु-प्रत्ययः । प्रवृद्धैः अधिकैः । कलागुणैः सकलकलागुणैः[4] स्वकीयैः स्वसंबन्धिभिः । उज्ज्वलरश्मिजालैः उज्ज्वलैः रश्मीनां किरणानां जालैः समूहैः । आकरोत्थः खनिस्थानोत्पन्नः । मणिरिव रत्नमिव । महान् श्रेष्ठः । बभूव भवतिस्म । भू सत्तायां लिट् । उपमा ॥४॥ धनुरिति । असौ कुमारः । सर्वदा सर्वस्मिन् काले । अभियुक्तैः उद्युक्तैः । धनुर्धरैः धन्विभिः । खड्गिभिः खड्गोऽस्त्येषा-[ऽस्ति येषा] मिति खड्गिनस्तैः खड्गधरैः । अश्ववारैः अश्ववाहैः । गजेन्द्रशिक्षाधिकृतैश्च गजेन्द्राणां शिक्षायामधिकृतैरधिकारिभिश्च । स्वं स्वं स्वकीयम् । वीप्सायां द्विः 'वीप्सायाम्' इति द्विः । गुणोत्कर्षं गुणानां धनुर्विद्यादीनामुत्कर्षं प्रवर्धनम् । अवाप्तुं लब्धुम् । उपजीव्यते स्म । जीव प्राणधारणे कर्मणि स्म योगे[5] 'स्मे च लट्' इति भूतार्थे लट् ॥५॥ तुषारेति । लक्ष्मीः श्रीदेवी । निशायां रात्रौ । तुषाररश्मिं चन्द्रमसम् । भजते सेवते । भज[6] सेवायां लट् । दिनागमे दिनस्य दिवसस्य आगमे प्रातःकाले इत्यर्थः । सरोजषण्डं सरोजानां कमलानां षण्डं कदम्बम् । याति गच्छति । इति एवं प्रकारेण । प्रकृत्या स्वभावेन । चपलापि चञ्चलापि । तदीयां तस्य कुमारस्य संबन्धिनीम् । तनुं शरीरम् । मोक्तुं त्यक्तुम् । न इयेष न ववाञ्छ । इषु इच्छायां लिट् ॥६॥ वदेति । तस्य कुमारस्य । गुर्वीं महतीम् । वदान्यतां त्यागिताम् । विलोक्य दृष्ट्वा । तद्वद्भिः औदार्ययुक्तैः[7] । वृथाभिमानः व्यर्थाभिमानः । अत्याजि अमुच्यत । त्यज हानौ कर्मणि लुङ् । लोके

वह प्रतिभाका धनी था, अतः समस्त विद्याओं और उपविद्याओंकी शिक्षा प्राप्त कर उसने थोड़े ही दिनोंमें समस्त विद्याओं और उपविद्याओंके जाननेवालोंको मात कर दिया ॥३॥ वह राजकुमार उम्रमें सबसे बहुत छोटा था, किन्तु फिर भी विकसित कलाओं और गुणोंमें उनसे बड़ा था । जैसे एक खानसे उत्पन्न हुआ मणि और मणियोंके पीछे निकल कर भी अपनी उज्ज्वल किरणोंके कारण उनसे कहीं श्रेष्ठ होता है ॥४॥ धनुर्धारी, खड्ग चलानेवाले, अश्व-विद्या जाननेवाले और गजशिक्षाके अधिकारी विद्वान् अपने-अपने गुणोंका उत्कर्ष पानेके लिए सदा तत्परताके साथ उसकी सेवामें लगे रहते थे ॥५॥ लक्ष्मी रात्रिके समय चन्द्रमाकी सेवा करती है और दिन होते ही उसे छोड़कर कमलोंके पास चली जाती है । इस तरह वह स्वभाव-से चञ्चल होकर भी उस राजकुमारके शरीरको नहीं छोड़ना चाहती थी—चन्द्रमा और कमलकी अपेक्षा राजकुमारका शरीर कहीं अधिक सुन्दर था ॥६॥ वह राजकुमार बड़ा दानी था । उसकी सर्व श्रेष्ठ उदारताको देखकर अन्य उदार पुरुषोंने अपनी-अपनी उदारताके निरर्थक

१. अ तद्विद्भि° । २. श स अशेषान् सकलान् । ३. श स जनान् लोकान् । ४. आ प्रतावेव 'सकलकलागुणैः' इति पर्यायो दृश्यते । ५. श स योगो । ६. श स भजि । ७. आ उदारयुक्तैः ।

तदीयसङ्गादखिलोऽपि भीरुरन्यो जनः शूरतरो बभूव ।
महात्मनस्तस्य पुनर्महीयः स्वाभाविकं शौर्यमिव द्विपारेः ॥ ८ ॥
त्यागश्च शौर्यं च तथैव सत्यं महागुणा नीतिविदामभीष्टाः ।
त्रयोऽप्यमी तस्य तनौ विवृद्धिं स्पर्धादिवान्योन्यकृतात्प्रजग्मुः ॥ ९ ॥
प्रपूरयन्धान्यधनैरशेषं नियोजयंश्चापि महागुणेषु ।
पतिः स एवाजनि नीतिनेत्रो गुरुः स एवाश्रयिणां जनानाम् ॥ १० ॥
न केवलं सर्वगुणाश्रयेण प्रहर्षितस्तेन भृशं स्वपक्षः ।
किं तु द्विषन्तोऽपि खलस्वभावास्तन्नास्ति यत्पुण्यवतामसाध्यम् ॥ ११ ॥

जगति । परतः अन्यस्मात् । अभिभूतिं तिरस्कृतिम् । गतस्य प्राप्तस्य । मानिनः गर्विणः । मानयोगः मानस्य गर्वस्य योगः । न राजति न भाति । राजृ दीप्तौ लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥७॥ तदीयेति । तदीयसंगात् तदीयात् कुमारकसंबन्धात् सङ्गात् संपर्कात् । अखिलोऽपि निखिलोऽपि । भीरुः भीलुकः । अन्यः परः । जनः । शूरतरः प्रकृष्टः शूरः । शूरतरः बभूव भवतिस्म । भू सत्तायां लिट् । पुनः पश्चात् । महात्मनः महापुरुषस्य । तस्य कुमारस्य । महीयः अतिमहत्[1] । शौर्यं पराक्रमः । द्विपारेः द्विपानां गजानामरेः सिंहस्य । इव[2] । स्वाभाविकं स्वभावजनितम् । बभूव । उपमा ॥८॥ त्याग इति । त्यागश्च वितरणम् । शौर्यं[3] पराक्रमश्च । तथा च तेन प्रकारेण । सत्यं तथ्यम् । नीतिविदां नीतिं नीतिशास्त्रं विदन्ति जानन्तीति नीतिविदः, तेषामभीष्टाः समीहिताः । अमी इमे । त्रयोऽपि महागुणाः मुख्यगुणाः । तस्य कुमारस्य । तनौ गात्रे । अन्योन्यकृतात् अन्योन्यैः[4] कृतात् विहितात् । स्पर्द्धादिव मात्सर्यादिव । विवृद्धिं प्रवृद्धिम्[5] । प्रजग्मुः प्रययुः । गम्लृ[6] गतौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥९॥ प्रपूरयन्निति । अशेषं संपूर्णम् । धान्यधनैः धान्यैः व्रीह्यादिधान्यैः धनैः सुवर्णादिभिः । प्रपूरयन् पालयन्[7] महागुणेषु मुख्यगुणेषु । नियोजयंश्चापि संबन्धयंश्चापि । नीतिनेत्रः नीतिरेव नीतिशास्त्रमेव नेत्रं नयनं यस्य सः । स एव कुमार एव卐 । आश्रयिणाम् आश्रितानाम् । जनानां पतिः प्रभुः[8] 卐 । स एव कुमार एव । गुरुः श्रेष्ठः[9] । अजनि अभवत् । रूपकम् ॥१०॥ नेति । सर्वगुणाश्रयेण सर्वेषां गुणानामाश्रयेणाधारभूतेन । तेन कुमारेण । स्वपक्षः सहायजनः । केवलं मुख्यम् [परम्] । भृशम् अत्यन्तम् । न प्रहर्षितः[10] न[11] संतोषितः ।

अभिमानको छोड़ दिया । क्योंकि इस संसारमें उस मानीका मान शोभा भी तो नहीं देता, जो दूसरेसे पराजित हो चुका हो ॥७॥ उसके सम्पर्कमें रहनेसे सभी अन्य कायर पुरुष भी बहादुरोंके सिरमौर हो गये । उसकी आत्मा महान् थी, और उसका महान् पराक्रम सिंहके समान स्वाभाविक था ॥८॥ त्याग, शूरता और सत्य ये तीन महान् गुण हैं, इन्हें सभी नीति शास्त्रके विद्वान् चाहते हैं, किन्तु ये तीनों स्वयं भी उस राजकुमारको चाहते थे । इसीलिए मानो वे आपसी स्पर्द्धावश उसमें खूब ही विकसित हुए । उनका विकास उसके शरीरको देखनेसे ही प्रतीत हो रहा था ॥९॥ वह नीतिशास्त्रमें निपुण था । वह नीतिशास्त्रको ही अपना नेत्र समझता था । आश्रयमें आनेवाले सभी मनुष्योंका वह पति (पातीति पतिः—जो रक्षा करे वह पति कहलाता है) था । क्योंकि भरपूर धन और धान्य-अनाज देकर वह उनका भरण, पोषण और संरक्षण करता था, और उन सबका वह गुरु (शिक्षक) था; क्योंकि उन्हें वह श्रेष्ठ सद्गुणोंकी शिक्षा देता था ॥१०॥ वह सर्वगुण सम्पन्न था, अतः उसने न केवल अपने पक्षके लोगोंको ही खूब प्रसन्न किया, बल्कि दुष्ट स्वभाववाले शत्रुओंको भी । ऐसा कौन सा कार्य है, जो पुण्यात्माओंको

१. आ महान् । २. = यथा । ३. = शौर्यं च । ४. = अन्योन्यम् । ५. आ प्रतौ 'प्रवृद्धिम्' इतिनास्ति । ६. गम गतौ । ७. = पोषयन् । ८. आ प्रतौ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । ९. = शिक्षकः । १०. = प्रकर्षेण हर्षं प्रापिताः । ११. आ प्रतौ 'न' नोपलभ्यते ।

त्रैलोक्यशोभाभिभवप्रवीणं नूनं विधिस्तस्य विलोक्य रूपम् ।
[1]ययावतृप्तश्चतुराननत्वं नान्यद्वयं कारणमत्र विद्मः ॥ १२ ॥
स संपदामायतनं जयश्रीसमाश्रयः सर्वमनोभिरामः ।
भेजे न चोत्सेकमनूननीतिर्मदं भजन्ते न महानुभावाः ॥१३॥
निरस्तषड्वर्गरिपुः कृतज्ञो गुणाधिकानां धुरि वर्तमानः ।
स मत्सरेणेव समं गुणौघैर्न पस्पृशे दोषगणैः कुमारः ॥१४॥
पितुर्निदेशादथ सुन्दराङ्गीं स राजकन्यां विधिनोपयेमे ।
प्रभावतो देहगतप्रभायाः प्रभावतीति प्रथिताभिधानाम् ॥१५॥

किन्तु खलस्वभावाः दुर्जनस्वरूपाः । द्विषन्तोऽपि शत्रवोऽपि प्रहर्षिताः । यत् पुण्यवतां सुकृतवताम् । असाध्यम् । तत् । लोके नास्ति न[2] भवति । अर्थान्तरन्यासः ॥११॥ त्रैलोक्येति । विधिः कर्म—ब्रह्मा । तस्य कुमारस्य । त्रैलोक्यशोभाभिभवप्रवीणं त्रैलोक्यस्य लोकत्रयस्य शोभायाः कान्तेरभिभवे तिरस्करणे प्रवीणं समर्थम् । रूपं[3] सुरूपम् । नूनं निश्चयेन । विलोक्य वीक्ष्य । अतृप्तः तृप्तिरहितः सन् । चतुराननत्वं चतुर्भिराननैर्युक्तत्वम् । ययौ इयाय । या प्रापणे लिट् । अत्र चतुराननत्वे । अन्यत् परम् । कारणं हेतुम् । वयं न विद्मः न जानीमः । विद ज्ञाने लट् । उत्प्रेक्षा ॥१२ । स इति । संपदाम् ऐश्वर्याणाम् । आयतनं गृहम् । जयश्रीसमाश्रयः जयश्रियाः जयलक्ष्म्याः आश्रयः आधारः । सर्वमनोऽभिरामः सर्वेषां सकलानां मनोभिरामो मनोहरः । अनूननीतिः अनूना संपूर्णा नीतिर्यस्य सः । सः श्रीवर्मकुमारः । उत्सेकं गर्वम् । न भेजे न भजति स्म । भज सेवायां लिट् । महानुभावाः महाननुभावः सामर्थ्यं येषां[4] ते । मदं गर्वम् । न भजन्ते । अर्थान्तरन्यासः ॥१३॥ निरस्तेति । [निरस्तषड्वर्गरिपुः] निरस्तास्तिरस्कृताः षड्वर्ग एव रिपवः शत्रवो येन सः । 'अयुक्तितः प्रणीताः कामक्रोधमानमदहर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः' इति नीतिवाक्यामृते । कृतज्ञः कृतं जानातीति कृतज्ञः, कृतकार्यज्ञ इत्यर्थः । गुणाधिकानां गुणैर्माधुर्यादिगुणैरधिकानां प्रवृद्धानाम् । धुरि अग्रभागे । वर्त्तमानः[5] । कुमारः श्रीवर्मकुमारः । गुणौघैः गुणानामोघैः समूहैः । समं साकम् । समत्सरेणेव[6] ईर्ष्[र्ष्य]येव । 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे[7] तद्वत्कृपणयोस्त्रिषु[8] ।' इत्यभिधानात् । दोषगणैः दोषाणामप्रशस्तानां गणैः समूहैः । न पस्पृशे न स्पृश्यते स्म । स्पृश स्पर्शने कर्मणि लिट् । उपमा ॥१४॥ पितुरिति । अथ यौवनप्राप्त्यनन्तरम् । सः कुमारः । देहगतप्रभायाः देहं गात्रं गतायाः प्राप्तायाः[9] । प्रभायाः कान्त्याः

कठिन हो ? ॥११॥ उसका रूप तीनों लोकोंको शोभाको मात करनेवाला था । उसे देखकर ब्रह्मदेवको तृप्ति नहीं हुई—उसका चित्त नहीं अघाया । मानो इसीलिए उसने तीन मुख और बना लिये—वह चतुर्मुख हो गया । उसके चतुर्मुख होनेका हमें और कोई कारण नहीं जान पड़ता ॥१२॥ वह सम्पत्तिका घर था; विजयलक्ष्मीका आश्रयदाता था; सबके मनको प्रिय था और समस्त नीतिका पालक था, किन्तु फिर भी उसे अहङ्कार नहीं था । सच है विशिष्ट प्रभावशाली पुरुष कभी अहङ्कार नहीं करते ॥१३॥ उसने काम, क्रोध, हर्ष, मान, लोभ और मद इन छह आभ्यन्तर शत्रुओंको तिरस्कृत कर दिया था, वह कृतज्ञ था और गुणवानोंमें अग्रेसर था । उसके गुणोंसे दोषोंको बड़ी डाह हो गयी थी, मानो इसीलिए वे उस राजकुमारको कभी छूते भी नहीं थे ॥१४॥ इसके पश्चात् उसने अपने पिताकी आज्ञासे एक परमसुन्दरी राजकुमारीके साथ विधिपूर्वक विवाह किया, जिसका नाम प्रभावती था । शरीरकी विशिष्ट

१. अ आपावितृ° । २. आ प्रतौ 'न' नास्ति । ३. आ रूपकम् । ४. आ एषां । ५. = विद्यमानः । ६. = स मत्सरेणेव । ७. आ °शुभद्वेषि° । ८. आ प्रतौ 'त्रिषु' इति पदं नास्ति । ९. आ प्रतौ 'प्राप्तायाः' इति पदं नास्ति ।

तं यौवराज्ये परिणीतभार्यं नियोज्य धुर्यं वशिनां तनूजम् ।
स राज्यसौख्यं विगतान्तरायं निश्चिन्तचित्तोऽनुबभूव भूपः ॥१६॥
भोगैः स वाञ्छाकृतसंनिधानैर्मनोहरैर्मोहितचित्तवृत्तिः ।
कालं न गच्छन्तमपि प्रजज्ञे प्रज्ञां हि मोहः शिथिलीकरोति ॥१७॥
स्थितोऽथ हर्म्ये स नृपः कदाचिदुल्कां विलोक्याम्बरतः पतन्तीम् ।
विरक्तबुद्धिर्विषयेषु चिन्तामगादिति प्रोद्गतकाललब्धिः ॥१८॥
समस्तमेवंविधमेव पुंसामशाश्वतं जीवितयौवनादि ।
तथापि जानाति न मन्दबुद्धिरस्मादृशः पुत्रकलत्रमूढः ॥१९॥

प्रभावतः सामर्थ्यात् । प्रभावतीति प्रभा देहकान्तिरस्यास्तीति प्रभावती, इति । प्रथिताभिधानां प्रथितं प्रसिद्धमभिधानं[2] यस्याः ताम् । सुन्दराङ्गीं सुन्दरमङ्गं यस्याः सा ताम् । 'असहनञ्—' इत्यादिना ङी । राजकन्यां राजपुत्रीम् । पितुः जनकस्य । निदेशात् आज्ञायाः । विधिना विधानेन । उपयेमे परिणीतवान् । यम उपरमे लिट् ॥१५॥ तमिति । सः भूपः श्रीषेणभूपतिः । परिणीतभार्यं परिणीता भार्या[3] जाया यस्य[4] तम् । धुर्यं मुख्यम् । वशिनं जितेन्द्रियं जितात्मानं वा । तं तनूजं कुमारम् । यौवराज्ये युवराजपदव्याम् । नियोज्य संस्थाप्य । निश्चिन्तचित्तः चिन्ताया निर्गतं निश्चिन्तं चित्तं यस्य सः । विगतान्तरायं विगतोऽन्तरायो यस्मिन् तत् । राज्यसौख्यं राज्यसुखम् । अनुबभूव अनुभवति स्म । भूसत्तायां लिट् ॥१६॥ भोगैरिति । वाञ्छाकृतसंनिधानं वाञ्छया कृतं सन्निधानं समीपं[5] येषां[6] तैः । मनोहरैः मनोहररूपैः । भोगैः विषयानुभवैः । मोहितचित्तवृत्तिः मोहिता आसक्ता चित्तस्य[7] वृत्तिर्यस्य सः । सः कुमारः । गच्छन्तमपि यान्त[8]मपि । कालं समयम् । न प्रजज्ञे न जानाति स्म । मोहः मोहनीयकर्म । [हि निश्चयेन] । प्रज्ञां सम्यग्ज्ञानम् । शिथिलीकरोति[9] अपहरति । डुकृञ् करणे लिट् । हि । अर्थान्तरन्यासः ॥१७॥ स्थित इति । अथ अनन्तरम् । कदाचित् अन्यदा । हर्म्ये सौधे । स्थितः उपविष्टः । सः नृपः श्रीषेणनरपतिः । अम्बरतः आकाशात् । पतन्तीं निपतन्तीम् । उल्काम्[10] उल्कापतनम् । विलोक्य दृष्ट्वा । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । विरक्तबुद्धिः अनासक्तबुद्धिः । प्रोद्गतकाललब्धिः प्रोद्गता काललब्धिर्यस्य सः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । चिन्तां स्मृतिम् । (स्मृतिसमन्वाहारम्) । अगात् अयात्[11] । इण्[12] गतौ लुङ् ॥१८॥ समस्तेति । पुंसां पुरुषाणाम् । अशाश्वतम् अस्थिरम् । जीवितयौवनादि[13] जीवितं यौवनमादिर्यस्य तत्[14] । समस्तं सकलम् । एवंविधम् एतदुल्का-

प्रभाके प्रभावसे उसका 'प्रभावती' नाम सभी ओर प्रसिद्ध हो गया था ॥१५॥ विवाहके बाद राजा श्रीषेण (पिता) ने अपने उस, जितेन्द्रियोंमें श्रेष्ठ पुत्र (श्रीवर्मा) को युवराज बना दिया, और स्वयं निश्चिन्त होकर विघ्न-बाधाओंसे रहित राज्यसुखको भोगने लगा ॥१६॥ उसे भोग सामग्रीकी कमी नहीं थी, इच्छा होते ही मनोहर भोग्य पदार्थ उसकी सेवामें उपस्थित कर दिये जाते थे। उनमें उसका मन इतना आसक्त हो गया कि उसे यह भी पता नहीं रहा कि समय बीत रहा है। सच है मोह मानवकी मतिको शिथिल कर देता है ॥१७॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है। वह अपने राजमहलमें बैठा था। इतनेमें उसने आकाशसे गिरती हुई उल्का देखी। देखते ही उसे विषयोंसे विरक्ति हो गयी। उसकी काललब्धि जो आ गयी थी। फलतः वह यों सोचने लगा—॥१८॥ मानव मात्रका जीवन और यौवन आदि सभी वस्तुएँ इसी उल्काकी तरह क्षणभङ्गुर हैं। फिर भी बाल-बच्चोंके मोहमें फँसे हुए मुझ जैसे

१. अ जीवन° । २. = नाम । ३. आ °णीता मितामिता भार्या । ४. = येन । ५. = सामीप्यम् । ६. = यैः । ७. श स चित्तवृत्ति° । ८. आ यात° । ९. = शिथिलयति । १०. = अशनिकम् । ११. आ आयात् । १२. आ गम्लृ । १३. अ जीवनयो° । १४. जीवितं जीवनं यौवनं तारुण्यं चादि यस्य तत् ।

नगापगातोयतरङ्गलोलैर्विलोभ्यमानो विषयैर्वराकः ।
नारम्भदोषाग्गणयत्यनन्तदुःखप्रदान्मोहवशेन जीवः ॥२०॥
क्षणक्षयिण्यायुषि मूढबुद्धिः स्थिराभिमानं यदि नैष कुर्यात् ।
न कर्मपाशैर्विवशीकृतात्मा योनिष्वनन्तासु सहेत दुःखम् ॥२१॥
मुहुः प्रणष्टा मुहुरेव दृष्टाः समागमाः स्वप्नसमागमाभाः ।
विश्वासमृच्छत्यत एव विद्वान्न तेषु संयोगनिबन्धनेषु ॥२२॥
या दुःखसाध्या चपला दुरन्ता यस्या वियोगो बहुदुःखहेतुः ।
तस्याः कृते जन्तुरुपैति लक्ष्म्याः परिश्रमं पश्यत मोहमस्य ॥२३॥

पतनस्य समानमेव । तथापि । पुत्रकलत्रमूढः पुत्राश्च कलत्राणि च तेषु[1] मूढो मोहितः । मन्दबुद्धिः मन्दमतिः । अस्मादृशः वयमिव दृश्यते इति अस्मादृशः । 'त्यदाद्यन्य—' इत्यादिना कट्-प्रत्ययः । न जानाति न वेत्ति । ज्ञा अवबोधने लट् । आक्षेपः (?) ॥१९ । नगेति । नगापगातोयतरङ्गलोलैः नगे पर्वते समुत्पन्नाया-आपगाया नद्यास्तोयस्य सलिलस्य तरङ्गाः कल्लोलास्त इव लोलैश्चञ्चलैः[2] विषयैः पञ्चेन्द्रियगोचरैः । विलोभ्यमानः मुह्यमानः । वराकः[3] मूर्खः । जीवः प्राणी । अनन्तदुःखप्रदात् [दान्] अनन्तं निरवसानं दुःखं प्रददातीत्यनन्तदुःखप्रदः तस्मात् [-तान्] । आरम्भदोषान् आरम्भेभ्यः कृष्यादिभ्यः प्रभवपापानि[4] । मोहवशेन अज्ञानवशेन । न गणयति । गण संख्याने लट् ॥२०॥ क्षणेति । मूढबुद्धिः मोहितमतिः । एषः अयं जीवः । क्षणक्षयिणि क्षणे क्षयिणि नाशनशीले । आयुषि जीविते । यदि स्थिराभिमानं नित्यमित्यभिमानम् । [न] कुर्यात् न विधेयात् । कर्मपाशैः पापपाशैः । विवशीकृतात्मा विवशीकृतः परवशीकृत आत्मा स्वरूपं यस्य सः । अनन्तासु निरवसानासु । योनिषु उत्पत्तिस्थानेषु । दुःखं [न] सहेत नानुभवेत् । षहि[5] मर्षणे लिङ् । आक्षेपः (?) ॥२१॥ मुहुरिति । स्वप्नसमागमाभाः स्वप्नस्य समागमस्यागमनस्याभाः सदृशाः । समागमः परिग्रहाः मुहुः[6] पुनः । [7]प्रणष्टः विनष्टः । मुहुरेव पुनरेव । दृष्टाः दृश्यन्ते स्म दृष्टाः । अतएव एतस्मादेव । विद्वान् ज्ञानी । संयोगनिबन्धनेषु संयोगस्य कर्मबन्धस्य निबन्धनेषु कारणेषु । तेषु समागमेषु । विश्वासं विस्रम्भम् । न ऋच्छति न गच्छति । ऋच्छ गतौ लट् । उपमा ॥२२॥ येति । या दुःखसाध्या दुःखेन महता कष्टेन साध्या साधनीया । चपला चञ्चलरूपा । दुरन्ता दुःखावसाना । यस्याः वियोगः विगमः । बहुदुःखहेतुः बहोर्दुःखस्य हेतुः कारणम् । तस्याः लक्ष्म्याः ऐश्वर्यस्य । कृते निमित्तम् । जन्तुः प्राणी । परिश्रमं प्रयासम् ।

मूर्ख नहीं समझते ॥१९॥ पाँच इन्द्रियोंके विषय पहाड़ी नदीकी तरङ्गोंकी भाँति चञ्चल-अस्थिर हैं, फिर भी उन्होंने बेचारे जीवको ऐसा लुभा लिया है कि वह उनके मोहमें फँसकर खेती आदि नाना आरम्भ करता है, पर अनन्त दुःखोंको देनेवाले उनके दोषोंकी ओर कोई ध्यान ही नहीं देता ॥२०॥ यदि यह मोही जीव क्षणिक आयुमें स्थिरताका अभिमान न करता तो इसे कर्म-बन्धन विवश न कर पाते और न अनन्त योनियोंके दुःख भी भोगने पड़ते ॥२१॥ कञ्चन और कामिनी आदि प्रिय पदार्थोंका समागम स्वप्न समागम सरीखा क्षणिक है, जो बार-बार दृष्टि गोचर होता है और बार-बार दृष्टिसे ओझल हो जाता है । यह समागम कर्म बन्धनका कारण है । इसीलिए बुद्धिमान् मनुष्य इसपर विश्वास नहीं करता ॥२२॥ जो लक्ष्मी बड़े दुःखोंसे कमाई जाती है; जो चञ्चल है; जो बुरा फल देने वाली है और जिसका वियोग अनेक दुःखोंका कारण है, उसके लिए यह मनुष्य कितना परिश्रम करता है । इसके मोहको

---

१. आ श स पुत्रमित्रकलत्रमूढः पुत्रश्च मित्रं च कलत्रं च पुत्रमित्रकलत्राणि तेषु । २. लोलाश्चञ्चलाः, तैः । ३. दीनः । ४. प्रभवानि पापानि । ५. श स सह । ६. श स 'पुनः' इति नोपलभ्यते । ७. श स प्रनष्टः ।

विहाय ये निर्वृतिमव्यपायां बहुव्यपायां वृणुते विभूतिम् ।
हित्वा हिमं ते शुचिचन्दनाम्भः पिबन्त्यपो मूढधियः सपङ्काः ॥२४॥
ममेदमस्याहमिति ग्रहेण ग्रस्तो वराकः कथमेष जन्तुः ।
अणुप्रमाणस्य सुखस्य हेतोर्दुःखं गिरीन्द्रोपममभ्युपैति ॥२५॥
न काकतालीयमिदं कथंचित्क्लेशक्षयान्मानुषजन्म लब्ध्वा ।
युक्तः प्रमादः स्वहिते विधातुं संसारवृत्तान्तविदा नरेण ॥२६॥
इति प्रजानामधिपः स्वचित्ते विचिन्तयन्संसृतिफल्गुभावम् ।
जगाम वैराग्यमपेतरागो बुद्धेः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः ॥२७॥

उपैति प्राप्नोति । अस्य जीवस्य । मोहम् अज्ञानम् । पश्यत वीक्षध्वम् । दृषि प्रेक्षणे लोट् । 'पा घ्रा—' इत्यादिना पश्य-आदेशः । आक्षेपः (?) ॥२३॥ विहायेति । ये पुरुषाः । अव्यपायां व्यपायरहिताम् । निर्वृत्तिं मुक्तिम् । विहाय विहानं पूर्वं० त्यक्त्वा । बहुव्यपायां बहुरनेको व्यपायो बाधा[2] यस्यास्ताम् । विभूतिम् ऐश्वर्यम् । वृणुते गृह्णन्ति । ते मूढधियः अज्ञानिनः । हिमं शीतलम् । शुचि निर्मलम् । चन्दनाम्भः चन्दनेन श्रीगन्धेन मिश्रमम्भो जलम् । हित्वा त्यक्त्वा । सपङ्काः सकर्दमाः । अम्भः[3] जलानि । पिबन्ति पानं कुर्वन्ति । आक्षेपः (निदर्शना) ॥२४॥ ममेति । मम इदं मे[4] एतत् । अस्य एतस्य शरीरादेः अहमिति ग्रहेण अभिमानेन । ग्रस्तः पीडितः । वराकः मूर्खः । एषः अयम्[5] । जन्तुः जीवः । अणुप्रमाणस्य अणुप्रमाणयुक्तस्य । सुखस्य ह्लादनस्य । हेतोः निमित्तम् । गिरीन्द्रोपमं गिरीणां पर्वतानामिन्द्रस्य मेरोः उपमं[6] समानम् । दुःखमभ्युपैति प्रयाति । इण् गतौ लट् । आक्षेपः (?) ॥२५॥ नेति । क्लेशक्षयात् कर्मक्षयात् । काकतालीयं काकतालस्य समानम् । इदम् एतत् । मानुषजन्म[7] मनुष्यस्येदं मानुषं तच्च तज्जन्म च । कथंचित् येन केन प्रकारेण । लब्ध्वा प्राप्य । संसारवृत्तान्तविदा संसारस्य चतुर्गतिभ्रमणरूपस्य वृत्तान्तं[8] स्वरूपं वेत्तीति तथोक्तस्तेन । नरेण पुरुषेण । स्वहिते स्वस्य आत्मनो हिते । प्रमादः अनवधानता । विधातुं समाचरितुम् । युक्तः योग्यः । न न भवति ॥२६॥ इतीति । प्रजानां जनानाम् । अधिपः प्रभुः श्रीषेणः । अपेतरागः अपेतो[9] व्यपगतो रागो यस्य सः । इति उक्तप्रकारेण । संसृतिफल्गुभावं संसृतेः संसारस्य फल्गोः निःस्सारस्य भावं[10] स्वरूपम् । स्वचित्ते मानसे । विचिन्तयन् ध्यायन् । वैराग्यं विरागत्वम् । जगाम

तो देखो ! ॥२३॥ मुक्ति नित्य है और है निर्विघ्न—मुक्ति मिल भर जाय, फिर कभी वह नष्ट नहीं होती और न वहाँ किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ ही होती हैं । किन्तु लक्ष्मी उससे बिलकुल उल्टी है— प्राप्त होकर खर्च हो जाती, नष्ट हो जाती है और यदि किसी तरह रह भी जाती है तो उसमें अनेक विघ्न-बाधाएँ आती रहती हैं । जो लोग मुक्ति और लक्ष्मी-विभूति इन दोनोंमें-से विभूतिको पसन्द करते हैं, उनकी बुद्धिकी बलिहारी है—वे निरे मूर्ख हैं, और वे चन्दन मिश्रित, ठण्डे, पवित्र और निर्मल जलको छोड़कर कीचड़ सहित (गन्दी नालीका) जल पीते हैं ॥२४॥ 'यह मेरा है' और 'मैं इसका हूँ' यह ग्रह इस बेचारे प्राणीको कैसे लग गया है ? इस ग्रहके लग जानेसे यह प्राणी जर्रा भर सुखके पीछे सुमेरुके समान बड़े-से-बड़े दुःखको भोगता है ॥२५॥ यह मानव जन्म बड़े क्लेश भोगनेके बाद कर्मोदयके मन्द होनेपर किसी तरह काकतालीय न्यायसे प्राप्त हुआ है । अतः संसारके प्रकरणको जाननेवाले मनुष्यको अपने हितमें आलस करना उचित नहीं ॥२६॥ इस प्रकार संसारकी असारताको मन-ही-मन

१. म यात्म° । २. आ प्रतावेव 'बाधा' इति दृश्यते । ३. आ श स आपः । ४. आ प्रतावेव 'मे' इत्युपलभ्यते । ५. आ यो हि यो° । ६. = उपमा साम्यं यस्य तत् । ७. श स मानु° । ८. श स वृत्तान्तः । ९. श स अवीतो° । १०. निःसारताम् ।

अन्येद्युराहूय युवेशमीशः[1] कृतप्रणामाञ्जलिमित्युवाच।
मन्दीभवत्प्रेमरसानुबन्धां तदीयवक्त्रे विनिवेश्य दृष्टिम् ॥२८॥
वात्येव यावन्न वपुःकुटीरमेतज्जरा जर्जरयत्युपेत्य।
प्रवर्धमानं तिमिरं विहन्तुं यावन्न वा दर्शनशक्तिमीष्टे ॥२९॥
यावन्न तीर्थोपगमप्रवीणौ पादौ निजप्रस्फुरणं जहीतः।
कालेन यावद्भजतेऽवसादं न च श्रुतिर्धर्मकथावसक्ता ॥३०॥
वयोनुरूपेण विवर्धमानो यावत्स्मृतिं भ्रंशयते न मोहः।
यावच्च शास्त्राध्ययनप्रवीणा प्रवर्तते प्रस्खलितुं न वाणी ॥३१॥

ययौ। गम्लृ गतौ लिट्। आत्महितप्रवृत्तिः[2] आत्मनः स्वरूपस्य हिते उपकारके मार्गे प्रवृत्तिर्वर्त्तनम्। बुद्धेः ज्ञानस्य। फलं हि निष्पत्तिर्हि। अर्थान्तरन्यासः ॥२७॥ अन्येद्युरिति। ईशः प्रभुः। अन्येद्युः एकस्मिन् दिने। 'पूर्वापर—' इत्यादिना एद्युस् प्रत्ययः। युवेशं युवराजम्। आहूय आकारयित्वा। मन्दीभवत्प्रेमरसानुबन्धां प्रागमन्द इदानीं मन्दो भवतीति मन्दीभवन् प्रेम्णो रसस्तस्यानुबन्धः संबन्धः, मन्दीभवन् प्रेमरसानुबन्धो यस्याः ताम्। दृष्टिं लोचनम्। तदीयवक्त्रे तदीये श्रीवर्मसंबन्धिनि वक्त्रे मुखे। विनिवेश्य स्थापयित्वा। कृतप्रणामाञ्जलिं कृतो विरचितः प्रणामस्याञ्जलिर्येन तम्। वक्ष्यमाणप्रकारेण। उवाच जगाद। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् ॥२८॥ वात्येति। कुटीरं तृणगृहम्। वात्येव वातानां समूह इव। 'पाशादेश्च यः' इति समूहे य-प्रत्ययः। 'वात्या वातस्तु मुञ्चति' इत्यभिधानात्। एतत् इदम्। वपुः शरीरम्। जरा वार्धक्यम्। उपेत्य आगत्य। यावत् यावत्पर्यन्तम्। न जर्जरयति न विनाशयति। प्रवर्धमानम् एधमानम्। तिमिरं नेत्रदोषं (षः)। यावत् दर्शनशक्ति दर्शनयोर्नयनयोः शक्ति सामर्थ्यम्[3]। विहन्तुं विनाशयितुम्। न ईष्टे न समर्थं भवति। ईशि ऐश्वर्ये लट्। उपमा ॥२९॥ यावदिति। तीर्थोपगमप्रवीणौ तीर्थस्य पवित्रस्थानस्योपगमे गमने प्रवीणौ समर्थौ। पादौ चरणौ। निजप्रस्फुरणं निजयोः प्रस्फुरणं सामर्थ्यम्। यावत्[4] पर्यन्तम्। न जहीतः न त्यजतः। यावत् धर्मकथावसक्ता धर्मस्य कथायामवसक्ता सक्ता। श्रुतिः श्रोत्रेन्द्रियम्। कालेन वयोधर्मेण। अवसादं बधिरत्वम्। न च भजते न याति। भज सेवायां लट् ॥३०॥ वय इति। वयोनुरूपेण वयसो वयोधर्मस्यानुरूपेणानुवर्त्तनेन। वर्धमानः एधमानः। मोहः अज्ञानम्। यावत् स्मृतिं सम्यग्ज्ञानम्[5]। न भ्रंशयते न नाशयति। शास्त्राध्ययनप्रवीणा शास्त्रस्यागमस्याध्ययने प्रवीणा समर्था।

सोचते हुए राजा श्रीषेणको वैराग्य हो गया। फलतः विषयोंमें उसे जो राग रहा, वह अब नहीं रहा। आत्महितमें प्रवृत्ति करना ही तो बुद्धिका फल है ॥२७॥ अगले दिन राजा श्रीषेणने युवराजको बुलाया। वह शीघ्र ही उपस्थित हुआ, और उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। राजा उसके चेहरेपर दृष्टि—जिसमें प्रीतिका रस बिलकुल ही कम था अर्थात् जो प्रीतिसे सनी हुई नहीं थी—डालकर यों बोला—॥२८॥ जिस प्रकार आँधी, फूसकी झोंपड़ीको झकझोर डालती है, उसी प्रकार मेरे इस शरीरको जबतक वृद्धावस्था आकर नहीं झकझोरती और जबतक बढ़ता हुआ तिमिर-नेत्ररोग मेरी देखनेकी शक्तिको नष्ट नहीं कर पाता ॥२९॥ तीर्थयात्रा करनेमें प्रवीण मेरे ये पैर जबतक अपने गमन-सामर्थ्यको नहीं छोड़ते और धर्म-कथाओंके श्रवणमें संलग्न मेरे ये कान जबतक कालके प्रभावसे बधिर नहीं होते ॥३०॥ आयुके अनुसार क्रमसे बढ़ता हुआ मोह जबतक मेरी स्मरण-शक्तिको नष्ट नहीं करता और शास्त्रोंके पढ़नेमें

---

१. अ सुवेष°। २. आ °हितमार्गे या। ३. आ सामर्थ्यतरम्। ४. यावत् पर्यन्तम्। ५. स्मरणं वा।

तावद्भवान्मोचयितुं प्रयत्नादात्मानमिच्छाम्यसुखानलार्तम् ।
जिनेन्द्रदीक्षाविधिनात्र कार्ये त्वया न भाव्यं परिपन्थिना मे ॥३२॥
पुरैव संसारपरम्पराया हेतोः श्रियश्चित्तमपेतमेव ।
अपेक्षमाणोऽनुदिनं त्वदीयमेवोदयं राज्यपदेऽवतिष्ठे ॥३३॥
भवानपास्तव्यसनो निजेन धाम्नाब्धिमर्यादमिमामिदानीम् ।
महीमशेषामपहस्तितारिवर्गोदयः पालयतु प्रशान्तः ॥३४॥
यथा भवत्यभ्युदिते जनोऽयमानन्दमायाति निरस्तखेदः ।
सहस्ररश्माविव चक्रवाको वृत्तं तदेवाचर चारचक्षुः ॥३५॥

वाणी वचनम् । यावच्च प्रस्खलितुं[2] । न प्रवर्त्तते । वृतुङ् वर्त्तने लट् ॥३१॥ तावदिति । तावत् । असुखानलार्तम् असुखमेव दुःखमेवानलोऽग्निस्तेनार्तं पीडितम् । आत्मानं जीवम् । जिनेन्द्रदीक्षाविधिना जिनेश्वरदीक्षाविधानेन । भवात् संसारात् । मोचयितुं निवारयितुम् । प्रयत्नात् । इच्छामि वाञ्छामि । मे मम । अत्र कार्ये कृत्ये[3] । परिपन्थिना[4] शत्रुणा । त्वया भवता । न भाव्यं न भवितुं योग्यम् ॥३२॥ पुरेति । संसारपरम्परायाः संसारस्य परम्परायाः प्रवाहस्य । हेतोः कारणभूतायाः । श्रियः सम्पदः सकाशात् । पुरैव प्रागेव । चित्तं मनः । अपेतमेव अपगतमेव[5] । अनुदिनं प्रतिदिनम् । त्वदीयमेव तव संबन्धमेव[6] । उदयम् । ऐश्वर्यम् । अपेक्षमाणः वाञ्छन्नहम् । राज्यपदे राज्यपदव्याम् । अवतिष्ठे तिष्ठामि । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् ॥३३॥ भवानिति । अपास्तव्यसनः अपास्तं निराकृतं व्यसनं येन सः । अपहस्तितारिवर्गोदयः अपहस्तितो निरस्तोऽरीणां वर्गस्योदय उत्पत्तिर्यस्य (येन) सः । प्रशान्तः प्रशमवान् । भवान् त्वम् । निजेन स्वकीयेन । धाम्ना तेजसा । इदानीम् अद्य । इमाम् एताम् । अशेषां समस्ताम् । महीं भूमिम् । अब्धिमर्यादम् अब्धिरेव समुद्र एव मर्यादा यस्मिन् कर्मणि तत् (तथा) । पालयतु रक्षेत्यर्थः । भवच्छब्दयोगे प्रथम पुरुषः ॥३४॥ यथेति । भवति त्वयि । अभ्युदिते सति अभ्युदययुक्ते सति । निरस्तखेदः तिरस्कृतखेदः । अयम् एषः । जनः लोकः । सहस्ररश्मौ

प्रवीण मेरी वाणी जबतक स्खलित नहीं होती । ॥३१॥ तब तक मैं दिगम्बर दीक्षा लेकर दुःखाग्निमें झुलसती हुई अपनी पीड़ित आत्माको पूरे प्रयत्नसे इस जगत्से मुक्त कराना चाहता हूँ । मेरे इस कार्यमें तुम विरोध नहीं करना—मैंने आत्माकल्याणका निश्चय कर लिया है, अतः इस पवित्र कार्यमें तुम्हें मेरा विरोधी नहीं होना चाहिए ॥३२॥ यह राज्य-लक्ष्मी संसारकी परम्पराका कारण है । इससे मेरा मन पहलेसे ही ऊबा हुआ है । मैं कभीका चला गया होता । किन्तु तुम नाबालिग रहे, अतः प्रति दिन मैं तुम्हारे अभ्युदयकी अपेक्षामें रहा—'तुम राज्य-भार संभालने योग्य हो जाओ, तो मैं जाऊँ, बस इसी प्रतीक्षामें मै अबतक राजगद्दीपर बैठा रहा ॥३३॥ तुम अपने तेजसे समुद्र पर्यन्त इस समूची पृथ्वीका पालन करना । देखो, कभी किसी व्यसनमें नहीं फँसना; प्रजाके ऊपर कोई सङ्कट आये तो उसका शीघ्र ही प्रतिकार करना; सदा शान्त रहना—प्रशम गुणको धारण करना और शत्रुओंको गुटबन्दी नहीं करने देना—गुटबन्दी करनेवाले शत्रुओंको सिर नहीं उठाने देना ॥३४॥ जिस प्रकार सूर्योदय होनेपर चकवेका प्रियाविरहका सारा खेद दूर हो जाता है और उसे बहुत आनन्द होता है, इसी प्रकार तुम्हारे अभ्युदयसे प्रजा-जनोंको आनन्दका अनुभव हो और उन्हें कभी तनिक भी खेद न हो, ऐसा व्यवहार करना । यों सारी प्रजाके कष्टका स्वयं पता लगाना कठिन है,

१. आ इ 'कुलकम्' इत्यपि दृश्यते । २. प्रस्खलनं लब्धुम् । ३. आ वर्तनकृत्ये । ४. प्रतिबन्धकेन । ५. श स अपेतमिव अपगतमिव । ६. श स त्वदीयमिव तव संबन्धमिव ।

वाञ्छन्विभूतीः परमप्रभावाः मोद्वीविजस्त्वं जनमात्मनीनम् ।
जनानुरागं प्रथमं हि तासां निबन्धनं नीतिविदो वदन्ति ॥३६॥

समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात्संपदां निर्व्यसनत्वमस्य ।
वश्ये स्वकीये परिवार एव तस्मिन्नवश्ये व्यसनं गरीयः ॥३७॥

विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम् ।
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥३८॥

सूर्ये । [चक्रवाक इव] चक्रवाको रथाङ्गः पक्षिविशेषः, स इव । यथा येन प्रकारेण । आनन्दं संतोषम् । आयाति गच्छति । या प्रापणे लट् । तथैव (तेनैव प्रकारेण) । चारचक्षुः चारा गूढपुरुषा एव चक्षुषी[1] यस्य (सः) तथोक्तः । वृत्तं चरित्रम्[2] । आचर प्रवर्त्तस्व । उपमा रूपकं च ॥३५॥ वाञ्छन्निति । परमप्रभावाः परमः प्रभावो यासां ताः । विभूतीः ऐश्वर्याणि । वाञ्छन् इच्छन् । त्वम् । आत्मनीनम् आत्महितम् । 'भोगोत्तरपदात्मभ्यां खः' इति हितार्थे खः । जनं लोकम् । मोद्वोविजः मा पीडय । व्यज व्याजीकरणे णिजन्ताल्लुङ् । 'णेरिक्त—'इति णि-लुक् । 'कं श्रित—' इत्यादिना जिः, तद्योगे 'द्विर्धातुः—' इत्यादिना द्विः । जनेषु प्रजासु । विहितम् अनुरागं प्रीतिम् । तासां संपदाम् । प्रथमं मुख्यम् । निबन्धनं कारणम् । इति नीतिविदः नीतिशास्त्रज्ञाः । वदन्ति ब्रुवन्ति । वद व्यक्तायां वाचि लट् ॥३६॥ समागम इति । निर्व्यसनस्य व्यसनरहितस्य । राज्ञः क्षितिपतेः । संपत्तीनां संपदाम् । समागमः आगमनं । स्यात् भवेत् । अस भुवि लिङ् । स्वकीये स्वसंबन्धिनि[3] । परिवारे परिजने । वश्ये वशंगते सति । 'वश्यपथ्य—' इत्यादिना य-प्रत्ययान्तो निपातः । अस्य राज्ञः । निर्व्यसनत्वं व्यसनरहितत्वं भवेत् । तस्मिन्नेव परिवार एव । अवश्ये अवशं गते सति । गरीयः महत् । व्यसनं विपद् भवेत् । परिवारे वशं गते राज्ञो निर्व्यसनत्वमैश्वर्यं च जायते, तदभावे राज्ञो व्यसनं विपज्जायते, इत्यर्थः ॥३७॥ विधित्सुरिति । तत् तस्मात्कारणात् । एवं तव वशंगतम् (एनं परिवारम्) आत्मवश्यम् आत्माधीनम् । विधित्सुः कर्त्तुमिच्छुः । 'कम्येक—' इत्यादिना सन्, 'घुमीमा—' इत्यादिना मिस्, 'सन्भिक्षा—' इत्यादिना उ-प्रत्ययः । कृतज्ञतायाः उपकारस्मरणत्वस्य । पारं तीरम् । समुपैहि[4] गच्छ । इण् गतौ लोट् । अपरैः अन्यैः गुणैः सह । उपेतः युक्तः । कृतघ्नः उपकारनाशकः । समस्तं सकलम् । लोकं

किन्तु गुप्तचरोंकी सहायतासे उस (कष्ट) का पता लगाकर शीघ्र ही उसका निवारण करते रहना । दूरकी स्थिति देखनेके लिए तुम गुप्तचरोंको ही अपनी चक्षु समझना ॥३५॥ दूसरोंपर उत्कृष्ट प्रभाव डालनेवाली विभूतिको चाहते हुए तुम अपने किसी हितैषीको पीड़ा नहीं देना; क्योंकि राजनीति जाननेवाले विद्वान् यह कहते हैं कि 'लोगोंसे अनुराग करना और उनका अनुराग प्राप्त करना ही विभूतिका मुख्य कारण है ।' ॥३६॥ सम्पदाओंका समागम उस राजाको होता है, जो विपदाओंसे मुक्त हो, और वह राजा विपदाओंसे मुक्त होता है, जिसका परिवार अपने वशमें हो । यदि अपना परिवार राजाके वशमें न हो, तो उसे बड़ी-बड़ी विपदाएँ आ घेरती हैं ॥३७॥ अतः यदि तुम अपने परिवारको वशमें रखना चाहते हो, तो कृतज्ञताका पूरा परिपालन करना । क्योंकि अन्य अनेक गुणोंसे युक्त होकर भी जो कृतघ्न होता है— दूसरोंका उपकार नहीं मानता है, वह निश्चय ही सारे संसारको उद्विग्न कर देता है ॥३८॥

---

१. श स चक्षूंषि । २. श 'वृत्तं चरित्रम्' इति नास्ति । ३. श °संबन्धे । ४. श स °पेहि ।

धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं त्वमर्थकामौ कलिदोषमुक्तः ।
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितीशः ॥३९॥
वृद्धानुमत्या सकलं स्वकार्यं सदा विधेहि प्रहतप्रमादः ।
विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्रः ॥४०॥
निगृह्णतो बाधकरान्प्रजानां भृत्यांस्ततोऽन्यान्नयतोऽभिवृद्धिम् ।
कीर्तिस्तवाशेषदिगन्तराणि व्याप्नोति बन्दिस्तुतकीर्तनस्य ॥४१॥
कुर्याः सदा संवृतचित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजेहितानि ।
गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ॥४२॥

जनम् । उद्वेजयेत्[2] हि संतर्जयति हि । ओवज व्याजीकरणे लट् ॥३८॥ धर्मेति । कलिदोषमुक्तः कलिरन्यायः स एव दोषः पापाचारस्तेन मुक्तस्त्यक्तः । त्वं भवान् । धर्माविरोधेन धर्मस्याविरोधेन प्रतिकूलाभावेन (आनुकूल्येन) अर्थकामौ अर्थश्च कामश्च तौ । वृद्धिं समृद्धिम् ।[3] नयस्व प्रापय । णीञ् प्रापणे लोट्[4], द्विकर्मकः । युक्त्या उपायेन । त्रिवर्गं त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गम् । निषेवमाणः भजमानः । क्षितीशः भूमीशः । लोकद्वयम् इहलोकपरलोकद्वयम् (इह लोकं परलोकं च) । साधयति स्वसात्करोति । राध साध संसिद्धौ लट् ॥३९॥ वृद्धेति । वृद्धानुमत्या वृद्धानां मन्त्रिपुरोहितानाम् । अनुमत्या संमत्या । सकलं निखिलम् । स्वकार्यं स्वस्य कार्यम्[5] । प्रहतप्रमादः प्रहतो नष्टः प्रमादो यस्य सः । सदा सर्वदा । विधेहि कुरु । गुरुणा उपाध्यायेन, पक्षे बृहस्पतिना । नित्यम् अनवरतम् । विनीयमानः शिक्ष्यमाणः । नरेन्द्रः क्षितीन्द्रः । सुरेन्द्रलीलां सुरेन्द्रस्य देवेन्द्रस्य लीलां शोभाम् । लभते प्राप्नोति । डुलभिष प्राप्तौ लट् । श्लेषः ॥४०॥ निगृह्णेति । प्रजानां जनानाम् बाधकरान्[6] पीडां कुर्वतः । भृत्यान् सेवकजनान् । निगृह्णतः निग्रहं कुर्वतः । ततः बाधाकरभृत्येभ्यः (बाधकरभृत्येभ्यः) । अन्यान् अनुकूलान् । अभिवृद्धिं समृद्धिम् । नयतः नयमानस्य । बन्दिस्तुतकीर्त्तनेन बन्दिभिः पाठकैः स्तुतेन नुतेन कीर्त्तनेन[7] । तव ते । कीर्तिः गुणस्तुतिः । अशेषदिगन्तराणि अशेषाणां सर्वासां दिशामन्तराण्यवसानानि । व्याप्नोति प्रयाति[8] । आप्लृ व्याप्तौ लट् । अतिशयोक्तिः ॥४१॥ कुर्या इति । संवृतचित्तवृत्तिः संवृता[9] आच्छादिता चित्तस्य मानसस्य वृत्ति र्व्यापारो येन सः । फलानुमेयानि फलेन कार्येणानुमेयानि ऊहितुं योग्यानि निजेन स्वेन[10] ईहितानि चेष्टितानि । सदा अनवरतम् । कुर्याः[11] । गूढात्ममन्त्रः

तुम कलिकालके दोष-पापाचरणसे दूर रहना और धर्मकी अनुकूलता पूर्वक अर्थ और काम पुरुषार्थकी वृद्धि करना । युक्तिपूर्वक धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सेवन करनेवाला राजा दोनों लोकोंको साध लेता है ॥३९॥ वयोवृद्ध मन्त्री और पुरोहितोंसे अनुमति लेकर ही तुम सदा अपने सब काम करना । उन कामोंमें आलस कभी नहीं करना । क्योंकि सदा गुरुजनोंकी शिक्षा पानेवाला नरेन्द्र, बृहस्पतिसे शिक्षा पानेवाले सुरेन्द्रकी शोभाको प्राप्त कर लेता है ॥४०॥ तुम अपने उन कर्मचारियोंको दण्ड देते रहना, जो प्रजाको पीड़ा दें और उन कर्मचारियोंको बढ़ावा देते रहना, जो प्रजाको पीड़ा न होने दें । इसका परिणाम यह होगा कि चारण लोग तुम्हारा गुणगान करेंगे, जिससे तुम्हारी कीर्ति समस्त दिशाओं और विदिशाओंमें फैल जायगी ॥४१॥ तुम अपने विचारोंको सदा गुप्त रखना, और जिन कार्योंको तुम करना चाहो, उनका किसीको पहलेसे पता नहीं लगने देना । कार्यकी समाप्ति होनेके

१. अ आ इ क ख ग घ म व्याप्नोतु । २. आ °जयति । ३. आ प्रतावेव 'समृद्धिं' इति पदं दृश्यते । ४. आ लिट् । ५. आ प्रतावेव 'स्वस्य कार्यम्' इति समुपलभ्यते । ६. आ श स °धाकरान् । ७. गुणवर्णनेन । ८. व्याप्नोतु प्रयातु । ९. आ प्रतावेव 'संवृता' इत्युपलभ्यते । १०. निजस्य स्वस्य । ११. विधेहि ।

तेजस्विन पूरयतोऽखिलाशा भूभृच्छिरःशेखरतां गतस्य ।
दिनाधिपस्येव तवापि भूयात्करप्रपातो भुवि निर्विबन्धः ॥४३॥
इति क्षितीशः सह शिक्षयासौ विश्राणयामास सुताय लक्ष्मीम् ।
सोऽपि प्रती [illegible] गुरूपरोधात्पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः ॥४४॥
ततः स [illegible] पितराज्यभारः [1]पृष्टाखिलज्ञातिरपास्तसङ्गः ।
तप्त्वा तपः श्रीप्रभपादमूले समासदत्सिद्धिवधवरत्वम् ॥४५॥

गूढो व्यवहित आत्मनः स्वस्य मन्त्रो गुप्तभाषणं येन (यस्य) सः । परमन्त्रभेदी परेषां शत्रूणां मन्त्रभेदी मन्त्रालोचननिवारकः[2] । पुरुषः पुमान् । परेषां शत्रूणाम् । अगम्यः अभेद्यः । भवति । भू सत्तायां लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥४२॥ तेजस्वीति[3] । तेजस्विनः प्रतापवतः, पक्षे कान्तिमतः । अखिलाशाः अखिलानां समस्तानामाशा वाञ्छाः, पक्षे दिशः । पूरयतः संपूर्णाः कुर्वतः, पक्षे व्याप्नुवतः । भूभृच्छिरःशेखरतां भूपतीनां शिरसां मस्तकानां शेखरतां ललामतां, पक्षे गिरीणां शिरसां शिखराणामलङ्कारताम् । गतस्य यातस्य । दिनाधिपस्येव सूर्यस्येव । तवापि भवतोऽपि । करप्रपातः करस्य भागधेयस्य प्रपातो लाभः, पक्षे करस्य किरणस्य [कराणां किरणानां] प्रपतनम् । भुवि लोके । निर्विबन्धः अनिवार्यः । भूयात् भवेत् । भू सत्तायां लिङ् । श्लेषोपमा ॥४३॥ इतीति । असौ क्षितीशः श्रीषेणमहीपतिः । इति[4] प्रोक्तप्रकारेण । शिक्षया उपदेशेन । सह साकम् । सुताय श्रीवर्मणे । लक्ष्मीं साम्राज्यसम्पत्तिम् । विश्राणयामास ददौ । श्रण[5] दाने लिट् । सोऽपि श्रीवर्मापि । गुरूपरोधात् गुरो र्महतः (पितुर्वा) उपरोधात्[6] प्रार्थनात् । प्रतीयेष अङ्गीकरोतिस्म । इषु इच्छायां लिट् । सुपुत्रः सत्पुत्रः । पितुः जनकस्य । [हि निश्चयेन] । अनुकूलवृत्तिर्हि अनुकूला वृत्तिर्वर्तनं यस्य सः । अर्थान्तरन्यासः ॥४४॥ तत इति । ततः पश्चात् । पुत्रार्पितराज्यभारः पुत्रे तनयेऽर्पितः स्थापितो राज्यस्य भारो येन सः । पृष्टाखिलज्ञातिः पृष्टाः प्रार्थिता अखिला ज्ञातयो बन्धवो येन सः । अपास्तसङ्गः अपास्तो निराकृतः सङ्गो येन सः । सः श्रीषेणः । श्रीप्रभपादमूले श्रीप्रभस्य श्रीप्रभाचार्यस्य पादमूले पादसमीपे । तपः बाह्याभ्यन्तरतपः । तप्त्वा[7] संतप्य सिद्धिवधूवरत्वं सिद्धिरेव मुक्तिरेव वधूस्तस्या वरत्वम्[8] ।

पश्चात् फलको देखकर लोग उसका केवल अनुमान ही लगा सकें, इसका ध्यान रखना; क्योंकि जो मनुष्य अपनी मन्त्रणाको गुप्त रखता है और दूसरोंकी गुप्त मन्त्रणाको प्रकट कर लेता है, वह अपने शत्रुओंके लिए अजेय होता है ॥४२॥ जिस प्रकार तेजस्वी, सभी दिशाओंको अपने प्रकाशसे भरनेवाला और पर्वतोंके शिखरोंपर पहुँचकर उनके शिरोभूषणकी स्थितिको प्राप्त करनेवाला सूर्य सारे भूमण्डलपर अपनी किरणोंको निर्विरोध रूपसे फैला देता है, इसी प्रकार तुम तेजस्वी बने रहना, सबकी आशाओंकी पूर्ति करना और सभी राजाओंके सिरमौर होना, जिससे सारे भूमण्डलपर निर्विरोध रीतिसे तुम्हारी टैक्स वसूल करनेकी सुव्यवस्था हो ॥४३॥ राजा श्रीषेणने अपने पुत्र श्रीवर्माको इस प्रकारकी शिक्षाके साथ राजलक्ष्मी समर्पित कर दी । पिताके अनुरोधसे पुत्रने भी उसे स्वीकार कर लिया । सुपुत्र वही है जो पिताके अनुकूल व्यवहार करे ॥४४॥ पुत्रको राज्यका भार समर्पित करके श्रीषेणने गोत्रके सभी लोगोंसे दीक्षाकी अनुमति ली और फिर मुनिराज श्रीप्रभके समक्ष समस्त परिग्रहको त्यागकर दिगम्बर दीक्षा ग्रहण की । इसके पश्चात् उन्हीं मुनिराजके चरणोंके निकट रहकर उसने तपस्या की ।

१. अ पृष्ट्वाखिलज्ञातिमपा° । २. मन्त्रस्फोटको वा । ३. तेजस्विन इति ४. = पूर्वोक्त° । ५. श स श्रणु । ६. आग्रहात् । ७. तपो विधाय । ८. आ अवरत्वम् ।

श्रीवर्मराजोऽपि पितुर्वियोगाद्दिनानि भूत्वा कतिचित्सशोकः ।
संबोधितो मन्त्रिसुहृत्समूहैर्विनिर्ययौ साधयितुं धरित्रीम् ॥४६॥
विधाय मौलं बलमात्ममूले स नीतिमानाटविकं बहिःस्थम् ।
मध्ये च सामन्तबलं बलीयश्चचाल [1]चूडामणिभासिताशः ॥४७॥
समुच्चलत्तस्य तुरङ्गमोत्थं सेनारजो रासभरोमधूम्रम् ।
परं दिशामेव मलीमसानि नास्यानि चक्रे रिपुयोषितां च ॥४८॥

समासदत् अगच्छत् । [2]षदलृ विशरणगत्यवसादनेषु लुङ्[3] ॥४५॥ श्रीवर्मेति । श्रीवर्मराजोऽपि श्रीवर्मभूपोऽपि । पितुः जनकस्य । वियोगात् विगमात् । कतिचित् कियन्ति । दिनानि अहानि पर्यन्तम् । 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' इति व्याप्त्यर्थे द्वितीया । सशोकः दुःखसहितः । भूत्वा भवनं पूर्वं० । मन्त्रिसुहृत्सहायैः मन्त्रिणां सचिवानां सुहृदां मित्राणां सहायैर्निवहैः । संबोधितः सम्यग् बोधितः सन् । धरित्रीं भूमिम् । साधयितुं साधनाय । विनिर्ययौ निर्जगाम । या प्रापणे लिट् ॥४६॥ विधायेति[4] । नीतिमान्[5] नीतिशास्त्रवान् । सः श्रीवर्मा । आत्ममूले आत्मनः स्वस्य मूले समीपे । मौलं क्रमादागतम् । बलं मन्त्रिपुरोहितसेनापतिदुर्गाधिकारिकर्माधिकारिकोशागारिकदैवज्ञा इति सप्तविधं मौलं बलम् । विधाय कृत्वा । आटविकं[6] शबरबलम् । बहिस्थं[7] बहिःस्थितम् । विधाय । मध्ये च अन्तराले[8] । बलीयः बलिष्ठम् । सामन्तबलं राज्ञां बलम् । विधाय । चूडामणिभासिताशः चूडामणिना चूडारत्नेन भासिताः प्रकाशिता आशा दिशो येन[9] सः । सन् । चचाल जगाम । चल कम्पने लिट् । दीपकम् ॥४७॥ समुच्चलदिति । समुच्चलत्[10] उद्गच्छत् । तुरङ्गमोत्थं तुरङ्गमैः[11] अश्वैरुत्थमुत्थितम् । रासभरोमधूम्रं रासभस्य गर्दभस्य रोमवद् धूम्रं कृष्णम् । कृष्णाधिकलोहितं धूम्रमिति नाम । तस्य श्रीवर्मणः । सेनारजः सेनाया रजो धूलिः । परं केवलम्[12] । दिशामेव ककुभामेव । आस्यानि मुखानि । मलीमसानि[13] मलमस्त्येषामिति मलीमसानि । 'मलादीमसश्च' इति मत्वर्थे ईमसप्रत्ययः । न चक्रे न कुरुते स्म । अपितु रिपुयोषितां च रिपूणां शत्रूणां योषितां नारीणाम् ।

फलतः अष्ट कर्मोंको नष्टकरके वह सिद्धिवधूका वर—मुक्त हो गया ॥४५॥ इधर राजा श्रीवर्मा भी पिताके वियोगसे कुछ दिनोंतक शोकमग्न रहा, फिर मन्त्रिमण्डल तथा मित्रवर्गके समझानेसे धीरे-धीरे उसका शोक दूर हुआ, इसके बाद वह पृथ्वीको अपने वशमें करनेके लिए—दिग्विजय करनेके लिए निकला । ॥४६॥ वह राजनीतिमें प्रवीण था । दिग्विजयके लिए जाते समय उसने अपने पास उस सेनाको रखा, जो उसके यहाँ कई पीढ़ियोंसे काम करती चली आ रही थी और जिसमें मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, दुर्गाधिकारी, कर्माधिकारी, कोषाधिकारी और ज्यौतिषी सम्मिलित थे, भीलोंकी सेनाको सबसे आगे रखा और बीचमें प्रबल सामन्तोंकी सेना को । चलते समय उसके चूड़ामणिके प्रकाशसे समस्त दिशाएँ प्रकाशित होती जा रही थीं ॥४७॥ चलते समय घोड़ोंकी टापोंसे सेनामें धूलि उड़ रही थी । उसका रंग गदहेके रोमों सरीखा मटमैला था । उसने चारों ओर फैलकर न केवल समस्त दिशाओंके वरन् शत्रु-स्त्रियोंके

---

१. अ क ख ग घ म चूला° । २. श स षद विशरण° । ३. श स लङ् । ४. आ विषयेति । ५. नीतिशास्त्रवित् । ६. श तिलविकम् । ७. श बहिष्ठम् । ८. आ मध्ये बलान्तराले । ९. आ यस्य । १०. एष टीकाकृत्संमतः पाठः प्रतिषु तु 'समुच्छलत्' इत्येव समुपलभ्यते । ११. आ प्रतावेव 'अश्वैः' इत्युपलभ्यते । १२. श स एकं केवलम् । १३. 'मलोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

सैन्यध्वजैरप्रतिकूलवातव्याधूननप्रोल्लसितैस्तदीयैः।
नान्तर्दधे केवलमेव सूर्यः शत्रुप्रभावश्च महाप्रभावैः ॥४९॥
प्रयाणकालप्रभवैरुदारैस्तदीयमातङ्गमदप्रवाहैः।
पांसुप्रतानः शमयांबभूवे न केवलं धाम च शात्रवीयम् ॥५०॥
मूर्च्छन्दरीणां विवरेषु तस्य प्रस्थानशंसी पटहप्रणादः।
न पातयामास परं तटानि क्षोणीधराणां द्विषतां च चेतः ॥५१॥
पौरैः[1] समागत्य गृहीतरत्नस्थालैः[2] सुदूरानतपूर्वकायैः।
प्रदर्शितानेकपयोविकारैः प्रत्युद्ययौ[3] ग्राममहत्तरैश्च[4] ॥५२॥

आस्यानि मुखानि मलीमसानि चक्रे—इत्यभिप्रायः। समुच्चय. ॥४८॥ सैन्येति। अप्रतिकूलवातव्याधूननप्रोल्लसितैः अप्रतिकूलस्यानुकूलस्य वातस्य वायोर्व्याधूननेन कम्पनेन प्रोल्लसितैः प्रकटितैः (दोधूयमानैः)। तदीयैः[5] तस्य संबन्धैः [6]महाप्रभावैः महद्भिः प्रभावैः सिंहादिचिह्नयुतैः। सैन्यध्वजैः सैन्ये सेनायां स्थितैर्ध्वजैः पताकाभिः। केवलमेव परमेव। सूर्यः आदित्यः। नान्तर्दधे नाच्छादितः। अपि तु शत्रुप्रभावश्च शत्रूणां प्रभावस्तेजश्चाच्छादितः ॥४९॥ प्रयाणेति। प्रयाणकालप्रभवैः प्रयाणस्य कालेन[7] प्रभवैरुद्भवैः। उदारैः महद्भिः। तदीयमातङ्गमदप्रभावैः तदीयानां तत्संबन्धानां मातङ्गानां गजानां मदस्य मदजलस्य प्रवाहैर्निर्झरैः। केवलं परम्। पांसुप्रतानः पांसूनां रजसां प्रतानः समूहः। न शमयांबभूवे न शमितो बभूव। शमू दमू उपशमने णिजन्ताल्लिट्। किन्तु शात्रवीयं शत्रुसंबन्धि। धाम च प्रभावश्च ॥५०॥ मूर्च्छन्निति। तस्य श्रीवर्मभूपतेः। प्रस्थानशंसी प्रस्थानस्य प्रयाणस्य शंसो सूचकः। पटहप्रणादः पटहानां भेरीणां प्रणादो ध्वनिः। दरीणां गुहानाम्। विवरेषु रन्ध्रेषु। मूर्च्छन् व्याप्नुवन्[8]। क्षोणीधराणां पर्वतानाम्। परं केवलम्। तटानि सानूनि। न पातयामास न पातयति स्म। पत्लृ गतौ णिजन्ताल्लिट्। द्विषतां शत्रूणाम्। चेतश्च मानसं च पातयामास ॥५१॥ पौरैरिति। सः[9] श्रीवर्मभूपः। गृहीतरत्नस्थालैः गृहीतानि रत्नस्थालानि यैस्तैः, स्वीकृतरत्ननिर्मितभाजनैरित्यर्थः। [10]दूरानतपूर्वकायैः दूरादानतो दूरानतः पूर्वं कायस्य पूर्वकायः, 'पूर्वापर—' इत्यादिना समासः, नाभेरूर्ध्वं पूर्वकायः, दूरानतः पूर्वकायो येषां[11] तैः। पौरैः पुरे भवाः पौराः तैः पुरजनैः। प्रदर्शितानेकपयोविकारैः[12] प्रदर्शितैरुपायनीकृतैरनेकैर्बहुलैः पयोविकारैर्दध्यादिभिः। ग्राममहत्तरैश्च ग्रामाधि-

मुखको भी मैला कर दिया ॥४८॥ दिग्विजयके लिए जाते समय अनुकूल वायु चल रही थी (यह शुभ शकुन है), उससे उसकी सेनाके लहराते हुए झण्डे देखते ही बनते थे। उनके ऊपर सिंह आदिके चिह्न बने हुए थे। दर्शकोंपर उनका महान् प्रभाव पड़ रहा था। उन्होंने न केवल सूर्यको ही बल्कि शत्रुओंके प्रभावको भी छिपा दिया—अस्त कर दिया ॥४९॥ प्रयाणके समय उसकी सेनाके हाथियोंके मदजलके बड़े-बड़े प्रवाह बहने लगे, जिनसे न केवल मार्गकी धूलि ही शान्त हुई, बल्कि शत्रुओंका तेज भी शान्त-ठण्डा हो गया ॥५०॥ उसके प्रस्थानकी सूचना देनेवाला नगाड़ेका शब्द पहाड़ोंकी गुफाओंके अन्दर प्रतिध्वनित होने लगा; और उसने न केवल पर्वतोंके शिखर ही गिराये किन्तु शत्रुओंके हृदयोंको भी गिरा दिया—उन्हें साहस हीन बना दिया ॥५१॥ मार्गमें रत्नोंसे भरे हुए थाल लेकर आये हुए नागरिकोंने दूरसे ही अपने मस्तक झुकाकर श्रीवर्माकी अगवानीकी और दही आदि लेकर उपस्थित हुए

१. अ परैः। २. अ सहैरानत॰। ३. अ प्रत्युद्ययौ। ४. अ आ इ क ख ग घ म याममहत्तरैश्च। ५. तत्संबन्धिभिः। ६. अतिप्रभावकैः। ७. काले। ८. आ प्रतौ 'व्याप्नुवन्' इति नोपलभ्यते। ९. एष टीकाकारधृतः पाठः। १०. अयमपि टीकाकारधृतः पाठः, प्रतिषु तु 'सुदूरानत॰' इत्येव समुपलभ्यते। ११. आ एषाम्। १२. = प्रदर्शिता उपायनीकृता अनेके पयोविकारा यैस्तैः।

निशम्य तस्यातुलपुण्यशक्तेः प्रस्थानमाविष्कृतविक्रमस्य ।
महाभयव्याकुलमानसानां द्विषामभूवन्निति चेष्टितानि ॥५३॥
दारान्सुतानप्यनपेक्ष्य केचित्स्वदेहरक्षां बहुमन्यमानाः ।
तत्सैन्यसंचारविमर्दभीता भेजुर्दिगन्तान् हरिणैः सहैव ॥५४॥
कठोरधारं विनिवेश्य कण्ठे कुठारमन्ये भयविह्वलाङ्गाः ।
सतां शरण्यं शरणं तमीयुर्जिनं यथा मानमपोह्य भव्याः ॥५५॥
संनह्य सैन्यैः सह शौर्यशौण्डैरेके महामानगजाधिरूढाः ।
तदीयशस्त्राग्निशिखावलीषु प्रपेदिरेऽभ्येत्य पतङ्गवृत्तिम् ॥५६॥

कारिभिः । प्रत्युद्ययेे[1] संमुखोबभूवे (प्रतिगृहीतः) या प्रापणे कर्मणि लिट् ॥५२॥ निशम्येति । अतुलपुण्यशक्तेः[2] अतुला उपमारहिता पुण्यस्य सुकृतस्य शक्तिः सामर्थ्यं यस्य तस्य । आविष्कृतविक्रमस्य आविष्कृतः प्रकटीकृतो विक्रमः पराक्रमो यस्य तस्य । तस्य[3] श्रीवर्मभूपस्य प्रस्थानं प्रयाणम् । निशम्य[4] श्रुत्वा । महाभयव्याकुलमानसानां महाभयेन व्याकुलं पीडितं मानसं मनो येषां तेषाम् । द्विषां शत्रूणाम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । चेष्टितानि व्यापृतानि । अभूवन् अभवन् । भू सत्तायां लुङ् ॥५३॥ दारानिति । केचित् अन्ये । दारान् कलत्राणि । सुतान्[5] पुत्रानपि । अनपेक्ष्य[6] अपेक्षामकृत्वा । स्वदेहरक्षां स्वेषां देहरक्षां शरीररक्षणम् । बहुमन्यमानाः वाञ्छन्तः । तत्सैन्यसंचारविमर्दभीताः तस्य श्रीवर्मभूपस्य सैन्यस्य सेनायाः संचारस्य प्रचारस्य विमर्देन पीडया भीताः । हरिणैः मृगैः । सहैव साकमेव । दिगन्तान् दिशामन्तानवधीन् । भेजुः जग्मुः । भज सेवायां लिट् ॥५४॥ कठोरेति । भयविह्वलाङ्गाः भयेन विह्वलं[7] विवलवमङ्गं येषां ते । अन्ये केचिन्नृपाः । कठोरधारं[8] कठोरा निशिता धारा[9] यस्य तम् । कुठारं परशुम् । कण्ठे गले । विनिवेश्य निक्षिप्य । तं श्रीवर्मभूपम् । शरणं रक्षणम् । ईयुः[10] जग्मुः । इण्[11] गतौ लिट् । सतां सत्पुरुषाणाम् । शरण्यं शरणं गन्तुं योग्यम् (शरणे साधुः शरण्यस्तम् । 'तत्र साधौ' शाकटा० ३।२।१९६ । सप्तम्यन्तात् साधावर्थे यो भवति । सामनि साधुः सामन्यः । कर्मण्यः । शरण्यः । लभ्यः । साधुः योग्यः, प्रवीणः, उपकारको वा । इति चिन्तामणिवृत्तौ ।) । जिनम् अर्हत्पतिम् । मानं गर्वम् । अपोह्य त्यक्त्वा । भव्याः रत्नत्रयाविर्भवनयोग्याः । यथा[12] ईयुस्तथेत्यर्थः ॥५५॥ सन्नह्येति । महामानगजाधिरूढाः महान्तो माना गर्वाः त एव गजास्तानधिरूढाः । एके केचित् । शौर्यशौण्डैः शौर्येण प्रतापेन शौण्डैर्गर्वितैः । सैन्यैः सेनाभिः । सह समम् ।

ग्रामोंके बुजुर्गों और अधिकारियोंने भी दूरसे ही मस्तक झुकाकर उसकी अगवानी की—स्वागत किया ॥५२॥ श्रीवर्माका पुण्यबल अतुल है और उसका पराक्रम किसीसे छिपा नहीं है—प्रकट हो चुका है। उसने दिग्विजयके लिए प्रस्थान कर दिया है, यह सुनते ही शत्रु लोगोंका हृदय भारी भयसे व्याकुल हो उठा। फलतः उनकी ये चेष्टाएँ हुईं—॥५३॥ श्रीवर्माकी सेनाके संचारसे कहीं हम रौंदे न जायें, यह सोचकर कुछ शत्रु इतने भयभीत हुए कि अपनी पत्नी और पुत्रोंको भी छोड़कर, अपने शरीरकी रक्षाको ही बहुत मानकर हिरणोंके साथ दिशाओंके छोरोंमें जा पहुँचे ॥५४॥ कुछ शत्रु भयसे इतने व्याकुल हुए कि वे अपने कण्ठमें कठोर-पैना कुठार लगाकर सत्पुरुषोंको रक्षा करनेवाले श्रीवर्माकी शरण जा पहुँचे। जैसे भव्य जीव मानकषायको छोड़कर भगवान् जिनेन्द्र देवकी शरण जाते हैं ॥५५॥ कुछ शत्रु महान् मान-घमण्डके हाथीपर सवार होकर, शूर वीरताके घमण्डमें चूर अपने सैनिकोंके साथ सजकर,

१. = प्रतिगृहीतः । २. आ °शक्तिः । ३. आ प्रतावेव 'तस्य' इति पदं दृश्यते । ४. आ आनिशम्य । ५. = सुतानपि । ६. = उपेक्ष्य । ७. आ कृशं । ८. श °वारं । ९. श वारा° । १०. श इयुः । ११. श इण् । १२. श इयुः ।

पत्त्रं धनं धान्यमशेषरत्नान्युपायनीकृत्य निरस्तदर्पाः ।
हिमर्तुवृक्षा इव शातिताङ्गाः स्वजीवितान्येव ररक्षुरन्ये ॥५७॥
बद्धाञ्जलीन्खण्डितमानशृङ्गान्गृहीतसारानथ तान्विधाय ।
न्ययुङ्क्त स स्वेषु पदेषु भूपः[1] सतां हि कोपो नमनावसानः ॥५८॥
निपातितानां रणमूर्ध्न्यरीणामुपेयुषः कण्ठकुठारवृत्त्या ।
सोऽन्वग्रहीदार्द्रमनास्तनूजान्युक्तैव दीनेषु[2] कृपोन्नतानाम् ॥५९॥

सन्नह्य सज्जीकृत्य । तदीयशस्त्राग्निशिखावलीषु तदीयस्य तस्य संबन्धस्य (तत्संबन्धिनः) शस्त्रस्यायुधस्याग्नेः शिखानां ज्वालानामावलीषु समूहेषु । अभ्येत्य पतित्वा । पतङ्गवृत्ति पतङ्गस्य शलभस्य वृत्ति वर्तनम् । प्रपेदिरे ययुः । पदि गतौ लिट् ॥५६॥ पत्रमिति । निरस्तदर्पाः निरस्तो निराकृतो दर्पो गर्वो यैस्ते (येषां ते) । अन्ये केचित् । पत्रं वाहनं, पक्षे पर्णम् । 'पत्रं वाहनपर्णयोः' इत्यमरः । धनं द्रव्यम् । धान्यम् । अशेष-रत्नानि समस्तरत्नानि । उपायनीकृत्य[3] उपग्राह्यं कृत्वा । हिमर्तुवृक्षा इव हेमन्तकालस्य वृक्षा इव तरव इव । शातिताङ्गा कृतो [शी-]कृतशरीरा.[4] । स्वजीवितान्येव स्वजीवनान्येव । ररक्षुः पालयामासुः । रक्ष पालने लिट् ॥५७॥ बद्धेति । सः भूपः । अथ अनन्तरम् । बद्धाञ्जलीन् रचिताञ्जलीन् । खण्डितमानशृङ्गान् खण्डितं मान एव शृङ्गं येषां[5] तान् । गृहीतसारान् स्वीकृतवस्तून् । तान् । शत्रून् । विधाय कृत्वा । स्वेषु स्वकीयेषु । पदेषु स्थानेषु । न्ययुङ्क्त न्ययोजयत् । युजिर् योगे[6] लङ् । सतां सत्पुरुषाणाम् । कोपः क्रोधः । नमनावसानो हि नमनमेवावसानं यस्य सः (नमनेनावसानं यस्य सः) । अर्थान्तरन्यासः ॥५८॥ निपातीति । रणमूर्ध्नि रणस्य संग्रामस्य मूर्ध्नि अग्रे । निपातितानाम् । अरीणां शत्रूणाम् । कण्ठकुठारवृत्त्या कण्ठे ग्रीवायां वर्तमानस्य कुठारस्य परशोर्वृत्त्या वर्तनेन । उपेयुषः आगतवतः । इण् गतौ 'लिटः क्वसुकानौ' इति क्वसुः । तनूजान् तनयान् । आर्द्रमनाः मृदुमानसः । सः श्रीवर्मभूपः । अन्वगृहीत्[7] कारुण्यमकरोत् । उन्नतानां महताम्

श्रीवर्माका सामना करनेके लिए घरसे निकल पड़े, किन्तु वे उसकी शस्त्राग्निकी ज्वालामें गिरकर पतङ्गोंकी तरह जल गये ॥५६॥ कुछ शत्रुओंने अहङ्कारको छोड़कर, और श्रीवर्माको वाहन, धन, धान्य और समस्त रत्न उपहारमें देकर अपनी जान बचाली । जैसे हेमन्त ऋतुमें वृक्ष (पाला पड़नेसे) पत्तोंको त्यागकर ठूँठ जैसी स्थितिमें पहुँचकर भी अपनी जान बचा लेते हैं ॥५७॥ श्रीवर्माने कुछ शत्रुओंको उनसे हाथ जुड़वाकर मान रहित कर दिया और उनकी सारभूत सम्पत्ति अपने अधीन कर ली । ऐसी अवस्थामें वे सींग टूट जानेसे पशुकी भाँति दयनीय प्रतीत होने लगे और विरूप भी । उनकी यह दशा देखकर श्रीवर्माको दया आ गयी । फलतः उसने उन्हें, उन्हींके पद पर पुनः नियुक्त कर दिया । सच है सज्जनोंका क्रोध विरोधीके नमन करते ही शान्त हो जाता है ॥५८॥ कुछ अहंकारी शत्रु लड़नेके लिए लड़ाईके मैदानमें आ डटे, किन्तु श्रीवर्माकी सेनाके सामने वे टिक नहीं सके, फलतः मार गिराये गये । इसके पश्चात् उन मरे हुए शत्रुओंके लड़के अपने-अपने गलेमें कुठार लगाकर श्रीवर्माकी शरणमें उपस्थित हुए । उन्हें देखकर उसका हृदय पिघल गया, अतः उसने उनके ऊपर बड़ा अनुग्रह

---

१. आ इ क ख ग घ म भूयः । २. अ द्वीपेषु । ३. = उपहृत्य । ४. श कृतशरीराः । ५. आ एषाम् । ६. श युजृङि योगी । ७. = अनुजग्राह ।

गतावलेपैः प्रविशद्भिरेत्य दत्ताभयैर्मण्डलिनां समूहैः ।
दिने दिने तत्कटकः समन्तादवर्धताम्भोधिजिगीषयेव ॥६०॥
गण्डस्थलामोदहृतद्विरेफैर्मदाम्बुविक्लेदितभूरजोभिः ।
तत्तोरणद्वारमभूदुदारैर्न जातुचिच्छून्यमुपायनेभैः ॥६१॥
गजेन्द्रदन्तैश्चमरीकचौघैर्मृगेन्द्रशावैरपि पञ्जरस्थैः ।
तं पार्वतीयाः समुपेत्य भीताः सिषेविरे सेवकवृत्त्यभिज्ञाः ॥६२॥
वस्तूपदीकृत्य विचित्ररूपं द्वीपोद्भवं द्वीपपतीनुपेतान् ।
संभावयामास स [१]तुष्टिदानैश्चेतः प्रभूणां नहि नोचितज्ञम् ॥६३॥

दीनेषु अनाथेषु । कृपा दया । युक्तैव योग्यैव । अर्थान्तरन्यासः ॥५९॥ गतेति । गतावलेपैः गतोऽपहृतो लेपो गर्वो येषां तैः । दत्ताभयैः दत्तमभयं येषां (येभ्यः) तैः । मण्डलिनाम् अरातिभूपानाम् । समूहैः । एत्य आगत्य । प्रविशद्भिः अन्तर्गच्छद्भिः । दिने दिने दिवसे दिवसे । वीप्सायां द्विः । तत्कटकं तस्य श्रीवर्मणः कटकं शिबिरम् । अम्भोधिजिगीषयेव अम्भोधिं समुद्रं जिगीषयेव जेतुमिच्छयेव । समन्तात् सर्वतः । अवर्द्धत ऐधत । वृधुङ् वर्धने लङ् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥६०॥ गण्डेति । गण्डस्थलामोदहृतद्विरेफैः गण्डस्थलस्य [३]कपोलप्रदेशस्यामोदेन परिमलेन हृता आकृष्टा द्विरेफा भ्रमरा येषां (यैः) तैः । मदाम्बुविक्लेदित[४]भूरजोभिः मदाम्बुना मदजलेन क्ले [विक्ले-]दितानि[५] भुवो भूमे रजांसि येषां (यैः) तैः । उदारैः महद्भिः । उपायनेभैः उपायनार्थमानीतैरिभैर्गजैः । तत्तोरणद्वारं तस्य भूपस्य तोरणद्वारं बहिर्द्वारम् । जातुचित् कदाचिदपि । शून्यं रिक्तम् । नाभूत् नाभवत् । ६१॥ गजेन्द्रेति । भीताः बिभ्यति स्म भीताः । सेवकवृत्त्यभिज्ञाः सेवकानां भृत्यानां वृत्तौ वर्तनेऽभिज्ञाः प्रवीणाः । पर्वतीयाः पर्वते भवाः पर्वतीयाः, व्याधा इत्यर्थः । तं श्रीवर्मभूपम् । गजेन्द्रदन्तैः गजेन्द्राणां दन्तैः । चमरीकचौघैः चमरीणां चमरीमृगाणां कचानां केशानामोघैः समूहैः । पञ्जरस्थैः पञ्जरे तिष्ठन्तीति पञ्जरस्थाः तैः । मृगेन्द्रशावैः मृगेन्द्राणां शावैः पोतैरपि । समुपेत्य आगत्य । सिषेविरे सेवन्ते स्म । सेवृङ्[६] सेवने लिट् ॥६२॥ वस्त्विति । द्वीपोद्भवं द्वीपे उद्भवमुत्पन्नम् । विचित्ररूपम् आश्चर्य-रूपयुक्तम्[७] । वस्तु । उपदीकृत्य उपायनीकृत्य । उपेतान् समीपमागतान् । द्वीपपतीन् अन्तरीपाधिपान् । सः

किया । महान् पुरुषोंको अनाथों पर दया करना उचित ही है ॥५९॥ श्रीवर्माके विजयके इन समाचारोंको सुनकर, माण्डलीक राजाओंका वर्ग अहंकार छोड़कर उसकी सेवामें उपस्थित हुआ । श्रीवर्माने उन्हें अभय प्रदान किया और उन्हें अपनी सेनामें प्रविष्ट कर लिया । इससे उसकी सेना सभी ओरसे बढ़ गयी । मानो वह अपने विस्तारसे समुद्रको जीतना चाहती हो ॥६०॥ इसके पश्चात् श्रीवर्मा मार्गमें जहाँ भी पड़ाव डालता था, अनेक राजे-महाराजे उसके लिए उपहारमें बड़े-बड़े हाथी भेजते थे, जो अपने गण्डस्थलोंके मदजलकी सुगन्धिसे भौंरोंको अपनी ओर खींचते थे, और जो मदजलसे पृथिवीकी धूलिको गीला कर देते थे । उन हाथियोंसे उसका बाहरी दरवाजा कभी खाली नहीं रहता था ॥६१॥ सेवा करनेमें चतुर पहाड़ी लोग श्रीवर्माके पराक्रमके समाचार सुनकर भयभीत हो गये, अतः वे हाथी दाँत, चमरी गायोंके बाल और कटघरोंमें बन्द सिंहोंके बच्चोंको लेकर उसकी सेवामें उपस्थित हुए । उन्होंने उसकी खूब सेवा की ॥६२॥ द्वीपोंके अधिपति अपने-अपने द्वीपोंकी विलक्षण वस्तुओंको उपहारमें देनेके लिए श्रीवर्मासे मिले । उसने उन्हें सन्तोषजनक प्रत्युपहार देकर सम्मानित किया ।

---

१. अ आ इ क ख ग घ म °विच्छिन्न° । २. अ आ इ स वृष्ट° । क ख ग घ म सुदृष्टिदानैः । ३. आ कपाल° । ४ श स °विक्लीवित° । ५. श स विक्लीवितानि । ६. श स सेवृ । ७. = अद्भुतमित्यर्थः ।

या तेन मुक्ता रविणेव साभूदङ्गारिणी शत्रुचिताभिराशा ।
प्रधूमिता यां च चकाङ्क्ष यातुं पलायमानारिचमूरजोभिः ॥६४॥

कल्लोलहस्तैः स्फुरदंशुजालं मुक्ताफलौघं विकिरंस्तटेषु ।
वेलावनप्राप्तबलस्य तस्य भयादिवादात्करमर्णवोऽपि ॥६५॥

द्वीपेषु दुर्गेष्वथ मण्डलेषु विदिक्षु दिक्षु प्रतिकूलिताज्ञः ।
न कोऽपि तस्याजनि पुण्यराशेर्दैवेऽनुकूले किमु नानुकूलम् ॥६६॥

भूपतिः । तुष्टिदानैः तुष्टेः सन्तोषकरस्य दानैः । संभावयामास सत्करोति स्म । भू[2] कृपावकल्पने लिट् । प्रभूणां स्वामिनाम् । चेतः चित्तम् । नोचितज्ञं नहि अनुचितज्ञं नहि (उचितज्ञं नहि, इति न) अपि तु उचितज्ञमेव ॥६३॥ येति । रविणेव सूर्येणेव । तेन श्रीवर्मभूपेन । मुक्ता त्यक्ता । या आशा दिक् । सा शत्रुचिताभिः शत्रुशवानां चिताभिः दाहकाष्ठैः । अङ्गारिणी हसन्ती, पक्षे सूर्यत्यक्ता । 'अङ्गारिणी हसन्त्यां च भास्कररत्यक्तदिश्यपि ।' अभूत् अभवत् । सः भूपः । यां दिशम् । यातुं गन्तुम् । चकाङ्क्ष ववाञ्छ । काक्ष कांक्षायां लिट् । पलायमानारिचमूरजोभिः पलायमानानां धावतामरीणां शत्रूणां चमूनां सेनानां रजोभी रेणुभिः प्रधूमिता क्लेशिता, पक्षे सूर्येण गन्तव्या । 'प्रदूपिता [प्रधूमिता] क्लेशितायां सूर्यगन्तव्यदिश्यपि ।' अभूत् । श्लेषः ॥६४॥ कल्लोलेति । अर्णवोऽपि सागरोऽपि[3] । कल्लोलहस्तैः । कल्लोलास्तरङ्गा एव हस्ता पाणयस्तैः । रूपकम् । स्फुरदंशुजालं स्फुरत् प्रज्वलद् अंशूनां किरणानां जालं यस्य तम् । मुक्ताफलौघं मुक्ताफलानां मौक्तिकानामोघं समूहम् । तटेषु तीरेषु । विकिरन् विक्षिपन् । वेलावनप्राप्तबलस्य वेलायास्तटस्य वनमरण्यं प्राप्तं यातं बलं सैन्यं यस्य तस्य । [तस्य] भूपस्य भयादिव भीतेरिव । करं सिद्धायम् । आदात् आयच्छत्[4] । डुदाञ् दाने लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥६५॥ द्वीपेष्विति । पुण्यराशेः पुण्यानां सुकृतानां राशेरिव । तस्य श्रीवर्मणः । द्वीपेषु अन्तर्द्वीपेषु । दुर्गेषु जलदुर्गवनदुर्गगिरिदुर्गेषु । अथ अनन्तरम् । मण्डलेषु देशेषु । विदिक्षु दिगन्तरेषु । दिक्षु आशासु । कोऽपि एकोऽपि । प्रतिकूलिताज्ञः प्रतिकूलं गता आज्ञा यस्य सः । न अजनि नाजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । अनुकूले अनुकूलरूपे । दैवे पुण्ये । नानुकूलम् अनुकूल (ता) रहितम् । किमु न किमपीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥६६॥

राजाओंका हृदय उचित व्यवहारको नहीं जानता, यह बात नहीं है—राजा उचित व्यवहारको खूब जानते हैं ॥६३॥ श्रीवर्मा सूर्य सरीखा था । सूर्य जिस दिशाको छोड़ता है वह अंगारिणी कहलाती है और वह जिस दिशामें जाता है वह प्रधूमिता । इसी प्रकार वह जिस दिशासे चला आता था वह शत्रुओंकी चिताओंसे अंगारिणी—अंगारवाली हो जाती थी और जिस दिशाकी ओर प्रस्थान करता था वह भागती हुई शत्रुसेनाओंकी धूलिसे प्रधूमिता—मलिनवर्णा हो जाती थी ॥६४॥ दिग्विजय करते-करते श्रीवर्मा समुद्रके तटपर जा पहुँचा । उसने अपनी सेना समुद्र तटके आस-पासके वनोंमें ठहरा दी । इस अवसर पर समुद्रको तरंगों, तरंगों क्या, उसके बाहुओंसे चमचमाते हुए मोती श्रीवर्माकी ओरके किनारे पर आ रहे थे, अतः ऐसा जान पड़ता था मानो समुद्र भी भयभीत होकर उसे टैक्स दे रहा हो ॥६५॥ श्रीवर्मा साक्षात् पुण्यकी राशि था वह जिन द्वीपों, अन्तर्द्वीपों, जलदुर्गों, वनदुर्गों, पहाड़ी दुर्गों, देशों, दिशाओं और विदिशाओंमें पहुँचा, वहाँ कोई भी मनुष्य उसकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सका । दैवके

---

१. म °दिवारात् । २. श स कृपो । ३. आ प्रतावेव 'सागरोऽपि' इति दृश्यते । ४. श स अदात् अयच्छत् ।

संस्पृश्य पूर्वं परितः करेण नीता[1] पुनस्तेन रतिं समानम्[2] ।
वधूरिवाम्भोनिधिवारिवस्त्रा बभूव वश्या सकला धरित्री ॥६७॥

इति प्रसाध्याखिलभूतधात्रीं धात्रीं चतुर्वारिधिवारिसीमाम् ।
स बन्दिवृन्दैरभिवन्द्यमानः श्रीमान्पुनः श्रीपुरमाससाद ॥६८॥

नवोदयं प्रस्फुरितप्रतापं [4]प्रसादिताशेषदिगन्तरालम् ।
प्रत्यागतं भानुमिव प्रणन्तुं तमर्घहस्ता जनता निरीयुः ॥६९॥

संस्पृश्येति । पूर्वं प्रथमम् । करेण सिद्धायेन, पक्षे हस्तेन । परितः सर्वतः । संस्पृश्य स्पर्शनं कृत्वा । पुनः पश्चात् । तेन भूपेन । समानाम् अभिमानसहितां, पक्षे समरूपाम् । रतिं सुरतं प्रीतिं च । नीता यापिता [प्रापिता] । अम्भोनिधिवारिवस्त्रा अम्भोनिधेः समुद्रस्य वार्येव सलिलमेव वस्त्रं वसनं यस्याः सा । सकला सर्वा । धरित्री भूमिः । वधूरिव स्त्रीव । वश्या वशं गता । 'वश्यपथ्य—' इत्यादिना साधुः । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । श्लेषोपमा ॥६७॥ इतीति । चतुर्वारिधिवारिसीमां चतुर्णां वारिधीनां वार्येव सीमा यस्यास्ताम् । अखिलभूतधात्रीम् अखिलानां सकलानां भूतानां प्राणिनां धात्रीवोपमातेव [3]प्रवर्तमानाम् (प्रवर्तमाना ताम्) । धात्रीं भूमिम् । इति उक्तप्रकारेण । प्रसाध्य साधयित्वा । बन्दिवृन्दैः स्तुतिपाठकसमूहैः । अभिवन्द्यमानः स्तूयमानः । श्रीमान् सम्पत्तिमान् । सः श्रीवर्मभूपः । पुनः पश्चात् । श्रीपुरं श्रियोपलक्षितं पुरं—श्रीपुराख्यं पुरम् । आससाद आजगाम । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु लिट् । रूपकम् ॥६८॥ नवेति । नवोदयं नवो नूतन उदय ऐश्वर्यं, पक्षे उत्पत्तिर्यस्य तम् । प्रस्फुरितप्रतापं प्रस्फुरितः प्रज्वलितः प्रतापः प्रभावः, पक्षे प्रतापस्तेजो यस्य तम् । प्रसादिताशेषदिगन्तरालं प्रसादितानां प्रसन्नीकृतानामशेषाणां दिशामाशानामन्तरालं यस्य तम् । प्रत्यागतं पुनरागतम् । भानुमिव सूर्यमिव । तं श्रीवर्माणम् । प्रणन्तुं नमस्करणाय । [5]अर्घहस्ताः अर्चनायोग्यद्रव्ययुक्ताः । जनताः जनानां समूहा जनताः । 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्' । निरीयुः

अनुकूल होनेपर कौन अनुकूल नहीं होता ? ॥६६॥ जिस प्रकार चतुर पति अपनी नववधूका—जो समुद्रके समान बड़े लहँगे आदि कपड़े पहनकर लज्जाके कारण एक ओर सिमटी बैठी है—अपने कोमल हाथसे चारों ओर स्पर्श करता है, और फिर उसके मनमें अपने ही समान रतिकी वासनाको उद्बुद्ध करके अपने वशमें कर लेता है । इसी प्रकार श्रीवर्माने समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वीको अपना बनाकर उससे टैक्स वसूल किया फिर सुन्दर व्यवस्थासे उसको अपने समान सुखी बनाकर वशमें कर लिया ॥६७॥ इस प्रकार चार समुद्रों तक सीमित समस्त पृथ्वीको—जो समस्त प्राणियोंकी उपमाता है—जीतकर श्रीमान् श्रीवर्मा श्रीपुर लौट आया । लौटते समय रास्तेमें स्तुतिपाठकोंके वर्गने उसका पुनः अभिवन्दन किया ॥६८॥ जिस प्रकार प्रातःकाल उदित होनेवाले, अपने प्रतापको चारों ओर फैलानेवाले और सभीको प्रसन्न करनेवाले नवीन सूर्यको प्रणाम करनेके लिए लोग अपने-अपने हाथोंमें अर्घ-सामग्री लेकर घरसे निकलते हैं । इसी प्रकार जब दिग्विजयसे श्रीवर्मा लौटा तो उसका ऐश्वर्य बिलकुल नवीन हो गया; उसका प्रताप सभी ओर फैल गया और उसने सभी दिशाओंके निवासी शिष्ट पुरुषोंको प्रसन्न कर दिया । उसके आनेके समाचार सुनते ही श्रीपुरके रहनेवाले सभी लोग उसे प्रणाम करनेके

१. अ आ इ क ख ग घ म प्रसाधिता । २. श स याता । ३. श स प्रवर्त्य° । ४. = प्रसादितं प्रसन्नीकृतं दिशामाशानामन्तरालं मध्यभागो येन तम् । ५. आ अर्घ्य° ।

मनोहरैः संहतकच्छवाटैर्बहिर्भुवां श्यामरुचः प्रदेशान् ।
विलोकयन्राजगजाधिरूढः स गोपुरस्याभिमुखो बभूव ॥७०॥
भरक्षमक्ष्मारुहमूलबद्धस्कन्धान्मदान्धानलिशोभिकुम्भान् ।
व्यलोकतासौ धुनतः शिरोधीन्कृतप्रणामानिव वारणेन्द्रान् ॥७१॥
कलं नदन्ती परिखातटेषु निषेदुषी शङ्खसिता समन्तात् ।
हंसावलिस्तस्य जहार चित्तं सहैव[1] गत्या गमनोत्सुकस्य ॥७२॥
स खातिकायाः पयसो विनिर्यत्कुतूहलेनेव विलोकनस्य ।
ददर्श पाठीनकुलं समन्तात्सरोजजैः पिञ्जरितं रजोभिः ॥७३॥

निर्जग्मुः । इण् गतौ लिट् । श्लेषोपमा ॥६९॥ मनोहरैरिति । बहिर्भुवां [2]बाह्यभूमीनाम् । मनोहरैः सुन्दरैः । संहतकच्छवाटैः संहतैः कच्छवाटैः शाकवाटैः । श्यामरुचः श्यामा हरिद् रुक्कान्तिर्येषां तान् । प्रदेशान् । विलोकयन् पश्यन् । राजगजाधिरूढः राजगजं गन्धहस्तिनमारूढः । सः श्रीवर्मभूपः । गोपुरस्य बहिर्द्वारस्य । अभिमुखः संमुखः । बभूव भवतिस्म । भू सत्तायां लिट् । सामान्यालङ्कारः । ७०॥ भरेति । भरक्षमक्ष्मारुहमूलबद्धस्कन्धान् भरस्य भारस्य क्षमस्य[3] क्ष्मारुहाणां मूलेषु बुध्नेषु बद्धाः स्कन्धा येषां तान् । मदान्धान् मदेनान्धान् । अलिशोभिकुम्भान् अलिभिर्भ्रमरैः शोभिनो मनोहराः कुम्भा येषां तान् । शिरोधीन् कन्धरान् (?) । 'शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । धुनतः कम्पमानान् (कम्पयमानान्) कृतप्रणामानिव कृतनमस्कारानिव । वारणेन्द्रान् गजेन्द्रान्[4] । असौ भूपः । व्यलोकत अपश्यत् । लोकृञ् दर्शने लङ् ॥७१॥ कलमिति । परिखातटेषु खातिकातीरेषु । समन्तात् सर्वतः । निषेदुषी स्थितवती । कलं मनोहरम् । नदन्ती ध्वनन्ती । शतृ–प्रत्ययः । शङ्खसिता शङ्ख इव सिता शुभ्रा । हंसावलिः हंसानां हंसपक्षिणामावलिः[5] समूहः । आगमनोत्सुकस्य आगमने उत्सुकस्तथोक्तस्तस्य तस्य श्रीवर्मभूपस्य । गत्या गमनेन । सहैव[6] चित्तं मानसम् । जहार हरति स्म । उपमा [सहोक्तिः] ॥७२॥ स इति । सः श्रीवर्मभूपः । विलोकनस्य दर्शनस्य । कुतूहलेनेव कौतुकेनेव । खातिकायाः परिखायाः । पयसः जलात् । विनिर्यत् विनिर्गच्छत् । सरोजे कमले जायन्त इति सरोजजानि तैः । रजोभिः धूलिभिः । समन्तात् परितः । पिञ्जरितं सुवर्णवर्णम् । पाठीनकुलं पाठीनानां मीनानां कुलं समूहम् । 'मीन पाठीन एव च' इत्यभिधानात् । ददर्श व्यलोकत[7] । दृशृ प्रेक्षणे लिट् । उपमा [उत्प्रेक्षा]

लिए अपने-अपने हाथोंमें अर्घ-सामग्री लेकर घरोंसे निकल पड़े ॥६९॥ श्रीपुरके बाहर पास-पासमें अनेक कछवाड़े थे । उनमें शाक-भाजी लगी हुई थी । उनके कारण सभी ओरकी भूमि हरी-भरी दृष्टिगोचर हो रही थी । श्रीवर्मा गजराजपर आरूढ होकर उसे देखते हुए पुरद्वारकी ओर चले जा रहे थे ॥७०॥ कुछ आगे जाकर श्रीवर्माने उन हाथियोंको देखा, जिनके गलेकी सांकलें बहुत मजबूत पेड़ोंके तनोंसे बँधी हुई थीं; जो मदान्ध थे; जिनके गण्डस्थलोंपर भौंरे बैठे हुए थे और जो गर्दन हिला रहे थे । उन्हें देखकर श्रीवर्माको लगा कि वे उसे नमस्कार कर रहे हैं ॥७१॥ इनके बाद श्रीवर्माने खाईके किनारोंपर मनोहर शब्द करनेवाली, सभी ओर बैठी हुई, शङ्खकी भाँति सफेद हंस-पंक्ति देखी । वह आगे जानेको उत्सुक था, किन्तु उसके मन और गमन दोनोंको एक ही साथ उस (हंस-पंक्ति) ने हर लिया ॥७२॥ उस समय श्रीवर्माने पद्म-परागसे रंगकर सुनहले रंगका प्रतीत होने वाला एक मछलियोंका झुण्ड देखा । वह खाईके जलको सतहसे कुछ ऊपर उछल रहा था । अतः ऐसा प्रतीत

---

१. अ सदैव । २. श स बाह्यभुवाम् । ३. = भरे भारवहने क्षमाणां । ४. आ प्रतौ केवलं, 'गजेन्द्रान्' इति समुपलभ्यते । ५. = पंक्तिः । ६. साकमेव । ७. श स व्यलोकयत ।

गवाक्षनिक्षिप्तमुखारविन्दाः पौराङ्गनास्तं नयनाभिरामम् ।
संभूय नेत्राञ्जलिभिः पिबन्त्यो न सस्मरुः स्वं श्लथनीविबन्धम् ॥७४॥

समधिकनवयौवनोदयश्रीर्विदधदधः शशिनं शरीरकान्त्या ।
स नृपतिरविशत्पुरं पुरान्तर्गतवनिताहृदयं च पञ्चबाणः ॥७५॥

सह शशिसमकान्त्या शीलसौभाग्यवत्या
[1]विधृतविमलमूर्त्या कामशक्त्येव देव्या ।
रतिसुखमसमानं मानयन्स्वैर्विलासै-
रकृत निकृतशत्रुस्तत्र राज्यं स भूपः ॥७६॥

॥७३॥ गवाक्षेति । गवाक्षनिक्षिप्तमुखारविन्दाः गवाक्षेषु वातायनेषु निक्षिप्तानि मुख्यान्येव वदनान्येवारविन्दानि यासां ताः । पौराङ्गनाः[2] पुरे विद्यमाना अङ्गनाः तथोक्ताः । संभूय संमिलित्वा[3] । नयनाभिरामं नयनानां लोचनानामभिरामं मनोहरम् । तं भूपम् । नेत्राञ्जलिभिः । नेत्राण्येव नयनान्येवाञ्जलयस्तैः । पिबन्त्यः पानं कुर्वन्त्यः । स्वं स्वकीयम् । श्लथनीविबन्धं श्लथं विश्लिष्टं[4] नीविबन्धम् (वस्त्रग्रन्थिम्) । न सस्मरुः न स्मरन्तिस्म । ध्यै स्मृचिन्तायां लिट् । रूपकम् ॥७४॥ समेति । समधिकनवयौवनोदयश्रीः समधिका नवस्य यौवनस्योदयस्य[5] श्रीः शोभा यस्य सः । शरीरकान्त्या गात्रस्य शोभया । शशिनं चन्द्रम् । अधः तिरस्कारं विदधत् कुर्वन् (अधोविदधत् तिरस्कुर्वन्) । सः नृपतिः श्रीवर्मभूपः । पुरं श्रीपुरम् । पञ्चबाणः काम इव । पुरान्तर्गतवनिताहृदयं च पुरस्य पत्तनस्यान्तर्गतानां वनितानां कान्तानां हृदयं मानसं च । अविशत् प्राविशत्[6] । विश् प्रवेशने लङ् । उपमा तुल्ययोगिता ॥७५॥ सहेति । शशिसमकान्त्या शशिनश्चन्द्रस्य समा समाना कान्तिः शोभा[7] यस्यास्तया । शीलसौभाग्यवत्या शीलसौभाग्याभ्यां युक्तया । विधृतविमलमूर्त्या विधृता भृता विमला निर्मला मूर्तिर्यस्याः (यया) तया । कामशक्त्येव मन्मथशक्त्येव । देव्या महिष्या प्रभावतीनामधेयया । असमानं समान [ता] रहितम्[8] । रतिसुखं कामसुखम् । स्वैः स्वकीयैः । विलासैः विनोदैः । मानयन् अनुभवन् । निकृतशत्रुः निकृता निराकृताः शत्रवो येन सः । स भूपः श्रीवर्मनृपतिः

हो रहा था, मानो वह भी उस (श्रीवर्मा) को देखनेके लिए उत्कण्ठित हो ॥७३॥ श्रीवर्मा इसके पश्चात् कुछ और आगे बढ़ा । उसे देखनेके लिए श्रीपुरकी स्त्रियाँ सम्मिलित होकर अपने-अपने मकानोंकी खिड़कियोंमें अपने-अपने मुख कमलोंको लगाकर खड़ी हो गयीं । वे अपनी-अपनी नेत्र रूपी अंजलियोंसे अत्यन्त सुन्दर उस (श्रीवर्मा) को पीने (प्रेम पूर्वक देखने) में इतनी तल्लीन हो गयीं कि उन्हें अपने ढीले नाड़े या धोतीकी गाँठको बाँधनेका कोई खयाल ही नहीं रहा ॥७४॥ श्रीवर्माके ऊपर नवयौवनकी पूर्ण सुषमा व्याप्त थी । उसने अपने शरीरकी कान्तिसे चन्द्रमाको तिरस्कृत कर दिया था । उसने ज्यों ही श्रीपुरमें प्रवेश किया, त्यों ही कामदेवने वहाँकी स्त्रियोंके हृदयमें प्रवेश किया ॥७५॥ श्रीवर्मा अपने सभी शत्रुओंको जीत चुके थे । अतः निश्चिन्त होकर अपनी रानी प्रभावतीके साथ – जिसकी कान्ति चन्द्रमाके समान थी; जो शील और सौभाग्यसे सम्पन्न थी और जो कामदेव की निर्मल मूर्तिको धारण करके आयी हुई साक्षात् शक्ति थी – नाना विलासोंके साथ अनुपम सम्भोग-सुख भोगते हुए

१. अ विवृत° । २. आ श स पुराङ्गनाः । ३. श स संमेल्य । ४. आ विक्लिष्टं । ५. आ °दयश्रीः । ६. आ प्रविशति स्म । ७. आ श्रीवर्मशोभा । ८. = अनुपममित्यर्थः ।

दृष्ट्वा कदाचिदथ शारदमभ्रवृन्द-
मुत्पत्त्यनन्तरविनाशि विनाशितारिः ।
निर्वेदमाप सहसा स भवस्थितिज्ञः
सन्तः प्रयान्ति विषयेषु हि नातिसक्तिम् ॥७७॥
श्रीकान्ताय समर्प्य राज्यमखिलं नत्वा मुनिं श्रीप्रभं
प्रव्रज्य प्रशमानुरक्तहृदयस्तप्त्वा तपो दुश्चरम् ।
सौधर्मे परमोदयः प्रमुदितो द्व्यब्धिप्रमायुः स्थिति-
र्देवः श्रीधर इत्यभूत्स विबुधस्त्रीनेत्रनित्योत्सवः ॥७८॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये चतुर्थः सर्गः ॥४॥

तत्र श्रीपुरे, । राज्यम् अकृत अकुरुत । डुकृञ्[1] करणे लुङ् । उपमा ॥७६॥ दृष्ट्वेति । विनाशितारिः विनाशिता विहता अरयः शत्रवो येन सः । सः श्रीवर्मभूपः । अथ भोगानुभवानन्तरम् । कदाचित् एकदा । उत्पत्त्यनन्तर-विनाशि उत्पत्तेरनन्तरमुत्तरसमये विनाशि नाशि । शारदं शरत्कालसंबन्धम् । अभ्रवृन्दम् अभ्राणां मेघानां वृन्दं निवहम् । दृष्ट्वा[2] । भवस्थितिज्ञः भवस्य संसारस्य स्थितिज्ञः स्थितिं जानन् । सहसा शीघ्रेण (शीघ्रम्) । निर्वेदं विरागम् । आप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । तथा हि—सन्तः सत्पुरुषाः । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । अतिसक्तिम् अतिप्रीतिम् । न प्रयान्ति हि न गच्छन्ति हि । अर्थान्तरन्यासः ॥७७॥ श्रीति । सः श्रीवर्मभूपः । श्रीकान्ताय श्रीकान्ताभिधानसुताय । अखिलं निखिलम् । राज्यं समर्प्य दत्वा । श्रीप्रभं श्रीप्रभाख्यम् । मुनिं मुनीन्द्रम् । नत्वा नमस्कृत्य । प्रव्रज्य तपः स्वीकृत्य । प्रशमानुरक्तहृदयः सन् प्रशमेन रागद्वेषोपशमनेनानुरक्तं हृदयं यस्य सः । दुश्चरम् आचरितुमशक्यम् । तपः बाह्याभ्यन्तररूपम् । तप्त्वा । सौधर्मे प्रथमस्वर्गे । परमोदयप्र-मुदितः परमेणोत्कृष्टेनोदयेनैश्वर्येण प्रमुदितः संतुष्टः । द्व्यब्धिप्रमायुःस्थितिः द्वौ अब्धी प्रमाणं यस्याः सा चायुष्यस्य [चायुषः] स्थितिर्यस्य सः । विबुधस्त्रीनेत्रनित्योत्सवः विबुधस्त्रीणां देवस्त्रीणां नेत्राणां नयनानां नित्योत्सवः । श्रीधर इति देवः सुरः । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥७८॥

इति वीरनन्दिकृताबुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये चतुर्थः सर्गः ॥४॥

राज्य करने लगे ॥७६॥ इसके पश्चात् शत्रु-विजेता श्रीवर्माने किसी समय शरत्कालीन मेघ देखा, जो उत्पन्न होते ही नष्ट हो गया । उसके देखते ही उसने संसारकी स्थिति जान ली कि संसार शरत्कालीन मेघके समान क्षणभंगुर है । फलतः उसे वैराग्य हो गया । सच है अच्छे मनुष्य पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें अधिक आसक्त नहीं होते ॥७७॥ इसके पश्चात् उसने अपना सारा राज्य अपने पुत्र श्रीकान्तको सौंप दिया और श्रीप्रभ नामके मुनिराजको नमस्कारकर उनसे जिन दीक्षा ले ली । दीक्षा लेनेके बाद उसका मन केवल राग-द्वेष आदिको शान्त करनेमें लग गया । रागादिको जीतकर उसने घोर तपश्चरण किया । फलतः वह सौधर्म स्वर्गमें श्रीधर नामका देव हुआ । वहाँ उसका ऐश्वर्य अन्य देवोंसे कहीं अच्छा था । उसकी आयु दो सागर प्रमाण थी । देवांगनाएँ उसकी सेवामें उपस्थित रहती थीं । उसे देखकर देवांगनाओंके नेत्रोंको बड़ा आनन्द होता था । उनके साथ वह आनन्दसे रहने लगा ॥७८॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयांक चन्द्रप्रभ-
चरित महाकाव्यमें चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥

---

१. श स कृञ् । २. = अवलोक्य ।

पञ्चमः सर्गः

अथ धातकीत्युपपदेन युतामभिभूष्य[1] याम्यदिशि खण्डभुवम् ।
प्रविभासमानवपुरस्ति गुरुः सुरसेव्यसानुरिषुकारगिरिः[2] ॥१॥
अपि तस्य पूर्वभरते भरतप्रमुखक्षितीश्वरकृतावतरे ।
[3]कविवेधसां स्तुतिपथाविषयो विषयोऽलकेति दधदस्त्यभिधाम् ॥२॥
कमलानना मधुकरीनयना नवनालदण्डतनुबाहुलताः ।
हृदयंगमा वहति यः परितस्तरुणीरिव स्थलसरोरुहिणीः ॥३॥

स सर्वदैकान्तमतं विदूष्य स्याद्वादविद्यां प्रकटीप्रकुर्वन् ।
मिथ्यान्धकारं प्रहतं प्रवाण्या श्रीवासुपूज्यो जयतां सुमान्यः[4] ॥

अथेति । अथ देवस्योत्तरत्यनन्तरम् । धातकीत्युपपदेन धातकीति समोपपदेन । युतां युक्ताम् । खण्डभुवं खण्डस्य[5] भूमिम् । अभिभूष्य अलंकृत्य । याम्यदिशि याम्यायां दिशि दक्षिणायां दिशीत्यर्थः । प्रविभासमानवपुः प्रविभासमानं शोभमानं वपुः स्वरूपं यस्य सः । गुरुर्महान् । सुरसेव्यसानुः सुरैर्देवैः सेव्या आश्रयणीयाः सानवो यस्य सः । इषुकारगिरिः इष्वाकारपर्वतः । अस्ति वर्तते ॥१॥ अपीति । अपि पुनः । भरतप्रमुखक्षितीश्वरकृतावतरे भरतप्रमुखैर्भरतादिभिः क्षितीश्वरैः भूमिपालैः कृतो विहितोऽवतारो यस्मिन् सः, तस्मिन्卐 ।[6] तस्य धातकीखण्डस्य[7] । पूर्वभरते पूर्वस्मिन् भरते भरतक्षेत्रे । कविवेधसां कविमुख्यानाम् । स्तुतिकथाविषयः स्तुतेः स्तुतिरूपायाः कथाया वाण्या अविषयोऽगोचरः । अलकेति (अलका, इति) । अभिधाम् अभिधानम् । दधत् वहन्卐 । विषयः देशः । अस्ति वर्तते । अतिशयः ॥२॥ कमलेति । कमलाननाः कमलान्येव मुखं यासां ताः । रूपकम् । कमलानीव मुखं यासां ताः । उपमा । मधुकरीनयनाः मधुकर्येव नयने यासां ताः । रूपकम् । अथवा मधुकर्य इव नयने यासां ताः । उपमा । नवनालदण्डतनुबाहुलताः नवानां नूतनानां नालानां[8] दण्डा यष्टयः त एव[9] तन्वी कृशा बाहुलता यासां ताः । अथवा नवानां नालनां दण्डा इव तन्वी कृशा बाहुलता यासां ताः । उपमा । हृदयङ्गमाः मनोहराः । तरुणीरिव युवतीरिव । स्थलसरोरुहिणीः स्थले वर्तमानः सरो-

---

श्रीवर्माके स्वर्गवासके पश्चात् उससे सम्बन्ध रखनेवाली कहानी शुरू होती है । दूसरे द्वीपका नाम धातकीखण्ड है । उसकी दक्षिण दिशामें एक पहाड़ है, जो बाणके आकारका होनेसे 'इष्वाकार' या 'इषुकार' नामसे विख्यात है । उससे धातकीखण्डकी शोभा है । वह सभी ओरसे सुन्दर है । वह अन्य पहाड़ोंसे बड़ा है । इसीलिए उसके शिखरोंपर देव लोग विचरण करते हैं ॥१॥ उसके पूर्व-भरतमें जहाँ भरत आदि राजे-महराजे जन्म ले चुके हैं, एक 'अलका' नामका देश है । उसका वर्णन बड़े-बड़े कवि भी नहीं कर सके – वह अत्यन्त सुन्दर है ॥२॥ उस देशमें सभी ओरसे स्थल कमलिनी लगी हुई हैं, जो नवयुवतियोंके समान हैं । नव युवतियोंके मुख कमल सरीखे, नेत्र भँवरी जैसे और बाहु मृणाल जैसे होते हैं । स्थलकमलिनियोंमें कमल लगे हुए हैं, जो उनके मुख हैं; उनके ऊपर भँवरियाँ बैठी हैं, जो उनके नेत्र हैं और उनके मृणाल बिलकुल नवीन हैं, जो उनकी भुजाएँ हैं । दोनोंकी सुषमा बिलकुल

---

१. आ इ °भिभूत्य । २. अ °रिगिरिः । ३. अ कविवेशास्तुति° म °वेधसां स्तुति° । ४. आ प्रतौ पद्यमिदं नास्ति । ५. आ श स षण्डभुवं षण्डस्य । ६. आ प्रतौ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नावलोक्यते । ७. श स °षण्डस्य । ८. = नवा नूतना नालदण्डा मृणालयष्टयः । ९. श स इव ।

वितताखिलक्षितितलाः पृथवः शिखरावलीवलयलीढघनाः ।
समतां यदीयनिगमान्तगता धरणीधरैर्दधति धान्यचयाः ॥४॥
विमलाकृतीरपरिदृष्टतला विहितादरैरपि गभीरतया ।
प्रबिभर्ति यः सकललोकमता[1] महतां मतीरिव महासरसीः ॥५॥
जलदीर्घिका जनविगाह्यजलाः[2] सरितः शकुन्तरवरम्यतटाः ।
प्रविभाति यः परिदधत्परितः सरसीश्च पङ्कजवनाभरणाः ॥६॥
खरशीतमारुतरजोरहिते समयोचितोष्णहिमवर्षसुखे ।
निवसन्कदाचिदपि नाकुलतां सकलर्तुषु व्रजति यत्र जनः ॥७॥

रुहिण्यः पद्मिन्यः[3] ताः । वहति धरति । श्लेषोपमा ॥३॥ वितततेति । वितताखिलक्षितितलाः विततमखिलानां समस्तानां क्षितीनां तलं येषां (यैः) ते । पृथवः स्थूलाः । [4]शिखरावलीवलयलीढघनाः शिखराणां[5] शृङ्गाणामावल्याः समूहस्य वलयैः वृत्तैः लीढश्चुम्बितो घनो मेघो येषां (यैः) ते । यदीयनिगमान्तगताः यदीयानां निगमानां ग्रामाणामन्तं समीपं गताः । धान्यचयाः धान्यसमूहाः । धरणीधरैः पर्वतैः । समतां सादृश्यम् । दधति धरन्ति । उपमा ॥४॥ विमलेति । विमलाकृतीः विमला आकृतिर्यासां ताः । गभीरतया गम्भीरत्वेन । विहितादरैरपि कृतप्रीतिभिरपि, गम्भीरत्वं द्रष्टुं प्रीतैरपीत्यर्थः । अपरिदृष्टतलाः अपरिदृष्टमपरिलोकितं तलं यासां ताः । सकललोकमताः सकलैः निखिलैर्लोकैर्जनैः [मताः] संमताः । महतां सत्पुरुषाणाम् । मतीरिव बुद्धीरिव । महासरसीः महतीः सरसीः । यः देशः । बिभर्ति धरति । उपमा ॥५॥ जलेति । जनविगाह्यजलाः जनैर्विगाह्यं प्रवेशयोग्यं जलं यासां ताः । जलदीर्घिकाः क्रीडासरोवरान् । शकुन्तरवरम्यतटाः शकुन्तानां पक्षिणां रवैर्ध्वनिभी रम्यं तटं यासां ताः । सरितः नदीः । पङ्कजवनाभरणाः पङ्कजानां पद्मानां वनमेव षण्डमेवाभरणं यासां ताः । सरसीश्च सरांसि च । परितः समन्तात् । परिदधत् बिभ्रत् । यः अलकादेशः प्रविभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । रूपकम् ॥६॥ खरेति । खरशीतमारुतरजोरहिते खरेण तीक्ष्णेन शीतेन शैत्येन (शीतलेन) मारुतेन वायुना रजसा रेणुना च रहिते व्यपगते । समयोचितोष्णहिमवर्षसुखे समयस्य कालस्योचितेन योग्येनोष्णेन हिमेन वर्षेण वृष्टिना (वृष्ट्या) । सुखे सुखभूते । यत्र देशे । निवसन् तिष्ठन् । जनः प्रजा । कदाचिदपि एकदापि (कर्हिचिदपि) । सकलर्तुषु सकलेषु ऋतुषु । आकुलतां

एक सरीखी है ॥३॥ उस देशके आस-पासमें बहुतसे गाँव हैं। उनके बाहर खलिहानोंमें अनाजके ढेर लगे हुए हैं, जो पहाड़ों सरीखे हैं – पहाड़ोंकी तरह वे सारे भूतलमें फैले हुए हैं, बड़े हैं और अपने शिखरोंसे मेघोंको छू रहे हैं ॥४॥ वहाँ बड़े-बड़े सरोवर हैं। वे महान् पुरुषोंकी बुद्धिके समान निर्मल हैं और गंभीरता (गहराई) के कारण, आदर करनेवाले भी उनकी थाह नहीं ले पाते। अतएव वे सर्वमान्य हैं। निर्मलता, अगाधता और लोकमान्यताके कारण महान् पुरुषोंकी बुद्धि और सरोवरोंमें अद्भुत साम्य है ॥५॥ वहाँ जलसे लबालब भरी हुई दीर्घिकाएँ (हौज) हैं, जिनका जल स्नान करने योग्य है। वहाँ अनेक नदियाँ हैं, जिनके तट पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे मनको लुभानेवाले हैं। वहाँ बहुतसे सरोवर हैं, जिनमें कमल लहलहा रहे हैं। इन दीर्घिकाओं, नदियों और सरोवरोंसे उस देशकी शोभामें चार चाँद लग गये हैं ॥६॥ वहाँ तेज लू, शीतलहरी और आँधी नहीं चलती। ऋतुओं (ग्रीष्म, शीत और वर्षा) के आनेपर उनके अनुकूल गर्मी सर्दी और बरसात होती है। फलतः वहाँके निवासी किसी भी

---

१. म °हता । २. अ जलवि° । ३. आ प्रतावेव 'पद्मिन्यः' इति समुपलभ्यते । ४. श स शेखरा° । ५. श स शेखरा । ६. आ श स °कृतिः ।

सिकतास्थलोज्ज्वलबृहज्जघना भ्रमनाभिकारुचिरमध्यभुवः ।
सुपयोधरा वहति योऽङ्कगता निजवल्लभा इव महासरितः ॥८॥

न नवं वयो व्यसनवर्गहतं न जरा मतिस्मृतिविमोहहता ।
न हता गुणा मलिनदोषगणैर्न च यत्र मृत्युरपमृत्युहतः ॥९॥

निरवग्रहैर्नवनवैः परितः परिपूर्णया विविधसस्यचयैः ।
प्रतनोति योऽखिलजनस्य भुवा नयनोत्सवं सुरकुरूपमया ॥१०॥

व्याकुलत्वम् । न व्रजति न गच्छति । व्रज गतौ लट्[1] ॥७॥ सिकेति । सिकतास्थलोज्ज्वलबृहज्जघनाः सिकतानां स्थलानि प्रदेशास्तान्येवोज्ज्वले मनोहरे बृहती जघने यासां ताः, पक्षे सिकतास्थलमिवोज्ज्वले बृहती जघने यासां ताः । उपमा । भ्रमनाभिकाः भ्रमा आवर्ता एव नाभि र्यासां ताः । रूपकम् । पक्षे भ्रमा इव नाभि र्यासां ताः । रुचिरमध्यभुवः रुचिरा मनोहरा मध्यस्य भूः प्रदेशो यासां ताः । सुपयोधराः सु शोभनं पयो जलं धरन्तीति सुपयोधराः, पक्षे सु शोभनौ पयोधरौ यासां ताः । अङ्कगताः अङ्कमग्रभागं गताः, पक्षेऽङ्कमूरुप्रदेशं गताः । निजवल्लभा इव निजस्य स्वस्य वल्लभा वनिताः [ता] इव । महासरितः महातरङ्गिणीः । यः देशः । वहति धरति । वह प्रापणे लट् । श्लेषोपमा ॥ ८ ॥ नेति । यत्र देशे । नवं नूतनम् । वयः यौवनादि । व्यसनवर्गहतं व्यसनानां द्यूतादीनां वर्गेण समूहेन हतं बाधितम् । न भवति । जरा वार्धक्यम् । मतिस्मृतिविमोहहता मते रागामिगोचरायाः स्मृतेरतीतविषयरूपायाः विमोहेन वैपरीत्येन हता । न भवति । गुणाः । मलिनदोषगणैः मलिनै र्मलीमसै र्दोषाणां गणै र्निवहैः । हता बाधिताः । न भवन्ति । मृत्युः मरणम् । अपमृत्युहतः अपमृत्युना कदलीघातादिना हतो बाधितः । न भवति । परिसंख्या ॥९॥ निरेति । यः देशः निरवग्रहैः अवग्रहान्निर्गतै निरवग्रहैरप्रतिघातैरित्यर्थः[2] । नवनवैः नूतनैर्नूतनैः । वीप्सायां द्विः । विविधसस्यचयैः विविधानां नानाप्रकाराणां सस्यानां चयैः । परितः समन्तात् । परिपूर्णया संपूर्णया । सुरकुरूपमया सुरकुरोर्देवकुरोरुपमया समानया[3] । भुवा भूम्या । अखिलजनस्य सकलजनस्य । नयनोत्सवं नेत्रसंतोषम् । प्रतनोति

ऋतु (मौसम) में व्याकुल नहीं होते ॥७॥ उस देशके बीचों-बीच जो नदियाँ बहती हैं, वे उसकी गोदमें बैठी हुई पत्नीके समान जान पड़ती हैं । पत्नीका जघन-भाग, रेतीले स्थल-टापूके समान उज्ज्वल और विशाल होता है; भँवर सरीखी नाभिसे उसका मध्यभाग विभूषित होता है और उसके सुन्दर स्तन होते हैं । इसी तरह वे नदियाँ रेतीले स्थल रूपी उज्ज्वल विशाल जघनोंसे विभूषित हैं, उनके मध्यभाग भँवररूपी नाभिसे अलंकृत हैं और उनका जल मधुर है ॥८॥ वहाँके निवासियोंका नव यौवन जुआ आदि बुरी आदतोंमें फँसकर बरबाद नहीं होता; बुढ़ापेमें भी उनकी बुद्धि और स्मृति ठीक बनी रहती है – वे सठया नहीं जाते; उनके निर्मल गुण, दोषोंसे मलिन नहीं होते । फलतः उनकी मृत्यु आयु समाप्त होनेपर ही होती है । विष आदिके द्वारा किसीकी अपमृत्यु (अकाल मरण) नहीं होती ॥९॥ उस देशकी भूमि सभी ओरसे नये-नये नाना प्रकारके अनाजसे परिपूर्ण रहनेसे देवकुरु (उत्तम भोगभूमि) सरीखी है । अनाजकी उपज, कभी सूखा (अवर्षण) आदिसे नष्ट नहीं होती । इसीलिए वह देश सभीके

---

१. आ श स लिट् । २. =वृष्टिप्रतिबन्धरहितैरिति यावत् । ३. =सुरकुरोर्देवकुरोरुपमा साम्यं यस्याः सा, तया ।

तरुराजयः सकुसुमाः कुसुमं फलवत्फलं मधुरतानुगतम् ।
नहि तत्र किंचिदपि वस्तु न यज्जनतामुदं प्रविदधात्यथवा ॥११॥
अथ कोशलेति भुवनत्रितये[1]प्रथितास्ति तत्र विषये नगरी ।
अलकेव भूरिविभवानुगतैः परिवारिता[2] प्रचुरपुण्यजनैः ॥१२॥
[3]तनुकुक्षयोऽप्यतनुधारमपो विसृजन्ति यत्र शरदागमने ।
अतितुङ्गसौधशिखरावततिप्रविदारितोदरभुवोऽम्बुधराः ॥१३॥
मणिदीपकप्रकटनिर्वृतये क्षिपती शिखासु निजमाल्यरजः ।
दयितेन यत्र नवमुग्धवधूरपहस्यते[4] नतमुखी त्रपया ॥१४॥

विदधाति । तनूञ् विस्तारे लट् । उपमा ॥१०॥ तरुराजय इति । तत्र देशे । तरुराजयः तरूणां वृक्षाणां राजयः श्रेणयः । सकुसुमाः[5] कुसुमसहिताः । कुसुमं पुष्पम् । फलवत् फलयुक्तम् । फलं मधुरतां मधुरत्वम् । अनुगतं स्वीकृतम् (प्राप्तम्) । यत् वस्तु । जनतामुदं जनतायाः जनसमूहस्य मुदं संतोषम् । न प्रविदधाति[6] न करोति । अथवा तद्वस्तु किञ्चिदपि नहि नास्ति । तस्मिन् देशे सर्वं वस्तु सर्वजनानां संतोषप्रदमेव, प्रमोदप्रद (स्व) रहितं नास्तीत्यभिप्रायः । एकावलिः ॥११॥ अथेति । अथ अनन्तरम् तत्र विषये अलका-विषये । भूरिविभवानुगतैः भूरि बहुलंविभवमैश्वर्यमनुगतैः । प्रचुरपुण्यजनैः प्रचुरैर्बहुभिः पुण्यजनैर्यक्षैश्च पुण्योपलक्षितजनैश्च । परिवारिता संकीर्णा । अलकेव कुबेरपुरमिव । कोशलेति[7] । भुवनत्रितयप्रथिता भुवनानां लोकानां त्रितयं तस्मिन् प्रथिता प्रसिद्धा । नगरी पुरी । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । श्लेषोपमा ॥१२॥ तन्विति । यत्र कोशलायाम् । शरदागमने शरदः शरत्कालस्यागमने । अतितुङ्गसौधशिखरावततिप्रवि-दारितोदरभुवः[8] अतितुङ्गानामत्युन्नतानां सौधानां हर्म्याणां शिखराणां शृङ्गाणामवततया समूहेन प्रविदारिता विभिन्ना भूःप्रदेशो[9] येषां ते । अम्बुधराः मेघाः । तनुकुक्षयः तनुः कृशः कुक्षिर्येषां ते । अतनुधारम् अतन्वी महती धारा प्रवाहो यथा तथा । अपः जलानि । विसृजन्ति वर्षन्ति । सृज विसर्जने लट् । अतिशयः ॥१३॥ मणीति । यत्र कोशलायाम् । मणिदीपकप्रकरनिर्वृतये मणीनां रत्नानां दीपकानां[10] प्रकरं निवहं[11] निर्वृतये विनाशाय । शिखासु ज्वालासु । निजमाल्यरजः निजायाः[12] स्वकीयाया माल्यस्य रजो रेणुम् । क्षिपती निक्षि-

नेत्रोंको आनन्द देने वाला है ॥१०॥ वहाँ बाग-बगीचे बहुत हैं । उनमें पंक्तिके अनुसार वृक्ष लगाये गये हैं । उनमें फूल लगे हुए हैं, फूलोंमें फल लगे हुए हैं और फलोंमें मधुरता भरी हुई है । वहाँ ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो जनताको आनन्दजनक न हो ॥११॥ यहाँ तक 'अलका' देशका वर्णन हुआ, अब यहाँसे उसकी 'कोशला' नगरीका वर्णन प्रारम्भ होता है । उस देशमें कोशला नामकी एक नगरी है । उसका नाम तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है । वह कुबेरकी अलका पुरीके समान है । जिस प्रकार अलका पुरीमें वैभवशाली पुण्यजन-यक्ष निवास करते हैं, उसी प्रकार कोशला नगरीमें वैभवशाली पुण्यजन-सज्जन निवास करते हैं ॥१२॥ बरसातमें मेघ सजल होनेसे तुन्दिल हो जाते हैं और शरद् ऋतुमें निर्जल होनेसे वे तुन्दिल नहीं रहते, किन्तु उस नगरीके महलोंके शिखरोंसे आहत होकर वे शरद् ऋतुमें क्षीणकोष होकर भी अपने मध्यभागसे मूसलाधार जल बरसा देते हैं ॥१३॥ वहाँ प्रथम मिलनकी वेलामें भोली-भाली नव-वधुएँ मणि-दीपोंको बुझानेके लिए उनके ऊपर अपनी मालासे पराग निकालकर फेंक देती

१. अ आ इ °त्रितये । २. अ परितश्चरत्प्रचु° । ३. अ स्वतनुक्षये । ४. इ क ख ग घ म °रवहस्यते । ५. आ सुकुसु° । ६. आ श स न विदधाति । ७. = 'कोशला' इति नामवती । ८. श स °धरभुवः । ९. = उदरभू मध्यप्रदेशः । १०. = मणिदीपकानाम् । ११. = प्रकरो निवहः, तस्य । १२. = निजमा-ल्यस्य स्वमालाया रजो रेणुम् ।

विविधासु धन्यजनहर्म्यततेर्मणिभूमिषु प्रतिमया निपतन् ।
निशि यत्र कुन्दसदृशः कुसुमप्रकरायते ग्रहगणो निखिलः ॥१५॥
असतीजनं जिगमिषुं बहुलक्षणदामुखेषु दयितावसथम् ।
निज एव विघ्नयति यत्र मुहुर्मुखचन्द्रमाः स्मितविभिन्नतमाः ॥१६॥
रजनीषु यत्र गुरुहर्म्यशिखागतनीलरत्नरुचिविच्छुरितः ।
हिमदीधितिर्भवति कृष्णवपुः पुरयोषितामिव मुखैर्विजितः ॥१७॥
शिखराणि यत्र परिधेः परितः परिवारितानि शरदभ्रलवैः ।
रविवाजिनामिव विलङ्घयतां श्रमजैर्विभान्ति मुखफेनचयैः ॥१८॥

पती[1]। त्रपया लज्जया। नतमुखो विनताननाः। नवमुग्धवधूः नवा नूतना मुग्धा अप्रौढा वधूः वनिता। दयितेन पुरुषेण। अपहस्यते परिहास्यते। हसे हसने कर्मणि लट् ॥१४॥ विविधेति। यत्र पुर्याम्। धन्यजनहर्म्यततेः धन्यानां पुण्यवतां जनानां हर्म्याणां सौधानां ततेः पंक्तेः। विविधासु नानाविधासु। मणिभूमिषु रत्नभूमिषु। निशि निशायाम्। 'पद्दन्—' इत्यादिना निशाशब्दस्य निश् इत्यादेशः। प्रतिमया प्रतिबिम्बेन। निपतन् संक्रममाणः। कुन्दसदृशः कुन्दस्य सदृशः। निखिलः सकलः। ग्रहगणः ग्रहाणां नक्षत्राणां गणः समूहः। कुसुमप्रकरायते कुसुमप्रकर इवाचरतीति कुसुमप्रकरायते। उपमा ॥१५॥ असतीति। यत्र पुर्याम्। बहुलक्षणदामुखेषु बहुलस्य कृष्णपक्षस्य क्षणदानां रात्रीणां मुखेषु प्रारम्भेषु। दयितावसथं दयितस्योपपतेरावसथमावासम्। जिगमिषुं गन्तुमिच्छुम्। असतीजनम् असत्येव (असतीनां) जनस्तम्—जारस्त्रीजनम्। स्मितविभिन्नतमाः स्मितेनेषद्धसनेन विभिन्नं निराकृतं तमो यस्य (येन) सः। निज एव स्वकीय एव। मुखचन्द्रमाः मुखमेव चन्द्रमाश्चन्द्रः। मुहुः पश्चात्। विघ्नयति प्रत्यूहं करोति। विघ्न इति सुब्धातोः 'णिजबहुलं कृञादिषु' इति णिच् ॥१६॥ रजनीष्विति[2]। यत्र पुर्याम्। रजनीषु रात्रिषु। गुरुहर्म्यशिखागतनीलरत्नरुचिविच्छुरितः गुरूणां महतां हर्म्याणां सौधानां शिखाः शिखराणि गतानां नीलरत्नानां रुचिभिः कान्तिभिर्विच्छुरितो मिश्रितः। हिमदीधितिः चन्द्रः। सामान्यालङ्कारः (तद्गुणालङ्कारः) पुरयोषितां पुरस्त्रीणाम्। मुखैः वदनैः। विजित इव निराकृत इव। कृष्णवपुः कृष्णशरीरः। भवति। उपमा [उत्प्रेक्षा] ॥१७॥ शिखरेति। यत्र पुर्याम्। शरदभ्रलवैः शरदः शरत्कालस्याभ्रस्य मेघस्य लवैः खण्डैः। परितः सर्वतः। परिवारितानि व्याप्तानि। परिधेः सालस्य। शिखराणि शृङ्गाणि। विलङ्घयतां लङ्घनं कुर्वताम्। रविवाजिनां सूर्यतुरङ्गाणाम्। श्रमजैः आयासजनितैः।

हैं। यह देखकर उनके पति हँसने लगते हैं और वे लज्जित होकर अपना सिर नीचेकी ओर झुका लेती हैं ॥१४॥ वहाँ धनिक लोगोंके महलोंमें जो फर्श हैं, उनमें मणि जड़े हुए हैं। रात्रिके समय उनमें ग्रह-नक्षत्र आदि जो दूरसे कुन्द-पुष्प सरीखे जान पड़ते हैं – प्रतिबिम्बित होकर पुष्प-पुञ्ज सरीखे प्रतीत होते हैं ॥१५॥ वहाँ जो अभिसारिकाएँ कृष्ण पक्षकी रात्रिके प्रारम्भमें अपने उपपतियों (यारों) के घर जाना चाहती हैं, उन्हें उन्हींका मुख-चन्द्र अपनी मुस-कानकी चाँदनीसे अन्धकार मिटाकर विघ्न डाल देता है ॥१६॥ वहाँके महलोंके ऊपरी भागोंमें नीलरत्न जड़े हुए हैं। रात्रिके समय उनकी प्रभासे चन्द्रमा काला पड़ जाता है। मानो उस नगरीकी स्त्रियोंके मुखसे पराजित हो जानेसे वह ऐसा (काला) हो गया है ॥१७॥ उस नगरीकी चहार दीवारीपर जब चारों ओरसे शरत्कालीन मेघोंके छोटे-छोटे टुकड़े छा जाते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है मानो उस (चहार दीवारी) को लाँघनेवाले सूर्यके घोड़ोंके मुखसे

१. = पातयन्ती। २. श स अजनिष्टेति।

सति मानसेऽप्यकलुषाम्भसि यद्गृहदीर्घिकानिरतहंसकुलैः।
न विमुच्यते सततसंनिहितैरिव सुन्दरीगतिशिशिक्षिषया ॥१९॥
अतुलप्रतोलिशिखराग्रगतस्फटिकोपलांशुचयसंवलितः।
भजते सहस्रकिरणत्वमुडुप्रकरोऽपि यत्र रजनीसमये ॥२०॥
सुरसुन्दरीसमशरीरलताः प्रविधाय यत्र युवतीर्विधिना।
समपादि संकरभियेव भिदा सनिमेषलोचनयुगेन पुनः ॥२१॥
त्रिदशाधिवासजिति यत्र सदाप्यगुणः समस्ति परमेष महान्।
निपतन्मुखे कमलशङ्किमना यदुपद्रवत्यलिगणः सुमुखीः ॥२२॥

मुखफेनचयैः मुखस्य फेनानां चयैरिव। विभान्ति विरेजुः। भा दीप्तौ लट्। उत्प्रेक्षा ॥१८॥ सतीति। या पुरी। अकलुषाम्भसि अकलुषं निर्मलमम्भो यस्मिन् तस्मिन्। मानसे सरस्यपि[1] सुन्दरीगतिशिशिक्षिषयेव सुन्दरीणां नारीणां गतेर्गमनस्य शिशिक्षिषयेव अभ्यासेच्छयेव। सततसंनिहितैः सततमनवरतं संनिहितैः। गृहदीर्घिकानिरतहंसकुलैः गृहदीर्घिकासु क्रीडासरोवरेषु निरतैस्तत्परैः हंसानां मरालानां कुलैः समूहैः। न विमुच्यते न त्यज्यते। मुच्लृश्[2] मोक्षणे कर्मणि लट्। उत्प्रेक्षा ॥१९॥ अतुलेति। यत्र पुर्याम्। रजनीसमये रात्रिकाले। अतुलप्रतोलिशिखराग्रगतः अतुलायाः प्रमातीतायाः प्रतोल्या गोपुरस्य शिखराणामग्रं गतः। स्फटिकोपलांशुचयसंवलितः स्फटिकोपलानां स्फटिकपाषाणानामंशूनां किरणानां चयेन निवहेन संवलितो मिश्रितः। उडुप्रकरोऽपि उडूनां नक्षत्राणां प्रकरोऽपि समूहोऽपि। सहस्रकिरणत्वं प्रचुरकिरणत्वम्[3]। भजते सेवते। भज सेवायां लट्। सामान्यालङ्कारः ॥२०॥ सुरेति। यत्र पुर्याम्। विधिना कर्मरूपेण। सुरसुन्दरीसमशरीरलताः सुरसुन्दरीणां दिविजस्त्रीणां समा समाना शरीरमेव लता यासां ताः। युवतीः नारीः। प्रविधाय निर्माय। पुनः पश्चात्। संकरभियेव मिश्रणभयेनेव। सनिमेषलोचनयुगेन सनिमेषयोर्निमेषसहितयोर्लोचनयोर्नयनयोर्युगेन। भिदा भेदः। समपादि अकारि। पदि गतौ कर्मणि लुङ् ॥२१॥ त्रिदशेति। त्रिदशाधिवासजिति त्रिदशानां देवानामधिवासमावासं जयतीति त्रिदशाधिवासजित् तस्मिन्[4]। यत्र पुर्याम्। सदा सर्वदापि। कमलशङ्किमनाः कमलमिति शङ्कि शङ्कनशीलं मनो यस्य सः। मुखे वदने। निपतन् विनमन्। अलिगणः अलीनां[5] भ्रमराणां गणः। सुमुखीः सु शोभनं मुखं यासां ताः। उपद्रवति बाधते। द्रु गतौ लट्। यत् यस्मात्।

परिश्रमके कारण गिरे हुए फेन-पुञ्ज हों ॥१८॥ उस नगरीकी दीर्घिकाओंमें – जो घर-घर बनी हुई हैं – हंस इतने रम गये हैं, कि निर्मल जलवाले मानस सरोवरके पासमें होनेपर भी, वे उसमें नहीं जाते। मानो वे वहाँकी स्त्रियोंकी सुन्दर चाल सीखनेके लिए निरन्तर वहीं रहना चाहते हैं – शिक्षामें व्यवधान न हो, मानो यह सोचकर उस नगरीको (वर्षा ऋतुमें भी) नहीं छोड़ना चाहते ॥१९॥ उस नगरीके प्रमुख दरवाजोंके ऊपरी शिखर अनुपम हैं। उनमें स्फटिक मणि जड़े हुए हैं। रात्रिके समय उनकी किरणें नक्षत्र मण्डलके ऊपर पड़ती हैं। फलतः वह (नक्षत्रमण्डल) भी हजार किरणोंवाला (सूर्य) हो जाता है ॥२०॥ ब्रह्मा (नाम कर्म) ने वहाँकी युवतियोंको देवांगनाओंके समान सुकुमार और सुन्दर बनाकर, बादमें उनमें खुलने और बन्द होनेवाले (सनिमेष) लोचन लगा दिये। मानो इस भयसे कि वे देवांगनाओंमें मिलकर कहीं एक न हो जायें ॥२१॥ यों उस नगरीने अपनी सुषमासे स्वर्गको मात कर दिया है, किन्तु वहाँ यह एक बहुत बड़ा दोष सदा बना ही रहता है कि स्त्रियोंके

१. = मानससरोवरे सत्यपि। २. ब स मुच। ३. = सूर्यत्वमिति व्यज्यते। ४. = तस्याम्।
५. आ अलिनाम्।

अथ तत्र शक्त्युपचयानुगतो नृपशेखरीकृतपदाम्बुरुहः ।
नयविक्रमार्जितजगज्जयवानजितंजयोऽजनि नराधिपतिः ॥२३॥
बिसतन्तुनिर्मलतमैर्जनतापरितापनोदिभिरतीततुलैः ।
करणैरिवोडुपतिनात्मगुणैर्धवलीकृता जगति येन दिशः ॥२४॥
मम कः प्रतापमवजेतुमलं जगतीत्युदेति समदः प्रथमम् ।
प्रविलोक्य धाम पृथु यस्य पुना रविरेति लज्जित इवास्तमयम्[1] ॥२५॥
महिमा निसर्गविनयेन यथा न तथा श्रियाप्यजनि यस्य सतः ।
न निमित्तमत्र विभवः पुरुषं गुणसंपदेव गुरुतां नयते ॥२६॥

अयं महान् । परं केवलम् । अगुणः दोषः । समस्ति वर्तते । भ्रान्तिमान् ॥२२॥ अथेति । अथ अनन्तरम् । तत्र पुर्याम् । शक्त्युपचयानुगतः शक्तीनां प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तीनामुपचयं वृद्धिमनुगतः । नृपशेखरीकृतपदाम्बुरुहः नृपाणां भूपतीनां शेखरीकृतं प्रागशेखरइदानीं शेखरः क्रियते[2]स्म तथोक्तं पादावेवाम्बुरुहं तथोक्तं नृपशेखरीकृतं पदाम्बुरुहं येन सः । नयविक्रमार्जितजगज्जयवान् नयविक्रमाभ्यां नीतिपराक्रमाभ्यामर्जितः संपादितो जगतां जयस्तथोक्तः, नयविक्रमार्जितश्चासौ जगज्जयः सोऽस्यास्तीति तथोक्तः । अजितंजय इति । जनाधिपतिः राजा । अजनि अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् ॥२३॥ बिसेति । उडुपतिना चन्द्रेण । बिसतन्तुनिर्मलतमैः बिसस्य[3] कमलस्य तन्तव इव निर्मलतमैरत्यन्तनिर्मलैः । जनतापरितापनोदिभिः जनताया जनसमूहस्य । 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्' इति समूहार्थे तल् । परितापनोदिभिः संतापहारिभिः । अतीततुलैः अतिक्रान्ततुलाराशिभिः, पक्षे उपमातीतैः । किरणैरिव कान्तिभिरिव । येन अजितंजयेन । आत्मगुणैः स्वकीयगुणैः । जगति लोके । 卐 दिशः[4] ककुभः । विमलीकृताः प्रागविमला इदानीं विमलाः क्रियन्तेस्म तथोक्ताः । 'कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्त्वेच्विः' इति च्विः । 'च्वौ चात्वव्ययस्य' इति—अकारस्य ईकारः । श्लेषोपमातिशयौ ॥२४॥ 卐 ममेति । जगति लोके । मम मे । प्रतापं विक्रमं तेजश्च । अवजेतुं जयनाय । कः को वा । अलं समर्थः । इति[5] प्रकारेण । प्रथमं समदः गर्वसहितः । रविः सूर्यः । उदेति उद्भवति । पुनः पश्चात् । यस्य राज्ञः । पृथु महत् । धाम तेजः । प्रविलोक्य प्रवीक्ष्य । लज्जित इव त्रपित इव । अस्तमयम् अस्ताद्रिम् । एति गच्छति । इण् गतौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥२५॥ महिमेति । सतः सत्पुरुषस्य ।

मुखको कमल समझकर भौंरे उन्हें सताया करते हैं ॥२२॥ यहाँसे, वहाँके राजा अजितंजयका वर्णन प्रारम्भ होता है । उस कोशलापुरीमें अजितंजय नामका राजा राज्य करता था । उत्साह शक्ति, मन्त्रशक्ति और प्रभुशक्ति ये तीनों शक्तियाँ खूब विकसित होकर उसका अनुगमन करती थीं । सभी राजे-महाराजे मस्तक नवाकर उसे नमन करते थे । उसने नीति और पराक्रमसे सारे जगत्पर विजय पा ली थी ॥२३॥ जिस प्रकार चन्द्रमा मृणालतन्तुओंके समान अत्यन्त निर्मल, जनताके सन्तापको मिटानेवाली और तुलाराशिको पार करनेवाली अपनी किरणोंसे संसारकी सभी दिशाओंको उज्ज्वल कर देता है, इसी प्रकार उस राजाने भी मृणालतंतुओंके समान अत्यन्त निर्मल एवं प्रजाजनके सन्तापको मिटानेवाले अपने अनुपम गुणोंसे विश्वके कोने-कोनेको उज्ज्वल कर दिया था ॥२४॥ 'इस संसारमें मेरे प्रताप (तेज, पराक्रम) को जीत ही कौन सकता है' यह सोचकर जो सूर्य सबेरे सगर्व होकर उदित होता है, वही उस राजाके सर्वत्र फैले हुए प्रबल प्रतापको देखकर मानो लज्जित होकर शामको फिर डूब जाता है ॥२५॥ उसकी जो महिमा विनयसे थी वह लक्ष्मीसे नहीं थी । लक्ष्मी तो

१. अ आ °मयः । २. श स क्रियन्ते स्म । ३. = कमलदण्डस्य तन्तुभिरिव । ४. श स स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो न नोपलभ्यते । ५ = इत्थं विचार्येति यावत् ।

भुवनातिगेन यशसा कथितं प्रविधार्य यस्य गुरु धैर्यगुणम् ।
लवणोदधिर्निजयशोभिभवादिव कालिमानमवहद्वपुषि ॥२७॥
दहनेन येन रिपुवंशततेः सुहृदाननाम्बुजविकासकृता ।
न जितः परं दिनमणिर्महसा शशलाञ्छनोऽपि कमनीयतया ॥२८॥
गुरुरीश्वरो नरकभिद्धनदः[1] कमलालयः शिशिरगुश्च बुधः ।
सुगतश्च सन्सकलदेवमयः समपादि यो वसुमतीवलये ॥२९॥

यस्य राज्ञः । निसर्गविनयेन सहजविनयेन । यथा[2] येन । महिमा महत्त्वम् । 'पृथ्वादेर्वेमन्' इति भावे इमन्-प्रत्ययः । अजनि अजायत । तथा तेन[3] । श्रियापि संपत्त्यापि । [4]नाजनि । अत्र जगति । विभवः संपत् । निमित्तं कारणम् । न भवति । गुणसंपदेव गुणसंपत्तिरेव । पुरुषम् आत्मानम् । गुरुतां महत्त्वम् । नयते प्रापयति ।[5] णीञ् प्रापणे लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥२६॥ भुवनेति । यस्य राज्ञः । भुवनातिगेन भुवनमतिगच्छतीति भुवनातिगं तेन । यशसा कीर्त्या । कथितं प्रोक्तम् । गुरुधैर्यगुणं गुरोर्महतो धैर्यस्य गुणं धैर्यमेव गुणं वा । प्रविधार्य निश्चयित्वा (निश्चित्य) । लवणोदधिः लवणरूपाण्युदकानि धीयन्तेऽस्मिन्निति तथोक्तः लवणसमुद्रः । निजयशोऽभिभवादिव निजस्य स्वकीयस्य यशसः कीर्तेरभिभवादिव तिरस्करणादिव । वपुषि अवयवे । कालिमानं कृष्णत्वम् । 'वर्णदृढादिभ्यः—' इति इमन् । अवहत् अधरत् । वही[7] प्रापणे लङ् । उत्प्रेक्षा ॥२७॥ दहनेनेति । रिपुवंशततेः रिपूणां शत्रूणां वंशानामन्वयानां ततेर्निकरस्य । दहनेन वह्निना । सुहृदाननाम्बुजविकासकृता सुहृदां मित्राणामाननान्येवाम्बुजानि कमलानि तेषां विकासकृता[8] । रूपकम् । येन[9] । महसा तेजसा । परं केवलम् । दिनमणिः सूर्यः । न जितः न जीयते स्म[10] । पुनः । कमनीयतया मनोहरतया । शशलाञ्छनोऽपि चन्द्रोऽपि, जित इत्यर्थः । दीपकम् ॥२८॥ गुरुरिति । यः राजा । गुरुः[11] बृहस्पतिः । ईश्वरः द्रव्यपतो रुद्रश्च । नरकभित् नरकगतिनामकर्मच्छेदको विष्णुश्च । धनदः[12] धनं प्रदाता कुबेरश्च । कमलालयः कमलाया लक्ष्म्या आलयो निलयो ब्रह्मा च । शिशिरगुः शिशिरा गौर्यस्य शीतलवचन इत्यर्थः,

औरोंके पास भी थी, पर उस जैसी विनय किसीमें नहीं थी । वह सज्जन जो था । पुरुषके बड़प्पनमें वैभव उतना कारण नहीं जितनी गुणोंकी सम्पत्ति होती है । पुरुषको गौरव, गुणोंसे ही मिलता है । गुण-सम्पत्ति ही उसे गौरवकी ओर ले जाती है ॥२६॥ उसका यश इस लोकमें समा नहीं रहा था । वह (यश) उस (राजा) के महान् धैर्यगुणको व्यक्त कर रहा था । उसके धैर्यने समुद्रके धैर्यगुणसे उत्पन्न हुए यशको भी फीका कर दिया । मानो इसी कारणसे लवण समुद्र चारों ओरसे काला पड़ गया ॥२७॥ शत्रु-वंशको जलानेके लिए वह अग्नि था और मित्रोंके मुखकमलको विकसित करनेके लिए सूर्य । यों सूर्य भी बाँसोंको जलाता है और अपने मित्र-कमलोंको विकसित करता हैं । अतः वह उस राजाके समान माना जा सकता है, किन्तु राजाने अपने तेजसे उसे जीत लिया था, तथा चन्द्रमाको अपनी सुन्दरतासे ॥२८॥ प्रजाको शिक्षा देनेसे वह उसका गुरु (बृहस्पति) था; सब कुछ करनेमें समर्थ होनेसे ईश्वर (शंकर) था; नरकगतिमें ले जानेवाले पापोंका भेदन करनेसे नरकभित् (विष्णु) था; धन देनेसे धनद (कुबेर) था; सम्पन्न होनेसे कमला-लक्ष्मीका निवास स्थान (कमलालय ब्रह्मा) था;

१. अ आ इ क ख ग घ म कविद्धनदः । २. =येन प्रकारेण । ३. =तेन प्रकारेण । ४. श स अजनि । ५. आ नायते प्रायते । श स नायते । ६. आ णिञ् । ७. आ वहि । श स वह । ८. =विकासकारिणा । ९. राज्ञा । १०. श स न जयति स्म । ११. =महान् बृहस्पतिश्च । १२. =धनप्रदाता ।

निजशौर्यवह्निहुतशत्रुगणे गुणरञ्जिताखिलमहीवलये ।
पृथुधाम्नि रक्षितरि यत्र सदा निरुपद्रवा विववृधे धरणी ॥३०॥
रिपुसुन्दरीविततबाष्पजलैः शमितोरुवैरदहनस्य सतः ।
रविधाम यस्य ससहायमभूदुरुतेजसाखिलमटद्भुवनम् ॥३१॥
निजविक्रमाहितरणैकरसो मददृप्तकेसरिकिशोर इव ।
द्विषतां बले विपुलतेजसि यः प्रबबन्ध कीटकधियं प्रधने ॥३२॥
अतुलप्रतापपरिभूततमोरिपुधाम्नि यत्र कृतदिग्विजये ।
निजनाम सर्वभुवनप्रथितं दधुरर्थशून्यमधिपाः ककुभाम् ॥३३॥

चन्द्रश्च । बुधः विद्वान् बुधग्रहश्च । सुगतः सम्यग्ज्ञानी बुद्धश्च सन् । वसुमतीवलये वसुमत्या भूमेर्वलये मण्डले । सकलदेवमयः[1] सकलदेवानां मयः स्वरूपः । समपादि समभवत् । पदि गतौ लुङ् । 'पदः' इति कर्तरि ञि ॥२९॥ निजेति । निजशौर्यवह्निहुतशत्रुगणे निजस्य स्वस्य शौर्यमेव वह्निस्तस्मिन् हुतो हवनं कृतः शत्रूणां वैरिणां गणो यस्य (येन) तस्मिन् । गुणरञ्जिताखिलमहीवलये गुणैः रञ्जितं प्रीणितमखिलं महीवलयं भूमण्डलं यस्य (येन) तस्मिन् । पृथुधाम्नि महाप्रतापे । रक्षितरि पालयितरि । यस्मिन् राज्ञि (सति) । सदा सर्वस्मिन् काले । निरुपद्रवा निर्बाधा । धरणी भूमिः । विववृधे[4] वर्धतेस्म । वृधूञ् वर्धने लिट् ॥ ३० ॥ रिप्विति । अखिलं निखिलम् । भुवनं जगत् । अटत् गच्छत् । रविधाम रवेः सूर्यस्य धाम तेजः । रिपुसुन्दरीविततबाष्पजलैः रिपूणां शत्रूणां सुन्दरीणां वनितानां विततैर्बाष्पजलैरश्रुजलैः । शमितोरुवैरदहनस्य शमितो दमित उरुर्महान् वैरमेव दहनो यस्य तस्य । सतः सत्पुरुषस्य । यस्य राज्ञः । उरुतेजसा महाप्रतापेन । ससहायम्[5] । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥३१॥ निजेति । निजविक्रमाहितरणैकरसः निजस्य स्वस्य विक्रमेण पराक्रमेणाहिते कृते रणे संग्रामे एको मुख्यो रसो यस्य सः । मददृप्तकेसरिकिशोर इव मदेन दृप्तो गर्वितः केसरिणः सिंहस्य किशोर इव शावक इव । यः राजा । प्रधने संग्रामे । विपुलतेजसि विपुलप्रतापयुक्ते[6] । द्विषतां शत्रूणाम् । बले सैन्ये । कीटकधियं कीटक इति बुद्धिम् । प्रबबन्ध करोति स्म । बन्ध[7] संयमने लिट् ॥३२॥ अतुलेति । अतुलप्रतापपरिभूततमोरिपुधाम्नि अतुलेनोपमातीतेन प्रतापेन तेजसा परिभूतं तिरस्कृतं तमोरिपोः सूर्यस्य धाम तेजो यस्य तस्मिन् । यत्र राज्ञि । कृतदिग्विजये सति कृतो विहितो दिशां जयो येन तस्मिन् सति । ककुभां दिशाम् । अधिपाः अधिपतयः । सर्वभुवनप्रथितं सर्वेषु भुवनेषु प्रथितं प्रसिद्धम् । निजनाम स्वस्वनामधेयम् ।

मधुरभाषी होनेसे शिशिरगु (चन्द्रमा) था; पण्डित होनेसे बुध (बुधग्रह) था और सम्यग्ज्ञानी होनेसे सुगत (बुद्ध) था । इस प्रकार वह इस भूमण्डलमें सर्वदेवमय था ॥२९॥ उसने शत्रुवर्गको अपने पराक्रमकी अग्निमें होम दिया था और सारे भूमण्डलको अपने गुणोंसे प्रसन्न कर दिया था । अतः उस प्रबल प्रतापी राजाके रक्षक होनेपर पृथ्वी सदा उपाद्रवोंसे रहित होकर खूब समृद्ध हो रही थी ॥३०॥ उसने अपने वैरकी अग्निको शत्रु-नारियोंके अश्रुजलसे शान्त-कर दिया था और उसका तेज सूर्यके उस तेजको सहायक हुआ, जो सारे संसारमें अकेला ही भटकता रहा ॥३१॥ अपने पराक्रमसे रण छेड़नेमें उसे बड़ा रस आता था । अतः सगर्व शेरके बच्चेकी भाँति वह रण-क्षेत्रमें तेजस्वी-से-तेजस्वी शत्रुओंके दल-बलको अपने सामने कीड़ा-मकोड़ा समझता था ॥३२॥ उसने अपने अनुपम प्रतापसे सूर्यके प्रतापको मात कर दिया था । उसने जब पूर्व आदि सभी दिशाओंपर विजय पा ली, तब इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम

१. =सकलदेवस्वरूपः । २. =विहितः । ३. =आहुतिरूपतां नीतः । ४. आ निववृधे । ५. =ससहायं । ६. आ रुद्रप्रतापसंयुक्ते । ७. आ बध । ८. =येन ।

जयशालिनः सहजभद्रतया परिभूषितस्य गुरुवंशभृतः ।
अजनिष्ट यस्य न मनागपि दिक्करिणोऽपि कीर्तिनिलयस्य मदः ॥३४॥
वसुधां पयोनिधिपयोवसनां परिघाकृतौ दधति यस्य भुजे ।
गुरुभारभुग्नमहिराजशिरोनिकुरुम्बमुन्नतिमवाप चिरात् ॥३५॥
निजरूपविभ्रममनोरमयाजितसेनया स कुलपुत्रिकया ।
प्रजगाम योगमवनीतिलको रजनीमुखे विधुरिवात्मरुचा ॥३६॥
यदभूत्सुरासुरवधूसमितेरुपपादने महदतीवतराम्[1] ।
प्रकटं विधातुमिव तद्विधिना निजकार्यकौशलमजन्यत या ॥३७॥

अर्थशून्यम् अर्थेन शून्यम् । दधुः धरन्ति स्म । डुधाञ् धारणे च लिट् ॥३३॥ जयेति । जयशालिनः जयेन शालिनः संपूर्णस्य । सहजभद्रतया सहजया सहजातया भद्रतया मङ्गलत्वेन भद्रजातितया । परिभूषितस्य अलङ्कृतस्य । गुरुवंशभृतः गुरुं महान्तं वंशं पृष्ठास्थि[2] भृतः धरस्य, पक्षे महान्वयभृतः कीर्तिनिलयस्य कीर्तेर्निलयस्य निवासस्य । दिक्करिणोऽपि दिग्दन्तिनोऽपि । यस्य राज्ञः । मनाक् ईषत् । मदो नाजनिष्ट नाजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । श्लेषः ॥३४॥ वसुधामिति । परिघाकृतौ परिघस्येव अर्गलाया इवाकृतिराकारो यस्य तस्मिन् । यस्य राज्ञः । भुजे बाहौ । दधति धरति सति । गुरुभारभुग्नं गुरुणा महता भारेण भुग्नं रुग्णम् । अहिराजशिरोनिकुरम्बम् अहिराजस्य महाशेषस्य शिरसां शीर्षाणां निकुरम्बं कदम्बकम् । चिरात् चिरकालात् । उन्नतिम् उन्नमनम् । अवाप आयाति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥३५॥ निजेति । अवनीतिलकः भूतिलकः । सः अजितंजयः[3] । निजरूपविभ्रममनोहरया [मनोरमय] निजस्य स्वकीयस्य विभ्रमेण विलासेन मनोहरया [मनोरमया मनोहरया] । अजितसेनया अजितसेनादेव्या । कुलपुत्रिकया कुलसंजातया । रजनीमुखे रजन्या रात्र्या मुखे प्रारम्भे । आत्मरुचा स्वस्य कान्त्या । विधुरिव चन्द्र इव । योगं संबन्धम् । प्रजगाम प्रययौ । गम्लृ[4] गतौ लिट् । उपमा ॥३६॥ यदिति । सुरासुरवधूसमितौ सुराणां देवानामसुराणां भवनवासिनां च वधूनां वनितानां समितौ समूहे । 'सङ्घे[5] सभायां समितिः' इत्यभिधानात् । अतीवतरां नितान्तम् । यत्

आदि समस्त दिक्पालोंके लोक-प्रसिद्ध नाम निरर्थक हो गये – वे कोरे नामके ही दिक्पाल रह गये ॥३३॥ दिग्गज विजयसे सुशोभित होता है, भद्र जातिसे विभूषित होता है, उभरी हुई रीढ़की हड्डीसे युक्त होता है और बहुत यशस्वी होता है किन्तु निर्मद-मद जलसे रहित नहीं होता । पर यह एक विचित्र-सी बात है कि वह राजा विजयसे अलंकृत था, स्वाभाविक भद्रतासे विभूषित था, बहुत बड़े वंशमें उत्पन्न हुआ था, यशस्वी था और था दिक्करी-समस्त दिशाओंसे टैक्स वसूल करनेवाला (दिग्गज), किन्तु उसे मद-अहंकार (मदजल) तनिक भी नहीं था ॥३४॥ पृथ्वीके भारी भारसे शेष नागके सारे (एक हजार) सिर (फण) नीचेकी ओर झुक गये थे । किन्तु उस राजाने जब अपने परिघ सरीखे बाहुसे समुद्र तककी पूरी पृथ्वीको संभाल लिया तो उन्हें (शेषनागके शिरोंको) बहुत समयके बाद ऊपर उठनेका अवसर मिल गया ॥३५॥ वह पृथ्वीका तिलक था । उसका विवाह अजितसेना नामकी कुलीन कन्याके साथ हुआ । वह अपने सौन्दर्य और हाव-भावसे अजितंजयके मनको रमाने वाली थी । अजितंजय और अजितसेनाकी जोड़ी बड़ी सुन्दर थी, जैसी रात्रिके प्रारम्भमें चाँद और चाँदनीकी होती है ॥३६॥ सुर-कल्पवासी देवों और असुर-भवनवासी, व्यन्तर तथा

१. क ख ग घ °तीवतरम् । २. बिभर्तीति पृष्ठास्थिभृत्, तस्य । ३. आ अजितसेनः । ४. आ गमल गतौ । श स गम गतौ । ५. आ श स प्रतिषु 'सङ्घे' इत्येव पाठः समुपलभ्यते, परम् अमरकोशे 'सङ्गे' पाठो वर्तते ।

रतिरूपसंपदभिभूतिकरैर्ललितैर्निजस्य वपुषोऽवयवैः।
शुभलक्षणैः परिविभूषितया विभवाय भूषणमभारि यया ॥३८॥
शशलाञ्छनेऽस्तमितवत्यपि सत्यगमद्यदीयमुखचन्द्रमसा।
स्मितचन्द्रिकोज्ज्वलतरद्युतिना जगतीतलं सरजनीकरताम् ॥३९॥
स तयोर्गुणाभरणभूषितयोर्विबुधः समेत्य सुरलोकभुवः।
भुवनातिशायिकमनीयतनुस्तनुभूरभूदजितसेन इति ॥४०॥
जनतानुरागपरिवृद्धिकरः सुभगाकृतिर्वयसि यः प्रथमे।
शरदौषधीपतिरिवामलिनस्तिलकः[1] क्षितेरुपचिकाय कलाः ॥४१॥

निजकार्यकौशलं निजस्य स्वस्य कार्यस्य[2] क्रियायाः कौशलं प्रौढत्वम्। अभूत् अभवत्। लुङ्। तत् प्रकटं प्रकाशम्। विधातुमिव कर्तुमिव। विधिना ब्राह्मणा। या देवी। अजन्यत जन्यते स्म। जनैङ् प्रादुर्भावे णिजन्तात् कर्मणि लुङ्। उत्प्रेक्षा ॥३७॥ रतीति। रतिरूपसंपदभिभूतिकरैः रते रतिदेव्या रूपस्य लावण्यस्य संपदः समृद्धेरभिभूतिकरैस्तिरस्कारकरैः। ललितैः मनोहरैः। शुभलक्षणैः शुभैर्लक्षणैर्युक्तैः। निजस्य स्वस्य। वपुषः गात्रस्य। अवयवैः परिभूषितया अलङ्कृतया। यया देव्या। भूषणं मण्डनम्। विभवाय संपदे। अभारि[3] अधात्। भृञ् भरणे कर्मणि लुङ्। अतिशयः ॥३८॥ शशेति[4]। शशलाञ्छने चन्द्रे। अस्तमितवति अस्तमेति स्म अस्तमितवान् तस्मिन् अस्तंगते सत्यपि। स्मितचन्द्रिकोज्ज्वलतरद्युतिना स्मितमीषद्धसनमेव चन्द्रिका ज्योत्स्ना तयोज्ज्वलतरा निर्मलतरा [द्युतिः] कान्तिर्यस्य तेन। यदीयमुखचन्द्रमसा यदीयं यस्याः संबन्धि[5] मुखमेव चन्द्रमाः चन्द्रस्तेन। रूपकम्। जगतीतलं जगत्या भूमेस्तलम्। सरजनीकरतां रजनीकरेण चन्द्रेण सह विद्यमानत्वम्। अगमत् अगच्छत्। गम्लृ गतौ लुङ्। अतिशयः ॥३९॥ स इति। गुणाभरणभूषितयोः गुणा एवाभरणानि मण्डनानि तै भूंषितयोरलंकृतयोः। अजितंजयाजितसेनयोः। स विबुधः श्रीधरदेवः। सुरलोकभुवः स्वर्गलोकात्। समेत्य आगत्य। भुवनातिशायिकमनीयतनुः भुवने भुवनस्य वातिशायिनी अतिशयकारिणी कमनीया मनोहरा तनुः शरीरं यस्य सः। अजितसेन इति तनुभूः तनौ भवतीति तनुभूः पुत्रः। अभूत् अभवत्। भू सत्तायां लुङ् ॥४०॥ जनतेति। शरदौषधीपतिरिव शरदः शरत्कालस्यौषधीपतिरिव चन्द्र इव। अमलिनः निर्मलः। 'मलादिमसश्च' इति च-शब्देन मत्वर्थीय इन-प्रत्ययः। क्षितेः भूमेः। तिलकः मण्डनः। जनतानुरागपरिवृद्धिकरः जनताया जनसमूहस्य रागस्य प्रीतेः परिवृद्धिकरः। सुभगाकृतिः सुभगा मनोहरा आकृतिराकारो यस्य सः। यः कुमारः। प्रथमे आद्ये। वयसि। कलाः चतुःषष्टिकलाः षोडशभागांश्च।

ज्योतिषी देवोंकी समस्त देवियोंके निर्माणमें ब्रह्माने जो अत्यधिक कुशलता प्राप्त की थी, मानो उसीके प्रदर्शनके लिए उसने अजितसेनाको बनाया ॥३७॥ उसके शरीरके सभी अवयव सुन्दर और शुभ-चिह्नोंसे विभूषित थे और इसीलिए वे रतिकी सौन्दर्य-सम्पत्तिको मात करनेवाले थे, फिर भी उस (अजितसेना) ने केवल वैभव या लोकमर्यादाके खयालसे आभूषण धारण किये थे ॥३८॥ चन्द्रमाके अस्त होने पर भी मुसकानकी चाँदनीसे उज्ज्वल कान्ति फैलाकर उसका मुखचन्द्र ही उस (चन्द्र) की पूर्ति कर देता था ॥३९॥ वे दोनों – अजितंजय और अजितसेना – गुणोंके आभूषणोंसे विभूषित थे – गुणी थे। वह श्रीधरदेव (जिसका वर्णन चौथे सर्गमें कर आये हैं) सौधर्म स्वर्गसे चयकर उनके यहाँ पुत्र हुआ। उसके शरीरका सौन्दर्य लोकातिशायी था। उसका नाम अजितसेन रखा गया ॥४०॥ वह (अजितसेन) शरत्कालके चन्द्रमाके समान जनताके अनुरागको बढ़ानेवाला, सुन्दर, निर्मल और पृथ्वीका

१. अ आ इ क ख ग घ म °नास्तिलकः। २. श स शौर्यस्य। आ प्रतौ 'शौर्यस्य' 'कार्यस्य' इति द्वे अपि पदे नोपलभ्येते। ३. = अधारि। ४. आ शशीति। ५. = यत्संबन्धि।

गुणनिर्मितैः सुरभिभिः कुमुदैरिव यद्यशोभिरनुरागकरैः ।
प्रविभासिते जगति शीतरुचेरुदयो जनैरववये विफलः ॥४२॥
ध्रुवमस्य रूपविभवेन जितस्त्रपया विलीय समभूदतनुः ।
मदनस्तदीयतनुदाहकरी हरलोचनार्चिरिति वार्तमदः ॥४३॥
नयमिन्द्रलाघवकरो विभवो विभवं च यस्य सहजो विनयः ।
तमलंचकार परमः प्रशमः[1] प्रशमं पराक्रमगुणो गुणिनः ॥४४॥
गुणसंपदा सकलमेव जगल्लघयन्तमात्मतनयं तमसौ ।
मुमुदे महीपतिरुदीक्ष्य भृशं शशिनं समग्रकलमब्धिरिव ॥४५॥

उपचिकाय उपचिनोतिस्म ! 'चेर्वा' इति चिञ् चयने इति धातोर्लिट्, कवर्गादेशः । श्लेषोपमा ॥४१॥ गुणेति । गुणनिर्मितैः गुणैरौदार्यादिभि[2] निर्मितैः कृतैः, पक्षे तन्तुभिः कृतैः । सुरभिभिः शुभ्रैः सुगन्धिभिश्च । अनुरागकरैः प्रीतिकरैः । कुमुदैरिव कैरवैरिव । यद्यशोभिः यस्य कुमारस्य यशोभिः कीर्तिभिः । जगति लोके । प्रतिभासिते प्रकाशिते सति । जनैः लोकैः । शीतरुचेः चन्द्रस्य । उदयः उत्पत्तिः । विफलः निष्फलः । इति अववये जज्ञे[3] । या प्रापणे कर्मणि लिट् । श्लेष. ॥४२॥ ध्रुवमिति । यस्य कुमारस्य । रूपविभवेन रूपस्य लावण्यस्य विभवेन संपदा । जितः निराकृतः । मदनः स्मरः । त्रपया लज्जया । विलीय विशीर्य । अतनुः तनुरहितः । समभूत् समभवत् । भू सत्तायां लुङ् । ध्रुवं[4] निश्चयं हरलोचनार्चिः हरस्य रुद्रस्य लोचनस्य नयनस्यार्चिर्ज्वाला । तदीयतनुदाहकरी इति तदीयायाः मदनसंबन्धायास्तनोः शरीरस्य दाहकरी भस्मकरी इति अदो लोकवचनम् । वार्तम् असत्यम् । अपह्नुतिः ॥४३॥ नयमिति । गुणिनः औदार्यादिगुणयुक्तस्य । यस्य कुमारस्य । इन्द्रलाघवकरः इन्द्रस्य लाघवकरो लघुत्वकरः । विभवः संपत् । नयं नीतिम् । सहजः सहजातः । विनयः विनयगुणः । विभवं संपदम् । परमः महान् । प्रशमः क्षमागुणः । तं पराक्रमगुणम् । विक्रमगुणः प्रशमं क्षमागुणम् । अलंचकार अलंकरोतिस्म ॥४४॥ गुणेति । असौ अयम् । महीपतिः अजितंजयः । गुणसंपदा गुणसंपत्त्या । सकलमेव विश्वमेव । जगत् लोकम् । लघयन्तं लघूकुर्वन्तम् । आत्मतनयम् आत्मनः स्वस्य तनयं नन्दनम् । उदीक्ष्य आलोक्य । समग्रकलं संपूर्णकलावन्तम् । शशिनं चन्द्रम् । अब्धिरिव समुद्र इव ।

मण्डन था । उसने बाल्यकालमें ही सब कलाओंमें पूर्णता प्राप्त कर ली थी । जैसे चन्द्रमा शुक्लपक्षमें अपनी कलाओंमें पूर्णता पा लेता है ॥४१॥ जिस प्रकार कुमुद मृणाल तन्तुओंसे रचित, सुगन्धित और सबके अनुरागको उत्पन्न करनेवाला होता है, उसी प्रकार उस राजकुमारका यश उसके गुणोंसे उत्पन्न, मनोज्ञ और प्रजाजनोंके अनुरागको उत्पन्न करने वाला था । उसके यशसे सारे संसारके प्रकाशित हो जानेपर लोगोंने चन्द्रमाके उदयको निरर्थक समझ लिया ॥४२॥ जान पड़ता है इस राजकुमारके उत्कृष्ट रूपसे पराजित होकर कामदेव लज्जावश घुल-घुलकर अनंग हो गया है—अपना शरीर खो बैठा है । 'शिवजीकी नेत्राग्निकी ज्वालासे कामदेवका शरीर भस्म हुआ था' यह तो कोरी गप्प है ॥४३॥ वह बड़ा गुणी था । उसका वैभव इन्द्रसे भी कहीं अधिक था । उसकी नीतिकी शोभा वैभवसे, वैभवकी सहज विनयसे, विनयकी प्रशम-क्षमासे और प्रशमकी पराक्रमसे थी ॥४४॥ गुणोंकी सम्पत्तिसे उसने समस्त जगत्को मात कर दिया था । उसे देखकर उसके पिता बहुत प्रसन्न हुए । जैसे पूर्णचन्द्रको देख

१. क ख परमप्रशमः । म परमप्रशमम् । २. श स शौर्यादि । ३. = बुबुधे । ४. = निश्चयेन ।

इति च व्यचिन्तयदलाभि न किं निजजन्मनः फलममुष्य मया ।
भुवि यस्य भानुसदृशस्तनयःपिदधाति धामभिरशेषदिशः ॥४६॥
मलसङ्गवर्जितमितं पृथुतामुदयास्पदं सकलधामवताम् ।
घनवर्त्म शीतरुचिनेव करैर्मम दीपितं कुलमनेन गुणैः ॥४७॥
कुसुमाद्यथा विटपिनो वपुषो नवयौवनाच्छ्रुतवतः प्रशमात् ।
पुरुषान्वयस्य जगतीह तथा न सुपुत्रतः परमलंकरणम् ॥४८॥
अपरेद्युरेनमवनीतिलकं महतोत्सवेन नृपचक्रयुतः ।
नृपतिर्न्यवीविशदनिन्द्यतमे जगतो हिताय युवराजयपदे[1] ॥४९॥

भृशम् अत्यन्तम् । मुमुदे संतुतोष । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥४५॥ इतीति । भुवि भूमौ । यस्य मम । भानुसदृशः भानोः सूर्यस्य सदृशः समानः । तनयः कुमारः । अशेषदिशः समस्तककुभः । धामभिः पिदधाति[2] । मया अमुष्य अस्य । निजजन्मनः निजस्य स्वस्य जन्मनो जननस्य । फलमलाभि अलभ्यत । डुलभिष् प्राप्तौ कर्मणि लुङ् । न किम् अपितु अलाभ्येव । इति च एवं प्रकारेण । व्यचिन्तयत् चिन्तयति स्म ॥४६॥ मलेति । मलसङ्गवर्जितं मलस्य सङ्गेन संबन्धेन वर्जितं रहितम्, पक्षे कालुष्यरहितम् । पृथुतां महत्त्वम् । इतं गतम् । सकलधामवतां सकलानां सर्वेषां धामवतां तेजस्विनां क्षत्रियाणाम्, पक्षे ज्योतिर्गणानाम् । उदयास्पदम् उदयस्य संपद आस्पदं स्थानम्, पक्षे प्रदुर्भावस्य स्थानम् । मम मे । कुलं वंशम् (शः) । अनेन एतेन कुमारेण । गुणैः औदार्यादिभिः । शीतरुचिना चन्द्रेण । करैः किरणैः घनवर्त्मेव मेघमार्ग इवाकाशमिव । दीपितं प्रकाशितम् । श्लेषोपमा ॥४७॥ कुसुमादिति । विटपिनः वृक्षस्य । कुसुमात् पुष्पात् । यथा[3] वपुषः शरीरस्य । यौवनात् यौवनावस्थायाः । श्रुतवतः शास्त्रिणः । प्रशमात् कामाद्युपशमात् । तथा तेन प्रकारेण । इह जगति लोके । पुरुषान्वयस्य पुरुषस्य मनुष्यष्यान्वयस्य वंशस्य । सुपुत्रतः सत्पुत्रात् । परम् अन्यत् । अलङ्करणं भूषणम् । न नास्ति । दृष्टान्तः ॥४८॥ अपरेद्युरिति । अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिने । नृपचक्रयुतः नृपाणां राज्ञां चक्रेण निवहेन युतः । नृपतिः भूपतिः । अवनितिलकं भूमिभूषणम् । एनं कुमारम् । महता पृथुना । उत्सवेन प्रभावनया । अनिन्द्यतमे पूज्यतमे । युवराजपदे युवराजस्य पदे स्थाने । जगतः लोकस्य । हिताय उपकाराय । न्यवीविशत्

कर समुद्र प्रसन्न होता है ॥४५॥ राजा अपने मन-ही-मन यों सोचने लगा कि 'मेरा पुत्र सूर्यके समान तेजस्वी है और सूर्यके समान मेरे इस पुत्रने अपने तेजसे सब दिशाओंको व्याप्त कर दिया है । इसे पाकर क्या मैंने अपने जीवनका फल नहीं पा लिया ? ॥४६॥ मेरा वंश आकाश के समान है । जैसे आकश मैलके सम्बन्धसे रहित—निर्मल है, विशाल है और तेजस्वी सूर्य आदि ज्योतिषी देवोंके उदयका स्थान है । वैसे ही यह वंश निर्दोष, विशाल और तेजस्वी क्षत्रियोंका जन्म-स्थान है आकशको चन्द्रमा अपनी किरणोंसे प्रकाशित करता है और इस वंश-को मेरे पुत्रने अपने गुणोंसे प्रकाशित कर दिया है ॥४७॥ जिस प्रकार वृक्षका फूल, शरीरका यौवन और विद्वानका शान्तिसे बढ़कर कोई अन्य भूशण नहीं है, इसी प्रकार मनुष्यके वंशका सुपुत्रके सिवा और कोई भूषण नहीं है ॥४८॥ यह सोचकर राजा अजितंजयने अगले दिन ही पुत्रको युवराज पद प्रदान करनेके लिए बहुत बड़ा उत्सव किया । उसमें सभी राजे-महराजे सम्मिलित हुए । उन्हींके समक्ष उसने अपने पुत्र अजितसेनको—जो समस्त पृथ्वीका मण्डन था—लोक हितके लिए सम्मानित युवराज पदपर आरूढ़ कर दिया—उसे युवराज बना दिया॥४९॥

१. क ख ग घ म °राज्यपदे । २. = आच्छादयति व्याप्नोतीत्यर्थः । ३. = अन्यदलङ्करणमिह नास्ति ।

श्रुतशुद्धधीरधरितेन्द्रपदं पदमास्थितः पितुरुदारतमम् ।
स कलाधरः सकलभूमिभृतां मुकुलीचकार करपद्मवनम् ॥५०॥
नयनाभिराममकलङ्कतनुं नवमाददानमुदयं जनता ।
शिरसा दृशोर्गतममुं विषयं प्रणनाम बालमिव चन्द्रमसम् ॥५१॥
स कदाचनाथ युवराजयुतः सदुपायनानुगतमण्डलिनाम् ।
प्रविलोकयन्निवहमास्त मुदा नृपतिर्मनोहरसभाभवने ॥५२॥
प्रथितोऽथ चण्डरुचिरित्यसुरस्तदशेषमेव परिमोह्य सदः ।
कृतपूर्ववैरमवगम्य सुतं तमिलापतेरपजहार रुषा ॥५३॥

स्थापयति स्म । विश प्रवेशने णिजन्ताल्लुङ् ॥४९॥ श्रुतेति । अधरितेन्द्रपदं निरसीकृतदेवेन्द्रपदम्[2] । उदारतमं[3] प्रकृष्टमहितम् । पितुः तातस्य । पदं राज्यपदम् । आस्थितः[4] तिष्ठतिस्म । 'शीङ्स्थासोऽधेराधारः' इत्याधारे द्वितीया । श्रुतशुद्धधीः श्रुतेन शास्त्रेण शास्त्राभ्यासेन शुद्धा निर्मला धीर्बुद्धिर्यस्य सः । सः कुमारः । कलाधरः चतुःषष्टिकलाधरः, पक्षे षोडशभागधरश्चन्द्रः । सकलभूमिभृतां सकलानां सर्वेषां भूमिभृतां राज्ञाम् । करपद्मवनं करावेव हस्तावेव पद्मवनं कमलवनम् । मुकुलीचकार[5] संकोचं चकार 'कर्मकर्तृभ्याम्—' इत्यादिना च्विः । 'च्वौ चानव्ययस्य' इति ईकारादेशः । श्लेषो रूपकञ्च ॥ ५० ॥ नयनेति । नयनाभिरामं नयनयोरभिरामं मनोहरम् । अकलङ्कतनुम् अकलङ्का निर्मला तनुः शरीरं यस्य तम् । नवं नूतनम् । उदयं संपदम्, पक्षे उत्पत्तिम् । आददानं स्वीकुर्वन्तम् । दृशोर्नयनयोः । विषयं गोचरम् । यातं गतम् । बालं नूतनम् । चन्द्रमसमिव चन्द्रमिव । अमुं कुमारम् । जनता जनसमूहः । 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्' । [शिरसा मस्तकेन । प्रणनाम प्रणामं चकार ।] श्लेषोपमा ॥५१। स इति । अथ युवराजपदप्राप्त्यनन्तरम् । कदाचन एकदा । युवराजयुतः युवराजेन कुमारेण सुतः सहितः । सः नृपतिः अजितंजयभूमिपः । मनोहरसभाभवने मनोहरे सुन्दरे सभाभवने सभासदने । सदुपायनानुगतमण्डलिनां सद्भिः प्रशस्तैरुपायनैरुपग्राह्यैः[6] अनुगतानाम् अनुयातानां । मण्डलिनां भूभृताम् । निवहं समूहम् । प्रविलोकयन्[7] पश्यन् । मुदा संतोषेण । आस्त उपविशति स्म ॥५२॥ प्रथित इति । अथ सभागृहस्थित्यनन्तरम्[8] । चण्डरुचिः इति प्रथितः प्रसिद्धः । असुरः असुरकुलभवः । तदशेषमेव सकलमेव । सदः सभाम् । संमोह्य मूर्च्छां[9] कृत्वा । कृतपूर्ववैरं कृतं विहितं पूर्वमद्य वैरं विरोधम् । अवगम्य ज्ञात्वा ।

युवराजकी बुद्धि अनेक शास्त्रोंका अभ्यास करनेसे परिष्कृत थी और वह चन्द्रमाकी तरह समस्त कलाओंका आश्रय था । इन्द्रके पदसे भी उत्कृष्ट और प्रतिष्ठित पिताके महान पद पर उसके आसीन होते ही समस्त राजाओंने हाथ जोड़ दिये । चन्द्रमाको देखकर कमलोंका जैसा आकार हो जाता है, ठीक वैसा ही आकार उस समय समस्त राजाओंके हाथोंका हो गया ॥५०॥ जिस प्रकार नयनाभिराम, निष्कलंक और नवोदित बालचन्द्रको देखते ही सभी लोग नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार नयनाभिराम, निष्पाप और नवीन अभ्युदयको प्राप्त हुए युवराज को देखते ही सभी लोग प्रणाम करने लगे ॥५१॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है, राजा अजितंजय युवराजके साथ सुन्दर सभा-भवनमें बैठे हुए थे । इसी अवसरपर माण्डलीक राजाओं-का मण्डल उत्तम उपहार लेकर उससे मिलनेके लिए वहाँ आया । अजितंजय उसकी ओर दृष्टिपात कर ही रहा था ॥५२॥ कि इतनेमें चण्डरुचि नामका एक कुख्यात असुर वहाँ आ धमका । राजकुमारके साथ उसका पिछले जन्मका वैर था । सभामें पहुँचते ही उसने उसे

१. अ आ इ क ख ग घ म चन्द्ररु° । २. श स नीरसीकृतदेवेन्द्रपदवीम् । ३. आ °रतनुं । ४. = आरूढः । ५. = संकोचयामास । ६. = उपहारैः । ७. आ श स विलोकयन् । ८. आ °स्वीकृत्यनन्तरम् । ९. = मूच्छितां कृत्वा ।

प्रतिबुद्धवानसुरमोहनजं क्षणमात्रकेण[1] परिधूय तमः ।
सकलं ससंभ्रममिलाधिपतिः सुतशून्यमैक्षत सभाभवनम् ॥५४॥
इदमिन्द्रजालमुत धातुगता विकृतिर्मनः किमुत विप्लवि[2] मे ।
अवलोकयामि यदहं युवराड्विकलामिमां निजसभां परितः ॥५५॥
अथ मायिनान्यभववैरवशाद्रजनीचरेण दृढबद्धरुषा ।
असुरेण [3]वासुसदृशस्तनुभूरकृपेण केनचिदहारि स मे ॥५६॥
इति तर्कयन्विकलमङ्गभुवा गणयन्नरण्यमिव जीर्णमसौ ।
सकलं सदो दयितया सहितः प्रललाप मुक्तकरुणार्तरवम् ॥५७॥

इलापतेः भूमिपतेः । तं सुतम् अजितसेनकुमारम् । रुषा कोपेन । अपजहार अपहरति स्म ॥५३॥ प्रतीति । असुरमोहनजं चण्डरुचिमोहनेन जनितम् । तमः अज्ञानम् । क्षणमात्रकेण अल्पकालेनैव । परिधूय निराकृत्य । प्रतिबुद्धवान्[4] जागरितवान् । इलाधिपतिः भूमिपतिः । ससंभ्रमं विस्मयसहितं यथा तथा । सुतशून्यं कुमाररहितम् । सभाभवनं सभासदनम् । ऐक्षत अपश्यत् । ईक्षि[5] दर्शने लङ् ।।५४।। इदमिति । यत् यस्मात्कारणात् । अहं युवराड्विकलां युवराजेन विकलां रहिताम् । इमाम् एताम् । निजसभां निजस्य स्वस्य सभाम् । परितः समन्तात् । अवलोकयामि वीक्षे[6] । लोकृञ्[7] दर्शने लट् । इदम् एतत् । इन्द्रजालम् इन्द्रजालविद्या । उत अथवा । धतुगता धातून् सप्तधातून् गता याता । विकृतिः विकारः । उत अथवा । मे मम । मनः मानसम् । विप्लवि भ्रान्तं किम् । संशयः ।।५५।। अथेति । अथ अथवा । अन्यभववैरवशात् अन्यभवस्य पूर्वभवस्य वैरवशाद् विरोधवशात् । दृढबद्धरुषा दृढं गाढं बद्धा रुड् येन तेन । मायिना मायायुक्तेन । रजनीचरेग रात्रिचरेण । वा अथवा । अकृपेग कृपारहितेन । केनचिदसुरेण असुरदेवेन । असुसदृशः असूनां प्राणानां सदृशः समानः । मे मम । तनुभूः कुमारः । अहारि अह्रियत[8] । हृञ् हरणे कर्मणि लुङ् । संशयः ।।५६।। इतीति । इति एवं प्रकारेण । तर्कयन् विचारयन् । असौ राजा । अङ्गभुवा तनुजेन । विकलं रहितम् । सकलं समस्तम् । सदः सभाम् । जीर्णं शिथिलितम् । अरण्यमिव काननमिव । गणयन् विचारयन् । दयितया निजप्रियया । सहितः युक्तः । मुक्तकरुणार्तरवं मुक्तया करुणया शोकरसेनार्तः पीडितो रवो ध्वनिर्यस्मिन्

पहचान लिया, फिर सारी सभाको मूर्छित करके बड़े क्रोधसे उसे हर ले गया ।।५३।। क्षण भरके बाद ही उस असुरकी मोहिनी विद्याके प्रभावसे उत्पन्न हुई मूर्च्छासे छुटकारा पाते ही वह राजा घबराकर ज्योंही सभाकी ओर देखता है त्यों ही उसे पता लग गया कि राजकुमार गायब हैं । उसके बिना सारी सभा उसे सूनी मालूम पड़ने लगी ।।५४।। मैं सारी सभाको चारों ओरसे देख रहा हूँ, किन्तु राजकुमार कहीं भी नहीं देख पड़ते । किसीने इन्द्रजाल-जादू फैला दिया है, धातुओंमें विकार उत्पन्न हो गया है या मेरे मनमें ही कोई भ्रम उत्पन्न हो गया है ? ।।५५।। अथवा जन्मान्तरके तीव्र वैरके कारण कोई मायावी और तीव्र क्रोधी राक्षस या असुर मेरे प्राण-प्रिय उस पुत्रको हर ले गया है ? ।।५६।। इस तरह उसके मनमें नाना प्रकारके तर्क-वितर्क उठ रहे थे । पुत्रके बिना उसे सारी सभा पुराने जंगल सरीखी लगने लगी । इतनेमें उसकी रानी भी वहाँ जा पहुँची । उसके साथ वह दुःख भरे करुणाजनक शब्दोंमें

१. म °केन । २. घ विभ्रमि । ३. म वाशुसदृश° । ४. =लब्धचेतन इत्यर्थः । ५. श स ईक्ष । ६. आ वीक्ष्ये । ७. आ लोकृ । ८. श स अह्रीयत । =हृत इत्यर्थः ।

प्रविधाय[1] मामशरणं सहसा क्व मदङ्कदोर्ललित हासि गतः ।
लघु देहि दर्शनमहं हि विना भवतावलम्बितुमसूननलम् ॥५८॥
अधिसूनु[2] लालनविधावहितेऽप्यमनोहरं तव मयाभिहितम् ।
न कदाचिदप्यसदृशप्रणये किमकारणं मयि विरक्तिमगाः ॥५९॥
वचनामृतैः सुखरसज्ञमिदं कुरु पूर्ववच्छ्रवणयोर्युगलम् ।
अनिबन्धनाकुशलशङ्कितया किमुपेक्षसे पितरमाकुलितम् ॥६०॥
यदि वा कुतश्चिदपि कारणतो मयि वत्स तेऽजनि निरादरता ।
अनिमित्तमेव रहिता किमिमां जननीं प्रति प्रकृतिवत्सलता ॥६१॥

कर्मणि तत् । प्रललाप शुशोच । लप व्यक्तायां वाचि लिट् ॥५७॥ प्रवीति । भो卐मदङ्कदोर्ललित[3]卐 ममाङ्कदोष्णोः—ऊरुभुजयोः ललित मनोहर । सहसा शीघ्रम् । मामशरणं शरणरहितम् । प्रविधाय कृत्वा । क्व[4] कस्मिन् । गतोऽसि यातोऽसि । हा हन्त । लघु शीघ्रम् । दर्शनं देहि प्रयच्छ । डुदाञ् दाने लोट्[5] । अहं हि भवता त्वया विना । असून् प्राणान् । अवलम्बितुं धर्तुम् । अनलम् असमर्थो भवामि ॥५८॥ अधीति । अधिसूनु सूनुमधिकृत्य अधिसूनु तस्मिन् पुत्रविषये । लालनविधौ लालनस्य बालकेल्या विधौ । अहितेऽपि हितरहितेऽपि । मया कदाचिदपि एकदापि । तव भवतः । अमनोहरम् अमङ्गलवचनम् । अभिहितं न भाषितं न । असदृशप्रणये असदृशोऽसाधारणः प्रणयः प्रीतिर्यस्मिन् तस्मिन् । मयि । अकारणं कारणं विना । विरक्तिम् अप्रीतिम् । किम् अगाः किम् अयासीः[6] ॥५९॥ वचनेति । वचनामृतैः वचनान्येवामृतानि तैः । इदम् एतत् । श्रवणयोः कर्णयोः । युगलं द्वयम् । पूर्ववत् प्रथममिव । सुखरसज्ञं सुखस्यानन्दस्य रसज्ञम् । कुरु विधेहि । अनिबन्धनाकुशलशङ्कितया अनिबन्धनमकारणमकुशलं[7] कष्टं शङ्कितया[8] शङ्कनशीलत्वेन[9] । आकुलितं[10] पीडितम् । पितरं जनकम् । किमुपेक्षसे[11] किं कारणमुदासीनं करोषि । ईक्षि[12] दर्शने लट् । रूपकम् ॥६०॥ यदीति । वत्स भोः पुत्र । यदि वा, कुतश्चिदपि कस्मादपि । कारणतः हेतोः मयि, ते तव । निरादरता अप्रीतिता । अजनि अजायत । इमम् एताम् । जननीं मातरं प्रति । प्रकृतिवत्सलता प्रकृत्या स्वभावेन

खूब जोर-जोरसे यों विलाप करने लगा—॥५७॥ हे मेरी गोद और हाथोंके आभूषण; हाय; तुम मुझे अशरण बनाकर अचानक ही कहाँ चले गये ? मुझे शीघ्र ही दर्शन दो । तुम्हारे बिना अब मैं अपने प्राणोंको धारण करनेमें असमर्थ हूँ ॥५८॥ बचपनमें जब तुम स्वयं अपने लिए ही अहित करनेवाले खेल खेलने लगते थे, तब भी मैंने तुमसे कोई अप्रिय बात नहीं कही । मैं तो तुमसे सदा असाधारण स्नेह करता आ रहा हूँ, फिर तुम अकारण ही मुझसे क्यों रूठ गये हो ?॥५९॥ तुम अपने वचनामृतसे मेरे इन दोनों कानोंको पहलेकी भाँति सुखी करो । तुम्हारे बारेमें अकारण ही अकुशलकी आशङ्कासे तुम्हारा यह पिता व्याकुल हो रहा है । तुम इसकी उपेक्षा क्यों कर रहे हो ? ॥६०॥ हे बेटे ! यदि किसी कारणसे मेरे प्रति निरादरका भाव हो गया था, तो इस माँ से जो तुम्हारा स्वाभाविक वात्सल्य रहा, उसे यों ही क्यों छोड़

---

१. क ख ग घ म प्रविहाय । २. अ अयि सूनु । ३. एष टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु तु 'मदङ्कदुर्ललित' इत्येव दृश्यते । ४. =कुत्र । ५. आ लिट् ! ६. आ अयासि श स आयासि । ७. =अमङ्गलम् । ८. =तच्छङ्कितया । ९. =तच्छङ्कनशीलत्वेन । १०. =व्याकुलम् । ११. =किमुपेक्षां करोषि । १२. श स ईक्ष ।

गुणिनं मनोरथशताधिगतं निजवंशवारिधिविधुं विधिना ।
हरता भवन्तमकृपेण मम क्षतमक्षियुग्ममुपदर्श्य निधिम् ॥६२॥
पदवीमतीत्य तमसां तपता भुवनोदयाचलशिखामणिना ।
रहितास्त्वया स्वजनवत्सल मे तिमिरावृता इव विभान्ति दिशः ॥६३॥
दिनमद्य मे गतमनुत्सवतां शरणोज्झितोऽद्य मम बन्धुजनः ।
भवदीयदुःसहवियोगभवत्तनुदेहयष्टिरहमद्य मृतः ॥६४॥
यशसः सुखस्य विभवस्य तथा महसस्त्वमेव मम हेतुरभूः ।
व्रजता त्वया भुवनभूषण तद्व्यपहस्तितं सकलमेकपदे ॥६५॥

वत्सलता वात्सल्यम् । अनिमित्तमेव कारणरहितमेव । किं किंनिमित्तम् । रहिता त्यक्ता ॥६१॥ गुणिनमिति । गुणिनं गुणवन्तम् । मनोरथशताधिगतं मनोरथानां मनोऽभीष्टानां शतम् अनेकम् [तेन] अधिगतमागतम् । निजवंशवारिधिविधुं निजस्य स्वस्य वंश एव वारिधिस्तस्य[1] विधुरिव तम् । विधिना दैवेन । भवन्तं पुत्रं त्वाम् । हरता अपहरता । अकृपेण दयारहितेन । निधिं पद्मशङ्खादिकम् । उपदर्श्य दर्शयित्वा । अक्षियुग्मम् अक्ष्णोर्नयनयो र्युग्मं युगलम् । क्षतम् अपकृतम् ॥६२॥ पदवीमिति । स्वजनवत्सल[3] ! स्वस्य स्वकीयस्य जनेषु बन्धुषु वत्सलो वात्सल्ययुक्तः (तत्संबुद्धौ हे स्वजनवत्सल)। तमसाम् अज्ञानानाम् । पदवीं मार्गम् । अतीत्य[4] बध्वा । तपता प्रज्वलता । [5]भुवनोदयाचलशिखामणिना [6]भुवनमेवोदयाचलस्तस्य शिखामणिश्चूडामणिः[7] तेन । रूपकम् । त्वया भवता । रहिताः त्यक्ताः । दिशः ककुभः । मे मम । तिमिरावृता इव तिमिरेणान्धकारेणावृता व्याप्ता इव । विभान्ति विराजन्ते । भा दीप्तौ लट् । उपमा ॥६३॥ दिनमिति । मे मम । अद्य इदानीम् । दिनं दिवसः । अनुत्सवताम् । उत्सवरहितत्वम् । गतं प्राप्तम् । अद्य इदानीम् । मम मे । बन्धुजनः बन्धुरेव जनस्तथोक्तः । शरणोज्झितः शरणेन रक्षणेनोज्झितो रहितः । भवदीयदुःसहवियोगभवत्तनुदेहयष्टिः भवदीयेन भवता जनितेन दुःसहेन सोढुमशक्येन वियोगेन वियोजनेन भवन्ती जायमाना तन्वी कृशा देहयष्टिः शरीरयष्टिर्यस्य सः – भवज्जनितातिदुःसहेन वियोगेन कृशीभूतशरीरवानित्यर्थः । अहम् अद्य इदानीम् । मृतः[8] म्रियते स्म ॥६४॥ यशस इति । भुवनभूषण । भुवनस्य लोकस्य भूषणमलङ्कार (स्तत्संबुद्धौ हे भुवनभूषण)। मम मे । यशसः कीर्तेः । सुखस्य । विभवस्य संपदः । तथा तेन प्रकारेण । महसः तेजसः । त्वमेव भवानेव । हेतुः कारणम् । अभूः अभवः । व्रजता गच्छता । त्वया । एकपदे एकक्षणे ।

दिया ? ॥६१॥ बेटे; तुम गुणवान् हो; सैकड़ों मनोरथोंके बाद तुम मुझे प्राप्त हुए; और इस वंश रूपी समुद्रके लिए तुम साक्षात् चन्द्रमा हो । निर्दय विधाताने तुम्हारा हरण करके तो जैसे निधि दिखलाकर मेरी दोनों आँखें ही फोड़ डाली हैं ॥६२॥ जैसे अन्धकारको हटाकर तपनेवाले और उदयाचलके शिखरपर उसके चूडामणि सरीखे प्रतीत होने वाले सूर्यके बिना समस्त दिशाओंमें अन्धकार फैल जाता है, वैसे ही अज्ञानके अन्धकारको दूरकर ज्ञानका प्रकाश फैलाने वाले, शत्रुओंको सन्ताप देने वाले और उदयाचलकी भाँति उन्नत संसार (मानव समाज)के मस्तकपर चूडामणिका स्थान पानेवाले तुम्हारे बिना सभी दिशाओंमें अन्धकार दिखाई दे रहा है ॥६३॥ आजसे मेरे दिन उत्सव रहित हो गये हैं, आजसे मेरे परिवारके लोग अशरण हो गये हैं और हे बेटे ! तेरे असह्य वियोगसे मेरा शरीर सूखकर लकड़ी हुआ जा रहा है । ऐसी अवस्थामें मैं अब मरा ॥६४॥ हे बेटे ! तुमसे संसारकी शोभा रही, इसलिए तुम उसके भूषण थे, और मेरे यश, सुख, ऐश्वर्य तथा तेजके तुमही एक कारण थे । तुम्हारे चले जानेसे वे सब

१. = प्राप्तम् । २. = विधुश्चन्द्रः । ३. आ °वत्सलम् । श स °वत्सलः । ४. = उल्लङ्घ्य । ५. श स भवनो° । ६. श स भवन° । ७. आ श स °मणिरिव । ८. = हतः ।

ललितभ्रु लोचनयुगं[1] वदनं तुहिनद्युतिद्युति वचो मधुरम् ।
भवदीयमङ्ग तदशेषमगान्मम पाप्मभिः स्मरणगोचरताम् ॥६६॥

अपि[2] तद्भवेद्दिनमपुण्यवतः परमोत्सवं पुनरपीह मम ।
विषयत्वमेष्यति विलोचनयोस्तव वत्स यत्र मुखपङ्करुहम् ॥६७॥

किमभूदमीष्वपि न वत्सलता स्वसुहृत्सु काचन कठोरधिया ।
गमनोत्सुकेन सहपांसुरता[3] यदि मे त्वया दयित नालपिताः ॥६८॥

निजभर्तृदुर्व्यसनदुःखचितं शरणोज्झितं प्रविलपन्तमिमम् ।
सपदि प्रदर्शितपदाम्बुरुहः सुखिनं कुरुष्व नृपभृङ्गचयम् ॥६९॥

तत्सकलं तत्सर्वम् । व्यपहस्तितं । निराकृतम् ॥६५॥ ललितेति । अङ्ग भोः पुत्र । ललितभ्रु ललिते मनोहरे भ्रुवौ नयनपताके यस्य तत् । लोचनयुगं लोचनयोर्युगं युगलम् । तुहिनद्युतिद्युति[4] तुहिनद्युतेश्चन्द्रस्येव द्युतिः कान्ति र्यस्य तस्य संबोधनम् । वदनं मुखम् । मधुरं[5] माधुर्यम् । वचः वचनम् । तदशेषं तत्सकलम् । मम मे । पाप्मभिः पापैः । स्मरणगोचरतां स्मरणस्य चिन्ताया गोचरतां विषयताम् । अगात् अगमत् । इण् गतौ लुङ् । उपमा ॥६६॥ अपीति । भो वत्स भोः पुत्र । यस्मिन् दिवसे । तव भवतः । मुखपङ्करुहं मुखमेव पङ्करुहं कमलम् । मम मे । विलोचनयोर्नयनयोः । विषयत्वं गोचरत्वम् । एष्यति यास्यति । पुनरपि पश्चादपि । इह प्रदेशे । अपुण्यवतोऽपि पुण्यरहितस्यापि । तद्दिनं तदहः । परमोत्सवं परमोत्सवेन युक्तम् । भवेत् स्यात् । भू सत्तायां लुङ् ॥६७॥ किमिति । यदि यत् यस्मात् कारणात् । कठोरधिया कठोरा निष्ठुरा धीर्यस्य तेन । गमनोत्सुकेन गमने प्रयाणे उत्सुकस्तेन । त्वया भवता । सहपांसुरताः सहपांसुक्रीडिताः । इमे एते । नालपिताः नाभाषिताः । दयित भोः पुत्र । अमीषु एतेषु । स्वसुहृत्स्वपि स्वस्य तव सुहृत्स्वपि मित्रेष्वपि । काचन वत्सलता वात्सल्यम् । किं नाभूत् किं निमित्तं नाभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥६८॥ निजेति । निजभर्तृदुर्व्यसनदुःखचितं निजानां स्वेषां भर्तुः प्रभोर्दुर्व्यसनेन दुःसहेन व्यसनेन[6] विपत्त्या दुःखेन कष्टेन चितं युक्तम् । शरणोज्झितं शरणेन रक्षणेनोज्झितं रहितम् । प्रविलपन्तं प्रलापं कुर्वन्तम् । इमम् एनम् । नृपभृङ्गचयं नृपा एव भृङ्गास्तथोक्तास्तेषां चयं समूहम् । सपदि शीघ्रम् । प्रदर्शितपदाम्बुरुहः प्रदर्शितं पदमेवाम्बुरुहं कमलं येन सः । सुखिनं सुखयुक्तम् । कुरुष्व विधत्स्व । डुकृञ् करणे लोट् । रूपकम् ॥६९॥

भी एकदम चले गये ॥६५॥ बेटे ! तुम्हारे सुन्दर भौंवाले नेत्र, चाँद-सा चमकता हुआ चेहरा और मधुर वचन—ये सब मेरे प्रचुर पापकर्मके उदयसे अब केवल स्मृतिके विषय बनकर रह गये हैं—अब केवल उनकी स्मृति ही शेष रही है ॥६६॥ बेटे ! मुझ पापीको क्या फिर भी कभी वह उत्सवका दिन आयगा, जब मैं तेरे मुखकमलको इन आँखोंसे देखूँगा ? ॥६७॥ प्यारे बेटे ! अच्छा, हम लोगोंकी बात जाने दो, पर जिनके साथ तुम बचपनमें धूलिमें खेलते रहे, क्या उन मित्रोंसे भी तुम्हें स्नेह नहीं था, जो तुमने अपनी बुद्धिको इतना कठोर कर लिया कि जानेके लिए उत्सुक होकर उनसे भी कुछ नहीं कह गये । ॥६८॥ यह राज-वर्ग-रूपी भ्रमरमण्डल अपने स्वामी (तुम्हारे)के इस संङ्कटसे अत्यन्त दुःखी हो रहा है और अपनेको अशरण समझकर विलापकर रहा है । इसे अपने चरण कमलोंका दर्शन देकर सुखी करो॥६९॥

---

१. म °भ्रुलोचन° । २. अ अयि । ३. अ सहपांशु° । म सह पांशु° । ४. = तुहिनद्युतिश्चन्द्रस्तस्य द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तत् । ५. = माधुर्योपेतम् । ६. आ मनिता ।

[1]यदसह्यशोकघनकालबलप्रविवृद्धमस्य समुपेत्य पुनः ।
भव वत्स बान्धवजनाश्रुधुनीपयसो निदाघसमयः सहसा ॥७०॥
सुतशोकशङ्कुपरिविद्धमनाः प्रलपन्निति प्रबलबाष्पजलः ।
क्षणमाधिमन्तरयितुं जगृहे परिमूर्च्छया स कृपयेव नृपः ॥७१॥
अथेश्वरश्चन्दनसेचनाद्यैः क्षणादुपायैरपनीतमूर्च्छः ।
व्यलोकयच्चारणमन्तरिक्षे[2] यतिं तपोभूषणनामधेयम् ॥७२॥
दधानमिन्दोः परिवेषभाजस्तुलामतुल्याङ्गरुचा परीतम् ।
तदा तमुद्ग्रीवमुदीक्षमाणा सर्वा सभा विस्मयमाजगाम ॥७३॥

यदिति[3] । वत्स भोः पुत्र । यत् । असह्यशोकघनकालबलप्रविवृद्धम्[4] असह्यः सोढुमशक्यः शोको दुःखं स एव घनकालो वर्षाकालस्तस्य जलेन सलिलेन प्रविवृद्धमेधितम् । अस्य एतस्य । बान्धवजनाश्रुधुनीपयसः बान्धवा एव जनास्तेषामश्रूणां धुनी नदी तस्याः पयस्तस्य । पुनः पश्चात् । सहसा शीघ्रम् । समुपेत्य समीपमागत्य । निदाघसमयः ग्रीष्मकालः । भव भूयाः । भू सत्तायां लोट् । रूपकम् ॥७०॥ सुतेति सुतशोकशङ्कुपरिविद्धमनाः सुतस्य पुत्रस्य शोकः स एव शङ्कुः शल्यं तेन परिविद्धं भिन्नं[5] मनो यस्य सः । [सः] नृपः अजितंजयः । क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम् । 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' इति द्वितीया । आधिं मनःपीडाम् । अन्तरयितुं निवारयितुम् । सकृपयेव[6] कृपया युक्तयेव । परिमूर्च्छया महामूर्च्छया । जगृहे गृहीतः । गृह्[7] उपादाने कर्मणि लिट् । रूपकम् ॥७१॥ अथेति । अथ मूर्च्छानन्तरम् । चन्दनसेचनाद्यैः चन्दनस्य श्रीगन्धजलस्य सेचनाद्यैः सेचनादिभिः । उपायैः कारणैः । क्षणात् अल्पकालात् । अपनीतमूर्च्छः अपनीता मूर्च्छा यस्य सः । ईश्वरः भूपतिः । तपोभूषणनामधेयं तपोभूषणमिति (तपोभूषण इति) नामधेयमभिधानं यस्य तम् । चारणं चारणर्द्धिप्राप्तम् । यतिं मुनिम् । अन्तरिक्षे आकाशे । व्यलोकयत् अपश्यत् । लोकृञ्[8] दर्शने णिजन्ताल्लङ् ॥७२॥ दधानमिति । परिवेषभाजः परिवेषमाश्रितस्य[9] । इन्दोश्चन्द्रस्य । तुलां समानं (समताम्)। दधानं धरन्तम् । अतुल्याङ्गरुचा अतुल्यया निरुपमया अङ्गस्य देहस्य रुचा कान्त्या । परिवेष्टितं तं चारणमुनिम् । तथा नरपतिवीक्षणप्रकारेण । उद्ग्रीवम् उद्गता ग्रीवा यस्मिन् कर्मणि तत् (तथा) । उदीक्षमाणा विलोकमाना । सर्वा सकला । सभा संसत् । विस्मयम् आश्चर्यम् । आजगाम आययौ । गम्लृ गतौ लिट् ।

बेटे ! तुम्हारे जानेसे बन्धुओंके ऊपर असह्य शोकके बादल छा गये हैं, शोकके बादलोंके छा जानेके इस अवसर (बरसात)पर उन (बन्धुओं)की अश्रुनदीमें बाढ़ आगई है । उसे सुखानेके लिए तुम शीघ्र ही आकर ग्रीष्म ऋतु बन जाओ ॥७०॥ पुत्र विरहके शोक रूपी काँटेने चुभकर राजाके कोमल हृदयमें घाव कर दिया, जिससे वह इस तरह विलाप करते-करते रोने लगा और उसकी अश्रुजलकी धारा वेगसे बहने लगी । इस अवसरपर मानो मानसिक व्यथाको दूर करनेके लिए मूर्च्छाने दयासे उसे अपने अधीन कर लिया—वह मूर्च्छित हो गया ॥७१॥ इसके पश्चात् चन्दन-सेचन आदि शीतोपचारसे कुछ ही क्षणोंमें मूर्च्छाके दूर होते ही उसने आकाशमें तपोभूषण नामके चारणमुनिको देखा ॥७२॥ चारों ओर उनके शरीरकी अनुपम प्रभा फैल रही थी, उसके बीचमें वे कान्तिमण्डलके बीचों—बीच पूर्णमासीके चन्द्रमाकी भाँति दृष्टिगोचर हो रहे थे । सारी सभा गर्दन उठाकर उनकी ओर देखने लगी, जिससे उसे बड़ा आश्चर्य

१. अ यदशोक शोक° । २. अ °रिक्षात् । ३. आ श स यदीति । ४. आ श स °जलप्रवृद्धम् । ५. श स खिन्नं । ६. = स नृपः कृपयेव करुणयेव । ७. आ गृहि उपादाने । ८. श स लोकृ । ९. श स °षयुतस्य ।

प्रलापिनीशे करुणार्द्रभावं बिम्बं किमेतद्गतमुष्णरश्मेः ।
वितर्कमेवं जनयञ्जनानां जवेन जज्ञे स नृपान्तवर्ती ॥७४॥
संदर्शनादेव तदा महर्षेस्तपोमयेन ज्वलतोऽङ्गधाम्ना ।
स भूभृतः पुत्रवियोगजन्मा जगाम शोकः सहसा कृशत्वम् ॥७५॥
न यावदद्यापि पवित्रपांसू निषीदतस्तच्चरणौ धरण्याम्[1] ।
ससंभ्रमं तावदुपेत्य भूपः प्रसारयामास निजोत्तरीयम् ॥७६॥
अर्घ्यादिकां सम्यगवाप्य पूजां ससंभ्रमेणोपहितां जनेन ।
स्वहस्तदत्तं नृवरेण पश्चादलंचकारोन्नतमासनं सः ॥७७॥
न तस्य तावानसुसंनिभस्य सूनोर्वियोगेन बभूव शोकः ।
यावान्भुवो भर्तुरभूतपूर्वो मुनीश्वराभ्यागमनेन तोषः ॥७८॥

उपमा ।७३॥ प्रलापनीति[2] । ईशे राज्ञि । प्रलापिनि प्रलापयुक्ते[3] सति । करुणार्द्रभावं करुणया दययार्द्रभावं मृदुभावम् । उष्णरश्मेः सूर्यस्य । गतं यातम् । एतद् इदम् । बिम्बं मण्डलं किम् । एवं प्रकारेण । जनानां लोकानाम् । वितर्कं विचारम् । जनयन् उत्पादयन् । सः मुनिः । जवेन शीघ्रम् । नृपान्तवर्ती नृपस्य राज्ञोऽन्तवर्ती समीपवर्ती । जज्ञे जायते स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे लट् । संशयः ॥७४॥ संदर्शनादिति । तपोमयेन तपोरूपेण । अङ्गधाम्ना देहकान्त्या । उज्ज्वलतः [ज्वलत.] प्रकाशमानस्य । महर्षेः महामुनेः । संदर्शनादेव समीक्षणादेव । तदा तत्समये । भूभृतः भूपस्य । पुत्रवियोगजन्मा पुत्रस्य सूनो वियोगेन जन्मा (जन्म यस्य) जातः । सः शोकः दुखम् । सहसा शीघ्रम् । कृशत्वं कार्श्यम् । जगाम ॥७५॥ नेति । अद्यापि इदानीमपि । पवित्रपांसू पवित्रः पांसु[4]र्धूलि र्ययोस्तौ । तच्चरणौ तस्य मुनेश्चरणौ पादौ । धरण्यां भूमौ । यावत् पर्यन्तं न निषीदतः न तिष्ठतः । तावत्पर्यन्तं ससंभ्रमं संभ्रमसहितं यथा तथा । भूपः भूपतिः । उपेत्य समीपं गत्वा । निजोत्तरीयम् उपरिधृतदुकूलवस्त्रम् । प्रसारयामास प्रस्तारयामास ॥७६॥ अर्घ्येति । ससंभ्रमेण संभ्रमयुक्तेन । जनेन परिजनेन । उपहिताम् आनीताम्[5] । अर्घ्यादिकां[6] सत्कारपूर्विकाम् । पूजाम् अर्चनाम् । सम्यगवाप्य प्राप्य । पश्चात् पुनः । नृवरेण नरपतिना । स्वहस्तदत्तं स्वस्य हस्तेन पाणिना दत्तं वितीर्णम् । उन्नतं प्रांशुः[7] । आसनं विष्टरम् । सः चारणमुनिः । अलंचकार अलंकरोति स्म ॥७७॥ नेति । भुवः भूमेः । भर्तुः प्रभोः । मुनीश्वराभ्यागमनेन मुनीन्द्राभ्यागमनेन । अभूतपूर्वः पूर्वमभूतोऽभूतपूर्वः । यावान् यन्मानमस्य यावान् । 'यत्तदः' इति वतु-प्रत्ययः । तोषः संतोषः । बभूव भवति स्म । तस्य असुसंनिभस्य असूनां प्राणानां

हुआ ॥७३॥ उन्हें बड़े वेगसे राजाके निकट आते देखकर लोगोंके मनमें यह तर्क उत्पन्न हो रहा था कि इसके विलापसे दयार्द्र होकर कहीं सूर्यका बिम्ब तो नहीं उतरता चला आ रहा है ? कुछ ही क्षणोंमें वे राजाके निकट जा पहुँचे ॥७४॥ महर्षिके शरीरपर तपका तेज था । उससे वे प्रज्वलित अग्नि सरीखे प्रकाशमान हो रहे थे । उनके दर्शन पाते ही राजाका पुत्र-वियोगसे उत्पन्न हुआ शोक एका-एक कम हो गया ॥७५॥ धूलिको भी पवित्रकर देनेवाले उनके चरण अभी पृथ्वीपर पहुँच ही नहीं पाये थे कि राजाने शीघ्र ही उनके निकट जाकर अपना दुपट्टा बिछा दिया ॥७६॥ राजाके पास उस समय जो लोग उपस्थित थे, वे शीघ्र ही अर्घ आदि सामग्री ले आये । इसके पश्चात् मुनिराजके विराजनेके लिए राजाने स्वयं अपने हाथसे ऊँचा आसन दिया । उसे उन्होंने अलङ्कृत किया––वे उसपर बैठ गये ॥७७॥ अपने प्राण-प्रिय पुत्रके वियोगसे राजाको उतना शोक नहीं हुआ, जितना मुनिराजके पधारनेसे सन्तोष

---

१. म धारिण्याम् । २. श स प्रलापेति । ३. श स प्रलापे विप्रलापयुक्ते । ४. आ पवित्रपांसुः । ५. आ श स मानिताम् । ६. = अर्घादिसामग्रीसमेताम् । ७. श स प्रांशुम् ।

अस्पृष्टपांसू अपि खेचरत्वात्कृतादरः शान्त्युदकार्थमेव ।
प्रक्षालयामास मुनीन्द्रपादौ नृपः पयोभिः प्रमदाश्रुमिश्रैः ॥७९॥
तस्मिन्नधीताशिषि साधुमुख्ये सप्रश्रयां वाचमुवाच भूपः ।
दन्तांशुभिः कुन्ददलैरिवासौ समर्चयन्पादयुगं तदीयम् ॥८०॥
जातोऽहमद्येन्दुसमानकीर्तिर्धन्यः कृतार्थो जगतश्च मान्यः ।
यदभ्युपेतो मदनुग्रहार्थी मनोरथस्यापि भवानभूमिः ॥८१॥
न काचिदीहा कृतकृत्यभावान्न च क्वचित्प्रेम समत्वयोगात् ।
इयं हि कल्याणकरी प्रवृत्तिर्जगद्धितायैव भवादृशानाम् ॥८२॥

संनिभस्य समानस्य । वियोगेन वियोजनेन । तावान् तन्मात्र(तन्मान-)मस्य तावान् तत्प्रमाणः । शोकः दुःखम् । न बभूव ॥७८॥ अस्पृष्टेति । कृतादरः[2] विहितप्रीतिः । नृपः अजितंजयः । खेचरत्वात् आकाशचरत्वात् । अस्पृष्टपांसू अस्पृष्टः पांसुर्धूलि र्ययोः (याभ्यां) तौ । अपि । मुनीन्द्रपादौ मुनीन्द्रस्य पादौ चरणौ । प्रमदाश्रुमिश्रैः प्रमदादानन्दाज्जातेनाश्रुणा नेत्रोदकेन मिश्रैर्युक्तैः । पयोभिः सलिलैः । शान्त्युदकार्थमेव शान्तिसलिलनिमित्तमेव । प्रक्षालयामास प्रक्षालयतिस्म । क्षल शौचकर्मणि लिट् ॥७९॥ तस्मिन्निति । तस्मिन् साधुमुख्ये मुनीन्द्रे । अधीताशिषि प्रोक्ताशीर्वादे सति । असौ भूपः अजितंजयभूपतिः । कुन्ददलैरिव कुन्दस्य माध्यस्य दलैरिव पुष्पैरिव । दन्तांशुभिः दन्तकान्तिभिः । तदीयं तस्येदं तदीयम् । पादयुगं पादयोर्युगं द्वन्द्वम् । समर्चयन् पूजयन् । सप्रश्रयां विनययुताम् । वाचं वचनम् । उवाच ब्रवीतिस्म । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । 'अस्ति—' इत्यादिना वचादेशः । उपमा ॥८०॥ जात इति । मनोरथस्य अभिलाषस्य । अभूमिः अनिवासोऽपि । मदनुग्रहार्थी ममानुग्रहार्थी उपकारे प्रीतः । भवान् त्वम् । यत् अभ्युपेतः आगतवान् । (तत्) अद्य इदानीम् । अहम् इन्दुसमानकीर्तिः इन्दोश्चन्द्रस्य समाना कीर्तिर्यस्य सः । धन्यः[3] धनं लब्धो धन्यः । कृतार्थः संपूर्णप्रयोजनः । जगतश्च लोकस्य (च) मान्यः पूज्यः । जातः[4] जायते स्म ॥८१॥ नेति । कृतकृत्यभावात् निष्पन्नकार्यत्वात् । काचिद् ईहा वाञ्छा । न न भवति । समत्वयोगात् समत्वस्य समानपरिणामयोगात् । क्वचित् कस्मिश्चित् । प्रेम रागः । न च न भवति । भवादृशानां त्वादृशानाम् । कल्याणकरी मङ्गलकरी ।

हुआ । ऐसा सन्तोष अपने जीवनमें उसे पहली बार हुआ ॥७८॥ आकाशचारी होनेसे मुनिराजके चरणोंको यद्यपि धूलि छू भी नहीं सकी थी, किन्तु फिर भी केवल शान्ति-जलके लिए ही राजाने उनका आदरपूर्वक जलसे प्रक्षाल किया । प्रक्षाल करते समय उसकी आँखोंसे हर्षाश्रु प्रवाहित हो रहे थे ॥७९॥ इसके बाद मुनिराजने राजाको आशीर्वाद दिया । आशीर्वाद पाकर वह कुन्दपुष्पोंके समान अपने दाँतोंकी किरणोंसे मानो उनके चरणोंकी अर्चना करता हुआ विनम्र शब्दोंमें यों कहने लगा—॥८०॥ मुनिराज ! आज मेरी चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्ति उत्पन्न हो गई है, मैं धन्य, कृतकृत्य और लोकमान्य हो गया हूँ; क्योंकि केवल मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए आप यहाँ पधारे हैं । मैं तो कभी इसकी आशा भी नहीं कर सकता था; क्योंकि आपको ऐसा कोई मनोरथ नहीं हो सकता, जिसकी पूर्तिके लिए आप मेरे ऐसे व्यक्तिके घर पधारें ॥८१॥ आपको अब कोई कामना नहीं; क्योंकि आप कृतकृत्य हो चुके हैं, और आपको किसीसे राग नहीं; क्योंकि आप सभीके प्रति समभाव रखते हैं । किन्तु फिर भी आप जैसे महर्षियों की यह भ्रमण करनेकी प्रवृत्ति केवल लोकहितके लिए ही हुआ करती

---

१. म शमत्व° । २. =विहितादरः । ३. =पुण्यवान् । 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः' इति हैमः । ४. आ श स जातेति । =संवृतः ।

निमज्जतो मे परिमूढबुद्धेरेवंविधे बन्धुवियोगदुःखे ।
मनः समुच्छ्वासि कृतं त्वयैव त्वं बान्धवेभ्योऽपि यतोऽसि बन्धुः ॥८३॥
इति श्रुतिह्लादि वचो ब्रुवाणं महीपतिं भक्तिभरावनम्रम् ।
जगाद भव्याम्बुरुहैकभानुर्मुनिर्मनोहारिभिरुक्तिभेदैः ॥८४॥
नराधिप त्वां प्रियविप्रयुक्तं विलोक्य दिव्येन [1]विलोचनेन ।
गुणानुरागादहमागतोऽस्मि गुणेषु केषां न मनोऽनुरक्तम् ॥८५॥
श्रुतान्वितस्यान्त्यशरीरभाजस्तत्त्वावबोधक्रममाणबुद्धेः ।
भवस्थितिस्ते विनिवेद्यमाना शतक्रतोर्नाककथेव भाति ॥८६॥

इयम् एषा । प्रवृत्तिः प्रवर्तनम् । जगद्धितायैव जगतो हितायैव उपकारायैव ॥८२॥ निमज्जत इति । एवंविधे एवंविधा यस्य तस्मिन् । बन्धुवियोगदुःखे बन्धोर्वियोगाज्जाते दुःखे । निमज्जतः[2] निमज्जस्य । परिमूढबुद्धेः परिमूढा भ्रान्ता बुद्धिर्मति र्यस्य तस्य । मे मम । मनः मानसम् । यतः यस्मात् । त्वयैव भवतैव । समुच्छ्वासि संतोषयुक्तम् । कृतं[3] क्रियते स्म । (ततः) त्वं भवान् । बान्धवेभ्योऽपि बन्धुभ्योऽपि । बन्धुः अधिकबन्धुः । असि भवसि । अस भुवि लट् ॥८३॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । श्रुतिह्लादि श्रुतेः कर्णस्य ह्लादि सुखकारि । वचः वचनम् । ब्रुवन्तं निगदन्तम् । भक्तिभरावनम्रं भक्त्या भरो भारस्तेन नमतीत्येवं शीलं (नमतीत्येवं शीलः, तम्) । 'नम्कम्—' इत्यादिना शीलार्थे र-प्रत्ययः । महीपतिम् अजितंजयभूपतिम् । भव्याम्बुरुहैकभानुः भव्या विनेयजनास्त एवाम्बुरुहाणि कमलानि तेषामेको मुख्यो भानुरिव प्रवर्तमानः । मुनिः यतीन्द्रः । मनोहारिभिः मनःसंतोषकारिभिः । उक्तिभेदैः वचनविशेषैः । जगाद गदति स्म । रूपकम् ॥८४॥ नरेति । नराधिप नरपते । प्रियविप्रयुक्तं प्रियेण पुत्रेण विप्रयुक्तं वियोगसहितम् । त्वां भवन्तम् । दिव्येन दिव्यरूपेण । विलोचनेन ज्ञानेन । विलोक्य दृष्ट्वा । गुणानुरागात् गुणेष्वनुरागात् । अहम् आगतः आयातः । अस्मि भवामि । गुणेषु[4] केषां[5] पुरुषाणाम् । मनः मानसम् । अनुरक्तं प्रीतं न, अपि त्वनुरक्तमेव । अर्थान्तरन्यासः ॥८५॥ श्रुतेति । श्रुतान्वितस्य श्रुतेन शास्त्रेणान्वितस्य युक्तस्य । अन्त्यशरीरभाजः अन्त्यं चरमं शरीरं भजतीत्यन्त्यशरीरभाक् तस्य । तत्त्वावबोधक्रममाणबुद्धेः तत्त्वावबोधे तत्त्वपरिज्ञाने क्रममाणा वर्तमाना बुद्धिर्यस्य तस्य । ते तव । विनिवेद्यमाना ज्ञाप्यमाना । भवस्थितिः भवस्य संसारस्य स्थितिः । शतक्रतोः देवेन्द्रस्य । नाककथेव नाकस्य स्वर्गस्य कथेव कथनमिव–इन्द्रो यथा सुरलोकस्वरूपं स्वत–

है ॥८२॥ मुनिराज ! मैं ऐसे पुत्रवियोगके दुःख-समुद्रमें डूब रहा था कि मेरी बुद्धि सर्वथा मूढ-विचारशून्य हुई जा रही थी, इतनेमें आपका समागम हो जानेसे मेरा मन सुखकी श्वास लेने लगा है । आपके आनेसे ही मेरा मन सन्तुष्ट हुआ है जिससे यह स्पष्ट ही समझ गया हूँ कि आप बन्धुओंसे भी बढ़कर बन्धु हैं ॥८३॥ कानोंको आनन्द देनेवाले इन मधुर वचनोंको मुनिराजसे कहकर वह राजा मौन हो गया । मुनिराजके सामने वह भक्तिसे नम्र होकर बैठ गया इसके पश्चात् वे मुनिराज, जो भव्यजीवरूपी कमलोंको आनन्द देनेके लिए एकमात्र सूर्य थे, मनोहर शब्दोंमें इस प्रकार बोले—॥८४॥ राजन् ! अपने दिव्यनेत्र-अवधिज्ञानसे तुम्हें पुत्रसे वियुक्त जानकर मैं यहाँ तुम्हारे गुणोंके ऊपर अनुराग होनेसे आया हूँ । गुणोंके ऊपर किनका मन अनुरक्त नहीं होता ? ॥८५॥ राजन् ! तुमने शास्त्रोंका परिशीलन किया है, तुम्हारी बुद्धि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें लगी हुई है और तुम चरम शरीरी हो—तुम इसी जन्ममें मुक्ति पा लोगे । अतएव तुम्हें संसारकी स्थिति बताना इन्द्रको स्वर्गकी कथा सुनानेके समान मालूम

१. म सुलोचं । २. = बुडतः । ३. = विहितम् । ४. आ गुणिषु । = गुणेषु गुणवत्सु वा ।
५. श स तेषाम् ।

अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ साधारणौ सर्वशरीरभाजाम् ।
इत्यात्मबुद्ध्या विगणय्य विद्वान्न खेदयत्यात्ममनो विषादैः ॥८७॥
अर्हस्यतस्त्वं प्रविधातुमेनं शरीरसंतापकरं न शोकम् ।
विपत्सु दैवोपनिबन्धनासु प्रखिद्यते कातरधीर्न धीरः ॥८८॥
विशङ्कमानोऽकुशलं तनूजे खेदं महीमण्डन मा च यासीः[1] ।
संयोक्ष्यसि[2] त्वं दिवसैः कियद्भिः समृद्धिभाजा निजनन्दनेन ॥८९॥
इति गिरमभिधाय निश्चितार्थां गतवति तत्र निजाश्रमं मुनीन्द्रे ।
स निखिलमकृताह्निकं विधेयं प्रहितनरेन्द्रनियोगिमन्त्रिवर्गः ॥९०॥

एव परोपदेशं विनैव जानाति तथा त्वमपि संसारस्वरूपं सर्वं जानासीत्यभिप्रायः । भारती भाषा (?) । भाति । उपमा ॥८६॥ अनिष्टेति । सर्वशरीरभाजां सर्वेषां शरीरभाजां संसारिणाम् । अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ अनिष्टस्याहितवस्तुनो योगश्च संबन्धश्च प्रियस्येष्टवस्तुनो विप्रयोगश्च वियोगश्च तौ । साधारणौ समानौ । इति एवं प्रकारेण । आत्मबुद्ध्या स्वस्य बुद्ध्या । विगणय्य विचार्य । विद्वान् ज्ञानी । आत्ममनोविषादैः आत्मनः स्वस्य मानसशोकैः[3] । न खेदयति न पीडयति । खिदि दैन्ये[4] लट् ॥८७॥ अर्हस्येति[5] । अतः एतस्मात्[6] । त्वं भवान् । शरीरसंतापकरं शरीरस्य संतापकरं दाहकरम् । एनं शोकं दुःखम् । प्रविधातुं कर्तुम् । नार्हसि न समर्थोऽसि । दैवोपनिबन्धनासु दैवमदृष्टमेवोपनिबन्धनं कारणं यासां तासु । विपत्सु विपत्तिषु । कातरधीः कातरा भीता धीर्यस्य सः । प्रखिद्यते विषादं करोति । धीरः विद्वान् न प्रखिद्यते । खिदि दैन्ये लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥८८॥ विशङ्केति । महीमण्डन भो भूमितिलक । तनूजे तनये । अकुशलं कष्टम् (अमङ्गलम्) विशङ्कमानः शङ्कां कुर्वन् । खेदं दुःखम् । मा च (मा स्म) यासीः मा गाः । या प्रापणे लुङ् । समृद्धिभाजा समृद्धिं भजतीति समृद्धिभाक् तेन । निजनन्दनेन निजस्य स्वस्य नन्दनेन पुत्रेण । कियद्भिः कतिपयैः । दिवसैः दिनैः । त्वं भवान् । संयोक्ष्यसि संबन्धं प्राप्स्यसि । युजृ् योगे कर्मणि लृट्[7] ॥८९॥ इतीति । तत्र तस्मिन् । निश्चितार्थां निर्णीताभिप्रायाम् । गिरं वाचम् । इति उक्तप्रकारेण । अभिधाय उदीर्य । मुनीन्द्रे मुनीश्वरे । निजाश्रमं निजस्य स्वस्याश्रमं स्थानम् । गतवति यातवति सति । प्रहितनरेन्द्रनियोग [गि] मन्त्रिवर्गः प्रहितो विसर्जितो नरेन्द्राणां भूपानां नियोग [गि] पुरुषाणां मन्त्रिणां वर्गः समूहो येन सः । सः राजा । निखिलं सकलम् । आह्निकं दिने प्रवर्तमानम् । विधेयं कार्यम् । अकृत अकरोत । डुकृञ्करणे लुङ् ॥९०॥

होता है । जिस प्रकार इन्द्रस्वर्गकी स्थितिको स्वयं जानता है इसी प्रकार तुम भी संसारकी स्थितिको स्वयं जानते हो ॥८६॥ इस संसारमें जितने शरीरधारी-प्राणी हैं, उन सभीके साथ इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग समान रूपसे लगे हुए हैं, यह अपनी बुद्धिसे सोचकर बुद्धिमान् मनुष्य विषादसे अपने मनको खिन्न नहीं करते ॥८७॥ अतः तुम्हें शोक करना उचित नहीं; क्योंकि शोक करनेसे शरीरमें सन्ताप होता है, लाभ तो कुछ होता नहीं । पूर्वोपार्जित कर्मोंके कारण विपदाएँ आती हैं । उनके आने पर कायर पुरूष ही खिन्न होते हैं, न कि धीर-वीर ॥८८ । राजन् ! तुम इस भूमिके भूषण हो—तुमसे इसभूमिकी शोभा है । अपने पुत्रके बारेमें अकुशलकी आशङ्कासे खिन्न न होओ । थोड़े ही दिनोंमें अपने समृद्धिशाली पुत्रसे तुम्हारी भेट होगी । ८९॥ निश्चित अर्थसे भरे वचन कहकर मुनिराजने उधर अपने इष्ट स्थानकी ओर प्रस्थान किया, और इधर राजाने भी वहाँ उपस्थित राजाओं, अधिकारियों और मन्त्रियोंको

१. क ख ग घ मावयासीः । मु० मा स्म यासीः । २. क ख ग घ संयोज्यसे । म संयुज्यसे । ३. = विषादैः मानसशोकैः । आत्ममनः आत्मनः स्वस्य मनश्चित्तम् । ४. श स खेदि । ५. श स अर्हसीति । ६. आ तस्मात् । = अतः अस्मात् कारणात् । ७. श स लृङ् ।

दिनैरल्पैरेव प्रथितगुणराशेस्तनुभुवो
विदित्वा संयोगं परममुदयं चोग्रमहसः ।
पठद्बन्दिव्रातस्तुतशशिकलाशुभ्रयशसा
सुखं तस्थे राज्ञा मुनिवचनविश्वस्तमनसा[1] ॥९१॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये पञ्चमः सर्गः ॥५॥

दिनैरिति । प्रथितगुणराशेः प्रथितो गुणानां राशिः समूहो यस्य तस्य । उग्रमहसः उग्रस्तीव्रो (उग्रं तीव्रं) महः प्रतापो यस्य तस्य । तनुभवः कुमारस्य । अल्पैरेव स्तोकैरेव दिनैः । संयोगं संमेलनम् । परमम् उत्कृष्टम् । उदयं च संपदं च । विदित्वा ज्ञात्वा । पठद्बन्दिव्रातस्तुतशशिकलाशुभ्रयशसा पठतां बन्दिनां व्रातेन व्रजेन स्तुतं शशिकलेव चन्द्रकलेव शुभ्रं यशो यस्य तेन । मुनिवचनविश्वस्तमनसा मुनिवचने विश्वस्तं विश्रब्धं मनो यस्य तेन । राज्ञा भूपेन । सुखं तस्थे स्थीयते स्म । ष्ठा[2] गतिनिवृत्तौ भावे लिट् ॥९१॥

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये पञ्चमः सर्गः ॥५॥

बिदाकर अपना सारा दैनिक कार्य पूरा किया ॥९०॥ थोड़े ही दिनोंके बाद, अपने गुणोंसे प्रसिद्ध और अत्यन्त तेजस्वी पुत्रसे भेट होगी। उसका उत्कृष्ट अभ्युदय होगा, यह जानकर राजा सुखसे रहने लगा। मुनिराजके वचनोंपर उसे अपनेमें पूर्ण विश्वास था। अब उसे कोई चिन्ता नहीं रही। सब काम पूर्ववत् चलने लगे उसके चन्द्रकलाकी भाँति धवल यशका, स्तुतिपाठक गान करने लगे ॥९१॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित
महाकाव्यमें पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५॥

---

१. अ मु० °वचसा । २. स श स्था ।

षष्ठः सर्गः

अथ तेन परिभ्रमय्य मुक्तः सरुषासावसुरेण राजसूनुः ।
निपपात मनोरमाभिधाने सरसि [1]प्रोन्मिषदुग्रनक्रचक्रे ॥ १ ॥
गगनात्पतितस्य तस्य घातादपविद्धेषु पयःसु सर्वदिक्कम् ।
जलधाम तदा स्थलीबभूव स्थलमासीच्च जलाशयो मुहूर्तम् ॥ २ ॥
परितः परिचूर्णयन्नुपेतान्मकरादीन्घनमुष्टिपार्ष्णिघातैः ।
प्रकटीकृतपूर्वपुण्यशक्तिस्तटमाप प्रविलङ्घ्य वारि दोर्भ्याम् ॥ ३ ॥

वस्तुस्थिति कथयतस्तव दिव्यमार्गं मिथ्यामतं त्विति वदन्ति कुदर्शनस्थाः ।
यत्पश्य हा विमल तद्विपरीतवृत्ति काले कलौ च विपरीतमतिः स्वभावा[2] (?) ॥

अथेति । अथ मुनीन्द्रबोधनानन्तरम् । सरुषा कोपसहितेन[3] । तेन असुरेण देवविशेषेण । परिभ्रमय्य परितो भ्रामयित्वा । मुक्तः सन् त्यक्तः सन् । असौ अयम् । राजसुनुः राजकुमारः । प्रोन्मिषदुग्रनक्रचक्रे प्रोन्मिषदुद्गच्छदुग्राणां[4] क्रूराणां नक्राणां ग्रहाणां चक्रं वृन्दं यस्मिन् तस्मिन् । मनोरमाभिधाने मनोरमम् इत्यभिधानं यस्य तस्मिन् । सरसि सरोवरे । निपपात पतति स्म । पत्लृ गतौ लिट् । जातिः ॥१॥ गगनादिति । गगनात् आकाशात् । पतितस्य प्रच्युतस्य । तस्य कुमारस्य । घातात् प्रतिस्खलनात् । सर्वदिक्कं सर्वा दिश एव सर्वदिक्कम् । पुनस्तत्[5] (?) । पयःसु सलिलेषु । अपविद्धेषु[6] सत्सु प्राप्तेषु सत्सु । तदा तत्समये । जलधाम जलानां धाम स्थानं सरोवर इत्यर्थः । स्थली बभूव प्रागस्थलमिदानीं स्थलं बभूवेति तथोक्तम्, 'कर्मकर्तृभ्यां प्रागतत्त्वे –' इति च्विः, स्थलं भवति स्म । मुहूर्तं[7] घटिकाद्वयपर्यन्तम् । 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' इति द्वितीया । जलाशयः सरोवरः । स्थलं जलरहितप्रदेशः । आसीच्च अभवच्च । अस भुवि लङ् ॥२॥ परित इति । परितः समन्तात् । उपेतान् समायातान् । मकरादीन् मकरादिजलचरान् । घनमुष्टिपार्ष्णिघातैः घनैर्मुष्टिपार्ष्णीघातैः प्रतिघातैः । परिचूर्णयन् परिमर्दयन् । दोर्भ्यां भुजाभ्याम् । वारि सलिलम् ।

उधर उस चण्डरुचि नामके क्रोधी असुरने राजकुमार अजितसेनको—जिसे वह हर ले गया था—दोनों हाथोंसे चारों ओर घुमाकर फेंक दिया । वह मनोरम नामके सरोवरमें—जिसमें भयंकर मगर-मच्छ उछल-कूद मचा रहे थे—जा गिरा ॥१॥ आकाशसे गिरे हुए उस राजकुमारके आघातसे सरोवरका सारा जल ऊपर की ओर उछल गया, जिससे जलसे लबालब भरा हुआ सरोवर थोड़ी देरके लिए स्थल हो गया और जहाँ-जहाँ वह जल जा गिरा वे स्थल जलमय हो गये ॥ २ ॥ कुछ ही क्षणोंमें सरोवर फिर जलसे भर गया । जलके साथ मगर-मच्छ आदि जल-जन्तु भी वहीं-के-वहीं आ गये, और राजकुमारके ऊपर झपटने लगे । किन्तु पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मकी शक्तिसे उसने उन्हें जोरके मुक्कों और एड़ियोंसे मार-मारकर चकनाचूर कर दिया,

---

१. अ प्रोन्मिल° । २. आ प्रतौ पद्यमिदं न दृश्यते । ३. श स कोपेन सहितेन । ४. आ °षदुच्छलदु° । ५. आ पुस्तत् । ६. श स °रुद्धेषु । ७. = स्वल्पकालं यावत् ।

धवलारुणकृष्णदृष्टिपातैः ककुभः कर्बुरयन्सरोन्तिकस्थः ।
स ददर्श समं ततोऽपि धीरः[1] परुषाख्यामटवीमगम्यरूपाम् ॥ ४ ॥
पृथुतुङ्गनिरन्तरैस्तरूणां निवहैश्छन्नसमस्तदिङ्मुखायाम् ।
निपतन्ति न यत्र तिग्मरश्मेरपि पादा इव दर्भसूचिभीत्या ॥ ५ ॥
मृगराजविदारितेभकुम्भच्युतमुक्ताफलपङ्क्तयः समन्तात् ।
पतिता इव तारका नभस्तस्तरुशाखास्खलनेन भान्ति यस्याम् ॥ ६ ॥
अतिरौद्रकिरातभल्लभिन्नप्रियकास्रारुणिता दधाति भूमिः ।
रुचिरत्वमरण्यदेवतानां चरणालक्तकचर्चितेव यस्याम् ॥ ७ ॥

प्रविलङ्घ्य उल्लङ्घ्य । तटं तीरम् । आप प्राप । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥३॥ धवलेति । धवलारुणकृष्णदृष्टिपातैः धवलारुणकृष्णैः श्वेतलोहितनीलैः दृष्ट्योः पातैः पतनैः । ककुभः दिशः । कर्बुरयन् विचित्रवर्ण (र्णाः) कुर्वन् । सरोऽन्तिकस्थः सरसः सरोवरस्यान्तिकस्थः समीपस्थः । धीरः धीरपुरुषः । सः कुमारः समन्ततोऽपि सर्वतोऽपि । अगम्यरूपाम् अगम्यं गन्तुमशक्यं रूपं यस्यास्ताम् । परुषाख्यां 'परुषा'[2] इत्याख्याऽभिधानं यस्यास्ताम् । अटवीम् अरण्यानीम् । ददर्श पश्यति स्म । दृशृ[3] प्रेक्षणे लिट् ॥४॥ पृथ्वीति । पृथुतुङ्गनिरन्तरैः पृथुभिर्महद्भिस्तुङ्गैरुन्नतैः निरन्तरैः सान्द्रैः । तरूणां वृक्षाणाम् । निवहैः समूहैः । छन्नसमस्तदिङ्मुखायां छन्नानि समस्तानां सर्वासां[4] दिशां मुखानि समस्तदिङ्मुखानि दिग्विवराणि यस्यास्तस्याम् । यत्र अटव्याम् । तिग्मरश्मेरपि सूर्यस्य (अपि) । पादाः किरणाः, चरणा इति ध्वनिः । दर्भसूचिभीत्या दर्भाणां दर्भा एव वा सूचयस्तासां भीत्या भयेनेव । न निपतन्ति न प्रविशन्ति । पत्लृ गतौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥५॥ मृगेति । यस्याम् अटव्याम् । मृगराजविदारितेभकुम्भच्युतमुक्ताफलपंक्तयः मृगाणां राजेन (राज्ञा) सिंहेन विदारितेभ्य इभानां गजानां कुम्भेभ्यः कुम्भस्थलीभ्यश्च्युतास्तथोक्ताः, ताश्च ता मुक्ताफलानां मौक्तिकानां पंक्तयो राजयः । समन्तात् सर्वतः । तरुशाखास्खलनेन तरूणां वृक्षाणां शाखानां स्खलनेन घातेन । नभसः [नभस्तः] आकाशात् । पतिताः प्रच्युताः । तारका इव नक्षत्राणीव । भान्ति विराजन्ते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥६॥ अतीति । यस्याम् अटव्याम् । [5]अतिरौद्रकिरातभल्लभिन्नप्रियकास्रारुणिता अतिरौद्राणाम्[6] अतिकोपिनां किरातानां पुलिन्दानां भल्लैः बाणैः भिन्नानां विदारितानां प्रियकाणां मृगाणामस्रेण रक्तेनारुणिता

और फिर तैरकर किनारेपर जा पहुँचा ॥ ३ ॥ किनारेपर पहुँचते ही वह खड़ा होकर चारों ओर देखने लगा । ऊँचाईसे गिरने, जल जन्तुओंसे जूझने और तैरनेके कारण उसके नेत्र लाल हो गये थे । नेत्रोंके मध्य-भागमें कालापन था और चारों ओर कुछ सफेदी और कुछ लालिमा । इन तीनों वर्णोंकी सम्मिलित प्रभाके सभी ओर पड़नेसे सारी दिशाएँ चितकबरी-सी हो गयीं । वह वीर वहाँसे जानेके लिए मार्ग देखना चाहता था, किन्तु उसे चारों ओरसे परुषा नामकी अटवी दिखलाई पड़ी, जो बहुत ही घनी थी । उससे निकलनेका कोई रास्ता ही नहीं सूझ रहा था ॥ ४ ॥ उसमें सभी ओरसे लगातार ऊँचे और विशाल वृक्षोंके झुण्ड थे, जिनसे सारी दिशाएँ आँखोंसे ओझल हो गयीं थीं । उसमें सुई-सरीखा नुकीला कांस लगा हुआ था । मानो उसकी नोक चुभनेके भयसे सूर्यके भी पाद (किरण, चरण) वहाँ नहीं पड़ते थे ॥ ५ ॥ वहाँ सिंहोंने जिन हाथियोंके गण्डस्थलोंका विदारण किया था, उनकी मुक्ताएँ (गजमुक्ताएँ) चारों ओर पड़ी थीं, उनके देखनेसे ऐसा जान पड़ता था मानों वहाँकी उन्नत-वृक्ष-शाखाओंकी रगड़से आकाशसे ताराएँ टूटकर बिखरी पड़ी हों ॥ ६ ॥ वहाँ अत्यन्त क्रोधी भीलोंने अपने भालोंसे

१. अ क ख ग घ म वीरः । २. आ परुष इति । ३. श स दृशू । ४. आ सर्वाणाम् । ५. श स अतिकाद्रं । ६. श स अतिकाद्राणाम् ।

शबराहतपुण्डरीकयूथैर्विटपालम्बिभिरेकतोऽपरत्र।
हरिहिंसितसामजास्थिकूटैर्जनसंत्रासकरी पुरीव मृत्योः ॥ ८ ॥

मदगन्धिषु सप्तपर्णकेषु प्रचुरप्रान्तलतान्धकारितेषु।
करिशङ्कितया क्रमं दधाना[1] हरयो यत्र भवन्ति वन्ध्यकोपाः ॥ ९ ॥

सततप्रसृतैरपोढशीताः शयुनिःश्वासचयोष्णितैर्मरुद्भिः।
गमयन्ति महीरुहाधिरूढाः[2] शिशिरर्तुं प्लवगाः सुखेन यस्याम् ॥ १० ॥

लोहिता। 'चमूरुप्रियकावपि' इत्यमरः। भूमिः पृथ्वी। अरण्यदेवतानाम् अरण्ये कानने विद्यमानां देवतानां देवीनाम्। चरणालक्तकचर्चितेव चरणानां पादानामलक्तकेन यावकरसेन चर्चितेव लिप्तेव। रुचिरं मनोहरम् [रुचिरत्वं मनोहरत्वम्]। दधाति धरति। डुधाञ् धारणे च लट्। उत्प्रेक्षा ॥७॥ शबरेति। एकतः एकस्मिन् एकतः—एकप्रदेशे। विटपालम्बिभिः विटपेषु शाखासु लम्बिभिः। 'विटपः पल्लवे षिङ्गे[3] विस्तारे स्तम्बशाखयोः' इति विश्वः। शबराहतपुण्डरीकयूथैः शबरैर्व्याधैराहतानां घातितानां[4] पुण्डरीकाणां व्याघ्राणां यूथैः समूहैः। परत्र अन्यप्रदेशे।[5] हरिहिंसितसामजास्थिकूटैः। हरिभिः सिंहैर्हिंसितानामाघातानां[6] सामजानां गजानामस्थ्नां कूटैः राशिभिः। मृत्योः यमस्य। पुरीव पत्तनमिव। जनसंत्रासकरी जनानां लोकानां संत्रासकरी भयङ्करी। भाति। उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥८॥ मदेति। यत्र अटव्याम्। मदगन्धिषु मद इव मदजल इव[7] गन्धिषु परिमलयुक्तेषु। प्रचुरप्रान्तलतान्धकारितेषु प्रचुराभिः प्रान्ते समीपे विद्यमानाभिर्लताभिरन्धकारितेषु ध्वान्तयुक्तेषु। सप्तपर्णकेषु कर्पूरकदलीषु। करिशङ्कितया गजसंदिग्धतया। क्रमं पादम्। दधानाः। धरन्तः। हरयः सिंहाः। वन्ध्यकोपाः निष्फलक्रोधाः। भवन्ति सन्ति। भू सत्तायां लट् ॥९॥ सततेति। यस्याम् अटव्याम्। महीरुहाधिरूढाः महीरुहान् वृक्षान् अधिरूढा[8] आरूढवन्तः। प्लवगाः वानराः। सततप्रसृतैः सततमनवरतं प्रसृतैः व्याप्तैः। शयुनिःश्वासचयोष्णितैः शयूनां[9] सर्पविशेषाणां निश्वासानामन्तर्बहिर्गतवायूनां चयेन समूहेनोष्णितैः संजातोष्णैः। मरुद्भिः वायुभिः। अपोढशीताः अपोढं निराकृतं शीतं हिमं येषां ते। शिशिरर्तुं

जिन मृगोंका शिकार किया था, उनके रक्तसे पृथ्वी लाल हो गयी थी, जो ऐसी जान पड़ती थी मानो वन देवियोंके चरणोंके महावरसे रंग गयी हो ॥ ७ ॥ जहाँ एक ओर वृक्षोंकी शाखाओंपर वे वाघ लटक रहे थे, जिन्हें भीलोंने अभी-अभी मारा है और दूसरी ओर सिंहोंके द्वारा मारे गये हाथियोंकी हड्डियोंके ढेर लगे हुए थे। फलतः वह अटवी यमपुरीके समान, मानवको भयावनी हो गयी थी ॥ ८ ॥ वहाँ सप्तच्छद (कर्पूरकदली) वृक्ष लगे हुए थे : उनकी गन्ध हाथियोंके मदजलकी गन्धके समान थी। उनके आस-पास सघन लताएँ छाई हुई थीं। अतएव वहाँ सदा अन्धकार रहता था। फलतः वहाँ सिंहोंको हाथियोंका भ्रम हो जाया करता था, जिससे वे छलांग मारकर सप्तच्छद-वृक्षोंके ऊपर पंजोंका प्रहार कर बैठते थे। यद्यपि उनका यह क्रोध व्यर्थ ही होता था ॥९॥॥ वहाँ अजगरोंकी श्वाससे वायु गरम होकर बहा करती थी। अतः वृक्षोंपर चढ़े हुए बन्दरोंको जाड़ा नहीं सताता था। वे शिशिर ऋतु सुखपूर्वक बिताया करते थे

---

१. अ आ इ ददानाः। २. क ख ग घ भ महीधराधि°। ३. आ षण्डे। ४. आ घातनां। ५. आ अन्यत्रप्र°। ६. = मारितानां विदारितानां वा। ७. = मदजलमिव। ८. = चटिताः। ९. = अजगराणां।

घनपादपसंकटा[1]न्तराले गहने यत्र स जातदिक्प्रमोहः ।
विनिचाय्य चिराद्वनेचराणां पदवीं निर्भयमानसः प्रतस्थे ॥ ११ ॥
गुरुवंशमथाप्रमाणसत्त्वं स्थितिमत्युन्नतिशालिनीं दधानम् ।
रुचिराकृतिमेकमालुलोके स्वसमानं स नगं गजेन्द्रगामी ॥ १२ ॥
बहुनागमनेकखड्गिसेव्यं तमिलानाथमिव प्रसादिताशम्[2] ।
गगनस्पृशमारुरोह शैलं वनपर्यन्तबुभुत्सया कुमारः ॥ १३ ॥

शीतकालम् । सुखेन[3] निरायासेन । गमयन्ति यापयन्ति । गम्लृ गतौ णिजन्ताल्लट् ॥१०॥ घनेति । [घनपादपसङ्कटान्तराले] घनैः सान्द्रैः पादपैस्तरुभिः सङ्कटं सङ्कीर्णमन्तरालं मध्यं यस्मिन् तस्मिन् । तत्र तस्मिन् कानने । जातदिक्प्रमोहः जात उत्पन्नो दिशां प्रमोहो भ्रमो यस्य सः । सः अजितसेनकुमारः । वनेचराणां व्याधानाम् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति क्वचित् श्लुगभावः । पदवीं मार्गम् । चिरात्[4] शनैः विनिचाय्य[5] विलोक्य । चाय पूजानिशामनयोः[6] । निर्भयमानसः सन् निर्भयं भयरहितं मानसं यस्य सः, सन् । प्रतस्थे प्रययौ ॥११॥ गुरुवंशमिति । अथ प्रस्थानानन्तरम् । गजेन्द्रगामी गजेन्द्र इव गच्छतीत्येवं शीलो मन्दगामीत्यर्थः । सः कुमारः । गुरुवंशं गुरवो महान्तो वंशा वेणवो यस्मिन् तम्, पक्षे गुरुर्महान् वंशः कुलं यस्य तम् । अप्रमाणसत्त्वम् अप्रमाणा सत्त्वाः[7] प्राणिनो यस्मिन् तम्, पक्षे बहलसामर्थ्यम् । अत्युन्नत [ति] शालिनीम्[8] अत्युन्नतया शालिनीं संपूर्णां स्थितिं व्यवस्थितिं, पक्षे मर्यादाम् । दधानं धरन्तम् । रुचिराकृतिं रुचिराकृतिर्यस्य तम् । एकं स्वसमानम् । नगं पर्वतम् । आलुलोके ददर्श । लोकृ[9] दर्शने लिट् । श्लेषोपमा ॥१२॥ बह्विति । बहुनागं बहवो नागाः कुञ्जरा यस्मिन् तम् । अनेकखड्गिसेव्यम् अनेकैर्बहुलैः खड्गिभिः खड्गमृगैः, पक्षे, वीरभटैश्च सेव्यं सेवनीयम् । प्रसादिताशं प्रसादिताः[10] प्रसन्ना आशा दिशो येन तम्, पक्षे प्रसादिताभिलाषम् । गगनस्पृशम्[11] आकाशस्पृशम् । इलानाथमिव भूमिनाथमिव । तं शैलं पर्वतम् । कुमारः अजितसेनः । वनपर्यन्तबुभुत्सया वनस्य काननस्य पर्यन्तमवसानं[12] बुभुत्सया बोद्धुमिच्छया आरुरोह आरोहतिस्म । रुह बीज-

॥१०॥ उस अटवीके बीचमें सघन वृक्षावली थी, इस कारण राजकुमार अजितसेनको दिशा पहचाननेमें भ्रम हो गया । बहुत देरके बाद उसे खोज करनेपर भीलोंका एक आने-जानेका मार्ग मिला । उसी मार्गसे वह निर्भय होकर चल पड़ा ॥ ११ ॥ गजराजकी भाँति गमन करनेवाला वह राजकुमार ज्यों ही कुछ आगे बढ़ा त्योंही उसे एक पहाड़ दिखलाई दिया । वह उसी राजकुमारके समान था । राजकुमार श्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न हुआ था, पहाड़में बड़े-बड़े बांस लगे हुए थे । राजकुमारमें अपरिमित बल था, पहाड़में अपरिमित प्राणी थे । राजकुमार उत्तरोत्तर उन्नतिसे सुशोभित व्यवस्थासे युक्त था, पहाड़ श्रेष्ठ ऊँचाईसे युक्त था । राजकुमार का आकार सुन्दर था और पहाड़ भी दर्शनीय था । इस तरह वंश (वंश, बांस), सत्त्व (बल, प्राणी), स्थिति (व्यवस्था, मर्यादा) और सुन्दरताकी दृष्टिसे दोनों समान थे ॥ १२) वह पहाड़ राजाके समान था । राजाके पास बहुत हाथी होते हैं; उसकी सेवा खड्गधारी सिपाही करते हैं; वह सबके मनोरथको पूरा करता है और वह गगनचुम्बी महलोंपर चढ़कर आकाशको छूता है । इसी प्रकार वह पहाड़ बहुत हाथियों और सर्पोंसे युक्त था; उसपर गैंडे निवास करते थे; वह सभी दिशाओंको प्रसन्न करता था और उन्नत शिखरोंसे आकाशको छू रहा था । राजकुमार

१. आ इ °पादपसंघटा° । २. °धिताशम् । ३. = सुखपूर्वकम् । ४. = चिरं । ५. आ विनिचार्य विलोक्य । जायृञ् पूजानिशामनयोः । ६. = 'निशामनं चाक्षुषज्ञानम्' इति माधवः । ७. = सत्त्वानि । ८. = अत्युन्नत्या शालते शोभत इत्येवंशीलाताम् अतिसमुन्नतिशोभमानामित्यर्थः । ९. आ लोकृञ् । १०. = प्रसादं प्रापिता आशा दिशो येन तम् । ११. = गगनचुम्बिनमत्युन्नतमित्यर्थः । १२. = तद्बुभुत्सया तद्बोद्धुमिच्छया ।

स्फुरदोष्ठतटः[1] करालवक्त्रो भुजदण्डभ्रमितप्रचण्डयष्टिः ।
सहसाविरभूत्पुरोऽस्य तस्मिन्पुरुषः प्रावृषिजाम्बुवाहनीलः ॥१४॥
प्रतिनादितसर्वशैलरन्ध्रः स समेत्य त्वरया समीपदेशम् ।
वचनैः परुषाक्षराविषह्यैरिति तं तर्जयति स्म राजपुत्रम् ॥ १५ ॥
किमु कोऽपि बलोद्धतस्त्वमुच्चैरुत विद्यातिशयं दधासि कंचित् ।
यदकारि मनस्त्वया मदीयां भुवमाक्रान्तुमिमामनन्यभोग्याम्[2] ॥ १६ ॥
त्रिदशो[3] यदि वादितेस्तनूजो न मदाज्ञामनवाप्य कोऽपि शक्तः ।
परिरक्षितमस्मदीयदोर्भ्यां गिरिमाक्रान्तुमिमं विशालशृङ्गम् ॥ १७ ॥

जन्मनि लिट् । श्लेषोपमा ॥१३॥ स्फुरदिति[5] । स्फुरदोष्ठतटः स्फुरत्कम्पमानमोष्ठस्याधरस्य तटं प्रदेशो यस्य सः । करालवक्त्रः करालं भयङ्करं वक्त्रं मुखं यस्य सः । भुजदण्डभ्रमितप्रचण्डयष्टिः भुजदण्डेन भ्रमिताः कम्पिता प्रचण्डा निष्ठुरा यष्टिरयोदण्डो यस्य (येन) सः ॥ प्रावृषिजाम्बुवाहनीलः[6] प्रावृषिजो वर्षाकालजनितोऽम्बुवाह इव नीलः कृष्णवर्णः । पुरुषः मनुष्यवेषधारी । तस्मिन् पर्वते । अस्य कुमारस्य । पुरः अग्रे । सहसा शीघ्रम् । आविरभूत् प्रादुरभूत् । जातिः ॥१४॥ प्रतीति । प्रतिनादितसर्वशैलरन्ध्रः प्रतिनादितं प्रतिध्व (ध्वा) नितं सर्वेषां शैलानां पर्वतानां रन्ध्रं छिद्रं येन सः । सः पुरुषः । त्वरया वेगेन । समीपदेशं निकटप्रदेशम् । समेत्य आगत्य । परुषाक्षराविषह्यैः[7] परुषैर्निष्ठुरैरक्षरै र्वर्णैरविषह्यैः[8] दुःसहैः । वचनैः वचोभिः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । तं राजपुत्रं राजकुमारम् । तर्जयति स्म त्रासयति स्म[9] । तर्ज भर्त्सने[10] लट् ॥१५॥ किमु इति । यत् यस्मात् । मदीयां मम सम्बन्धिनीम् । अनन्यभोग्याम्[11] अनन्यगोचररहिताम् इमाम् एताम् । भुवं भूमिम् । आक्रान्तुम् आगन्तुम् । त्वया मनः चित्तम् । अकारि अक्रियत । डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् । [किमु किंवा] त्वम् उच्चै बलोद्धतः बलेन पराक्रमेणोद्धतो गर्वितः कोऽपि[12] । [उत अथवा] कंचित् विद्यातिशयं विद्यायाः जात्यादिविद्याया अतिशयम् । दधासि धरसि । उत किमु । संशयः ॥१६॥ त्रिदश इति । यदि त्रिदशः देवः । (वा अथवा, कोऽपि) अदितेः अदितीति[13] मातुः तनूजः पुत्रः, दानव इत्यर्थः (?) वा किम् । मदाज्ञां ममाज्ञाम् । अनवाप्य अलब्ध्वा । अस्मदीयदोर्भ्याम् अस्मदीयाभ्यां दोर्भ्यां भुजाभ्याम् । परिरक्षितं परिपालितम् । विशालशृङ्गं[14] विस्तारशृङ्गयुक्तम् । इमम् एतम् । गिरिं पर्वतम् । आक्रान्तुम्[15] आगन्तुम् । शक्तः समर्थः कोऽपि, न

अजितसेन वनका ओर-छोर जाननेके लिए उस पहाड़पर चढ़ गया ॥ १३ ॥ ज्यों ही वह ऊपर पहुँचा त्योंही उसके सामने एकाएक एक पुरुष (पुरुष वेषधारी देव) प्रकट हुआ । क्रोधके कारण उसका अधर (नीचेका होठ) फड़क रहा था, उसका मुख बड़ा भयंकर दिख रहा था, वह एक भयानक लोहदण्डको अपने हाथोंसे घुमा रहा था और वह वर्षाकालीन मेघकी भाँति काला था ॥ १४ ॥ उसकी भयावनी आवाजसे पहाड़की सारी गुफाएँ गूँज उठीं । वह शीघ्र ही राजकुमारके पास आ धमका और कठोर अक्षरोंसे भरे हुए असह्य वचनोंसे उसकी भर्त्सना यों करने लगा—॥ १५ ॥ क्या तुझे अपने बलका इतना भारी घमण्ड है या तू किसी विशिष्ट विद्याको जानता है ! जो तेरी इच्छा मेरी इस भूमिमें आनेकी हुई, जिसका उपभोग कोई भी नहीं कर सकता ॥ १६ ॥ कोई देव हो या दानव, पर कोई मेरी आज्ञाके बिना, उन्नत शिखरोंवाले इस पर्वतपर नहीं आ सकता । मैं स्वयं अपनी बाहुओंसे इसकी रखवाली जो करता हूँ

१. म °ष्ठतलः । २. अ भुवमागन्तु° । ३. अ त्रिदिवेशो । ४. अ °मागन्तु° । ५. श स स्फुरेरित । ६. = वर्षाकाल जनितः सचासावम्बुवाहो मेघः स इव नीलः कृष्णवर्णः । ७. श स °राविसहैः । ८. श स °रविसहैः । ९. श 'त्रासयतिस्म' इति नोपलभ्यते । १०. आ तर्ज्य भर्त्स्यने । ११. = अनन्यगोचराम् । १२. = असि । १३. = 'अदिति' इति नामधेयायाः । १४. = विस्तारिशृङ्गयुक्तम् । १५. आ आक्रन्तुम् ।

जलनिर्झरसङ्गशीतवाते[1] धरणीध्रे शिशिरत्वमादधानाः ।
[2]न पतन्ति यदत्र तिग्मरश्मेः किरणाः कारणमत्र मत्प्रतापः ॥ १८ ॥
इदमात्मवधाय मद्विरुद्धं विदधानोऽबुध केन विप्रलब्धः ।
अथवा न गतः श्रुतिं तवाहं नहि विद्वानसमीक्षितं विधत्ते ॥ १९ ॥
इति तस्य निशम्य गर्वगर्भां स गिरं मर्मनिकृन्तनी[3]मिवेषुम् ।
कुपितः कृतसौष्ठवं बभाषे जयलक्ष्मीनिलयो नरेन्द्रसूनुः ॥ २० ॥
भजते भयमेभिरर्थशून्यैर्वचनैः कापुरुषो न धीरचेताः ।
अहमस्मि सुरासुरैकमल्लो गणना कैव भवद्विधे नृकीटे ॥ २१ ॥

कोऽपीत्यर्थ ॥१७॥ जलेति । जलनिर्झरसङ्गशीतवाते जलनिर्झरस्य जलप्रवाहस्य सङ्गेन संबन्धेन शीतलो [शीतो] वातो यस्मिन् तस्मिन् । अत्र अस्मिन् । धरणीध्रे पर्वते । शिशिरत्वं शीतत्वम् । आदधानाः धरन्तः । तिग्मरश्मेः सूर्यस्य । किरणाः मयूखाः । न पतन्ति न प्राप्नुवन्ति । इति यत् यत् किंचित् । अत्र सूर्यकिरणापतने । मत्प्रतापः मम प्रतापः पराक्रमः । कारणं निमित्तम् । भवति । अनुमितिः ॥१८॥ इदमिति । अबुध भो अज्ञानिन् । इदम् एतत् । विरुद्धं[4] विरुद्धकार्यम्[5] । आत्मवधाय आत्मनः स्वस्य वधाय मारणाय । विदधानः कुर्वन् । केन[6] येन । विप्रलब्धः वञ्चितः । अथवा तव श्रुतिं कर्णम् । अहं न गतः न यातः । विद्वान् विवेकी । असमीक्षितम् अविचारितम् । न विधत्ते हि न करोति हि[7] । डुधाञ् धारणे च लट् ॥१९॥ इतीति । इषुमिव बाणमिव । मर्म अन्तरङ्गम् । निकृन्तनीं भेदिनीम् । गर्वगर्भां गर्भे गर्वो यस्यां ताम् । 'गड्वादिभ्यः'[8] इति पूर्वनिपातः । तस्य कृतकपुरुषस्य गिरं[9] वाणीम् । निशम्य श्रुत्वा । कुपितः क्रुद्धः । जयलक्ष्मीनिलयः जयलक्ष्म्या निलय आलयः । सः नरेन्द्रसूनुः नरेन्द्रस्य भूपेन्द्रस्य कुमारः । कृतसौष्ठवं कृतं सौष्ठवं वर्णव्यक्तिर्यस्मिन् कर्मणि तत् । बभाषे जगाद । भाषि व्यक्तायां वाचि लिट् । उपमा ॥२०॥ भजते[10] इति । अर्थशून्यैः अर्थरहितैः, निष्प्रयोजनैरित्यर्थः । एभिः एतैः । वचनैः वचोभिः । कापुरुषः कुत्सितः पुरुषः । 'पुरुषे का वा' इति पुरुषशब्दे परे कुशब्दस्य[11] का–आदेशः । भयं भीतिम् । भजते सेवते । भज सेवायां लट् । धीरचेताः धीरं भयरहितं चेतश्चित्तं यस्य सः । न न भजते । अहं सुरासुरैकमल्लः सुरासुराणामेको मुख्यो मल्लः प्रतिभटः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । भवद्विधे भवतस्तव

॥ १७ ॥ इस पर्वतपर अनेक जलप्रपात हैं। उनके कारण यहाँ ठण्डी हवा बहा करती है। यहाँ सूर्यकी किरणें ठण्डी हो जाती हैं—ठिठुरने लगती हैं। फलतः वे यहाँ प्रवेश ही नहीं करतीं। इसमें मेरा प्रताप कारण है। मेरे प्रभावक्षेत्रमें सूर्य भी हतप्रभ हो जाता है, फिर तेरा तो सामर्थ्य ही क्या है ? ॥ १८ ॥ रे मूर्ख ! अपनी मौतके लिए जो तू मेरे विरुद्ध यह काम कर बैठा—मेरी आज्ञाके बिना यहाँ घुसता चला आया, सो क्यों ? क्या तुझे किसीने बहका दिया है ? या तूने मेरा नाम ही नहीं सुना था ? क्योंकि समझदार (विद्वान्) मनुष्य कभी नासमझीका काम नहीं करता ॥ १९ ॥ उसकी ऐसी गर्वीली और बाणकी तरह मर्मभेदिनी बातें सुनकर राजकुमारको, जो जयलक्ष्मीका निवासस्थान था, क्रोध आ गया। फिर उसने स्पष्ट शब्दोंमें यों उत्तर दिया—॥ २० ॥ तुम्हारी इन निरर्थक बातोंसे कायर भले ही डर जायें, पर जिसके हृदयमें धीरता है, वह कभी नहीं डर सकता। तुम मुझे नहीं जानते ? नहीं जानते हो, तो जानलो—मैं देवों और दैत्योंसे टक्कर लेनेवाला योद्धा हूँ। तुम सरीखे नर-

१. अ °निर्झरशीलसङ्गवाते । २. आ इ न तपन्ति, क ख ग घ निपतन्ति, म प्रतपन्ति । ३. श स °कृन्ततीं छेदिनीम् । ४. = मद्विरुद्धं । ५. = मद्विरुद्धकार्यम् । ६. = केन मानवेन । ७. = नहि विधत्ते नहि करोति । ८. आ श स गर्वादिभ्यः । ९. = इति गिरं । १०. आ भजते । ११. श स कुस्य ।

तदलं परिभाषितैरमीभिर्बहुभिः [1]संमितभाषिणो हि सन्तः ।
यदि पौरुषमस्ति मुञ्च घातं न भवस्येष[2] मदीयमुष्टिपिष्टः ॥ २२ ॥
इति वादिनि तत्र राजपुत्रे तरसापातयदायसीं स यष्टिम् ।
तमसावपि वञ्चितप्रहारः स्वभुजाभ्यन्तरवर्तिनं चकार ॥ २३ ॥
इतरेतरबाहुपीडिताङ्गौ मिलितौ लोकपती इवाजिकण्ड्वा ।
निभृताभिररण्यदेवताभिर्ददृशाते तरुजालकान्तरेण ॥ २४ ॥
करणैर्विविधैरशेषबन्धैश्चरणाभ्या[3]हतिभिर्भुजप्रहारैः ।
क्रमजातजयं प्रचण्डशक्त्योश्चिरमङ्गेन[4] तयोर्बभूव युद्धम् ॥ २५ ॥

विधे सदृशे । नृकीटे मनुष्यकीटके । कैव गणना संख्या न कैवेत्यर्थः । आक्षेपः ॥२१॥ तदिति । तत् तस्मात् । अमीभिः एभिः । बहुभिः बहलैः (बहुलैः) परिभाषितैः परिगदितैः । अलं पर्याप्तम् । सन्तः सत्पुरुषाः । संमितभषिणः मितवचनाः[5] । हि यदि । पौरुषं प्रतापः । अस्ति चेत् । [घातं मुञ्च प्रहारं कुरु] । एषः अयं त्वम् । मदीयमुष्टिपिष्टः मदीयया मम संबन्धया[6] मुष्ट्या मुष्टिप्रहारेण पिष्टः चूर्णीकृतः । न भवसि नासि । भू सत्तायां लट् । घातं वचनघातम् । मुञ्च त्यज । मुच्लृ मोक्षणे लोट् ॥२२॥ इतीति । तत्र तस्मिन् । राजपुत्रे राजकुमारे । इति उक्तप्रकारेण । वादिनि सति वदति सति । सः कृतकपुरुषः । तरसा शीघ्रम् । आयसीम् अयसा निर्मिताम् । यष्टिं दण्डम् । अपातयत् न्यक्षेपयत्[7] । पत्लृ गतौ णिजन्ताल्लङ् । वञ्चितप्रहारः विप्रलब्धप्रहारः । असौ अपि कुमारोऽपि । तं कृतकपुरुषम् । स्वभुजाभ्यन्तरवर्तिनं स्वस्यात्मनोर्भुजयो बाह्वोरभ्यन्तरे मध्ये वर्तिनं वर्तशीलम् । चकार करोति स्म । डुकृञ् करणे लिट् ॥२३॥ इतरेति । आजिकण्ड्वा आजेः संग्रामस्य कण्ड्वा कण्डूत्या । मिलितौ युक्तौ । इतरेतरबाहुपीडिताङ्गौ इतरेतरयोरन्योन्ययोर्बाहुभ्यां भुजाभ्यां पीडितं बाधितमङ्गं शरीरं ययोस्तौ । लोकपती इव दिक्पालाविव । तरुजालकान्तरेण तरूणां वृक्षाणां जालकस्य समूहस्यान्तरेणान्तरालेन । निभृताभिः निश्चलाभिः । अरण्यदेवताभिः वनदेताभिः । ददृशाते दृश्येते[8] स्म । दृशृ[9] प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥२४॥ करणैरिति । विविधैः नानाप्रकारैः । करणैः भ्रमणैः । अशेषबन्धैः अशेषैः समस्तैर्बन्धविशेषैः । चरणाभ्याहतिभिः चरणानां पादानामभ्याहतिभिर्घातैः । भुजहारैः भुजानां बाहूनां प्रहारैर्बाधनैः । प्रचण्डशक्त्योः प्रचण्डा तीक्ष्णा शक्तिः पराक्रमो ययोस्तयोः । अङ्गेन शरीरेण । क्रमजातजयं क्रमेण जातो जयो यस्य[10] तत् । एकवारं

कीटोंकी मेरे सामने गिनती ही क्या है ? ॥ २१ ॥ इसलिए तुम इन निरर्थक बातोंको बन्द करो––चुप रहो, बकवास न करो । तुम बहुत बक चुके हो । अच्छे आदमी बहुत थोड़ा बोला करते हैं । यदि पौरुष-शक्ति या मर्दानगी हो तो वार करो । पर इतना सोच लो कि वार (प्रहार) करनेसे पहले ही मेरे मुक्कोंकी मारसे तुम कहीं पिस न जाना ॥ २२ ॥ राजकुमारके यों कहते ही उसने वार करनेके लिए बड़े वेगसे लौह-दण्ड ऊपरकी ओर उठाकर गिराना चाहा, पर राजकुमारने उसे बीचमें ही रोक लिया, और प्रहार करनेवाले उस असुरको अपने बाहुओंके बीचमें दबोच लिया ॥ २३ ॥ उस असुरने भी राजकुमारको अपने बाहुओंसे दबा लिया––दोनों आपसमें लिपट गये । एक दूसरेको बाहुओंसे खूब जकड़कर पकड़ लेनेसे वे दोनों ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों युद्धकी खुजली मिटानेके लिए दो लोकपाल आपसमें भिड़ पड़े हों ! वनदेवियाँ वृक्षोंकी ओटमें चुपचाप खड़ी होकर उनकी ओर देख रही थीं ॥ २४ ॥ दोनोंमें प्रचण्ड शक्ति थी : दोनों ही पैंतरे व दाव-पेंच जानते थे । फलतः नाना प्रकारके पैंतरों व

१. म सम्मित° । २. आ इ न भवस्येव, म न भवत्येष° । ३. अ क ख ग घ °रणाभ्यां । ४. क ख ग घ °माङ्गेन । ५. = भवन्तीति शेषः । ६. = संबन्धिन्या । ७. = पातयामास । ८. आ दृश्याते । ९. आ दृशृ, श स दृशि । १०. = यस्मिन् ।

अथ भूपतिसूनुना कराभ्यां स समुत्फाल्य नभस्तले विमुक्तः ।
कृतषोडशभूषणाभिभूषं वपुरादर्शयति स्म दिव्यरूपम् ॥ २६ ॥
इति चाभिदधे हिरण्यनामा परमर्द्धिस्त्रिदशोऽस्मि नाकलोके ।
अभिवन्द्य जिनालयान्सुराद्रौ सुभग क्रीडितुमागतोऽत्र शैले ॥ २७ ॥
कृतकप्रधनेन रूपमन्यत्समुपादाय मया परीक्षितोऽसि ।
अमुना तव साहसेन चेतः परतन्त्रीकृतमेतदस्मदीयम् ॥ २८ ॥
विभृतोऽसि ययाम्बुजाक्ष कुक्षौ जननी धन्यतमा तवैव सैका ।
कृतिनः ससुरासुरेऽपि लोके चरितं यस्य चमत्कृतिं विधत्ते ॥ २९ ॥

कुमारस्य जयः, पुनरेकवारं देवस्य जयः—इति क्रमः । युद्धं संग्रामः । चिरं[1] दीर्घम् । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् ॥२५॥ अथेति । अथ युद्धानन्तरम् । भूपतिसूनुना कुमारेण । कराभ्यां हस्ताभ्याम् । समुत्फाल्य उद्धृत्य । नभस्थले [नभस्तले] नभस आकाशस्य तले प्रदेशे । विमुक्तः विमुच्यते स्म विमुक्तो निसृष्टः । सः देवः । कृतषोडशभूषणाभिभूषं कृता षोडशैर्भूषणैरभिभूषा अलङ्कारो यस्य तत् । दिव्यरूपं दिव्यं रूपं यस्य तत् । वपुः शरीरम् । आदर्शयति स्म आलक्षयति स्म । दृशु प्रेक्षणे णिजन्ताल्लट् ॥२६॥ इतीति । सुभग भो मनोहराङ्ग । नाकलोके सुरलोके । हिरण्यनामा हिरण्य इति नाम यस्य सः । परमर्द्धिः परमा उत्कृष्टा ऋद्धिः ऐश्वर्यं यस्य सः । त्रिदशः देवः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । सुराद्रौ मेरौ । जिनालयान् चैत्यालयान् । अभिवन्द्य वन्दित्वा । अत्र अस्मिन् । शैले पर्वते । क्रीडितुं क्रीडानिमित्तम् । आगतः[2] । इति एवं प्रकारेण । अभिदधे ऊचे । डधाञ् धारणे च लिट् ॥२७॥ कृतकेति । मया, अन्यत् भिन्नम् । रूपं वेषम् । समुपादाय अङ्गीकृत्य । कृतकप्रधनेन कृतकेन कपटरूपेण प्रधनेन युद्धेन । परीक्षितः विचारितः । असि भवसि । तव भवतः । अमुना एतेन । साहसेन सामर्थ्येन । अस्मदीयम् अस्मत्संबन्धम् । चेतः चित्तम् । परतन्त्रीकृतं पराधीनं कृतम् ॥२८॥ विधृत[3] इति । अम्बुजाक्ष अम्बुजमिवाक्षिणी यस्य तस्य संबोधनम्—भो अम्बुजाक्ष । कृतिनः पुण्यवतः । यस्य पुरुषस्य । चरितं प्रवर्तनम् (वृत्तं वा) । ससुरासुरेऽपि सुरैश्चासुरैश्च सह वर्तते इति ससुरासुरः, तस्मिन् अपि । लोके भुवने । चमत्कृतिम् आश्चर्यम् । विधत्ते करोति । स त्वम् इत्यध्याहारः । यया कुक्षौ गर्भे । विधृतः[4] विध्रियते स्म । असि भवसि । तवैव भवत एव । सैका

अनेक प्रकारके पेचोंके प्रयोगसे वे दोनों एक दूसरेके ऊपर कभी हाथोंसे और कभी पैरोंसे प्रहार कर रहे थे। बराबरीका जोड़ होनेसे कभी एक की, तो कभी दूसरेकी विजय हो रही थी। इस तरह उन दोनोंमें बहुत देर तक शारीरिक युद्ध (कुश्ती) होता रहा ॥ २५ ॥ इसके पश्चात् राजकुमारने उसे अपने दोनों हाथोंसे उठाकर ऊपर उछाल दिया। तब उसने अपने शरीरको सोलह आभूषणोंसे विभूषित करके उसे अपना असली दिव्यरूप दिखला दिया ॥ २६ ॥ और उसने राजकुमारसे कहा—हे सुभग ! मैं उत्तम ऋद्धिओंका धारण करनेवाला देव हूँ। मैं स्वर्गमें रहता हूँ। मेरा नाम हिरण्य है। मैं वहाँसे चैत्यालयोंकी वन्दना करनेके लिए सुमेरुपर्वतपर गया था। फिर वहाँसे क्रीड़ा करनेके लिए यहाँ चला आया ॥ २७ ॥ मैंने अपना रूप बदलकर बनावटी युद्धसे तुम्हारी परीक्षा ली है। तुम्हारे इस साहससे मेरा मन तुम्हारे अधीन हो गया है—मैं हृदयसे तुम्हारा हो चुका हूँ ॥ २८ ॥ हे कमललोचन ! जिस पुण्यात्माका चरित आज सुरलोक और असुर लोकमें चमत्कार उत्पन्न कर रहा है, उसे (अर्थात् तुमको) जिस माताने अपने गर्भमें धारण किया है, केवल वही (तुम्हारी माता) सबसे अधिक

---

१. = चिरकालं यावत् । २. = समायातः । ३. एष टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु 'विभृतः' इत्येव दृश्यते । ४. अयमपि पाठस्तथैव ज्ञेयः ।

हृदयाभिमतं वरं वृणीष्वेत्यभिधातुं त्रपया न मेऽस्ति शक्तिः ।
नहि पुण्यवतां भवद्विधानां परनिष्ठं भुवने समस्ति किंचित् ॥ ३० ॥
तदपि क्वचन प्रयत्नसाध्ये विषयेऽहं मनसि त्वया निधेयः ।
न सहायविनाकृता कदाचित्पुरुषस्योद्यमशालिनोऽपि सिद्धिः ॥ ३१ ॥
अपरं च निवेदयाम्यहं ते शृणु जन्मान्तरवृत्तमेकचित्तः ।
अभवस्त्वमितो भवे तृतीये नृपतिः श्रीपुरभुक्सुगन्धिदेशे ॥ ३२ ॥
गृहिणौ शशिसूर्यनामधेयावथ तत्रैव कृषीवलावभूताम् ।
अपरेद्युरुपेत्य दत्तखातः सकलं सूर्यधनं शशी जहार ॥ ३३ ॥

मुखया । जननी माता । धन्यतमा पुण्यवती भवति ॥२९॥ हृदयेति । हृदयाभिमतं हृदयेन चित्तेनाभिमतं वाञ्छितम् । वरम् अभीष्टम् । वृणीष्वेति प्रार्थय इति । अभिधातुं वक्तुम् । त्रपया लज्जया । मे मम । शक्तिः सामर्थ्यम् । नास्ति न भवति । [हि यतः] । पुण्यवतां कुशलवताम् । भवद्विधानां युष्मादृशाम् । भुवने लोके । किंचित् यत्किंचित् वस्तु । परनिष्ठं पराधीनम्, असाध्यमित्यर्थः । न समस्ति । हि नास्ति हि (न समस्ति नास्ति) ॥३०॥ तदिति[1] । तदपि तदापि । क्वचन क्वचित् । प्रयत्नसाध्ये प्रयत्नेनोद्योगेन साध्ये साधनीये । विषये वस्तुनि । अहं, मनसि चित्ते । त्वया भवता । निधेयः[2] स्मरणीयः । उद्यमशालिनोऽपि प्रयत्नशालिनोऽपि । पुरुषस्य जनस्य । कदाचित् कस्मिंश्चित् । सहायविनाकृता सहायेन विनाकृता रहिता[3] । सिद्धिः कार्यसिद्धिः । न न भवति ॥३१॥ अपरमिति । अहं, जन्मान्तरवृत्तं प्रकृतजन्मनोऽन्यज्जन्म जन्मान्तरं तस्य वृत्तं वृत्तान्तम् । अपरम् अन्यत् । ते तव । निवेदयामि बोधयामि । विद ज्ञाने लट् । एकचित्तः एकं निश्चलं चित्तं मनो यस्य सः, सन्, शृणु । त्वं भवान् । इतः एतस्माद्भवात् । तृतीये त्रयोऽवयवा यस्य तस्मिन् । भवे जन्मनि । सुगन्धिदेशे सुगन्धिरिति देशे विषये । श्रीपुरभुक् श्रीपुरपालकः । नृपतिः राजा । अभवः अजायथाः ॥३२॥ गृहिणाविति । अथ अनन्तरम् । तत्रैव तस्मिन्नेव पुरे । शशिसूर्यनामधेयौ शशिसूर्याभिधानौ । कृषीबलौ कृषिकर्मजीविनौ । गृहिणौ गृहस्थौ । अभूताम् अजायताम्[4] । भू सत्तायां लुङ् । शशी तयोर्मध्ये शशी । अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिने । 'पूर्वापर—' इत्यादिना एद्युस्-प्रत्ययः । उपेत्य आगत्य । दत्तखातः दत्तः खातो येन सः, विहितसुरङ्ग इत्यर्थः । सकलं सर्वम् । सूर्यधनं सूर्याख्यस्य

पुण्यात्मा है । सबकी माँसे तुम्हारी ही माँ अधिक धन्य है ॥ २९ ॥ लज्जावश मुझे यह कहनेका साहस नहीं हो रहा है, कि तुम मुझसे इच्छित वर मांग लो; क्योंकि सच तो यह है कि इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जिसे पानेके लिए आप जैसे पुण्यात्माओंको दूसरोंका आसरा लेना पड़े—उनका मुँह देखना पड़े ॥ ३० ॥ तो भी इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि किसी प्रयत्नसाध्य—कठिन कामके आ पड़नेपर मेरा स्मरण करना; क्योंकि सहायकके बिना उद्योगी पुरुषकी भी कार्य सिद्धि कभी नहीं होती ॥ ३१ ॥ एक बात और निवेदन करता हूँ— मैं तुम्हारे पिछले जन्मका वृत्तान्त सुनाता हूँ । तुम उसे सावधान होकर सुनो—पिछले तीसरे जन्ममें तुम सुगन्धि नामक देशमें श्रीपुर नामके नगरके राजा हुए थे ॥ ३२ ॥ तुम्हारे शासनकालमें वहीं पर (श्रीपुरमें) दो गृहस्थ रहते थे । दोनों किसान थे । उनमेंसे एकका नाम शशी था और दूसरेका सूर्य । एक दिनकी बात है । शशी सूर्यके घर गया और सेंध लगा-

१. आ तदित्यादि । २. आ श स 'निधेयः' शेषासु च प्रतिषु 'विधेयः' इति पाठः समस्ति । ३. आ विहिता । ४. आ अजायेताम् ।

अधिगम्य निपातितस्त्वयासौ स्वधनेन प्रतियोजितश्च सूर्यः ।
परिवृत्य भवे प्रभूतयोनावसुरश्चण्डरुचि[1]ः शशी बभूव ॥ ३४ ॥
समुपार्जितपूर्वपुण्यलेशादभवं सूर्यचरस्त्वहं हिरण्यः ।
अजनिष्ट ततः स पूर्ववैरात्तव हर्ता रिपुरस्म्यहं च मित्रम् ॥ ३५ ॥
मधुराक्षरहारिणीं[2] स वाणीमभिधायेति तिरोबभूव देवः ।
नरनाथसुतोऽपि तत्प्रभावात्सहसात्मानमलोकयद्वनान्ते ॥ ३६ ॥
किमिदं परमाद्भुतं मया यद्वनमुत्तीर्णमदर्शि काननान्तः ।
मनसेति विचिन्तयंस्तदा तं महिमानं स हिरण्यजं विवेद ॥ ३७ ॥

धनं द्रव्यम् । जहार अपहरति स्म । हृञ् हरणे लिट् ॥३३॥ अधीति । त्वया भवता । अधिगम्य ज्ञात्वा । असौ शशी । निपातितः दण्डितः । सूर्यः, स्वधनेन स्वस्य निजस्य धनेन द्रव्येण । प्रतियोजितः संबन्धितः । शशी, [प्रभूतयोनौ प्रभूता नाना योनय उत्पत्तिस्थानानि यत्र तस्मिन्] भवे संसारे । प्रभूतयोनौ प्रभूतो बहुलो योनिरुत्पत्तिस्थानं यस्य तस्मिन् । परिवृत्य परिभ्रम्य । चण्डरुचिः चण्डरुचिरिति । असुरः भवनवासिदेवः । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् ॥३४॥ समुपेति । सूर्यचरः सूर्यः पूर्वः[3] (भूतपूर्वः सूर्यः) सूर्यचरः, पूर्वं सूर्यभूत इत्यर्थः । 'भूतपूर्वे च्चरट्' इति च्चरट्-प्रत्ययः । अहं तु अहमपि । समुपार्जितपूर्वपुण्यलेशात् समुपार्जितस्य संपादितस्य पूर्वपुण्यस्य लेशात् कणात् । हिरण्यः हिरण्याख्यदेवः । अभवम् आसम् । भू सत्तायां लुङ् । सः शशिचरः । पूर्ववैरात् पूर्वजनिताद् वैरात् । तव त्वामित्यर्थः । 'कृत्कामुकस्य' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । हर्ता अपहर्ता । रिपुः शत्रुः । अजनिष्ट अभूत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । अहं च अहमपि । मित्रं सुहृत् । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् ॥३५॥ मधुरेति । स देवः हिरण्याख्यदेवः । मधुराक्षरहारिणीं मधुरैः प्रियैरक्षरैर्वर्णैर्हारिणीं मनोहारिणीम् । वाणीं वाचम् । इति उक्तप्रकारेण । अभिधाय उक्त्वा । तिरोबभूव[4] व्यवधानो बभूव । नरनाथसुतोऽपि नरनाथस्य सुतोऽपि कुमारोऽपि । तत्प्रभावात् तस्य देवस्य प्रभावात् सामर्थ्यात् । सहसा शीघ्रम् । आत्मानं स्वम् । वनान्ते[5] वनमध्ये । अलोकयत् अदर्शयत् । लोकृङ्दर्शने ण्यन्ताल्लङ् ॥३६॥ किमिति । परम् उत्कृष्टम् । इदं किमद्भुतं किमाश्चर्यम् । यत् मया, वनं काननम् । उत्तीर्णं लङ्घितम् । काननान्तः काननस्यान्तोऽवसानम्[6] । अदर्शि[7] दृश्यते स्म । इति एवं प्रकारेण । मनसा मानसेन । विचिन्तयन् स्मरन् । सः कुमारः । तदा तं महिमानं महत्त्वम् । हिरण्यजं हिरण्यदेवाज्जातम् ।

कर उसका सारा धन चुरा लाया ॥ ३३ ॥ इसका पता लगाकर तुमने सूर्यका धन उसे वापिस दिलवाया और शशीको फाँसीकी सजा दी । बहुत अधिक (चौरासी लाख) उत्पत्ति स्थानोंवाले संसारमें इधर उधर भटककर—खोटी-खोटी योनियोंमें जन्म लेकर शशी, चण्डरुचि नामका असुर हुआ ॥ ३४ ॥ पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके बचे-खुचे अंशसे मैं हिरण्य नामका देव हुआ । मैं तुम्हारा मित्र हूँ । मैं ही पहले सूर्य रहा । वह शशी पूर्व वैरके कारण तुम्हारा शत्रु है, और वही तुम्हें हर ले आया है ॥ ३५ ॥ मधुर अक्षरोंसे मनको हरनेवाले इन वचनोंको कहकर वह देव आँखोंसे ओझल हो गया, और उसके प्रभावसे राजकुमारने भी अपनेको उस वनकी सीमासे बाहर पाया ॥ ३६ ॥ यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि मैं इतने बड़े बीहड़ जंगलको इतनी शीघ्रतासे पारकर एकाएक उसकी सीमाके बाहर आ पहुँचा हूँ । वनकी बाहरी सीमा आँखोंके सामने है । यों अपने मन-ही-मन सोचता हुआ वह समझ गया कि यह तो हिरण्य देवकी महिमा

१. अ क ख ग घ म चन्द्ररुचिः । २. अ क ख ग घ म °कारिणीं । ३. आ सूर्यपूर्वः । ४. = व्यवहितोऽन्तर्हितो वा । ५. = वनावसाने । ६. आ °सानः । ७. = व्यलोकि ।

गहनान्तमथापहाय राष्ट्रं नगरग्रामनिरन्तरं प्रविष्टः ।
सकलास्वपि दिक्षु जातभीतिं विलुलोके स जनं पलायमानम् ॥ ३८ ॥

उपसृत्य पुमांसमेकमाराद्भयरोमाञ्चितसर्वगात्रयष्टिम् ।
उपजातकुतूहलः कुमारः परिपप्रच्छ पलायनस्य हेतुम् ॥ ३९ ॥

पृथिवीपतिपुत्रपृच्छयासाविति निर्विण्णमना जगाद वाचम् ।
गगनात्पतितोऽसि किं प्रसिद्धं न विजानासि यदेतमप्युदन्तम् ॥ ४० ॥

प्रथितोऽयमरिंजयाभिधानो धनधान्याढ्यजनाकुलो जनान्तः ।
विजहाति सदा न यत्र शोभां नवसस्याङ्कुरशाद्वला धरित्री ॥ ४१ ॥

विवेद बुबोध । विद ज्ञाने लिट् ॥३७॥ गहनेति । अथ अनन्तरम् । गहनान्तं काननावसानम् । अपहाय विहाय । नगरग्रामनिरन्तरं नगरैर्ग्रामैश्च निरन्तरमन्तररहितम्[1] । राष्ट्रं देशम् । प्रविष्टः प्रविष्टवान् । सः कुमारः । सकलासु सर्वास्वपि । दिक्षु दिशासु । जातभीतिं जातभयम् । पलायमानं धावमानम् । जनं लोकम् । विलुलोके ददर्श । लोकृञ् दर्शने लिट् ॥३८॥ उपेति । उपजातकुतूहलः उपजातं कुतूहलं यस्य सः । कुमारः, भयरोमाञ्चितसर्वगात्रयष्टिं भयेन भीत्या रोमाञ्चिता रोमहर्षणयुक्ता सर्वा निखिला गात्रयष्टिर्यस्य तम् । एकं पुमांसं पुरुषम् । आरात् समीपे । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । उपसृत्य[2] प्राप्य । पलायनस्य इतस्ततः पलायनस्य । हेतुं कारणम् । परिपप्रच्छ[3] शुश्राव । प्रछ[4] ज्ञीप्सायां लिट् ॥३९॥ पृथिवीति । पृथिवीपतिपुत्रपृच्छया पृथिव्याः पत्युर्भूपतेः पुत्रस्य कुमारस्य पृच्छया प्रश्नेन । निर्विण्णमनाः निर्विण्णं दुःखितं मनो यस्य सः । असौ अयं पुरुषः । वाचं वाणीम् । जगाद ब्रवीतिस्म । गद व्यक्तयां वाचि लिट् । यत् यस्मात्कारणात् । प्रसिद्धं प्रतीतम् । एनमपि अमुमपि । उदन्तं वार्ताम् । न विजानासि न वेत्सि । ज्ञा अवबोधने लट् । गगनात् आकाशात् । पतितः[5] निमग्नः । असि भवसि । अस भुवि लट् ॥४०॥ प्रथित इति । यत्र देशे । नवसस्याङ्कुरशाद्वला नवैर्नवीनैः सस्याङ्कुरैः शाद्वला हरिता । धरित्री भूमिः । सदा सर्वकाले । शोभां मनोहरत्वम् । न जहाति न त्यजति । ओहाक् त्यागे लट् । प्रथितः प्रतीतः । धनधान्याढ्यजनाकुलः धनैर्धान्यैराढ्यैः समृद्धैर्जनैराकुलः संकुलः । अरिंजयाभिधानः अरिंजय इत्यभिधानं यस्य सः । अयम् एषः ।

है ॥ ३७ ॥ इसके पश्चात् वह राजकुमार उस स्थानको छोड़कर ज्योंही आगे बढ़ा, त्यों ही उसने एक ऐसे देशमें प्रवेश किया, जहाँ लगातार नगर और ग्राम बसे हुए थे । वहाँपर उसने देखा कि जिधर देखो उधर लोग डरके मारे भागे जा रहे हैं ॥ ३८ ॥ राजकुमारको बड़ा कौतूहल हुआ । अतः उसने एक मनुष्यके––जिसके सारे शरीरमें भयके कारण रोंगटे खड़े हुए थे––पास जाकर लोगोंके भागनेका कारण पूछा ॥ ३९ ॥ राजकुमारके प्रश्नसे अपने मनमें दुःखी होकर वह टिरीते हुए यों बोला––क्या तुम आसमानसे टपके हो, जो इस लोक-विदित वृत्तान्तको भी नहीं जानते ? ॥ ४० ॥ यह अरिंजय नामका प्रसिद्ध देश है । यहाँके निवासी खुशहाल हैं, धनाढ्य हैं और उनके पास भरपूर अनाज रहता है । यहाँकी पृथिवी सदा नये-नये धान्यके अंकुरोंसे हरी-भरी रहनेके कारण कभी अपनी सुषमाको नहीं छोड़ती ॥ ४१ ॥

---

१. = व्याप्तमित्यर्थः । २. = गत्वा प्राप्य-इत्यर्थः । ३. = अप्राक्षीत् । ४. आ पृच्छुञ् ज्ञीप्सायां लिट् । पृछ ज्ञीप्सायां शाकटा ४।२।२५७ पृ० २७७ । ५. = च्युतः ।

विपुलं विपुलाभिधां दधानं पुरमस्त्युत्तममस्य नाभिभूतम् ।
प्रविभाति यदुच्चसौधशृङ्गैर्विलिखत्खं खचराधिवासकल्पम् ॥ ४२ ॥
जयवाञ्जयवर्मनामधेयो नगरं तत्पृथिवीपतिः प्रशास्ति ।
यदतीव्रकरापनीततापा निरपेक्षा वसुधोदये हिमांशोः ॥ ४३ ॥
दिननाथविभेव पूरिताशा स्मरपत्नीव वितीर्णकामसौख्या ।
रणलब्धजयश्रियो जयश्रीरभवत्तस्य वधूर्विधूपमास्या ॥ ४४ ॥
उदपादि तयोः शशिप्रभाख्या दुहिता सर्वजगल्ललामभूता ।
तरतीव शशाङ्कचारु यस्या निजलावण्यपयोनिधौ शरीरम् ॥ ४५ ॥

जनान्तः देशः । 'राष्ट्रं जनपदो निर्गो जनान्तो विषयः स्मृतः' ॥४१॥ विपुलमिति । यत्, उच्चसौधशृङ्गैः उच्चानामुन्नतानां सौधानां प्रासादानां शृङ्गैः शिखरैः । खं गगनम् । विलिखत् स्पृशत् । खचराधिवासकल्पं खचराणां विद्याधराणामधिवासस्य पत्तनस्य कल्पं सदृशम् । प्रविभाति विराजते । अस्य देशस्य । नाभिभूतं मध्यप्रदेशम् (शः) । विपुलाभिधां विपुलेत्यभिधामभिधानं[2] । दधानं धरत् । विपुलं 'विपुलम्' इति । उत्तमं श्रेष्ठम् । पुरं पत्तनम् । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । उपमा ॥४२॥ जयवानिति । यत् यस्मात् (?) । अतीव्रकरापनीततापा[3] अतीव्रेण मृदुना करेण सिद्धायेन, पक्षेऽतिमृदुभिः करैः किरणैरपनीतो निराकृतः तापः संतापो यस्याः सा । वसुधा भूमिः । हिमांशोः चन्द्रस्य । उदये उत्पत्तौ । निरपेक्षा निर्व्यपेक्षा—चन्द्रोदयाभावेऽपि राजनीतिपालनेन शीतीभूता—इत्यर्थः । जयवान् जययुक्तः । जयवर्मनामधेयः 'जयवर्मा' इति नामधेयं यस्य सः । पृथिवीपतिः भूमिपतिः । तन्नगरं विपुलपुरम् । प्रशास्ति पालयति ॥४३॥ दिनेति । दिननाथविभेव दिनस्य दिवसस्य नाथस्य सूर्यस्य विभेव कान्तिरिव । पूरिताशा प्रापितसंतोषा, पक्षे व्याप्तदिक्का । स्मरपत्नीव रतिदेवीव । वितीर्णकामसौख्या वितीर्णं दत्तं कामसौख्यं यया सा, पक्षे वितीर्णं कामस्य मन्मथस्य सौख्यं यया सा । विधूपमास्या[4] विधोश्चन्द्रस्योपममास्यं यस्याः सा । जयश्रीः जयश्रीः—इति । रणलब्धजयश्रियः रणे संग्रामे लब्धा जयश्रीर्जयलक्ष्मीर्यस्य (येन) तस्य । जयवर्मणः, वधूः वनिता । अभवत् अभूत् । श्लेषोपमा ॥४४॥ उदपादीति । यस्याः, शशाङ्कचारु शशाङ्क इव चन्द्र इव चारु मनोहरम् । शरीरं गात्रम् । निजलावण्यपयोनिधौ निजस्य स्वस्य लावण्यमेव देहकान्तिरेव पयोनिधिः समुद्रः, तस्मिन् । तरतीव[5] प्लवमानेव ।

इस देशके ठीक बीचमें एक विशाल और सुन्दर विपुल नामका पुर है जो इसकी नाभिके समान प्रतीत होता है । वह पुर कभी किसीसे अभिभूत––तिरस्कृत नहीं हुआ । अपने उन्नत महलोंकी चोटियोंसे आकाशको छूनेवाला यह पुर विद्याधरोंके पुरकी भाँति जान पड़ता है ॥ ४२ ॥ उस पुरमें विजयी जयवर्मा नामका राजा राज्य करता है । वह उतना ही टैक्स लेता है, जिससे किसीको सन्ताप न हो । उसके कर-टैक्स (किरण) से पृथ्वी (लक्षणया उसके निवासियों) को तनिक भी सन्ताप नहीं होता । फलतः वहाँकी सन्तापहीना पृथ्वीको कभी चन्द्रोदयकी अपेक्षा नहीं रहती ॥ ४३ ॥ रणांगणमें विजयलक्ष्मीको पानेवाले उस राजाका विवाह चन्द्रमुखी जयश्रीके साथ हुआ । वह सूर्यकी प्रभा सरीखी है । सूर्यकी प्रभा जैसे सभी दिशाओंको भर देती है उसी तरह जयश्री सबकी आशाओं (मनोरथ) को पूरा कर देती है, और वह कामदेवकी पत्नी-रतिके समान है । रति कामदेवको सुख देती है और जयश्री अपने पति जयवर्माको सम्भोगका सुख प्रदान करती है ॥ ४४ ॥ उन दोनोंके शशिप्रभा नामकी कन्या उत्पन्न

१. अ °यशो° । द यस्यां । २. = संज्ञामित्यर्थः । ३. = यदतीव्रकरापनीततापा यस्य राज्ञोऽतीव्रेण सह्येन करेण भागधेयेन, पक्षेऽतीव्रैर्मृदुभिः करैरपनीतो निराकृतस्तापः संतापो यस्याः सा । ४. = विधूपमं चन्द्रसदृशमास्यमाननं यस्याः । ५. = प्लवमानमिव भाति ।

अथ तामपरो महेन्द्रनामा जयवर्माणमयाचत क्षितीशः ।
वितरन्नचिरायुषे तनूजां किल तस्मै स निमित्तिना निषिद्धः ॥ ४६ ॥
स निरस्तमनोरथस्त्विदानीं[1] सह संभूय समस्तराजलोकैः ।
जयवर्मबलं निहत्य युद्धे पुरमावृत्य वितिष्ठते तदीयम् ॥ ४७ ॥
तदयं स्वविनाशमीक्षमाणः सकलो राष्ट्रजनः प्रयाति भग्नः ।
गिरमित्यवगम्य तस्य हृष्यन्युवराजो विपुलं प्रति[2] प्रतस्थे ॥ ४८ ॥
ददृशे च गतेन तेन तस्मिन्नगरं तद्रिपुसैनिकैः परीतम् ।
शिशिरांशुसमुद्गमे प्रवृद्धैरिव[3] वेलावनमम्बुधेस्तरङ्गैः[4] ॥ ४९ ॥

सर्वजगल्ललामभूता सर्वस्य जगतो ललामभूता । शशिप्रभाख्या 'शशिप्रभा' इत्याख्या अभिधानं यस्याः सा । दुहिता कुमारी । तयोः जयवर्मजयश्रियोः । उदपादि अजायत ॥उपमा ॥४५॥ अथेति । अथ शशिप्रभोत्पत्त्यनन्तरम् । महेन्द्रनामा 'महेन्द्रः' इति नाम यस्य सः । अपरः अन्यः । क्षितीशः भूमीशः । तां शशिप्रभाम् । जयवर्माणं जयवर्मभूपतिम् । अयाचत याचते स्म । अचिरायुषे अचिरमल्पमायुर्यस्य तस्मै, स्तोकायुष्यायेत्यर्थः । तस्मै महेन्द्राय । तनूजां पुत्रीम् । वितरन् ददानः । सः क्षितीशः । निमित्तिना निमित्तज्ञेन । निषिद्धः निवारितः किल ॥४६॥ स इति । निरस्तमनोरथः निरस्तो निराकृतो मनोरथोऽभीष्टं यस्य सः । सः महेन्द्रस्तु । इदानीम् अद्य । समस्तराजलोकैः समस्तैर्निखिलै राजलोकै राजजनैः । सह साकम् । संभूय मिलित्वा । युद्धे संग्रामे । जयवर्मबलं जयवर्मराजबलम् । निहत्य हत्वा । तदीयं जयवर्मसंबन्धम् । पुरं पत्तनम् । आवृत्य वेष्टयित्वा । वितिष्ठते वर्तते । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् । 'संविप्रावात्' इति तङ् ॥४७॥ तदिति । तत् तस्मात् । स्वविनाशं स्वस्य विनाशम् । ईक्षमाणः विलोकमानः । अयम् एषः । सकलः समस्तः । राष्ट्रजनः राष्ट्रस्य जनपदस्य जनो लोकः । भग्नः पराजितः सन् । प्रयाति पलायते । तस्य पुरुषस्य । इति उक्तप्रकारेण । तत् [गिरं] वचनम् अवगम्य ज्ञात्वा । हृष्यन् संतोषं कुर्वन् । युवराजः अजितसेनकुमारः । विपुलं प्रति विपुलपुरं प्रति । प्रतस्थे प्रययौ । ष्ठा गति निवृत्तौ लिट् । 'संविप्रावात्' इति तङ् ॥४८॥ ददृश इति । शिशिरांशुसमुद्गमे शिशिरांशोश्चन्द्रस्य समुद्गमे उदये । प्रवृद्धैः समृद्धैः । अम्बुधेः समुद्रस्य । तरङ्गैः ऊर्मिभिः । वेलावनं तीरवनमिव । तस्मिन् समये प्रस्तावे वा । तद्रिपुसैनिकैः तस्य रिपोः शत्रोः सैनिकैर्बलैः परीतं परिवेष्टितम् । नगरं पुरम् ।

हुई । वह सारे संसारका आभूषण या तिलक है । उसका चन्द्रमाके समान सुन्दर शरीर अपने कान्तिके समुद्रमें ऐसा जान पड़ता है मानो तैर रहा हो ॥ ४५ ॥ इसके पश्चात् उसके विवाह योग्य होनेपर महेन्द्र नामके राजाने जयवर्मासे उसकी कन्या (शशिप्रभा) की अपने लिए मगनी की । राजा जयवर्मा इसके लिए राजी भी हो गया, किन्तु एक निमित्त ज्ञानीने महेन्द्रको अल्पायु बतलाकर उसे रोक दिया ॥ ४६ ॥ मनोरथके ठुकराये जानेसे महेन्द्रने अपने पक्षके सभी राजाओंसे मिलकर जयवर्माके विरुद्ध युद्धकी घोषणा कर दी, और युद्धमें जयवर्माकी सेनाको मारकर उसके नगरको घेर लिया है ॥ ४७ ॥ इस कारण पराजित, इस राष्ट्रके सभी लोग अपना विनाश सोचकर भागे जा रहे हैं । उसके ये वचन सुनकर युवराज अजितसेनने मन-ही-मन प्रसन्न होकर विपुलपुरकी ओर प्रस्थान कर दिया ॥ ४८ ॥ आगे जाकर उसने देखा कि उस नगरको शत्रु-सैनिकोंने सभी ओरसे घेर लिया है । जैसे चन्द्रोदय होनेपर समुद्रकी उत्ताल

---

१. क ख ग घ म °रथस्तदानीं । २. अ 'प्रति' इति नास्ति । ३. अ °मुद्गमप्रवृद्धै° । ४. अ अम्बुनिधेस्तरङ्गैः ।

अविकम्पितधीर[1]संस्तुतत्वात्प्रतिषिद्धोऽपि नृपाज्ञया प्रगच्छन् ।
करिकीर्णपथां प्रतिप्रतोलीमिति तैः सोऽभिदधे महेन्द्रयोधैः ॥ ५० ॥
शिरसा न निजेन तेऽस्ति कार्यं परिनिर्विण्णमतिः स्वजीविते वा ।
नृपशासनमप्रसह्यमन्यैर्यदतिक्रम्य परैषि[2] निर्विशङ्कः ॥ ५१ ॥
स तदीयवचःप्रवृद्धमन्युर्धनुरेकस्य कराज्जहार वीरः[3] ।
स्वनृपेण सहैव रक्षतासून्यदि शक्तिर्भवतामिति ब्रुवाणः ॥ ५२ ॥
नगतुङ्गमतङ्गजोग्रनक्रे पवनस्पर्धितुरङ्गवीचिचक्रे ।
विचरंश्चतुरङ्गसैन्यसिन्धौ ददृशे मन्दरवत्स पौरलोकैः ॥ ५३ ॥

गतेन यातेन । तेन कुमारेण ददृशे दृश्यते स्म । दृशृ प्रेक्षणे कर्मणि लिट् ॥४९॥ अवीति । अविकम्पितधीः अविकम्पिता निश्चला धीर्यस्य सः । असंस्तुतत्वात् अननुमतत्वात् । नृपाज्ञया राजाज्ञया । प्रतिषिद्धोऽपि निवारितोऽपि । करिकीर्णयथां[4] करिणां गजानां कीर्णः संबद्धो मार्गो यस्याः ताम् । प्रतोलीं गोपुरं प्रति । प्रगच्छन् प्रयान् । सः कुमारः । तैः महेन्द्रयोधैः महेन्द्रभटैः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अभिदधे प्रोक्तः ॥५०॥ शिरसेति । यत्[5] कारणात् । अन्यैः अपरैः । अप्रसह्यं निराकर्तुमशक्यम् । नृपशासनं नृपस्य राज्ञः शासनमाज्ञाम् । अतिक्रम्य उल्लङ्घ्य । निर्विशङ्कः निःशङ्कः सन् । परैषि[6] गच्छसि-यासि । [तत्] ते तव । निजेन स्वकीयेन । शिरसा मस्तकेन । कार्यं प्रयोजनम् । न अस्ति न भवति । स्वजीविते स्वस्य जीवने । परिनिर्विण्णमतिः परिनिर्विण्णा विरक्ता मतिर्यस्य सः । वा किमित्यर्थः ॥५१॥ स इति । तदीयवचःप्रवृद्धमन्युः तदीयेन भटसंबन्धिना वचसा वचनेन प्रवृद्धः प्रैधितो मन्युः कोपो यस्य सः । सः कुमारः । भवतां युष्माकम् । यदि चेत् । शक्तिः सामर्थ्यम् । अस्ति[7] । स्वनृपेण निजभूपतिना । सहैव साकमेव । असून् प्राणान् । रक्षत पालयत । इति एवम् । ब्रुवाणः ब्रुवन् । वीरः शूरः । एकस्य पुरुषस्य । करात् हस्तात् । धनुः चापम् । जहार हरति स्म । हृञ् हरणे लिट् ॥५२॥ नगेति । नगतुङ्गमतङ्गजोग्रनक्रे नगा इव पर्वता इव[8] तुङ्गा उन्नता ये मतङ्गजा मत्तदन्तिनः त एवोग्रा भयंकरा नक्रा यस्मिन् तस्मिन् । पवनस्पर्धितुरङ्गवीचिचक्रे पवनो वायुस्तं (तस्मै) स्पर्द्धन्ते तच्छीलाः (इत्येवंशीलाः) अतिवेगवन्त इत्यर्थ, तथोक्ता ये तुरङ्गा[9] वाजिनस्त एव वीचयस्तरङ्गास्तासां चक्रं समूहो यस्मिन् तस्मिन् । चतुरङ्गसैन्यसिन्धौ चतुरङ्गं

तरंगोंके द्वारा उसका किनारेका वन घेर लिया जाता है ॥ ४९ ॥ वह आगे बड़े वेगसे बढ़ता चला जा रहा था, किन्तु अपरिचित तथा अनुमति पत्रसे रहित होनेके कारण राजाकी आज्ञासे रोक दिया गया । फिर भी वह निःशंक होकर उस पुरके प्रवेशद्वारकी ओर चलता ही गया, जिसका मार्ग हाथियोंसे घिरा हुआ था । फिर राजा महेन्द्रके सिपाही उससे यों बोले–॥ ५० ॥ क्या तुझे अपने सिरसे कोई काम नहीं है ? या तू अपने जीवनसे ऊब चुका है ? जो दूसरोंसे अनुल्लंघनीय राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करके इधर निःशंक होकर चला आ रहा है ॥ ५१ ॥ उनके इन वचनोंको सुनकर राजकुमारको बड़ा क्रोध आया । अतः उसने उत्तर दिया कि यदि तुम लोगोंमें शक्ति हो तो अपने और साथ ही अपने राजाके भी प्राण बचा लो । यह कहते-कहते उस शूर-वीर राजकुमारने उन्हींके बीचमें-से किसी एकके हाथसे धनुष छीन लिया ॥५२॥ फिर क्या था, उसे चतुरंगिणी सेनाने चारों ओरसे घेर लिया । पर राजकुमार भी बड़ा सूरमा था । उसके लिए सेना समुद्र थी तो वह उसके लिए मन्दराचल था । समुद्रमें बड़े-बड़े भयंकर

१. अ °वीरसं° । २. अ म पर्यैषि । ३. अ इ म धीरः । ४. = करिभिर्गजैः कीर्णो व्याप्तः पन्था मार्गो यस्याः, ताम् । ५. = यस्मात् कारणात् । ६. आ पर्यैषि । ७. = वर्तते । ८. आ पर्वतवत् । ९. आ पवनेन वायुना स्पर्द्धिनस्तुरंगाः ।

विषवह्निशिखामिवेषुमालां क्षिपतः संततधारमेकवक्त्राम्[1] ।
विदधद्विमुखान्भटानिवाहीन्स गरुत्मेव महेन्द्रमाप कोपात् ॥ ५४ ॥
प्रलयाहिमदीधितेरिवोल्कां सृजतो मार्गणसंहतिं कुमारः ।
स विलासनि[2]पातितैकबाणो विधवां तस्य चकार राज्यलक्ष्मीम् ॥ ५५ ॥
तमकारणबान्धवं ततोऽसौ समुपादाय विपक्षकक्षदावम् ।
प्रविवेश समुत्सवैर्महद्भिर्जयवर्मा[3] नगरं [4]कृताष्टशोभम् ॥ ५६ ॥

चत्वार्यङ्गान्यवयवा यस्य तच्चतुरङ्गं तच्च तत्सैन्यं च तथोक्तं, तदेव सिन्धुस्समुद्रस्तस्मिन्[5] विचरन् भ्रमन् सन् । सः कुमारः । पौरलोकैः पुरसंबन्धिजनैः । मन्दरवत् मन्दर इव । ददृशे[6] ईक्षांचक्रे[7] : दृश् प्रेक्षणे कर्मणि लिट् । रूपकम् ॥५३॥ विषेति[8] । विषवह्निशिखामिव विषमेव (?) वह्नेरग्नेः शिखामिव । एकवक्त्राम् एकं वक्त्रं यस्यास्ताम् । इषुमालाम् इषूणां मालामावलिम् । संततं निरन्तरं धारा यस्मिन् कर्मणि तत् । क्षिपतः प्रेरित (?) । अहीनिव सर्पानिव । गरुत्मेव गरुड इव । भटान् योधून् । विमुखान् विनष्टमुखान् । विदधत् कुर्वन् । सः कुमारः । कोपात् क्रुधः । महेन्द्रं देवेन्द्रं, महेन्द्रभूपं च । आप प्राप्नोति स्म । उपमा[9] ॥५४॥ प्रलयेति । प्रलयाहिमदीधितेः प्रलयस्य प्रलयकालस्याहिमदीधितेः सूर्यस्य । उल्काम् [इव] ज्वालामिव । मार्गणसंहतिं मार्गणानां बाणानां संहतिं समूहम् । सृजतः मुञ्चतः । तस्य महेन्द्रस्य । विलासनिपातितैकबाणः विलासेन लीलया निपातित एको बाणो यस्य[10] सः । [सः] कुमारः अजितसेनः । राज्यलक्ष्मीं राज्यसंपत्तिम् । विधवां पतिरहिताम् । चकार विदधे । डुकृञ् करणे लिट् । उपमा ॥५५॥ तमिति । ततः अनन्तरम् । असौ अयम् । जयवर्मा जयवर्मभूपः । विपक्षकक्षदावं विपक्ष एव शत्रुरेव कक्षं शुष्कवनं तस्य दावं दावाग्निम् । अकारणबान्धवम् अकारणं निर्निमित्तं बान्धवम् । तं कुमारम् । समुपादाय समुपानीय कृताष्टशोभं कृता रचिता अष्टशोभा यस्य तत् । मार्जन–सेचन–उद्धृततोरण–रङ्गवल्ली–पुष्पोपहार–वाद्य–गीत–नृत्यम् (नृत्यानि) इत्यष्टशोभाः । नगरं विपुलनगरम् । महद्भिः पृथुभिः । समुत्सवैः संभ्रमैः । प्रविवेश प्रविशति स्म । विश

घड़ियाल और बड़ी-बड़ी लहरें होती हैं। इसी तरह उस सेनारूपी समुद्रमें पहाड़ों सरीखे ऊँचे-ऊँचे हाथीरूपी भयंकर घड़ियाल और वायुसे स्पर्द्धा करनेवाले घोड़ेरूपी उत्ताल तरंग थे। समुद्रका मन्थन मन्दराचलसे हुआ था इसी तरह राजकुमाररूपी मन्दराचलसे सेनारूपी समुद्रका मन्थन शुरू हो गया, जिसे सभी पुरवासियोंने देखा ॥ ५३ ॥ विषाग्निकी ज्वालाके समान लगातार एकके पीछे एक करके बाणोंकी वर्षा करनेवाले सैनिक, जहरीले नागोंके समान थे। उनके दमन करनेके लिए राजकुमार गरुड़के समान था। उसने उन सबको विमुख कर दिया और फिर वह बड़े रोषसे राजा महेन्द्रके पास जा पहुँचा ॥ ५४ ॥ जिस प्रकार प्रलयकालका सूर्य अग्नि-ज्वालाओंकी वर्षा करता है, उसी प्रकार राजा महेन्द्र दनादन बाण बरसा रहा था। किन्तु राजकुमारने यों ही एक बाण चलाकर उसकी राज्यलक्ष्मीको विधवा कर दिया ॥ ५५ ॥ इसके पश्चात् राजा जयवर्माने राजकुमार अजितसेनको—जो उसका अकारणबन्धु था और जिसने उसके शत्रुरूपी वनको जला डाला था—साथ लेकर अपने नगरमें प्रवेश किया। उस

१. क ख ग घ म °वक्त्रम् । २. अ °सन्निपाति° । ३. अ धयधर्मा । ४. एष टीकाकृदभिमतः पाठः प्रतिषु तु 'कृताट्टशोभम्' इत्येव वर्तते । ५. श स चतुरङ्गमेव सिन्धुः समुद्रः, तस्मिन् । ६. =दृष्टो व्यलोकि वा । ७. आ प्रतावेव 'ईक्षांचक्रे' तो 'रूपकम्' यावत् पाठो वर्तते । ८. =विषवह्निशिखामिव विषानलज्वालामिव । एकवक्त्राम् एकं वक्त्रं यस्याः, ताम् । इषुमालाम् इषूणां बाणानामावली पंक्तिः, ताम् । संततधारां संतता धारा यस्मिन् कर्मणि तत्तथा । क्षिपतः प्रेरयतः । अहीनिव सर्पानिव । भटान् योधून् । गरुत्मेव गरुड इव । सः कुमारः । विमुखान् विनष्टमुखान्, पक्षे पराङ्मुखान् । विदधत् कुर्वन् । कोपात् क्रुधः । महेन्द्रं देवेन्द्रं, महेन्द्रभूपं च । आप प्राप्नोति स्म । उपमा ॥५४॥ ९. श स एतच्छ्लोकटीका तु भूडकर्नाटपुस्तके नास्ति किन्तु लेखकप्रणीता इति सूचना समवलोक्यते । १०. =येन ।

[१]पुरनाथपुरःसरः कुमारः प्रविशन्राजनिकेतमुत्पताकम् ।
विदधे विविधान्वधूजनानां हृदयोन्मादविधायिनः स्वभावान्[२] ॥ ५७ ॥
वपुषा जयता नरेन्द्र[३]लक्ष्मीमितरासंभविना च पौरुषेण ।
परिसूचनया विनापि राज्ञा बुबुधे जातिकुलोन्नतिस्तदीया ॥ ५८ ॥
निवसन्कृतसत्कृतिः स तस्मिन्विनमय्यावनिपान्निजप्रतापैः ।
विपुलाधिपतेश्चकार वश्यां सुरराजोपमविक्रमो धरित्रीम् ॥ ५९ ॥
सह वल्लभया पतिं प्रजानां शयनीयस्थितमेकदा समेत्य ।
विहितप्रणतिः परेङ्गितज्ञा निजगादेति सखी शशिप्रभायाः ॥ ६० ॥

प्रवेशे लिट् ॥५६॥ पुरेति । पुरनाथपुरःसरः पुरनाथस्य जयवर्मणः पुरःसरः । कुमारः अजितसेनः । उत्पताकम् उद्धृताः पताका यस्य तत् । राजनिकेतनं राजमन्दिरम् । प्रविशन्, वधूजनानां वध्व एव जनास्तेषाम् । रूपकम् (?) हृदयोन्मादविधायिनः हृदयस्य चित्तस्योन्मादं विकारं विदधतीत्येवंशीलाः, हृदयोन्मादकारिणस्तान् । विविधान् नानाप्रकारान् । स्वभावान् चेष्टाः । विदधे चकार । डुधाञ् धारणे च लिट् ॥५७॥ वपुषेति नरेन्द्रलक्ष्मीं नरेन्द्रस्य महेन्द्रस्य लक्ष्मीं शोभाम् । जयता जयमानेन । वपुषा गात्रेण । इतरासंभविना इतरेषामसंभविना । पौरुषेण प्रतापेन । परिसूचनया वचनेन विनापि । तदीया तस्येयं तदीया-अजितसेनसंबन्धिनी । जातिकुलोन्नतिः जातिकुलयोः मातापित्रो[४]रुन्नतिराधिक्यम् । राज्ञा भूपेन । बुबुधे बुध्यते स्म । बुधिमनि ज्ञाने कर्मणि लिट् । अनुमितिः ॥५८॥ निवसन्निति । तस्मिन् विपुलपुरे । निवसन् तिष्ठन् । कृतसत्कृतिः कृता विहिता सत्कृतिः सत्कारो यस्य सः । सः कुमारः । निजप्रतापैः निजस्य स्वस्य प्रतापैस्तेजोभिः । [अवनिपान् भूपान् । विनमय्य[५] वन्दयित्वा । सुरराजोपमविक्रमः[६] सुरराजस्य देवराजस्य उपमा समानो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः । धरित्रीं भूमिम् । विपुलाधिपतेः जयवर्मणः । वश्यां वशंगताम् । 'वश्यपथ्य—' इत्यादिना साधुः । चकार करोति स्म । डुकृञ् करणे लिट् ॥५९॥ सहेति । वल्लभया वनितया । सह साकम् । शयनीयस्थितं शयनीये तल्पे स्थितम् । प्रजानां लोकानाम् । पतिं प्रभुम् । एकदा एकस्मिन् दिने । समेत्य प्राप्य । परेङ्गितज्ञा परेषामन्येषामिङ्गितज्ञा[७] अभिप्रायज्ञा । विहितप्रणतिः कृतप्रणामा । शशिप्रभायाः शशिप्रभाकुमार्याः । सखी वयस्या । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निजगाद ऊचे । गद व्यक्तायां

समय नगरमें खूब सजावट की गयी थी और उत्सवोंकी धूम मची हुई थी ॥ ५६ ॥ राजमहल पताकाओंसे सजा दिया गया था । उसमें राजकुमार अजितसेनने—जिसके आगे-आगे राजा जयवर्मा चल रहा था—प्रवेश किया । राजकुमारको देखकर वहाँकी वधुओंकी नाना प्रकारकी चेष्टाएँ प्रकट हुईं, जिनसे उनके हृदयके उन्माद भरे भाव अभिव्यक्त हो रहे थे ॥ ५७ ॥ राजकुमारके इन्द्रसे भी कहीं अधिक सुन्दर शरीर और पुरुषार्थको, जो दूसरोंमें कभी सम्भव नहीं हो सकता—देखकर राजाने, बिना किसी सूचनाके उसकी जाति और कुलकी उन्नति जान ली ॥ ५८ ॥ राजकुमार, जयवर्माके यहाँ कुछ दिन सत्कारके साथ रहा । वह इन्द्रके समान पराक्रमी था । अतः उसने अपने प्रतापसे सभी राजाओंको नम्र बना दिया और सारे भूमण्डलको विपुल नरेश—जयवर्माके अधीन कर दिया ॥ ५९ ॥ एक दिनकी बात है । राजा, रानीके साथ एक पलंगपर बैठा हुआ था । उसी समय राजकुमारी शशिप्रभाकी एक सहेली, जो दूसरोंके भावको भाँपनेमें बड़ी कुशल थी, उस (राजा) के पास जाकर नमस्कारपूर्वक यों

१. अ युवराजपुरः° । २. अ म स भावान् । ३. अ क ख ग घ म °मरेन्द्र° । ४. आ मातृपित्रोः । ५. =विनम्रान् विधाय । ६. सुरराजोपमो देवराजसदृशो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः, दिव्यपराक्रम इति यावत् । ७. =इङ्गितं पराभिप्रायं जानातीतीङ्गितज्ञा ।

नरनाथ युवा यदा स दृष्टो भवतो देहजया महेन्द्रमर्दी ।
विदधाति ततः प्रभृत्यनास्थां स्वशरीरेऽपि विमुक्तगन्धमाल्या ॥ ६१ ॥
परिशून्यमना विचिन्तयन्ती किमपि क्षामविपाण्डुगण्डलेखा ।
परिवारसमाहृते[1]ऽन्नपाने ज्वरहीनापि दधात्यरोचकत्वम् ॥ ६२ ॥
हिमदग्धसरोरुहोपमाङ्गया हृदि तस्या विनिपत्य तत्क्षणेन ।
क्वथता नयनाम्बुनान्तरङ्गः परितापः परिगम्यते गरीयान् ॥ ६३ ॥
श्वसितैरहिमैर्नितान्तदीर्घैरिव धूमप्रसरैर्वियोगवह्नेः ।
सरसीरुहशङ्कया मुखेऽस्या निपतद्दूरमुदस्यतेऽलिवृन्दम् ॥ ६४ ॥

वाचि लिट् ॥६०॥ नरनाथेति । नरनाथ भूपाल । महेन्द्रमर्दी महेन्द्रं मर्दतीत्येवंशीलः, तथोक्तः, महेन्द्रस्य हन्ता । युवा तरुणः । सः कुमारः । भवतः तव । देहजया तनूजया । यदा यत्समये । दृष्टः आलोकितः । ततः प्रभृति तदादि । विमुक्तगन्धमाल्या विमुक्ते गन्धमाल्ये यया सा । स्वशरीरे स्वशरीरेऽपि देहेऽपि । अनास्थाम् औदासीन्यम् । विदधाति करोति डुधाञ् धारणे च लट् ॥६१॥ परिशून्येति । परिशून्यमनाः परिशून्यं मनो यस्य सः (यस्याः सा) । किमपि यत्किंचिदपि । [वि-] चिन्तयन्ती विचारयन्ती । क्षामविपाण्डुगण्डलेखा क्षामा कृशा पाण्डुः शुभ्रा, क्षामा चासौ पाण्डुश्च तथोक्ता क्षामपाण्डुर्गण्डयोर्लेखा प्रदेशो यस्याः सा । परिवारसमाहृते परिवारैः परिजनैः समाहृते[2] नीते । अन्नपाने भक्तपाने[3] । ज्वरहीनापि ज्वरेण जूर्त्या[4] हीनापि । अरोचकत्वम् अरुचित्वम् । दधाति धरति । हेतुः (विभावना) ॥६२॥ हिमेति । हिमदग्धसरोरुहोपमाङ्गयाः हिमेन दग्धस्य भस्मीकृतस्य सरोरुहस्योपमा समानम् (साम्यं यस्य तत्) अङ्गं यस्यास्तस्याः । तस्याः शशिप्रभायाः । हृदि चित्ते । तत्क्षणेन तत्समयेन । विनिपत्य पतित्वा । क्वथता उष्णतायता (उष्णतावता) । नयनाम्बुना नेत्राम्बुना । अ [आ-] न्तरङ्गः अन्तरङ्गे प्रवर्तमानः । गरीयान् प्रकृष्टो गुरुः (प्रकर्षेण गुरुः) गरीयान् । 'गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसू' इति यसू (ईयसु) । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना गुरुशब्दस्य गरादेशः । परितापः संतापः । परिगम्यते ज्ञायते । गम्लृ गतौ कर्मणि लट् । अनुमितिः ॥६३॥ श्वसितैरिति । अहिमैः उष्णैः । नितान्तदीर्घैः नितान्तमत्यन्तं दीर्घैरायतैः । वियोगवह्नेः वियोग एव विरह एव वह्निरग्निस्तस्य । धूमप्रसरैरिव धूमस्य प्रसरैरिव प्रसरणैरिव । श्वसितैः श्वासैः । सरसीरुहशङ्कया सरसीरुहमिति कमलमिति शङ्कया सन्देहेन । अस्याः शशिप्रभायाः । मुखे वदने । निपतत् स्खलत् । अलिवृन्दम्

कहने लगी—॥ ६० ॥ राजन् ! आपकी कन्या शशिप्रभाने जबसे राजा महेन्द्रको मारनेवाले युवक अजितसेनको देखा है तभीसे उसने चन्दनके लेप और मालाका परित्याग कर दिया है तथा अपने शरीरकी भी उपेक्षा कर दी है ॥ ६१ ॥ उसका मन सूनसान (एकान्त) स्थानको पसन्द करने लगा है। वहीं (एकान्त में) बैठकर वह कुछ सोचती रहती है। उसके कपोल सूख गये हैं और उनका रंग पीला पड़ गया है। परिवारके लोग उसके पास अन्न-जल ले जाते हैं, किन्तु ज्वरके बिना भी उसे खाने-पीनेसे अरुचि हो गयी है ॥६२॥ उसका सुकुमार शरीर पालेसे झुलसे हुए कमलके समान हो गया है। उसके अश्रु-बिन्दु आँखोंसे सीनेपर गिरकर शीघ्र ही खौलने लगते हैं, जिनसे उसके तीव्र अन्तस्तापका पता लगता है। ॥६३॥ कमलके भ्रमसे उसके मुख पर जो भौंरे गिरना चाहते हैं, वे वियोगाग्निके फैलते हुए धुएँ सरीखे प्रतीत

---

१. अ °समादृते । २. = समानीते । ३. आ भुक्तिपाने । ४. आ जूत्या ।

मुषिता[1] वदनश्रिया मम श्रीरनयेतीव रुषोपजातमूर्च्छाम् ।
विदधाति मुहुर्मुहुर्मृगाक्षीं विषनिःस्यन्दिभिरंशुभिः शशाङ्कः ॥ ६५ ॥
परितापविनाशनाय शय्या क्रियते या नवपल्लवैः सखीभिः ।
दववह्निशिखावलीव सापि ज्वलयत्यम्बुजकोमलं तदङ्गम् ॥ ६६ ॥
विदधातु भुजंगसङ्गभाजो रससेकः खलु चन्दनस्य तापम् ।
प्रविभाति महत्तदत्र चित्रं यदमूं प्लुष्यति दक्षिणोऽपि वातः ॥ ६७ ॥
नितरां परिकोपितो मनोभू[2] रतिरूपं ध्रुवमेतया हरन्त्या[3] ।
विदधाति विनाशहेतुमस्याः किमसाधारणमन्यथा प्रयत्नम् ॥ ६८ ॥

अलीनां भ्रमराणां वृन्दं समूहः । दूरम् उदस्यते निराक्रियते । असू क्षेपणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥६४॥ मुषितेति । मम मे । श्रीः शोभा । अनया, अन्वादेशे एनदादेशः (?) । वदनश्रिया वदनस्य मुखस्य श्रिया शोभया । मुषिता अपहृता । इति एवम् । मत्वा, रुषा कोपेन, इव । शशाङ्कः चन्द्रः । विष [निः-] स्यन्दिभिः विषं (निः) स्यन्दत इत्येवंशीलैः । अंशुभिः किरणैः । मृगाक्षीं मृगस्याक्षिणी इवाक्षिणी यस्यास्ताम् । मुहुर्मुहुः पुनः पुनः । उपजातमूर्च्छाम् उपजाता उत्पन्ना मूर्च्छा यस्यास्ताम् । विदधाति करोति ॥६५॥ परितापेति[4]। परितापविनाशनाय परितापस्य संतापस्य विनाशनाय विनाशार्थम् । सखिभिः [सखीभिः] वयस्याभिः । नवपल्लवैः नवैर्नूतनैः पल्लवैः किसलयैः । या शय्या तल्पम् । क्रियते विधीयते । सापि पल्लवशय्यापि । दववह्निशिखावलीव दवश्चासौ वह्निश्च (दवस्य वह्निः) तथोक्तस्तस्य शिखानां ज्वालानामावलीव समूह (जालम्) इव । अम्बुजकोमलम् अम्बुजमिव कमलमिव कोमलं मृदुलम् । तदङ्गं तस्याः शशिप्रभाया अङ्गं गात्रम् । ज्वलयति[5] दहयति । ज्वल दीप्तौ णिजन्ताल्लट् । हेतुः (?) ॥६६॥ विदधात्विति । भुजङ्गसङ्गभाजः भुजङ्गानां सङ्गं संपर्कं भजतीति तथोक्तस्य । चन्दनस्य मलयजस्य । रससेकं (कः) रसस्य द्रवस्य सेकं (कः) सेचनम् । खलु, तापं सन्तापम् । विदधातु करोतु । डुधाञ् धारणे च लोट्[6] । दक्षिणोऽपि दक्षिणदिश आगतोऽपि । वातः वायुः । अमूम् एताम् । प्लुष्यति दहति । प्लुष् दाहे लट् । यत् प्रकृतम् । तत्, अत्र लोके । महच्चित्रम् आश्चर्यम् । भवति । हेतुः ॥६७॥ नितरामिति । रतिरूपं रतिदेव्या रूपम् । हरन्त्या अपहरन्त्या । एतया अनया शशिप्रभया । मनोभूः मन्मथः । नितराम् अत्यन्तम् । परिकोपितः परिक्रुद्धः । ध्रुवं[8] निश्चयः । अन्यथा न परिकोपितश्चेत् । अस्याः शशिप्रभायाः । असाधारणं प्रतिकाररहितम् । विनाशहेतुं निधनकारणम् । प्रयत्नं[9] प्रारम्भम् । किं किं कारणम् । विदधाति करोति । डुधाञ्

होने वाले उसके उष्ण और दीर्घ श्वास वायुसे हटा दिये जाते हैं ॥६४॥ 'इसने अपने मुखकी शोभासे मेरी शोभा चुरा ली है', मानो यह सोचकर रात्रिके समय चन्द्रमा क्रुद्ध होकर अपनी किरणोंसे बिष बहाकर शशिप्रभाको बार-बार मूर्च्छित कर देता है ॥६५॥ उसके तीव्र सन्तापको दूर करनेके लिए सहेलियाँ नवीन कोंपलोंसे जो सेज सजाती हैं, वह भी उसकी कमल कोमल कायाको दवाग्निकी ज्वालाकी भाँति जलाने लगती है ॥६६॥ चन्दन-द्रवका सिंचन या लेप भले ही उसे सन्ताप दे; क्योंकि उससे जहरीले काले नाग लिपटे रहते हैं, किन्तु दक्षिण (अनुकूल) वायु भी उसे जलाता है, यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है ॥६७॥ लगता है शशिप्रभाने रतिके रूपको हरकर कामदेव (रतिपति) को बहुत अधिक क्रुद्ध कर दिया है । यदि यह बात न होती

---

१. अ मुजिता । २. अ मनोजो॰ । ३. अ वहन्त्या । ४. आ श स इदं (६६ तमं) पद्यं पश्चाद् व्याख्यातम्, इतः पूर्वं तु विदधातु इत्यादि (६७ तमं) पद्यं व्याख्यातम् । ५. = दहति संधुक्षयति वा । ६. आ लट्, श स लेट् । ७. = कुरु इति शेषः । ८. = निश्चयेन । ९. = प्रयतनम् ।

सपदि प्रविधीयतां तदत्र प्रविधेयं गुणवद्विमृश्य बुद्धया।
हरिणायतचक्षुरीश यावद्दशमीं याति दशां न पुष्पकेतोः ॥ ६९ ॥
श्रुतवानिति तद्गिरं गरीयःप्रमदोद्यत्पुलको बभूव भूपः।
दुहितुर्विगणय्य चित्तवृत्तिं सदृशीमात्मन एव चित्तवृत्तेः ॥ ७० ॥
अपरेद्युरपृच्छदादृतात्मा[1] सहसाहूय निमित्तिनं नरेन्द्रः।
विदधे च शुभे शरीरजाया दिवसे तत्प्रतिपादिते प्रदानम् ॥७१॥
स ततः प्रभृति प्रतीततेजा[2] निजपाणिग्रहवासरं कुमारः।
गणयन्स्मरबाणभिन्नमर्मा दयितासङ्गसमुत्सुकोऽवतस्थे ॥७२॥

धारणे च लट् ॥६८॥ सपदीति। ईश भो स्वामिन्। हरिणायतचक्षुः हरिणस्य मृगस्येवायते विशाले चक्षुषी यस्याः सा। यावत्[3] यत्प्रमाणम्। पुष्केपतोः[4] मन्मथात्। दशमीं दशानां पूरणी दशमी, ताम्। दशाम् अवस्थां मरणावस्थामित्यर्थः। न याति न गच्छति। (तावत्) गुणवत् गुणयुक्तम्। प्रविधेयमिति कार्यमिति। बुद्धया बोधनेन। विमृश्य विचार्य। अत्र अस्याम्। तत् कार्यम्। सपदि शीघ्रम्। प्रविधीयतां प्रतिकारः क्रियताम्। उपमा ॥६९॥ श्रुतेति। इति उक्तप्रकारेण। तद्गिरं तस्याः शशिप्रभासख्या गिरं वाचम्। श्रुतवान् आकर्णितवान्। भूपः जयवर्मा। आत्मन एव स्वस्यैव। चित्तवृत्तेः चित्तस्य वृत्तेर्वर्तनस्य। सदृशीं समानाम्। दुहितुः पुत्र्याः। चित्तवृत्तिं मानसवृत्तिम्। विगणय्य निश्चित्य। गरीयःप्रमदोद्यत्पुलकः गरीयसा महता प्रमदेन संतोषेण उद्यदुत्पद्यमानः पुलको रोमाञ्चो यस्य सः। बभूव भवति स्म। भू सत्तायां लिट् ॥७०॥ अपरेद्युरिति। आदृतात्मा आदृत आदरयुक्त[5] आत्मा बुद्धि र्यस्य सः। नरेन्द्रः जयवर्मा। अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिवसे। निमित्तिनं निमित्तज्ञम्। सहसा शीघ्रम्। आहूय आह्वानं कृत्वा। अपृच्छत्[6] अशृणोत्। तत्प्रतिपादिते तेन निमित्तज्ञेन प्रतिपादिते कथिते। शुभे शोभने। दिवसे दिने। शरीरजायाः शशिप्रभाकुमार्याः। प्रदानं वाग्दत्तिम्। विदधे च चकार च। डुधाञ् धारणे च लिट् ॥७१॥ स इति। ततः प्रभृति तद्दिवसमारभ्य। प्रतीततेजाः प्रतीतं प्रथितं तेजः प्रतापो यस्य सः। स्मरबाणभिन्नमर्मा स्मरस्य मदनस्य बाणैर्मार्गणैर्भिन्नं स्फुटितं मर्म मर्मस्थानं यस्य सः। दयितासङ्गसमुत्सुकः दयितायाः कान्तायाः सङ्गे संयोगे समुत्सुकः समुद्युक्तः। सः कुमारः। अजितसेनकुमारः निजपाणिग्रहवासरं निजस्य स्वस्य पाणिग्रहस्य विवाहस्य वासरं दिवसम्। गणयन् संख्यानं कुर्वन्। अवतस्थे तिष्ठति स्म। ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट्। 'संविप्रावात्' इति तङ्

तो वह इसके विनाशके लिए असाधारण प्रयत्न क्यों करता ? ॥६८॥ राजन् ! इसलिए अपनी बुद्धिसे इस विषयमें जो भी लाभकर हो शीघ्र कीजिए, जिससे हरिणाक्षी शशिप्रभा कामदेवकी दशवीं (मृत्यु) दशासे बच जाये ॥६९॥ शशिप्रभाकी सहेलीके ये वचन सुनकर एवं अपने विचारोंके समान अपनी पुत्रीके विचारोंको भी जानकर जयवर्मा मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ, और उसी प्रसन्नताके कारण उसके शरीरमें रोमांच हो आया ॥७०॥ इससे अगले दिन राजाने आदर पूर्वक एक ज्योतिषीको शीघ्र ही बुलवाया। राजाके पूछने पर उसने जो शुभ दिन बतलाया, उसी दिन उसने अपनी कन्याका प्रदान—वाग्दान (सगाई) कर दिया ॥७१॥ विवाहकी बात तय होनेके बाद कामदेवने तेजस्वी राजकुमार अजितसेनके मर्मस्थलको अपने बाणोंसे बींध डाला। फलतः वह पत्नीके समागमके लिए उत्सुक होकर विवाहके दिन गिनने लगा

---

१. अ °दाहितात्मा। २. आ इ प्रथिततेजा°। ३. = यावत् पर्यन्तम्। ४. = मन्मथस्य। ५. आ संतोषयुक्त°। ६. = पृच्छति स्म।

गिरिरस्त्यथ खेचराधिवासः शिखरोत्तम्भिततारकासमूहः ।
विजयार्ध इति प्रसिद्धनामा निजविस्तारनिरुद्धदिग्विभागः ॥७३॥
कलधौतमयोऽखिलासु दिक्षु प्रकिरन्यः शशिशुभ्रमंशुजालम् ।
प्रविभाति विशालमेदिनीकः शुचिनिर्मोक इवाम्बरोरगस्य ॥७४॥
पृथु दक्षिणतोऽस्ति तत्र रम्यं पुरमादित्यपुराभिधां दधानम् ।
रजताच्छतयेव देवलोकात्प्रतिबिम्बं पतितं मनोभिरामम्[1] ॥७५॥
धरणीध्वज इत्यभूत्प्रशास्ता बलवांस्तस्य पुरस्य खेचरेन्द्रः ।
अमरेन्द्र इवोद्धतान्व्यधाद्यः सकलान्खेचरभूभृतो विपक्षान् ॥७६॥

॥७२॥ गिरिरिति । अथ अनन्तरम् । खेचराधिवासः खेचराणां विद्याधराणामधिवास[2] आधारभूतः । शिखरोत्तम्भिततारकासमूहः शिखरैः शृङ्गैरुत्तम्भित उद्धृतः तारकाणां नक्षत्राणां समूहो यस्य (येन) सः । निजविस्तारनिरुद्धदिग्विभागः निजस्य स्वस्य विस्तारेणायामेन निरुद्धो व्याप्तो दिशां विभागो यस्य (येन) सः विजयार्ध इति रजताचल इति । प्रसिद्धनाम्ना[3] प्रसिद्धेन प्रतीतेन नाम्ना अभिधानेन । गिरिः पर्वतः । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । स्वभावः ॥७३॥ कलधौतेति[4] । कलधौतमयः रजतमयः । शशिशुभ्रं शशीव चन्द्र इव शुभ्रं गौरम् । अंशुजालम् अंशूनां किरणानां जालं समूहम् । अखिलासु सर्वासु । दिक्षु दिशासु । प्रकिरन् विकिरन् । विशालमेदिनीकः विशाला[5] विस्तारा मेदिनी भूमि र्यस्य सः । यः पर्वतः । अम्बरोरगस्य अम्बरमाकाशमेवोरगः सर्पस्तस्य । शुचिनिर्मोक इव शुचिः शुभ्रो निर्मोकः कञ्चुकः (स) इव । प्रविभाति प्रभासते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥७४॥ पृथ्विति[6] । तत्र पर्वते । दक्षिणतः दक्षिणस्यां श्रेण्याम् । रजताच्छतया रजतस्य रूप्यस्याच्छतया नैर्मल्येन । मनोभिरामं मनोहरम् । देवलोकात् स्वर्गात् । पतितं च्युतम् । प्रतिबिम्बं प्रतिकृतीव[7] । रम्यं सुन्दरम् । आदित्यपुराभिधाम् 'आदित्यपुरम्' इत्यभिधा ताम् । दधानं धरमाणम् । पृथु महत् । पुरं पुरी । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । उत्प्रेक्षा ॥७५॥ धरणीति । यः विपक्षान् शत्रून् । विगतपवत्रान्[8] । सकलान् निखिलान् । खेचरभूभृतः खेचरभूमिपालान्, पक्षे खेचरान् आकाशचरान् भूभृतः पर्वतान् । अमरेन्द्र इव देवेन्द्र इव । उद्धतान् विनष्टान् । व्यधात् अकरोत् । बलवान् पराक्रमी ।

॥७२॥ इसके पश्चात्—एक विजयार्ध नामका प्रसिद्ध पर्वत है । उसने अपने विस्तारसे सारी दिशाओं और विदिशाओंके विभागको समाप्त कर दिया है—जिधर देखो उधर वह फैला हुआ है, अतः पूर्व किस ओर है और किस ओर हैं पश्चिम आदि, इसका पता ही नहीं पड़ता । उसने अपने शिखरोंसे तारामण्डलको ऊपर उठा दिया है, और उस पर विद्याधर लोग निवास करते हैं ॥७३॥ उस पर्वतने अपनी लम्बाईसे भी विशाल भूभागको आत्मसात् कर रखा है । रजतमय होनेसे वह सभी ओर चन्द्रमाके समान अपनी धवल किरणोंको फैलाए हुए है । अतः वह आकाश रूपी सर्पकी गिरी हुई सफेद केंचुलीके समान जान पड़ता है ॥७४॥ दक्षिणकी ओर उस पर्वतके ऊपर (उस पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें) एक आदित्य नामका विशाल नगर है । वह अत्यन्त अभिराम—सुन्दर है । उसे जो भी एक बार देख लेता है, उसका मन वहीं रम जाता है (अभिरामम्-अभिरमते मनो यत्र तदभिरामम्) । अतएव ऐसा जान पड़ता है मानो उसके रजतमय स्वच्छ प्रदेशमें स्वर्गका प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो ।७५॥ धरणीध्वज नामका एक बलवान् राजा उस नगरका शासक था । वह समस्त विद्याधरोंका स्वामी था । उसने सारे विपक्षी

१. अ मनोभिधानम् । २. = अधिवासो निवासो यत्र सः । ३. 'प्रसिद्धनाम्ना' इति पाठष्टीकाकृदभिमतः । प्रतिषु प्रसिद्धनामा' इत्येष पाठो दृश्यते । प्रसिद्धं प्रख्यातं नाम यस्य सः—इति तद्व्याख्या कार्या । ४. आ कलधौत इति । ५. = विस्तृता । ६. श स पृथ्वीति । ७. = प्रतिकृतिरिव । ८. आ विगतपरतान्, क स विगतपरत्रान् ।

अथ स [1]प्रियधर्मनामधेयं परमाणुव्रतपालनप्रसक्तम् ।
यतिचिह्नधरं सभान्तरस्थः सहसा क्षुल्लकमागतं ददर्श ॥७७॥
प्रतिपत्तिभिर[2]र्घपूर्विकाभिः स्वयमुत्थाय तमग्रहीत्खगेन्द्रः ।
मतयो न खलूचितज्ञतायां मृगयन्ते महतां परोपदेशम् ॥७८॥
प्रविसर्जित[3]सर्वपादसेवागतविद्याधरबन्धुमन्त्रिवर्गः ।
गुरुविष्टरमास्थितेन तेन स्मितपूर्वं स कृताशिषा बभाषे ॥७९॥
खचराधिप योगिनोऽपि कामं किमपि स्निह्यति मानसं न जाने ।
त्वयि बान्धववत्सले ममाहो बलवान्सर्वजगत्सु[4] मोहराजः ॥८०॥

धरणीध्वज इति धरणीध्वज इति नाम (नामकः) । खेचरेन्द्रः खेचराणां विद्याधराणामिन्द्रः प्रभुः । तस्य पुरस्य आदित्यपुरस्य । प्रशास्ता पालकः । 'कृत्कामुकस्य—'इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । अभूत् अभवत् ॥७६॥ अथेति । अथ अनन्तरम् । सभान्तरस्थः सभायाः संसदोऽन्तरस्थो मध्यस्थः । सः धरणीध्वजः । परमाणुव्रत-पालनप्रसक्तं परमाणुव्रतस्य श्रावकव्रतस्य पालने रक्षणे प्रसक्तमासक्तम् । यतिचिह्नधरं मुनिचिह्नधरं—जपमालादिधरमित्यर्थः (?) । प्रियधर्मनामधेयं प्रियधर्म इति नामधेयं यस्य तम् । सहसा शीघ्रम् । आगतम् । आयातम् । क्षुल्लकं ब्रह्मचारिणम् (?) ददर्श पश्यति स्म । दृशृ प्रेक्षणे लिट् ॥७७॥ प्रतिपत्तिभिरिति । खगेन्द्रः खगानां विद्याधराणामिन्द्रः प्रभुः । स्वयम् उत्थाय सिंहासनादुत्थाय । अर्घपूर्विकाभिः अर्घः पूजायोग्यं द्रव्यं पूर्वं पुरःस्सरं यासां ताभिः । प्रतिपत्तिभिः सत्कारैः । तं प्रियधर्माणम् । अग्रहीत् अपूजयत् । महतां महापुरुषाणाम् । मतयः, उचितज्ञतायां प्रकृतज्ञतायाम्[5] । परोपदेशं परेषामुपदेशम् । न मृगयन्ते नान्वेषयन्ति । मृगि अन्वेषणे लट् । खलु व्यक्तम् । अर्थान्तरन्यासः ॥७८॥ प्रवीति । प्रविसर्जितसर्वपादसेवागतविद्याधरबन्धु-मन्त्रिवर्गः पादयोः सेवा पादसेवा तस्यै आगतास्तथोक्ताः, सर्वे च ते पादसेवागताश्च (तथोक्ताः) सर्वपादसेवागतानां विद्याधराणां खेचराणां बन्धूनां सगोत्राणां मन्त्रिणां सचिवानां वर्गः समूहः, प्रविसर्जितः प्रहितः सर्वपादसेवागतविद्याधरबन्धुमन्त्रिवर्गो येन सः । सः धरणीध्वजः । स्मितपूर्वं स्मितं मनाक् स्मितं पूर्वं यस्मिन् कर्मणि तत् । कृताशिषा विहिताशीर्वादेन । गुरुविष्टरं महदासनम् । आस्थितेन । तेन प्रियधर्मब्रह्मचारिणा । बभाषे उच्यते स्म । भाषि[6] व्यक्तायां वाचि कर्मणि लिट् ।७९॥ खचरेति । खचराधिप भो खचराणां विद्याधराणामधिप प्रभो । बान्धववत्सले बान्धववत् वत्सले वात्सल्ययुक्ते । त्वयि भवति । योगिनोऽपि

विद्याधरोंकी सत्ता समाप्त कर दी थी । जैसे इन्द्रने आकाशमें उड़नेवाले (जैनेतर पुराणोंकी दृष्टिसे) पहाड़ोंके पंख काटकर उन्हें निष्प्राण कर दिया था ॥७६॥ इसके पश्चात् एक दिनकी बात है, वह सभाके बीचमें बैठा हुआ था । इतनेमें उसने अचानक ही वहाँ आये हुए क्षुल्लक-ग्यारहवीं प्रतिमाके धारी उत्कृष्ट श्रावकके दर्शन किये । वे उत्कृष्ट अणुव्रतोंके पालक थे । वे दिगम्बर साधुओंकी तरह उद्दिष्ट भोजन त्याग आदि चिह्नोंसे विभूषित थे । उनका नाम था प्रियधर्म ॥७७॥ वह विद्याधरोंका राजा सिंहासनसे उठकर खड़ा हो गया, और अर्घ आदि पूजा सामग्री लेकर उसने स्वयं उनका सत्कार किया । महान् पुरुषोंकी बुद्धि उचित बातोंकी जानकारीके लिए निश्चय ही परोपदेशकी प्रतीक्षा नहीं करती ॥७८॥ फिर अपने चरणोंकी सेवामें उपस्थित हुए विद्याधरों, बन्धुओं और मन्त्रियोंके मण्डलको राजा धरणीध्वजने बिदा करके क्षुल्लकजीको एक बड़े आसन पर बैठा दिया । आसन पर बैठकर उन्होंने आशीर्वाद देकर मुस्कराते हुए, उससे यों कहा—॥७९॥ हे विद्याधरोंके नाथ ! मैं एक योगी हूँ, फिर भी मेरा

१. अ प्रियपृथु° । २. अ म °रर्थपूर्वि° । ३. इ प्रतिसर्जित° । ४. अ आ इ सर्वगतश्च मोह° ।
५. आ प्रतावेव 'प्रकृतज्ञतायाम्' इति पर्यायः समुपलभ्यते । ६. श स भाष ।

तव मानधनाखिलप्रकारैः प्रविधातुं प्रियमीहते मतिर्मे ।
तमिमं शृणु यो मया मुनीन्द्रात्त्वदुदन्तो विदितः सुधर्मनाम्नः[1] ॥८१॥
विपुलाख्यमरिंजयाभिधाने पुरमस्तीन्द्रपुरोपमं जनान्ते ।
तदपास्तसमस्तवैरिवर्गो जयवर्मेति[2] भुनक्ति भूमिपालः ॥८२॥
मृगदृष्टिरवि[3]भ्रमप्रहीणा शशभृत्कान्तिरलाञ्छनप्रसङ्गा ।
करदीकृतमण्डलस्य जिष्णोस्तनया तस्य शशिप्रभाभिधाना ॥८३॥

तपस्विनोऽपि । मम मे । मानसं चित्तम् । कामं भृशम् । स्निह्यति प्रीतिं करोति । किमपि किं निमित्तमिति । न जाने न वेद्मि । ज्ञा अवबोधने लट् । सर्वजगत्सु सर्वजनेषु । मोहराजः मोहकर्मराजः । बलवान् शक्तिमान् । अहो हन्त । अर्थान्तरन्यासः ॥८०॥ तवेति । मानधन मान एवाभिमान एव धनं यस्य तस्य संबोधनम्—भो अभिमानधन । अखिलप्रकारैः नानाप्रकारैः सर्वप्रकारैर्वा । तव भवतः । प्रियं प्रीतम्[4] । (हितमिति यावत्) प्रविधातुं कर्तुम् । मे मम । मतिः बुद्धिः । ईहते प्रवर्तते । ईहि चेष्टायां लट् । सुधर्मनाम्नः सुधर्माभिधानात् । मुनीन्द्रात् मुनीनामिन्द्रः श्रेष्ठस्तस्मात् । यः त्वदुदन्तः तव भवत उदन्तो वार्ता । मया विदितः ज्ञातः । [तम् इमम् उदन्तं वृत्तान्तम् । शृणु आकर्णय ।] । रूपकम् (?) ॥८१॥ विपुलेति । अरिंजयाभिधाने अरिंजय इत्यभिधानं यस्य[5] तस्मिन् । जनान्ते देशे । इन्द्रपुरोपमम् इन्द्रपुरस्यामरावतीपुरस्योपमं (उपमा यस्य तत्) समानम् । विपुलाख्यं विपुलमित्याख्या यस्य तत् । पुरं पुरी । अस्ति वर्तते । अस भुवि लट् । अपास्तसमस्तवैरिवर्गः अपास्तः तिरस्कृतः समस्तानां वैरिणां रिपूणां वर्गः समूहो येन सः । जयवर्मेति, भूमिपालः भूमिं पालयतीति यथोक्तः । तत् पुरम् । भुनक्ति पालयति । भुज पालनाभ्यवहारयोर्लट् ॥८२॥ मृगेति । अविभ्रमप्रहीणा[6] अविभ्रमेण विलासाभावेन प्रहीणा रहिता विलासेन सहिता—इत्यर्थः । मृगदृष्टिः मृगस्येव[7] दृष्टिर्यस्याः सा—एणलोचना । अलाञ्छनप्रसङ्गा अलाञ्छनेन लाञ्छनरहितेन प्रसङ्गा संबन्धा[8] । शशभृत्कान्तिः शशभृतश्चन्द्रेव[9] कान्तिर्द्युतिर्यस्याः सा । शशिप्रभाभिधाना शशिप्रभेत्यभिधानं यस्याः सा । तनया कुमारी । करदीकृतमण्डलस्य करदीकृतं करदानविहितं मण्डलं देशो यस्य तस्य । जिष्णोः जयशीलस्य । भूजेस्स्नुक्' इति शीलार्थे स्नु- (स्नुक्-) प्रत्ययः । तस्य जयवर्मणः । अभूत्,

मन न जाने क्यों तुमसे बहुत अधिक स्नेह करता है । यों तुम भी सभीसे मित्रवत् स्नेह करते, हो, किन्तु तुम्हारा स्नेह उचित है, राजा जो ठहरे, पर एक योगी किसीसे स्नेह करे, यह एक अद्भुत-सी बात है । सच तो यह है कि सारे संसारमें मोह बड़ा बलवान् है । वह सभी कर्मोंका राजा है ॥८०॥ हे राजन् ! तुम मानके धनी हो । मेरी बुद्धि हर तरहसे तुम्हारा हित करना चाहती है । अतः सुधर्म नामक मुनिसे मैंने जो वृत्तान्त तुम्हारे बारेमें सुना था, उसे सुनाता हूँ । तुम सुनो–– ॥८१॥ अरिंजय नामके देशमें एक विपुल नामका पुर है । वह इन्द्रके पुरके समान है । शत्रुओंके छक्के छुड़ानेवाला राजा जयवर्मा उसका शासक है ॥८२॥ राजमण्डलसे वह टैक्स वसूल करता है–– सभी राजे उसके मातहत थे । वह विजयशील है । उसकी एक शशिप्रभा नामकी कन्या है । उसकी दृष्टि मृगकी है––वह मृगनयनी है, किन्तु उसमें नारीके विलासकी बहुलता है । उसकी कान्ति चन्द्रमाके समान है, किन्तु उसमें कभी लांछन (कलङ्क)

१. अ सुशर्मनाम्नः । २. अ जयधर्मेति । ३. क ख ग घ म °दृष्टिरपि भ्रम° । ४. आ प्रीतिम् । ५. श स यस्मिन् । ६. एष टीकानुसारी पाठः प्रतिषु तु °रपि भ्रमप्रहीणा—इत्येव समवलोक्यते । ७. मृगस्य दृष्टिरिव । ८. प्रसङ्गः संबन्धो यस्याः सा । ९. = चन्द्रस्येव ।

परिणेष्यति तां य एव धन्यो मदनस्येव धनुर्लतां नताङ्गीम् ।
स भविष्यति पुण्यराशिरेकस्तव हन्ता भरतस्य च प्रभोक्ता ॥ ८४ ॥
इति वाचमदृष्टमुद्गराभां सहसा तस्य निशम्य खेचरेन्द्रः ।
हृदये विषसाद साध्वसोद्यत्प्रचुरस्वेदजलप्लुताङ्गयष्टिः ॥ ८५ ॥
गुणवत्सल मा गमस्त्वमस्मिन्विषये मामकचिन्तयाकुलत्वम् ।
कमपि प्रतिकारमत्र योग्यं प्रविधास्याम्यहमप्रमत्तचित्तः ॥ ८६ ॥
इति देशयतिं नभश्चराणामधिपस्तं विससर्ज नम्रमौलिः ।
अवधार्य च कृत्यमात्मचित्ते तमनैषीद्दिवसं निगूढभावः[1] ॥ ८७ ॥ (युग्मम्[2])

इत्यध्याहारः । उपमा ॥८३॥ परीति[3] । मदनस्य मन्मथस्य । धनुर्लतां धनुषो लतामिव[4] नताङ्गीं स्तनभारेण किंचिदानतशरीराम् । 'असहन' इत्यादिना ङी-प्रत्ययः । तां शशिप्रभाम् । धन्यः पुण्यवान् । पुण्यराशिः पुण्यानां सुकृतानां राशिः समूहो यस्य सः । य एव पुरुष[5] एव परिणेष्यति[6] परिग्रही भविष्यति सः पुरुषः । एकः, तव ते । हन्ता हिंसिता । कृत्कामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । भरतस्य भरतक्षेत्रस्य । प्रभोक्ता च पालकश्च । अत्रापि कर्मणि षष्ठी । भविष्यति । भू सत्तायां लट् ॥८४॥ इतीति । खेचरेन्द्रः धरणीध्वजः । तस्य प्रियधर्मणः । अदृष्टमुद्गराभाम् अदृष्टस्यानालोकितस्य मुद्गरस्यायोगदाया[7] आभां समानाम् । इति प्रतीतिभूताम् । वाचं वचनम् । निशम्य श्रुत्वा । सहसा शीघ्रम् [साध्वसोद्यत्प्रचुरस्वेदजलप्लुताङ्गयष्टिः] साध्वसेन भयेन उद्यत उत्पद्यमानस्य प्रचुरस्य बहलस्य स्वेदस्य जलेन सलिलेन प्लुता सार्दिता (आर्द्रा) अङ्गस्य गात्रस्य यष्टिः (अङ्गयष्टिर्गात्रयष्टिः) यस्य सः । हृदये मानसे । विषसाद विखेद (चिखेद) । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु लिट् ॥८५॥ गुणेति । गुणवत्सल[8] गुणेषु वत्सलः प्रीतिर्यस्य तस्य संबोधनं भो गुणवत्सल गुणप्रीत[9] । अस्मिन् विषये एतस्मिन् कार्ये । त्वं भवान् । मामकचिन्तया मदीयया चिन्तया । 'युस्मदस्मदः—' इत्यादिना अञ्[10] तद्योगे ममकादेशः[11] । आकुलत्वं व्याकुलत्वम् । मा गमः मा गच्छ । गम्लृ गतौ लुङ् 'सर्तिशास्ति—' इत्यादिना अङ्-प्रत्ययः । अप्रमत्तचित्तः अप्रमत्तं प्रमादरहितं चित्तं यस्य सः । अहम्, अत्र कार्ये । योग्यम् अर्हम् । कमपि कंचन । प्रतिकारं[12] प्रतिकूलम् । प्रविधास्यामि करिष्यामि । डुधाञ् धारणे च ॥८६॥ इतीति । नभश्चराणां विद्याधराणाम् । अधिपः प्रभुर्धरणीध्वजः । तं देशयतिं प्रियधर्मब्रह्मचारिणम् । नम्रमौलिः नम्रो मौलिर्यस्य सः । विससर्ज विसृष्टवान् । आत्मचित्ते आत्मनः

का कोई प्रसंग नहीं आया ॥८३॥ उसका शरीर कामदेवकी धनुर्वल्लरीकी भाँति नमनशील और कोमल है । वह पुरुष धन्य है, जो उसके साथ विवाह करेगा । उसका पुण्यात्मा पति तुम्हें मारनेवाला होगा और फिर भरतक्षेत्रका शासक होगा ॥८४॥ क्षुल्लक प्रियधर्मकी इस बातको––जो जादूसे न दिखनेवाले मुद्गरके प्रहारके समान है––अचानक सुनकर विद्याधरोंका राजा अपने मनमें बड़ा दुःखी हुआ । भयके कारण उसका सारा शरीर पसीनेसे सराबोर हो गया ॥८५॥ हे गुणवत्सल ! इस विषयमें आप मेरी चिन्तासे व्याकुल न हों । अब मैं सावधान रहूँगा––अपने मनमें तनिक भी प्रमाद नहीं करूँगा । और इसके बारेमें कोई योग्य प्रतीकार करूँगा ॥८६॥ यह कहकर विद्याधरोंके राजा धरणीध्वजने अभिवादनपूर्वक उन देशव्रती क्षुल्लकजीको वहाँसे बिदा कर दिया, और फिर अपने मनमें कर्त्तव्यका निश्चय कर

१. अ °सानि गूढ° । २. अ आ इ क ख ग घ 'युग्मम्' इति नोपलभ्यते । ३. आ श स परेति । ४. =धनुर्लतामिव कृशाङ्गीमित्यर्थः । ५. = य एष पुरुषः । ६. =परिगृहीष्यति । ७. = आभा यस्याः सा तां तत्समानामिति यावत् । ८. =गुणेषु वत्सलो गुणवत्सलः तत्संबुद्धौ हे गुणवत्सल हे गुणानुरागिन् । ९. आ प्रतावेव 'गुणप्रीत' इति समुपलभ्यते । १०. आ अञि, श स अञो । ११. आ मामकादेशः । १२. = प्रतिक्रियाम् ।

अपरेद्युरशेषसैन्ययुक्तः स विमानैर्मणिकिङ्किणीकरालैः ।
जयवर्मपुरं[1] रुरोध गत्वा सभयैः पौरजनैर्विलोक्यमानः[2] ॥ ८८ ॥
प्रजिघाय च दूतमुद्धताख्यं वचनज्ञं विनिवेदिताभिसंधिम् ॥
स सभामुपगम्य सूचितात्मा जयवर्माणमिदं[3] वचो बभाषे ॥ ८९ ॥
धरणीध्वज इत्यमोघनामा प्रथितः खेचरचक्रचक्रवर्ती ।[4]
वदतीति भवन्तमक्षताज्ञो नृप मद्वक्त्रनिवेशितैर्वचोभिः ॥ ९० ॥

स्वस्य चित्ते मानसे । कृत्यं कार्यम् । अवधार्य निश्चित्य । निगूढभावः निगूढः[5] व्यवहितो[6] भावो यस्य स, सन् । तं दिवसं तद्दिनम् । अनैषीत्[7] प्रापयत् । णीञ् प्रापणे लुङ्[8] ॥८७॥ अपरेद्युरिति । अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिने । अशेषसैन्ययुक्तः अशेषैः समस्तैः सैन्यैः सेनाभिर्युक्तः सहितः । सः धरणीध्वजः । मणिकिङ्किणीकरालैः मणिभी रत्नैः कृताभिः[9] किङ्किणीभिः क्षुद्रघण्टिकाभिः करालैर्वाचाटैः । विमानैः व्योमयानैः गत्वा प्राप्य । सभयैः भयसहितैः । पौरजनैः पुरजनैः । विलोक्यमानः वीक्ष्यमाणः सन् । जयवर्मपुरं जयवर्मणः पुरं पुरीम् । रुरोध रुणद्धि स्म । रुधृञ् आवरणे लिट् । जातिः[10] ॥८८॥ प्रजिघायेति । वचनज्ञं वचनचातुर्यज्ञम् । विनिवेदिताभिसन्धिं विनिवेदितोऽभिसन्धिरभिप्रायो येन[11] तम् (कथिताभिप्रायमित्यर्थः) । उद्धताख्यम् उद्धत इत्याख्याभिधानं यस्य तम् । दूतं वचोहरम् । प्रजिघाय प्राहिणोत् । हि गतिवृद्ध्योर्लिट्[12] । 'हि ह्नोऽङे कुः पूर्वात्' इति हेः पूर्वात् परस्य कुः कवर्गादेशः । सूचितात्मा सूचितो विज्ञापित आत्मा येन सः । सः दूतः । सभां सभागृहम् । उपगम्य गत्वा । जयवर्माणं जयवर्मभूपं प्रति । इदं वचः एतद्वचनम् । बभाषे ऊचे । भाषि व्यक्तायां वाचि लिट् ॥८९॥ धरणीध्वज इति । नृप भो नरपते । अक्षताज्ञः अक्षता बाधारहिता[13] आज्ञा शासनं यस्य सः । धरणीध्वज इति, अमोघनामा अमोघं सार्थकं नाम यस्य सः । प्रथितः[14] प्रतीतः । खेचरचक्रचक्रवर्ती खेचराणां विद्याधराणां चक्रस्य समूहस्य चक्रवर्ती सार्वभौमः । मद्वक्त्रनिवेशितैः मम वक्त्रे मुखे निवेशितैः[15] स्थापितैः । वचोभिः वचनैः । भवन्तं पूज्यं त्वाम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । वदति

लिया । उसने अपना मनोभाव गुप्त रखा । इस प्रकार उसने वह दिन बिताया । ॥८७॥ अगले दिन अपनी सारी सेनाओंको साथ लेकर वह विमानोंसे—जिनमें मणिमय छोटी-छोटी घण्टियोंकी सजावट थी—जयवर्माके नगरमें जा पहुँचा । पहुँचते ही— उसने उसके नगरको चारों ओरसे घेर लिया । उसे देखनेवाले वहाँके निवासी मन-ही-मन बड़े भयभीत हो रहे थे ॥८८॥ और उसने अपने एक उद्धत नामके दूत को—जो बोलनेमें कुशल था—अपना अभिप्राय बतलाकर जयवर्माके पास भेजा । उसने सभामें पहुँचकर और अपना परिचय देकर जयवर्मासे ये वचन कहे—॥८९॥ राजन् ! विद्याधरोंके चक्रवर्ती धरणीध्वजने मेरे-द्वारा आपके पास सन्देश भेजा है । सारे भूमण्डलमें उनके झण्डे लहरा रहे हैं । इसीलिए उनका 'धरणीध्वज' नाम सार्थक है । कोई भी मनुष्य उनकी आज्ञाकी अवहेलना नहीं कर सकता । उनकी सब

१. अ °धर्मपुरं । २. अ °क्यमानैः । ३. अ °धर्माण° । ४. आ इ °राजचक्रवर्ती । ५. = नितरां गूढो गुप्तः । ६. आ अव्यवहितः° । ७. = निनाय । ८. श स लङ् । ९. = संस्कृताभिः । १०. आ प्रतौ केवलं, 'जातिः' इत्युपलभ्यते । ११. = यस्मै । १२. श स लिटि । १३. आ °धरहिता° । १४. = प्रसिद्धः । १५. श स निदेशितैः ।

तव कापि शशिप्रभाभिधाना दुहितास्त्यर्थसमन्वितेन नाम्ना ।
भवता किल सा विदेशकाय प्रवितीर्णेति मया श्रुतं जनेभ्यः ॥ ९१ ॥
तदिदं शरदभ्रशुभ्रकीर्तेस्तव युक्तं न कुलोन्नतस्य कर्तुम् ।
भवतो भवति ह्यकीर्तिरेवं सति गुर्वी पृथ्वीतले समस्ते ॥ ९२ ॥
विदधाति मतिं सुताविमोहाद्गृहजामातरि यद्यपीह कोऽपि ।
अभिजातिरवश्यमेव तेनाप्यभिमृग्या[1] ननु सा वरेषु मुख्या ॥ ९३ ॥
भवतो ननु पुण्यमत्र हेतुर्यदविज्ञातकुलेन तेन नोढा ।
तदियं स्वकरेण दीयतां मे हठकारः क्रियते मया न यावत् ॥ ९४ ॥

ब्रवीति । वद व्यक्तायां वाचि लट् ॥९०॥ तवेति । तव ते । अर्थसमन्वितेन अर्थयुक्तेन–सार्थकेनेत्यर्थः । नाम्ना अभिधानेन । शशिप्रभाभिधाना शशिप्रभा–इत्यभिधानं यस्याः सा । कापि काचित् । दुहिता पुत्री । अस्ति किल[2] वर्तते किल[3] । भवता त्वया । सा कन्या । विदेशकाय देशान्तरादागताय । प्रवितीर्णा इति दत्ता इति । मया, जनेभ्यः लोकेभ्यः । श्रुतम् आकर्णितम् ॥९१॥ तदिति । शरदभ्रशुभ्रकीर्तेः शरदः शरत्कालस्याभ्रवन्मेघवत् शुभ्रा धवला कीर्तिर्यस्य तस्य । कुलोन्नतस्य कुलेनोन्नतस्य महतः । तव भवतः । तदिदं तदेतत्कार्यम् । युक्तं न योग्यं न भवति । एवं सति, समस्ते निखिले । पृथिवीतले पृथिव्या भूम्याः तले । भवतः तव । गुर्वी महती । अकीर्तिः अपकीर्तिः । भवति हि । उपमा ॥९२॥ विदधातीति । इह अस्मिन् । कोऽपि; सुताविमोहात् सुतायां पुत्र्यां विमोहात् प्रीतेः । गृहजामातरि गृहस्यागते (गृहमागते) जामातरि दुहितृपतौ । मतिं बुद्धिम् । विदधाति करोति । तेनापि पुरुषेणापि । वरेषु परिणयनयोग्यपुरुषेषु । मुख्या प्रधाना । सा अभिजातिः कुलम् । अवश्यमेव निश्चयेनैव । अभिमृग्या ननु अन्वेषणीया ननु ॥९३॥ भवत इति । अविज्ञातकुलेन अविज्ञातमविदितं कुलं जातिर्यस्य तेन । तेन वरेण । नोढा न परिणीता । यत्, अत्र कार्ये । भवतः तत्र । पुण्यं सुकृतम् । हेतुः कारणं ननु । अज्ञातकुलपुरुषाय कन्यैतावत्पर्यन्तं न दत्ता तदेव तव पुण्यमित्यर्थः । मया, यावत्पर्यन्तम् । हठकारः बलात्कारः । न क्रियते न विधीयते । तत् तावत् । इयम् एषा । स्वकरेण स्वहस्तेन । मे मह्यम् । दीयतां वितीर्यताम् । डुदाञ् दाने कर्मणि लोट् ॥९४॥

जगह प्रसिद्धि है । उनका सन्देश यह है—॥९०॥ आपकी कोई शशिप्रभा नामकी कन्या है । शशी—चन्द्रमाके समान प्रभा होनेसे वह यथानाम तथा गुण है । ऐसी सुन्दर कन्या आप किसी परदेशीको देना चाहते हैं । उसे आप विवाहका वचन भी दे बैठे हैं, ऐसा मैंने लोगोंसे सुना है ॥९१॥ आपकी कीर्ति शरत्कालीन चन्द्रमाकी भाँति शुभ्र है, और आपका कुल भी उन्नत है । अतः आपको ऐसा करना योग्य नहीं है । यदि आप ऐसा ही करेंगे, नहीं ही मानेंगे तो सारे संसारमें आपका अपयश फैल जायेगा ॥९२॥ यदि कोई पुत्रीके मोहवश अपने घर आये व्यक्तिको वर (जमाई) बनाना चाहता है, तो उसे भी उसके कुलका विचार अवश्य ही करना चाहिए; क्योंकि वरमें कुलीनता ही मुख्य रूपसे विचारणीय होती है ॥९३॥ उसके साथ—जिसके कुलका भी कुछ पता नहीं—तुमने अपनी कन्याका विवाह नहीं कर दिया, चट मंगनी पट ब्याह नहीं कर डाला, इसमें तुम्हारा पुण्य ही कारण है । अतः तुम अपने हाथसे अपनी कन्या मुझे शीघ्र ही सौंप दो, जिससे मुझे हठ या बलका प्रयोग न करना पड़े ।

१. अ °व्यतिमृग्या । २. श स किम् । ३. श स किम् ।

इति तद्वचनैर्विरुद्धचित्तो[1] वचनं भूपतिरभ्यधात्समासात् ।
मतिमानपि दूत कोविदस्त्वं न मनागप्यसि लौकिकक्रियायाम् ॥ ९५ ॥
कुलजोऽकुलजोऽथवास्तु सोऽस्मै न हि दत्ता तनया भवत्यदत्ता ।
यदि कोऽपि बलाद्ग्रहीतुमीशस्त्वरितोऽभ्येतु[2] विलम्बते किमर्थम् ॥ ९६ ॥
इति दूतमसौ विसृज्य[3] राजाजितसेनाय तदाख्यदाशु कार्यम् ।
रचितभ्रुकुटिस्तदा स कोपादिदमूचे श्वशुरं विलोक्य बाहू ॥ ९७ ॥
तव तात न युक्तमाकुलत्वं मयि तिष्ठत्यरिमस्तकैकशूले ।
त्वमिमं प्रविलोकयाद्य मृत्योर्वदने दुष्टनभश्चरं विशन्तम् ॥ ९८ ॥

इतीति । इति एवंविधैः । तद्वचनैः तस्य दूतस्य वचनैः । विरुद्धचित्तः विरुद्धं कोपयुक्तं चित्तं मानसं यस्य सः । भूपतिः जयवर्मा । समासात् संक्षेपात् । वचनं वचः । अभ्यधात् अब्रवीत् । डुधाञ् धारणे च लुङ् । भो दूत भो चर । त्वं मतिमानपि बुद्धिमानपि । लौकिकक्रियायां लोकव्यवहारकार्ये । मानगपि ईषदपि । कोविदः प्रौढः । नासि न भवसि । अस भुवि लट् ॥९५॥ कुलज इति । सः गृहागतो वरः । कुलजः वंशजातः । अथवाकुलजो वा दुष्कुलजो वा । अस्तु भवतु । अस भुवि लेट् । अस्मै एतस्मै । तनया कुमारी । दत्ता वितीर्णा । अदत्ता न वितीर्णा हि वा । न भवतु [भवति] । कोऽपि बलात् बलात्कारात् । गृहीतुं स्वीकर्तुम् । ईशः समर्थश्चेत् । त्वरितः शीघ्र (ता-) युक्तः । अभ्येतु आगच्छतु । किमर्थं किन्निमित्तम् । विलम्बते कालयापनं करोति ॥ ९६ ॥ इतीति । इति अनेन प्रकारेण । असौ राजा जयवर्मभूपः । दूतम् उद्धताख्यदूतम् । विसृज्य[4] गन्तुमाज्ञाप्य । अजितसेनाय अजितसेनकुमाराय । तत्कार्यं धरणीध्वजसंबन्धीष्ट प्रयोजनम् । आशु शीघ्रम् । आख्यत् अब्रवीत् । ख्या प्रकथने लङ् । तदा तत्समये सः कुमारः । कोपात् रोषात् । रचितभ्रुकुटिः रचिता विहिता भ्रुकुटिर्यस्य (येन) सः । बाहू भुजौ । विलोक्य वीक्ष्य । श्वसुरं मातुलं (?) प्रति । इदं वक्ष्यमाणवचनम् । ऊचे जगाद । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । 'अस्तिब्रुवोर्भूवचौ' इति वचादेशः । 'वच्यादिस्वब्वचः किति' इति यत्र इक् ॥ ९७ ॥ तवेति । तात भोः पूज्य । 'तातोऽनुकम्प्ये जनके' इति विश्वः । अरिमस्तकैकशूले अरीणां शत्रूणां मस्तकानामेकं केवलं शूलमिव अरिमस्तकैकशूलः तस्मिन् । मयि तिष्ठति विद्यमाने सति । तव भवतः । आकुलत्वं व्याकुलत्वम् । न युक्तं न योग्यम् । अद्य इदानीम् । मृत्योः यमस्य । वदने मुखे । विशन्तं गच्छन्तम् । इमम् एतम् । दुष्टनभश्चरं दुष्टविद्याधरम् । त्वं विलोकय पश्य । लोकृञ् दर्शने णिजन्ताल्लोट्[6]

मेरे हठ करनेके पहले ही तुम अपनी कन्या मुझे दे दो ॥९४॥ दूतके इन वचनोंको सुनकर उसने संक्षेपमें दूतसे ये वचन कहे—दूत ! तुम बुद्धिमान् हो, फिर भी लोकव्यवहारमें सर्वथा अनभिज्ञ हो—लौकिक व्यवहारको तुम तनिक भी नहीं जानते ॥९५॥ जिसे मैं अपनी कन्या दे चुका हूँ, वह कुलीन हो या अकुलीन, पर अब कुछ नहीं हो सकता । दी गयी कन्या अब नहीं दी गयी, नहीं हो सकती । यदि कोई उसे बलात् ग्रहण करनेमें समर्थ है, तो तुरन्त चला आये, विलम्ब क्यों कर रहा है ? ॥९६॥ यह कहकर राजाने दूतको बिदा किया, और शीघ्र ही अजितसेनको वे सारी बातें सुना दीं, जो दूतके साथ हुईं । उन बातोंको सुनकर मारे क्रोधके उसकी भृकुटि तन गयी । फिर वह अपने बाहुओंको देखकर अपने श्वसुरसे यों बोला—॥९७॥ पिताजी, मैं शत्रुओंका सिरदर्द हूँ । मेरे रहते हुए आपका व्याकुल होना योग्य नहीं—आप व्याकुल न हों । उस दुष्ट विद्याधरको आप आज ही मृत्युके मुखमें घुसते देखना ॥९८॥

---

१. क ख ग घ म °रुद्धचेता° । २. अ °रितः सोऽस्तु । ३. अ आ इ विसर्ज्य । ४. श स विसर्ज्य । ५. आ °ध्वजः संदिष्टप्र° । ६. आ लिट् ।

इति चित्तममुष्य धीरयित्वा हृदि सस्मार दृढस्मृतिर्हिरण्यम् ।
स्मृत एव पुरोऽभवद्गृहीत्वा स रथं रोपितदिव्यशस्त्रजालम् ॥ ९९ ॥
अधिरुह्य स तत्र विस्मितास्यैः पुरलोकैश्च परैश्च दृश्यमानः ।
सुरसारथिरुत्पपात शत्रोरभिसैन्यं शरसंहतीर्विमुञ्चन् ॥ १०० ॥
तमुदीक्ष्य खरांशुवद्दुरीक्ष्यं प्रभुलज्जाविवशीकृताः प्रहर्तुम् ।
शरशक्तिरथाङ्गकुन्तहस्ताः सह संभूय डुढौकिरे नभोगाः ॥ १०१ ॥
निखिलानमितानलक्ष्यमोक्षैः[1] सममक्षत्रधियागतान्पृषत्कैः ।
समकोचयदप्रकम्पधैर्यः कुमुदानीव करैः सरोजबन्धुः ॥ १०२ ॥

॥ ९८ ॥ इतीति । अमुष्य एतस्य । चित्तं मानसम् । इति अनेन प्रकारेण । धीरयित्वा धैर्यवत्कृत्वा । हृदि हृदये । दृढमतिः दृढा मतिर्बुद्धिर्यस्य सः । हिरण्यं हिरण्याख्यदेवम् । सस्मार स्मरति स्म । स्मृत एव स्मृतमात्रः । सः हिरण्यदेवः । रोपितदिव्यशास्त्रजालं रोपितं पूरितं दिव्यानां शस्त्राणामायुधानां जालं यस्मिन् तम् । रथं स्यन्दनम् । गृहीत्वा आनीय । पुरः अग्रे । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लुङ् ॥ ९९ ॥ अधीति । सुरसारथिः सुर एव हिरण्य एव सारथिः सूतो यस्य सः । सः कुमारः । तत्र रथे । अधिरुह्य आरुह्य । विस्मितास्यैः विस्मितमाश्चर्योपेतमास्यं मुखं येषां तैः । पुरलोकैश्च पौरजनैश्च । परैश्च शत्रुभिश्च दृश्यमानः प्रेक्ष्यमाणः । दृशृ प्रेक्षणे कर्मण्यानश्–प्रत्ययः । शरसंहतिं शराणां बाणानां संहतिं समूहम् । विमुञ्चन् विसृजन् । शत्रोः वैरिणः । अभिसैन्यं सेनाभिमुखं यथा तथा । उत्पपात उज्जगाम । पत्लृ गतौ लिट् ॥ १०० ॥ तमिति । खरांशुवद्दुरीक्ष्यं खरांशुः सूर्यस्तद्वद्दुरीक्ष्यं दुर्दर्शम् । तं कुमारम् । उदीक्ष्य विलोक्य । प्रभुलज्जावशीकृताः प्रभ्वा महत्या लज्जया त्रपया वशीकृताः परवशीकृताः । शरशक्तिरथाङ्गकुन्तहस्ताः शराश्च शक्तयश्च रथाङ्गानि चक्राणि तानि च कुन्ताश्च प्रासाश्च तथोक्ताः, त एव हस्तेषु येषां ते तथोक्ताः । 'प्रहरणात् सप्तमी च' इति पूर्वनिपातः । नभोगाः विद्याधराः । सह युगपत् । संभूय मिलित्वा । प्रहर्तुं संग्रामं कर्तुम् । डुढौकिरे ययुः । ढौकृङ्[2] गतौ लिट् । उपमा ॥ १०१ ॥ निखिलानिति । अप्रकम्पधैर्यम् अप्रकम्पं निश्चलं धैर्यं यस्य सः । अक्षत्रधिया अक्षत्र इति क्षत्रियो न भवतीति धिया बुद्ध्या । समं युगपत् । आगतान् आयातान् । निखिलानपि सकलानपि । तान् विद्याधरान् । अलक्ष्यमोक्षैः अलक्ष्योऽदृश्यो मोक्षो मोक्षणं येषां तैः ।

इस तरह जयवर्माके मनमें धैर्य उत्पन्न कर अजितसेनने हिरण्य नामके देवका स्मरण किया। अजितसेनकी स्मृति बड़ी प्रबल थी। यही कारण है जो ऐन मौकेपर, उसे संकटमें सहायताका वचन देनेवाले हिरण्यका स्मरण हो आया। स्मरण करते ही वह दिव्य शस्त्रोंसे भरे हुए रथको लेकर उसके सामने उपस्थित हुआ ॥९९॥ वह उसपर सवार हो गया और उसके आगे वह देव, सारथी बनकर बैठ गया। पुरके निवासी और शत्रु, सभी उसे आश्चर्यसे देख रहे थे। फिर बाणोंकी वर्षा करता हुआ वह शत्रु-सेनाका सामना करनेके लिए चल पड़ा ॥१००॥ राजकुमार प्रचण्ड मार्तण्डकी भाँति तेजस्वी था, नजर उठाकर उसकी ओर देखना कठिन था। उसे आते देखकर विरोधी विद्याधर बहुत भारी लज्जासे विवश हो उठे। फिर बाण, शक्ति, चक्र और भाले अपने-अपने हाथोंमें लेकर वे सब मिलकर राजकुमारके ऊपर प्रहार करनेके लिए आगे बढ़े ॥१०१॥ इस तरह क्षत्रियधर्मको ताकमें रखकर अगणित संख्यामें आये हुए समस्त विद्याधरोंको देखकर राजकुमार तनिक भी नहीं घबराया। उसके बाणोंको—जिनका छोड़ना अदृश्य था—देखकर सभी विरोधी विद्याधर संकोचमें पड़ गये। जैसे सूर्यकी किरणोंके कारण कुमुद संकोचमें पड़ जाते हैं—संकुचित हो जाते हैं। जिस तरह सूर्य अपनी किरणोंसे

1. क ख ग घ म °लक्ष्यमोक्षैः । 2. श स ढौकृञ् ।

तमसाध्यमवेत्य मानुषास्त्रैरवलोक्य स्वबलं विहन्यमानम् ।
मुमुचे धरणीध्वजेन कोपादरिमोहप्रवणेन[1] तामसास्त्रम् ॥ १०३ ॥
तिमिरप्रविधायि धावमानं स तदुद्वीक्ष्य तिरोहिताखिलाशम् ।
सुरदत्तविसर्जितेन सद्यस्तपनास्त्रेण निवारयांबभूव ॥ १०४ ॥
भुजगान्गरुडेन वह्निमब्दैः कुलिशेनाचलमुद्यमेन तन्द्राम् ।
पवनेन पयोधरान्स शस्त्रो रुरुधे विघ्नविनायकेन सिद्धिम् ॥ १०५ ॥
स ततो हतहेतिरुग्रकोपादसिमुद्यम्य समापतञ्जवेन ।
विगतासुरकार्यमोघशक्त्या हृदि निर्भिद्य शशिप्रभाप्रियेण ॥ १०६ ॥

पृषत्कैः बाणैः । 'पृषत्कबाणविशिखाः' इत्यमरः । सरोजबन्धुः दिवाकरः । करैः किरणैः । कुमुदानीव कुवलयानीव । समकोचयत्[2] संकोचमकरोत् । कुच संकोचने[3] लङ् । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥ १०२ ॥ तमिति । मानुषास्त्रैः मानुषैर्मनुष्यसंबन्धैः सामान्यैरित्यर्थः । अस्त्रैः बाणैः । तं कुमारम् । असाध्यं साधयितुमशक्यम् । अवेत्य ज्ञात्वा । हन्यमानं हिंस्यमानम् । स्वबलं च स्वसैन्यं च । अवलोक्य वीक्ष्य । अरिमोहप्रवणेन अरेः शत्रोर्मोहस्य करणे प्रवणेन समर्थेनेत्यर्थः । धरणीध्वजेन धरणीध्वजखचराधिपेन । कोपात् रोषात् । तामसास्त्रं तमोबाणः । मुमुचे मुच्यते स्म । मुच्लृ मोक्षणे कर्मणि लिट् ॥ १०३ ॥ तिमिरेति । सः कुमारः । तिमिरप्रविधायि तिमिरमन्धकारं प्रविधत्ते तच्छीलं तमःप्रसारकमित्यर्थः । धावमानं गच्छत् । तिरोहिताखिलाशं तिरोहिता व्यवहिता अखिला निखिला आशा दिशो येन तत् । तत् अस्त्रम् । उदीक्ष्य विलोक्य । सुरदत्तविसर्जितेन सुरेण हिरण्येन दत्तं तेन विसर्जितेन विमुक्तेन—पूर्वं हिरण्याख्यदेवेन दत्तं पश्चादनेन कुमारेण विसर्जितमित्यभिप्रायः । तपनास्त्रेण सूर्यप्रकाशबाणेन । सद्यः[4] तदैव । निवारयांबभूव निवारयति स्म । वृञ् वरणे णिजन्ताल्लट् । जातिः ॥ १०४ ॥ भुजगानिति । सः कुमारः । भुजगान् भुजगबाणान् । गरुडेन गरुडबाणेन । वह्निं वह्निबाणम् । अब्दैः मेघबाणैः । अचलं पर्वतबाणम् । कुलिशेन वज्रबाणेन । तन्द्राम् आलस्यबाणम् । उद्यमेन उद्योगबाणेन । पयोधरान् मेघबाणान् । पवनेन वायुबाणेन । सिद्धिं कार्यसिद्धिबाणम् । विघ्नविनायकेन विघ्नविनायकबाणेन । रुरुधे रुणद्धि स्म । रुधृञ् आवरणे लिट् ॥ १०५ ॥ स इति । ततः पश्चात् । हतहेतिः हता नष्टा हेतय आयुधानि यस्य सः । सः धरणीध्वजः । उग्रकोपात् तीक्ष्णरोषात् । असिं चक्रायुधम् । उद्यम्य कोशादपनीय । जवेन शीघ्रम् । समापतन्[5] समापद्यमानः । शशिप्रभाप्रियेण शशिप्रभायाः

कुमुदोंको संकुचित कर देता है, उसी प्रकार उसने अपने बाणोंसे प्रतिद्वन्द्वियोंको संकुचित कर दिया ॥१०२॥ राजा धरणीध्वजने मानवोंके मामूली हथियारोंसे अजितसेनको अजेय जानकर और अपनी सेनाको बुरी तरह मरते देखकर विरोधीके ऊपर मोहका चादर डालनेके लिए क्रुद्ध होकर तामस (अन्धकार फैलानेवाला) अस्त्र छोड़ा ॥१०३॥ राजकुमारने यह देखकर कि अन्धकार फैलानेवाला और सभी दिशाओंको छिपा देनेवाला तामस अस्त्र सामने बड़े वेगसे चला आ रहा है, हिरण्यदेवके द्वारा समर्पित तपनास्त्र-सूर्यास्त्रका प्रयोग किया। उसके प्रयोगसे उसने शीघ्र ही तामसास्त्र (तामस अस्त्र) का निवारण कर दिया ॥१०४॥ इसके पश्चात् अजितसेनने धरणीध्वजके द्वारा प्रयुक्त भुजगास्त्रको अपने गरुडास्त्रसे, आग्नेय अस्त्रको मेघास्त्रसे, पर्वतास्त्रको वज्रास्त्रसे, तन्द्रास्त्रको उद्यमास्त्रसे, मेघास्त्रको वायव्य अस्त्रसे और सिद्धि-अस्त्र को विघ्नविनायक अस्त्रसे रोका ॥१०५॥ इस तरह धरणीध्वजके सभी आयुध व्यर्थ कर दिये गये। तब उसे बड़ा क्रोध आया, अतः वह म्यानसे तलवार निकालकर अजितसेनके ऊपर

१. म॰ प्रबलेन । २. = संकोचयामास । ३. आ संकोचे । ४. = शीघ्रम् । ५. = समागच्छन् ।

निहतप्रमुखे ततोऽरिसैन्ये नगमुड्डीय गते समं वयोभिः ।
प्रविसर्ज्य[1] हिरण्यमक्षताङ्गः स पुरं पौरकृतोत्सवं विवेश ॥ १०७ ॥
अथ पुण्यदिने मुहूर्तमात्रान्मिलिताशेषपरिच्छदो महेच्छः ।
गुरुणा निरवर्तयद्विवाहं जयवर्मा[2] दुहितुर्महोत्सवेन ॥ १०८ ॥
विधिना परिणीय राजपुत्रीं युवराजः कतिचिद्दिनान्युषित्वा ।
श्वशुरानुमतो जगाम शीघ्रं स्वपुरीमुत्सुकसर्वबन्धुलोकाम् ॥ १०९ ॥
अतिदूरतरोऽपि तेन सोऽध्वा जनकाश्वासनलोलमानसेन ।
दिवसैरतिसंमितैर्ललङ्घे जनयत्युत्सुकतां न कस्य बन्धुः ॥ ११० ॥

प्रियेण कान्तेन । अमोघशक्त्या अमोघया सफलया शक्त्या शक्त्यायुधेन । हृदि वक्षसि । निर्भिद्य विदार्य । विगतासुः विगता अपगता असवः प्राणा यस्य सः । अकारि अक्रियत । डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् ॥ १०६ ॥ निहतेति[3] । ततः पश्चात् । निहतप्रमुखे निहितो हिंसितः प्रमुखो मुख्यनायको यस्य तस्मिन् । अरिसैन्ये अरेः शत्रोः सैन्येऽनीके । वयोभिः पक्षिभिः । सार्कं समम् । उड्डीय आकाशमुद्गम्य । नगं विजयार्धपर्वतम् । गते सति याते सति । हिरण्यं हिरण्याख्यदेवम् । प्रविसर्ज्य प्रहित्य । अक्षताङ्गः अक्षतमबाधितमङ्गं शरीरं यस्य सः । सः अजितसेनः । पौरकृतोत्सवं पौरैः पुरजनैः कृत उत्सवो यस्य[4] तत् । पुरं विपुलपुरम् । विवेश विशति स्म । विश प्रवेशने लिट् ॥ १०७ ॥ अथेति । अथ पुरप्रवेशानन्तरम् । पुण्यदिने शुभदिवसे । मुहूर्तमात्रात् अल्पकालमात्रात् । मिलिताशेषपरिच्छदः मिलितः संचितोऽशेषः समस्तः परिच्छदः परिकरो यस्य सः । महेच्छः[5] गंभीरः[6] जयवर्मा जयवर्मभूपतिः । गुरुणा[7] महता । महोत्सवेन[8] महोत्साहेन । दुहितुः पुत्र्याः । विवाहं पाणिग्रहम् । निरवर्तयत् अकरोत् ॥ १०८ ॥ विधिनेति । युवराजः अजितसेनः । राजपुत्रीं राजसुतां शशिप्रभाम् । विधिना विधानेन । परिणीय[9] विवाहं कृत्वा । कतिचित् कियन्ति । दिनानि[10] दिवसपर्यन्तम् । उषित्वा स्थित्वा । श्वसुरानुमतः सन् श्वसुरस्य मातुलस्यानुमतः संमतः सन् । उत्सुकसर्वबन्धुलोकाम् उत्सुकाः सर्वे विश्वे बन्धव एव लोका यस्यां ताम् । रूपकम् (?) । स्वपुरीं साकेतपुरीम् (?) । शीघ्रं त्वरितम् । जगाम ययौ । गम्लृ गतौ लिट् ॥ १०९ ॥ अतीति । जनकाश्वासनलोलमानसेन जनकस्य पितुः आश्वासने विश्रम[11]- (विश्रम्भ-) करणे लोलं[12] लम्पटं मानसं यस्य तेन अजितसेनकुमारेण । सोऽध्वा स मार्गः । अतिदूरतरोऽपि अत्यन्तं विप्रकृष्टतरोऽपि । अतिसंमितैः परिमितैः । दिवसैः दिनैः । ललङ्घे गम्यते स्म । बन्धुः बान्धवः । कस्य, उत्सुकताम्

तीव्र वेगसे झपटा। पर शशिप्रभाके प्रिय (अजितसेन) ने सीनेपर अमोघ शक्तिका प्रहार करके उसकी जीवनलीला समाप्त कर दी ॥१०६॥ इसके पश्चात् स्वामीके दिवंगत होते ही उसकी सेना पक्षियोंके साथ उड़कर विजयार्ध पर्वतकी ओर चली गयी और राजकुमार अजितसेनने हिरण्यको बिदाई देकर सकुशल विपुलपुरमें—जहाँ पुरवासी उत्सव मना रहे थे—प्रवेश किया ॥१०७॥ फिर उदार हृदय राजा जयवर्माने शीघ्र ही सब प्रकारकी समाग्री एकत्रित करके महान् उत्सव और उत्साहके साथ शुभ दिनमें अपनी कन्याका विवाह कर दिया ॥१०८॥ राजकुमारी शशिप्रभासे विधिपूर्वक विवाह करके युवराज अजितसेन कुछ दिन ससुरालमें रहा। फिर श्वसुरसे अनुमति लेकर उसने शीघ्र ही अपनी नगरीको प्रस्थान कर दिया, जहाँपर सभी बन्धु-बान्धव उससे मिलनेके लिए लालायित थे ॥१०९॥ अपने पिताको आश्वासन देनेके लिए उसका मन उतावला हो रहा था, अतः बहुत लम्बे रास्तेको उसने बहुत ही थोड़े दिनोंमें

१. म प्रविसृज्य । २. अ जयवर्मा । ३. श स विहितेति । ४. = यस्मिन् । ५. = महाशयः । 'महेच्छस्तु महाशयः' । ६. आ गम्भीरबुद्धिः । ७. = गुरुजनेन समम् । ८. = महामहेन । ९. = उद्वाह्य । १०. = अहानि । ११. श स विक्रम॰ । १२. = सतृष्णम् ।

श्रुत्वा तं सकलत्रमुद्धुतरिपुं भूत्या महत्यागतं
बिभ्राणः प्रमदोदयान्निजतनुं [1]पुष्यत्कदम्बाकृतिम्।
निर्गत्यानुगतः पिता परिजनैः पौरैश्च जातोत्सवै-
रानन्दाश्रुतरङ्गितेक्षणयुगः प्रावेशयत्पत्तनम् ॥ १११ ॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये षष्ठः सर्गः ॥६॥

■

उद्युक्तताम्। [न] जनयति [न] उत्पादयति, अपि तु[2] जनयत्येव। जनैङ् प्रादुर्भावे लट्। अर्थान्तरन्यासः ॥ ११० ॥ श्रुत्वेति। उद्धृतरिपुम् उद्धृता रिपवः शत्रवो येन तम्। सकलत्रं वनितासहितम्। महत्या भूत्या विभूत्या। आगतम् आयातम्। तं कुमारम्। श्रुत्वा आकर्ण्य। प्रमदोदयात् प्रमदस्य संतोषस्योदयादुद्गमात्। पुष्यत्कदम्बाकृति पुष्यतो विकसतः कदम्बस्य नीपवृक्षस्याकृतिर्यस्यास्ताम्। निजतनुं स्वशरीरम्। बिभ्राणः धरमाणः। [पिता जनकः]। जातोत्सवैः उत्पन्नोत्सवयुक्तैः। परिजनैः सेवकजनैः। पौरैः पुरजनैः। अनुगतः[3] पश्चादागतः। निर्गत्य निर्याय। आनन्दाश्रुतरङ्गितेक्षणयुगः आनन्दाज्जातेनाश्रुणा नेत्रोदकेन तरङ्गितमूर्मितमीक्षणयोर्नयनयोर्नेत्रयोर्युगं युगलं यस्य सः, सन्। पत्तनं पुरम्। प्रावेशयत् प्रवेशयति स्म। विश प्रवेशने णिजन्ताल्लङ् ॥ १११ ॥

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये षष्ठः सर्गः ॥६॥

■

समाप्त कर दिया। बन्धुजन किसे उत्सुक नहीं बना देते ? ॥११०॥ अजितसेनके पिताने जब यह समाचार सुने कि अजितसेनने संग्राममें शत्रुओंके छक्के छुड़ा दिये हैं; उसका विवाह हो गया है; वह नगरके बाहर आ गया है; अपने साथ बहुत अधिक सम्पत्ति भी लाया है; तब उसे बड़ा हर्ष हुआ, और हर्षसे उसके शरीरमें रोमांच हो आये, जिससे वह विकसित कदम्बकी भाँति हो गया। वह अपने परिजन और पुरजनोंके—जिन्होंने खूब उत्सव मनाया है—साथ अपने नगरके बाहर पहुँचा। वहाँ अपने पुत्र अजितसेनको देखकर उसे बहुत आनन्द हुआ, और आनन्दसे उसकी आँखोंमें अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उसने उसे नगरमें प्रवेश कराया ॥१११॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दी विरचित उदयांक चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें
छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥६॥

■

१. म पुष्यत्। २. = सर्वस्यापि। ३. = अनुसृतः।

[७. सप्तमः सर्गः]

पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणः पाकशासनसमानतेजसः ।
चक्ररत्नमथ तस्य खण्डितारातिचक्रमुदपादि चक्रिणः ॥ १ ॥

रश्मिजालजटिलीकृताखिलव्योम दुःसहनिरीक्ष्यविग्रहम् ।
यद्व्यभाव्यत विलोक्य मानवैर्भानुबिम्बमिव सेवयागतम् ॥ २ ॥

त्रासितारिरुदभून्निजद्युतिद्योतितद्युविवरो महानसिः ।
दृश्यजिह्व इव तेन चक्रिणं छद्मना स्वयमसेवतान्तकः ॥ ३ ॥

---

[1]प्रक्षीणघातिस(क)चतुष्टयलब्धबोधदृग्वीर्यसौख्यसदनन्तचतुष्टयार्हः ।
आनम्रभव्यजनतासुखदानशीलः पायादनन्तजिनपो जगतीमनन्ताम् ॥

पूर्वेति । अथ पुरप्रवेशानन्तरम् । पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणः पूर्वस्मिन् जन्मनि कृतं विहितं पुण्यकर्म येन तस्य । पाकशासनसमानतेजसः पाकशासनस्य देवेन्द्रस्य समानं संकाशं तेजः प्रतापो यस्य तस्य । अजितसेनस्य, चक्रिणः सार्वभौमस्य । खण्डितारातिचक्रं खण्डितं विभिन्नमरातीनां शत्रूणां चक्रं यस्य[2] तत् । चक्ररत्नं चक्रमेव रत्नं तथोक्तम् । रूपकम् । उदपादि उदपद्यत । पदि गतौ लुङ् ॥१॥ रश्मीति । रश्मिजालजटिलीकृताखिलव्योम रश्मीनां किरणानां जालेन समूहेन जटिलीकृतं वेणीकृतमखिलं व्योमाकाशं यस्य (येन) तत् । दुःसहदुरीक्ष[3] (क्ष्य–) विग्रहं दुःसहः सोढुमशक्यो दुरीक्षः (क्ष्यः) द्रष्टुमशक्यो विग्रहो गात्रं यस्य तत् । यत् चक्रम् । मानवैः मनुष्यैः । विलोक्य वीक्ष्य । सेवया वरिवस्यया । 'वरिवस्या तु शुश्रूषा सेवाभक्तिरुपासना' । आगतम् आयातम् । भानुबिम्बमिव भानोः सूर्यस्य बिम्बमिव मण्डलमिव । व्यभाव्यत निरचीयत[4] । भू[5] कृपोवकल्पने लङ् । उत्प्रेक्षा ॥२॥ त्रासितेति । त्रासितारिः त्रासिता अरयो येन सः । निजद्युतिद्योतितद्युविवरः निजस्य द्युत्या कान्त्या द्योतितं प्रकाशितं दिव आकाशस्य विवरं मध्यं येन तत् (सः) । महान् असिः खड्गरत्नम् । उदभूत् उदेति स्म । भू सत्तायां लुङ् । तेन छद्मना[6] खड्गव्याजेन । दृश्यजिह्वः दृश्या जिह्वा यस्य सः । अन्तक इव यम इव । स्वयं, चक्रिणं चक्रवर्तिनम् । असेवत असेविष्ट । षेवृङ्[7] सेवने लङ् । उत्प्रेक्षा ॥३॥

इसके पश्चात् पूर्व जन्ममें पुण्य कमानेवाले और इन्द्रके समान तेजस्वी चक्रवर्ती अजितसेनके यहाँ शत्रुओंका दमन करनेवाला चक्ररत्न उत्पन्न हुआ ॥१॥ उसकी किरणोंका जाल पूरे आकाशमें फैला हुआ था । तीव्र तेजसे युक्त होनेसे वह दर्शकोंके नेत्रोंको असह्य था, और इसीलिए लोगोंको उसकी ओर देखना कठिन था । उसे देखकर लोग समझते थे कि राजसेवाके निमित्तसे जैसे सूर्यमण्डल आ गया हो ॥२॥ उसके यहाँ खड्गरत्न उत्पन्न हुआ । उसे देखकर अजितसेनके शत्रु भयभीत हो गये । उसकी कान्तिसे आकशका मध्यभाग प्रकाशित हो उठा । उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वह अदृश्य रूपमें चक्रवर्तीकी सेवा करनेवाले

---

१. आ प्रतौ पद्यमिदं नोपलभ्यते । २ = येन । ३. एष टीकानुगतः पाठः, प्रतिषु तु 'निरीक्ष्य' इत्येव पाठः समुपलभ्यते । ४. आ निरचीय्यत । ५. श स आ । ६. आ श स व्याजेन । ७. स श षेवृञ् ।

वज्रपांसुजलघर्मवारणं जातमिन्दुरुचि घर्मवारणम् ।
व्यञ्जितुं कमलया स्वसेवनं पाणिपद्ममिव संप्रदर्शितम् ॥ ४ ॥
सिन्धुतोयतरणादिषु क्रियासूपयोगगमेन गर्वितम् ।
पुण्यवैभववशीकृतं विभोश्चर्मरत्नमगमद्विधेयताम् ॥ ५ ॥
ज्योतिरुज्ज्वलमनल्पमण्डलं[1] यद्व्यराजदवनौ प्रसारितम् ।
चक्रभृन्महिमनिर्जितं नभः संप्रकुच्य तमिवाश्रयं गतम् ॥ ६ ॥
वृत्तिमद्रिकुलिशादिभेदनप्रायकर्मसु दधत्पटीयसीम् ।
दण्डरत्नमभवद्भवान्तरोपार्जितोर्जितशुभाभ्युदीरितम् ॥ ७ ॥

वज्रेति । वज्रपांसुजलघर्मवारणं वज्रस्याशनेः [3]पांसोर्धूल्या जलस्य सलिलस्य घर्मस्य चातपस्य च वारणं निवारणम् । इन्दुरुचि इन्दोश्चन्द्रस्येव रुचिः कान्तिर्यस्य तत् । घर्मवारणं छत्ररत्नम् । कमलया लक्ष्मीदेव्या । स्वसेवनं निजसेवनम् । व्यञ्जितुं प्रकाशितुम् । पाणिपद्मं पाणिरेव पद्मम् । रूपकम् । सं [प्र] दर्शितमिव संविलोकितमिव । जातम् उत्पन्नम् । उत्प्रेक्षा ॥४॥ सिन्ध्विति । सिन्धुतोयतरणादिषु सिन्धोः समुद्रस्य तोयस्य जलस्य[4] तरणादिषु प्लवनादिषु । क्रियासु कार्येषु । उपयोगगमनेन उपयोगस्य प्रयोजनस्य गमनेन प्राप्त्या । गर्वितम् अहंकारितम् । पुण्यवैभववशीकृतं पुण्यस्य सुकृतस्य वैभवेन सामर्थ्येन वशीकृतमधीनकृतम्[5] । चर्मरत्नं चर्माख्यरत्नम् । विभोः चक्रिणः । विधेयतां वशत्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम्लृ[6] गतौ लुङ् । 'सर्तिशास्ति—' इत्यादिना अङ्-प्रत्ययः ॥५॥ ज्योतिरिति । ज्योतिरुज्ज्वलं ज्योतिषा कान्त्या उज्ज्वलं प्रज्वलम्, पक्षे ज्योतिर्भिः पञ्चविधज्योतिर्भिरुज्ज्वलम् । अनल्पमण्डलम् अनल्पं बहुलं मण्डलं प्रदेशो यस्य तत्, पक्षे अनल्पमण्डलं विस्तृतबिम्बम् । अवनौ भूम्याम् । प्रसारितं[7] मद्गुतारित[8](?) विस्तृतं वा यत्सूर्यमण्डलम् । चक्रभृन्महिमनिर्जितं चक्रभृतश्चक्रवर्तिनो महिम्ना निर्जितं विजितम् । नभः गगनम् । संप्रकुच्य संकोचनं कृत्वा । तं चक्रिणम् । आश्रयम् आधारम् । गतमिव यातमिव । व्यराजत् व्यभासत । राजृ दीप्तौ लङ् । श्लेषोपमा ॥६॥ वृत्तिमिति । अद्रिकुलिशादिभेदनप्रायकर्मसु अद्रिकुलिशादीनां पर्वतवज्रादीनां भेदनेषु प्रायकर्मसु बहुक्रियासु । 'प्रायो भूम्न्यन्तगमने' इत्यमरपाठाददन्तत्वं प्रायशब्दस्य । पटीयसी[9] प्रकृष्टपटुम् । वृत्तिं वर्तनाम् । दधत् धरन् । भवान्तरोपार्जितशुभाभ्युदीरितं भवान्तरे जन्मान्तरे उपार्जितेन शुभेन

यमराजकी जीभ दृष्टिगोचर हो रही हो ॥३॥ उसके यहाँ छत्ररत्न उत्पन्न हुआ। वह वज्र, धूलि, जल और धूपको रोकनेवाला और चन्द्रमण्डलके समान सफेद था। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्ती अजितसेनकी सेवामें उपस्थित होकर स्वयंको सेवा व्यक्त करनेके लिए लक्ष्मीके द्वारा प्रदर्शित किया गया, उसका कर-कमल हो ॥४॥ उसके यहाँ चर्मरत्न उत्पन्न हुआ। यों वह समुद्रके जलमें तैरने आदि अनेक कार्योंमें उपयोगी होनेसे सगर्व-सा था किन्तु चक्रवर्तीके पुण्यके वैभवसे प्रभावित होकर उसकी इच्छाके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला हो गया ॥५॥ वह चर्मरत्न ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्ती अजितसेनकी महिमासे पराजित होकर जगमगाती ज्योतिसे उज्ज्वल और विशाल मण्डलवाला आकाश संकुचित होकर उसकी शरण पाकर, उसके घर, पृथ्वीमें फैला हुआ पड़ा हो ॥६॥ चक्रवर्तीके जन्मान्तरोंमें संचित शुभ कामोंकी प्रेरणासे उसके यहाँ दण्डरत्न उत्पन्न हुआ, जो पर्वत और वज्र आदि

---

१. इ °मण्डनं। २. श स °पांशु° । ३. श स पांशोः । ४ = तोये जले । ५. °मधीनीकृतम् । ६. श स गम् गतौ । ७. = विस्तारितम् । ८. श स 'प्रसारितं मद्गुतारितम्' इति नोपलभ्यते । ९. = प्रकर्षेण पट्वीम् ।

यद्रराज निजभासुरप्रभाभासिताखिलनभोदिगन्तरम् ।
तद्भयाधिगतवेपथोश्च्युतं वासवस्य कुलिशं करादिव ॥ ८ ॥
भास्करादिरुगगोचरीभवद्ध्वान्तपाटनविधौ पटीयसी ।
किंकरत्वमभजत्समुज्ज्वला तारकाधिपकलेव काकिणी ॥ ९ ॥
प्रोद्बभूव नवमेघमेचकप्रान्तवर्तितिमिरक्षतिक्षमः ।
रत्नदर्पण इव श्रियः स्फुरद्दीपभासुरशिखः शिखामणिः ॥ १० ॥
स्यन्दमानमदनिर्झरश्चलच्चारुचामरविराजितो गजः ।
तद्गुरुत्वगुणनिर्जितश्छलाच्छैलराडिव ययावुपानतिम् ॥ ११ ॥

शुभनामकर्मणाभ्युदीरितं प्रेरितम् । दण्डरत्नम्, अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् ॥७॥ यदिति । यत् दण्डरत्नम् । निजभासुरप्रभाभारभासितनभोदिगन्तरं निजस्य स्वस्य भासुराणां देदीप्यमानानां प्रभाणां कान्तीनां भारेण समूहेन भासितं प्रकाशितं नभसो गगनस्य दिशां ककुभामन्तरं मध्यं यस्य (येन) तत् । तद्भयाधिगतवेपथोः तस्मादजितसेनाज्जातभयाद्भीतेरधिगतः प्राप्तो वेपथुः कम्पनं यस्य (येन) तस्य । वासवस्य देवेन्द्रस्य । करात् हस्तात् । च्युतं पतितम् । कुलिशमिव वज्रमिव । रराज राजति स्म । राजृ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥८॥ भास्करेति । भास्कराधिरुगगोचरीभवद्ध्वान्तपाटनविधौ भास्करस्य सूर्यस्याधिरुचोऽधिककान्तेरगोचरीभवस्याविषयभूतस्य ध्वान्तस्य तमसः पाटनस्य भेदनस्य विधौ विधाने । पटीयसी प्रकृष्टपट्वी । तारकाधिपकलेव तारकाधिपस्य चन्द्रस्य कलेव षोडशभाग इव । समुज्ज्वला प्रज्वला[2] । काकिणी काकिणीनामरत्नम् । किंकरत्वं भृत्यत्वम् । अभजत् आश्रयत् । उपमा ॥९॥ प्रोद्बभूवेति । नवमेघमेचकप्रान्तवर्तितिमिरक्षतिक्षमः नवमेघ इव वर्षाकालमेघ इव मेचकस्य नीलवर्णस्य प्रान्ते समीपे वर्तिनो विद्यमानस्य तिमिरस्य तमसः क्षतौ विनाशने क्षमः समर्थः । श्रियः श्रीदेव्याः । रत्नदर्पण इव रत्नमुकुर इव । स्फुरद्दीपभासुरशिखः स्फुरतः प्रज्वलतो दीपस्य प्रदीपस्य (इव) भासुरा देदीप्यमाना शिखा ज्वाला यस्य सः । शिखामणिः चूडामणिः । प्रोद्बभूव उत्पद्यते स्म । भू सत्तायां लिट् ॥१०॥ स्यन्देति । स्यन्दमानमदनिर्झरः स्यन्दमानः स्रवन् मदस्य मदजलस्य निर्झरः प्रवाहो यस्य सः । चलच्चारुचामरविराजितः चलद्भिः कम्पमानैश्चारुभिर्मनोहरैश्चामरै[3]श्चमरीरुहैः । विराजितो विभासितः । गजः गजरत्नम् । तद्गुरुत्वगुणनिर्जितः तस्याजितसेनस्य गुरुत्वमेव गुणस्तेन निर्जितो विजितः । शैलराट् महामेरुपर्वतः । छलात् (गजरत्न-) व्याजादिव । उपानतिं

भेदन-जैसे बहुत-से कार्योंमें अत्यन्त पटु था । ॥७॥ दण्डरत्नने अपनी जगमगाती प्रभासे पूरे आकाश और सभी दिशाओंके अन्तरालको प्रकाशित कर दिया था । वह ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्तीके भयसे काँपनेवाले इन्द्रके हाथसे गिरा हुआ वज्र हो ॥८॥ सूर्य आदिकी प्रभा जहाँ नहीं पहुँच सकती वहाँ अन्धकारको हटानेमें समर्थ, उज्ज्वल और इसीलिए चन्द्रकला सरीखी काकणी (काकणीरत्न) चक्रवर्तीकी सेवामें उपस्थित हुई ॥९॥ चक्रवर्तीके यहाँ चूडामणिरत्न उत्पन्न हुआ, जो अपने आस-पासमें फैले हुए, वर्षाकालीन मेघकी भाँति काले और गाढ़ अन्धकार को मिटानेमें समर्थ था, जिसकी आभा जलते हुए दीपककी लौ के समान थी और जो ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीका रत्नदर्पण हो ॥१०॥ अजितसेनकी सेवामें एक गजरत्न उपस्थित हुआ । उसका मदजलका प्रवाह बह रहा था और वह चलते हुए चामरों (चँवरों) से सुशोभित था । ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्तीके गौरवसे पराजित हुआ पर्वतराज सुमेरु अथवा हिमालय उसकी सेवामें उपस्थित हुआ हो, जिसके ऊपर झरने बह रहे

१. एष पाठष्टीकाश्रयः, प्रतिषु तु °दिरुग° इत्येव दृश्यते । २. = प्रोज्ज्वला । ३. = बालव्यजनैः । 'चामरं बालव्यजनं रोमगुच्छः प्रकीर्णकम् ।' इति हैमः ।

अस्खलद्गति बृहद्बलान्वितं वाजिरत्नमसदन्[1]मनोजवम् ।
तन्निभेन विदधे समीपगस्तस्य वायुरिव पर्युपासनम् ॥ १२ ॥
शक्रदुर्विषहशक्तिभीषणस्तेजसा विजिततारकाधिपः ।
शौर्यभूररिभियामभूरभूत्कार्तिकेय इव वाहिनीपतिः[2] ॥ १३ ॥
देवमानवशुभेतरग्रहप्रापितापदपहस्तनक्षमः ।
देहबद्ध इव पुण्यसंचयः संबभूव भवने पुरोहितः ॥ १४ ॥

सेवाम् । ययौ इयाय । या प्रापणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥११॥ अस्खलदिति । अस्खलद्गति स्खलनरहिता गतिर्गमनं यस्य तत् । बृहद्बलान्वितं बृहता महता बलेन शक्त्यान्वितं युक्तम् । मनोजवं मन इव जवो वेगो यस्य तत् । वाजिरत्नम् अश्वरत्नम् । असदत् प्रसन्नमभवत् । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु लुङ् । 'सर्तिशास्ति—' इत्यादिना अङ्–प्रत्ययः । तन्निभेन तस्याश्वरत्नस्य निभेन व्याजेन । तस्य नृपस्य । समीपगः समीपं गच्छति स्म तथोक्तः, निकटमागत इत्यर्थः । वायुरिव वात इव । पर्युपासनं सेवाम् । विदधे चकार । डुधाञ् धारणे च लिट्[3] । उत्प्रेक्षा ॥१२॥ शक्रेति । [4]शक्रदुर्विषहशक्तिभीषणः शक्रेण देवेन्द्रेण दुःसहया शक्त्या सामर्थ्येन भीषणो भयंकरः, पक्षे शक्तिर्नामायुधविशेषस्तया भयंकरः । तेजसा कान्त्या, पक्षे प्रतापेन । विजिततारकाधिपः विजितो निर्जितस्तारकाधिपश्चन्द्रो यस्य (येन) सः, पक्षे पराजिततारकासुरः । 'बाहुलेयस्तारकजित्' इत्यभिधानात् । शौर्यभूः शौर्यस्य प्रतापस्य भूः स्थानम् । अरिभियाम् अरिभिः कृतानां भियां भयानाम् । अभूः अस्थानम् । कार्तिकेय इव षण्मुख इव । वाहिनीपतिः सेनापतिरत्नम् । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् । उपमा ॥१३॥ देवेति । देवमानवशुभेतरग्रहप्रापितापदपहस्तनक्षमः देवैः सुरैर्मानवैर्मनुष्यैः शुभस्य (शुभात्) इतरेऽशुभास्त एव ग्रहाः शनैश्चराद्यशुभग्रहा इत्यर्थः, अशुभग्रहैश्च प्रापिता कृता सा चासावापच्च तथोक्ता तस्या अपहस्तने विनाशने क्षमः समर्थः । देहबद्धः शरीरसंबद्धः । पुण्यसंचय इव पुण्यानां शुभकर्मणां संचयः समूह इव (समूहः, स इव) । पुरोहितः पुरोहितरत्नम् । भवने राजमन्दिरे ।

हों और जो चमरमृगोंके बालोंसे अलंकृत हो ॥११॥ चक्रवर्तीको अश्वरत्नकी प्राप्ति हुई । उसकी गति अस्खलित थी; उसका वेग वायुके समान था और वह बड़ा बलवान् था । वह ऐसा जान पड़ता था मानो अजितसेनकी सेवामें उस (अश्व) के बहाने वायु उपस्थित हो गया हो ॥१२॥ अजितसेनका सेनापति कार्तिकेयके समान था । कार्तिकेय अपने पास शक्ति नामक आयुध रखते थे । वह आयुध शत्रुओंके लिए असह्य था । फलतः शत्रु लोगोंको कार्तिकेय भीषण थे । कार्तिकेयने अपने तेजसे तारक नामके असुरको जीत लिया था । कार्तिकेय पराक्रमके निवास स्थान थे, सर्वथा निर्भय थे और थे सेनापति । इसी तरह अजितसेनका सेनापति सामर्थ्यसे सम्पन्न था, शत्रु उसके सामर्थ्यको असह्य जानकर उससे डरते थे । उसने अपनी कान्तिसे चन्द्रमाको जीत लिया था; वह पराक्रमी था और था निर्भय ॥१३॥ चक्रवर्तीके यहाँ पुरोहितरत्न उत्पन्न हुआ । वह देव, मानव और अशुभ ग्रहोंके निमित्तसे होनेवाली विपदाओंको दूर करनेमे समर्थ था, और वह ऐसा जान पड़ता था मानो मूर्तिमान् पुण्यराशि हो—पुण्य-

---

१. अ क ख ग घ म °मसिधन्मनो° । २. अ 'योजनानि य उदित्य गच्छति द्वादश क्षणत ईदृशो ययुः । शत्रुतारककृतक्षयः क्षमी कार्तिकेय इव वाहिनीपतिः ।' एष त्रयोदशः श्लोकः । ३. आ प्रतावेव स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो दृश्यते । ४. एष पाठष्टीकाकृदभिमतः, प्रतिषु तु शत्रु° इत्यवलोक्यते ।

तत्क्षणाभिलषितामराधिपावासकल्पसदनादिसाधकः ।
ब्रह्मणा सकलशिल्पकर्मणा संनिभः स्थपतिरप्यजायत ॥ १५ ॥
[1]चित्तपट्टलिखितव्ययागमो नित्यकृत्यगृहकार्यकोविदः ।
लोकवृत्तविदुदारधीरधीसंगतो गृहपतिः समुद्ययौ ॥ १६ ॥
[2]प्रासदन्निति शशिप्रभान्विता रत्नशब्दगदिताश्चतुर्दश ।
तस्य भाग्यभवनस्य भूपतेर्दुर्लभं किमथवा शुभोदये ॥ १७ ॥
नित्यसंनिहितदेहदेवतादत्तचिन्तितविचित्रवस्तवः ।
रत्नवच्च निधयः सुकर्मणस्तस्य सद्मनि नवोपतस्थिरे ॥ १८ ॥

संबभूव संजायते स्म । भू सत्तायां लिट् । उपमा ॥१४॥ तत्क्षणेति । तत्क्षणाभिलषितामराधिपावासकल्पसदनादिसाधकः तत्क्षणेन क्षणमात्रेणाभिलषितानां वाञ्छितानाममराधिपस्य देवेन्द्रस्यावासस्य विमानस्य कल्पानां सदृशानां सदनादीनां मन्दिरादीनां साधको[3] निर्माणकः । शिल्पकर्मचणविश्वकर्मणा[4] शिल्पकर्मणा नानाविधशिल्पक्रियया प्रतीतः शिल्पकर्मचणः, 'तेन वित्ते चुञ्चुचणौ' इति प्रतीतार्थे चण-प्रत्ययः, स चासौ विश्वकर्मा ब्रह्मा तेन । संनिभः समानः । ब्रह्मणा देववर्धकिना वा समानः-इत्यर्थः । स्थपतिः तक्षकरत्नमपि । अजायत समभवत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् । उपमा । १५॥ चित्तेति । चित्तपट्टलिखितव्ययागमः चित्तमेव मन एव पट्टो लेखनपत्रं तत्र लिखितो व्ययागमो येन सः । रूपकम् । नित्यकृत्यगृहकार्यकोविदः नित्यमनवरतं कृत्ये विधातुं योग्ये कार्ये क्रियायां कोविदो निपुणः । लोकवृत्तवित्[5] लोकस्य वृत्तं वार्तां वित् जानन् । उदारधीरधीसंगतः उदारया गम्भीरया धीरया धीररूपया धिया संगतः संयुतः । गृहपतिः गृहपतिरत्नम् । समुद्ययौ समुद्बभूव । या प्रापणे लिट् ॥१६॥ प्रासदन्निति । भाग्यभवनस्य भाग्यस्य भवनस्य स्थानस्य । तस्य भूपतेः अजितसेनस्य । शशिप्रभान्विताः शशिप्रभया शशिप्रभादेव्या अन्विता युक्ताः । रत्नशब्दगदिताः रत्नशब्देन गदिताः प्रोक्ताः । चतुर्दश चतुर्दशप्रमिताः । प्रासदन् प्रसन्ना अभवन् । अथवा तथा हि । शुभोदये पुण्योदये । दुर्लभं प्राप्तुमशक्यं किम् । अर्थान्तरन्यासः ॥१७॥ नित्येति । नित्यसंनिहितदेहदेवतादत्तचिन्तितविचित्रवस्तवः नित्यमनवरतं संनिहिताभिर्देहेन युक्ताभिर्देवताभिर्दत्तानि चिन्तितानि स्मृतानि विचित्राणि नानाविधानि वस्तूनि येषां ते । नव नवसंख्याः । निधयः कालादिनिधयः । रत्नवत् रत्नानीव । सुकर्मणः पुण्यवतः । तस्य अजितसेनस्य । सद्मनि मन्दिरे । उपतस्थिरे प्रापुः । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् । उपमा ॥१८॥

राशिकी मूर्ति हो ॥१४॥ उसके यहाँ शिल्पिरत्न उत्पन्न हुआ । वह शीघ्र ही इच्छित, इन्द्रके निवास मन्दिर सरीखे महलोंके निर्माणमें चतुर था, और इसीलिए वह सारी शिल्पकारोंको जाननेवाले ब्रह्माके समान था । ॥१५॥ उसके यहाँ गृहपतिरत्न उत्पन्न हुआ । वह अपने चित्तरूपी लकड़ीके पटियेपर आय और व्ययका हिसाब लिखता रहता था—बहीमें लिखे बिना ही वह सारे आय और व्ययके हिसाबको याद रखता था । वह प्रतिदिन करने योग्य घरके कार्योंमें प्रवीण था, लोकव्यवहारका जानकार था और उसकी बुद्धि उदारता और धीरतासे युक्त थी ॥१६॥ इस प्रकार उस भाग्यशाली चक्रवर्तीको शशिप्रभा सहित चौदह रत्न प्राप्त हुए । शुभोदय होनेपर क्या दुर्लभ है ? ॥१७॥ पुण्यात्मा चक्रवर्ती अजितसेनके घर चौदह रत्नोंकी तरह नौ निधियाँ भी उपस्थित हुईं । वे निधियाँ अपने पास रक्षाके निमित्तसे रहनेवाले सदेह

१. म चित्रपट्ट । २. क ख ग घ म प्रासिदन्निति । ३. = निर्माता । ४.सर्वासु मूलप्रतिषु 'ब्रह्मणा सकलशिल्पकर्मणा' इत्येव पाठः समुपलभ्यते । ५. = लोकवृत्तं वेत्ति जानातीति लोकवृत्तवित् ।

तेषु माषचणकातसीतिलव्रीहिशालियवमुद्गकोद्रवान् ।
पाण्डुकः सततमेवमादिकान्क्षुन्मयामयहरान्व्यशिश्रणत् ॥ १९ ॥
कान्तकुण्डलमनोज्ञमुद्रिकातारहारमणिमेखलादिकम् ।
रत्नरश्मिरुचिरं विभूषणं चित्तवाञ्छितमदत्त पिङ्गलः ॥ २० ॥
वृक्षगुल्मलतिकासमुद्भवं चित्तहारि सकलर्तुगोचरम् ।
पुष्पपल्लवमथोत्तमं फलं तस्य कालनिधिरीप्सितं ददौ ॥ २१ ॥
रन्ध्रनद्धनिबिडादिभेदतो भिद्यमानवपुरुत्तमोत्तमम् ।
वाद्यवस्तु सुखकारि कर्णयोस्तस्य शङ्खनिधिना व्यतीर्यत ॥ २२ ॥

तेष्विति । तेषु निधिषु । पाण्डुकः[1] पाण्डुकाख्यनिधिः । क्षुन्मयामयहरान् क्षुन्मया एवामया व्याधयस्तान् हरन्तीति क्षुन्मयामयहरास्तान् । माषचणकातसीतिलव्रीहिशालियवमुद्गकोद्रवान् माषश्च, चणको हरिमन्थकः स च, अतसी उमा सा च, तिलश्च, व्रीहिश्च, शालिश्च, यवश्च, मुद्गश्च, कोद्रवश्च, तथोक्तास्तान् । एवमादिकान् एवंप्रमुखान् धान्यविशेषान् । सततम् अनवरतम् । व्यशिश्रणत् अददात् । श्रण दाने लङ् । ॥१९॥ कान्तेति । पिङ्गलः पिङ्गलाख्यनिधिः । रत्नरश्मिरुचिरं रत्नानां रश्मिभिः कान्तिभी रुचिरं मनोहरम् । चित्तवाञ्छितं चित्तेन मनसा वाञ्छितमभिलषितम् । कान्तकुण्डलमनोज्ञमुद्रिकातारहारमणि-मेखलादिकं कान्ते च ते कुण्डले च तथोक्ते, मनोज्ञा चासौ मुद्रिका च तथोक्ता, तारो निर्मलः स चासौ हारश्च तथोक्तः, मणिभिर्निर्मिता मेखला काञ्चीदाम, सा च मणिमेखला च तथोक्ता—कान्तकुण्डले च मनोज्ञमुद्रिका च तारहारश्च मणिमेखला च तथोक्तास्ता आदयो यस्य[2] तत् । विभूषणम् आभरणम् । अदत्त अददात्[3] । डुदाञ् दाने लङ् ।२०॥ वृक्षेति । अथ पुनः । कालनिधिः कालाख्यनिधिः[4] । तस्य चक्रिणः । ईप्सितं वाञ्छितम् । वृक्षगुल्मलतिकासमुद्भवं वृक्षश्चूतादिर्गुल्मो वृन्ताकादिर्लतिका द्राक्षादिः—वृक्षश्च गुल्मश्च लतिका च तथोक्ताः, तासु समुद्भवं निष्पन्नम् । चित्तहारि मनोहारि । सकलर्तुगोचरं सकला ऋतव एव गोचरो विषयो यस्य तत् । पुष्पपल्लवं पुष्पं च पल्लवश्च तथोक्तम् । 'फलं जातिः' इति द्वन्द्व एकवद्भावः । उत्तमं श्रेष्ठम् । फलं फलजातिम् । ददौ विशश्राण । डुदाञ् दाने लिट् ॥२१॥ रन्ध्रेति । रन्ध्रनद्धनिबिडादिभेदतः रन्ध्रं वंशादि नद्धं भेर्यादि निबिडं वीणादि रन्ध्रं च नद्धं च निबिडं च तथोक्तानि तान्येवादिः (दी) येषां ते तथोक्तास्त एव भेदास्तेभ्यो रन्ध्रनद्धनिबिडादिभेदतः । भिद्यमानवपुः भिद्यमानं वपुः स्वरूपं यस्य तत् । उत्तमोत्तमम् अत्यन्तोत्तमम् । कर्णयोः श्रवणयोः । सुखकारि आह्लादनकारि । वाद्यवस्तु पञ्चमहावाद्यवस्तु । तस्य चक्रिणः । शङ्खनिधिना शङ्खाख्यनिधिना । व्यतीर्यत दीयते स्म । तॄ

देवोंके द्वारा चक्रवर्तीको मनचाही विचित्र चीजें प्रदान करती थीं ॥१८॥ उन नौमें एक पाण्डुक नामकी निधि थी । वह भूखकी व्याधिको दूर करनेवाले उड़द, चने, अलसी, तिल, सामान्य धान्य-व्रीहि, विशेष धान्य-शालि (साठिया धान), जौ, मूग और कोदों आदि खाद्यान्नोंको सदा प्रदान करती थी ॥१९॥ पिङ्गल नामकी निधि रत्नोंकी किरणोंसे विभूषित सुन्दर कुण्डल, मनोज्ञ अँगूठियाँ, जगमगाते हार और मणिरचित करधनी आदि इच्छित आभूषण प्रदान करती थी ॥२०॥ काल नामकी निधि वृक्षों, झाड़ियों और लताओंमें उत्पन्न होनेवाले, मनोहर, छहों ऋतुओंके फूल, कोंपल और उत्तम फल चक्रवर्तीकी इच्छानुसार प्रदान करती थी ॥२१॥ शंख नामकी निधि बांसुरी, मृदङ्ग और वीणा आदि नाना प्रकारके कानोंको

---

१. श स पाण्डुरः । २. = यस्मिन् । ३. आ अदधात् । ४. आ 'कालनिधिः कालाख्यनिधिः' इति नोपलभ्यते । ५. आ द्वन्द्वैकत्वम् , श स द्वन्द्वैकवद्भावः ।

चित्रनेत्रपटचीनपट्टिकारत्नकम्बलपटीपटादिकम् ।
वस्त्रजातमखिलं महागुणं चित्तहारि वितताार पद्मकः ॥ २३ ॥

कम्रताम्रतपनीयनिर्मितं त्रापुषं रजतलोहसंभवम् ।
मन्दिरोपकरणं ददौ महाकालनामनिधिरेवमादिकम् ॥ २४ ॥

प्राससायकरथाङ्गमुद्गरं शक्तिशङ्कुतरवारितोमरम् ।
शस्त्रजालमिदमादि माणवः शात्रवघ्नमददादुरुप्रभम् ॥ २५ ॥

सोपधानशयनासनादि यद्देहनिर्वृतिविधायि मार्दवम् ।
तत्समस्तमत्रनिष्ट तस्य नैपूर्वसर्पनिधिसंप्रपादितम् ॥ २६ ॥

प्लवनतरणयोः कर्मणि लङ् ॥ २२ ॥ चित्रेति । चित्तहारि मनोहारि । महागुणं महासुखकारित्वादिस्वभावयुक्तम् । चित्रनेत्रपटचीनपट्टिकारत्नकम्बलपटीपटादिकं चित्रश्चासौ नेत्रपटश्च चित्रनेत्रपटो विचित्रसूक्ष्मवसनं, 'नेत्रं मृदुगुणे[2] वस्त्रे तरुमूले विलोचने । नेत्रं रथे च नाड्यां[3] (नद्यां) च नेत्रो नेतरि भेद्यवत् ॥' इति विश्वः, चित्रनेत्रपटश्च, चीनं कौशेयं तच्च, पट्टिका कटिवेष्टनं सा च, रत्नकम्बलो लोहितकम्बलः स च, पटी द्विपटिका सा च, पटः सामान्यवस्त्रं स च तथोक्ताः ते आदिः (आदौ) यस्य तत् । अखिलं निखिलम् । वस्त्रजालं[4] वस्त्रसमूहम् । पद्मकः पद्मनिधिः । वितताार ददौ । तॄ प्लवनतरणयोर्लिट् ॥ २३ ॥ कम्रेति । कम्रताम्रतपनीयनिर्मितं ताम्रं च तपनीयं च तथोक्ते कम्रे च ते ताम्रतपनीये च ताभ्यां निर्मितं रचितम्, ताम्रसुवर्णविहितमित्यर्थः । त्रापुषं त्रपुषो विकारस्त्रापुषं त्रपुभाजनम् । रजतलोहसंभवं रजतं रूप्यं लोहं च ताभ्यां संभवम् । एवमादिकम् एवंप्रकारम्[5] । मन्दिरोपकरणं मन्दिरस्य राजसदनस्योपकरणम् । महाकालनिधिः महाकालाख्यनिधिः । ददौ यच्छति स्म । डुदाञ् दाने लिट् । स्वभावोक्तिः ॥ २४ ॥ प्रासेति । प्राससायकरथाङ्गमुद्गरं प्रासः कुन्तायुधं सायको बाणो रथाङ्गं चक्रं मुद्गरं (रः) लोहगदा—प्रासश्च सायकश्च रथाङ्गं च मुद्गरश्च तथोक्तम् । शक्तिशङ्कुतरवारितोमरं शक्तिश्च शङ्कुश्च तरवारिश्च तोमरश्च तथोक्तम् । 'वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना सर्वला तोमरोऽस्त्रियाम्' । इत्युभयत्राप्यमरः । शात्रवघ्नं शत्रूणां समूहः शात्रवं तद्धन्तीति तथोक्तम् । उरुप्रभम् उर्वी प्रभा यस्य तत् । इदम् एतत् । इदमादि इदंप्रभृति । शस्त्रजालं शस्त्राणामायुधानां जालं समूहम् । माणवः माणवाख्यनिधिः । अददात् अदात् । डुदाञ् दाने लङ् ॥ २५ ॥ सोपधानेति । यत्, देहनिर्वृतिविधायि देहस्य शरीरस्य निर्वृतिं सुखं विधत्ते इत्येवं शीलं तथोक्तम् । मार्दवं मृदुस्वभावम् । सोपधानशयनासनादिकं सोपधानम् उपधानेनोपबर्हेण सह वर्तते इति तथोक्तम्, सोपधानं च तच्छयनं च, तच्च आसनं च सोपधानशयनासने ते आदिः (आदौ) यस्य तत् । तत्समस्तं तत्सकलम् । नैपूर्वसर्पनिधिसंप्रपादितं नै एव पूर्वस्मिन् यस्य स नैपूर्वः स चासौ सर्पनिधिश्च तथोक्तस्तेन नैसर्पनिधिना संप्रपादितं संप्रदत्तम् । तस्य

सुख देनेवाले उत्तमोत्तम वाद्य, चक्रवर्तीको देती थी ॥२२॥ पद्म नामक निधि विचित्र सूक्ष्म वस्त्र, चाइना सिल्क, कमरबन्द, लालकम्बल, दुपट्टे एवं लाभकारी और सभी प्रकारके सुन्दर वस्त्र चक्रवर्तीको दिया करती थी ॥२३॥ महाकाल, नामक निधि राजमहलके योग्य, सुन्दर ताँबे, सोने, शीशे, चाँदी और लोहे आदिके बने पात्र (लोटे, गिलास, थाली, घड़े आदि) प्रदान करती थी ॥२४॥ माणव नामक निधि भाले, बाण, चक्र, मुद्गर, शक्ति, शंकु, खड्ग और तोमर आदि नाना प्रकारके, वैरियोंको मारनेवाले चमकीले हथियार देती थी ॥२५॥ चक्रवर्ती अजितसेनके यहाँ उसके शरीरको सुख देनेवाली कोमल तकिया, सेज और आसन

१. म महाताल° । २. आ नेत्रमधिगुणे । ३. आ नाड्यां । ४. एष टीकापाठः, मूलप्रतिषु तु 'वस्त्रजातम्' इत्येव समुपलभ्यते । ५. = एवं प्रकारकम् ।

चित्ररत्नकिरणैः प्रवर्तयन्व्योमनीन्द्रधनुरुद्भवां श्रियम् ।
सर्वरत्ननिधिरस्य सर्वदा सर्ववाञ्छितफलप्रदोऽभवत् ॥ २७ ॥
नोदसिक्त स मदप्रवर्तिनीं तादृशीमपि विलोक्य तां श्रियम् ।
धर्म एष हि सतां क्रमागतो यन्न यान्ति[1] विभवेन विक्रियाम् ॥ २८ ॥
वीतरागचरणौ समर्च्य सद्गन्धधूपकुसुमानुलेपनैः ।
संपदा परमया सबान्धवः स व्यधत्त निधिरत्नपूजनम् ॥ २९ ॥
चक्रवर्तिविभवोचितोत्सवं तस्य पार्थिवसमूहसंगतः ।
पट्टबन्धविधिमन्यदा स्वयं संनिधाय निरवर्तयद्गुरुः ॥ ३० ॥

चक्रिणः । अजनिष्ट अभूत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लिङ् ।।२६।। चित्रेति । चित्ररत्नकिरणैः चित्राणां नानाविधानां रत्नानां मणीनां किरणैर्मयूखैः । व्योमनि गगने । इन्द्रधनुरुद्भवाम् इन्द्रधनुषि (षः) उद्भवामुद्भूताम् । श्रियं शोभाम् । प्रवर्तयन् कुर्वन् । सर्वरत्ननिधिः सर्वरत्नानां निधिः[2] (सर्वरत्नाख्यनिधिः) । अस्य चक्रिणः । सर्वदा सर्वस्मिन् काले । सर्ववाञ्छितफलप्रदः वाञ्छितं च तत्फलं च तथोक्तं सर्वं च तद् वाञ्छितफलं च तथोक्तं सर्ववाञ्छितफलं प्रददातीति तथोक्तः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् ।।२७।। नोदेति । सः चक्री । मदप्रवर्तिनीं मदं गर्वं प्रवर्तयत इत्येवं शीला मदप्रवर्तिनी ताम् । तादृशीमपि, तां श्रियं संपत्तिम् । विलोक्य विलोकनं पूर्वं० वीक्ष्य । नोदसिक्त गर्वितो नाभवत् । षिची क्षरणे इति धातोर्लुङ् । विभवेन संपदा । (सन्तः) विक्रियां विकारम् । न यान्ति न गच्छन्ति । या प्रापणे लिट् । यत् यस्मात् । एषः अयम् । सताम्[3] । क्रमागतः क्रमात् परिपाट्या आगतः । धर्मो हि स्वभावो हि । अर्थान्तरन्यासः ।।२८।। वीतरागेति । सबान्धवः बान्धवैः सह वर्तते इति तथोक्तः, बन्धुसहित इत्यर्थः । सः चक्री । सद्गन्धधूपकुसुमानुलेपनैः गन्धश्च धूपश्च कुसुमं चानुलेपनं च तथोक्तानि, सन्ति च तानि गन्धधूपकुसुमानुलेपनानि च तैः । वीतरागचरणौ वीतरागस्य सर्वज्ञस्य चरणौ पादौ । समर्च्य संपूज्य । संपदा संपत्त्या सह । निधिरत्नपूजनं निधीनां नवनिधीनां[4] रत्नानां चतुर्दशरत्नानां च पूजनमर्चनम् । व्यधत्त चकार । डुधाञ् धारणे च लङ् ।।२९।।चक्रवर्तीति । पार्थिवसमूहसंगतः पार्थिवानां—पृथिव्या ईशाः पार्थिवाः 'ईशे' इत्यञ्—प्रत्ययः[5], तेषां समूहेन सन्दोहेन संगतः सहितः । गुरुः पिता । तस्य चक्रिणः । चक्रवर्तिविभवोचितोत्सवं चक्रवर्तिनः सार्वभौमस्य विभवस्य ऐश्वर्यस्योचितं योग्यमुत्सवम् (निरवर्तयत्, यत्र) । पट्टबन्धविधिं पट्टबन्धस्य पट्टाभिषेकस्य विधिम् । अन्यदा अन्यस्मिन् दिने । स्वयं

आदि सारी चीजें नैसर्प निधिके द्वारा दी हुई थीं ॥२६॥ चक्रवर्तीके यहाँ सदैव उसके सब प्रकार-के मनचाहे फलको देनेवाली सर्वरत्न निधि नामकी निधि थी, जो नाना प्रकारके रत्नों और मणियोंकी किरणोंसे आकाशमें इन्द्र धनुषकी शोभा फैलाया करती थी ॥२७॥ गर्वको उत्पन्न करनेवाली ऐसी विभूतिको देखकर भी वह चक्रवर्ती कभी सगर्व नहीं हुआ। क्योंकि सच तो यह है कि सज्जनोंका कुल परम्परासे चला आया यह स्वभाव होता है, कि वे वैभवके निमित्तसे कभी इतराते नहीं ॥२८॥ चक्रवर्ती अजितसेनने अपने बन्धु-बान्धओंके साथ श्रेष्ठ चन्दन, धूप, पुष्प और लेपनसे वीतराग प्रभु—अरहन्तके चरणोंकी पूजा की और फिर उत्तम सम्पत्ति व्यय करके नौ निधियों और चौदह रत्नोंकी भी पूजा की ॥२९॥ इसके पश्चात् एक दिन चक्रवर्ती अजित-सेनके पिता अजितंजयने स्वयं सभी राजा-महाराजाओंकी उपस्थितिमें चक्रवर्तीकी शानके अनु-

---

१. अ क ख ग घ याति । २. आ 'सर्वरत्नानां निधिः' इति नोपलभ्यते । ३. = सज्जनानाम् । ४. श स नवरत्ननिधीनाम् । ५. अ श स ईश इत्यण्—प्रत्ययः ।

केवलं तदभिषेकवारिभिर्दूरमुच्छ्वसदभून्न भूतलम् ।
हर्षसागरविवर्तवर्तिनां सर्वबन्धुसुहृदां च मानसम् ॥ ३१ ॥
सप्रसादसविकासतारकं[1] निर्मलाम्बरतया[2] मनोहरम् ।
केवलं न पुरलोकयोषितां मण्डलं समभवद्दिशामपि ॥ ३२ ॥
लब्धसौरभगुणैर्मधुव्रतव्रातचुम्बितविकासिकेसरैः ।
पर्यपूरि कुसुमोत्करैः परं भूमिजैर्न दिविजैरपि क्षितिः ॥ ३३ ॥
संततोत्सवनिविष्टचेतसां संबभूव सुहृदां न केवलम् ।
विद्विषामपि भविष्यदापदां सर्वतोऽभ्युदितकेतु मन्दिरम् ॥ ३४ ॥

संनिधाय संनद्धो भूत्वा । निरवर्तयत् अकरोत् । वृतुङ् वर्तने लङ् ॥३०॥ केवलमिति । तदभिषेकवारिभिः तस्य पट्टाभिषेकस्य वारिभिः सलिलैः । केवलं[3] मुख्यम् । भूतलं भूमितलम् । दूरं नितान्तम् । उच्छ्वसत्[4] प्रवर्धमानम् । नाभूत् नाभवत् । लुङ्[5] । हर्षसागरविवर्तवर्तिनां हर्षः संतोषः स एव सागरस्तस्य समुद्रस्य (स एव सागरः समुद्रस्तस्य) विवर्ते जलभ्रमे वर्तिनां स्थितानाम् । सर्वबन्धुसुहृदां सर्वेषां बन्धूनां सुहृदां मित्राणाम् । मानसं च चित्तं च, उच्छ्वसदभूदित्यर्थः ॥३१॥ सेति । दिशां ककुभाम् (पुरलोकयोषितां पौराङ्गनानाम्) । मण्डलं समूहः । निर्मलाम्बरतया निर्मलं मलरहितमम्बरं वस्त्रं यस्य तस्य भावस्तथोक्ता तया मलरहितवस्त्रयुक्तया, पक्षे मेघरहितगगनयुक्तया । सप्रसादसविकासतारकं प्रसादश्च विकासश्च तथोक्तौ प्रसादविकासाभ्यां सह वर्तत इति तथोक्ता[6] सप्रसादसविकासा[7] तारका कनीनिका यस्य तत्, पक्षे तारका नक्षत्राणि यस्य तत् । मनोहरं मञ्जुलम् । केवलं[8] मुख्यम् । न समभवत् नाभूत् । लङ् । पुरलोकयोषितामपि पुरलोकानां पुरजनानां योषितामपि स्त्रीणमपि (दिशामपि ककुभामपि) समभवत् (इति) शेषः ॥३२॥ लब्धेति । लब्धसौरभगुणैः सौरभ एव गुणस्तथोक्तः, लब्धः सौरभगुणो यैस्तैः । मधुव्रतव्रातचुम्बितविकासिकेसरैः मधुव्रतानां भ्रमराणां व्रातेन समूहेन चुम्बिता आवृता विकासिनः केसराः किञ्जल्का येषां तैः । भूमिजैः, कुसुमोत्करैः कुसुमानां पुष्पाणामुत्करैर्निवहैः क्षितिः भूमिः । परं केवलम् । न पर्यपूरि[9] न व्यापत् । पॄ पालनपूरणयोः कर्मणि लुङ् । (किन्तु) दिविजैरपि स्वर्गोत्पन्नैरपि । सुरपुष्पवृष्टिरपि जातेत्यर्थः ॥३३॥ संतेति । संततोत्सवनिविष्टचेतसां संततमनवरतमुत्सवे निविष्टं न्यस्तं चेतश्चित्तं येषां तेषाम् । सुहृदां मित्राणाम् । मन्दिरं

कूल उत्सवके साथ अपने चक्रवर्ती पुत्रका पट्टाभिषेक किया ॥३०॥ अजितसेनके अभिषेकके जलसे न केवल भूतल ही फूला, वरन् हर्षके समुद्रमें डुबकी लगानेवाले सभी बन्धुओं और मित्रोंके हृदय भी फूले नहीं समा रहे थे ॥३१॥ इस अवसरपर न केवल वहाँका महिलामण्डल ही बल्कि सारा दिङ्मण्डल भी मनोहर हो गया । महिलाओंका मण्डल स्वच्छ वस्त्र पहने हुए था, उसके चेहरेपर प्रसन्नता झलक रही थी, जिससे उसके नेत्रोंकी कनीनिकाएँ कमलकी भाँति खिल उठी थीं । इसी प्रकार आकाशकी निर्मलताके कारण सभी ताराएँ स्पष्ट ही प्रसन्नता और विकाससे ओतप्रोत होकर दृष्टि गोचर हो रहीं थीं । इसीलिए सारा दिग्मण्डल भी मनोहर हो गया ॥३२॥ उस समय भूमि न केवल पार्थिव फूलोंकी राशिसे बल्कि दिव्य फूलोंकी राशिसे भी व्याप्त हो गयी । दोनों ही प्रकारके फूल अत्यन्त सुगन्धित थे और इसीलिए उनकी विकसित परागके ऊपर बैठकर भौंरोंका झुण्ड उन्हें ढके हुए था ॥ ३३ ॥ निरन्तर उत्सव मनानेमें जिनका मन आसक्त था, उन मित्रोंके महलोंपर पताकाएँ फहरा रहीं थीं और जिनके ऊपर आपदाएँ आनेवाली थीं, उन शत्रुओंके महलोंपर केतु ग्रह उदित हो रहा था । इस अवसरपर

१. क ख ग घ °कासितारकं । २. अ निर्मलं परतया । ३. = परम् । ४. = उच्छूनम् । ५. श स लङ् । ६. आ वर्तते इति तथोक्ते । ७. = सप्रसादा सविकासा च । ८. = परम् । ९. = न व्याप्ता ।

प्राप वारवनिताप्रवर्तितैर्गीतनृत्यविधिभिर्मनोज्ञताम् ।
मेदिनी विहितलोकविस्मयैर्द्यौश्च किंनरवधूसमुद्भवैः ॥ ३५ ॥
पेठुरेत्य नटगायकादयो[1] मङ्गलं नृपतिमन्दिराङ्गणे ।
तुम्बरुप्रभृतयश्च कोकिलालापकोमलगिरो नभोङ्गणे ॥ ३६ ॥
वारिकैर्मृदुजलच्छटोद्यतैः केवलं न खलु राजवर्त्मसु ।
वारिदैरपि[2] मनाक्प्रवर्षिभिः पांसवः प्रशममाशु निन्यिरे ॥ ३७ ॥
केवलं न मणिबन्धभासुरं तेन पुण्यजयिना नृपासनम् ।
चक्रिरे गुरुजनाशिषोऽप्यधस्तन्मनोरथपथातिगश्रिया ॥ ३८ ॥

सदनम् । सर्वतोऽपि[3] सर्वस्मादपि । उदितकेतु उदिताः उत्पन्नाः केतवो ध्वजा यस्य तत् । केवलं परम् । न संबभूव संजायते स्म । भू सत्तायां लिट् । अपितु भविष्यदापदां भविष्यन्ती आपद् येषां तेषम् । विद्विषामपि शत्रूणामपि । मन्दिरमुदितकेतु[4] संबभूवेत्यर्थः ॥३४॥ प्रापेति । वारवनिताप्रवर्तितैः वारवनिताभिर्गणिकाभिः प्रवर्तितैर्विहितैः । विहितलोकविस्मयैः विहितः कृतो लोकस्य विस्मय आश्चर्यं येषां (यैः) तैः । गीतनृत्यविधिभिः गीतनृत्ययोर्विधिभिर्विधानैः । मेदिनी भूमिः । मनोज्ञतां मनोहरताम् । न प्राप न ययौ[5] । किंनरवधूसमुद्भवैः किंनरस्य स्त्रीभिः समुद्भवैरुत्पन्नैरपि[6] । द्यौश्च गगनमपि । मनोज्ञतां प्रापेत्यर्थः ॥३५॥ पेठुरिति । नृपतिमन्दिराङ्गणे नृपतेर्भूपतेर्मन्दिरस्य सदनस्याङ्गणेऽजिरे । नटगायकादयः नर्तकगायकादयः । एत्य आगत्य । मङ्गलं मङ्गलस्तोत्रम् । पेठुः गायन्ति स्म । पठ व्यक्तायां वाचि लिट् । नभोऽङ्गणे गगनाङ्गणे । कोकिलालापकोमलगिरः कोकिलानां पिकानामालाप इव कोमला मृदुला गीर्वाणी येषां ते । तुम्बरुप्रभृतयः तुम्बरुप्रमुखाश्च, पेठुरित्यर्थः ॥३६॥ वारिकैरिति । राजवर्त्मसु[7] राजवीथिषु । मृदुजलच्छटोद्यतैः मृदुजलस्य[8] छटेन(?)सेचनेन उद्यतैरुद्युक्तैः । वारिकैः रथ्योदकवाहकैः[9] । केवलं परम् । पांसवः[10] रेणवः । प्रशमम् उपशमम् आशु शीघ्रम् । न खलु निन्यिरे[11] नहि नयन्ति स्म । मनाक् किंचित् । प्रवर्षिभिः प्रवर्षिभिः । वारिदैरपि मेघैरपि । पांसवः प्रशमं निन्यिरे, इत्यर्थः ॥३७॥ केवलमिति । पुण्यजयिना पुण्यैर्जयतीत्येवं शीलस्तेन, धर्मजयिनेत्यर्थः ।

न केवल मित्रोंके बल्कि शत्रुओंके भी महल उदितकेतु हो गये थे—मित्रोंके महलोंके ऊपर केतु—पताकाएँ और शत्रुओंके महलोंपर केतु–केतुग्रह दृष्टिगोचर हो रहा था। मित्रोंने हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त करनेके लिए अपने महलोंपर पताकाएँ लगाई थीं, और शत्रुओंने केवल व्यवहार वश अपने महलोंपर पताकाएँ लगाई। किन्तु आश्चर्य है जो मित्रोंके महलोंपर पताकाएँ ज्यों-की-त्यों फहराती रहीं पर शत्रुओंके महलोंकी पताकाएँ कट-फटकर नीचे गिर रहीं थीं ॥ ३४ ॥ लोगोंको आश्चर्यजनक, वेश्याओंके गान और नाचसे न केवल पृथ्वी ही, बल्कि गन्धर्वोंकी अङ्गनाओंके अद्भुत गान और नाचकी विधिसे आकाश भी मनोज्ञ हो गया ॥ ३५ ॥ इधर राजमहलके आँगनमें पहुँचकर नटों, गायकों और उनके सहयोगियोंने मङ्गल-स्तोत्रोंका पाठ किया उधर कोकिलकण्ठ तुम्बरु आदिने बीच आकाशमें जाकर मङ्गलमय स्तवन पढ़े ॥ ३६ ॥ न केवल जल छिड़कनेवाले लोगोंने थोड़ा-थोड़ा-सा जल छिड़ककर सड़कों की धूलिको शान्त किया, बल्कि धीमी-धीमी वर्षा करनेवाले बादलोंने भी उसी काम (धूलि-शमन) को उनसे कहीं पहले ही पूरा कर दिया ॥ ३७ ॥ पुण्यात्मा राजकुमार अजितसेनने न केवल रत्न-जटित देदीप्यमान सिंहासनको ही (बैठकर) नीचा कर दिया, बल्कि गुरुजनोंके मनोरथसे भी

१. म °गायनादयो° । २. अ वारिकैर्मृद° । ३. = परितोऽपि । ४. = 'ग्रहभेदे ध्वजे केतुः ।' इत्यमरः । ५. = प्राप ययौ—इति स्यात् । ६. = गीतनृत्यविधिभिरित्यर्थः । ७. = राजमार्गेषु । ८. = छटायां सेचने-सेचनकर्मणि । ९. श एधोदकवाहकैः । १०. आ श पांशवः । ११. = नीयन्तेस्म ।

प्राप्य चक्रधरराज्यसंपदा[1] संगमं गुरुकृताभिषेचनः ।
सोऽधिकं सहजदीधितिर्बभौ सूर्यकान्त इव सूर्यरोचिषा[2] ॥ ३९ ॥
अन्तरेऽत्र नखचन्द्रचन्द्रिकाचुम्बितत्रिदशराजमस्तकः ।
भव्यलोकनिवहं प्रबोधयन्नाययौ जिनपतिः स्वयंप्रभः[3] ॥ ४० ॥
सिंहविष्टरनिविष्टमच्युतं तं निशम्य निकटव्यवस्थितम् ।
निर्जगाम रभसेन वन्दितुं चक्रवर्तिसहितोऽजितंजयः ॥ ४१ ॥

तेन चक्रिणा । मणिबन्धभासुरं[5] मणे रत्नस्य बन्धेन कीलेन भासुरं देदीप्यमानम् । नृपासनं सिंहासनम् । केवलं परम् । अधः अधोभागे । न (चक्रे), किन्तु तन्मनोरथपथातिगश्रिया तेषां गुरुजनानां मनोरथस्याभिलाषस्य पथं-[पन्थानं-] मतिगच्छतीति तन्मनोरथपथातिगा[6] सा चासौ श्रीश्च तया । गुरुजनाशिषोऽपि गुरुजनैर्गुणाढ्यसत्पुरुषैः कृता आशिष इष्टाशंसनवचनानि च । अधः नीचैः । चक्रिरे विदधिरे । डुकृञ् करणे (कर्मणि) लिङ् । श्रीः आशीरर्थाद- (आशिषो-) ऽप्यधिका–इति भावः ॥ ३८ ॥ प्राप्येति । गुरुकृताभिषेचनः गुरुणा पित्रा कृतं विरचितमभिषेचनमभिषवणं यस्य सः । सहजदीधितिः सहजा निसर्गजा दीधितिः कान्तिर्यस्यसः । सः चक्री । चक्रधरराज्यसंपदा चक्रधरस्य चक्रेश्वरस्य राज्यस्य संपदा संपत्त्या । संगमं संबन्धम् । प्राप्य लब्ध्वा । सूर्यरोचिषा सूर्यस्य रोचिषा कान्त्या । सूर्यकान्त इव सूर्यकान्तशिलेव[7] बभौ भाति स्म । भा दीप्तौ लिट् । अतिशय उत्प्रेक्षा वा (उपमा) ॥३९॥ अन्तर- इति । अत्रान्तरे एतस्मिन् प्रस्तावे । नखचन्द्रचन्द्रिकाचुम्बितत्रिदशराजमस्तकः नखा एव चन्द्रास्तेषां चन्द्रिका ज्योत्स्ना तया चुम्बिता व्याप्ता[8] त्रिदशानां देवानां राज्ञां[9] मस्तका यस्य[10] सः । स्वयंप्रभः स्वयंप्रभ इति जिनपतिः तीर्थङ्करः । भव्यलोकनिवहं रत्नत्रयाविर्भवनयोग्यभव्यलोकानां भव्यजनानां निवहं समूहम् । प्रबोधयन् प्रबोधयतीति तथोक्तः सन् । आययौ आजगाम । या प्रापणे लिट् । समाहितालङ्कारः (?) ॥४०॥ सिंहेति । सिंहविष्टरनिविष्टं[11] सिंहैर्मृगेन्द्रैर्धृते विष्टरे पीठे निविष्टं स्थितम्[12] । तं जिनपतिम् । निशम्य आकर्ण्य । चक्रवर्तिसहितः चक्रेश्वरेण सहितः । अजितंजयः । वन्दितुं वन्दनाय । रभसेन शीघ्रम् । निर्जगाम[13]

कहीं अधिक लक्ष्मी पाकर उन (गुरुजनों) के आशीर्वादोंको भी नीचा कर दिया ॥ ३८ ॥ पिताने जब राज्याभिषेक कर दिया, तब राजकुमार अजितसेन चक्रवर्ती राज्यकी सम्पत्तिके सङ्गम या अधिकारको पाकर पहलेसे कहीं अधिक शोभायमान हुआ । जैसे स्वाभाविक ज्योतिसे युक्त सूर्यकान्त मणि सूर्यकिरणोंका सम्पर्क पाकर अत्यधिक सुशोभित होने लगता है ॥ ३९ ॥ इसी बीचमें स्वयंप्रभ नामक तीर्थङ्कर – जिनके चन्द्रसरीखे चरणनखोंकी चन्द्रिका-सी प्रभा देवेन्द्रोंके मस्तकको (भक्तिपूर्वक झुककर अष्टाङ्ग या पञ्चाङ्ग नमस्कार करते समय) प्रकाशित करती थी—भव्यजीवोंके समाजको प्रबोध देते या मोह निद्रासे जगाते हुए वहाँ (अजितसेन भी राजधानीमें) पधारे ॥ ४० ॥ 'तीर्थङ्कर स्वयंप्रभ बिलकुल निकटमें ही पधारे हुए हैं, वे अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे कभी च्युत होनेवाले नहीं हैं, और वे सिंहासनपर विराजमान हैं ।' यह सुनकर राजा अजितंजय अपने चक्रवर्ती पुत्र अजितसेनके साथ उनकी वन्दना करनेके लिए

---

१. एष टीकानुगतः पाठः प्रतिषु तु °संपदां—इति दृश्यते । २. अ 'सोऽधिकं सहजदीधितिश्चिरं तारकापतिरिव व्यदीप्यत ।।' इति पाठो दृश्यते । ३. अ पद्यमिदं नोपलभ्यते । ४. = सिंहोपलक्षितं विष्टरं सिंहविष्टरं सिंहासनं तस्मिन् निविष्टमुपविष्टम् । ५. = मणीनां रत्नानां बन्धो रचनाविशेषः, तेन भासुरं देदीप्यमानम् । ६. श °पदातिगा । ७. = सूर्यकान्तमणिरिव वा । ८. श स प्राप्ताः । ९. आ राजानाम् । १०. = येन । ११. अ 'निविष्ट'—इति नास्ति । १२. श सुस्थितम् । १३. = निर्ययौ ।

तीर्थभूत[1]मुरुभक्तिभावितस्तं प्रणम्य मुनिहंससेवितम् ।
मस्तकस्थकरकुड्मलोऽमलं प्रश्नमित्यकृत तत्त्वगोचरम्[2] ॥ ४२ ॥
बध्यते कथय कर्मभिः कथं नाथ जन्तुरिह मुच्यतेऽथवा ।
देव संशयविपर्ययाकुलं तिष्ठते[3] त्वयि जगद्यतोऽखिलम् ॥ ४३ ॥
वस्तुतत्त्वमधिगन्तुमिच्छतो भारतीमिति निशम्य भूभृतः ।
योजनप्रमितया गिराधरस्पन्दवर्जितमुवाच तीर्थकृत् ॥ ४४ ॥
सप्रमादहृदयः कषाययुग्योगवान्विरतिवर्जिताशयः ।
सम्यगीक्षणविपर्ययस्थितः कर्मबन्धमुपयाति चेतनः ॥ ४५ ॥

प्रविवेश । गम्लृ गतौ लिट् ॥४१॥ तीर्थेति । उरुभक्तिभावितः उर्व्या महत्या भक्त्या गुणानुरागेण भावितः संस्कृतः । मस्तकस्थकरकुड्मलः मस्तकस्थकरावेव कुड्मलौ यस्य सः । अमलः निर्मलचित्तः सन् । तीर्थभूतं पवित्रीभूतम् । मुनिहंससेवितं मुनिहंसैर्गणधरादिमुनिवरैः सेवितमाराधितम् । तं स्वयंप्रभजिनम् । प्रणम्य वन्दित्वा । तत्त्वगोचरं तत्त्वान्येव गोचरो विषयो यस्य तत् (तम्) । प्रश्नं पृच्छनम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अकृत व्यधात् । डुकृञ् करणे लुङ् ॥४२॥ बध्यत इति । भोः स्वामिन् । संशयविपर्ययाकुलं संशयविपर्ययाभ्यामाकुलं बाधितम् । अखिलं सकलम् । जगत् लोकः । यतः यस्मात् । त्वयि भवति । तिष्ठते प्रकाशते । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लट् । 'स्थेय प्रकाशने' इति तङ् । नाथ जिनपते । जन्तुः जीवः । इह संसारे । कर्मभिः शुभाशुभकर्मभिः । कथं केन प्रकारेण । बध्यते संबध्यते[4] । अथवा, कथं मुच्यते त्यज्यते । कथय ब्रूहि । कथ वाक्यप्रबन्धे लट् ॥४३॥ वस्त्विति । वस्तुतत्त्वं वस्तुनः पदार्थस्य तत्त्वं स्वरूपम् । अधिगन्तुं ज्ञातुम् । इच्छतः वाञ्छतः । भूभृतः क्षितिपतेः[5] । इति एवं (भूताम्) । भारतीं वचनम् । निशम्य श्रुत्वा । तीर्थकृत् स्वयंप्रभजिनपतिः । योजनप्रमितया योजनप्रमाणभूतया (योजनव्यापिन्या इत्यर्थः) । गिरा दिव्यनिनादेन । अधरस्पन्दवर्जितम् अधरयोरोष्ठयोः स्पन्देन चलनेन वर्जितं रहितं यथा भवति तथा । उवाच निरूपयतिस्म । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । 'अस्ति ब्रुवोर्भूवचौ' इति वचादेशः । स्वभावोक्तिः ॥४४॥ सेति । सप्रमादहृदयः प्रमादैर्विषयादिपञ्चदशप्रमादैर्युक्तं हृदयं मानसं तेन सह वर्तते इति । [कषाययुक्] क्रोधादिचतुःकषायैर्युग्[6] युक्तः क्रोधादिकषायवान् । योगवान् कायवाङ्मनःकर्म योगस्तद्वान् । विरतिवर्जिताशयः विरत्या हिंसादिनिवृत्त्या वर्जित आशयो यस्य सः । सम्यगीक्षणविपर्ययस्थितः[7] सम्यगीक्षणस्य सम्यग्दर्शनगुणस्य[8] विपर्यये मिथ्यादर्शने स्थितः । चेतनः जीवः । कर्मबन्धं कर्मणां

घरसे चल पड़े ॥ ४१ ॥ वे तीर्थस्थान स्वरूप हैं । श्रेष्ठ मुनि या गणधर उनकी आराधना करते हैं । उनके दर्शन करते ही अत्यन्त भक्तिभावसे प्रणाम करके अजितंजयने हाथ जोड़ते हुए मस्तक नवाकर शुद्ध हृदयसे एक तात्त्विक प्रश्न किया – ॥ ४२ ॥ भगवन् ! सारा संसार संशय और विपर्ययसे व्याकुल हो रहा है । चूंकि वह आपके ज्ञानमें स्पष्ट ही झलक रहा है, अतः नाथ ! यह बताइये कि इस संसारमें यह जीव शुभ और अशुभ कर्मोंसे कैसे बँध जाता है और फिर उनसे छुटकारा कैसे पा जाता है ? ॥ ४३ ॥ वस्तु स्वरूपके जिज्ञासु राजा अजितंजयके इन वचनोंको सुनकर तीर्थङ्कर स्वयंप्रभ यों बोले । बोलते समय उनका अधर (नीचेका ओठ) स्पन्दन रहित था और उनकी वाणी एक योजन पर्यन्त सुनाई पड़ रही थी ॥ ४४ ॥ जिस जीवके हृदयमें प्रमाद भरा हुआ है; जो कषायवान् है; जिसके मन, वचन और कायमें चञ्चलता भरी हुई है; जिसका हृदय हिंसा आदि पापोंसे विरत नहीं है और जिसको श्रद्धा

१. अ °भूतगुरु° । २. अ क ख ग घ म बन्धगो° । ३. अ तिष्ठति । ४. आ बध्यन्ते । ५. आ पतिपतिः । ६. = कषायैः क्रोधादिभिर्युज्यत इति कषाययुक् । ७. श समस्तमिदं पदं नास्ति । ८. श इदमपि समस्तं पदं नास्ति ।

तेन स स्ववशभावमाहृतः कर्मणाष्टविधभेदभागिना[1] ।
संसरत्यशरणो भवाम्बुधौ लोहकान्तमणिकृष्टलोहवत्[2] ॥ ४६ ॥
कर्मभिः परवशीकृतात्मनो[3] भ्राम्यतो बहुविधासु योनिषु ।
खल्वबिल्वविधिना प्रमादतो जायते मनुजजन्मसंगमः ॥ ४७ ॥
प्राप्तमानवभवोऽपि कृच्छ्रतः पुत्रबान्धवकलत्रमोहितः ।
कर्म तत्किमपि संचिनोत्यसौ येन गच्छति पुनः कुयोनिषु ॥ ४८ ॥

ज्ञानावरणादीनां बन्धम् । उपयाति उपगच्छति । या प्रापणे लट् ॥४५॥ तेनेति । अष्टविधभेदभागिना अष्टविधाः प्रकारा यस्य स तथोक्तः, अष्टविधश्चासौ भेदश्च तथोक्तः, अष्टविधभेदं भजतीत्येवंशीलं अष्टविधभेदभागि, तेन । तेन कर्मणा । स्ववशभावं स्वस्य वशभावमधीनत्वम् । आहृतः[4] नीतः । अशरणः सन् न विद्यते शरणं यस्य सः, रक्षितृरहितः सन् । सः जीवः । भवाम्बुधौ भव एवाम्बुधिस्तस्मिन् । रूपकम् । लोहकान्तमणिकृष्टलोहवत् लोहकान्तमणिना अयस्कान्तमणिना कृष्ट[5] आहृतो लोहवत् । संसरति भ्रमति । सृ गतौ लट् । उपमा ॥४६॥ कर्मभिरिति । प्रमादतः प्रमादात् । कथंचित् (?) । बहुविधासु[6] बह्वीषु विधासु भेदेषु । योनिषु[7] जन्मसु । भ्राम्यतः पर्यटतः । कर्मभिः शुभाशुभरूपकर्मभिः । परवशीकृतात्मनः परवशीकृतस्य पराधीन (नी) कृतस्यात्मनो जीवस्य । खल्वबिल्वविधिना खल्वस्य नष्टरोमशिरसः[8] पुरुषस्य बिल्वविधिना बिल्वफलस्य न्यायेन । अबुद्धिपूर्वकं बिल्वफलं नष्टरोमशिरोयुक्तस्य मस्तके पतितं[9] (पतति) यथा तथा इत्यर्थः । मनुजजन्मसंगमः मनुजस्य मानुषस्य जन्मन उत्पत्तेः संगमः संपर्कः । जायते संभवति । जनैङ् प्रादुर्भावे लट् । उपमा ॥४७॥ प्राप्तेति । कृच्छ्रतः कष्टात् । प्राप्तमानुषभवोऽपि प्राप्तो लब्धो मानुषस्य मनुष्यस्य भवो यस्य (येन) सः । पुत्रबान्धवकलत्रमोहितः पुत्राश्च बान्धवाश्च कलत्राणि च तथोक्तानि तेषु मोहित आसक्तः सन् । किमपि तत्कर्म[10] शुभाशुभकर्म । संचिनोति संपादयति । पुनः पश्चात् । येन कर्मणा संबन्धः, तेन कर्मणा । योनिषु गच्छतीत्यर्थः । असौ जीवः । कुयोनिषु कुत्सितयोनिषु । गच्छति याति । गम्लृ गतौ लट् ॥४८॥ इतीति ।

विपरीत है उसके कर्मबन्ध होता है । मूल बात यह है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मबन्धके कारण हैं ॥ ४५ ॥ ज्ञानावरण आदि आठ भेदोंवाले कर्मने जीवको अपने आधीन कर लिया है । अतः जैसे अयस्कान्त मणि या चुम्बक पत्थरसे आकृष्ट होकर लोहा अशरण हो जाता है, वैसे कर्माधीन जीव भी—अशरण हो जाता है । फलतः वह संसार सागरमें गोते खाता रहता है ॥ ४६ ॥ प्रमादके कारण यह जीव कर्मों द्वारा परवशकर दिया जाता है । फिर यह नाना (चौरासी लाख) योनियोंमें भटकता फिरता है । भटकनेवाले इस जीवको खल्वबिल्व न्यायसे मानव जन्म बड़ी कठिनाईसे मिलता है । खल्वाट जब-जब बेलके नीचे जाय तब-तब उसके सिरपर बेल गिरे, यह कभी सम्भव नहीं हो सकता । ऐसी घटना क्वचित् कदाचित् ही घटती है । इसी प्रकार यह जीव जब-जब पर्याय बदले तब-तब उसे मानव जन्म मिले, यह असम्भव है । वह तो बड़े भाग्यसे मिलता है ॥४७॥ बड़ी कठिनाईसे मानवभवको पाकर भी यह जीव पुत्र, मित्र और कलत्रके मोहमें फँसकर ऐसे कर्मोंका सञ्चय कर लेता है, जिससे वह

---

१. अ 'घ' नोपलभ्यते । २. अ भवान्तरेष्वन्तर्वर्जितमूर्तिर्नरः स्वयम् । ३. अ कर्मसङ्गविवशीकृतात्मनो° । ४. आ °मावृतः । ५. = कृष्टमाहृतं यल्लोहं लोहधातुस्तद्वत् । ६. = बह्वो विधा यासां तासु नानाविधासु । ७. = उत्पत्तिस्थानेषु । ८. = खल्वाटस्य । ९. आ पतीतं । १०. = अशुभकर्म ।

इत्यवेत्य भवदुःखभीरवः संगमं विदधते सुमेधसः।
कर्मबन्धनविपक्षभूतया ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदा ॥ ४९ ॥
ज्ञानमर्थपरिबोधलक्षणं दर्शनं जिनमताभिरोचनम्।
पापकार्यविरतिस्वभावकं कीर्तितं चरितमात्मवेदिभिः ॥ ५० ॥
संगतं त्रयमिदं प्रजायते कृत्स्नकर्मविनिवृत्तिकारणम्।
पङ्गुलोचनविहीनवद्भवेदेककं न पुनरर्थसाधकम् ॥ ५१ ॥
ज्ञानमागमनिरोधि कर्मणो भाविनश्चरितमर्जितासनम्।
दृष्टिराचरति पुष्टिमेतयोरित्थमेतदुपयोगवत्त्रयम्[1] ॥ ५२ ॥

सुमेधसः शोभना मेधा येषु[2] ते। इति एवम्। अवेत्य ज्ञात्वा। भवदुःखभीरवः[3] भवे संसारे संभवदुःखे भीरवो भीताः। कर्मबन्धनविपक्षभूतया कर्मणां[4] बन्धनस्य विपक्षभूतया। ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदा ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तच्च दर्शनं सम्यग्दर्शनं तच्च चरित्रं सम्यक्चारित्रं तच्च तथोक्तानि, ज्ञानदर्शनचरित्राणां संपदा संपत्त्या। संगमं संसर्गम्। विदधते कुर्वन्ति। डुधाञ् धारणे च लट् ॥४९॥ ज्ञानमिति। आत्मवेदिभिः आत्मज्ञानिभिः। अर्थपरिबोधलक्षणम् अर्थस्य परिबोधः परिज्ञानं स एव लक्षणं यस्य तत्। ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। जिनमताभिरोचनं जिनमते आर्हतमतेऽभिरोचनं विश्वासः। दर्शनं सम्यग्दर्शनम्। पापकर्मविरतिस्वभावकं[5] पापकर्मणां कर्मबन्धस्यकारणहिंसादिव्यापाराणां विरतिर्निर्वृत्तिरेव स्वभावो यस्य तत्। चरितं सम्यक्चारित्रमिति। कीर्तितं भाषितम् ॥५०॥ संगतमिति। संगतं संयुतम्। इदम् एतत्। त्रयं त्रयोऽवयवा अस्य त्रयम्। 'अवयवात्तयट्' इति तयट्। 'द्वित्रिभ्यां लुग्वा' इति तकारस्य लुक्। सम्यग्ज्ञानादित्रयम्। कृत्स्नकर्मविनिवृत्तिकारणं कृत्स्नानां साकल्यानां (सकलानां) कर्मणां द्रव्यभावकर्मणां विनिवृत्तेर्विमोक्षस्य कारणं निमित्तम्। प्रजायते प्रभवति। पङ्गुलोचनविहीनवत् पङ्गुः खञ्जः (खन्) स च लोचनविहीनोऽन्धकः स च तथोक्तौ पङ्गुलोचनविहीनाविव तथोक्तम्। एककम्[6] असहायम्। पुनः पश्चात्। अर्थसाधकं प्रयोजनसाधकम्। न भवेत् न स्यात्। भू सत्तायां लिङ्। उपमा ॥५१॥ ज्ञानमिति। ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। भाविनः भविष्यतः। कर्मणः, आगमनिरोधिः (धि) आगमस्यास्रवस्य निरोधिः (धि) निवारकः (कम्)। चरितं चारित्रम्। अर्जितासनम् अर्जितस्य पूर्वोपात्तस्य कर्मणोऽसनं नाशनम्। दृष्टिः सम्यग्दर्शनम्। एतयोः ज्ञानचारित्रयोः। पुष्टिं[7] तुष्टिम्। आचरति[8] इत्थम् अनेन प्रकारेण। एतत् इदं त्रयं सम्यग्ज्ञानादित्रयम्[9]। उपयोगवत् परस्परोपकारवत्। भवति ॥५२॥

फिर खोटी-खोटी योनियोंमें चला जाता है ॥ ४८ ॥ यह जानकर संसारके दुःखोंसे डरनेवाले बुद्धिमान् पुरुष कर्मबन्धनकी विरोधिनी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की सम्पत्ति का समागम करते हैं ॥ ४९ ॥ जीवादि पदार्थोंका यथावत् जानना सम्यग्ज्ञान है; जिन मतकी अभिरुचि सम्यग्दर्शन है और हिंसा आदि पाप कार्योंसे निवृत्त होना सम्यक् चारित्र है, ऐसा आत्मज्ञानियोंने कहा है ॥ ५० ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर समस्त कर्मोंकी निवृत्तिके कारण हैं। यदि वे पंगु और अन्धे पुरुष की भाँति अलग-अलग रहें तो मानवके प्रयोजनको सिद्ध नहीं कर सकते। अन्धे और पंगु मिलकर अपने इष्ट स्थानमें पहुँच सकते हैं। इसी तरह सम्यग्दर्शन आदि तीनों गुणोंके सम्मिलित सहयोगको पाकर जीव अपने गन्तव्य मोक्ष-धाम तक पहुँच सकता है ॥ ५१ ॥ सम्यग्ज्ञान आनेवाले कर्मको रोकनेवाला है और सम्यक्चारित्र पहलेसे आये हुए–बद्ध कर्मोंको दूर करनेवाला है। तथा सम्यग्दर्शन

१. अ पद्यमिदं नोपलभ्यते। २. = येषां। ३. = भवः संसारः तस्य दुःखं तस्माद् भीरवो भीताः। ४. श कर्मणो°। ५. = पापकर्मणामशुभकर्मणां हिंसादिव्यापाराणां विरतिर्निवृत्तिरेव स्वभावो यस्य तत्। ६. श एकम्। ७. = पुष्टताम्। ८. = विदधाति। ९. श सम्यग्ज्ञानचारित्रत्रयम्।

ज्ञानमात्रमिह संसृतिक्षये कल्पितं यदबुधैर्न तत्तथा[1] ।
भेषजावगममात्रतः[2] शमं व्याधिरेति किमनुष्ठितैर्विना ॥ ५३ ॥
शुश्रुवानिति स बन्धमोक्षयोः कारणं जिनमुखारविन्दतः ।
तत्क्षणादुपययौ विरक्ततां श्रेयसि त्वरयते हि भव्यता ॥ ५४ ॥
स प्रहाय शमसक्तमानसः प्रेम बन्धुसुतदारगोचरम् ।
देहजार्पितपरिच्छदः परं शिश्रिये श्रमणसेवितं पदम् ॥ ५५ ॥
चक्रवर्त्यपि गृहीतदर्शनः कायवाङ्मनसशुद्धिसंयुतः ।
त्रिः प्रणम्य जिनमर्चितं सतां प्राविशत्पुरमुदारगोपुरम् ॥ ५६ ॥

ज्ञानमात्रमिति । इह अस्मिन् । संसृतिक्षये संसृतेः संसारस्य क्षये । यत् ज्ञानमात्रं दर्शनमात्रं (दर्शन—) चारित्र-निरपेक्षं ज्ञानमात्रम् । अबुधैः अज्ञानिभिः । कल्पितं[3] कृतं तत् तथा [न] तेन प्रकारेण न भवति । अनुष्ठितैः [विना] आचरणैर्विना । भेषजावगममात्रतः भेषजस्य औषधस्यावगममात्रतो ज्ञानमात्रतः । व्याधिः रोगः । शमम् उपशमम् । एति किं याति किम् ॥५३॥ शुश्रुवानिति । सः अजितंजयः । जिनमुखारविन्दतः जिनस्य तीर्थङ्करस्य मुखमेवारविन्दं[4] कमलं तस्मात् । बन्धमोक्षयोः कर्मबन्धमोक्षयोः । इति एवं प्रकारेण । शुश्रुवान् शृणोति स्म । तत्क्षणात्, विरक्ततां वैराग्यम् । उपययौ उपजगाम । या प्रापणे लिट् । भव्यता भव्यत्वम् । श्रेयसे मोक्षनिमित्तम् । त्वरयते हि शीघ्रं (शीघ्रताम्) करोति ॥५४॥ स इति । शमसक्तमानसः शमेन उपशमेन (शमे उपशमे) सक्तं युक्तं (आसक्तं) मानसं यस्य सः । सः अजितंजयः । बन्धुसुतदारगोचरं बन्धवश्च सुताश्च दाराश्च तथोक्ता बन्धुसुतदारा एव गोचरा यस्य तत् । प्रेम प्रीतिम् । प्रहाय विहाय । देह-जार्पितपरिच्छदः देहजेऽजितसेनेऽर्पितः स्थापितः परिच्छदो येन सः, सन् । श्रमणसेवितं श्रमणैः सेवितमाराधितम् । परं प्रकृष्टम् । पदं मोक्षपदमित्यर्थः । शिश्रिये सिषेवे । श्रिञ् सेवायां लिट् ॥५५॥ चक्रेति । कायवाङ्-मनसशुद्धिसंयुतः कायवाङ्मनसानां शुद्धया युतः । चक्रवर्त्यपि सार्वभौमोऽपि । गृहीतं दर्शनं यस्य (येन) सः सन् । सतां सद्भिः । अर्चितं पूजितम् । 'वा नाकस्य—' इत्यादिना करणे षष्ठी । जिनं जिनेश्वरम् । त्रिः प्रणम्य त्रीन् वारान् प्रणम्य । उदारगोपुरम् उदाराण्युन्नतानि गोपुराणि पुरद्वाराणि यस्य तत् । पुरं विनीता-

इन दोनों (सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) की पुष्टि करता है । इस तरह ये तीनों उपयोगी हैं और हैं एक दूसरेके उपकारी ॥ ५२ ॥ 'अकेला ज्ञान ही संसारका अन्त करके मुक्ति दिलाने-में समर्थ है' ऐसी कल्पना कुछ अज्ञानी लोगोंने कर रखी है, पर वह ठीक नहीं; क्योंकि अनु-ष्ठानके बिना दवाओंका खाली ज्ञान कर लेनेसे व्याधि शान्त नहीं हो सकती । दवाओंकी जानकारीके साथ जब विश्वास और परहेज होते हैं, तब रोग शान्त होता है । इसी प्रकार तत्त्वोंके ज्ञानके साथ जब श्रद्धा और आचरण होते हैं तब कहीं संसारकी समाप्ति—मुक्तिकी प्राप्ति होती है ॥ ५३ ॥ जिनेन्द्र भगवान् – स्वयंप्रभके मुख कमलसे, इस तरह बन्ध और मोक्ष के कारण सुनकर अजितंजय तत्काल विरक्त हो गया । भव्यता निश्चय ही कल्याणके लिए शीघ्रता कराती है ॥ ५४ ॥ अजितंजयका मन अब केवल आत्मशान्ति पानेके लिए उत्सुक हो उठा । फलतः उसने अपने परिवारके बन्धु, पुत्र और पत्नीसे प्रेमका नाता तोड़ दिया, राज्यका भार पुत्रको सौंप दिया और फिर उत्कृष्ट पदका–जिसकी आराधना श्रमण करते चले आ रहे हैं–आश्रय लिया ॥ ५५ ॥ चक्रवर्तीके मन, वचन और कायमें पहलेसे पवित्रता थी ही, पर इस अवसरपर उसे सच्ची श्रद्धा भी उत्पन्न हो गई । सज्जनोंके द्वारा पूजित स्वयंप्रभ भगवान्‌को

१. अ ज्ञानमाचरणहीनमत्र सज्ज्ञानहीनमपि तन्न सिद्धये । २. अ क ख ग घ म भेषजैश्च विदितै-र्यतः शमं । ३. = कल्पनाविषयीकृतम् । ४. = मुखमरविन्दमिव ।

अन्यदा नृपतिवृन्दवेष्टितः संनियुज्य[1] स पुरः प्रयाणके ।
वाहिनीपतिमसह्यतेजसं निर्जगाम दशदिग्जिगीषया ॥ ५७ ॥

छत्रमुल्लसितफेनपाण्डुरं निर्बभावुपरि तस्य गच्छतः ।
घर्मवारणमुखेन[2] सेवितुं चन्द्रमण्डलमिवागतं स्वयम् ॥ ५८ ॥

चित्ररत्नपरिपूर्णकुक्षयो मन्द्रगर्जितकृतोऽर्णवा इव ।
संचरिष्णुरथरूपधारिणं[3] स्वं विकृत्य निधयः प्रतस्थिरे ॥ ५९ ॥

स्वस्वकृत्यकरणोद्यताशयं [4]व्यन्तरामरसहस्ररक्षितम् ।
सर्वमध्वनि रथाङ्गपूर्वकं तस्य रत्नमभवत्पुरःसरम् ॥ ६० ॥

पुरम् । प्राविशत् प्रविष्टवान् । विश प्रवेशने लङ् ॥५६॥ अन्यदेति । अन्यदा अन्यस्मिन् काले । नृपतिवृन्दवेष्टितः नृपतीनां भूपानां वृन्देन समूहेन वेष्टितः परिवृतः। सः अजितसेनचक्री। असह्यतेजसं सोढुमशक्यप्रतापम्। वाहिनीपतिं सेनापतिम् । पुरःप्रयाणके अग्रप्रयाणनिमित्तम् । संनियुज्य विनियोगं विधाय । दशदिग्जिगीषया जेतुमिच्छा जिगीषा दशानां दिशां दिशानां जिगीषा तया । जि ज्रि अभिभवे । 'कर्म्येककर्तृकात्' इत्यादिना सन् । 'जेर्लिट् सन्' इति द्विभावे पूर्वस्मात्परस्य गी[5]–इत्यादेशः । निर्जगाम निर्ययौ । गम्लृ गतौ लिट् ॥५७॥ छत्रमिति । उल्लसितफेनपाण्डुरम् उल्लसितो विभासितः फेन इव डिण्डीर इव[6] पाण्डुरं शुभ्रम् । छत्रं छत्ररत्नम् । गच्छतः यातः । तस्य चक्रिणः । उपरि ऊर्ध्वभागे । घर्मवारणमुखेन (मिषेण) धर्मवारणमिति छत्रमिति मुखेन व्याजेन (धर्मवारणं छत्रं तस्य मिषेण व्याजेन) सेवितुम् आराधि (धयि-) तुम् । स्वयम् आगतम् आयातम् । चन्द्रमण्डलमिव चन्द्रबिम्बमिव । निर्बभौ भाति स्म । उत्प्रेक्षा ॥५८॥ चित्रेति । चित्ररत्नपरिपूर्णकुक्षयः चित्रैर्नानाविधैः रत्नैः परिपूर्णः कुक्षिर्येषां ते । मन्द्रगर्जितकृतः मन्द्रं गभीरध्वनिः तच्च तद्गर्जितं च मन्द्रगर्जितं (तत्) कुर्वन्तीति तथोक्ताः । अर्णवा इव समुद्रा इव । निधयः नवनिधयः । स्वं स्वरूपम् । संचरिष्णुरथरूपधारिणं संचरिष्णोर्गमनशीलस्य रथस्य स्यन्दनस्य रूपधारिणं स्वरूपधारिणम् । विकृत्य निर्माय । प्रतस्थिरे निर्जग्मुः । उत्प्रेक्षा (?) ॥५९॥ स्वेति । स्वस्वकृत्यकरणोद्यताशयं स्वेषां स्वेषां कृत्यस्य कार्यस्य करणे विधाने उद्यत उद्युक्त आशयो मानसं यस्य तत् । व्यन्तरामरसहस्ररक्षितं व्यन्तराणां व्यन्तरदेवानां सहस्रेण रक्षितं पालितम् । रथाङ्गपूर्वकं रथाङ्गं चक्रं तदेव पूर्वं यस्य तत् । सर्वं सकलम् । रत्नं जीवाजीवभेदम् । तस्य चक्रिणः । अध्वनि मार्गे । पुरःसरं पुरः सरतीति पुरःसरमग्रगामि । अभवत्

तीन बार प्रणाम करके उसने अपने नगरमें प्रवेश किया – जहाँ बड़े-बड़े द्वार थे ॥ ५६ ॥ कुछ दिनोंके बाद चक्रवर्ती अजितसेन—जिसके साथ सभी राजे-महाराजे थे—अपने तेजस्वी सेनापतिको आगे प्रयाण करनेका आदेश देकर दिग्विजयके लिए निकल पड़ा ॥५७॥ चलते समय चक्रवर्तीके ऊपर, लहराते फेनकी भाँति सफेद छाता ऐसा जान पड़ता था मानो उस (सफेद छाते) के बहाने स्वयं चन्द्रमण्डल उसकी सेवामें उपस्थित हुआ हो ॥ ५८ ॥ जिनका भीतरी भाग विचित्र रत्नोंसे भरा हुआ है और जिनका गर्जन गंभीर है, समुद्र सरीखी वे नौ निधियाँ चलते हुए रथका रूप धारण करके चल पड़ीं ॥ ५९ ॥ अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करनेके लिए उद्यत और एक हजार व्यन्तर देवोंसे सुरक्षित चौदह रत्न मार्गमें चक्रवर्तीके आगे-आगे चलने लगे ।

१. अ संप्रयुज्य म संनियोज्य । २. अ क ख ग घ म °वारणमिषेण । ३. म °रूपधारिणः । ४. घ °शयव्यन्तरा° । ५. आ गिरित्यादेशः श गीरित्यादेशः । ६. = फेनो डिण्डीरः स इव ।

तस्य वाजिखुरजै रजश्चयैरुत्थितै[1]स्तपनवर्त्मरोधिभिः ।
पूरिताः करभयादिव स्वयं भेजिरे भृशमदृश्यतां दिशः ॥ ६१ ॥
चित्रमेतदतिदूरवर्तिनाप्यस्य सैन्यरजसा प्रसर्पता ।
यन्निरन्तरमरातियोषितश्चक्रिरे विगलदश्रुलोचनाः ॥ ६२ ॥
सिद्धरत्नमवगम्य संमुखीभूतमप्रतिमपौरुषाश्रयम् ।
मूर्धदेशनिहिताग्रपाणयः प्राभृतैस्तमुपतस्थिरे नृपाः ॥ ६३ ॥
नामयन्नतुलदैवपौरुषः[2] सिद्धशक्त्युपचितान्स पार्थिवान् ।
प्राप वारिधितटं समुच्चलत्कीर्तिभासितसमस्तदिङ्मुखः ॥ ६४ ॥

अभूत् । भू सत्तायां लङ् । जातिः ॥६०॥ तस्येति । तस्य चक्रिणः । वाजिखुरजैः वाजिनामश्वानां खुरजैः शफजातैः । तपनवर्त्मरोधिभिः तपनस्य सूर्यस्य वर्त्म आकाशं रोधिभिराच्छादिभिः । उत्थितैः ऊर्ध्वं गतैः । रजश्चयैः रजसां रेणूनां चयैर्निवहैः । पूरिताः[3] व्यापिताः । दिशः ककुभः । करभयादिव करस्य किरणस्य भयादिव भीतेरिव । स्वयं, भृशम् अत्यन्तम् । अदृश्यतां दृष्टिगोचररहितत्वम् । भेजिरे भजन्ति स्म । भज सेवायां लिट् । उत्प्रेक्षा ॥६१। चित्रमिति । अस्य चक्रिणः । प्रसर्पता निर्गच्छता । सैन्यरजसा (सैन्यस्य सेनायाः) रजसा रेणुना । अतिदूरवर्तिना अपि विप्रकृष्टे[4] वर्तमानेनापि । निरन्तरम् निरवकाशम् । अरातियोषितः अरातीनां शत्रूणां योषितः प्रमदाः । विगलदश्रुलोचनाः विगलत् स्रवद् अश्रु नेत्रोदकं ययोः[5] ते तथोक्ते विगलदश्रुणी लोचने यासां ताः । चक्रिरे[6] विदधुः यत् एतत् । चित्रम् आश्चर्यम् । उत्प्रेक्षा (?) ॥६२॥ सिद्धेति । सिद्धरत्नं सिद्धानि रत्नानि यस्य तम् । संमुखीभूतम् अभिमुखीभूतम् । अप्रतिमपौरुषाश्रयम् अप्रतिमस्योपमातीतस्य पौरुषस्याश्रयः तम् । तं चक्रिणम् । अवगम्य ज्ञात्वा । मूर्धदेशनिहिताग्रपाणयः मूर्ध्नो मस्तकस्य देशे प्रदेशे निहितोऽग्रपाणिर्येषां[7] ते । नृपाः भूमिपाः । प्राभृतैः उपायनैः । उपतस्थिरे सेवां चक्रिरे । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् । ६३॥ नामयन्निति । अतुलदैवपौरुषः अतुले असमाने दैवपौरुषे यस्य सः । समुच्चलत्[8]कीर्तिभासितसमस्तदिङ्मुखः समुच्चलन्त्या कीर्त्या यशसा भासितानि समस्तानां सर्वासां दिशां मुखानि यस्य[9] सः । सः चक्री । सिद्धशक्त्युपचितान् सिद्धाभिर्निष्पन्नाभिः शक्तिभिरुत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिभिरुपचितान्[10] राशीभूतान् । पार्थिवान् भूमिपालान् । नामयन् नम्रीकुर्वन् । वारिधितटं वारिधेः समुद्रस्य तटं तीरम् । प्राप ययौ । आप्लृ

चलते समय रत्नोंमें सबसे आगे चक्र था ॥ ६० ॥ घोड़ों की टापोंके पड़नेसे धूलि उड़ने लगी। धीरे-धीरे उसने पूरे आकाशको घेरकर सूर्यका मार्ग छेक लिया । सारी दिशाएँ अदृश्य हो गईं, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चक्रवर्तीको लगान देनेके भयसे सब दिशाएँ स्वयं कहीं जाकर छिप गई हों ॥ ६१ ॥ उस समय यह एक आश्चर्यकी बात हुई कि फैलनेवाली सेना की धूलिने स्वयं बहुत दूर रहकर भी (केवल अपना दर्शन देकर, आँखोंमें घुसकर नहीं) शत्रु-स्त्रियोंको लगातार आँखोंसे आँसू गिरानेके लिए बाध्य कर दिया ॥ ६२ ॥ चक्रवर्तीके चौदह रत्न सिद्ध हैं । उसका पराक्रम अनुपम है — पराक्रममें उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता । वह यहाँ आ ही रहे हैं, यह जानकर राजे-महराजे नाना प्रकारका उपहार लेकर उसके सामने हाथ जोड़कर सिर नवाते हुए पहुँचे ॥ ६३ ॥ अनुपम दैव और पुरुषार्थ वाले और परिपूर्ण प्रभु-शक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साह शक्तिसे समृद्ध राजाओंको झुकाकर चक्रवर्तीने अपनी बढ़ती हुई कीर्तिसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित कर दिया । फिर वह समुद्र तटपर पहुँचा ॥ ६४ ॥

१. म °रुच्छ्रितै° । २. आ इ क ख ग घ म °दैवपौरुषान् । ३. =व्याप्ताः । ४. श विप्रकृष्टवर्त° । ५. =याभ्यां । ६. =विदधिरे । ७. =निहिता अग्रपाणयो यैः । ८. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु सर्वासु 'समुच्छलत्' इत्येवोपलभ्यते । ९. =येन । १०. =संपन्नान् ।

तत्क्षणात्क्षुभितसिंहविष्टरः संनिकृष्टमवगम्य चक्रिणम् ।
तं प्रभासविबुधः कृताञ्जलिर्दिव्यरत्ननिकरैरपूपुजत्[1] ॥ ६५ ॥
एत्य ढौकितविचित्रभूषणो देव नन्द जय रक्ष मेदिनीम् ।
तं वचोभिरिति साञ्जलिः स्तुवन्मागधोऽप्यजनि सत्यमागधः ॥ ६६ ॥
द्वीपसिन्धुविविधाकरोद्भवैः प्राभृतैर्वरतनुर्मनोहरैः ।
तं विनम्रमुकुटः कुटुम्बिवत्पर्युपास्त मदमानवर्जितः ॥ ६७ ॥
[2]प्रागपाग्वरुणदिग्व्यवस्थितानानमय्य नृपखेचरामरान् ।
व्योमसंचरणगर्वितानसौ निर्जिगाय विजयार्धवासिनः ॥ ६८ ॥

व्याप्तौ लट् । सामान्यम् (?) ॥६४॥ तत्क्षणादिति । अलाकालात् । क्षुभितसिंहविष्टरः क्षुभितं[3] संचलितं सिंहविष्टरं सिंहासनं यस्य सः । प्रभासविबुधः प्रभासनामा अमरः । संनिविष्टम्[4] आगतम् । तं चक्रिणम्-अजितसेनचक्रवर्तिनम् । अवगम्य ज्ञात्वा । कृताञ्जलिः विहिताञ्जलिः सन् । दिव्यरत्ननिकरैः दिव्यानां रत्नानां निकरैः समूहैः । अपूपुजत् अपूजयत् । पूज पूजायां लुङ् । ६५॥ एत्येति । ढौकितविचित्रभूषणः ढौकितान्यानीतानि विचित्राणि नानाविधानि भूषणानि येन सः । साञ्जलिः अञ्जलिना युक्तः । मागधोऽपि मागधामरोऽपि । एत्य आगत्य । देव स्वामिन् । नन्द समृद्धो भव । जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । मेदिनीं भूमिम् । रक्ष पालय । रक्ष पालने लेट् (लोट्) । इति एवंविधैः । वचोभिः वचनैः । तं चक्रिणम् । स्तुवन् नुवन् । तस्य चक्रिणः । मागधः स्तुतिपाठकः । अजनि अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् ॥६६॥ द्वीपेति । विनम्रमुकुटः विनम्रं विनमनशीलं मुकुटं[5] यस्य सः । 'नम्कम्प–' इत्यादिना शीलार्थे र-प्रत्ययः । मदमानवर्जितः मदमानाभ्यां मदाग्रहगर्वाभ्यां वर्जितो रहितः । वरतनुः वरतनुनामा अमरः । द्वीपसिन्धुविविधाकरोद्भवैः द्वीपेषु अन्तरीपेषु[6] सिन्धौ समुद्रे विद्यमानेषु [विविधेषु] नानाप्रकारेषु आकरेषु खनिस्थानेषु उद्भवैः उत्पन्नैः । मनोहरैः मनोरमैः । प्राभृतैः उपायनैः । तं चक्रिणम् । कुटुम्बिवत् करदीकृतकृषीवलवत्[7] । पर्युपास्त असेवत । आसि उपवेशने लङ् ॥६७। प्रागिति । असौ अयं चक्री । [8]प्रागपाग्वरुणदिग्व्यवस्थितान् प्राक् पूर्वा सा च अपाग् दक्षिणा सा च वरुणा पश्चिमा सा च तथोक्ताः ताश्च ता दिशश्च तथोक्ताः, प्रागपाग्वरुणदिक्षु व्यवस्थिताः प्रवृत्ताः, तान् । नृपखेचरामरान् नृपान् भूमिपान् खेचरान् विद्याधरान् देवान् । आनमय्य आनमनं पूर्वं० । व्योमसंचरणगर्वितान् व्योम्नि गगने संचरणेन गमनेन गर्वितान् । विजयार्धवासिनः विजयार्धे विजयार्धपर्वते वासिनो वसन्तीत्येवंशीलान् । निर्जिगाय जयति स्म । जि ज्री अभिभवे लिट् ।

ज्यों ही वह समुद्र तटपर पहुँचा त्यों ही अपने सिंहासनके हिलनेसे प्रभास नामक देव यह समझ गया कि चक्रवर्ती अजितसेन यहाँ आया हुआ है । फिर उसने दोनों हाथ जोड़ते हुए दिव्य रत्नोंका उपहार देकर चक्रवर्तीका सत्कार किया ॥ ६५ ॥ मागध नामका देव चक्रवर्तीके पास जाकर तथा विचित्र रत्नोंके आभूषण प्रदान करके उसकी स्तुति करता हुआ कि 'देव ! आप समृद्ध हों, आपकी जय हो, आप सारी भूमिकी रक्षा करें' पूरा मागध (स्तुति पाठक) ही बन गया ॥ ६६ ॥ वरतनु नामक देवने आग्रह और अहङ्कार छोड़कर अपने मुकुटको नवाते हुए द्वीप, समुद्र और नाना खानोंसे उत्पन्न सुन्दर उपहार देकर चक्रवर्ती अजितसेनकी कुटुम्बके एक सदस्यकी भाँति उपासना की ॥ ६७ ॥ अजितसेनने पहले पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशाओंके निवासी राजों-महाराजों, विद्याधरों और देवोंको नमाया फिर आकाशगमनका गर्व

१. म °रपूजयत् । २. आ इ प्रागप्राग्व° । ३. =कम्पितमित्यर्थः । ४. =संनिकृष्टम् । ५. आ मकुटं । ६. आ अन्तर्द्वीपेषु । ७. = 'कुटुम्बी कर्षकः क्षेत्री हली कृषिककार्षकौ । कृषीवलोऽपि' इति हैमः । ८. श प्रागवाग्व° ।

शक्तिभिस्तिसृभिरन्वितोऽभवद्यः समस्तविजयस्य भाजनम् ।
तस्य कः खलु जितांशुमद्द्युतेर्विस्मयोऽत्र विजयार्धसाधने ॥ ६९ ॥
साधयन्विविधरत्नमण्डितां मेदिनीमधरितारिविक्रमः ।
वर्धमानविभवोऽनुवासरं सोऽभवत्सकललोकवत्सलः ॥ ७० ॥
प्रत्यहं द्विगुणषोडशावनीमुख्यपार्थिवसहस्रमूर्धसु ।
तस्य संसदि गतस्य चक्रिरे वासचूर्णरुचिमङ्घ्रिरेणवः ॥ ७१ ॥
पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणा सोऽजनिष्ट भुवनातिवर्तिना ।
षण्णवत्यचिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्रमुखपद्मषट्पदः ॥ ७२ ॥

'जे लिट् सनि' इति द्विर्भावे पूर्वस्मात्परस्य गी-इत्यादेशः । अवसरः (?) ॥६८॥ शक्तिभिरिति । यः चक्री । तिसृभिः त्रिसंख्याभिः । शक्तिभिः प्रभूत्साहमन्त्रशक्तिभिः । अन्वितः युक्तः । समस्तविजयस्य समस्तानां सर्वेषां विजयस्य । भाजनं स्वामिस्थानं च । अभवत् अभूत् । जितांशुमद्द्युतेः जिता अंशुमद्द्युतिर्यस्य[1] तस्य । तस्य चक्रिणः । अत्र अस्मिन् । विजयार्धसाधने समस्तदेवाधिपतेः तस्य विजयार्धपर्वतस्थितविद्याधर (स्य) साधने देशार्धसाधने वा । को विस्मयः, विस्मयो नास्तीत्यर्थः । सर्वविजयभाजनस्य चक्रिणो विजयार्ध इत्युक्ते अर्धे विजयो यावत् (तावत्) तस्य साधने को विस्मयः, इति ध्वनिः ॥६९॥ साधयन्निति । अधरितारिविक्रमः अधरितो निराकृतोऽरीणां विक्रमो येन सः । सकललोकवत्सलः सकले लोके जने वत्सलः प्रीतियुक्तः । सः चक्री । विविधरत्नमण्डितां विविधैर्नानाविधै रत्नै र्मण्डितामलंकृताम् । मेदिनीं भूमिम् । साधयन्[2] निष्पादयन् । अनुवासरं प्रतिदिनम् । वर्धमानविभवः वर्धमान एधमानो विभवः संपद् यस्य सः । अभवत् अभूत् ॥७०॥ प्रत्यहमिति । संसदि सभायाम् । गतस्य यातस्य । तस्य चक्रिणः । अङ्घ्रिरेणवः अङ्घ्र्यो रेणवो रजांसि । द्विगुणषोडशावनीमुख्यपार्थिवसहस्रमूर्धसु द्वौ गुणौ येषां ते (तेषां) द्विगुणानां षोडशानामवन्या मुख्यानां श्रेष्ठानां पार्थिवानां भूपानां सहस्रस्य मूर्धसु मस्तकेषु–द्वात्रिंशत्सहस्रमकुटबद्धानां मस्तकेष्वित्यर्थः । प्रत्यहं प्रतिदिनम् । वासचूर्णरुचिं वासचूर्णस्य पटवासचूर्णस्य रुचिं शोभाम् । चक्रिरे विदधुः । डुकृञ् करणे लिट् । उत्प्रेक्षा (?) ॥७१॥ पूर्वेति । सः चक्री । भुवनातिवर्तिना[3] । भुवनं लोकमतिवर्तिना अतिक्रम्य वर्तमानेन । पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणा पूर्वस्मिन् जन्मनि प्राग्भवे कृतेन विहितेन पुण्यकर्मणा शुभकर्मणा 卐 षण्णवत्यचिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्रमुखपद्मषट्पदः अचिरं रोचिर्यस्याः सा अचिररोचिर्विद्युन्माला सैवोज्ज्वलाः स्त्रियो वनितास्तासां सहस्रं तथोक्तं षड्भिरधिका नवतिः तथोक्ता षण्णवतिवारान[4]— 卐चिररोचिरुज्ज्वलस्त्रीसहस्रं तस्य मुखान्येव पद्मानि कमलानि तेषां षट्पदो भ्रमरः ।

करनेवाले विजयार्द्ध पर्वतके वासियोंको परास्त किया ॥ ६८ ॥ चक्रवर्ती अजितसेन प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति, इन तीन शक्तियोंसे युक्त है, सूर्यसे कहीं अधिक तेजस्वी है और उसमें पूरे भरतक्षेत्रके—जिसके छः खण्ड हैं—विजयकी पूर्ण क्षमता है। अतः उसके विजयार्द्ध विजयसे क्या आश्चर्य ? ॥ ६९ ॥ नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित भूमि (रत्नगर्भा वसुन्धरा) को अपने वशमें करके चक्रवर्तीने शत्रुओंके पराक्रमको हेठा–नीचा कर दिया। उसका वैभव दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा था और उसका वात्सल्य भी सभी लोगोंसे हो गया ॥७०॥ अजितसेन प्रतिदिन जब सभा में जाता था तब उसके चरणोंकी धूलि बत्तीस हजार प्रमुख राजाओंके मस्तकपर सुगन्धित चूर्णकी शोभाको प्राप्त कर रही थी ॥ ७१ ॥ चक्रवर्ती अजितसेन पूर्व संचित लोकातिशायी पुण्यकर्मके निमित्तसे छियानवे हजार बिजुलीके समान

१. = येन । २. = वशीकुर्वन् । ३. = लोकमतिवर्तत इति लोकातिवर्ती, तेन । लोकातिशायिना इत्यर्थः । ४. आ प्रतौ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते ।

तस्य मन्थरचतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिदानकर्दमैः ।
मन्दिराङ्गणमभूदनारतं दुष्प्रलङ्घ्यमघनागमेष्वपि ॥ ७३ ॥
तस्य मारुतविलोलमूर्तिभिर्द्विर्नवोत्तमतुरङ्गकोटिभिः ।
क्षुभ्यति स्म परितश्चमूचयो वीचिपङ्क्तिभिरिवापगापतिः ॥ ७४ ॥
शुद्धकुन्ददलरोचिषां गवामाचितास्तिसृभिरस्य कोटिभिः ।
रेजिरे गहनभूमयो दिशः शारदीभिरिव मेघपङ्क्तिभिः ॥ ७५ ॥
तस्य वारिनिधिवारिमेखला मेदिनी मदनसंनिभाकृतेः ।
सस्यसंपदमसूत वाञ्छितामेकसंख्यहलकोटिवाहिता ॥ ७६ ॥

रूपकम् । अजनिष्ट अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् ॥७२॥ तस्येति । तस्य चक्रिणः । मन्दिराङ्गणं मन्दिरस्य गृहस्याङ्गणम् । मन्थरचतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिदानकर्दमैः चतुष्टयेनाधिकाशीतिः, चतुष्टयाधिकाशीतिवारान् लक्षाणि येषां ते च ते करिणश्च तथोक्ताः, मन्थरा मन्दगमनाः ते च ते चतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिणश्च तथोक्ताः तेषां दानं मदजलं तस्माज्जात (तैः) कर्दमैः पङ्कैः । अघनागमेष्वपि ग्रीष्मकालेष्वपि । अनारतम् अनवरतम् । दुष्प्रलङ्घ्यं लङ्घितुमशक्यम् । अभूत् अभवत् ।७३॥ तस्येति । तस्य चक्रिणः । चमूचयः चम्वाः सेनायाश्चयः समूहः । मारुतविलोलमूर्तिभिः मारुत इव वायुरिव विलोला चञ्चला मूर्तिः शरीरं यासां ताभिः । द्विर्नवोत्तमतुरङ्गकोटिभिः द्वौ वारौ नव द्विर्नव उत्तमाश्च ते तुरङ्गाश्च तथोक्ताः, उत्तमतुरङ्गाणां कोटयस्तथोक्ताः द्विर्नव च ता उत्तमतुरङ्गकोटयश्च ताभिः । वीचिपङ्क्तिभिः वीचीनां तरङ्गाणां पङ्क्तिभिः समूहैः । आपगापतिः समुद्रः । स इव । सर्वतः परितः । क्षुभ्यति स्म चुक्षोभ । क्षुभि संचलने लट् । उत्प्रेक्षा ॥७४॥ शुद्धेति । शुद्धकुन्ददलरोचिषां शुद्धानां निर्मलानां कुन्ददलानां[1] कुन्दपुष्पाणां रोचिरिव रोचिः कान्तिर्यासां तासाम् । गवां धेनूनाम् । तिसृभिः कोटिभिः, आचिताः व्याप्ताः । अस्य चक्रिणः । गहनभूमयः गहनस्य काननस्य भूमयः प्रदेशाः । शारदीभिः शरत्कालसंबन्धिनीभिः । मेघपङ्क्तिभिः मेघानां जलदानां पङ्क्तिभिः समूहैः । दिशः ककुभ इव । रेजिरे राजन्ति स्म । राजृ दीप्तौ लिट् ॥७५॥ तस्येति । मदनसंनिभाकृतेः मदनस्य मन्मथस्य संनिभा[2] आकृतिराकारो यस्य तस्य । उपमा । तस्य चक्रिणः । एकसंख्यहलकोटिवाहिता एका संख्या येषां ते तथोक्ताः, एकसंख्यानां हलानां लाङ्गलानां कोटया वाहिता कृषिता, एककोटिप्रमितहला—इत्यर्थः । वारिनिधिवारिमेखला वारिनिधेः समुद्रस्य वार्येव जलमेव मेखला काञ्चिः[3] यस्याः सा समुद्रमर्यादा—इत्यर्थः । रूपकम् । मेदिनी भूमिः ।

उज्ज्वल, सुन्दर स्त्रियोंके मुखकमलोंका रस लेनेके लिए साक्षात् भ्रमर बन गया ॥ ७२ ॥ अजितसेनके यहाँ मन्द गतिसे चलने वाले चौरासी लाख हाथी थे। उनके मदजलसे राजप्रासादके आँगनमें वर्षा ऋतुके बिना भी सदा इतनी अधिक कीच मची रहती थी कि लोगोंको वहाँसे निकलना ही कठिन हो गया ॥ ७३ ॥ चक्रवर्तीके यहाँ वायुकी गतिसे चलनेवाले और वायुके समान चञ्चल अठारह करोड़ घोड़े थे। उनके रहनेसे उसकी विशाल सेना चारों लहराते हुए क्षुब्ध समुद्रोंकी भाँति दृष्टिगोचर होती थी। सेना समुद्रकी तरह अपार थी और घोड़े उत्ताल तरङ्गों सरीखे – सदा उछल-कूद मचाने वाले ॥ ७४ ॥ उसके यहाँ तीन करोड़ गायें थीं। वे निर्मल कुन्दपुष्पके समान धौले रंग की थीं। उनसे व्याप्त चरागाहोंकी भूमियाँ, शरत्कालीन मेघोंसे घिरी हुई दिशाओंकी भाँति सुशोभित होती थीं ॥ ७५ ॥ वह कामदेवके समान सुन्दर था – उसका आकार कामदेवसे बिल्कुल मिलता-जुलता था। उसके राज्य की सीमा समुद्र पर्यन्त थी—उसके राज्यकी भूमि समुद्रसे घिरी हुई थी। उसकी उपजाऊ जमीन,

१. श कुन्दानां । २. =समाना । ३. =काञ्ची ।

सैन्यनाट्यनिधिरत्नभोजनान्यासनं शयनभाजने[2] पुरम् ।
वाहनेन सममित्यभीप्सितं भोगमाप स दशाङ्गमीश्वरः ॥ ७७ ॥
सोऽधिगम्य वसुधाविशेषकः षोडशामरसहस्रसेव्यताम् ।
नाकनायक इव स्वतेजसा दुःसहेन वितताम रोदसीम्[3] ॥७८॥
संकुलं नरनभश्चरामरैराकरैश्च बहुरत्नयोनिभिः ।
म्लेच्छखण्डसहितं स संमितैरार्यखण्डमनयद्वशं दिनैः ॥ ७९ ॥
षट्खण्डमण्डितमखण्डमिति[4] प्रचण्डकोदण्डखण्डितरिपुर्भरतं[5] प्रसाध्य ।
प्रत्याजगाम जगतीतिलकः स [6]सम्राडुत्कण्ठमाननिजबन्धुजनामयोध्याम् ॥ ८० ॥

वाञ्छितां समीहिताम् । सस्यसम्पदं सस्यसंपत्तिम् । असूत उदपादयत् । षूङ्[8] प्राणिगर्भविमोचने लङ् ॥७६॥ सैन्येति । ईश्वरः प्रभुः । सः चक्री । सैन्यनाट्यनिधिरत्नभोजनानि सैन्यं सेना तच्च नाट्यं नर्तनं तच्च निधिश्च रत्नानि जीवाजीवभेदानि तानि च भोजनं जेमनं[9] तच्च तथोक्तानि। आसनं सिंहासनम् । शयनभाजने शयनं च भाजने च तथोक्ते । वाहनेन समं यानेन साकम् । पुरमिति पुरोति । अभीप्सितं वाञ्छितम् । दशाङ्गं दश अङ्गान्यवयवा यस्येति दशाङ्गस्तम् । भोगम्, आप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥७७॥ स इति । वसुधाविशेषकः वसुधाया वसुन्धराया विशेषकस्तिलकः । सः चक्री । षोडशामरसहस्रसेव्यतां षोडश्यः [षोडश] अमराणां[10] गणबद्धदेवानां सहस्रेण[11] सेव्यतामाराध्यताम् । अधिगम्य लब्ध्वा । दुःसहेन सोढुमशक्येन । स्वतेजसा स्वस्य तेजसा प्रतापेन । नाकनायक इव नाकस्य स्वर्गस्य नायक इव देवेन्द्र इव । रोदसीं भूम्याकाशे । 'एकयोक्त्या द्यावाभूमी रोदस्यौ रोदसी तथा[12]' इत्यभिधानात् । वितताम विस्तारयति स्म । तनूञ् विस्तारे लिट् । उपमा ॥७८॥ संकुलमिति । सः चक्री । नरनभश्चरामरैः नरैर्मनुष्यैर्नभश्चरै विद्याधरैरमरै देवैश्च । बहुरत्नयोनिभिः बहूनां बहुलानां रत्नानां योनिभिरुत्पत्तिकारणैः । आकरैश्च खनिस्थानैश्च । संकुलं संकीर्णम् । म्लेच्छखण्डसहितं म्लेच्छानां खण्डैर्भागैः । सहितं युक्तम् । आर्यखण्डम् आर्याणां पूज्यपुरुषाणां खण्डम् । संमितैः अल्पैरित्यर्थः । दिनैः दिवसैः । वशं स्वाधीनम् अनयत्[13] प्रापयत । णीञ् प्रापणे लङ् । सहोक्तिः (?) ॥७९॥ षट्खण्डेति । प्रचण्डकोदण्डखण्डितरिपुः प्रचण्डेन समर्थेन कोदण्डेन चापेन खण्डिता निरस्ता रिपवः शत्रवो यस्य[14] सः । जगतीतिलकः जगत्या लोकस्य तिलकः श्रेष्ठः । सः सम्राट् अजितसेनचक्री । षट्खण्डमण्डितं षट्खण्डैः षड्भागैः मण्डितमलंकृतम् । अखण्डं संपूर्णम् । भरतं भरतक्षेत्रम् । इति उक्तप्रकारेण । प्रसाध्य

जो एक करोड़ हलोंसे जोती जाती थी, इच्छित खाद्य सम्पत्ति उत्पन्न करती थी ॥ ७६ ॥ सारी प्रजा उसे अपना ईश्वर समझती थी । उसके पास सेना, नाट्य, निधि, रत्न, भोजन, आसन, सेज, पात्र, पुर और वाहन ये दस प्रकारके इच्छित भोग थे ॥ ७७ ॥ वह पृथ्वीका तिलक था । सोलह हजार देव उसकी सेवामें उपस्थित रहा करते थे । उसने इन्द्रके समान अपने असंख्य तेजसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर दिया था ॥ ७८ ॥ उसने थोड़े ही दिनोंमें आर्यखण्डको—जो मनुष्य, विद्याधर, देव और नाना प्रकारके रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली खानोंसे व्याप्त था—म्लेच्छखण्ड सहित जीत लिया—पाँच म्लेच्छखण्ड और एक आर्यखण्ड–इस तरह छः खण्डवाले भरतक्षेत्रको अजितसेन चक्रवर्तीने अपने अधीन कर लिया ॥ ७९ ॥ सम्राट्का पराक्रम अप्रतिहत था । उसने अपने भयङ्कर धनुषसे शत्रुओंके छक्के छुड़ा दिये थे ।

१. अ आ इ °रत्नभाजना° । २. अ आ इ शयनभोजने । ३. क ख ग घ म रोदसी । ४. अ क ख ग घ म °मखण्डबलः । ५. अ °रिपुनितरां । ६. आ इ °डुत्कण्ट° । ७. अ °बन्धुरता° । ८. श षूङो । ९. = 'भोजनं जेमनादने' इति हैमः । १०. श षोडशैरमराणां । ११. श प्रतौ 'सहस्रेण' इति नोपलभ्यते । १२. आ रोधस्यौ रोधसी तथा । १३. = षट्खण्डमण्डितामखिलां भरतक्षेत्रमहीमल्पीयसा कालेन जिगायेत्यर्थः । १४. = येन ।

तस्यां वणिक्पथकृताधिकसत्क्रियायां[1] द्वारप्रदेशविनिवेशिततोरणायाम् ।
तं कामकल्पवपुषं प्रविशन्तमुच्चैश्चुक्षोभ वीक्ष्य निवहः पुरसुन्दरीणाम् ॥ ८१ ॥
प्रावेशिकानकनिनादविबोधितस्य भूपालमार्गमभिधावनतत्परस्य ।
योषिद्गणस्य गुणवानपि संबभूव श्रोण्या सहानभिमतः कुचकुम्भभारः ॥ ८२ ॥
तद्रूपलोकनविलोभितलोचनायाः कस्याश्चिदुद्ग्रथितनीवि नितम्बबिम्बे ।
संसक्तमिन्दुरुचिरं दधदन्तरीयं स्वेदाम्बु बुद्धिमदिव स्खलितं ररक्ष ॥ ८३ ॥

स्रावयित्वा । उत्कण्ठमाननिजबन्धुजनां निजस्य स्वस्य बन्धव एव जनाः, उत्कण्ठमाना द्रष्टुमीहमाना निजबन्धुजना यस्याः[2] ताम् । अयोध्यां विनीतापुरीम् । प्रत्याजगाम प्रत्याययौ । गम्लृ गतौ लिट् । रूपकम् (?) ॥८०॥ तस्यामिति । वणिक्पथकृताधिकसत्क्रियायां (संस्क्रियायां) वणिक्पथे विपण्यां कृता विहिता अधिका बह्वी सत्क्रिया (संस्क्रिया) यस्यां तस्याम् । द्वारप्रदेशविनिवेशिततोरणायां द्वारप्रदेशे विनिवेशिताः स्थापितास्तोरणा यस्याः[3] तस्याम् । तस्याम् अयोध्यायाम् । प्रविशन्तं[4] गच्छन्तम् (प्रवेशं कुर्वन्तम्)। कामकल्पवपुषं कामस्य मन्मथस्य कल्पं समानं वपुः शरीरं यस्य तम् । तं चक्रिणम् । पुरसुन्दरीणां पुरे पुर्यां विद्यमानसुन्दरीणां स्त्रीणाम् । निवहः समूहः । वीक्ष्य दृष्ट्वा । उच्चैः अधिकम् । चुक्षोभ संचलित स्म । क्षुभि संचलने लिट् । उपमा ॥८१॥ प्रावेशिकेति[5] । प्रावेशिकानकनिनादविबोधितस्य प्रावेशिके प्रवेशकाले ताडितानामानकानां भेरीणां निनादैर्ध्वनिभिर्विबोधितस्य ज्ञापितस्य । भूपालमार्गं भूपालस्य राज्ञो मार्गं वीथीम् । अभिधावनतत्परस्य अभिधावनेऽभिमुखं धावने तत्परस्य[6] प्रीतस्य । योषिद्गणस्य योषितां स्त्रीणां गणस्य समूहस्य । कुचकुम्भभारः कुचावेव कुम्भौ तयोर्भारः । गुणवानपि कठिनस्पर्शनादिगुणयुक्तोऽपि[7] । श्रोण्या नितम्बेन । सह साकम् । अनभिमतः अनिष्टः । संबभूव संभवति स्म । भू सत्तायां लिट् । रूपकम् (?) ॥८२॥ तद्रूपेति । तद्रूपलोकनविलोभितलोचनायाः तस्य चक्रिणो रूपस्य विलोकने दर्शने विलोभिते मोहिते लोचने यस्यास्तस्याः । कस्याश्चित् वनितायाः । नितम्बबिम्बे नितम्बप्रदेशे । उद्ग्रथितनीवि उद्ग्रथिता शिथिलिता नीवी यस्य तत् । इन्दुरुचिरम् इन्दुरिव चन्द्र इव रुचिरं मनोहरम् । उपमा । अन्तरीयम् उपसंव्यानवस्त्रम्[8] । संसक्तं संबद्धम् । दधत् धरत् । स्वेदाम्बु स्वेदस्य घर्मस्याम्बु जलम् । बुद्धिमदिव बुद्धियुक्तमिव । स्खलितं[9] प्रमादम् । ररक्ष पालयति स्म । रक्ष पालने लिट् । उत्प्रेक्षा

वह पृथ्वीका तिलक था—उससे पृथ्वीकी शोभा थी । वह छः खण्डवाले भरत क्षेत्रको जीतकर अयोध्या लौट आया, जहाँ बन्धुजन उससे मिलनेके लिए उत्सुक थे ॥ ८० ॥ उस नगरीके बाजारोंमें खूब सजावट की गई और दरवाजोंके ऊपर तोरण (राजस्थानमें अभी भी इस शब्दका प्रयोग होता है) स्थापित किये गये । कामदेव सरीखे सुन्दर अजितसेनको नगरीमें प्रवेश करते देख वहाँका स्त्रीवर्ग उतावला हो उठा ॥ ८१ ॥ प्रवेशके शुभ अवसरपर बजनेवाले नगाड़ोंके शब्दसे चक्रवर्तीको सड़कपर आया हुआ जानकर स्त्रीवर्ग उसी ओर दौड़नेको तत्पर हो गया । इस अवसरपर उसे अपने स्तन और नितम्ब अप्रिय हो गये, यद्यपि दोनों गुणवान् थे—स्तनोंमें कठोरता और नितम्बोंमें गुरुता थी ॥ ८२ ॥ किसी सुन्दरीके नेत्र अजितसेनके रूपको देखकर उसीमें लुभा गये । गाँठ ढीली पड़ जानेसे उसका अधोवस्त्र—जो चन्द्रमाकी आकृतिकी बूटियोंसे सुन्दर था – कमरसे नीचेकी ओर खिसकने लगा, पर पसीनेके जलने उसे नितम्बपर

१. अ आ इ °धिकसंस्क्रियायां । २. = यस्यां । ३. = यस्यां । ४. प्रवेशं कुर्वन्तम् । ५. आ प्रावेति श प्रेति । ६. = प्रवणस्य । ७. सद्गुणसमेतोऽपीति ध्वनिः । ८. = अधोवस्त्रम् । ९. = तत्पतनं ।

काचिद्विहाय गृहभित्तिगतं विचित्रं चित्रं गवाक्षवदनाभरणीकृताक्षी ।
तद्रूपदर्शनसमुद्भवमन्यदेव चित्रं स्वचेतसि चकार चकोरनेत्रा ॥ ८४ ॥
कस्याश्चिदन्यजनसंकुलमार्गगाया घर्मोदबिन्दुरुचिरे कुचकुम्भमध्ये ।
जातत्रपेव परभागमनश्नुवाना तुत्रोट हारलतिका लतिकाकृशाङ्ग्याः[1] ॥ ८५ ॥
आर्द्रार्द्रदत्तनवयावकमण्डनेन काचिद्विकासिरुचिराधरपल्लवेन ।
तद्रूपदर्शनसमुत्थममान्तमङ्गे[2] बभ्राम रागमतिरिक्तमिवोद्गिरन्ती ॥ ८६ ॥

॥८३॥ काचिदिति । गृहभित्तिगतं गृहस्य सदनस्य भित्तिं गच्छतिस्म गृहभित्तिगतम्—कुड्यगतम् । विचित्रं[3] नानाविधम् । चित्रं[4] रचनाम् । विहाय त्यक्त्वा । गवाक्षवदनाभरणीकृताक्षी गवाक्षस्य वातायनस्य मुखस्य[5] आभरणीकृते[6] अलंकारविहिते अक्षिणी नयने यस्याः[7] सा । चकोरनेत्रा चकोर इव नेत्रे यस्याः सा । उपमा । काचित् कापि स्त्री । तद्रूपदर्शनसमुद्भवं तस्य चक्रिणो रूपस्य दर्शने वीक्षणे[8] समुद्भवं संजातम् । अन्यदेव भिन्नमेव । चित्रं[9] रचनाम् विस्मयं च । स्वचेतसि स्वचित्ते । चकार करोति स्म । डुकृञ् करणे लिट् ॥८४॥ कस्या इति । अन्यजनसंकुलमार्गगायाः अन्यैः शेषैर्जनैः संकुलं संकीर्णं मार्गं पन्थानं गच्छतीत्यन्यजनसंकुलमार्गगा तस्याः । लतिकाकृशाङ्ग्याः लतिकेव कृशमङ्गं यस्यास्तस्याः । 'असहनञ्—'इत्यादिना ङी । कस्याश्चित् एकस्या नार्याः । घर्मोदबिन्दुरुचिरे घर्मोदस्य स्वेदोदकस्य बिन्दुभी रुचिरे मनोहरे । कुचकुम्भमध्ये कुचावेव कुम्भौ तयोर्मध्ये मध्यप्रदेशे । परभागं शोभाम् । 'भागो रूपार्धके प्रोक्तो भागधेयैकदेशयोः ।' 'परः स्यादुत्तमानात्मवैरिदूरेषु केवलः ।' इत्युभयत्रापि विश्वः । अनश्नुवाना अलभमाना । हारलतिका हार एव लतिका । रूपकम् । जातत्रपेव जातलज्जेव । तुत्रोट भनक्ति स्म । त्रुटति स्म । त्रुट छेदने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥८५॥ आर्द्रेति । काचित् एका वनिता[10] । आर्द्रार्द्रदत्तनवयावकमण्डनेन आर्द्रमार्द्रं दत्तं लिप्तं नवं नूतनं यावकमण्डनं यस्य[11] तेन । विकासिरुचिराधरपल्लवेन अधर एव ओष्ठ एव पल्लवस्तथोक्तः, विकासिना रुचिरेणाधरपल्लवेन । तद्रूपदर्शनसमुत्थं तस्य चक्रिणो रूपदर्शनेन समुत्थमुत्पन्नम् । अङ्गे शरीरे । अमान्तम् असंमितम् । अतिरिक्तम् अतिक्रान्तम् । रागमिव अनुरागमिव[12] । उद्गिरन्तीव उद्वमन्तीव । बभ्राम चचाल ।

ही रोककर एक बुद्धिमान् पुरुष की भाँति पतनसे बचा लिया ॥ ८३ ॥ एक चकोराक्षी नायिका अपने घरकी दीवारपर एक आश्चर्यकारी सुन्दर चित्र बना रही थी, उसे छोड़कर वह खिड़कीके पास जाकर खड़ी हो गई । उनके नेत्रोंसे खिड़कीकी शोभा बढ़ गई । चक्रवर्तीको देखते ही उसके मनमें दूसरा ही चित्र आ गया । और दीवारके चित्रसे मनका चित्र कहीं सुन्दर है, यह सोचकर उसके मनमें चित्र (आश्चर्य) भी उत्पन्न हो गया ॥ ८४ ॥ अजितसेनके दर्शनोंके लिए छरहरे बदनकी कोई युवती बहुत ही भीड़भरे रास्तेसे चली जा रही थी । जाते-जाते वह पसीनेसे सराबोर हो गई । पसीनेकी बिन्दुओंसे स्तनकलशोंका मध्यभाग बहुत ही सुन्दर प्रतीत होने लगा । वहींपर एक लड़ीका हार भी लटक रहा था, पर पसीनेकी बिन्दुओंकी सुषमाके सामने उसकी सुषमा फीकी पड़ गई, मानो इसी कारणसे वह लज्जित होकर सहसा टूट गया ॥ ८५ ॥ शीघ्रतावश एक नायिका पैरोंमें लगाने योग्य महावरको अपने सुन्दर होठपर लगाकर अजितसेनको देखनेके लिए चल पड़ी । अजितसेनको देखते समय भी उसके होठपर लगा हुआ महावर गीला था और नीचेकी ओर फैलता जा रहा था । अतएव ऐसा जान पड़ता था मानो उसके देखनेसे उत्पन्न हुए रागको – जो उसके शरीरमें समा

१. अ क ख ग घ म सहसा कृशा° । २. अ क ख ग घ म °मान्तमन्त° । ३. = विलक्षणम् । ४. = चित्ररचनाम् । ५. = ऊर्ध्वभागस्येत्यर्थः । ६. = मण्डनीकृते । ७. = यया । ८. = दर्शनाद् वीक्षणात् । ९. = आलेख्य-रचनां । १०. श 'एका वनिता' इति नास्ति । ११. = यत्र । १२. = रागम् अनुरागम् ।

अन्योन्यसंहृतकराङ्गुलिबाहुयुग्ममन्या निधाय निजमूर्धनि जृम्भमाणा ।
तद्दर्शनात्प्रविशतो हृदये स्मरस्य माङ्गल्यतोरणमिवोत्क्षिपती रराज ॥ ८७ ॥
संभावितैकनयना रुचिराञ्जनेन तद्रिक्तमेव दधतीक्षणमन्यदन्या ।
लोकस्य सस्मितविलोकनकारिणोऽर्धनारीश्वरस्मरणकारणतां जगाम ॥८८॥
वस्त्रं गलद्विगतनीवितया दधाना रोमोद्गमोपचयगाढतया रुजन्ती ।
विस्रस्तकेशनियमाकुलिताग्रपाणेर्द्वेष्या प्रिया च समभूद्रशना परस्याः ॥ ८९ ॥

भ्रमु चलने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥८६ ॥ अन्योन्येति । अन्योन्यसंहृतकराङ्गुलिबाहुयुग्मम् अन्योन्यं संहृताः संयुक्ता कराङ्गुलयो यस्य तद् बाह्वोर्भुजयोर्युग्मं,[1] अन्योन्यसंहितं कराङ्गुलिबाहुयुग्मं यस्मिन् तत् । निजमूर्धनि स्वमस्तके । निधाय संस्थाप्य । जृम्भमाणा गात्रविनामं कुर्वन्ती[2] । अन्या एका स्त्री । तद्दर्शनात् तस्य चक्रिणो दर्शनात् । हृदये चित्ते । प्रविशतः अन्तर्गच्छतः । स्मरस्य मारस्य । माङ्गल्यतोरणं माङ्गल्याय मङ्गलनिमित्तं वर्तमानं तोरणं वन्दनमालाम् । उत्क्षिपतीव नयन्तीव । रराज बभौ । राजृ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥८७॥ संभावीति । रुचिराञ्जनेन रुचिरेण मनोहरेणाञ्जनेन नेत्राञ्जनेन । संभावितैकनयना संभावितं सत्कृतम्[3] एकं नयनं यस्याः सा । तद्रिक्तमेव तेनाञ्जनेन रिक्तमेव[4] । अन्यत् एकम्[5] । दधती धरन्ती । अन्या एका नारी । सस्मितविलोकनकारिणः सस्मितमीषद्धसनसहितं विलोकनकारिणो दर्शनकारिणः[6] लोकस्य जनस्य । अर्धनारीश्वरस्मरणकारणताम् अर्धनारेः अर्धं नारीरूपयुक्तस्य ईश्वरस्य स्मरणस्य कारणतां हेतुत्वम् । जगाम ययौ । गम्लृ गतौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥८८॥ वस्त्रमिति । विधृतनीवितया [विगतनीवितया] विधृतया नीवितया (विगता विस्रस्ता नीविर्वस्त्रग्रन्थिस्तस्या भावस्तया) । गलत् पतत् । वस्त्रं वसनम् । दधाना धरन्ती । रोमोद्गमोपचयगाढतया रोम्णां तनूरुहाणामुद्गमस्य (मेन) गाढतया दृढतया । रुजन्ती तुदन्ती । रशना काञ्ची । विस्रस्तकेशनियमाकुलिताग्रपाणिः (णेः) विस्रस्तानां शिथिलितानां केशानां मूर्धजानां नियमे बन्धने आकुलितो व्यापारितोऽग्रपाणि र्यस्याः सा (यया सा तस्याः) । अपरस्याः अन्यस्याः । द्वेष्या कोपनीया (द्वेषविषया, अप्रिया—इत्यर्थः) । प्रिया च (तद्विपरीता च) । समभूत्

नहीं रहा था—बाहर निकाल रही हो ॥ ८६ ॥ कोई स्त्री अंगुलियोंमें अंगुलियाँ डालकर दोनों बाहुओंको सिरपर रख करके जँभाई ले रही थी । अतएव ऐसा जान पड़ता था मानो अजितसेनको देखकर हृदयमें प्रवेश करनेवाले कामदेवके लिए वह ऊपर मङ्गल तोरण उठा रही हो । इस अवसरपर उसकी शोभा देखते ही बनती थी ॥ ८७ ॥ शीघ्रतावश एक स्त्री अपनी एक आँखमें सुन्दर अञ्जन आंज कर और दूसरीको बिना आँजे ही सम्राट्के दर्शनोंके लिए दौड़ी चली गई । उसे आश्चर्यके साथ देखनेवालोंको वह अर्धनारीश्वरका स्मरण दिलानेमें कारण बन गई—उसे देखकर दर्शकोंको अर्धनारीश्वरकी याद आ गई । अर्धनारीश्वरके वामभागमें पार्वती और दक्षिण भागमें शिवजी हैं ॥ ८८ ॥ एक युवती अपने बालोंको सँवार रही थी, पर चक्रवर्तीके आनेके समाचारको सुनकर वह बिखरे हुए बालोंको एक हाथसे पकड़कर दौड़ी चली जा रही थी । दौड़नेसे उसका वस्त्र नीचे गिरने ही वाला था, पर उसकी गाँठ करधनीमें फँसी हुई थी, इसलिए गिर नहीं सका । फलतः नायिकाको वह करधनी बड़ी प्रिय लगी । चक्रवर्तीको देखते ही उसे रोमाञ्च हो आया, जिससे करधनी कमरमें कसने लगी और उसे पीड़ा देने लगी । इसीलिए करधनी उसे द्वेष्य भी बन गई । वस्त्रको गिरनेसे

१. युगलम् । २. आ कुर्वती । ३. =संस्कृतमलंकृतं वा । ४. =अनञ्जितमेव । ५. =दक्षिणनेत्रमिति यावत् । 'सव्यं हि पूर्वं मनुष्या अञ्जते' इति वचनात् । ६. =सस्मेरं विलोकयतः—इत्यर्थः ।

कादम्बरीमद इवाशयसंप्रमोहं संस्कारनाश इव च स्मृतिविप्रमोषम् ।
कुर्वन्प्रभञ्जन इवाखिलदेहभङ्गं चिक्रीड तासु मदनो ग्रहतुल्यवृत्तिः ॥ ९० ॥
इत्थं नारीः क्षणरुचिरुचः क्षोभयन्नीतिदक्षः क्षीणक्षोभः क्षपितनिखिलारातिपक्षोऽम्बुजाक्षः ।
क्षोणीनाथो विनिहितमहामङ्गलद्रव्यशोभं प्रापत्तेजोविजिततपनो मन्दिरद्वारदेशम् ॥ ९१ ॥
प्रविश्य भवनान्तरं क्षणचतुष्कमध्यस्थितः प्रतीक्ष्य जरतीकृतं कुशलमङ्गलारोपणम् ।
नमन्नपि स पादयोर्गुरुजनस्य बद्धाञ्जलिर्बभूव भृशमुन्नतो यदिदमद्भुतादद्भुतम् ॥ ९२ ॥

समभवत् । भू सत्तायां लुङ् । शिथिलतया द्वेष्या शृङ्गारतया प्रीता — इत्यर्थः ॥८९॥ कादम्बरीति । कादम्बरीमद इव कादम्बर्या मद्येन जातमद इव उन्माद इव । आशयसंप्रमोहम् आशयस्य चित्तस्य संप्रमोहं भ्रान्तिम् (मूर्च्छां वैचित्यं वा) । संस्कारनाश इव संस्कारस्य धारणाज्ञानस्य नाश इव विनाश इव । चः समुच्चयार्थः । स्मृतिविप्रमोषं स्मृतेः स्मरणस्य विप्रमोषं भ्रंशम् । प्रभञ्जन इव वायुरिव (वातरोग इव) । अखिलदेहभङ्गम् अखिलानां सर्वेषां देहभङ्गं कम्पनम् । कुर्वन् विदधत् । मदनः कामः । ग्रहतुल्यवृत्तिः ग्रहेण भूतेन तुल्या समाना वृत्ति र्यस्य सः, सन् । तासु वनितासु । चिक्रीड विजहार । क्रीड़[1] विहारे लिट् । उपमा ॥९०॥ इत्थमिति । नीतिदक्षः नीत्यां नीतिशास्त्रे दक्षः प्रवीणः । क्षीणक्षोभः क्षीणो नष्टः क्षोभश्चित्तविक्षेपो यस्य सः । क्षपितनिखिलारातिपक्षः क्षपितो निराकृतो निखिलानां समस्तानामरातीनां पक्षो येन सः । अम्बुजाक्षः अम्बुजं[2] कमलमिवाक्षिणी यस्य सः । तेजोविजिततपनः तेजसा प्रतापेन विजितो निराकृतस्तपनः सूर्यो यस्य[3] सः । क्षोणीनाथः क्षोण्या भूम्या नाथः प्रभुः । क्षणरुचिरुचः क्षणरुचिरिव विद्युदिव रुक् कान्तिर्यासां ताः[4] । नारीः पुरवनिताः । इत्थम् अनेन प्रकारेण । क्षोभयन् विकारयन् । विनिहितमहामङ्गलद्रव्यशोभं विनिहितानां[5] महामङ्गलद्रव्याणां प्रशस्तपूर्णकुम्भादिमङ्गलवस्तूनां शोभा यत्र तम्[6] । मन्दिरद्वारदेशं मन्दिरस्य राजसदनस्य द्वारस्य देशं प्रदेशम् । प्रापत् अगमत् । आप्लृ व्याप्तौ लुङ् । 'सर्तिशास्ति—' इत्यङ्प्रत्ययः । उपमा ॥९१॥ प्रविश्येति । सः चक्री । भवनान्तरे सदनमध्ये । प्रविश्य गत्वा । क्षणचतुष्कमध्यस्थितः सन् क्षणस्योत्सवस्य चतुष्कस्य मण्डपस्य मध्ये मध्यप्रदेशे स्थितः सन् । जरतीकृतं जरत्या वृद्धया कृतं रचितम् । कुशलमङ्गलारोपणं कुशलस्य क्षेमकरणस्य मङ्गलस्यारोपणं नीराजनम्[7] प्रतीक्ष्य प्रतिपाल्य, गृहीत्वा—इत्यर्थः । बद्धाञ्जलिः सन् बद्धो रचितोऽञ्जलिर्येन सः । गुरुजनस्य शिष्टजनस्य । पादयोः

बचाया, इसलिए प्रिय, और रोमञ्चसे कसने लगी, अतः द्वेष्य ॥ ८९ ॥ चक्रवर्तीको देखकर स्त्रियोंमें काम उत्पन्न हो गया। उस (कामदेव) ने शराबके नशेके समान उनके हृदयमें बेहोशी-सी उत्पन्न कर दी, संस्कारनाशकी तरह उसने उनकी स्मृतिको नष्ट कर दिया—वे अपनी सुध-बुध खो बैठीं, वायुकी भाँति उसने उनके शरीरमें कम्पन उत्पन्न कर दिया और वह उनमें ग्रह-भूतकी तरह क्रीड़ा करने लगा ॥९०॥ सम्राट् अजितसेन नीतिनिपुण था; उसके मनमें कभी क्षोभ नहीं होता था; उसने शत्रुओंकी पार्टियाँ समाप्त कर दी थीं; उसके लोचन कमल-सरीखे थे; उसने अपने प्रतापसे सूर्यको परास्त कर दिया था, और वह समस्त पृथ्वीका स्वामी था। राजमार्गमें चलते समय देखनेवाली स्त्रियोंके मनमें उसने विकार उत्पन्न कर दिया था। धीरे-धीरे वह राजमहलके द्वार तक—जहाँ रखे गये बड़े-बड़े मंगल कलश आदि मांगलिक वस्तुओंसे शोभा बढ़ गयी थी—पहुँच गया ॥९१॥ राजमहलके अन्दर जाकर अजितसेन मंगल चौकके बीचमें बैठ गया। फिर वृद्धाओंने आरती उतारकर उसके ऊपर मांगलिक अक्षतोंका प्रक्षेप किया, जिसे उसने सादर स्वीकार किया। फिर उसने हाथ जोड़कर गुरुजनोंके चरणोंमें प्रणाम किया। चरणोंमें

१. आ क्रीड । २. = अम्बुजं कमलं तद्वदक्षिणी यस्य सः । ३. = येन । ४. आ यस्य सः । ५. = स्थापितानां । ६. श यस्य स तम् । ७. = मङ्गलाक्षतप्रक्षेपं वा ।

कृतचरणनमस्क्रियास्तदाज्ञां सह मुकुटेन शिरोभिरुद्वहन्तः ।
नृपखचरगणा यथायथं ते ययुरपरेऽह्नि रथाङ्गिना विसृष्टाः ॥ ९३ ॥
दिव्यान्दिव्याकारकान्तासहायो भोगान्भोगी निर्विशन्निर्विशङ्कः ।
राज्यं राज्यभ्रंशितारातिलोकश्चक्रे चक्री पूर्वपुण्योदयेन ॥ ९४ ॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

चरणयोः । नमन्नपि नमस्यन्नपि । भृशम् अत्यन्तम् । उन्नतः उत्तुङ्गः । बभूव भवति स्म । यदिदम् इदं कार्यम्[1] । अद्भुतात् आश्चर्यात् । अद्भुतम् आश्चर्यम् । विरोधः ।९२।। कृतेति । कृतचरणनमस्क्रियाः कृता विहिताश्चरणयोः पादयो नमस्क्रिया यैस्ते । तदाज्ञां तस्य चक्रिण आज्ञाम् । मुकुटेन मौलिना । सह साकम् । शिरोभिः मस्तकैः । उद्वहन्तः धरन्तः । ते नृपखचरगणाः नृपाणां भूपानां खचराणां[2] गणाः समूहाः । यथायथं स्वस्वस्थानम् । परेह्नि परेद्युः । रथाङ्गिना चक्रिणा । विसृष्टाः सन्तः विसर्जिताः सन्तः । ययुः प्रापुः । या प्रापणे लिट् ॥९३॥ दिव्यानीति । दिव्याकारकान्तासहायः दिव्यो मनोहर आकारो यासां ताः, ताश्च ताः कान्ताश्च, ता एव सहायो यस्य सः (तासां सहायः) । भोगी दशाङ्गभोगी । दिव्यान् मनोहरान् भोगान् । निर्विशन् अनुभवन् । निर्विषादः संक्लेशरहितः [निर्विशङ्कः निःशङ्कः] । राज्यभ्रंशितारातिलोकः राज्याद् भ्रंशितो निराकृत अरातयः शत्रवः त एव लोको यस्य सः (निराकृतोऽरातीनां शत्रूणां लोको वर्गो येन सः) । चक्री सार्वभौमः । पूर्वपुण्योदयेन पूर्वस्य जन्मान्तरसंपादितस्य पुण्यस्योदयेन । राज्यं साम्राज्यम् । चक्रे विदधे । डुकृञ् करणे लिट् । रूपकम् (?) ॥९४॥

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनो-
वल्लभाख्ये सप्तमः सर्गः ॥७॥

अवनत होता हुआ भी वह उस समय बहुत अधिक उन्नत हो रहा था, यह अत्यन्त ही आश्चर्य-जनक बात हुई ॥९२॥ इस शुभ अवसरपर जो राजे-महाराजे और विद्याधर लोग सामूहिक रूपमें अजितसेनके यहाँ पधारे थे, वे एक दिन ठहरकर दूसरे दिन अजितसेनके चरणोंमें प्रणाम करके और उनकी आज्ञाको अपने-अपने सिरपर मुकुटके साथ धारण करके उससे बिदाई लेकर अपने-अपने घर चले गये ॥९३॥ पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मके उदयसे अत्यन्त सुन्दर छियानवै हजार सुन्दर स्त्रियाँ अजितसेनकी संगिनी बनीं, भोगनेको दिव्य भोग प्राप्त हुए, और प्रजाको सताने-वाले उद्दण्ड शत्रुओंको राज्यसे च्युत या निर्वासित कर देनेसे वह शंकाओंसे मुक्त हुआ । इस तरह भीतरी और बाहरी परिस्थितिकी अनुकूलतामें वह राज्यका संचालन करने लगा ॥९४॥

इस तरह श्री वीरनन्दीकृत उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें
सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥७॥

---

१. श शौर्यम् । २. = विद्याधराणां ।

[८. अष्टमः सर्गः]

तत्र शासति महीं जनतायास्त्रातरि क्रमसरोजनतायाः ।
मोदयन्मधुरभून्मधुपानां संततिं [1]कृतगलन्मधुपानाम् ॥ १

संहतिं नवनवाङ्कुरलीनां नेक्षितुं तरुषु शेकुरलीनाम् ।
साश्रुभिर्विरहिणो रमणीयैर्लोचनैरपहृता रमणी यैः ॥ २ ॥

अस्मरत्पतति चम्पकरेणौ वल्लभां कुसुमचापकरेणौ ।
अध्वगो विधुरधीरमराणां कामिनीमिव मनोरमराणाम् ॥ ३ ॥

सद्दृष्टिबोधचरितात्मकधर्मनाथः श्रीधर्मनाथजिनपो जगदेकनाथः ।
धर्मामृतं त्रिजगतां सुखदं प्रवर्षन् यो धर्मशीलमखिलं सुजनं करोतु [2] ॥

तत्रेति । क्रमसरोजनतायाः क्रमौ पादौ तावेव सरोजे कमले तयोर्नता प्रणता तस्याः । जनतायाः जनसमूहस्य । 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्' इति समूहे तल्-प्रत्ययः । त्रातरि रक्षितरि । 'कृत्कामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । तत्र तस्मिन् चक्रिणि । महीं भूमिम् । शासति पालयति सति । कृतगलन्मधूपानां गलच्च तन्मधु च गलन्मधु स्रवत्पुष्परसः तस्य पानं गलन्मधुपानं कृतं गलन्मधुपानं यया सा कृतगलन्मधुपाना ताम् । मधुपानां भ्रमराणाम् । संहतिं निवहम् । मोदयन् संतोषयन् । मधुः वसन्तकालः । अभूत् लब्धावसरोऽभवत् । रूपकं यमकं (च) ।।१।। संहतिमिति । साश्रुभिः नेत्रोदकसहितैः । रमणीयैः मनोहरैः । यैः कैश्चित् । लोचनैः नयनैः । रमणी नारी । अपहृता रञ्जिता । तैः इत्यध्याहारः । तरुषु वृक्षेषु । नवनवाङ्कुरलीनां नवेषु नवेषु नूतनेषु नूतनेषु, 'वीप्सायाम्' इति द्विः, अङ्कुरेषु मुकुलेषु लीनां स्थगिताम् । अलीनां मधुकराणाम् । संहतिं समूहम् । ईक्षितुम् आलोकितुम् । विरहिणः वियोगिनः । न शेकुः समर्था न भवन्ति स्म । शक्लृ शक्तौ लिट् ।।२।। अस्मरदिति । कुसुमचापकरे कुसुममेव चापं यस्य तस्य कामस्य करे हस्ते [3] । अणौ सूक्ष्मे । चम्पकरेणौ चम्पकस्य हेमपुष्पस्य रेणौ धूल्याम् । पतति गलति सति । विधुरधीः विधुरा सदुःखा धीर्बुद्धिर्यस्य (सः) । अध्वगः पथिकः । अमराणां देवानाम् । कामिनीमिव रमणीमिव । मनोरमराणां मनोरमो राणो ध्वनिर्यस्यास्ताम् । वल्लभां वनिताम् । अस्मरत् स्मरति स्म । स्मृ चिन्तायां

चक्रवर्ती अजितसेनके शासन करनेपर सारी जनता उनके चरणोंमें झुक गयी, और वह भी बड़ी तत्परतासे उसकी रक्षा करने लगा। मानो उसके शासनसे प्रभावित होकर ऋतुराज वसन्त भी भौंरोंको सन्तुष्ट करता हुआ प्रकट हुआ। ऋतुराजने सभी प्रकारके फूलोंको विकसित कर दिया। खिले हुए फूलोंसे रस बहने लगा, और भौंरोंने उसे पीना शुरू कर दिया ।।१।। युवकोंने अपने जिन सजल सुन्दर नेत्रोंसे पहले युवतियोंका आवर्जन और मनोरंजन किया था, वे युवक विरही होकर आज वसन्तके इन दिनोंमें उन्हीं नेत्रोंसे, वृक्षोंके ऊपर नयी-नयी कलियोंमें छिपकर बैठी हुई भ्रमर-पंक्तिको न देख सके ।।२।। चम्पक वृक्षकी कामोद्दीपक सूक्ष्म परागको झड़ते देख, एक पथिकका मन बेचैन हो उठा, और उसे अपनी देवांगना-सी मधुरभाषिणी प्रियाकी

---

१. अ 'कृत' इति नोपलभ्यते । २. आ प्रतौ पद्यमिदं नास्ति । ३. = कामोत्पादके ।

विभ्रती मधुकरं कलिकालं नागकेसरतरोः कलिकालम् ।
मन्मथार्तिमकरोद्वनितानां चित्तनाथवसतावनितानाम् ॥ ४ ॥
पुष्पमम्बुरुहनाम धुनाना भृङ्गपङ्क्तिरदती मधु नाना ।
कामिनीजनमनोऽभिनदन्तः कोकिलाश्च परितोऽभिनदन्तः ॥ ५ ॥
वीक्ष्य जातमुकुलं सहकारं कामिनी प्रणयिना सह कारम् ।
पञ्चसायकशरैर्वितता न प्रीतिकारि सुरतं विततान ॥ ६ ॥
शीतलो वनभुवामनिलोऽलं स्त्रीजनं दयितधामनि लोलम् ।
उत्कयन्प्रविकसत्कमलास्यं पल्लवं प्रविदधे कमलास्यम् ॥ ७ ॥

लङ् ॥३॥ बिभ्रतीति । कलिकालं कलिरिव कलिकाल इव कालः कृष्णवर्णस्तम् । मधुकरं भ्रमरम् । बिभ्रती धरन्ती । नागकेसरतरोः पुन्नागवृक्षस्य । कलिका कोरकः । चित्तनाथवसतौ चित्तनाथस्य प्राणकान्तस्य वसतौ सदने । 'वसती रात्रिवेश्मनोः' इत्यमरः । अनितानां यन्ति स्म इताः (न इताः) अनिताः तासाम् । अयातानाम्[1] । वनितानां स्त्रीणाम् । मन्मथार्ति मन्मथस्य मदनस्यार्ति पीडाम् । अलं नितान्तम् । अकरोत् अकार्षीत् । डुकृञ् करणे । उपमा ॥४॥ पुष्पमिति । अन्तः वनमध्ये । अम्बरुहनाम अम्बरुहमिति कमलमिति नाम यस्य तत् । पुष्पं कुसुमम् । धुनाना धुनीते इति धुनाना कम्पयन्ती । नाना बहुप्रकारम् । 'नानानेकोभयार्थयोः' इत्यमरः । मधु पुष्परसम् । 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि' इत्यमरः । अदती पिबती । भृङ्गपंक्तिः भृङ्गाणां मधुकराणां पङ्क्तिः संदोहः । कामिनीजनमनः कामिन्येवजनः[2] तस्य मनश्चित्तम् । रूपकम् (?) । अभिनत्[3] भेदयति स्म । भिदृञ् विदारणे लङ्[4] । परितः समन्तात् । अभिनदन्तः ध्वनन्तः । कोकिलाश्च परभृताश्च । च—शब्दबलेन कामिनीजनमनोऽनिन्दन् इत्यन्वीयते ॥५॥ वीक्ष्येति । जातमुकुलं जातं मुकुलं यस्य[5] तम् । सहकारं चूततरुम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । पञ्चसायकशरैः पञ्चसायकस्य मन्मथस्य शरैर्बाणैः । अरं नितान्तम् । वितता व्याप्ता । [का]कामिनी [का]रमणी । प्रीतिकारि प्रियविधायि । सुरतं निधुवनम् । प्रणयिना प्राणनायकेन । सह साकम् । न विततान न चकार । अपि तु विततान—इत्यर्थः ॥६॥ शीतल इति । प्रविकसत्कमलास्यं प्रविकसत्कमलमिवास्यं मुखं यस्य तम् । दयितधामनि दयितस्य पुरुषस्य धामनि सदने । लोलं लम्पटम् । 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः । स्त्रीजनं वनिताजनम् । अलं नितान्तम् । उत्कण्ठयन् उत्सुकं कुर्वन् । वनभुवां वने भवन्ति स्म वनभुवस्तेषाम्, वृक्षाणां संबन्धी इति शेषः । शीतलः शैत्यगुणयुतः । अनिलः मारुतः[6] । कं पल्लवं, विटं च । 'पल्लवः किसलये षिड्गे विटपे विस्तरे जवे । शृङ्गारेऽलक्तरागेऽपि' इति विश्वः । अलास्यं नृत्यरहितम् । अपि तु सलास्यं प्रविदधे एव । उपमा

याद आने लगी ॥३॥ कलिकालके समान काले भौंरेको धारण करनेवाली नागकेसरकी कलीने उन युवतियोंके मनमें काम पीड़ा उत्पन्न कर दी, जो अपने प्राणनाथके घर नहीं पहुँच सकीं ॥४॥ बाग-बगीचोंके अन्दर कमलोंको हिलानेवाली और उनके नाना प्रकारके रसको पीनेवाली भ्रमरपंक्तिने एवं चारों ओर 'कुहू-कुहू' शब्द करनेवाली कोकिलाओंने नायिकाओंके हृदयको कुरेदना या विदीर्ण करना शुरू कर दिया ॥५॥ एक आमके पेड़को—जिसपर चारों ओरसे बौर लगी हुई थी—देखते ही कामदेवके बाणोंके प्रहारसे पीड़ित हुई किस नायिकाने अपने पतिके साथ अतिमात्रामें सुखद सम्भोग नहीं किया ? ॥६॥ जिनका चेहरा खिले हुए कमलके समान था और जो पतिके यहाँ जानेके लिए लालायित थीं; उन युवतियोंको वनकी ठंडी हवाने और भी अधिक उत्सुक कर दिया, तथा उस (हवा) ने किस कामी पुरुषको नृत्यसे अछूता छोड़ा, और

१. = इत्यर्थः । २. = कामिनीनां जनो वर्गः । ३. = भिनत्ति स्म । ४. आ श लुङ् । ५. = यस्मिन् । ६. श प्रतौ 'अनिलः मारुतः' इति नोपलभ्यते ।

तापकृत्कुरबकः[1] स्तबकेन हेतुना न नमितस्तव केन ।
प्रावसो य[2] इति नो किल नादः पान्थमभ्यधित[3] कोकिलनादः ॥ ८ ॥
योऽभवत्प्रियतमैः सह मानस्तं पुरंध्रिनिवहोऽसहमानः ।
वायुनाम्ररजसा शबलेन प्रत्यबाध्यत रतीशबलेन ॥ ९ ॥
याः प्रसूनविगलन्मधुरागास्तेनिरे [4]मधुलिहो मधुरा गाः ।
प्रोषितस्य सकलं विषमाभिर्हृद्यवस्तु विदधे विषमाभिः ॥ १० ॥
अप्यनारततपोनियतीनां तान्यजायत दिनानि यतीनाम् ।
मानसं प्रविकसत्कुसुमेषु वीक्षितेषु सुरभेः[5] कुसुमेषु ॥ ११ ॥

॥७॥ तापेति । यः त्वम् । प्रावसः परदेशस्थितोऽभवः । वस निवासे लङि मध्यमपुरुषः । स्तबकेन पुष्पसमूहेन । नमितः नम्रीभूतः, प्रह्वीभूत—इत्यर्थः । कुरबकः कुरबकवृक्षः । तव 'यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयो[6] र्न भित्[7] ।' इति वचनात् तव—इत्यर्थः । केन हेतुना कारणेन । तापकृत् संतापकृत् । न इति न भवतीति । अदः इत्येतत्, वार्ताम् (वचनम्) इत्यर्थः । कोकिलनादः कोकिलस्य नादः स्वरः । पान्थं पथिकम् । 'नित्यं णः पन्थश्च' इति पन्थादेशः । नो न अभ्यधित नावोचदिति नो, अपि त्ववोचदेव । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं द्योतयतः ॥८॥ य इति । प्रियतमैः प्राणवल्लभैः । सह साकम् । यः मानः गर्वः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । तं मानम् । असहमानः अक्षममाणः । पुरन्ध्रीनिवहः पुरन्ध्रीणां सुचरितस्त्रीणां निवहः । आम्ररजसा आम्रस्य माकन्दस्य रजसा पांसुना । शबलेन मिश्रेण । रतीशबलेन रतीशस्य बलेन सहायेन । वायुना मन्दमारुतेन । प्रत्यबाध्यत प्रापीड्यत । बाधृङ् रोधने[8] कर्मणि लङ् । मन्दमारुतेन कामिनीनां बाधा जाता—इत्यर्थः ॥९॥ या इति । प्रसूनविगलन्मधुरागाः प्रसूनाद् विगलत् स्रवत् तच्च तत् मधु च तत्र रागः प्रीतिर्येषां ते । मधुलिहः भृङ्गाः । याः मधुराः मनोहराः । गाः झङ्कार[9]रवान् 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या[10] स्त्रियां पुंसि गौः ।' इत्यमरः । तेनिरे विस्तारयन्ति[11] स्म । विषमाभिः तीव्राभिः । आभिः गोभिः । झङ्काररवैः—इत्यर्थः । प्रोषितस्य देशान्तरगतस्य । सकलं समस्तम् । हृद्यवस्तु मनोज्ञस्रक्चन्दनादिवस्तु । विषं विषरूपम् । अनिष्टम्—इत्यर्थः । विदधे क्रियते स्म । डुधाञ् धारणे च[12] कर्मणि लिट्[13] ॥१०॥ अपीति । सुरभेः वसन्तस्य, वृक्षविशेषस्य वा । 'चम्पकस्वर्णसुगन्धवसन्तपशुमनोज्ञेषु सुरभिः' इति नानार्थकोशे । कुसुमेषु पुष्पेषु । वीक्षितेषु विलोकितेषु सत्सु । अनारततपो-

तो और नये-नये पत्तोंको भी नृत्यसे मुक्त नहीं रहने दिया—वे हिलने लगे ॥७॥ कोकिल अपने शब्दोंमें पथिकसे कहीं यह बात तो नहीं कह रहा था कि गुच्छोंसे झुका हुआ यह कुरबक वृक्ष किस कारण तुम्हें सन्तापकारी नहीं हुआ जो तुम अपनी प्रियाको छोड़कर अकेले ही प्रवासमें निकल पड़े हो ॥८॥ जो मानवती कुलीन नायिकाएँ पहले अपने प्रियतमके गर्वको नहीं सहा करती थीं, उनको आमकी बौरके परागसे मिश्रित, कामदेवकी सहायक वायुने बाधा देना शुरू कर दिया । फलतः इन वसन्तके दिनोंमें उन्हें बाध्य होकर पतिका मान सहना पड़ा ॥९॥ फूलोंसे बहते हुए रसमें राग रखनेवाले भौंरे अपने जिस झंकारके मधुर स्वरको खूब जोर-जोरसे सुना रहे थे, वह प्रवासियोंको बड़ा ही दुःखदायी सिद्ध हुआ । उसने प्रवासियोंके लिए माला और चन्दन आदि जो चीजें बहुत प्रिय थीं; उन सभीमें विष घोल दिया ॥१०॥ वसन्तके फूलों-

१. क ख ग घ °रबक । । २. अ प्रावसोऽयि । ३. आ इ °मभ्यहित । ४. अ पुसूनमगलन्म° । ५. अ प्रस्फुरत्सुरभेः । ६. आ रलयोः । ७. आ श °योरभेदः । ८. आ लोटने । ९. आ भेङ्कार° । १०. आ °दृष्ट्याः श अक्ष्यदृष्ट्योः । ११. श प्रस्तारयन्ति । १२. श धारणपोषणयोः । १३. श प्रतौ 'कर्मणि लिट्' इति नोपलभ्यते ।

मन्दधूतबकुलोपवनेन स्पृश्यमानवपुषां पवनेन[1] ।
सुभ्रुवामवधिना विकलेन पञ्चमेन समभावि कलेन ॥ १२ ॥
माग्रहं सखि भजस्व स माया यत्करोति दयितः स्वसमायाः ।
गोप्यते तव कथं तनु तेन पुष्टिमङ्गकमिदं तनुते न ॥ १३ ॥
नास्ति तस्य मयि यन्ममतापि तेन मानसमिदं मम तापि ।
तन्ममास्तु सखि तन्नमनेन नासुखप्रतिविधानमनेन ॥ १४ ॥
योऽपराधरचनासु खलेशस्तेन कः प्रणयिना सुखलेशः ।
तद्वरं विदधतं महिमानं युक्तमेव विदधीमहि मानम् ॥ १५ ॥

नियतीनाम् अनारतमनवरतं तपसो नियतिर्नियमो येषां तेषाम् । यतीनां यमिनामपि । मानसं चित्तम् । तानि दिनानि तद्दिवसपर्यन्तम् । 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' इति द्वितीया । प्रविकसत्कुसुमेषु प्रविकसन् प्रादुर्भवन् कुसुमेषुः कामविकारो यस्य[2] तत् । अजायत अभवत् । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् ॥११॥ मन्देति । मन्दधूतबकुलोपवनेन मन्दम् ईषद् धूतं कम्पितं बकुलोपवनं बकुलवृक्षोद्यानं येन तेन । पवनेन मारुतेन । स्पृश्यमानवपुषां स्पृश्यमानं वपुः शरीरं यासां तासाम् । सुभ्रुवां सु शोभने भ्रुवौ यासां तासाम्, वनितानाम्––इत्यर्थः । अवधिना मर्यादया । विकलेन रहितेन । कलेन मनोहरेण । पञ्चमेन पञ्चमरागेण । समभावि संभूतम् । भू सत्तायां कर्मणि लुङ् । 'हन् दृशि––' इत्यादिना जिः । 'जः' इति त-लुक् । १२॥ मेति । सखि भो वयस्ये । यत् कारणात् । सः दयितः प्राणनायकः । मायाः वञ्चनानि । करोति विदधाति । स्वसमायाः स्वस्य प्राणानां समायाः सदृशायाः । तव ते । इदम् एतत् । तनु कृशम् । अङ्गकं शरीरम् । पुष्टि[3] तुष्टिम् । न तनुते न विस्तारयति । तनूञ् विस्तारे लट् । तेन प्राणनायकेन । कथं केन प्रकारेण । गोप्यते आच्छाद्यते । गुपौ रक्षणे कर्मणि लट् । आग्रहं[4] तात्पर्यम् । मा भजस्व मा कृथाः ॥१३॥ नास्तीति । सखि भो वयस्ये । तस्य प्राणनायकस्य । मयि, यत् कारणात् । ममतापि ममत्वमपि । नास्ति न विद्यते । तेन[5] दयितेन । मम मे । इदम् एतत् । मानसं चित्तम् । तापि तापोऽस्यास्तीति तापि संतापयुक्तम् । तत् तस्मात् कारणात् । अनेन एतेन । तन्नमनेन तस्य प्राणनायकस्य नमनेन नमस्करणेन । मम मे । असुखप्रतिविधानम् असुखस्य विरहजनितदुःखस्य प्रतिविधानं प्रतीकारः । नास्तु न भवतु ॥१४॥ य इति । यः पुरुषः । अपराधरचनासु मानसस्यानुकूल(ता)रहितवर्तनाक्रियासु[6] । खलेशः खलानां दुर्जनानामीशः श्रेष्ठः । तेन प्रणयिना प्राणकान्तेन । सुखलेशः सुखस्य संतोषस्य लेश एकदेशः ।

को देखकर निरन्तर तप करनेवाले यतियोंके मनमें भी कामविकार उत्पन्न हो गया, जो वसन्तके अन्तिम दिनों तक बराबर बना ही रहा ॥११॥ धीरे-धीरे बकौलीके वृक्षोंको हिलानेवाले (मन्द सुगन्ध) पवनने ज्यों ही सुन्दर नायिकाओंके शरीरका स्पर्श किया, त्यों ही उनका अस्पष्ट किन्तु मधुर पंचम स्वर, जिसमें किसी प्रकारकी मर्यादाका कोई नियन्त्रण नहीं था—शुरू हो गया । इधर वसन्ती हवा बही उधर मधुर स्वरमें नायिकाओंका गान शुरू हुआ ॥१२॥ हे सखि ! वह पतिदेवजी चूँकि मुझसे मायाचारी करते हैं, इसीलिए तो मेरा यह शरीर पुष्ट नहीं हो रहा है । तुझे मैं अपने समान मानती हूँ । अतः तुझसे ये बातें कैसे छिपाऊँ ? अब तू मुझसे, उनसे मिलनेका आग्रह न कर ॥१३॥ सखि ! मेरे ऊपर उनकी ममता भी तो नहीं है । इसी कारणसे मेरा यह मन सन्तप्त रहा करता है । अब उनके चरणोंमें नमन करनेसे मेरे विरहजन्य दुःखोंका प्रतीकार—जो पहले कभी सम्भव रहा—न हो तो न सही, पर अब तो उनसे मेरा दिल बिलकुल ही निकल गया है ॥१४॥ अपराधोंकी झड़ी लगानेके लिए जो खल, खल नहीं,

१. अ॰ वपुषोपवनेन । २. =यस्मिन् । ३. =पुष्टत्वम् । ४. =हठम् । ५. =कारणेन । ६. =मनःप्रतिकूलव्यवहारविधानेषु ।

तापहारि वपुषो विधुरस्य चन्दनाम्बु न न वा विधुरस्य ।
गन्तुमप्रियकृतौ नियतेहं न प्रियं तदपि धाम्नि यतेऽहम् ॥ १६ ॥
यान्यदास्त वचनानि वदन्ती दूतिकामिति महानिव दन्ती ।
माधवोऽकृत वशे मधुरस्य तां प्रियस्य धृतकामधुरस्य[1] ॥ १७ ॥
(पञ्चभिः कुलकम्[2])
त्वादृशी पटुरकारि वयस्या मच्छुभैर्ग्रहपतेरिव यस्याः ।
मूर्तिरुत्सवकरी सकलस्य सज्जनस्य सविकासकलस्य[3] ॥ १८ ॥
तत्प्रगम्य दयितं रुचिताभिर्वाग्भिरालि निगदेरुचिताभिः ।
यत्प्रियैकवचसामपरस्य जायते न तदसामपरस्य[4] ॥ १९ ॥

कः, न कोऽपीत्यर्थः । तत् तस्मात् कारणात् । परम् उत्कृष्टम् । महिमानं महत्त्वम् । विदधतं कुर्वन्तम् । युक्तम् उचितम् । मानसमेव गर्वमेव । विदधीमहि कुर्यामहि । डुधाञ् धारणे च लिङ् ॥१५॥ तापेति । विधुरस्य (विरह–)दुःखितस्य । [अस्य]वपुषः शरीरस्य । चन्दनाम्बु गन्धोदकम् । तापहारि संतापहारि । न भवति । विधुर्वा चन्द्रोऽपि । अस्य [वपुषः] शरीरस्य । तापहारि न भवति । तदपि तथापि । अप्रियकृतौ अप्रियस्य अहितकार्यस्य कृतौ करणे । नियतेहं नियता नियमिता ईहा–चेष्टा यस्य तम् । प्रियं वल्लभम् । गन्तुं गमनाय । धाम्नि गृहे । अहं न यते यत्नं न करोमि । यतङ् प्रयत्ने लट् ॥१६॥ येति । या नायिका । अन्यदा शेषर्तुषु । अव्ययम् । दूतिकां संचारिकाम् । इति उक्तप्रकारेण । वचनानि वचांसि । वदन्ती ब्रुवाणा । आस्त अतिष्ठत् । माधवः वसन्तः । धृतकामधुरस्य धृता कामस्य मदनस्य धूर्भारो यस्य[5] तस्य । मधुरस्य मनोहररूपातिशययुक्तस्य । प्रियस्य वल्लभस्य । वशे अधीने । तां स्त्रीम् । महान् दन्तीव गज इव । अकृत अकरोत् । डुकृञ् करणे लुङ् । पञ्चभिः कुलकम् ॥१७॥ त्वादृशीति । यस्याः वनितायाः[6] । मूर्तिः शरीरम् । सविकासकलस्य सविकासाः प्राकट्यसहिताः कलाश्चतुःषष्टिकला यस्य तस्य, पक्षे प्रकाशयुक्तषोडशभागसहितस्य । ग्रहपतेः चन्द्रस्य इव । सकलस्य सर्वस्य । सज्जनस्य सत्पुरुषजनस्य[7], पक्षे सतां नक्षत्राणां जनस्य लोकस्य च । उत्सवकरी संतोषकरी । पटुः समर्था । त्वादृशी त्वत्सदृशी । वयस्या सखी । मच्छुभैः मम शुभैः पुण्यैः । अकारि अक्रियत । डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् । श्लेषोपमा ॥१८॥ तदिति । तत् तस्मात् कारणात् । इति काचिन्नायिका सखीं स्तौति—इत्यर्थः । आलि भोः सखि । दयितं प्राणकान्तम् । प्रगम्य प्राप्य ।

महाखल है, उस खलनायकसे क्या लेशमात्र भी सुख हो सकता है ? अतएव मैं श्रेष्ठ बड़प्पन दिलानेवाले मानको करूँ, यही उचित है ॥१५॥ मेरे इस दुःखी शरीरके सन्तापको न तो चन्दनका जल या गन्धोदक हर सकता है और न चन्द्रमा । तो भी वे जान बूझकर अप्रिय कार्योंमें लगे रहते हैं; अतः उनके पास जानेके लिए मैं अपने घरमें कोई प्रयत्न नहीं कर रही हूँ ॥१६॥ इस तरह जो नायिका ग्रीष्म आदि अन्य ऋतुओंमें अपनी दूतीसे कहा करती थी, उसी (नायिका) को, बहुत बड़े हाथीके समान प्रभावशाली वसन्तऋतुने उसके अत्यन्त सुन्दर और इसीलिए कामदेवके कार्यभारको धारण करनेवाले पतिके वशमें कर दिया ॥१७॥ तुझ सरीखी समर्थ सखी मुझे बड़े भाग्यसे मिली है । जिस प्रकार सोलह कलावाले पूर्णचन्द्रमाकी मूर्ति नक्षत्र लोकके उत्सवकी पूर्ति करनेवाली होती है इसी प्रकार तेरी मूर्ति सब कलाओंमें निष्णात समस्त सज्जनोंको सन्तोष देनेवाली है ॥१८॥ अतः हे सखि ! मेरे पतिदेवके निकट जाकर

१. अ यान्यदा तव च तानि वदन्ती हन्त्रि मामिति महानिव दन्ती । साधवोऽकृत वशे मधुरस्य नाप्रियस्य वृतकामधुरस्य ॥ २. अ क ख ग घ 'पञ्चभिः कुलकम्' इति नोपलभ्यते । ३. अ सज्जनाशयविकासकलस्य । ४. आ इ 'युग्मम्' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते । ५. =येन । ६. तव-इत्यर्थः । ७. =सत्पुरुषस्य ।

किंकरी तव भवामि सदाहं मन्मनः सुरतकामि सदाहम् ।
ह्लादय प्रियतमानयनेन त्वं क्षमात्र न मृगीनयने न ॥ २० ॥
तापयन्ति मम मानिनि तान्तं मानसं मधुदिनानि नितान्तम् ।
तद्विधेहि दयितं दयमानं सामभिर्मम महोदयमानम् ॥ २१ ॥
काचिदुत्पलतुलासहनेत्रा रन्तुमुत्सुकमनाः सह नेत्रा ।
दूतिकामिति जगौ विनयेन दुःखमुद्भवति भावि न येन ॥ २२ ॥

(पञ्चभिः[1] कुलकम्)

रुचिताभिः इष्टाभिः । उचिताभिः प्रस्तुताभिः । वाग्भिः वचनैः । निगदेः त्वं ब्रूहि । गद व्यक्तायां वाचि लिङ् । प्रियैकवचसां प्रियं प्रीतमेकं मुख्यं वचो येषां तेषाम् । यत् वस्तु । जायते संपद्यते । असामपरस्य असाम्नि अप्रियवचने परस्य तत्परस्य । अपरस्य अन्यस्य । तत् वस्तु । न जायते ।।१९।। किंकरीति । मृगीनयने मृग्याः (नयने) इव नयने नेत्रे यस्यास्तस्याः संबोधने[2] भो एणलोचने । अहं, सदा अनवरतम् । तव ते । किंकरी सेविका । भवामि अस्मि । भू सत्तायां लट् । सुरतकामि (सुरतं) संभोगम् (कामयते) इच्छती॰ (ति सुरतकामि) । सदाहं संतापसहितम् । मन्मनः मम मे मनः चित्तं मन्मनः । प्रियतमानयनेन प्रियतमस्य प्रकृष्टप्राणकान्तस्यानयनेन । त्वं भवती । ह्लादय तृप्तिं नय । अत्र प्रियतमानयने । त्वं न क्षमा न समर्था (इति) न, न भवसि, अपि तु क्षमैव । द्वौ नञौ प्रस्तुतार्थं गमयतः ।।२० ।। तापेति । मानिनि भोः सखि । तान्तं दुःखसहितम् । मम मे । मानसं चित्तम् । मधुदिनानि मधोर्वसन्तस्य दिनानि दिवसाः । नितान्तं तीव्रम् । तापयन्ति संतापयन्ति । तत् तस्मात् कारणात् । महोदयमानम् उदय ऐश्वर्यं, मानोऽभिमानः, उदयश्च मानश्च तथोक्तौ, महान्तौ उदयमानौ यस्य तम् । मम मे । दयितं कान्तम् । सामभिः प्रियवचनैः । दयमानं पालयन्तम् । विधेहि कुरु । डुधाञ् धारणे च लोट्[3] ।।२१।। काचिदिति । उत्पलतुलासहनेत्रा[4] उत्पलस्य कुवलयस्य तुले समाने असहे नेत्रे यस्याः सा, उत्पलोपमाननेत्रा—इत्यर्थः[5] । काचित् अन्या स्त्री । नेत्रा प्राणनाथकेन । सह साकम् । रन्तुं क्रीडितुम् । उत्सुकमनाः उद्युक्तमनाः सती । येन केन (?) । भावि भविष्यत् । दुःखं कृच्छ्रम् । नोद्भवति न जायते । विनयेन प्रश्रयेण । दूतिकां सखीम् (दूतीम्) । इति प्रोक्त-प्रकारेण । जगौ जगाद । गै शब्दे लिट् । 'एचोऽयवायावः' इति आकारादेशः । उपमा । पञ्चभिः कुलकम् ।।२२।।

तुम उचित वचन बोलना; क्योंकि जो वस्तु प्रियावादीको मिल जाती है, वह अप्रियवादीको नहीं मिल सकती ।।१९।। हे मृगनयनी ! मैं सदा तेरी दासी बनी रहूँगी । मेरा सन्तप्त मन सम्भोगके लिए लालायित है । अतः उन (पतिदेव) को यहाँ लाकर मुझे तृप्त कर दे । तू इस काममें समर्थ नहीं है, सो यह बात तो है नहीं ।।२०।। हे सखि ! ये वसन्तके दिन मेरे दुखी मनको खूब ही सन्ताप दे रहे हैं । अतएव तू अपनी प्रिय बातोंसे उन (पतिदेव) को मेरे ऊपर दयालु बना दे । वे महान ऐश्वर्यके स्वामी हैं और हैं मानके धनी । तू भी तो मानकी धनी है । अतएव वे तेरी बातको टालेंगे नहीं ।।२१।। इस तरह कोई नवयुवती, जिसके नेत्रोंकी तुलनामें नील-कमल भी अत्यन्त तुच्छ थे और जिसके मनमें अपने पतिके साथ क्रीड़ा करनेकी उमंग भरी हुई थी, यह सोचकर कि उसे आगे विरहका दुःख न उठाना पड़े, बड़ी विनयसे ये बातें अपनी

१. आ इ 'पञ्चभिः' इति नोपलभ्यते । २. = तत्संबुद्धौ । ३. आ लिट् श लेट् । ४. = उत्पलं कुवलयं तस्य तुलां साम्यं न सहेते नेत्रे यस्यः सा । ५. = उत्पलाभिभाविलोचना—इत्यर्थः ।

का क्षता[1] हृदयभूशबरस्य सायकैर्न विननाश बरस्य ।
संस्मरन्त्यनुपमासहितस्य प्रोषितस्य मधुमासहितस्य ॥ २३ ॥
प्रीणिताहिनरदेवकुलानि प्रोल्लसन्ति नितरां बकुलानि ।
नीररिक्तजलवाहसितानां साम्यमापुरबलाहसितानाम् ॥ २४ ॥
काञ्चनारकुसुमे द्युतिमत्ताह्रेपितामलिनविद्युति मत्ता ।
कुर्वती ध्वनिमतारमतारं कालिनी न सरसारमतारम् ॥ २५ ॥
तां शशाङ्ककिरणा विदहन्ति मन्मथश्च नयकोविद हन्ति ।
पीडितां निजमनःकमलेन त्वद्वियोगभवशोकमलेन ॥ २६ ॥

केति[2] । अनुपमासहितस्य उपमया सादृश्येन सहितः संयुक्तः तथोक्तः, न उपमया सहितोऽनुपमासहितः तस्य, उपमाराहित्ययुक्तस्य—इत्यर्थः[3] । प्रोषितस्य परदेशस्थस्य । मधुमासहितस्य मधुमासाय वसन्तमासाय हितस्य हितभूतस्य । 'शक्तार्थ—' इत्यादिना हितशब्दयोगे चतुर्थी वा (?) । बरस्य वरस्य-नायकस्य । वबयोरभेदः । संस्मरन्ती ध्यायन्ती । 'स्मृत्यर्थ—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । हृदयभूशबरस्य हृदयभूरेव मन्मथ एव शबरो व्याधस्तस्य । सायकैः बाणैः । क्षता विद्धा सती । का न विननाश का न नश्यति स्म, अपि तु ननाश एव । रूपकम् ।२३॥ प्रीणितेति । प्रीणिताहिनरदेवकुलानि अहीनां भवनवासिनां[4] नराणां मनुष्याणां देवानां कल्पवासिनां[5] कुलानि समूहाः तथोक्तानि, प्रीणितानि[6] तृप्तानि तानि च तानि अहिनरदेवकुलानि च तथोक्तानि । नितराम् अत्यन्तम् । प्रोल्लसन्ति विलसन्ति । बकुलानि बकुलपुष्पाणि । नीररिक्तजलवाहसितानां नीरेण जलेन रिक्तो रहितो जलवाहवत् शरत्कालमेघवत् (जलवाहः शरन्मेघः तद्वत्) सितानां शुभ्राणाम् । अबलाहसितानाम् अबलानां वनितानां हसितानां मन्दस्मितानाम् । साम्यं सादृश्यम् । आपुः ययुः । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । उपमा ।।२४। काञ्चनारेति[7] । द्युतिमत्ताह्रेपितामलिनविद्युति द्युतिमत्तया कान्तियुक्तत्वेन ह्रेपिता लज्जिता अमलिना निर्मला विद्युद् यस्य[8] तस्मिन् । काञ्चनारकुसुमे काञ्चनारस्य कोविदारस्य कुसुमे पुष्पे । मत्ता प्रीता । अतारमतारं मन्दं मन्दम् । 'वीप्सायाम्' इति द्विः । ध्वनिं स्वरम् । कुर्वती विदधती । सरसा सरागा । का अलिनी भ्रमरी । अरम् अत्यन्तम् । नारमत नाक्रीडत्, अपि त्वरमत एव ।।२५।। तामिति । नयकोविद भो नीतिचतुर । त्वद्वियोगभवशोकमलेन तव वियोगेन विरहेण भवो जातः शोको विषादः स एव मलं दोषो यस्य[9] तेन । निजमनःकमलेन निजस्य स्वस्य मन एव चित्तमेव कमलं तेन । रूपकम् । पीडितां बाधिताम् । तां स्त्रीम् । शशाङ्ककिरणाः शशाङ्कस्य चन्द्रस्य किरणा मयूखाः । विदहन्ति[10]

दूतीसे कह रही थी । (यहाँ १८ वें से २२ वें श्लोक तक सम्बन्ध है) ।।२२।। ऐसी कौन सी युवती थी, जो सौन्दर्यमें अनुपम एवं वसन्त मासमें हितकर अपने प्रवासी पतिको याद करती-करती काम-व्याधके बाणोंसे घायल होकर कामदेवकी दसवीं अवस्थामें नहीं पहुँची ? ।।२३।। भवनवासी, मनुष्य और कल्पवासी देवों (तीनों लोकोंके निवासियों) को प्रसन्न करनेवाले बकुल (मौलसिरी) के फूल खूब ही खिल रहे हैं और वे शरत्कालीन मेघकी भाँति श्वेत, नायिकाओंके हासकी (धवल होनेसे) बराबरी कर रहे हैं ।।२४।। इन दिनोंमें ऐसी कौन सी रसीली भौंरी थी, जो अपनी कान्तिसे उज्ज्वल बिजलीको लजानेवाले कचनारके फूलपर उसके रससे मतवाली होकर, मन्द-मन्द ध्वनि करती हुई क्रीड़ा नहीं कर रही थी ? ।।२५।। हे नीति-निपुण ! तुम्हारे विरह जन्य शोकके मलसे उस (तुम्हारी प्रिया) का हृदयकमल भीतर-ही-भीतर दबा-सा जा रहा है, अतः वह योंही दुःखी है, ऊपरसे चन्द्रमाकी किरणें उसे जला रही हैं

१. क्षिता । २. आ श का इति । ३. = अनुपमस्य–इति यावत् । ४. आ °वासिकानां श °वासितानां । ५. श °वासितानां । ६. = तृप्तिं प्रापितानि । ७. आ श कामिति । ८. = येन । ९. = यत्र । १०. = संधुक्षयन्ति ।

शीतदग्धनलिनीसमदेहां वल्लभां च्युतविलासमदेहाम् ।
पासि तां यदि गुणो भवतोऽयं देहि वा जितमनोभव[1] तोयम् ॥ २७ ॥

यः प्रविश्य हृदये रजनीषु स्थैर्यवान्रतिपतेरजनीषुः ।
सुभ्रुवः स तव संगमनेन नोद्धृतो[2] व्रजति संगमनेन ॥ २८ ॥

गच्छ तत्सुभग सारमयत्वं संप्रहाय दयितां रमय त्वम् ।
मन्मथव्यसनलाविरहस्य न क्षमेन्दुवदना विरहस्य ॥ २९ ॥

वितपन्ति । मन्मथश्च मारोऽपि । हन्ति हिनस्ति । हन् हिंसागत्योः लट् ॥२६॥ शीतेति । जितमनोभव जितः पराजितो मनोभवः कामो येन तस्य संबोधनम्,[3] भो जितमार । शीतदग्धनलिनीसमदेहां शीतेन हिमेन दग्धायाः संतप्तायाः नलिन्याः पद्मिन्याः समः समानो देहः शरीरं यस्याः, ताम् । च्युतविलासमदेहां च्युता विनष्टा विलासस्य शृङ्गारस्य मदस्य ईहा चेष्टा यस्याः, ताम् । तां वल्लभां प्राणकान्ताम् । यदि पासि रक्षसि । पा रक्षणे लट् । अयम् एषः । भवतः तव । गुणः[4] । वा अथवा । तोयं जलम् । देहि यच्छ ॥२७॥ य इति । यः, रतिपतेः कामस्य । इषुः बाणः । रजनीषु रात्रिषु । सुभ्रुवः सु शोभने भ्रुवौ यस्याः तस्याः, स्त्रियाः—इत्यर्थः । हृदये अन्तरङ्गे । प्रविश्य गत्वा । स्थैर्यवान् स्थिरतरः । अजनि अजायत । तव ते । संगमनेन संसर्गेण । उद्धृतः उत्पाटितश्चेत् । सः बाणः । अनेन हृदयेन । संगं संसर्गम् । न व्रजति न प्राप्नोति । व्रज गतौ लट् ॥२८॥ गच्छेति । तत् तस्मात् कारणात् । सुभग भो मनोहराङ्ग । मन्मथव्यसनलाविरहस्य मन्मथेन कामेन जातं व्यसनं मन्मथव्यसनं तल्लुनातीत्येवं शीलं तथोक्तं मन्मथव्यसनलावि रहस्यं भोगो यस्य तस्य संबोधनं[5] हे कामव्यसनच्छेदिभोगयुक्त—इत्यर्थः । सारमयत्वं लोहमयत्वं कठिनत्वं मूर्खत्वं वा—इत्यर्थः । 'जलजबलन्याय्यस्थिरांशवरधनेषु सारः' इति नानार्थकोशे । संप्रहाय त्यक्त्वा । गच्छ याहि । गम्लृ गतौ लोट्[6] । 'यमगमिषोरिशिच्छः' इति च्छादेशः । त्वं भवान् । दयितां वनिताम् । रमय क्रीडय । इन्दुवदना इन्दुरिव वदनं मुखं यस्याः सा । विरहस्य वियोगस्य । क्षमा[7] सहमाना । न न भवति । उपमा ॥२९॥

और कामदेव मारे डालता है ॥२६॥ सुन्दर ! तुमने तो सुन्दरतामें कामदेवको भी मात कर दिया है । तुम्हारी प्रियाकी अवस्था इस समय अत्यन्त दयनीय हो गयी है—उसकी काया शीतलहरी (पाला) से झुलसी हुई कमलिनीके समान हो गई है, और उसे अपने जिस शृङ्गारपर गर्व था, उस ओर अब उसका ध्यान ही नहीं जाता, न उसकी चेष्टा ही करती है । यदि तुम उसे बचा लेते हो (उसके निकट जाकर) तो तुम्हारा दयागुण व्यक्त होगा—तुम्हारी दया होगी । यदि ऐसा नहीं कर सकते हो तो उसे जलाञ्जलि दे दो ॥२७॥ रात्रिके समय कामदेवका जो बाण तुम्हारी प्रियाके—जिसकी भौं अत्यन्त सुन्दर है—कलेजेमें घुसकर वहीं जम गया है, जरा भी नहीं हिलता, उसे तुम अपने मधुर संसर्गसे निकाल दो तो वह उस (कलेजे) के साथ नहीं जायगा ॥२८॥ हे सुभग ! कामपीडाको दूर करनेका रहस्य तुम जानते हो । अतः तुम अपनी फौलादी कठोरताको छोड़ो, जाओ और अपनी प्रियाको रमाओ । तुम्हारी चन्द्रमुखी

---

१. अ जनमनो° । २. अ मोदितो° । ३. =तत्संबुद्धौ । ४. =लाभ उपकारो वा । ५. =तत्संबुद्धौ । ६. आ लिट् श लेट् । ७. =योग्या ।

दूतिकोक्तमिति कोऽपि निकामं शुश्रुवान्मनसि कोपिनि कामम् ।
तत्क्षणादुपययौ परमेण दीर्घमानकलुषोपरमेण ॥ ३० ॥ (पञ्चभिः कुलकम्[1])
कर्णिकारमधवाजनितान्तं[2] चारुगन्धगुणतोऽजनि तान्तम्[3] ।
सर्जने हि विधिरप्रतिमोहस्तस्य युक्तघटनां प्रति मोहः ॥ ३१ ॥
वृक्षपङ्क्तियुवतेरधरेण चारुतापरमपारधरेण ।
किंशुकेन शुशुभे समयोऽसौ बिन्दुनेव सविलासमयोऽसौ ॥ ३२ ॥
गायनेष्वलिवधूनिकरेषु[4] जातवत्सु शमहानिकरेषु ।
पुष्परेणुकृतपांसुलतानां नर्तको मरुदभूत्सुलतानाम् ॥ ३३ ॥

दूतिकेति । दूतिकोक्तं दूतिकया संचारिकया उक्तं भाषितम् । इति एवम् । कोपिनि क्रोधयुक्ते । मनसि मानसे । निकामम् अत्यन्तम् । शुश्रुवान् शुश्राव इति शुश्रुवान् आकर्णितः[5] । कोऽपि कश्चिन्नायकः । परमेण महता । दीर्घमानकलुषोपरमेण दीर्घो बहलो मानो गर्वः स एव कलुषं दोषः तस्योपरमो विनाशः, तेन । तत्क्षणात् क्षणमात्रात् । कामं कामविलासम् । उपययौ जगाम । या प्रापणे लिट् । रूपकम् । पञ्चभिः कुलकम् ॥३०॥ कर्णिकारमिति । अधवाजनितान्तं न विद्यते धवो यासां ता अधवास्तासां नायकवियुक्तानां जनितो[6] जातो अन्तो नाशो येन तत् । कर्णिकारं[7] गिरिपद्मम् । चारुगन्धगुणतः चारोर्गन्धस्य गुणतो विशिष्टपरिमलात् । तान्तं शून्यम् । अजनि अभूत्, स्वयं दृग्रम्यमपि सुगन्धिहीनमभूत्—इति भावः । तथा हि—विधिः ब्रह्मा । सर्जने सृष्टौ । अप्रतिमोहः अप्रतिम उपमातीत ऊहो विचारो यस्य सः, स तथोक्तः । तथापि । तस्य ब्रह्मणः । युक्तघटनां प्रति[8] परिमलसंबन्धव्यापारं प्रति । मोहो हि अज्ञानं हि ॥३१॥ वृक्षेति । चारुतापरमपारधरेण चारुताया मनोहरत्वस्य परममुत्कृष्टं पारमवसानं धरतीति चारुतापरमपारधरः, तेन । वृक्षपङ्क्तियुवतेः वृक्षाणां तरूणां पङ्क्तिः समाः[9] (राजिः) सा एव युवतिस्तरुणी तस्याः । रूपकम् । अधरेण रदनच्छदनिभेन । किंशुकेन पलाशेन । असौ समयः । अयं वसन्तकालः । असौ खड्गे । अयः लोहम् । बिन्दुनेव जलकणेनेव । सविलासं विलाससहितं यथा तथा । शुशुभे बभौ । शुभि दीप्तौ लिट् । उपमा ॥३२॥ गायनेष्विति । शमहानिकरेषु शमस्य उपशमपरिणामस्य हानिकरेषु नाशकारिषु[10] । अलिवधूनिकरेषु अलीनां मधुकराणां

प्रिया अब विरह सहने योग्य नहीं है ॥२९॥ किसी नायकके मनमें यों तो अत्यधिक क्रोध भरा हुआ था, किन्तु दूतीकी उक्त बातोंको सुनते ही उसके मनकी, गर्वसे उत्पन्न हुई कलुषता बिलकुल ही विलीन हो गई । फलतः वह शीघ्र ही अपनी प्रियाके पास चला गया । (२६वें से ३०वें श्लोक तक सम्बन्ध है) ॥३०॥ कनेरका फूल अत्यन्त सुन्दर होता है, कामोद्दीपक होता है और होता है विधवाओं या विरहिणियोंके जीवनका अन्त करनेवाला । किन्तु उसमें अच्छी गन्ध नहीं होती । सच तो यह जान पड़ता है कि सृष्टिके बारेमें विधाता अनुपम विचारोंका धनी होता है, किन्तु किस वस्तुका किस वस्तुके साथ ठीक मेल बैठेगा, इस योजनाके विषयमें उसे मोह हो जाता है । इसीलिए तो उसने कनेरके फूलको खूब सुन्दर बनाया पर उसे अच्छी गन्धसे वञ्चित रखा ॥३१॥ सुन्दरताके नये कीर्तिमान (रिकार्ड) को स्थापित करनेवाले, टेसूके फूलरूपी, वृक्षवीथीरूपी युवतीके होंठसे वसन्तके इस सुहावने समयकी शोभा है । जैसे कलापूर्ण विधिसे चढ़ाये गये आबसे तलवारके लोहेकी शोभा होती है ॥३२॥ भौंरोंकी अंगनाएँ गाना गानेके लिए जब सम्मिलित रूपमें उद्यत हो गयीं, और उनका गान

१. अ क ख ग घ 'पञ्चभिः कुलकम्' इति नास्ति । २. अ °नितान्तां । ३. अतान्ताम् । ४. अ °ष्वलिजने निकरेषु । ५. = आकर्णितवान् । ६. = उत्पादितः । ७. = द्रुमोत्पलम् । ८. = योग्यसंयोगं प्रति । ९. आ समूहः । १०. श नाशकरेषु ।

कन्तुना भवदशोकबलेन मृत्युनेव सकलोऽकवलेन ।
ग्रस्यते स्म विरहो प्रमदायाः संस्मरन्मुहुरकम्प्रमदायाः ॥ ३४ ॥
प्रागतीव मनसा समुदा यस्तस्थिवान्विरहिणीसमुदायः ।
सोऽतिदुःसहमनोभवदूनो माधवे सुखितयाभवदूनः ॥३५॥
कामशोकजलधेरुदितानि संहरालि सततं रुदितानि ।
मेरुभूधरसदृक्षममुक्तं धैर्यमापदसनक्षममुक्तम् ॥३६॥
यत्र भान्ति कुसुमैरमलाभैः शाखिनो जनमनोरमलाभः ।
यस्तवावधिरकारि वसन्तः प्रेयसा निजगुणैरिव सन्तः[1] ॥३७॥

वधूनां वनितानां निकरेषु निवहेषु । गायनेषु[2] गायत्सु । जातवत्सु जातेषु सत्सु । पुष्परेणुकृतपांसुलतानां पुष्परेणुना कुसुमरसेन (रजसा) कृता विहिता पांसुलता मलिनत्वं यासां तासाम् । सुलतानां शोभनव्रततीनाम् । मरुत् वायुः । नर्तकः नटः । अभूत् अभवत् । परिणामः (रूपकम्) ॥३३॥ कन्तुनेति । अकवलेन ग्रासरहितेन । मृत्युनेव यमेनेव,[3] । भवदशोकबलेन भवद् अशोक एव कङ्केलिवृक्ष एव बलं सहायो यस्य तेन । कन्तुना मन्मथेन । अकम्प्रमदायाः अकम्प्रः स्थिरो मदो गर्वो यस्याः, तस्याः । प्रमदायाः कान्तायाः । स्मरणार्थत्वाद् वनितामित्यर्थः । 'स्मृत्यर्थ—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । मुहुः पुनः । संस्मरन् संध्यायन् । सकलः सर्वः । विरही वियोगवान् जनः । ग्रस्यते स्म गिल्यते स्म[4] । ग्रसूङ्[5] अदने कर्मणि लट् । उत्प्रेक्षा ॥३४॥ प्रागिति । यः विरहिणीसमुदायः विरहिणीनां वियोगिनीनां समुदायः समवायः । प्राक् पूर्वम् । अतीव अत्यन्तमिव । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । समुदा मुदा संतोषेण सह वर्तते इति समुत् तेन । मनसा चित्तेन । तस्थिवान् तस्थौ इति तस्थिवान् स्थितवान् । सः विरहिणीसमुदायः[6] । माधवे मधुरेव माधवः (प्रज्ञादित्वादण्) तस्मिन् वसन्ते । अतिदुःसहमनोभवदूनः अतिदुःसहेन सोढुमशक्येन मनोभवेन मन्मथेन दूनः संतापितः सन् । सुखितया सुखयुक्तत्वेन । ऊनः रहितः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् ॥३५॥ कामेति[7] । आलि सखि । कामशोकजलधेः कामेन जातः शोकः स एव जलधिः तस्मात् । सततं संततम् । उदितानि जातानि । रुदितानि रोदनानि । संहर त्यज । मेरुभूधरसदृक्षं मेरुणा मन्दरेण भूधरेण पर्वतेन सदृक्षं समानम् । धैर्यं धीरत्वम् । अमुक्तम् अत्यक्तं सत् । आपदसनक्षमम् आपदो विपत्तेरसने नाशने क्षमं समर्थम् । उक्तं भाषितम् ॥३६॥ यत्रेति । [यत्र यस्मिन् वसन्ते] । अमलाभैः अमला आभा कान्तिर्येषां तैः । जनमनोरमलाभैः

सुनकर साधुओंका शमगुण नष्ट होने लगा, तब मलयानिल भी परागसे धूसरित लताओंको नचानेके लिए उद्यत हो गया । फूल खिल उठे, भौंरे उनपर गुंजार करने लगे, दक्षिण पवन बहने लगा । लतायें हिलने लगीं और साधुओंके मनमें विकार शुरू होने लगा ॥ ३३ ॥ अशोकका बल पानेवाले कामदेवने समस्त विरहियोंको—जो स्थिर गर्व रखनेवाली अपनी प्रियाओंकी बार-बार याद कर रहे थे—यमराजकी तरह एक ही साथ निगलना शुरू कर दिया ॥ ३४ ॥ विरहिणियोंका जो वर्ग पहले शिशिर ऋतुमें खूब प्रसन्नचित्त रहा, वही वसन्तके आते ही असह्य कामसे सन्तप्त होकर सुखी न रह सका ॥ ३५ ॥ सखि ! कामसन्तापके कारण तेरे शोकसागरसे ये लगातार आँसू बरसाने वाले रुदनरूपी मेघ उठ रहे हैं । इनका संहार कर–लगातार रो मत । अनुभवी लोगोंने कहा है—'धीरज न छोड़ा जाय तो वह मेरु पर्वतके समान अटल होकर विपदाओंको दूर करनेमें समर्थ होता है' ॥ ३६ ॥ जिस वसन्त ऋतुको तेरे पतिने परदेश जाते समय आनेकी अवधि कहा था, और जिसमें वृक्ष निर्मल

१. म यस्तवावधिरकारि वसन्तः प्रेयसा निजगुणैरिव सन्तः । यत्र भान्ति कुसुमैरमलाभैः शाखिनो जनमनोरमलाभैः ॥ २. = गायकेषु । ३. श प्रतौ 'यमेनेव' इति नोपलभ्यते । ४. आ प्रतौ 'गिल्यते स्म' इति नास्ति । ५. आ श ग्रसू । ६. श °समवायः । ७. श कामिति ।

विप्रयोगकृशदारहितेन चेतसा कठिनतारहितेन ।
उत्सुको नहि विकासमयन्तं सोऽतिवर्तितुमलं[1] समयं तम् ॥३८॥
रक्ष तद्वपुरिदं नियमेन मा विधेहि[2] लघुहानि यमेन ।
[3]रंस्यसेऽल्पदिवसैः सह तेन स त्वदीयविरहं सहते न ॥३९॥
मन्ददीप्तिरसुखावहमाना जीविते शिथिलतां वहमाना ।
दूरदिक्पतिरपोहितमाल्या काचनेति जगदे हितमाल्या ॥४०॥
(पञ्चभिः कुलकम्)[4]

जनानां प्रजानां मनसि मानसे रमस्य(?) क्रीडायाः लाभैः प्रापणैः । अथवा जनानां मनोरमाः प्रीतिकराः लाभा येषां तैः । कुसुमैः पुष्पैः । शाखिनः भूरुहाः । निजगुणैः स्वस्य गुणैः । सन्तः सज्जना इव । भान्ति विराजन्ते । यः वसन्तः । तव ते । प्रेयसा नायकेन । अवधिः अवधिकारः । अकारि अक्रियत । डुकृञ् करणे कर्मणि लुङ् । तादृशं वसन्तमिति परश्लोकेनान्वीयते । उपमा ॥३७॥ विप्रयोगेति । विप्रयोगकृशदारहितेन विप्रयोगेन विरहेण कृशानां तनूनां दाराणां कलत्राणां हितेन उपकारकेण । कठिनतारहितेन कठिनतया कठिनत्वेन रहितेन । चेतसा चित्तेन । उत्सुकः[5] उद्युक्तः । सः नायकः । विकासं विस्तारम् । अयन्तं यान्तम् । तं समयं तादृशं वसन्तम् । अतिवर्तितुम्[6] अतिक्रामितुम् । नालं हि न समर्थो हि ॥३८॥ रक्षेति । तदिदं तदेतत् । वपुः शरीरम् । नियमेन निश्चयेन । रक्ष पालय । यमेन मृत्युना । लघुहानि लघौ शीघ्रे (लघु शीघ्रं) हानिर्यस्य तत् । मा विधेहि मा कुरु । तेन सह नायकेन सह । अल्पदिवसैः कतिपयदिनैः । रंस्यसे क्रीडिष्यसि । सः नायकः । त्वदीयविरहं त्वदीयं तव संबन्धं[7] विरहं वियोगम् । न सहते न क्षमते । षहि मर्षणे लट् ॥३९॥ मन्देति । मन्ददीप्तिः मन्दा अल्पा दीप्तिः कान्तिर्यस्याः सा । असुखावहमाना असुखं दुःखमावहतीति असुखावहः, (असुखावहो) मानो गर्वो यस्याः सा । जीविते जीवने । शिथिलतां[8] शीर्णताम् । वहमाना धरमाणा । दूरदिक्पतिः दूरदिशि विप्रकृष्टदेशे पतिर्यस्याः सा । अपोहितमाल्या अपोहितं त्यक्तं माल्यं यया सा । काचन वनिता । आल्या सख्या । इति प्रोक्तप्रकारेण । हितम्

आभावाले तथा लोगोंके मनको प्रसन्न करनेवाले फूलोंसे सुशोभित होते हैं । जैसे सत्पुरुष अपने, निर्मल और लोगोंके मनमें प्रीति उत्पन्न करनेवाले गुणोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ३७ ॥ तेरे प्रियतमका हृदय कोमल है, उसमें कठोरता तनिक भी नहीं है । उसे विरह व्याकुल कृश अंगनाओंके हितका स्वयं खयाल है, फिर भला तुम्हारे हितका ख्याल नहीं होगा ? वह यहाँ आनेको उत्सुक है । उस वसन्तके इन विकासकारी दिनोंका वह उलंघन नहीं करेगा— अवश्य ही आयगा ॥ ३८ ॥ रक्षाका नियम लेकर तू अपने इस शरीरको बचा ले इसे इतनी जल्दी यमराजके द्वारा हानि पहुँचाने योग्य न बना डाल । तू थोड़े ही दिनोंमें उसके साथ रमण करेगी । वह तेरे विरहको सहन नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥ ये हितकी बातें एक सहेलीने अपनी उस विरहिणी सखीसे कहीं, जिसकी दीप्ति फ़ीकी पड़ गयी थी, जिसे अपना सम्मान भी दुःखदायी जान पड़ता था, जिसने अपने जीवनमें भी शिथिलता धारण कर ली थी, जिसका पति कहीं दूर गया हुआ था और जिसने मालाका भी परित्याग कर दिया था ।

१. अ सोऽविलम्बितुमलं । २. अ आ इ विधाहि । ३. क ख ग घ म रम्यसे । ४. आ इ क ख ग घ 'पञ्चभिः कुलकम्' इति नोपलभ्यते । ५. = उत्कण्ठितः । ६. = अतिवर्तनं कर्तुम् । ७. = संबन्धिनं । ८. = शैथिल्यम् ।

दारुणा विरचना भ्रुकुटीनां साम्यमावहति सुभ्रु कुटीनाम् ।
बिभ्रति प्रियतमे तव दास्यं कोपनं किमिति जातवदास्यम् ॥४१॥

का धृतिस्तव रतेन विना मे नोद्यताञ्जलिरहं न विनामे ।
किं वृथैव मयि मानममाने संतनोति भवती नममाने ॥४२॥

कान्तिवारिणि नभोवदनन्ते मग्नमम्बुजनिभं वदनं ते ।
पातुमुत्सुक इव भ्रमरोऽहं जायमानबहुविभ्रमरोहम् ॥४३॥

मन्मनः सुतनु भीमदनेन बाध्यमानमनिशं मदनेन ।
वर्तते भज रुषस्तनिमानं मुञ्च पीवरतरस्तनि मानम् ॥४४॥

उपकारवचनम् । जगदे ऊचे । गद व्यक्तायां वाचि कर्मणि लट् । पञ्चभिः कुलकम् ॥४०॥ दारुणेति । सुभ्रु सु शोभने भ्रुवौ यस्याः तस्याः संबोधनम्[1], भो मनोहरभ्रु वनिते । भ्रुकुटीनां भ्रूविकाराणाम् । दारुणा निष्ठुरा । विरचना करणम् । कुटीनां तृणकुटीराणाम् । साम्यं सादृश्यम् । आवहति धरति । तृणकुटीरवच्छोत्रं नश्येत्—इत्यर्थः । तव ते । दास्यं दासत्वम् । बिभ्रति धरति । प्रियतमे प्राणनायके, मयि, इत्यध्याहारः । आस्यं मुखम् । किमिति किं कारणम् । कोपनं कोपयुक्तम् । जातवत् जातम् । क्तवतु—प्रत्ययः ॥४१॥ का धृतिरिति[2] । तव ते । रतेन सुरतेन । विना ऋते । मे मम । का धृतिः कः संतोषः । अहं, विनामे प्रणामे । नोद्यताञ्जलिः न विहिताञ्जलि र्न वि(हि)भवामि, इति न, अपि तु उद्यताञ्जलिरेव—इत्यर्थः । भवती पूज्या त्वम् । अमाने गर्वरहिते । नममाने नमस्कारं कुर्वाणे । मयि नायके । वृथैव व्यर्थमेव । मानं गर्वम् । किं कारणम् । संतनोति करोषि(ति) । भवच्छब्दयोगे प्रथमपुरुषः ॥४२॥ कान्तीति । नभोवत् गगनवत् । अनन्ते अन्तरहिते । कान्तिवारिणि कान्तिःलावण्यमेव वारि जलं तस्मिन् । मग्नं निपतितम् । अम्बुजनिभम् अम्बुजस्य कमलस्य निभं समानम् । जायमानबहुविभ्रमरोहं जायमान उत्पद्यमानो बहुर्बहुलो विभ्रमस्य भ्रूविकारस्य रोहः स्थानम्, अथवा अङ्कुरप्रादुर्भावो यस्य[3] तत् । तव, वदनं मुखम् । अहं, भ्रमरः भृङ्ग इव । पातुं पानं कर्तुम् । उत्सुकः उद्युक्तः ॥४३॥ मन्मन इति । सुतनु सु शोभना तनुर्यस्याः तस्याः संबोधनम्[4], भो मनोहराङ्गि । पीवरतरस्तनि पीवरतरौ अत्यन्तपीवरौ स्तनौ कुचौ यस्याः तस्याः संबोधनम्[5], भोः पृथुतरस्तनि । अनेन एतेन । मदनेन मन्मथेन । अनिशम् अनवरतम् । बाध्यमानं पीड्यमानम् । मन्मनः मम चित्तम् । भीमत् भीर्भयमस्यास्तीति भीमद् भयसहितम्—इत्यर्थः । वर्तते विद्यते । रुषः कोपस्य । तनिमानं तनोः कृशस्य भावः तनिमा तं कृशत्वम्—इत्यर्थः । भज आश्रय ।

(३६वें से ४०वें पद्य तक सम्बन्ध है) ॥४०॥ प्रिये ! तेरी भौहें सुन्दर हैं, पर इस समय कोपके कारण कुटिलता और कठोरता आ जानेसे ये दारुण हो गयी हैं और इसीलिए लकड़ीकी कुटियों जैसी हो गयी हैं । प्रियतमने (मैंने) तेरी दासता स्वीकार कर ली है तो फिर तेरा मुख कोपयुक्त क्यों है ? ॥ ४१ ॥ तेरे सम्भोग बिना मुझे कौन-सा सन्तोष है ? तुझे प्रणाम करते समय में हाथ नहीं जोड़ता, यह बात भी नहीं है । मैं मान छोड़कर तेरे सामने नम गया हूँ, तो फिर तू व्यर्थ ही मान क्यों कर रही है ? ॥ ४२ ॥ आकाशकी तरह अनन्त कान्ति रूपी जलमें डूबे हुए, नाना प्रकारके शृंगारसे युक्त तुम्हारे कमलसरीखे मुखको मैं भौंरेके समान पीनेके लिए उत्सुक हूँ ॥ ४३ ॥ हे सुन्दर शरीर वाली ! और हे पुष्ट स्तनों वाली ! इस कामदेवके द्वारा निरन्तर सताया गया मेरा मन भयभीत हो रहा है । अतः क्रोधको कम कर, और

---

१. = तत्संबुद्धौ । २. आ श का इति । ३. = यत्र । ४. = तत्संबुद्धौ । ५. = तत्संबुद्धौ ।

काचिदित्थमुदिता दयितेन प्रेम सार्धमकृतोदयि तेन ।
कं वचांसि रसभारचितानि प्रीणयन्ति न बुधै रचितानि ॥४५॥
(पञ्चभिः कुलकम्[1])
कंदरास्वनुकृताहिमवन्तं ध्वान्तराशिमचलं हिमवन्तम् ।
भानुराप शशिशुद्धनदायां भाति यो दिशि वसद्धनदायाम् ॥४६॥
लीनषट्पदकुला तिलकाली यद्विकासमगमत्तिलकाली ।
प्राप तेन मनसापमुदारं मानिनी मदनतापमुदारम् ॥४७॥
संनिषेव्य सततं कमलिन्या रागकारि मधु साकमलिन्या ।
यानि चक्रुरलयो ध्वनितानि के निशम्य ययुरध्वनि तानि ॥४८॥

भज सेवायां लोट्[2] । मानं गर्वम् । मुञ्च त्यज । मुच्लृ् मोक्षणे लोट्[3] ॥४४॥ काचिदिति । दयितेन नायकेन । इत्यम् अनेन प्रकारेण । काचित् एका स्त्री । उदिता भाषिता । तेन नायकेन । सार्धं साकम् । प्रेम स्नेहम् । उदयि उदयोऽस्यास्तीति उदयि, उत्पत्तियुक्तम् (वर्धमानमिति यावत्) । अकृत अकरोत् । डुकृञ् करणे लुङ् । तथा हि—रसभारचितानि रसानां शृङ्गारादिनवरसानां भारेण अतिशयेन चितानि पोषितानि । बुधैः विद्वद्भिः । रचितानि निर्मितानि । वचांसि वचनानि । कं पुरुषम् । न प्रीणयन्ति न संतोषयन्ति । प्रीञ् तर्पणे लट् । पञ्चभिः कुलकम् ॥४५॥ कन्दरास्विति । यः हिमवान् पर्वतः । शशिशुद्धनदायां शशीव चन्द्र इव शुद्धा निर्मला नदा नद्यो यस्यां तस्याम् । वसद्धनदायां वसन् तिष्ठन् धनदः कुबेरो यस्यां तस्याम् । दिशि ककुभि । भाति राजते । तम्—इत्यध्याहारः । कन्दरासु[4] गह्वरेषु अनुकृताहिम् अनुकृताः समीकृता अहयः सर्पा येन तम् । ध्वान्तराशिं ध्वान्तानां तमसां राशिं समूहम् । अवन्तं रक्षन्तम् । हिमवन्तं हिमवन्नामधेयम् । अचलं पर्वतम् । भानुः सूर्यः । आप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । उत्तरायणोऽभूत्—इति भावः ॥४६॥ लीनेति । लीनषट्पदकुला लीनं स्थगितं षट्पदानां कुलं समूहो यस्यां सा । तिलकाली तिल इव काली कृष्णवर्णा । 'कालशबल—' इत्यादिना ङी । तिलकाली तिलकानां तिलकवृक्षाणामाली पङ्क्तिः । यत् यस्मात् । विकासं विकसनम् । अगमत् अगात् । गम्लृ गतौ लुङ् । 'सर्तिशास्ति—' इत्यादिना अङ्-प्रत्ययः । तेन कारणेन । मानिनी कान्ता । अपमुदा अपगता व्यपगता मुद् यस्य तेन । मनसा मानसेन । उदारं महान्तम् । मदनतापं मदनेन कामेन जनित (तं) संतापम् । अरम् अत्यर्थम् । आप जगाम । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥४७॥ संनिषेव्येति[5] । अलयः भ्रमराः । अलिन्या भृङ्ग्या । साकं सह । कमलिन्याः

गर्वको छोड़ ॥ ४४ ॥ किसी युवतीसे उसके पतिने जब यों कहा तो उसने उसके (पतिके) साथ खूब ही प्रेम किया, जो उत्तरोत्तर बढ़ता गया । बुद्धिमान् पुरुषोंके द्वारा कहे गये सरस वचन किसे नहीं प्रसन्न कर देते हैं ? (यहाँ भी पाँच श्लोकोंका सम्बन्ध है) ॥ ४५ ॥ अपनी गुफाओंमें नागके समान काले अन्धकारकी रक्षा करनेवाले उस हिमालय पर्वतको सूर्यने प्राप्त कर लिया—उत्तरायण हो गया, जो चन्द्रमा सरीखी शुभ्र और निर्मल नद व नदियोंको बहानेवाली कुबेरके निवासकी दिशा—उत्तरमें सुशोभित है ॥ ४६ ॥ तिलक नामके वृक्षोंकी पंक्ति खिल उठी, उसके ऊपर चारों ओरसे भौंरोंके झुण्ड निश्चल होकर बैठ गये । फलतः तिलक वृक्षोंकी आवली (पंक्ति) तिलोंके समान काली हो गयी । उसके इस विकाससे मानवती नायिकाके मनकी प्रसन्नता लुप्त हो गयी, और उसे कामजन्य सन्ताप भी बहुत अधिक हुआ ॥ ४७ ॥ भौंरोंने भौंरियोंके साथ कमलिनीके, कामरागको बढ़ानेवाले रसको लगातार

---

१. म प्रतौ 'पञ्चभिः कुलकम्' इत्युपलभ्यते नान्यासु प्रतिषु । २. आ लिट् श लेट् । ३. आ लिङ् श लेट् । ४. = गुहासु । ५. श स समिति ।

शीतला इति विभाव्य जनेन पातिताःससलिलव्यजनेन ।
को न जातविरहोऽतनुतापः क्वथिताम्बुसदृशोऽतनुतापः ॥४९॥
वीक्ष्य जातरुडिवासमहानि पद्मषण्डमविकासमहानि ।
तिग्मगुर्विहितवानहिमानि भास्वतां न हृदयं नहि मानि ॥५०॥
इत्थं मधौ मधुकरीमुखरीकृताशे व्याजृम्भिते मकरकेतुनिसर्गबन्धौ ।
भूयः प्रविश्य मुदितः सहसा निशान्तं विस्रब्धमित्यभिदधेऽङ्कगतां स देवीम् ॥५१॥

नलिन्याः । रागकारि प्रीतिकारि । मधु पुष्परसम् । संनिषेव्य निपीय । सततम् अनवरतम् । यानि ध्वनितानि यान् ध्वनीन् । चक्रुः विदधुः । तानि ध्वनितानि । निशम्य श्रुत्वा । अध्वनि मार्गे । के पुरुषाः । ययुः जग्मुः । न केऽपि—इत्यर्थः । या प्रापणे लिट् ॥४८॥ शीतला इति । ससलिलव्यजनेन ससलिलेन जलसहितेन[1] व्यजनेन तालवृन्तेन । जनेन परिवारजनेन । शीतला इति शीतगुणयुक्ता इति । विभाव्य निश्चित्य । पातिताः सिक्ताः । आपः (अपः) सलिलानि । जातविरहः जातः समुत्पन्नो विरहो वियोगो यस्य सः । अतनुतापः अतनुर्बहुलः तापो यस्य सः, कामसंतापयुक्तो वा । कः को वा पुरुषः । क्वथिताम्बुसदृशः क्वथितस्य संतप्तस्य (संतापं प्रापितस्य) जलस्य सदृशः समानाः । न अतनुत न करोति स्म । तनूञ् विस्तारे लङ् ॥४९॥ वीक्ष्येति । तिग्मगुः तिग्माः तीक्ष्णा गावः किरणा यस्य सः, सूर्यः । अविकासं विकासरहितम् । असमहानि असमा असदृशा हानिर्नाशो यस्य तत्, प्रागुत्गुणयुतम्—इति यावत् । पद्मषण्डं पद्मानां कमलानां षण्डं[2] समूहम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । जातरुडिव जाता उत्पन्ना रुट् कोपो यस्य स इव । 'रुट्क्रुधौ स्त्रियौ'[3] इत्यमरः । अहानि दिवसानि । अहिमानि उष्ण(ता) सहितानि । विहितवान् कृतवान् । तथा हि—भास्वतां भासः सन्त्येषां ते भास्वन्तः, तेषां तेजस्विनाम् । हृदयं चित्तम् । मानि नहि अभिमानयुक्तं न भवतीति नहि, अपि तु मानयुक्तमेव ॥५०॥ इत्थमिति । मधुकरीमुखरीकृताशे मधुकरीभिर्भृङ्गवधूभिर्मुखरीकृता वाचालिता आशा दिशो[4] यस्मिन् तस्मिन् । मकरकेतुनिसर्गबन्धौ मकरकेतोर्मन्मथस्य निसर्गेण सहजेन बन्धौ मित्रे । मधौ वसन्ते । इत्थम् उक्तप्रकारेण । व्याजृम्भिते सति व्यावृद्धे[5] सति । मुदितः संतुष्टः । स भूपः अजितसेनचक्रवर्ती । सहसा स्वेच्छया । निशान्तम् अन्तःपुरम् । प्रविश्य प्रवेशनं कृत्वा । अङ्कगताम् उत्सङ्गगताम् । देवीं शशिप्रभादेवीम् । विस्रब्धं विश्वस्तं यथा तथा । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अभिदधे ऊचे ।

पीकर जो झंकार की ध्वनि की, उसे सुनकर ऐसे कौनसे धीर-वीर थे, जो उस मार्गमें आगे कदम बढ़ा सके हों ? ॥ ४८ ॥ परिवारके लोगोंने शीतल समझकर जिस जलके छींटे देकर ताड़के पंखोंको विरहियोंके ऊपर झलना शुरू किया, वही जल एक-एक बिन्दुके रूपमें जब उनके सन्तप्त शरीरपर गिरा, तब उसे उन विरहियोंमें-से किस तीव्र सन्तापवाले विरहीने खौलाये गये जलके समान नहीं कर दिया ? ॥ ४९ ॥ शिशिर ऋतुमें कमलोंका विकास रुक गया था, और उनकी इतनी हानि हुई थी, जितनी हानि कभी किसीकी नहीं हुई होगी, मानो इसी विचारसे क्रुद्ध होकर सूर्यने हिमको दूर कर दिया, और दिनोंमें उष्णता भर दी । तेजस्वियोंका मन मानयुक्त नहीं होता, यह बात नहीं ॥ ५० ॥ जिसने भौंरियोंके शब्दसे सभी दिशाओंको मुखरित कर दिया है और कामदेव जिसका स्वभावतः मित्र है, उस वसन्त ऋतुके पूर्ण विकासको प्राप्त कर लेनेपर अजितसेन बड़ा प्रसन्न हुआ । वह सहसा अन्तःपुरमें प्रविष्ट होकर अपने पास आकर बैठी हुई रानी शशिप्रभासे शान्तिपूर्वक यों बोला—॥ ५१ ॥

---

१. आ जलरहितेन श जलसहिते । २. = 'पद्मादिवृन्दे षण्डोऽस्त्री' इति विश्वलो० । ३. आ श स्त्रियाम् । ४. श प्रतौ 'दिशो' इति नोपलभ्यते । ५. आ प्रवृद्धे ।

पश्य प्रिये परभृतध्वनितच्छलेन[1] मामेष दर्शयितुमाह्वयतीव चैत्रः ।
प्रादुर्भवत्तिलकपत्रविशेषशोभां सीमन्तिनीमिव पुरोपवनस्य लक्ष्मीम् ॥५२॥
संभावयामि तदहं तमनङ्गबन्धुं गत्वा वने मलयमारुतनृत्तशाखे ।
तत्र त्वमप्यवनताङ्गि तिरोहितानां नेत्रोत्सवं कुरु गता वनदेवतानाम् ॥५३॥
ह्रीतो विहाय मम लोचनहारि नृत्तं गन्तुं शिखी सुमुखि तत्र यदि व्यवस्येत् ।
कार्यस्त्वया स्मरनिवासनितम्बचुम्बी चीनांशुकेन पिहितो निजकेशपाशः ॥५४॥

डुधाञ् धारणे च लिट् ॥५१॥ पश्येति । प्रिये भोः कान्ते । प्रादुर्भवत्तिलकपत्रविशेष[2]शोभां प्रादुर्भवतामुत्पद्यमानानां तिलकानां तिलकवृक्षाणां पत्रैः छदैः[3] विशेषा[4] बह्वी शोभा, पक्षे प्रादुर्भवता तिलकपत्रेण मकरिकापत्रेण[5] विशेषा अधिका शोभा यस्याः, ताम् । सीमन्तिनीमिव कामिनीमिव । पुरोपवनस्य पुरोद्यानस्य । लक्ष्मीं शोभाम् । दर्शयितुम् आलोकयितुम् । परभृतध्वनितच्छलेन परभृतस्य कोकिलस्य ध्वनितमिति ध्वनिरिति[6] छलेन व्याजेन । एषः अयम् । चैत्रः[7] । माम्, आह्वयतीव आकारयतीव । पश्य वीक्षस्व । दृश् वीक्षणे लोट्[8] ॥५२॥ संभावयामीति । अवनताङ्गि अवनतमीषन्नतमङ्गं यस्याः तस्याः संबोधनम्[9] भो नम्राङ्गि । तत् तस्मात्कारणात् । अहं, मलयमारुतनृत्तशाखे मलयमारुतेन दक्षिणवायुना नृत्ताः[10] शाखा यस्मिन्, तस्मिन् । वने उद्याने । गत्वा प्राप्य । तं वसन्तम् । अनङ्गबन्धुं मन्मथमित्रम् । [तं वसन्तम्] । संभावयामि सत्करोमि । त्वमपि, तत्र वने । गता याता सती । तिरोहितानां व्यवहितानाम् । वनदेवतानां वनदेवीनाम् । नेत्रोत्सवं नयनोत्सवम् । कुरु विधेहि । डुकृञ् करणे लोट्[11] ॥५३॥ ह्रीत इति । सुमुखि भो मनोहरमुखि । तत्र वने । शिखी मयूरः । ह्रीतः लज्जितः । मम मे । लोचनहारि लोचनयोर्नयनयो हारि मनोहरम् । नृत्तं नर्तनम् । विहाय त्यक्त्वा । यदि, गन्तुं गमनाय । व्यवस्येत् उद्योगं कुर्यात् । वि अवपूर्वः षो अन्तकर्मणि लिङ् । (तत्) त्वया, स्मरनिवासनितम्बचुम्बी स्मरस्य कामस्य निवासमावासं नितम्बं चुम्बति स्पृशतीत्येवं शीलः तथोक्तः । निजकेशपाशः निजस्य स्वस्य केशपाशो धम्मिल्लः । चीनांशुकेन

प्रिये ! इस समय पुरके उपवनकी शोभा सौभाग्यवती नायिका सरीखी हो गयी है। जिस प्रकार नायिका तिलक (सुहागबिन्दु) और पत्र-रचनासे सुशोभित होती है, उसी प्रकार उपवनकी शोभा तिलक वृक्षोंके अभी-अभी उत्पन्न हुए नये-नये पत्तोंसे है। इसी शोभाको दिखलानेके लिए मानो चैत्रमास कोकिलके शब्दके बहानेसे मुझे बुला रहा है ॥ ५२ ॥ उपवनमें मलय-पवनके इशारेपर टहनियाँ नर्तकीकी भाँति नृत्य कर रही हैं—हिल रही हैं। मैं वहाँ जाकर कामदेवके मित्र ऋतुराज वसन्तका सत्कार करूँ। नम्र शरीरवाली प्रिये ! तुम भी चलो और वहाँ ओटमें खड़ी हुई—अदृश्य वनदेवियोंकी आँखोंको उत्सव उत्पन्न कर दो ॥ ५३ ॥ हे सुमुखि ! वहाँ मेरी दृष्टिको आकृष्ट करने वाले नृत्यको छोड़कर मयूर यदि लज्जित होकर भागनेका प्रयत्न करे तो तुम कामदेवके निवास स्थान स्वरूप नितम्ब तक लटकने वाले अपने

---

१. आ इ परभृतां ध्वनित° । २. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु विशेषस्य स्थाने 'विचित्र' इत्यस्ति । ३. = प्रादुर्भवद्भिः तिलकपत्रैः तिलकवृक्षच्छदैः । ४. = विचित्रा । ५. श प्रतौ 'मकरिकापत्रेण' इति नोपलभ्यते । ६. = ध्वनितं ध्वनिः, तस्य । ७. = चैत्रमासः । ८. आ लिट् श लेट् । ९. = तत्संबुद्धौ । १०. = नृत्तयुताः । ११. आ लिङ् श लेट् ।

माधुर्यमिच्छुरतिशायि परिग्रहीतुं चूताङ्कुरग्रसनजातकषायकण्ठः ।
मूकीभवन्परभृतां निवहोऽपि नूनमाकर्णयिष्यति तवानतगात्रि वाणीम् ॥५५॥
तत्र त्वदीयचरणाम्बुजताड्यमानौ द्वौ यास्यतः सुवदने सदृशीमवस्थाम् ।
सद्यो वहन्मुकुलजालमशोकशाखी रोमाञ्चकञ्चुकितमूर्तिरहं द्वितीयः ॥५६॥
गत्या निसर्गपरिमन्थरया भ्रमन्तीं त्वां संनिरीक्ष्य वनसद्वनदीर्घिकासु ।
हंसीकुलं न हरिणाक्षि जनिष्यते न त्वच्छिष्यभावगमनस्पृहयालु[1] मन्ये ॥५७॥

कौशेयवस्त्रेण । पिहितः आच्छादितः । कार्यः विधेयः ॥५४॥ माधुर्यमिति । आनतगात्रि विनताङ्गि । अतिशायि अतिशयशीलम् । माधुर्यं मधुरत्वम् । परिग्रहीतुं परिग्रहणाय । इच्छुः इच्छन् । 'सन्भिक्षा—' इत्यादिना उ-प्रत्ययः । चूताङ्कुरग्रसनजातकषायकण्ठः च्यूतस्य माकन्दस्य अङ्कुरस्य कलिकायाः ग्रसनेन सेवनेन जातः संजातः कषायः शुद्धता वा[2] यस्यासौ चूताङ्कुरप्रसनजातकषायः स कण्ठो यस्यासाविति पुनः बसः[3] (?) । 'कषायो रसभेदे स्याद्गन्धरागे विलेपने । निर्यासे च कषायोऽथ सुरभौ लोहितेऽन्यवत्[4] ॥' 'कटुतिक्तकषायास्तु सुगन्धस्याभिधायकाः ।' इत्यभिधानात् । परभृतां कोकिलानाम् । निवहोऽपि समूहः (अपि) । मूकीभवन् प्रागमूक इदानीं मूको भवतीति तथोक्तः । तव ते । वाणीं वचनम् । नूनं निश्चयेन । आकर्णयिष्यति श्रावयिष्यति (श्रोष्यति) । छिद्र कर्णभेदे लृट् ॥५५॥ तत्रेति । सुवदने सु शोभनं वदनं यस्याः तस्याः संबोधनम्[5] सुमुखि । तत्र वने । त्वदीयचरणाम्बुजताड्यमानौ त्वदीयाभ्यां तव संबन्धिभ्यां चरणाम्बुजाभ्यां पादारविन्दाभ्यां ताड्यमानौ आहन्यमानौ । द्वौ, सद्यः तदैव । सदृशीं समानाम् । अवस्थां परिणतिम् । यास्यतः गमिष्यतः । द्वौ कौ, इत्युक्ते कथ्यते—मुकुलजातं मुकुलानां कुड्मलानां जातं समूहम् । वहन् धरन् । अशोकशाखी अशोकश्चासौ शाखी च तथोक्तः, एकः । रोमाञ्चकञ्चुकितमूर्तिः रोमाञ्चेन रोमहर्षेण कञ्चुकिता कवचिता मूर्तिर्यस्य सः । अहं, द्वितीयः । 'द्वित्रेस्तीयद्रेश्व ऋश्' इति तीयल्-प्रत्ययः । भवामि, इत्यध्याहार्यम् ॥५६॥ गत्येति । हरिणाक्षि हरिणस्य (अक्षिणी) इव अक्षिणी यस्याः तस्याः संबोधनम्[6] भो एणाक्षि । वनदीर्घिकासु वनस्य दीर्घिकासु सरोवरेषु निवसत् विद्यमानम् । हंसीकुलं हंसवधूनां कुलं यूथम् । निसर्गपरिमन्थरया निसर्गेण स्वभावेन मन्थरया मन्दया गत्या गमनेन । भ्रमन्तीं चलन्तीम् । त्वां भवतीम् । संनिरीक्ष्य संविलोक्य । त्वच्छिष्यभावगमनस्पृहयालु तव ते शिष्यभावं छात्रत्वं गमने प्रापणे स्पृहयालु वाञ्छायुक्तम्, अथवा तव शिष्यभावमुपगमनं वाञ्छत् । न जनिष्यते न भविष्यति (इति) न, किन्तु भविष्यत्येव ।

बालोंको चीनी रेशमी चादरसे ढक लेना ॥ ५४ ॥ हे नम्र शरीरवाली ! वहाँ आम्रमंजरी खानेसे कोकिलोंका कण्ठ सुरीला हो गया है । फिर भी सर्वश्रेष्ठ मधुरताको प्राप्त करनेकी इच्छासे उनका झुण्ड निश्चय ही मौन रहकर तुम्हारे वचन सुनेगा ॥ ५५ ॥ हे सुन्दर मुखवाली प्रिये ! वहाँ तुम्हारे चरण कमलोंके आघातसे दो, एक सरीखी अवस्थाको प्राप्त करेंगे—पहला अभी-अभी उत्पन्न हुई कलियोंको धारण करनेवाला अशोक वृक्ष और दूसरा मैं, जिसके सारे शरीरमें रोमांच-ही-रोमांच दृष्टिगोचर होंगे ॥ ५६ ॥ हे मृगलोचने ! मेरा खयाल है वहाँके सरोवरोंमें रहनेवाला हँसियोंका झुण्ड तुम्हें स्वाभाविक मन्दगतिसे घूमती हुई देखकर

---

१. क ख ग व म गमने स्पृहयालु । २. श शुद्धवाक् । ३. आ इति पुगर्भसः । ४. आ °न्यदक् । ५. = तत्संबुद्धौ । ६. = तत्संबुद्धौ ।

हस्तेन सुन्दरि मुहुर्विनिवारितोऽपि भृङ्गस्तवाधरदले नवविद्रुमाभे ।
धावन्नशोकनवपल्लवशङ्किचेताः स्मेरं करिष्यति न कस्य मुखं वनान्ते ॥५८॥
पर्यन्तजाततरुजालनिरुध्यमानभास्वत्करेष्वपि वनान्तलतागृहेषु ।
त्वद्वक्त्रचन्द्ररुचिभिः प्रतिहन्यमानो मुग्धाक्षि नः परिभविष्यति नान्धकारः ॥५९॥
दृष्टयोर्मदालिषु लतासु शरीरयष्टेरूर्वोर्विचित्रकदलीष्वधरस्य बिम्बे ।
संवाहिताङ्घ्रियुगला स्वसखीजनेन[1] सादृश्यमिन्दुवदने विहरेक्षमाणा ॥६०॥

मन्ये जाने । मनि ज्ञाने लट् । उत्प्रेक्षा ॥५७॥ हस्तेनेति[2] । सुन्दरि रमणि । नवविद्रुमाभे नवस्य विद्रुमस्य प्रवालस्याभे समाने[3] । तव ते । अधरदले अधर एव दलं पल्लवः, तस्मिन् । रूपकम् । अशोकनवपल्लव-शङ्किचेताः अशोकस्य कङ्केलिवृक्षस्य नवः प्रत्यग्रः पल्लव इति शङ्कि शङ्कायुक्तं चेतो यस्य सः । भृङ्गः षट्पदः । हस्तेन पाणिना । मुहुः पुनः । निवारितोऽपि निराकृतोऽपि धावन् वेगेन गच्छन् सन् । 'सर्तेर्धौ वेगे' इति सृ गतौ इति धातोः वेगार्थे धावादेशः । वनान्ते वनमध्ये । कस्य पुरुषस्य । मुखं वदनम् । स्मेरं स्मितम् (सस्मितम्) । न करिष्यति न विधास्यति । डुकृञ् करणे लृट् ॥५८॥ पर्यन्तेति । मुग्धाक्षि मुग्धे मनोहरेऽक्षिणी यस्याः तस्याः[4] संबोधनम्, भो मनोहरनयने । पर्यन्तजाततरुजालनिरुध्यमानभास्वत्करेषु पर्यन्ते समीपे जातानामुत्पन्नानां तरूणां वृक्षाणां जालेन समूहेन निरुध्यमाना आव्रियमाणा[5] भास्वतः सूर्यस्य कराः किरणा येषु तेषु । वनान्तलतागृहेषु वनस्यान्ते मध्ये विद्यमानाभिर्लताभिर्वल्लरीभिर्निर्मितानि गृहाणि तेष्वपि । त्वद्वक्त्रचन्द्ररुचिभिः तव ते वक्त्रं मुखं तदेव चन्द्रः सोमः तस्य मरीचिभिः कान्तिभिः । रूपकम् । परिहन्यमानः निराक्रियमाणः । अन्धकारः ध्वान्तम् । नो परिभविष्यति न पराजयिष्यते, इति न, किन्तु परिभविष्यत्येव । नः अस्मान् । परिभविष्यति अवधोरयिष्यति, इति न । त्वन्मुखचन्द्रे सति तत्रान्धकारस्य मनागपि संभावना नास्ति, इति भावः ॥५९॥ दृष्टयोरिति[6] । इन्दुवदने इन्दुरिव वदनं मुखं यस्याः तस्याः संबोधनम्[7], भो चन्द्रमुखि । उपमा । मदालिषु मदेन युक्तेषु अलिषु भृङ्गेषु । दृष्टयोः नयनयोः । शरीरयष्टेः, लतासु वल्लरीषु । विचित्र-कदलीषु विचित्रासु आश्चर्यभूतासु कदलीषु रम्भासु, ऊर्वोः । बिम्बे बिम्बफले । अधरस्य रदनच्छदस्य । सादृश्यं साम्यम् । ईक्षमाणा आलोकमाना । स्वसखीजनेन निजालिजनेन[8] । संवाहिताङ्घ्रियुगला संवाहितं मर्दितमङ्घ्र्योः पादयोर्युगलं यस्याः सा (त्वम्) । विहर विहारं कुरु । हृञ् हरणे लेट् (लोट्) । उपमा

तुम्हारी शिष्यता स्वीकार करनेके लिए लालायित हो उठेगा ॥ ५७ ॥ हे सुन्दरि ! हाथसे बार-बार हटाया गया भी भौंरा नवीन कोंपलकी आभा वाले तुम्हारे होंठपर अशोककी कोंपलके भ्रमसे दौड़कर उपवनमें किसके मुखको हासयुक्त नहीं कर देगा ? ॥ ५८ ॥ हे सुन्दर आँखों वाली ! वहाँ लतामण्डप बने हुए हैं, उनके चारों ओर घनी वृक्षावली लगी हुई है, जिससे सूर्य की किरणें बाहर ही रोक दी जाती हैं—अन्दर प्रवेश नहीं कर पातीं । अतः वहाँ अन्धकार छाया रहता है । फिर भी तुम्हारे मुखचन्द्रकी कान्तिसे वह नष्ट कर दिया जायगा । हम लोगोंको बाधा नहीं पहुँचा सकेगा ॥ ५९ ॥ हे चन्द्रवदने ! वहाँपर तुम अपनी आँखोंकी समानता मतवाले भौंरोंमें, शरीरकी समानता लताओंमें, ऊरुओंकी समानता विचित्र कदली वृक्षोंमें, होठकी समानता कुन्दरूमें देखती हुई विहार करना । थकान होनेपर तुम्हारी

१. अ °युगलासु । सखीजनेन । २. श हस्तेति । ३. = नवविद्रुमवदाभा यस्य तस्मिन्, विद्रुमवर्णे—इत्यर्थः । ४. = तत्संबुद्धौ । ५. आ आह्रियमाणाः । ६. एष टीकानुगः पाठः, प्रतिषु तु 'दृष्टेः' इत्येव समुपलभ्यते । ७. = तत्संबुद्धौ । ८. श 'निजालिजनेन' इति नास्ति ।

क्षणमिति मधुराभिर्भूपतिर्भारतीभिः स रहसि रमयित्वा वल्लभां बद्धभावाम् ।
निजनगरनिवेशे[1] लोकमानन्दयन्तीं वनविहरणयात्राघोषणामादिदेश ॥६१॥
दिङ्नागान्प्रतिदन्तिशङ्किमनसः श्च्योतत्कटान्कोपय-
न्नम्भःपूर्णपयोदशङ्किहृदयानुत्कण्ठयन्केकिनः ।
नागानुत्फणयंश्चमत्कृतिभृतो भूभृत्तटांश्चालय-
न्व्योम व्याप[2] मृदङ्गभूरुदयवान्प्रस्थानशंसी ध्वनिः ॥६२॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्येऽष्टमः सर्गः ॥८॥

॥६०॥ क्षणमिति । सः भूपतिः अजितसेनचक्रवर्ती । इति उक्तप्रकारेण । क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम् । मधुराभिः मनोहराभिः । भारतीभिः वचनैः । बद्धभावां बद्धो रचितो भावश्चित्तविकारो यस्याः, ताम् । वल्लभां प्राणकान्ताम्, शशिप्रभाम् इति यावत् । रहसि एकान्ते । रमयित्वा क्रीडयित्वा । निजनगरनिवेशे निजनगरस्य स्वपुरस्य निवेशे मध्ये । लोकं जनम् । आनन्दयन्तीं संतोषयन्तीम् । वनविहरणयात्राघोषणां वनस्य विहरणस्य[3] क्रीडायाः [यात्रायाः] निर्याणस्य घोषणाम् । आदिदेश आजज्ञे । दिशि अतिसर्जने लिट् ॥६१॥ दिङ्नागानिति । [श्-] च्योतत्कटान् [श्] च्योतन्तः कटा येषां तान् स्रवत्कपोलान् । प्रतिदन्तिशङ्किमनसः प्रतिदन्तिन इति प्रतिकूलगजा इति शङ्कि सन्देहयुक्तं मनो येषां तान् । दिङ्नागान् दिग्गजान् । कोपयन् क्रोधयन् । अम्भःपूर्णपयोदशङ्किहृदयान् अंभसा सलिलेन पूर्णः पयोदो मेघ इति शङ्कि हृदयं चित्तं येषां तान् । केकिनः मयूरान् । उत्कण्ठयन् संतोषयन् । चमत्कृतिभृतः चमत्कृतिं चमत्कारं भृतो धरतः (बिभ्रतीति भृतः धरन्तः तान्) । नागान् सर्पान् । उत्फणयन् उद्गतफणान् कुर्वन् । भूभृत्तटान् भूभृतां पर्वतानां तटान् सानून् । स्फालयन् पादेन प्रहरन् । प्रस्थानशंसी प्रस्थानस्य प्रयाणस्य शंसी सूची । ध्वनिः ध्वानः । मृदङ्गभूः पटहोद्भवः । उदयवान्[4] प्रादुर्भावयुक्तः । व्योम गगनम् । व्याप व्याप्नोति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । अतिशयः ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्येऽष्टमः सर्गः[5] ॥८॥

सखियाँ पैर दबा देंगी ॥ ६० ॥ स्थिर विचारवाली रानी शशिप्रभाको इस प्रकारके मधुर वचनोंसे थोड़ी देर एकान्त स्थानमें आनन्द देकर चक्रवर्ती अजितसेनने अपने नगरके अन्दर सभी लोगोंको आनन्द देनेवाली वनविहारकी यात्राकी सूचना देनेके निमित्तसे घोषणाका आदेश दिया ॥ ६१ ॥ प्रस्थानसूचक मृदंग-शब्द बहुत तेज था । वह पूरे आकाशमें गूँज उठा । उसे सुनकर मदजल बहानेवाले दिग्गजोंको दूसरे हाथियोंके शब्दका भ्रम हो गया, जिससे वे क्रुद्ध हो उठे; मयूरोंको सजल मेघोंके गर्जनकी आशंका उत्पन्न हो गयी, फलतः वे ग्रीवा उठाकर ऊपरकी ओर देखने लगे; नाग आश्चर्यमें पड़ गये और फन उठाकर इधर-उधर ताकने लगे तथा पहाड़ोंके शिखर हिलने लगे ॥ ६२ ॥

इस तरह श्रीवीरनन्दिविरचित उदयांक चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

---

१. अ °निवेशं । २. अ व्योमव्यमायिमृदङ्गभू° । ३. = विहारस्य । ४. = वर्धमानः । ५. आ श चैत्र-वर्णनो नामाष्टमः सर्गः ।

[९. नवमः सर्गः]

मधुविनिर्हितविभ्रमाभिरामां मदकलकोकिलनादिनीं नरेन्द्रः ।
परिजनपरिवारितो वनान्तश्रियमबलामिव वीक्षितुं प्रतस्थे ॥१॥
ललितघनतमालका मनोज्ञद्विजसुभगास्तिलकाहितोरुशोभाः ।
स्तनजघनभरालसं प्रचेलुस्तुलितवनावलिविभ्रमा रमण्यः ॥२॥

संसारसिन्धुपतितप्रतिबद्धजीवानुद्धृत्य नित्यपदवीमधितिष्ठति स्म
धर्मं प्रकाशयति तं जिनधर्मनाथं तीर्थंकरो जयति सर्वविनेयजन्तोः[1] ॥

मध्विति । परिजनपरिवारितः परिजनैः सेवकजनैः[2] परिवारितः परिवृतः । नरेन्द्रः नराणामिन्द्रश्चक्री । मधुविनिर्हितविभ्रमाभिरामां मधुना वसन्तेन मद्येन च विनिर्हितेन कृतेन विभ्रमेण शोभया अभिरामां विराजमानाम्, पक्षे विभ्रमेण भ्रान्त्या अभिरामां । मनोहराम् । मदकलकोकिलनादिनीं मदेन कलः कोकिलस्य नादोऽस्या अस्तीति मदकलकोकिलनादिनी, ताम् । 'मदकलः स्यान्मरे भे मदेनाव्यक्त[3]वाचि च' इत्यभिधानात् । अबलामिव स्त्रियमिव । वनान्तश्रियं वनस्यान्तस्य मध्यस्य श्रियं शोभाम् । वीक्षितुं वीक्षणाय । प्रतस्थे प्रययौ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् । श्लेषः ॥१॥ ललितेति ।[4] ललित[5]घनतमालकाः ललिता[6] मनोहरा घनतमा अलकाः कुन्तला यासां ताः, पक्षे ललिता[7] मनोहरा घना निरन्तराः तमालाः तमालवृक्षा यासां ताः । मनोज्ञद्विजसुभगाः मनोज्ञैर्मनोहरैर्द्विजैर्दन्तैः सुभगाः, पक्षे मनोज्ञद्विजैः[8] (मनोज्ञैर्द्विजैः) पक्षिभिः सुभगाः । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः । तिलकाहितोरुशोभाः तिलकैः कस्तूर्यादितिलकैराहिता कृता उरुः (उर्वी) महती शोभा यासां ताः, पक्षे तिलकवृक्षैः । तुलितवनावलिविभ्रमाः तुलिता समानीकृता वनानामावलिरिव पङ्क्तिरिव विभ्रमा[9] मनोहराः । रमण्यः वनिताः । स्तनजघनभरालसं स्तनजघनयोः स्तननितम्बयो-

---

इसके पश्चात् वनकी शोभा देखनेके लिए राजा अजितसेनने अपने स्थानसे प्रस्थान कर दिया । इस अवसरपर वे चारों ओरसे अपने पूरे परिवारसे घिरे हुए थे । वनकी जिस शोभाको देखनेके लिए वे जा रहे थे, वह युवतीके समान थी । युवती मद्यपान कर लेनेपर विलाससे मनोज्ञ हो जाती है और मद्यके नशेमें कोकिलकी भाँति अव्यक्त, किन्तु मधुर शब्दोंमें बोलने लगती है । इसी तरह वनकी सुषमा भी वसन्तकी छटासे दर्शकोंको रमानेवाली हो जाती है तथा मतवाले कोकिलोंके शब्दोंसे आकर्षक ॥ १ ॥ उस यात्रामें स्तन और नितम्बके बोझसे जो स्त्रियाँ अलसायी हुई सीं, चली जा रहीं थीं, उनकी शोभा वन पंक्तिके समान थी । वनोंकी पंक्तिमें सुन्दर एवं सघन तमाल वृक्ष होते हैं, वह मनोज्ञ पक्षियोंसे सुहावनी होती है और तिलक वृक्षोंसे उसकी श्रीवृद्धि होती है । इसी तरह उन स्त्रियोंके केश सुन्दर और अत्यधिक सघन थे, वे सुन्दर दाँतोंसे बड़ी सुहावनी थीं और सुहाग बिन्दुओंसे उनकी शोभा

---

१. आ पद्यमिदं नास्ति । २. श 'सेवकजनैः' इति नास्ति । ३. आ मदे व्यक्त° श मदे वाव्यक्त° । ४. श अलितेति । ५. श अलित° । ६. श अलिताः । ७. श अलिताः । ८. आ मनोज्ञा द्विजः । ९. = विभ्रमाः शोभा याभिः, ताः ।

प्रणदितकलकाञ्चिनूपुरोत्थं[1] ध्वनिमनुबध्नति राजहंसयूथे ।
सदृशगतिकुतूहलेन दृष्टिर्मुहुरपतद्वनिताजने च यूनाम् ॥३॥
[2]सुललितगमनो न राजहंसः कलभपतिर्न च मन्थरप्रयातः ।
अलसगतिषु वामलोचनानां गुरुरजनिष्ट निजो नितम्बभारः ॥ ४ ॥
गगनमुभयतः प्रपूर्यमाणं हरिणदृशां चटुलैः कटाक्षपातैः ।
पवनविधुतनीलनीरजौघव्यतिकरिणः सरसो बभार लक्ष्मीम् ॥ ५ ॥

भरेण भारेणालसं यथा भवति तथा । प्रचेलु: प्रययु: । चल कम्पने लिट् ॥२॥ प्रणदितेति । प्रणदितकलकाञ्चिनूपुरोत्थं प्रणदितैर्मनोहरध्वनितैः कलैर्मनोहरैः काञ्चिनूपुरैः काञ्चिदामपादकटकैः उत्थं जातम् । ध्वनिं शब्दम् । अनुबध्नति अनुयाति । राजहंसयूथे राजहंसानां यूथे समूहे । वनिताजने[3] वनिता एव जनः तस्मिन्, च । तरुणानां (यूनाम्) । दृष्टिः नयनम् । सदृशगतिकुतूहलेन सदृशगतौ समानगमने कुतूहलेन कौतुकेन । मुहुः पुनः पुनः[4] । अपतत् । अप्लवत् । पत्लृ गतौ लुङ् ॥३॥ सुललितेति । वामलोचनानां कामिनीनाम् । निजः स्वकीयः । नितम्बभारः नितम्बस्य भारः । सुललितगमनः सुललितं सुरुचिरं गमनं यस्य सः । तथापि राजहंसः हंसपक्षी । नाजनिष्ट नाभवत् । मन्थरप्रयातः मन्दगमनः, सन्नपि । कलभपतिः करिशावकपतिः । न च नाजनिष्ट । ततः, अलसगतिषु मन्दगतिषु गमनेषु । गुरुः उपदेशकः । अजनिष्ट बभूव[5] । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् ॥४॥ गगनमिति । हरिणदृशां हरिणस्य (दृशौ) इव दृशौ नयने यासां तासाम्, नारीणाम्–इत्यर्थः । चटुलैः चंचलैः[6] । कटाक्षपातैः कटाक्षस्यापाङ्गदर्शनस्य पातैर्विन्यासैः । उभयतः उभयपार्श्वतः । प्रपूर्यमाणं संपूर्णं क्रियमाणम् । (भ्रियमाणम्) । गगनम् आकाशम् । पवनविधुतनीलनीरजौघव्यतिकरिणः पवनेन वायुना विधुतस्य[7] (कम्पितस्य) नीलानां कृष्णानां नीरजानां नीलोत्पलानामिति यावत्, ओघस्य समूहस्य व्यतिकरिणो व्यतिकरः संभ्रमोऽस्त्यस्येति तथोक्तः, तस्य । 'व्यतिकरः स्याद् व्यसनव्यतिषङ्गयोः' इति विश्वः । सरसः सरोवरस्य । लक्ष्मीं शोभाम् । बभार धरति स्म ।

और भी अधिक बढ़ गयी थी ॥ २ ॥ यात्रामें सम्मिलित होनेवाली सभी स्त्रियोंकी कमरमें बजनेवाली करधनी और पैरोंमें नूपुर थे । चलते समय उन दोनोंकी ध्वनि सुनकर राजहंसोंका झुण्ड इधर-उधरसे आ-आकर उनके पीछे-पीछे चलने लगा । उन स्त्रियों और हंसोंकी बिलकुल एक सरीखी चाल देखकर युवकोंको बड़ा कौतूहल हुआ, अतः उनकी दृष्टि स्त्रियों और हंसोंकी ओर बार-बार जा रही थी ॥ ३ ॥ राजहंस उतना सुन्दर गमन नहीं कर पाता और न श्रेष्ठ कलभ भी उतनी मन्दगतिसे चल सकता है । अतः स्त्रियोंको सुन्दर एवं मन्द गतिका उपदेश देनेवाला गुरु उनके नितम्बका भार था, न कि राजहंस या कलभ ॥ ४ ॥ हिरणोंके समान सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंके चंचल कटाक्षोंसे दोनों ओरसे व्याप्त होकर आकाश उस सरोवरके समान हो गया, जिसमें वायुसे कम्पित होकर नील कमलोंका समूह लहरा रहा

१. आ द °काञ्ची° । २. अ स ललितं । ३. = वनितानां जनो वर्गः तस्मिंश्च । ४. श 'पुनः' इति नोपलभ्यते । ५. = राजहंसः मरालः । सुललितगमनः सुललितमतिमनोहरं गमनं यस्य सः । न नास्ति । कलभपतिः च त्रिंशदब्दककरिशावकेशोऽपि । मन्थरप्रयातः मन्थरं मन्दं प्रयातं गमनं यस्य सः । न न वर्तते । अतो वामलोचनानां कामिनीनाम् । अलसगतिषु मन्दगतिषु । निजः स्वकीय एव । नितम्बभारः बृहन्नितम्बः । गुरुः शिक्षकः । अजनिष्ट समजनि । नितम्बिनीनां यादृशी गतिरस्ति तादृशी राजहंसे कलभे च नावलोक्यते । अत एव तासामलसगतिविषये तन्नितम्ब एव गुरुर्न राजहंसो न च कलभ इति निर्गलितार्थः । व्यतिरेकालङ्कारः ॥४॥ ६. श संचलैः । ७. श विधूतस्य ।

ललिततिलकमण्डनानि मुग्धे रचयितुमेष वृथा तव प्रयासः।
मुखकमलमलंकरोति यत्ते पतदलिनीकुलमेव पद्ममोहात् ॥६॥
विरचयसि यमादरेण हारं तमपि तवाहमवैमि शुद्धभारम्।
कमलमुखि पयोधरान्तराले श्रमजलबिन्दुविभूषिते व्रजन्त्याः ॥७॥
श्रवणतटविलम्बि संविधत्ते नयनयुगं न किमेतदीयशोभाम्।
वरतनु विफलक्रियं[1] विधातुं यदसितमुत्पलमुद्यतासि कर्णे ॥ ८ ॥
चिरयसि परमेव निक्षिपन्ती रसमतिसान्द्रमलक्तकस्य कान्ते।
ननु किसलयभासि रागबन्धस्तव पदपद्मतले निसर्गसिद्धः ॥ ९ ॥

टुभृञ् धारणपोषणयोर्लिट्। उत्प्रेक्षा (निदर्शना) ॥५॥ ललितेति। मुग्धे सुन्दरि। 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इत्यभिधानात्। ललिततिलकमण्डनानि ललितानि मनोहराणि तिलकान्येव मण्डनानि यद्वा उपलक्षणात् तिलकप्रभृतिमण्डनानि तथोक्तानि। विरचयितुं [रचयितुं] कर्तुम्। तव ते। एषः अयम्। प्रयासः प्रयत्नः। वृथा व्यर्थः। यत् यस्मात्। पद्ममोहात् पद्मम्—इति मोहाद् भ्रान्तेः। पतदलिनीकुलमेव पतन्तीनामलिनीनां भृङ्गीणां कुलमेव समूह एव। ते तव। मुखकमलं वदनपङ्कजम्। अलंकरोति मण्डयति। डुकृञ् करणे लट्। रूपकम् ॥६॥ विरचयसीति। कमलमुखि कमलमिव पद्ममिव मुखं यस्याः तस्याः संबोधनम्[3]। यं हारं हारयष्टिम्। आदरेण प्रीत्या। विरचयसि संधारयसि। रच प्रतियत्ने लट्। तमपि हारमपि। अहम्, व्रजन्त्याः गच्छन्त्याः। श्रमजलबिन्दुभूषिते श्रमजलस्य स्वेदसलिलस्य बिन्दुभिर्विप्रुड्भिर्भूषिते मण्डिते। पयोधरान्तराले पयोधरयोः स्तनयोरन्तराले मध्ये। तव ते। शुद्धभारं[4] तूष्णीं भारमिति। अवैमि जानामि। इण् गतौ लट्। उत्प्रेक्षा ॥७॥ श्रवणेति। वरतनु वरा मनोहरा तनुरङ्गं यस्याः तस्याः संबोधनम्, भो मनोहराङ्गि। विफलक्रियं विफला निष्फला क्रिया यस्मिन् कर्मणि तत्०। यत्, असितं कृष्णम् उत्पलं नीलोत्पलम्—इति यावत्। कर्णे श्रोत्रे। विधातुं कर्तुम्। उद्यता उद्युक्ता। असि भवसि। अस भुवि लट्। एतदीयशोभाम् एतदीयस्य नीलोत्पलसंबन्धस्य शोभां विलासम्। श्रवणतटविलम्बि श्रवणयोः कर्णयोस्तटं मूलं विलम्बि[5] आश्रयशीलम्। नयनयुगं नयनयोर्नेत्रयोर्युगं[6] युग्मम्। न संविधत्ते किं न संधरति[7] किं, किन्तु संविधत्ते एव। सामान्यम् ॥८॥ चिरयसीति। कान्ते भो ललने। अलक्तकस्य यावकस्य[8]। अतिसान्द्रम् अतिघनम्। रसं द्रवम्। निक्षिपन्ती स्थापयन्ती। परमेव अत्यन्तमुत्कृष्टमेव। चिरयसि चिरं करोषि आलस्यं करोषि—इत्यर्थः। किसलयभासि[9] किसलयमिव भासि कान्तियुक्ते। ते तव। पदपद्मतले [10]पदमेवपद्मतलं रक्तसरोरुहं तस्मिन्। रागबन्धः

हो ॥ ५ ॥ हे सुन्दरी ! सुन्दर तिलक आदि लगाकर शृंगार करनेका तेरा यह प्रयास व्यर्थ है; क्योंकि कमलके भ्रमसे आया हुआ भौंरियोंका झुण्ड ही तेरे मुख-कमलको अलंकृत कर रहा है ॥ ६ ॥ हे कमलमुखी, जिस हारको तू बड़े शौकसे पहन रही है, मैं उसे केवल, तेरा बोझ ही समझता हूँ, जब कि चलनेसे तेरे स्तनोंके बीचका भाग पसीनेके बिन्दुओंसे भूषित, भूषित नहीं, विभूषित है—हारसे भी कहीं अधिक सुन्दर प्रतीत हो रहा है ॥ ७ ॥ हे सुन्दर शरीरवाली ! कानों तक फैले हुए नेत्रोंसे क्या तेरे इन (कानों) की शोभा नहीं है, जो तू नीलकमलोंको व्यर्थ ही कानोंके ऊपर धारण करनेके लिए उद्यत हो रही है ॥ ८ ॥ हे प्रिये ! खूब गाढ़ा महावर लगाकर तू केवल विलम्ब ही कर रही है (न कि पैरों का शृंगार), क्योंकि नयी कोपलों सरीखी कान्तिको धारण करने वाले तेरे चरण-कमलोंके तलवोंमें निश्चय ही

१. आ इ विपुलक्रि°। २. आ टु डु भृञ् भरणे लिट्, श टु डु भृञ् धारणपोषणयोर्लिट्। ३. = तत्संबुद्धौ। ४. = केवलभारमिति। 'शुद्धः केवलपूतयोः' इत्यनेकार्थसंग्रहः। ५. = विलम्बते समाश्रयतीत्येवं शीलम्। ६. आ युगलं। ७. = विदधाति। ८. आ युवकस्य। ९. = किसलयवद् भाः कान्तिर्यस्य तस्मिन्। १०. श पदावेव।

लघु जिगमिषुणेति काचिदूचे स्ववपुरलंकरणाकुला प्रियेण ।
प्रतिपदमवगच्छता तदीयं जघनमहाभरविघ्नितं[1] प्रयातम् ॥ १० ॥
सकृदबुधतया कृतेऽपराधे भवति ततो विनिवृत्तिरेव दण्डः ।
तदहमपि न तं पुनर्विधास्ये सुतनु[2] तवेति स वल्लभो ब्रवीति ॥ ११ ॥
अपि च सुवदने नरो न दोषाद्विरमति शिक्षयते न यावदन्यः ।
स च कुसुमशरेण शिक्षितस्त्वद्विरहसखेन निनीषुणा विनाशम् ॥ १२ ॥
न च सखि सुसहस्त्वयापि तावत्प्रियविरहः क्षयहेतुरङ्गयष्टेः ।
कथयति हि तवोष्ठबिम्बमुष्णश्वसितविरूक्षितमान्तरङ्गमाधिम्[3] ॥ १३ ॥

रागस्यारुणस्य[4] बन्धः संबन्धः । निसर्गसिद्धः स्वभावसिद्धः । ननु खलु ॥९॥ लघ्विति । स्ववपुरलंकरणाकुला स्ववपुषः स्वशरीरस्यालंकारणेऽलङ्कारे (मण्डने) आकुला सक्ता । काचित् एका स्त्री । प्रतिपदं पदं पदं प्रति चरणनिक्षेपणं चरणनिक्षेपणं प्रति । जघनमहाभरविघ्नितं जघनस्य नितम्बस्य महाभरेण भारेण विघ्नितमन्तरितम् । तदीयं तस्या इदं तदीयम् । प्रयातं गमनम् । अवगच्छता जानता । लघु जिगमिषुणा लघु शीघ्रं जिगमिषुणा[5] गन्तुमिच्छुना । प्रियेण दयितेन । इति वक्ष्यमाण (उक्त-) प्रकारेण । ऊचे उच्यते स्म । पञ्चभिः कुलकम्[6] ॥१०॥ सकृदिति । सतनु भो मनोहराङ्गि । अबुधतया अज्ञानतया । सकृत् एकवारम् । अपराधे दोषे । कृते विहिते । ततः तस्मात् । विनिवृत्तिरेव निराकृतिरेव । दण्डः[7] अपराधः (?) भवति । भू सत्तायां लट् । तस्मात्, अहमपि, तम् अपराधम् । पुनः पश्चात् । न विधास्ये न करिष्ये । सः, तव ते । वल्लभः प्राणनायकः । इति एवम् । ब्रवीति वदति ॥११॥ अपीति[8] । सुवदने सुभगमुखि । अपि च विशेषोऽस्ति (अथ च) । अन्यः, नरः पुरुषः । यावत् यत् (यावत्) पर्यन्तम् । न शिक्षयते शिक्षां न करोति । शिक्षि[9] । विद्योपादाने पर्यन्ताल्लट्[10] । तावत्—इत्यध्याहारः । दोषात् अपराधात् । न विरमति नापसरति । 'न पयोङ् वे रमः' इति तङ् न भवति । विनाशं विनाशनम्[11] । निनीषुणा नेतुमिच्छुना । त्वद्विरहसखेन[12] तव ते विरहस्य वियोगस्य सखेन (?) सहायेन । कुसुमशरेण पुष्पबाणेन । स च पुरुषः । शिक्षितः ॥१२। न चेति । सखि भो वयस्ये । अङ्गयष्टेः शरीरयष्टेः । क्षयहेतुः नाशकारणम् । प्रियविरहः प्रियस्य दयितस्य विरहो वियोगः ।

स्वाभाविक लालिमा बनी हुयी है ॥ ९ ॥ शीघ्र ही जानेके लिए इच्छुक नायकने इस तरह अपनी पत्नीसे कहा, जो अपने शरीरका शृङ्गार करनेमें व्यग्र थी; क्यों कि वह पहलेसे ही उसके नितम्बके भारी भारसे गमनमें पग-पगपर आनेवाली बाधाको जो जानता था । (छठे श्लोकसे यहाँ तक सम्बन्ध है) ॥ १० ॥ हे सुन्दर शरीरवाली ! तेरा पति यों कहता है कि भूलसे एकबार अपराध कर लेनेपर उससे निवृत्त होना ही दण्ड है । अतः मैं भी अब कभी उस अपराधको नहीं करूँगा, जो मुझसे भूलवश एक बार हो गया है ॥ ११ ॥ हे सुन्दर मुखवाली ! और एक बात यह भी तो है कि मनुष्य किसी अपराधसे तभी तक निवृत्त नहीं होता, जबतक कि उसे कोई शिक्षा नहीं दे देता—समझा नहीं देता । विरहावस्थामें तुम्हारी मदद करनेवाले और अपराधीको विनाशकी ओर ले जानेकी इच्छा रखनेवाले कामदेवने उसे (तेरे पतिको) खूब शिक्षा दे दी है ॥ १२ ॥ हे सखि ! प्रियका विरह शरीरके विनाशका कारण है, अतः तेरे लिए भी वह (प्रिय विरह) आसानीसे सहने योग्य

१. अ जनमनहाभविघ्नितं । २. आ इ सुतनो । ३. अ आ इ °तमङ्गरङ्गमाधिम् । ४. = रागस्य आरुण्यस्य । ५. = गन्तुमिच्छुर्जिगमिषुः, तेन । ६. आ इ 'कुलकम्' इति नास्ति । ७. = दमनोपायः । ८. श असीति । ९. आ शिक्षा । १०. आ लुट्, श लृट् । ११. आ नाशनम् । १२. तव विरहो वियोगः स एव सखा मित्रं यस्य, तेन ।

त्यज मम विरहोऽधुनेव पश्चादपि न रुजाकर इत्यपि स्वमानम् ।
नहि भवति यथा स्थिरं क्रियादावधिकृतनिर्वहणे तथैव चेतः ॥ १४ ॥
इति हितमधुरैरिवाहिमन्त्रैरपहृतमानविषा सखीवचोभिः ।
दयितमनुजगाम मन्दमन्दं निहितपदा किल नेच्छतीव काचित् ॥ १५ ॥
(कुलकम्[1])
स्मरपरवशबुद्धिरंसपृष्ठप्रगमितपाणिधृतप्रियाकुचाग्रः ।
गजपतिरिव मन्थरेण कश्चित्समुपजगाम शनैः पदक्रमेण ॥ १६ ॥

त्वयापि[2] । तावत्[3] तत्पर्यन्तम् । सुसहः सुखेन सहः । स च[4] । तव ते । आन्तरङ्गम् अन्तरङ्गभवम् । आधिं पीडाम् । उष्णश्वसितविरूक्षितम् उष्ण[5]श्वसितेन श्वासेन विरूक्षितं परुषितम् । ओष्ठबिम्बम्[6] ओष्ठोऽधरः स एव बिम्बं बिम्बफलम् कथयति हि वदति । कथ वाक्यप्रबन्धे लट् । अनुमितिः ॥१३॥ त्यजेति । मम मे । विरहः वियोगः । अधुनेव इदानीमिव । 'सदैतर्ह्यधुनेदानीं सद्यः' इति साधुः । पश्चादपि परस्मिन्नपि[7] (समये) । रुजाकरः पीडाकरः । न भवति, इत्यपि, स्वमानं स्वस्य मानं गर्वम् । त्यज जहि । त्यज हानौ लोट्[8] । चेतः चित्तम् । क्रियादौ क्रियायाः कार्यस्यादौ प्रारम्भे । यथा, स्थिरं दृढम् । तथैव[9] । अधिकृतनिर्वहणे अधिकृतस्य प्रारब्धस्य निर्वहणे[10] संपूर्णकरणे । न भवति हि नास्ति हि ॥१४॥ इतीति । इति एवम् । हितमधुरैः हितैर्हितभूतैर्मधुरैर्मनोहरैः । अहिमन्त्रैरिव विषापहारमन्त्रैरिव । सखीवचोभिः सख्या आल्या वचोभिर्वचनैः । अपहृतमानविषा अपहृतं निराकृतं मान एव गर्व एव विषं यस्याः सा । नेच्छतीव न वाञ्छतीव । मन्दं मन्दं शनैः शनैः । 'वीप्सायाम्' (इति) द्विः । निहितपदा[11] निहितौ निक्षिप्तौ पदौ यया सा । काचित् अन्या वनिता । दयितं वल्लभेन सह (वल्लभम्) । अनुजगाम अनुयाति स्म । गम्लृ गतौ लिट् । उपमा – (रूपकमुत्प्रेक्षा च) । पञ्चभिः कुलकम्[12] ॥१५॥ स्मरेति । स्मरपरवशबुद्धिः स्मरेण मन्मथेन परवशा पराधीना बुद्धिर्यस्य सः । अंसपृष्ठप्रगमितपाणिधृतप्रियाकुचाग्रः अंसेन भुजशिरसा पृष्ठे चरमतनौ[13] प्रगमितेन प्रापितेन पाणिना हस्तेन धृतं प्रियाया दयितायाः कुचाग्रं यस्य[14] सः । गजपतिरिव गन्धहस्तीव । कश्चित्[15] एकनायकः । मन्थरेण मन्देन । पदक्रमेण पदविन्यासेन । शनैः, समुपजगाम [16]समुपयाति स्म ।

नहीं है; क्योंकि तेरा होठ, जो गरम श्वासवायुसे रूखा पड़ गया है, और जिसपर पपड़ी पड़ गयी है, तेरी मानसिक व्याधिको बतला रहा है ॥ १३ ॥ जैसे इस समय मुझे प्रियका विरह पीड़ा नहीं दे रहा है, इसी तरह आगे भी नहीं देगा, यह सोच कर भी तू मान मत कर–मानको छोड़ दे; क्योंकि किसी भी कार्यके प्रारम्भमें मन जैसा स्थिर होता है, वैसा उसके अन्त तक नहीं रहता ॥ १४ ॥ इस तरह हितकर, मधुर एवं सर्पमन्त्रके समान सखीके वचनोंसे किसी मानवती नायिकाका मान विषकी तरह शान्त हो गया। फलतः वह अपने पतिके पीछे-पीछे धीरे-धीरे पैर रखकर चलने लगी, जिससे उस समय वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जाना नहीं चाहती हो ॥१५॥ एक कामी—जिसकी बुद्धि कामदेवके वशमें थी—अपनी प्रियाके कन्धे और पीठके ऊपरसे बगलमें डाले हुए हाथसे उसके स्तनके अगले भागको पकड़कर गजराजकी तरह

१. आ इ 'कुलकम्' इति नास्ति । २. = भवत्यापि । ३. = वाक्यालङ्कारे । ४. = विरहः । ५. आ उष्णस्य । ६. = ओष्ठो बिम्बमिवेत्योष्ठबिम्बम् । ७. श 'परस्मिन्नपि' इति नोपलभ्यते । ८. श लेट् । ९. = तेनैव प्रकारेण । १०. = निर्वाहे । ११. = निहिते निक्षिप्ते पदे यया सा । १२. श 'पञ्चभिः कुलकम्' इति नोपलभ्यते । १३. श गतौ । १४. = येन । १५. श कश्चिदेव । १६. आ समनु° ।

कृतमनसिजवेगमूरुयुग्मं पथिजपरिश्रमनोदनापदेशात् ।
मुहुरलसगतेः[1] स्पृशन्प्रियायाः समुपययावपरोऽल्पकेऽपि मार्गे ॥ १७ ॥
इति कृतविविधप्रकारचेष्टा मनसिशयाकुलचेतसः[2] सभार्याः ।
विविशुरुपवनं पुरः प्रयातक्षितिपतिसेवितकृत्रिमाद्रि पौराः ॥ १८ ॥
तरुविटप[3]शिखावसक्तहस्ताश्चिरमनुपात्तनिमेषनेत्रयुग्माः ।
फलकुसुमसमृद्धिमीक्षमाणा हरिणदृशो वनदेवता इवाभुः ॥ १९ ॥
सति निजकरजारुणांशुभिन्ने जरठपलाशचये महीरुहाणाम् ।
समजनि वनिताजनस्य हेतुर्म्रदिमगुणो नवपल्लवावबोधे ॥ २० ॥

गम्लृ गतौ लिट् । उपमा ॥१६॥ कृतेति । अपरः अन्यो नायकः । पथिजपरिश्रमनोदनापदेशात् पथिजस्य मार्गजातस्य परिश्रमस्य नोदनस्य निराकरणस्यापदेशाद् व्याजात् । अलसगतेः अलसा मन्दा गतिर्गमनं यस्याः तस्याः । प्रियायाः दयितायाः । कृतमनसिजवेगं कृतो विहितो मनसिजो[4] मनसि जातो वेगः शीघ्रं यथा तथा । ऊरुयुग्मम् ऊर्वोर्युग्मं युगलम् । मुहुः भूयः । स्पृशन् स्पर्शनं कुर्वन् । अल्पके समीपे । मार्गेऽपि सत्यपि । समुपययौ समुपजगाम । या प्रापणे लिट् ॥१७॥ इतीति । इति एवम् । कृतविविधप्रकारचेष्टाः कृता विविधप्रकारा नानाप्रकारा चेष्टा व्यापारा यैः, ते । मनसिशयाकुलचेतसः मनसिशयेन कामेनाकुलं व्याकुलितं[5] चेतश्चित्तं येषां ते । सभार्याः जायाजनसहिताः । पौराः पुरे भवाः पौराः पुरजनाः । पुरः अग्रे । प्रयातक्षितिपतिसेवितकृत्रिमाद्रि प्रयातेन गतेन क्षितिपतिना भूमिपतिना सेवित आश्रितः कृत्रिमाद्रिः कृतकःशैलो यस्मिन् तत् । उपवनं क्रीडावनम् । विविशुः प्रविष्टाः ॥१८॥ तरुविटपेति । तरुविटपशिखावसक्तहस्ताः तरूणां वृक्षाणां विटपानां[6] शिखानामग्रेऽवसक्ता न्यस्ता हस्ता यासां (याभिः) ताः । चिरं[7] मन्दम् । अनुपात्तनिमेषनेत्रयुग्माः अनुपात्तोऽस्वीकृतो निमेषो निमीलनं यस्य तत्तथोक्तं नेत्रयोर्नयनयोर्युग्मं तथोक्तम्, अनुपात्तनिमेषं नेत्रयुग्मं यासां ताः । फलकुसुमसमृद्धि फलानां कुसुमानां पुष्पाणां (च) समृद्धि प्रवृद्धिम् । ईक्षमाणाः विलोकमानाः । हरिणदृशः हरिणस्य (दृशौ) इव दृशौ यासां ताः । वनदेवता इव वनस्य देवता इव देववनिता इव । आभुः रेजुः । भा दीप्तौ लङ्[8] ॥१९॥ सतीति । महीरुहाणां वृक्षाणाम् । जरठपलाशचये जरठानां पुराणानां पलाशानां पत्राणां चये समूहे । निजकरजारुणांशुभिन्ने निजानां करजानां नखानामरुणैर्लोहितैरंशुभिर्भिन्ने मिश्रिते सति । वनिताजनस्य[9] वनिता एव जनः, तस्य । रूपकम् (?) । नव पल्लवावबोधे नवा नूतनाः पल्लवाः किसलयानि–इत्यवबोधे विज्ञाने । मृदिमगुणः मृदु (ता) गुणः । हेतुः कारणम् । समजनि अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । 'दीप्पूरजन्–'

धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था ॥१६॥ दूसरा कामी मन्द गतिसे चलती हुई प्रियाके ऊरुओं—घुटनेके ऊपरी भागोंको, मार्गको थकावटको दूर करनेके बहानेसे सुहराकर काम-विकारके वेगको बढ़ाता हुआ, बहुत सकरे रास्तेसे भी आनन्द पूर्वक चला जा रहा था ॥१७॥ इस प्रकारकी और भी अनेक चेष्टाओंको करनेवाले सपत्नीक पुरवासियोंने—जिनके मन कामदेवसे व्याकुल थे—नगरके उस उपवनमें प्रवेश किया, जिसके कृत्रिम पर्वत पर चक्रवर्ती अजितसेन पहले ही पहुँच चुका था ॥१८॥ उपवनमें पहुँचकर मृगसरीखे नेत्रोंवाली स्त्रियाँ वृक्षोंकी शाखाओंको पकड़कर उनके फलों और फूलोंकी समृद्धिको निर्निमेष-अपलक दृष्टिसे देखने लगीं । उस समय वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो वनदेवियाँ हों ॥१९॥ वृक्षोंके पुराने पत्तोंके समूहको स्त्रियोंने अपने नखोंकी लाल कान्तिसे बिलकुल ही भिन्न बना दिया—पीलेसे लाल कर दिया, और फिर

१. आ द ॰रलसगतिः । २. अ मनसिज व्याकुल॰ । ३. म तटविटप॰ । ४. =कामजो॰ । ५. = व्याकुलं । ६ = शाखानाम् । ७. = चिरात् । ८. श लिट् । ९. = वनितानां जनो वर्गः, तस्य ।

प्रगमितमरविन्दलोचनायाः प्रणयवता श्रवणावतंसभावम् ।
[1]स्वयमतिविहितादरेण शोकं व्यतरदशोकमपि प्रतीपपत्न्याः ॥ २१ ॥
कुसुमकिसलयं विचेतुकामां विटपिनि सत्यपि नम्रनम्रशाखे ।
तरुमनयत तुङ्गमेव भर्ता भुजयुगमूलदिदृक्षया मृगाक्षीम् ॥ २२ ॥
तिलकमिति यदत्र पूर्वमासीद्भुवि विदितं खलु नाममात्रकेण ।
कुवलयनयनाभिरुत्तमाङ्गे निहितमवाप यथार्थतां तदानीम् ॥ २३ ॥
वपुषि कनकभासि चम्पकानां सुदति न ते परभागमेति माला ।
स्तनतटमिति संस्पृशन्प्रियाया हृदि रमणो बकुलस्रजं बबन्ध ॥ २४ ॥

इत्यादिना ञिः । 'ञेः' इति तस्य लुक् । हेतुः ॥२०॥ प्रगमितमिति । स्वयम्, अतिविहितादरेण अतिविहितेनातिक्रमेण विहितेन कृतेनादरेण प्रीत्या । प्रणयवता स्नेहवता पुरुषेण[2] अरविन्दलोचनायाः अरविन्दे कमले इव लोचने यस्याः तस्याः । श्रवणावतंसभावं श्रवणयोः कर्णयोरवतंसयोः कर्णपूरयोर्भावं स्वरूपम्[3] । प्रगमितं प्रापितम् । अशोकमपि कङ्केलिपुष्पमपि । प्रतीपपत्न्याः सपत्न्याः । शोकं दुःखम् । व्यतरत् करोति स्म । तॄ प्लवनतरणयोर्लङ् । पर्यायोक्तिः ॥२१॥ कुसुमेति । भर्ता वल्लभः । कुसुमकिसलयं पुष्पपल्लवम् । 'शेषोऽप्राणी' इति द्वन्द्वैकत्वम् । विचेतुकामां छेत्तुकामाम् । 'तुमो मनस्कामे' इति तुमो मकारस्य कामे परे लुक् । मृगाक्षीं कुरङ्गाक्षीम् । नम्रनम्रशाखे[4] नम्रनम्रेऽत्यन्तं नम्रे शाखे शाखायुक्ते । विटपिनि वृक्षे, सत्यपि । भुजयुगमूलदिदृक्षया भुजयो बाह्वोर्युगं युग्मं तस्य मूलस्य दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया । तुङ्गमेव उन्नतमेव । तरुं वृक्षम् । अनयत् प्रापयत् । णीञ् प्रापणे लङ् । द्विकर्मकः ॥२२॥ तिलकमिति । अत्र भुवि भूमौ । यत् पूर्वं प्राक् । तिलकमिति तिलकपुष्पमिति । नाममात्रेण संज्ञामात्रेण । विदितं प्रसिद्धम् । आसीत् खलु अभवत् खलु-स्फुटम् । कुवलयनयनाभिः कुवलयमिव नीलोत्पलवन्नयने यासां ताभिः । उत्तमाङ्गे मस्तके । निहितं धृतम् । तदानीं तस्मिन् काले । यथार्थतां[5] सत्यरूपसंज्ञात्वम्[6] । अवाप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥२३॥ वपुषीति । सुदति सु शोभना दन्ता अस्या इति (सुदतो तत्सम्बुद्धौ) मनोहरदन्तयुक्ते । 'वयसि दन्तस्य दतृ' इति दन्तस्य दत्रादेशः (दतृ–आदेशः) । ऋदित्वात् 'नुद्रुगि—' इत्यादिना ङी । ते तव । कनकभासि कनकस्येव भाः कान्तिर्यस्य तस्मिन् । सुवर्णच्छाये–इत्यर्थः । वपुषि शरीरे । चम्पकानां हेमपुष्पकाणाम् । माला माल्यम् । परभागं स्ववर्णस्य संपूर्णत्वम्–अतिशयम् । 'परभागो गुणोत्कर्षः' इत्यभिधानात् । नैति न याति । इति एवम् ।

वे उन्हीं पुराने पत्तोंको नये पत्तोंके रूपमें समझने लगीं। इसका कारण उन्हींका भोलापन था ॥२०॥ किसी कमललोचना नायिकाके स्नेही पतिने बड़े आदरसे जो फूल उनके कानमें पहनाया था, वह स्वयं अशोक–अशोक वृक्षका फूल था अथ च शोक रहित था पर सौतको शोक दे रहा था। उसे देखते ही सौतके चित्तमें शोक उत्पन्न हो गया ॥२१॥ फूलों और पत्तियोंको चुननेकी इच्छा रखनेवाली एक मृगनयनीको उसका पति, अत्यन्त नीची शाखाओंवाले वृक्षके समीपमें होनेपर भी, उसके बाहुके मूल भागको देखनेकी इच्छासे खूब ऊँचे वृक्षके पास ले गया ॥२२॥ इस भूमि पर पहले जो फूल केवल 'तिलक' इस नामसे ही प्रसिद्ध था, वही जब नील कमल सरीखे नेत्रोंवाली नायिकाओंके द्वारा मस्तक पर रख लिया गया, तब वह यथार्थ 'तिलक' हो गया। पहले वह केवल संज्ञासे ही तिलक था, पर अब अर्थसे भी तिलक हो गया है ॥२३॥ हे सुन्दर दाँतोंवाली ! तेरे गोरे रंगके शरीर पर चम्पेकी माला फब नहीं रही है, यह कहकर उसके पतिने स्तनोंका स्पर्श करते हुए उसके सीने पर

---

१. आ इ स्वयमिति । २. = पत्या-इति यावत् । ३. = कर्णपूरत्वमित्यर्थः । ४. = नम्रनम्रा अत्यन्तं नम्राः शाखा यस्य तस्मिन् । ५. = अन्वर्थताम् । ६. आ संज्ञताम् ।

स्फुटमिह कमनीयमन्यथा वा न किमपि भावकृतस्त्वयं विभागः ।
समजनि यदशोकतः पलाशं प्रियमवतंसितमीश्वरेण वध्वाः ॥ २५ ॥
ऋतुजनितरुचिर्वधूसमूहैरपचितपुष्पचयश्च यस्तरूणाम् ।
मुदित इव परार्थयात्मलक्ष्म्या पवनधुतैर्नवपल्लवैर्ननर्त ॥ २६ ॥
इति वनविहृतिप्रसङ्गखिन्नं निखिलमवेत्य जनं स्वमप्यधीशः ।
सरसि शुचिजले ममज्ज सज्जीकृतजलकेलिपरिच्छदप्रपञ्चे ॥ २७ ॥

प्रियायाः दयितायाः । स्तनतटं[1] स्तनप्रदेशम् । संस्पृशन् स्पर्शं कुर्वन् । रमणः नायकः । हृदि हृदये । बकुलस्रजं बकुलपुष्पमालाम् । बबन्ध बध्नाति स्म ॥२४॥ स्फुटमिति । ईश्वरेण नायकेन । अशोकतः कङ्केलिपुष्पात् । यत् पलाशं किंशुकपुष्पम् । वध्वाः वनितायाः अवतंसितं कर्णाभरणीकृतम् । (तत्) प्रियं प्रीतम् । समजनि समजायत । जनैङ्[2] प्रादुर्भावे लुङ् । इह भुवि । किमपि, स्फुटं व्यक्तम् । कमनीयं मनोहरम् । अन्यथा वा न । कमनीयाकमनीयविभागः अयं विभागः अतिशयः तु । भावकृतः संकल्पकृतः ॥२५॥ ऋत्विति । ऋतुजनितरुचिः ऋतौ कालविशेषे जनिता चासौ रुचिः शोभा च तथोक्ता । वधूसमूहैः वधूनां वनितानां समूहैर्निवहैः । अपचितपुष्पचयः अपचितोऽपनीतः पुष्पाणां चयः समूहो यस्य सः । तरूणां महीरुहाणाम् । चयः समूहः । परार्थया परेषामन्येषामर्थया प्रयोजनया । आत्मलक्ष्म्या आत्मनः स्वस्य लक्ष्म्या संपदा । मुदित इव संतुष्ट इव । पवनधुतैः पवनेन मारुतेन धुतैः कम्पितैः । नवपल्लवैः नवैः प्रत्यग्रैः पल्लवैः किसलयैः । ननर्त नृत्यति स्म । नृतै[3] गात्रविक्षेपे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥२६॥ इतीति । अधीशः चक्रवर्ती । इति एवम् । वनविहृतिप्रसङ्गखिन्नं वनस्य विहृतेः क्रीडायाः प्रसङ्गेन संबन्धेन[4] खिन्नमायस्तम्[5] । निखिलं समस्तम् । जनं लोकम् । स्वमपि आत्मानमपि[6] । अवेत्य ज्ञात्वा । शुचिजले शुचि निर्मलं जलं यस्य तस्मिन् । सज्जीकृतजलकेलिपरिच्छदप्रपञ्चे सज्जीकृतः सन्नद्धीकृतो जलकेल्या जलक्रीडायाः परिच्छदानां परिकराणां प्रपञ्चो निचयो यस्य (यत्र) तस्मिन् । सरसि सरोवरे । ममज्ज स्नाति स्म । टुमस्जो[7] शुद्धौ । लिट् ॥२७॥

मौलसिरीकी माला पहना दी ॥२४॥ निश्चय ही इस संसारमें कोई भी चीज न तो सुन्दर है और न असुन्दर; क्योंकि सुन्दर और असुन्दरका यह विभाग मानवके मनोभावों पर निर्भर है । एक नायकने अपनी नायिकाके कानसे अशोकका फूल निकालकर उसके स्थानमें ढाकका फूल पहना दिया, जो उसे अशोकके फूलसे कहीं अधिक प्रिय लगा । अथवा एक नायकने स्वयं अपने हाथसे अपनी नायिकाके कानमें ढाकका फूल पहना दिया, जो उसे अशोकके फूलसे भी अधिक अच्छा लगा । अशोकका फूल सुन्दर और ढाकका फूल असुन्दर समझा जाता है । पर पति अपने हाथसे स्नेहपूर्वक यदि टेसू-ढाकका भी फूल पहना दे, तो उसका प्रिय होना ही उचित है ॥२५॥ जिनमें वसन्त ऋतुने शोभा उत्पन्न कर दी थी और जिनकी पुष्पराशिको नायिकाओंके वर्गने चुन लिया था, उन वृक्षोंके हवासे हिलते हुए पत्तोंको देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे अपनी परोपकारिणी लक्ष्मीके निमित्तसे खुशीके मारे नाच रहे हों ॥२६॥ इस तरह वन विहारके प्रसङ्गसे सारे पुरवासियोंको, अपने परिवारके लोगोंको और स्वयं अपनेको थका हुआ जानकर अजितसेन चक्रवर्तीने, जिसके लिए जल क्रीड़ाके योग्य नाना प्रकारकी

१. = स्तनाग्रम् । २. आ जनी । ३. आ नृती । ४. श अधिकाचरणेन । ५. श श्रान्तम । ६. श स्वकीयमपि । ७. आ टुमज्जा ।

हृषिततनुरुहाश्चिरेण भीरुप्रकृतितयाम्भसि नाभिमात्रकेऽपि ।
प्रियकरधृतपाणयो रमण्यः प्रविविशुराहितमन्दमन्दपादाः ॥ २८ ॥
तदखिलमपि वारि निक्षिपन्त्यः कठिनपयोधरपीडनैः पुरस्तात् ।
पृथुतरनिजकुम्भनुन्नतोया वनकरिणीरनुचक्रुरब्जनेत्राः ॥ २९ ॥
जलमकलुषमन्तरानुबध्नन्युवतिमुखप्रतिमां पयोजबुद्ध्या ।
श्रममफलमवाप मत्तभृङ्गो न खलु हितं मदमूढधीरवैति ॥ ३० ॥
सरलनवमृणालनालबाहुश्चपलशिलीमुखलोचना कृशाङ्गी ।
निजतनुमनुकुर्वती कयाचित्सरभसमम्बुजिनी समालिलिङ्गे ॥ ३१ ॥

हृषितेति । हृषिततनुरुहाः हृषिताः संतुष्टाः तनुरुहा रोमाणि यासां ताः । चिरेण कालविलम्बनेन । भीरुप्रकृतितया भीरोर्भयशीलस्य प्रकृतितया स्वभाववत्तया । नाभिमात्रकेऽपि नाभिः प्रमाणमस्य नाभिमात्रकं तस्मिन् । 'तदस्य प्रमाणाग्मात्रट्' इति मात्रट्-प्रत्ययः । अम्भसि सलिले । प्रियकरधृतपाणयः प्रियाणां दयितानां करैर्हस्तैर्धृता भृताः पाणयो हस्ता यासां ताः । रमण्यः वनिताः । आहितमन्दमन्दपादाः आहितौ निक्षिप्तौ मन्दौ पादौ यासां ताः, सत्यः । प्राविविशुः अवतेरुः । विश प्रवेशने लिट् । जातिः ॥२८॥ तदिति । कठिनपयोधरपीडनैः कठिनानां कर्कशानां पयोधराणां स्तनानां पीडनैर्बाधनैः (आघातैः) तदखिलमपि तत्सर्वमपि । वारि जलम् । पुरस्तात् अग्रे । निक्षिपन्त्यः सेचयन्त्यः । अब्जनेत्राः अब्जं कमलं तदिव नेत्रं यासां ताः । पृथुतरनिजकुम्भनुन्नतोयाः पृथुतरैर्महत्तरैर्निजकुम्भैः स्वकीयकुम्भस्थलैर्नुन्नं[1] निरसितं तोयं जलं यासां[3] ताः । वनकरिणीः वने विद्यमानाः करिणीः करेणुकाः । अनुचक्रुः अनुकुर्वन्ति स्म । डुकृञ् करणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥२९॥ जलमिति । अकलुषं निर्मलम् । जलं सलिलम् । अन्तः [अन्तरा] मध्ये । युवतिमुखप्रतिमां युवत्या वनितायाः मुखस्य वदनस्य प्रतिमां प्रतिबिम्बम् । पयोजबुद्धया पयोजमिति कमलमिति बुद्धया । अनुबध्नन् अनुपतन् अनुचरन्[4] वा । मत्तभृङ्गः मत्तभ्रमरः । अफलं निष्फलम् । श्रमं प्रयासम् । अवाप याति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । भ्रान्तिमान् । मदमूढधीः मदेन गर्वेण मूढा मुग्धा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । हितं हितकार्यम् । नावैति खलु न जानाति खलु । इण् गतौ लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥३०॥ सरलेति । सरलनवमृणालनालबाहुः सरलम् ऋजु नवं प्रत्यग्रं मृणालस्य बिसस्य नालमेव बाहुः (पक्षे) नालवद् बाहुर्यस्याः सा । चपलशिलीमुखलोचना चपलश्चञ्चलः शिलीमुख इव (एव) लोचने यस्याः सा, (पक्षे) भ्रमरलोचना वा । कृशाङ्गी तन्वङ्गी । निजतनुं स्वशरीरम् । अनुकुर्वती[5] स्वीकुर्वती अम्बुजिनी[6] कमलषण्डम् । कयाचित् स्त्रिया । सरभसं संभ्रमयुक्तं यथा

सामग्री सजा दी गई है—पवित्र जलवाले जलाशयमें स्नान किया ॥२७॥ भीरु स्वभाव होनेसे स्त्रियोंके रोंगटे खड़े हो गये । फलतः वे अपने-अपने पतिके हाथोंमें अपने हाथ देकर, नाभि तक गहरे जलाशयके जलमें भी बहुत देरके बाद धीरे-धीरे पैर रखती हुई उतरी ॥२८॥ जिनके लोचन कमलोंके समान थे, उन स्त्रियोंने अपने कठोर स्तनोंके आघातसे जलाशयके सारे जलको आगेकी ओर ठेल दिया । अतः वे उस समय अपने विशालगण्डस्थलोंकी टक्कर लगाकर जलाशयके जलको आगेकी ओर ठेलनेवाली हथिनियोंका अनुकरण कर रही थीं ॥२९॥ निर्मल जलमें युवतीके मुखके प्रतिबिम्बको कमल समझकर एक मतवाला भौंरा उसके ऊपर मँडराने लगा, किन्तु उसे अपने परिश्रमका फल नहीं मिला—परिश्रम निष्फल ही हुआ । जिसकी बुद्धि मदसे विकृत हो गई है, वह निश्चय ही अपने हितको नहीं जान पाता ॥३०॥ सीधे नवीन कमलदण्डरूपी बाहुको धारण करनेवाली, चञ्चल भ्रमररूपी नेत्रोंसे युक्त, पतली और इसीलिए अपने शरीरका अनुकरण करनेवाली कमलिनीको किसी नायिकाने सखीके भ्रमसे

१. = याभिः । २. = निरस्तम् । ३. = याभिः । ४. श अनुचुम्बन् । ५. = विडम्बयन्ती । ६. = कमलिनी ।

अपहृतवसना वधूस्तरङ्गैः पृथुनि नितम्बतटे निविष्टदृष्टिम् ।
प्रियतममवलोक्य जातलज्जा कलुषयति स्म जलं विलोडनाभिः ॥ ३२ ॥
पयसि समवतीर्य नाभिदघ्ने विलुलितकेशकलापबन्धनायाः ।
समजनि रभसोत्कटं तरन्त्याः स्तनयुगमेव तरण्डकं तरुण्याः ॥ ३३ ॥
जनभयपरिविद्रुतेऽपि पत्यौ युवतिघनस्तनबिम्बमोहितायाः ।
सलिलगतविमुग्धकोकवध्वा विरहभवव्यथया न संबभूवे ॥ ३४ ॥
इयमिह पुलिने निसर्गरम्ये चकिततया स्थिरतामनश्नुवाना ।
गतिमिव परिशिक्षितुं त्वदीयां सुतनु करोति गता गतानि हंसी ॥ ३५ ॥

तथा । समालिलिङ्गे आलिङ्गता । लिगु गतौ कर्मणि लिट् । श्लेषोपमा ॥३१॥ अपहृतेति । तरङ्गैः ऊर्मिभिः । अपहृतवसना अपहृतमपनीतं वसनं यस्याः सा । वधूः काचिद्वनिता । मृदुनि[1] कोमले । नितम्बतटे नितम्बप्रदेशे । निविष्टदृष्टिं निविष्टे स्थापिते दृष्टी लोचने यस्य तम् । प्रियतमं वल्लभम् । अवलोक्य वीक्ष्य । जातलज्जा जातव्रीडा । विलोडनाभिः विलोडनैः । जलं सलिलम् । कलुषयति स्म कलुषमकरोत् ॥३२॥ पयसीति । नाभिदघ्ने नाभिमात्रे–नाभिमात्रमस्य[2] नाभिदघ्नम्, तस्मिन् । 'ऊर्ध्वं दघ्नद्वयसट्' इति प्रमाणे दघ्नट्-प्रत्ययः । पयसि जले । समवतीर्य प्रविश्य । विलुलितकेशकलापबन्धनायाः विलुलितं शिथिलितं केशकलापस्य केशपाशस्य बन्धनं ग्रन्थिका यस्याः तस्याः । रभसोत्कटं रभसस्य संभ्रमस्योत्कटमाधिक्यं यस्मिन् कर्मणि तत्० । तरन्त्याः प्लवमानायाः । तरुण्याः युवत्याः । स्तनयुगमेव कुचयुगलमेव । तरण्डकं[3] तुम्बिगण्डिकाद्वयम् । समजनि समजायत । जनैङ्[4] प्रादुर्भावे लुङ् । 'दीप्जनबुध–' इत्यादिना चिण्-प्रत्ययः । 'भेः' इति तस्य लुक् । रूपकम् ॥३३॥ जनेति । पत्यौ पुरुषपक्षिणि । जनभयपरिविद्रुतेऽपि [जनभयात्] पलायमानेऽपि सति । युवतिघनस्तनबिम्बमोहितायाः युवत्या वनिताया घनयोः कठिनयोः स्तनयोर्बिम्बे प्रदेशे चक्रवाक इति मोहितं (मोहो) भ्रान्तिर्यस्याः, तस्याः । सलिलगतविमुग्धकोकवध्वाः सलिलं गताया विमुग्धाया मनोहरायाः कोकवध्वाश्चक्रवाकवनितायाः । विरहभवव्यथया विरहेण वियोगेन भवया जातया व्यथया पीडया । न संबभूवे न जन्यते स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे, भावे लिट्[5] । भ्रान्तिमान्[7] ॥३४॥ इयमिति । सुतनु भो मनोहरगात्रे[8] । इह अस्मिन् । निसर्गरम्ये निसर्गेण स्वभावेन रम्ये मनोहरे । पुलिने सैकते । चकिततया भीतियुक्ततया । स्थिरतां स्थिरत्वम् । अनश्नुवाना अप्राप्नुवती । इयम् एषा । हंसी हंसवधूः । त्वदीयां तव संबन्धिनीम् । गतिं गमनम् । परिशिक्षितुमिव[9] अभ्यासं कर्तुमिव । गतागतानि गमनागमनानि । करोति विदधाति । डुकृञ्

अपने गले लगा लिया—आलिङ्गन कर लिया ॥३१॥ किसी नायिकाके अधोवस्त्रको तरङ्गोंने छीन लिया, जिससे उसके विशाल निर्वस्त्र नितम्ब पर उसके पतिने अपनी दृष्टि गड़ा दी। उसे ऐसा करते देखकर नायिकाने लज्जित होकर (जब और कुछ उपाय नहीं सूझा) जलका विलोडन करके उसे मैलाकर दिया ॥३२॥ नाभि तक गहरे जलमें उतर कर कोई युवती बड़ी तेजीसे तैरने लगी। उसके केशपाशका बन्धन खुल गया और केशपाश बिखरकर जलमें लहराने लगा। इस अवसर पर उसके दोनों स्तन डोंगीसे बँधी हुई दो तुम्बियोंका काम कर रहे थे ॥३३॥ लोगोंके भयसे पतिके भाग जाने पर भी जलमें स्थित एक भोली-भाली चकवीको—जिसे किसी युवतीके कठोर स्तनमण्डलमें चकवे (अपने पति) का भ्रम हो गया था—विरहकी व्यथा नहीं हुई ॥३४॥ हे सुन्दर शरीरवाली ! यहाँ इस स्वभावतः सुन्दर तटपर भयभीत हो जानेसे एक जगह स्थिर न रहनेवाली यह हंसी ऐसी जान पड़ती मानो तुम्हारी

१. एव टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु तु 'पृथुनि' इत्येव समुपलभ्यते । २. = नाभिः प्रमाणं यस्य तत् । ३. आ कुम्भ° । ४. आ जनो । ५. आ ख्यातिः । ६. आ 'जनैङ् प्रादुर्भावे,भावे लिट्' इति नोपलभ्यते । ७. आ ख्यातिमान् । ८. श °गात्रि । ९. = परिशीलयितुमिव ।

अयमपि मधुरस्वरोऽभिसर्पन्मधु मधुपः परिहृत्य पद्मिनीजम् ।
अहमिव परिपातुमाननं ते सुमुखि निसर्गसुगन्धि वाञ्छतीव ॥ ३६ ॥
अयमनभिमुखीं सुकेशि कोकः समनुनयन्बहुचाटुभिः स्वजायाम् ।
प्रकुपितदयिताप्रसादहेतूनुपदिशतीव ममापि चाटुकारान् ॥ ३७ ॥
इयमपि शफरी समुत्पतन्ती गगनमितः सलिलादनेकवारान्[1] ।
ध्रुवमपहृतविभ्रमा भवत्या नयनयुगेन नताङ्गि पूत्करोति ॥ ३८ ॥
इदमिदमिति दर्शयन्नशेषं सलिलनिवासिमनोज्ञसत्त्ववृत्तम् ।
अरमयत युवा चकोरनेत्रां सरसि तदंसविलम्बिवामबाहुः[2] ॥ ३९ ॥

करणे लट् । उपमा[3] ॥३५॥ अयमिति । सुमुखि मनोहरवदने । पद्मनीजं[4] कमलषण्डजनितम् । मधु पुष्परसम् । परिहृत्य हित्वा । मधुरस्वरः मनोहरस्वरयुक्तः । अभिसर्पन् अभिमुखमागच्छन् । अयमपि एषोऽपि । मधुपः भ्रमरः । ते तव । निसर्गसुगन्धि सहजगन्धयुक्तम् । आननं मुखम् । अहमिव परिपातुं परिपानाय । वाञ्छतीव इच्छतीव, भाति–इत्यभिप्रायः । उत्प्रेक्षा ॥३६॥ अयमिति । सुकेशि सु शोभनाः केशा यस्याः तस्याः संबोधनम्[5] । अनभिमुखीं विमुखीम् । स्वजायां स्वभार्याम् । बहुचाटुभिः बहुभिर्बहुलैश्चाटुभिः प्रियवचनैः । समनुनयन् प्रतिबोधयन् । अयम् एषः । कोकः चक्रवाकः । प्रकुपितवनिताप्रसादहेतून् प्रकुपितायाः[6] कोपं कृतायाः दयितायाः भार्यायाः प्रसादस्य संतोषस्य हेतून् कारणानि । चाटुकारान् प्रियवचनानि । ममापि । उपदिशतीव उपदेशं करोतीव । दिशि[7] अतिसर्जने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३७॥ इयमिति । नताङ्गि विनम्रगात्रि 'असहनञ्—' इत्यादिना ङी । इतः अस्मात् । सलिलात्[8] सरसः । अनेकवारम् असकृत् । गगनम् आकाशम् । समुत्पतन्ती समुद्गच्छन्ती[9] । इयमपि एषापि । शफरी मत्स्यी[10] । भवत्याः तव । नयनयुगेन नेत्रयुगलेन । अपहृतविभ्रमा अपहृतः स्वीकृतो विभ्रमः शोभा यस्या सा । पूत्करोति पूत्कारं करोति[11] । ध्रुवं निश्चयः । उत्प्रेक्षा ॥३८। इदमिति । तदंसविलम्बिवामबाहुः तस्याः[12] नायक्याः अंसे भुजशिरसि विलम्बी अवलम्बी[13] वामबाहुर्यस्य सः । युवा तरुणः । सरसि सरोवरे । अशेषं सकलम् । सलिलनिवासि जलनिवासि । मनोज्ञसत्त्ववृत्तं[14] मनोज्ञानां मनोहराणां सत्त्वानां जीवानां वृत्तं वर्तनम् । [इदमिदमिति] इदमेतत् [इति] । 'वीप्सायाम्' (इति) द्विः । दर्शयन्[15] वीक्षमाणः । चकोरनेत्रां चकोर इव नेत्रे यस्याः, ताम् । अरं भृशम् । अयत अगच्छत् । अय गतौ लङ् । (अरमयत रमयामास—इति वा) । कुलकम् ॥३९॥

गति (चाल) सीखनेके लिए बार-बार आ-जाकर अभ्यास कर रही हो ॥३५॥ कमलिनीके रसको छोड़कर इसी ओर आता हुआ यह मधुरस्वरवाला भौंरा भी, हे सुन्दर मुखवाली प्रिये ! तेरे स्वाभाविक सुगन्धिसे युक्त मुखको, जान पड़ता है मेरे ही समान पीना चाहता है ॥३६॥ हे सुन्दरबालोंवाली ! अपनी विमुख-अप्रसन्न पत्नीको बहुत-सी मीठी बातोंसे समझाता हुआ यह चकवा, लगता है मुझे भी, क्रुद्ध प्रियाको प्रसन्न करनेवाली चिकनी-चुपड़ी बातोंका उपदेश दे रहा है ॥३७॥ हे नम्र शरीरवाली ! यह मछली भी सरोवरके इस जलसे बार-बार ऊपर आकाशकी ओर उछल रही है । जान पड़ता है तुमने अपनी आँखोंसे इसकी शोभा छीन ली है, जिससे यह पूत्कार कर रही है ॥३८॥ सरोवरमें अपनी चकोरलोचना प्रियाको एक युवकने—जो उसके गलेमें अपना बायाँ हाथ डाले हुए था—'यह देखो, यह देखो' ऐसा कहकर जलमें रहनेवाले सभी सुन्दर जन्तुओंकी विशेषताएँ दिखलाकर प्रसन्न किया ॥३९॥

१. अ आ इ °नेकवारम् । २. आ इ 'कुलकम्' इत्यपि समुपलभ्यते । ३. = उत्प्रेक्षा । ४. = कमलिनीसमुद्भूतम् । ५. = तत्संबुद्धौ । ६. = प्रकोपवत्याः । ७. आ दिश । ८. = सरः—सलिलादित्यर्थः । ९. आ समनुयाता । १०. श मत्सी । ११. आ फूत्करोति फूत्कारं करोति । १२. = नायिकायाः । १३. = विलम्बते इत्येवं शीलः । १४. = सलिलनिवासिमनोज्ञसत्त्ववृत्तं सलिलनिवासिनां मनोज्ञसत्त्वानां मनोहरप्राणिनां वृत्तं चेष्टितम् । १५. = प्रदर्शयन् ।

मुखमसदृशविभ्रमैर्विदित्वा सुभगतनोररविन्दमध्यगायाः ।
सरसिजमिदमित्युपेत्य [1]शाठ्यादविदिततत्त्व इवापरश्चुचुम्ब ॥ ४० ॥
सरसिजरजसारुणे सपत्न्याः स्तनयुगले नखशङ्कया कृतेर्ष्या ।
किमपि न दयितं जगाद काचित्परमवधीत्परिभङ्गुरैः कटाक्षैः ॥ ४१ ॥
निजमधुरविलासशोभितानां सलिलविहारजुषां विलासिनीनाम् ।
वदनशशिजिताम्बुजा नु मम्लौ दरमलिना[2] नु मृणालिनी जनौघैः ॥ ४२ ॥
अधरदलगतं निधाय रागं स्ववपुषि यावकसंभृतं वधूनाम् ।
विदधति हृदयं स रागमासां विनिमयवृत्तिमशिश्रियञ्जलानि ॥ ४३ ॥

मुखमिति । अरविन्दमध्यगायाः[3] अरविन्दस्य कमलपुष्पस्य मध्यगाया मध्यं गतायाः । सुभगतनोः मनोहराङ्गयाः । असदृशविभ्रमैः असदृशैरसमानैर्विभ्रमैः[4] शोभाभिः । मुखं वदनम् । विदित्वा ज्ञात्वा । इदम् एतत् । सरसिजं सरसि (सो) रुहम्, इति, उपेत्य समीपं गत्वा । अविदिततत्त्व इव अविदितं तत्त्वं स्वरूपं येन स (इव) । अपरः कश्चित् पुरुषः । शाठ्यात् शठत्वात् । चुचुम्ब चुम्बति स्म । चुबु[5] वक्त्रसंयोगे लिट् ॥४०॥ सरसीति । सपत्न्याः प्रतिकूलस्त्रियाः । स्तनयुगले स्तनयोः कुचयोर्युगले युग्मे । सरसिजरजसा सरसिजस्य कमलस्य रजसा पांसुना[6] । अरुणे लोहिते सति । नखशङ्कया नखः कररुह इति शङ्कया सन्देहेन । कृतेर्ष्या कृतासूया । काचित् वनिता । दयितं पुरुषम् । [न] किमपि यत्किमपि (न किञ्चिदपि) । जगाद ब्रवीति स्म । (किन्तु) परिभङ्गुरैः वक्रैः । कटाक्षैः अपाङ्गदर्शनैः । परम् अधिकम् । अवधीत् बाधयति स्म । हन् हिंसागत्योर्लुङ्[7] । उल्लेखः (?) ॥४१॥ निजेति ।[8] मृणालिनी कमलिनी । सलिलविहारजुषां[9] सलिलस्य जलस्य विहारं क्रीडां जुषां सेवमानानाम् । निजमधुरविलासशोभितानां निजानां[10] मधुरेण मनोहरेण विलासेन[11] विनोदेन शोभितानां विराजितानाम् । विलासिनीनां वनितानाम् । वदनशशिजिताम्बुजा वदनानि मुखान्येव शशिनश्चन्द्राः तैर्जितानि पराजितान्यम्बुजानि सरसिजानि यस्याः सा, सती । मम्लौ म्लायति स्म । म्लै गात्रविनामे लिट् । नु किम् । जनौघैः जनसमूहैः । दरम् ईषत् । मलिता मलिना । नु किम् । संशयः ॥४२॥ [12]अधरेति । वधूनां वनितानाम् । अधरदलगतम् अधर ओष्ठः स एव दलं पल्लवः तद्गतम् । यावकसंभृतं यावकेन संभृतं संधृतम् । रागम्[13] अरुणम् । स्ववपुषि निजगात्रे । निधाय स्थापयित्वा । आसाम् एतासां नारीणाम् । हृदयं चित्तम् । सरागं रागेण सहितम् । विदधति कुर्वन्ति । जलानि सलिलानि । विनिमयवृत्ति विनिमयां ग्रहणप्रतिग्रहणरूपां वृत्तिं वर्तनाम् । अशिश्रियन् भजन्ति स्म । सरोजलानि स्वयं स्त्रीणां

दूसरे युवकने कमलोंके बीचमें खड़ी हुई अपनी सुन्दर शरीरवाली प्रियाके मुखको, उसके असाधारण विलासोंसे जानकर भी अनजानके समान निकट जाकर कमल बतलाते हुए धूर्तता पूर्वक चूम लिया ॥४०॥ स्नान करते समय एक नायिकाका स्तनयुगल कमलकी परागसे लाल हो गया, जिससे उसकी सौतको नखक्षतकी शङ्का हो गई। फलतः उसके हृदयमें ईर्ष्या उत्पन्न हो गई, पर उसने पतिसे कहा कुछ भी नहीं, केवल कुटिल कटाक्ष बाणोंसे उसके ऊपर प्रहार किया ॥४१॥ एक कमलिनीको म्लान देखकर दर्शक अपने मनमें यह सोचने लगे कि अत्यन्त सुन्दर विलाससे अलंकृत जलक्रीड़ा करनेवाली विलासिनियोंके मुखचन्द्रसे अपने कमलोंका पराभव देखकर यह कमलिनी मुरझा गई है या स्नान करनेवाले पुरुष वर्गके द्वारा मसली जानेसे ? ॥४२॥ जलाशयके जलने नायिकाओंके अधर और पैरोंके माहुरका राग-लाल रंग लेकर

१. अ साक्षाद° । २. अ आ इ क ख ग घ दरमलिता । ३. = अरविन्दानां कमलानां मध्यं मध्यभागं गच्छतीति अरविन्दमध्यगा, तस्याः । ४. = विलासैः । ५. आ चुबि । ६. श पाशुना । ७. श वध हिंसायां लुङ् । ८. श नीचेति । ९. = सलिलविहारं जुषन्ते सेवन्ते याः ताः, तासाम् । १०. = निजेन । ११. = विभ्रमेण । १२. श अधिकेति । १३. = आरुण्यम् ।

कठिनकुचविचूर्णितोऽप्यपप्तद्धृदि मुहुरूर्मिचयो[1] विलासिनीनाम् ।
व्रजति खलु बुधोऽपि विप्रमोहं युवतिषु कैव कथा जलात्मकानाम् ॥ ४४ ॥
कृतदयितविवञ्चना मुहूर्तं यदकृत वारिणि मज्जनं मृगाक्षी ।
स्फुटमजनि तदङ्गरागगन्धादुपरि परिभ्रमतालिनीकुलेन ॥ ४५ ॥
व्रजति मम जलक्रिया समाप्तिं वरतनु तावक एव कान्तितोये ।
किमपरमधिकं जलैर्विगाढैरिति दयितां दृढमालिलिङ्ग कश्चित् ॥ ४६ ॥
मुखमिदमरविन्दसुन्दरं नः प्रकृतिभवं मुषितं न पङ्कजिन्याः ।
इति पयसि चिरं निमज्य नार्यो ददुरिव दिव्यविशुद्धिमीश्वराय ॥४७॥

यावकरागं गृहीत्वा तासां पुनः मनोनुरागं ददति[2] स्म—इत्यर्थः ॥४३॥ कठिनेति । ऊर्मिचयः ऊर्मीणां तरङ्गाणां चयः समूहः । विलासिनीनां सुन्दरीणाम् । कठिनकुचविचूर्णितः कठिनैः कर्कशैः कुचैः स्तनैर्विचूर्णितः पेषितः[4] अपि । मुहुः पुनः । हृदि हृदये । अपप्तत् पतित स्म । पत्लृ[5] गतौ लुङ् । 'सतिशास्ति—' इत्यादिना अङ् । 'श्वयत्य—' इत्यादिना पमागमः । युवतिषु तरुणीषु । बुधोऽपि[6] प्राज्ञोऽपि । विप्रमोहं भ्रान्तिम् । व्रजति खलु गच्छति खलु । जडात्मकानाम् अज्ञानरूपाणाम्, पक्षे जलस्वरूपाणाम् । कैव कथा कैव वार्ता ॥४४॥ कृतेति । यत् । कृतदयितविवञ्चना कृतं दयितस्य विवञ्चनं यस्या[7] सा । मृगाक्षी कुरङ्गाक्षी । तत् (?) । वारिणि जले । मुहूर्तं[8] घटिकाद्वयपर्यन्तम् । मज्जनं स्नानम् । अकृत अकरोत् । डुकृञ् करणे लुङ् । तदा तत्समये । तदङ्गगन्धात् तस्या मृगाक्ष्या अङ्गस्य शरीरस्य गन्धात् परिमलात् । उपरि ऊर्ध्वभागे । परिभ्रमता पर्यटता । अलिनीकुलेन अलिनीनां भ्रमरीणां कुलेन सन्दोहेन । स्फुटं व्यक्तम् । अजनि अजायत । जनैङ्[9] प्रादुर्भावे लुङ् । अनुमितिः ॥४५॥ व्रजतीति । वरतनु भो मनोहरगात्रि । तावक एव तवेदं तावकं तस्मिन् तावक एव । 'युष्मदस्मद्—' इत्यादिना अञ् । तद्योगे एकत्वे तवक इत्यादेशः । कान्तितोये कान्तिर्देहकान्तिः सैव तोयं तस्मिन् । रूपकम् । मम मे । जलक्रिया जलक्रीडा । समाप्ति[10] संपूर्णम् । व्रजति गच्छति । व्रज गतौ लट् । विगाढैः[11] प्रयातैः । जलैः उदकैः । अपरम् अन्यत् । अधिकं किम् ? यद् भवति—इत्यध्याहारः । इति, कश्चित् नायकः । दयितां वनिताम् । दृढं गाढम् । आलिलिङ्ग आलिङ्गति स्म । लिगु गतौ लिट् ।४६॥ मुखमिति । नः अस्माकम् । अरविन्दसुन्दरम् अरविन्दमिव कमलमिव सुन्दरं रुचिरम् । इदम् एतत् । मुखं वदनम् । प्रकृतिभवं प्रकृत्या स्वभावेन भवं जातम् । पङ्कजिन्याः

(स्वयं लाल होकर) और उनके हृदयमें राग–अनुराग उत्पन्न करके विनिमय–अदल बदलके व्यवहारका पालन किया ॥४३॥ नायिकाओंके कठोर स्तनोंके आघातसे चूर-चूर होकर भी जलके तरङ्ग बार-बार उन्हीं (नायिकाओं) के हृदय पर जा गिरते थे। ठीक है, जब बुधजन भी युवतियोंके मोहमें पड़ जाते हैं तो जड़ों (जल) की क्या बात है ॥४४॥ एक मृगनयनीने अपने पतिको धोखा देकर थोड़ी देर जलमें डुबकी साध ली। उसका पति उसे इधर-उधर खोजने लगा। इतनेमें नायिकाके लेपकी सुगन्धि पाकर उसके ऊपर (जहाँ वह डुबकी साधकर बैठी हुई थी) भौंरियोंका झुण्ड मँडराने लगा, जिससे उसका स्पष्ट ही पता लग गया ॥४५॥ हे सुन्दर शरीर वाली प्रिये ! तुम्हारे कान्तिके जलमें ही मेरी जलक्रीड़ा समाप्त हो जाती है, फिर जलाशयके जलमें अवगाहन करनेसे और अधिक क्या हो सकता है ? यह कहकर किसी नायकने अपनी नायिकासे गाढ़ आलिङ्गन कर लिया ॥४६॥ 'हमारा यह कमल जैसा सुन्दर मुख स्वाभाविक है, कमलिनीसे चुराया हुआ नहीं है' यह कहकर स्त्रियाँ जलमें बहुत देर तक डुबकी

१. म मिश्रयो । २. श दधति । ३. ऊर्मिणां । ४. आ शेषितः । ५. श पत । ६. श बुद्धोऽपि । ७. = यया । ८. = स्वल्पकालं यावत् । ९. आ जनी । १०. = संपूर्णताम् । ११. = कृतप्रवेशैः ।

विचकृषुरलकान्विलासिनीनामधिरुरुहुर्जघनान्युरांसि जघ्नुः ।
अनवरतनिपातिनस्तरङ्गा निपुणमिवाभ्यसितुं भुजङ्गवृत्तम्[1] ॥४८॥
मदनरसमिवातिरिच्यमानं[2] मुखगतवारिपदेन विक्षिपन्ती ।
प्रियतममभि काचिदाबभासे स्मितरुचिराजितमुग्धवक्त्रचन्द्रा ॥४९॥
निपतति कुचमण्डले रमण्याः प्रियरचितः सलिलाञ्जलिर्न यावत् ।
हृदयमभिषिषेच तावदेव प्रतियुवतेर्नयनाम्बुनः प्रवाहः ॥५०॥
सितकुसुमचयैश्च्युतैः कबर्या वियदिव तारकितं बभौ यदम्भः ।
समजनि मृगमुग्धलोचनाया वदनसरोरुहमेव तत्र चन्द्रः ॥५१॥

कमलिन्याः । न मुषिताः न लुण्ठिताः [न मुषितं नापहृतम्] । इति एवम् । नार्यः वनिताः । पयसि जले । चिरं, निमज्य[3] स्नात्वा । ईश्वराय प्रियतमाय । दिव्यशुद्धिं कोशपानं शपथम् । ददुरिव ददति स्मेव । डुदाञ् दाने लिट् । भ्रान्ति । उत्प्रेक्षा ॥४७॥ विचकृषुरिति । अनवरतनिपातिनः अनवरतं सततं निपातिनः निपतनशीलाः । तरङ्गाः ऊर्मयः । निपुणं प्रौढम् । भुजङ्गवृत्तं भुजङ्गानां विटानां वृत्तं वर्तनम्[4] । अभ्यसितुम्[इव] अभ्यासं कर्तुमिव । विलासिनीनां वनितानाम् । अलकान् चूर्णकुन्तलान् । विचकृषुः आकृष्टिं[5] चक्रुः । कृष विलेखने लिट् । जघनानि नितम्बानि[6] । अधिरुरुहुः आरु(रो)हन्ति स्म । रुह बीजजन्मनि[7] लिट् । उरांसि वक्षांसि । जघ्नुः घ्नन्ति स्म । हन हिंसागत्योः[8] लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४८॥ मदनरसमिति । मुखगतवारिपदेन मुखं वक्त्रं गतम् इतं वारि सलिलम् इति पदेन व्याजेन । अतिरिच्यमानं वर्धमानम्[9] । मदनरसं मदनस्य मन्मथस्य रसं शृंगाररसम्—इत्यर्थः । प्रियतममभि प्रियतमं दयितस्याभिमुखम् । 'भागिनि प्रतिपर्युनुभिः' इति द्वितीया । विक्षिपन्तीव वमन्तीव । स्मितरुचिराजितमुग्धवक्त्रचन्द्रा स्मितस्य ईषद्धसनस्य रुच्या कान्त्या राजितं विभासितं मुग्धं मनोहरं वक्त्रं मुखमेव चन्द्रो यस्याः सा । रूपकम् । काचित् एका नारी । आबभासे । भासृ दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४९॥ निपततीति । प्रियरचितः प्रियेण दयितेन रचितः कृतः सलिलाञ्जलिः सलिलस्य जलस्याञ्जलिः । यावत् यावत्पर्यन्तम् । रमण्या तरुण्याः । कुचमण्डले कुचयोस्तनयो र्मण्डले प्रदेशे । न निपतति न निष्पतति[10] । तावदेव[11] तावन्मात्रमेव । प्रतियुवतेः सपत्न्याः । नयनाम्बुनः नेत्रोदकस्य । प्रवाहः निर्झरः । हृदयं चित्तम् । अभिषिषेच । षिचूञ्[12] सेचने लिट् ॥५०॥ सितेति । कबर्याः केशदेशात् । च्युतैः पतितैः । सितकुसुमचयैः सितानां श्वेतानां कुसुमानां चयैः समुदायैः । तारकितं तारकाः संजाता अस्मिन्निति । 'सञ्जाततारकादिभ्य इत.' इति इत[13]—प्रत्ययः । वियदिव गगनमिव । यद् अम्भः सलिलम् । बभौ रराज । भा दीप्तौ लिट् । तत्र जले । मृगमुग्धलोचनाया मृगस्येव मुग्धे मनोहरे लोचने नयने यस्याः तस्याः । वदन-

लगाकर मानो दिव्य परीक्षाके द्वारा अपने पतिको आत्मशुद्धिका परिचय दे रही थीं ॥४७॥ लगातार ऊपर गिरनेवाले तरंग मानो विटवृत्तिका चतुराईसे अभ्यास करनेके लिए स्त्रियोंके बाल खींच रहे थे, जघन प्रदेशके ऊपर चढ़ रहे थे और छातीसे टकरा रहे थे ॥४८॥ एक नायिका—जिसका मुखचन्द्र मुसकानकी चाँदनीसे सुशोभित था—अपने पतिके सामने कुरलेके बहानेसे मानो अन्दर न समा सकनेवाले शृङ्गाररसको बाहर निकाल रही थी ॥४९॥ नायक अपनी एक नायिकाके स्तनोंपर अपनी अञ्जलिका जल डालनेको ही था, इतनेमें उसकी दूसरी नायिकाने देख लिया । फलतः अञ्जलिके जल गिरनेसे पहले ही दूसरी नायिकाकी आँखोसे आँसुओंका प्रवाह बहने लगा, जिससे उसका हृदय भीग गया ॥५०॥ एक नायिकाके केशपाशसे गिरे हुए सफेद फूलोंसे सरोवरका जो जल, ताराओंसे व्याप्त आकाशकी भाँति सुशोभित हो

१. आ इ म °वृत्तिम् । २. अ मदनशर° । ३. = ब्रुडित्वा । ४. = चेष्टितं व्यवहारं वा । ५. श आकृष्टम् । ६. = नितम्बान् । ७. आ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे । ८. श हन हिंसायां गतौ च । ९. श वर्तमानम् । १०. श निक्षिपति । ११. = तावत्पर्यन्तमेव । १२. आ सिचू सेचने । १३. आ इतच् ।

उदककणचितैर्नितम्बिनीनां नयनयुगैः सरसश्च कृष्णपद्मैः।
समुपहितमतिभ्रमा बभूवुः क्वचिदपि न स्थितिशालिनो द्विरेफाः ॥५२॥
क्षणमरुणितलोचना रमण्यः सलिलविहारमपास्य जातखेदाः।
ममुरुपरि निपत्य कौतुकिन्यो निजजघनैरलघूनि सैकतानि ॥५३॥
अयमुदकहतो व्यथिष्यते त्वां यदि विदधे न मुखानिलेन सेकम्।
इति कृतकृतकश्चिरं सदन्तव्रणमधरं दयितः पपौ प्रियायाः ॥५४॥
अनिमिषकुलसंकुले विशद्भिः पयसि निजप्रतिमानिभेन नेत्रैः।
ध्रुवमभिलषितो विलासिनीनां चलशफरीकुलविभ्रमापहारः ॥५५॥

सरोरुहमेव वदनं मुखं तदेव सरोरुहं कमलं तदेव। चन्द्रः सोमः। समजनि अजायत। जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ्। रूपकम् ॥५१॥ उदकेति। उदककणचितैः उदकस्य जलस्य कणैर्बिन्दुभिश्चितैः[2] युक्तैः। नितम्बिनीनां मानिनीनाम्। नयनयुगैः नयनानां लोचनानां युगैः युगलैः। सरसः सरोवरस्य। कृष्णपद्मैः नीलोत्पलैश्च। समुपहितमतिभ्रमाः समुपहितः कृतो मतेर्बुद्धेर्भ्रमो भ्रान्तिर्येषां ते। द्विरेफाः भ्रमराः। क्वचिदपि कस्मिंश्चित् [अपि] प्रदेशे। स्थितिशालिनः[3] स्थित्या शालिनः। न बभूवुः न भवन्ति स्म। भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥५२॥ क्षणमिति। क्षणं क्षणपर्यन्तम्। 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' इति द्वितीया। अरुणितलोचनाः अरुणिते लोहिते लोचने नयने यासां ताः। रमण्यः वनिताः। जातखेदाः जातायासाः। सलिलविहारं जलक्रीडाम्। अपास्य त्यक्त्वा। कौतुकिन्यः कौतूहलिन्यः सत्यः। निजजघनैः[4] निजानां जघनैः। अलघूनि महान्ति। सैकतानि पुलिनानि। उपरि अग्रे। निपत्य स्थित्वा। ममुः प्रमान्ति स्म ॥५३॥ अयमिति। मुखानिलेन मुखस्यानिलेन वायुना। सेकं सेचनम्। यदि न विदधे न करोति (मि) स्म। उदकहतः उदकेन सलिलेन हतो बाधितः पीडितः। अयम् अधरः। त्वां व्यथिष्यते[5] बाधिष्यते। व्यथ[6] ताडने लृट्। इति एवम्। कृतकृतकः कृतः कृतको येन सः, कृतकपट इत्यर्थः। दयितः नायकः। सदन्तव्रणं दन्तैर्जातं व्रणं (दन्तव्रणं, दन्तव्रणो वा) तेन सह वर्तते इति सदन्तव्रणः, तम्। अधरम् ओष्ठम्। प्रियायाः भार्यायाः। चिरं पपौ पिबति स्म ॥५४॥ अनिमिषेति। अनिमिषकुलसंकुले अनिमिषाणां मत्स्यानां कुलेन निवहेन संकुले संकीर्णे। पयसि सलिले। निजप्रतिमानिभेन निजानां प्रतिमा इति निभेन व्याजेन। विशद्भिः गच्छद्भिः। विलासिनीनां सीमन्तिनीनाम्। नेत्रैः नयनैः। चलशफरीकुलविभ्रमापहारः चलानां चलन्तीनां शफरीणां मत्स्यवनितानां कुलस्य समूहस्य विभ्रमस्यापहारः परिहारः। ध्रुवं निश्चयम्। अभिलषितः वाञ्छितः।

रहा था, उसमें मृगनयनीका मुख ही चन्द्रमाकी छवि दे रहा था ॥५१॥ नायिकाओंके पानीको बिन्दुओंसे व्याप्त नेत्रों और सरोवरके नीले कमलोंमें भौंरोंको बुद्धिभ्रम हो गया, जिससे वे कहीं भी स्थित नहीं हो सके—कभी नेत्रोंकी ओर तो कभी नीलकमलोंकी ओर दौड़ते ही रहे ॥५२॥ कुछ स्त्रियाँ जब थक गईं और उनकी आँखें लाल हो गईं, तब वे जलक्रीड़ा बन्द करके थोड़ी देरको बड़े-बड़े रेतीले प्रदेशोंके ऊपर चढ़कर जा बैठीं। अपने नितम्बोंसे उन प्रदेशोंको वे मापने लगीं, तो उन्हें बड़ा कौतूहल होने लगा, यह जानकर कि वे प्रदेश ठीक उनके नितम्बोंके मापके हैं ॥५३॥ 'यदि मैं अपने मुखकी वायु (फूँक) से सेक न करूँ तो दन्तक्षतसे घायल, तेरा यह अधर पानी पड़नेसे तुझीको दुःखी कर देगा, यह छल भरी बात बनाकर किसी नायकने काफी समय तक अपनी प्रियाके अधरका पान किया ॥५४॥ मछलियोंसे व्याप्त जलमें परछाईंके बहाने प्रवेश करनेवाले स्त्रियोंके नेत्रोंने मानो चञ्चल मछलियोंकी

१. म उपहितमतिविभ्रमाः। २. = व्याप्तैः। ३. = स्थिराः। ४. = स्वजघनैः। ५. श व्यथिष्यते। ६. आ व्यथ।

वनजवनगताः करेण लीलाकमलमुदूढशिलीमुखं वहन्त्यः ।
श्रियमनुविदधुर्नरेन्द्रजाया जलकणमण्डितपीनपाण्डुगण्डाः ॥५६॥
निजभुजयुगलैरुदस्य जाया जघनभरेण पदे पदे स्खलन्तीः ।
कृतमुदमुदतारयंस्तदीयस्तनपरिमर्शनलोलुपा युवानः ॥५७॥
कुवलयनयनाभिरस्यमानान्यनुपुलिनं सरसानि रागवन्ति ।
मुमुचुरिव शुचाश्रुणः प्रवाहं स्रवणपदेन पुरातनांशुकानि ॥५८॥

उत्प्रेक्षा (अपह्नुतिश्च) ॥५५॥ वनेति । वनजवनगताः वनजानां जलजानां वनं षण्डं गता याताः । 'प्रस्रवणप्रवासनिवासवारिकान्तारेषु वनम्' इति नानार्थकोशे । उदूढशिलीमुखम् उदूढः संधृतः शिलीमुखो भ्रमरो यस्मिन् तत् । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । लीलाकमलं लीलार्थं धृतं कमलं तथोक्तम् । करेण पाणिना । वहन्त्यः धरन्त्यः । जलकणमण्डितपीनपाण्डुगण्डाः जलस्योदकस्य कणैः बिन्दुभिर्मण्डितौ पीनौ महान्तौ पाण्डू शुभ्रौ कपोलौ यासां ताः । नरेन्द्रजायाः नरेन्द्रस्य चक्रवर्तिनो जाया वनिताः । श्रियं लक्ष्मीं देवीम् । अनुविदधुः अनुकुर्वन्ति स्म । उपमा ॥५६॥ निजेति । जघनभरेण जघनानां भरो भारः, तेन । पदे पदे पदविन्यासे पदविन्यासे । वीप्सायां द्विः । स्खलन्तीः, जायाः रमणीः । निजभुजयुगलैः निजानां भुजानां बाहूनां युगलैः युग्मैः । उदस्य उद्धृत्य । तदीयस्तनपरिमर्शनलोलुपाः तदीयानां तासां संबन्धिनां[2] स्तनानां कुचानां परिमर्शने स्पर्शने । लोलुपाः लम्पटाः । युवानः तरुणाः । कृतमुदं कृता मुदो यस्मिन् कर्मणि तत् (तथा) । उदतारयन् उत्तारयन्ति स्म । तॄ प्लवनतरणयोः णिजन्ताल्लङ् ॥५७॥ कुवलयेति । कुवलयनयनाभिः कुवलयमिव उत्पलमिव नयने नेत्रे यासां ताभिः । अनुपुलिनं पुलिनस्यानु अनुपुलिनं तस्मिन् अनुपुलिनम् । 'सप्तम्याः' इति वाम् । अस्यमानानि मुच्यमानानि । सरसानि[3] सार्द्राणि रागवन्ति अरुणवर्णयुक्तानि । पुरातनांशुकानि पुरातनानि पूर्वं धृतानि अंशुकानि वस्त्राणि । स्रवणपदेन स्रवणस्य स्यन्दनस्य पदेन व्याजेन । शुचा शोकेन । अश्रुणः नेत्राम्बुनः । प्रवाहं निर्झरम् । मुमुचुरिव मुञ्चन्तिस्मेव । उत्प्रेक्षा

शोभा चुरानेका सङ्कल्प कर लिया था ॥५५॥ चक्रवर्ती अजितसेनकी रानियाँ कमलोंके वनमें खड़ी हुई थीं, उनके हाथोंमें कमल थे—जिनके ऊपर भौंरे बैठे हुए थे, उनके भरे हुए कपोल जल-बिन्दुओंसे अलंकृत थे। अतः उस समय वे लक्ष्मीका अनुकरण कर रही थीं ॥५६॥ नितम्बके बोझसे जो युवतियाँ पग-पग पर फिसल रही थीं उन्हें उनके स्तनोंके स्पर्शके लोभी पतियोंने अपने बाहुओंसे उठाकर प्रसन्नता पूर्वक घाटके ऊपर पहुँचा दिया ॥५७॥ नील कमल सरीखे नेत्रोंवाली स्त्रियोंने गीले (रसिक) रंगीन (अनुरागयुक्त) जिन पुराने कपड़ोंको किनारे पर उतार दिया, उनसे पानी निकल रहा था। अत एव ऐसा जान पड़ता था मानो वे

---

१. अ °मरूढ° । २. श संबन्धानां । ३. = आर्द्राणि ।

विश्रान्त्यर्थं समनुसरति प्रस्थमम्भोधराध्व-
भ्रान्त्युद्भूतश्रम इव रवौ पश्चिमस्याचलस्य ।
गत्वा भूपः[1] पुरमुदयवांस्त्यक्ततोयावगाह-
श्चक्रे कृत्स्नं सह परिजनैरन्नपानादिकृत्यम् ॥५९॥

॥ इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये नवमः सर्गः ॥९॥

॥५८॥ विश्रान्त्यर्थमिति[2] । रवौ सूर्ये । अम्भोधराध्वभ्रान्त्युद्भूतश्रम इव अम्भोधराध्वनो गगनस्य भ्रान्त्या भ्रमणेनोद्भूत उत्पन्नः श्रमो यस्य तस्मिन्निव । पश्चिमस्य अपरदिक्स्थस्य पर्वतस्य । प्रस्थं सानुम्[3] । विश्रान्त्यर्थं विश्रमार्थम् । समनुसरति समनुगच्छति सति । त्यक्ततोयावगाहः त्यक्तो मुक्तस्तोयस्य जलस्यावगाहः क्रीडा येन सः । उदयवान् ऐश्वर्यवान् । भूपः चक्रवर्ती । पुरं नगरीम् । गत्वा एत्य । परिजनैः । भृत्यजनैः । सह साकम् । अन्नपानादि भोजनपानादि । कृत्स्नं सकलम् । कृत्यं कार्यम् । चक्रे करोति स्म । उत्प्रेक्षा ॥५९।

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये
नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

शोकके कारण आँसू बहा रहे हों ॥५८॥ आकाशमें भ्रमण करनेसे सूर्य मानो थककर विश्राम करनेके लिए अस्ताचलके शिखरकी ओर चल दिया । यह देखकर चक्रवर्ती अजितसेन जो उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा था—जलक्रीड़ा बन्द करके पुरकी ओर चला गया । वहाँ जाकर उसने अपने परिवारके लोगोंके साथ भोजन आदि सभी आवश्यक कार्य किये ॥५९॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें
नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥९॥

---

१. क ख ग घ म भूयः । २. आ विश्रान्ति इति, श विश्रान्तीति । ३. आ स्थानम् ।

[१०. दशमः सर्गः]

इतरेषु जनेषु का कथा न सुरेष्वप्युदया निरत्ययाः ।
इति सूचयितुं शरीरिणां रविरस्ताद्रिमथाधिशिश्रिये[1] ॥१॥
प्रियसङ्गसमुत्सुकाङ्गनानयनप्रान्तशरैरिव क्षतः ।
तनुमावहति स्म भानुमानरुणाम्भोरुहभारसंनिभाम्[2] ॥२॥
दिवसाधिपवल्लभागमे वरुणाशा परिलोहितानना ।
स्वयमेव समेत्य कुङ्कुमैः कृतचर्चेव रराज संध्यया ॥३॥
परकृत्यविधौ समुद्यतः पुरुषः कृच्छ्रगतोऽपि पूज्यते ।
शिरसास्तमयेऽप्यदीधरद्यदशीतद्युतिमस्तभूधरः ॥४॥

इतरेष्विति । अथ जलक्रीडानन्तरम् । सुरेष्वपि देवेष्वपि । उदयाः अभ्युदयाः । निरत्ययाः निर्बाधाः । न भवन्ति । इतरेषु अन्येषु । जनेषु लोकेषु । का कथा का वार्ता । रविः सूर्यः । शरीरिणां जीवानाम् । इति परमार्थवचनम् । सूचयितुं दर्शयितुम् (इव) । अस्ताद्रिं पश्चिमाद्रिम् । अधिशिश्रिये अधिश्रयति स्म । उत्प्रेक्षा ॥१॥ प्रियेति । प्रियसङ्गसमुत्सुकाङ्गनानयनप्रान्तशरैः प्रियाणां दयितानां सङ्गे संयोगे समुत्सुकानामुद्युक्तानामङ्गनानां नयनानां नेत्राणां प्रान्ता अपाङ्गास्त एव शरा बाणाः, तैः । क्षत इव घातित इव । भानुमान् सूर्यः । अरुणाम्भोरुहभारसन्निभाम् अरुणाम्भोरुहाणां रक्तसरोरुहाणां भारस्य समूहस्य संनिभां समानाम् । तनुं गात्रम् । आवहति स्म धरति स्म । वही[3] प्रापणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥२॥ दिवसेति । वरुणाशा वरुणा पश्चिमा दिक् सैवाशा स्त्री । रूपकम् । दिवसाधिपवल्लभागमे दिवसाधिपः सूर्यः स एव वल्लभो नायकः तस्यागम[4] आगमनं, तस्मिन् । परिलोहितानना परिलोहितमरुणमाननं मुखं यस्याः सा । स्वयमेव, समेत्य प्राप्य । कुङ्कुमैः काश्मीरजैः । कृतचर्चा इव कृता चर्चा स्नानं लेपनं वा यस्याः[5] सा इव । सन्ध्यया सन्ध्यारागेण । रराज भाति स्म । राजृ[6] दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा[7] ॥३॥ परेति । यत्, अस्तभूधरः अस्ताचलः । अशीतद्युतिम् अशीता उष्णा द्युतयः कान्तयो यस्य तम्, सूर्यम्—इत्यर्थः । अस्तमयेऽपि अस्तमान (मन) काले, पक्षे नाशसमयेऽपि । शिरसा मस्तकेन । अदीधरत् धरति स्म । धृञ् धारणे णिजन्तात्लुङ् । परकृत्यविधौ परेषामन्येषां कृत्यस्य प्रयोजनस्य विधौ करणे । समुद्यतः समुद्युक्तः । पुरुषः पुमान् । कृच्छ्रगतोऽपि कृच्छ्रं कष्टं गतोऽपि प्राप्तोऽपि, पक्षे विगतपुण्योऽपि । पूज्यते हि महीयते हि । अर्थान्तरन्यासः ॥४॥

इसके पश्चात्—'जब देवोंका भी अभ्युदय निर्बाध नहीं है, तो और लोगों की बात ही क्या है' मानों यह सूचना, समस्त प्राणियोंको देनेके लिए सूर्यने अस्ताचलका आश्रय लिया ॥१॥ अपने-अपने पतिके समागमके लिए उत्सुक नायिकाओंके कटाक्ष-बाणोंने मानो सूर्यको घायल कर दिया, फलतः उसका शरीर रक्त कमलोंके समूहकी भाँति बिलकुल लाल हो गया ॥२॥ सूर्य रूपी नायकके आते ही पश्चिम दिशा रूपी नायिकाका मुख (अगला भाग) लाल हो गया। इतनेमें संध्या (उसकी सखी) आ गयी। उससे वह ऐसी प्रतीत होने लगी मानो उसके शरीरपर कुंकुमका लेप कर दिया गया हो ॥३॥ जो पुरुष दूसरोंके उपकारके लिए उद्यत रहता है, वह आपद्ग्रस्त होनेपर भी पूज्य होता है दूसरोंके द्वारा सन्मानित होता है। मानों इसीलिए

१. अ °थाविशश्रिये । २. अ °रुहतारसंनिभाम् । ३. आ वह, श वह्नि । ४. आ °गमे । ५. = यया । ६. आ राज् । ७. आ 'उत्प्रेक्षा' इति नास्ति ।

मयि पश्यति माभिभूयतां तमसेदं मलिनात्मना जगत् ।
इति तर्कयतेव मण्डलं दिनभर्त्रान्तरधीयतात्मनः ॥५॥

बलवान्विधिरेव देहिनां न सहाया न मतिर्न पौरुषम् ।
तमसा स तथा प्रतापवान्दिननाथोऽपि यदभ्यभूयत ॥६॥

विषये गुणवद्भिर्विवर्जिते गुणहीनाः प्रभवन्ति का गतिः ।
गगनं हि तमोभिरावृतं मलिनैरस्तमिते दिनाधिपे ॥७॥

कृतदीप्तरवैर्विहङ्गमैर्निजनीडाभिमुखैः समाकुलाः ।
वियुता इव पद्मबन्धुना प्रविलापं विदधुर्दिगङ्गनाः ॥८॥

मयीति । मयि पश्यति सति वीक्षमाणे[1] सति । इदम् एतत् । जगत् विष्टपम् । मलिनात्मना मलिनो मलीमस आत्मा स्वरूपं यस्य तेन । तमसा अन्धकारेण । माभिभूयतां तिरस्कारो मा क्रियताम्[2] । भू सत्तायां कर्मणि लोट्[3] । इति एवम् । तर्कयतेव विचारयतेव । दिनभर्त्रा सूर्येण । आत्मनः स्वस्य । मण्डलं बिम्बम् । अन्तरधीयत व्यवधीयते स्म । डुधाञ् धारणे च[4] कर्मणि लङ् । उत्प्रेक्षा ।५॥ बलवानिति । तथा तेन प्रकारेण । प्रतापवानपि प्रतापयुक्तोऽपि । सः दिननाथः सूर्यः । यत् यस्मात्कारणात् । तमसा तिमिरेण । अभ्यभूयत तिरस्क्रियते स्म । (तत्) देहिनां जीवानाम् । विधिरेव कर्मैव । बलवान् बलवत् (सबलः) । सहायाः बलवन्तो न भवन्ति । मतिः बुद्धिः । न, बलवती न भवति । अर्थान्तरन्यासः ॥६॥ विषय इति । दिनाधिपे सूर्ये । अस्तमिते अस्तं गते सति । मलिनैः मलोमसैः । 'मलादीमसश्च' इति ईमस[5]—प्रत्ययः । तमोभिः तिमिरैः । गगनं हि आकाशं हि । आवृतं व्याप्तम् । गुणवद्भिर्वर्जिते[6] गुणवद्भिर्गुणयुक्तैः पुरुषैर्विवर्जिते रहिते । विषये देशे । गुणहीनाः गुणैर्हीना रहिताः । प्रभवन्ति समर्था भवन्ति । का गतिः गतिः[7] का ? गुणवद्रहितेऽपि देशे गुणहीनानां स्थित्यभावे तेषां गतिः का[8] इत्यर्थः ॥७॥ कृतेति । कृतदीप्तरवैः कृता विहिता दीप्ताः तारा रवाः स्वरा यैः, तैः । निजनीडाभिमुखैः निजानां स्वेषां नीडानां कुलायानामभिमुखैरभिमुखं गच्छद्भिः । विहङ्गमैः पक्षिभिः । समाकुलाः व्याप्ताः । दिगङ्गनाः[9] दिक्षु ककुप्सु विद्यमाना अङ्गनाः कन्यकाः । पद्मबन्धुना पद्मस्य कमलस्य बन्धुर्बान्धवः, तेन, सूर्येण—इत्यर्थः । वियुताः विरहिताः ।

अस्ताचलने डूबते समय भी सूर्यको अपने मस्तक (शिखर) पर धारण किया ॥४॥ मेरे देखते हुए—मेरी दृष्टिके सामने, यह जगत् मलिन (कृष्णवर्ण, पापी) अन्धकारसे अभिभूत न हो, मानो यह सोचकर सूर्यने अपने मण्डलको छिपा लिया—सूर्य डूब गया ॥५॥ जब प्रतापी सूर्य भी अन्धकारके द्वारा अभिभूत-तिरस्कृत कर दिया गया, तब तो यही कहना चाहिए कि प्राणियोंका भाग्य ही बलवान है, न कि सहायक, बुद्धि और पुरुषार्थ ॥६॥ जिस देशमें गुणवान् नहीं रहते, उसमें निर्गुणोंकी प्रभुता हो जाती है । इसका उपाय ही क्या है ? इसीलिए न, सूर्यके अस्त होते ही मलिन अन्धकारने आकाशको घेर लिया ॥७॥ जोर-जोरसे शब्द करते हुए पक्षी अपने-अपने घोंसलोंको ओर जाने लगे, तो सभी दिशाएँ उनसे व्याप्त होकर ऐसी प्रतीत

१. आ वीक्ष्यमाणे । २. = न तिरस्क्रियताम् । ३. श लेट् । ४. आ 'च' नास्ति । ५. आ इन । ६. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'गुणवृद्धिर्वर्जिते' इत्येव वर्तते । ७. = उपायः । ८. = क्व इति यावत् । ९. = दिश एवाङ्गना दिगङ्गनाः ।

कुभो मलिनात्मनाखिलं तमसा व्याप्तमवेत्य विष्टपम् ।
ययुरस्तमुपागते रवाविव विध्वंसभयाददृश्यताम् ॥९॥
अवभास्य जगद्गृहं करै रविदीपे विरतिं गते तमः ।
प्रसरद्ददृशे शनैः शनैरिव तत्कज्जलमम्बरे जनः ॥१०॥
तमसाखिलमेव कुर्वता निजसङ्गेन जगन्मलीमसम् ।
इति देहवतां स्फुटीकृतं गुणदोषाः सदसत्प्रसङ्गजाः ॥११॥
विनिवृत्तनिजाह्निकक्रियं विगतालोकमुपात्तसंभ्रमम् ।
परिवृत्तिमगादिवाखिलं भुवनं संतमसावगुण्ठितम् ॥१२॥

प्रविलापं प्रलापम् । विदधुरिव चक्रुरिव । भान्ति स्म । डुधाञ् धारणे च[1] लिट् । उत्प्रेक्षा ॥८॥ ककुभ इति । रवौ सूर्ये । अस्तं[2] परोक्षम् । उपागते याते सति । मलिनात्मना मलिनो मलीमसः आत्मा यस्य, तेन । तमसा तिमिरेण । व्याप्तम् आवृतम् । अखिलं निखिलम् । विष्टपं भुवनम् । अवेत्य ज्ञात्वा । ककुभः दिशः । विध्वंसभयादिव विध्वंसाद् नाशाज्जातभयादिव भीतेरिव । अदृश्यतां नयनविषयाभावम् । ययुः यान्ति स्म । या प्रापणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥९॥ अवभास्येति । रविदीपे रविरेव दीपः प्रदीपः, तस्मिन् । करैः किरणैः । जगद्गृहं जगदेव गृहं मन्दिरम् । अवभास्य[3] प्रकाशनं कृत्वा । विरतिं विरामम् । गते याते सति । अम्बरे गगने । शनैः शनैः मन्दं मन्दम् । प्रसरत् व्याप्नुवत् । तमः तमिस्रम् । जनैः लोकैः । तत्कज्जलमिव तस्य रविदीपस्य कज्जलमिव मसिकेव[4] । ददृशे दृश्यते स्म । दृश्[5] प्रेक्षणे लिट् । उत्प्रेक्षारूपकयोः सङ्करः ॥१०॥ तमसेति । निजसङ्गेन निजस्य सङ्गेन संसर्गेण । अखिलमेव निखिलमेव । जगत् भुवनम् । मलीमसं मलम् (मलो) अस्य अस्तीति मलीमसं पुनस्तत् । 'मलादीमसश्च' इति ईमस—प्रत्ययः । कुर्वता विदधता । तमसा तिमिरेण । देहवतां देहः शरीरमस्त्येषामिति देहवन्तः, तेषाम् , संसारिणाम्—इत्यर्थः । 卐 गुणदोषाः[6] गुणाश्च दोषाश्च तथोक्ताः । सदसत्प्रसङ्गजाः सतां सत्पुरुषाणामसतां दुर्जनानां प्रसङ्गजाः संसर्गेण जाताः । इति एवम् । स्फुटीकृतं प्रागस्फुटमिदानीं स्फुटं क्रियते स्म स्फुटीकृतं व्यक्तीकृतम्—इत्यर्थः 卐 । दृष्टान्तः (?) ॥११॥ विनिवृत्तेति[7] । विनिवृत्तनिजाह्निकक्रियं विनिवृत्ता निरस्ता निजस्य स्वस्याह्निका दिवसे प्रवर्तमाना क्रिया व्यापारो यस्य तत् । विगतालोकं विगतो रहित आलोको यस्य तत् । उपात्तसंभ्रमम् उपात्तः स्वीकृतः संभ्रमोऽनवस्थिति भयं वा येन तत् । 'संवेगभयादरेषु[8] संभ्रमः' इति नानार्थकोशे । संतमसावगुण्ठितं संतमसेन समन्ताद् विद्यमानेन तमसा अवगुण्ठितमाच्छादितम्, (पक्षे) अज्ञानान्धकारेणावगुण्ठितम् । अखिलं निखिलम् । भुवनं विष्टपम् । परिवृत्तिं व्यस्तवृत्तिम्, पक्षे उन्मत्तवृत्तिं तिरस्कारं वा । अगादिव अयादिव । इण् गतौ लुङ् ।

होने लगीं मानो सूर्य (पति) से वियुक्त होकर वे विलाप कर रही हों ॥८॥ सूर्यके अस्त होते ही मलिन अन्धकारने सारे संसारको घेर लिया, यह देखकर सभी दिशाएँ मानो विध्वंसके भयसे अदृश्य हो गईं ॥९॥ जगत् रूपी घरको प्रकाशित करके सूर्य रूपी दीपकके अस्त होते ही लोगोंने आकाशमें धीरे-धीरे उसके कज्जल सरीखे प्रतीत होनेवाले अन्धकारको फैलते देखा ॥१०॥ अपने संसर्गसे सारे संसारको मलिन करते हुए अन्धकारने, समस्त प्राणियोंके सामने इस बातको स्पष्ट कर दिया कि गुण और दोष, क्रमशः अच्छे और बुरे संसर्गसे हुआ करते हैं ॥११॥ अन्धकारका आवरण या पर्दा पड़ जानेसे सारा संसार बिलकुल बदल-सा गया । उसने दिनमें होनेवाली सारी क्रियाएँ छोड़ दीं, उसका प्रकाश समाप्त हो गया और उसे भय भी उत्पन्न हो गया । फलतः वह पागल सरीखा जान पड़ने लगा । पागल दैनिक क्रियाओंसे निवृत्त रहता है

१. आ 'च' नोपलभ्यते । २. = अस्ताचलम् । ३. = प्रकाश्य । ४. श मषिकेव । ५. आ दृशिर् । ६. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । ७. श विनीति । ८. श °थरेषु ।

न जहाति पुमान्कृतज्ञतामसुभङ्गेऽपि निसर्गनिर्मलः।
रविणा गमितः समुन्नतिं सह तेनास्तमियाय वासरः ॥१३॥
गुणवान्समुपैति सेव्यतां गुणहीनादपरज्यते जनः।
दिवसापगमे मलीमसं कमलं पश्य समुज्झितं श्रिया ॥१४॥
ककुभां विवरेषु तारका विहतध्वान्तलवाश्चकासिरे।
गलिता इव मित्रविप्लवे गगनस्योग्रशुचोऽश्रुबिन्दवः ॥१५॥
गलिताश्रुभिरार्तनिःस्वनैर्बहलध्वान्तमषीमलीमसैः।
विरहानलधूमधूसरैरिव चक्राह्वयुगैर्व्ययुज्यत ॥१६॥

'गेत्यो:' इति गादेशः। उत्प्रेक्षा ॥१२॥ नेति। रविणा सूर्येण। समुन्नतिं महोन्नतिम्। गमितः प्रापितः। वासरः दिवसः। तेन सूर्येण। सह साकम्। अस्तं नाशम्। इयाय जगाम[1]। इण् गतौ लिट्। निसर्गनिर्मलः निसर्गेण स्वभावेन निर्मलो मलरहितः। पुमान् पुरुषः। असुभङ्गेऽपि असूनां प्राणानां भङ्गेऽपि नाशेऽपि। कृतज्ञताम् उपकारस्मरणत्वम्[2]। न जहाति न त्यजति। ओहाक् त्यागे लट्। अर्थान्तरन्यासः ॥१३॥ गुणवानिति। गुणवान् गुणसहितः। जनः लोकः। सेव्यतां पूज्यताम्। समुपैति संयाति। गुणहीनात् गुणैर्हीनाद् रहितात्। अपरज्यते[3] अपसरति। रञ्जु[4] रागे लट्। लोके गुणवान् जनो गुणवन्तमाश्रित्य पूज्यतामुपयाति, स एव गुणहीनमाश्रित्य स्वगुणान् त्यजते (ति) इत्यभिप्रायः। दिवसापगमे दिवसस्य दिनस्य। अपगमे नाशे। मलीमसं मलसंयुक्तम्। श्रिया शोभया। समुज्झितं रहितम्[5]। कमलं नलिनम्। पश्य विलोकय। दृशृ[6] प्रेक्षणे लोट्[7]। 'पा घ्रा—' इत्यादिना पश्यादेशः। दृष्टान्तः ॥१४॥ ककुभामिति। ककुभां दिशाम्। विवरेषु भागेषु। विहतध्वान्तलवाः विहता निरस्ता ध्वान्तस्य तमसो लवाः कणा यासां[8] ताः तथोक्ताः। तारकाः नक्षत्राणि। मित्रविप्लवे मित्रस्य सूर्यस्य विप्लवे नाशे, मित्रस्य सुहृदो विप्लवे नाशे च। श्लेषः। गगनस्य आकाशस्य। उग्रशुचा उग्रया तीव्रया शुचा शोकेन। अश्रुबिन्दवः अश्रुणो नयनोदकस्य बिन्दवः कणाः। गलिता इव च्युता इव। चकासिरे[9]। कास[10] दीप्तौ लिट्। उत्प्रेक्षा ॥१५॥ गलितेति। गलिताश्रुभिः गलितं स्रवितमश्रु नेत्रोदकं येषां तैः। आर्तनिःस्वनैः आर्तः शोकेन युक्तो निःस्वनो येषां तैः। बहलध्वान्तमषीमलीमसैः बहलं गाढं ध्वान्तं तमस्तदेव मषी[11] तया मलीमसानि मलिनानि तैः। चक्राह्वयुगलैः चक्राह्वानां चक्रवाकानां युगलैर्द्वन्द्वैः। विरहानलधूमधूसरैः [इव] विरहो वियोगः स एवानलोऽग्निस्तस्य धूमेन धूसरा विवर्णाः तैरिव। व्ययुज्यत।

उसे कुछ ज्ञान नहीं रहता और उसे भ्रम हुआ करता है ॥१२। जो मनुष्य स्वभावतः निर्मल होता है—जिसका दिल साफ होता है—वह प्राण निकलनेकी नौबत आनेपर भी कृतज्ञताको नहीं छोड़ता। मानो यही सोचकर, सूर्यके द्वारा समुन्नत किया गया दिन, सूर्यके साथ ही अस्त हो गया ॥१३॥ गुणी मनुष्य पूज्य होता है, पर जब वह गुणहीन हो जाता है, तब लोग उससे विरक्त हो जाते हैं। कमलको देखो, दिन अस्त होनेपर ज्यों ही वह मलिन होने लगता है, त्योंही लक्ष्मी उसे छोड़ देती है ॥१४॥ दिशाओंके बीच-बीचमें अन्धकारको कुछ-कुछ दूर करनेवाली ताराएँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानों मित्र (सूर्य, सखा) के अस्त (नष्ट) होनेपर अत्यधिक शोक करनेवाले आकाशको अश्रु-बिन्दुएँ टपक रही हों ॥१५॥ चक्रवाक पक्षियोंके जोड़े दुःखी हो गये—उनकी आँखोंसे आँसू टपकने लगे, उनके मुखसे दुःखभरे शब्द निकलने लगे और वे अन्धकार रूपी काली स्याहीसे मैले होकर ऐसे जान पड़ने लगे मानो विरहाग्निके धुएँसे मटमैले

१. श अस्तमियाय नाशमियाय प्राप। २. श स्मरत्वम्। ३. = अपरक्तो भवति। ४. श रञ्जि। ५. श अपगतम्। ६. आ दृशिर्। ७. श लेट्। ८. = याभिः। ९. श चकाशिरे। १०. श काश। ११. = मषति हिनस्त्यौज्ज्वल्यमिति मषी।

विसरन्बिस[1]तन्तुनिर्मलो विबभासेऽथ नभः पयोनिधौ ।
निकरो रजनीपते रुचामिव मुक्ताफलरोचिषां चयः ॥१७॥
प्रसृतालकतुल्यलाञ्छनद्युतिरद्र्यन्तरितार्धमण्डलः ।
व्रजति स्म ललाटपट्टतां क्षणमात्रं बलभिद्दिशः शशी ॥१८॥
विदधत्तिमिरं तिरोहितं करजालैर्गगनान्तगामिभिः ।
अभवद्रजनीकरः क्रमादुदयाद्रीन्द्रशिरः शिखामणिः ॥१९॥
उदयाद्रिशिरः श्रितः शशी शशमन्तर्गतमाजिघांसुना ।
तमसा शबरेण सायकैरिव विद्धोधिजगाम रक्तताम् ॥२०॥

युजृ[2] योगे भावे लङ् । उत्प्रेक्षा ॥१६॥ विसरन्निति । अथ सूर्यास्तमया (ना) नन्तरम् । बिसतन्तुनिर्मलः बिसस्य[3] कमलस्य तन्तुरिव निर्मलः शुभ्रः । विसरन् प्रसरन् । रजनीपतेः निशाकरस्य । रुचां कान्तीनाम् । निकरः, नभःपयोनिधौ समुद्रे[4] । मुक्ताफलरोचिषां मुक्ताफलानां मुक्तामणीनां रोचिषां कान्तीनाम् । चय इव निवह इव । विबभासे भासते स्म । भासृ[5] दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१७ । प्रसृतेति । प्रसृतालकतुल्यलाञ्छनद्युतिः प्रसृतस्य विसृतस्यालकस्य चूर्णकुन्तलस्य तुल्या समाना लाञ्छनस्य द्युतिः कान्ति र्यस्य सः । अद्र्यन्तरितार्धमण्डलः अद्रिणा पूर्वपर्वतेनान्तरितं व्यवहितं मण्डलस्य बिम्बस्यार्धम् अर्धमण्डलं यस्य सः । शशी चन्द्रः । क्षणमात्रं क्षणपर्यन्तमेव । बलभिद्दिशः बलभिद इन्द्रस्य दिशः । ललाटपट्टतां ललाटस्य पट्टतां[6] प्रदेशत्वम् । व्रजति स्म गच्छति स्म । व्रज गतौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ विदधदिति । गगनान्तगामिभिः गगनस्याकाशस्यान्तमवसानं गामिभिः[7] गमनशीलैः । करजालैः कराणां किरणानां जालैः समूहैः । तिमिरं तमः । तिरोहितं व्यवहितम् । विदधत् कुर्वन् । रजनीकरः निशाकरः । क्रमात्[8] परिपाट्याः । उदयाद्रीन्द्रशिरःशिखामणिः उदयाद्रीन्द्रस्य उदयपर्वतेन्द्रस्य शिरसो मस्तकस्य शिखामणिश्चूडामणिः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । उपमा ॥१९॥ उदयेति । उदयाद्रिशिरःश्रितः उदयाद्रेरुदयपर्वतस्य शिरः शिखरं श्रित आश्रितः । शशी चन्द्रः । अन्तर्गतम् अन्तर्मध्यं गतं यातम् । शशं[9] शशमृगम् । आजिघांसुना हन्तुमिच्छुना । तमसा तिमिरेण । शबरेण व्याधेन । सायकैः बाणैः । विद्ध [इव] वेधित इव । रक्ततां लोहितत्वम् । निजगाम [अधिजगाम] ययौ ।

हो गये हों । फिर वे बिछुड़ गये ॥१६॥ इसके पश्चात् सभी ओर फैलनेवाला, कमलदण्डके तन्तुओंके समान निर्मल, चन्द्रमाकी किरणोंका समूह सुशोभित होने लगा, जो ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी समुद्रमें मोतियोंकी किरणोंका समूह हो ॥१७॥ चन्द्रमा दृष्टिगोचर होने लगा । उसका आधा भाग उदयाचलकी ओटमें छिपा हुआ था, और आधा उसके ऊपर देख पड़ता था, जो थोड़ी देर तक इन्द्रकी दिशा (पूर्व) रूपी नायिकाके ललाटकी छविको धारण कर रहा था, और उसमें काला धब्बा बिखरे केशपाशकी सुषमाको व्यक्त कर रहा था ॥१८॥ आकाशमें सभी ओर जानेवाली किरणोंसे अन्धकारको दूर करता हुआ चन्द्रमा धीरे-धीरे उदयाचलके सिर—शिखरपर, पूरा-का-पूरा पहुँच गया, और वहाँ वह उसका चूडामणि बन गया ॥१९॥ चन्द्रमा उदयाचलके शिखरपर पहुँच गया । वहाँ वह बिल्कुल रक्तवर्ण हो गया, जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो अन्धकार रूपी भीलने उसके भीतर स्थित खरगोशको मारनेके लिए जो बाण मारे थे, उनसे वह स्वयं घायल हो गया हो, और घावसे निकलनेवाले

---

१. आ विवशन्बि° । २. आ युजिर् । ३. = कमलदण्डस्य-मृणालस्य । ४. = आकाशसमुद्रे । ४. श भासृञ् । ५. = फलकत्वम् । ६. = गच्छन्तीत्येवं शीलानि, तैः । ७. = क्रमतः । ८. = 'शशस्तु मृदुलोमकः' इति हैमः । १०. आ जगाम ।

घनवीथिरथं क्षपापतावधिरूढे धृतधामधन्वनि ।
उपभुक्तनिशं तमो भयात्परदारग्रहजादिवाद्रवत् ॥२१॥
विगलत्तिमिरावगुण्ठनामुडुघर्मोदकबिन्दुसंभृताम् ।
ददृशुः शिशिरांशुसंगमे सुरतस्थामिव शर्वरीं जनाः ॥२२॥
भवतीह विनापि हेतुना घटना कस्यचिदेव केनचित् ।
विकसद्भिरिति स्फुटाकृतं कुमुदैरेव निशाकरोदये ॥२३॥
प्रविकासिनि यन्न्यलीयत भ्रमरीणां[1] कुमुदानने कुलम् ।
तिलकं तदभूत्प्रसाधनं कुमुदिन्यास्तुहिनांशुसंगमे ॥२४॥

गम्लृ गतौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥२०॥ घनेति । धृतधामधन्वनि[2] धामैव किरण (णाः) एव धनुः तथोक्तम्, धृतं भृतं च तद् धामधनुश्च तथोक्तम्, धृतधामधनुरस्यास्तीति धृतधामधन्वा तस्मिन् क्षमापतौ निशापतौ, चन्द्रे—इत्यर्थः । घनवीथिरथं घनस्य मेघस्य वीथिः, गगनम्—इति भावः, घनवीथिरेव रथः, तम् । रूपकम् । अधिरूढे सति । उपभुक्तनिशम् उपभुक्तानुभूता निशा रात्रिर्येन तत् । तमः तिमिरम् । परदारग्रहजात् परदाराणां परस्त्रीणां ग्रहजाद् ग्रहणेन जातात् । भयादिव भीतेरिव । अद्रवत् अधावत् । द्रु गतौ[3] लङ् । उत्प्रेक्षा ॥२१॥ विगलदिति । शिशिरांशुसङ्गमे शिशिरांशोश्चन्द्रस्य सङ्गमे संसर्गे[4] । विगलत्तिमिरावगुण्ठनां विगलद् विगच्छत् तिमिरमेव तम एवावगुण्ठनं वस्त्रं यस्याः ताम् । उडुघर्मोदकबिन्दुसंभृताम्[5] उडूनि नक्षत्राणि तान्येव घर्मस्य स्वेदस्योदकं जलं तस्य बिन्दवस्तान् संबिभर्ति स्म उडुघर्मोदकसंभृता, ताम् शर्वरीं रात्रिम् । जनाः लोकाः । सुरतस्थामिव निधुवनस्थामिव । ददृशुः पश्यन्ति स्म । दृशुर्[6] प्रेक्षणे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥२२॥ भवतीति । इह जगति । हेतुना विनापि कारणेन विनापि । कस्यचिदेव[7] वस्तुन एव । केनचित् वस्तुना साकम्[8] । घटना सम्बन्धः । भवति जायते । निशाकरोदये निशाकरस्य चन्द्रस्योदये । विकसद्भिः[9] । कुमुदैरेव कैरवैरेव[10] । इति एवम् । स्फुटीकृतं व्यक्तीकृतम्[11] । कुमुदैः सह संबन्धः कुमुदानां विकसनेनैव व्यक्तीकृत इत्यर्थः । अनुमितिः ॥२३॥ प्रविकासिनीति । प्रविकासिनि विका (क) सनशीले । कुमुदानने कुमुदमेवाननं तथोक्तं, तस्मिन् । भ्रमरीणां[12] मधुकरीणाम् । कुलं समूहः । न्यलीयत[13] न्यपतत् । लीङ् श्लेषणे कर्मणि लट् । तुहिनांशुसङ्गमे तुहिनांशोश्चन्द्रस्य सङ्गमे संसर्गे । कुमुदिन्याः[14] कुमुदषण्डस्य कुमुदिनीजातिः (तेः), स्त्रिया इति ध्वनिः । तत् भ्रमरीकुलम्[15] । तिलकं तिलकम्—इति नाम । प्रसाधनम्

रक्तसे रंजित हो गया हो ॥२०॥ अपना प्रकाश या प्रभाव रूपी धनुष (और किरण रूपी बाण) लेकर ज्यों ही रात्रिका पति-चन्द्रमा आकाश रूपी रथपर सवार हुआ, त्यों ही रात्रिका उपभोग करनेवाला अन्धकार मानो परनारी भोगनेके भयसे भाग गया—चन्द्रोदय होते ही अन्धकार नष्ट हो गया ॥२१॥ चन्द्रमाका संगम होते ही रात्रि रूपी नायिकाका अन्धकार रूपी घूँघट उतर गया और उसके ऊपर नक्षत्र रूपी पसीनेके बिन्दु दृष्टिगोचर होने लगे । अतएव दर्शकोंको वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो वह सुरतमें निरत हो ॥२२॥ चन्द्रोदय होनेपर केवल रात्रि विकासी कमल ही विकसित हुए (न कि दिनमें खिसकनेवाले कमल), जिन्होंने मानो यह स्पष्ट बतला दिया कि इस संसारमें किसीका किसीके साथ विना किसी कारणके भी (स्वाभाविक) सम्बन्ध होता है ॥२३॥ विकसित कुमुद रूपी (कुमुदिनीके) मुखपर जो भौंरोंका झुण्ड जा बैठा,

१. क ख ग घ म भ्रमराणां । २. = धृतं धामैव धनुर्येन, तस्मिन् । ३. श द्रु सु (स्रु) गतौ । ४. श 'संसर्गे' इति नोपलभ्यते । ५. = उडून्येव घर्मोदबिन्दवः तैः संभृतां व्याप्ताम् । ६. आ दृशिर् । ७. = कस्यचिद्वस्तुन एव । ८. आ 'साकम्' इति नास्ति । ९. = स्फुटद्भिः । १०. श कुमुदैरिव कैरवैरिव । ११. श 'व्यक्तीकृतम्' इति नोपलभ्यते । १२. आ भ्रमराणां । १३. श व्यलीयत् । १४. = कुमुद्वत्याः । १५. अ भ्रमरं ।

अपहन्ति नरो निसर्गजानपि दोषान्गुणवन्तमाश्रितः ।
नभसा हि हिमांशुसंगमादपनीतं मलिनत्वमात्मनः ॥२५॥

उदितेन पयोधिरिन्दुना परमां कोटिमनीयतोन्नतेः ।
महतां हि परोपकारिता सहजा नाद्यतनी मनागपि ॥२६॥

विकसत्कुमुदाकरं सरः प्रकटोडुप्रकरं नभःस्थलम् ।
द्वयमाप परस्परोपमां करजाले शशिनः प्रसर्पति ॥२७॥

रजनी तमसान्त्यजातिना परिमृष्टा घनवर्त्मवर्त्मनि ।
प्रविधातुमिवात्मशोधनं निममज्जेन्दुमहोमहाह्रदे[1] ॥२८॥

अलङ्कारः । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥२४॥ अपहन्तीत्यादि । हिमांशुसङ्गमात् हिमांशोश्चन्द्रस्य सङ्गमात् संसर्गात् । नभसा गगनेन । आत्मनः स्वस्य । मलिनत्वं मलीमसत्वम् । अपनीतं निराकृतम् । गुणवन्तं गुणिनं पुरुषम् । आश्रितः समुपयातः । नरः पुरुषः । निसर्गजान् स्वभावजनितान् । दोषानपि पापान्यपि । अपहन्ति नाशयति । हन हिंसागत्योः कर्तरि लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥२५॥ उदितेनेति । उदितेन उदेति स्म उदितः, तेन उदयं गतेन । इन्दुना सोमेन । पयोधिः समुद्रः । उन्नतेः महत्त्वस्य । परमाम् उत्कृष्टाम् । कोटिं मागम् । अनीयत[2] अयायत[3] । णीञ् प्रापणे कर्मणि लङ् । 'दुहि याचि—' इत्यादिना द्विकर्मकः । महतां सताम् । परोपकारिता परेषां सर्वेषामुपकारितामुपकारित्वम् । सहजा निसर्गजनिता । हि मनागपि ईषदपि । न अद्यतनी अद्यभवा न । 'सायम्—' इत्यादिना तनट् । 'टिड्ढाणे—' इत्यादिना ङी[4] । अर्थान्तरन्यासः ॥२६॥ विकसदिति । शशिनः चन्द्रस्य । करजाले कराणां किरणानां जाले समूहे । प्रसर्पति प्रसरति सति । विकसत्कुमुदाकरं विकसन् कुमुदानां कुवलयानाम्[5]आकरो निवहो यस्मिन् तत् । सरः सरोवरः । प्रकटोडुप्रकरं प्रकटः प्रादुर्भवन् उडूनां नक्षत्राणां प्रकरो निवहो यस्मिन् तत् । नभस्तलं नभस आकाशस्य तलं प्रदेशः । द्वयं सरोवरनभस्तलयोर्द्वयम् । परस्परोपमाम् अन्योन्योपमाम् । आप याति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । उपमा ॥२७॥ रजनीति । घनवर्त्मवर्त्मनि घनवर्त्मैव गगनमेव वर्त्म मार्गः, तस्मिन्, आकाशमार्गे—इत्यर्थः । तमसा तिमिरेण । अन्त्यजातिना चाण्डालेन[6] । परिमृष्टा परिस्पृष्टा । रजनी रात्रिः स्त्री । आत्मशोधनम् आत्मनः स्वस्य शोधनं शुद्धिम् । प्रविधातुमिव कर्तुमिव । इन्दुमहोमहाह्रदे इन्दोश्चन्द्रस्य महः कान्तिः तदेव महति ह्रदे (महाह्रदः, तस्मिन्) सरोवरे । निममज्ज स्नाति स्म । टुमस्जो[7] शुद्धौ लिट् । रूपकं परिणामो

वह कुमुदिनी रूपी नायिकाका चन्द्रमाके समागमके समय तिलक बन गया ॥२४॥ 'गुणवान्‌का आश्रय पानेवाला पुरुष अपने स्वाभाविक दोषोंको भी छोड़ देता है' यह बिलकुल सच है, क्योंकि आकाशने चन्द्रमाका संसर्ग पाकर अपनी स्वाभाविक मलिनताको छोड़ दिया ॥२५॥ चन्द्रमाने उदित होकर समुद्रको उन्नतिकी चरम सीमामें पहुँचा दिया । इसका एकमात्र कारण है महान् पुरुषोंकी स्वाभाविक परोपकार करनेकी प्रवृत्ति, जो अंशतः भी आजकी नहीं मानी जा सकती ॥२६॥ चन्द्रमाकी किरणोंके फैलनेपर सरोवर—जिसमें कुमुदोंका समूह खिल उठा और आकाश—जिसमें नक्षत्र मण्डल प्रकट हो गया, ये दोनों बिलकुल एक सरीखे हो गये ॥२७॥ चन्द्रोदयके पहले अन्धकार रूपी चण्डालके द्वारा रात्रि रूपी स्त्री आकाशमार्गमें छू ली गई थी, मानो इसीलिए अपनेको शुद्ध करनेके लिए उसने चन्द्रमाके प्रकाश रूपी बहुत बड़े जलाशयमें

---

१. क ख ग घ म प्रविवेशेन्दु' । २. =नीतः । ३. आ अयास्ययत । ४. आ ङीप् । ५. श कमलानाम् । ६. आ चण्डालेन । ७. आ टुमज्जा ।

तिमिरेभमदुर्न हिंसितुं शशिसिंहाय गुहाश्रितं नगाः।
शरणागतरक्षणं सतां नहि जातु व्यभिचारमेष्यति ॥२९॥
विबभावधिरोहदम्बरे विधुबिम्बं क्षणमुद्गमारुणम् ।
जनयद्धरिदिग्वधूजपाकुसुमापीडवितर्कमङ्गिनाम् ॥३०॥
समभूत्सुखिचक्रवाकयोर्मिथुनं संगमहृष्टमह्नि यत् ।
निशि तद्विरहार्तिविह्वलं धिगिमां दग्धविधेर्विडम्बनाम् ॥३१॥
यदधुः प्रियकोपधूपिते हृदि मानग्रहशल्यमङ्गनाः ।
विधुरुद्धरति स्म दुर्धरं करसंदंशकताडनेन तत् ॥३२॥

वा (उत्प्रेक्षा) ॥२८॥ तिमिरेभेति[1] । नगाः पर्वताः । गुहाश्रितं गुहां गह्वरमाश्रितं[2] सेवितम् । तिमिरेभं तिमिरमेवेभः करी तम् । शशिसिंहाय शश्येव सिंहो मृगेन्द्रः तस्मै । हिंसितुं हन्तुम् । नादुः न ददति स्म । डुदाञ् दाने लुङ् । शरणागतरक्षणं शरणं रक्षणमागतानां रक्षणं पालनम् । सतां सत्पुरुषाणाम् । जातु एकवारमपि । व्यभिचारं व्यत्ययम् । नेष्यति हि न यास्यति हि । इण् गतौ लृट् । अर्थान्तरन्यासः ॥२९॥ विबभाविति । क्षणं क्षणपर्यन्तम् । उद्गमारुणम् उद्गमे उदयेऽरुणं लोहितम् । अम्बरे गगने । अधिरोहत् आरोहत् । विधुबिम्बं विधोश्चन्द्रस्य बिम्बं मण्डलम् । अङ्गिनां जनानाम् । हरिदिग्वधूजपाकुसुमापीडवितर्कं हरिदिगेव इन्द्रदिगेव वधूर्वनिता तस्या जपाकुसुमेन जपापुष्पेण रचित आपीड शेखर इति वितर्कमाशङ्काम् । जनयत् उत्पादयत् सत् । विबभौ भाति स्म । भा दीप्तौ लिट् । संशयः ॥३०॥ समभूदिति । सङ्गमहृष्टं सङ्गमेन संसर्गेण हृष्टं संतुष्टम् । यत्, चक्रवाकयोः कोकपक्षिणोः । मिथुनं द्वन्द्वम् । अह्नि दिवसे । सुखि सुखयुक्तम् । समभूत् समभवत् । भू सत्तायां लुङ् । तत्, निशि निशायाम् । विरहार्तिविह्वलं विरहस्य वियोगस्यार्त्या पीडया विह्वलं[3] मूर्च्छितम् । अभूत् । दग्धविधेः[4] धूर्तपापस्य । इमाम् एनाम् । विडम्बनां तिरस्कृतिम्[5] । धिक् । 'हा धिक् समया' इत्यादिना द्वितीया ॥३१॥ यदिति । अङ्गनाः वनिताः । प्रियकोपधूपिते प्रिये नायके विद्यमानेन कोपेन धूपिते संतापिते । हृदि हृदये । यत्, मानग्रहशल्यं मानस्य गर्वस्य ग्रह एव स्वीकार[6] एव शल्यं शङ्कुम् । अधुः धरन्ति स्म । विधुः चन्द्रः । दुर्धरं धर्तुमशक्यम् । तत्[7], करसंदंशकताडनेन कर एव किरण एव संदंशकस्य (संदंशः कङ्कमुखः तस्य । संदंश्यते तप्तहेमादि येन स संदंशः ।) तप्तलोहग्राहकस्य

प्रवेश किया ॥२८॥ पर्वतोंने अपनी गुफाकी शरण आये अन्धकार रूपी हाथीको मारनेके लिए चन्द्रमा रूपी सिंहके हवाले नहीं किया; क्योंकि शरणागतकी रक्षा करना सज्जनोंका व्रत है, जो कभी अन्यथा नहीं हो सकता—चन्द्रमाने गुफाओंके अन्धकारको छोड़कर बाहरके अन्धकारको हटा दिया ॥२९॥ उदयकालीन लाल चन्द्रमा, जब आकाशमें चढ़ रहा था, बड़ा ही सुन्दर प्रतीत हो रहा था। उस समय वह दर्शकोंके मनमें यह तर्क उत्पन्नकर रहा था कि यह (चन्द्रमा) इन्द्रकी दिशारूपी नायिकाका कहीं जपापुष्पका शिरोभूषण तो नहीं है ॥३०॥ चकवा-चकवीका जो जोड़ा दिनमें एक साथ रहनेसे सुखी रहा, वही रातमें एक दूसरेके विरहसे बेचैन हो उठा। निठुर विधाताकी इस विडम्बनाको धिक्कार है ॥३१॥ पतिके ऊपर उत्पन्न हुए क्रोधकी अग्निसे सन्तप्त अपने हृदयमें मानवती (रूठकर बैठी हुई) नायिकाओंने जिस मानके काँटे या कीलको ठोक लिया था, वह रात्रिके समय दुर्धर हो गया, पर उसे चन्द्रमाने अपनी

---

१. आ श तिमिरेति । २. = प्राप्तम् । ३. = व्याकुलम् । ४. = निष्ठुरदैवस्य । ५. आ तिरस्क्रियाम् । ६. आ 'स्वीकार एव' इति नोपलभ्यते । ७. श 'तत्' इति नास्ति ।

हिमरश्मिकरापसारिते तिमिरे काण्डपटस्फुटोपमे ।
रुरुचेऽम्बरकुट्टिमस्थितैः[1] सितपुष्पप्रकरैरिव ग्रहैः ॥३३॥

रजनीपतिना प्रतर्जितं करकुन्तैर्भुवनान्तवर्ति यत् ।
प्रविवेश वियोगिनीमनःस्विव मूर्च्छाकृतकेन तत्तमः ॥३४॥

क्षणदानिलभासुरीभवद्विरहाग्निज्वलितेन चेतसा ।
वनिताभिरचिन्ति चित्तभूशरशाणाकृति[2] चन्द्रमण्डलम् ॥३५॥

शिशिरांशुकराभिमर्शनाद्रजसाविर्भवता समन्ततः ।
मकरन्दमयेन निर्बभाविव निर्यत्पुलका कुमुद्वती ॥३६॥

ताडनेन । उद्धरति स्म उद्धृतवान् । रूपकम् ॥३२॥ हिमेति । काण्डपटस्फुटोपमे काण्डपटेन जवनिकापटेन स्फुटं व्यक्तमुपमा[3] समानं यस्य तस्मिन् । तिमिरे तमसि । हिमरश्मिकरापसारिते हिमरश्मेश्चन्द्रस्य करेण किरणेन[4] अपसारिते निवारिते । अम्बरकुट्टिमस्थितैः अम्बरमेवाकाशमेव कुट्टिमम् अङ्गणं, तस्मिन् स्थितैः । सितपुष्पप्रकरैरिव सितानां शुभ्राणां पुष्पाणां कुसुमानां प्रकरैरिव समूहैरिव । ग्रहैः नक्षत्रैः । रुरुचे दिदीपे । रुचि[5] दीप्तौ भावे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३३॥ रजनीति । भुवनान्तवर्ति[6] भुवनस्यान्ते मध्ये वर्ति वर्तमानम् । रजनीपतिना सोमेन । करकुन्तैः करा एव कुन्ताः कुन्तायुधानि, तैः । प्रतर्जितं भर्त्सितम् । यत् तमः तिमिरम् । तत्, मूर्च्छाकृतकेन मूर्च्छा इति कृतकेन व्याजेन । वियोगिनीमनःसु वियोगिनीनां विरहिणीनां[7] मनःसु चित्तेषु । प्रविवेश इव अन्तर्गत (तम्) इव । विश प्रवेशने लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३४॥ क्षणदेति । क्षणदानिलभासुरीभवद्विरहाग्निज्वलितेन क्षणदैव रात्रिरेवानिलो वायुः तेन भासुरीभवतः प्रकाशनीभवतः[8] अग्ने वह्नेर्ज्वलितेन संतापितेन (क्षणदा रात्रिः तस्या अनिलो वायु स्तेन भासुरीभवन् प्रज्वलन् विरहाग्निर्वियोगानलस्तेन ज्वलितेन संधुक्षितेन)। चेतसा चित्तेन । वनिताभिः सुन्दरीभिः । चन्द्रमण्डलं चन्द्रस्य मण्डलं बिम्बम् । चित्तभूशरशाणाकृति चित्तभुवो मन्मथस्य शरस्य बाणस्य शाणस्य आकृति र्यस्य तत् । इति, अचिन्ति चिन्त्यते स्म । चितै संज्ञाने कर्मणि लुङ् । उत्प्रेक्षा ।।३५।। शिशिरेति । शिशिरांशुकराभिमर्शनात् शिशिरांशोश्चन्द्रस्य कराणां किरणानामभिमर्शनात् स्पर्शनात् । मकरन्दमयेन पुष्परसमयेन । समन्ततः परितः आविर्भवता प्रकटीभवता । रजसा धूल्या । कुमुद्वती कुमुदिनी । निर्यत्पुलकेव निर्यन् निर्गच्छन् पुलको यस्याः सा इव । निर्बभौ भाति स्म ।

किरणोंकी संसीसे पकड़कर निकाल दिया ॥३२॥ चन्द्रमाने अपने कर (किरण, हाथ) से पर्दे सरीखे अन्धकारको हटा दिया तो आकाश रूपी फर्श या रंगमंचपर स्थित नक्षत्र (पुष्प राशिकी भाँति सुशोभित होने लगे ॥३३॥ चन्द्रमाने अपनी किरणोंके भालोंसे जगत्के अन्दरके जिस अन्धकारका तर्जन किया, वह मूर्च्छाके बहाने विरहिणियोंके हृदयमें जा घुसा ॥३४॥ रात्रिकी वायुसे विरहाग्नि प्रज्वलित हो उठी और उससे विरहिणियोंका हृदय जलने लगा। इस अवसर पर विरहिणियोंने चन्द्रमण्डलको कामदेवके बाणोंको तेज करनेवाले शाण (सान) के आकारमें देखा—चन्द्रमा उन्हें सान-सा प्रतीत हुआ ॥३५॥ चन्द्रमाकी किरणों (अथ च हाथों) के स्पर्श-से कुमुदिनीके चारों ओरसे सरस पराग निकलने लगा, जिससे वह ऐसी जान पड़ने लगी मानो

---

१. क ख ग घ म कुट्टिमं स्थितैः । २. अ °शिरसाणीकृत° । ३. =साम्यम् । ४. = हस्तेनेति ध्वन्यर्थः । ५. आ रुच । ६. = भुवनस्यान्ते मध्ये वर्तत इति भुवनान्तर्वर्ति । ७. श विरहिणां । ८. श प्रकाशिनी° ।

रजनीपतिबिम्बदर्शनात्प्रियसङ्गत्वरमाणचेतसाम् ।
परिवृद्धिमियाय योषितां हृदये कामपि रागसागरः ॥३७॥
सुहृदर्थपरैर्महात्मभिर्न पुनः स्वार्थपरैरुदीयते ।
यदभूद्रजनीकरोदयः परिवृद्ध्यै स्मरशक्तिसंपदः ॥३८॥
बभुरौषधयः समन्ततः शिखरे भूमिभृतां ज्वलच्छिखाः ।
क्षणदाङ्गनयेव दीपिका हरिणाङ्काभिगमे प्रदीपिताः ॥३९॥
निजधामविवृद्धिकारिणी न परं चन्द्रमसा विभावरी ।
कुमुदिन्यपि भासिता सतां निरपेक्षा हि परोपकारिता ॥४०॥
परिणामिनि यामिनीमुखे हरिणाङ्के च कठोरतेजसि ।
जगृहेऽथ विविक्तमास्पदं रतये रागिभिरङ्गनासखैः ॥४१॥

भा दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३६॥ रजनीति[1] । रजनीपतिबिम्बदर्शनात् रजनीपतेश्चन्द्रस्य बिम्बस्य मण्डलस्य दर्शनात् विलोकनात् । प्रियसङ्गत्वरमाणचेतसां प्रियस्य धवस्य[2] सङ्गमे संसर्गे त्वरमाणमुत्सुकं चेतो यासां तासाम् । योषितां वनितानाम् । हृदये चेतसि । रागसागरः राग एव सागरः समुद्रः । कामपि[3] परिवृद्धि प्रवृद्धिम् । इयाय याति स्म । इण् गतौ लिट् । रूपकम् ॥३७॥ सुहृदिति । महात्मभिः महापुरुषैः । सुहृदर्थपरैः सुहृदो मित्रस्यार्थे प्रयोजने परैः तत्परैः । उदीयते ऐश्वर्यं प्राप्यते । स्वार्थपरैः स्वप्रयोजनतत्परैः । पुनः पश्चात् । न नोदीयते । यत् यस्मात् । रजनीकरोदयः रजनीकरस्य चन्द्रस्योदयः । स्मरशक्तिसंपदः स्मरस्य मन्मथस्य शक्तेः सामर्थ्यस्य सम्पदः संपत्तेः । परिवृद्धये परिवर्धनाय । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥३८॥ बभुरिति । भूमिभृतां पर्वतानाम् । शिखरे शृङ्गे । समन्ततः सर्वतः । ज्वलच्छिखा ज्वलन्ती शिखा यासां ताः । ओषधयः काष्ठज्योतिषः । हरिणाङ्काभिगमे हरिणाङ्कस्य चन्द्रस्याभिगमे[4] आगमे । क्षणदाङ्गनया क्षणदैव रात्रिरेवाङ्गना स्त्री तया । प्रदीपिताः[5] प्रज्वलिताः । दीपिका इव प्रदीपा इव । बभुः भान्ति स्म । भा दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३९॥ निजेति । चन्द्रमसा चन्द्रेण । परं केवलम् । निजधामविवृद्धिकारिणी निजधाम्नः स्वकिरणस्य[6] विवृद्धिं प्रवृद्धिं करोतीत्येवं शीला तथोक्ता । विभावरी रात्रिः । न भासिता न प्रकाशिता । किन्तु, कुमुदिन्यपि[7] कुवलयषण्डमपि भासिता—इत्यर्थः । सतां सत्पुरुषाणाम् । परोपकारिता परोपकारित्वम् । निरपेक्षा हि अपेक्षारहिता हि । अर्थान्तरन्यासः ॥४०॥ परिणामिनीति । यामिनीमुखे यामिन्या रात्रेर्मुखे प्रारम्भे । परिणामिनि परिपाकवति । हरिणाङ्केऽपि चन्द्रेऽपि । कठोरतेजसि कठोरं सम्पूर्णं तेजः किरणो यस्य तस्मिन्, सति । अथ अनन्तरम् । अङ्गनासखैः[8] अङ्गना एव वनिता एव सख्यो येषां तैः 'राजन् सखेः' इति अट् ।

उसे रोमांच हो रहा हो ॥३६॥ जो नायिकाएँ प्रिय समागमके लिए भीतरसे उतावली हो रही थीं, उनके हृदयमें, चन्द्रबिम्बको देखते ही रागका सागर उमड़ पड़ा । उस समय उसमें जो वृद्धि हुई, वह अनिर्वचनीय है ॥३७॥ महात्मा अपने मित्रोंके उपकारके लिए अवतरित होते हैं, न कि अपने स्वार्थको सिद्ध करनेके लिए । इसीलिए चन्द्रमाका उदय कामदेवकी शक्तिरूपी सम्पत्तिके बढ़ानेके लिए हुआ ॥३८॥ पर्वतोंकी चोटियोंपर चारों ओर जड़ी बूटियाँ जगमगाने लगीं, उनसे लौ निकलने लगी । अतएव ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चन्द्रमाके शुभागमनके अवसरपर उसकी रात्रिरूपी प्रियाने छोटे-छोटे दीपक जला कर रख दिये हों ॥३९॥ चन्द्रमाने अपने प्रकाशको बढ़ानेवाली न केवल रात्रिको, वरन् कुमुदिनीको भी सुशोभित कर दिया । सज्जनोंकी परोपकारकी प्रवृत्ति निश्चय ही निःस्वार्थ होती है ॥४०॥ रात्रिका पहला भाग जब समाप्त होने-

१. श रजनीपतीति । २. = पत्युः । ३. = अनिर्वचनीयाम् । ४. = समागमे । ५. = प्रज्वालिताः प्रबोधिता वा । ६. = स्वकिरणानां । ७. = कुमुद्वत्यपि । ८. = अङ्गनानां सखायोऽङ्गनासखाः, तैः ।

विरहे तनुतामतीव ये दधुरङ्गावयवा नतभ्रुवाम् ।
प्रियसंगमजन्मभिर्ययुः पुलकैस्ते पुनरेव पीनताम् ॥४२॥
हठकारिणि यावदङ्गनाः प्रतिकूलं क्षणमाचरन्प्रिये ।
निजशासनभङ्गसेर्ष्यधीरिव तावद्धनुराददे स्मरः ॥४३॥
नवसंगमजन्मना ह्रिया नतमूर्ध्नामरविन्दचक्षुषाम् ।
भयमिश्रमपीयताधरो हठवृत्त्युन्नमिताननैः प्रियैः ॥४४॥
पतिरङ्गनया न्यषेधि यत्परिरम्भेऽधरपीडनेऽपि वा ।
विपरीततया मनोभुवस्तदभूद्रागविवृद्धयेऽखिलम् ॥४५।
हतदृक्प्रसरा निरन्तरस्तनभारेण ददर्श नाङ्गना ।
वसनं च्युतमप्यधः पतत्प्रियदृष्ट्यान्वमिमीत केवलम् ॥४६॥

रागिभिः कामिभिः । रतये क्रीडार्थं । विविक्तं प्रच्छन्नम् । आस्पदं स्थानम् । जगृहे स्वीक्रियते स्म । ग्रह[2] उपादाने कर्मणि लिट् ॥४१॥ विरह इति । नतभ्रुवां नते भ्रुवौ यासां तासां नारीणाम् । ये अङ्गावयवाः शरीरावयवाः । विरहे वियोगे । अतीव अत्यन्तम् । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । तनुतां कृशत्वम् । दधुः धरन्ति स्म । प्रियसङ्गमजन्मभिः प्रियाणां नायकानां सङ्गमे संयोगे जन्मभिर्जातैः पुलकैः रोमाञ्चैः । ते अङ्गावयवाः । पुनरेव पश्चादेव । पीनतां स्थूलत्वम् । ययुः यान्ति स्म । या प्रापणे लिट् ॥४२॥ हठकारिणीति । अङ्गनाः वनिताः । हठकारिणि बलात्कारिणि सति । प्रिये नायके । क्षणं क्षणपर्यन्तम् । प्रतिकूलं प्रतीपम्[3] । यावत् यावत्पर्यन्तम् । आचरन् आचरन्ति स्म । चर गतौ लङ् । तावत्, स्मरः मन्मथः । निजशासनभङ्गसेर्ष्यधीरिव निजस्य स्वस्य शासनस्याज्ञाया भङ्गेन नाशेन सेर्ष्या सकोपा धीर्यस्य स इव । धनुः चापम् । आददे आददौ[4] ॥४३॥ नवेति । नवसङ्गमजन्मना नवेन नूतनेन सङ्गमेन[5] जन्मना जातया । ह्रिया लज्जया । नतमूर्ध्नां नता मूर्धानो[6] यासां तासाम् । अरविन्दचक्षुषाम् अरविन्दमिव चक्षुषी यासां तासाम् । अधरः ओष्ठः । हठवृत्त्युन्नमिताननैः हठवृत्त्या बलात्कारवृत्त्या उन्नमितमुद्गतं मुखं येषां[7] तैः । प्रियैः प्राणनायकैः । भयमिश्रं भयसहितं यथा भवति तथा । अपीयत पीयते स्म । पा पाने कर्मणि लङ् ॥४४॥ पतिरिति । पतिः नायकः । परिरम्भे आलिङ्गने । अधरपीडनेऽपि वा अधरस्य ओष्ठस्य पीडने बाधनेऽपि वा । अङ्गनया वनितया । यत् यत्कार्यम् । न्यषेधि तिरस्क्रियते स्म । मनोभुवः कामस्य । विपरीततया विपरीतत्वेन । तत् तत्कार्यम् । अखिलं सकलम् । रागविवृद्धये रागस्य विवृद्धये प्रवृद्धये । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥४५॥ हतेति । निरन्तरस्तनभारेण निरन्तरेण निबिडेन स्तनभारेण स्तनातिशयेन । हतदृक्प्रसरा हतः संवृतो दृशोः प्रसरो

को हुआ और चन्द्रमाका पूर्ण प्रकाश फैल गया, तब रागी युवक अपनी-अपनी प्रियाओंके साथ एकान्त स्थानमें चले गये ॥४१॥ कामदेवके धनुषकी भाँति नम्र भौं वाली युवतियोंके जो अंग विरहके समय अत्यन्त कृश हो गये थे, वे प्रियके समागमसे उत्पन्न हुए रोमांचोंसे पुनः पुष्ट हो गये ॥४२॥ पतिके हठ करनेपर ज्योंही युवतियोंने न, न, न, कहकर प्रतिकूल व्यवहार किया त्यों ही कामदेवको मानो अपने शासनकी अवहेलना करनेसे उनके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो गई, फलतः उसने तत्काल ही अपना धनुष उठा लिया ॥४३॥ प्रथम समागमके समय युवतियोंने—जिनके नेत्र कमल सरीखे थे—लज्जावश अपने सिर झुका लिये, तब उनके पतियोंने बलात् उनका मुख ऊपर उठाकर अधर पान कर लिया ॥४४॥ पतिको आलिंगन अथवा अधरपानमें प्रवृत्त होते देख उसकी नायिकाने जो न, न, न कहकर निषेध किया, कामदेव उसके खिलाफ था । फलतः वह सारा निषेध अनुरागको बढ़ानेके लिए हुआ ॥४५॥ सघन स्तनोंका व्यवधान पड़ जानेसे नायिकाकी

१. अ क ख ग घ म °राददे । २. श ग्रहि । ३. आ प्रतिपथम् । ४. श आददे दधौ । ५. = जन्म यस्याः सा तया । ६. श नतो मूर्धा । ७. = यैः ।

सहसापहृताधरांशुकः किल यावज्जघनं कुतूहली ।
परिपश्यति तावदङ्गना[1] प्रियमासञ्जयति स्म चुम्बने[2] ॥४७॥
करताडनमास्यचुम्बनं परिरम्भो दशनच्छदग्रहः ।
विविधेति विलासिनां क्रिया मदनाग्नेरभवद्घृताहुतिः ॥४८॥
हृदये हरिणीदृशां प्रियप्रथमालिङ्गनगाढपीडिते ।
पुलकैः प्रमदाङ्कुरैरिवानवकाशैः पदमादधे बहिः ॥४९॥
अनुरागपरापि बिभ्रती ह्रियमासन्नगते सखीजने ।
मुखचुम्बनलोलुपं प्रियं परिरम्भेण वधूरजीगमत् ॥५०॥

यया[3] सा । अङ्गना वनिता । च्युतं[4] श्लथम्[5] अपि । वसनं वस्त्रम् । न ददर्श न पश्यति स्म । दृशृ[6] प्रेक्षणे लिट्[7] । केवलं परम् । अधःपतत्प्रियदृष्ट्या अधः पतन्त्या प्रियस्य नायकस्य दृष्ट्या[8] नयनेन । अन्वमिमीत अनुमिमीते स्म । मा माने लिट् । अनुमित्यलङ्कारः ॥४६॥ सहसेति । सहसा शीघ्रम् । 'सहसा झटिति ध्रुवम् (द्रुतम्)' । अपहृताधरांशुकः अपहृतं निवारितमधरमन्तरीयमंशुकं वस्त्रं यस्य[9] सः । कुतूहली कौतुकी । यावत् यावत्पर्यन्तम् । जघनं नितम्बम् । परिपश्यति परितो वीक्षते । दृशृ[10] प्रेक्षणे लट् । तावत्, अङ्गना वनिता । चुम्बने वक्त्रसंयोजने । आसञ्जयति[11] स्म किल संबन्धयति स्म किल । षञ्ज[12] सङ्गे णिजन्ताल्लट् ॥४७॥ करताडनमिति । करताडनं करस्य हस्तस्य ताडनं हननम् । आस्यचुम्बनम् आस्यस्य मुखस्य चुम्बनं वक्त्रसंयोजनम् । परिरम्भः आलिङ्गनम् । दशनच्छदग्रहः दशनच्छदस्य ओष्ठस्य ग्रहो ग्रहणम् । इति एवम् । विलासिनां कामुकानाम्[13] । विविधा नानाप्रकाराः । क्रियाः कृत्या (नि) । मदनाग्नेः मदन एव मन्मथ एवाग्निस्तस्य । रूपकम् । घृताहुतिः घृतस्याहुतिः सर्पिर्धारा । अभवत् अभूत् । लङ् ॥४८॥ हृदय इति । हरिणीदृशां हरिण्या (दृशौ) इव दृशौ नेत्रे यासां तासाम् । प्रियप्रथमालिङ्गनगाढपीडिते प्रियस्य नायकस्य प्रथमेन पौरस्त्येनालिङ्गनेन परिरम्भणेन पीडिते बाधिते । हृदये हृदयप्रदेशे । अनवकाशैः स्थातुमनवकाशैरवकाशरहितैः । प्रमदाङ्कुरैरिव प्रमदस्य संतोषस्याङ्कुरैरिव । पुलकैः रोमाञ्चैः । बहिः, पदं स्थानम् आदधे जगृहे । डुधाञ् धारणे[14] कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४९॥ अनुरागेति । वधूः वनिता । अनुरागपरापि अनुरागे प्रीतौ परापि तत्परापि । सखीजने[15] सख्य एव जनः (सखीनां जनो वर्गः) तस्मिन् रूपकम् (?) । आसन्नगते आसन्नं समीपं गते याते सति । ह्रियं लज्जाम् । बिभ्रती धरन्ती । मुखचुम्बन-

दृष्टिका प्रसार रुक गया । इस कारण वह नीचे गिरे हुए अपने अधोवस्त्रको न देख सकी, पर पतिकी दृष्टिसे—जो बार-बार उसी ओर लगी हुई थी—उसने केवल अनुमान कर लिया—'मेरा अधोवस्त्र नीचे गिर गया है; क्योंकि ये बार-बार नीचेकी ओर घूर-घूरकर देख रहे हैं ।' ॥४६॥ एकाएक अधोवस्त्र खींचकर एक रसिक ज्यों ही अपनी प्रियाके जघनको देखनेको उद्यत हुआ, त्यों ही उसकी प्रियाने उसे (अपने प्रियको) चुम्बनमें विलमा लिया ॥४७॥ हाथसे थपथपाना, मुख चुम्बन करना, आलिंगन करना और अधर पान करना आदि अनेक प्रकारकी विलासियोंकी चेष्टाएँ कामाग्निको प्रज्वलित करनेके लिए घी की आहुति का काम करने लगीं ॥४८॥ मृगनयनियोंका हृदय, प्रथम आलिंगनके अवसरपर उनके पतियोंके द्वारा जब खूब जोरसे दबा दिया गया, तब उन्हें रोमांच हो आया, जो ऐसा जान पड़ता था मानो सन्तोषके अंकुर भीतर स्थान न मिलनेसे बाहर फूट निकले हों ॥४९॥ पतिसे अनुराग होनेपर

१. अ °दङ्गनाः । २. अ °सञ्जनयन्ति चुम्बने । ३. = यस्याः । ४. = पतितम् । ५. श श्लथितम् । ६. दृशिर् । ७. श 'लिट्' इति नास्ति । ८. = अवलोकनेन । ९. = येन । १०. आ दृशिर् । ११. = लगयति स्म वा । १२. आ साञ्ज । १३. श विलासिनीनां कामिनीनाम् । १४. श डुदाञ् दाने । १५. = सखीनां जनो वर्गः तस्मिन् ।

विरहश्वसितोष्णनीरसाधरबिम्बा वनिता समीयुषे ।
न ददौ क्षणमास्यचुम्बनं दयितायान्यकथाप्रवर्तिनी ॥५१॥
बहुशः प्रणिपत्य बोधिता प्रियवाग्भिः प्रणयेन मानिनी ।
स्मरकातरमात्मवल्लभं परिरेभे श्लथबाहुबन्धनम् ॥५२॥
परिरम्भभवो वधूवपुःपरिपुष्टिं विदधद्विलासिनाम् ।
बहुलः पुलकोद्गमोऽगमत्सचिवत्वं[1] दृढनीविमोक्षणे ॥५३॥
परिरम्भिणि जीवितेश्वरे विगलत्स्वेदपदेन संततः ।
सुदृशां हृदयेष्वसंभवन्निव श्रृङ्गाररसो विनिर्ययौ ॥५४॥

लोलुपं मुखचुम्बने मुखसंयोजने लोलुपं लम्पटम् । प्रियं नायकम् । परिरम्भेण आलिङ्गनेन । अजीगमत् गमयति स्म[2] । गम्लृ गतौ णिजन्ताल्लुङ् । 'णेः –' इति णि लुक्[3] । 'कं श्रि—' इत्यादिना ङः[4] । तस्मिन् परे 'द्विर्धातुः—' इति द्विः ॥५०॥ विरहेति । विरहश्वसितोष्णनीरसाधरबिम्बा विरहेण वियोगेन जातेन श्वसितस्य श्वासानिलस्योष्णेन तापेन नीरसं रसरहितमधरस्योष्ठस्य बिम्बं प्रदेशो यस्याः सा । वनिता रमणी । समीयुषे सम् समीपम् इयाय इति समीयिवान् तस्मै, समीपं गताय इत्यर्थः । दयिताय नायकाय । अन्यकथाप्रवर्तिनी अन्यकथायाम् इतरप्रसङ्गे प्रवर्तिनी प्रवर्तमाना सती । आस्यचुम्बनं मुखचुम्बनम् । क्षणं क्षणपर्यन्तम् । न ददौ न ददाति स्म । डुदाञ् दाने लिट् ॥५१॥ बहुश इति । प्रणयेन स्नेहेन । बहुशः बहुलम् । प्रणिपत्य प्रणम्य । प्रियवाग्भिः प्रियाभिः[5] प्रिययुक्ताभिर्वाग्भिर्वचनैः । बोधिता विज्ञापिता । मानिनी वनिता । स्मरकातरं स्मरे कामकेल्यां कातरं तत्परम्[6] । आत्मवल्लभं स्वनायकम् । अश्लथबाहुबन्धनम् अश्लथं दृढं बाहुबन्धनं भुजबन्धो यथा भवति तथा । परिरेभे आलिलिङ्ग । रभि[7] राभस्ये लिट् ॥५२॥ परिरम्भेति । परिरम्भभवः परिरम्भे आलिङ्गने भव उत्पन्नः । वधूवपुःपरिपुष्टिं वध्वाः स्त्रियो वपुषः शरीरस्य परिपुष्टिं[8] तुष्टिम् । विदधत् कुर्वन् । बहुलः बहुः । पुलकोद्गमः पुलकस्य रोमाञ्चस्य उद्गम उदयः । दृढनीविमोक्षणे[9] दृढस्य गाढस्य विमोक्षणे विमोचने[10] । विलासिनां कामुकानाम्[11] । सचिवत्वं सहायत्वम् । अगमत् अगच्छत् । गम्लृ गतौ लुङ् । लृदित्वादङ्[12] ॥५३॥ परिरम्भिणीति । जीवितेश्वरे प्राणनायके । परिरम्भिणि आलिङ्गनशीले सति[13] । संततः व्याप्तः । सुदृशां सु शोभने[14] दृशौ यासां तासाम्, स्त्रीणाम्—इत्यर्थः । हृदयेषु

भी एक नायिका, सखीको निकट आती देख लज्जित हो गई । अतः उसने मुख चुम्बनके लिए लालायित अपने पतिको केवल आलिंगनसे ही सन्तुष्ट करके टाल दिया ॥५०॥ विरहसे निकलनेवाली श्वासकी गर्मीसे एक नायिकाका होठ नीरस हो गया–सूख गया, अतः निकट आये हुए पतिको उसने कुछ क्षणों तक अपना मुख नहीं चूमने दिया । उस समय उसने और-और बातें छेड़ दीं और उन्हींमें अपने पतिको उलझा लिया ॥५१॥ एक नायकने बार-बार प्रणाम करके अपनी मानवती पत्नीको खूब स्नेह पूर्वक मीठे शब्दोंमें समझाया, जिससे उसने अपने काम पीड़ित पतिको बाहुओंसे बाँधकर गले लगा लिया–गाढ़ आलिंगन किया ॥५२॥ पतिके आलिंगनमें नायिकाओंको अत्यधिक रोमांच हो आया, जिसने उनके शरीरको पुष्टकर दिया और उनके विलासी पतियोंको उनके नाड़ोंकी दृढ़ गाँठ खोलनेमें सहायता दी ॥॥५३॥ पतिके

---

१. अ सचिवत्वं । २. = विलम्बयति स्म । ३. आ चिणो । ४. आ कल श्रित्यादिना जः । ५. = मधुराभिः । ६. = कातरतान्वितं । ६. आ 'तत्परम्' इति नास्ति । ७ श रभ् । ८. = पीनताम् । ९. आ श दृढविमोक्षणे । १०. = दृढा गाढा या नीविर्वस्त्रग्रन्थिः तस्या विमोक्षणे विमोचने । ११. श विलासिनीनां कामुकीनाम् । १२. श इदित्वादङ् । १३. आ 'आलिङ्गनशीले सति' इति नोपलभ्यते । १४. आ शोभनी ।

दयितामतिपीवरस्तनीं परिरब्धुं दृढबन्धमक्षमः ।
स्पृहयालुरभूत्समाकुलो भुजदैर्घ्यातिशयाय कश्चन ॥५५॥
प्रियचाटुषु कोविदोऽपरो दधतीं मानकषायमङ्गनाम् ।
परिसान्त्व्य[1] रसैस्तदोष्ठजै[2]र्मदनाग्निं मनसि व्यदिध्यपत् ।५६॥
अदयं दयितेन पातितैरपि काठिन्यगुणेन योषिताम् ।
नवकुङ्कुमकेसरैरिवोपरि तस्थे स्तनयोर्नखक्षतैः ॥५७॥
करताडनमोष्ठखण्डनं नखपातप्रसरः कचग्रहः ।
अजनीष्टजनेऽपि कामिनां चरितं वाममहो मनोभुवः ॥५८॥

हृदयप्रदेशेषु । असंभवन् स्थानमलभमानः । शृङ्गाररसः शृङ्गार एव रसः सलिलरूपः । विगलत्स्वेदपदेन विगलन्[3] द्रवन् स्वेद इति घर्म (-जलम्) इति पदेन व्याजेन । विनिर्ययाविव निर्गच्छति स्मेव । या प्रापणे लिट् । रूपकमुत्प्रेक्षा (कैतवापह्नुतिश्च) ॥५४॥ दयितामिति । अतिपीवरस्तनीम् अतिपीवरौ अत्यन्तं स्थूलौ स्तनौ कुचौ यस्याः, ताम् । दयितां वल्लभाम् । दृढबन्धं दृढो गाढो बन्धो बन्धनं यस्मिन् कर्मणि तत् । परिरब्धुं परिरम्भणाय, आलिङ्गनाय—इत्यर्थः । अक्षमः शक्तिरहितः । कश्चन पुरुषः । भुजदैर्घ्यातिशयाय भुजयोर्बाह्वोर्दैर्घ्यस्य दीर्घत्वस्य अतिशयाय अतिशयं[4] । स्पृहयालुः वाञ्छाशीलः सन् । 'श्रद्धा' इत्यादिना शीलार्थे आलु–प्रत्ययः । 'स्पहे र्वा' इति कर्मणि चतुर्थी । समाकुलः[5] व्याकुल (-ता) सहितः । अभूत् अभवत् । भू सत्तायां लुङ् ॥५५॥ प्रियचाटुषु । प्रियवचनेषु । कोविदः प्रवीणः । कोऽपि कश्चन । मानकषायं मानस्य गर्वस्य कषायं परिणामम् । दधतीं धरन्तीम् । अङ्गनां वनिताम् । परिसान्त्व्य[6] शमयित्वा । तदोष्ठजैः तस्या वनिताया ओष्ठजैरधरसंजातैः । रसैः सलिलैः मनसि मानसे । मदनाग्निं कामाग्निम् । व्यदिध्यपत् शमयति स्म । ध्यै[7] चिन्तायां णिजन्ताल्लुङ् ॥५६॥ अदयमिति[8] । काठिन्यगुणेन काठिन्यं गुणो यस्य तेन । दयितेन नायकेन । अदयं कृपारहितं यथा तथा । योषितां स्त्रीणाम् । स्तनयोः कुचयोः । उपतस्थे क्षिप्यते स्म । पातितैः अङ्कितैः । नखक्षतैः नखानां क्षतैर्घातैरपि । नवकुङ्कुमकेसरैरिव नवस्य नूतनस्य कुङ्कुमस्य काश्मीरजस्य केसरैरिव किञ्जल्कैरिव । उत्प्रेक्षा ॥५७॥ करेति । करताडनं हस्तताडनम् । ओष्ठखण्डनम् अधरखण्डनम् । नखपातप्रसरः नखानां कररुहाणां पातानां प्रसरः समूहः । कचग्रहः कचानां केशानां ग्रह आकर्षणम् । कामिनां कामुकानाम् । जने अपि लोके अपि (इष्टजने अपि प्रियजने अपि, प्रियावर्गे अपि–

आलिंगन करनेपर नायिकाओंको पसीना आने लगा, और वह बहकर चारों ओर फैल गया, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो शृंगाररस, उनके हृदयमें समा नहीं सकनेसे बहते हुए पसीनेके बहाने बाहर निकल आया हो ॥५४॥ अपनी अत्यन्त पीन स्तनोंवाली घरवालीको बाहुओंमें लपेटकर गाढ़ आलिंगन करनेमें असमर्थ कोई नायक व्याकुल होकर पर्याप्त मात्रामें अपनी बाहुओंकी लम्बाई प्राप्त करनेके लिए लालायित हो उठा ॥५५॥ प्रिय वचनोंकी रचना करनेमें कुशल दूसरे नायकने अपनी मानवती पत्नीको समझा-बुझाकर शान्त किया, फिर उसके अधरके रस (अथ च जल) से अपने मनकी कामाग्निको शान्त किया ॥५६॥ नायिकाओंके स्तनोंपर उनके पतियोंने निर्दयतापूर्वक जो नखक्षत किये, वे उन (स्तनों) की कठोरताके कारण काश्मीरी केसरकी भाँति उन (स्तनों) के ऊपर ही रह गये, अन्दर प्रवेश नहीं कर सके ॥५७॥ कामी पुरुषोंने अपने प्रिय वर्ग (स्त्री वर्ग) में भी करताडन, दन्तक्षत, नखक्षत

१. श परिशाम्य । २. क ख ग घ रसैः प्रदोषजैः । ३. = स्रवन् । ४ = लब्धुमिति शेषः । ५. = व्याकुलः । ६. श परिशान्त्य । ७. श ध्यै स्मृ । ८. आ ण्यन्ताल्लुङ् । ९. = अदयमिति । दयितेन । अदयं निर्दयं यथा स्यात् तथा । पातितैरपि अङ्कितैरपि । नखक्षतैः नखव्रणैः । योषितां तरुणीनाम् । स्तनयोः कुचयोः । काठिन्यगुणेन कठोरतया । नवकुङ्कुमकेसरैरिव अभिनवकुङ्कुमकिञ्जल्कैरिव । उपर्येव बहिरेव । उपतस्थे स्थीयते स्म ॥५७॥

त्रुटिताप्यतिमात्रसंस्तवान्मणिमालेव गुणैर्विलासिनाम् ।
रमणीमणितैर्मनोहरैः सुरतेच्छा पुनरेव संदधे ॥५९॥
सुभगाकृतिसीत्कृतं कलक्वणितं चाटुमनोहरं वचः ।
दयितासुरतेषु शृण्वता बहु मेने त्रिदिवो न कामिना ॥६०॥
इति वृद्धिमिते रतोत्सवे रमयित्वा क्षितिपः शशिप्रभाम् ।
सुखनिद्रमशेत कोमले शयने तद्भुजपाशवेष्टितः ॥६१॥
प्रक्षुभ्य क्षणमथ मङ्गलैकहेतौ विश्रान्ति समुपगते प्रभाततूर्ये ।
यामिन्या विरतिमिति प्रविश्य सूता भूभर्तुः सपदि निवेदयांबभूवुः ॥६२॥

इत्यर्थः)। अजनिष्ट अजायत। जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ्। मनोभुवः मन्मथस्य। चरितं चरित्रम्। वाममहो मनोहरमहो (अहो वामम् अहो मनोहरम्) वक्रं वा। 'वामे (मौ) वक्रे मनोहरे' इत्यमरः[3]। अर्थान्तरन्यासः ॥५८॥ त्रुटितेति। अतिमात्रसंस्तवात् अतिमात्रं संस्तवात् परिचयात्। बहुलानु[4]भवात्–इत्यर्थः। 'संस्तवः स्यात् परिचयः' इत्यमरः। मणिमालेव मणीनां रत्नानां मालेव माल्यमिव। त्रुटितापि[5] छेदिता अपि। विलासिनां कामुकानाम्। सुरतेच्छा निधुवनेच्छा। मनोहरैः रुचिरैः। रमणीमणितैः रमणीनां वनितानां मणितैर्गलरवैः। 'मणितं रतिकूजितम्' इत्यमरः। गुणैः तन्तुभिः। पुनरव पश्चादेव। संदधे संघटिता धियते स्म वा। सुरतेच्छात्रुटितापि गुणैर्मणिमालेव महिलामणितैः पुनः संघटिता, भूयोऽपि सुरतेच्छाऽजायत[6]—इत्यर्थः। उत्प्रेक्षा ॥५९॥ सुभगेति। दयितासुरतेषु[7] दयितासु नायिकासु सुरतेषु निधुवनेषु। सुभगाकृति मनोहराकारयुक्तम्। सीत्कृतं सोत्कारम्। कलक्वणितम् अव्यक्तमनोहररवम्। चाटुमनोहरं चाटुभिः प्रियवचनैर्मनोहरम्। वचः वचनम्। श्रुत्वा आकर्ण्य। कामिना कामुकेन। त्रिदिवः स्वर्गः। बहु महदिति। न मेने न मन्यते स्म। बुधि मनि ज्ञाने कर्मणि लिट्। जातिः ॥६०॥ इतीति। रतोत्सवे, इति एवम्। वृद्धि प्रवृद्धिम्। इते गते सति। क्षितिपः अजितसेनचक्रवर्ती। शशिप्रभां शशिप्रभादेवीम्। रमयित्वा क्रीडयित्वा। कोमले मृदुले। शयने शय्यायाम्। तद्भुजपाशवेष्टितः तस्याः शशिप्रभाया भुज एव बाहुरेव पाशो रज्जुस्तेन वेष्टितः। सुखनिद्रं सुखेन संतोषेण युक्ता निद्रा यस्मिन् कर्मणि तत्०; इति क्रियाविशेषणम्। अशेत अनिद्रायत। शीङ् स्वप्ने लङ् ॥६१॥ प्रक्षुभ्येति। अथ निद्रानन्तरम्। मङ्गलैकहेतौ मङ्गलस्य एकहेतौ मुख्यकारणे। प्रभाततूर्ये प्रभातस्य विभातस्य तूर्ये वाद्यविशेषे। क्षणं क्षणपर्यन्तम्। प्रक्षुभ्य घोषयित्वा[8]। विश्रान्ति विश्रामम्। समुपगते समुपयाते। सूताः मङ्गलपाठकाः। 'क्षत्रियाद् ब्राह्मणीजोऽपि सूतः पारदबन्दिनोः' इत्यभिधानात्। प्रविश्य गत्वा। भूभर्तुः चक्रिणः। यामिन्याः रात्रेः। विरतिं विरामम्। निवेदयांबभूवुः

और कचग्रह (बाल पकड़ना) आदि चेष्टाएँ कीं। ओह कामदेवका चरित बिलकुल विपरीत है ! ॥५८॥ जिस प्रकार अधिक उपयोगमें आनेसे टूटी हुई मणियोंकी माला डोरेसे पुनः जुड़ जाती है उसी प्रकार प्रचुर मात्रामें अनुभव कर लेनेसे विलासियोंकी संभोगकी टूटी हुई (पूरी हुई) भी इच्छा नायिकाओंके मुखसे निकले 'सी, सी, सी,' शब्दोंको सुनते ही पुनः जुड़ गई–उत्पन्न हो गई ॥५९॥ नायिकाओंके साथ सम्भोग करते समय उनके अत्यन्त सुन्दर सीत्कारको, उनके गहनोंके शब्दोंको, और प्रिय और मनोहर वचनोंको सुनकर कामियोंने स्वर्गको भी मामूली या तुच्छ समझा ॥६०॥ इस प्रकार रतोत्सवके बढ़नेपर चक्रवर्ती राजा अजितसेनने अपनी प्रिया शशिप्रभाके साथ संभोग किया फिर कोमल सेजपर उसकी बाहोंसे वेष्टित होकर आरामसे सो गया ॥६१॥ इसके पश्चात् प्रभात होते ही मांगलीक बाजे थोड़ी देर बजकर बन्द हो गये, फिर स्तुति पाठकोंने शीघ्र ही अन्दर प्रवेश करके राजाको रात्रिके समाप्त

१. आ द °संभवात्। २. = अहो वामम् अहो मनोहरम्। ३. = इति धनञ्जयः। ४. आ बहुनु°। ५. = छिन्ना। ६. श °जायदिव। ७. = दयितानां नायिकानां सुरतेषु। ८. श घोषित्वा।

यात्येषा नृवर विभावरी विकीर्णं संवृत्यांशुकमिव धाम तारकाणाम् ।
चन्द्रेऽस्तं जिगमिषति त्वदाननेन्दुं शोभायै जगत इव प्रबोधयन्ती ॥६३॥
सिन्दूरद्युतिरिव पूर्वदिक्पुरंध्र्याः सीमन्तान्तरविसृता विभाति संध्या ।
मुञ्चोर्वीप्रिय शयनं तव स्मितेन व्यामिश्रां दधतु रुचिं विभातदीपाः ॥६४॥
एतच्च प्रविकसदम्बुजाभिमुख्यं गच्छद्भिर्भ्रमरगणैर्विमुच्यमानम् ।
ब्रह्माण्डप्रसृतभवद्यशोजितश्रि संकोचं कुमुदवनं शुचेव धत्ते ॥६५॥
पिङ्गत्वादिव विरहानलप्रलिप्तमौत्सुक्यात्सरसि मिलद्रथाङ्गयुग्मम् ।
वक्षोजद्वयमिव नाथ कुङ्कुमाक्तं कामिन्यास्तव हृदयस्थले विभाति ॥६६॥

विज्ञापयामासुः । विद ज्ञाने णिजन्ताल्लिट् ॥६२॥ यातीति । नृवर नृणां [नृवर नृणां] वर श्रेष्ठ । चन्द्रे सोमे । अस्तम् अस्तपर्वतम् । जिगमिषति गन्तुमिच्छति सति । त्वदाननेन्दुं तव ते आननमेवेन्दुश्चन्द्रः, तम् । रूपकम् । जगतः लोकस्य । शोभायै शोभानिमित्तम् । प्रबोधयन्तीव निवेदयन्तीव । एषा इयम् । विभावरी निशा स्त्री[1] । विकीर्णं विस्तीर्णं । तारकाणां नक्षत्राणाम् । धाम कान्तिम् । अंशुकमिव वसनमिव । संवृत्य संकोचयित्वा । याति गच्छति । या प्रापणे लट् । उत्प्रेक्षा ।६३॥ सिन्दूरेति । उर्वीप्रिय भूपते[2] । पूर्वदिक्पुरंध्र्याः पूर्वदिगेव पुरन्ध्री नारी, तस्याः । रूपकम् । सीमन्तान्तरविस्तृता सीमन्तस्य केशमध्यपद्धतेरन्तरे मध्ये विस्तृता वितता । सिन्दूरद्युतिरिव सिन्दूरस्य[3] चूर्णविशेषस्य[4] द्युतिरिव कान्तिरिव । सन्ध्या[5] प्रभातः । विभाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । ततः शयनं शय्यातलम् । मुञ्च त्यज । मुञ्लृ मोक्षणे लोट्[6] । तव ते । स्मितेन मन्दस्मितेन । व्यामिश्रां मिलिताम् । रुचिं कान्तिम् । विभातदीपाः प्रदीपाः । दधतु धरन्तु । डुधाञ् धारणे लोट्[7] । उत्प्रेक्षा ॥६४॥ एतदिति । प्रविकसदम्बुजाभिमुख्यं प्रविकसतोऽम्बुजस्य कमलस्याभिमुख्यम्[8] । गच्छद्भिः सर्पद्भिः । भ्रमरगणैः भ्रमराणां मधुकराणां गणैः समूहैः । विमुच्यमानं त्यज्यमानम् । ब्रह्माण्डप्रसृतभवद्यशोजितश्रि ब्रह्माण्डेषु लोकेषु, लोकरूढिप्रयोगः, प्रसृतेन व्याप्तेन भवतस्तव यशसा कीर्त्या जिता विजिता श्रीः शोभा यस्य तत् । एतत् इदम् । कुमुदवनं कुवलयवनम् । शुचेव शोकेनेव । संकोचं[9] मुकुलितम् । (मुकुलितावस्थाम्) । धत्ते धरति । उत्प्रेक्षा ॥६५॥ पिङ्गत्वादिति । नाथ भो नाथ । पिङ्गत्वात् हेमवर्णत्वात् । विरहानलप्रलिप्तम् [इव] विरह एव वियोग एवानलो वह्निस्तेन प्रलिप्तं प्रलिप्तमिव । औत्सुक्यात्, सरसि सरोवरे । मिलद्रथाङ्गयुग्मं मिलत्[10] संयोजत्[11] रथाङ्गानां चक्रवाकानां[12] युग्मं युगलम् । तव ते ।

होनेकी सूचना इस प्रकार दी ॥६२॥ राजन् ! आप सब राजाओंमें श्रेष्ठ हैं अब चन्द्रमा अस्त होना चाहता है, अतः जगत्की शोभा बढ़ानेके लिए आपके मुखरूपी चन्द्रमाको जगाती हुई-सी यह रात्रि ताराओंको कान्तिरूपी फैले हुए वस्त्रको लपेटकर जा रही है ॥६३॥ राजन् प्रभातकी सन्ध्या ऐसी जान पड़ती है मानो पूर्वदिशा रूपी सौभाग्यवती नायिकाकी मांगमें भरी हुई सिन्दूरकी द्युति हो । अब आप सेज छोड़िये । ये प्रभातके दीपक आपकी मुसकानसे मिली हुई कान्तिको धारण करें ॥६४॥ राजन सारे ब्रह्माण्डमें फैले हुए आपके यशने जिसकी श्री-शोभा जीत ली है और भौरोंके झुण्ड जिसे छोड़-छोड़कर विकसित कमलोंकी ओर चले जा रहे हैं, वह (पराजित और अपमानित) कुमुदवन मानो शोकके कारण संकुचित हो रहा हो ॥६५॥ राजन् ! सरोवरमें चक्रवाक और चक्रवाकी का युगल बड़ी उत्सुकतासे मिल रहा है । पीले

---

१. आ 'निशा स्त्री' इत्यस्य स्थाने 'रात्रिः' इति समुपलभ्यते । २. श भूमिरते । ३. =नागसंभवस्य । सिन्दूरं नागसंभवम्' इत्यमरः । ४. आ चूर्णविलेपस्य । ५. = प्रभातम्, प्रगेतना सन्ध्या इति यावत् । ६. श लेट् । ७. श धारणे च लेट् । ८. = सामोप्यम् । ९. = मुकुलितावस्थाम् । १०. = संयोगं भजत् । ११. आ संयोजयत् । १२. श चक्रवाकाणां ।

घर्मांशोरुदयमहीध्ररुद्धमूर्तेः कुन्ताग्रैरिव किरणाङ्कुरैः प्रणुन्नम् ।
संश्लिष्यद्वनगिरिगह्वरेषु वृत्तिं ध्वान्तं त्वद्द्विषदनुशीलतां दधाति ॥६७॥
प्रत्यूषोद्भवहिमबिन्दुभिः पतद्भिर्मुक्ताभैरवनिरुहाः[1] परिष्कृताङ्गाः ।
रत्युत्थश्रमसलिलो भवानिवैते लक्ष्यन्ते तरुणलतावधूपगूढाः ॥६८॥
गच्छन्ती क्षितितलरोपितैकपादा शय्यास्थं यदतिरसेन चुम्बतीशम् ।
पाथेयं धरणिपते वधूर्ध्रुवं तद्गृह्णीते गुरुविरहाध्वलङ्घनाय ॥६९॥

कामिन्याः वनितायाः । हृदयस्थले हृदयस्य स्थले प्रदेशे । कुङ्कुमाक्तं कुङ्कुमेन काश्मीरजेनाक्तं रक्तम् । वक्षोजद्वयमिव वक्षोजयोस्तनयोर्द्वयमिव द्वन्द्वमिव । विभाति भासते । उत्प्रेक्षा ॥६६॥ घर्मांशोरिति । उदयमहीध्ररुद्धमूर्तेः उदयेन उदयनाम्ना महीध्रेण पर्वतेन रुद्धा आवृता मूर्तिरवयवो यस्य तस्य । घर्मांशोः सूर्यस्य । कुन्ताग्रैरिव कुन्तानामायुधविशेषाणामग्रैरिव । किरणाङ्कुरैः किरणानां मयूखानामङ्कुरैः । प्रणुन्नं विद्धम् । वनगिरिगह्वरेषु वनेषु गिरिषु गह्वरेषु गुहासु । संश्लिष्यत्[2] संबध्नयत् ध्वान्तम् अन्धतमसम् । त्वद्द्विषदनुशीलतां तव ते द्विषतां शत्रूणामनुशीलता सादृश्यम् (यत्र तम्) । वृत्तिं वर्तनम् । दधाति धरति । डुधाञ् धारणे च लट् । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥६७॥ प्रत्यूषेति । पतद्भिः आपतद्भिः । मुक्ताभैः मौक्तिकसमानैः । प्रत्यूषोद्भवहिमबिन्दुभिः प्रत्यूषे प्रभाते उद्भवस्योत्पद्यमानस्य हिमस्य बिन्दुभिः । परिष्कृताङ्गाः परिष्कृतमलङ्कृतमङ्गं येषां ते । तरुणलतावधूपगूढाः तरुणाः[3] कोमलाः लता एव वल्लर्य एव वध्वः स्त्रियः, ताभिर्गूढा आलिङ्गिताः । एते इमे । अवनिरुहाः वृक्षाः । रत्युत्थश्रमसलिलः रतौ संभोगे उत्थमुत्पन्नं श्रमाज्जातं सलिलं यस्य सः । भवानिव त्वमिव । लक्ष्यन्ते दृश्यन्ते । लक्षे[4] दर्शनाङ्कनयोर्लट् उत्प्रेक्षा ॥६८॥ गच्छन्तीति । धरणिपते भूमिपते । क्षितितलरोपितैकपादा क्षितितले भूतले रोपितः क्षिप्तः (एकः) पादो यस्याः[5] सा । वधूः वनिता । शय्यास्थं शयनस्थम् । ईशं प्रभुम् । यत् यस्मात् । अतिरसेन अतिप्रीत्या । चुम्बति[6] चुबि वक्त्रसंयोगे लट् । तत् गुरुविरहाध्वलङ्घनाय गुरुर्महान् विरह एव वियोग एव अध्वा मार्गस्तस्य लङ्घनाय गमनाय । पाथेयं मार्गहितम् । गृह्णीते स्वीकरोति । ध्रुवं[7] निश्चयम् ।

होनेसे दोनों—चकवा और चकवी, ऐसे जान पड़ते हैं मानों विरहकी अग्निसे लिप्त हों। राजन् ! सरोवरमें दोनोंकी वही शोभा है जो आपके सीनेपर आपकी नायिकाके काश्मीरो केसरसे लिप्त स्तनोंकी होती है ॥६६॥ राजन् ! इस समय सूर्य उदयाचलकी ओटमें है । उसकी भालोंकी नोक सरीखी किरणोंसे घायल हुआ अन्धकार सघन वनों और पर्वतोंकी गुफाओंमें घुसकर आपके शत्रुओंका अनुसरण कर रहा है ॥६७॥ राजन् ! ये वृक्ष इस समय आप सरीखे लग रहे हैं । आप लताओंके समान छरहरे बदनकी युवतियोंसे आलिंगन करते हैं, ये छरहरे बदनकी युवतियोंके समान नवीन लताओंसे आलिंगन कर रहे हैं । आप संभोगके परिश्रमके कारण मोतियों जैसी पसीनेकी बिन्दुओंसे सुशोभित होने लगते हैं तो ये भी प्रभातकी वेलामें गिरनेवाली मोतियों सरीखी ओसकी बिन्दुओंसे विभूषित हो रहे हैं ॥६८॥ राजन् ! शयनागारसे बाहर जानेवाली एक नायिका अपने एक पैरको नीचे (और एक को सेजके ऊपर) रखकर, सेजपर लेटे हुए पतिका जो खूब ही स्नेहसे चुम्बनकर रही है सो ऐसा जान पड़ता है मानो वह

१. अ क ख ग घ °रवनिरुहः । २. = संबन्धं भजत् । ३. = नूतनाः । 'तरुणः कुब्जपुष्पे स्यादेरण्डे यूनि नूतने ।' इत्यनेकार्थसंग्रहः । ४. श लक्षि । ५. = यया । ६. = चुम्बनं करोति । ७. = निश्चितम् ।

खिन्नं ते वपुरनपायिनामुनैव[1] भारेणोन्नतिजयिनः कुचद्वयस्य ।
मुञ्चेमं सुतनु वृथैव रोषभारं नो किंचित्फलमतिभग्नपीडनेन ॥७०॥
नत्वाहं विरहभयाद्भणामि यस्माद्दृष्टापि त्वमसि हृदि स्थिता सदा मे ।
किं त्वम्भोजमुखि तवैव देहतापी कोपोऽयं नियतममङ्गलावसानः[2] ॥७१॥
कालुष्यं त्यज भज तुङ्गमार्द्रभावं कः कोपः प्रणयिनि चक्रवाकवृत्तौ ।
इत्येवं निजविरुतैर्निशान्तशंसी वक्ति त्वामिव मुहुरेष ताम्रचूडः ॥७२॥
काठिन्यं तव हृदये स्तनद्वयस्य सांनिध्यान्न खलु सुकेशि कल्पयामि ।
किं जातु त्यजति महामृतस्य वृत्तो माधुर्यं विषवनमध्यसंप्रसूतः ॥७३॥

रूपकम् (उत्प्रेक्षा च) ॥६९॥ खिन्नमिति । इतः परं कश्चिन्नायको [3]नायकीं प्रति वक्ति । वक्ष्यमाणपद्यैः कुलकम् । सुतनु शोभनगात्रि । अनपायिना विगमरहितेन । अमुनैव एतेनैव । उन्नतिजयिनः[4] उन्नतिं जयिनः पूज्यस्य—इत्यर्थः । कुचद्वयस्य वक्षोजयुगलस्य । भारेण, ते तव । वपुः शरीरम् । खिन्नं पीडितम् । (अतः) वृथैव फलरहितमेव । इमम् एनम् । रोषभारं रोषस्य कोपस्य भारमतिशयम् । मुञ्च त्यज । मुच्लृ[5] मोक्षणे लट्[6] । अतिभग्नपीडनेन अतिभग्नस्यातिपीडितस्य पीडनेन बाधनेन । किंचित् फलं किंचित्प्रयोजनम् । नो न भवति ॥७०॥ नत्वेति । अम्भोजमुखि अम्भोजमिव कमलमिव मुखं यस्याः तस्याः संबोधनम्[7] । विरहभयात्[8] विरहाद् वियोगाद् भयात् । त्वा त्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति त्वा—आदेशः । अहम्, न भणामि न वदामि भण शब्दे लट् । यस्मात् कारणात् । त्वम्, दृष्टापि विलोक्यापि । सदा अनवरतम् । मे मम । हृदि हृदये । स्थिता, असि भवसि । अस भुवि लट् । किन्तु विशेषोऽस्ति । आमङ्गलावसानः अमङ्गलमेव मङ्गलाभाव एवावसानं यस्य सः । अयम् एषः । कोपः क्रुध् । नियतं निश्चयेन । तवैव भवत्या एव । देहतापी देहस्य गात्रस्य तापी संतापकारी । भवति । उपमा ॥७१॥ कालुष्यमिति । कालुष्यं[9] क्लेशम् । त्यज मुञ्च । त्यज हानौ लोट्[10] । तुङ्गम् उन्नतम् । आर्द्रभावम् आर्द्रत्वम् । भज आश्रय । चक्रवाकवृत्तौ चक्रवाकस्य रथाङ्गपक्षिणो वृत्तिरिव वर्तनमिव वृत्तिर्यस्य तस्मिन् । वृत्तिः—इत्यर्थः (?) । प्रणयिनि नायके । कोपः क्रोधः । कः न कोऽपीत्यर्थः । इत्येवं प्रोक्तप्रकारेण । निजविरुतैः निजस्य स्वस्य विरुतैर्ध्वनिभिः । निशान्तशंसी निशान्तस्य प्रभातकालस्य शंसी प्रशंसाशीलः, सूचक इत्यर्थः । एषः अयम् । ताम्रचूडः ताम्रा लोहितवर्णा चूडा शिखा यस्य सः, कुक्कुट इत्यर्थः । मुहुः[11] पुनः । त्वामिव भवतीमिव । वक्ति ब्रवीति । वच परिभाषणे लट् । उपमा, उत्प्रेक्षा ॥७२॥ काठिन्यमिति । सुकेशि सु शोभनाः केशाः शिरोरुहा यस्यास्तस्याः संबोधनम्[12] 'असहनञ्—' इत्यादिना ङी । स्तनद्वयस्य स्तनयोः कुचयोर्द्वयस्य युगलस्य । सान्निध्यात् सामीप्यात्, संसर्गात्—इत्यर्थः । तव ते । हृदये उरसि । काठिन्यं कठिनत्वम् । न खलु कल्पयामि न संकल्प

महान् विरहके मार्गको तय करनेके लिए कलेवा ले रही हो ॥६९॥ हे सुन्दर शरीरवाली ! तेरा शरीर अत्यन्त उन्नत स्तनोंके कभी विलग न होनेवाले इस भारसे पीड़ित है अतः व्यर्थके इस रोषके बोझको छोड़ दे । अत्यन्त पीडितको पीड़ा देनेसे कुछ फल भी तो नहीं मिलता ॥७०॥ हे कमलके समान मुख वाली ! मैं विरहके भयसे तुझसे नहीं कह रहा हूँ; क्योंकि तू मानके दोषसे दूषित होकर भी सदा मेरे हृदयमें बसी रहती है । किन्तु इस लिए कह रहा हूँ कि अन्तमें अमंगल करनेवाला यह कोप निश्चयसे तेरे ही शरीरको सन्ताप देगा ॥७१॥ प्रभातकी सूचना देनेवाला यह मुर्गा अपने शब्दोंमें मानो तुमसे बार-बार यह कह रहा है कि चित्तकी कलुषता को छोड़ो और श्रेष्ठ कोमलताको धारण करो । चकवेकी भाँति स्नेह करनेवाले घरवालेपर कोप कैसा ? ॥७२॥ हे सुन्दरबालों वाली ! मैं निश्चय ही यह कल्पना नहीं कर सकता कि स्तनोंके

१. म भारेणान्न° । २. अ °वसानम् । ३. = नायिकां । ४. = उन्नतया जयतीत्येवं शीलं, तस्य । ५. आ मुचल । ६. श लेट् । ७. = तत्संबुद्धौ । ८. = वियोगभयात् । ९. = कलुषताम् । १०. श लेट् । ११. = पुनः पुनः । १२. = तत्संबुद्धौ ।

कोऽपीत्थं प्रणयरुषा विवृत्य सुप्तां प्रेमान्धः प्रियवचसानुनीय कान्ताम् ।
संपूर्णाधिगतलतोपमानभावामालिङ्गन्नखपदपल्लवैर्विधत्ते ॥७४॥
सप्तीनां रुचिरनवातपप्लुतानामज्ञात्वातिशयमरञ्जितेतरेभ्यः ।
तिग्मांशोर्विदधति वाजिभूषकास्ते[1] प्रौढत्वे करकृतकुङ्कुमाः[2] प्रतीक्षाम् ॥७५॥
शक्नोतीच्छितुमधरीकृतप्रतापी भूपालो न खलु ममोपरि प्रयातम् ।
रोचिष्मानिति भवतोभयादिवायमाकाशप्रणयि शनैः करोति बिम्बम् ॥७६॥

यामि । विषवनमध्यसंप्रसूतः विषाणां विषवृक्षाणां वनस्य काननस्य मध्ये संप्रसूतः संजातः । महामृतस्य महामृत-रूपस्य । वृक्षः महीरुहः । माधुर्यं स्वादुत्वम् । जातु सकृत् । त्यजति किं मुञ्चति किम् । न त्यजति—इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥७३॥ कोऽपीत्थमिति[3] । प्रेमान्धः प्रेम्णा प्रीत्या अन्धो मूढः । कोऽपि कश्चिन्नायकः । प्रणय-रुषा प्रणयेन स्नेहेन जातया रुषा कोपेन[4] । विवृत्य पराङ्मुखी भूत्वा । सुप्तां निद्रायिताम् । कान्तां वनिताम् । इत्थम् अनेन प्रकारेण । प्रियवचसा प्रियवचनेन । अनुनीय संतर्प्य । आलिङ्गन् आश्लिष्यन् । नखपदपल्लवैः नखानां कररुहाणां[5] पदा एव क्षता एव पल्लवाः किसलयानि, तैः । संपूर्णाधिगतलतोपमानभावां[6] संपूर्णं गताया याताया लताया वल्लर्या उपमानः समानो भावो यस्याः ताम् । विधत्ते करोति । डुधाञ् धारणे[7] लट् । कुल-कम् ॥७४॥ सप्तीनामिति । रुचिरनवातपप्लुतानां रुचिरेण मनोहरेणातपेन[8] उद्योतेन प्लुतानां[9] मग्नानाम् । सप्तीनां तुरङ्गमाणाम्[10] । अरञ्जितेतरेभ्यः अरञ्जितेभ्यः कुङ्कुमालङ्कारशून्येभ्य इतरेभ्यः कुङ्कुमालङ्कारिभ्य-[11]स्तुरगेभ्यः । अतिशयं भेदम् । अज्ञात्वा अबुध्वा । ते, प्रौढत्वे तीक्ष्णत्वे । करकृतकुङ्कुमाः करे हस्ते कृतं कुङ्कुमं यैः ते । वाजिभूषकाः[12] वाजिनस्तुरङ्गान् (भूषयन्तीति वाजि-)भूषका अलङ्कारकाः । तिग्मांशोः सूर्यस्य । प्रतीक्षां[13] वाञ्छाम् । विदधति कुर्वन्ति । बालातपेन व्याप्तान् सूर्यतुरगान् कुङ्कुमरञ्जितगान् ज्ञात्वा रञ्जितानपि रञ्जयन्ति[14] इत्यर्थः[15] । भ्रान्तिमान् ॥७५॥ शक्नोतीति । अधरीकृतप्रतापिभूपालः[16] अधरीकृता

संसर्गसे तुम्हारे हृदयमें कठोरता आ गई है । विषवनके बीचमें उत्पन्न हुआ अमृत वृक्ष क्या कभी अपनी मधुरताको छोड़ सकता है ? ॥७३॥ किसी रागान्ध नायकने ऐसे प्रिय वचन सुना कर, प्रणयक्रोपसे विमुख होकर सोई हुई अपनी नायिकाको अनुकूल बना लिया । फिर आलिंगन करते हुए उसने उसे नखक्षतोंके पल्लवोंसे अलंकृत करके पूर्णतया लताको समता पाने योग्य बना दिया । वह छरहरे शरीरसे पहले अंशतः लताके समान थी, अब नखक्षत रूपी पल्लवोंसे अलंकृत होकर पूरी तौरसे लताके समान हो गई । नखक्षतोंने पल्लवोंकी कमीको दूरकर दिया ॥७४॥ राजन् ! घोड़ोंका शृंगार करनेवाले लोग, घोड़ोंको केशर लगा रहे थे । इतनेमें बाल सूर्यकी सुन्दर अरुण आभाके पड़ते ही सभी घोड़े अरुण वर्णके हो गये । तब उन घोड़ोंका पहचानना कठिन हो गया, जिन्हें केशर नहीं लगाई गई थी; क्योंकि जिन्हें केशर लगाई जा चुकी थी; उनसे उन घोड़ोंका अन्तर ही ज्ञात नहीं हो सका, जिन्हें केशर नहीं लगाई गई थी ! ऐसी स्थितिमें शृंगार करनेवाले लोग हाथमें केशर लेकर सूर्यके प्रौढ़ होनेकी प्रतीक्षा करने लगे ॥७५॥ प्रतापी राजाओंके छक्के छुड़ानेवाला राजा (अजितसेन) निश्चय ही

१. क ख ग घ म °भूषकांस्ते । २.आ इ °कुङ्कुमै. । ३. आ श क इति । ४. = प्रणयकोपेन । ५. =पदानि चिह्नान्येव क्षतान्येव । ६. =संपूर्णोऽधिगतो लताया उपमानभावः साम्यं यया सा, ताम् । ७. श धारणे च लट् । ८. = प्रभातारुणिम्ना । ९. = व्याप्तानाम् । १०. आ तुरगाणाम् । ११. श °रेभ्यः । १२. श सूताः । १३. = प्रतिपालनाम् १४. = रञ्जयन्ति । १५. = प्रभातारुणिम्ना प्रभाविताल्लश्वान् रञ्जितान् ज्ञात्वा न रञ्जयन्ति वाजिभूषकाः । परं करकृतकुङ्कुमाः सन्तः ते तिग्मांशोः प्रौढत्वं प्रतीक्षन्ते । १६. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'अधरीकृतप्रतापिभूपालः' इत्येव समुपलभ्यते ।

बन्दिभ्यो ललितपदक्रमाभिरामां संशृण्वन्निति दयितोपमां स वाणीम् ।
[1]निःस्पन्दोच्छ्वसदुदरप्रसुप्तभृङ्गैरम्भोजैः सममभजन्नृपः प्रबोधम् ॥७७॥

अथ कथमप्यपास्य दयिताभुजपाशमसा-
वरुणरुचा प्रसाधयति पूर्वदिशं तपने ।
रतिकलहप्रसङ्गगलितोज्ज्वलहारमणि-
प्रकरचितं पयोनिधिमिव व्यमुचच्छयनम्[2] ॥७८॥

निराकृताः प्रतापिनः तेजस्विनो भूपाला राजानो येन सः । मम मे । उपरि प्रयातम् ऊर्ध्वं प्रयात[3]मागतम् । ईक्षितुं विलोकितुम् । न खलु शक्नोति न समर्थो भवति । इति मत्वा । भवतः तव । भयादिव भीतेरिव । अयम् एषः । रोचिष्मान् सूर्यः । बिम्बं मण्डलम् । आकाशप्रणयि आकाशे गगने प्रणयि प्रसरणयुक्तम् । 'प्रणयः प्रेम्णि विस्रम्भे याच्ञा प्रसरयोरपि ।' इति विश्वः । शनैः मन्दम् । करोति विदधाति । उत्प्रेक्षा ॥७६॥ बन्दिभ्य इति । बन्दिभ्यः मङ्गलपाठकेभ्यः । ललितपदक्रमाभिरामां ललितानां मनोहराणां पदानां तिङ्-सुबन्त-(सुप्तिङन्त-) रूपाणां क्रमेण परिपाट्या अभिरामां मनोहराम्, पक्षे, ललितेन मृदुलेन पदक्रमेण पादन्यासेनाभिरामाम् । दयितोपमां भार्योपमाम् । इति उक्तप्रकाराम् । वाणीं वचनम् । संशृण्वन् आकर्णयन् । सः नृपः चक्री । निष्पन्दोच्छ्वसदुदरप्रसुप्तभृङ्गैः निष्पन्दाश्चलनरहिता उच्छ्वसन्त उच्छ्वासं कुर्वन्तः उदरे अन्तः प्रसुप्ता भृङ्गा मधुकरा येषां तैः । अम्भोजैः कमलैः । समं साकम् । प्रबोधं जागरम्, पक्षे विकसनम् । अभजत् आश्रयत् । भज[4] सेवायां लङ् । सहोक्तिः ॥७७॥ अथेति । अथ जागरणानन्तरम् । तपने सूर्ये । अरुणरुचा अरुणया लोहितया रुचा कान्त्या । पूर्वदिशम् इन्द्रदिशम् । प्रसाधयति सति भूषयति सति । असौ चक्रवर्ती । दयिताभुजपाशं दयितायाः शशिप्रभाया भुज एव पाशः, तम् । कथमपि येन केनापि (प्रकारेण) । अपास्य त्यक्त्वा । रतिकलहप्रसङ्गगलितोज्ज्वलहारमणिप्रकटचितं रतिकलहस्य प्रणयकलहस्य प्रसङ्गेन गलितस्य पतितस्योज्ज्वलहारस्य प्रज्वल (प्रोज्ज्वल-) हारस्य मणीनां मौक्तिकानां प्रकरेण समूहेन चितं[5] विततम् । पयोनिधिमिव समुद्रमिव । शयनं शय्याम् । व्यमुचत्[6] । मुच्लृ मोक्षणे लुङ्[7] । 'शतिशास्ति—' इत्यादिना

अपने ऊपरसे मेरा जाना देख नहीं सकेगा, मानो यही सोचकर सूर्य आपके डरसे अपने बिम्बको धीरे-धीरे आकाशमें चढ़ा रहा है ॥७६॥ मंगलपाठ करनेवालोंसे नायिकाके समान सुन्दर पद-विन्यास (सुबन्त तिङन्त पदोंका विन्यास, पैरोंका विन्यास) से मनको रमानेवाली वाणी सुनता हुआ राजा अजितसेन, कमलोंके—जिनके अन्दर निश्चेष्ट, धीरे-धीरे श्वास लेनेवाले भौंरे सोए हुए थे—साथ-ही-साथ प्रबुद्ध हो गया । कमल खिल उठे और राजा जाग उठा । ॥७७॥ सूर्य अपनी अरुण आभासे अभी पूर्व दिशाके शृंगार करनेमें ही लगा हुआ था, किन्तु राजा अजितसेनने जागते ही जिस किसी तरह अपनी प्रियाके बाहुपाशसे निकलकर सेज छोड़ दी, जो रतिकलहके प्रसंगसे गिरे हुए हारके मणियोंसे व्याप्त होकर रत्नाकरकी भाँति दृष्टिगोचर

---

१. क ख ग घ म निःस्यन्दो° । २. अ आ इ °मुच्चच्छयनम् । ३. = गमनम् । ४. श भजि । ५. = व्याप्तम् । ६. = मुमोच । ७. आ लङ् ।

द्वाराग्रग्रथितामलारुणमणिज्योतिर्भिरुत्सर्पिभि-
र्भिन्नाङ्गावयवः स्वभावमहता दीप्तो वपुस्तेजसा।
घर्मांशोरुदयाचलेन्द्रशिखरादभ्युज्जिहासोः[1] श्रियं
भेजे भूमिपतिः स वासभवनान्निर्यञ्जनानन्दितः ॥७९॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये दशमः सर्गः ॥१०॥

अङ्। उपमा ॥७८॥ द्वारेति। उत्सर्पिभिः व्यापनशीलैः[2]। द्वाराग्रग्रथितामलारुणमणिज्योतिर्भिः द्वारस्याग्रं पुरोभागः तत्र ग्रथितानां[3] स्थापितानाम् अमलानां निर्मलानामरुणमणीनां पद्मरागमणीनां ज्योतिर्भिः किरणैः। भिन्नाङ्गावयवः भिन्नो [4]विमिश्रितोऽङ्गस्य गात्रस्यावयवो यस्य सः। स्वभावमहता स्वभावेन[5] स्वरूपेण महता पृथुलेन। वपुस्तेजसा वपुषः शरीरस्य तेजसा कान्त्या। दीप्तः देदीप्यमानः। जगन्नन्दितः[6] जगतो लोकस्य नन्दिनो मनोहरात् (जगत् लोकं नन्दयतीत्येवं शीलम्, तस्मात्, मनोहरात्—इत्यर्थः)। वासभवनात् गर्भागारात्। निर्यन् निर्गच्छन्। सः भूमिपतिः सार्वभौमः। उदयाचलेन्द्रशिखरात् उदयाचलेन्द्रस्योदयपर्वतस्य शिखरात् शृङ्गात्। अभ्युज्जिहासोः उदितुमिच्छोः। घर्मांशोः सूर्यस्य। श्रियं संपदम्। भेजे भजतिस्म। भज[7] सेवायां लिट् ॥७९॥

इति वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये दशमः[8] सर्गः ॥१०॥

हो रही थी ॥७८॥ दरवाजेके अगले भागमें निर्मल पद्मरागमणि जड़े हुए थे, उनकी ऊपर फैलनेवाली प्रभासे राजा अजितसेनके शरीरके सारे अवयव बदल गये—लाल हो गये और वह स्वयं भी अपने स्वाभाविक अत्यधिक तेजसे देदीप्यमान हो रहा था अतएव लोगोंको आनन्द प्रदान करनेवाले अपने निवासके भवनसे निकलते समय अजितसेन उदयाचलके शिखरसे उदित होनेवाले सूर्यकी सुषमाको प्राप्तकर रहा था ॥७९॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित
महाकाव्यमें दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१०॥

---

१. क ख ग घ म °दभ्युद्यियासोः। २. आ 'शीलैः' इति नास्ति। ३. = खचितानाम्। ४. श 'वि' नास्ति। ५. = प्रकृत्या। ६. एष टीकाकृदभिमतः पाठः प्रतिषु तु 'जनानन्दितः' इत्येव समुपलभ्यते। ७. श भजि। ८. आ श चन्द्रोदयसूर्योदय वर्णनो नाम दशमः सर्गः।

[११. एकादशः सर्गः]

अथ प्रवृद्धे दिवसे विशांपतिर्विधाय स स्नानपुरःसराः क्रियाः ।
गृहीतवस्त्राभरणोऽधिशिश्रिये[1] सभागृहं कल्पितसिंहविष्टरम् ॥१॥
तमेत्य सर्वावसरव्यवस्थितं प्रधानदौवारिकसूचितागमाः ।
महीतलाश्लिष्टशिखेन मौलिना नृपाः प्रणेमुः प्रणतैकवत्सलम् ॥२॥
ततः प्रतीहारकृतप्रवेशने यथायथं सभ्यजने व्यवस्थिते ।
विलोकयामास स सेवयागतं सभाजिरे राजगजं प्रजापतिः ॥३॥

श्रीमन्नतामरनरेन्द्रकिरीटकोटीमाणिक्यसंचयविलासमरीचिकाभिः ।
आलीढपादयुगलं जिनकुन्थुनाथं नित्यं नमामि जिनराजविनूतपादम् ॥[2]

अथेति । अथ सूर्योदयानन्तरम् । दिवसे दिने । प्रवृद्धे सति एधिते सति[3] । सः विशांपतिः नरपतिः । स्नानपुरस्सराः स्नानमेव पुरस्सरं पूर्वं यासां ताः । क्रियाः कार्याणि । विधाय कृत्वा । गृहीतवस्त्राभरणः गृहीतानि स्वीकृतानि[4] वस्त्राभरणानि येन सः । कल्पितसिंहविष्टरं कल्पितं विरचितं सिंहविष्टरं सिंहासनं यस्मिन् तत् । सभागृहम् आस्थानमण्डपम् । अधि[5]शिश्रिये आश्रयति[6] स्म । श्रिञ्[7] सेवायां लिट् ॥१॥ तमिति । प्रधानदौवारिकसूचितागमाः प्रधानेन मुख्येन दौवारिकेन सूचितो विज्ञापित आगम आगमनं येषां ते । नृपाः भूमिपाः । प्रणतैकवत्सलं प्रणतेषु विनतेषु एको मुख्यो वत्सलः[8] प्रीतिर्यस्य तम् । सर्वावसरव्यवस्थितं सर्वासां प्रजानामवसरे[9] व्यवस्थितं स्थितम् । तं चक्रवर्तिनम् । एत्य आगत्य । महीतलाश्लिष्टशिखेन महीतले भूतले आश्लिष्टा संस्पृष्टा[10] शिखा अग्रभागो यस्य तेन । मौलिना मुकुटेन । प्रणेमुः प्रणमन्ति स्म । णम[11] प्रह्वत्वे शब्दे लिट् ॥२॥ तत इति । ततः पश्चात् । प्रतीहार[12]कृतप्रवेशने प्रतीहारेण दौवारिकेण कृतं प्रवेशनमन्तर्गमनं यस्य तस्मिन् । सभ्यजने सभ्ये सभायोग्ये जने लोके । यथायथं मर्यादामनतिक्रम्य । व्यवस्थिते सति स्थिते सति । सः प्रजापतिः चक्रवर्ती । सेवया सेवानिमित्तम् । आगतम् आयातम् । राजगजं गन्ध-

---

इसके पश्चात् दिन चढ़ते ही राजा अजितसेनने स्नान आदि क्रियाओंसे निवृत्त होकर वस्त्र और आभूषणोंको धारण किया। फिर वह सभा-भवनमें पहुँचा, जहाँ सिंहासन रखा हुआ था ॥१॥ वह आम सभाका भवन था। वहाँ सबको आनेका और बोलनेका भी अवसर दिया जाता था। इसीलिए उसका नाम सर्वावसर रखा गया था। चक्रवर्ती उस सभामें जाकर सिंहासनपर बैठ गया। फिर प्रमुख द्वारपालके द्वारा अपनी सूचना अन्दर भेजकर आगन्तुक राजाओंने विनम्र व्यक्तियोंके एकमात्र स्नेही अजितसेनके पास जाकर उन्हें मस्तक नवाकर प्रणाम किया। प्रणाम करते समय उनके मुकुटका ऊपरी भाग भूमिका स्पर्श कर रहा था ॥२॥ इसके पश्चात् द्वारपालकी सूचनाके अनुसार सभासदोंने प्रवेश किया, और वे वहाँ अपने-अपने योग्य स्थानपर बैठ गये। जब सभी लोग वहाँकी व्यवस्थाके अनुसार बैठ गये, राजा

---

१. क ख ग घ °विशिश्रिये। २. आ इदं पद्यं नोपलभ्यते। ३. आ 'एधिते सति' इति नास्ति। ४. = परिधारितानि। ५. श 'अधि' इति नास्ति। ६. श आश्रयते। ७. श श्रिञ्। ८. = स्निग्धः। 'स्निग्धस्तु वत्सलः' वत्सोऽस्त्यस्य, वत्सलः, सिध्मादित्वाद्लः। इति हैमः। ९. = अवसरोऽस्ति यस्मिन्, तस्मिन्, सदसि-इत्यर्थः। १०. आ संश्लिष्टा। ११. आ णमु। १२. आ श प्रतिहार°।

अनल्पसत्त्वं गुरुवंशशालिनं प्रलम्बहस्तं स्वमिवावलोक्य तम् ।
मतङ्गजं क्रीडयितुं कुतूहलादचूचुदद्वीरनरान्नराधिपः ॥४॥
तदाज्ञयैकः समुपेत्य धीरधीर्जघान मुष्ट्या घनपीवरे करे ।
तमेति[1] यावत्स जवेन पृष्ठतस्तुतोद तावद्भृशमारयापरः ॥५॥
निवृत्य[2] यावत्किल पृष्ठवर्तिनं प्रतिप्रधावत्यतिकोपपीडितः ।
निपत्य तावन्निजलाघवात्परश्चकार पार्श्वे घनलोष्टताडनम् ॥६॥

हस्तिनम् । सभाजिरे सभाया आस्थानस्याजिरेऽङ्गणे । 'अङ्गणं चत्वराजिरे' इत्यमरः । विलोकयामास वीक्षां चक्रे ।।३।। अनल्पेति । नराधिपः भूमिपालः । अनल्पसत्त्वम् अनल्पं महत् सत्त्वं सामर्थ्यं यस्य तम् । गुरुवंशशालिनं गुरुणा महता वंशेन पृष्ठास्थ्ना[3] (पृष्ठास्थिना-इत्यर्थः) शालिनं[4] शोभिनम्, पक्षे महाकुलेन भासिनम् । 'वेणौ वर्गे कुले[5] वंशः पृष्ठस्यावयवेऽपि च ।' इत्यभिधानात् । प्रलम्बहस्तं प्रलम्बो दीर्घो हस्तः शुण्डादण्डो यस्य तम्, पक्षे हस्तः पाणि र्यस्य तम् । स्वमिव आत्मानमिव । तं मतङ्गजं मदगजम् । अवलोक्य वीक्ष्य । क्रीडयितुं क्रीडनाय । कुतूहलात् कुतुकात् । वीरपुरुषान् । अचूचुदत् अप्रेरयत् । चुद प्रेरणे लुङ्[6] ।।४।। तदाज्ञयेति । तदाज्ञया तस्याजितसेनस्याज्ञया अनुज्ञया । धीरधीः धीरा धीर (-त्व) गुणयुक्ता धीर्बुद्धि-र्यस्य सः । एकः शूरभटः । समुपेत्य समीपं गत्वा । घनपीवरे घने कठिने[7] पीवरे स्थूले । करे शुण्डादण्डे । मुष्ट्या वज्रमुष्ट्या । जघान[8] हन्ति स्म । हन हिंसागत्योर्लिट् । सः गजः । जवेन शीघ्रम् । तं पुरुषम् । यावत् यावत्पर्यन्तम् । एति आयाति । तावत्, अपरः अन्यो भटः । पृष्ठतः पश्चाद्भागे । आरया आरा-दण्डेन[9] । भृशम् अत्यन्तम् । तुतोद बबाध । तुद[10] व्यथने लिट् ।।५।। निवृत्येति[11] । अतिकोपपीडितः[12] अतिकोपेनाधिकक्रोधेन पीडितः[13] प्रकाशित[14] सन् । निवृत्य वलित्वा । पृष्ठवर्त्तिनं पश्चाद्भागवर्तिनम् । पुरुषं प्रति, यावत् किल, प्रधावति लघु पलायते[15] । सृ गतौ लट् । 'सर्तेर्धौ वेगे' इति धाव-आदेशः । तावत्, परः अन्यः । पुरुषः, निजलाघवात् निजस्य स्वस्य लाघवात् लघुत्वात् । निपत्य समीपे गत्वा । पार्श्वे दक्ष (दक्षिण) पार्श्वे[16] । घनलोष्टताडनं घनेन कठिनेन लोष्टेन ताडनं हननम् । चकार करोति स्म ।

अतितसेनने अपनी सेवाके निमित्तसे सभाके आँगनमें आये हुए एक गजराजको देखा ।।३।। वह गजराज अजितसेन सरीखा था। अजितसेनमें बहुत अधिक बल था; वह महान् वंशमें जन्मा था और उसके बाहु लम्बे थे। इसी प्रकार गजराज बहुत बलवान् था; वह उभरी हुई रीढ़की हड्डीसे विभूषित था और उसकी सूँड़ खूब लम्बी थी । उसे अपने ही समान देखकर अजितसेनने कौतुकवश कुछ वीर पुरुषोंको उसके क्रीड़ा करनेके लिए प्रेरित किया ।।४।। राजाकी आज्ञा पाकर एक धीर बुद्धिवाले वीर पुरुषने पास जाकर उसकी कठोर और पुष्ट सूँडपर मुक्केका प्रहार किया। हाथी बड़े वेगसे जबतक मुक्का मारनेवालेपर झपटने ही वाला था, इतनेमें ही दूसरे वीरने उसे पीछेसे चमड़ा काटनेका औजार चुभा दिया, जिससे उसे बड़ी व्यथा हुई ।।५।। फिर क्या था, उसका क्रोध भड़क उठा। फलतः वह जबतक मुड़-कर पीछेसे प्रहार करनेवालेकी ओर लपकनेको ही था कि तीसरे पुरुषने बड़ी फुर्तीसे कुछ आगे

---

१. अ तमेव । २. अ आ निर्वृत्य । ३. आ 'पृष्ठास्थ्नो' इति नोपलभ्यते । ४. = शालते शोभते इत्येवं शीलः, तम् । ५. श वर्गिकुले । ६. श लङ् । ७. आ 'कठिने' इति नोपलभ्यते । ८. = तताड । ९. श अरया आरादण्डेन । = 'आरा चर्मप्रभेदिका' इति हैमः । १०. श तुदि । ११. श वृत्येति । १२. आ °दापितः । १३. आ दीपितः । १४. = 'प्रताडितः' इति भवेत् । १५. आ पलायति, श पलायेते । १६. आ पार्श्वे चक्रिणः पार्श्वे ।

विनीयमानो नृपशासनेन तैः कृतक्रियैरित्थमसौ मतङ्गजः ।
प्रधावितुं कंचिदशक्तमुद्धतः करेण जग्राह पुरः प्रसारिणा ॥७॥
ग्रहागतं तं मदमूढमानसो जनस्य हाहेति रवेण पश्यतः ।
तथा समास्फालयति स्म भूतले यथा स सर्वावयवैर्व्ययुज्यत ॥८॥
विलोक्य तं शारदमेघवत्क्षणाद्विलीनमङ्गेन च जीवितेन च ।
कृपाङ्गनालिङ्गिततुङ्गमानसो जगाम निर्वेदमिति क्षितीश्वरः ॥९॥
अहो नराणां भवगर्तवर्तिनामशाश्वतीं पश्यत जीवितस्थितिम् ।
ययातिदूरेण जिताः स्वचापलात्तडिद्विलासाः शरदम्बुदैः समम् ॥१०॥

डुकृञ् करणे लिट् ।।६।। विनीयमान इति । नृपशासनेन[1] नृपस्य चक्रिणः शासनेनाज्ञया । कृतक्रियैः कृता विहिता क्रिया अभ्यासो यैः, तैः । तैः भटैः । इत्थम् अनेन प्रकारेण । विनीयमानः वीक्ष्यमाणः (शिक्ष्यमाणः) । उद्धतः प्रवृद्धकोपः । असौ मतङ्गजः मदगजः । प्रधावितुं पलायितुम् । अशक्तं सामर्थ्यरहितम् । कंचित् कञ्चित्पुरुषम् । पुरःप्रसारिणा पुरःअग्रभागे प्रसारिणा प्रसरणशीलेन । करेण शुण्डादण्डेन । जग्राह गृह्णाति स्म । गृहि[2] उपादाने लिट् । ७।। ग्रहेति । मदमूढमान सः मदेन मूढं मोहितं मानसं यस्य सः । सः मदगजः । हाहेति हा हा इति । रवेण ध्वनिना । पश्यतः वीक्षमाणस्य । जनस्य लोकस्य हा हा इति पश्यतः वीक्षमाणस्य हा हा इति ध्वनिं कुर्वन्तं पश्यन्तं जनमनादृत्य उदासीनं कृत्वा (उपेक्ष्य) इत्यभिप्रायः । 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । ग्रहागतं ग्रहं वशम् (ग्रहणम्) आगतम् आयातम् । 'ग्रहे ग्राहो वशः' इत्यमरः । (ग्रहः सूर्यादिनिर्बन्धोपरागेषु रणोद्यमे । ग्रहणे पूतनादौ च सैंहिकेयेऽप्यनुग्रहे । विश्वलोचनकोशः) । तं पुरुषम् । यथा सर्वावयवैः सर्वैः अवयवैः । व्ययुज्यत व्यभिद्यत । युजिर्[3] योगे कर्मणि लङ् । तथा, भूतले महीतले । समास्फालयति स्म । आघातयति स्म । स्फल[4] लट् । दृष्टान्तः (?) ।।८।। विलोक्येति । शारदमेघवत् शारदः शरदि शरत्काले भवो जातः मेघवत् वारिवाहवत् (शरदि भवः शारदः स चासौ मेघो वारिवाहः तद्वत्) । अङ्गेन च शरीरेण । जीवितेन च जीवनेन । क्षणात् अल्पकालात् । विलीनं नष्टम् । तं पुरुषम् । विलोक्य वीक्ष्य । कृपाङ्गनालिङ्गिततुङ्गमानसः कृपैव कारुण्यमेवाङ्गना वनिता तयालिङ्गितमाश्लिष्टं तुङ्गमुन्नतं[5] मानसं चित्तं यस्य सः । रूपकम् । क्षितीश्वरः सार्वभौमः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । जगाम ययौ । गम्लृ गतौ लिट् ।।९।। अहो इति । यया संसारस्थित्या । स्वचापलात् । निजचाञ्चल्यात् । शरदम्बुदैः शरदः

बढ़कर उसकी बगलमें कठोर लोढ़ेका प्रहारकर दिया ॥६॥ इस तरह राजाके आदेशसे अभ्यास करनेवाले वीरोंके द्वारा उस हाथीको युद्धकी शिक्षा दी जा रही थी । इतनेमें, संयोगकी बात है, उस उद्धृत हाथीके सामने एक ऐसा मनुष्य आ गया, जो दौड़नेमें असमर्थ था । फिर क्या था, हाथीने आगे सूंड फैलाकर उसे पकड़ लिया ॥७॥ लोगोंमें हाहाकार मच गया । उनके देखते देखते हाथीने—जो बिलकुल मदान्ध था—पकड़में आये हुए उस मनुष्यको जमीनपर ऐसे ढंग-से दे पटका कि उसके हाथ, पैर आदि सारे अङ्ग टूट-टूटकर अलग जा गिरे ॥८॥ शरत्कालके मेघकी तरह उसे क्षणभरमें ही शरीर और जीवनके साथ विलीन (मरते) होते देखकर कृपा रूपी अङ्गनाने राजा अजितसेनके उन्नत हृदयसे आलिङ्गन कर लिया—उस पुरुषको मृत्युके मुखमें जाते देखकर अजितसेनको दया आ गयी । फिर उसे वैराग्य हो गया । उस समय उसके मनमें इस प्रकारके वैराग्यके विचार उत्पन्न हुए ॥९॥ यह संसार बहुत बड़े गड्ढेके समान है । ओह इसमें पड़े हुए मनुष्योंकी क्षणभङ्गुर जीवनकी अवस्थाको तो देखो !, जिसने अत्यन्त दूर

१. 'नृपशासनेन' इति टीकाकृत्संमतः पाठः, प्रतिषु तु 'नृपशासनान्तरैः' इत्येव पाठो दृश्येत । २. आ ग्रह । ३. आ युजिर् । ४. आ स्फ लट् । ५. श तुङ्गम् उच्चम् ।

गदेन मुक्तोऽशनिना कटाक्ष्यते तदुज्झितः शस्त्रविषाग्निकण्टकैः ।
अनेकमृत्यूद्भवसंकटे नरः कियद्वराकश्चिरमेष जीवतु ॥११॥
वपुर्धनं यौवनमायुरन्यदप्यशाश्वतं सर्वमिदं शरीरिणाम् ।
तथाप्ययं शाश्वतमेव मन्यते जनः प्रमोहः खलु कोऽप्ययं महान् ॥१२॥
इदं करोम्यद्य परुह्निनेष्विदं परार्यदश्च प्रविधेयमित्ययम् ।
अनेककर्तव्यशताकुलः पुमान्न मृत्युमासन्नमपीक्षितुं क्षमः ॥१३॥

शरत्कालस्याम्बुदैर्वारिवाहैः । समं साकम् । तडिद्विलासाः तडितः सौदामिन्याः विलासाः शोभाः । अतिदूरेण भृशं दूरेण विप्रकृष्टेन (नितान्तम्-इत्यर्थः) । जिताः अभिभूताः । भवगर्तवर्तिनां भवः संसारः स एव गर्तोऽवटः तस्मिन् वर्तिनां विद्यमानानाम् । नाराणां मनुष्याणाम् । अशाश्वतीम् अनित्याम् । जीवितस्थितिं जीवनस्थितिम् । पश्यत वीक्षध्वम् । दृशृ[3] प्रेक्षणे लोट्[4] । शरन्मेघेभ्योऽपि विद्युद्विलासेभ्योऽपि (च) भवस्थितिरत्यन्तमनित्या[5] इति भावः ॥१०॥ गदेनेति । गदेन रोगेण । मुक्तः त्यक्तः । अशनिना अशनिपातेन । कटाक्ष्यते बाध्यते[6] कटाक्ष इति सुब्धातोः कर्मणि लट् । तदुज्झितः ताभ्यां रोगाशनिभ्यामुज्झितो रहितः । शस्त्रविषाग्निकण्टकैः शस्त्रेण आयुधेन विषेण गरलेन अग्निना वह्निना कण्टकैः इव (कण्टकैः क्षुद्रशत्रुभिश्च) । अनेकमृत्यूद्भवसंकटे अनेकैर्बहुभि मृत्यूद्भवै मरणोत्पत्तिभिः (मरणोत्पत्तिहेतुभिः—इति यावत्) संकटे विपत्तियुक्ते (व्याप्ते वा) । संसारे । वराकः (दीनः), 'वराको नामवर्जितः' इत्यभिधानात् । कः दीनः । एषः अयम् । नरः मनुष्यः । कियत् कियत्पर्यन्तम् । 'घरिवदं किमः' इति घतुः । 'किमिदमः कीश्' इति किः आदेशः । चिरं स्थिरम् । जीवतु प्राणान् धारयतु । चिरजीवनं नास्ति—इत्यभिप्रायः ॥११॥ वपुरिति । शरीरिणां प्राणिनाम् । वपुः शरीरम् । धनं द्रव्यम् । यौवनं तारुण्यम् । आयुः आयुष्यम् । अन्यदपि धान्याद्यपि । इदम् एतत् । सर्वं सकलम् । अशाश्वतम् अनित्यरूपं भवति । तथापि अशाश्वतमपि । अयम् एषः जनः लोकः । शाश्वतमेव नित्यमिति । मन्यते बुध्यते । [7]मनि ज्ञाने लट् । अयम् एषः । कोऽपि कश्चित् । महान् बलवान् । मोहः खलु अज्ञानं खलु ॥१२॥ इदमिति । अद्य इदानीम् । इदम् एतत् । करोमि विदधामि । डुकृञ् करणे लट् । परुह्निने तु आगामिदिवसे[8] । इदम् एतत् करोमि । परारि प्रागामिदिने[9] (परश्वः) 'परुत्परारि—' इति निपातनम् (वस्तुतस्तु पूर्वस्मिन् संवत्सरे परुत्, पूर्वतरे संवत्सरे परारि—इति व्याख्या भवेत्, किन्तु ग्रन्थकृता स्वयं 'परुह्निने' इति लिखितम्, अतो व्याख्याकृतापि तदनुसारं व्याख्या कृता । मन्ये वीरनन्दिना लक्षणया 'परुह्निने' इयि व्यलेखि ।) अदः इदम् । प्रविधेयं करणीयम् । इति (इत्थम्) । अनेककर्तव्यशताकुलः

रहकर भी शरत्कालके मेघोंको और उनके साथ चपलाके विलासको भी अपनी चपलतासे पराजितकर दिया है—मानवका जीवन, शरत्कालीन मेघों और बिजुलीके विलाससे भी कहीं अधिक अस्थिर है ॥१०॥ यह मनुष्य यदि रोगसे बच जाता है तो वज्र या बिजुलीका शिकार हो जाता है, और यदि किसी तरह रोग, वज्र या बिजुलीसे बच भी गया तो शस्त्र, विष, अग्नि और क्षुद्र शत्रुओंके रहते नाना तरहके मौतके कारणोंका संकट हर समय बना ही रहता है। ऐसी अवस्थामें बेचारा यह मनुष्य जी भी कितना सकता है ? ॥११॥ मनुष्योंका यह शरीर, धन, यौवन, आयु एवं और भी संसारकी सभी वस्तुएँ विनश्वर हैं। तो भी यह मनुष्य इन सभी वस्तुओंको अनिश्वर ही मानता है। निश्चय ही यह एक बड़ा भारी अद्भुत अज्ञान है ॥१२॥ यह काम आज करता हूँ, यह कल करूँगा और फिर यह परसों करने योग्य है, अतः परसों करूँगा, इस तरह नाना प्रकारके सैकड़ों कार्योंमें व्यस्त होकर यह मनुष्य निकटमें आयी हुई

---

१. क ख ग घ म जीवति । २. आ इ °पीक्षितं । ३. आ दृशिर् । ४. श लेट् । ५. आ °तानित्या° । ६. श 'बाध्यते' इति नोपलभ्यते । ७. श बुधि मनि । ८. आ °दिने । ९. श प्रागादिदिने ।

विभेति पापान्न सतामसंमतान्न मन्यते दुर्गतिदुःखमुद्धतम् ।
विलोभ्यमानो विषयामिषाशया करोत्यकर्तव्यशतानि मानवः ॥१४॥
मदान्धकान्तानयनान्तचञ्चलाः सदा सहन्ते न सहासितुं श्रियः ।
ज्वलज्जरावज्रहविर्भुजो जये कियच्चिरं स्थास्यति यौवनं वनम् ॥१५॥
[1]क्रियावसाने विरसैर्मुखप्रियैः स्वयं विहास्यैर्विषयैर्विनाशिभिः ।
विलेख्यते कालमरीचिमालिनः करैर्हतं हा हिमसंनिभं वपुः ॥१६॥

अनेकेषां कर्तव्यानां कार्याणां शतेन बहुना (बाहुल्येन) आकुलो व्याकुलः । अयम् एषः । पुमान् पुरुषः । आसन्नमपि समीपमागतमपि । मृत्युं मरणम् । ईक्षितुं वीक्षणाय । न क्षमः न समर्थो भवति ॥१३॥ बिभेतीति । विषयामिषाशया विषयाणां पञ्चेन्द्रियगोचराणामामिषस्य स्वीकारस्याशया[2] अभिलाषेण । विलोभ्यमानः विमुच्य (ह्य) मानः । मानवः मनुष्यः । सतां सत्पुरुषाणाम् । असंमतात् अनभ्युपगमात् । पापात् दुरितात् । न बिभेति भयं न याति । ञिभी भये लट् । उद्धतं प्रवृद्धम् । दुर्गतिदुःखं दुर्गतीनां नरकादिदुर्गतीनां दुःखं कष्टम् । न मन्यते न जानाति । बुधि मनि ज्ञाने लट् । अकर्तव्यशतानि अकर्तव्यानां शतानि अनेकानि (नाना अकर्तव्यानि–इत्यर्थः) । करोति विदधाति । आक्षेपः (?) ॥१४॥ मदेति । मदान्धकान्तानयनान्तचञ्चलाः मदेन अन्धः (अन्धानां) कान्तानां वनितानां नयनानां नेत्राणाम् अन्त इव अवसानम् (कटाक्ष–) इव चञ्चला भृशं चलनरूपाः । श्रियः सम्पदः । सदा सर्वदा । सह साकम् । आसितुं[3] स्थातुम् । न सहन्ते समर्था न भवन्ति । ज्वलज्जरावज्र हविर्भुजः ज्वलन् जरैव वार्द्धक्यमेव वज्रहविर्भुजः (वज्रहविर्भुक् वज्राग्निः, तस्य) । जये विजये सति (जय विषये, जयाय–इत्यर्थः) । यौवनं तारुण्यम् । वनं काननम् । कियच्चिरं कियत् स्थिरम् (कियन्तं कालं तावत्) । स्थास्यति । उपमा ॥१५॥ क्रियेति । मुखप्रियैः मुखे प्रथमे (अनुभवादौ) प्रियैः प्रीतिरूपैः (आपातमधुरैः) । क्रियावसाने क्रियाया अनुभवस्यावसाने पर्यन्ते । विरसैः (विरसैः) अप्रियैः । विनाशिभिः विनाशशीलैः । विषयैः पञ्चेन्द्रियविषयैः । स्वयम् अहम् (स्वत एव) । विहास्ये विरहिष्ये (विहास्यैः त्याज्यैः) । हिमसन्निभं हिमस्य सन्निभं समानम् । वपुः शरीरम् । कालमरीचिमालिनः काल एव यम एव मरीचिमाली सूर्यरूपः[4] तस्य । रूपकम् । करैः किरणैः । हतं

भी मृत्युको देखनेके लिए असमर्थ रहा करता है—(करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तया । मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम्) ॥१३॥ यह मनुष्य, सन्त पुरुषोंके द्वारा निषिद्ध पापसे नहीं डरता और नरक आदि खोटी गतियोंके बड़े-बड़े असह्य दुःखोंको नहीं मानता, किन्तु पाँच इन्द्रियोंके विषयके लोभमें फँसकर सैकड़ों ऐसे-ऐसे काम करता रहता है, जो कभी नहीं करने चाहिएँ ॥१४॥ लक्ष्मी मतवाली नायिकाके कटाक्षोंकी भाँति चंचल है। यह किसीके साथ सदा नहीं रह सकती। बुढ़ापा प्रज्वलित वज्राग्निके समान है। जब मनुष्य उसके चंगुलमें फँस जाता है, तब यौवन रूपी वन उसके सामने कितनी देर टिका रह सकता है?—जिस प्रकार वज्राग्निके प्रज्वलित होते ही सारा जंगल भस्म हो जाता है, इसी प्रकार जराके आते ही यौवन नष्ट हो जाता है ॥१५॥ इन्द्रियोंके विषय प्रारम्भमें प्रिय, भोगनेके पश्चात् अप्रिय और विनश्वर हैं। ये स्वयं ही मुझे छोड़ देंगे। यह शरीर बर्फके समान है। जिस प्रकार बर्फ सूर्यकी किरणोंसे पिघलकर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार शरीर भी कालके

१. अ करावसानेवरसैः । २. आ °स्य वाञ्छया अभि° । ३. श आसितुं । ४. आ मरीचिमालिनः सूर्यस्य ।

शनैर्विहास्यन्ति गतश्रियं न मां न बान्धवा बद्धधनर्द्धिबुद्धयः ।
फलप्रसूनप्रलये हि कोकिला भवन्ति चूतावनिजं जिहासवः ॥१७॥
प्रपित्सु संपक्कफलोपमान्वितं जगत्यहो जीवितमत्र जीविनाम् ।
विलीयमाना निचयाः क्षणक्षयाः शुभाशुभं [1]नंष्टुमनीश्वरं परम् ॥१८॥
कषायसारेन्धनबद्धपद्धतिर्भवाग्निरुत्तुङ्गतरः समुत्थितः ।
न शान्तिमायाति भृशं परिज्वलन्न यद्ययं ज्ञानजलैर्निषिच्यते ॥१९॥
दुरात्मकादेव भवाद् भयंकराद् भवन्त्यनर्था वधबन्धनादयः ।
न ते स्युरुत्खाततलः स चेद् भवेदहेतुकाः क्वापि न कार्यसंपदः ॥२०॥

नष्टं सत् । विलेक्ष्यते[2] जीर्णं[3] (जीर्णत्वम्) नेष्यते । [हा हन्त] । लीङ् श्लेषणे ॥१६॥ शनैरिति । बद्धधनर्द्धिबुद्धयः धनं द्रव्यं तच्च ऋद्धिरैश्वर्यं सा च बुद्धिर्धिषणा सा च तथोक्ताः, बद्धाः कृता धनर्धिबुद्धयो येषां (यैः) ते । बान्धवाः ज्ञातयः[4] । गतश्रियं गता रहिता (नष्टा) श्रीः सम्पद् यस्य तम्, ऐश्वर्यरहितम् इत्यर्थः । मां मा । शनैः मन्दं मन्दम् । न विहास्यन्ति न त्यजन्ति (इति) न[5], किन्तु त्यजन्त्येव । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं द्योतयतः । फलप्रसूनप्रलये फलानां पक्वानां प्रसूनानां कुसुमानां[6] प्रलये रहिते (अवसाने) सति । कोकिलाः पिकाः । चूतावनिजम् आम्रवृक्षम् । जिहासवः त्यक्तुमिच्छवः । भवन्ति हि । अर्थान्तरन्यासः (प्रतिवस्तूपमा) ॥१७॥ प्रपित्स्विति । अत्र जगति लोके । जीवानां प्राणिनाम् । जीवितं जीवनम् । प्रपित्सुसंपक्वफलोपमान्वितं प्रपित्सूनां पतनशीलानां संपक्वानां संपूर्णपरिणतानां फलानामुपमयान्वितं युक्तम् । स्यात् । विलीयमानाः आश्र (श्रि) यमाणाः । निचयाः परिग्रहाः । क्षणक्षयाः क्षणेऽल्पकाले क्षयो नाशो येषां ते । स्युः । शुभाशुभं पुण्यपापकर्म । नंष्टुं[7] नाशनाय । परं केवलम् । अनीश्वरं स्यात् असमर्थं स्यात् । जातिः ॥१८॥ कषायेति । कषायसारेन्धनबद्धपद्धतिः कषायाः क्रोधादयस्त एव साराणि बलिष्ठानि इन्धनानि काष्ठानि तैर्बद्धा पद्धति मार्गो यस्य सः । उत्तुङ्गतरः उन्नततरः । समुत्थितः उत्पन्नः । परिज्वलन् परितो ज्वलन् । अयम् एषः । भवाग्निः संसाराग्निः । ज्ञानजलैः ज्ञानान्येव जलानि तैः । यदि न निषिच्यते सेचनं न करिष्यते (नोक्ष्यते) । भृशम् अत्यन्तम् । शान्तिं शमम् । न आयाति नागच्छति । या प्रापणे लट् । रूपकम् ॥१९॥ दुरात्मेति । दुरात्मकात् दुष्टस्वभावयुक्तात् । भयंकरात् भीतिकरात् ।

सम्पर्कसे घुल-घुलकर नष्ट हो जाता है ॥१६॥ धन-सम्पत्तिके इच्छुक बन्धु लोग लक्ष्मीके चले जानेपर धीरे-धीरे मुझे नहीं छोड़ देंगे, यह बात नहीं हैं—जब तक मेरे पास धन है तभी तक बन्धु-बान्धव साथ देंगे, पर जब धन चला जायगा, मैं निर्धन हो जाऊँगा, तब धीरे-धीरे सभी लोग किनाराकसी करने लगेंगे । जब फल-फूल विलीन हो जाते हैं, तब कोकिल आमके पेड़को छोड़ देनेके लिए उत्सुक हो जाते हैं ॥१७॥ जगत्में जीवोंका जीवन गिरनेवाले पके फलके समान है । ओह यह कितने खेदकी बात है ! संचित चेतन और अचेतन परिग्रह भी क्षणभंगुर है । केवल शुभ और अशुभ कर्म ही ऐसे हैं, जो बिना फल दिये नष्ट नहीं हो सकते ॥१८॥ क्रोध आदि कषाय रूपी ठोस ईंधनसे जिसका चारों ओरका मार्ग तैयार कर दिया गया है; जो ऊपर उठकर बहुत ऊँचाई तक पहुँच गया है और जो खूब प्रज्वलित हो रहा है, इसके ऊपर यदि ज्ञान जलका सिंचन न किया जाये तो वह संसार रूपी अग्नि कभी शान्त ही न हो ॥१९॥ यह संसार दुष्ट स्वभाववाला है, और भयंकर है । इसीसे वध और बन्धन आदि अनर्थ हुआ करते हैं । यदि संसारका मूल आधार (राग) उखाड़ दिया जाय तो वध बन्धन

१. क ख ग घ नष्टुं । २. श विलेक्ष्यते । ३. आ भिन्नं । ४. श जातयः । ५. श नेति न । ६. श 'कुसुमानां' इति नास्ति । ७. श नष्टुं ।

नरो विबध्येत सरागतां गतो न कर्मभिस्तद्विपरीतभावनः।
निरन्तरं मुञ्चति वारि वारिदे विगाहितुं धूलिरलं हि नाम्बरम् ॥२१॥
चराचरे नास्ति जगत्यभोजि यन्न जन्तुभिर्जन्मपयोधिमध्यगैः।
किमेष लोको विषयान्धलोचनः पराङ्मुखो नश्यति मोक्षसाधनात् ॥२२॥
दुरन्तभोगाभिमुखां निवर्तयेन्न शेमुषीं यः सुखलेशलोभितः।
कथं करिष्यत्युपरूढिमागतामिमां स जन्मव्रततिं विनाशिनीम् ॥२३॥

भवादेव संसारादेव। अनर्थाः अपायरूपाः। वधबन्धनादयः वधस्ताडनं बन्धो बन्धनं तौ आदी (आदौ) येषां ते। सः संसारः। उत्खाततलः उत्खातं तलं यस्य सः भवेच्चेत् यदि स्यात्। भू सत्तायां लिङ्[2]। ते वधबन्धनादयः। न स्युः न भवेयुः। क्वापि कुत्रापि। कार्यसंपदः कार्यसमृद्धयः (कार्याणीत्यर्थः)। अहेतुकाः कारणरहिताः। न स्युः। अस भुवि लिङ्[3]। अर्थान्तरन्यासः ॥२०॥ नर इति। सरागताम् अभिलाषवत्त्वम्। गतः यातः। नरः मनुष्यः। कर्मभिः शुभाशुभभेदकर्मभिः। विबध्येत नह्येत। बधि बन्धने कर्मणि लिङ्। तद्विपरीतभावनः तस्मात् सरागपरिणामाद् विपरीता विरागरूपा भावना यस्य सः। न[4] कर्मभिः—(ज्ञानावरणादिकर्मभिः) न बध्येत। वारिधेः समुद्रस्य [वारिदे मेघे] वारि जले (जलम्)। निरन्तरं निबिडम्। मुञ्चति सति त्यजति सति। धूलिः रजः। अम्बरम् आकाशम्। विगाहितुं लङ्घितुम्। नालं समर्थं न भवति हि। अर्थान्तरन्यासः ॥२१॥ चरेति। चराचरे चरा जङ्गमा अचराः स्थावरा यस्मिन् तस्मिन्। जगति लोके। जन्मपयोधिमध्यगैः जन्मैव पयोधिः समुद्रः तस्य मध्यगैर्मध्यं गतैः। जन्तुभिः प्राणिभिः। यत् वस्तु। न अभोजि नाभुज्यत[5]। भुज पालनाभ्यवहारयोः कर्मणि लुङ्। तद् वस्तु। नास्ति न विद्यते। विषयान्धलोचनः विषयैरन्धे लोचने यस्य सः। एषः अयम्। लोकः जनः। मोक्षसाधनात् मोक्षस्य साधनाद् रत्नत्रयात्। पराङ्मुखः सन् विमुखः सन्। किं किंकारणम्। नश्यति। आक्षेपः (?) ॥२२॥ दुरन्तेति। यः सुखलेशलोभितः (सुखलेशे) अल्पे-स्तोके सुखे लोभितः प्रीतः[6] (मोहितः)। 'पोटा-युवतिः—' इत्यादिना समासः। दुरन्तभोगाभिमुखात्[7] दुरन्तेषु दुःखावसानेषु भोगेषु पञ्चेन्द्रियभोगेषु अभिमुखाद् आसंजनात् (दुरन्तभोगाभिमुखां दुरन्तेषु दुष्परिणामेषु भोगेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु अभिमुखामासक्ताम्)। शेमुषीं बुद्धिम्। न निवर्तयेत् न निराकुर्यात्[8]। सः जीवः। उपरूढिं प्रवृद्धिम्। आगताम् आयाताम्। इमाम् एताम्। जन्मव्रततिं[9] जन्म संसारः तदेव व्रततिर्लता[10] ताम्। विनाशिनीं विनाश-

आदि भी नहीं होंगे। बिना कारणके कार्य कहीं भी नहीं होता ॥२०॥ रागी मनुष्यको ही कर्म-बन्धन हो सकता है, पर जिसकी भावना रागसे रहित-वीतराग है, उसे कर्म-बन्धन नहीं हो सकता। यदि मेघ लगातार पानी बरसाता रहे, तो आकाशमें धूलि नहीं उड़ सकती ॥२१॥ इस जंगम और स्थावर जगत्में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे संसार समुद्रके बीचमें पड़े हुए जीवोंने न भोगा हो। जब भोगने योग्य वस्तु नहीं रही तो फिर क्या कारण है जो मनुष्य विषयोंमें अन्धा हो रहा है और सम्यग्दर्शन आदि मुक्तिके साधनोंसे पराङ्मुख होकर दुःखी हो रहा है ॥२२॥ जो जरासे विषयसुखके लोभमें फँसकर अन्तमें दुःख देनेवाले भोगोंकी ओर जाती हुई अपनी बुद्धिको नहीं लौटाता, वह खूब बढ़नेवाली संसार रूपी लताको कैसे नष्ट कर

१. क ख ग म रूपयति। २. श लेट्। ३. श लेट्। ४. आ स। ५. श न भुज्यते। ६. श 'प्रीतः' इति नास्ति। ७. एव टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु तु 'दुरन्तभोगाभिमुखां' इत्येव पाठो दृश्यते। ८.=न निवारयेत्। ९. आ प्रतितं। १०. आ प्रततिः।

मनुष्यजन्मेदमवाप्य दुर्लभं क्षयात्कथंचिन्मलिनस्य कर्मणः ।
भवाम्बुराशौ पुनरापदां पदे पतन्ति ते ये न हिते विजाग्रति ॥२४॥
यदीदमागन्तुकदुःखकारणं प्रशस्यते संसृतिसौख्यमज्ञकैः ।
तदा प्रशंसापदमेतदप्यहो विषान्वितस्यास्तु गुडस्य भक्षणम् ॥२५॥
निहत्य नूनं शमखड्गधारया निबन्धकानद्य कषायविद्विषः ।
वरीतुमिच्छोर्मम सिद्धिकामिनीं निबन्द्धुमीष्टे[1] जगतीह कः परः ॥२६॥
समुद्धतान्पापरिपून्हनिष्यतो वशं स्वकर्मप्रकृतीश्च नेष्यतः ।
तपोवनं प्रासवतोऽप्यखण्डितं तदेव राज्यं मम सिद्धिभागिनः ॥२७॥

युक्ताम् । कथं केन प्रकारेण । करिष्यति विधास्यति । डुकृञ् करणे लृट् । रूपकम् ॥२३॥ मनुष्येति । कथंचित् केनचित् प्रकारेण । मलिनस्य मलीमसस्य कष्टरूपस्य[2] इत्यर्थः । कर्मणः शुभाशुभरूपस्य[3] । क्षयात् नाशात् । दुर्लभं दुष्प्रापम् । इदं मनुष्यजन्म मनुष्यभवम् । अवाप्य लब्ध्वा । ये पुरुषाः । हिते मोक्षकारणे । न विजाग्रति[4] न विजागरिणो भवन्ति । ते पुरुषाः । पुनः पश्चात् । आपदाम् आपत्तीनाम् । पदे स्थाने । भवाम्बुराशौ भव एव संसार एव अम्बुराशिः समुद्रः, तस्मिन् । पतन्ति मज्जन्ति । पत्लृ गतौ लट् । रूपकम् ॥२४॥ यदिति । आगन्तुकदुःखकारणम् आगन्तुकस्य भविष्यतो दुःखस्य कारणं निमित्तम् । संसृतिसौख्यं संसृतेः संसारस्य सौख्यं सुखम् । अज्ञैः अज्ञानिजनैः । यदि प्रशस्यते प्रस्तूयते । तदा तर्हि । प्रशंसापदं प्रशंसायाः पदं स्थानम् । एतदपि इदम् (अपि स्यात्)— । विषान्वितस्य विषेण गरलेन अन्वितस्य युक्तस्य । गुडस्य[5] शर्करायाः । भक्षणं सेवनम् । अहो । (सविषस्य गुडस्य भक्षणमिव संसृतिसुखं न प्रशस्यते—इति भावः) । आक्षेपः (?) ॥२५॥ निहत्येति । विबन्धकान् प्रतिबन्धकान् । कषायविद्विषः कषाया एव क्रोधमानादय एव विद्विषः शत्रवः, तान् । शमखड्गधारया शम एव रागद्वेषनिवृत्तिपरिणाम एव खड्गधारा प्रहरणधारा तया । नूनं निश्चयेन । निहत्य संभिद्य[6] । अद्य इदानीम् । सिद्धिकामिनीं सिद्धिरेव मोक्ष एव कामिनी वनिता ताम् । वरीतुं परिणेतुम् । इच्छोः[7] वाञ्छितस्य । मम मे । इह जगति अस्मिन् लोके । निबन्द्धुं निरोद्धुम् । परः अन्यः । कः को वा । ईष्टे समर्थो भवति, न कोऽपि इत्यर्थः । रूपकम् ॥२६॥ समुद्धतानिति । समुद्धतान् गर्वितान् । पापरिपून् पापान्येव रिपवः शत्रवः, तान् । हनिष्यतः[8] हिंसिष्यतः । स्वकर्मप्रकृतीः स्वस्यात्मनः

सकेगा ? ॥२३॥ अशुभ कर्मके क्षयसे, बड़ी कठिनाईसे इस दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर जो लोग अपने हितकी ओर जागरूक नहीं रहते, वे आपत्तियोंके घर स्वरूप संसार सागरमें फिर जा गिरते हैं ॥२४॥ यह सांसारिक सुख भावी दुःखोंका कारण है, फिर भी मूर्ख लोग यदि इसकी प्रशंसा करें, तो विष मिले हुए गुडका भक्षण भी प्रशंसनीय होना चाहिए ॥२५॥ अब मैं क्रोधादि कषाय रूपी रोड़ा अटकानेवाले शत्रुओंको निश्चय ही शमता रूपी खड्गकी धारासे नष्ट करके मुक्ति-कान्ताका वरण करना चाहता हूँ । इस संसारमें फिर अन्य कौन शत्रु है, जो मुझे रोक सके ? ॥२६॥ जिस प्रकार मैं यहाँ रहकर उद्दण्ड शत्रुओंको मारता रहा, अपने कर्म-चारियों और प्रजाजनोंको अपने अधीन रखता रहा और मन, वचन और दैवी सिद्धिको प्राप्त करता रहा । इस तरह अखण्ड साम्राज्यका स्वामी रहा । इसी तरह तपोवनमें जाकर भी मैं अखण्ड साम्राज्यका स्वामी बना रहूँगा । वहाँ जाकर मैं उद्धत पाप रूपी शत्रुओंका हनन करूँगा—सभी पापोंका परित्याग कर दूँगा । चंचल मन वचन और कायकी प्रकृतिको अपने वशमें

१. आ इ विबन्धु° । २. =कष्टकरस्य । ३. =अष्टविधकर्मणः । ४. =दत्तावधाना न भवन्ति । ५. =गुडति रक्षतीति गुडः—इक्षुरसक्वाथः, तस्य । 'गुड इक्षुरसक्वाथः' इति हैमः । ६. आ संछिद्य । ७. =वाञ्छकस्य । ८. =नाशयतो निवारयतो वा ।

त्वमेव भोगामिषलोभ्यलोकयः कदर्थनीश्चित्त चिरं चतुर्गतीः ।
प्रशान्तिमायाहि ममाधुनापि कं[1] करिष्यसि क्लेशमतः परं परम् ॥२८॥
विवेकिनो जन्मविपत्तिभीरवो निरापदां संपदि बद्धचेतसः ।
अपीन्द्रियानीकजये यदीशते न मद्विधाः सिद्धिवधूरभर्तृका: ॥२९॥
निवर्तितात्मा विषयेभ्य इत्यसौ पुनर्भविष्यद्भवभारभीलुकः ।
चकार चित्तं चतुरस्तपोवने हितान्न योऽपैति स एव पण्डितः ॥३०॥

कर्मणां मनोवाक्कायव्यापाराणां प्रकृतीः स्वभावान्, पक्षे चतुरङ्गसेनामात्यादिप्रकृतीश्च । वशम्[2] अधीनम् । नेष्यतः यास्यतः । तपोवनं प्राप्तवतो गतवतोऽपि । सिद्धिभागिनः सिद्धिमात्मोपलब्धिं भागिनः आश्रयशीलस्य । मम मे । तदेव, अखण्डितं[4] निष्कण्टकम् । राज्यम्[5] । रूपकम् ॥२७॥ त्वमिति[6] । चित्त भो मानस । भोगामिषलोभि भोगेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु आमिषेण आसक्त्या लोभि वाञ्छासहितम् । कदर्थिनीः कद् कुत्सितोऽर्थः प्रयोजनमस्त्यासामिति तथोक्ताः । '..........'— इत्यादिना समासः । 'कोः कदचि' इति कुशब्दस्य कद्[7] आदेशः । चतुर्गतीः चतस्रश्च ता गतयश्च ताः । चिरं बहुकालपर्यन्तम् । [त्वम्] अवलोकयः अदर्शयः । अत एव तस्मात् कारणात् । परं परम् उत्कृष्टम् । 'वीप्सायाम्' इति[8] द्विः । कं क्लेशं[9] श्रमम् । करिष्यसि विधास्यसि । अधुनापि इदानीमपि । प्रशान्तिम् उपशमम् । आयाहि आगच्छ । या प्रापणे लोट्[10] ॥२८॥ विवेकिन इति । जन्मविपत्तिभीरवः जन्म जननं विपत्तिर्मरणं ताभ्यां भीरवः—बिभ्यतीत्येवंशीलाः भयशीलाः-इत्यर्थः 'भ्यः क्रु—' इत्यादिना क्रु-प्रत्ययः । विवेकिनः हेयोपादेयविवेकयुक्ताः । निरापदाम् । आपद्रहितानां सिद्धानाम्—इत्यर्थः[11] । संपदि संपत्तौ । बद्धचेतसः बद्धं संबद्धं चेतश्चित्तं येषां ते । मद्विधा. मम सदृशः । इन्द्रियानीकजये इन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणामनीकस्य जयेऽपि विजयेऽपि । नेशते समर्था न भवन्ति । (तत्) सिद्धिवधूः । मोक्षवनिता । अभर्तृका पतिरहिता भवति । मम समान (नाः) सत्पुरुषा इन्द्रियजये कृतयत्ना न भवन्ति चेद् मोक्षस्य गन्तारो न सन्ति तस्मान्मोक्षवनितायाः पतिरहितत्वम्—इत्यर्थः ॥२९॥ निवर्तितेति । विषयेभ्यः पञ्चेन्द्रियविषयेभ्यः । इति एवं प्रकारेण । निवर्तितात्मा निवर्तितो निवारित आत्मा स्वरूपं यस्य सः । चतुरः प्रौढः । असौ जीवः । पुनः पश्चात् । भविष्यद्भवभारभीलुकः भविष्यत एष्यतो भवस्य संसारस्य भाराद् भीलुको बिभेतीत्येवंशीलः । 'भ्यः क्रु—' इत्यादिना क्लुक-प्रत्ययः । तपोवने तपोऽनुष्ठाने । चित्तं मानसम् । चकार करोति स्म । यः पुरुषः । हितात् सन्मार्गात् । नापैति

करूँगा । ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतियोंको अपने अधीन बनाऊँगा । आत्माके शुद्ध स्वरूपकी सिद्धि प्राप्त करूँगा । इस प्रकार घरकी तरह तपोवन भी मुझे सुखदायी सिद्ध होगा ॥२७॥ रे मन ! भोगोंकी आसक्तिमें फँसकर तूने दुःख देनेवाली चारों गतियोंको चिरकाल तक देखा है । तू अब भी शान्त हो जा । मेरे लिए इससे भी बढ़कर और कौन सा क्लेश उत्पन्न करेगा ? ॥२८॥ हेय और उपादेयको जाननेवाले, जन्म और जरासे डरनेवाले और हृदयसे मुक्त जीवों-की रत्नत्रय रूप सम्पत्तिको चाहनेवाले मुझ जैसे लोग भी यदि इन्द्रियोंकी सेनाको जीतनेमें समर्थ नहीं होसकते तो कहना चाहिए कि मुक्ति कन्या कुंवारी ही रह जायगी ॥२९॥ इस तरह अजितसेनका मन विषयोंसे विमुख हो गया और उसे भावी जन्मपरम्परा बोझ मालूम पड़ने लगी । फलतः वह उससे डरने लगा । फिर उस चतुर चक्रवर्तीने तपोवन जानेका विचार कर लिया । यह उसने ठीक ही किया; क्योंकि जो हितके मार्गसे दूर नहीं भागता वही पण्डित

१. आ इ कि । २. = अधीनताम् । ३. = नयतः । ४. = सकलम् । ५. = संपत्स्यते, इतिशेषः । ६. श तमिति । ७. श 'कद्' इति नास्ति । ८. श 'इति' इति नोपलभ्यते । ९. = पीडाम् । १०. श लिट् । ११. श 'सिद्धानाम्—इत्यर्थः' इति नास्ति ।

विहर्तुमत्रावसरे समागतं महीपतिर्भूरिगुणं गुणप्रभम् ।
सवृन्दमज्ञानतमस्तमोरिपुं मुनीन्द्रमुद्यानचरादबुद्ध सः ॥३१॥
निशम्य तस्यागमनं स पावनं[1] शिवंकरोद्यानमुपेत्य तस्थुषः ।
मुदाभ्युदस्थादचिरेण विष्टरात्कृती कृतार्थोऽहमिति ब्रुवन्वचः ॥३२॥
जनेन पौरेण वृतः पुरादसौ निरित्य[2] तद्धाम जगाम भूमतिः ।
प्रचालयन्धर्मकथां समं नृपैः समन्वितैः[3] संसृतिदुःखभीरुभिः ॥३३॥
गतस्य तस्योपवने[4] वनेचरो निदर्शयामास समुत्कचेतसः ।
विविक्तमत्यन्तमजन्तुकं शुचिं महामुनेराश्रममाश्रितं श्रिया ॥३४॥

नापयाति । स एव, पण्डितः विवेकी । अर्थान्तरन्यासः ॥३०॥ विहर्तुमिति । अत्र अस्मिन् । समये वैराग्यभावनाप्रस्तावे । सः महीपतिः चक्रवर्ती । विहर्तुं विहारार्थम् । समागतं समायातम् । भूरिगुणं भूरयो बहुला गुणा यस्य तम् । सवृन्दं वृन्देन मुनिसन्दोहेन सह वर्तते इति सवृन्दः, तम् । अज्ञानतमस्तमोरिपुम् अज्ञानमेव तमस्तिमिरं तस्य तमोरिपुं सूर्यम् । गुणप्रभं गुणैः प्रभातीति गुणप्रभः, तं गुणप्रभनामधेयम् । मुनीन्द्रं मुनिपतिम् । उद्यानचरात् उद्याने चरतीत्युद्यानचरः, तस्मात्, वनपालकात्-इत्यर्थः । अबुद्ध अबुध्यत । बुधि मनि ज्ञाने लुङ् । जातिः ॥३१॥ निशम्येति । शिवंकरोद्यानं शिवंकरम् इति (नामकम्) उद्यानम् । उपेत्य आगत्य । तस्थुषः अध्युषितः । तस्थौ इति तस्थिवान् तस्य तस्थुषः । 'लिटः क्वसुकानौ' इति क्वसुः । तस्य गुणप्रभस्य । महामुनेः महामुनीशस्य । आगमनम् आयानम् । निशम्य श्रुत्वा । अहं कृतार्थः कृतः संपूर्णोऽर्थः प्रयोजनं यस्य सः कृतकृत्य इत्यर्थः । इति एवम् । वचः वचनम् । ब्रुवन् भाषमाणः । मुदा संतोषेण । अचिरेण शीघ्रम् । विष्टरात् सिंहासनात् । अभ्युदस्थात् अभ्युदतिष्ठत् । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लुङ् ॥३२॥ जनेनेति । पौरेण पुरे भवेन[5] । जनेन लोकेन । वृतः परिवेष्टितः । असौ भूपतिः अजितसेनचक्री । पुरात् नगरात् । निरित्य[6] निर्गत्य । धर्मकथां धर्मस्य रत्नत्रयात्मकधर्मस्य कथां प्रसङ्गम् । प्रचालयन् विस्तारयन् प्रवर्तयन् वा । शमान्वितैः शमेन मध्यस्थपरिणामेनान्वितैर्युक्तैः । संसृतिदुःखभीरुभिः संसृतेः संसाराज्जाताद् दुःखात् कष्टाद् भीरुभिर्भयशीलैः । नृपैः भूपतिभिः । समं साकम् । तद्धाम तस्य मुनेर्धाम स्थानम् । जगाम गच्छतिस्म । गम्लृ गतौ लिट् ॥३३॥ गतस्येति । उपवने आरामे । गतस्य यातस्य । समुत्कचेतसः समुत्कं समुत्सुकं चेतश्चित्तं यस्य तस्य । तस्य चक्रिणः । वन (ने) चरः वनपालकः । विविक्तम् एकान्तम् । अजन्तुकं निर्जन्तुकम् । शुचिं पवित्रम् । अत्यन्तं नितान्तम् । श्रिया शोभया । आश्रितं सेवितम् । महामुनेः गुणप्रभ-

कहलाता है ॥३०॥ इसी अवसरपर राजा अजितसेनको वनपालसे पता लगा कि विहार करनेके लिए एक महा गुणी और अज्ञान अन्धकारको मिटानेके लिए सूर्यकी बराबरी करनेवाले आचार्य गुणप्रभ अपने संघके साथ उद्यानमें पधारे हैं ॥३१॥ शिवंकर नामक उद्यानमें पधारकर वहीं ठहरनेवाले मुनि राजगुणप्रभके पुनीत आगमनके शुभ समाचार सुनकर बुद्धिमान राजा अजितसेन 'मैं कृतकृत्य हो गया' ये वचन बोलता हुआ बड़ी प्रसन्नतासे तुरन्त ही अपने आसनसे उठकर खड़ा हो गया ॥३२॥ पुरवासियोंसे घिरा हुआ राजा अजितसेन अपने नगरसे निकलकर शान्त परिणामवाले और सांसारिक दुःखोंसे डरनेवाले राजाओंके साथ धर्मचर्चा करता हुआ शिवंकर नामक उद्यानमें पहुँचा, जहाँ मुनिराज पधारे हुए थे ॥३३॥ तपोवनमें पहुँचकर राजाका मन मुनिराजके दर्शनोंके लिए और भी अधिक उत्सुक हो उठा। तब मालीने उसे मुनिराजके आश्रमके दर्शन कराये, जो एकान्त, जीव-जन्तुओंसे रहित, पवित्र और प्राकृ-

१. आ द तस्यागमनं महामुनेः । २. आ द निरीत्य । ३. आ द शमान्वितैः । ४. क ख ग घ म °वने महीपतिः° । ५. आ 'पुरे भवेन' इति नास्ति । ६. श निरीत्य ।

गृहीतयोगं तपसा कृशीकृतं ददर्श कंचिन्मुनिमातपस्थितम् ।
दिवाकरांशुप्रकरैकलक्ष्यतां प्रयातमुन्मूलितमोहविद्विषम् ॥३५॥
प्रभावनायां जिनवर्त्मनो रतं विशुद्धसिद्धान्तपयोधिपारगम् ।
समुद्यतं धर्मकथाप्रवर्तने यतिं धरित्रीपतिरैक्षतापरम् ॥३६॥
नयप्रमाणांशुभिरुज्ज्वलात्मभिः प्रवादिखद्योतचयं पराभवम् ।
नयन्तमुद्द्योतितलोकमैक्षत प्रजापतिः कंचन साधुभास्करम् ॥३७॥
त्रिकालमध्यस्थमनन्यगोचरं परोक्षवस्तूपदिशन्तमञ्जसा ।
स्वमार्गमाहात्म्यनिदर्शनोद्यतं व्यलोकतान्यं स नृपस्तपोधनम् ॥३८॥

मुनीन्द्रस्य । आश्रमं स्थानम् । निदर्शयाभास दर्शयतिस्म । दृशृ[2] प्रेक्षणे णिजन्ताल्लिट् ॥३४॥ गृहीतेति । [गृहीतयोगं] गृहीतः प्रशस्तो योगो ध्यानं यस्य (येन) तम् । तपसा बाह्याभ्यन्तररूपतपसा । कृशीकृतं प्रागकृश इदानीं कृशः क्रियते स्म कृशीकृतः, तं सूक्ष्मीकृतम् । 'कर्मकर्तृभ्याम्—' इत्यादिना च्विः । 'च्वौ चानव्ययस्य—' इति ईकारः । आतपस्थितम् आतपे आतपयोगे स्थितम् । दिवाकरांशुप्रकरैकलक्ष्यतां 卐 दिवा[3] दिवसं करोतीति दिवाकरः । 'दिवा [-विभा-] निशा—' इत्यादिना दिवा शब्दात् परात् करोतेः ष—(ट—) प्रत्ययः, दिवाकरस्य सूर्यस्यांशूनां किरणानां प्रकरस्य निवहस्य एकां मुख्यरूपां लक्ष्यतां卐 लक्ष्यत्वम् । प्रयातं गतम्[4] । उन्मूलितमोहविद्विषम् उन्मूलितः समूलमुद्धूतो मोह एव विद्विट् शत्रुर्येन तम् । कंचिन्मुनिम् एकं मुनीशम् । ददर्श पश्यति स्म । दृशृ[5] प्रेक्षणे लिट् । जातिः ॥३५॥ प्रभावनायामिति । जिनवर्त्मनः जिनमार्गस्य । प्रभावनायां प्रवर्धने[6] । रतं तत्परम् । विशुद्धसिद्धान्तपयोधिपारगं विशुद्धो निर्मलः सिद्धान्तः परमागमः स एव पयोधिः समुद्रः तस्य पारगं पारदृश्वानम् । धर्मकथाप्रवर्तने धर्मस्य रत्नत्रयात्मकस्य कथायाः प्रसङ्गस्य प्रवर्तने करणे । समुद्यतं सप्रयत्नम् । अपरम् अन्यम् । यतिं मुनिम् । धरित्रीपतिः भूमिपतिः । ऐक्षत ददर्श । ईक्ष दर्शने लङ् । रूपकम् ॥३६॥ नयेति । उज्ज्वलात्मभिः निर्मलस्वरूपैः । नयप्रमाणांशुभिः नया नैगमादयः प्रमाणे प्रत्यक्षपरोक्षे तान्येवांशवः किरणाः तैः । प्रवादिखद्योतचयं प्रवादिनो मिथ्यवादिनस्त एव खद्योता ज्योतिरिङ्गणास्तेषां चयं समूहम् । पराभवं तिरस्कारम् । नयन्तं प्रापयन्तम् । उद्योतितलोकम् उद्योतितः प्रकाशितो लोको येन तम् । कंचन एकम् । साधुभास्करं साधुर्मुनिः स एव भास्करः सूर्यः, तम् । प्रजापतिः जनपतिः । ऐक्षत अपश्यत् । श्लेषो रूपकञ्च ॥३७॥ त्रिकालेति । त्रिकालमध्यस्थं त्रयाणां भूतभविष्यद्वर्तमानरूपाणां कालानां समयानां मध्यस्थं मध्ये वर्तमानम् । अनन्यगोचरम् अन्येषामज्ञानिनामगोचरमविषयम् । परोक्षवस्तु परोक्ष-

तिक शोभासे युक्त था ॥३४॥ वहाँ अजितसेनने किसी मुनिको आतप योगमें स्थित देखा, जो ध्यानमग्न थे; तपस्यासे कृशकाय थे; जिनके ऊपर सूर्यकी किरणें पड़ रहीं थीं—जो धूपमें बैठे हुए थे और जिन्होंने मोह रूपी शत्रुकी मूलसे नष्टकर दिया था—जो निर्मोह थे ॥३५॥ राजा अजितसेनने एक अन्य साधुको जिन मार्गकी प्रभावनामें तत्पर देखा, जो निर्मल आगम रूपी समुद्रके पारगामी थे और धार्मिक चर्चा चलानेके लिए सदा तैयार रहा करते थे ॥३६॥ चक्रवर्ती अजितसेनने किसी साधुको सूर्यकी बराबरी करते देखा—जिस प्रकार सूर्य अपनी उज्ज्वल किरणोंसे जुगुनुओंको हतप्रभ कर देता है और समस्त लोकको प्रकाशितकर देता है, इसी प्रकार वे मुनिराज नैगम आदि नय और प्रत्यक्ष आदि प्रमाण रूपी उज्ज्वल किरणोंसे अन्यवादी रूपी जुगुनुओंको परास्त करके सारे संसारको ज्ञानका प्रकाश देकर आलोकित कर रहे थे ॥३७॥ अजितसेनने अन्य साधुको त्रिकालवर्ती, दूसरोंके द्वारा अज्ञात तथा परोक्ष

१. अ क ख ग म प्रयान्तं । २. आ दृशिर् । ३. श स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ४. श 'प्रयातं गतम्' इति नास्ति । ५. आ दृशिर् । ६. श प्रवर्धमाने ।

अनेकचेष्टैरिति पर्युपासितं तपस्विवृन्दैरविनिन्द्यवृत्तिभिः ।
नरेश्वरस्तं प्रणिपत्य योगिनामधीश्वरं स्तोतुमिति प्रचक्रमे ॥३९॥
मनस्विभिर्नाथ भवान्भवान्तकृद्विचिन्त्यते यः क्षणमात्मवेदिभिः ।
व्रजन्ति तेऽप्यात्तशुभाः कृतार्थतां कृतार्थ दृष्टे त्वयि का विचारणा ॥४०॥
जगन्महामोहतमःपटावृतं कुदृष्टिसेवापरिवृद्धविभ्रमम् ।
कथं विबुध्येत तवांशुमालिनो न संचरेयुर्यदि वाङ्मरीचयः ॥४१॥

मतीन्द्रियं वस्तु पदार्थम् । अञ्जसा साकल्येन[1] यथास्वरूपेण (यथास्वरूपं) वा । उपदिशन्तं निरूपयन्तम् । स्वमार्गमाहात्म्यनिदर्शनोद्यतं स्वस्य मार्गस्य वर्त्मनः[2] माहात्म्यस्य सामर्थ्यस्य[3] निदर्शने प्रकाशने उद्यतमुद्युक्तम् । अन्यं पुनरेकम् । तपोधनं तप एव धनं यस्य तम् । सः नृपः चक्रवर्ती । व्यलोकत ऐक्षत । लोकृङ्[4] दर्शने लङ् । रूपकम् ॥३८॥ अनेकेति । इति उक्तप्रकारेण । अनेकचेष्टैः[5] अनेकैः स्वाध्यायादिभिश्चेष्टैर्व्यापारैः । अनिन्द्यवृत्तिभिः अनिन्द्या स्तुत्या वृत्तिर्वर्तनं येषां तैः । तपस्विवृन्दैः तपस्विनां मुनीनां वृन्दैः समूहैः । पर्युपासितं पूजितम् । योगिनां मुनीनाम् । अधीश्वरम् अधिपतिम् । तं गुणप्रभमुनीश्वरम् । प्रणिपत्य प्रणम्य । नरेश्वरः नरनाथः । स्तोतुं स्तुतिं कर्तुम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । प्रचक्रमे प्रारभते स्म । क्रमू पादविक्षेपे लिट् । 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इति तङ् । अतिशयः[6] (?) ॥३९॥ मनस्वीति । कृतार्थ कृतो निष्पन्नोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत्संबोधनं (तत्संबुद्धौ) भो निष्पन्नप्रयोजन (कृतकृत्य इति यावत्) । नाथ स्वामिन् । भवान्तकृत् भवस्य संसारस्यान्तोऽवसानं तं करोतीति तथोक्तः । भवान् पूज्यस्त्वम् । मनस्विभिः सम्यग्ज्ञानिभिः । आत्मवेदिभिः स्वरूपज्ञैः । यैः पुरुषैः । क्षणं स्वल्पकालपर्यन्तम् । विचिन्त्यते ध्यायते[7] (ध्यायते) इत्यर्थः । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः । तेऽपि पुरुषाः[8] । अपि शब्दोऽनिर्धारणार्थः । आत्तशुभाः आत्तं स्वीकृतं शुभं पुण्यं यैस्ते स्वीकृतपुण्याः भूत्वा । कृतार्थतां निष्पन्नप्रयोजनत्वम् । व्रजन्ति गच्छन्ति । व्रज गतौ लट् । त्वयि भवति । दृष्टे विलोकिते सति । का विचारणा को वा विचारोऽस्ति—इत्यर्थः[9] । तव स्मरणमात्रेण सर्वे कृतपुण्या भवन्ति, त्वद्दर्शनेन तु[10] शुभा[11] भूरिपुण्या भवन्ति—इत्यभिप्रायः ॥४०॥ जगदिति । महामोहतमःपटावृतं महान् मोहोऽज्ञानं स एव तमांसि तेषां पटो निवहः तेनावृतमारुद्धम् । कुदृष्टिसेवापरिवृद्धविभ्रमं कुदृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां सेवया आश्रयेण परिवृद्धः प्रवृद्धो विभ्रमो भ्रान्तिर्यस्य तत् । जगत् लोकं (कः) । अंशुमालिनः सूर्यस्य । तव ते । वाङ्मरीचयः वाच एव

पदार्थोंका वास्तविक उपदेश देते, एवं साधु मार्गके महत्त्वको प्रकट करनेमें तत्पर रहते देखा ॥३८॥ इस प्रकारकी प्रशस्त चेष्टाओंसे युक्त और श्लाघ्य वृत्तिवाले मुनि सङ्घसे पूजित उन गुणप्रभ नामके योगिराट्-आचार्यको प्रणाम करके राजा अजितसेनने उनकी स्तुति इस प्रकारसे शुरू की—॥३९॥ हे नाथ; जो आत्मज्ञानी मनस्वी भव परम्पराको नष्ट करनेवाले आपका क्षण-भर भी ध्यान कर लेते हैं, वे भी शुभ परिणामोंको प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं, फिर हे कृतकृत्य ! आपके दर्शन कर लेने पर तो विचार ही क्या करना है ? क्षण-भर ध्यान करनेवाले भी जब कृतकृत्य हो जाते हैं, तो साक्षात् दर्शन करनेवालोंकी कृतकृत्यताका होना तो सुतरां सिद्ध है । इसमें विचार करनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥४०॥ जिसके ऊपर महामोहके अन्धकारका पर्दा पड़ा हुआ है और जिसे मिथ्यादृष्टियोंकी सेवा करनेसे भ्रम बढ़ गया है, वह जगत्, बोधको कैसे प्राप्त करता, यदि आप सरीखे मुनि-सूर्यकी वाणी रूपी किरणोंका

१. श सामर्थ्येन । २. श वर्तनस्य । ३. आ 'सामर्थ्यस्य' इति नास्ति । ४. आ लोकृ । ५. = अनेका नाना चेष्टा व्यापारा येषां तैः । ६. आ 'अतिशयः' इति नास्ति । ७. आ ध्ययते । ८. श पूरुषाः । ९. श विचारः को वा, विचारणा नास्ति—इत्यर्थः । १०. श 'तु' इति नास्ति । ११. आ 'शुभा' इति नास्ति ।

निराश्रयाणां पततामधोगतावसि त्वमालम्बनमीश देहिनाम् ।
त्वमेव सोपानपथः स्थिराश्रयो[1] विमुक्तिसौधाग्रभुवं यियासताम् ॥४२॥
स्वभावजैः क्षान्तिदयादमादिभिः परिस्फुटत्कुन्दसमानकान्तिभिः ।
प्रकाशितं विश्वममेयतां गतैस्त्वया गुणैश्चन्द्रमसा च रश्मिभिः ॥४३॥
जगत्यमुष्मिन्दिवसाधिपोपम त्वदीयवाग्भासुररश्मिभासिते ।
न मार्गशुद्धिर्हतकैरलम्भि यैर्न तैर्न घूकायितमत्र जन्तुभिः ॥४४॥
विभिन्दतो हार्दमनेकजन्मजं तमस्तवाशेषजगद्गुरोर्नयैः ।
विलोकितं वक्त्रमपूर्वभास्वतो वृथैव तेषां बत जन्म जन्मिनाम् ॥४५॥

वचनान्येव मरीचयः कान्तयः । यदि न संचरेयुः न व्याप्नुयुः । चर गतिभक्षणयोर्लिङ्[2] । कथं केन प्रकारेण । विबुध्येत जानीयात् । बुधि मनि ज्ञाने लिङ्[3] ॥४१॥ निराश्रयाणामिति । ईश भोः स्वामिन् । अधोगतौ नरकगतौ । पततां निमज्जताम् । निराश्रयाणां निराधाराणाम् । देहिनां जीवानाम् । त्वं प्रलम्बनम् [त्वम् आलम्बनम्] आधारः । असि भवसि । अस भुवि लट् । विमुक्तिसौधाग्रभुवं विमुक्तिर्मोक्षः स एव सौधो मन्दिरं तस्याग्रभुवमग्रभूमिम् । यियासतां यातुमिच्छताम् । स्थिराश्रयः स्थिराधारः । सोपानपथः सोपानस्यारोहणस्य पन्थाः मार्गः । 'ऋक्पूः पथ्यपोऽत्' इति अत्[4]—प्रत्ययः । त्वमेव भवानेव । रूपकम् ॥४२॥ स्वभावेति । स्वभावजैः निसर्गजैः । परिस्फुटत्कुन्दसमानकान्तिभिः परिस्फुटतो विकसतः कुन्दस्य कुन्दपुष्पस्य समाना सदृशी कान्तिर्द्युतिर्येषां तैः । अमेयतां संख्यारहितत्वम् । गतैः यातैः । क्षान्तिदयादमादिभिः क्षान्तिश्च दया च दमश्च तथोक्ताः त एव आदयो (आदौ) येषां तैः । गुणैः । त्वया भवता । रश्मिभिः किरणैः । चन्द्रमसा चन्द्रेण च । विश्वं सर्वम् । प्रकाशितं विभासितम् । तुल्ययोगिता ॥४३॥ जगतीति[5] । दिवसाधिपोपम दिवसाधिपस्य सूर्यस्योपम समान (उपमा साम्यं यस्य तत्संबुद्धौ हे दिवसाधियोपम हे सूर्यसमान) । त्वदीयवाग्भासुररश्मिभासिते त्वदीयायाः तव संबन्धायाः[6] वाचो वचनस्य भासुरेण प्रकाशनशीलेन रश्मिना भासिते प्रकाशिते (त्वदीयवाग्भिरेव भासुररश्मिभिर्भासिते) । जगति लोके । हतकैः निकृष्टैः । यैः, मार्गशुद्धिः मार्गस्य रत्नत्रयात्मकस्य शुद्धिर्नैर्मल्यम् । न अलम्भि न लभ (न्थ) ते स्म ।[7] डुलभिष् प्राप्तौ लुङ् । तैः जन्तुभिः प्राणिभिः । अत्र अस्मिन् त्वयि । न घूकायितं, न घूकवदाचरितम् (इति) न, किन्त्वाचरितमेव । उपमा ॥४४॥ विभिन्दत इति । अनेकजन्मजम् अनेकजन्मजातम् । हार्दं हृदयसंभवम् । तमः तिमिरम् । विभिन्दतः छिन्दतः[8] । अशेषजगद्गुरोः अशेषस्य सकलस्य जगतो लोकस्य गुरोः श्रेष्ठस्य ।

सञ्चार न हुआ होता तो ॥४१॥ हे ईश ! किसीका आश्रय न मिलनेसे अधोगतिमें गिरनेवाले प्राणियोंको तुम ही आश्रय हो और मुक्ति महलके ऊपरी सिरे तक पहुँचनेकी अभिलाषा करनेवालोंको तुम ही मजबूत सोपानमार्ग-सीढ़ी हो ॥४२॥ मुनिवर ! आपने अपने स्वाभाविक, विकसित होनेवाले कुन्दपुष्पके समान निर्मल, तथा अगणित क्षमा, दया और दम आदि गुणोंसे पूरे विश्वको प्रकाशित किया है और चन्द्रमाने अपनी स्वाभाविक, विकसित होनेवाले कुन्द पुष्पके समान शुभ्र एवं अगणित किरणोंसे समूचे विश्वको प्रकाशित किया है ॥४३॥ हे मुनीन्द्र ! आप सूर्यके समान हैं। आपने अपनी वाणी रूपी देदीप्यमान किरणोंसे इस जगत्को प्रकाशित कर दिया है, किन्तु फिर भी जिन अभागे प्राणियोंने रत्नत्रय रूप मार्गकी निर्मलता नहीं प्राप्तकी, उन्होंने उल्लूका-सा आचरण नहीं किया, यह बात नहीं है ॥४४॥ हे आचार्यवर्य ! जीवोंके हृदयमें भरे हुए अनेक जन्मोंके पाप या अज्ञानके अन्धकारको नष्ट करनेवाले,

१. अ म स्थिरश्रियो°; क ख ग स्थिरा श्रियो° । २. श लेट् । ३. श लेट् । ४. श अ-प्रत्ययः । ५. आ जगदिति । ६. = तव संबन्धिन्याः । ७. = नालाभि । ८. आ भिन्दतः ।

अपायमुक्तां पदवीं परे न यां चिरादपि प्रापयितुं परिक्षमाः ।
त्वदाश्रयस्तामचिरेण लम्भयन्करोति नश्चेतसि नाथ विस्मयम् ॥४६॥
कषायनाम्नां विजयेन वैरिणामनश्वरश्रीप्रतिबन्धकारिणाम् ।
तवेश यः प्रादुरभून्महोदयो भवादृशामेव गिरां स गोचरः ॥४७॥
स्तुतिं विधायेति मुनेर्मनोहरां पुरो निषण्णे विनयेन भूपतौ ।
सविग्रहप्रश्रयपुञ्जशङ्किनां निपेतुरक्षीणि समं तपोभृताम् ॥४८॥
प्रवृत्तसंभाषणयोर्मिथस्तयोरुदंशुदन्तद्युतिदीपिताशयोः ।
धृतैकचन्द्रद्युजिगीषया स्वयं मही तदा द्वीन्दुरिव व्यजायत ॥४९॥

अपूर्वभास्वतः अपूर्वस्य नूतनस्य भास्वतः सूर्यस्य । तव ते । वक्त्रं मुखम् । यैः न विलोकितं न निरीक्षितम् । तेषां जन्मिनां जीवानाम् । जन्म जीवनम् । वृथैव निष्फलमेव । बत हन्त । उपमा (व्यतिरेकः) ॥४५॥ अपायेति । अथ अनन्तरम् । परे अन्ये । अपायमुक्ताम् अपायेन बाधया मुक्तां रहिताम्[1] । यां पदवीं स्थानम्[2] । चिरादपि बहुकालादपि । प्रापयितुं[3] यापयितुम् । परिक्षमाः समर्थाः । न=न भवन्ति । त्वदाश्रयः[4] त्वदाश्रययुक्तः । तां पदवीम् । अचिरेण शीघ्रम् । लम्भयन्[5] प्राप्नुवन् । नः अस्माकम् । चेतसि चित्ते । विस्मयम् आश्चर्यम् । करोति विदधाति । डुकृञ् करणे लट् ॥४६॥ कषायेति । ईश भो नाथ । कषायनाम्नां कषाय इति नाम येषां तेषाम् । अनश्वरश्रीप्रतिबन्धकारिणाम् अनश्वरश्रियो मोक्षसम्पदः प्रतिबन्धं[6] प्रतिकूलं कुर्वन्तीति प्रतिबन्धकारिणः, तेषाम् । वैरिणां शत्रूणाम् । विजयेन जयेन । तव ते । यः महोदयः अभ्युदयः । प्रादुरभूत् प्रकटोऽभवत् । भू सत्तायां लुङ् । सः, भवादृशामेव भवानिव प्रदृश्यन्ते ते भवादृशः, तेषामेव, त्वादृशामेव—इत्यर्थः । 'त्यदादि—' इत्यादिना भवच्छब्दाद् दृशेः क्षि[7] । 'आद्यद्—' इत्यादिना दीर्घः । गिरां वाचाम् । गोचरः विषयो भवति । अतिशयः ॥४७॥ स्तुतिमिति । इति उक्तप्रकारेण । मुनेः गुणप्रभमुनेः । मनोहरां मनोहररूपाम् । स्तुतिं स्तोत्रम् । विधाय विरचय्य । विनयेन ज्ञानादिविनयेन । पुरः अग्रे । निषण्णे उपविष्टे । भूपतौ क्षितिपतौ । सविग्रहप्रश्रयपुञ्जशङ्किनां विग्रहेण देहेन सह विद्यमानानां प्रश्रयाणां[8] विनयानां पुञ्ज इति राशिरिति शङ्किनां शङ्कायुक्तानाम् । तपोभृतां यतीनाम् । अक्षीणि नयने । समं युगपत् । निपेतुः[9] चिक्षिपतुः । पत्लृ गतौ लिट् । सहोक्तिः ॥४८॥ प्रवृत्तेति । उदंशुदन्तद्युतिदीपिताशयोः

सारे संसारको धर्मोपदेश देनेवाले और इसीलिए अपूर्व सूर्यके रूपमें प्रकट होनेवाले आपके मुखका जिन्होंने दर्शन नहीं किया, उन जीवोंका जन्म व्यर्थ ही है । यह बड़े ही खेदकी बात है ! ॥४५॥ हे नाथ ! सारी बाधाओंसे रहित एवं नित्य जिस मुक्तिपदवीको अन्य लोग चिरकालमें भी प्राप्त नहीं करा सकते, उसीको तुम्हारा आश्रय शीघ्र ही प्राप्त करवाकर हमारे मनमें आश्चर्य उत्पन्न कर रहा है ॥४६॥ मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्तिमें बाधा डालनेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ नामक शत्रुओंको जीत लेनेसे हे नाथ ! जो आपका महान् अभ्युदय प्रकट हुआ है, वह आप सरीखे महामुनियोंकी वाणीका विषय है—आप सरीखे विशिष्ट ज्ञानी मुनि ही उसका वर्णन कर सकते हैं ॥४७॥ इस तरह गुणप्रभ मुनिकी स्तुति—जो सबके मनको हरनेवाली थी—करके राजा अजितसेन उनके आगे विनय पूर्वक बैठ गया । उसे मूर्तिमान् विनय या विनयकी मूर्तिके रूपमें देखनेवाले मुनियोंकी दृष्टि एक ही साथ आकृष्ट हुई—सभी मुनि उसे एक ही साथ देखने लगे ॥४८॥ मुनिराज गुणप्रभ और राजा अजितसेनका

१. = निरपायां, नित्यामिति यावत् । २. = मुक्तिम् । ३. = लम्भयितुम् । ४. = तवालम्बनम् । ५. = प्रापयन् । ६. = प्रातिकूल्यम् । ७. आ क्विप् । ८. श यानाम् । ९. = पतितानि ।

महीभृतस्तस्य सतां प्रणायकः स धर्मवृद्धिं परिघुष्य पावनीम् ।
विलोकिताशेषमुखेन्दुरस्पृहो गुणानुरागाद् गिरमित्युपाददे ॥५०॥
निमित्तभावेन मदस्य भूयसो निसर्गतः पार्थिवता व्यवस्थिता ।
महानुभावे पुनरत्र सान्यथा प्रवर्तते पश्यत पश्यताद्भुतम् ॥५१॥
नयेन नृणां विभवेन नाकिनां गतस्पृहाणां विनयेन योगिनाम् ।
महीभुजामेष निजेन तेजसा तनोति चित्ते सततं चमत्कृतिम् ॥५२॥

उदंशूनाम् उद्गता बहिः (ऊर्ध्वं) गता अंशवः किरणा येषां तेषां दन्तानां रदनानां द्युत्या कान्त्या दीपिताः प्रकाशिता आशा दिशो ययोः[1] तयोः । तयोः मुनिपतिभूपत्योः । मिथः परस्परम् । प्रवृत्तसंभाषणयोः प्रवृत्तं[2] कृतं संभाषणं ययोः तयोः सतोः । धृतैकचन्द्रद्युजिगीषया धृतः संभृत एकश्चन्द्रो यस्या (यया) सा तथोक्ता, धृतैकचन्द्रा चासौ द्यौश्च तां जिगीषया जेतुमिच्छया, एकचन्द्रोपेताकाशं जेतुमिच्छया—इत्यर्थः । जि[4] अभिभवे तस्य सन्-प्रत्यये 'जे लिट् सनि' इति द्विर्भावे पूर्वात् परस्य कुः कवर्गादेशः । मही भूमिः । तदा तत्समये । द्वीन्दुरिव चन्द्रद्वयसहितेव । व्यजायत समभवत् । जनैङ्[5] प्रादुर्भावे लङ्[6] । उत्प्रेक्षा ॥४९॥ महीभृत इति । सतां सत्पुरुषाणाम् । प्रणायकः प्रभुः । विलोकिताशेषमुखेन्दुः विलोकिता वीक्षिता अशेषाणां सर्वेषां मुखानि वक्त्राण्येव चन्द्रा येन सः । अस्पृहः वाञ्छारहितः । सः गुणप्रभमुनीशः । तस्य महीभृतः अजितसेनचक्रिणः । पावनीं पवित्राम् । धर्मवृद्धिं धर्मवृद्धिरस्तु—इत्याशिषम् । [परिघुष्य] संघुष्य निरूप्य । गुणानुरागात् गुणप्रीत्याः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । गिरं वाचम् । उपाददे उवाच । डुदाञ् दाने लिट् । रूपकम् ॥५०॥ निमित्तेति । निसर्गतः स्वभावतः । भूयसः बहुलस्य । मदस्य गर्वस्य । निमित्तभावेन कारणस्वरूपेण । पार्थिवता भूमिपतित्वम् । व्यवस्थिता[7] विक्षिप्ता । अत्र चक्रेश्वरे । महानुभावे[8] महासामर्थ्येन युक्ते । त्वयि, पुनः पश्चात् । सा पार्थिवता । अन्यथा [9]मदनिमित्ताभावेन । प्रवर्तते विद्यते । वृतुङ् प्रवर्तने लट्[10] । (इति) अद्भुतम् आश्चर्यम् । पश्यत पश्यत वीक्षध्वं वीक्षध्वम्[11] । 'वीप्सायाम्' इति[12] द्विः ॥५१॥ नयेति । एषः अजितसेनचक्री । नृणां मनुष्याणाम् । चित्ते मनसि । नयेन नयगुणेन । नाकिनां देवानाम् । विभवेन ऐश्वर्येण । गतस्पृहाणां वाञ्छारहितानाम् । योगिनां मुनीनाम् । विनयेन विनयगुणेन । महीभुजां भूमिपतीनाम् ।

आपसमें वार्तालाप होने लगा। इस अवसरपर दोनोंके दाँतोंकी शुभ्र कान्तिसे सारी दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो केवल एक ही चन्द्रमाको धारण करनेवाले आकाशको जीतनेकी इच्छासे पृथ्वीने उस समय दो चन्द्रमा धारण कर लिये हों ॥४९॥ गुणप्रभ समस्त मुनियोंके नायक थे। वे निस्पृह थे। उन्होंने सभीके चेहरोंकी ओर दृष्टिपात किया, और राजा अजितसेनको 'धर्मवृद्धिरस्तु'—'धर्मकी वृद्धि हो' कहकर आशीर्वाद दिया। फिर उसके गुणोंके प्रति अनुराग होनेसे उन्होंने ये वचन कहे—॥५०॥ राजा होना स्वभावसे ही बहुत भारी मदका कारण है, यह बात बहुत पहलेसे ही निश्चित है। फिर भी इस प्रभावशाली चक्रवर्तीमें यह मदवाली बात बिलकुल विपरीत है—चक्रवर्ती होनेपर भी इसे (अजितसेनको) तनिक भी अहङ्कार नहीं है। देखो, देखो, यह कितने आश्चर्यकी बात है! ॥५१॥ यह अपनी नीतिसे मनुष्योंके, विभूतिसे देवोंके; विनयसे निस्पृह योगियोंके और प्रतापसे राजाओंके चित्तमें निरन्तर चमत्कार उत्पन्न कर रहा है—इसकी नीति, विभूति, विनय और प्रतापको देखकर क्या मनुष्य, क्या देव, क्या योगी और क्या राजे-महराजे सभीको आश्चर्य

१. आ द्युतिना कान्तिना (?) । २. = याभ्याम् । ३. = प्रारब्धम् । ४. श जि जि । ५. आ जनी । ६. श लिङ् । ७. = निश्चिता । ८. = महाप्रभावे । ९. श 'मद' इति नास्ति । १०. आ वृतु वर्तने लट् । ११. आ 'वीक्षध्वम्' इति नास्ति । १२. आ 'इति' नोपलभ्यते ।

तुलाव्यतीतो[1] विनयः क्व चेदृशः क्व सार्वभौमी प्रभुतेयमीदृशी ।
निषेव्यते सर्वगुणो गुणैरयं परस्परप्रीतिमुपागतैरिव ॥५३॥
न तादृशी स्वे विभवे न बान्धवे न चापि संसारसुखे मनोहरे ।
यथास्य चिन्ता परलोकसाधने हितानुबन्ध्याचरितं महात्मनाम् ॥५४॥
वदन्तमेवं तमुवाच भूपतिः समासतः प्रश्रयनम्रमस्तकः ।
यियासतस्तावकमेव धाम मे त्वदागमः पूर्वकृतैः कृतः शुभैः ॥५५॥
पदातिसार्था[2] विभवाश्च बान्धवा भवन्ति पाते शरणं न दुर्गतौ ।
समाकलय्येति मम प्रवर्तते त्वदीयसेवास्पृहमेव मानसम् ॥५६॥

निजेन स्वकीयेन । तेजसा प्रभावेण । सततम् अनवरतम् । चमत्कृतिम् आश्चर्यम् । तनोति करोति । तनूञ्[3] विस्तारे लट् । चित्ते—इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । दीपकः (कम्) ।.५२॥ तुलामिति[4] । तुलाव्यतीतः तुलया उपमया व्यतीतोऽतीतः । ईदृशः एतादृशः । 'त्यदादि—' इत्यादिना क्विं । विनयः विनयगुणः । क्व च कुत्र च । सार्वभौमी सार्वभौमस्य चक्रिणः संबन्धिनी, तयोक्ता । 'पृथिवी सर्वभूमिभ्यामञ्' इति अञ्-प्रत्ययः । इयम् एषा । ईदृशी एतादृशी । प्रभुता विभुत्वम् । क्व कुत्र । सर्वगुणः निखलगुणवान् । अयम् एषः । गुणैः विनयादिगुणैः । परस्परप्रीतिम् अन्योन्यप्रीतिम् । उपागतैरिव आयातैरिव । निषेव्यते आराध्यते । षेवृञ्[5] सेवने कर्मणि लट् । उत्प्रेक्षा ।।५३॥ नेति । अस्य चक्रिणः । परलोकसाधने परलोकस्य उत्तमगतेः साधने । यथा चिन्ता बुद्धिः । तादृशी तादृग्रूपा । स्वे स्वकीये । विभवे संपदि । न-न भवति । बान्धवे बन्धुजनेऽपि, न । मनोहरे मनोहररूपे । संसारसुखे सांसारिकसुखेऽपि च, न । न—इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । दीपकः (कम्) । महात्मनां महापुरुषाणाम् । आचरितम् आचरणम् । हितानुबन्धि हितानुसारि हि । अर्थान्तरन्यासः ।।५४॥ वदन्तमिति । एवम् उक्तप्रकारेण । वदन्तं ब्रुवन्तम् । तं मुनिपतिम् । प्रश्रयनम्रमस्तकः प्रश्रयेण विनयेन नम्रो नमनशीलो मस्तको यस्य सः । भूपतिः चक्रवर्ती । समासतः संक्षेपात् । उवाच ब्रवीति स्म । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । तावकं त्वदीयम् । 'युष्मदस्मदोऽञ् खञौ—' इत्यादिना अञ्, तद्योगे तवकादेशः । धामैव स्थानमेव । यियासतः गन्तुमिच्छोः । मे मम । त्वदागमः तवागमनम् । पूर्वकृतैः प्राग्जन्मकृतैः । शुभैः पुण्यैः । कृतः । अनुमितिः ।।५५॥ पदातीति । दुर्गतौ नरकादिदुर्गतौ । पाते पतने । पदातिसार्थाः पदातीनां भटानां सार्थाः समूहाः । विभवाश्च सम्पदश्च । बान्धवाश्च

हो रहा है ॥५२॥ कहाँ ऐसी अनुपम नम्रता और कहाँ सारे भूमण्डलकी ऐसी प्रभुता—ऐसी नम्रता और ऐसी प्रभुता किसी एक व्यक्तिमें नहीं हो सकती, केवल यही एक ऐसा व्यक्ति है, जिसमें परस्पर विरोधी ये दोनों गुण—नम्रता और प्रभुता दृष्टि-गोचर हो रहे हैं । इन गुणोंकी तरह इसमें और भी सभी गुण हैं, जिनको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है मानो सभी गुणोंमें एक दूसरेके प्रति प्रीति उत्पन्न हो जानेसे वे मिलकर इसकी सेवा करने लगे हों । ॥५३॥ अजितसेनको परलोक साधनेकी जैसी चिन्ता रहा करती थी, वैसी अपने वैभव, बन्धु-बान्धव और मनोहर सांसारिक सुखकी नहीं रहती थी । ठीक है, महात्माओंका आचरण हितका अनुसरण करनेवाला होता है ॥५४॥ इस प्रकार कहते हुए गुणप्रभसे राजा अजितसेन विनयसे सिर नवा कर संक्षेपमें यों बोला—मैं आपहीके स्थानमें—जहाँ इससे पहले आप थे—आना चाहता था, किन्तु मेरे पूर्वजन्मके शुभ कर्मके उदयसे आप स्वयं यहींपर पधार गये हैं॥५५॥ नरक आदि खोटी गतियोंमें गिरते समय सैनिक, वैभव और बन्धु-बान्धव रक्षा नहीं कर सकते, यह सोच करके

१. क ख ग घ म तुलां व्यतीं[०] । २. अ क ख ग घ म पदातिपूर्वा । ३. आ तनु । ४. आ श तुलेति । ५. आ षेवृ, श षीवृञ ।

प्रसीद नस्तद्वरदात्मदीक्षया यतः प्रसादो भवतः कियानपि ।
शुभं तनोत्याशु निहन्ति चाशुभं करोति किं वा न सतामनुग्रहः ॥५७॥
निवेदितान्तःकरणस्य भूभुजः परीक्षितुं साहसिकस्य साहसम् ।
तदीयवाञ्छाविनिवर्तनोचितं पतिर्मुनीनां पुनरित्यवोचत ॥५८॥
तपो वपुर्भिः कठिनैः सुदुष्करं यदर्जितं[1] साधुजनेन मादृशा ।
कथं सहेरन्सुकुमारमूर्तयो भवादृशाः कुङ्कुमलेपलालिताः ॥५९॥
दयावतो धर्मधनस्य धीमतामनिन्द्यवृत्तस्य परार्थसंपदः ।
चरित्रमेतद् गृहमेधिनोऽपि ते तपोभृतामाचरणान्न भिद्यते ॥६०॥

बन्धवश्च । शरणं रक्षणम् । न भवन्ति न सन्ति । भू सत्तायां लट् । इति एवम् । समाकलय्य विचार्य । मम मे । मानसं चित्तम् । त्वदीयसेवास्पृहमेव त्वदीयायै सेवायै स्पृहमेव वाञ्छितमेव (स्पृहा वाञ्छा यस्य तत्, भवदीयसेवाभिलाषि — इत्यर्थः) । प्रवर्तते विद्यते ॥५६॥ प्रसीदेति । तत् तस्मात् कारणात् । वरद भो इष्टदायक । अस्मदीक्षया[2] अस्माकमीक्षणेन (आत्मदीक्षया स्वदीक्षया, साधुदीक्षया—इत्यर्थः) । नः अस्माकम् ।प्रसीद प्रसन्नो भव । यतः, भवतः तव । प्रसादः कारुण्यम्[3] । कियानपि लघुरपि । 'घत्विदं किमः' इति घतु-प्रत्ययः । 'किमिदमः कीश्' इति कि- आदेशः[4] । आशु शीघ्रम् । शुभं पुण्यम् । तनोति करोति । तनूञ्[5] विस्तारे लट् । अशुभं पापम् । हन्ति निहिंसति । हन् हिंसागत्योर्लट् । सतां सत्पुरुषाणाम् । अनुग्रहः कारुण्यम् । किं वा किमिष्टम् । न करोति न विदधाति । अर्थान्तरन्यासः ॥५७॥ निवेदितेति । निवेदितान्तःकरणस्य निवेदितं विज्ञापितमन्तःकरणं यस्य[6] तस्य । साहसिकस्य समर्थस्य । भूभुजः भूमिपतेः । साहसं सामर्थ्यम् । परीक्षितुं परीक्षणाय । मुनीनां योगिनाम् । पतिः विभुः । तदीयवाञ्छाविनिवर्तनोचितं तदीयाया भूपसंबन्धिन्या वाञ्छाया दीक्षास्वीकाराभिलाषस्य[7] निवर्तने निराकरणे उचितं योग्यम् । वचनम्[8] । पुनः पश्चात् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अवोचत् अब्रवीत । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लुङ् । 'अस्ति ब्रुवो र्भूवचौ' इति वच-आदेशः ॥५८॥ तप इति । यत्, कठिनैः कर्कशैः । वपुर्भिः शरीरैः । सुदुष्करं कर्तुमशक्यम् । तपः बाह्याभ्यन्तररूपम् । मादृशा मम सदृशेन । साधुजनेन साधुरेव जनस्तेन मुनिजनेन । अर्जितं कृतम् । सुकुमारमूर्तयः सुकुमारा कोमला मूर्तिः शरीरं येषां ते, मृदुशरीराः इत्यर्थः । कुङ्कुमलेपलालिताः कुङ्कुमस्य काश्मीरजस्य लेपेन विलेपेन लालिता विराजिताः । भवादृशाः त्वादृशाः । 'त्यदादि—' इत्यादिना क्विप्रत्ययः । कथं केन प्रकारेण । सहेरन् सह्यासुः[9] । षहि मर्षणे लिङ् । विषमालङ्कारः ॥५९॥ दयेति । दयावतः कारुण्यवतः । धर्मधनस्य धर्म एव धनं यस्य तस्य । धीमतां बुद्धिमद्भिः । अनिन्द्यवृत्तस्य स्तुत्याचरितस्य ।

मेरा मन अब केवल आपकी सेवाके लिए ही लालायित है॥५६॥ इसलिए हे मनोरथको पूरा करनेवाले मुनिराज मुझपर प्रसन्न होइये, और मुझे जिनदीक्षा प्रदान कीजिए; क्योंकि आपका थोड़ा-सा भी प्रसाद कल्याणको बढ़ानेवाला और अकल्याणको नष्ट करनेवाला है। सन्त पुरुषोंका अनुग्रह क्या नहीं कर देता है ? ॥५७॥ इस तरह अपने मनोभावको व्यक्त करनेवाले साहसी राजा अजितसेनके साहसकी परीक्षा करनेके उद्देश्यसे मुनिराज गुणप्रभ उसकी इच्छाको बदलनेके लिए उचित रीतिसे पुनः यों कहने लगे—॥५८॥ राजन् ! मुझ सरीखे साधुवर्गने कठोर शरीरसे जिस घोर और कठिन तपका अर्जन किया है, उसे तुम सरीखे सुकुमार एवं काश्मीरी केशरका शृङ्गार करनेवाले लोग कैसे सहन कर सकते हैं ? ॥५९॥ राजन् ! तुम दयालु हो;

---

१. क ख ग घ म यदर्पितं । २. एष टीकाकृदभिमतः पाठः प्रतिषु तु 'आत्मदीक्षया' इत्येव पाठो दृश्यते । ३. श प्रसादतः कारुण्यात् । ४. आ किरादेशः, श केरादेशः । ५. आ तनु । ६. = येन । ७. श दीक्षास्तित्वस्यभि° । ८. = इतिशेषः । ९. श 'सह्यासुः' इति नास्ति ।

दयापरः साधुरतः परत्रधीरतस्त्वमेतामनुशाधि मेदिनीम् ।
समुद्धरंल्लोकमनाथमायुगं किमस्ति दीनोद्धरणात्परं तपः ॥६१॥
उदीरितायामिति वाचि सूरिणा पतिः प्रजानामचलान्तराशयः ।
समाहितः श्रेयसि पक्षमात्मनः पुनर्दृढीकर्तुमुपोपचक्रमे ॥६२॥
शिरःसमभ्यर्च्यमपीश लङ्घ्यते मया यदेतद्भवतोऽनुशासनम् ।
विहाय जन्मव्यसनानि विद्यते मुनीन्द्र नैवापरमत्र कारणम् ॥६३॥

परार्थसंपदः परार्था परप्रयोजना संपद् यस्य तस्य । गृहमेधिनोऽपि गृहस्थस्यापि । ते तव । एतत् इदम् । चरित्रम् आचरणम् । तपोभृतां मुनीनाम् । आचरणात् चरित्रात् न भिद्यते[1] भेदो न क्रियते भिदृर्[2] विदारणे कर्मणि लट् ॥६०॥ दयेति । ततः तस्मात् । दयापरः[3] दयया कारुण्येन परः श्रेष्ठः । साधुरतः साधुषु मुनिषु रतः प्रीतः । परत्रधीः परत्रोत्तरगतौ धीर्बुद्धि र्यस्य सः । अनाथं निराधारम् । लोकं जनम् । समुद्धरन् पालयन् एताम् इमाम् । मेदिनीं भूमिम् । आयुगं युगपर्यन्तम् । अनुशाधि रक्ष । शासु अनुशिष्टौ लोट्[4] । 'शाध्येधिजहि' इति साधुः । दीनोद्धरणात् अनाथोद्धरणात् । परम् उत्कृष्टम् । तपः तपश्चरणम् । किमस्ति किं वर्तते, न किमपि—इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥६१॥ उदीरितेति । सूरिणा मुनिना । इति उक्तप्रकारेण । वाचि वचने । उदीरितायां निरूपितायां सत्याम्[5] । अचलान्तराशयः अचलोऽन्तराशयो यस्य सः । श्रेयसि मोक्षे । समाहितः संनद्धः । प्रजानां लोकजनानाम् । पतिः प्रभुः । आत्मनः स्वस्य । पक्षम् अङ्गीकारम् । पुनः पश्चात् । दृढीकर्तुं स्थिरीकरणाय । उपोपचक्रमे[6] प्रारभते स्म । क्रमु[7] पादविक्षेपे लिट् । 'प्रोपोत्सं पादपूरणे' इति द्विः । 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इति तङ् ॥६२॥ शिर इति । ईश प्रभो । मुनीन्द्र मुनिपते । शिरःसमभ्यर्च्यमपि शिरसा मस्तकेन समभ्यर्च्यं पूजनीयमपि । भवतः तव । यत्[8] कारणात् । एतत् इदम् । अनुशासनम् आज्ञा । मया, लङ्घ्यते अतिक्रम्यते । लघुङ्[9] गतौ कर्मणि लट् । अत्र[10] गृहस्थत्वे । जन्मव्यसनानि[11] जनितदुःखानि विहाय परित्यज्य । अपरम् अन्यत् । कारणं हेतुः । नैव विद्यते नैवास्ति । विदि[12] सत्तायां लट् ॥६३॥

धर्मको अपनी सम्पत्ति समझते हो; तुम्हारे चरित्रकी, विद्वज्जन भी प्रशंसा करते हैं और तुम अपनी सम्पत्तिको परोपकारमें लगाया करते हो । अतएव यह स्पष्ट है कि तुम गृहस्थ हो किन्तु तुम्हारा चरित्र साधुओंके चरित्रसे भिन्न नहीं है ॥६०॥ राजन् ! तुम सदा दया करनेमें तत्पर रहते हो; साधुओंके भक्त हो और तुम्हारी बुद्धि परलोककी ओर लगी रहती है । अतः तुम युगके अन्ततक अनाथ लोगोंका उद्धार करते हुए इस पृथ्वीपर शासन करो । दीनोंके उद्धारसे बढ़कर और तप कौन सा है ? ॥६१॥ आचार्य गुणप्रभके यों कहनेपर भी राजा अजितसेन अपने विचारोंसे विचलित नहीं हुआ । चूँकि वह मुक्ति पानेके लिए प्रतिज्ञा कर चुका था, अतः अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिए पुनः यों बोला— ॥६२॥ हे मुनीन्द्र ! आपकी यह आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य एवं पूजनीय है, किन्तु फिर भी मैं इसका जो उलङ्घन कर रहा हूँ, उसका कारण गृहस्थ अवस्थामें रहनेसे होनेवाले जन्म, जरा और

---

१. =भेदं न भजते । २. आ भिदिर् । ३. श 'दयापरः' इति नास्ति । ४. श लेट् । ५. श तस्याम् । ६. एष टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु तु 'अथोपचक्रमे' इत्येव पाठो वर्तते । ७. आ क्रमु । ८. =यस्मात् । ९. आ लघि । १०. =अनुशासनलङ्घने । ११. =जन्मनो जन्मजरामरणानां दुःखानि । १२. आ विद ।

बहुप्रकारा यदि न स्युरङ्गिनामनिष्टयोगादिकृता दुराधयः ।
जिनेन्द्रचन्द्राचरितं सुदुःसहं सहेत कः सत्यमिदं महाव्रतम् ॥६४॥
विचित्रदुःखा भवमृत्युसंततिः प्रलीयते चेद् गृहमेधिनामपि ।
भवादृशामेकविवेकचक्षुषां[1] भवेद्वृथा तर्हि तपःपरिश्रमः ॥६५॥
इति ब्रुवन्तं तमुदारचेष्टितं जिनेन्द्रदीक्षानिहितैकमानसम् ।
विनिश्चितैकान्ततदीयनिश्चयो विशामधीशं मुनिरन्वमन्यत ॥६६॥
ततः स तेनानुमतो महोपतिर्वितीर्य राज्यं जितशत्रुसूनवे ।
तपोऽग्रहीत्संयमभारभूषणं विमुक्तये मुक्तपरिग्रहग्रहः ॥६७॥

बह्विति । अङ्गिनां जीवानाम् । अनिष्टयोगादिकृता अनिष्टस्याहितकण्टकादेर्योगादिना संबन्धादिना, आदिशब्देन वियोगादिर्गृह्यते, कृता विहिताः । बहुप्रकाराः नानाप्रकाराः । दुराधयः दुष्टपीडाः । यदि न स्युः न भवेयुः । जिनेन्द्रचन्द्राचरितं जिनेन्द्रचन्द्रेणाचरितं प्रवृत्तम् । सुदुस्सहं सोढुमशक्यम् । सत्यं सत्यरूपम् । इदम् एतत् । महाव्रतं[2] पञ्चमहाव्रतादिकम्[3] । कः को वा । सहेत क्षमेत, न कोऽपि—इत्यर्थः । संसारे सुखं वर्तते चेत्, जिनेन्द्रपादाचरितं कृच्छ्रं तपश्चरणं मुनयः किन्निमित्तमाचरन्ति—इत्यर्थः । अनुमितिः । ६४॥ विचित्रेति । विचित्रदुःखा विचित्रं दुःखं यस्यां सा । भवमृत्युसन्ततिः भवानां जननानां मृत्यूनां मरणानां सन्ततिः[4] समूहः । गृहमेधिनामपि गृहस्थानामपि । प्रलीयते चेत् विनश्यति चेत् । लीङ्[5] श्लेषणे लट्[6] । तर्हि, एकविवेकचक्षुषाम् एको मुख्यो विवेक एव चक्षु र्येषां तेषाम् । भवादृशां युष्मादृशाम् । तपःपरिश्रमः तपसः तपश्चर्यायाः परिश्रमः प्रयासः । वृथा निष्फलः । भवेत् स्यात् । भू सत्तायां लिङ्[7] ॥६५॥ इतीति । विनिश्चितैकान्ततदीयनिश्चयः विनिश्चितो निर्णीत एकान्तो दृढस्तदीयस्तस्य संबन्धी निश्चयो निर्णयो येन सः । मुनिः यतिः[8] । इति उक्तप्रकारेण । ब्रुवन्तं भाषमाणम् । उदारचेष्टितम् उदारं महच्चेष्टितं व्यापारो यस्य तम् । जिनेन्द्रदीक्षानिहितैकमानसं जिनेन्द्रस्य जिनेश्वरस्य दीक्षायां तपःस्वीकारे निहितं स्थापितमेकं मुख्यं मानसं चित्तं यस्य[9] तम् । विशां महताम् । अधीशं प्रभुम् । अन्वमन्यत अनुमन्यते स्म । मनि[10] ज्ञाने लङ् । अनुमितिः ॥६६॥ तत इति । ततः पश्चात् । तेन मुनीन्द्रेण । अनुमतः संमतः । सः महोपतिः भूमिपतिः । जितशत्रुसूनवे[11] जितशत्रुरिति सूनवे पुत्राय । राज्यं भूपतित्वम् । वितीर्य दत्वा मुक्तपरिग्रहग्रहः मुक्तस्त्यक्तः परिग्रह एव ग्रहो येन सः । संयमभारभूषणं संयमस्येन्द्रियनिग्रहस्य भार एवातिशय एव भूषणमलंकारो यस्य

मरणके घोर दुःखोंको छोड़कर और कुछ नहीं है ॥६३॥ यदि जीवोंको इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग आदिके निमित्तसे होनेवाली नाना प्रकारकी बुरी-बुरी मानसिक व्यथाएँ न होतीं तो जिनेन्द्र भगवान्‌ने जिसका स्वयं प्रयोग किया है, उस दुर्धर और सत्य महाव्रतको कौन पालता ? संसार सुखमय होता तो सचमुच ही कोई महाव्रत पालन करनेका कष्ट न उठाता ॥६४॥ विचित्र दुःख देनेवाली जन्म और मरणकी परम्परा यदि गृहस्थोंकी भी नष्ट हो जाय तो आप सरीखे परम विवेकियोंके तपश्चरणका परिश्रम व्यर्थ ही चला जाय ॥६५॥ अजितसेनकी चेष्टाओंमें उदारताका पुट रहता था और उसका मन केवल जिनदीक्षाकी ओर ही लगा हुआ था । उसके मुँहसे उक्त बातें सुनकर मुनिराजने उसके दृढ़ निश्चयको निश्चित रूपमें जान लिया । इसके पश्चात् गुणप्रभने उसे जिनदीक्षाकी अनुमति दे दी ॥६६॥ इसके पश्चात् अजितसेनने मुनिराज गुणप्रभसे जिनदीक्षाकी स्वीकृति पाते ही अपने जितशत्रु नामके

१. क ख ग घ म °दृशामेव विवे° । २. आ 'महाव्रतं' इति नास्ति । ३. श °व्रताधिकम् । ४. = परम्परा । ५. आ श लिङ् । ६. आ 'लट्' इति नास्ति । ७. श लेट् । ८. श यती । ९. = येन । १०. आ मनु । ११. = जितशत्रुसंज्ञकाय सुताय ।

तपश्चरन्घोरमघोरमानसः स्थिरैकपर्यङ्ककृतस्थितिर्बहिः ।
निनाय निस्त्रिंशहिमानिलाहतो निशा धृतिप्रावरणः स हैमनीः ॥६८॥
विभीषणोल्काशतपातदुःसहे घनागमे घोरघनान्धकारिणि ।
स वारिधारा मुसलाकृतीः कृती क्षपासु सेहे तरुमूलमास्थितः ॥६९॥
तपेऽभिसूर्यं प्रतिमाव्यवस्थितः[1] स तप्तसूचीसदृशैः रवेः करैः ।
न तुद्यमानोऽपि चचाल योगतः स्थिरा हि सन्तः करणीयवस्तुनि ॥७०॥
मनो दधद्द्वादशसु प्रतिक्षणं स भावनासु ध्रुवमध्रुवादिषु ।
क्षुदादिभिः क्षुण्णमदो[2] न बाधितुं परीषहैर्जातुचिदप्यशक्यत ॥७१॥

तत् । तपः तपश्चरणम् । विमुक्तये मोक्षाय । अग्रहीत् गृह्णाति स्म । ग्रही[3] उपादाने लुङ् । रूपकम् ॥६७॥ तप इति । घोरं भयंकरम् । तपः तपश्चरणम् । चरन् आचरन् । अघोरमानसः अघोरं सप्तभयरहितं मानसं मनो यस्य सः । बहिः बाह्यप्रदेशे । स्थिरैकपर्यङ्ककृतस्थितिः स्थिरेण दृढेन एकेन पर्यङ्केन पर्यङ्कासनेन कृता विहिता स्थितिः[4] स्थानं यस्य[5] सः । निस्त्रिंशहिमानिलाहतः निस्त्रिंशेन तीक्ष्णेन हिमेन शीतलेनानिलेन वायुनाहतः पीडितः । धृतिप्रावरणः धृतिर्धैर्यं सैव प्रावरणं वस्त्रं यस्य सः । सः चक्री । हैमनीः हेमन्तर्तोः संबन्धिनीः । हेमन्तशब्दाद् अणि, 'लुक्तोऽणि' इति तलोपे सति हैमन इति भवति, तस्मात् 'टिड्ढण्—' इत्यादिना ङी[6], हैमनी इति भवति । निशाः रात्रीः निनाय नयतिस्म । णीञ् प्रापणे लिट् ॥६८॥ विभीषणेति । विभीषणोल्काशतपातदुःसहे विभीषणानां[7] भयंकराणामुल्कानामशनीनां शतस्यानेकस्य पातेन पतनेन दुःसहे सोढुमशक्ये । घोरघनान्धकारिणि घोरेण भयंकरेण घनेन निरन्तरेण अन्धकारेण युक्ते । घनागमे वर्षाकाले । कृती पुण्यवान् । तरुमूलं वृक्षमूले । आस्थितः[8] । 'शीङ् स्थासो'[9] इत्यादिना आधारे द्वितीया । सः चक्री । क्षपासु निशासु । मुसलाकृतीः मुसलाकाराः । वारिधाराः जलधाराः । सेहे सहते स्म । षहि[10] मर्षणे लिट् । जातिः ॥६९॥ तप इति । तपे ग्रीष्मकाले । अभिसूर्यं सूर्याभिमुखम् । प्रतिमाव्यवस्थितः प्रतिमया प्रतिमायोगेन व्यवस्थित आस्थितः[11] । सः अजितसेनमुनिः । तप्तसूचीसदृशैः तप्तायाः संतप्तायाः सूच्याः सदृशैः समानैः । करैः किरणैः । तुद्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि । योगतः योगात् । न चचाल न चलति स्म । चल कम्पने लिट् । सन्तः सत्पुरुषाः । करणीयवस्तुनि करणीये कर्तुं योग्ये वस्तुनि प्रयोगे । स्थिरा हि निश्चला हि । अर्थान्तरन्यासः ॥७०॥ मन इति । अध्रुवादिषु अनित्यादिषु । द्वादशसु द्वादशविधेषु

पुत्रको राज्य सौंप दिया, समस्त परिग्रहका परित्याग कर दिया और फिर संयमके प्रकर्षसे सुशोभित होनेवाले तपको ग्रहण किया ॥६७॥ चक्रवर्ती अजितसेनने जिनदीक्षा लेकर घोर तप तपना शुरू कर दिया । उनके मनमें सात भयोंमें-से कोई एक भी नहीं था । वे नगरके बाहर खुले मैदानमें स्थिरतासे पर्यङ्कासन लगाकर बैठे हुए थे । उन्होंने धैर्यका ओढ़ना ओढ़कर तेज बर्फीली वायुके आघातको सहते हुए हेमन्तकी रातें बितायीं ॥६८॥ भयङ्कर सैकड़ों उल्कापातोंसे असह्य और घोर अन्धकारसे घिरे हुए वर्षाकालमें वे पुण्यवान् चक्रवर्ती मुनि वृक्षके नीचे बैठकर मूसलाधार वर्षा सहते थे ॥६९॥ वे अजितसेन मुनि ग्रीष्मऋतुमें सूर्यके सामने प्रतिमायोग लगाकर खड़े हो जाया करते थे । गरमकी गई सुइयोंके समान प्रतीत होनेवाली सूर्यकी किरणोंसे पीड़ित किये जानेपर भी वे योगसे विचलित नहीं होते थे । सन्त पुरुष निश्चय ही अपने कर्तव्य-मार्गसे कभी डिगते नहीं ॥७०॥ मुनि अजितसेन अपने मनको

१. अ आ इ °सूर्यं प्रतिमां, क ख ग घ म °सूर्य प्रतिमं व्य° । २. आ इ क्षुण्णमयो°, क ख ग घ क्षुण्णमना° । ३. आ ग्रह । ४. = अवस्थानं । ५. = येन । ६. आ ङीपि । ७. श 'विभीषणानां' इति नास्ति । ८. आ आश्रितः । ९. आ 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' अष्टाध्यायी १।४।४६ । १०. आ षह । ११. आ आसितः ।

इत्थं विधाय विविधं स तपस्तपश्रीव्यालिङ्गितः परिणतोज्ज्वलधर्मलेश्यः ।
ध्यायन्गुरून्गुणगुरून् हृदयेन पञ्च प्राणान्समाधिमरणेन मुनिर्मुमोच ॥७२॥
प्राप्याच्युतं सपदि कल्पमथाच्युतेन्द्रो भूत्वाप्सरोजनमनो[1]नयनाभिरामः ।
सम्यक्त्वरत्नरुचिरोऽनुभवन्स तस्थौ दिव्यं सुखं द्व्यधिकविंशतिसागरायुः ॥७३॥
च्युत्वा ततो विगलितायुरसाविहाभूस्त्वं रत्नसंचयपुरे नृप पद्मनाभः ।
पुत्रो जगद्विजयिनः कनकप्रभस्य माता च ते जनमनोज्ञ सुवर्णमाला ॥७४॥

(धासु) । भावनासु अनुप्रेक्षासु । ध्रुवं निश्चयेन । प्रतिक्षणं[2] क्षणं प्रति । मनः मानसम् । दधत् धरन्[3] । क्षुण्णमदः क्षुण्णश्चूर्णीकृतो मदो येन सः । सः मुनिः । [4]क्षुदादिभिः क्षुत्प्रमुखैः । परीषहैः[5], जातुचिदपि[6] सकृदपि । बाधितुं पोडितुम् । न अशक्यत न शक्योऽभूत् । शक्लृ शक्तौ कर्मणि लङ् ॥७१॥ इत्थमिति । इत्थम् अनेन प्रकारेण । विविधं नानाप्रकारम् । तपः तपश्चरणम् । विधाय कृत्वा । तपःश्रीव्यालिङ्गितः तपःश्रिया तपोलक्ष्म्या आलिङ्गितः संश्लिष्टः । परिणतोज्ज्वलधर्मलेश्यः परिणताः परिणामं गता उज्ज्वलाः प्र(प्रो)ज्ज्वला धर्मा उत्तमक्षमादयो लेश्याः पीतादयो[7] यस्य सः । गुणगुरून् [8]गुणैर्महतः । पञ्च पञ्चसंख्यान् गुरून् परमेष्ठिनः । हृदये चित्ते । ध्यायन् चिन्तयन् । सः मुनिः अजितसेनमुनिः[9] । समाधिमरणेन समाधिना प्रशस्तध्यानेन युक्तेन मरणेन निधनेन । प्राणान् असून् । मुमोच तत्याज । मुच्लृ मोक्षणे लिट् । जातिः ॥७२॥ प्राप्येति । अथ मरणानन्तरम् । अच्युतनामधेयम् । कल्पं स्वर्गम् । सपदि शीघ्रम् । प्राप्य गत्वा । अच्युतेन्द्रः अच्युताभिख्येन्द्रः । भूत्वा जनित्वा । अप्सरोजनमनोनयनाभिरामः अप्सरस एव जना लोका (अप्सरसां जना वर्गाः) तेषां मनसां मानसानां नयनामभिरामो (प्रियो) भासमानः । सम्यक्त्वरत्नरुचिरः सम्यक्त्वमेव श्रद्धानमेव रत्नं तेन रुचिरो मनोहरः । द्व्यधिकविंशतिसागरायुः द्वाभ्यामधिकैर्विंशत्या विंशतिप्रमाणैः सागरैः सागरोपमैः प्रमितमायुर्यस्य सः । सः अच्युतेन्द्रः दिव्यं स्वर्गजम् । सुखं सौख्यम्[10] । अनुभवन् निर्विशन् । तस्थौ आसांबभूव । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् ॥७३॥ च्युत्वेति । नृप भो भूपते । विगलितायुः विगतायुः । असौ अच्युतेन्द्रः । ततः अच्युतकल्पात् । च्युत्वा आगत्य । इह अत्र । रत्नसञ्चयपुरे रत्नसञ्चय-

हर समय निश्चय ही अनित्य आदि बारह भावनाओंमें लगाये रहते थे—उनके मनमें रह-रहकर जगत् अनित्य है, अशरण है—इत्यादि भाव उत्पन्न होते थे । गृहस्थ अवस्थामें जिस तरह पूर्ण सफल रहे, उसी तरह वे साधु अवस्थामें भी पूर्ण सफल हुए, फिर भी उन्हें अहङ्कार नहीं था—उन्हें अपने तपका मद नहीं था । भूख, प्यास आदिकी परीषहें उन्हें कभी तनिक भी बाधा नहीं पहुँचा सकीं ॥७१॥ इस प्रकार अजितसेन मुनिने अनेक प्रकारका तप किया, जिससे उनके ऊपर तपोजनित शोभा दृष्टिगोचर होने लगी—और उनके क्षमा आदि दस धर्मों और शुभ लेश्याओंमें निखार आ गया । गुणोंमें महान् पाँच परमेष्ठियोंका हृदयसे ध्यान करते हुए उन्होंने समाधिमरण पूर्वक प्राणोंका त्याग किया ॥७२॥ इसके पश्चात् वे शीघ्र ही अच्युत नामक सोलहवें स्वर्गमें जाकर अच्युतेन्द्र-अच्युत स्वर्गके इन्द्र हुए । वे वहाँ अप्सराओंके वर्गको अत्यन्त प्रिय थे, इन्हें देखकर अप्सराओंका मन प्रसन्न हो जाता था और उनके नेत्र भी उसीमें रम जाया करते थे । वे सम्यग्दर्शन रूपी रत्नसे सुन्दर थे—सम्यग्दृष्टि थे । बाईस सागर तक उन्होंने वहाँका दिव्य सुख भोगा ॥७३॥ आयु समाप्त होनेपर तुम अच्युत स्वर्गसे च्युत होकर रत्न सञ्चयपुरमें लोकविजेता राजा

१. म भूत्वा सरोजनयनो° । २. = क्षणं क्षणं प्रति, सर्वदैव—इत्यर्थः । ३. श धरत् । ४. 'क्षुज्जाठराग्निजा पीडा' इति हैमः । ५. आ परिषहैः । ६. श 'अपि' नास्ति । ७. आ हितादयो° । ८. श 'गुणैः' इति पदं नास्ति । ९. श 'सेन' इति नास्ति । १०. श शातम् ।

जन्मावलीमिति यथावदसौ निगद्य तूष्णीमभून्मुनिपतिर्मुनिवन्द्यपादः ।
राजापि पूर्वभवकीर्तनहृष्टरोमा बद्धाञ्जलिर्यतिवृषं[1] पुनरित्युवाच ॥७५॥
जन्मान्तराणि भगवन्भवतः प्रसादाज्ज्ञातानि संशयमुपैति तथापि चेतः ।
तत्प्रत्ययं कमपि नाथ कुरुष्व येन निःसंशया भवति धीर्मम संशयाना ॥७६॥
तद्भारतीमिति निशम्य जगाद भूयं संदेहपङ्कमपहस्तयितुं मुनीन्द्रः ।
यूथं त्वदीयनगरे दशमेऽह्नि हित्वा दन्ती मदान्धमतिरेष्यति कश्चिदेक ॥७७॥

नामनगरे । जगद्विजयिनः लोकविजयिनः । कनकप्रभस्य कनकप्रभभूपस्य । पद्मनाभः पद्मनाभ इति पुत्रः तनयः । अभूः अभवः । भू सत्तायां लुङ् । ते तव । जनमनोज्ञसुवर्णमाला जनानां लोकानां मनोज्ञा मनोहर-रूपा सा चासौ सुवर्णमाला च तथोक्ता (जनमनोज्ञ इति पद्मनाभस्य संबोधनमपि भवितुमर्हति) । माता च जनन्यपि । चशब्दः समुच्चयार्थः, अभूत्—इत्यर्थः । ७४। जन्मावलीमिति । मुनिवन्द्यपादः मुनिभिर्वन्द्यौ पादौ चरणौ यस्य सः । असौ मुनिपतिः श्रीधरमुनीन्द्रः । इति उक्तप्रकारेण । जन्मावलिं भवावलिम् । यथावत् सत्यरूपम् (यथा स्यात्तथा) । निगद्य निरूप्य । तूष्णीं जोषम् । अभूत् अभवत् । पूर्वभवकीर्तन-हृष्टरोमा पूर्वभवानां जन्मान्तराणां कीर्तनेन भाषणेन संतुष्टं रोम रोमाञ्चो यस्य सः । राजापि पद्मनाभोऽपि । बद्धाञ्जलिः सन् रचिताञ्जलिर्भूत्वा । यतिवृषं यतीनां मुनीनां वृषं श्रेष्ठम् । पुनः पश्चात् । उवाच ब्रवीति स्म । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् ॥७५॥ जन्मेति । भगवन् भो महात्मन् । भवतः पूज्यस्य तव । प्रसादात् कृपायाः । जन्मान्तराणि भवान्तराणि । ज्ञातानि अवबुद्धानि । तथापि, चेतः मम चित्तम् । संशयं संदेहम् । उपैति प्राप्नोति । नाथ भो स्वामिन् । संशयाना संशयं कुर्वाणा । मम मे । धीः बुद्धिः । येन केन (?) प्रत्ययेन । निःसंशया संदेहरहिता । भवति जायते । कमपि, तत्प्रत्ययं स चासौ प्रत्ययश्च तत्प्रत्ययः, तं, विश्वासम्—इत्यर्थः । कुरुष्व विधेहि । डुकृञ् करणे लोट्[2] ॥७६॥ तदिति । मुनीन्द्रः मुनिपतिः । इति एवम् । तद्भारतीं तस्य भूपस्य भारतीं वाचम् । निशम्य श्रुत्वा । संदेहपङ्कं[3] संशय एव मलम् । अपहस्तयितुं निवारयितुम् । भूयः पश्चात् । जगाद उवाच । गद व्यक्तायां वाचि । मदान्धमतिः मदेन कर्णकपोलादि-मदेनान्धा मतिर्यस्य सः । कश्चित् एकः । दन्ती भद्रगजः । यूथं गजसमूहम् । हित्वा त्यक्त्वा । दशमे अह्नि दिवसे । त्वदीयनगरे त्वदीये[4] तव संबन्धे नगरे पुरे । एष्यति आगमिष्यति । इण् गतौ लृट् । जातिः

कनकप्रभके यहाँ उनकी रानी सुवर्णमालाकी कुक्षिसे पद्मनाभ नामक राजकुमार हुए हो । राजकुमार ! तुम प्रजाजनको अत्यन्त प्रिय हो ॥७४॥ इस प्रकारसे पद्मनाभके पिछले भवोंकी परम्पराको ठीक-ठीक बतलाकर श्रीधर मुनिराज—जो समस्त मुनियोंके द्वारा वन्दनीय थे—मौन हो गये । पूर्व जन्मोंकी चर्चा सुनकर पद्मनाभको रोमाञ्च हो आया । उसने हाथ जोड़-कर मुनिराजसे पुनः यों कहा—॥७५॥ भगवन् ! आपकी कृपासे मैंने अपने पिछले भवोंको जान लिया हे, फिर भी मेरा मन संशयमें पड़ा हुआ है । अतः मुझे कोई विश्वास जनक बात बतलाइये, जिससे मेरी संशय-बुद्धि, संशय रहित हो जाय ॥७६॥ पद्मनाभके ये वचन सुनकर श्रीधर मुनिने उसके संशयके मैलको दूर हटानेके लिये यों कहा— आजसे दसवें दिन एक मदो-

१. क ख ग घ म °मुनिवृषं । २. श लेट् । ३. = सन्देहः संशयः स एव पङ्को मलः, तम् । ४. = भवदीये ।

तत्प्रत्ययात्स्वयमिदं नचिरेण राजन्निश्चेष्यसि त्वमखिलं वचनं मदुक्तम् ।
प्रत्यक्षमन्यदथवा जगति प्रमाणं संवादकं मतिमतां सकलं प्रमाणम् ॥७८॥
प्रह्लादिनेति वचसा वदतां वरस्य निर्धूय संशयमलं विरतस्य साधोः ।
पादौ प्रणम्य शिरसा व्रतभूषिताङ्गः प्रत्याययौ निजपुरं प्रति पद्मनाभः ॥७९॥
आकस्मिकोद्गतबृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यज्जनोक्तकिमिदंध्वनिपूर्यमाणः ।
तस्मिन्मुनीन्द्रकथितेऽथ दिने तुरंगानुत्कर्णयन्कलकलोऽतिमहान्बभूव ॥८०॥
किं किं किमेतदुपयाहि विलोकयेति संप्रष्टरि क्षितिभुजि त्वरितं प्रगत्य ।
कश्चिन्निवृत्य पुनरित्यवदद्वचस्वी निर्णीतलोकविषयाकुलतानिमित्तः ॥८१॥

॥७७॥ तदिति । राजन् भूप । तत्प्रत्ययात् तद्विश्वासात् । मदुक्तं मया उक्तं प्रोक्तम्[1] । इदं तु एतत् तु [इदम् एतत्]। अखिलं सकलम् । वचनं वचः । त्वं स्वयमेव[2] त्वयैव । अचिरेण शीघ्रम् । निश्चेष्यसि निर्णयं करिष्यसि । चिञ् चयने लृट् । अथ[3] । जगति लोके । प्रत्यक्षं विशदरूपम् । अन्यद्वा परोक्षरूपं वा । प्रमाणं ज्ञानम् । मतिमतां बुद्धिमताम् । संवादकं सत् विषयाव्यभिचारं सत् । सकलं[4] सर्वम् । प्रमाणं सत्यरूपं स्यात् । जातिः ।७८॥ प्रह्लादिनेति । प्रह्लादिना संतोषकरणशीलेन । वचसा वचनेन । संशयमलं संदेहमलम् । निर्धूय निराकृत्य । विरतस्य महाव्रतयुक्तस्य । वदतां वरस्य वदतां वाग्मिनां[5] वरस्य श्रेष्ठस्य । साधोः मुनिपस्य । पादौ चरणौ । [शिरसा प्रणम्य]। व्रतविभूषिताङ्गः अणुगुणादिव्रतेन भूषितमलंकृतमङ्गमवयवो यस्य सः । पद्मनाभः पद्मनाभभूपः । 'नाभेर्नाम्नि' इत्यदन्तः । शिरसा मस्तकेन । प्रणम्य नमस्कृत्य । निजपुरं स्वराजधानीम् । प्रति, प्रत्याययौ प्रत्याजगाम । या प्रापणे लिट् ॥७९॥ आकस्मिकेति[6] । अथ आगमनानन्तरम्[7] । मुनीन्द्रकथिते मुनीन्द्रेण श्रीधराचार्येण कथिते प्रोक्ते । तस्मिन् दशमे । दिने दिवसे । आकस्मिकोद्गतबृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यज्जनोक्तकिमिदंध्वनिपूर्यमाणः आकस्मिकेन अकारणेन उद्गतस्तथोक्तः, परेषां शत्रूणां चक्रं सेना तदिति शङ्का संदेहस्तया त्रस्यन्तो बिभ्यन्तस्ते च ते जनाश्च, त्रस्यज्जनैरुक्तस्तथोक्तः, किमिदम् इति ध्वनिस्तथोक्तः, आकस्मिकोद्गतेन बृहत्परचक्रशङ्कात्रस्यज्जनोक्तकिमिदमिति ध्वनिना पूर्यमाणो [8]व्याप्यमानस्तथोक्तः । तुरङ्गान् अश्वान् । उत्कर्णयन् उद्गतकर्णान् कुर्वन् । अतिमहान् अत्यन्तं महान् । कलकलः[9] कलकल इति ध्वनिः । बभूव भवति स्म । जातिः ॥८०॥ किमिति । एतत् इदम् । किं किं किम् । 'संभ्रमेऽसकृत्' इति असकृत्प्रयोगः । उपयाहि गच्छ । विलोकय इति वीक्षस्व इति । क्षिति-

न्मत्त हाथी अपने झुण्डको छोड़कर तुम्हारे नगरकी ओर आयगा ॥७७॥ राजन् ! उस हाथीको देखकर तुम्हें बिश्वास हो जायगा, फिर तुम स्वयं शीघ्र ही मेरी कही सारी बातोंकी सचाईका निश्चय कर लोगे । क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सभी प्रमाणोंका प्रामाण्य(सचाई) तभी सिद्ध होता है, जब वे विद्वानोंको दोष रहित दृष्टिगोचर होते हैं ॥७८॥ श्रीधर मुनि, श्रेष्ठ वक्ता थे । उन्होंने उक्त आह्लादजनक बात कहकर राजा पद्मनाभका संशयका मैल दूर कर दिया । जब वे उत्तर दे चुके, तब व्रतोंसे विभूषित—व्रती पद्मनाभ उनके चरणोंमें प्रणाम करके अपने पुरकी ओर चला गया ॥७९॥ अपनी राजधानीमें पहुँचनेपर मुनिराजके कथनानुसार दसवें दिन बहुत भारी कोलाहल हुआ, जिससे घोड़े चौंक उठे, और उनके कान खड़े हो गये । कोलाहलमें, अचानक ही बहुत बड़े शत्रुओंके गिरोहके आक्रमणकी शंकासे डरे हुये लोगोंकी 'यह क्या है ? यह क्या है ?' यह ध्वनि मिली हुई थी—॥८०॥ 'क्या, क्या, क्या

१. आ श मयोक्तं मया प्रोक्तम् । २. = त्वं स्वत एव । ३. = अथवा । ४. श 'सकलं' इति नास्ति । ५. श वङ्मिनां । ६. श आकस्मीति । ७. श गमनानन्तरम् । ८. श व्याप्त° । ९. = कोलाहल इति यावत् । 'कोलाहलः कलकलः' इति हैमः ।

कोऽपि क्षरत्करटभित्तिरुपेत्य देव दन्ती कुतोऽपि सुरदन्तिसमानसत्त्वः।
हन्त्युद्धतः सकलमेव पुराद्बहिःस्थं लोकं त्वदीयभुजरक्षितमारटन्तम् ॥८२॥
निष्क्रामति प्रविशति प्रकटोऽथ वा यः सर्वः स तत्करपराहतिचूर्णिताङ्गः।
दिग्भ्यो बलिर्भवति किं बहुना जनानां संहारकाल इव स द्विपरूपधारी ॥८३॥
इत्यागमं करटिनो मुनिसूचितस्य श्रुत्वा जहर्ष हृदयेऽधिपतिर्धरिञ्याः।
भेजे विषादमपि किंचिदुदारबुद्धिर्दुःसाध्यतां[1] परिमृशन्मनसा तदीयाम् ॥८४॥

भुजि राज्ञि। त्वरितं शीघ्रम्। संप्रष्टरि[2] सति संपृच्छति सति। वचस्वी वचोहरः। कश्चित् एकः। प्रगत्य[3] एत्य। निर्णीतलोकविषयाकुलतानिमित्तः लोको जनः स एव विषयो यस्याः सा तथोक्ता, सा चासावाकुलता च तथोक्ता, तस्या निमित्तं तथोक्तं, निर्णीतं निश्चितं लोलविषयाकुलतानिमित्तं येन सः। पुनः पश्चात्। निवृत्य आगत्य। इति एवम्। अवदत् वदति स्म। वद व्यक्तायां वाचि लङ्। संशयः (?) ॥८१॥ क इति। देव भोः स्वामिन्। क्षरत्करटभित्तिभिः[4] (त्तिः) द्रवत्कपोलप्रदेशैः (शः)। सुरदन्तिसमानसत्त्वः सुरदन्तिन ऐरावतस्य समानं सदृशं सत्त्वं सामर्थ्यं यस्य सः। उद्धतः गर्वितः। कोऽपि[5] एकः। दन्ती गजः। कुतोऽपि[6] कस्मादपि। उपेत्य आगत्य। त्वदीयभुजरक्षितं त्वदीयेन[7] तव संबन्धेन। भुजेन बाहुना। रक्षितं पालितम्। आरटन्तम् आक्रोशन्तम्। पुरात् नगरात्। बहिस्थं बाह्यस्थितम्। सकलमेव सर्वमेव। लोकं जनम्। हन्ति हिनस्ति। हन् हिंसागत्योर्लट्। जातिः ॥८२॥ निष्क्रामतीति। यः जनः। प्रकटः प्रकटो भूत्वा। निष्क्रामति निर्गच्छति। अथवा प्रविशति[8] अन्तर्गच्छति। सः सर्वः जनः। तत्करपराहतिचूर्णिताङ्गः तस्य गजस्य करस्य शुण्डायाः पराहत्या आहत्या चूर्णितं पेषितं[9] मङ्गं गात्रं यस्य सः, सन्। दिग्भ्यः अष्टदिशाभ्यः[10]। बलिः, भवति जायेत। जातिः। बहुना बहुनोक्तेन। किं किं प्रयोजनम्। जनानां लोकानाम्। सः गजः। द्विपरूपधारी द्विपस्य गजस्य रूपधारी वेषधारी। संहारकाल इव प्रलयकाल इव भवति। उत्प्रेक्षा ॥८३॥ इतीति। उदारबुद्धिः उदारा बुद्धिर्यस्य सः। धरित्र्याः भूमेः। अधिपतिः प्रभुः। मुनिसूचितस्य मुनिनिरूपितस्य। करटिनः दन्तिनः। आगमम् आगमनम्। इति एवम्। श्रुत्वा आकर्ण्य। हृदये चित्ते। जहर्ष तुतोष। हृष्[11] अलीके[12] लिट्। तदीयां गजसंबन्धिनीम्। दुःसाध्यतां साधयितुमशक्यताम्। मनसा

है यह, जाओ देखो' राजाके यह पूछने या कहने पर कोई दूत वहाँसे शीघ्र ही निकल करके और लोगोंकी आकुलताके कारणको ठीक-ठीक जान करके वापस लौट आया और पद्मप्रभसे यों कहने लगा—॥८१॥ राजन्! कहींसे एक हाथी आ धमका है। उसके गण्डस्थलसे मद-जल बह रहा है। वह एरावतके समान बलवान् है और है उद्धत। वह आपकी बाहुओंसे सुरक्षित, नगरके बाहर स्थित सभी लोगोंको मारे डालता है, इसीलिए वे सब 'त्राहि-त्राहि'—'बचाओ' 'बचाओ' की रट लगा रहे हैं—चिल्ला रहे हैं ॥८२॥ कोई निकल रहा हो, कोई प्रवेश कर रहा हो या कोई और भी किसी रूपमें प्रकट होता देख पड़ रहा हो तो वे सब-के-सब उसकी सूंडकी प्रहारसे चूर-चूर होकर दिशाओंकी बलि होते जा रहे हैं। बहुत कहनेसे क्या लाभ? संक्षेपमें इतना समझ लीजिये कि मनुष्योंके लिए वह हाथीका रूप धारक करके आया हुआ प्रलयकाल ही जान पड़ता है ॥८३॥ उदार बुद्धि-वाला राजा पद्मनाभ इस तरह हाथीके—जिसकी सूचना श्रीधर मुनि नौ दिन पहले ही दे

---

१. आ इ दुःसाधनां। २. =पृच्छके। ३. = गत्वा। ४. श °कटभित्तिभिः। ५. = कश्चित्। ६. कुतश्चिदपि प्रदेशात्। ७. = भवदीयेन। ८. श अप्रविशति। ९. श पीडित°। १०. आ °दिशात्। ११. आ हृष्। १२. 'अलीकमानन्दः' इति काशकृत्स्नधातुपाठीयकन्नडटीका (पृ० ६१)।

तस्मान्न दुष्टकरिणो यदि पौरलोकं रक्षामि तन्मम वृथा क्षितिपालशब्दः ।
संचिन्तयन्निति स बाहुबलाद्वितीयो[1] निर्गत्य तस्य बलिनोऽभिमुखीबभूव ॥८५॥
बद्ध्वा दृढं परिकरं विनिवार्य दूरे सामन्तलोकमिभमाजुहुवे तमेकः ।
सोऽप्युन्नमय्य करमुन्नतपूर्वकायस्तत्संमुखं प्रचुररोषवशादधावत् ॥८६॥
तस्यायतः[2] करिवधूज्झितमूत्रसिक्तं चिक्षेप वस्त्रमभिवक्त्रमसौ करेणोः ।
यावत्स शक्तिमुपगच्छति तत्र तावत्पार्श्वे निपत्य लकुटेन जवाज्जघान ॥८७॥
यावत्पुनः स वलतेऽभिमुखं जवेन तावद्बभूव वसुधापतिरन्यपार्श्वे ।
तत्रापि वाह्यति यावदसौ निवृत्य[3] हस्तं तलेन निरियाय स तावदीशः ॥८८॥

चित्तेन । परिमृशन् विचारयन् । किञ्चित् ईषत् । विषादमपि खेदमपि । भेजे भजति स्म । भज सेवायां लिट् । अनुमितिः (?) ॥८४॥ तस्मादिति । यदि तस्मात्[4] दुष्टकरिणः दुष्टगजात् । तं पौरलोक पौरजनम् । न रक्षामि न पालयामि चेत् । मम [तद् मम] मे । क्षितिपालशब्दः क्षितिपाल इति शब्दः । वृथा इति निष्फलम् इति । संचिन्तयन् विचारयन् । बाहुबलाद्वितीयः बाहुबलेन भुजबलेन अद्वितीय उपमारहितः । सः पद्मनाभः । निर्गत्य निर्याय । बलिनः शक्तिमतः । तस्य दन्तिनः । अभिमुखीबभूव प्रागनभिमुख इदानी-मभिमुखो बभूव, इति ॥८५॥ बद्ध्वेति । परिकरम्[5] अङ्कुशाद्युपकरणं परिवारं वा । दृढं गाढम् । बद्ध्वा । दूरे विप्रकृष्टे । सामन्तलोकं राजलोकम् । विनिवार्य निरुध्य । एकः असहायो राजा । तमिभं तं गजम् । आजुहुवे आकारयति स्म । ह्वेञ् स्पर्धायां (शब्दे च) लिट् । उन्नतपूर्वकाय उन्नतः पूर्वकायो यस्य सः सोऽपि गजोऽपि । करं शुण्डादण्डम् । उन्नमय्य उद्धृत्य । प्रचुररोषवशात् प्रचुरस्य प्रकृष्टस्य रोषस्य कोपस्य वशात् । तत्संमुखं तस्य भूपस्य (संमुखम्) अभिमुखम् । अधावत् धावतिस्म । सृ गतौ लङ् । 'सर्तेर्धौ वेगे' इति धावादेशः । जातिः ॥८६॥ तस्येति । असौ राजा । आयतः आगच्छतः । तस्य कारेणोः 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः, गजस्य । करिवधूज्झितमूत्रसिक्तं करिणो गजस्य वध्वा वनिताया उज्झितेन मूत्रेण सिक्तं सेचितम् । वस्त्रं चेलम् । अभिवक्त्रं वक्त्रस्योपरि । 'लक्षणेनाभि—' इत्यादिना अव्ययीभावः । चिक्षेप निक्षिप्तवान् । क्षिप प्रेरणे लिट् । सः गजः । तत्र वस्त्रे । सक्तिम् आसक्तिम् । यावत्, उपगच्छति उपयाति तावत्, जवात् शीघ्रम् । पार्श्वे पार्श्वभागे । निपत्य आगत्य । लगुडेन दण्डेन । जघान ताडयतिस्म । हन हिंसागत्योर्लिट् ॥८७॥ यावदिति । सः गजः । पुनः पश्चात्[6] । अभिमुखं स्वस्याभिमुखम् । वलते आवर्तते । वलि वल्लि संवरणे लट् । तावत् तावन्मात्रे । वसुधाधिपः पद्मनाभः । जवेन शीघ्रम् । अन्यपार्श्वे अन्यस्मिन्

चुके थे—आनेके समाचार सुनकर मन-ही-मन प्रसन्न हुआ, और अपने मनसे यह सोचकर कि उसे वशमें करना कठिन है, कुछ खिन्न भी हुआ ॥८४॥ यदि मैं उस दुष्ट हाथीसे अपने पुरवासी लोगोंको नहीं बचाता, तो मेरा 'क्षितिपाल' शब्द व्यर्थ है । इस तरह सोचता हुआ वह राजा पद्मनाभ—जो बाहुबलमें बेजोड़ था—राजमहलसे निकलकर उस बलवान् हाथीके सामने जा पहुँचा ॥८५॥ खूब मजबूतीसे कमर कसकर और सामन्त लोगोंको दूर हटाकर अकेले पद्मनाभने ही उस हाथीको ललकारा । वह भी अपनी सूंडको ऊपर उठाकर तथा अगले भागको कुछ ऊपर उठाकर बड़े रोषसे उसके सामने दौड़ा ॥८६॥ दौड़कर सामने आते हुए उस हाथीके मुखपर पद्मनाभने हथिनीकी पेशाबसे सिञ्चित कपड़ा फेंक दिया । उधर वह उस कपड़ेमें आसक्त होता है इधर पद्मनाभ शीघ्र ही उसकी बगलमें जाकर डण्डेका प्रहार कर देता है ॥८७॥ जब-तक पुनः वह सामने आनेको हुआ, तब-तक पद्मनाभ शीघ्र ही

१. अ क ख ग घ म °बलद्वि° । २. अ °यतः । ३. आ इ क ख ग घ म विवृत्य । ४. श यस्मात् । ५. = कटिं वा । ६. आ 'पुनः पश्चात्' इति नास्ति ।

पश्चात्पुरोऽप्युभयतश्च गजाधिपस्य बभ्राम तस्य स तथा निजलाघवेन ।
सर्वैर्यथा परिधिसौधतलाधिरूढैः सर्वासु दिक्षु युगपद्ददृशे जनौघैः ॥८९॥
निःस्पन्दं गजमिति संविधाय तस्य स्कन्धेऽसौ विधृतसृणिः समारुरोह ।
तुष्टेनामरनिवहेन लोलभृङ्गैः पुष्पौघैर्दिवि दिविजैर्विकीर्यमाणः ॥९०॥
अनुपमबलवीर्यैः संमुखीभूय सर्वैः करिपतिरुरुधैर्यैर्यः सुरैरप्यसाध्यः ।
तमकुरुत स वश्यं लीलया चारुलीलो नहि जगति नराणां पुण्यभाजामसाध्यम् ॥९१॥

पार्श्वभागे । बभूव भवति स्म, अन्यपार्श्वे स्थितवान्—इत्यर्थः । असौ गजः तत्रापि अन्यपार्श्वेऽपि । निवृत्य वलित्वा । हस्तं शुण्डादण्डम् । यावत्, वाहयति प्रापयति । वहि प्रायणे लट्[१] 卐 । तावदेव, सः ईशः पद्मनाभः तलेन जठरतलेन । निरियाय निर्जगाम । इण् गतौ लिट् ॥८८॥ पश्चादिति । सः राजा । तस्य गजाधिपस्य मद्रगजस्य । पश्चादपि पृष्ठभागे । पुरोऽपि अग्रभागेऽपि । उभयतश्च उभयभागयोरपि । परिधिसौधतलाधिरूढैः परिधेः प्राकारस्य सौधानां राजसदनानां तलानि प्रदेशान् अधिरूढैः आरूढैः । सर्वैः सकलैः । जनौघैः जनसमूहैः । यथा येन प्रकारेण । सर्वासु सकलासु । दिक्षु दिशासु । युगपत्, ददृशे दृश्यते स्म । दृशृ[२] प्रेक्षणे कर्मणि[३] लिट् । तथा तेन प्रकारेण । निजलाघवेन स्वस्याभ्यासेन बभ्राम भ्रमति स्म । भ्रम् चलने लिट् ॥८९॥ निष्पन्दमिति । विधृतसृणिः[४] भृताङ्कुशः । असौ पद्मनाभः गजं करिणम् । इति एवम् । निष्पन्दं चलनरहितं यथा तथा । संविधाय कृत्वा । दिवि आकाशे । तुष्टेन संतुष्टेन । अमरनिवहेन अमराणां देवानां निवहेन समूहेन । लोलभृङ्गैः लोलाः[५] लालसा भृङ्गा येषु तैः । दिविजैः स्वर्गजैः । पुष्पौघैः कुसुमौघैः विकीर्यमाणः सन् । [तस्य गजस्य । स्कन्धे स्कन्धप्रदेशे । समारुरोह चटति स्म ।] ॥९०॥ अनुपमेति । यः[६] उरुधैर्यैः (र्यैः) महाधैर्ययुक्तः (क्तैः) । अनुपमबलवीर्यैः[७] अनुपमैरुपमातीतैर्बलैरौपाधिकशक्तिभिर्वीर्यैः स्वाभाविकशक्तिभिश्च (अनुपमं बलं वीर्यञ्च येषां तैः) । सर्वैः सकलैः । सुरैरपि देवैरपि । असाध्यः साधयितुमशक्यः करिपतिः गजपतिः । तं गजम् । चारुलीलः मनोहरविलासः । सः पद्मनाभः संमुखीभूय अभिमुखं गत्वा । लीलया विलासेन । वश्यं वशंगतम् । 'वश्यपथ्य—' इत्यादिना साधुः । अकुरुत अकृत । डुकृञ् करणे लङ् । जगति लोके । पुण्यभाजां पुण्ययुक्तानाम् । नराणां पुरुषाणाम् । असाध्यं[८] साध्यरहितम् । कार्यं नहि

दूसरी बगलमें (जिधरसे डण्डा मारा था, उधर नहीं) पहुँच गया । उस ओर भी जबतक वह मुड़कर सूंड फटकारता है तबतक वह राजा उसके नीचेसे निकल गया ॥८८॥ राजा पद्मनाभ उस गजराजके आगे, पीछे और दोनों बगलोंमें भी बड़ी ही फुर्तीसे ऐसे ढंगसे घूम रहा था, जिससे चहार-दीवारी और महलोंकी छतोंपर चढ़कर देखनेवाले सभी मनुष्योंके द्वारा वह सारी दिशाओंमें एक ही साथ देखा गया ॥८९॥ इस तरह हाथीको इतना पस्त कर दिया कि उसे अपने अवयवोंका हिलाना-डुलाना भी कठिन हो गया (निःस्पन्दम्)' फिर वह हाथमें अंकुश लेकर उसके कन्धेपर सवार हो गया । यह देखकर देववृन्दने सन्तुष्ट होकर उसके ऊपर दिव्य पुष्पोंकी—जिनके ऊपर भौंरे मडरा रहे थे—वर्षाकी ॥९०॥ अतुल बल और अनुपम पराक्रमवाले, एवं अत्यधिक धैर्य धारण करनेवाले सभी देवलोग भी सामने जाकर जिस हाथीको अपने वशमें नहीं कर सकते थे, उसे सुन्दर विलास करनेवाले पद्मनाभने खेल-खेलमें अपने अधीन कर लिया । सच तो यह है कि इस जगत्में पुण्यवान् मनुष्योंके लिए कोई भी काम कठिन

१. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । २. आ दृशिर् । ३. श 'कर्मणि' इति नास्ति । ४. = धृताङ्कुशः । ५. = चञ्चलाः सतृष्णा वा । ६. = गजः । ७. श °वीर्यः । ८. = दुर्घटं कठिनं दुःसाध्यं वा ।

यस्मा[1]त्केलिमसावुवास[2] विदधल्लब्धोदयः सद्वने
तस्मात्तं वनकेलिरित्यवितथं नाम्ना [3]प्रघोष्यामुना ।
प्राविक्षत्क्षितिपो महेन महता चञ्चत्पताकं पुरं
शृण्वन्पौरजनैः प्रहृष्टहृदयैरुद्गीयमानं यशः ॥९२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये एकादशः सर्गः ॥११॥

■

नास्ति हि । अर्थान्तरन्यासः ॥९१॥ यस्मादिति । लब्धोदयः प्राप्तसामर्थ्यः असौ पद्मनाभः । यस्मात् कारणात् । सद्वने समीचीनारण्ये । केलिं क्रीडाम् । विदधत् कुर्वन् । उवास वसति स्म । वस निवासे लिट् । तस्मात्, तं गजम् । वनकेलिः इति वनक्रीडा इति (?) । अवितथं सत्यं यथा तथा । अमुना एतेन । नाम्ना नामधेयेन । [प्रघोष्य घोषयित्वा] प्रहृष्टहृदयैः संतुष्टचित्तैः । पौरजनैः पुरजनैः । उद्गीयमानं प्रस्तूयमानम् । यशः कीर्तिम् । शृण्वन् आकर्णयन् । क्षितिपः पद्मनाभः । महता पटुना[4] । महेन उत्सवेन । चञ्चत्पताकं चञ्चन्त्यो भासमानाः पताका वैजयन्त्यो यस्य[5] तत् । पुरं रत्नसंचयपुरम् । प्राविक्षत् प्रविशति स्म । विश प्रवेशने लुङ् ॥९२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने[6] च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये[7] एकादशः सर्गः ॥११॥

■

नहीं है ॥९१॥ हाथीको वशमें करके पद्मनाभ चूँकि सुन्दर वनमें क्रीड़ा करने लगा और फिर वहीं पर ठहर भी गया, इसलिए उसने हाथीका 'वनकेलि' यह सार्थक नाम घोषित कर दिया। इसके उपरान्त उसने राजधानीमें प्रवेश किया, जहाँ बड़ा भारी उत्सव मनाया जा रहा था, पताकाएँ फहरा रहीं थीं और पुरवासी लोग प्रसन्न चित्त होकर पद्मनाभका यशोगान कर रहे थे ॥९२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें
ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११॥

■

---

१. अ तस्मात् । २. अ °लिमसाधुना स° । ३. क ख ग घ म प्रपोष्या° । ४. आ पृथुना । ५. = यस्मिन् । ६. श तद्व्याख्यायां । ७. श °वल्लभाख्यायाम् ।

[१२. द्वादशः सर्गः]

अथ कश्चिदुपेत्य शासनान्निजभर्तुर्विदितः सभागतम् ।
तमिलाधिपतिं कुशाग्रधीरिदमूचे वचनं वचोहरः ॥१॥
रविणेव निजेन तेजसा कठिनांस्तापयता महीभृतः ।
विहिताः सह मित्रबान्धवै रिपवो येन महापदाश्रिताः ॥२॥
परया प्रभुशक्तिसंपदा परिरक्षन्सकलां वसुंधराम् ।
नयति प्रथितं यथार्थतां पृथिवीपाल इति स्वनाम यः ॥३॥
नयविक्रमशक्तिशोभितो मतिमान्यो द्वितयेन[1] मानदः ।
प्रणतेषु ददाति नाभवद्व्यतिना तद्विपरीतवृत्तिषु ॥४॥

अथेति । अथ गजवशीकरणानन्तरम् । कुशाग्रधीः कुशस्य दर्भस्याग्रमिव धीर्बुद्धिर्यस्य सः, तीक्ष्णबुद्धिः —इत्यर्थः । विदितः प्रतीतः । कश्चित् एकः । वचोहरः दूतः । निजभर्तुः स्वस्य स्वामिनः । शासनात् आज्ञायाः । सभागतम् आस्थानगतम् । तम् इलाधिपतिं पद्मनाभमहीपतिम् । उपेत्य गत्वा । इदम् एतत् । वचनं भाषणम् (वचः) । ऊचे जगाद । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लिट् । वैताली (वियोगिनी) वृत्तम् ॥१॥ रविणेति । रविणेव सूर्येणेव । निजेन स्वकीयेन । तेजसा प्रतापेन । कठिनान् कर्कशान् । महीभृतः क्षितिपतीन्, (पक्षे) पर्वतान् । तापयता संतापयता, पीडयता——इत्यर्थः । येन राज्ञा । रिपवः शत्रवः । मित्रबान्धवैः मित्रबन्धुभिः । सह साकम् । महापदाश्रिताः महापदं महास्थानम्, वैरिपक्षे महाविपदम् आश्रिताः । विहिताः कृताः । श्लेषः ॥२॥ परयेति[2] । परया प्रकृष्टया । प्रभुशक्तिसंपदा प्रभुशक्तेः संपदा समृद्ध्या[3] । सकलां समस्ताम् । वसुन्धरां भूमिम् । परिरक्षन् पालयन् । यः राजा । प्रथितं प्रसिद्धम् । [4]पृथिवीपाल इति स्वनाम स्वस्य नामधेयम् । यथार्थतां सत्यार्थयुक्तत्वम् । नयति प्रापयति । णीञ् प्रापणे लट् ॥३॥ नयेति । नयविक्रमशक्तिशोभितः नयेन नीत्या विक्रमेण पराक्रमेण शक्तिभिः त्रिशक्तिभिः शोभितो विराजितः । यः राजा । प्रणतेषु विनतेषु । ददातिना दानक्रियया । तद्विपरीतवृत्तिषु तस्य प्रणमनस्य विपरीता प्रणमनर-

इसके पश्चात् एक दिनकी बात है राजा पद्मनाभ अपनी सभामें बैठा हुआ था, इतनेमें प्रवेशकी स्वीकृति लेकर उसके पास एक कुशाग्रबुद्धि दूत आया, जो अपने स्वामी पृथिवीपालके आदेशके अनुसार यों कहने लगा—॥१॥ राजन् ! पृथिवीपाल राजा सूर्यके समान है । जिस प्रकार सूर्य अपने तेजसे कठोर पहाड़ोंको तपाकर अपने स्नेही कमल-बन्धुओंको लक्ष्मीका स्थान बना देता है और कुमुद आदि शत्रुओंको विपत्तिमें डाल देता है——संकुचित कर देता है । इसी प्रकार हमारा पृथिवीपाल राजा अपने प्रतापसे कठोर और घमण्डी राजाओंको सन्ताप देता है, मित्रों और बन्धुओंको उन्नत पद प्रदान करता है और शत्रुओंको बड़ी विपदाओंमें गिरा देता है ॥२॥ राजन् ! उत्कृष्ट प्रभुशक्ति अर्थात् सेना और कोषकी समृद्धिसे सारी पृथिवीका पालन करके हमारा राजा अपने पृथिवीपाल इस प्रसिद्ध नामको सार्थक कर रहा है । (पृथिवीं पालयतीति पृथिवीपालः——जो पृथिवीका पालन करे, उसे पृथिवीपाल कहते हैं) ॥३॥ राजा पृथिवीपाल नीति, पराक्रम, प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साह शक्तिसे सुशोभित है, बुद्धिमान्

१. आ इ °शोभिताद्वितयो यो° । २. आ परेति । ३. आ संवृद्ध्या । ४. श पृथ्वी° ।

परिरभ्य दृढं स मत्प्रभुर्मयि संक्रामितवाक्यपद्धतिः ।
वदतीति भवन्तमक्षतप्रणयं दूतमुखा हि पार्थिवाः ॥५॥
महतामतिदूरवर्तिनोऽप्यनुरागं जनयन्ति ते गुणाः ।
शरदभ्रनिभा गभस्तयः कुमुदानामिव कौमुदीपतेः ॥६॥
तव कीर्तिभिरेव सर्वदिग्विततामिर्विनयैकवृत्तिता ।
सुमनोभिरिवानुमीयते फलसंपन्महती महातरोः ॥७॥

हिता वृत्तिर्वर्तनं येषां तेषु । द्यतिना खण्डनक्रियया । दो अवखण्डने । तद्द्वितये द्वयवयवे । प्रणते प्रणतजने । द्वितयेन द्वयवयवेन । मानदः मानं पूजां ददातीति मानदः पूजादायकः । मानमहंकारं द्यति खण्डयतीति मानदो गर्वखण्डनः । प्रणतपक्षे पूजादायकः, तत्र डुदाञ् दाने, तद्विपरीतपक्षे गर्वखण्डनः, तत्र दो अवखण्डने । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । श्लेषः ॥४॥ परिरभ्येति[1] । मयि, संक्रामितवाक्यपद्धतिः संक्रामिता स्थापिता वाक्यस्य पदसमुदायस्य पद्धतिर्धोरणी येन सः । मत्प्रभुः मम मे[2] प्रभुः स्वामी । अक्षतप्रणयम् अक्षतोऽखण्डितः प्रणयः प्रीतिर्यस्मिन् कर्मणि तत्० । भवन्तं पूज्यं त्वाम् । परिरभ्य आलिङ्ग्य । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण[3] । वदति ब्रवीति । पार्थिवाः राजानः । दूतमुखाः हि दूता एव मुखं वदनं येषां ते तथोक्ताः । अर्थान्तरन्यासः ॥५॥ महतामिति । अतिदूरवर्तिनोऽपि अतिदूरं वर्तते इत्येवं शीलः (अतिदूरवर्ती) तस्य । [ते तव] । शरदभ्रनिभाः शरदः शरत्कालस्याभ्रस्य मेघस्य निभाः समाः । ते तव । गुणाः, कौमुदीपतेः कौमुद्या ज्योत्स्नायाः पतेः (पत्युः) चन्द्रस्य । गभस्तयः किरणाः । कुमुदानामिव कुवलयानामिव । महतां सत्पुरुषाणाम् । अनुरागं प्रीतिम् । जनयन्ति उत्पादयन्ति । उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥६ । तवेति । सर्वदिग्विततामिः सर्वाः दिशः (सर्वासु दिक्षु) विततामिर्व्याप्ताभिः । तव ते । कीर्तिभिरेव यशोभिरेव[4] । विनयैकवृत्तिता विनय एव एकावृत्तिर्यस्याः तस्या भावो विनयमुख्यवृत्तित्वम् । महातरोः महावृक्षस्य । महती, फलसंपत् फलसंपत्तिः । सुमनो-

---

है और दो प्रकारसे मानद है—(१) नम्र व्यक्तियोंको मान देनेसे (२) और घमण्डियोंके मानका दलन करनेसे । (मानं ददातीति मानद :—जो विनम्र व्यक्तियोंको सम्मान प्रदान करे उसे मानद कहते हैं और 'मानं द्यति खण्डयतीति मानद :—जो मानियोंके मानका भञ्जन करे, उसे भी मानद कहते हैं) ॥४॥ मेरा स्वामी पृथिवीपाल आपसे आलिङ्गन करके अत्यन्त स्नेहपूर्वक मेरे द्वारा यों कह रहा है । आपके पास भेजते समय उसने मुझसे वे बातें कही थीं, जो मैं आपसे इस समय कह रहा हूँ : मैं उसका दूत जो ठहरा । और दूत ही तो राजाओंके मुख होते हैं । (बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गः घनसंवृतिकञ्चुकः । चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः ॥ राजा अद्भुत पुरुष है, जिसका शस्त्र बुद्धि है; जिसका शरीर प्रजा है; जिसका कवच मन्त्रगुप्ति है; जिसके नेत्र गुप्तचर हैं और जिसका मुख दूत हैं ।) ॥५॥ राजन् ! आपके गुण शरद् ऋतुके मेघोंके समान उज्ज्वल हैं, और वे स्वयं दूर रहकर भी महान् पुरुषोंको अनुराग उत्पन्न कर रहे हैं । जैसे शरद् ऋतुके मेघोंकी भाँति शुभ्र, चन्द्रमाकी किरणें कुमुदोंको अनुराग उत्पन्न कर देती हैं ॥६॥ जिस प्रकार फूलोंसे महान् वृक्षकी महती फल सम्पत्तिका अनुमान लगा जाता है, इसी प्रकार सभी दिशाओंमें फैली हुई कीर्तिसे ही तुम्हारे

---

१. आ परिरम्भेति । २. श नः मत् । ३. श °स्वरूपेण । ४. श 'यशोभिरेव' इति नास्ति ।

विधिना द्रवरूपताम्बुधेर्विहिता मूलत एव शान्तये ।
तव धैर्यजितेन लज्जया द्रवता नाभिभवो यदीक्षितः ॥८॥
विवृणोति मनोगतामियं नयवृत्तिर्भवतः सुशीलताम्[1] ।
अनुकूलतया प्रकाश्यते[2] निजनेतुः करिणो हि भद्रता ॥९॥
गुणवानपि स त्वमीदृशो मदनिश्चेतनधीरिवेक्ष्यसे[3] ।
कियतापि पुरातनं क्रमं यदतिक्रम्य विचेष्टसेऽन्यथा ॥१०॥
प्रणमन्ति मदन्वयोद्भवं तव वंश्या इति पूर्वजस्थितिः ।
करिणेव मदश्चुतार्गला[4] भवता सा सकलापि लङ्घिता ॥११॥

भिरिव पुष्पैरिव । अनुमीयते अनुमानं क्रियते । माङ्[5] माने कर्मणि लट् । अनुमितिः ॥७॥ विधिनेति । यदि । अम्बुधेः समुद्रस्य । विधिना ब्रह्मणा । मूलत एव सृष्टिकाले एव, प्रथमत एव वा । शान्तये तिरस्कारजनितशोकविच्छित्तये । द्रवरूपता प्रस्रवरूपत्वम् । विहिता कृता । (तत् तस्माद्धेतोः) । तव ते । धैर्यजितेन घोरत्वेन विजितेन । तिरस्कारजनितस्वेदलक्षणहेतुकेन । लज्जया व्रीडया[6] । द्रवता प्रस्रवता । समुद्रेण, अभिभवः तिरस्कारः । न ईक्षितः न लोकितः । उत्प्रेक्षा ॥८॥ विवृणोतीति । भवतः तव । इयम् एषा । नयवृत्तिः नीतिसहितवर्तना । मनोगता (तां) चित्तगता (ताम्) । सुशीलतां प्रशस्तस्वभावयुक्तत्वम् । अनुकूलतया अनुकूलत्वेन । विवृणोति व्यक्तीकरोति । निजनेतुः स्वस्य प्रभोः । अनुकूलतया, करिणः गजस्य । भद्रता भद्रजातित्वम् । प्रकाश्यते प्रशस्यते । अनुमितिः ॥९॥ गुणवानिति । यत् यस्मात्कारणात् । पुरातनं पूर्वकालभवम् । क्रमं परिपाटीम् । अतिक्रम्य[7] अतिक्रमणं कृत्वा । कियतापि अल्पकार्येणापि । अन्यथा अन्यप्रकारेण । विचेष्टसे वर्तसे । (अत एव) । ईदृशः एतादृशः । गुणवानपि गुणयुक्तोऽपि । सः त्वं भवान् । मदनिश्चेतनधीरिव मदेन ऐश्वर्यादिमदेन निश्चेतना मूढा बुद्धिर्यस्य स इव । ईक्ष्यसे दृश्यसे । ईक्ष दर्शने कर्मणि लट् ॥ उपमा ॥१०॥ प्रणमन्तीति । तव ते । वंश्याः वंशे भवा वंश्याः । मदन्वयोद्भवं मम मे अन्वये[8] सन्ताने उद्भवम् उत्पन्नम् । प्रणमन्ति नमस्कुर्वन्ति । णम प्रह्वत्वे शब्दे[9] लट् । इति एवम् । [पूर्वजस्थितिः] पूर्वजा प्राग्जाता स्थितिर्मर्यादा । मदश्चुता मदं श्चोततीति क्षरतीति मदश्चुत् तेन । करिणा गजेन । अर्गलेव निगल (ड) इव । भवता त्वया । सकलापि सर्वापि । सा स्थितिः, लङ्घिता[10] उद्गता

विनय व्यवहारका अनुमान लग रहा है ॥७॥ समुद्रको शान्त रखनेके लिए ब्रह्माने सृष्टिके प्रारम्भसे ही उसे द्रव रूपमें रचा । मानो इसीलिए धीरतामें आपसे पराजित होनेपर भी वह पानी-पानी होकर रह गया, अपमानका खयाल करके आग-बबूला नहीं हुआ ॥८॥ आपका नैतिक व्यवहार आपके हृदयकी सुशीलताको प्रकाशित करता है । जैसे अपने स्वामीके प्रति अनुकूल व्यवहार करनेसे निश्चय ही हाथीकी भद्रता-भद्रजाति प्रकाशित हो जाती है । हाथीके व्यवहारसे उसकी भद्रताका पता चल जाता है, इसी प्रकार आपके न्याय्य व्यवहारसे आपकी सुशीलताका स्पष्ट आभास हो जाता है ॥९॥ आप गुणी हैं, फिर भी कुछ दिनोंमें आप ऐसे मदान्ध-से देख पड़ते हैं कि अपनी पुरानी परिपाटीको ताकमें रखकर और अपने प्राचीन वंशकी मर्यादाका उल्लङ्घन करके विपरीत चेष्टा करने लगे हैं ॥१०॥ आपके वंशज हमारे वंशजोंको प्रणाम करते आ रहे हैं, यह पुरानी परिपाटी है, जिसे आपने बिलकुल ही तोड़ दिया है ।

---

१. आ इ सुशीतलताम् । २. क ख ग घ म प्रकाशते । ३. आ इ °रिवेक्षसे । ४. आ इ मदच्युतार्गला, म मदस्रुतार्गला । ५. श माञ् । ६. श पीडया । ७. = उल्लङ्घ्य । ८. = वंशे । ९. आ णमु प्रह्वत्वे शब्दे च । १०. = अतिक्रान्ता ।

करिणो मदमूढचेतसः परिपश्यन्स्वयमेव बन्धनम्।
भजते मदवृत्तिमात्मवान्क इवानात्महितप्रवर्तिनीम् ॥१२॥
मदमूढमतिर्हिताहितं न हि जात्यन्ध इवावलोकते[1]।
परिपश्यति सोऽथवा धिया न मदान्धस्तु धिया न चक्षुषा ॥१३॥
षडमी रिपवः शरीरजा नयविद्भिर्गदिता मदादयः।
निजचेतसि यः पुरैव तान्नृपतिः शास्ति स शास्ति मेदिनीम् ॥१४॥
क्षमते निजमेव रक्षितुं रिपुषड्वर्गहतं मनो न यः।
परिभूतिभयादिवात्मनस्तमपास्यापसरन्ति संपदः ॥१५॥

(अतिक्रान्ता)। उपमा ॥११॥ करिण इति। मदमूढचेतसः मदेन मूढमज्ञानं चेतश्चित्तं यस्य तस्य। करिणः गजस्य। बन्धनं स्वयमेव, परिपश्यन् विलोकमानः। अनात्महितप्रवर्तिनीम् अनात्महितां स्वस्यहितां प्रवर्तिनीं प्रवर्तनाम्। मदवृत्तिं मदेनाहंकारेण युक्तां वृत्तिं वर्तनाम्। आत्मवान् बुद्धिमान्। क इव को वा। इव शब्दो वाक्यालङ्कारे। भजते आश्रयते। भज सेवायां[2] लट्। आक्षेपः ॥१२॥ मदेति। मदमूढमतिः मदेन गर्वेण मूढा मुग्धा मतिर्बुद्धिर्यस्य सः। जात्यन्ध[3] इव जनुषान्ध इव। हिताहितम् इष्टानिष्टम्। न हि अवलोकते न वीक्षते। लोकृज् दर्शने लट्। अथवा जात्यन्धः, धिया बुद्धया। परिपश्यति पर्यालोकते। दृश्[4] प्रेक्षणे लट्। मदान्धस्तु मदेनान्धस्तु। धिया च न पश्यति, चक्षुषा च नयनेन च न पश्यति। उपमा। व्यतिरेकः ॥१३॥ षडिति। नयविद्भिः नयं नीतिशास्त्रं विदन्तीति नयविदः, तैः। शरीरजाः अन्तरङ्गभवाः। मदादयः मदप्रभृतयः। 'कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः'—इति नीतिवाक्यामृते। अमी इमे। षड् रिपवः शत्रवः। गदिताः प्रोक्ताः। यः नृपतिः भूपतिः। पुरैव प्रागेव। निजचेतसि स्वस्य मानसे। तान् शरीरजरिपून्। शास्ति निगृह्णाति। सः भूपः। मेदिनीं भूमिम्। शास्ति रक्षति। शास्[5] अनुशिष्टौ लट् ॥१४॥ क्षमत इति। यः राजा रिपुषड्वर्गहतं[6] रिपूणां शत्रूणां षण्णां वर्गः समूहः तेन हतं[7] बाधितम्। निजमेव स्वकीयमेव। मनः चित्तम्। रक्षितुं रक्षणाय। न क्षमते समर्थो न भवति। क्षमौषि[8] सहने लट्। तं राजानम्। संपदः संपत्तयः। आत्मनः स्वस्य। परिभूतिभयादिव परिभूतेस्तिरस्कारस्य भयादिव भीतेरिव।

जैसे मदमाता हाथी अर्गला (आगर) को तोड़ देता है ॥११॥ मदान्ध हाथीके बन्धनको स्वयं देखकर भी कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो अपने लिए अहित करनेवाली मदान्ध वृत्तिको अपनावे ॥१२॥ जिसकी बुद्धि मदसे विकृत हो जाती है, उसे जन्मान्ध पुरुषकी भाँति अपना हित और अहित नहीं सूझता। यों मदान्ध और जन्मान्ध बिल्कुल एक सरीखे हैं, किन्तु जन्मान्ध पुरुष अपनी बुद्धि (हियेकी आँख) से सभी ओर देख लेता है—आगा-पीछा सोच लेता है, पर मदान्ध न हियेकी आँखसे देख सकता है, और न ऊपरी आँखसे। अतः मदान्ध जन्मान्धसे भी गया-बीता है। १३॥ नीतिशास्त्रके जाननेवाले विद्वानोंने इन मद आदि छः—(मद, मान, काम, क्रोध, लोभ और हर्ष) को अन्तरंग शत्रु कहा है। जो राजा पहलेसे ही अपने मनमें इन छहों पर शासन कर लेता है, वही पृथिवीका शासन करता है ॥१४॥ जो राजा अपने ही मनको इन छह शत्रुओंके आक्रमणसे नहीं बचा सकता, उसकी लक्ष्मी मानो अपने

---

१. अ °लोकति। २. आ 'भज सेवायां' इति नास्ति। ३. =जन्मान्ध इव। ४. आ दृशिर्। ५. आ शासु। ६. आ श °हृतं। ७. आ श हृतं। ८. आ क्षमूष्।

शठता भवतोऽङ्कुशक्रिया द्विरदेनेव मयावधीरिता ।
चिरकालमियं[1] त्वयाधुना विहितो योऽपनयः स दुःसहः ॥१६॥

वनकेलिरिति द्विपाधिपः स्वयमागत्य तवाविशत्पुरम् ।
स धृतो भवतेति सत्वरैर्मम निश्चित्य चरैर्निवेदितम् ॥१७॥

स्वयमेव किल प्रहेष्यसि द्विरदं तं ननु नष्टवस्तु मे ।
स पुनर्भवतात्मसात्कृतो मदपेक्षारहितेन वारणः ॥१८॥

इति ते विनिवेदितं मया कुरु जानासि यदात्मशान्तये ।
हितमज्ञजनो हि शिष्यते न भवान्नीतिसमुद्रपारगः ॥१९॥

अपास्य मुक्त्वा । अपसरन्ति निर्गच्छन्ति । सृ गतौ लट् । आक्षेपः (उत्प्रेक्षा) ॥१५॥ शठतेति । भवतः तव । शठता दुर्जनता । द्विरदेन गजेन । अङ्कुशक्रिया इव सृणिव्यापार इव । मया, चिरकालं[2] अवधीरिता[3] क्षान्तिः कृता । यः अयम् । अपनयः दुर्नयः । अधुना इदानीम् । त्वया भवता । विहितः कृतः । सः अपनयः । दुःसहः सोढुमशक्यः । अभवत् ॥१६॥ वनेति । वनकेलिरिति वनकेलिनामधेयः । द्विपाधिपः गजपतिः । स्वयम् आगत्य एत्य । तव भवतः । पुरं नगरम् । अविशत् अगच्छत् । सः द्विपाधिपः । भवता त्वया । धृतः स्वीकृतः । इति एवम् । सत्वरैः शीघ्रगमनयुक्तैः । चरैः दूतैः । निश्चित्य निर्णीय । मम मे । निवेदितं[4] नियोजितम् ॥१७॥ स्वयमिति । तं द्विरदं तं गजपतिम् । स्वयमेव[5] त्वमेव । प्रहेष्यसि किल प्रहेषयन् भविष्यसि किल । नष्टवस्तु[6], मे मम । ननु[7] निश्चयः । पुनः पश्चात् । सः वारणः वनकेलिः इति गजपतिः । मदपेक्षारहितेन मम मे अपेक्षया वाञ्छया सहितेन । भवता त्वया । आत्मसात्कृतः स्वाधीनं (नः) कृतः । प्रागनात्माधीन इदानीमात्माधीनः क्रियते स्म आत्मसात्कृतः । 'व्याप्तौ सात्' इति सात्-प्रत्ययः ॥१८॥ इतीति । मया, इति एवम् । ते भवतः । विनिवेदितं विज्ञापितम् । यद् आत्मशान्तये आत्मनः स्वस्य शान्तये हितनिमित्तम् । जानासि बुध्यसे[8] । ज्ञा अवबोधने लट् । तत्कार्यं कुरु विधेहि । डुकृञ् करणे लोट् । अज्ञजनो हि मूढलोकोको हि । हितं शिष्यते शिक्ष्यते । शासु[9] अनुशिष्टौ कर्मणि लट् । नीतिसमुद्रपारगः नीतिरेव

अपमानके भयसे उसे छोड़कर चली जाती है ॥१५॥ जैसे हाथी अंकुशकी चुभनको चिरकाल सहता है, वैसे मैंने तुम्हारी धूर्तता बहुत समय तक सही, और उसकी ओर उपेक्षा की, किन्तु अभी-अभी तुमने जो अन्याय किया है, वह मेरे लिए असह्य है ॥१६॥ क्या अन्याय किया ? सुनिये, हमारा 'वनकेलि' नामका एक गजराज स्वयं वहाँ पहुँच कर तुम्हारे नगरमें घुस गया, उसे तुमने पकड़ लिया है । इस बातको निश्चित रूपसे जानकर हमारे गुप्तचरोंने शीघ्र ही हमें खबर दी है ॥१७॥ मैं सोचता था कि तुम मेरी खोई हुई चीजको अर्थात् उस हाथीको स्वयं मेरे पास भेज दोगे, किन्तु मेरी उपेक्षा करके तुमने उसे अपना बना लिया है ॥१८॥ बस, मैंने तुमसे इतना निवेदन कर दिया है, अब जो तुम्हारी शान्तिके लिए हो—जिससे तुम्हें शान्ति हो, सो करो । हितकी शिक्षा मूर्खको दी जाती है । आपको हितकी शिक्षा कैसे दी जा सकती है ? क्योंकि आप तो नीतिशास्त्रके—जो समुद्रकी भाँति अपार है—पारगामी

---

१. आ इ °मयं । २. = बहुकालपर्यन्तम् । ३. = उपेक्षिता । ४. = कथितम् । ५. = स्वत एव । ६. आ श नष्टेन वस्तु । ७. = निश्चयेन । ८. श बुध्यसि । ९. आ शासु ।

तदवेत्य वचः प्रभोरिदं भव नम्रोऽर्पय तं मतङ्गजम् ।
न भवन्ति हि जातुचिन्नदा जलधौ तिष्ठति रत्नभाजनम् ॥२०॥
अपरानपि यच्छति द्विपानमुनैकेन विभुः प्रसादितः ।
परिकुप्यति चेत्स दारुणो न तवायं भविता न चापरे ॥२१॥
प्रविहाय जिगीषुतामिमां भव गत्वा प्रभुपादवत्सलः ।
अधिकं तव लाभमिच्छतो ननु तन्मूलमपि प्रणङ्क्ष्यति[1] ॥२२॥

समुद्रो जलधिः तस्य पारगः तीरं गतवान् । भवान्, न शिष्यते ॥१९॥ तदिति । तत् तस्मात्कारणात् । प्रभोः स्वामिनः । इदम् एतत् । वचः वचनम् । अवेत्य ज्ञात्वा । नम्रः विनयशीलः । 'नम्कम्य—' इत्यादिना शीलार्थे र-प्रत्ययः । भव स्याः । भू सत्तायां लोट्[2] । तं मतङ्गजं वनकेलिनामधेयं गजम् । अर्पय देहि । ऋ प्रापणे णिजन्ताल्लोट्[3] । 'ह्रीव्ली—' इत्यादिना पुक्—आगमः । जलधौ समुद्रे । तिष्ठति सति विद्यमाने सति । जातुचिदपि एकवारमपि । नदाः नद्यः । रत्नभाजनं रत्नानां भाजनम् आधारः[4] । न भवन्ति हि । अर्थान्तरन्यासः ॥२०॥ अपरानिति । अमुना एतेन । एकेन गजेन । प्रसादितः संतोषितः । विभुः पृथिवीपालः । अपरान् अन्यान् । द्विपानपि गजानपि । यच्छति ददाति । दाण् दाने लट् । 'पाघ्रा—' इत्यादिना दाण्[5] धातोर्यच्छ-आदेशः । सः विभुः । दारुणः सन् भयंकरः सन् । परिकुप्यति[6] चेत् कोपयति चेत् । कुप क्रोधे लट् । अयं गजः । तव ते । भविता[7] भविष्यन् । न अपरे अन्ये । गजाश्च न न भवितारः—इत्यर्थः । आक्षेपः (विषमालङ्कारः) ।२१॥ प्रविहायेति । इमाम् एताम् । जिगीषुतां जेतुमिच्छुत्वम्[8] । प्रविहाय विमुच्य । गत्वा प्राप्य । प्रभुपादवत्सलः प्रभोः पादयोश्चरणयोर्वत्सलो वात्सल्ययुक्तः । भव भवेः । भू सत्तायां लोट्[9] । अधिकं बहुलम् । लाभमिच्छतः[10] वाञ्छतः । तव ते । तन्मूलमपि तस्य लाभस्य मूलमपि, लाभाय दीयमानराज्यादिरपि[11]—इत्यर्थः । प्रणङ्क्ष्यति[12] नाशमेष्यति । ननु निश्चयेन । नश्[13]

हैं ॥१९॥ राजन् ! यह मेरे स्वामी पृथिवीपाल राजाका सन्देश है । इसे समझकर जो उचित हो, कीजिये । यदि मेरी सलाह उचित हो तो आप नम्र हो जाइये और वह हाथी वापिस कर दीजिये । क्योंकि समुद्रके रहते हुए नद कभी रत्नोंका पात्र नहीं हो सकता । समुद्र ही तो रत्नाकर कहलाता है । इसी तरह उत्तम गजरत्नका पात्र केवल पृथिवीपाल हो सकता है । 'रत्नहारी हि पार्थिवः' यह उक्ति पृथिवीपालके लिए है ॥२०॥ यदि इस एक अकेले वनकेलि हाथीको वापिस करके तुमने पृथिवीपालको प्रसन्न कर लिया, तो वह तुम्हें और भी हाथी प्रदान करेगा । यदि तुम हाथी वापिस नहीं करोगे, तो वह भीषण रूप धारण कर लेगा, फिर तुम्हारे पास न यह वनकेलि रहेगा, और न अन्य हाथी भी, जो इस समय तुम्हारे पास हैं ॥२१॥ जीतनेकी इस इच्छाको छोड़ो और पृथिवीपालके पास जाकर उसके चरणोंमें अपना वात्सल्य प्रकट करो । यदि तुम अधिक लाभके लोभमें पड़ोगे, तो निश्चय ही तुम्हारा मूल (राज्य) भी

---

१. अ प्रणेङ्क्ष्यति । २. श लेट् । ३. श लिट् । ४. आ आधारभूतम् आविष्टलिङ्गम् । ५. आ दाणो° । ६. =क्रुध्यति चेत् । ७. =भविष्यति । ८. श °मिच्छत्वम् । ९. श लेट् । १०. श °मिच्छोः । ११. आ लोभया धिया मानराज्यादित्यर्थः । १२. आ प्रणंस्यति । १३. श णश् ।

क्षमते विनयातिलङ्घनं स यथा ते गदितास्मि ते तथा।
ननु[1] तत्र भवत्यसंशयं मम वाक्येन पयोऽपि गोरसः ॥२३॥
हितमिच्छसि चेदकैतवां कुरु मद्वाचमथ प्रियप्रिय[2]।
रहसि व्रज तिष्ठ भाषयञ्जय जीवेति गिरः स्वयोषितः ॥२४॥
इति भाषिण[3] एव भारतीं रिपुदूतस्य सगर्वमाक्षिपन्।
[4]नरनाथदृशा कटाक्षितो युवराजो गिरमित्युदाहरत् ॥२५॥
विनयप्रशमकभूषणं परमन्यायसमर्थनोद्यतम्।
प्रविहाय भवन्तमीदृशं वचनं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥२६॥

अदर्शने लृट्। 'नश्मस्—' इत्यादिना नम्[5]-आगमः ॥२२॥ क्षमत इति। सः प्रभुः। ते तव। विनयातिलङ्घनं विनयातिक्रमम्। यथा येन प्रकारेण। क्षमते सहते। क्षमोषि[6] सहने लट्। तथा तेन प्रकारेण। तं विभुम्। गदितास्मि भणिष्यामि। गद व्यक्तायां वाचि लुट्, उत्तमपुरुषैकवचनम्। विनयातिलङ्घनं न क्षमेत[7]-इत्यर्थः। तत्र पृथिवीपाले भूपे। मम मे। वाक्येन वचनेन। पयोऽपि जलमपि। गोरसः क्षीरम्। असंशयं निश्चयेन[8]। भवति जायते। अतिशयः ॥२३॥ हितमिति। प्रियप्रिय प्रियेषु प्रिय भो मित्र, अत्यन्तं मित्र[9]—इत्यर्थः। हितं स्वस्य हितम्। इच्छसि चेत् वाञ्छसि चेत्। इमाम् एताम्। मद्वाचं मम मे वाचं वचनम्। अकैतवां सत्यरूपाम्। कुरु विधेहि। डुकृञ् करणे लोट्[10]। स्वयोषितः स्वस्य योषितो वनिताः। जय जीव इति, गिरः वचनानि। भाषयन् उच्चारयन्। रहसि निशायाम् (एकान्ते)। व्रज गच्छ। तिष्ठ ॥२४॥ इतीति। इति उक्तप्रकारेण। भाषिणः एव भाषणशीलस्यैव। रिपुदूतस्य शत्रोर्दूतस्य वचोहरस्य। सगर्वं गर्वयुक्तं। यथा तथा। भारतीं वचनम्। आक्षिपन् निवारयन्। नरनाथदृशा नरनाथस्य पद्मनाभस्य। दृशा नयनेन। कटाक्षितः[11] कटाक्षेण दर्शितः। युवराजः सुवर्णनाभकुमारः। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। गिरं भारतीम्। उदाहरत् अब्रवीत्। हृञ् हरणे लङ् ॥२५॥ विनयेति। विनयप्रशमैकभाषणं[12] विनयप्रशमौ एकभाषणे एकवचने यस्य तम्, अन्यत्र विगतनयप्रशमैकभाषणम्। परमन्यायसमर्थनोद्यतं परमश्चासौ न्यायश्च परमन्यायस्तस्य समर्थने साधने उद्यतमुद्युक्तम्, अन्यत्र परं केवलमन्यायसमर्थनोद्यतम्। भवन्तं

नष्ट हो जायेगा—'लाभमिच्छतो मूलच्छेदः' यह उक्ति चरितार्थ होगी ॥२२॥ मैं पृथिवीपाल भूपालसे तुम्हारे बारेमें ऐसे ढंगसे बात करूँगा, जिससे वह तुम्हारे इस विनयके उल्लंघनको क्षमा कर देगा। यह निश्चित है कि मेरे कहनेसे वह पानीको भी दूध मान लेगा ॥२३॥ हे प्रियवर! यदि तुम अपना हित चाहते हो तो मेरे निश्छल वचनका पालन करो, और अपनी स्त्रियोंसे 'जय हो महाराजकी, जियो महाराज' यह कहलवाते हुए जाओ और एकान्तमें पृथिवीपालसे मिलो ॥२४॥ इतना सुनकर पद्मनाभने युवराज सुवर्णनाभको ज्योंही आँखका इशारा किया त्योंही उसने,उक्त प्रकारसे बड़े घमण्डसे बोलनेवाले पृथिवीपालके दूतको टोककर यों उत्तर दिया—॥२५॥ हे दूत! विनय और शान्तिपूर्वक बोलनेवाले और उत्कृष्ट न्यायका समर्थन करनेके लिए तैयार रहनेवाले तुम्हें छोड़कर ऐसे वचन और कौन कह सकता है? (यह प्रशंसा परक अर्थ हुआ) हे दूत! नीति और शान्ति रहित भाषण करनेवाले और सरासर अन्यायका समर्थन करनेके लिए तैयार रहनेवाले तुम्हें छोड़कर ऐसे वचन कहनेके

१. आ इ खलु तत्र। २. अ मथाप्रियाप्रियः, आ इ म मिमां प्रियाप्रियः, क ख ग व °मथ प्रियंप्रियः। ३. इ भाषण एव। ४. आ इ पृथुवीप°। ५. आ 'नश्च भ्रश्च' इत्यादिना नुमागमः। ६. आ क्षमूष्। ७. = लङ्घनं क्षमेत। ८. आ निश्चयम्। ९. आ °न्तं प्रिय°। १०. श लेट्। ११. = कृतसंकेत इत्यर्थः। १२. एष टीका पाठः प्रतिषु तु 'भूषणं' इत्येव पाठः समुपलभ्यते।

सचिवैरधुना भवद्विधैः परमेधोद्यमयोग्यतान्वितैः ।
सहितस्य कथं भवेत्प्रभोस्तव भूतिः प्रचुरा न मन्दिरे ॥२७॥
विनयैकरतिर्महागुणः सकलेऽस्मिन्भुवने स गण्यते ।
नृपतिः प्रविनिन्दितं सतामुचितं तस्य[1] विधातुमीदृशम् ॥२८॥
यदि भाग्यवशेन वारणो गृहमस्माकमयं व्यगाहत[2] ।
इयतैव किमक्षमा प्रभोः परवृद्धिष्वसतां हि मत्सरः ॥२९॥

त्वाम् । प्रविहाय विमुच्य । ईदृशम् एतादृशम् । वचनं भाषणम् । वक्तुं निगदितुम् । कः को वा । उपक्रमेत प्रारभेत । क्रमू पादविक्षेपे लङ् । 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इति तङ् । श्लेषः ॥२६॥ सचिवैरिति । परमेधोद्यमयोग्यतान्वितैः परा उत्कृष्टा मेधा धारणाबुद्धिः, परा चासौ मेधा च तस्या उद्यम उद्योगः तस्य योग्यतया योग्यत्वेनान्वितैर्युक्तैः, अन्यत्र परं केवलम् एधोद्यम इन्धनानामुद्यम उद्योगः तेन अन्वितैः । भवद्विधैः भवादृशैः । सचिवैः दूतैः । अधुना इदानीम् । सहितस्य युक्तस्य । तव ते । प्रभोः पृथिवीपालस्य । मन्दिरे गृहे । भूतिः संपत्, अन्यत्र भस्म । प्रचुरा बहुला । कथं[3] केन । न भवेत् न स्यात् । लिङ्[4] । श्लेषः ॥२७॥ विनयेति । अस्मिन् एतस्मिन् । सकले निखिले । भुवने लोके । विनयैकरतिः विनये एका मुख्या रतिः प्रीतिर्यस्य सः, अन्यत्र विगतनयैकप्रीतिः । महागुणः महान्तो गुणा यस्य सः, अन्यत्र महान्तो अगुणा दोषा यस्य सः । सः नृपतिः भूपतिः । गण्यते[5] संख्याक्रियते । गण संख्याने कर्मणि लट् । सतां सत्पुरुषैः । प्रविनिन्दितं[6] प्रकुत्सितम् । 'वा नाकस्य—' इत्यादिना कर्मणि[7] षष्ठी । ईदृशम् एतादृशं कार्यम् । विधातुं कर्तुम् । उचितम् । श्लेषः ॥२८॥ यदीति[8] । यदि भाग्यवशेन[9] भाग्यस्य दैवस्य वशेन अधीनेन । अयम् एषः । वारणः गजपतिः । अस्माकं गृहं मन्दिरम् । व्यगाहत प्रविशति स्म । गाहौङ्[10] विलोडने लङ् । इयतैव एतावतैव । प्रभोः भवतः स्वामिनः । अक्षमा [कि] मात्सर्यं किम् । असतां दुर्जनानाम् । परवृद्धिषु[11] परेषामन्येषां वृद्धिषु[12] संपत्तिषु ।

लिए और कौन उपक्रम (प्रारम्भ) कर सकता है ? (यह निन्दापरक अर्थ हुआ) ॥२६॥ हे दूत ! दूसरोंकी बुद्धिको प्रेरणा देनेकी योग्यतावाले आप सरीखे सलाहकारोंसे युक्त पृथिवीपालके महलमें इस समय प्रचुर सम्पत्ति क्यों न हो ? (यह स्तुतिपरक अर्थ है) हे दूत ! केवल ईंधन ले आनेकी योग्यता रखनेवाले तुम्हारे सरीखे नौकरोंसे युक्त तुम्हारे स्वामी पृथिवीपालके घरमें इस समय भस्म क्यों न हो ? (यह निन्दा परक अर्थ है) ॥२७॥ 'वह राजा पृथिवीपाल विनयमें अत्यन्त आसक्त और महान् गुणी है', इस रूपमें उसकी इस संसारमें गणना की जाती है । सज्जनोंके द्वारा श्लाघ्य समझे जानेवाले, ऐसे काम करना उसके लिए उचित है । (यह स्तुतिपरक अर्थ है) इस संसारमें सभी जगह पृथिवीपालकी गणना अन्यायमें आसक्त और महान् दुर्गुणोंके रूपमें की जाती है । अतः सज्जनोंके द्वारा निन्दनीय, ऐसे काम करना, उसके लिए उचित है । (यह निन्दापरक अर्थ है) ॥२८॥ यदि भाग्यवश यह हाथी हमारे घरमें घुस आया, तो इतने मात्रसे तुम्हारे प्रभुजी महाराज आपेसे बाहर क्यों हो रहे हैं ? सच तो यह है कि दूसरोंकी वृद्धि होनेपर दुर्जनोंको डाह हुआ करती

१. अ यस्य । २. क ख ग विगाहत । ३. = केन प्रकारेण । ४. श लेङ् । ५. = गणनाविषयीक्रियते । ६. श 'प्र' नास्ति । ७. आ करणार्थे । ८. आ यदिति । ९. = दैवात् । १०. आ गाहृ । ११. आ परमर्धिषु । १२. आ ऋद्धिषु ।

इह तावददातुमिच्छतां निजमस्माकमयं किलाक्रमः ।
परवस्तु जिगीषतां पुनर्भवतामेष किमुच्यते क्रमः ॥३०॥

वचनं क खलूपयुज्यते प्रभुरस्मि क्रमतोऽहमित्यदः ।
ननु खड्गबलेन भुज्यते वसुधा न क्रमसंप्रकाशनैः ॥३१॥

करिणीपतिरन्यदेव[1] वा कृतपुण्यं समुपैति वस्तु यत् ।
बलिना तदपास्यते बलान्नहि लोके क्वचिदीदृशः क्रमः ॥३२॥

अथ सप्रणयेन याचते करिणीनाथमनाथवत्सलः ।
इति ते विनिवेदितं मयेत्यभिधत्ते[2] भयदर्शि किं वचः[3] ॥३३॥

मत्सरः मात्सर्यं हि । अर्थान्तरन्यासः ॥२९॥ इहेति । इह अस्मिन् जगति । तावत् प्रथमम् । निजं स्वकीयं वस्तु । अदातुम् अदानाय । इच्छतां वाञ्छताम् । अस्माकम्, अयम् एषः । अक्रमः किल अन्यायः किल । पुनः पश्चात् । परवस्तु अन्यदीयं वस्तु । जिघृक्षतां गृहीतुमिच्छताम् । भवतां युष्माकम् । एषः अयम् । क्रमः 'न्यायः' इति उच्यते निगद्यते किम् ॥३०॥ वचनमिति । अहं क्रमतः वंशक्रमात् । प्रभुः राज्याधिपतिः । अस्मि भवामि । अस भुवि लट् । [इति] अदः एतत् । वचनं भाषणम् । क्व कुत्र । खलु स्फुटम् । उपयुज्यते प्रयुज्यते । वसुधा भूमिः । खड्गबलेन शस्त्रबलेन । भुज्यते अनुभूयते । भुज पालनाभ्यवहारयोः कर्मणि लट् । क्रमसंप्रकाशनैः क्रमस्य[4] परिपाट्याः संप्रकाशनैः प्रकटनैः[5] । [ननु निश्चयेन] । न भुज्यते[6] ननु निश्चयम् । अर्थान्तरन्यासः ॥३१॥ करिणीति । करिणीपतिः गजपतिः । अन्यदेव वा गजादन्यत् अमूल्यरत्नादि वा । यत् वस्तु । कृतपुण्यं कृतं पुण्यं सुकृतं येन तम् । पुरुषं समुपैति संप्राप्नोति । इण् गतौ लट् । तत् वस्तु । बलिना सामर्थ्यवता पुरुषेण । बलात्[7] सामर्थ्यात् । अपास्यते आकृष्यते गृह्यते[8] वा । असू[9] क्षेपणे कर्मणि लट् । ईदृशः एतादृशः । क्रमः परिपाटी, मम गजो मदीयः-इति क्रमः । लोके जगति । क्वचित् नहि नास्ति हि ॥३२॥ अथेति । अथ अथवा । अनाथवत्सलः अनाथेषु दीनजनेषु वत्सलः प्रीतिमान् । सः[10] पृथिवीपालः[11] । करिणीनाथं गजपतिम् । प्रणयेन विनयेन । याचते प्रार्थ्यते । याचृ[12] याचने लट् । इति एवम् । ते तव । मया विनिवेदितं ज्ञापितम्—इत्युक्ते (इत्युक्तम्) । भयदर्शि भयप्रकाशि । वचः वचनम् ।

है ॥२९॥ हम अपनी वस्तु आपको नहीं देना चाहते, इसे आप हमारा अन्याय कहते हैं, तो फिर पराई (हमारी) वस्तुको जो आप स्वयं हड़प लेना चाहते हैं, उसे क्या आपका न्याय कहा जायेगा ? ॥३०॥ 'मैं पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे साम्राज्यका स्वामी हूँ' यह कहना कहाँ उपयोगी है ? निश्चय ही तलवारके बलपर पृथिवीका भोग किया जाता है, न कि वंश परम्पराका राग अलापनेसे ॥३१॥ गजराज या और भी कोई वस्तु, जो पुण्यवान् पुरुषको प्राप्त हो, उसे कोई तीसमारखाँ बलात् छीन ले, ऐसा न्याय या ऐसी परिपाटी इस दुनियामें कहीं भी नहीं है ॥३२॥ और, यदि वह दीनानाथ (दीन, अनाथ) विनय पूर्वक हमसे हाथीकी याचना करना चाहता है, तो 'मैंने तुमसे निवेदन कर दिया' (६ से १९वें श्लोक तक) ये डर दिख-

१. इ °रन्यदेव । २. आ इ °धत्से । ३. आ इ तं वचः । ४. वंशस्य । ५. आ प्रकटक्रियाभिः । ६. = नानुभूयते । ७. = हठात् । ८. आ दृश्यते । ९. आ असु । १०. श 'सः' इति नास्ति । ११. आ पृथ्वीपा° । १२. आ याचृ ।

किमु तस्य न सन्ति वारणा बहवोऽन्ये परपक्षवारणाः ।
अमुना स पदेन मन्दधीर्ध्रुवमस्मानभियोक्तुमिच्छति ॥३४॥
बलवानहमित्यहंक्रिया नहि सर्वत्र भवेत्प्रशान्तये ।
अधिकक्रमतैव मृत्यवे ननु सिंहस्य घनं लिलङ्घिषोः ॥३५॥
बलगर्वितयैव निष्फलं प्रविधित्सुर्महतामतिक्रमम् ।
स्वयमेव खलः स भोत्स्यते[1] कटुनो यन्मधुरस्य चान्तरम् ॥३६॥
शयितस्य हरेः प्रबोधनामिति कुर्वन्तमुपेत्य मत्प्रभुः ।
सहसैव हिनस्ति किं न तं यदि न स्यात्क्षमया निवारितः ॥३७॥
अभियुज्य निहन्ति यो रिपूनभियुक्तः स पुनर्विशेषतः ।
ज्वलितुं स्वयमुत्सुकः शिखी[2] सुतरां मारुतसंप्रधुक्षितः ॥३८॥

(किम्) अभिधत्ते (किं) वदति । डुधाञ् धारणे च लट् । किं किं निमित्तम् ॥३३॥ किम्विति[3] । तव भूपतेः । परपक्षवारणाः परेषां पक्षस्य सेनाया वारणाः तिरस्कर्तारः । 'कृतकामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । अन्ये केचित् । बहवः बहुलाः । वारणाः गजाः । न सन्ति न विद्यन्ते । अस भुवि लट् । किमु किम् । मन्दधीः मन्दबुद्धिः । सः तव भूपः । अमुना एतेन । पदेन व्याजेन । अस्मान्, अभियोक्तुं योद्धुम् । इच्छति वाञ्छति । ध्रुवं निश्चयेन ॥३४॥ बलवानिति । अहं बलवान् सामर्थ्यवान् इति । अहंक्रिया अहंकारः । सर्वत्र सर्वप्रदेशेषु कार्येषु वा । प्रशान्तये सुखाय । न भवेद्धि न स्याद्धि [नहि भवेत् नहि स्यात्] । भू सत्तायां लिङ्[4] । घनं मेघम् । लिलङ्घिषोः लङ्घितुमिच्छोः । सिंहस्य कण्ठीरवस्य । अधिकक्रमता अधिकमत्यन्तं क्रमता पादविक्षेपतैव । मृत्यवे मरणाय[5] । ननु । अर्थान्तरन्यासः ॥ ३५ ॥ बलेति । बलगर्वितयैव बलेन सामर्थ्येन गर्वितयैव गर्वयुक्ततयैव । महतां महापुरुषाणाम् । निष्फलं प्रयोजनरहितं यथा तथा । अतिक्रमं लङ्घनम् । प्रविधित्सुः कर्तुमिच्छुः । सः खलः दुर्जनः । कटुनः कटुवस्तुनः । मधुरस्य मधुरवस्तुनश्च । यत् अन्तरं तारतम्यम्, अस्ति । (तत्) स्वयमेव भोत्स्यते[6] ज्ञास्यते । बुधि मनि ज्ञाने लृट् । 'बशो भष्—' इत्यादिना भषादेशः । आक्षेपः ॥३६॥ शयितस्येति । इति एवम् । शयितस्य सुप्तस्य । हरेः सिंहस्य । प्रबोधनां[7] जागरणम् । कुर्वन्तं विदधतम् । तं[8] पुरुषम् । समुपेत्य समीपं गत्वा । मत्प्रभुः स्वामी क्षमया [9]शान्त्या । निवारितः निरुद्धः । यदि न स्यात् न भवेत्, तर्हि । सहसैव शीघ्रमेव । न हिनस्ति किं न हन्ति किम्[10], अपितु हन्त्येव ॥३७॥ अभियुज्येति । यः भूपः । रिपून् शत्रून् । अभियुज्य अभिषेणयित्वा, शत्रून् प्रति सेनया सह अभिगम्य—इत्यर्थः । निहन्ति हिनस्ति । हन हिंसागत्योर्लट् । सः

लानेवाले धमकी भरे वचन क्यों कहता है ? ॥३३॥ क्या उसके पास शत्रुओंकी सेनाका वारण करनेवाले (परेषां शत्रूणां पक्षं वारयन्तीति परपक्षवारणाः) और बहुतेरे हाथी नहीं हैं, जो वह नादान इस बहाने हमसे युद्ध करना चाहता है ॥३४॥ 'मैं बलवान् हूँ' यह अहंकार सभी जगह सुखदायी नहीं हो सकता। मेघको लाँघनेकी इच्छा करनेवाले सिंहकी ऊँची छलांग ही उसकी मृत्युके लिए हो जाती है ॥३५॥ केवल बलके घमण्डसे बड़ोंके ऊपर निष्प्रयोजन आक्रमण करनेका इरादा करनेवाला वह दुर्जन पृथिवीपाल अपने आप कडुए और मीठेका फर्क जान जायेगा ॥३६॥ यदि क्षमाने न रोक लिया होता तो इस तरह सोए हुए सिंहको जगानेवाले पृथिवीपाल को, मेरे प्रभु–पिता पद्मनाभ, सहसा चढ़ाई करके क्या मार न डालते ? ॥३७॥ जो झूठा अभियोग लगाकर अथवा आक्रमण करके शत्रुओंको मारनेको उद्यत होता है, वह

१. आ इ भोत्स्यते, म भोक्ष्यते । २. अ शखी । ३. आ किमिति । ४. श लेट् । ५. = भवतीति शेषः । ६. श वोत्स्यते । ७. श प्रचोदनां । ८. = पृथिवीपालम् । ९. आ शील्या । १०. श 'न हन्ति किम्' इति नोपलभ्यते ।

क्षयवान्विजिगीष्यते परैर्व्यसनी दैवविवर्जितोऽथवा ।
कलिता वद तत्र के वयं प्रसभं त्वत्प्रभुणा जिगीषता ॥३९॥
भवति प्रियमिष्टसाधकं महति क्षुद्रजने हठक्रिया ।
इति किं न स वेत्ति मूढधीरथवा को विभवैः सचेतनः[1] ॥४०॥
न भवान्किमवैति यद्बलात्कुरुते राज्यमसावकण्टकम् ।
प्रहरन्ति न सांख्यपूरुषं ननु तं मत्प्रभुशङ्कयारयः ॥४१॥

राजा । पुनः पश्चात् । अभियुक्तः अन्येन गृहीतः । विशेषतः विशेषात्, निहन्ति । शिखी वह्निः । स्वयं ज्वलितुं दीपितुम् । उत्सुकः उद्युक्तः । मारुतसंप्रधुक्षितः मारुतेन वायुना संप्रधुक्षितः प्रवर्द्धितः । सुतराम् अत्यन्तं ज्वलति—इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥३८॥ क्षयवानिति । क्षयवान् नाशवान् । अथवा, व्यसनी कामक्रोधादिदोषवान् । दैवविवर्जितः दैवेन पुण्येन विवर्जितो रहितः । परः शत्रुः । विजिगीष्यते जेतुमिष्यते । प्रसभं हठात् । जिगीषता जेतुमिच्छता । त्वत्प्रभुणा स्वामिना । तत्र त्रये । वयं के कलिताः गणिताः निश्चिता वा । वद ब्रूहि । वद व्यक्तायां वाचि लोट्[2] । आक्षेपः ॥३९॥ भवतीति । महति स्वस्मादधिके । प्रियं प्रीतिः । इष्टसाधकम् इष्टस्य अभीष्टस्य साधकम् । भवति जायते । क्षुद्रजने स्वस्माद्धीने[3] । हठक्रिया बलात्कारः (इष्टसाधिका) भवति । मूढधीः मूढा मन्दा धीर्मतिर्यस्य सः । सः राजा । इति किं न वेत्ति किं न जानाति । अथवा तथापि[4] विभवैः सद्भिः चेतनः चैतन्ययुक्तः कः को वा वेत्ति । विद ज्ञाने लट् अर्थान्तरन्यासः ॥४०॥ नेति । यद्बलात् यस्य पद्मनाभस्य बलात् सामर्थ्यात् असौ पृथ्वीपालः । राज्यं राज्ञो भावः कृत्यं वा राज्यं, देशाधिपत्यम् । अकण्टकं न विद्यते कण्टको यस्मिन् कर्मणि तत् शत्रुरहितं यथा तथा—इत्यर्थः । भवान् त्वम् । नावैति न जानाति किम् । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः । सांख्यपूरुषः सांख्येनाङ्गीकृतः पुरुषः, जडात्मा—इत्यर्थः । अकिंचित्करं तं पृथिवीपालम्[5] । मत्प्रभुशङ्कया मम मे प्रभुः स्वामी तस्य शङ्का[6]

विशेष रूपसे अभियुक्त या आक्रान्त होकर स्वयं मारा जाता है—जो दूसरेको मारना चाहता है, वह स्वयं दूसरेके द्वारा मारा जाता है । अग्नि जलनेके लिए स्वयं उत्सुक रहता है, फिर वायुसे खूब प्रज्वलित होकर तो और भी अधिक जल उठता है । पद्मनाभ अग्निके समान हैं । पृथिवीपाल उन्हें छेड़ेगा तो स्वयं मारा जायेगा ॥३८॥ जो राजा क्षीण हो, दुर्व्यसनोंमें फँसा हुआ हो अथवा भाग्यहीन हो, उसे दूसरे जीत लेना चाहते हैं । तुम्हारा स्वामी पृथिवीपाल हमें जीतना चाहता है, तो तुम हमें यह तो बताओ कि उसने हमें उन तीनोंमें-से क्या समझ रखा है—क्षयवान्, दुर्व्यसनी या हतभाग्य ? ॥३९॥ 'महान् पुरुषके साथ किया गया प्रिय व्यवहार और क्षुद्र व्यक्तिके साथ किया गया बलात्कार इष्टको सिद्ध करनेवाला होता है' इस बातको क्या वह मूर्ख पृथिवीपाल नहीं जानता ? अथवा वैभव होनेसे कौन चेतना (बुद्धि) युक्त रह पाता है ?—वैभवके मदसे चेतना (बुद्धि) विकृत हो जाती है, जिससे विवेक लुप्त हो जाया करता है ॥४०॥ जिनके बलके भरोसे पृथिवीपाल निष्कण्टक राज्य कर रहा है, उन्हें क्या आप नहीं जानते ? न जानते हो तो सुनो, निश्चय ही मेरे पिताजीके भयसे ही शत्रु लोग उस जड़ और अकिंचित्कर पृथ्वीपालके ऊपर प्रहार नहीं

१. अ कुचेतनः ।　२. श लेट् ।　३. श स्वात्माधीने ।　४. श तथा हि ।　५. श पृथ्वी° ।
६. =भीतिः ।

इति तस्य निशम्य भारतीं रिपुदूतः परिवृद्धमत्सरः ।
न्यगदीद्गुरुगर्वगद्गदामभिसर्पन्गिरमग्रतोऽग्रतः ॥४२॥
स्वहितं स्वधियैव बुध्यते पुरुषः सत्युदये सुकर्मणः ।
अविधेयविधिर्न बुध्यते स्वधिया नापि परेण बोधितः ॥४३॥
न निमित्तमिहोपदेशको न च शास्त्रं न च साधुसंगतिः ।
कुशलाकुशला च जायते[1] धिषणा दैववशेन देहिनाम् ॥४४॥
अवभाति निजं स पौरुषं कथयन्निर्वहते तथैव यः ।
निजविक्रमगर्विणो रणे हसनीया बहवो मयेक्षिताः ॥४५॥

संशयः तया । अरयः शत्रवः न प्रहरन्ति न घ्नन्ति । हृञ् हरणे लट् । आक्षेपः ॥४१॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । तस्य सुवर्णनाभस्य । भारतीं वचनम् । निशम्य श्रुत्वा । परिवृद्धमत्सरः परिवृद्धः प्रवृद्धो मत्सरो यस्य सः । रिपुदूतः शत्रुवचोहरः । अग्रतोऽग्रतः अग्रे अग्रे । वीप्सायां द्विः । अभिसर्पन् गच्छन् । गुरुगर्वगद्गदां गुरुणा महता गर्वेणाहंकारेण गद्गदां स्खलन्तीम् । गिरं वचनम् । न्यगदीत् अभाषत । गद व्यक्तायां वाचि लुङ्[2] ॥४२॥ स्वहितमिति । पुरुषः पुमान् । सुकर्मणः पुण्यस्य । उदये फलदानपरिणतौ, सति । स्वहितं स्वस्य हितम् । स्वधियैव स्वस्य धियैव बुद्धयैव । बुध्यते जानाति । बुधि मति ज्ञाने लट् । अविधेयविधिः अविधेयः प्रतिकूलो विधिः [3]कर्म卐 यस्य सः, शुभकर्मरहितः—इत्यर्थः । स्वधिया स्वबुद्धया । न बुध्यते न जानाति । परेण अन्येन । बोधितोऽपि ज्ञापितोऽपि । न न बुध्यते । आक्षेपः ॥४३॥ नेति । इह[4] अविधेयबुद्धयाः (?) । उपदेशकः गुरुः । न [निमित्तम्] (कारणम्) नास्ति । शास्त्रं नीत्यादि-शास्त्रम् । न च卐नास्ति (निमित्तं नास्ति) । साधुसंगतिः साधूनां सज्जनानां संगतिः संसर्गश्च । न नास्ति[5] देहिनां जीवानाम् । कुशला [अकुशला] च प्रशस्ता (अप्रशस्ता) च । धिषणा बुद्धिः । दैववशेन पुण्या-पुण्यवशेन । जायते उत्पद्यते । जनैङ् प्रादुर्भावे लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥४४॥ अवभातीति । यः पुरुषः । निजं स्वकीयम् । पौरुषं सामर्थ्यादिकम् । कथयन् ब्रुवन् । तथैव [6]प्रोक्तप्रकारेणैव । निर्वहते संपूर्णयति[7] । वह प्रापणे लट् । सः पुरुष । अवभाति अवभासते । भा दीप्तौ लट् । निजविक्रमगर्विणः निजानां स्वेषां विक्रमेण पराक्रमेण गर्विणोऽहंकारिणः । बहवः प्रचुराः । रणे संग्रामे हसनीयाः हसितुं योग्याः । मया ईक्षिताः

करते—उसके निष्कण्टक राज्यका एकमात्र श्रेय पद्मनाभको है ॥४१॥ राजकुमार सुवर्णनाभके इन वचनोंको (२६वें श्लोकसे ४१वें श्लोक तक) सुनकर शत्रु-पृथिवीपालके दूतका पारा चढ़ गया—वह क्रुद्ध हो उठा। फिर आगे-आगे बढ़कर अखर्व गर्व भरी बातें गद्गद होकर यों सुनाने लगा —॥४२॥ शुभकर्मका उदय होनेपर पुरुष अपनी बुद्धिसे ही अपना हित जान लेता है, किन्तु जिसका भाग्य प्रतिकूल हो, वह पुरुष न अपनी बुद्धिसे अपना हित जान पाता है, और न दूसरेके समझाने पर। हे सुवर्णनाभ! पृथिवीपालका भाग्य अनुकूल है, अतः वह अपने आप अपना हित समझता है, पर तुम्हारा भाग्य प्रतिकूल है, अतः तुम अपने आप अपना हित नहीं समझे और न मेरे समझाने पर भी ॥४३॥ शुभ कर्मोंके उदयसे प्राणियोंकी अच्छी बुद्धि और अशुभ कर्मोंके उदयसे बुरी बुद्धि होती है—बुद्धिकी कुशलता और अकुशलता दैवके अधीन है। बुद्धिकी कुशलता और अकुशलतामें उपदेशक निमित्त नहीं है; शास्त्र निमित्त नहीं है; और सत्संगति भी निमित्त नहीं है ॥४४॥ वह मनुष्य शोभा पाता है, जो अपने पुरुषार्थके

---

१. अ °ला प्रजायते । २. आ लङ् । ३. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ४. = स्वहिताव-बोधने । ५. = निमित्तं नास्तीत्यर्थः । ६. आ 'प्रोक्त' इति नास्ति । ७. = संपूरयति ।

प्रविचिन्त्यमुदेतुमिच्छता प्रथमं स्वस्य परस्य चान्तरम् ।
[1]अविमृश्य कृतो हि विक्रमः[2] शरभस्येव विपाकदारुणः ॥४६॥
अधमेन समेन वाधिकामधिगच्छन्निजभाग्यसंपदम्[3] ।
मतिमान्विदधातु विग्रहं बलवद्भिः सह कोऽस्य विग्रहः ॥४७॥
बहुभिः परिवारितोऽखिलं हतबुद्धिर्जितमेव पश्यति ।
अवगच्छति नेदमुद्गते गुरुकार्ये मम नात्र कश्चन ॥४८॥
स्वयमैक्षि यतो नदारयात्पतनं स्तब्धवतस्तटीतरोः ।
अभवत्खलु तेन संमतः प्रणिपातो विदुषां बलाधिके ॥४९॥

विलोकिताः । आक्षेपः ॥४५॥ प्रविचिन्त्येति । उदेतुम् अभ्युदयं प्राप्तुम् । इच्छता वाञ्छता पुरुषेण । प्रथमं पूर्वम् । स्वस्य आत्मनः । परस्य अन्यस्य च । अन्तरं तारतम्यम् । प्रविचिन्त्यम् आलोच्यम् । अविमृश्य अविचार्य । कृतः विहितः । विक्रमः पराक्रमः शरभस्येव सिंहादेरिव (सिंहारेरिव[4]) । विपाकदारुणः विपाकेऽवसाने दारुणो भयंकरो हि । उपमा ॥४६॥ अधमेनेति । अधिकां प्रचुराम् । निजभाग्यसंपदं निजस्य स्वस्य भाग्यस्य संपदं संपत्तिम् । अधिगच्छन् जानन् । मतिमान्[5] बुद्धिमान् । अधमेन हीनेन । समेन समानेन वा पुरुषेण । विग्रहं कलहम्, संग्रामम् । विदधातु करोतु । बलवद्भिः सामर्थ्ययुक्तैः पुरुषैः । सह साकम् । अस्य पुरुषस्य । विग्रहः संग्रामः । कः को वा, न कोऽपि—इत्यर्थः ॥४७॥बहुभिरिति । बहुभिः अनेकैः । परिवारितः वेष्टितः । हतबुद्धिः हता दुष्टा बुद्धिर्यस्य सः । अखिलं सकलम् । जितमेव विजितमेव । इति पश्यति वीक्षते । दृश्[6] प्रेक्षणे लट् । गुरुकार्ये महति कार्ये । उद्गते सति । मम मे । अत्र बहुषु भृत्यादिषु । कश्चन एकोऽपि वा । इदं 'कार्यम्' इति, नावगच्छति न जानाति[7] । गम्लृ गतौ लट् । आक्षेपः ॥४८॥ स्वयमिति[8] । यतः यस्मात् । नदारयात्[9] नद्याः प्रवाहात् स्तब्धवतः गर्वयुक्तस्य । तटीतरोः तट्यां तीरे विद्यमानस्य तरोर्वृक्षस्य । पतनं भञ्जनम् । इव (?) [स्वयम्] । ऐक्षि[10] ऐक्षत । ईक्षि[11] दर्शने लुङ् । तेन कारणेन । बलाधिके सामर्थ्याधिके प्रणिपातः[12] नमस्कारः । विदुषां विद्वज्जनैः । 'वा नाकस्य' इत्यादिना

बारेमें जैसा कहता है वैसा ही निर्वाह करके दिखा भी देता है । अपने पराक्रम की डींग मारनेवाले बहुतसे पुरुषोंको मैंने संग्राममें परिहास योग्य होते देखा है ॥४५॥ अभ्युदय पानेकी इच्छा रखनेवालेको आक्रमण करनेसे पहले अपना और अपने शत्रुका—जिसपर आक्रमण करना है—अन्तर सोच लेना चाहिए; क्योंकि बिना विचार किया गया पराक्रम अष्टापदके पराक्रमकी भाँति अन्तमें भयानक होता है, यहाँ तक कि प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़ता है । (इसका स्पष्टीकरण प्रथम सर्गके ५१वें श्लोककी हिन्दी टीकामें देखिये ।) ॥४६॥ अपने भाग्यकी सम्पत्तिको औरोंसे कहीं अधिक जानकर बुद्धिमान् पुरुष अपनेसे हीन या बराबरीवालेके साथ युद्ध करे । बलवान्के साथ निर्बलका युद्ध कैसा ?—'मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः' ॥४७॥ बुद्धिहीन राजा बहुतसे ऐरों-गैरों नत्थूखैरोंसे चारों ओरसे घिरा रहकर सारे विश्वको अपनेसे जीता हुआ समझता है, किन्तु वह, यह नहीं समझता कि किसी बड़े कामके आ पड़नेपर इनमेंसे कोई एक भी पास नहीं फटकेगा ॥४८॥ चूँकि विद्वानोंने स्वयं, तटपर अकड़कर खड़े पेड़को नदीके वेगसे गिरते देखा है, इसलिए उन (विद्वानों) का

१. अ प्रविमृश्य, म परिमृश्य । २. म न हि क्रमः । ३. अ °संपदाम् । ४. = 'शरभः कुञ्जराराति स्त्वादकोऽष्टपादपि ।' इति हैमः । ५. श 'मतिमान्' इति नास्ति । ६. आ दशिर् । ७. श 'न जानाति' इति नोपलभ्यते । ८. श 'स्वयमिति' इति नास्ति । ९. = नदीवेगात् । १०. = दृष्टः । ११. आ ईक्ष, श इक्ष । १२. = नमनम् ।

बहुसत्त्वयुतौ स्थिराशयावविलङ्घ्यौ यदि नाम तावुभौ ।
महदेव तथापि दूरतो नदभर्तुश्च नदस्य चान्तरम् ॥५०॥
प्रियवादपरेषु विश्वसीत्कुभटेष्वेषु वृथैव मा भवान् ।
परिवारितमप्यगैर्नगं क्षुभितः प्लावयितुं क्षमोऽम्बुधिः ॥५१॥
स्वयमेतदुदाहृतं मया प्रधने तत्प्रकटं[1] भविष्यति ।
स्फुटतामुपयाति कस्यचिद्रसभेदो नहि जिह्वया विना ॥५२॥
अहितस्य हितोपदेशनैरथवा किं मम कुर्वभीप्सितम् ।
प्रतिकूलजने ह्यपेक्षणं[2] हितशिक्षानुगतैकवृत्तिषु ॥५३॥

करणे षष्ठी । संमतः अङ्गीकृतः । नाभवत् नाभूत् [अभवत् अभूत्] । भू सत्तायां लुङ् ।।४९।। बह्विति । बहुसत्त्वयुतौ बहुना प्रचुरेण सत्त्वेन युतौ युक्तौ, अन्यत्र बहुप्राणियुतौ । स्थिराशयौ दृढबुद्धियुतौ, पक्षे दृढह्रदौ । अविलङ्घ्यौ लङ्घयितुमशक्यौ । तावुभौ नाम नामानौ (?) । नाम समानार्थेऽव्ययम् । यदि । तथापि तर्हि । नदभर्तुश्च सागरस्य । नदस्य नद्याश्च । अन्तरं तारतम्यम् । दूरतः अत्यन्तम् । महदेव पृथुलमेव भवति ।।५०।। प्रियेति । प्रियवादपरेषु[3] प्रियेषु इच्छानुकूलेषु वादेषु वचनेषु परेषु तत्परेषु एषु एतेषु । कुभटेषु कुत्सितभृत्येषु । भगवान् त्वम् । वृथैव निष्फलमेव । मा विश्वसीत् विश्वासं मा कार्षीः । अनश्वस प्राणने लुङ् । अगैः वृक्षैः । परिवारितं परिवेष्टितम् । नगं पर्वतमपि । क्षुभितः संचलितः । अम्बुधिः समुद्रः । प्लावयितुं मज्जयितुम्[4] । क्षमः समर्थः, भवति । अर्थान्तरन्यासः ।।५१।। स्वयमिति । मया, उदाहृतं प्रोक्तम् । (यत्) एतत् इदम्, वचनम् । प्रधने संग्रामे । स्वयमेव, तत् वचनम् । प्रकटं व्यक्तम्, भविष्यति । जिह्वया रसनया । विना ऋते । रसभेदः रसानां षड्रसानां भेदोऽन्तरम् । कस्यचित् पुरुषस्य । स्फुटतां व्यक्तताम् । नोपयाति हि न प्राप्नोति हि (नहि उपयाति न प्राप्नोति) । जिह्वया रसभेदः प्रकटतामायाति तथा संग्रामे मद्वचनं प्रकटं भविष्यति—इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ।।५२।। अहितस्येति । अहितस्य शत्रोः—विपरीत-वर्तनायुक्तपुरुषस्य-इत्यर्थः । हितोपदेशनैः हितस्य उपकारकस्य उपदेशनैर्वचनैः । मम मे । किं प्रयोजनम् । अभीप्सितम् अभीष्टम् । कुरु विधेहि । डुकृञ् करणे लोट्[5] । अथवा तथा हि[6] । प्रतिकूलजने अहितजने ।

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि बलवान्के आगे झुक जाना चाहिए ।।४९।। यों बहुत जल-जन्तुओंसे युक्त होनेके नाते, स्थिर आधार युक्त होनेके कारण और लांघने योग्य न होनेकी वजहसे समुद्र और नद ये दोनों भले ही एक सरीखे हों, फिर भी दोनोंमें महान् भेद होता है। इसी तरह पृथिवीपाल और पद्मनाभ ये दोनों ही बहुत बली हैं, स्थिरचित्त हैं और हैं अनाक्रमणीय, फिर भी दोनोंमें बहुत अधिक अन्तर है, जो मामूली नहीं कहा जा सकता—एक बड़ा है, दूसरा छोटा; एक स्वामी है, दूसरा सेवक और एक शरण देनेवाला है तो दूसरा शरणार्थी ।।५०।। सुवर्णनाभ ! इस प्रकारकी मीठी-मीठी बातें करनेवाले इन गेहेनर्दी सैनिकोंका व्यर्थ विश्वास न करो। सभी ओरसे वृक्षोंसे घिरे हुए भी पहाड़को, क्षुब्ध समुद्र आप्लावित कर सकता है—डुबो सकता है ।।५१।। मैंने जो यह कहा है, वह युद्धमें अपने-आप, आपको स्पष्ट हो जायेगा। जीभके बिना किसीको भी रसोंका अन्तर स्पष्टतया ज्ञात नहीं हो सकता ।।५२।। अथवा जिसे अपने हितका स्वयं खयाल नहीं, उसे हितका उपदेश देनेसे मुझे क्या लाभ ? तुम्हारी जो इच्छा हो, करो। जो समझाया जाये उससे विपरीत काम करनेवालोंके प्रति उपेक्षा करना ही उचित है। हितकी

१. अ क ख ग घ त्वत्प्रकटं । २. क ख ग घ हितशिष्या° । ३. = चाटुकारेषु । ४. श 'मज्ज-यितुम्' इति नास्ति । ५. श लेट् । ६. आ तथापि ।

ससुतः समुपेत्य [1]तत्सभाक्षितिमभ्यर्चय मुक्तमत्सरः ।
प्रणतिं गमितैः शिरोम्बुजै रणभूमीमथवा गलच्युतैः ॥५४॥
क्षुभितामिति तस्य भाषितैर्युवराजप्रमुखामसौ सभाम् ।
परवागनुवादिनोऽस्य कः खलु दोषः प्रभुरित्यवारयत् ॥५५॥
व्रज योग्यगृहासनादिकं[2] व्यवहारोचितमस्य कारय ।
अभिधाय नियुक्तमित्यसावुदतिष्ठत्प्रविसर्जिताखिलः ॥५६॥
अथ मन्त्रगृहे स मन्त्रवित्सममाहूय समस्तमन्त्रिणः ।
युवराजसमन्वितोऽभ्यधादिति वाचं वचने विचक्षणः ॥५७॥

उपेक्षणं हि औदासीन्यं हि । अनुगतैकवृत्तिषु अनुगता अनुकूल (तां) गता एका मुख्या वृत्तिर्वर्तनं येषु तेषु अनुकूलगतजनेषु—इत्यर्थः । हितशिक्षा हितोपदेशः, सफलः—इत्यर्थः ॥५३॥ ससुत इति । मुक्तमत्सरः त्यक्तमत्सरः । ससुतः सुतेन सहितः त्वम् । तत्सभाक्षितिं तां[3] सभाया आस्थानस्य क्षितिं भूमिम् । समुपेत्य प्राप्य । प्रणतिं प्रणमनम् । गमितैः प्रापितैः । शिरोऽम्बुजैः शिरांस्येवाम्बुजानि तैः । अभ्यर्चय पूजय । अथवा गलच्युतैः गलेभ्यश्च्युतैः पतितैः शिरोऽम्बुजैः रणभूमिं रणस्य संग्रामस्य भूमिम् । अभ्यर्चय पूजय । अर्च पूजायां ण्यन्ताल्लिट् । दीपक (कम्) ॥५४॥ क्षुभितामिति । इति उक्तप्रकारेण । तस्य दूतस्य । भाषितैः वचनैः क्षुभितां[4] कोपिताम् । युवराजप्रमुखां युवराज एव प्रमुखो यस्यां ताम् । सभाम् आस्थानम् । असौ प्रभुः पद्मनाभः । परवागनुवादिनः परस्य शत्रोर्वाचं वचनमनुवादनशीलस्य (अनुवदतीत्येवंशीलः, तस्य-परोक्तिमनुवदतः-इत्यर्थः) अस्य दूतस्य । कः खलु स्फुटं, दोषः । इति एवम् । अवारयत् निवारयतिस्म । वृञ् वरणे लङ् । रूपकम् ॥५५॥ व्रजेति । व्रज गच्छ । व्यवहारोचितं व्यवहारस्योचितं योग्यम् । योग्यगृहासनादिकं योग्ये गृहासने आदी[5] यस्य तत् । अस्य दूतस्य । कारय विधापय । डुकृञ् करणे णिजन्ताल्लोट् । इति एवम् । नियुक्तं नियोगिपुरुषम्[6] । अभिधाय निगद्य । प्रविसर्जिताखिलः प्रविसर्जिताः प्रहिता अखिला येन सः । असौ पद्मनाभः । उदतिष्ठत् उत्तिष्ठतिस्म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लुङ्[7] ॥५६॥ अथेति । अथ उत्थानानन्तरम् । मन्त्रवित् मन्त्रालोचनवेदी । युवराजसमन्वितः युवराजेन समन्वितो युक्तः । वचने भाषणे । विचक्षणः प्रौढः । सः पद्मनाभः । समस्तमन्त्रिणः समस्तान् सर्वान् मन्त्रिणः सचिवान् । समं युगपत् । मन्त्रगृहे मन्त्रशालायाम् । आहूय[8] आह्वानं कृत्वा । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । वाचं वचनम् । अभ्यधात् अब्रवीत् ।

शिक्षा उन्हें दी जानी चाहिए, जो केवल अनुकूल व्यवहार कर सकते हों—जो शिक्षा दी जाय, उसे मान सकते हों ॥५३॥ अब डाह करना छोड़ो और अपने राजकुमारको साथ लिवाकर पृथिवीपालकी सभामें जाकर उस (सभा) की भूमिकी अपने विनम्र मस्तकरूपी कमलोंसे पूजा करो, अथवा धड़से विलग हुए अपने मुण्डरूपी कमलोंसे संग्रामभूमिकी अर्चना करना ॥५४॥ दूतके इस कथनसे सारी सभा—जिसमें युवराज सुवर्णनाभ प्रमुख था—क्षुब्ध हो उठी, किन्तु राजा पद्मनाभने उसे यह समझा-बुझाकर प्रतीकार करनेसे रोक लिया कि, यह दूसरे की कही हुई बातको उसी रूपमें दूसरी बार कह रहा है, इसमें इसका क्या अपराध ? ॥५५॥ फिर एक अधिकारीको पासमें बुलाकर पद्मनाभने कहा कि जाओ व्यवहारके अनुकूल इस दूतका ठहरने और भोजन आदिका योग्य प्रबन्ध करवा दो । इसके उपरान्त सभी सभासदोंको बिदा करके वह अपने सिंहासनसे उठकर खड़ा हो गया ॥५६॥ इसके पश्चात् मन्त्रणाके मर्मको समझनेवाले राजा पद्मनाभने मन्त्रशालामें सभी मन्त्रियोंको आमन्त्रित करके युवराजके साथ प्रवेश किया ।

१. अ क ख ग घ म तत्सभां क्षिति° । २. अ °गृहाशना° । ३. = तस्य । ४. = कुपिताम् । ५. = आदौ । ६. श नियोगहारिणम् । ७. आ लङ् । ८. = आकार्य ।

वयमप्यगमाम कौशलं नयमार्गे यदयं भवद्गुणः।
अवभासयतेऽखिलं जगद्दिवसोऽयं महिमा[1] रवेरसौ ॥५८॥

परिवर्धयति[2] स्वकौशलैः कुशलं शास्त्यवति प्रमादतः।
जननी जनिकेव[3] तत्फलं कुरुते नः सकलं भवन्मतिः ॥५९॥

अपि मेरुसमे समुद्गते मम का व्याकुलता प्रयोजने।
अभिजाग्रति यस्य सर्वतो गुरवः कार्यविधौ भवद्विधाः ॥६०॥

द्विरदानिव मद्विधान्सदा मदमूढान्स्खलतः पदे पदे।
अपथाद्विनिवर्तयेत को गुरवश्चेन्न भवेयुरङ्कुशाः ॥६१॥

डुधाञ् धारणे च लुङ् ॥५७॥ वयमिति। वयमपि, नयमार्गे नयस्य नीतेर्मार्गे शास्त्रे। कौशलं नैपुण्यम्। अगमाम अगच्छाम। गम्लृ[4]गतौ लुङ्। यत् यस्मात्। अयम् एषः। भवद्गुणः भवद्भ्यो युष्मत्[5] जातो गुणः। दिवसः दिनम्। अखिलं निखिलम्। जगत् लोकम्। अवभासयते प्रकाशयते। भसृञ्[6] दीप्तौ लट्। अयम् इति यत्। असौ सः। रवेः सूर्यस्य। महिमा सामर्थ्यम् ॥५८॥ परिवर्धयतीति। जननी माता। स्वकौशलैः स्वस्य नैपुण्यैः। परिवर्धयति पर्येधयति। वृधूङ्[7] वृद्धौ लट्। कुशलं क्षेमम्। शास्ति शिक्षते[8]। शास् अनुशिष्टौ लट्। प्रमादतः अपायतः। अवति रक्षति। अव रक्षणादिषु लट्। प्रमादं परिहृत्य रक्षति—इत्यर्थः। भवन्मतिः भवतां युष्माकं मतिर्बुद्धिः। जनिकैं(के)व मातेव। सकलं समस्तम्। तत्फलं तत्प्रयोजनम्। न कुरुते न विदधाति। डुकृञ् करणे लट् ॥५९॥ अपीति। यस्य मम। कार्यविधौ कार्यस्य प्रयोजनस्य विधौ करणे। भवद्विधाः भवतां युष्माकं विधाः सदृशाः। गुरवः गुणाढ्याः। सर्वतः सर्वकार्ये। अभिजाग्रति जागरणं कुर्वन्ति। मम मे। मेरुसमे महामेरुसमे। प्रयोजने कार्ये। समुद्गतेऽपि संभवेऽपि, आगतेऽपि वा। व्याकुलता[9] आध्यानता। न कापि—इत्यर्थः ॥६०॥ द्विरदानिति। पदे पदे[10] चरणविक्षेपण(स्य)स्थाने स्थाने। 'वीप्सायाम्' इति द्विः। स्खलतः स्खलनं कुर्वतः। सदा सर्वदा। मदमूढान् मदेन मूढानन्धान्। द्विरदानिव गजानिव। मद्विधान् मम सदृशान्। गुरवः गुणाढ्याः। अङ्कुशाः सृणयः, न भवेयुश्चेत्। अपथात् दुर्मार्गात्। कः को वा। विनि-

राजा बोलनेमें बहुत चतुर था। उसने यों कहना शुरू किया—॥५७॥ हे मन्त्रिमण्डल! हम भी जो नीति-शास्त्रके दाव-पेंच जानने लगे हैं, यह आपका प्रसाद है। दिन, पूरे संसारको प्रकाशित करता है, यह सूर्यकी ही तो महिमा है ॥५८॥ जिस तरह जन्म देनेवाली माँ अपने पुत्रको पाल पोसकर बड़ा करती है, उसे होशियार बनानेके लिए होशियारीसे शिक्षा देती है और असावधानीसे दूर रखती है। इसी तरह आपकी बुद्धि हमको आगे बढ़ाती है, कुशलता सिखलाती है और प्रमादसे बचाया करती है—इस तरह माँका पूरा काम करती है ॥५९॥ प्रत्येक कार्यकी विधि बतलानेके लिए जिसके यहाँ हर काममें आप सरीखे नीतिज्ञ हमेशा जागरूक रहते हैं, उसे मेरु जैसे बड़ेसे-बड़े कामके आ पड़नेपर भी व्याकुलता कैसे हो सकती है? ॥६०॥ मदान्ध हाथियोंकी भाँति पग-पगपर हमेशा गिरनेवाले (भूल करनेवाले) हम लोगोंको गुरुजन

१. आ इ यद् महिमा। २. अ °र्धयते। ३. अ आ इ जनिकैव। ४. आ गम। ५. आ युष्मत्स्यम्। ६. श भासृङ्। ७. आ वृधु। ८. = शिक्षयते। ९. = विहस्तता। 'विहस्तव्याकुलौ व्यग्रे' इति हैमः। १०. = प्रतिपदम्।

क्रमतेऽरिषु मत्पराक्रमो भवतामेव धिया पुरस्कृतः ।
नहि धामधनोऽप्यसारथिर्नभसः पारमुपैति भास्करः ॥६२॥
स्वयमेव भवद्भिराहितश्रुतिभिः किं न सभागतैः श्रुतम् ।
निजदूतमुखेन निष्ठुरं मयि यत्तेन शठेन भाषितम् ॥६३॥
परुषं मम शृण्वतस्तथा सहसा क्षोभमुपाव्रजन्मनः ।
किममन्त्रि गृहं तदीयमित्यपवादेन जनस्य वारितम् ॥६४॥
भजते गदवन्न विक्रियामुदयन्नेव रिपुश्चिकित्सितः ।
इति वक्रमतिः स कैतवाद्द्रुतमस्मानभिहन्तुमीहते[1] ॥६५॥
अत एव च दण्डवर्जितः सदुपायोस्ति[2] न तस्य सिद्धये ।
वदतास्ति[3] स चेत्प्रकृष्यते मतिरासर्वविदो हि देहिनाम् ॥६६॥

वर्तयेत् निवारयेत । उपमा ॥६१॥ क्रमत इति । भवतामेव युष्माकमेव । धिया बुद्ध्या । पुरस्कृतः अग्रे कृतः । मत्पराक्रमः मम मे पराक्रमः सामर्थ्यम् (अरिषु) शत्रुषु । क्रमते आक्रमते वर्तते वा । धामधनोऽपि धामैव किरण एव धनं यस्य सः अपि । असारथिः सारथिरहितः । भास्करः सूर्यः । नभसः गगनस्य । पारं गमनम् । न हि उपैति नोपयाति हि । अर्थान्तरन्यासः ॥६२॥ स्वयमिति । निजदूतमुखेन निजस्य स्वस्य दूतस्य वचोहरस्य मुखेन । शठेन धूर्तेन । तेन [4]पृथिवीपालेन । मयि, यत् निष्ठुरं कर्कशम् । भाषितं प्रोक्तम् । आहितश्रुतिभिः आहिताः संनद्धाः श्रुतयः कर्णा येषां तैः । सभागतैः, भवद्भिः युष्माभिः । स्वयमेव न श्रुतं न आकर्णितं किम् । ६३॥ परुषमिति । परुषं निष्ठुरं वचनम् । शृण्वतः आकर्णयतः । मम मे । तदा तत्समये । सहसा शीघ्रम् । क्षोभं संचलम्[5] । उपव्रजत् उपगच्छत् । मनः चित्तम् । तदीयं पद्मनाभसंबन्धि । गृहं मन्दिरम् । अमन्त्रि मन्त्रिरहितं किम् । इति जनस्य लोकस्य । अपवादेन निन्दया । वारितं निवारितम् । मनो वारितम्—इत्यभिप्रायः ॥६४॥ भजत इति । गदवत् व्याधिरिव । उदयन्ने[न्ने]व अभ्युदयं प्राप्नुवन् एव । चिकित्सितः प्रतिकारं श्रितः । रिपुः शत्रुः । विक्रियां विपरीतक्रियाम् । न भजते नाश्रयते । इति एवम् । विक्रमतिः[6] ऋजु(ता)रहितबुद्धिः । सः [7]पृथिवीपालः । कैतवात् गजव्याजात् कपटाद्वा । द्रुतं शीघ्रम् । अस्मान्, अभिहन्तुं मारयितुम् । ईहते प्रवर्तते । उपमा । ६५ । अत इति । अत एव एतस्मात्कारणादेव । तस्य [8]पृथिवीपालस्य । सिद्धये जयाय । दण्डवर्जितः दण्डोपायेन वर्जितो रहितः । सदुपायः प्रशस्तोपायः ।

(आप लोग) अंकुश न बने रहते, तो उन्मार्गसे कौन बचाता ? ॥६१॥ आप ही सबकी बुद्धिका सहयोग पाकर हमारा पराक्रम आगे बढ़कर शत्रुओंके छक्के छुड़ा देता है । सूर्य अत्यन्त तेजस्वी होकर भी सारथीके बिना आकाशका पार नहीं पाता ॥६२॥ उस धूर्त पृथिवीपालने दूतके मुखसे निष्ठुरता-भरी जो बातें मुझसे कहीं, उन्हें आप सबने—जो सभामें बैठे हुए थे—क्या स्वयं कान लगाकर नहीं सुना ? ॥६३॥ उसकी निष्ठुरताभरी बातें सुनकर मेरा मन उसी समय सहसा क्षुब्ध हो उठा, पर मैंने अपने क्षुब्ध मनको यह सोचकर शान्त कर लिया, कि यदि दूतको मार डाला तो जगत्में यह अपवाद फैल जायेगा कि पद्मनाभके घरमें कोई समझदार सलाहकार नहीं रहा ॥६४॥ 'रोगकी तरह शत्रुका भी यदि प्रारम्भमें ही प्रतीकार कर दिया जाये तो वह शान्त हो जाता है' यह सोचकर पृथिवीपाल– जिसकी बुद्धिमें कूट-कूटकर कपट भरा हुआ है—हाथीका बहाना बनाकर हमें मारना चाहता है ॥६५॥ अतएव मेरे खयालसे उसे जीतनेके लिए दण्डके सिवा और कोई अच्छा उपाय नहीं है । यदि है तो आपलोग बत-

१. आ इ ध्रुवमस्मानभि° । २. म °पायोऽस्मि । ३. म °तास्मि । ४. श पृथ्वी° । ५. आ चञ्चलम् । ६. =कुटिल-बुद्धिः । ७. श पृथ्वी° । ८. श पृथ्वी° ।

अभिधाय गिरं ससौष्ठवामिति[1] तूष्णीं नृपताववस्थिते।
न्यगदीदिति नीतिमद्वचः पुरुभूतिः पुरुभूतिकारणम्[2] ॥६७॥
अभवाम भवत्प्रसादतो वयमृद्धेश्च मतेश्च भाजनम्।
अतएव भुवि त्वमेव नो गुरुरीशः सुहृदेकबान्धवः ॥६८॥
तव कार्यविदोऽभिजल्पितुं[3] पुरतो दृष्टपरम्परस्य च।
नयशास्त्रलवैकलिप्तधीः परिजिह्रेति कथं न मादृशः ॥६९॥
नहि कार्यविपश्चितः[4] पुरो निगदन्राजति शास्त्रपण्डितः।
सकलं पुरुषस्य लक्षणं ननु संदिग्धमलक्ष्यवेदिनः[5] ॥७०॥

नास्ति न विद्यते। दण्डसाध्यः—इत्यर्थः। सः दण्डोपायं विनाऽन्योपायः[6]। अस्ति चेत् वर्तते चेत्। वद ब्रूत। वद व्यक्तायां वाचि लोट्[7]। आसर्वविदः सर्वज्ञपर्यन्तम्। देहिनां जीवानाम्। मतिः बुद्धिः। प्रकृष्यते हि अतिशय्यते हि। कृष विलेखने कर्मणि लट् ॥६६॥ अभिधायेति। इति एवम्। ससौष्ठवां शोभायुक्ताम्। गिरं वाणीम्। अभिधाय निगद्य। नृपतौ भूपतौ। तूष्णीं जोषम्। अवस्थिते सति स्थिते सति[8]। पुरुभूतिः[9] [10]पुरुभूतिनामधेयो मन्त्री। पुरुभूतिकारणं पुरोर्महत्याः भूतेः ऐश्वर्यस्य कारणं निमित्तम्[11]। नीतिमद्वचः नीतिमद् नीतियुक्तं वचो वचनम्। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण। न्यगदीत् अवोचत्। गद व्यक्तायां वाचि लुङ्[12] ॥६७॥ अभवामेति। भवत्प्रसादतः भवतां युष्माकं प्रसादतः कारुण्यात्। वयम्, ऋद्धेः च ऐश्वर्यस्य च। मतेः च बुद्धेश्च। भाजनं पात्रम्। अभवाम अभूम[13]। भू सत्तायां लुङ्। अत एव एतस्मादेव। भुवि भूमौ। त्वमेव भवानेव। नः अस्माकम्। 'पदाद्वाक्यस्य' इत्यादिना अस्मदः षष्ठीबहुवचनस्य नसादेशः। गुरुः उपाध्यायः। ईशः प्रभुः। सुहृत् मित्रम्। एकबान्धवः मुख्यबन्धुः। भवसि—इत्यध्याहारः ॥६८॥ तवेति। कार्यविदः प्रयोजनवेदिनः। दृष्टपरम्परस्य दृष्टा परम्परा पूर्वक्रमो यस्य[14] तस्य। तव भवतः। पुरतः पुरस्तात्। अभिजल्पितुम् अभिमुखं वक्तुम्। नयशास्त्रलवैकलिप्तधीः नयस्य नीतेः शास्त्रस्य लवैकेन लेशमात्रेण लिप्ता गर्विता धीर्बुद्धिर्यस्य सः। मादृशः मम समानः। कथं[15] केन। न परिजिह्रेति लज्जितो न भवति, किन्तु जिह्रेत्येव ॥६९॥ नेति। कार्यविपश्चितः कार्यस्य[16] प्रयोजनस्य विपश्चितः वेदिनः। पुरः अग्रे। निगदन् ब्रुवन्। शास्त्रपण्डितः शास्त्रे नीत्यादिशास्त्रे पण्डितः निपुणः। [नहि] राजति [न]

लाइये; क्योंकि सबकी बुद्धि एक-सी नहीं होती, निगोदिया जीवसे लेकर सर्वज्ञ तक समस्त प्राणियोंकी बुद्धिमें तारतम्य देखा जाता है ॥६६॥ इस तरह (५८ वें श्लोकसे ६६ वें श्लोक तक) सुन्दर शब्दोंमें अपना वक्तव्य देकर राजा पद्मनाभ चुप हो गया। फिर पुरुभूति नामके मन्त्रीने वैभवको उत्पन्न करनेवाले नीतिसे युक्त वचन कहे—॥६७॥ राजन्! आपके प्रसादसे हम सब ऋद्धि और बुद्धिके पात्र बने हैं। अतएव इस भूतलपर आप हम सभीके गुरु, स्वामी, मित्र और एकमात्र बन्धु हैं ॥६८॥ राजन्! आप समस्त कार्योंके जानकार हैं और सारी परम्पराओंको देख चुके हैं। अतएव नीतिशास्त्रके बहुत थोड़े ज्ञानका भी गर्व करनेवाला मुझ सरीखा व्यक्ति आपके सामने लज्जित क्यों नहीं होगा? ॥६९॥ कार्यके अनुभवी विद्वान्के सामने बोलनेवाला कोरा शास्त्रका पण्डित, जिसे कार्यका अनुभव नहीं है, केवल शास्त्रकी पंक्तियाँ आती हैं, शोभा नहीं पाता है। लक्ष्यको न जाननेवाले पुरुषका सारा शास्त्र निश्चय ही

---

१. म स सौष्ठवा°। २. श पुरभूतिः, पुरभूतिकारणम्। ३. अ इ °पि जल्पितुं। ४. आ इ °विपश्चितुः। ५. म °लक्षवेदिनः। ६. श भिन्नोपायः। ७. श छेट्। ८. श 'स्थिते सति' इति नास्ति। ९. श मरुभूतिः। १०. श मरुभूति°। ११. श 'निमित्तम्' इति नास्ति। १२. आ लङ्। १३. आ 'अभूम' इति नास्ति। १४. = येन। १५. = केन प्रकारेण। १६. = कर्तव्यस्य।

अधिकारपदे [1]स्थितैस्तथाप्यनुशिष्यः प्रभुरात्मशक्तितः ।
तुषराशिकणक्रमाद्भवेदपि बालाद्धिरलं सुभाषितम् ॥७१॥
पुरुषेण जिगीषुणा सदाप्यवलम्ब्यौ नयविक्रमद्रुमौ ।
नहि तावपहाय विद्यते फलसिद्धेरपरं निबन्धनम् ॥७२॥
नयविक्रमयोर्नयो बली नयहीनस्य वृथा पराक्रमः ।
प्रविदारितमत्तकुञ्जरः शबरेणापि निहन्यते हरिः ॥७३॥
बलवानपि जायते रिपुः सुखसाध्यः खलु नीतिवर्तिनाम् ।
मदमन्थरमप्युपायतो ननु बध्नन्ति गजं वनेचराः ॥७४॥

विभाति । राजृ दीप्तौ लट् । अलक्ष्यवेदिनः अलक्ष्यं वेत्तीत्येवंशीलोऽलक्ष्यवेदी तस्य—लक्ष्यपरिज्ञानरहितस्य । पुरुषस्य नरस्य । सकलं समस्तम् । संदिग्धं संदेहयुक्तम्[2] । ननु[3] निश्चयम् । अर्थान्तरन्यासः ॥७०॥ अधिकारेति । तथापि, अधिकारपदस्थितैः अधिकारे श्रेष्ठे पदे स्थाने स्थितैर्नियोजितैः । आत्मशक्तितः आत्मनां स्वेषां शक्तितः सामर्थ्यात् । प्रभुः स्वामी । अनुशिष्यः[4] शिक्षितुं योग्यः । तुषराशिकणक्रमात् तुषाणां धान्यत्वचां राशौ पुञ्जे स्थिततण्डुलकणस्य क्रमात् न्यायात् । बालात् अज्ञानिनः सकाशादपि । सुभाषितं प्रशस्तवचनं महतां पुरः स्वल्पं भवति—इत्यर्थः । भवेत् । लिङ् । अर्थान्तरन्यासः ॥७१॥ पुरुषेणेति । जिगीषुणा जेतुमिच्छुना । पुरुषेण राजपुरुषेण[5] । नयविक्रमद्रुमौ नयो नीतिर्विक्रमः पराक्रमः, नयश्च विक्रमश्च तथोक्तौ, नयविक्रमावेव द्रुमौ वृक्षौ । रूपकम् । सदापि सर्वकालेऽपि । अवलम्ब्यौ अवलम्बयितुं योग्यौ । तौ नयविक्रमद्रुमौ । अपहाय विमुच्य । फलसिद्धेः कार्यसिद्धेः, पक्वसिद्धेः[6]—इति ध्वनिः । अपरम् अन्यत् । निबन्धनं कारणम् । नहि नास्ति हि । वृक्षमपहाय फलसिद्धिर्नास्ति—इत्युक्तिलेशः । अर्थान्तरन्यासः ॥७२॥ नयेति । नयविक्रमयोः नीतिविक्रमयोर्मध्ये । नयः नीतिगुणः । बली बलवान् । नयहीनस्य नयगुणरहितस्य । पराक्रमः विक्रमः । वृथा निष्फलं (लो) भवति । प्रविदारितमत्तकुञ्जरः प्रविदारिता विदलिता मत्तकुञ्जरा मत्तमतङ्गजा येन सः । हरिः सिंहः । शबरेणापि व्याधेनापि । निहन्यते निहिंस्यते । हन हिंसागत्योः कर्मणि लट् । नयहीनस्य केवल(—पराक्रमवतः) कार्यसिद्धिर्न भवति—इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥७३॥ बलवानिति । बलवानपि पराक्रमवानपि । रिपुः शत्रुः । नीतिवर्तिनां नीतौ वर्तिनां विद्यमानानाम् । सुखसाध्यः[7] सुखेन सुलभेन साध्यः जायते उत्पद्यते । खलु स्फुटम् । मदमन्थरमपि मदेन मन्थरो मन्दगामी, तमपि । गजं करिणम् । वनेचराः

सन्देहसे भरा रहता है। लक्ष्यको जानने पर हीलक्षणका ज्ञान सन्देहमुक्त होता है। उदाहरण न जाननेवाले वैयाकरणका व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान भ्रमसे भरा हुआ रहता है ॥७०॥ तो भी उच्च पदोंपर नियुक्त अधिकारियोंके द्वारा अपनी शक्तिके अनुसार राजाको शिक्षा दी ही जानी चाहिए। जिस प्रकार खोजनेपर भूसेकी ढेरीमें चावलके कुछ कण मिल जाते हैं, इसी तरह बालक अथवा अल्पज्ञानीसे भी कभी-कभी थोड़ी-सी अच्छी बात सुननेको मिल जाती है ॥७१॥ विजयके अभिलाषी पुरुषको हमेशा नय-नीति और पराक्रमके वृक्षोंका आश्रय लेते रहना चाहिए; क्योंकि इन दोनोंको छोड़ देनेपर फल (कार्य) की सिद्धिका और कोई साधन नहीं है ॥७२॥ नय और विक्रम इन दोनोंमें नय बलवान् है। नयहीनका पराक्रम निष्फल होता है। जो पराक्रमी (नीतिमान् नहीं) सिंह मदमाते हाथियोंको चीर डालता है, वह एक शिकारीके द्वारा भी मारा जाता है ॥७३॥ बलवान्से-बलवान् भी पराक्रमी शत्रु नीति मार्गपर चलनेवालोंके लिए आसानीसे जीतने योग्य होता है। भील या

१. अ आ इ °पदस्थि° । २. श °हप्राप्तम् । ३. = निश्चयेन । ४. आ °शिक्ष्यः । ५. आ 'राजपुरुषेण' इति नास्ति । ६. श फलसिद्धिः कार्यसिद्धिः पक्वसिद्धिः । ७. = अनायाससाध्यः ।

[1]नयमार्गममुञ्चतः स्वयं विघटेतापि यदि प्रयोजनम् ।
पुरुषस्य न तत्र दूषणं स समस्तोऽपि विधेः पराभवः ॥७५॥
नयशास्त्रनिदर्शितेन यः सततं संचरते न वर्त्मना ।
शिशुवत्स कुबुद्धिरुल्मुकं स्वयमाकर्षति कृच्छ्रमात्मनः ॥७६॥
त्वमतः प्रथमो विवेकिनां सहसा दण्डमरौ प्रयुङ्क्ष्व मा ।
स हि शाम्यति साममात्रतः पृथिवीपालनृपोऽभिमानवान् ॥७७॥
अभिमानधनो हि विक्रियां व्रजति प्रत्युत दण्डदर्शनैः ।
प्रशमं न तु याति जातुचित्परिनिर्वाति किमग्निरग्निना ॥७८॥

शबराः । उपायतः उपायात् । बध्नन्ति बन्धनं कुर्वन्ति । ननु निश्चयम् । अर्थान्तरन्यासः ॥७४॥ नयेति । नयमार्गं नीतिशास्त्रम् । अमुञ्चतः अत्यजतः पुरुषस्य । यदि प्रयोजनं कार्यम् । स्वयं विघटेत[2] अपि वियोजयेत् । घटिष्[3] चेष्टायां लिङ् । तत्र कार्याभावे । पुरुषस्य नरस्य । दूषणं[4] निन्दा । न न भवति । सः समस्तोऽपि सकलोऽपि । विधेः पापकर्मणः । पराभवः तिरस्कारः । नयशास्त्रमार्गेण विहितकार्यस्य विघ्ने कर्मणोऽपराधो न तु पुरुषस्य—इत्यभिप्रायः । 'स दैवस्यापराधो न मन्त्रिणां यत्सुघटितमपि कार्यं न घटते ।' इति नीतिवाक्यामृते ॥७५॥ नयेति । यः पुरुषः । नयशास्त्रदर्शितेन नयशास्त्रेण नीतिशास्त्रेण दर्शितेन[5] दृष्टान्तविहितेन । वर्त्मना मार्गेण । सततम् अनवरतम् । न संचरते न प्रवर्तते । कुबुद्धिः कुत्सितबुद्धियुक्तः । सः पुरुषः । आत्मनः स्वस्य । कृच्छ्रं कष्टम् । उल्मुकम् अलातम् । शिशुवत् बालकवत् । स्वयम्, आकर्षति आकर्षणं करोति । उपमा (निदर्शनालङ्कारः) ॥७६॥ त्वमिति । अतः कारणात् । विवेकिनां सम्यग्ज्ञानिनाम् । प्रथमः मुख्यः । त्वं भवान् । सहसा शीघ्रम् । अरौ शत्रौ । दण्डं दण्डोपायम् । मा प्रयुंक्ष्व मा प्रयोजस्व । युजृज्[6] योगे । अभिमानवान्[7] अभिमानयुक्तः । स हि [8]पृथिवीपालनृपः [9]पृथिवीपालभूपतिः[10] । प्रियपूर्वं वचः (?) । साममात्रतः सामोपायमात्रादेव । शाम्यति उपशमं प्राप्नोति । शम् दम् उपशमने ॥७७॥ अभिमानेति । प्रत्युत न चेत् —साधुवचो न प्रयुक्तं चेद्—इत्यर्थः । अभिमानधनः अभिमान एव धनं यस्य सः । दण्डदर्शनैः दण्डप्रयोगैः । विक्रियां विकारम् । व्रजति गच्छति । व्रज गतौ लट् । प्रशमम् उपशमम् । न तु याति न गच्छति । जातुचित् सकृदपि । अग्निः वह्निः । अग्निना वह्निना । परिनिर्वाति किं नश्यति

शिकारी लोग अपने उपायसे मदमाते हाथीको भी बाँध लेते हैं ॥७४॥ नीति मार्गको न छोड़नेवाले पुरुषका यदि कोई काम बिगड़ भी जाये तो उसमें उस पुरुषका कोई दोष नहीं। वह तो सारा-का-सारा विधिका विधान है, जो उस पुरुषका विनाश करनेवाला है। 'विधि-विधान कभी-टलता नहीं' ॥७५॥ जो पुरुष सदा नीतिशास्त्रके द्वारा दिखलाये गये मार्गसे नहीं चलता, वह दुर्बुद्धि छोटे बच्चेकी तरह स्वयं ही कष्टको जलती हुई लकड़ीको अपनी ओर खींचने लगता है। जिस प्रकार अबोध शिशु जलती लकड़ीको खींचकर दुःख उठाता है, उसी प्रकार नीतिसे न चलनेवाला पुरुष भी अपने-आप संकटमें डालनेवाले कामको हाथमें ले लेता है ॥७६॥ राजन्! आप विवेकी पुरुषोंमें प्रमुख हैं, अतः शत्रुके ऊपर सहसा दण्डका प्रयोग नहीं कीजिये। राजा पृथिवीपाल बड़ा अभिमानी है। फलतः वह केवल प्रिय वचनोंसे शान्त हो जायेगा। यदि गुड़ देनेसे काम बन जाये तो ईंट मारनेकी क्या आवश्यकता ॥७७॥ अभिमानी पुरुष दण्ड दिखलानेसे दण्डनीतिका प्रयोग करनेसे कभी शान्त नहीं हो सकता, उल्टा भड़क ही उठता है। क्या

१. क ख ग घ ननु मार्ग° । २. = विनश्येत् । ३. आ घट । ४. = दोषः । ५. = उपदिष्टेन । ६. आ युजिर् । ७. श 'अभिमानवान्' इति नास्ति । ८. श पृथ्वी° । ९. श पृथ्वी° । १०. आ °नृपतिः ।

प्रथमं द्विषि साम बुद्धिमानथ भेदादि युनक्ति सिद्धये ।
गुरुदण्डनिपीडना रिपोरियमन्त्या हि विवेकिनां क्रिया ॥७९॥
प्रभु दोषशतं प्रमार्जितुं पुरुषस्यैकमपि प्रियं वचः ।
पयसैव जनस्य वल्लभा ननु वज्रादिमुचः पयोमुचः ॥८०॥
धनहानिरुपप्रदानतो बलहानिर्नियमेन दण्डतः ।
अयशः कपटीति भेदतो बहुभद्रं नहि सामतः परम् ॥८१॥
प्रणिगद्य नयान्वितं वचः पुरुभूताविति मौनमास्थिते ।
युवराडथ पौरुषाश्रयामिति सासूयमुदाहरद्गिरम् ॥८२॥

किम् । वा गतिगन्धनयोर्लट् । अर्थान्तरन्यासः ।७८॥ प्रथममिति । बुद्धिमान् धीमान् । रिपोः शत्रोः । सिद्धये[1] कार्यसिद्धये । प्रथमं पूर्वम् । द्विषि शत्रौ । साम सामोपायम् । युनक्ति प्रयोजयति । अथ पश्चात् । भेदादि जयनिमित्तं भेदाद्युपायः प्रयोक्तव्यः । इयम् एषा । गुरुदण्डपीडना गुरुणा महता दण्डेन पीडना बाधना । विवेकिनां सम्यग्ज्ञानिनाम् । अन्त्या अवसानवर्तिनी । क्रिया[2] हि विधेया हि ॥७९॥ प्रभ्विति । पुरुषस्य नरस्य । एकमपि, प्रियं प्रीतिभूतम् । वचः वचनम् । दोषशतं दोषाणामपराधानां शतमनेकम् । प्रमार्जितुं निवारयितुम् । प्रभु समर्थम् । 卐 [3]वज्रादिमुचः वज्रादीन् मुञ्चन्तीति卐तथोक्ताः । पयोमुचः मेघाः । पयसैव जलेनैव । जनस्य लोकस्य । वल्लभाः प्रीतिकरा ननु ॥८०॥ धनहानिरिति । उपप्रदानतः दानोपायात् धनहानिः द्रव्यनाशः । दण्डतः दण्डोपायात् । नियमेन निश्चयेन । बलहानिः चतुरङ्गबलहानिः । भेदतः भेदोपायात् । कपटी—इति कपटयुक्त इति । अयशः अपकीर्तिः । सामतः सामोपायतः । परम् अन्यत् । बहुभद्रं प्रचुरमङ्गलरूपम् । न हि नास्ति हि ॥८१॥ प्रणिगद्येति । पुरुभूतौ पुरुभूतनामधेयमन्त्रिणि । इति उक्तप्रकारेण । नयान्वितं नीतियुक्तम् । वचः वचनम् । प्रणिगद्य उक्त्वा । मौनं तूष्णीम् । आस्थिते आसिते सति । अथ[4] पुरुभूतप्रोक्तानन्तरम् । युवराट् सुवर्णनाभकुमारः । पौरुषाश्रयां पराक्रमयुक्ताम् । गिरं वाणीम् । नासूयं[5] दोषरहितं (सासूयम् असूयासहितं) यथा तथा । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । उदाहरत् अवोचत् ।

अग्नि अग्निसे बुझ सकती है ? ।७८॥ बुद्धिमान् राजा अपनी सिद्धिके लिए शत्रुके साथ पहले साम-मधुर वचनोंका प्रयोग करता है, सुलह करता है । यदि सामसे सफलता न मिले तो भेदका प्रयोग करता है—शत्रुके पक्षके लोगोंमें फूट डालता है अथवा उसे दान देता है । साम, भेद और दान इन तीनों ही उपायोंसे जब सफलताकी आशा न हो, तब दण्ड नीतिका प्रयोग करता है । दण्डसे शत्रुको पीड़ा देना—उसपर चढ़ाई कर देना, यह विवेकियोंका अन्तिम उपाय है ॥७९॥ मनुष्यका केवल एक ही प्रिय वचन सैकड़ों दोषोंका निवारण करनेमें समर्थ होता है । केवल जल बरसानेके कारण ही मेघ—जो वज्र आदि भी गिरा देते हैं—लोगोंको प्यारे होते हैं ॥८०॥ दानसे धनकी हानि होती है, दण्डसे निश्चय ही सेनाका विनाश होता है और भेदसे 'यह कपटी है' इस प्रकारका अपयश फैलता है । अतएव सामसे बढ़कर और कोई अत्यधिक मंगलकारी उपाय नहीं है—दान, दण्ड और भेद इन तीन उपायोंसे हानि ही होती है और सामसे लाभ ही होता है, अतः सामसे उत्कृष्ट मंगलकारी कोई उपाय नहीं है ॥८१॥ इस प्रकार नीतिमय वचन सुनाकर–वक्तव्य देकर पुरुभूति मन्त्री चुप हो गया । इसके उपरान्त युवराज सुवर्णनाभ पराक्रमकी भावनासे भरे हुए–जोशीले और असूयासे भरे हुए शब्दोंमें यों बोला—

१. = वशीकरणाय । २. = विधिः । ३. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । ४. = पुरुभूतिनिगदनानन्तरम् । ५.एष टीकाश्रयः पाठो मूलप्रतिषु तु सर्वासु 'सासूयं' इत्येव समुपलभ्यते ।

पठितव्यमिहान्यथा स्थितं करणीयप्रतिपत्तिरन्यथा ।
नहि पृष्ठभरे नियुज्यते[1] हलसंभावितयोग्यतः पशुः ॥८३॥
अनिरूपितकृत्ययानया ह्रियते कः खलु कूर्चशोभया ।
ननु बीजपदे व्यवस्थितं फलमन्यः पदवाक्यडम्बरः ॥८४॥
परवृद्धिनिबद्धमत्सरे विफलद्वेषिणि साम कीदृशम् ।
सुतरां स भवेत्खरः प्रियैरविभाव्यप्रकृतिर्हि दुर्जनः ॥८५॥

हृञ् हरणे लङ् ॥८२॥ पठितव्यमिति । इह कार्ये । पठितव्यं वक्तव्यम् । अन्यथा अन्येन प्रकारेण स्थितम् । करणीयप्रतिपत्तिः करणीयस्य कार्यस्य प्रतिपत्तिः परिज्ञानम्[2] । अन्यथा अन्यप्रकारेण । हलसंभावितयोग्यतः हले लाङ्गले संभाविता संस्कृता योग्यता यस्य सः । पशुः अनड्वान् । पृष्ठभरे पृष्ठभारे[3] । न नियुज्यते हि न संबध्यते हि । युजृ्र् योगे कर्मणि लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥८३॥ अनिरूपितेति । अनिरूपितकृत्यया अनिरूपितमभाषितं कृत्यं कार्यं यया तया । कूर्चशोभया कूर्च इव क्षीरविकार इव (?) शोभया मनोहरत्वयुक्तया-मृदुना च—इत्यर्थः । अनया एतया, वाचा । कः को वा । खलु स्फुटम् । आह्रियते[4] उदाह्रियते । हृञ् हरणे कर्मणि लट् । फलं निष्पत्तिः । बीजपदे बीजस्य कारणस्य पदे[5] शब्दे । व्यवस्थितम् आसितम् । अन्यः फलाभावः पदवाक्यडम्बरः पदानां तिङन्तसुबन्तरूपाणां वाक्यानां पदसमुदायानामाडम्बरः संभ्रमः । ननु निश्चयम् । अर्थान्तरन्यासः ॥८४॥ परवृद्धीति । परवृद्धिनिबद्धमत्सरे परेषामन्येषां वृद्धौ संपत्तौ निबद्धः कृतो मत्सरः ईर्ष्या येन तस्मिन् । विफलद्वेषिणि विफलं वृथा[6] द्वेषिणि द्वेषयुक्ते । साम सामोपायः । कीदृशं किमिव दृश्यत इति तथोक्तम् । स पृथिवीपालः[7] । प्रियैः[8] इष्टवचनैः । सुतरां भृशम् । खरः क्रूरः । भवेत् स्यात् । लिङ्[9] । दुर्जनः दुष्टजनः । [अविभाव्यप्रकृतिः] अविभाव्या विभावितुमयोग्या प्रकृतिर्यस्य सः । तथा हि (?) विपरीतस्वरूपयुक्तः—इत्यर्थः । 'सतां हि प्रह्वता शान्त्यै खलानां दर्पकारणम् ।' इति यावत् ।

॥८२॥ प्रस्तुत विषयमें पढ़ लेना और बात है, तथा कर्तव्यका निश्चय करना कुछ और । राजनैतिक पोथा पढ़ लेने या पढ़कर सुना देनेमें कर्त्तव्यका निश्चय नहीं होता । इसके लिए अनुभव चाहिए । हल खींचनेकी योग्यता रखनेवाला बैल लादने या सवारीके काममें नहीं लगाया जा सकता ॥८३॥ कर्त्तव्यका निश्चय न करनेवाली कोरी दाढ़ी और मूछकी शोभासे कौन आकृष्ट हो सकता है ? कोई भी वक्ता—जिसकी दाढ़ी खूब लम्बी है, व्यक्तित्व प्रभावक है और जो खूब डींग मारता है—प्रस्तुत विषयपर प्रकाश डाले बिना श्रोताओंपर प्रभाव नहीं डाल सकता । फल निश्चय ही अपने बीजसे ही उत्पन्न होता है, फिर भी यदि बीजके बिना भी फल उत्पन्न होनेकी बात कही जाये तो वह कोरा वागाडम्बर है—बकवास है । कार्य अपने कारणसे उत्पन्न होता है, बिना कारणके भी कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन करना, बकवास नहीं तो और क्या है ? ॥८४॥ दूसरोंकी वृद्धि देखकर डाह करनेवाले और व्यर्थ ही द्वेष करनेवालेके साथ साम कैसा ? प्रिय वचन कहनेसे—सामका प्रयोग करनेसे वह पृथिवीपाल और भी भड़क उठेगा । दुर्जनकी प्रकृति अपरिवर्तनीय होती है, वह नम्र व्यवहारसे शान्त नहीं किया जा सकता—

---

१. °भरेण युज्यते । २. आ परिज्ञा । ३. श 'पृष्ठभारे' इति नास्ति, आ पृष्ठभारे पृष्टभरे । ४. = आकृष्यते । ५. = स्थाने । ६. श 'वृथा' इति नास्ति । ७. आ वृद्धिपालः, श पृथ्वीपालः । ८. = मिष्टवचनैः । ९. श लेट् ।

विषये खलु संनियोजितः सदुपायः फलवान्न चान्यथा ।
नहि वज्रधरायुधोचिते क्रमते ग्रावणि लौहमायुधम् ॥८६॥
मदभाजि परापमाननाप्रवणे[1] दण्डमुशन्ति सूरयः ।
उपयाति सुखेन[2] वश्यतां किमनड्वानपनाथनासिकः ॥८७॥
पुरुषस्तपनीयवद्गुरुर्न परैर्यावदसौ विगाह्यते[3] ।
तुलितस्तु स एव तत्क्षणात्तृणराशौ निपतत्यसंशयम् ।८८॥
शिवहेतुरुदाहृता क्षमा व्रतिनामेव न मेदिनीभुजाम् ।
बहुना ननु विप्रकृष्यते पदवी संसृतिमुक्तिधर्मिणोः ॥८९॥

अर्थान्तरन्यासः ॥८५॥ विषय इति । विषये योग्ये । संनियोजितः प्रयोजितः । समुदायः सामोपायः[4] । फलवान् सफलः । खलु । अन्यथा अन्येन प्रकारेण, अविषये इत्यर्थः । न च—प्रयुक्तोपायः फलवान् न भवतीत्यर्थः । वज्रधरायुधोचिते वज्रधरस्य देवेन्द्रस्य आयुधस्य वज्रस्य उचिते योग्ये, वज्रेण भेत्तुं योग्ये इत्यर्थः । ग्रावणि[5] पर्वते । 'ग्रावाणौ शैलपाषाणौ[6]' इत्यमरः । लौहं[7] लोहनिर्मितम् । आयुधं प्रहरणम् । न क्रमते हि समर्थं न भवति हि । अर्थान्तरन्यासः ॥८६॥ मदभाजीति । मदभाजि गर्वयुक्ते । परापमाननाप्रवणे परेषामपमाननायामुदासीनकरणे प्रवणे समर्थे । सूरयः नीतिविदः । दण्डं दण्डोपायम् । उशन्ति वदन्ति । वश कान्तौ लट् । अपनाथनासिकः अपनाथा अछिद्रिता नासिका घोणा यस्य सः । अनड्वान् सौरभेयः । सुखेन अनायासेन[9] । वश्यताम् अधीनताम् । उपयाति प्राप्नोति किम् ? नोपयातीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥८७॥ पुरुष इति । पुरुषः नरः । परैः अन्यपुरुषैः । यावत् यावत् पर्यन्तम् । न विगाह्यते[10] नापहीयते[11] । गाहौङ्[12] विलोडने कर्मणि लट् । असौ पुरुषः । (तावत्) तपनीयवत् सुवर्णवत् । गुरुः[13] भारभूतो भवति । अन्यैः साकं यावत् पर्यन्तं नोपमितस्तावत्पर्यन्तं तुलारोपणरहितसुवर्णवत् गुरुगुणयुक्तो भवतीत्यर्थः । तुलितश्चेत् उपमितश्चेत् । स एव पुरुषस्तु । तत्क्षणात् स्वल्पकालादेव । तृणराशौ तृणानां राशौ पुञ्जे । असंशयं निस्संदेहम् । निपतति लघुत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । उपमा आक्षेपश्च ॥८८॥ शिवहेतुरिति । व्रतिनामेव तपस्विनामेव । क्षमा उत्तमक्षमा । शिवहेतुः शिवस्य मोक्षस्य हेतुः कारणमिति । उदाहृता निगदिता । मेदिनीभुजां भूपतीनाम् । न नोदाहृता । संसृतिमुक्तिधर्मिणोः संसृतेः संसारस्य मुक्तेर्मोक्षस्य धर्मिणोः धर्मयुक्तयोः । पदवी

'सतां हि प्रह्वता शान्त्यै खलानां दर्पकारणम्' ॥८५॥ साम उपाय तभी सफल होता है, जब उसका प्रयोग उसके योग्य पुरुषके साथ किया जाता है, अन्यथा नहीं—अयोग्य पुरुषके साथ सामका प्रयोग सफल नहीं होता । वज्रसे तोड़ने योग्य पहाड़पर लोहेका हथियार या औजार काम नहीं दे सकता ॥८६॥ अहंकारी और दूसरोंको अपमानित करनेमें तत्पर रहनेवाले पुरुषके साथ दण्डका प्रयोग करना चाहिए, यह राजनीतिज्ञ विद्वान् कहते हैं । बिना नथा बैल क्या सुखसे वशमें किया जा सकता है ? बैलकी नाकमें रस्सी पिरो दी जाती है तभी वह वशमें आता है ॥८७॥ जबतक दूसरोंके द्वारा विरोधीकी तहका पता नहीं लगा लिया जाता–थाह नहीं ली जाती तब तक वह सोनेकी तरह भारी जान पड़ता है । किन्तु बादमें तौलनेपर वही विरोधी तत्काल निश्चय ही तृण पुंजमें जा गिरता है—बिलकुल हलका हो जाता है ॥८८॥ क्षमा कल्याण या मुक्तिका कारण बतलाई गयी है, किन्तु किनकी क्षमा ? व्रतियों की, न कि राजाओंकी । संसार और मुक्तिके पथिकोंका मार्ग बिलकुल अलग-अलग है—एकके मार्गसे

१. म °मानता° । २. श सुखेन । ३. क ख ग घ म निगृह्यते । ४. श समोपायः । ५. आ ग्राविण । ६. आ °लपर्वतौ । ७. आ 'लौहं' इत्यस्य स्थाने 'पताह' इत्युपलभ्यते । ८. = तिरस्करणे । ९. आ निरायासेन । १०. = नाक्रम्यते । ११. आ नोपहीयते । १२. आ ग्राह्य । १३. = गौरवान्वितः ।

अभिवाञ्छति पादसङ्गमप्यखिल: कर्तुमतिग्मदीधितेः ।
तपनं न दृशापि वीक्षितुं महिमा नन्वखिल: स तेजसः[1] ॥९०॥
कृपणस्य परानुवर्तनैः सततार्तस्य धिगस्तु जीवितम् ।
अनुनीय परं निजोचितैर्ललनैर्जीवति[2] किं न मण्डल: ॥९१॥
अनुगच्छति[3] यः शठं प्रियैः प्रविहायोचितमात्मसौष्ठवम् ।
स निजां विवृणोत्यसारतामपवृष्टिर्निनदन्निवाम्बुदः ॥९२॥
मृत एव विलीन एव वा वरमप्राप्तभवः पुरैव च ।
न पुमान्परिभूतिजीवितः सहते कः खलु मानखण्डनम्[4] ॥९३॥

मार्गः । [बहुना] विप्रकृष्यते दूरीक्रियते । कृषो[5] विलेखने कर्मणि लट् । ननु निश्चयम् ॥८९॥ अभिवाञ्छतीति । अतिग्मदीधितेः चन्द्रस्य । पादसंगं पादस्य किरणस्य पादेन संगम् इति व्यज्यते[6] । अखिलोऽपि सकलोऽपि । कर्तुं विधातुम् । वाञ्छति इच्छति । वांछ इच्छायां लट् । तपनं सूर्यम् । दृशापि नेत्रेणापि । वीक्षितुं द्रष्टुम् । न न वाञ्छति । सः अखिलः सकलः । तेजसः प्रतापस्य । महिमा[7] सामर्थ्यम् । ननु निश्चयः[8] (निश्चयेन) । अर्थान्तरन्यासः ॥९०॥ कृपणस्येति । परानुवर्तनैः[9] परेषामन्येषामनुकूलवर्तनैरनुसारवृत्तिभिः । सततार्तस्य सततमनवरतमार्तस्य[10] पतितस्य कृपणस्य दीनस्य । जीवितं जीवनम् । धिगस्तु विनिन्दितमस्तु । मण्डलः सारमेयः । 'मण्डलो रात्रिजागरः' इत्यभिधानात् । निजोचितैः निजस्य स्वस्योचितैर्योग्यैः । ललनैः लाङ्गूलचालनादिदैन्यैः । परम् अन्यम् । अनुनीय संतोषयित्वा । न जीवति किं प्राणधारणं न करोति किम् ? किन्तु करोत्येव । अर्थान्तरन्यासः ॥९१॥ अनुगच्छतीति । यः पुरुषः । उचितं योग्यम् । आत्मसौष्ठवम् आत्मनः स्वस्य सौष्ठवं महत्त्वम् । प्रविहाय विमुच्य । शठं दुर्जनम् । प्रियैः प्रियवचनादिभिः । अनुगच्छति[11] अनुकूलं याति । गम्लृ गतौ लट् । सः पुरुषः । निनदन् ध्वनन् । अपवृष्टिः अपगता रहिता वृष्टिर्वर्षं यस्य सः । अम्बुद इव मेघ इव । निजां स्वकीयाम् । असारतां निस्सारत्वम् । विवृणोति व्यक्तीकरोति । वृञ् वरणे लट् । उपमा ॥९२॥ मृत इति । मृत एव त्यक्तप्राण एव । विलीन एव प्रच्छन्न एव । पुरैव च प्रागेव च । अप्राप्तभवो वा अलब्धमनुष्यभवो वा । वरम् उत्कृष्टम् । परिभूतजीवितः परिभूतं पराभवं गतं जीवितं जीवनं येन[12] सः । पुमान् पुरुषः । [न] वरं न भवति । मानखण्डनां मानस्याभिमानस्य खण्डनां

दूसरेका मार्ग दूर है । उत्तम क्षमा गृहस्थोंके लिए नहीं, साधुओंके लिए उपयोगी है ॥८९॥ सारा संसार चन्द्रमाकी किरणोंका (पैरोंका भी) सम्पर्क चाहता है, पर सूर्यको वह आँख उठाकर भी नहीं देखना चाहता । यह सब तेजकी महिमा है ॥९०॥ दूसरोंकी खुशामद करनेवाले और इसीलिए हमेशा परेशान रहनेवाले दीन-हीन पुरुषके जीवनको धिक्कार है । क्या एक कुत्ता अपने योग्य व्यवहार—पूछ हिलाना, पीछे-पीछे चलना और पैरोंमें गिरना आदि—से दूसरेको खुश करके पेट नहीं भर लेता ? ॥९१॥ जो पुरुष अपने योग्य गौरवको खोकरके खुशामदसे किसी धूर्तको प्रसन्न करना चाहता है और उसके पीछे-पीछे लगा फिरता है, वह वृष्टि न न करके गरजनेवाले मेघकी भाँति अपनी असारताको प्रकट करता है ॥९२॥ पुरुषको अपमानित होकर जीवन बिताना उचित नहीं । अपमानित जीवनसे उसका मर जाना ही अच्छा है; माँके पेटमें विलीन हो जाना—गर्भस्राव हो जाना अच्छा है अथवा गर्भमें न आना भी उत्तम है ।

१. आ इ °खिलस्य तेजसः । २. म °ललितै° । ३. अ ननु गच्छति । ४. अ °दण्डनम्, आ इ °खण्डनाम् । ५. आ कृप । ६. आ दृश्यते । ७. = महत्त्वम् । ८. आ 'ननु निश्चयः' इति नोपलभ्यते । ९. = परेषामन्येषामनुवर्तनैरनुवृत्तिभिः । १०. = पीडितस्य । ११. = अनुसरति । १२. = यस्य ।

रहितः सहजेन तेजसा पशुवत्केन बलान्न बाध्यते ।
महतामत एव वल्लभा ननु वृत्तिर्मृगराजसेविता ॥९४॥
अवगाच्च्युतनीति मा भवानिदमेकान्तत एव मद्वचः ।
अहमीश यतो ब्रवीम्यदः सकलं कालबलव्यपेक्षया ॥९५॥
स्वयमेव न वेत्ति किं प्रभुः स यथा क्षीणबलो बलाहवे ।
ससुहृद्व्यसनश्च वर्तते विगृहीतं कुलजैर्महाबलैः[1] ॥९६॥
अभियातुमतः प्रयुज्यते भवतो वृद्धिमतः क्षये स्थितः ।
प्रभवेत्खलु भाग्यसंपदा सहितः स्थानगतोऽप्यरातिषु ॥९७॥

भञ्जनाम् । कः को वा । खलु स्फुटम् । सहते क्षमते । षहि मर्षणे लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥९३॥ रहित इति । सहजेन निसर्गजेन । तेजसा प्रतापेन । रहितः विरहितः । पशुवत् बलीवर्द इव । बलं पराक्रमः (बलात् हठात्) । न बाध्यते न पीड्यते । वाह्यते इति वा पाठः । अतएव एतस्मात् कारणादेव । मृगराजसेविता मृगराजेन सिंहेन सेविता आश्रिता । वृत्तिः वर्तनम् । महतां महापुरुषाणाम् । वल्लभा प्रिया । ननु निश्चयम्[2] । प्रतापयुक्तप्रवृत्तिरेव न बाध्यते (वाह्यते वा) इत्यभिप्रायः । अर्थान्तरन्यासः ॥९४॥ अवेति । ईश भो स्वामिन् । इदम् एतत् । मद्वचः मम मे वचो वचनम् । एकान्ततः सर्वथा । च्युतनीति च्युतानीतिर्येन (यस्य) तत् । 'वता:' इति च्युतशब्दस्य पूर्वनिपातः । भवान् त्वम् । मा अवगात्[3] मा जानीष्व । इण् गतौ लुङ् । 'गैत्योः' इति गादेशः । अहं यतः यस्मात् । कालबलव्यपेक्षया[4] कालबलयोर्व्यपेक्षया आश्रयेण । अदः एतत् । सकलं सर्वम् । ब्रवीमि निगदामि । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लट् ॥९५॥ स्वयमिति । यथा येन प्रकारेण । सः पृथ्वीपालः[5] । बलाहवे बलस्य बलराजस्य[6] हवे संग्रामे । क्षीणबलः क्षीणं नष्टं बलं चतुरङ्गबलं यस्य सः । [महाबलैः प्रबलैः] कुलजैः दायादैः सह । महाबले महाबलराजे (?) । विगृहीते संग्रामे विहिते सति [विगृहीतः सन्] । ससुहृद्व्यसनश्च सुहृदो मित्रस्य व्यसनं विपत् तेन सह वर्तते इति तथोक्तः । वर्तते तिष्ठति । वृतुङ्[7] वर्तने लट् । इति प्रभुः पद्मनाभः । स्वयमेव न वेत्ति किं न जानाति किम् ? ॥९६॥ अभियातुमिति । अतः एतत्कारणात् । वृद्धिमतः कोशदण्डाधिक्यलक्षणवृद्धियुक्तस्य । भवतः तव । क्षये क्षीणस्थाने । कोशदण्डादीनां[8] हीयमानत्वं क्षयः । स्थितः प्रवृत्तः पृथिवीपालः[9] । अभियातुम्

अपमानको कौन सह सकता है ? ॥९३॥ जो पुरुष तेज रहित होता है, वह पशु सरीखा हो जाता है । पशुकी तरह उसपर कौन जबरन सवार नहीं हो जाता ? पशुकी ही भाँति उसे कौन नहीं बलात् जोत लेता है ? इसीलिए तो महान् पुरुषोंको सिंहवृत्ति प्यारी होती है ॥९४॥ राजन् ! आप मेरे कथनको सर्वथा नीति रहित नहीं समझ लीजियेगा । क्योंकि यह सब मैं समय और शक्तिको समझ कर कह रहा हूँ ॥९५॥ राजन् ! क्या आप स्वयं यह नहीं जानते कि बल नामक राजाके साथ संग्राम छिड़ जानेसे पृथिवीपालका सैन्यबल क्षीण हो गया है । यों पृथिवीपाल बड़ा बलवान् है, पर अपने कुलके लोगोंसे भी उसका संघर्ष चल रहा है, अतः उसके ऊपर मित्र-संकट भी छाया हुआ है । इस समय पृथिवीपालकी स्थिति क्या घर और क्या बाहर दोनों ही जगह गिरी हुई है ॥९६॥ राजन् ! इस समय आप कोष और सैन्यकी दृष्टिसे सम्पन्न हैं और पृथिवीपाल विपन्न । वह कोष और सैन्यकी दृष्टिसे बहुत ही गिरी हुई—क्षयकी अवस्थामें हैं, अतएव आपको

१. आ इ °हीते कुलजे महाबले । २. = निश्चयेन । ३. आ मा ज्ञासिष्ट । ४. आ 'कालबलव्यपेक्षया' इति नास्ति । ५. = पृथिवीपालः । ६. आ 'बलराजस्य' इति नास्ति । ७. आ वृत् । ८. आ °दण्डादिना । ९. श स पृथ्वीपालः ।

अवधार्य सुवर्णनाभजामिति वाणीं करणीयपेशलाम् ।
भवभूतिरुदाहरद्वचः प्रभुणा स्निग्धदृशावलोकितः ॥९८॥
निखिले विधिवद्विवेचिते युवराजेन विधेयवस्तुनि ।
अपरोऽत्र यदाह सोऽखिलः प्रतिशब्दः शुकशारिकादिवत् ॥९९॥
विशदामसमुज्झितान्वयां नयसारामविहीनसौष्ठवाम् ।
गिरमेष कदाचिदीदृशीमभिदध्यादथवा बृहस्पतिः ॥१००॥
न तथाप्यनुवर्तनामहं सहसास्य प्रविधातुमुत्सहे ।
न विमुह्यतु मद्विधः कथं गहने कृत्यविधौ विधेरपि ॥१०१॥

अभिगन्तुम् । युज्यते योग्यो भवति । भाग्यसंपदा भाग्येन संपदा च । सहितः युक्तः । स्थानगतोऽपि कोशदण्डादीनां साम्यं स्थानं[1] गतोऽपि प्राप्तोऽपि । अरातिषु शत्रुषु । प्रभवेत् खलु समर्थो भवेत् खलु । लिङ् ॥९७॥ अवधार्येति । सुवर्णनाभजां सुवर्णनाभेन जनिताम् । करणीयपेशलां करणीये कार्ये पेशलां मनोहराम् । इति उक्तरूपाम् । वाणीं वाचम् । अवधार्य निर्णीय । प्रभुणा पद्मनाभेन । स्निग्धदृशा स्निग्धया प्रीतियुक्तया दृशा[2] नयनेन । अवलोकितः वीक्षितः । भवभूतिः भवभूतिनामा मन्त्री । वचः वचनम् । उदाहरत् अवोचत् । हृञ् हरणे लङ् ॥९८॥ निखिल इति । युवराजेन युवा चासौ राजा च युवराजस्तेन, सुवर्णनाभेन । निखिले सकले । विधेयवस्तुनि विधातुं कर्तुं योग्यं विधेयं तस्मिन् वस्तुनि । विधिवत्[3] नीतिशास्त्रोक्तविधिरिव । विवेचिते विचारिते सति । अत्र अस्मिन् कार्ये । अपरः अन्यः । यत् वचनम् । आह ब्रवीति । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लट् । 'ब्रुवस्तिप्यञ्चतः—' इति तिपो णशादेशः,[4] ब्रुव आह इत्यादेशश्च[5] । सः अखिलः सकलः । शुकसारिकादिवत् शुकसारिकादिपक्षिण इव । प्रतिशब्दः प्रतिध्वनिः । भवतीत्यध्याहारः ॥९९॥ विशदामिति । एषः अयं युवराजः । कदाचित् एकस्मिन् समये । विशदां व्यक्तरूपाम् । असमुज्झितान्वयां असमुज्झितोऽत्यक्तोऽन्वयः पूर्वक्रमो यस्याः[6] ताम् । नयसारां नये नीतिशास्त्रे सारामुत्कृष्टाम् । अविहीनसौष्ठवाम् अविहीनमत्यक्तं वा सौष्ठवं माधुर्यं यस्याः[7] ताम् । ईदृशीम् एतादृशीम् । गिरं वाणीम् । अभिदध्यात् ब्रूयात् । डुधाञ् धारणे लिङ् । अथवा बृहस्पतिः सुरगुरुः । [कदाचित् संभवतः] अभिदध्यात् । युवराजो बृहस्पतिसमान इत्यर्थः । अतिशयः ॥१००॥ नेति । विधेः अपि ब्रह्मणोऽपि । गहने विषमे[8] । कृत्यविधौ कृत्यस्य कार्यस्य विधौ करणे । मद्विधः मम सदृशः । कथं केन प्रकारेण । न विमुह्यतु भ्रान्तो न भवतु । तथापि

चढ़ाई करनेके लिए प्रेरित किया जा रहा है। भाग्य सम्पत्तिसे युक्त राजा शत्रुओंपर विजय पानेमें समर्थ होता है, भले ही वह कोष और सैन्यकी दृष्टिसे उनके समान हो। क्योंकि अदृष्ट जिसका साथ देता है, वही विजयी होता है ॥९७॥ इस तरहकी सुवर्णनाभकी प्रस्तुत कर्तव्यकी विचारधारासे मन हरनेवाली वाणी सुनकर पद्मनाभने प्रीतिसे सनी हुई दृष्टिसे भवभूति नामक अपने मन्त्रीको देखा। उसके अवलोकनसे बोलनेका संकेत पाकर वह (भवभूति मन्त्री) यों बोला—॥९८॥ युवराजके द्वारा सारे प्रस्तुत कार्यके बारेमें नीतिशास्त्रके अनुकूल जो विवेचन किया गया है, वह हृदय ग्राह्य है। अब इस विषयमें यदि और कोई बोलेगा, तो निश्चय ही वह तोते-मैनेकी भाँति युवराजके वक्तव्यको केवल दुहरा भर देगा—प्रत्युच्चारण या प्रतिध्वनि मात्र कर देगा ॥९९॥ स्पष्ट, क्रमबद्ध, नीतियुक्त और मधुर, इस प्रस्तुत वक्तव्यको युवराज सुवर्णनाभ ही दे सकता था, अथवा अब ऐसे वक्तव्यको शायद बृहस्पति दे दे, और तो किसीमें ऐसी योग्यता नहीं देख पड़ती ॥१००॥ तो भी मैं इसे शीघ्र ही स्वीकार नहीं कर सकता;

१. आ साम्यलक्षणस्थानं । २. = दृष्ट्या । ३. = नीतिशास्त्रानुसारम् । ४. आ णादेशः । ५. श 'च' नोपलभ्यते । ६. = यया । ७. = यया । ८. आ विषये ।

सुविचार्य करोति बुद्धिमानथवा नारभते प्रयोजनम् ।
रभसात्करणं हि कर्मणां पशुधर्मः स कथं नु मानुषे ॥१०२॥
प्रविचेष्टितमेवमेव चेदुभयोरप्यविवेकपूर्वकम् ।
पशुमानुषयोस्तदा भवेत्किमृते शृङ्गयुगाद्विभेदकम् ॥१०३॥
युवराण्मतमस्तु किं तु नः प्रतिपाल्यः समयः कियानपि ।
विदितारिबला प्रयुञ्जते ननु षाड्गुण्यमुदारबुद्धयः ॥१०४॥
सकलं प्रविगाह्य तं चरैं रिपुसर्वस्वमुपेत्य सर्वतः ।
स्वपरप्रविभागवेदने स्वयमस्तूद्यतधीर्भवानपि ॥१०५॥

अहम् अस्य कार्यस्य । अनुवर्तनाम् अङ्गीकारम् । सहसा शीघ्रम् । प्रविधातुं कर्तुम् । न उत्सहे उद्युक्तो न भवामि । षहि मर्षणे । अहंकारपरिहारः ।१०१॥ सुविचार्येति । बुद्धिमान् सम्यग्ज्ञानी । प्रयोजनं कार्यम् । विचार्य परीक्ष्य । करोति विदधाति । अथवा तथा नो चेत् । न आरभते नोपक्रमते । रभि राभस्ये लट् । कर्मणां कार्याणाम् । रभसात् शीघ्रम् । करणं विधानम् । हि[1] पशुधर्मः मूढधर्मः । स[2] मानुषे मनुष्ये । कथं नु कथं भवेत् ? ॥१०२॥ प्रविचेष्टितमिति । अविवेकपूर्वकम् अविवेकपूर्वकमेव । विचेष्टितं व्यापृतम् । चेत्, तदा तर्हि । पशुमानुषयोः पशुमनुष्ययोः उभयोरपि । शृङ्गयुगात् शृङ्गयोर्विषाणयोर्युगाद् युगलात् । ऋते विना । विभेदकं[3] भेदः । [किं] भवेत् (किं) स्यात् ? । लिङ् । आक्षेपः ॥१०३॥ युवराडिति । नः अस्माकम् । युवराड्मतं[4] युवराजः सुवर्णनाभस्य मतं[5] संमतम् । अस्तु भवतु । अस भुवि लोट् । किन्तु विशेषोऽस्ति । कियानपि स्वल्पोऽपि[6] । 'वतिवदं किमः' इति घतु-प्रत्ययः । 'किमिदमः कीश्' इति किरादेशः । समयः कालः । प्रतिपाल्यः रक्षणीयः । विदितारिबलाः विदितं ज्ञातमरीणां शत्रूणां बलं[7] स्वरूपं येस्ते । उदारबुद्धयः उदारा महती बुद्धिर्येषां ते । षाड्गुण्यं सन्ध्यादिषाड्गुण्यम् । प्रयुञ्जते प्रयोगं कुर्वन्ति । युजृ्ज् योगे लट्[8] । अर्थान्तरन्यासः ॥१०४॥ सकलमिति । सकलं निखिलम् । रिपुसर्वस्वं रिपूणां शत्रूणां सर्वस्वं सर्वस्वरूपम् । चरैर्गूढचरैः । सर्वतः[9] सर्वस्मात् । उपेत्य ज्ञात्वा (गत्वा) । प्रविगाह्यतां ज्ञायताम् । गाहौङ् विलोडने लोट्[10] । स्वपरप्रविभागवेदने स्वस्य परेषामन्येषां प्रविभागस्य वेदने । भवानपि त्वमपि । स्वयम् उद्यतधीः

क्योंकि जो काम विधाताके लिए भी कठिन है, उसमें मुझ सरीखेको भला भ्रम क्यों नहीं होगा ? ॥१०१॥ बुद्धिमान् मनुष्य खूब आगा-पीछा सोचकर कार्य प्रारम्भ करता है, या फिर प्रारम्भ ही नहीं करता; क्योंकि सहसा कार्य प्रारम्भ कर देना पशुओंका धर्म है, वह मनुष्यमें कैसे पाया जा सकता है ? ॥१०२॥ यदि पशु और मनुष्य दोनोंकी ही चेष्टाएँ अविवेक पूर्वक–बिना सोचे-समझे हों, तो दो सींगोंके सिवा, दोनोंमें भेद बतानेवाला चिन्ह कौन-सा होगा ? ॥१०३॥ युवराजका मत हम सबको मान्य हो, किन्तु अभी कुछ समय प्रतीक्षा करनी चाहिए । शत्रुओंके बलका पता लगाकर, बुद्धिमान् पुरुष निश्चय ही छह गुणों—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव—का प्रयोग करते हैं ॥१०४॥ पहले सभी ओरसे जासूसोंको भेजकर, पृथिवीपालके सर्वस्वका ठीक-ठीक पता लगा लेना चाहिए । आप भी अपनी और

---

१. =निश्चयेन । २. =धर्मः । ३. = भेदकारि । ४. आ °राण्मतं । ५. = अभिमतम् । ६. आ स्वल्पमपि । ७. =सामर्थ्यम् । ८. आ लङ् । ९. =परितः । १०. श लेट् ।

तरसोभयवेतनैर्वशीक्रियतां भृत्यगणो यथोचितम् ।
कृतकग्रथितैश्च शासनैः परिदूष्या रिपुसामवायिकाः ॥१०६॥
विनिवेद्यमिदं प्रयोजनं सकलं भीमरथस्य रंहसा ।
स न तिष्ठति लेखदर्शनात्समदुःखोऽस्ति सुहृन्न तादृशः ॥१०७॥
तनयः स तनोति यः कुलं स सुहृद्यो व्यसनेऽनुवर्तते ।
स नृपः परिपाति यः प्रजां स कविर्यस्य वचो न नीरसम् ॥१०८॥
तमनन्यसमानतेजसं समनुप्राप्य सहायमूर्जितम् ।
सवितेव घनात्यये भवान्भविता भासुरधामदुःसहः ॥१०९॥

प्रयतबुद्धिः । अस्तु भवतु । लोट् ॥१०५॥ तरसेति । कृत्यगणः कृत्यानां कार्याणां (भृत्यगणः भृत्यानां शत्रुकिङ्कराणां) गणः समूहः । तरसा शीघ्रम् । उभयवेतनैः उभयेषां शत्रुप्रतिशत्रूणां वेतनैः[2] सेवकैः । यथोचितं यथायोग्यम् । वशीक्रियतां वशी विधीयताम् । वश विधेये[3] कर्मणि लोट् । कृतकग्रथितैः कृतकेन कपटेन ग्रथितैः रचितैः । शासनैश्च लेखनैश्च । रिपुसामवायिकाः रिपोः शत्रोः सामवायिकाः सामन्तादयः । परिदूष्याः याञ्चितुं[4] (?) योग्याः स्युः ॥१०६॥ विनिवेद्यमिति । इदम् एतत् । सकलं निखिलम् । प्रयोजनं कार्यम् । रंहसा[5] शीघ्रम् । भीमरथस्य भीमरथराजस्य । विनिवेद्यं निवेदितव्यम् । समदुःखः समं समानं दुःखं कष्टं यस्य सः । सः भीमरथः । लेखस्य लेखनपत्रस्य । दर्शनात् आलोकनात्[6] । न तिष्ठति नास्ति[7] । लट् । तादृशः भीमरथस्य समः । सुहृत् मित्रम् । नास्ति न विद्यते । लट् । उपमा (?) ॥१०७॥ तनय इति । यः पुरुषः । कुलं वंशम् । तनोति विस्तारयति । सः तनयः पुत्रः । यः व्यसने दुःखे । अनुवर्तते अनुतिष्ठति[8] । सः सुहृत् सखा । यः प्रजाः सर्वजनान् । प्रतिपाति[9] प्रतिपालयति । सः नृपः नरपतिः । यस्य पुरुषस्य । वचः वचनम् । नीरसं शृङ्गारादिरहितम् । न-न भवति । सः कविः कवीश्वरः । भवतीत्यध्याहारः ॥१०८॥ तमिति । अनन्यसमानतेजसं न विद्यतेऽन्येषां समानं सदृशं तेजः प्रतापो यस्य तम् । ऊर्जितं[10] प्रसिद्धम् । तं भीमरथम् । सहायं मित्रम् । समनुप्राप्य संप्राप्य[11] संलभ्य । घनात्ययं शरत्कालम् । प्राप्य, सवितेव सूर्य इव । भवान् त्वम् । भासुरधामदुस्सहः भासुरेण[12] मनोहरेण धाम्ना प्रतापेन, पक्षे किरणेन दुस्सहः सोढुमशक्यः । भविता

पृथिवीपालकी स्थितिका अन्तर जाननेके लिए प्रयत्नशील रहिये ॥१०५॥ पृथिवीपालके यहाँसे जितना वेतन मिलता हो, उतना अपनी ओरसे भी देकर, उसके समस्त कर्मचारियोंको योग्य रीतिसे शीघ्र ही अपने वशमें कर लीजिये, और जाली लेख या आज्ञापत्र भेजकर शत्रुकी पार्टीमें सम्मिलित माण्डलीक राजाओं एवं अन्य विशिष्ट व्यक्तियोंको अभियोग लगवा दीजिये, ताकि फूट पड़ जाये ॥१०६॥ भीमरथको शीघ्र ही अपना सारा प्रयोजन पत्र-द्वारा सूचित कर दीजिये। आपका पत्र देखकर वह अपने घर बैठा नहीं रहेगा—यहाँ अवश्य ही आयेगा। आपके सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख समझनेवाला, उस सरीखा आपका कोई मित्र नहीं है ॥१०७॥ तनय-पुत्र वही है, जो कुलका विस्तार करे; मित्र वही है, जो आपत्तिमें अनुगमन करे; राजा वही है, जो प्रजाकी रक्षा करे और कवि वही है, जिसके वचन नीरस न हों ॥१०८॥ अनुपम तेजको धारण करनेवाले और बलशाली उस भीमरथको अपना सहायक पाकर आप शरद ऋतुके सूर्यके समान इतने तेजस्वी हो जायेंगे कि आपका तेज शत्रुओंको असह्य हो

१. इ शालनैः । २. =द्विगुणितवेतनवर्द्धिः । ३. श 'वश विधेये' इति नास्ति । ४. आ याचितुम् । ५. आ सहसा । ६. श लोकनात् । ७. =नास्ते । ८. आ आनुकूलेनानुतिष्ठति । ९. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'परिपाति' इत्येव दृश्यते । १०. =प्रबलम् । ११. आ 'संप्राप्य' इति नास्ति । १२. =प्रदीप्तेन ।

करिणं प्रदिशामि निश्चितं समरं वाह्नि मासपूरणे ।
भवतेऽहमिति प्रहीयतां रिपुदूतो वचनैर्द्वयाश्रयैः[1] ॥११०॥
हितमित[2]वचनानि मन्त्रिमुख्यादिति सकलाभिमतान्यसौ निशम्य ।
अनलसमतिरर्थतोऽनुतस्थौ गुरुवचनं[3] ह्युदयैषिणामलङ्घ्यम् ॥१११॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये द्वादशः सर्गः ॥१२॥

भविष्यति । भू सत्तायां लुट् । भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुषः । उपमा ॥१०९॥ करिणमिति । अहं भवते तुभ्यम् । मासपूरणे मासस्य पूरणे संपूर्णकरणे । अहनि दिने । निश्चितं निर्णीतम् । करिणं गजपतिम् । प्रदिशामि प्रयच्छामि । दिश अतिसर्जने लट् । 'वर्त्स्यति फलकारणे' इति भविष्यदर्थे लट् । समरं वा संग्रामं वा । प्रदिशामि । इति एवम् । द्वयाश्रयैः द्वयमवलम्बनमाश्रयो येषां तैः । वचनैः वचोभिः । रिपुदूतः रिपोः शत्रोर्दूतो वचोहरः । प्रहीयतां प्रेष्यताम् । हि गतिवृद्धयोः कर्मणि लोट्[4] ॥११०॥ हितेति । असौ पद्मनाभः । मन्त्रिमुख्यात् मन्त्रिश्रेष्ठभवभूतेः । सकलानि मतानि सकलैः सर्वैरभिमतानि संमतानि[5] । हितमितवचनानि मितानि च तानि वचनानि च तथोक्तानि, हितानि च तानि मितवचनानि च तथोक्तानि । इति एवम् । निशम्य श्रुत्वा । अनलसमतिः सन् अनलसा आलस्यरहिता मतिर्बुद्धिर्यस्य सः । अर्थतः परमार्थतः । अनुतस्थौ अङ्गीकरोति स्म । ष्ठा गति निवृत्तौ लिट् । उदयैषिणाम् ऐश्वर्यं वाञ्छद्भिः । 'वा नाकस्य–' इत्यादिना करणार्थे[6] षष्ठी । गुरुवचनं गुरोः श्रेष्ठस्य । वचनं भाषितम् । अलङ्घ्यं हि नोल्लङ्घनीयं हि[7] । अर्थान्तरन्यासः ॥१११॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये द्वादशः सर्गः ॥१२॥

जायेगा ॥१०९॥ 'आजसे तीसवें दिन निश्चय ही मैं आपको हाथी दूँगा, या फिर युद्ध करूँगा', यह अनिश्चित उत्तर देकर पृथिवीपालके दूतको विदा कर दीजिये ॥११०॥ इस प्रकार मुख्य-मन्त्री भवभूतिसे सर्वसम्मत, हितकारी और परिमित इन वचनोंको सुनकर पद्मनाभने—जिसे नाममात्रको भी आलस नहीं था—वास्तविक रूपमें स्वीकार कर लिया। ठीक है, ऐश्वर्य चाहनेवालोंको गुरुजनोंके वचन अनुल्लङ्घनीय होते हैं ॥१११॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें
बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२॥

■

---

१. अ द्वयाश्रितैः । २. म हितमिति । ३. म हृदयैषिणा° । ४. श लेट् । ५. श 'संमतानि' इति नास्ति । ६. श करणेऽर्थे । ७. श 'हि' नास्ति ।

[१३. त्रयोदशः सर्गः]

अथ स विक्रमवान्नयभूषणो मिलितभीमरथप्रमुखः प्रभुः ।
निरगमत्प्रतिशत्रु जिगीषया प्रशमितप्रकृतिव्यसनो नृपः ॥१॥

सकललोकमनोरममुल्लसत्कुमुदपाण्डु विकासितदिङ्मुखम् ।
पथि रराज धृतं धरणीपतेः स्वयशसा सममातपवारणम् ॥२॥

जलदवीथिविशालमुरः प्रभोः पृथुलहारलतामणिभिर्बभौ ।
मुखसरोजमुपासितुमागतैरुडुगणैरिव जातशशिभ्रमः ॥३॥

अथेति । अथ मन्त्रालोचनानन्तरम् । विक्रमवान् पराक्रमयुक्तः । नयभूषणः नय एव नीतिरेव भूषणं यस्य सः । मिलितभीमरथप्रमुखप्रभुः मिलिता युक्ता भीमरथप्रमुखाः प्रभवो राजानो यस्य[1] सः । प्रशमित-प्रकृतिव्यसनः प्रशमितमुपशमितं प्रकृतीनाममात्याद्यानां[2] व्यसनं दुःखं येन सः । 'अमात्यश्च स्वपौराश्च[3] सद्भिः प्रकृतयः स्मृताः' । स नृपः पद्मनाभनृपतिः । जिगीषया जेतुमिच्छया । जि ज्रा[4] अभिभवे लिट् । 'जेर्लिट् सनि' इति कवर्गादेशः । प्रतिशत्रु शत्रोरभिमुखं प्रतिशत्रु[5] । निरगमत् निर्गच्छति स्म । रूपकम् ॥१॥ सकलेति । सकललोकमनोरमं सकलानां सर्वेषां लोकानां जनानां मनोरमं मनोहरम् । उल्लसत्कुमुमपाण्डु[6] उल्लसद् विकसत् कुसुममिव पाण्डु शुभ्रम् । उपमा । विकासित[7]दिङ्मुखं विकासितानि प्रकाशितानि दिशां ककुभां मुखानि वदनानि येन तत् । स्वयशसा स्वस्य आत्मनो यशसा कीर्त्या । समं समानम् । धरणीपतेः पद्मनाभस्य । धृतं भृतम् । आतपवारणम् आतपत्रम् । पथि मार्गे । रराज भाति स्म । राजृ् दीप्तौ लिट् । उपमा ॥२॥ जलदेति । प्रभोः पद्मनाभस्य । जलदवीथिविशालं जलदवीथिवद् गगनवद् विशालं विस्तीर्णम् । उरः वक्षः । जातशशिभ्रमैः जात उत्पन्नः शशीति चन्द्र इति भ्रमो भ्रान्तिर्येषां तैः । भ्रान्तिमान् । मुख-सरोजं[8] मुखमेव सरोजं कमलं तत् । रूपकम् । उपासितुम् आराधितुम् । आगतैः आयातैः । उडुगणैः उडूनां नक्षत्राणां गणैरिव समूहैरिव । पृथुलहारलतामणिभिः पृथुलैर्हारलताया हारयष्टेर्मणिभिः । बभौ रराज ।

इसके पश्चात् पराक्रमी एवं नीतिनिपुण राजा पद्मनाभने पहले अपने मन्त्रियों और पुरवासियोंके कष्टोंका निवारण किया, फिर भीमरथ आदि अनेक मित्र राजाओंको अपने साथ लिवाकर विजयकी अभिलाषासे पृथिवीपालके नगरकी ओर प्रयाण कर दिया ॥१॥ पद्मनाभके ऊपर छत्र लगा हुआ था । उसे उनके भृत्य पकड़े हुए थे । उसका सफेद रंग कुमुदसे मिलता-जुलता था । वह उसके यशकी भाँति शुभ्र था और सभी ओर दृष्टिगोचर हो रहा था । मार्गमें वह सभी लोगोंके मनको हर रहा था ॥२॥ पद्मनाभका वक्षस्थल आकाशकी भाँति विशाल था । वह हारके बड़े-बड़े मणियोंसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो पद्मनाभके मुखमें चन्द्रमाका भ्रम हो जानेसे उसकी उपासना करनेके लिए आये हुए नक्षत्रगणसे व्याप्त हो गया हो ॥३॥

---

१. = येन । २. श °ममात्यानां । ३. श पौराश्च । ४. आ जी । ५. श 'शत्रोरभिमुखं प्रतिशत्रु' इति नास्ति । ६. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु '°कुमुदपाण्डु' इत्येव दृश्यते । ७. अयमपि टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'विभासित°' इति समुपलभ्यते । ८. = मुखं सरोजमिवेति मुखसरोजं, तत् । उपमा ।

प्रसृतया बभतुर्वरकुण्डलग्रथितवारिजरागमणित्विषा ।
सरसगैरिकपङ्कपरिष्कृतौ करिकराविव भूमिभुजो भुजौ ॥४॥
मुकुटरत्नचयेन परस्परव्यतिकरोल्लसितामलरोचिषा ।
जलदकाल इवेन्द्रधनुःश्रियं प्रविततान महीपतिरम्बरे ॥५॥
परिभवत्यरिनिर्जयनिर्गतो निखिलमाण्डलिकाननतानयम् ॥
इति भयेन तदीयभुजद्वयं शशिरवी इव भेजतुरङ्गदे ॥६॥
शिखिगलाकृतिना रशनाश्मनो रुचिचयेन निरन्तरपूरितम् ।
क्षितिपतेरखिलां यमुनाह्रदश्रियमलुम्पत नाभिसरोवरम् (रः) ॥७॥

भा दीप्तौ लिट् । उपमा[1] । पद्मनाभस्यालंकरणम् ॥३॥ प्रसृतयेति । प्रसृतया विस्तृतया । वरकुण्डलग्रथितवारिजरागमणित्विषा वरयो[2]र्महतोः कुण्डलयोः कर्णवेष्टनयोः ग्रथितानां कीलितानां वारिजरागमणीनां पद्मरागमणीनां त्विषा कान्त्या । सरसगैरिकरागपरिष्कृतौ सरसस्यार्द्रतायुक्तस्य गैरिकस्य मनःशिलायाः पङ्केन कर्दमेन परिष्कृतावलङ्कृतौ । 'संपर्युपात्कृञः—' इत्यादिना सडागमः । करिकराविव गजशुण्डादण्डाविव । भूमिभुजः पद्मनाभस्य । भुजौ बाहू । बभतुः रेजतुः । भा दीप्तौ लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४॥ मकुटेति । सः महीपतिः पद्मनाभभूपः । परस्परव्यतिकरोल्लसितामलरोचिषा परस्परमन्योन्यं व्यतिकरेण मिश्रणेनोल्लसितं विलसितममलं रोचिः कान्तिर्यस्य तेन । मकुट[3]रत्नचयेन मकुटे[4] किरीटे विद्यमानानां रत्नानां चयेन समूहेन । जलदकाल इव वर्षाकाल इव । अम्बरे गगने । इन्द्रधनुषः सुरचापस्य श्रियं शोभाम् । विततान वितनोति स्म । तनूञ्[5] विस्तारे लिट् । उत्प्रेक्षा[6] ॥५॥ परिभवतीति । अरिनिर्जयनिर्गतः अरेः शत्रोर्निर्जयाय निर्गतो निर्यातः । अयं पद्मनाभः । अनतान् नमनविमुखान् । निखिलमाण्डलिकान् निखिलान् सकलान् माण्डलिकान् [7]देशाधिपतीन् । परिभवति तिरस्करोति । भू सत्तायां लट् । इति[8] भयेन भीत्या । शशिरवी इव सूर्याचन्द्रमसाविव । तदीयभुजद्वयं तदीयं तस्य संबन्धं[9] भुजयोर्द्वयम् । अङ्गदे केयूरे । भेजतुः भजतः स्म । भजि[10] सेवायां लिट् । चन्द्रसूर्ययोरपि मण्डलवत्त्वात् तावस्याश्रितावित्यर्थः । उपमा[11] ॥६॥ शिखीति । रशनाश्मनः[12] रशनायां काञ्च्यां कीलितस्याश्मनो हरिन्मणेः । शिखिगलाकृतिना शिखिनो मयूरस्य गल इव कण्ठ इवाकृति-

---

पद्मनाभके कानोंमें जो कुण्डल थे, उनमें पद्मराग मणियोंसे अपूर्व सुषमा उत्पन्न हो गयी थी । उनकी लाल प्रभाके पड़नेसे उसके दोनों भुज हाथीकी उन सूंड़ोंके समान सुशोभित हो रहे थे, जिनपर अभी-अभी गेरूका लेप किया गया हो ॥४॥ जिस तरह वर्षा ऋतुका समय आकाशमें इन्द्रधनुषकी शोभा उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार पद्मनाभने अपने मुकुटमें जड़ी हुई रत्न-राशिकी परस्परमें मिलकर फैलनेवाली किरणोंकी प्रभासे आकाशमें इन्द्रधनुष सरीखी शोभा उत्पन्न कर दी थी ॥५॥ पद्मनाभ शत्रुओंपर विजय पानेके लिए निकला है । यह नमन न करनेवाले सभी माण्डलीक राजाओंका तिरस्कार करेगा, इस भयके कारण मानो चन्द्र और सूर्य अङ्गदके रूपमें उसके दोनों बाहुओंके आभूषण बनकर सेवा करने लगे । अपने-अपने मण्डलों—देशोंकी रक्षा करनेवाले अविनीत राजा अपमानित होने लगेंगे, तो हम दोनों भी तो मण्डल-वर्त्तुलाकार वाले हैं और राजाको नमन भी नहीं करते, अतः हम दोनोंका भी अपमान होगा, मानो यही सोचकर सूर्य और चन्द्र केयूरका रूप लेकर उसके भुजाओंको सेवामें उपस्थित हो गये ॥६॥ पद्मनाभकी कमरमें करधनी शोभा बढ़ा रही थी । उसमें लगे हुए वैडूर्यमणियों-

---

१. = उत्प्रेक्षा । २. = श्रेष्ठयोः । ३. आ मुकुट° । ४. आ मुकुटे । ५. आ तनु । ६. उपमा निदर्शना च । ७. श दिशाधि° । ८. श इतीति । ९. संबन्धि । १०. आ भज । ११. = उत्प्रेक्षा । १२. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु °श्मनां' इत्येव समवलोक्यते ।

गुरुमताभिरतामलमानसं विहितदिव्यशरीरपरिग्रहम् ।
त्रिदिवनाथमिव त्रिदिवौकसस्तमवनीपतयो नृपमन्वयुः ॥८॥
तुरगवारकठोरकरद्वयीधृतकुशागुणपीडितकंधरैः ।
पथि भयापसरच्छिशुसंकुले स्खलितवेगमगामि तुरंगमैः ॥९॥
तुरगियत्ननिरुद्धमहारयैर्हरिभिरुत्पतितैर्जलदोन्मुखम्[1] ।
गगननीरनिधिर्निखिलस्तदा समजनीव तरङ्गितविग्रहः ॥१०॥

राकारो[2] यस्य तेन । रुचिचयेन रुचीनां कान्तीनां चयेन समूहेन । निरन्तरपूरितं निरवकाशं पूरितं व्याप्तम् । क्षितिपतेः पद्मनाभस्य । नाभिसरोवरं[3] नाभिरेव सरोवरम् । रूपकम् । अखिलां सकलाम् । यमुनाह्रद्श्रियं यमुनाया यमुनानद्या ह्रदस्यागाधजलस्य[4] । श्रियं शोभाम् । अलुम्पत निराकुरुत । लुप्लृ् छेदने लङ् । उत्प्रेक्षा ॥७॥ गुरुमतेति । [5]गुरुमताभिरतामलमानसं गुरुणा हितोपदेशकेन बृहस्पतिना वा मतमभिमतमभिरतं मनोहरं निर्मलं मानसं चित्तं यस्य तम् । विहितदिव्यशरीरपरिग्रहं विहितः कृतो दिव्यं शरीरं गात्रं तदेव परिग्रहः परिकरो यस्य तम् । तं नृपं पद्मनाभभूपतिम् । दिवौकसः सुराः । त्रिदिवनाथमिव स्वर्गनाथमिव देवेन्द्रमिवेत्यर्थः । अवनीपतयः भूमिपतयः । अन्वयुः अनुजग्मुः । या प्रापणे लङ् । उपमा ॥८॥ तुरगेति । तुरगवारकठोरकरद्वयीधृतकुशागुणपीडितकन्धरैः तुरगवाराणामश्वारोहाणां[6] कठोरयोः कर्कशयोः करयोर्हस्तयोर्द्वय्या द्वयेन धृतेन भृतेन [7]कुशागुणेन वल्गारज्जुना (रज्ज्वा) पीडिता बाधिताः कन्धरा येषां तैः । तुरङ्गमैः अश्वैः । भयापसरच्छिशुसंकुले भयाद् भीतेरपसरद्भिरितस्ततो गच्छद्भिः शिशुभिर्बालकैः संकुले संकीर्णे । पथि मार्गे । स्खलितवेगं स्खलितो रुद्धो वेगः शैघ्र्यं यस्मिन् कर्मणि तत्० । अगामि अगम्यत् । गम्लृ गतौ भावे[8] लुङ् ॥९॥ तुरगीति । तुरगियत्ननिरुद्धमहारयैः[9] तुरगिणामश्वारोहाणां यत्नेन प्रयत्नेन निवारितो रयो वेगः[10]शीघ्रं [रयो]येषां तैः । जलदोन्मुखं जलदस्य मेघस्योन्मुखमभिमुखम् । उत्पतितैः दुर्लङ्घितैः[11] (उद्गतैः) उड्डीनैर्वा[12] । हरिभिः वाजिभिः । तदा गमनसमये ।

की किरणोंसे—जिनका रंग मयूरके गलेके रंगसे बिलकुल मिलता-जुलता था— सभी ओरसे व्याप्त होकर उसकी नाभि, यमुनाके कुण्डको—जिसमें कालिय नाग रहा करता था—सारी छविको छीन रही थी ॥७॥ जिस प्रकार बृहस्पतिके द्वारा दी गयी शिक्षामें निर्मल मनको लगानेवाले और दिव्य शरीरको धारण करनेवाले इन्द्रके पीछे देव लोग चला करते हैं, उसी प्रकार गुरुजनोंके अभिमत नीतिमार्गमें स्वच्छ हृदयको लगानेवाले—स्वच्छ हृदयसे गुरुजनोंकी शिक्षा माननेवाले और अत्यन्त सुन्दर शरीरवाले राजा पद्मनाभके पीछे-पीछे अन्य राजे-महाराजे चल रहे थे—अनुगमन कर रहे थे ॥८॥ भयसे इधर-उधर भागते हुए छोटे-छोटे बच्चोंसे घिरे हुए मार्गमें घुड़सवारोंने अपने कठोर हाथोंसे घोड़ोंकी रासोंकी रस्सियोंको खूब जोरसे खींच लिया, जिससे वे अपनी गर्दन टेढ़ी किये हुए, और उसकी पीड़ाका अनुभव करते हुए धीरे-धीरे चलने लगे ॥९॥ घुड़सवारोंने ज्योंही बड़े यत्नसे घोड़ोंकी तीव्र गतिको रोका, त्यों ही वे मेघोंकी

१. म °न्मुखे । २. = वर्णो° । ३. निखिलासु प्रतिषु 'नाभिसरोरुहम्' इत्येव पाठो वर्तते । ४. = द्रहस्येति यावत् । 'द्रहोऽगाधजलो ह्रदः' इति हैमः । ५. = गुरुमताभिरतामलमानसं गुरोर्मन्त्रिणः, पक्षे बृहस्पतेर्मतेऽभिरतं निरतममलं निर्मलं मानसं हृदयं यस्य तम् । विहितदिव्यशरीरपरिग्रहं विहितः कृतो दिव्यस्य सुन्दरस्य, पक्षे वैक्रियिकस्य शरीरस्य परिग्रहः स्वीकारो येन तम्, अतिरुचिरशरीरधारिणमिति यावत् । ६. आ °रोहकाणां । ७. = 'कुशा वल्गा कुशं जले' अनेकार्थ० । ८. आ कर्मणि । ९. एष टीकाश्रयः पाठो मूलप्रतिषु तु °'जवैः' इत्येव दृश्यते । १०. = जवो° । ११. आ उल्लङ्घितैः । १२. श 'उड्डीनैर्वा' इति नास्ति ।

चलितवद्भिरजीयत वाजिभिस्त्वरितमभ्यधिकेन निजौजसा ।
कृतपदैर्निखिलेऽपि महीतले यदनिलः किमिवात्र महाद्भुतम् ॥११॥

निरवधि प्रसृतैर्वसुधातले नृपबलैर्महिमा मम खण्डितः ।
इति नभस्त्रपयेव तिरोभवद्रजसि वाजिखुराहतिबृंहिते ॥१२॥

सतडिदाभरणाः प्रवितन्वते धृतजला जलदा दिवि यां श्रियम् ।
स्फुरितरत्नकुथैरलिकोमलैः प्रचलितैर्भुवि सा विदधे गजः ॥१३॥

निखिलः सकलः । गगननीरनिधिः गगनमेवाकाशमेव नीरनिधिः समुद्रः । तरङ्गितविग्रहः तरङ्गितः संजातः तरङ्गयुक्तो (तरङ्गो) विग्रहो गात्रं यस्य सः, इव । समजनि जन्यते स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । उत्प्रेक्षा ॥१० । चलितेति । निखिले सकले । महीतले भूतलेऽपि । कृतपदैः कृतं पदं चरणं येषां तैः, स्थानमिति ध्वनिः । चलितवद्भिः चलनयुक्तैः । वाजिभिः अश्वैः । अभ्यधिकेन बहुलेन । निजौजसा निजस्यात्मन ओजसा सामर्थ्येन । त्वरितं शीघ्रम् । कृतम् (?) । अनिलः वायुः । न विद्यते इला भूमिर्यस्य (सोऽ-) अनिलः । इलारहित इति ध्वनिः । अजीयत जीयते स्म । जी ज्यो अभिभवे[2] कर्मणि लट् । यदत्र[3] निजस्थानीकृतनिखिलमहीतलैरिलारहितस्य जये न किमप्याश्चर्यमिति छलार्थः[4] । महाद्भुतं महदाश्चर्यम् । किमिव किम् ? इवशब्दो वाक्यालङ्कारे ॥११॥ निरवधीति । वसुधातले वसुधाया भूमेस्तले प्रदेशे । निरवधि अपरिमितम्[5] । प्रसृतैः विस्तृतैः । नृपबलैः नृपस्य पद्मनाभस्य बलैश्चतुरङ्गबलैः । मम मे । महिमा[6] सामर्थ्यम् । खण्डितः निराकृतः । इति एवम् । त्रपयेव लज्जयेव । नभः गगनम् । वाजिखुराहतिबृंहिते वाजिनां तुरगाणां खुराणामाहत्या[7] पीडया बृंहिते प्रवृद्धे । रजसि धूल्याम् । तिरोभवत् व्यदधात् । लङ् । उत्प्रेक्षा ॥१२॥ सतडिदिति । सतडिदाभरणाः तडिदेव विद्युदेवाभरणं भूषणं तेन सहिताः । धृतजलाः धृतं जलं यैस्ते धृतजलाः । जलदाः मेघाः । दिवि नभसि । यां श्रियं यां शोभाम् । प्रवितन्वते विस्तारं कुर्वन्ति । स्फुरितरत्नकुथैः स्फुरितैर्भासिते रत्नकुथैः रत्नकम्बलैः । 'परिस्तोमः कुथो द्वयोः' इत्यमरः । 'कुथः स्यात्करिकम्बलः' इति वा । अलिकोमलैः अलिभिर्भ्रमरैः कोमलैः सदृशैः । प्रचलितैः निर्गतैः । गजैः करिभिः । भुवि भूमौ ।

ओर—ऊपर उछलने लगे, जिससे सारा आकाश-समुद्र तरंगोंसे युक्त-सा दृष्टिगोचर होने लगा ॥१०॥ वेगसे चलनेवाले घोड़ोंने सारे भूतलपर अपने पैर जमा लिये (अधिकार कर लिया)। ऐसी स्थितिमें उन्होंने अपने सर्वाधिक बलसे अनिल-वायु (न विद्यते इला भूमिर्यस्य सोऽनिलः—जिसके पास भूमि न हो) को जीत लिया, इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥११॥ 'भूतलपर जिधर-देखो-उधर पद्मनाभकी चतुरंगिणी सेना फैल गयी है। किसी भी ओर सेनाका ओर-छोर नहीं देख पड़ता । इससे तो मेरी महिमा ही नष्ट हो गयी है—मेरा महत्त्व खण्डित हो गया है । अभीतक तो मैं अकेला ही ओर-छोर रहित (अनन्त) था, अब यह सेना भी मेरी बराबरी कर रही है। इससे तो मेरी नाक-सी कट गयी है' मानो यह सोचकर आकाश शर्मिन्दा होकर घोड़ोंकी टापोंके प्रहारसे ऊपर उड़कर सभी ओर बढ़नेवाली धूलमें छिप गया ॥१२॥ बिजली रूपी आभूषणको धारण करनेवाले सजल बादल आकाशमें जो शोभा उत्पन्न करते हैं, उसी शोभाको चमचमाते रत्नोंसे जड़ी हुई झूलको धारण करनेवाले और भौंरोंके समान काले,

---

१. =यैः । २. आ जी जयेऽभिभवे च । ३. श यस्त्वत्र । ४. आ दलार्थः । ५. श अप्रमितम् ।
६. = महत्त्वम् । ७. = आघातेन ।

पथिषु हस्तिपकाहतडिण्डिमध्वनितनष्टजनेषु यदृच्छया।
कुपितधीर[1]विवर्तितदृष्टिभिः पदमदीयत मत्तमतङ्गजैः ॥१४॥
नृपतिरेकक एव कुलं द्विषां क्षपयितुं क्षम एष किमत्र वः।
जगुरितीव रवैर्बल[2] दन्तिनां श्रितमदार्द्रकटा मधुलिड्गणाः ॥१५॥
यमवनीशगमावसरे मदं जगृहिरे[3] करिणो जयशंसिनः।
रजसि तेन तुरङ्गखुरोत्थिते प्रशमिते ददृशुः पदवीं जनाः ॥१६॥
खुरनिपातविदारितभूमिभिः प्रजविभिस्तुरगैर्विषमीकृते।
पथि परिस्खलनेन समुच्छलच्चरणया चलितं रथकड्यया ॥१७॥

सा शोभा। विदधे क्रियते स्म। डुधाञ् धारणे च कर्मणि लिट्। उत्प्रेक्षा परिवृत्तिर्वा ॥१३॥ पथिष्विति। हस्तिपकाहतडिण्डिमध्वनितनष्टजनेषु हस्तिपकैराधोरणैराहतस्य वादितस्य डिण्डिमस्य डिण्डिमवाद्यस्य ध्वनितेन रवेण नष्टा निवारिता जना येषु तेषु। पथिषु मार्गेषु। कुपितधीरविवर्तितदृष्टिभिः कुपिते क्रुद्धे धीरं भयरहितं यथा तथा विवर्तिते दृष्टी नयने येषां तैः। मत्तमतङ्गजैः मत्तवारणैः। यदृच्छया स्वेच्छया। पदं चरणन्यासः। अदीयत न्यक्षिप्यत। कर्मणि लङ् ॥१४॥ नृपतिरिति। एषः अयम्। एक एव एककः। नृपतिः नरपतिः[4]। द्विषां शत्रूणाम्। कुलं वंशम्। क्षपयितुं नाशयितुम्। क्षमः समर्थः। वः युष्माकम्। 'पदाद्वाक्यस्य—' इत्यादिना युष्मच्छब्दबहुवचनस्य वसादेशः। अत्रकार्यं किमिति? अतीव[5] अत्यन्तम्। इव शब्दो वाक्यालङ्कारे। बलदन्तिनां बलयुक्तगजानां चतुरङ्गबलगजानां वा। श्रितमदार्द्रकटाः श्रित आश्रितो मदेन मदजलेनार्द्रः कटो गजगण्डो येषां (यैः) ते। मधुलिड्गणाः मधुलिहां भ्रमराणां गणाः समूहाः। [रवैः]। जगुः ऊचुः। गै शब्दे लिट्। उत्प्रेक्षा ॥१५॥ यमिति। जयशंसिनः जयसूचिनः। करिणः गजाः। अवनीशगमावसरे अवनीशस्य भूमिपतेर्गमस्य गमनस्यावसरे प्रस्तावे। यं मदं मदजलम्। जगृहिरे स्वीकुर्वन्ति स्म। ग्रही उपादाने लिट्। तुरङ्गखुरोत्थिते तुरङ्गाणामश्वानां खुरैः खुरपुटैरुत्थिते समुत्पन्ने[6]। रजसि रेणौ। तेन मदजलेन। प्रशमिते उपशमिते सति[7]। जनाः लोकाः। पदवीं मार्गम्। ददृशुः पश्यन्ति स्म। दृशृ प्रेक्षणे लिट्। पर्यायोक्तिः (?) ॥१६॥ खुरेति। खुरनिपातविदारितभूमिभिः खुराणां खुरपुटानां निपातेन घातेन विदारिता विभेदिता भूमिर्येषां[8] तैः। प्रजविभिः वेगवद्भिः। तुरगैः अश्वैः। विषमीकृते निम्नोन्नतीकृते। पथि मार्गे। परिस्खलनेन स्खलनक्रियया। समुच्चलच्चरणया समुच्चलत् प्रस्खलच् चरणं[9] पादो यस्याः-

चलते हुए हाथियोंने पृथिवीपर उत्पन्न कर दिया ॥१३॥ हाथियोंपर महावत डिण्डिम बजा रहे थे, उनकी आवाज सुनते ही लोग रास्तोंसे अलग हट गये। फिर खाली रास्तोंसे मदमाते हाथी अपनी क्रुद्ध एवं निर्भय दृष्टि इधर-उधर डालते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक चले जा रहे थे ॥१४॥ सेनामें जो हाथी चल रहे थे, उनके गण्डस्थलोंपर भौंरोंके झुण्ड बैठे हुए थे, उनके मुखसे 'गुन गुन' शब्द निकल रहा था, जिससे ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वे उन (हाथियों) से यह कह रहे हों कि यह राजा पद्मनाभ अकेला ही शत्रुओंके वंशका ध्वंस करनेके लिए समर्थ है, फिर आपका यहाँ–सेनामें क्या काम ? ॥१५॥ पद्मनाभके जानेके अवसरपर विजयको सूचना देनेवाले हाथी जो मदजल बहा रहे थे, उससे घोड़ोंकी टापोंसे उड़ायी गयी धूलि शान्त हो गयी। फिर लोगोंको रास्ता दीख पड़ने लगा। ॥१६॥ वेगसे चलनेवाले घोड़ोंने अपनी टापोंके प्रहारसे जमीनको खोदकर नीचा-ऊँचा कर दिया, जिससे रास्ता विषम हो गया। उसमें दचक लगनेसे रथोंका समूह उछलता हुआ जा

१. अ °वीर°। २. अ आ इ रवैर्बल°। ३. आ इ जगहिरे। ४. श 'नरपतिः' पदं नोपलभ्यते। ५. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'इतीव' इत्येव दृश्यते। ६. = समुत्पतिते। ७. श पथि। ८. = यैः। ९. = चक्रं।

न सहते करपातमयं नृपो विजयवानपरस्य महीतले ।
रविरितीव रथध्वजचीवरैरविरलैर्विदधेऽन्तरितं वपुः ॥१८॥
नृपपराक्रमबीजविवप्सुभि रिव रथैर्यदकृष्यत भूतलम् ।
मदपयोभिरपूर्यत तन्मधुव्रतकुलाकुलगण्डतलैर्गजैः ॥१९॥
चलितशैलचयेन गरीयसा बलभरेण निपीडितदेहया ।
बधिरिताखिलदिग्रथमण्डलध्वनिपदैरिव निःस्वनितं भुवा ॥२०॥
कतिपयानि न यावदयुः पदान्यनुचरै रभसेन विनिर्गताः ।
कतिपयैः पथि तावदुपेत्य तान्भटगणा नृपतीन्परिवव्रिरे ॥२१॥

तया । रथकड्यया रथसमूहेन । 'गोरथवाताल् त्रकड्योलम्' इति समूहे कड्य[2]-प्रत्ययः । चलितं प्रयातम् ॥१७॥ नेति । विजयवान् विजययुक्तः । अयं नृपतिः एष नरपतिः । महीतले भूतले । अपरस्य अन्यस्य । करपातं करस्य सिद्धायस्य किरणस्य च पातं पतनम् । न सहते न क्षमते । षहि मर्षणे लट् । इति एवमिव (इतीव इति हेतोरिव) । रविः सूर्यः । अविरलैः बहुलैः । रथध्वजचीवरैः रथानां स्यन्दनानां पताकानां चीवरैर्वस्त्रैः । वपुः अवयवम् । व्यवहितम् अन्तरितम् । विदधे करोति स्म । डुधाञ् धारणे च लिट् । उत्प्रेक्षा ॥१८॥ नृपेति । नृपपराक्रमबीजविवप्सुभिः नृपस्य नरपतेः पराक्रम[3] एव प्रताप एव बीजस्य विवप्सुभिर्वप्तुमिच्छुभिः । वररथैः परमरथैः । यद् भूतलं भूमितलम् । अकृष्यत अलिख्यत[4] । कृष विलेखने कर्मणि लट् । मधुव्रतकुलाकुलगण्डतलैः मधुव्रतानां भ्रमराणां कुलेन समूहेनाकुलं संकीर्णं गण्डतलं कपोलप्रदेशो येषां तैः । गजैः करिभिः । मदपयोभिः मदजलैः । अपूर्यत अजृम्भ्यत[5] । पॄ पालनपूरणयोः कर्मणि[6] लङ् । पर्यायोक्तिः (?) ॥१९॥ चलितेति । चलितशैलचयेन चलितः कम्पितः शैलानां पर्वतानां चयो येन तेन । गरीयसा गुरुतरेण । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना गुरुशब्दस्य ईयसि परे गरादेशः । बलभरेण बलस्य सेनाया भरेण भारेण । निपीडितदेहया निपीडितो बाधितो देहोऽवयवो यस्यास्तया । भुवा भूम्या । बधिरिताखिलदिग्रथमण्डलध्वनिपदैः बधिरिता अखिलदिशः समस्तककुभो यैस्ते तथोक्ताः, बधिरिताखिलदिशश्च ते रथाश्च तेषां मण्डलं समूहस्तस्य ध्वनिरिति पदैः[7] व्याजैः । स्वनितमिव ध्वनितमिव ॥ उत्प्रेक्षा ॥२०॥ कतीति । कतिपयैः कैश्चित् । अनुचरैः भटैः । यावत् यावत् पर्यन्तम् । कतिपयानि कियन्ति । पदानि चरणनिक्षेपणानि । न अयुः न जग्मुः । या प्रापणे लिट् । तावत् तावत्पर्यन्तम् । पथि मार्गे । रभसेन शीघ्रम् । विनिर्गताः निर्याताः । भटगणाः भृत्यसमूहाः । तान् नृपतीन् भूपतीन् । उपेत्य प्राप्य । परिवव्रिरे

रहा था ॥१७॥ यह विजयी राजा इस भूतलपर किसी दूसरेके टैक्स (हस्तक्षेप, किरणोंका पड़ना) सहन नहीं कर सकता । मानो यही सोचकर सूर्यने रथोंके सघन ध्वजपटोंमें अपनेको छिपा लिया ॥१८॥ मानो राजाके पराक्रमके बीज बोनेकी कामनासे रथोंने जिस भूतलको जोत डाला, उसे उन हाथियोंने अपने मदजलसे खूब सींचकर तर कर दिया, जिनके गण्डस्थलोंपर भौंरोंके झुण्ड बैठे हुए थे ॥१९॥ समस्त पहाड़ोंको कम्पित करनेवाली बड़ा-भारी सेनाके बोझसे दबकर पृथिवीके शरीरमें पीड़ा उत्पन्न हो गयी, मानो इसीलिए वह समस्त दिशाओंको बहरा कर देनेवाली रथसमुदायकी आवाजके बहानेसे चिल्ला रही थी ॥२०॥ राजा लोग अपने थोड़े-से नौकरोंके साथ निकलकर जबतक कुछ ही कदम आगे नहीं पहुँच पाये थे तबतक बड़े वेगसे और भी नौकरोंने पास पहुँच कर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया—बीचमें राजा चल रहे थे और

१. क ख ग घ °विविस्तुभि° । २. श कट्य° । ३. = पराक्रमः प्रतापस्तस्य बीजानि । ४. श विलिख्यत । ५. श 'अजृम्भ्यत' इति नास्ति । ६. श 'कर्मणि' इति पदं नास्ति । ७. = ध्वनिः शब्दस्तत्पदैः ।

परिहितायसकञ्चुकमेचकं पिहितभूमि पदातिकदम्बकम् ।
नरपतेररुचच्छरणागतं तिमिरशत्रुभयादिव तामसम् ॥२२॥
कृतसमुन्नतवंशपरिग्रहा गुणविशेषविभूषितविग्रहा ।
कुलवधूरिव मुष्टिगता मुदं व्यधित योधजनस्य धनुर्लता ॥२३॥
घनघटासदृशीषु कृतासना गजवधूष्ववरोधपुरंध्रयः ।
विपुलकान्तिपरिप्लुतविग्रहा विदधिरे श्रियमाचिररोचिषीम् ॥२४॥
तदखिलं पुटभेदनमुद्भटैः स्फुटदिवाभटदात्तकुतूहलैः ।
न निरितैर्यदवेक्षितुमीश्वरं दशतयीष्वपि दिक्षु जनैर्ममे ॥२५॥

आवृण्वन्ति स्म । वृञ् वरणे लिट् । समाहितम् ॥२१॥ परिहितेति । परिहितायसकञ्चुकमेचकं परिहितेन परिधृतेन आयसेन अयसा निर्मितेन कञ्चुकेन तनुत्राणेन मेचकं नीलम् । पिहितभूमिः पिहिता आच्छादिता भूमिर्येन तत् । नरपतेः पद्मनाभस्य । पदातिकदम्बकं पदातीनां पदगामिनां कदम्बकं निकुरम्बकम् । तिमिरशत्रुभयात् तिमिरशत्रोः सूर्यस्य भयाद् भीतेः । शरणागतं रक्षणार्थमागतम् । तामसं तिमिराणां समूह इव । अरुचत् अभात् । रुचि दीप्तौ लुङ् । 'धुद्भ्यो लुङि' इति तिप्[१] ॥ उत्प्रेक्षा ॥२२॥ कृतेति । कृतसमुन्नतवंशपरिग्रहा कृतसमुन्नतस्य[२] विहित उच्छ्रितस्य वंशस्य वेणोः, पक्षे विशिष्टगोत्रस्य परिग्रहः स्वीकारो यस्याः[३] सा । गुणविशेषविभूषितविग्रहा गुणेन मौर्व्या, पक्षे पातिव्रत्यादिगुणेन विशेषं भूषितो विग्रहो यस्याः सा । मुष्टिगता मुष्टि हस्तमुष्टि, पक्षे अधीनं[४] गता । धनुर्लता[५] धनुषश्चापस्य लता यष्टिः । कुलवधूरिव कुलस्त्रीव । योधजनस्य योध एव भट एव जनस्तस्य । रूपकम् (?) । मुदं संतोषम् । व्यधित अकरोत् । डुधाञ् धारणे च लङ् । श्लेषोपमा ॥२३॥ घनेति । घनघटासदृशीषु घनानां मेघानां[६] घटायाः समूहस्य सदृशीषु समानासु । गजवधूषु करेणुषु । कृतासनाः कृतं विहितमासनं याभिस्ताः । विपुलकान्तिपरिलुप्तविग्रहाः विपुलया महत्या कान्त्या किरणेन परिप्लुत[७] उत्तीर्णो विग्रहो यासां ताः । अवरोधपुरंध्रयः अवरोधस्यान्तःपुरस्य पुरंध्रयः स्त्रियः । आचिररोचिषीम् अचिररोचिषो विद्युतः संबन्धिनीम् । श्रियं शोभाम् । विदधिरे धरन्ति स्म । डुधाञ् धारणे च लिट् । सामान्यालङ्कारः (निदर्शनालङ्कारः) ॥२४॥ तदिति । उद्भटैः अधिकैः । बट भट परिभाषणे । आत्तकुतूहलैः आत्तं स्वीकृतं कुतूहलं यैस्तैः । ईश्वरं प्रभुम् । अवेक्षितुं

उनके चारों ओर नौकर चाकर एवं अंगरक्षक गण ॥२१॥ पयादोंके समुदायने सारी पृथिवी घेर ली थी, सभी पयादे लोहेका कवच पहने हुए थे और इसीलिए वे बिलकुल काले देख पड़ते थे । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्यके भयसे सारा अन्धकार शरणागतके रूपमें पद्मनाभके पास चला आया हो ॥२२॥ जिस प्रकार उन्नत वंशमें उत्पन्न होनेवाली, पातिव्रत्य आदि गुणोंसे अपनेको भूषित करनेवाली और आज्ञाकारिणी कुलीन स्त्री अपने पतिको आनन्द देती है, इसी प्रकार श्रेष्ठ बाँससे बनी हुई, चढ़ी हुई प्रत्यंचा-डोरीसे सुशोभित और मुट्ठीमें स्थित धनुर्यष्टि सिपाहीवर्गको सन्तोष दे रही थी ॥२३॥ मेघोंकी घटा सरीखी काली हथिनियोंपर अत्यधिक कान्ति युक्त शरीर धारण करनेवाली रानियाँ बैठी हुई थीं, जो बिजलीकी शोभाको उत्पन्न कर रही थीं । वर्षा कालीन काली घनघटा जिस तरह बिजुलीसे सुशोभित होती है, उसी तरह हथिनियोंकी पंक्ति रानियोंसे सुशोभित हो रही थी ॥२४॥ राजा पद्मनाभको देखनेके लिए लोग—जिन्हें कुतूहल उत्पन्न हो रहा था—अपने-अपने घरोंसे निकल पड़े ।

१. आ तिप् । २. = कृतो विहितः समुन्नतस्य । ३. = यया । ४. = अधीनतां । ५. = धनुर्वल्लरी । ६. श 'मेघानां' पदं नोपलभ्यते । ७. = व्याप्तः ।

परिचिते बहुशोऽप्यवनीश्वरे कमलिनीकुसुमैरिव भास्करे ।
विचकसे नयनैः पुरयोषितां न रमणीयमपोहति कौतुकम् ॥२६॥
जनरवात्त्रसतो निपतन्त्यधस्तरलवेगसरादवरोधिका ।
युवजनं विदधे गलदम्बरप्रकटितावयवा सकुतूहलम् ॥२७॥
कृतकटुस्वरमायतकंधरं सपदि भाण्डमपास्य पलायितः ।
करिभयात्कटके समपूपुषन्नट इवाधिकहास्यरसं मयः ॥२८॥
पथि वृषैः करिसूत्कृतिविद्रुतैर्मृदितधूर्द्वितये शकटे सति ।
विपुललाभकृते वणिजोऽटतो घृतघटैर्मनसा सह पुस्फुटे ॥२९॥

वीक्षितुम् । निरितैः[1] निर्गतैः । जनैः प्रजाभिः । दशतयीष्वपि दशावयवा यासां ता इति दशतय्यः तासु । 'अवयवात्तयट्' इति तयट्-प्रत्ययः । दिक्षु दिशासु । न ममे न माति स्म । माङ् माने लिट् । तद् अखिलं सकलम् । पुटभेदनं पत्तनम् । स्फुटदिव विभिन्नमिव । अभवत् अभूत् । लङ् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥२५॥ परिचित इति । बहुशः बहुवारान् । परिचितेऽपि अभ्यस्तेऽपि वीक्षितेऽपि वा । अवनीश्वरे भूमिपतौ । पुरयोषितां नगरस्त्रीणाम् । नयनैः नेत्रैः । विचकसे विकस्यते स्म । कस गतौ भावे लिट् । भास्करे सूर्ये । कमलिनीकुसुमैरिव कमलिन्याः पद्मिन्याः कुसुमैः पुष्पैरिव । रमणीयं मनोहरम् । कौतुकम् आश्चर्यम् । नापोहति न त्यजति । ओहृ[2] त्यागे लट् । अतिशयः (उपमा, अर्थान्तरन्यासश्च) ॥२६॥ जनेति । जनरवात् जनानां रवात् कोलाहलात् । त्रसतः बिभ्यतः । तरलवेगसरात् तरलाच्चञ्चलात् । वेगसरात् खरभेदात् । अधः भूभागे । निपतन्ती स्खलन्ती । अवरोधिका अन्तःपुरस्त्रीजनः । गलदम्बरप्रकटितावयवा गलता[3] शिथिलयता अम्बरेण वस्त्रेण प्रकटितोऽवयवः स्तनाद्यवयवो[4] यस्याः सा । युवजनं[5] यौवनजनम् । सकुतूहलं सोत्सुकम् । विदधे चकार । लिट् । २७॥ कृतेति । कटके सेनायाम् । करिभयात् गजभयात् । कृतकटुस्वरं कृतो विहितः कटुस्वरो यस्मिन् कर्मणि तत्० । आयतकन्धरम् आयता कन्धरा कण्ठो यस्मिन् कर्मणि तत्० । सपदि शीघ्रम् । भाण्डं भारम् । अपास्य त्यक्त्वा । पलायितः विद्रुतः । मयः उष्ट्रः । नट इव नर्तक इव । अधिकहास्यरसं बहुलहास्यरसम् । समपूपुषत् अवर्धयत् । पुष पुष्टौ णिजन्ताल्लुङ् ॥२८॥ पथीति । पथि मार्गे । करिफूत्कृतविद्रुतैः[6] करिणो गजस्य फूत्कृतेन फूत्कारध्वनिना विद्रुतैः पलायितैः । वृषैः अनडुद्भिः । शकटे, [7]मथितधूर्द्वितये मथितायाः

उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि वे दसों दिशाओंमें भी नहीं समा रहे थे । इतने दर्शनार्थी कहाँसे आ गये, लगता था मानो नगर फट पड़ा हो ॥२५॥ यों राजा पद्मनाभ चिरपरिचित था, उसे बहुत बार देखा भी था, पर विजयके लिए जाते समय उसे देखकर नगरकी स्त्रियोंके नेत्र खिल उठे । जैसे चिरपरिचित सूर्यको देखते ही कमल खिल उठते हैं । सच तो यह है कि सुन्दर वस्तु कभी आश्चर्य उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकती ॥२६॥ लोगोंके शब्द-कोलाहलसे एक चंचल खच्चर डर गया और उसके ऊपर बैठी हुई, अन्तःपुरमें काम करनेवाली एक युवती गिरनेकी स्थितिमें पहुँच गयी, उसके वस्त्र इधर-उधर हो गये, स्तन आदि अवयव दृष्टिगोचर होने लगे, तथा मनचले युवकोंके मनमें कौतुक उत्पन्न हो गया ॥२७॥ हाथीको देखते ही एक ऊँट डर गया । फलतः कानोंको उद्वेजना उत्पन्न करनेवाले स्वरमें चिल्लाता हुआ, अपनी गर्दनको लम्बी करता हुआ बोझ पटककर ऐसे ढंगसे भागा कि छावनीमें उसने एक नटकी भाँति हास्य रसकी खूब ही पुष्टि की—उसे देखनेवाले लोग ठहाका मारकर हँसने लगे ॥२८॥ हाथीकी सूंड़से

१. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु सर्वासु 'निरतैः' इत्येव समुपलभ्यते । २. श ऊहि तर्के । ३. = पतता । ४. आ 'स्तनाद्यवयवो' इति नास्ति । ५. = तरुणवर्गम् । ६. °फूत्कृत° इति टीकायामेव दृश्यते, प्रतिषु तु सर्वास्वपि °सूत्कृति° इति वर्तते । ७. मथित° इत्यपि पाठष्टीकाश्रय एव, प्रतिषु तु 'मृदित°' इति दृश्यते ।

अविदितागमवारण[1]भीभवत्पतनभग्नबृहद्दधिपात्रया ।
निववृते क्षणशोचितनाशया नृपपथात्किल बल्लवयोषिता ॥३०॥
गुरुभरग्रहकुब्जितविग्रहैश्चिरतराच्चलितैरपि चक्रिरे ।
कटकिनः प्रथमं कृतनिर्गमाः सपदि वैवधिकैरनुयायिनः ॥३१॥
नृपवधूजनयानवितानकैरलघुभिः कटकं निचितान्तरम् ।
तमवलोक्य जनैर्न न सस्मरे[2] प्रचुरपोतचितः सरितां पतिः ॥३२॥

भग्नाया धुरो यानमुखस्य द्वितये भागद्वये सति । विपुललाभकृते विपुलाय महते लाभाय (विपुललाभस्य) कृते, लाभनिमित्तम् । कृते इत्यव्ययम् । अटतः गच्छतः । वणिजः वाणिजस्य । मनसा सह मानसेन साकम् । घृतघटैः घृतस्य घटैः कलशैः । पुस्फुटे स्फुटयते स्म[3] । स्फुट विभेदने भावे लिट् । चित्तेन सह घृतघटैर्भिन्न-मित्यर्थः । सहोक्तिः ॥२९॥ अविदितेति । अविदितागमवारणभीभवत्पतनभग्नबृहद्दधिपात्रया अविदित[4] आगम[5] आगमनं यस्य तस्माद् वारणाज्जातेन भयेन (जातया भिया) भवता जायमानेन पतनेन भग्नं विभिन्नं बृहद् महद् दधिपात्रं यस्यास्तया । क्षणशोचितनाशया क्षणं स्वल्पकालं शोचितः[6] शोकितो नाशो यस्याः[7] तया । बल्लवयोषिता बल्लवया गोपालया[8] योषिता स्त्रिया, बल्लवस्य योषिता वा । नृपपथात् राजमार्गात् । विववृते[9] किल आव्रियते स्म । वृञ् वरणे कर्मणि लिट् ॥३०॥ गुरुभरेति । गुरुभरग्रहकुब्जित-विग्रहैः गुरोर्महतो भारस्य ग्रहेण स्वीकारेण कुब्जितो ह्रस्वीकृतो विग्रहः शरीरं येषां तैः । चिरतरात् चिर-कालात्[10] । चलितैः आगतैः । वैवधिकैः भारवाहैः, कावडिकैर्वा । अपि प्रथमं पूर्वम् (अपि) । कृतनिर्गमाः कृतो विहितो निर्गमो निर्याणं येषां[11] ते । कटकिनः सेनानायकाः । सपदि शीघ्रम् । अनुयायिनः पश्चाद्गामिनः । चक्रिरे चक्रुः । डुकृञ् करणे लिट् ॥३१॥ नृपेति । अलघुभिः महद्भिः । नृपवधूजनयानवितानकैः नृपस्य राज्ञो वध्व एव स्त्रिय एव जनाः (वधूनां जनाः समूहाः) तेषां यानानां शिबिकानां वितानकैः समूहैः । निचितान्तरं निचितं परिपूर्णमन्तरं मध्यं[12] यस्य तम् । तं कटकं सेनाम् । अवलोक्य वीक्ष्य । जनैः लोकैः प्रचुरपोतचितः

निकले हुए 'फू' शब्दको सुनकर बैल घबराकर ऐसे ढंगसे भागे कि गाड़ीके धुरेके दोनों अगले भाग टूट गये, और गाड़ीमें रखे हुए घीके घड़े, खूब मुनाफेकी इच्छासे सेनाके साथ गमन करने-वाले व्यापारीके हृदयके साथ फूट गये ॥२९॥ दहीसे भरे हुए बहुत बड़े घड़ेको अपने सिरपर रखकर एक ग्वालिन सड़कसे चली जा रही थी, इतनेमें अचानक एक हाथी सामनेसे आ गया, उसे देखकर वह घबरा उठी और उसका घड़ा नीचे गिरकर फूट गया । बेचारी थोड़ी देर तक वहीं खड़ी-खड़ी दहीके विनाशके बारेमें शोक करती रही, फिर वहाँसे लौटकर अपने घर चली गयी ॥३०॥ कुछ भार ढोनेवाले पुरुष अपने कन्धोंपर अत्यधिक बोझिल बहंगी—काँवर रखकर चले जा रहे थे । भारी भारके कारण उसके शरीर कुबड़ेकी भाँति आगेकी ओर झुके जा रहे थे, फिर भी उन्होंने उन सेनापतियोंको पीछे कर दिया, जो बहुत पहले ही प्रस्थान कर चुके थे । कुली लोगोंने बहुत पीछे प्रस्थान किया था, पर तेज चलनेके कारण वे सेनापतियोंसे भी आगे निकल गये ॥३१॥ जिन शिविकाओंमें रानियाँ बैठी थीं, वे बहुत बड़ी-बड़ी थीं, उनसे सेनाका मध्य भाग घिरा हुआ था । इस अवसरपर सेनाको देखकर लोगोंको प्रचुर जहाजोंसे घिरे हुए समुद्रका स्मरण नहीं हो आया, यह बात नहीं थी—अर्थात् अवश्य ही स्मरण हो आया ।

१. अ क ख ग घ म °गतवारण° । २. म न स सस्मरे । ३. क 'स्फुटयते स्म' इति नास्ति । ४. आ अविदितमज्ञातमागमं । ५. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु 'आगतम्' इति दृश्यते । ६. = चिन्तितः । ७. = यस्याः । ८. = गोपालिकया । ९. 'विववृते' इति टीकाश्रयस्य पाठस्य स्थाने मूलप्रतिषु 'निववृते' इति पाठः समुपलभ्यते । १०. = अतिविलम्बत इति यावत् । ११. यैः । १२. क 'मध्यं' इति नास्ति ।

सरभसैर्नरनाथविनिर्गमं[1] क्षितिभुजां प्रतिपालयतां बलैः ।
रुरुचिरे निचिताः पुरवीथयो गुरुतरङ्गचयैरिव निम्नगाः ॥३३॥
तुरगरोहकराग्रसमुत्पतत्तरलतुङ्गतुरङ्गतरङ्गया ।
बहुमुखैर्जलधेरिव वेलया क्षुभितया प्रसृतं नृपसेनया ॥३४॥
पटहजेन पटुध्वनिना मुहुर्मुहुरिवाह्वयता प्रतिनिःस्वनैः ।
क्षितिपतीश्वरनिर्गमशंसिना सकलसैनिकसद्मसु बभ्रमे ॥३५॥
अधिकमेधितया मुदितैर्जनैः स हृतदृष्टिमनाः पुरशोभया ।
क्षितिपतिः सहसैव सविस्मयो रथमलोकत शालतले निजम् ॥३६॥

प्रचुरैर्बहुलैः पोतै[3]र्नौभिः चितो युतः । सरितां नदीनाम् । पतिः समुद्रः । न सस्मरे न स्मर्यते स्मे ति न । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं द्योतयतः । उत्प्रेक्षा ॥३२॥ सरेति[4] । नरनाथविनिर्गमं नरनाथस्य भूपतेः विनिर्गमं निर्याणम् । प्रतिपालयतां[5] वाञ्छताम् । क्षितिभृतां भूपानाम् । सरभसैः संतोषयुतैः[6] । बलैः सेनाभिः । निचिताः[7] युक्ताः । पुरवीथयः पुरस्य नगरस्य वीथयो रथ्याः । गुरुतरङ्गचयैः[8] गुरुणां महतां तरङ्गाणां कल्लोलानां चयैः[9] समूहैः । निम्नगाः नद्य इव । रुरुचिरे भान्ति स्म । उपमा ॥३३॥ तुरगेति । तुरगरोहकराग्रसमुत्पतत्तरलतुङ्गतुरङ्गतरङ्गया तुरगरोहाणामश्वारोहाणां कराग्रस्य हस्ताग्रस्य संज्ञया समुत्पतन्तो नृत्यन्तस्तरलाश्चञ्चलास्तुङ्गा उन्नतास्तुरङ्गा अश्वाः त एव तरङ्गा ऊर्मयो यस्यां तया । नृपसेनया नृपस्य नरपतेः सेनया सैन्येन । क्षुभितया संचलितया । जलधेः समुद्रस्य । वेलया[10] तीरेण इव । बहुमुखैः नानामुखैरित्यर्थः । प्रसृतं प्रयातम् । उपमा ॥३४॥ पटहेति । मुहुर्मुहुः भूयोभूयः । आह्वयता आकारयतेव । क्षितिपतीश्वरनिर्गमशंसिना क्षितिपतीनां भूभृतामीश्वरस्य पद्मनाभस्य निर्गमस्य निर्गमनस्य शंसिना[11] द्योतिना । पटहजेन भेरिजनितेन । पटुध्वनिना पटुना व्यक्तेन ध्वनिना निस्वनेन । प्रतिस्वनैः प्रतिध्वनिभिः । सकलसैनिकसद्मसु सकलानां निखिलानां सैनिकानां[12] सेनानायकानां सद्मसु सदनेषु । बभ्रमे व्याप्यते स्म । चलने कर्मणि लिट् ॥३५॥ अधिकमिति । मुदितैः संतुष्टैः । जनैः लोकैः । अधिकम् अत्यन्तम् । एधितया[13] वर्धितया । पुरशोभया पुरस्य पत्तनस्य शोभया श्रिया । हृतदृष्टिमनाः हृते आहृते दृष्टिमनसी नयनमानसे यस्याः सा (यस्य स) तथोक्तः । सविस्मयः आश्चर्ययुतः । सः क्षितिपतिः पद्मनाभः । सालतले सालस्य

शिविकाएँ जहाजों सरीखी थीं और सेना समुद्र जैसी । अतः स्मरण होना स्वाभाविक था ॥३२॥ राजा पद्मनाभके निकलनेकी प्रतीक्षा करनेवाले राजाओंकी प्रसन्न सेनाएँ जिन मार्गोंमें खड़ी हुई थीं, वे मार्ग बड़ी-बड़ी तरङ्गोंसे युक्त नदियों सरीखे सुशोभित हो रहे थे । मार्ग नदियोंके समान थे और सेनाएँ तरंगोंके समान ॥३३॥ सवारोंके हाथके इशारेपर नाचनेवाले घोड़े पद्मनाभकी जिस सेनामें उत्ताल तरंगोंकी भाँति दृष्टिगोचर हो रहे थे वह समुद्रके ज्वार-भाटेकी तरह अनेक ओरसे आगेकी ओर बढ़ चली ॥३४॥ राजाके विजय-प्रस्थानकी सूचना देनेवाला भेरीका खूब जोरका शब्द सभी ओरसे प्रतिध्वनित हो रहा था । सभी सैनिकोंके घरोंमें भी उसकी प्रतिध्वनि बार-बार पहुँच रही थी, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह उन्हें (सैनिकोंको) राजाके साथ बाहर जानेका निमन्त्रण दे रही हो ॥३५॥ प्रस्थानके समय नागरिकोंने प्रसन्नतापूर्वक पुरकी खूब सजावट की थी । राजाका मन और नयन उस सजावटकी ओर इतने आकृष्ट हो गये थे कि उसे अपने गमनका बिलकुल ध्यान ही नहीं रहा । जब अपने

१. म °विनिगमे । २. म सुहृत° । ३. =यानपात्रैः । ४. आ नरेति । ५. =प्रतीक्षताम् । ६. श ससंतोषयुतैः । ७. =व्याप्ताः । ८. आ श °निचयैः । ९. आ श निचयैः । १०. ='अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला' इत्यमरकोषानुसारं चन्द्रोदयप्रवृद्धजलराशिनेत्र—इति स्यात् । ११. =सूचकेन । १२. =योधृणां । १३. श अधितया ।

कृतपरस्परवाजिविघट्टना नमितवारणरोहशिरोधरा।
व्यधित तिर्यगुपाहितकेतना निरयणं पुरगोपुरतश्चमूः ॥३७॥
विधुतपङ्करुहो मधुपायिनामिव रवैर्विदधत्परिभाषणम्।
वसुमतीदयितं परिरभ्य तं सुहृदिवासुखयत्परिखानिलः ॥३८॥
विकसिताम्बुरुहाणि सरोवराण्यकलुषाश्च पयोनिधियोषितः।
पथि विलोकयतः स्पृहणीयया क्षितिभुजोऽजनि शारदयात्रया ॥३९॥
हृदयहृद्वयसो विमलाम्बराः पृथुसमुन्नतपाण्डुपयोधराः।
नरवरेण पुनः पुनरादराद्ददृशिरे दयितासदृशो दिशः ॥४०॥

प्राकारस्य तले मूले। निजं स्वकीयम्। रथं चक्रयानम्। सहसैव शीघ्रमेव। अलोकत पश्यति स्म। लोकृ दर्शने लङ् ॥३६॥ कृतेति। कृतपरस्परवाजिविघट्टना कृतं विहितं परस्परं वाजिनामश्वानां विघट्टनं संमर्दनं यस्यां सा। नमितवारणरोहशिरोधरा नमितः प्रणतो वारणरोहाणां हस्तिपकानां शिरोधरः कन्धरो[3] यस्यां सा। तिर्यगुपाहितकेतना तिर्यक् तिर्यग्रूपेणोपाहितानि धृतानि केतनानि ध्वजा यस्यां सा। चमूः सेना। पुरगोपुरतः पुरस्य नगरस्य गोपुरतो गोपुरात्, पुरद्वारादित्यर्थः। निरयणं निस्सरणम्। व्यधित करोति स्म। लुङ् ॥३७॥ विधुतेति। विधुतपङ्करुहः विधुतानि कम्पितानि पङ्[4]रुहाणि कमलानि येन सः। मधुपायिनां भ्रमराणाम्। रवैः ध्वनिभिः। परिभाषणं संभाषणम्। विदधत् कुर्वन्निव। परिखानिलः परिखायाः खातिकाया अनिलो वायुः। वसुमतीदयितं भूमिवल्लभम्। तं पद्मनाभम्। परिरभ्य आलिङ्ग्य। सुहृदिव मित्रवत्। असुखयत्[5] सुखमकरोत्। 'सुखदुःखतत्क्रियायां लङ्'। उत्प्रेक्षा (उपमा) ॥३८॥ विकसितेति। विकसिताम्बुरुहाणि विकसितान्यम्बुरुहाणि येषु तानि। सरोवराणि[6]। अकलुषाः न विद्यते कलुषः कल्मषो[7] यासां ताः। पयोनिधियोषितः पयोनिधेः समुद्रस्य योषितः स्त्रियश्च (नदीः)। पथि मार्गे। विलोकयतः वीक्षमाणस्य। क्षितिभुजः भूमिपतेः। शारदयात्रया शारदया शरत्कालसंबन्धिन्या यात्रया प्रयाणेन। स्पृहणीयया अभिलषितुं योग्यया। अजनि। जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् ॥३९॥ हृदयेति। हृदयहृद्वयसः हृदयहृतो मनोहरा वयसः[8] पक्षिणो यासां ताः, पक्षे हृदयहृन्ति मनोहराणि वयांसि यौवनानि यासां ताः। विमलाम्बराः विमलं निर्मलमम्बरमाकाशं यासां ताः, पक्षे विमलान्यम्बराणि वस्त्राणि यासां ताः। पृथुसमुन्नतपाण्डुपयोधराः पृथवः पीनाः समुन्नताः प्रांशवः पाण्डवः शुभ्राः पयोधरा मेघा यासां ताः, पक्षे पृथू समुन्नतौ पाण्डू धवलौ पयोधरौ स्तनौ यासां ताः।

रथको सहसा चहारदीवारीके बाहरकी ढालू जमीनमें जाते देखा तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ ॥३६॥ नगरके फाटकसे सेना निकलनेका दृश्य दर्शनीय था। एक ही साथ अनेक घोड़ोंके निकलनेसे, वे (घोड़े) आपसमें टकरा रहे थे; जो लोग हाथियोंपर बैठे हुए थे, उन्हें अपनी गर्दन नवानी पड़ी; और ध्वज कुछ तिरछे करने पड़े—इस तरहसे नगरके फाटकसे सेना बाहर निकली ॥३७॥ कमलोंको हिलानेवाले (सुगन्धित) परिखाके वायुने पद्मनाभसे आलिंगन करके, और भौंरोंके शब्दोंमें उससे कुशल-क्षेमकी बातें करके उसे एक मित्रकी तरह सुखी किया ॥३८॥ खिले हुए कमलोंसे अलंकृत तालाबों और निर्मल जलवाली नदियोंको देखकर राजा पद्मनाभको शरदऋतुकी यह यात्रा बड़ी सुहावनी प्रतीत हुई ॥३९॥ नायिकाओंकी समानता करनेवाली सभी दिशाओंको राजा पद्मनाभने बार-बार आदरसे देखा! नायिकाएँ मन हरनेवाले यौवनसे युक्त होती हैं; स्वच्छ वस्त्रोंको धारण करनेवाली होती हैं; और बड़े-बड़े उन्नत एवं गोरे पयोधरोंको सुषमाका आश्रय होती हैं। इसी तरह शरदऋतुकी दिशाएँ मनोहर

---

१. °घट्टनानमित°। २. म सरोरुहाण्य°। ३. = शिरोधरा कन्धरा। ४. श पङ्क°। ५. = सुखयति स्म। ६. = सरोवरान्। ७. = कलुषं कल्मषं यासु। ८. = वयःशब्दस्य पुंस्त्वं मृग्यम्।

रुचिररल्लकराजितविग्रहैर्विहितसंभ्रमगोष्ठमहत्तरैः ।
पथि पुरो दधिसर्पिरुपायनान्युपहितानि विलोक्य स पिप्रिये ॥४१॥

कुचभरादसहां शुकवारणे कलमगोपवधूमवलोकयन् ।
स्मितमुखः समचिन्तयदित्यसौ क्वचिदतीव गुणोऽप्यगुणायते ॥४२॥

बृहदलाबुकगौरववामनां वृतिमुपर्युपरि प्रसृतैः पपे ।
सतृषितैरिव गोकुलयोषितां विपुलकान्तिजलो नयनैर्नृपः ॥४३॥

दयितासदृशः दयिताभिर्वनिताभिः सदृशः समानाः । दिशः ककुभः । नरवरेण नृपतिना । पुनः पुनः भूयो भूयः । ददृशिरे वीक्ष्यन्ते स्म । कर्मणि लिट् । श्लेषोपमा (पूर्णोपमा वा) ॥४०॥ रुचिरेति । रुचिररल्लकराजितविग्रहैः रुचिरैर्मनोहरै रल्लकैः[1] कम्बलैः राजितो विभासितो विग्रहो देहो येषां तैः । विहितसंभ्रमगोष्ठमहत्तरैः विहितः कृतः संभ्रमो येषां[2] ते तथोक्ताः, गोष्ठस्य गोस्थानस्य महत्तरा गोपालाः, विहितसंभ्रमाश्च ते गोष्ठमहत्तराश्च तैः । पथि मार्गे । पुरः अग्रे । उपहितानि आनीतानि । दधिसर्पिरुपायनानि दधिसर्पिषोरुपायनान्युपग्राह्याणि[3] सः राजा । विलोक्य वीक्ष्य । पिप्रिये प्रीणाति स्म । प्रीञ् कान्तितर्पणयोः । लिट् ॥४१॥ कुचेति । कुचभरात् कुचयोर्भराद् भारात् । शुकवारणे शुकानां कीराणां वारणे निराकरणे । असहाम् असमर्थाम् । कलम[गोप]वधूं[4] कलमस्य शालिक्षेत्रस्य [गोप]वधूं स्त्रियम्[5] । अवलोकयन् वीक्षमाणः । स्मितमुखं स्मितमीषद्धसितं मुखं यस्य सः । असौ राजा । इति एवम् । अचिन्तयत् चिन्तयति स्म । चितै संज्ञाने । लङ् । अतीव अत्यन्तम् । इव शब्दो वाक्यालङ्कारे । गुणोऽपि परमगुणोऽपि । क्वचित्[6] एकस्मिन् । अगुणायते अगुण इवाचरति, दोषायते इत्यर्थः । गुण इति आचारार्थे क्यङ्-प्रत्ययः । अर्थान्तरन्यासः ॥४२॥ बृहदिति । बृहदलाबुकगौरववामनां बृहतो महतोऽलाबुकस्य तुम्बीफलस्य गौरवेण गुरुत्वेन वामनां कुब्जाम् । वृतिम् आवरणम् । उपर्युपरि अग्रेऽग्रे । वीप्सायां द्विः । प्रसृतैः विस्तृतैः । गोकुलयोषितां गोकुलानां गोपालानां योषितां स्त्रीणाम् । तृषितैरिव पिपासितैरिव । नयनैः नेत्रैः । विपुलकान्तिजलः विपुला रुन्द्रा कान्तिः शरीरकान्तिः सैव जलं यस्य सः । सः नृपः पद्मनाभः । पपे पीयते स्म । पा पाने कर्मणि लिट् । उपमातिशयश्च

हंस आदि पक्षियोंसे युक्त होती हैं, निर्मल आकाशको धारण करनेवाली होती हैं एवं विस्तृत, उन्नत तथा शुभ्र मेघोंसे विभूषित होती हैं ॥४०॥ राजाके दर्शन करनेके लिए गोशालाओंके प्रमुख अहीर बड़े आदरसे पद्मनाभके सामने उपस्थित हुए । वे सभी कम्बल ओढ़े हुए थे । उन्होंने राजाको उपहारमें दही और घी समर्पित किया । मार्गमें सामने उपस्थित हुई इन उपहारकी वस्तुओंको देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ । यात्राके समय दही देखना शकुन जो समझा जाता है ॥४१॥ एक धानके खेतमें बार-बार तोते आ रहे थे, उन्हें उस खेतकी रखवाली भगाना चाहती थी, किन्तु स्तनोंके बोझसे वह विवश थी—दौड़-दौड़कर भगा नहीं पा रही थी । यह देखकर राजा मुसकराने लगा और मन-ही-मन यह सोचने लगा कि कहीं-कहीं-पर श्रेष्ठ गुण भी दोष बन जाता है ॥४२॥ बड़ी-बड़ी लौकियोंके बोझसे जो बाड़ी झुकती जा रही थी, उसीकी ओटमें खड़ी हुई ग्वालिनोंकी आँखें मानो प्यासी थीं, अतएव बाड़ीके ऊपरसे निकालकर उन्होंने (आँखोंने) अत्यधिक कान्तिजलसे सम्पन्न राजा पद्मनाभको पी लिया—

---

१. = 'रल्लकः कम्बले स्मृतः' अनेका० ३.८५ । २. = यैः । ३. 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' । इत्यमरः । ४. आ कलमकासवधूं । ५. = कृषीवलबालामित्यर्थः । ६. = कुत्रचित् ।

समधिगम्य समस्तसमीहितामवनतैर्महतीं फलसंपदम् ।
क्षितिभृतः कलमैरवलोकितैः स्मृतिरजायत सज्जनगोचरा ॥४४॥
क्षणमुपास्य परां प्रियमागतं सरसि हंसवधूमवजानतीम् ।
समवलोक्य विवेद स भूपतिः सहजमेव पुरंध्रिषु कैतवम् ॥४५॥
शशिकराङ्कुरनिर्मलगून्बहिःकृतखलान्निजसीमपरिष्कृतान् ।
बुधनिभान्निगमान्स विलोकयन्नजनि हृष्टमना वसुधाधिपः ॥४६॥
अनुपदाय बिसं प्रणयार्पितं सरसि चञ्चुधृतं परिकोपिताम् ।
अनुनयन्तमथो हृदयेश्वरीमभिननन्द स कोकमिलाधिपः ॥४७॥

॥४३॥ समधीति । समस्तसमीहितां समस्तां सकलां समीहितामभीष्टाम् । महतीं बृहतीम् । फलसम्पदं फलसमृद्धिम् । समधिगम्य संप्राप्य । अवनतैः विनतैः । वीक्षितैः[1] । कलमैः शालिभिः । क्षितिभृतः भूपस्य । सज्जनगोचरा सज्जनास्सत्पुरुषा एव गोचरो विषयो यस्याः सा । स्मृतिः स्मरणम् । अजायत अजनि । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् ॥४४॥ क्षणमिति । क्षणं स्वल्पकालपर्यन्तम् । पराम् अन्यहंसीम् । उपास्य अनुभूय । आगतम् आयातम् । प्रियं वल्लभम् । अवजानतीम् उदासीनं कुर्वन्तीम्[2] । हंसवधूं मरालवनिताम् । सरसि सरोवरे । समवलोक्य समीक्ष्य । सः भूपतिः पद्मनाभक्षितिपतिः । पुरंध्रिषु[3] वनितासु । कैतवं मायास्वरूपम् । सहजं स्वाभाविकमेवेति । विवेद जानाति स्म । विद ज्ञाने लिट् । अर्थान्तरन्यासः ॥४५॥ शशीति । शशिकराङ्कुरनिर्मलगून् शशिनश्चन्द्रस्य कराः [कराङ्कुराः] किरणास्त इव निर्मला विमला गावो धेनवः, पक्षे गावो वाचो येषां तान् । बहुव्रीहिसमासत्वात् 'न्यग्गोष्यतोऽनंशी —' इति ह्रस्वः । बहिष्कृतखलान् बहिष्कृता दूरीकृताः खला धान्यराशयः, पक्षे दुर्जना यैस्तान् । निजसीमपरिष्कृतान् निजे स्वकीये सीम्नि परिष्कृतानलङ्कृतान्, पक्षे निजेन सीम्ना मर्यादया विभूषितान् । बुधनिभान् बुधैर्विद्वद्भिर्निभान् समान् । निगमान् ग्रामान् । प्रविलोकयन् वीक्षमाणः । वसुधाधिपः भूमीशः । हृष्टमनाः हृष्टं संतुष्टं मनश्चित्तं यस्य सः । अजनि अभूत् । लुङ् । श्लेषोपमा (पूर्णोपमा वा) ॥४६॥ अन्विति । सरसि सरोवरे । प्रणयार्थितं[4] प्रणयेन स्नेहेनार्थितं याचितम् । चञ्चुधृतं चञ्च्वा त्रोटया धृतं भृतम् । बिसं कमलनालम् । अनुपदाय अदत्वा । परिकोपितां

प्रेम पूर्वक देखा ॥४३॥ सभीके द्वारा अभिलषणीय महती फल सम्पत्तिको पाकर भी नम्रता धारण करनेवाली धानको देखकर राजाको सज्जनोंका स्मरण हो आया, जो बड़ी-से-बड़ी विभूतिको पाकर भी नम्र रहा करते हैं ॥४४॥ क्षणभर दूसरी हंसीसे प्रणय करके आये हुए अपने पति (हंस) को देखकर विरूक्ष व्यवहार करनेवाली हँसीको सरोवरमें देखकर राजा यह समझ गया कि स्त्रियोंमें माया व्यवहार उनके साथ ही उत्पन्न होता है ॥४५॥ कुछ और आगे जाकर राजा पद्मनाभ, पण्डितोंकी बराबरी करनेवाले ग्रामोंको देखकर मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ। पण्डित लोग चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल वचनोंके धनी होते हैं; दुर्जनोंको अपने पास नहीं फटकने देते और अपने कुल और शास्त्रकी मर्यादासे सुशोभित होते हैं। इसी प्रकार वे ग्राम चन्द्रमाकी किरणोंके समान धौली गायोंसे युक्त थे; उनके बाहर खलिहान थे और वे अपनी सीमाके भीतर साफ-सुथरे थे ॥४६॥ एक सरोवरमें राजा पद्मनाभकी दृष्टि एक चकई-चकवेकी जोड़ीपर जा पड़ी। चकवीने चकवेकी चोंचमें स्थित मृणालको पानेके लिए बड़े स्नेहसे याचना की, पर चकवेने उसकी पूर्ति न करके उसे रुष्ट कर दिया। इसके पश्चात् उसे मन-ही-

१. = अवलोकितैः । २. श कुर्वतीम् । ३. आ श °ध्रीषु । ४. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'प्रणयार्पितं' वर्तते ।

जलदनादगभीरमथिध्वनिश्रवणजातसमुत्सुकमानसम् ।
नटदुदीक्ष्य कुलं भुजगद्विषामभिशशंस स गोकुलवासिनाम्[1] ॥४८॥
कलमगोपकवंशरवाहितश्रुति कुरङ्गकुलं पृतनाचरैः ।
हतमुदीक्ष्य जनैरिति सोऽध्यगाद्विषयिणो नियतं विपदां पदम् ॥४९॥
सुगतिगामिनि भावितमानसे विमलपक्षतया परिभूषिते ।
न स शशाक निवर्तयितुं दृशौ स्वसदृशे नृपहंसकुले नृपः ॥५०॥

क्रोधं कृतवतीम् । हृदयेश्वरीं कोकवनिताम् । अथो पश्चात् । अनुनयन्तम् अनुसरन्तम् । कोकं चक्रवाकम् । सः इलाधिपः पद्मनाभभूपतिः । अभिननन्द[2] संतुतोष । टुनदु समृद्धौ लिट् ।।४७ । जलदेति । जलदनादगभीरमथिध्वनिश्रवणजातसमुत्सुकमानसं[3] जलदस्य मेघस्य नाद इव स्तनितवद् गभीरस्य गम्भीरस्य मथिनोऽकारणस्य (मथिनो दधिमन्थनकारणस्य) ध्वनेः शब्दस्य श्रवणेन जातं समुद्भूतं समुत्सुकं संभ्रमयुक्तं मानसं चित्तं यस्य तत् । नटत् नृत्यत् । गोकुलवासिनां गवां कुले समूहे वासिनां विद्यमानानाम् । भुजङ्गद्विषां भुजगानां सर्पाणां द्विषां शत्रूणां मयूराणामित्यर्थः । कुलं यूथम् । उदीक्ष्य विलोक्य । सः राजा । अभिशशंस स्तौति स्म । शन्सूङ्[4] स्तुतौ लिट् । जातिः (भ्रान्तिमान्) ।।४८।। कलमेति । कलमगोपकवंशरवाहितश्रुति[5] कलमानां शालिक्षेत्राणां गोपकानां[6] रक्षतां वंशस्य[7] कण्ठस्य रवे ध्वनौ आहिते आसक्ते श्रुती यस्य तत् । पृतनाचरैः सेनापतिभिः । जनैः लोकैः । हतं[8] बाधितम् । कुरङ्गकुलं कुरङ्गाणां मृगाणां कुलं यूथम् । उदीक्ष्य वीक्ष्य । विषयिणः[9] इन्द्रियविषययुक्ताः । नियतं[10] निश्चयम् । विपदां विपत्तीनाम् । पदं स्थानम् । इति एवम् । सः राजा । अध्यगात् स्मरति स्म । इक् स्मरणे लुङ्[11] । अर्थान्तरन्यासः ।।४९।। सुगतीति । सुगतिगामिनि सुगत्या प्रशस्तगमनेन गामिनि गमनशीले, पक्षे सुगतिं स्वर्गादिगतिं गच्छतीत्येवंशीले । भावितमानसे भावितं चिन्तितं मानसं मानससरोवरं(रो) यस्य[12] तस्मिन्, पक्षे भावितं सम्यक्त्वादिना परिणतं मानसं यस्य तस्मिन् । विमलपक्षतया[13] विमलया शुभ्रया पक्षतया पतत्रतया, पक्षे विमलेन निर्दोषेण पक्षतया प्रतिज्ञायुक्ततया निर्दुष्टसहायजनतया वा । परिभूषिते अलंकृते । स्वदृशे स्वस्य समाने । नृपहंसकुले नृपहंसानां राजहंसानां[14] कुले समूहे । दृशौ नयने । सः राजा निवर्तयितुं निवर्तनाय । न शशाक न शक्नोति स्म । श्लेषोपमा ।।५०।।

मन पश्चात्ताप होने लगा । फलतः वह अप्रसन्न की गयी अपनी उस हृदयकी स्वामिनी चकवीका अनुनय करने लगा । यह सब देखकर पद्मनाभ बड़ प्रसन्न हुआ ।।४७।। मेघोंके गर्जनके समान गम्भीर दहीके मन्थनके शब्दको सुनकर मयूरोंके झुण्डका मन उत्कण्ठित हो उठा, और वह नाचने लगा, उसे देखकर राजाने गायोंके झुण्ड (गोकुल)में निवास करनेकी बड़ी प्रशंसा की ।।४८।। धानके खेतोंकी रखवाली करनेवाले बाँसुरी बजा रहे थे, उसके मधुर स्वरको मृगोंका झुण्ड बड़े ध्यानसे सुन रहा था । उसे बाँसुरीके स्वरमें बेसुध-सा देखकर सैनिकोंने आसानीसे मार डाला । यह देखकर राजाको यह भान हो गया कि विषयी जीव निश्चय ही विपत्तियोंके शिकार होते हैं ।।४९।। अपने ही समान राजहंसोंके झुण्डको देखकर राजा पद्मनाभ अपने नेत्रोंको उसकी ओरसे हटानेके लिए असमर्थ हो गया । पद्मनाभ स्वर्ग आदि अच्छी गतियोंमें जाने योग्य था, उसका हृदय शुभ भावनाओंसे युक्त था और वह निर्मल -निर्दोष व्यक्तियोंके पक्षसे विभूषित था । इसी तरह राजहंसोंका झुण्ड अच्छी चालसे युक्त था, उसका ध्यान मानस सरोवर झीलकी ओर लगा हुआ था और वह शुभ्र पंखोंसे सुशोभित था ।।५०।।

---

१. क ख ग घ म °वासिताम् । २. = अभिशशंस । ३. आ °मथिध्वनि°, श °मदिध्वनि° । ४. आ शन्सूज् । ५. श °मरोपक° । ६. श रोप° । ७. = वेणुवाद्यस्य । ८. = मारितम् । ९. = इन्द्रियविषयाक्ताः । १०. = निश्चितम् । ११. श लङ् । १२. = येन । १३. = विमलो निर्मलः पक्षो विमलानां निर्मलानां वा पक्षोऽनुरागविशेषस्तस्य भावस्तया । १४. श 'राजहंसानां' पदमिदं नोपलभ्यते ।

फलितसस्यसमूहनिरन्तरास्वतिमनोरमलाङ्गलराजिषु ।
क्षितिषु गौरिव गौर्जगतीभुजश्चिरतरं विचचार निरङ्कुशा ॥५१॥
जनमनःशयने शयितं मनोभवमिव प्रतिबोधयता कृतः ।
समदहंसकुलेन कलध्वनिर्नृपतिनावहितश्रुति शुश्रुवे ॥५२॥
परिमितैर्गमनैः कुथवाहिनीं पथि सुविश्रमयन्गजवाहिनीम् ।
जलधिधीरजलां जलवाहिनीं वसुमतीपतिराप स वाहिनीम् ॥५३॥
विविधभङ्गतरङ्गशिरःस्थितैस्तुहिननिर्मलफेनकदम्बकैः ।
वसुमतीव विराजति या शरद्घनघनाघनरुद्धमहीधरा ॥५४॥
समवगाढवतां वनदन्तिनां कटतटाद्गलितस्य मदाम्भसः ।
उपरि संचरतामलिनां कुलैः सतिलकाभरणेव विभाति या ॥५५॥

फलितेति । फलितसस्यसमूहनिरन्तरासु फलितानां फलभरितानां सस्यानां समूहेन निचयेन निरन्तरासु संकीर्णासु । अतिमनोरमलाङ्गलराजिषु अतिमनोरमा अत्यन्तं मनोहरा लाङ्गलानां हलानां राजयो रेखा यासु तासु । क्षितिषु क्षेत्रेषु । गौरिव धेनुरिव । जगतीभुजः भूभुजः । गौः दृष्टिः । निरङ्कुशा निर्बाधा । चिरम्[2] अनेकक्षणम् । विचचार[3] वर्तते स्म । उपमा ।।५१।। जनेति । जनमनःशयने जनानां लोकानां मन एव चित्तमेव शयनं पर्यङ्क (ङ्कः) तस्मिन् । शयितं सुप्तम् । मनोभुवं मन्मथम् । प्रतिबोधयता इव जागरयता इव[4] । समदहंसकुलेन समदानां हर्षयुक्तानां हंसानां मरालानां कुलेन यूथेन । कृतः विरचितः । कलध्वनिः मनोहरध्वनिः । नृपतिना पद्मनाभेन । अवहितश्रुति अवहिते सन्नद्धे श्रुती कर्णौ यस्मिन् कर्मणि तत्० । शुश्रुवे श्रूयते स्म । श्रु श्रवणे कर्मणि लिट् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ।।५२।। परिमितैरिति । पथिषु मार्गेषु । कुथवाहिनीं कुथं रत्नकम्बलं वहतीत्येवंशीला कुथवाहिनी ताम् । 'कुथः स्यात् करिकम्बलः' इत्यभिधानात् । गजवाहिनीं गजानां वाहिनी सेना ताम् । गजवाहिनीमित्युपलक्षणम् । सर्वामपि सेनामित्यर्थः । विश्रमयन् विश्रान्तिं नयन् । परिमितैः कतिपयैः । गमनैः प्रयाणैः । सः वसुमतीपतिः भूमिपतिः । जलधिधीरजलां जलधिरिव समुद्रवद् धीरं प्रवृद्धं जलं यस्याः सा ताम् । जलवाहिनीं जलवाहिनीनामधेयाम् । वाहिनीं नदीम् । आप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । जातिः (यमकम्) ।।५३।। विविधेति । विविधभङ्गतरङ्गशिरःस्थितैः[6] विविधैर्नानाप्रकारैर्भङ्गैर्वक्रयुतैः (विविधभङ्गानां नैकविधरचनानां) तरङ्गाणां कल्लोलानां शिरस्यग्रे स्थितैः । तुहिननिर्मलफेनकदम्बकैः तुहिनमिव निर्मलानां शुभ्राणां फेनानां डिण्डीराणां[7] कदम्बकैर्निकुरम्बकैः । या नदी । शरद्घनघनाघनरुद्धमहीधरा शरदः शरत्कालस्य घनैः सान्द्रैर्घनाघनैर्मेघै रुद्धा आवृता महीधराः पर्वता यस्यां सा । वसुमतीव भूमिरिव । विराजति भाति । लट् । उपमा ।।५४।। समेति । समवगाढवतां मज्जताम् । वनदन्तिनां वनगजानाम् । कटतटात् कपोलप्रदेशात् । गलितस्य प्रसृतस्य । मदाम्भसः मदजलस्य ।

चावल आदिके दानोंसे भरे हुए धान आदि अनाज, जिन खेतोंमें लगातार लगे हुए थे, उनमें राजाकी दृष्टि बहुत देर तक एक गायकी भाँति स्वच्छन्द-विचरण कर रही थी ।।५१।। लोगोंकी चित्त-शय्यापर सोये हुए कामदेवको जगानेवालेके समान प्रतीत होनेवाले मतवाले हंसों-के झुण्डने जो मधुर ध्वनि की, उसे राजाने कान लगाकर बड़े चावसे सुना ।।५२।। मार्गमें बहुत थोड़े पड़ाव डालकर झूलसे विभूषित हाथियोंकी सेनाको विश्राम कराता हुआ राजा पद्मनाभ समुद्रके समान गम्भीर नोरसे भरी हुई जलवाहिनी नामकी नदीके पास जा पहुँचा ।।५३।। उसकी छोटी-बड़ी अनेक प्रकारकी तरंगोंके ऊपर बर्फकी तरह शुभ्र फेन लहरा रहा था, अतः

१. क ख ग घ म सरिद्घन । २. = बहुकालं यावत् । ३. = संचरति स्म । ४. श जागरता इव । ५. = गभीरं । ६. = विविधभङ्गानां नैकविधरचनानां तरङ्गाणां कल्लोलानां शिरस्यग्रभागे स्थितैः । ७. आ दिन्दिराणां ।

कृतपरस्परकेलिभिरुच्छलन्मधुरगीतरवानुगनिःस्वनैः।
उभयकूलगतैः पततां कुलैर्निजविनोदकरैरिव भाति या ॥५६॥
तटगतामलनीलशिलातलोल्लसितदीधितिरञ्जितनीरया।
पतितया सततायनवर्त्मनः[२] प्रतिमयेव विभाति मही यया ॥५७॥
मकरसूत्कृतदूरसमुच्चलत्सलिलबिन्दुभिरिन्दुमणिप्रभैः।
सततमम्बुधराध्वनि तारकाकुलकृता क्रियतेऽभिरुचिर्यया ॥५८॥

उपरि अग्रे। संचरतां भ्रमताम्। अलिनां मधुकराणाम्। कुलैः समूहैः। या जलवाहिनी नदी। सतिलकाभरणेव तिलकमेवाभरणं भूषणं तेन युतेव। विभाति विराजते। भा दीप्तौ लट्। उत्प्रेक्षा ॥५५॥ कृतेति। कृतपरस्परकेलिभिः कृता विहिता परस्परकेलिरन्योन्यविलासो येषां[3] तैः। उच्चरन्मधुरगीतरवानुगनिस्वनैः उच्चरतः पठतो मधुरस्य मनोहरस्य गीतस्य गानस्य रवं ध्वनिमनुगोऽनुगतो निस्वनो रवो येषां तैः। उभयकूलगतैः उभयं कूलं तटं गतैर्यातैः। पततां पक्षिणाम्। कुलैः यूथैः। या नदी। निजविनोदकरैरिव[४] स्वस्य परिहासैरिव। भाति विराजते[५] लट्। उत्प्रेक्षा ॥५६॥ तटेति। तटगतामलनीलशिलातलोल्लसितदीधितिरञ्जितनीरया तटं तीरं गताया अमलाया निर्मलाया नीलशिलाया इन्द्रनीलशिलायास्तलस्य प्रदेशस्योल्लसितया विराजितया दीधित्या कान्त्या रञ्जितं रागं गतं नीरं जलं यस्यां (यस्याः) तया। यया जलवाहिनीनद्या। पतितया निराधारेण च्युतया। सततायनवर्त्मनः सततं संततमयनं गमनं यस्य स तथोक्तः, वायुरित्यर्थः, तस्य वर्त्मनो मार्गस्याकाशस्येत्यर्थः। प्रतिमयेव प्रतिबिम्बेनेव। मही भूमिः। विभाति विराजते। लट्। उत्प्रेक्षा ॥५७॥ मकरेति। इन्दुमणिप्रभैः इन्दुमणेश्चन्द्रकान्तस्य प्रभेव प्रभा येषां तैः। उपमा। मकरफूत्कृतदूरसमुच्चल[७]त्सलिलबिन्दुभिः मकराणां[८] जलचरविशेषाणां फूत्कृतेन दूरं समुच्चलद्भिरितस्ततश्चलद्भिः[९] सलिलस्य जलस्य बिन्दुभिः पृषद्भिः। सततम् अनवरतम्। अम्बुधराध्वनि आकाशे। तारकाकुलकृता तारकाणां नक्षत्राणां कुलेन समूहेन कृता विहिता। अभिरुचिः शोभा। यया नद्या। क्रियते विधीयते। कर्मणि

वह (नदी) उस पहाड़ी भूमिकी भाँति सुशोभित हो रही थी जहाँ छोटे-बड़े सभी पहाड़ोंके शिखरोंपर शरदकालके मेघ छाये हुए हों ॥५४॥ उस नदीमें जहाँ जंगली हाथी डुबकी साध रहे थे, वहाँ जलकी सतहपर उनके गण्डस्थलोंसे निकला हुआ मदजल बह रहा था, उसके ऊपर भौंरोंके झुण्ड मँडरा रहे थे, उनसे वह नदी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो तिलकका शृंगार किये हुए हो ॥५५॥ उस जलवाहिनी नदीके दोनों तटोंपर पक्षियोंके झुण्ड बैठे हुए थे। वे। वे आपसमें क्रीड़ा कर रहे थे और मधुर गानकी भाँति शब्द कर रहे थे, अतः उनकी परिस्थितिसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो मनोरंजन करनेवाले अभिनेताओं—नाटकके पात्रोंसे युक्त हो ॥५६॥ उसके घाटोंपर निर्मल नीले रंगकी शिलाएँ जड़ी हुई थीं—उनकी किरणोंसे उसका जल रंगीन—सफेदसे नीला हो गया था, अतः उस नदीके कारण पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी मानो आकाशकी छायासे युक्त हो। नील शिलाओंकी किरणोंके पड़नेसे पूरी नदी नीली होकर आकाशकी छाया-सी जान पड़ती थी ॥५७॥ उस नदीमें मगर बहुत थे। उनके मुखसे निकले हुए सूत्कारसे जलकी बूँदें—जो चन्द्रकान्तमणिकी प्रभाकी भाँति शुभ्र थीं—बहुत ऊँचाई तक उछलकर आकाशमें सदा ताराओंकी शोभा फैलाया करती थीं।

१. आ इ °भिरुच्चलन्म° । २. अ आ इ °यतवर्त्मनः। ३. = यैः। ४. = स्वमनोरञ्जनकारिभिरुपलक्षितेव। ५. श विराजति। ६. अस्य टीकाश्रयस्य पाठस्य स्थाने मूलप्रतिषु °सूत्कृत° इति दृश्यते। ७. °समुच्चलत्° इति टीकायामेव वर्तते, मूलप्रतिषु 'समुच्छलत्' इति समवलोक्यते। ८. = नक्राणां। ९. श 'इतस्ततश्चलद्भिः' इति पाठो नोपलभ्यते।

पुलिनभूमिषु यत्र तटद्रुमव्यवहितांशुमदंशुषु मारुतः।
सुरतजश्रमवारिकणान्पिबन्नमयते मिथुनानि नभःसदाम् ॥५९॥
घनतरैरुपरञ्जितवारिभिः सुरभिताखिलदिग्विवराम्बरैः[1]।
परिमलैरुपरिस्थितखेचरीसलिलकेलिमधो विवृणोति या ॥६०॥
दानाम्भोभिर्भूरिभिर्वारणानां श्रान्त्युद्भूतैर्वाजिनां वक्त्रफेनैः।
चक्रे पुष्यत्स्रोतसं[2] तुल्यनामप्रीत्येवासौ[3] वाहिनी वाहिनीं ताम् ॥६१॥

लट्। अतिशयः ॥५८॥ पुलिनेति। यत्र नद्याम्। तटद्रुमव्यवहितांशुमदंशुषु तटस्य तीरस्य द्रुमैर्वृक्षैर्व्यवहिता अन्तरिता अंशुमतः सूर्यस्यांशवो मयूखा यासु तासु। पुलिनभूमिषु सिकतापुञ्जभूमिषु। मारुतः वायुः। सुरतजश्रमवारिक र् सुरतजस्य निधुवनजनितस्य श्रमवारिणस्स्वेदजलस्य कणान् लवान्। पिबन्[4] पानं कुर्वन् सन्। नभः म् अमराणां विद्याधराणां वा। मिथुनानि युगलानि। रमयते संतोषयति स्म। रमि क्रीडायां णिजन्ताल्लट् ॥५९॥ घनतरैरिति। घनतरैः बहुलैः। उपरञ्जितवारिभिः उपरञ्जितैः क्रीडानिमित्त-मायात[खेचर]स्त्रीजनस्तनगलितकुङ्कुमादिना रागं गतैः। वारिभिः सलिलैः। सुरभिताखिलदिग्विवराम्बरैः सुरभितानि परिमलितान्यखिलानि सकलानि दिशां विवराण्यम्बरमाकाशं येषां[5] तैः। परिमलैः सुरभिभिः। या नदी। उपरि स्थतखेचरीसलिलकेलिम् उपरिस्थितानामुपरिष्टात् स्थितानां खेचरीणां देवीनां विद्याधराणां (वा) सलिलकेलिं जलक्रीडाम्। अधः अधोभागे। विवृणोति व्यक्तीकरोति ॥६०॥ दानेति। वारणानां गजानाम्। भूरिभिः प्रचुरैः। दानाम्भोभिः मदजलैः। श्रान्त्युद्भूतैः श्रान्त्या श्रमेणोद्भूतैः[6] प्रवृद्धैः। वाजिनाम् अश्वानाम्। वक्त्रफेनैः वक्त्राणां मुखानां फेनैः डिण्डीरैः[7]। असौ इयम्। वाहिनी सेना। तां वाहिनीं नदीम्। तुल्यनामप्रीत्येव तुल्ये समाने नाम्नि प्रीत्येव स्नेहेनेव। पुष्यत्स्रोतसं पुष्यत्प्रवृद्धं स्रोतः प्रवाहो यस्यास्ताम्।

इसका एक मात्र श्रेय उस नदीको था ॥५८॥ उस नदीके तटपर घनी वृक्षावली थी, उसके कारण सूर्यकी किरणें उसीमें उलझ जाया करती थीं, नीचे नहीं पहुँच पाती थीं। उसी वृक्षावलीके नीचे जलसे निकले हुए शीतल प्रदेशोंमें देव-देवियोंके युगल सम्भोगका सुख भोगते थे। सुरतके परिश्रमसे निकली हुई पसीनेकी बिन्दुओंको पीकर वायु उन्हें आनन्द पहुँचाता था ॥५९॥ उस नदीमें विद्याधरोंकी स्त्रियाँ जलक्रीड़ा करने आया करती थीं। उनके फूलोंके आभूषणोंकी परागसे नदीका जल गाढ़ा हो जाता था, अंगरागके धुलनेसे रंगीन हो जाता था, तथा उनके मुख-कमलकी सुगन्धिसे सभी दिशाओंका मध्यभाग या सारा-का-सारा वायुमण्डल सुवासित हो उठता था। उस नदीका बहाव जिस ओर था, उस ओर नहानेवाले जलकी घनता व बदले हुए रंगको देखकर तथा उस ओरसे आनेवाली सुगन्धिको सूँघकर ऊपर-की ओर विद्याधारियोंकी जलक्रीड़ाका अनुमान कर लेते थे। जल और वायुमण्डलका परिवर्तन ही उन्हें ऊपरकी ओर विद्याधारियोंकी जलक्रीड़ाकी सूचना दे दिया करता था ॥६०॥ राजाकी वाहिनी-सेनाने मानो अपने नामकी समानतासे उत्पन्न हुई प्रीतिके कारण उस वाहिनी-नदीके प्रवाहको अपने हाथियोंके अत्यधिक मदजलसे एवं श्रमवश घोड़ोंके मुखसे उत्पन्न हुए फेनसे पुष्ट

१. क ख ग घ म °दिग्वलयान्तरैः। २. आ द्द पुष्यच्छ्रोतसं। ३. क ख ग घ म तुल्यनाम-प्रोत्येवासौ। ४. = शोषयन्। ५. = यैः। ६. = संजातैः। ७. आ दिन्दिरैः।

संसर्पत्तटगतकर्कटां समीनामुन्मज्जन्मकरविराजमानमध्याम् ।
तीर्त्वा तामुदयसमन्वितो जगाम क्षोणीभृत्सरितमिवाम्बुवाहवीथीम् ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

चक्रे चकार । डुकृञ् करणे लिट् । उपमा ॥६१॥ संसर्पदिति । संसर्पत्तटकर्कटां संसर्पन्तस्तटगतास्तीरगताः कर्कटाः कुलीरा यस्यास्ताम्, पक्षे कर्कट[1]राशियुक्ताम् । समीनां मीनैर्मत्स्यैर्युक्ताम्, पक्षे मीनराशियुताम् । उन्मज्जन्मकरविराजमानमध्याम् उन्मज्जद्भिरुत्तरद्भिर्मकरै[2]र्जलचरविशेषैः विराजमानं मध्यं यस्याः ताम्, पक्षे (मकरराशिसहिताम्) । तस्य (?) अम्बुवाहवीथीमिव गगनमिव । तां सरितं जलवाहिनीं नदीम् । उदयसमन्वितः उदयेन[3] संपदा समन्वितो युक्तः[4] । क्षोणीभृत्[5] पद्मनाभः । तीर्त्वा उत्तीर्य । जगाम ययौ । गम्लृ गतौ लिट् । श्लेषोपमा ॥६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

कर दिया—बढ़ा दिया ॥६१॥ वह नदी आकाश सरीखी थी । जिस तरह आकाशमें कर्कराशि, मीनराशि और मकरराशि होती है, उसी तरह उस नदीके तटपर कर्क—केंकड़े रेंग रहे थे, उसके जलमें मत्स्य—मछलियाँ थीं और उसके मध्यभागमें मकर-मगर निवास करते थे । अभ्युदयशाली राजा पद्मनाभ उसे पार करके आगे चला गया ॥६२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयांक चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें तेरहवाँ
सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

---

१. = कर्कराशियुताम् । २. = नक्रैः । ३. = अभ्युदयेन । ४. आ समन्वितः सहितः । ५. आ क्षमाभृत् ।

[१४. चतुर्दशः सर्गः]

मणिप्रभाभिर्मणिकूटमद्रिं सदीप्रमुच्चैर्दृषदं ददर्श।
च्युतं दिवोऽन्योन्यविघट्टनेन तडित्वतां वारिमुचामिवौघम् ॥१॥
विचित्ररत्नैः कटकैः स्वकीयैरिवाद्वितीयां वहतो विभूषाम्।
निशाकरो यस्य निशासु शोभां करोति चूडामणिमात्रजन्याम् ॥२॥
पर्यन्तचर्यः कनकोज्ज्वलासु यन्मेखलासूच्चतरासु ताराः।
परिस्फुरद्दीधितिभासुराणां कुर्वन्ति कृत्यं मणिकिङ्किणीनाम् ॥३॥

मणीति। मणिप्रभाभिः मणीनां रत्नानां प्रभाभिः। दीप्रं देदीप्यमानम्। 'नम्कम्पजस्क—' इत्यादिना शीले र-प्रत्ययः। उच्चैर्दृषदम्[२] उच्चैरुन्नतं दृषण्डं वृक्षकदम्बकं यस्य तम्। मणिकूटं मणिकूटनामधेयम्। अद्रिं पर्वतम्। अन्योन्यविघट्टनेन अन्योन्यं परस्परं विघट्टनेन संमर्दनेन[३]। दिवः आकाशात्। च्युतं पतितम्। तडित्वतां विद्युत्वताम्। 'त्वं मत्वर्थे' इति पदत्वाभावान्न जस्त्वम्। वारिमुचां मेघानाम्। ओघमिव समूहमिव। सः राजा। ददर्श पश्यतिस्म। लिट् ॥१॥ विचित्रेति। स्वकीयैः[४] स्वसंबन्धैः। विचित्ररत्नैः विचित्रैर्नानाविधै रत्नैर्मणिभिर्युतैः। कटकैरिव वलयैरिव स्थितैः। कटकैः नितम्बैरित्यर्थः। अद्वितीयां सादृश्यरहिताम्। विभूषाम् अलंकारम्। वहतः वरतः। यस्य पर्वतस्य। निशासु रात्रिषु। निशाकरः चन्द्रः। चूडामणिमात्रजन्यां चूडामणिमात्रेण शिरोरत्नमात्रेण जन्यामुत्पन्नाम्। शोभां[५] करोति विदधाति। लट्। चन्द्रश्चूडामणिरिवाभाति, इत्यर्थः। उत्प्रेक्षा ॥२॥ पर्यन्तेति। कनकोज्ज्वलासु कनकेन सुवर्णधातुना[६] उज्ज्वलासु प्रकाशमानासु। उच्चतरासु[७] अत्युन्नतासु। यन्मेखलासु यस्य मेखलासु सानुषु काञ्चीदामसु[८]। पर्यन्तचर्यः पर्यन्ते समन्ततः (चरन्तीति) चर्यः संचर्यः[९]। ताराः नक्षत्राणि। परिस्फुरद्दीधितिभासुराणां परिस्फुरन्त्या प्रज्वलन्त्या दीधित्या कान्त्या भासुराणां प्रकाशनशीलानाम्। 'भंजभास—' इत्यादिना घुर—प्रत्ययः। मणि-

इसके पश्चात् राजा पद्मनाभने आगे बढ़ते ही मणिकूट नामक पर्वतको देखा। उसके ऊपर खूब ऊँचे-ऊँचे प्रस्तरखण्ड-चट्टानें थे, और वह मणियोंकी प्रभासे देदीप्यमान हो रहा था। अतएव वह ऐसा जान पड़ता था मानो आपसमें टकराकर आकाशसे गिरा हुआ, बिजली सहित मेघोंका समूह हो ॥१॥ वह नाना प्रकारके रत्नोंसे जड़े हुए कड़ोंके समान शोभाको धारण करनेवाले अपने विचित्र रत्नमय मध्यभागके प्रदेशोंसे अद्वितीय सुषमाको प्राप्त कर रहा था। जिस प्रकार कड़े मनुष्यको मण्डित करते हैं उसी प्रकार मध्यभाग उसकी शोभाको बढ़ा रहे थे। मध्यभाग (कटक) ही उसके कड़े थे। अब केवल चूडामणिकी कमी रह गयी थी, जिसे रात्रिके समय चन्द्रमाने पूरा कर दिया जो उसके सबसे उन्नत शिखरपर चूड़ामणि सरीखा जान पड़ता था ॥२॥ उस पर्वतकी, अत्यन्त उन्नत और स्वर्णमय होनेसे उज्ज्वल मेखलाओं-मध्यभागके प्रदेशों (करधनी) में चारों ओर घूमनेवाली ताराएँ चमाचमाती हुई किरणोंसे देदीप्यमान मणिजडित छोटी-छोटी घण्टियोंका काम कर रही थीं। उसके मध्यभाग (मेखला) करधनी सरीखे थे और उन्हींके आस-पास घूमनेवाली ताराएँ छोटी घण्टियों सरीखी। उसके मध्यभाग

१. अ आ इ सदीप्र°। २. '°दृषण्ड' टीकायां '°दृषदं' च मूलप्रतिषु वर्तते। ३. श 'संमर्दनेन' इति नास्ति। ४. = स्वसंबन्धिभिः, आत्मीयैः—इत्यर्थः। ५. = छविम्। ६. श 'कनकेन स्वर्णधातुना' इति नास्ति। ७. आ उच्चतरा, श उज्ज्वलतारासु। ८. श °दामसु। ९. = संचारिण्यः।

धूमोद्गमैरागुरवैः सुरस्त्रीप्रवर्त्यमानैः पटवासहेतोः ।
सदाम्बरे यत्र तपान्तलक्ष्मीर्वितन्यते बद्धपयोदवृन्दैः ॥४॥

दत्तश्रुतिः किंनरकामिनीनां गीतेषु मूर्च्छागतनिश्चलाङ्गः ।
मृगव्रजो यत्र सजीवशिल्पशङ्कां विधत्ते गगनेचराणाम् ॥५॥

निवारयन्तोऽपि दरीमुखस्थाः करप्रवेशं सवितुः पयोदाः ।
तडित्प्रभादर्शितवल्लभास्या व्रजन्ति यत्र द्युसदां प्रियत्वम् ॥६॥

किङ्किणीनां मणिभी रत्नैर्निर्मितानां किङ्किणीनां क्षुद्रघण्टिकानाम् । कृत्यं कार्यम् । कुर्वन्ति विदधति । उत्प्रेक्षा ॥३॥ धूमेति । यत्र गिरौ । पटवासहेतोः पटवासस्य परिमलस्य पटवासचूर्णस्य हेतोर्निमित्तम् । सुरस्त्रीप्रवर्तमानैः सुरस्त्रीभिर्देववनिताभिः प्रवर्तमानैः प्रवर्तमानं क्रियमाणैः[1] । आगुरवैः कालागुरुसंभवैः । धूमोद्गमैः धूमस्योद्गमैरुदयैः । अम्बरे गगने । बद्धपयोदवृन्दैः बद्धैर्विरचितैः पयोदानां मेघानां वृन्दैः समूहैः । सदा सर्वकाले । तपान्तलक्ष्मीः तपान्तस्य वर्षाकालस्य लक्ष्मीः शोभा । वितन्यते[2] । उत्प्रेक्षा ॥४॥ दत्तेति । यत्र गिरौ । किंनरकामिनीनां किंनरवनितानाम् । गीतेषु गानेषु । दत्तश्रुतिः दत्ते न्यस्ते श्रुती कर्णौ यस्य[3] । मूर्च्छागतनिश्चलाङ्गः मूर्च्छागतं परवशं[4] निश्चलं निष्कम्पमङ्गं शरीरं यस्य सः । मृगव्रजः मृगाणां कुरङ्गाणां व्रजः समूहः । गगनेचराणां विद्याधराणाम् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति ङि–प्रत्ययस्य श्लुगभावः । सजीवशिल्पशङ्कां सजीवं जीवयुक्तं शिल्पं चित्रमितिशङ्कां संशयम् । विधत्ते करोति । उत्प्रेक्षा[5] ॥५॥ निवारेति । यत्र गिरौ । दरीमुखस्थाः दरीणां गुहानां मुखस्था द्वारेषु विद्यमानाः । पयोदाः मेघाः । सवितुः सूर्यस्य । करप्रवेशं कराणां किरणानां प्रवेशं प्रवेशनम्[6] । निवारयन्तोऽपि रुन्धन्तोऽपि[7] । तडित्प्रभादर्शितवल्लभास्याः तडितो विद्युतः प्रभया प्रकाशेन दर्शितं[8] विलोकयितं वल्लभानां वनितानामास्यं मुखं येषां[9] ते, सन्तः । द्युसदां

ताराओंके पास तक पहुँचे हुए थे ॥३॥ उस पर्वतपर देवांगनाएँ अपने वस्त्रोंको सुवासित करनेके लिए अगुरु धूप जलाया करती थीं । उसके धुएँसे आकाशमें मेघमण्डल तैयार हो जाते थे (धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः स मेघः—धूम, अग्नि, जल और वायुके सम्मिश्रणसे मेघ बनता है) । फलतः वहाँ सदा बरसातकी शोभा उत्पन्न कर दी जाती थी ॥४॥ उस पर्वतपर किन्नरोंकी स्त्रियाँ गाना गाया करती थीं । उनके गानको हिरण अपने कान लगाकर बड़े चावसे सुनते थे । उस समय उन्हें इतना आनन्द आता था कि उन्हें मूर्च्छा-सी आ जाती थी, और उनके शरीर बिलकुल ही निश्चल हो जाते थे । उन्हें उस अवस्थामें देखकर विद्याधरोंको सजीव शिल्पकी शंका हो जाती थी ॥५॥ उस पर्वतकी गुफाओंमें देवलोग अपनी देवियोंके साथ क्रीड़ा करनेके लिए जाया करते थे । गुफाओंके दरवाजोंके आगे आकर स्थित हुए मेघ उन (गुफाओं) के अन्दर जानेवाली सूर्यकी किरणोंको रोक देते थे, और अन्धकार उत्पन्न कर देते थे फिर भी अपनी बिजुलीकी प्रभासे उन्हें प्रियाका मुख दिखला देते थे । इसलिए वे मेघ उन देवोंको बड़े

---

१. = समुत्पादितैः । २. आ 'वितन्यते' इति नास्ति । ३. = येन । ४. आ परवशगतं । ५. = भ्रान्तिमान् । ६. श प्रकरप्रदेशं प्रकराणां किरणानां प्रदेशं प्रदेशनम् । ७. श 'रुन्धन्तोऽपि' इति नास्ति । ८. = दृष्टिविषयतां नीतं । ९. = यैः ।

प्रभावतो लब्धमहर्द्धिकस्य प्रभावतो योगिजनस्य यस्मिन् ।
नरो गतो रम्यविशालशृङ्गे न रोगतो गच्छति कोऽपि पीडाम् ॥७॥
नितम्बवाप्यः खचराङ्गनानामधः प्रवर्षेष्वपि[1] वारिदेषु ।
विच्छिन्दते यत्र न तोयकेलिं परिस्रवन्निर्झरपूर्यमाणाः ॥८॥
परिस्रुतानीन्दुमणिप्रतानात्पयांसि पीयूषवदापिबन्तः ।
नित्यप्रसूताभिनवप्रवाला भजन्ति यत्राजरतां द्रुमौघाः ॥९॥
महौषधीगन्धगतप्रभावान्निर्वीर्यकृष्णाहिषु चन्दनानाम् ।
वनेष्वनाशङ्कित[2]शेमुषीकाः क्रीडन्ति कान्तैः सह यत्र कान्ताः ॥१०॥

देवानाम् । प्रियत्वं संतोषत्वम् ।[3] व्रजन्ति गच्छन्ति । व्रज गतौ लट्[4] ॥६॥ प्रभेति । प्रभावतः दीप्तिमतः कान्तियुक्तस्य । लब्धमहर्धिकस्य लब्धाः प्राप्ता महत्य ऋद्धयो महौषध्यादयो यस्य[5] तस्य । योगिजनस्य मुनिजनस्य । प्रभावतः सामर्थ्यतः । यस्मिन् गिरौ । रम्यविशालशृङ्गे रम्ये मनोहरे विशाले विस्तीर्णे शृङ्गे शिखरे । गतः यातः । कोऽपि कश्चिदपि । नरः पुरुषः । रोगतः व्याधेः सकाशात् । पीडां बाधाम् । न गच्छति न प्राप्नोति । गम्लृ गतौ लट् । यमकम् ॥७॥ नितम्बेति । यत्र गिरौ । वारिदेषु मेघेषु । अधः-प्रवर्षेषु [अपि] अधः अधोभागे प्रवर्ष[6]वृष्टिर्येषां तेषु अपि । परिस्रवन्निर्झरपूर्यमाणाः परिस्रवता परितो धावता निर्झरेण प्रवाहेण पूर्यमाणाः[7] संपूर्णं गम्यमानाः । नितम्बवाप्यः नितम्बे[8] तटे विद्यमाना वाप्यो दीर्घिकाः । खचराङ्गनानां विद्याधरवनितानाम् । तोयकेलिं जलकेलिम् । न विच्छिन्दते अभावं न कुर्वते । छिदृम् द्वैधीकरणे लट् ॥८॥ परीति । यत्र गिरौ । इन्दुमणिप्रतानात् इन्दुमणीनां चन्द्रकान्तानां प्रतानाम् निकरात् । परिस्रुतानि परिस्यन्दितानि । पयांसि जलानि । पीयूषवत् सुधारसवत् । आपिबन्तः पानं कुर्वन्तः । नित्यप्रसूताभिनवप्रवालाः नित्यमनवरतं प्रसूता[9] जिता[10] अभिनवाः प्रत्यग्रा प्रवालाः[11] येषां ते । द्रुमौघाः द्रुमाणां वृक्षाणामोघाः समूहाः । अजरतां नवीनताम्[12] । भजन्ति श्रयन्ते[13] । अतिशयः ॥९॥ महौषधीति । यत्र गिरौ । महौषधीगन्धगतप्रभावात् महौषधीनां महामूलिकौषधीनां गन्धगताद् वासगतात् प्रभावात् सामर्थ्यात् । निर्वीर्यकृष्णाहिषु निर्वीर्या निर्गतविषसामर्थ्याः कृष्णाहयः कालोरगा येषां[14] तेषु । चन्दनानां श्रीगन्धानाम् । वनेषु काननेषु । अनाशङ्कितशेमुषीकाः अनाशङ्किताः संशयरहिता शेमुषी यासां ताः । कान्ताः वनिताः । कान्तैः सह निजदयितैः सह । क्रीडन्ति खेलन्ति । क्रीड़[15] विहारे लट् ।

प्यारे लगते थे ॥६॥ रमणीय विशाल शिखरोंवाले उस पहाड़पर गया हुआ कोई भी मनुष्य, बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक प्रभा सम्पन्न योगियोंके प्रभावसे रोगसे पीड़ित नहीं होता था—स्वस्थ हो जाता था ॥७॥ वह पहाड़ बहुत ऊँचा था । जल बरसानेवाले मेघ उनके मध्यभाग तक भी नहीं पहुँच पाते थे, मध्यभागके नीचे ही वे जल बरसाया करते थे । उसके मध्यभागमें अनेक वापिकाएँ थीं, जो सभी ओर बहनेवाले झरनोंसे भरी रहती थीं, और इसीलिए वे वहाँ विचरनेवाली विद्याधरियोंकी जलक्रीड़ामें कभी विच्छेद नहीं होने देती थीं—विद्याधरियाँ उनमें नित्य जलक्रीड़ा किया करती थीं ॥८॥ उस पर्वतपर चन्द्रकान्त मणियोंके समूहसे अमृतके समान जल बहता रहता था, उसे पीनेवाले वृक्षोंके समुदायोंमें सदा नयी-नयी पत्तियाँ उत्पन्न हुआ करती थीं । फलतः वे वृक्ष हमेशा नवीन ही बने रहते थे, कभी पुराने नहीं होते थे ॥९॥ वहाँ चन्दनके वनोंमें जहरीले काले नाग थे, पर वे सभी उत्कृष्ट जड़ी-बूटियोंके प्रभावसे निर्वीर्य-विष

१. अ क ख ग घ म प्रवर्षिष्वपि । २. म वनेषु निःशङ्कित° । ३. श संतोषम् । ४. आ लिट् । ५. =येन । ६. श प्रवर्षो° । ७. =संपूर्णतां नीयमानाः । ८. मध्यभागे । ९. =जनिताः । १०. आ जीताः । ११. =पल्लवाः । १२. आ नदीनताम् । १३. श श्रयन्ति । १४. =येषु । १५. श क्रीड ।

शिलातले यस्य घनायमाने वनायमाने कमनीयभावम् ।
विराजते देहविभासुराणां विभासुराणामचिरांशुदेश्या ॥११॥
गन्तुं पतङ्गोपलवह्नितप्तादपारयन्त्यः सहसा प्रदेशात् ।
द्विषन्ति यस्मिन्निजमेव तुङ्गं तुरङ्गवक्त्राः कुचकुम्भभारम् ॥१२॥
समुद्गतैर्ग्रावतले पतित्वा जडीकृतो निर्झरवारिपूरैः ।
न तापितायोमयपिण्डतुल्यस्तपेऽपि यत्रोत्तपते पतङ्गः ॥१३॥
प्रभञ्जनः खेचरसुन्दरीणां रतिश्रमापोहकृतोपकारः ।
यस्मिन्सुगन्धीक्रियते तदास्यश्वासैरिव प्रत्युपकर्तुकामैः ॥१४॥

महौषधिसामर्थ्येन सर्पाणां विषरहितत्वात्तत्र क्रीडतां स्त्रीपुरुषाणां कालोरगदंशभयं नास्तीत्यर्थः ॥१०॥ शिलेति । कमनीयभावं कमनीयस्य मनोहरस्य भावं स्वरूपम् । अयमाने[2] गच्छति[3] । घनायमाने मेघायमाने । यस्य पर्वतस्य । शिलातले शिलाप्रदेशे । घना गुर्वी । अचिरांशुदेश्या अचिरांशोर्विद्युतो देश्या समाना । विभासुराणां विशेषेण भासनशीलानाम् । सुराणाम्[4] । देहविभा देहस्य शरीरस्य विभा कान्तिः । विराजते भाति । राजृ् दीप्तौ लट् । उपमा[5] ॥११॥ गन्तुमिति । यस्मिन् गिरौ । पतङ्गोपलवह्नितप्तात् पतङ्गोपले सूर्यकान्तशिलायामुत्पन्नेन वह्निनाग्निना तप्तात् संतप्तात् । प्रदेशात् स्थलात् । सहसा शीघ्रम् । गन्तुं यातुम् । अपारयन्त्यः असमर्थाः । तुरङ्गवक्त्राः किन्नरवनिताः । तुङ्गम् उन्नतम् । निजमेव स्वकीयमेव । कुचकुम्भभारं स्तनकुम्भानां कुचकलशानां भारम् । द्विषन्ति[6] कुप्यन्ति[7] । रूपकम् ॥१२॥ समुद्गतैरिति । यत्र गिरौ । तापितायोमयपिण्डतुल्यः तापितेनायोमयेन लोहमयेन पिण्डेन गोलकेन तुल्यः समानः । पतङ्गः सूर्यः । ग्रावतले शिलातले । पतित्वा निपत्य । समुद्गतैः[8] प्रस्नुतैः[9] । निर्झरवारिपूरैः निर्झरस्य प्रवाहस्य वारीणां पूरैः । जडीकृतः शीतीकृतः सन् । तपेऽपि ग्रीष्मकालेऽपि । नोत्तपते न संतपते । तप संतापे लट् ॥१३ । प्रभञ्जन इति । यस्मिन् गिरौ । खेचरसुन्दरीणां विद्याधरस्त्रीणाम् । रतिश्रमापोहकृतोपकारः रत्या कामकेल्या जातस्य श्रमस्यापोहेन विनाशेन कृत उपकारो यस्य[10] सः । प्रभञ्जनः वायुः । प्रत्युपकर्तुकामैः [इव] प्रत्युपकारं कर्तुकामैः कर्तुमिच्छुभिरिव । तदास्यश्वासैः तासां विद्याधरस्त्री-

---

रहित हो गये थे । इसलिए वहाँपर स्त्रियाँ निर्भय होकर अपने पतियोंके साथ क्रीड़ा किया करतीं थीं ॥१०॥ उस पर्वतकी मेघ सरीखी सुन्दर शिलापर देदीप्यमान देवोंके शरीरकी घनी-प्रभा बिजुलीकी भाँति सुशोभित होती थी ॥११॥ उस पर्वतपर गन्धर्वोंकी अंगनाएँ--जिनके मुख अश्व सरीखे थे—सूर्यकान्त मणियोंकी अग्निसे सन्तप्त प्रदेशसे सहसा भाग जानेमें असमर्थ होकर अपने ही अत्यधिक, स्तन-कलशोंके बोझसे द्वेष करने लगती थीं ॥१२॥ उस पर्वतपर अनेक झरने बह रहे थे । उनके जलका पूर चट्टानोंके ऊपर गिरकर आकाशमें बहुत ऊँचाई तक उछल जाता था, उससे, तप्त लोह पिण्ड सरीखा सूर्यमण्डल बिलकुल ठण्डा हो जाया करता था, अतः ग्रीष्म ऋतुमें भी वह नहीं तपता था—उष्ण नहीं हो पाता था ॥१३॥ उस पर्वतपर विद्याधरियोंकी रतिक्रियाकी थकानको मिटाकर वायुने उनका उपकार किया, तो उन्होंने भी मानो प्रत्युपकारकी कामनासे उसे अपनी श्वासवायुसे सुवासित कर दिया ॥१४॥ वह पर्वत बड़ी तेजीसे बढ़नेवाली और सभी ओर फैलनेवाली लताओंका अक्षय स्थान था । सघन वृक्षा-

---

१. म तटेऽपि । २. श आयमाने । ३. =नीयमाने । ४. =देवानाम् । ५. =यमकं च । ६. =निन्दन्ति । ७. आ कुप्यन्ति । ८. =ऊर्ध्वगैः । ९. श प्रस्तुतैः । १०. =येन ।

कान्तैर्विचित्रोज्ज्वलचन्द्रकान्तै रूढैर्लतानां निवहैः प्ररूढैः ।
यस्य द्युतिः केकिभिरक्षयस्य तेने तटे शाखितिरोहितेने[1] ॥१५॥
मध्वासवापानमनोज्ञगाना[2] समुन्नयन्तो मनसो विकारम् ।
सकोपकान्तानुनयेषु यूनां साहायकं यत्र भजन्ति भृङ्गाः ॥१६॥
श्रुत्वा घनध्वाननिभं नटन्तः शिखण्डिनो [3]निर्झरवारिनादम् ।
कुर्वन्ति यत्सानुगतं सुरौघं दिव्याङ्गनानृत्यविधौ वितृष्णम् ॥१७॥
गुहोदरे ध्येयहिमे हिमर्तुं निदाघमभ्यग्निषु गह्वरेषु ।
सानुष्वधोगामिघनेषु वर्षाः सुखेन यस्मिन्गमयन्ति सिद्धाः ॥१८॥

णामास्यानां श्वासैः । सुगन्धीक्रियते परिमलीक्रियते । अतिशयः[4] ॥१४॥ कान्तैरिति । कान्तैः कमनीयैः । विचित्रोज्ज्वलचन्द्रकान्तैः विचित्रं नानाविधमुज्ज्वलं (रूपं) येषां ते तथोक्ताः, विचित्रोज्ज्वलाश्चन्द्रका मेचकः अन्ते येषां तैः । केकिभिः मयूरैः । रूढैः आरूढैः । प्ररूढैः प्रवृद्धैः । लतानां वल्लरीणाम् । निवहैः समूहैः । अक्षयस्य अविनाशस्य । यस्य गिरेः । द्युतिः कान्तिः । शाखितिरोहितेने शाखिभिर्वृक्षैस्तिरोहित आच्छादित इनः सूर्यो यस्मिन् तस्मिन् । तटे सानौ । तेने विस्तीर्यतेस्म । तनूञ् विस्तारे लट् । यमकम् ॥१५॥ मध्विति[5] । यत्र गिरौ । मध्वासवापानमनोज्ञगानाः मधोर्गुडपुष्पवृक्षस्यासवस्य पुष्परसस्य[6] आपानेन पानगोष्ठिकया मनोज्ञं मञ्जुलं गानं येषां ते । मनसः चित्तस्य । विकारं[7] पल्लटम् । समुन्नयन्तः वर्धयन्तः । भृङ्गाः मधुकराः । यूनां तरुणानाम् । सकोपकान्तानुनयेषु सकोपानां कोपसहितानां कान्तानां स्त्रीणामनुनयेष्वाश्वासनेषु । साहायकं[8] सहायत्वम् । व्रजन्ति गच्छन्ति । लट् । भृङ्गध्वनिश्रवणे स्त्रीणां भोगकांक्षा जायते, इत्यर्थः । समाहितः ॥१६॥ श्रुत्वेति । घनध्वाननिभं घनस्य मेघस्य ध्वानस्य ध्वनेर्निभं सदृशम् । निर्झरवारिनादं निर्झरस्य प्रवाहस्य वारिणो जलस्य नादं ध्वनिम् । श्रुत्वा आकर्ण्य । नटन्तः नृत्यन्तः । शिखण्डिनः मयूराः । यत्सानुगतं यस्य गिरेः सानुगतं तटयातम् । सुरौघं सुराणां देवानामोघं समूहम् । दिव्याङ्गनानृत्यविधौ दिव्याङ्गनानां देवस्त्रीणां नृत्यविधौ नटनकरणे । वितृष्णं कांक्षारहितम् । कुर्वन्ति विदधति । लट्[9] । अत्रैव नर्तनासक्तं कुर्वन्ति, इत्यर्थः । अतिशयः ॥१७॥ गुहोदर इति । यस्मिन् गिरौ । सिद्धाः देवविशेषाः । ध्येयहिमे ध्यातुं योग्यं हिमं[10] शीतलं यस्मिन् तस्मिन् । प्रत्यक्षप्रमेयं हिमं नास्ति, इत्यर्थः । गुहोदरे गुहाया गह्वरस्योदरे मध्ये । हिमर्तुं हेमन्तर्तुम् । सुखेन[11] निरायासेन । गमयन्ति यापयन्ति[12] । गम्लृ गतौ णिजन्ताल्लट् । अभ्यग्निषु

वलीसे सूर्य तिरोहित हो जानेसे उसके तटोंपर अन्धकार छाया रहता था । पर उन अन्धकारमय तटोंपर सुन्दर, वृक्षोंपर चढ़े हुए और अद्भुत स्वच्छ चन्द्राकृतियोंसे-जो पंखोंमें बनी हुई थीं—युक्त मयूरोंके द्वारा प्रकाश कर दिया जाता था ॥१५॥ उस पर्वतपर पुष्परस रूपी आसवका पान कर लेनेसे सुस्वर गान करनेवाले और मनके विकारको बढ़ानेवाले भौंरे, रूठी हुई नायिकाओंको मनानेमें युवकोंको सहायता पहुँचा रहे थे ॥१६॥ उस पर्वतपर मेघध्वनिके समान जल-प्रपातके शब्दको सुनकर नाचनेवाले मयूर तटों या शिखरोंपर बैठे हुए देववृन्दको देवियोंके नृत्य देखनेकी तृष्णासे मुक्त कर देते थे—मयूरोंका नृत्य देखकर उन्हें देवियोंका नृत्य देखनेकी उत्सुकता नहीं रहती थी ॥१७॥ उस पर्वतपर रहनेवाले देवलोग हिमके प्रभावसे सर्वथा मुक्त गुफाओंमें और फुहारेसे युक्त गुफाओंमें क्रमशः हेमन्त और ग्रीष्मऋतुको सुखसे

१. म °तिरोहितेन । २. आ इ °मनोज्ञरागाः । ३. अ आ क ख ग घ म निर्भर° । ४. = उत्प्रेक्षा, अन्योन्यालङ्कारश्च । ५. आ मध्वेति । ६. = मधु पुष्परसः तद्रूपस्यासवस्य मद्यस्य । ७. = विकृतिम् । ८. श सहायकं । ९. आ लङ् । १०. = शैत्यं । ११. = सुखपूर्वकम् । १२. श 'यापयन्ति' इति नास्ति ।

जयन्रुचा निस्तमसौ समुत्कः शीतेतरांशू तमसौ समुत्कः।
द्रष्टुं चमून्या जगदेकपाली बलेन साक्षाज्जगदे कपाली ॥१९॥
निषेव्यविवरो वरोऽविविधनिर्झरालंकृतः
सदन्ति चमरोऽमरोपहितमाधवीमण्डपः।
विकासिकमलोऽमलोपलविचित्रभाभासुरो
न विस्मयमयं नगः प्रविदधाति कस्येक्षितः ॥२०॥

अपां जलानां यन्त्रिषु[1] यन्त्रयुक्तेषु। गह्वरेषु गुहासु। निदाघं ग्रीष्मम्। अधोगामिघनेषु अधो अधोभागे गामिनो गमनशीला घना मेघा येषु तेषु। सानुषु[2] तटेषु। वर्षाः प्रावृट्कालान्। गमयन्तीति प्रत्येकमभिसंबध्यते। दीपकम् ॥१८॥ जयन्निति। निस्तमसौ निर्गतं तमो ययोस्तौ। शीतेतरांशू शीतः शीतल इतर उष्णः शीतेतरौ अंशू किरणौ ययोस्तौ—चन्द्रसूर्यौ। रुचा कान्त्या। जयन् निर्जयन्। तं रत्नकूटगिरिम्। द्रष्टुं वीक्षणाय। समुत्कः[3] संतुष्टः। समुत्कः समुन्नतं कं मस्तकं यस्य सः। बलेन सामर्थ्येन। साक्षात् प्रत्यक्षम्। कपाली रुद्रः। जगदेकपाली जगतो भुवनस्य एकपाली मुख्यपालकः। असौ राजा। चमून्या सेनानायकेन। जगदे भाष्यते। यमकम् ॥१९॥ निषेव्येति। निषेव्यविवरः निषेव्यमाश्रयणीयं विवरं गह्वरं यस्य सः। वरः प्रशस्तः। विविधनिर्झरालंकृतः विविधैर्नानाप्रकारैः प्रवाहैरलङ्कृतो भूषितः। सदन्तिचमरः दन्तिभिर्गजैश्चमरैश्चमरमृगैश्च युक्तः। अमरोपहितमाधवीमण्डपः अमरैर्देवैरुपहित आश्रितो माधवीनां[4] यूथिकालतानां मण्डपो यस्य सः। विकासिकमलः विकासीनि विकसनशीलानि कमलान्यम्बुरुहाणि यस्मिन् सः। अमलोपलविचित्रभाभासुरः अमलानां निर्मलानामुपलानां शिलातलानां विचित्रया बहुविधया भया कान्त्या भासुरो दीप्रः। ईक्षितः दृष्टः। अयं नगः मणिकूटगिरिः। कस्य पुरुषस्य। विस्मयम् आश्चर्यम्। न प्रविद-

---

बिताया करते थे। तथा वर्षाऋतुको वे उन शिखरोंपर आरामसे बिताते थे, जहाँ मेघ पहुँच ही नहीं सकते थे, उनसे बहुत नीचे रह जाते थे। क्या सर्दी, क्या गर्मी और क्या बरसात तीनों ही मौसमोंमें देवलोग वहाँ सुख पूर्वक रहते थे। वहाँकी उष्ण गुफाओंमें हिमका कभी कोई असर नहीं पहुँच पाता था। हाँ, वहाँ रहनेवाले देव उसका स्मरण अवश्य कर लेते थे, कि प्रवासके अवसरपर अमुक स्थान देखा था, जहाँ अत्यधिक हिमपात हो रहा था। इसी तरह अन्य स्थानोंपर ग्रीष्म और वर्षामें वह सुख नहीं मिल सकता, जो मणिकूट पर्वतके निवासियोंको अनायास ही प्राप्त हो रहा था। वह पर्वत सभी ऋतुओंमें सुखद था। इसीलिए वहाँ देवलोग भी निवास करते थे ॥१८॥ राजा पद्मनाभने अपने देहकी कान्तिसे चन्द्रमाको और दीप्तिसे सूर्यको मात कर दिया था, जो अन्धकारसे सर्वथा मुक्त थे। पद्मनाभ सारे जगत्का एक मात्र रक्षक था और बलमें तो साक्षात् शंकर। उसे पर्वतकी विशेषताओंके देखनेसे बड़ा हर्ष हुआ और उत्सुकता भी। पर्वत देखनेके लिए उसे उत्सुक जानकर सेनापतिने यों कहना प्रारम्भ किया—॥१९॥ इसकी गुफाएँ रहने योग्य हैं, यह अनेक प्रकारके झरनोंसे सुशोभित है; इसपर कहीं हाथी घूम रहे हैं तो कहीं चमरी मृग विचर रहे हैं; इसके माधवीलताके मण्डपोंमें देवलोग भी आकर ठहर जाते हैं; इसपर कमल खिले हुए हैं; निर्मल मणियों और शिलाओंकी अनोखी प्रभासे यह सभी ओरसे प्रकाशित है; अतएव निश्चय ही यह सभी पर्वतोंसे श्रेष्ठ है। इसे देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा ? इसे देखकर तो ब्रह्मदेव (कस्य-ब्रह्मदेवस्य) को भी अचरज होगा

---

१. = यन्त्राणि सन्ति येषु, तेषु। २. = शिखरेषु। ३. = समुत्सुकः। ४. = माधवीलतानां।

तुहिनपाण्डुरतीरजसैकतां कमलजेन गतां रजसैकताम् ।
वहति सिन्धुमयं सरसामलंकृतदिशां च चयं सरसामलम् ॥२१॥
सुरयुवतिजनस्य सानुभाजो वदनसरोरुहमण्डनोद्यतस्य ।
विगलिततिमिरासु संप्रसर्पन्भवति निशास्विह दर्पणो मृगाङ्कः ॥२२॥
न महीरुहाः परिहृताः कुसुमैर्मणिदीपकैर्विरहिता न गुहाः ।
न नितम्बभूः सुरजनैर्विकला न सरः समुज्झितमिहाम्बुरुहैः ॥२३॥
इह गगनचरैः कन्दरागोचरैः सुरभिशुचिपटैः कामिनीलम्पटैः ।
अवसितसुरतैः सानुसेवारतैः समधुकररुतः सेव्यते मारुतः ॥२४॥

धाति न करोति । लट् । यमकम् ॥२०॥ तुहिनेति । तुहिनपाण्डुरतीरजसैकतां तुहिनमिव पाण्डुरं शुभ्रं तीरजं कूलजनितं सैकतं सिकतामयं[2] यस्यास्ताम् । कमलजेन ताम्रसजेन । रजसा परागेण साकम् । एकताम् अभेदत्वम् । गतां याताम् । सरसां जलसहितां स्वादुरसवतीं वा । सिन्धुं नदीम् । 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरः । अलंकृतदिशाम् अलंकृता भूषिता दिशो येषां[3] तेषाम् । सरसां सरोवराणाम् । चयं च समूहं च । अलं भृशम् । वहति धरति । वहि प्रापणे लट् । दीपकम्[4] ॥२१॥ सुरेति । इह गिरौ । सानुभाजः सानुं[5] तटं भाजः (सानुं तटं भजते इति सानुभाक्, तस्य) आश्रितस्य । वदनसरोरुहमण्डनोद्यतस्य वदनमेव मुखमेव सरोरुहं कमलं तस्य मण्डने भूषणे उद्यतस्योद्युक्तस्य । सुरयुवतिजनस्य[6] सुरयुवतिरेव जनस्तस्य । विगलिततिमिरासु विगलितं तिमिरं यासां तासु । निशासु[7] रात्रिषु । संसर्पन् गच्छन् । मृगाङ्कः चन्द्रः । दर्पणः मुकुरः । भवति[8] । लट् । रूपकम् ॥२२॥ नेति । इह गिरौ । कुसुमैः पुष्पैः । परिहृताः रहिताः । महीरुहाः वृक्षाः । न न सन्ति । मणिदीपकैः रत्नदीपकैः । विरहिताः शून्याः । गुहाः गह्वराणि । न न सन्ति । सुरजनैः[9] सुरा एव जना लोकाः तैः । विकला हीना । नितम्बभूः[10] सानुप्रदेशः । [न] न भवन्ति (भवति) । अम्बुरुहैः सरोरुहैः । समुज्झितं त्यक्तम् । सरः सरोवरः[11] । [न] न भवति ॥२३॥ इहेति । इह गिरौ । कन्दरागोचरैः कन्दरस्य गह्वरस्यागोचरैरविषयैः, कृतसुरताः सन्तः कन्दरान्निर्गताः[12] इत्यर्थः । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः । सुरभिशुचिपटैः सुरभिः परिमलः शुचिर्निर्मलः पटो येषां तैः । कामिनीलम्पटैः कामिनीषु वनितासु लम्पटैरत्यासक्तैः । अवसितसुरतैः अवसितं संपूर्णं सुरतं येषां तैः । सानुसेवारतैः सानोर्नितम्बस्य सेवायामाश्रयणे रतैः प्रीतैः । गगनचरैः विद्याधरैः । समधुकररुतः मधुकराणां भ्रमराणां रुतेन ध्वनिना युतः । मारुतः वायुः । सेव्यते भुज्यते । षेवृङ् सेवने

॥२०॥ जिनके किनारोंकी बालू बर्फकी भाँति शुभ्र है और जिनका मधुर जल कमलोंकी पराग के साथ एक रूप हो चुका है, न केवल उन नदियोंको ही इसने जन्म दिया है, बल्कि सारी दिशाओंकी शोभा बढ़ानेवाले जलाशयोंको भी जन्म देकर यह उन्हें अपनी गोदमें लिए हुए है। ॥२१॥ शुक्लपक्षकी रातोंमें इस पर्वतके शिखरोंपर देवांगनाएँ ज्यों ही अपने मुखका शृंगार करने बैठती थीं, त्यों ही सामनेसे आया हुआ चन्द्रमा दर्पणकी कमीको पूरा कर देता है ॥२२॥ यहाँके वृक्ष पुष्प रहित, गुफाएँ मणिदीपोंसे रहित, मध्यभागको भूमि देवोंसे रहित और सरोवर कमलोंसे रहित नहीं हैं—यहाँके वृक्ष सदा फूलोंसे अलंकृत रहते हैं, गुफाओंमें मणिदीप जगमगाया करते हैं, मध्यभागके रम्य प्रदेशोंमें देवलोग विराजमान रहते हैं और सरोवरोंमें कमल लहलहाते रहते हैं ॥२३॥ यहाँपर स्त्रीलम्पट विद्याधर लोग सम्भोगके उपरान्त सुगन्धित और पवित्र वस्त्र पहनकर गुफाओंसे बाहर निकलते ही शिखरोंपर टहलने लगते हैं, और फिर

१. म° नपाण्डर° । २. = सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः । ३. = यैः । ४. = यमकम् । ५. श सानु । ६. = सुर- युवतीनां जनो वर्गस्तस्य । ७. = वलक्षपक्षक्षपासु । ८. = जायते । ९. = सुराणां देवानां जना वर्गाः, तैः । १०. = मध्यभागः । ११. श सरोवरं । १२. = कृतसुरतैः सद्भिः कन्दरान्निर्गतैः ।

अलिनीनिकुरुम्बचुम्बिताग्रैः शिखरेऽस्य स्थलपुण्डरीकखण्डैः ।
भवतीव विकासशालिभिर्द्यौरुदितानेकसलाञ्छनेन्दुबिम्बा ॥२५॥
विध्यातेऽप्यनिलवशेन मङ्गलार्थं दीपानामिह निकरे लतागृहेषु ।
वीक्षन्ते गगनचरा महौषधीनामुद्द्योतै रतिषु वधूमुखाम्बुजानि ॥२६॥
मत्वानुपप्लवशिखानिह रत्नदीपान्गत्यन्तरव्यपगमात्पिदधत्करेण ।
नेत्रे नितम्बगतवस्त्रहृतां प्रियाणां प्रीत्यै भवत्यधिगुहं खचराङ्गनौघः ॥२७॥
बिम्बितपुष्पगुच्छनिचितव्रततिषु निपतन्नस्य तडिल्लतानुकरणक्षमरुचिषु गिरेः ।
काञ्चनमेदिनीषु जनयति धिषणां नीलदलोपहारविषयां मधुकरनिकरः ॥२८॥

कर्मणि लट् । यमकम् ॥२४॥ अलिनीति । अस्य गिरेः । शिखरे शृङ्गे । अलिनीनिकुरम्बचुम्बिताग्रैः अलिनीनां भ्रमरवनितानां निकुरम्बेण समूहेन चुम्बितमालिङ्गितमग्रं येषां तैः । विकासशालिभिः विकासेन विकसनेन शालिभिः शोभिभिः । स्थलपुण्डरीकषण्डैः स्थलपुण्डरीकाणां स्थलपद्मानां षण्डैः कदम्बकैः । द्यौः गगनम् । उदितानेकसलाञ्छनेन्दुबिम्बा[1] उदितं समुद्भूतमनेकेन बहुलेन लाञ्छनेन युक्तमिन्दुबिम्बं यस्याः सा इव । भवति । उत्प्रेक्षा ॥२५॥ विध्यात इति । इह गिरौ । गगनचराः विद्याधराः । लतागृहेषु[2] लतासदनेषु । मङ्गलार्थे मङ्गलनिमित्ते मङ्गलमेवार्थः प्रयोजनं यस्य (तस्मिन्) । दीपानां प्रदीपानाम् । निकरे समूहे । अनिलवशेन अनिलस्य वायोर्वशेन । विध्यातेऽपि विनष्टेऽपि । रतिषु रतिक्रीडासु । वधूमुखाम्बुजानि वधूनां वनितानां मुखान्येवाम्बुजानि सरोजानि । महोषधीनां काष्ठज्योतिरादीनाम् । उद्योतैः प्रकाशैः । वीक्षन्ते विलोकयन्ते । ईक्षि दर्शने लट् । सामान्यालङ्कारः ॥२६॥ मत्वेति । इह गिरौ । रत्नदीपान् अनुपप्लवशिखान् अनुपप्लवा निर्बाधा शिखा ज्वाला येषां तान् । इति मत्वा बुद्ध्वा । गत्यन्तराभावात् गत्यन्तरस्योपायान्तरस्य व्यपगमादभावात् । नितम्बगतवस्त्रहृतां नितम्बगतस्य कटिगतस्य वस्त्रस्य दुकूलस्य हृतामपहारिणाम् । प्रियाणां दयितानाम् । नेत्रे नयने । करेण हस्तेन । पिदधन्[3] पिनह्यन् । खचराङ्गनौघः खचराङ्गनानामोघः समूहः । अधिगुहं गुहास्वधिकृत्याधिगुहम्, गुहास्वित्यर्थः । प्रीत्यै प्रीतिनिमित्तम् । भवति । लट् ॥२७। बिम्बितेति[4] । अस्य गिरेः । बिम्बितपुष्पगुच्छनिचितव्रततिषु बिम्बिताः पुष्पाणां गुच्छैर्मञ्जरीभिर्निचिता निरन्तरिता व्रतत्यो लता यासु[5] तासु । तडिल्लतानुकरणक्षमरुचिषु तडिल्लताया विद्युल्लताया अनुकरणे क्षमा समर्था रुचिर्यासां तासु । काञ्चनमेदिनीषु सुवर्णमयभूमिषु । निपतन्

भौरोंका मधुर संगीत सुनते हुए वायु सेवन करते हैं ॥२४॥ इस पहाड़के शिखरोंपर सफेद स्थल कमल खिले हुए हैं और उनके ऊपर भौंरियोंके झुण्ड बैठे हुए हैं । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश, लाञ्छन सहित अनेक (पूर्णमासीके) चन्द्रमण्डलों अलंकृत हो ॥२५॥ विद्याधर युवक विवाहके बाद यहाँ आया करते हैं । उनके प्रथम मिलनकी संगलवेलामें यहाँके लतामण्डपोंमें मंगल दीप जलाये जाते हैं, हवाके झौंकेसे वे कभी बुझ भी जायँ तो भी रतिक्रीड़ाके अवसरपर विद्याधर युवक अपनी नववधूका मुखकमल जड़ी-बूटियोंके प्रकाशसे देख लेते हैं । ॥२६॥ यहाँकी गुफाओंमें सम्भोगके अवसरपर विद्याधर लोग ज्यों ही अपनी प्रियाओंके नितम्बसे वस्त्र हटाते हैं, त्यों ही वे शर्मिन्दा होकर रत्नद्वीपोंको बुझानेका प्रयत्न करती हैं । पर जब वे नहीं बुझते, तब वे और उपाय न रहनेसे अपने हाथसे पतिके नेत्रोंको मूद लेती हैं । यह देखकर वे अपने मन-ही-मन बड़े प्रसन्न होते हैं ॥२७॥ इस पर्वतकी बिजुलीके समान चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली स्वर्णभूमिमें, जहाँ फूलोंके गुच्छोंसे लदी हुई लताएँ प्रतिबिम्बित हो रही हैं, वहाँ

१. = उदितान्येकानि सलाञ्छनानीन्दुबिम्बानि यस्यां सा । २. = निकुञ्जेषु । ३. = आच्छादयन् । ४. आ भीतेति । ५. श यासां ।

तटगतासितरत्नविनिःसृतैरविरलैः परितो निकरै रुचाम् ।
इह कदाचन मेचकितत्विषो निजरुचिं न भजन्ति शरद्घनाः ॥२९॥

मानोन्मादव्यपनयचतुराश्चैत्रारम्भे विदधति मधुराः ।
यूनामस्मिन्घटितयुवतयो दूतीकृत्यं परभृतरुतयः ॥३०॥

ध्वनन्नितम्बावनि तारमन्ते गीत्वा प्रियाणां वनिता रमन्ते ।
इहादृतैर्हेममही नभोगैर्निषेव्यते काममहीनभोगैः ॥३१॥

विनमन् । मधुकरनिकरः मधुकराणां भ्रमराणां निकरो निवहः । नीलदलोपहारविषयां नीलदलैरिन्द्रनीलमणिभिः कृत उपहारो रङ्गवल्ली स एव विषयो गोचरो यस्यास्ताम् । धिषणां बुद्धिम् । सततम्[1] अनवरतम् । जनयति उत्पादयति । जनैङ् प्रादुर्भावे लट् । भ्रान्तिमान् ॥२८॥ तटेति । इह गिरौ । परितः समन्तात् । तटगतासितरत्नविनिःसृतैः तटं सानुं गतै[2]रसितैर्नीलै रत्नैर्मणिभिर्विनिःसृतैर्निर्गतैः । रुचां कान्तीनाम् । निकरैः समूहैः । मेचकितत्विषः मेचकिता[3] श्यामा त्विट् कान्तिर्येषां ते । शरद्घनाः शरत्कालमेघाः । कदाचन कस्मिंश्चित् (अपि) समये । निजरुचिं स्वकीयकान्तिम्, शुभ्रकान्तिमित्यर्थः । न भजन्ति नाश्रयन्ति । भज सेवायाम् । लट् । सामान्यालङ्कारः[4] ॥२९॥ मानेति[5] । अस्मिन् गिरौ । चैत्रारम्भे चैत्रस्यारम्भे प्रारम्भे । मानोन्मादव्यपनयचतुराः मानेन गर्वेण जातोन्मादस्य चित्तविकारस्य व्यपनये[6] चतुराः प्रौढाः । मधुराः श्रवणप्रियाः । घटितयुवतयः ,घटिताः[7] प्रेरिताः युवतयो वनिता येषां[8] ते । परभृतरुतयः परभृतानां कोकिलानां रुतयो ध्वनयः । यूनां तरुणानाम् ।, दूतीकृत्यं दूत्याः कृत्यं कार्यम् । विदधति कुर्वन्ति । उत्प्रेक्षा (?) ॥३०॥ ध्वनन्निति । इह गिरौ । वनिताः कामिन्यः । प्रियाणां दयितानाम् । अन्ते समीपे । ध्वनन्नितम्बावनि ध्वनन्ती नितम्बस्य प्रस्थस्यावनिर्भूमि र्यस्मिन् कर्मणि तत्० । तारम् उच्चैःस्वरम् । गीत्वा ध्वनित्वा । रमन्ते[9] क्रीडन्ते । रमि क्रीडायां लट् । आदृतैः प्रीतियुक्तैः । अहीनभोगैः अहीनैः संपूर्णभोगैर्भोगद्रव्यसहितैः । नभोगैः विद्याधरैः । हेममही स्वर्णमयभूमिः । कामं यथेष्टम् । निषेव्यते

भौंरे (साक्षात् फूलोंके गुच्छोंके धोखेमें आकर) आ-आकर मड़राने लगते हैं, और अपने मड़रानेके प्रदेशमें दर्शकोंको नीलमणियोंसे पूरे गये चौकका भ्रम उत्पन्न कर देते हैं ॥२८॥ इस पर्वतके तटोंपर यत्र-तत्र-सर्वत्र नील मणियोंकी अपूर्व सुषमा बनी रहती है । उन मणियोंकी सघन किरणें सभी ओर फैली रहती हैं । उनसे शरदऋतुके शुभ्र मेघ बिलकुल काले या नीले हो जाते हैं । इस तरह वे यहाँ पर अपनी स्वाभाविक (शुभ्र) कान्तिको कभी भी नहीं प्राप्त कर पाते हैं ॥२९॥ इस पर्वतपर चैत्रमासमें मानवती युवतियोंके मान जन्य उन्मादको दूर करनेसे चतुर, मधुर और बिछुड़ी हुई तरुण नायिकाओंको उनके पतियोंसे मिला देनेवाली कोकिलकी बोली युवकोंके लिए दूतीका काम देती है ॥३०॥ यहाँपर संगीतज्ञ नायिकाएँ अपने-अपने पतियोंके निकट, इसकी पूरी मध्यभागकी भूमिमें गूँज उत्पन्न करनेवाले ढंगसे तारस्वरमें गाना गाकर मनोविनोद करती हैं, और समादृत विद्याधर लोग—जो उत्कृष्ट भोग सामग्री साथमें लाये हैं—

---

१. 'सततं' मूलग्रन्थे नास्ति । २. श गतैराश्रितैः । ३. =श्यामीकृता । ४. = तद्गुणालङ्कारः । ५. आ मन इति । ६. =दूरीकरणे । ७. =संयोजिताः । ८. =याभिस्ताः । ७. = क्रीडन्ति ।

व्योम्ना यातः पत्रिणोऽत्र प्रविष्टं रत्नक्षोण्यां वन्यमार्जारपोतः।
बिम्बं लौल्येनानुबध्नन्न धत्ते[1] दिव्यस्त्रीणां गन्तुमन्यत्र दृष्टिम्[2] ॥३२॥

अयं मुनिघनोऽघनोदनसहः सहस्तिचमरोऽमरोचिततटः।
सुराद्रिसदृशो दृशोऽम्बरसदां सदाञ्चितविभो विभो रमयते ॥३३॥

नीलोपलोल्लसितलोलमरीचिजालसान्द्रीकृतान्धतमसेष्विव गह्वरेषु।
क्रीडातिरोहिततनूर्युवतीः पतीनां तच्छ्वाससङ्गसुरभिर्विवृणोति वायुः ॥३४॥

आश्रियते[3]। लट्। यमकम् ॥३१॥ व्योम्नेति। अत्र गिरौ। रत्नक्षोण्यां रत्नमयभूम्याम्। व्योम्ना गगनेन। आयातः गच्छतः। पत्रिणः पक्षिणः। प्रविष्टं[4] प्रतीताम्बरम्। बिम्बं प्रतिबिम्बम्। लौल्येन लाम्पट्येन। अनुबध्नन् आकर्षन्। वन्यमार्जारपोतः वन्यस्य वने जातस्य मार्जारस्य विडालस्य पोतः शिशुः। दिव्यस्त्रीणां देववनितानाम्। दृष्टिं नयनम्। अन्यत्र अन्यप्रदेशे। गन्तुं गमनाय। न धत्ते[5] न धरति (न दत्ते न ददाति)। डुधाञ् धारणे च लट्। भ्रान्तिः ॥३२॥ अयमिति। विभो भो पद्मनाभ। मुनिघनः मुनिभि[6]र्यतिभिः घनः सान्द्रः। अघनोदनसहः अघस्य पातकस्य नोदने निराकरणे सहः समर्थः। सहस्तिचमरः हस्तिभिर्दन्तिभिश्च-मरैश्चमरमृगैश्च युक्तः। अमरोचिततटः अमराणां देवानामुचितं योग्यं तटं सानुर्यस्य सः। आरचितविभः आरचिता (अञ्चितविभः अञ्चिता) प्रशस्ता विभा कान्तिः शोभा वा यस्य सः। सुराद्रिसदृशः सुराद्रेर्मेरोः सदृशः समानः। अयं गिरिः। अम्बरसदां सुराणाम्। दृशः नयनानि। सदा अनवरतम्। रमयते क्रीडयति। रमि क्रीडायाम्। णिजन्ताल्लट्। यमकम् ॥३३॥ नीलेति। इह गिरौ। नीलोपलोल्लसितलोलमरीचिजाल-सान्द्रीकृतान्धतमसेषु नीलोपलस्येन्द्रनीलस्योल्लसितानां भासितानां लोलानां चञ्चलानां मरीचीनां कान्तीनां जालेन कदम्बेन सान्द्रीकृतं निरन्तरीकृतमन्धतमसं येषां[7] तेषु। गह्वरेषु दरीषु। क्रीडातिरोहिततनूः क्रीडया विलासेन तिरोहिता व्यवहिता तनुः गात्रं यासां ताः। युवतीः तरुणीः। तच्छ्वाससङ्गसुरभिः तासां युवतीनां श्वासस्योच्छ्वासस्य सङ्गेन संसर्गेण सुरभिः परिमलसहितः। वायुः मारुतः। पतीनां दयितानाम्। 'स्त्रियोऽत्र

यहाँकी स्वर्णमयी भूमिका भरपूर उपयोग करते हैं ॥३१॥ यहाँ पर रत्नजटित भूमिमें, आकाश-मार्गसे धीरे-धीरे जाते हुए एक पक्षीकी परछाईं देखकर, जंगली बिलावका बच्चा बड़ी तृष्णासे उसे पकड़नेके लिए बार-बार प्रयत्न कर रहा है, और अपनी इस चेष्टासे आकृष्ट की गयी देवांग-नाओंकी दृष्टिको अन्यत्र नहीं जाने देता है—वे और कुछ न देखकर उसीकी ओर घूर-घूरकर देख रहीं हैं ॥३२॥ राजन् ! वीतराग मुनियोंसे व्याप्त होनेके कारण यह पर्वत भव्यजीवोंके पापोंको नष्ट करनेमें समर्थ है। यहाँ हाथी और चमरी मृगोंकी बहुलता है। इसके तट देवोंके विहार करने योग्य हैं। यहाँ सदा प्रकाश रहता है। अतएव यह सुमेरु सरीखा है, और इसी-लिए यहाँ देवी-देवताओंकी दृष्टि रम जाती है ॥३३॥ नीलमणियोंसे निकली हुई चञ्चल किरणोंसे जब यहाँकी गुफाओंमें अन्धकार और भी अधिक गाढ़ हो जाता है, तब युवतियाँ अपने पतियोंसे आँख बचाकर उनके भीतर जा छिपती हैं। उनके पतियोंको जब खोजने पर भी उनके शरीर नहीं दिखाई देते, तब उनकी श्वास वायु ही उनके छिपनेकी सूचना देती है—

१. अ क ख ग घ धत्ते। २. क ख ग घ म दृष्टेः। ३. श आश्रीयते। ४. = पतितं प्रवेशं गतं वा।
५. 'धत्ते' इति टीकाश्रयस्य पाठस्य स्थाने प्रतिषु 'दत्ते' इत्येव दृश्यते। ६. = साधुभिः। ७. = येषु।

तीरेष्वेताः कुसुमितवानीरालीरालीनालीरनिलरयोद्धूतान्ताः ।
तान्ता घर्मैरविरतमूलापातीः पातीहायं प्रसृतनदीनीरौघः ॥३५॥
घातिनिर्मथनलब्धकेवला योगिनोऽत्र परिनिर्विवासवः ।
कुर्वते प्रतरपूरणादिभिः कर्मणां समबलत्वमायुषा ॥३६॥
शिखरमणिशिलानां शाखिशाखान्तरालैः प्रसृतरविकराणामुल्लसन्रोचिरोघः ।
तडिदनुकृतिकारी शङ्किताम्भोदकालान्मदयितुमलमस्मिन्नीलकण्ठानकाले ॥३७॥

वर्तन्ते' इति विवृणोति विवरणं करोति । वृञ् वरणे लट् । स्त्रियोऽत्र वर्तन्ते इति अनुमितिः ॥३४॥ तीरेष्विति । इह गिरौ । आलीनालीः आलीनाः पतिताः अलयो भ्रमरा यासां[1] ताः । अनिलरयोद्धूतान्ताः अनिलस्य वायो रयेण वेगेन उद्धूतः[2] अन्तो[3] मध्यप्रदेशो यासां ताः । तान्ताः म्लानाः । तमू ग्लानौ । एताः इमाः । अविरतमूलापातीः अविरतं निरन्तरं मूलं बुध्नमापातीरागमनशीलाः । कुसुमितवानीरालीः कुसुमिताः पुष्पिता वानीराणां वञ्जुलानामालीः संहतीः । अयम् एषः । प्रसृतनदीनीरौघः प्रसृतः प्रस्यन्दितो नदीनामापगानां नीराणां जलानामोघः प्रवाहः । पाति रक्षति । पा रक्षणे लट् । यमकम् ॥३५॥ घातीति । अत्र गिरौ । घातिनिर्मथनलब्धकेवलाः घातीनां घातिकर्मणां निर्मथनेन विनाशेन लब्धाः प्राप्ताः केवला नवकेवललब्धयो येषां[4] ते । योगिनः मुनयः । परिनिर्विवासवः सकलकर्माणि विनाशयितुमिच्छवः । प्रतरपूरणादिभिः प्रतरपूरणे आदौ येषां तैः, प्रतरपूरणप्रमुखसमुद्घातैरित्यर्थः । आयुषा आयुःकर्मणा । कर्मणां नामान्यघातिकर्मणाम् । समबलत्वं समानशक्तित्वम् । कुर्वते विदधति । लट् । स्वभावः ॥३६॥ शिखरेति । अस्मिन् गिरौ । शाखिशाखान्तरालैः शाखिनां तरूणां शाखानां शिखानामन्तरालैर्मध्यैः । प्रसृतरविकराणां प्रसृतः[5] प्रस्यन्दितो रवेः सूर्यस्य करः किरणो येषां तेषाम्[6] । शिखरमणिशिलानां शिखरे शृङ्गे विद्यमानानां मणिशिलानाम् । उल्लसन् भासमानः । रोचिरोघः रोचिषां किरणानामोघः समूहः । तडिदनुकृतिकारी तडितां विद्युतामनु [कृति] कारी सन् अनुकरणकारी सन् । अकाले असमये । शङ्किताम्भोदकालान् शङ्कित आशङ्कितोऽम्भोदस्य मेघस्य कालो

श्वासवायुसे वे उनके छिपनेका सङ्केत पाकर उन्हें खोज लेते हैं ॥३४॥ राजन् ! जरा इधर भी देखिये, तटों पर यहाँ विकसित वेतके पेड़ खड़े हुए हैं । इनमें भौंरे छिपकर बैठे हुए हैं । इन्हें हवा हिला रही है । ये तेज धूपसे मुरझाये हुए हैं । ऐसी स्थितिमें ये जड़से उखड़ जाते, किन्तु फैला हुआ यह नदियोंका प्रवाह इन्हें बचाये रहता है—इनकी रक्षा किया करता है ॥३५॥ राजन् ! यहाँ पर निर्वाणके अभिलाषी मुनियोंने चार घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) कर्मोंको नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है । अब ये प्रतर और पूरण आदि समुद्घातोंके द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातिया कर्मोंको आयु कर्मकी स्थितिके बराबर कर रहे हैं ॥३६॥ इन पर्वतके शिखरों पर मणिमय शिलाएँ पाई जाती हैं । वृक्ष-शाखाओंके बीचसे सूर्य-किरणोंके पड़नेपर उनसे बिजुलीकी भांति प्रतीत होनेवाली चमचमाती हुई ज्योति निकल पड़ती है, और वह असमयमें ही मयूरोंको वर्षाकालका धोखा उत्पन्न करके उन्हें उन्माद उत्पन्न करनेके लिए खूब अच्छी तरह समर्थ हो जाती है ॥३७॥

---

१. = यासु । २. = कम्पितः । ३. = ऊर्ध्वप्रदेशः । ४. = यैः । ५. = प्रसारं गतः । ६. = यासु तासाम् ।

तटरुहकुटजावनीरुहाणामतिमहतीषु शिखासु सक्तबिम्बः ।
जनयति रजनीषु तारकाणामिह कुसुमस्तबकश्रियं समूहः ॥३८॥
निकरैः रुचां तिमिरहानिकरैरमितैः रवेर्वियदपारमितैः ।
विहतैः स्फुरन्मणिरुचाविह तैः रजनीष्विव ग्रहपतेरजनि ॥३९॥
निष्क्रान्तैः शिखरचयान्निरन्तरालैरालीढाः सरसिजरागरश्मिजालैः ।
श्रीमत्तां दधति दिशो दशाप्यमुष्मिन्नीरक्तैरिव[1] वसनैः परिष्कृताङ्गाः ॥४०॥
सेनापतेरिति वचो ललितैकवर्णमाकर्ण्य भूमिपतिरप्रतिवार्यवीर्यः ।
तस्मिन्नुदीर्णमणिरोचिषि शैलराजे रन्तुं कियन्त्यपि दिनानि बबन्ध बुद्धिम् ॥४१॥

येस्तान् । नीलकण्ठान् मयूरान् । मदयितुं संतोषयितुम् । अलं शक्तः ॥३७। तटेति । इह गिरौ । रजनीषु रात्रिषु । तटरुहकुटजावनीरुहाणां तटरुहाणां सानुभवानां कुटजावनीरुहाणां कुटजभूरुहाणाम् । अतिमहतीषु अत्युन्नतासु । शिखासु अग्रभागेषु । सक्तबिम्बः सक्तं संबद्धं बिम्बं मण्डलं यस्य सः । तारकाणां नक्षत्राणाम् । समूहः निवहः । कुसुमस्तबकश्रियं कुसुमानां पुष्पाणां स्तबकस्य[2] मञ्जर्याः श्रियं शोभाम् । जनयति उत्पादयति । उत्प्रेक्षा[3] ॥३८॥ निकरैरिति । इह गिरौ । तिमिरहानिकरैः तिमिरस्यान्धकारस्य हानिकरैर्नाशकारिभिः । अपारम् अनन्तम् । वियत् आकाशम् । इतैः गतैः । स्फुरन्मणिरुचौ स्फुरन्त्यां प्रज्वलन्त्यां मणीनां रत्नानां रुचौ कान्त्याम् । विहतैः बाधितैः प्रतिहतैर्वा । रवेः सूर्यस्य । रुचां किरणानाम् । निकरैः समूहैः । रजनीषु रात्रिषु । ग्रहपतेः चन्द्रस्य । तैः इव किरणैर्यथा तथा । अजनि अजायत । जनैङ् प्रादुर्भावे लुङ् । उपमा ॥३९॥ निष्क्रान्तैरिति । अमुष्मिन् गिरौ । शिखरचयात् शिखराणां कूटानां चयात् निवहात् । निष्क्रान्तैः निर्गतैः । निरन्तरालैः निरन्तरैः । सरसिजरागरश्मिजालैः सरसिजरागाणां पद्मरागमणीनां रश्मीनां किरणानां जालैर्निकरैः । आलीढाः व्याप्ताः । दश अपि दशसंख्या अपि । दिशः ककुभः । नीरक्तैः नितरां रक्तैररुणवर्णैरित्यर्थः । वसनैः वस्त्रैः । परिष्कृताङ्गा इव परिष्कृतमलङ्कृतमङ्गं गात्रं यासां ता इव । श्रीमत्तां शोभावत्त्वम्[4] । दधति धरन्ति । डुधाञ् धारणे च लट् । उत्प्रेक्षा ॥४०॥ सेनापतेरिति । अप्रतिवार्यवीर्यः अप्रतिवार्यं निवारयितुमशक्यं वीर्यं प्रतापो यस्य सः । भूमिपतिः पद्मनाभः । सेनापतेः सेनान्याः । ललितैकवर्णं ललितो मनोहर एको मुख्यो वर्णो वर्णनं यस्य (ललिता मनोहरा एके मुख्या वर्णा अक्षराणि यस्मिन्) तत् । वचः वचनम् । इति एवम् । आकर्ण्य श्रुत्वा । उदीर्णमणिरोचिषि उदीर्णं व्याप्तं मणीनां रत्नानां रोचिः कान्तिर्यस्य[5] तस्मिन् । शैलराजे मणिकूटपर्वते । कियन्त्यपि कतिपयान्यपि । दिनानि दिनपर्यन्तम् । रन्तुं

इस पर्वतके तटवर्ती कुटजवृक्षोंकी बहुत लम्बी-लम्बी ऊपरी शिखाओं-चोटियों पर रात्रिके समय लगा हुआ तारा-मण्डल, फूलोंके गुच्छोंकी शोभाको उत्पन्न कर देता है ॥३८॥ यहाँ दिनमें खूब चमचमानेवाले मणियोंका तीव्र प्रकाश रहता है । अतः असीम आकाशकी सीमाओं-में फैलकर सूर्यकी जो किरणें अन्धकारको मिटा देती हैं, वे यहाँ आकर हतप्रभ हो जाती हैं, फलतः रात्रिके समय चन्द्रकिरणोंकी जैसी शोभा होती है, वैसी शोभा फैलाने लगती हैं— दिनमें सूर्य चन्द्रसरीखा हो जाता है, और उसकी किरणें चन्द्रमाकी किरणोंकी भाँति मन्दप्रकाश फैलाया करती हैं ॥३९॥ राजन् ! इधर भी दृष्टिपात कीजिए, यहाँ शिखरोंके समूहसे निकली हुई पद्मराग मणियोंकी किरणोंने सभी ओर लगातार फैलकर दसों दिशाओंको रंग दिया है— लाल कर दिया है, अतः वे ऐसी सुशोभित हो रही हैं; मानो लाल रंगके वस्त्र पहने हों ॥४०॥ सेनापतिके इन सुन्दर वर्णोंवाले वचनोंको सुनकर अप्रतिहत शक्तिवाले राजा पद्मनाभने मणियों-की जगमगाती ज्योतिसे प्रकाशमान उस मणिकूट नामक पर्वतपर कुछ दिन ठहरकर क्रीडा

१. अ °न्नारक्तैरिव । २. = गुच्छकस्य । ३. = निदर्शना । ४. आ शोभित्वम् । ५. = यस्मिन् ।

संपश्यता कुसुमवासितदिग्विभागा राजीर्गिरेरनुतटं विविधद्रुमाणाम् ।
मध्याह्नवर्तिनि रवावुदितश्रमेण प्रापे नृपेण पृतनाविनिवेशदेशः ॥४२॥
घर्मोदबिन्दुभिरुपाहितभूरिशोभा गण्डस्थलीः पथि विलोकयतः प्रियाणाम् ।
बाधाकरोऽपि शिशिरेतररश्मिरासीत्तस्याबनीतलभुजोऽभिमतस्तदानीम् ॥४३॥
द्राघीयसीरविरलं रचिता वणिग्भिरग्रे गतैः पटमयापणराजितान्ताः ।
पश्यन्क्रयाकुलजनाः क्षितिपोऽट्टवीथीरुत्तुङ्गतोरणमियाय निजं निवासम् ॥४४॥

क्रीडितुम् । बुद्धिं मतिम् । बबन्ध चकार । बधि बन्धने लिट् ॥४१॥ संपश्यतेति । गिरेः पर्वतस्य । अनुतटं तटस्य वप्रस्य समीपमनुतटम् । 'समीपे' इति समासः । विविधद्रुमाणां विविधानां नानाविधानां द्रुमाणां तरुणाम् । कुसुमवासितदिग्विभागाः कुसुमैः पुष्पैर्वासितः परिमलीकृतो दिशां ककुभां विभागो यासां[2] ताः । राजीः श्रेणीः । संपश्यता वीक्षमाणेन । रवौ सूर्ये । मध्याह्नवर्तिनि मध्याह्नि (ह्ने) मध्याह्नकाले वर्तिनि सति । उदितश्रमेण उदित उत्पन्नः श्रमः परिश्रमो यस्य तेन । नृपेण पद्मनाभेन । पृतनानिवेशदेशः पृतनायाः सेनाया विनिवेशस्य निवसनस्य[3] देशः स्थानम् । प्रापे[4] प्राप्यतेस्म । आप्लृ व्याप्तौ कर्मणि लिट्[5] ॥४२॥ घर्मोदेति । घर्मोदबिन्दुभिः घर्मोदस्य स्वेदोदकस्य बिन्दुभिः कणैः । उपाहितभूरिशोभाः[6] उपाहिताः स्वीकृता भूरयो बहुलाः शोभाः यासां ताः । प्रियाणां स्त्रीणाम् । गण्डस्थलीः कपोलप्रदेशान् । पथि मार्गे । विलोकयतः पश्यतः । तस्य राज्ञः । शिशिरेतररश्मिः सूर्यः । शिशिरस्य[7] इतर उष्णो रश्मिः किरणो यस्य सः । बाधाकरोऽपि पीडाकरोऽपि । अभिमतः इष्टः । आसीत् अभवत् । अस भुवि लङ् । घर्मोदबिन्दुकलित-नारीवदनदर्शनेन जातशीतस्यापहरणात् सूर्यस्येष्टत्वमिति भावः ॥४३॥ द्राघीति । अग्रे पुरः । गतैः यातैः । वणिग्भिः वाणिजैः । अविरलं निरन्तरं यथा तथा । रचिताः विहिताः । द्राघीयसीः दीर्घतराः । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना दीर्घशब्दस्य ईयसी-प्रत्यये द्राघी इत्यादेशः । पटमयापणराजितान्ताः पटमयैर्वस्त्रविर्मितैरापणैर्विपणिभिः राजितो भासितो मध्यप्रदेशो यासां ताः । क्रयाकुलजनाः क्रये वस्तुग्रहणे व्याकुलाः संकीर्णा जना यासु ताः । अट्टवीथीः[8] पण्यवीथिकाः । पश्यन् वीक्षमाणः । क्षितिपः राजा । उत्तुङ्गतोरणम् उत्तुङ्गमुन्नतं तोरणं बहिर्द्वारं यस्य तम् । निजं स्वकीयम् । निवासम् आलयम् । इयाय जगाम । इण् गतौ लिट् ।

करनेका विचार किया ॥४१॥ फिर राजा पद्मनाभ पर्वतकी सुषमा देखनेके लिए चल पड़ा । उस पर्वतके सभी तटोंपर नाना प्रकारके वृक्षोंकी पंक्तियाँ लगी हुई थीं, जिन्होंने अपने फूलोंकी खुशबूसे सारी दिशाओंके अन्तरालको सुगन्धित कर दिया था । उनकी छवि देखते-देखते मध्याह्न हो गया । सूर्य आकाशके ठीक मध्यमें पहुँच गया । राजाको थकानका भी अनुभव होने लगा । तब वह अपनी सेनाको ठहराने योग्य स्थानमें जा पहुँचा ॥४२॥ यों दोपहरका सूर्य सन्ताप देकर सबको पीड़ा देनेवाला होता है, किन्तु उनने पसीनेकी बूँदोंसे रानियोंके कपोलोंको बहुत अधिक सुशोभित कर दिया था । उन्हें देखकर पद्मनाभका चित्त प्रसन्न हो रहा था, और इसीलिए उसे उस समय सबको बाधा देनेवाला भी सूर्य प्रिय लग रहा था ॥४३॥ व्यापारियोंने पहले पहुँचकर बड़े-बड़े बाजारोंकी रचना कर ली थी, जो पास-पासमें कपड़े तानकर बनाई गई दूकानोंसे दर्शनीय थी । सभी बाजारोंमें ग्राहकोंकी भीड़ लगी हुई थी । सभी बजारोंको देखता हुआ राजा पद्मनाभ अपने निवासके लिए बनाये गये उस भवनमें जा पहुँचा, जिसके आगे बहुत

१. अ आ इ पश्यन् क्रिया॰ । २. =याभिः । ३. श 'निवसनस्य' इति नास्ति । ४. आ श प्रापि । ५. आ लुङ् । ६. = उपाहिता विहिता भूरिशोभा यासां ताः । ७. = शिशिराद् । ८. = हट्टवीथिकाः । 'अट्टो हट्टाट्टालकयोः' अनेका॰ २।८१ ।

यान्तीभिरात्मनिलयाय तुरङ्गिणीभिः सामन्तसंहतिभिरीशविसर्जिताभिः।
वेलाभिरुद्धततरङ्गविभङ्गुराभिरक्षुभ्यदम्बुधिरिव ध्वजिनीनिवेशः ॥४५॥

राजाधिराजवसतेर्हयमन्दुरायाः पण्याङ्गनापरिषदो विपणिव्रजस्य।
पर्याकलय्य परितो विनिवेशदेशं स्वावासभूमिरनुयायिजनेन जज्ञे ॥४६॥

वेश्यागणाः परिचितानुपचारहेतोरध्वश्रमातुरतनूननुपालयन्तः।
द्वारस्थिताः पटमयस्वनिवासपङ्क्तेर्वास्तव्यवद्ददृशिरे पृतनाजनेन ॥४७॥

प्राप्तश्चिराद्गुरुपरिश्रमखिन्नजङ्घः पर्यूहितुं[1] निजनिवासपदान्यशक्तः।
बभ्राम मुग्धधिषणः परितः स्ववर्ग्यव्याहारनादनिहितश्रवणो जनौघः ॥४८॥

जातिः ॥४४॥ यान्तीभिरिति। ईशविसर्जिताभिः ईशेन राज्ञा विसर्जिताभिः प्रहिताभिः। आत्मनिलयाय स्वगृहाय। यान्तीभिः गच्छन्तीभिः। तुरङ्गिणीभिः अश्वयुक्ताभिः। सामन्तसंहतिभिः सामन्तानां राज्ञां संहतिभिः समूहैः। ध्वजिनीनिवेशः ध्वजिन्याः सेनाया निवेशो निवासस्थानम्। उद्धततरङ्गविभङ्गुराभिः उद्धतैः प्रवृद्धैस्तरङ्गैः कल्लोलैर्विभङ्गुराभिर्वक्राभिः। वेलाभिः[2] जलविकारैः। अम्बुधिरिव समुद्र इव। अक्षुभ्यत् क्षुभ्यतिस्म ॥४५॥ राजेति। राजाधिराजवसतेः राज्ञामधिराजानां वा वसतेर्मन्दिरस्य। हयमन्दुराणां हयानां वाजिनां मन्दुराणां शालानाम्। पण्याङ्गनापरिषदः पण्याङ्गनानां गणिकानां परिषदः समूहस्य। विपणिव्रजस्य[3] विपणीनां पण्यवीथीनां व्रजस्य समूहस्य। विनिवेशदेशं निवासप्रदेशम्। परितः समन्तात्। पर्याकलय्य[4]। अनुयायिजनेन पश्चादागतेन जनेन प्रजया। स्वावासभूमिः स्वस्यात्मन आवासभूमिर्निवासभूः। जज्ञे ज्ञायते स्म। ज्ञा अवबोधने कर्मणि लिट् ॥४६॥ वेश्येति। अध्वश्रमातुरतनून् अध्वश्रमान्मार्गश्रमाद् आतुरा पीडिता तनुः शरीरं येषां तान्। परिचितान् परिचययुक्तान्। उपचारहेतोः उपचारस्य[5] विनयस्य हेतो निमित्तम्। अनुपालयन्तः वीक्षमाणाः। पटमयस्वनिवासपङ्क्तेः पटमयानां वस्त्रमयानां स्वनिवासानां निजनिलयानां पङ्क्तेः श्रेण्याः। द्वारस्थिताः[6] द्वारेषु स्थिता आसिताः। वेश्यागणाः वेश्यानां गणिकानां गणाः समूहाः। पृतनाजनेन पृतनायाः सेनाया जनेन। वास्तव्यवत् प्राक् स्थिताः[7] इव। ददृशिरे वीक्ष्यन्ते स्म। दृश् वीक्षणे[8] कर्मणि लिट्। उपमा ॥४७॥ प्राप्त इति[9]। उरुपरिश्रमखिन्नजङ्घः उरुणा महता परिश्रमेणायासेन खिन्ने बाधिते जङ्घे यस्य सः। चिरात् कालविलम्बात्। प्राप्तः आयातः। निजनिवासपदानि निजस्य स्वस्य निवासस्या-

---

बड़ा दरवाजा-प्रवेश द्वार बनाया गया था ॥४४॥ राजा पद्मनाभको ठहराकर और फिर उनसे बिदा लेकर सभी सामन्त घोड़ोंपर सवार होकर अपने-अपने ठहरनेके स्थानमें चले गये। सामन्तोंके उछलते हुए घोड़ोंसे पड़ाव ऐसा सुशोभित हो रहा था, जैसे समुद्र, उत्ताल तरङ्गोंवाले ज्वार-भाटेसे सुशोभित होता है ॥४५॥ राजाधिराज पद्मनाभ एवं अन्य सामन्तोंके निवास भवनोंको, घुड़सालको, और गणिकाओंके गण तथा बाजारोंके स्थानोंको सभी ओरसे देखकर पीछे आनेवाले प्रजाके लोगोंने यह जान लिया कि हम सभीके ठहरनेका यही स्थान है ॥४६॥ मार्गके परिश्रमसे थके-मांदे पूर्व परिचित लोगोंकी परिचर्या करनेके लिए उनकी प्रतीक्षा करनेवाला जो गणिकाओंका गण अपने-अपने तम्बुओंकी अगली पंक्तिमें खड़ा हुआ था, उसे सैनिकोंने वहींका निवासी समझा ॥४७॥ कुछ और लोग, जो सबसे पीछे आये थे, और अत्यधिक परिश्रमसे जिनकी जंघाएँ भर आई थीं—बहुत ही अधिक थक चुकी थीं, वे अपने डेरोंका स्थान खोजने-

---

१. अ आ इ पर्याहितुं। २. श 'वेलाभिः' इति नोपलभ्यते। ३. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'विपणिध्वजस्य' इत्येवावलोक्यते। ४. =समवलोक्य। ५. =परिचर्यायाः। ६. टीकायां 'द्वारस्थिताः' मूलप्रतिषु च 'द्वारि स्थिताः' इति दृश्यते। ७. =तत्रत्याः। ८. आ दशिर् प्रेक्षणे। ९. आ श प्राप्तेति।

प्रत्यग्रपाकविततं सुरभीकृताशमाघ्राय चित्तहरमिड्डुरिकादिगन्धम्[1] ।
पर्याकुलं कटकिभिः समुपव्रजद्भिः क्षुत्क्षामकुक्षिभिरजायत[2] धाम कन्द्वाः[3] ॥४९॥
शैलानिलः शिथिलकम्पितदेवदारुरच्छाच्छनिर्झरपयःकणसङ्गशीतः ।
मार्गश्रमव्ययपटुः पटमण्डप[4]स्थैर्निद्रालसैर्वसुमतीपतिभिः सिषेवे ॥५०॥
प्रस्वेदफेनलवविच्छुरिताङ्गरेखैरुत्तीर्णपल्ययनभूरिभरैस्तुरङ्गैः ।
भूवेल्लनाय परितः परिवर्तमानैरावर्तवानिव बभौ शिबिराम्बुराशिः ॥५१॥

वासस्य पदानि स्थानानि । पर्यूहितुं[5] विचारयितुम् । अशक्तः असमर्थः । मुग्धधिषणः मुग्धा मूढा धिषणा बुद्धिर्यस्य सः । स्ववर्ग्यव्याहारनादनिहितश्रवणः स्ववर्ग्याणां स्वसंबन्धिजनानां व्याहारस्य वचनस्य नादे ध्वनौ निहिते न्यस्ते श्रवणे येन सः । जनौघः जनानां लोकानामोघः समूहः । परितः समन्तात् । बभ्राम भ्रमति स्म । भ्रमू चलने लिट् । जातिः ॥४८॥ प्रत्यग्रेति । प्रत्यग्रपाक[6]विततं प्रत्यग्रेण नूतनेन पाकेन[7] विततं विस्तृतम् । सुरभीकृताशं सुरभीकृताः परिमलीकृता आशा दिशो येन तम् । चित्तहरं[8] मनःप्रीतम् । इड्डुरिका[9]दिगन्धम् इड्डुरिका[10]दीनां भक्ष्यभेदानां गन्धं परिमलम् । आघ्राय उपादाय । पर्याकुलं व्याकुलम् । समुपव्रजद्भिः समुपगच्छद्भिः । क्षुत्क्षामकुक्षिभिः क्षुधा क्षामः कृशः कुक्षिरुदरं येषां तैः । कटकिभिः सेनाजनैः । कन्द्वाः[11] खर्ज्वाः[12] । धाम स्थानम् । [पर्याकुलम्[13]] अजायत अभवत् । लङ् । जातिः ॥४९॥ शैलेति । शिथिलकम्पितदेवदारुः शिथिलं मन्दं कम्पित[14]श्चञ्चलितो देवदारुर्देवदारुवृक्षो यस्य[15] सः । अच्छाच्छनिर्झरपयः-कणसङ्गशीतः अच्छाच्छस्यात्यन्तनिर्मलस्य निर्झरस्य प्रवाहस्य पयसो जलस्य कणानां लेशानां सङ्गेन संसर्गेण शीतः शीतलः । मार्गश्रमव्ययपटुः मार्गाज्जातस्य श्रमस्यायासस्य व्यये विनाशे पटुः समर्थः । शैलानिलः शैलस्यानिलो वायुः । पटमण्डप[16]स्थैः दूष्यस्थितैः । निद्रालसैः[17] निद्रायामलसैर्लम्पटैः । वसुमतीपतिभिः भूमिपालैः । सिषेवे भज्यतेस्म । षेवृञ् सेवने कर्मणि लिट् । जातिः ॥५०॥ प्रस्वेदेति । प्रस्वेदफेनलवविच्छुरिताङ्गरेखैः प्रस्वेदस्य[18] घर्मस्य फेनस्य डिण्डीरस्य लवैः कणैर्विच्छुरिता अङ्गस्य[19] अवयवस्य रेखा शोभा येषां तैः । उत्तीर्ण-पल्ययनभूरिभरैः उत्तीर्णोऽवरोहितः पल्ययनस्य पर्याणस्य भूरिर्बहुलो भरो[20] येषां तैः । भूवेल्लनाय भुवि भूमौ वेल्लनाय विलोडनाय । परितः समन्तात् । परिवर्तमानैः परिभ्रमद्भिः । तुरङ्गैः अश्वैः । शिबिराम्बुराशिः

में असमर्थ थे । अतएव वे भोले-भाले लोग अपने वर्गके लोगोंकी पुकारकी आवाज सुननेकी प्रतीक्षामें इधर-उधर चक्कर काटने लगे ॥४८॥ भोजनालयमें ताजा पक्का भोजन बन रहा था । पूरियों एवं और-और पकवानोंकी मनोहर खुशबूको—जिसने सारी दिशाओंको सुगन्धित कर दिया था—सूँघकर अत्यन्त भूखे सैनिक बड़ी तेजीसे आगे बढ़े, और उनके पहुँचते ही हलवाइयोंका सारा-का-सारा स्थान घिर गया ॥४९॥ निद्रासे अलसाये हुए राजाओंने अपने-अपने तम्बुओंमें मणिकूट पर्वतकी उस वायुका सेवन किया, जो धीरे-धीरे देवदार वृक्षोंको हिला रही थी अर्थात् उनके स्पर्शसे सुगन्धित थी, अत्यन्त स्वच्छ झरनोंकी जल बिन्दुओंसे ठण्डी थी और इसीलिए रास्तेकी थकानको दूर करनेमें समर्थ भी ॥५०॥ घोड़ोंके शरीरमें पसीने पर लगी हुई फेनकी छोटी-छोटी बिन्दुओंसे अपूर्व शोभा उत्पन्न हो गई थी । उनके ऊपरसे जीन

---

१. अ मिण्डरिका°, आ °मिड्वरिका°, इ °सिड्वरिका° । २. म °रज्ञायत । ३. अ आ द्र क ख ग घ कण्ड्वाः । ४. म °मण्डलस्थै° । ५. श पर्याहितुं । ६. श प्रत्यग्रवात° । ७. श वातेन । ८. = मनोहरम् । ९. आ इन्दुरिका° । १०. आ इन्दुरिका° । ११. आ कुन्द्वाः, श कण्ड्वाः । १२. आ भर्जाः । १३. =क्षुब्धं व्याप्तं वा । १४. = विधुतः । १५. = येन । १६. आ °मण्डल° । १७. = निद्रया अलसैः सालसैः । १८. = घर्मजलस्य । १९. = शरीरस्य रेखाः पङ्क्तयः । २०. = भारो ।

अन्योन्यदर्शनसमुच्चरितेन[1] भूयः संमूर्च्छताद्रिविवरे हयहेषितेन।
सेनाचरैर्बधिरितश्रुतिभिर्मुहूर्तं मूकैरिव प्रकृतवस्तुकथासु तस्थे॥५२॥
मध्येजलं प्रकटचञ्चलपृष्ठभागे पानाय सप्तिनिकरे परितोऽवतीर्णे।
संचारितोद्रिसदृशैः शलिलाशयानां प्राचुर्यवद्भिरिव वीचिचयैर्बभूवे॥५३॥
पीताम्भसः श्रमलवानिव वारिबिन्दुव्याजेन वाजिनिवहाः स्नपिताः क्षरन्तः।
संयेमिरे युगपदेव समापतन्तः क्षिप्तोलपास्वथ[3] कथंचन मन्दुरासु॥५४॥

शिबिरमेवाम्बुराशिः समुद्रः। रूपकम्। आवर्तवानिव[4] रोमावर्तयुक्त इव। बभौ भाति स्म। लिट्। उत्प्रेक्षा॥५१॥ अन्योन्येति। भूयः भृशम्[5]। अन्योन्यदर्शनसमुच्चरितेन[6] अन्योन्यदर्शनेन परस्परदर्शनेन समुच्चरितेन समुद्भूतेन। अद्रिविवरे अद्रेः पर्वतस्य विवरे गुहायाम्। संमूर्च्छता प्रतिध्वनिं कुर्वता। हयहेषितेन हयानां तुरगाणां[7] हेषितेन रवेण। बधिरितश्रुतिभिः बधिरिते श्रुती कर्णौ येषां तैः। सेनाचरैः ध्वजिनीचरैः[8]। प्रकृतवस्तुकथासु प्रकृतस्य प्रस्तुतस्य वस्तुनः कार्यस्य कथासु कथनेषु। मुहूर्तं[9] मुहूर्तपर्यन्तम् मूकैरिव अभाषणैरिव। तस्थे आस्यते स्म। ष्ठा गतिनिवृत्तौ भावे लिट्। उपमा (उत्प्रेक्षा)॥५२॥ मध्ये जलमिति। [मध्ये जलं] जलस्य मध्यं मध्येजलं तस्मिन्, जलमध्ये, इत्यर्थः। 'पारे मध्येऽन्तष्षष्ठ्या' इति साधुः। प्रकटचञ्चलपृष्ठभागे प्रकटो व्यक्तः चञ्चलः पृष्ठभागो यस्य तस्मिन्। सप्तिनिकरे सप्ति (प्ती) नामश्वानां निकरे निवहे। पानाय पाननिमित्तम्। परितः समन्तात्। अवतीर्णे[10] सति याते[11] सति। संचारिमाद्रिसदृशैः संचारिमाणां[12] चलनयुक्तानाम्। अद्रीणां पर्वतानां सदृशैः समानैः प्राचुर्यवद्भिः बाहुल्यसहितैः। सलिलाशयानां जलाशयानाम्। वीचिचयैरिव वीचीनां तरङ्गाणां चयैरिव निकरैरिव। बभूवे भूयते स्म। भावे लिट्। उपमा[13]॥५३॥ पीतेति। अथ वाजिनां जलपानगमनानन्तरम्[14]। पीताम्भसः पीतं सेवितमम्भो यैस्ते। स्नपिताः मज्जिताः[15]। युगपदेव सकृदेव। समापतन्तः[16] लङ्घयन्तः वारिबिन्दुव्याजेन[17] वारिणो जलस्य बिन्दुरिति कण इति व्याजेन। श्रमलवान् श्रमलेशान् क्षरन्त इव विमुञ्चन्त इव। वाजिनिवहा वाजिनामश्वानां निवहाः

तथा और जो भी बोझ था, उतार लिया गया और पृथवी पर लोट लगवानेके लिए उन्हें गोल दायरोंमें घुमाया जा रहा था। उनसे पड़ाव रूपी समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो वह बड़ी-बड़ी भँवरोंसे युक्त हो॥५१॥ एक दूसरेको देखकर घोड़े हिनहिनाने लगे। पहाड़की गुफाओंमें प्रतिध्वनित होनेसे उनकी हिनहिनाहटकी आवाज और भी अधिक बढ़ गई। फलतः सेनामें सञ्चार करनेवाले लोगोंके कान बहरे हो गये, अतः वे अपनी प्रारम्भकी गई चर्चाओंमें कुछ समय तक, मूक-से होकर चुप-चाप बैठकर रह गये—उन्होंने आपसकी चर्चा बन्द कर दी॥५२॥ पानी पीनेके लिए घोड़ोंका झुण्ड, जब चारों ओरसे जलाशयोंमें उतरकर उनके बीच तक पहुँच गया, तब उनकी चञ्चल पीठ स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो रही थी। उनकी पीठकी चञ्चलताके कारण उन जलशयोंमें बड़ी-बड़ी लहरें प्रचुर मात्रामें उत्पन्न हो गईं, जो जङ्गम पहाड़ियों सरीखी प्रतीत हो रहीं थीं॥५३॥ जल पीनेके बाद नहलाये गये घोड़े जब जलाशयोंसे निकलकर बाहर आ गये, तब उनके शरीरसे जल-बिन्दु टपक रहे थे, जो पसीनेके बिन्दुओं सरीखे जान पड़ते थे। फिर वे एक ही साथ घुड़सालोंमें घुसने लगे।

१. क ख ग घ म °मुच्छलितेन। २. आ इ संचारिता°। ३. आ इ °लवास्त्वथ, क ख ग घ म °पलास्वथ। ४. ='स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरवचनादत्राम्भसां भ्रम इव—इति स्यात्। ५. आ 'भूयः भृशम्' इति नास्ति। ६. मूलप्रतिषु तु '°समुच्छलितेन' इत्येव वर्तते। ७. श तुरङ्गाणां। ८. आ ध्वजनीभिः। ९. = स्वल्पकालं यावत्। १०. = प्रविष्टे। ११. आ संयाते। १२. = जङ्गमानाम्। १३. = उत्प्रेक्षा च। १४. आ जलपानानन्तरम्। १५. श मार्जिताः। १६. = समुत्तरन्तः। १७. = वारिणो जलस्य बिन्दूनां कणानां व्याजेन च्छलेन।

तोयावगाहचलितैरलिनीलदेहैरुत्सारितध्वजकुथाभरणास्त्रभारैः[1] ।
कल्पान्तमारुतपरिक्षुभितैरिवाद्रिराजै[2] रराज वसुधा वरवारणेन्द्रैः ॥५५॥
यानि द्विपेन्द्रनिवहो निजपुष्कराणि संजाततुष्टिरुदमीमिलदम्बुमग्नः ।
तान्येव सैनिकविलुण्ठितवारिजेषु रक्ताम्बुजश्रियमधुः सलिलाशयेषु ॥५६॥
कुर्वन्ति यामनुकृताचलतुङ्गशृङ्गाः संध्यारुणाभ्रनिवहा नभसस्तटेषु ।
सा श्रीर्ह्रदेषु सरितां विदधे विशद्भिः सिन्दूररागरुचिरावयवैर्गजेन्द्रैः ॥५७॥

समूहाः । क्षिप्तोलपासु[3] क्षिप्ताः स्थापिता उलपाः तृणादयो यासु तासु । मन्दुरासु वाजिशालासु । कथंचन कथमपि । संयेमिरे बध्यन्ते स्म । यम उपरमे कर्मणि लट् । उपमा[4] ॥५४॥ तोयेति । तोयावगाहचलितैः तोयस्य जलस्यावगाहाय प्रवेशाय चलितैर्यातैः । अलिनीलदेहैः अलय इव नीलाः कृष्णा देहाः शरीराणि येषां तैः । उत्सारितध्वजकुथाभरणास्त्रभारैः उत्सारिता अवरोहिता[5] ध्वजाः पताकाः कुथाः करिकम्बलाः आभरणान्यलङ्कारा अस्त्राणि दन्तखङ्गास्तेषां भारो येषां तैः । वरवारणेन्द्रैः वरैरुत्तमैर्वारणेन्द्रैर्गजेन्द्रैः । कल्पान्तमारुतपरिक्षुभितैः कल्पान्तस्य युगावसानस्य मारुतेन संवर्तकवायुना परिक्षुभितैश्चलितैः । अद्रिराजैरिव अद्रीणां पर्वतानां राजभिरिव । वसुधा भूमिः । रराज बभौ । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥५५॥ यानीति । अम्बुमग्नः अम्बुनि जले मग्नो लीनः । संजाततुष्टिः संजाता संभूता तुष्टिर्यस्य[6] सः । द्विपेन्द्रनिवहः द्विपेन्द्राणां निवहो निकरः । यानि निजपुष्कराणि स्वहस्ताग्राणि । उदमीमिलत् उदधीधरत्[7] । मिल निमेषणे णिजन्ताल्लङ् । तान्येव निजपुष्कराण्येव । सैनिकविलुण्ठितवारिजेषु सैनिकैः सेनाचरैर्विलुण्ठितानि लुञ्चितानि[8] वारिजानि कमलानि येषु[9] तेषु । सलिलाशयेषु जलाधारेषु । रक्ताम्बुजश्रियं रक्तानामरुणानामम्बुजानां कमलानां श्रियं शोभाम् । अधुः धरन्ति स्म । डुधाञ् धारणे च[10] लुङ् ।।५६॥ कुर्वन्तीति । अनुकृताचलतुङ्गशृङ्गाः अनुकृतानि दृष्टान्तीकृतानि अचलानां पर्वतानाम् इव तुङ्गान्युन्नतानि शिखराणि येषां[11] ते । सन्ध्यारुणाभ्रनभसः सन्ध्यायां सन्ध्याकालेऽरुणं लोहितमभ्रं मेघा यस्य तस्य (सन्ध्यारुणाभ्रनिवहाः सन्ध्यायाः सन्ध्याकालस्यारुणानां ताम्रवर्णानामरुणवर्णानां वाऽभ्राणां मेघानां निवहाः समूहाः) । नभसः आकाशस्य । तटेषु प्रदेशेषु । यां शोभाम् । कुर्वन्ति विदधति । लट् । सरितां नदीनाम् । ह्रदेषु अगाधजलेषु । विशद्भिः गच्छद्भिः । सिन्दूररागरुचिरावयवैः

वहाँ उनके बाँधनेके लिए पहलेसे ही बड़े-बड़े पत्थर डाल दिये गये थे, उनसे वे बड़ी कठिनाईसे बाँध दिये गये ॥५४॥ ध्वजाएँ, झूल, आभूषण और अस्त्र—इन सबका बोझ उतारकर जब भौंरोंके समान काले शरीरवाले श्रेष्ठ हाथी जलमें प्रवेश करनेके लिए चले तब उनसे व्याप्त हुई पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी मानो वह प्रलयकालकी वायुकी प्रेरणासे लुढ़कनेवाले पहाड़ोंसे घिर गई हो ॥५५॥ जलाशयोंके जलमें प्रवेश करके हाथियोंके झुण्डने डुबकी साध ली । इससे उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ । इस अवसरपर उन्होंने अपनी-अपनी सूंड़के जिन अगले भागोंको जलके ऊपर (श्वास लेनेके लिए) कर रखा था, उन्होंने सैनिकोंके द्वारा जलाशयोंके तोड़े गये कमलोंके स्थानमें नवीन लाल कमलोंकी शोभा उत्पन्न कर दी ॥५६॥ पहाड़ोंके उन्नत शिखरोंका अनुकरण करनेवाले सन्ध्याकालीन लाल बादल आकशके ओर-छोरके भागोंमें जो शोभा फैलाते हैं, उसी शोभाको सिदूरसे रंगे हुए सुन्दर अवयवोंको धारण करनेवाले गज-

१. क ख ग घ म °गाहचकितैः । २. क ख ग घ म °द्रिकूटै° । ३. आ क्षिप्तोपलासु । 'उलपस्तु गुल्मिनीतृणभेदयोः' अनेका० ३।४६९ । ४. =कैतवापह्नुतिश्च । ५. आ 'उत्सारिता अवरोहिताः' इति नास्ति । ६. श तुष्टिः पुष्टिर्यस्य । ७. आ 'उदधीधरत' इति नास्ति । ८. = अपहृतानि । ९. = येषां । १०. आ धारणपोषणयोः । ११. = यैः ।

जज्ञे पयः प्रविशतः सुतरं यदेव भूभृत्सरित्सु पृतनाकरिणां कुलस्य ।
गण्डस्थलप्रविगलन्मदपूरपूर्णमासीत्तदेव सुदुरुत्तरमुत्तितीर्षोः ॥५८॥
कृत्वा क्षणं जनकुतूहलकारि युद्धं दर्पोद्धुरै[1]र्जलगजैर्जितकाशिनस्ते ।
जग्मुः सलीलमदमन्दपदं करेणुपाश्चात्यभागनिहितात्मकराः करीन्द्राः ॥५९॥
वन्येभगण्डकषणाहितदानगन्धे नीतस्तरौ नियमनाय करी नियन्त्रा ।
रोषाद् बभञ्ज निजतापनुदोऽस्य शाखा न श्रेयसे खलु भवत्यपदेऽपि कोपः ॥६०॥

सिन्दूररागेण वर्णेन रुचिरो मनोहरोऽवयवो येषां तैः । गजेन्द्रैः द्विपेन्द्रैः । सा श्रीः सा शोभा । विदधे क्रियते स्म । कर्मणि लट् ॥५७। जज्ञे इति । यदेव । भूभृत्सरित्सु भूभृतो गिरेः सरित्सु नदीषु । पयः सलिलम् । प्रविशतः गच्छतः । पृतनाकरिणां पृतनायाः सेनायाः करिणां गजानाम् । कुलस्य निकरस्य । सुतरं सुखेन तरणयोग्यम् । जज्ञे जायते स्म । जनैङ्[2] प्रादुर्भावे लिट् । तदेव[3] । गण्डस्थलप्रविगलन्मदपूरपूर्णं गण्डस्थलात् कपोलप्रदेशात् प्रविगलतः प्रस्रवतो मदस्य मदजलस्य पूरेण प्रवाहेण पूर्णं परिपूर्णम् । उत्तितीर्षोः उत्तर्तुमिच्छोः । सुदुरुत्तरं कष्टेनोत्तरणयोग्यम् । आसीत् । अस भुवि लङ् ॥५८॥ कृत्वेति । दर्पोद्धुरैः दर्पेण गर्वेणोद्धुरैः प्रवृद्धैः । जलगजैः जले समुद्भूत (तैः) गजैः । जनकुतूहलकारि जनानां सेनाजनानां कुतूहलकारि आश्चर्यकारि । युद्धं योधनम् । क्षणं स्वल्पकालपर्यन्तम् । कृत्वा विधाय । जितकाशिनः जितमानिनो जितसंग्रामिणो वा । करेणुपाश्चात्यभागनिहितात्मकराः करेणूनां करिणीनां पाश्चात्ये पश्चाद्भवे भागे निहिताः स्थापिता आत्मनां स्वेषां कराः येषां[4] ते । करीन्द्राः गजेन्द्राः । सलीलमदमन्दपदं सलीलं विलासयुक्तं मदेन मदजलेन मन्दमलसं पदं यस्मिन् कर्मणि तत्० । जग्मुः ययुः । लिट् । जातिः ॥५९॥ वन्येभेति । वन्येभगण्डकषणाहितदानगन्धे वन्यानां वनेभवानामिभानां गजानां गण्डानां कपोलानां कषणेन कर्षणेनाहितः संबद्धो दानस्य मदजलस्य गन्धो यस्मिन् तस्मिन् । तरौ वृक्षे । नियन्त्रा हस्तिपकेन । नियमनाय बन्धाय । नीतः प्रापितः । करी गजः । निजतापनुदः निजस्यात्मनस्तापस्य नुदो विनाशकस्य । अस्य तरोः । शाखाः शिखाः[5] । रोषात् कोपात् । बभञ्ज भञ्जनं करोतिस्म । भंजो[6] अवमर्दने लिट् । अपदेऽपि अस्थानेऽपि । कोपः क्रोधः । श्रेयसे सुखाय ।

राजोंने उन सरोवरोंके किनारोंपर उत्पन्न कर दिया, जिनके अगाध जलमें वे प्रवेश कर रहे थे ॥५७॥ पहाड़ी नदियोंमें प्रवेश करनेवाले सेनाके हाथियोंके झुण्डको उन (नदियों) का जो जल आसानीसे तैरने योग्य था, वही उन (हाथियों) के गण्डस्थलोंसे बहे हुए मदजलके प्रवाहसे पूर्ण होकर (बाढ़ जैसी अवस्थाको पाकर), लौटनेकी इच्छा करनेवाले हाथियोंके उसी झुण्डको आसानीसे तैरने योग्य नहीं रहा ॥५८॥ दर्पमें चूर रहनेवाले उद्धत जलहस्तियोंके साथ, थोड़ी देर, सैनिकोंको कौतूहलजनक युद्ध करके विजयका गर्व करनेवाले वे गजराज हथिनियोंके पिछले भागोंपर अपनी-अपनी सूंड़ रखकर विलासपूर्ण मन्दगतिसे अपने स्थानकी ओर चल पड़े ॥५९॥ जङ्गली हाथीने अपना गण्डस्थल जिस पेड़से घिसा था और अपने मदजलकी गन्धसे सुगन्धित कर दिया था, उसीसे बाँधनेके लिए महावत एक हाथीको लिवाकर ज्योंही पहुँचा, त्योंही उसने क्रुद्ध होकर अपने सन्तापको मिटानेवाले उसी पेड़की सारी शाखाओंको तोड़ डाला । बादमें उसे स्वयं गर्मी सहनी पड़ी । सच है अयोग्य स्थानमें भी किया गया

---

१. क ख ग घ म दर्पोद्धतैं । २. आ जनी । ३. =पयः । ४. =यैः । ५. श शिफाः । ६. आ भंज ।

आनीलनीरदनिभैः प्रविशालवंशैर्नागैः प्रवृत्तमदनिर्झरवारिपूरैः[1]।
रेजे समुन्नतमहीरुहमूलबद्धैस्तैर्जङ्गमैरिव निजावयवैर्गिरीन्द्रः ॥६१॥
यत्सल्लकीकिसलयं रुचये रुचिज्ञा ग्रासान्तरेषु ददिरे[2] खलु हस्तिपालाः।
तत्प्रत्युपाहितवनस्मृति वारणेन्द्रं[3] सावज्ञमेव कवलग्रहणे चकार ॥६२॥
उत्तीर्णभारलघवः परितो महोक्षाः पीताम्भसः श्रमभिदां नगनिम्नगानाम्।
कूलानि बभ्रमुरुदाररवाः खनन्तः शान्त्यै भवत्युपकृतं क्व खलप्रियेषु ॥६३॥

न भवति खलु। अर्थान्तरन्यासः ॥६०॥ आनीलेति। आनीलनीरदनिभैः आनीलानामासमन्तान्नीलानां कृष्णानां नीरदानां मेघानां निभैः समानैः। प्रविशालवंशैः प्रविशाला विस्तीर्णा वंशाः पृष्ठास्थीनि[4], (पक्षे) वेणवश्च येषां तैः। प्रवृत्तमदनिर्झरवारिपूरैः प्रवृत्तः स्थितो मदस्य (मदजलस्य, पक्षे) निर्झरस्य प्रवाहस्य वारिणो जलस्य पूरः प्रवाहो येषां तैः। समुन्नतमहीरुहमूलबद्धैः समुन्नतानामत्युन्सेधानां महीरुहाणां वृक्षाणां मूलेषु[5] पक्षे बुध्नेषु बद्धैर्नियोजितैः। तैः नागैः गजैः। जङ्गमैः गमनयुक्तैः। निजावयवैः (इव) स्वशरीरैरिव। गिरीन्द्रः मणिकूटः। रेजे बभौ। राजृ दीप्तौ लिट्। श्लेषोपमा ॥६१॥ यदिति। रुचिज्ञाः[6] हस्तिपालाः गजरक्षकाः। यत् सल्लकीकिसलयं यत् सल्लक्या गजभक्ष्यायाः किसलयं पल्लवम्। रुचये[7] स्वादुनिमित्तम्। ग्रासान्तरेषु ग्रासस्य कवलस्यान्तरेषु मध्येषु। ददिरे यच्छन्ति स्म। डुदाञ् दाने लिट्। खलु[8]। तत्[9] प्रत्युपाहितवनस्मृति प्रत्युपाहिता आनीता वनस्यारण्यस्य स्मृतिर्यस्य[10] तत्, सत्। वारणेन्द्रं गजेन्द्रम्[11]। कवलग्रहणे कवलस्य ग्रासस्य ग्रहणे स्वीकारे। सावज्ञमेव उदासीनमेव। चकार करोति स्म। लिट् ॥६२॥ उत्तीर्णेति। उत्तीर्णभारलघवः उत्तीर्णेनावतीर्णेन भारेण लघवो लघु (लाघव–) युक्ताः। पीताम्भसः पीतमम्भो जलं येषां[12] ते। उदाररवाः उदारो महान् रवो रावो येषां ते। श्रमभिदां श्रमविनाशकारिणीनाम्। नगनिम्नगानां नगस्य निम्नगानामापगानाम्। कूलानि तीराणि। खनन्तः खननं कुर्वन्तः। महोक्षाः[13] महावृषभाः। परितः समन्तात्। बभ्रमुः भ्रमन्ति स्म। लिट्। खलप्रियेषु खले पिण्याके पक्षे दुर्जनेषु प्रियेषु प्रीतेषु। उपकृतं[14]

क्रोध कल्याणकारी नहीं होता ॥६०॥ धीरे-धीरे सभी हाथी पेड़ोंके स्कन्धोंसे बाँध दिये गये। वे मणिकूट पर्वतके जङ्गम अङ्गोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। पर्वतके अङ्ग मेघोंके समान होते हैं, बड़े-बड़े बाँसोंसे युक्त होते हैं, बहते हुए झरनोंसे युक्त होते हैं और उन्नत वृक्षोंकी जड़ोंसे घिरे हुए होते हैं। इसी प्रकार वे सभी हाथी काले बादलोंकी भाँति काले रंगके थे, उनकी रीढ़ उभरी हुई थी, उनके गण्डस्थलोंसे मदजलके झरने बह रहे थे और उन्नत वृक्षोंके नीचे उनके स्कन्धोंसे बँधे हुए थे ॥६१॥ हाथियोंकी रुचिको जाननेवाले महावतोंने, उन (हाथियों) की रुचि बढ़ानेके लिए भोजनके ग्रासोंके बीच-बीचमें जो सल्लकी वृक्षकी नई-नई कोंपलें दीं, उन्होंने हाथियोंको जङ्गलोंकी स्मृति दिला दी और रुचि बढ़ानेके स्थानमें उल्टी अरुचि बढ़ा दी तथा उन्हें कवल गृहण करनेमें उदासीन कर दिया ॥६२॥ सेनाका बहुत-सा सामान बड़े-बड़े बैलोंकी पीठपर लदा हुआ था। मणिकूटके पड़ावपर ज्योंही उनकी पीठसे बोझिल सामान उतारा गया त्योंही उन्हें हल्केपनका अनुभव होने लगा। वे बहुत थके हुए थे और थे खूब प्यासे। अतः थोड़ी देर बाद उन्होंने थकान मिटानेवाली पहाड़ी नदियोंका पानी पिया। फिर वे डकारते हुए और उन नदियोंके किनारोंको सींगों और अगले पैरोंसे खोदते हुए चारों

---

१. क ख ग घ म सुविशाल°। २. आ इ ददिरे। ३. आ इ वारणेन्द्रः। ४. आ पृष्ठास्थीनि। ५. = अधोभागेषु। ६. = रुचिं गजरुचिं जानन्तीति रुचिज्ञाः। ७. = रुचिवर्धनाय। ८. = निश्चयेन। ९. = किसलयम्। १०. = येन। ११. श 'गजेन्द्रम्' इति पदं नास्ति। १२. = यैः। १३. आ महाक्षाः। १४. = उपकारः।

छायासु यत्क्षितिरुहां तृणतोयतृप्तै रोमन्थतत्परमुखैर्वृषभैर्बभूवे ।
तन्नूनमध्वजपरिश्रम एव तेन व्याजेन तैरलसनेत्रयुगैश्चचर्वे ॥६४॥
विच्छिन्नकर्णसुखकृन्निजकाकलीकमश्रावि किंनरगणैः कटु कन्दरस्थैः ।
भारावतारसमये रसितं मयानां रम्यं कुतूहलकरं न यथा ह्यपूर्वम् ॥६५॥
क्षुद्रेतरक्षितिरुहां करभैः प्रवालजाले भृशायतशिरोधिभिरश्यमाने ।
क्षीरापदेशमगलत्[1]प्रमदाश्रु नूनं[2] युक्तः परार्थघटने महतां प्रमोदः ॥६६॥

कृतहितम् । शान्त्यै उपशमाय । क्व भवति कुत्र भवति ? अर्थान्तरन्यासः ॥६३॥ छायास्विति । क्षितिरुहां वृक्षाणाम् । छायासु अनातपेषु । तृणतोयतृप्तैः तृणतोयाभ्यां तृणोदकाभ्यां तृप्तैः[3] प्रीतैः । रोमन्थतत्परमुखैः रोमन्थे चर्वितचर्वणे तत्परं[4] प्रा(स)क्तं मुखं येषां तैः । वृषभैः अनड्‌द्भिः । बभूवे भूयते स्म । इति भावे लिट् । इति[5] यत् तत् । अलसनेत्रयुगैः अलसमालस्ययुक्तं नेत्रयुगं येषां तैः । तैः वृषभैः । तेन रोमन्थेन । व्याजेन छद्मना । अध्वपरिश्रम इव मार्गश्रम इव । चचर्वे भक्ष्यते स्म । चर्व अदने कर्मणि लिट् । नूनं[6] निश्चयम् । अपह्नुतिः ॥६४॥ विच्छिन्नेति । भारावतारसमये भारस्यावतारस्यावरोहणस्य समये काले । मयानाम्[7] उष्ट्राणाम् । कटु निष्ठुरम् । रसितं ध्वनिः । कन्दरस्थैः गह्वरस्थितैः । किंनरगणैः किंनराणां देवभेदानां गणैर्निकरैः । विच्छिन्नकर्णसुखकृन्निजकाकलीकं विच्छिन्नयोः स्थापितयोः (विच्छिन्ना अवरुद्धा) कर्णयोः श्रोत्रयोः सुखकृदानन्दकरी निजानां स्वेषां काकली यस्मिन् कर्मणि तत्० । अश्रावि श्रूयते स्म । श्रु श्रवणे कर्मणि लुङ् । अपूर्वं नवीनम् । यथा हि कुतूहलकरम् आश्चर्यकरम् । तथा हि रम्यं मनोहरं वस्तु न—कुतूहलकरं न भवति, अपूर्वं वस्तु यथा कुतूहलकरं तथा रम्यं वस्तु कुतूहलकरं न भवतीत्यर्थः । अत्र तु यो (किं—) नराणां निजकाकलीध्वनी रम्योऽपि अपूर्णन पूर्वस्मिन् मतत्वात् (?) (सोऽपूर्वो न; पूर्वस्मिन्नपि समये श्रुतत्वात्) । मयानां ध्वनिरपूर्वः प्रागश्रुतत्वात् । अत एव मधुर[8]मपि स्वकीयं तं हित्वा स एव श्रुत इत्यभिप्रायः । अर्थान्तरन्यासः ॥६५॥ क्षुद्रेति । क्षुद्रेतरक्षितिरुहां क्षुद्राणाम् (क्षुद्रेभ्यः) इतरे महान्तस्तेषां क्षितिरुहां वृक्षाणाम् । प्रवालजाले प्रवालानां पल्लवानां जाले समूहे । भृशायतशिरोधिभिः भृशमत्यन्तमायतः (ता) शिरोधिः कन्धरो (रा) येषां तैः । करभैः उष्ट्रैः । अश्यमाने भक्ष्यमाणे सति । क्षीरापदेशं[9] क्षीरमित्यपदेशं व्यपदेशयुक्तम् । प्रमदाश्रु आनन्दबाष्पं । अगलत् अस्रवत् । गल विमोचने लङ् । नूनं महतां महापुरुषाणाम् । परार्थघटने परेषामन्येषामर्थस्य प्रयोजनस्य घटने संपादने । प्रमोदः संतोषः । युक्तः योग्यः । अर्थान्तरन्यासः

ओर विचरने लगे । क्या खल (खली) जनोंसे प्रेम करनेवालोंके साथ किया गया उपकार कहीं उन्हें शान्त करनेवाला हो सकता है ? ॥६३॥ घास-पानीसे तृप्त होकर वे बैल वृक्षोंकी छायामें बैठकर एवं आलस भरे नेत्रोंको बन्द करके रौंथ-पागुर करने लगे । यह देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो वे रौंथके बहाने मार्गके परिश्रमका चर्वण कर रहे हों ॥६४॥ बोझ उतारते समय ऊँटोंने जो कर्ण कटु शब्द किया, उसे गुफाओंमें बैठे हुए गन्धर्वोंके गणने अपने सङ्गीतकी, कानोंको सुख देनेवाली मधुर ध्वनिको बन्द करके सुना । सच तो यह है कि सुन्दर वस्तु वैसा कौतूहल उत्पन्न नहीं करती जैसा अपूर्व वस्तु करती है । ऊँटोंका सङ्गीत गन्धर्वोंको बिलकुल नया था, अतः उसे उन्होंने अपना सङ्गीत बन्द करके सुना ॥६५॥ ऊँटोंने अपनी गर्दनको खूब लम्बा करके जब बड़े-बड़े पेड़ोंकी नई-नई पत्तियोंको खाना शुरू किया, तब उनसे दूध झरने लगा, दूध क्या झरने लगा, उसके बहानेसे निश्चय ही उनके हर्षाश्रु बहने लगे । परो-

---

१. आ इ देशमगमत् । २. अ °प्रमदाश्रमन्त्रं° । ३. = संतुष्टैः । ४. = संलग्नं । ५. आ 'इति' नास्ति । ६. = निश्चयेन । ७. श मयूनाम् । ८. श मधुरमधुर° । ९. = क्षीरापदेशं यथा स्यात्तथा ।

चन्द्राकारस्थलममलिनोत्तुङ्गडिण्डीरपिण्ड-
श्चञ्चद्वाजिव्रजमविरतोद्भ्रान्तकल्लोलमालः ।
सर्पन्मत्तद्विपमभिसरन्नक्रचक्रो जयेत्तं
स्कन्धावारं यदि कथमपि स्यादपारः पयोधिः ॥६७॥
इति तत्र गिरौ निविष्टसैन्यं चरवक्त्रादवगम्य पद्मनाभम् ।
स्वबलेन समं समेत्य कोपात्पृथिवीपालनृपोऽन्तिके बभूव ॥६८॥
तयोर्द्वयोरपि नृपयोः प्रतापिनोर्विलोकितुं बलमिव जातकौतुका ।
समाययौ सपदि शशाङ्कभूषणा विभावरी विकसिततारकेक्षणा ॥६९॥

॥६६॥ चन्द्रेति । अमलिनोत्तुङ्गडिण्डीरपिण्डः अमलिनं (नः) निर्मलम् (लः) उत्तुङ्गानामुन्नतानां डिण्डीराणां फेनानां पिण्डं (ण्डः) यस्य सः । अविरतोद्भ्रान्तकल्लोलमालः अविरतमनवरतमुद्भ्रान्ता ऊर्ध्वं गता कल्लोलानां तरङ्गाणां माला यस्य सः । अभिसरन्नक्रचक्रः अभिसरत् लुठत्[1] नक्राणां[2] जलचरविशेषाणां चक्रं यस्य सः । पयोधिः समुद्रः । चन्द्राकारस्थूलं चन्द्रवदाकारं शुभ्राकारं स्थूलं पटमण्डपो यस्य तम् । 'दूष्यं स्थूलं पटकुटी' इति वैजयन्ती । चञ्चद्वाजिव्रजं चञ्चन् भ्राजमानो वाजिनामश्वानां व्रजः समूहो यस्य तम् । सर्पन्मत्तद्विपं सर्पन्तस्संचरन्तो मत्तद्विपा मदगजा[3] यस्मिन् तम् । तं स्कन्धावारं[4] पदृणं । यदि कथमपि[5] केन प्रकारेणापि । जयेत् विजयेत् । जि ज्री[6] अभिभवे । लिङ्[7] । तर्हि अपारः स्यात् । यथासंख्यम् ॥६७॥ इतीति । इति एवम् । निविष्टसैन्यं निविष्टसेनम्[8] । पद्मनाभं पद्मनाभभूपम् । चरवक्त्रात् चराणां[9] भृत्यानां वक्त्राद् मुखात् । अवगम्य ज्ञात्वा । पृथिवीपालनृपः[10] पृथिवीपालभूपः । स्वबलेन स्वसेनया । समं साकम् । कोपात् क्रोधात् । समेत्य आगत्य । अन्तिके पद्मनाभस्य सेना[11] समीपे । बभूव भवति स्म ॥६८॥ तयोरिति । प्रतापिनोः प्रतापयुक्तयोः । तयोः द्वयोः अपि पद्मनाभपृथिवीपालभूपयोः । बलं चतुरङ्गसैन्यम् । विलोकितुं वीक्षणाय इव । जातकौतुका जाताश्चर्या । शशाङ्कभूषणा शशाङ्कश्चन्द्र एव भूषणमाभरणं यस्याः सा । विकसिततारकेक्षणा विकसिता उदिता तारका नक्षत्राणि ता एव ईक्षणे नयने यस्याः सा । विभावरी रात्रिः ।

पकार करते समय बड़ोंको प्रमोद मनाना ही उचित है ॥६६॥ इस पड़ाव और समुद्रमें अद्भुत साम्य है । पड़ावमें चन्द्रमाके आकारके गोल और शुभ्र तम्बू तने हुए हैं; समुद्रमें निर्मल तथा उन्नत फेनराशि होती है । पड़ावमें चञ्चल घोड़े हैं; समुद्रमें लगातार उठने और घूमनेवाली बड़ी-बड़ी लहरें होती हैं । पड़ावमें मदमाते हाथी हैं; समुद्रमें इधर-उधर घूमनेवाले बड़े-बड़े मगर-घड़ियालोंके झुण्ड होते हैं । इतनी समानता होनेपर भी यदि समुद्र किसी प्रकारसे पड़ावको जीत ले तो उसे अपार माना जा सकता है ॥६७॥ इस तरह उस मणिकूट पर्वतपर पद्मनाभ अपनी चतुरङ्गिणी सेनाके साथ ठहरा हुआ है, यह समाचार अपने गुप्तचरसे जानकर राजा पृथिवीपाल बड़े क्रोधसे सेनाके साथ उसके निकट आ पहुँचा ॥६८॥ उन दोनों प्रतापी नरेशोंके बलको देखनेके लिए मानो कौतूहल वश रात्रि—जो चन्द्रमारूपी मण्डनसे मण्डित है और जिसके चमचमाते हुए तारारूपी नेत्र खुले हैं— आ गई, अर्थात् रात्रि हो गई ॥६९॥

---

१. =इतस्ततो गच्छत् । २. =मकराणां । ३. आ मतंगजाः । ४. =शिबिरम् । ५. = केनापि प्रकारेण । ६. आ 'ज्री' इति नास्ति । ७. श लेङ् । ८. आ प्रसृष्टसेनम् । ९. =गुप्तचराणाम् । १०. श 'पृथिवीपालनृपः' इति नास्ति । ११. =सेनायाः ।

तस्यां रक्षां श्रुतपरबलः संविधाय स्वसैन्ये
किंचित्कृत्वा सह निजभटैर्भाविसङ्ग्रामचर्चाम्।
श्रित्वा शय्यां शयनभवने भासुरां पद्मनाभ-
स्तस्थौ[1] धीरः समदवनितालिङ्गनाद्यैर्विनोदैः ॥७०॥
भुवनभवनदीपीभूतबिम्बे नियत्या
गतिमुदयविरुद्धां नीयमाने मृगाङ्के ।
मुकुलिततनुतारालोचना लोकयन्ती
विरहमिव तदीयं सा विलिल्ये त्रियामा ॥७१॥

॥इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

सपदि शीघ्रम् । समाययौ आजगाम । लिट् । रूपकम् ॥६९॥ तस्यामिति । धीरः धैर्ययुक्तः । पद्मनाभः पद्मनाभनृपः । तस्यां रात्रौ । श्रुतपरबलः श्रुतमाकर्णितं परबलं शत्रुसैन्यं येन सः । स्वसैन्ये रक्षां रक्षणम् । संविधाय कृत्वा । भाविसङ्ग्रामचर्चां भविष्यतः सङ्ग्रामस्य चर्चां विचारम् । निजभटैः स्वयोधृभिः । सह साकम् । किंचित् अल्पकालपर्यन्तम् । कृत्वा विधाय । शयनभवने शयनस्य भवने गृहे । भासुरां भासनशीलाम् । शय्याम्[2] आसिकाः[3] । श्रित्वा प्राप्य । समदवनितालिङ्गनाद्यैः समदानां संतोष[4]सहितानां वनितानां नारीणामालिङ्गनाद्यैः परिरम्भणाद्यैः । विनोदैः विलासैः । तस्थौ आसां चक्रे । लिट् ॥७०॥ भुवनेति । भुवनभवनदीपीभूतबिम्बे भुवनं जगत् तदेव भवनं गृहं तस्य दीपीभूतं बिम्बं मण्डलं यस्य तस्मिन् । मृगाङ्के चन्द्रे । उदयविरुद्धाम् उदयस्योत्पत्तेर्विरुद्धां प्रतिकूलाम् । गतिम् अस्तमयम् । नियत्या दैववशेन नीयमाने गम्यमाने । मुकुलिततनुतारालोचना मुकुलिता पिहिता तनुः स्वरूपं यासां ता मुकलिततनवः तारास्तारकाः, ता एव लोचने नयने यस्याः सा । सा त्रियमा निशाङ्गना । तदीयं चन्द्रसंबन्धिनम् । विरहं वियोगम् । लोकयन्तीव[5] वीक्षमाणेव । विलिल्ये विलीना, विलयं गतेत्यर्थः । लीङ्[6] श्लेषणे । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥७१॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये चतुर्दशः सर्गः[7] ॥१४॥

उसी रात्रिमें धीर-वीर राजा पद्मनाभने शत्रु-सेनाके आनेके समाचार सुनकर और उसकी शक्तिका पूरा पता लगाकर अपनी सेनामें रक्षाका प्रबन्ध किया, एवं कुछ समय तक अपने सैनिकोंके साथ भावि युद्धके बारेमें विचार-विमर्श किया । इसके पश्चात् शयनागारमें रत्नोंसे जगमगाती हुई सेजपर जाकर, अपनी सगर्व (पद्मनाभकी वीरतापर गर्व करनेवाली) रानियोंसे आलिङ्गन आदि विनोद करके लेट गया ॥७०॥ संसार रूपी घरमें जिसका बिम्ब दीपक स्वरूप है उस चन्द्रमाको नियति (अदृष्ट) जब उदयसे विपरीत (अस्त) अवस्थामें ले जाने लगी, तब रात्रिने अपनी कायाको समेट लिया और तारारूपी नेत्रोंको मूँद लिया, और फिर चन्द्रमा (पति) के विरहको देखकर ही मानो वह विलीन हो गई ॥७१॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें
चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

१. आ इ तस्थे । २. =पल्यङ्कम् । ३. आ 'आसिकाः' इति नास्ति । ४. आ संता° । ५. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'लोचयन्ती' इत्येव समवलोक्यते । ६. श लिङ् । ७. आ सर्गः समाप्तः ।

[१५. पञ्चदशः सर्गः]

द्वयेषामप्यथ प्रातः स्थावरेतरभूभृताम् ।
उदस्थात्कटकक्षोभी संनाहपटहध्वनिः ॥१॥
तस्मिन्नम्बुद[1]गम्भीरे दिगन्तरविसर्पिणि ।
प्रकम्पं भूरपि प्रापदास्तां रिपुपताकिनी ॥२॥
मदो मदोद्धताकारैर्दिक्कुञ्जरकुलैरपि ।
तत्यजे त्रस्तचेतोभिररिकीटेषु का कथा ॥३॥
भटानां भाविसङ्ग्रामभवदुत्साहशालिनाम् ।
मनांस्यानशिरे हर्षैर्वपूंषि पुलकोद्गमैः ॥४॥

द्वयेति । अथ [2]रात्रिविगमानन्तरम् । प्रातः विभाते । द्वयेषाम् [अपि] द्वावयवौ येषां तेषाम् । स्थावरेतरभूभृतां स्थावराश्चेतरे च जङ्गमाश्च ते च ते भूभृतश्च स्थावरेतरभूभृतः तेषां स्थावरेतरभूभृताम्—पर्वतानामितरभूभृतां राज्ञामपि । कटकक्षोभी कटकानि तटानि, पक्षे कटकं सेना[3] क्षोभी संचलनशीलः । संनाहपटहध्वनिः संनाहस्य संग्रामसूचकस्य पटहस्य भेर्या ध्वनिः शब्दः । उदस्थात् व्याप्नोति स्म । लुङ् । श्लेषः[4] ॥१॥ तस्मिन्निति । अम्बुदगम्भीरे अम्बुदवद् गम्भीरं[5] यस्य तस्मिन् । [तस्मिन्] पटहध्वनौ[6] । दिगन्तरविसर्पिणि दिगन्तराणि दिग्विवराणि[7] विसर्पिणि व्यापिनि सति । भूरपि भूमिरपि । प्रकम्पं[8] चंचलम् । प्रापत् प्राप्नोति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लुङ् । 'सर्ति शास्ति—' इत्यादिना अङ्[9]—प्रत्ययः । रिपुपताकिनी रिपूणां शत्रूणां पताकिनी सेना । आस्तां तिष्ठतु । अतिशयः[10] ॥२॥ मद इति । मदोद्धताकारैः मदेनोद्धत आकारो येषां तैः । त्रस्तचेतोभिः त्रस्तं भीतं चेतो मानसं येषां तैः । दिक्कुञ्जरकुलैरपि दिक्षु दिशासु विद्यमानां कुञ्जराणां[11] कुलैर्निवहैरपि । मदः गर्वः । तत्यजे त्यज्यते स्म । त्यज हानौ कर्मणि लिट् । रिपुकीटेषु रिपव एव [12]कीटास्तेषु । का कथा का वार्ता ॥३॥ भटानामिति । भाविसंग्रामभवदुत्साहशालिनां भाविना भविष्यता संग्रामेण रणेन भवता जायमानेनोत्साहरसेन शालिनां संपन्नानाम् । भटानां योद्धृणाम् । हर्षैः संतोषैः । मनांसि मानसानि । पुलकोद्गमैः पुलकानां रोमाञ्चानामुद्गमैरुत्पादैः । वपूंषि शरीराणि । आन-

इसके पश्चात् प्रभात होते ही युद्धकी भेरी बज उठी । उसकी ध्वनिने स्थावर भूभृत्—मणिकूट पर्वत और जङ्गम भूभृत्—पद्मनाभ, इन दोनोंके कटक (मध्यभाग और छावनी) में क्षोभ उत्पन्न कर दिया ॥१॥ मेघगर्जनके समान गम्भीर उस ध्वनिके दिग्दिगन्तव्यापी होनेपर पृथ्वी भी काँप उठी फिर शत्रुसेनाके कम्पनके बारेमें तो कहना ही क्या है ? ॥२॥ भेरीकी आवाज सुनकर मदोद्धत दिग्गजोंके कुलका दिल दहल उठा और उसने मद छोड़ दिया—उसका मदजल सूख गया तथा घमण्ड चूर हो गया फिर क्षुद्र शत्रुकीटोंकी तो बात ही क्या है ? ॥३॥ होनेवाले युद्धके उत्साहसे युक्त सैनिकोंके मन हर्षसे और शरीर रोमाञ्चसे व्याप्त हो

१. °म्बुधिग° । २. श अर्धरात्रि° । ३. = क्षोभयतीत्येवं शीलः । ४. श 'श्लेषः' इति नास्ति । ५. = गाम्भीर्यं । ६. श 'पटहध्वनौ' इति नास्ति । ७. = विसर्पतीत्येवं शीलस्तस्मिन् । ८. = चाञ्चल्यम् । ९. आ लङ् । १०. = अर्थापत्तिश्च ११. = दिग्गजानां । १२. आ 'कीटाः क्रमयः' इति समुपलभ्यते, परमितोऽग्रे 'तेषु' इति पदं नोपलभ्यते ।

हृष्यदङ्गतया सद्यः स्फुटत्पूर्वरणव्रणैः ।
वीरैर्वीररसाविष्टैः संनद्धुमुपचक्रमे ॥५॥
कश्चित्तनुच्छदं योग्यं समरे समरेखकम् ।
देहे हृष्यत्यपर्याप्तं नामुञ्चन्ना[1]मुचत्पुनः ॥६॥
तव संनहनं नाथ लघुभूतमिवाधुना ।
इत्यूचे स्वकरस्पर्शात्पुष्टाङ्गः कोऽपि कान्तया ॥७॥
शृङ्गाराद्द्विगुणीभूतैरमाति पुलकैस्तनौ ।
संनाहेऽन्यस्य चतुरा क्षणमन्तर्दधे प्रिया ॥८॥

शिरे[2] व्याप्नुवन्ति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । 'नक् च—' इत्यादिना नगागमः ॥४॥ हृष्यदिति । हृष्यदङ्गतया हृष्यत् संतुष्यदङ्गं यस्य तस्य भावः तया । सद्यः [3]तत्क्षणम् । स्फुटत्पूर्वरणव्रणैः स्फुटद् भिनत् पूर्वेण रणेन संजातं व्रणं येषां तैः । वीररसाविष्टैः वीररसेनाविष्टैः[4] प्रविष्टैः । वीरैः[5] वीरपुरुषैः । संनद्धुं संनहनाय[6] । उपचक्रमे प्रारभ्यते स्म । क्रमू पादविक्षेपे कर्मणि लिट् ॥५॥ कश्चिदिति । कश्चित् एकः । ना पुरुषः । हृष्यति हर्षं गते । देहे शरीरे । अपर्याप्तम्[7] अगृहीतम् । समरेखकं समा समाना रेखा यस्य तत्, चतुरस्रमिति भावः । समरे संग्रामे । योग्यम् उचितम् इति । तनुच्छदं कवचम् । अमुञ्चत् अत्यजत् । पुनः पश्चात् । ना अन्यः पुरुषः । आमुचत् धरति स्म । मुच्लृन्[8] मोक्षणे लुङ् । कश्चिद्वीरः कवचं त्यक्तवान् कश्चिद् भीरु[9]र्धरतिस्मेत्यर्थः । पर्यायोक्तिः ॥६॥ तवेति[10] । स्वकरस्पर्शात् स्वस्याः कान्तायाः करस्य हस्तस्य स्पर्शात् । पुष्टाङ्गः[11] तुष्टाङ्गः । कोऽपि कश्चित् । कान्तया वनितया साकम् (?) । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । ऊचे उच्यते स्म । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि कर्मणि लिट् । 'अस्ति ब्रुवो र्भूवचौ' इति वचादेशः । नाथ भो नाथ । तव ते । संहननं कवचम् । अधुना इदानीम् । लघुभूतमिव अल्पीभूतमिव[12] । राजतीति शेषः । उपमा[13] ॥७॥ शृङ्गारेति । अन्यस्य परस्य । शृङ्गाराद्द्विगुणीभूतैः शृङ्गारेण शृङ्गाररसेन द्विगुणीभूतै[14]र्द्विगुणजातैः । पुलकैः रोमाञ्चैः । तनौ शरीरे । संनाहे[15] संनहने । अमाति अप्रमाणे (ते) सति । चतुरा प्रौढा । प्रिया कान्ता ।

गये ॥४॥ युद्धकी खुशीमें योद्धा अपने शरीरमें फूले नहीं समा रहे थे । उनके पिछले युद्धोंके घाव फूट कर बह रहे थे, किन्तु वे वीर, वीररसके आवेशमें थे, अतएव युद्धकी तैयारी करनेमें लग गये ॥५॥ एक पुरुषने सङ्ग्रामके हर्षसे शरीर फूल जानेपर छोटे पड़नेवाले कवचको—जो उसीको रेखाओंके मापसे बनाया गया था, और युद्धमें जिसका पहनना उचित था—छोड़ दिया । फिर उसे दूसरे पुरुषने पहन लिया ॥६॥ 'नाथ ! आपका शरीर इस समय (इस बड़े कवचकी दृष्टिसे) कुछ छोटा-सा प्रतीत हो रहा है,' यह कहते-कहते प्रियाने ज्यों ही अपने हाथसे उसके शरीरका स्पर्श किया त्यों ही वह (नवयुवक-पति) खूब हृष्ट-पुष्ट हो गया ॥७॥ अन्य नवयुवकके शरीरमें शृङ्गारसे रोमाञ्च दूने हो गये और कवच छोटा पड़ गया । यह देखकर उसकी चतुर पत्नी कुछ क्षणोंको उसकी आँखोंसे ओझल हो गई—अन्यत्र जाकर छिप

---

१. आ इ नामुचन्ना° । २. =व्याप्तानि । ३. आ श तत्क्षणे । ४. =युक्तैः । ५. आ धीरैः । ६. श संनाहनाय । ७. = लघुतां गतम् । ८. आ मुच्लृ । ९. आ वीरः । १०. श तदेति । ११. =पीनाङ्गः । १२. आ लघ्वीभूत° । १३. =अतिशयोक्तिः । १४. = द्विगुणतां गतैः । १५. = कवचे ।

रिपुरोषारुणीभूतच्छविच्छुरितकण्टकैः ।
रेजे संध्याघनाकारैर्भीषितारिघटैर्भटैः ॥९॥
भूरिभैरवधीरायाः रुष्टैः प्रतिगजश्रुतेः[2] ।
भूरिभैरवधीराया समदानैः स्वपाणिना ॥१०॥
पुण्यैः कवचितस्यास्य किं कृत्यमपरं मया ।
इतीव नृपतेरङ्गे संनाहोऽनिष्ठयाविशत् ॥११॥
जयलक्ष्मीपरिष्वङ्गव्यवायेन ममामुना[3] ।
किमित्यासीद् युवेषस्य संनाहे नातिगौरवम्[4] ॥१२॥

क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम् । अन्तर्दधे व्यवहिता । डुधाञ् धारणे च[5] लिट् ॥८॥ रिप्विति । रिपुरोषारुणीभूतच्छविच्छुरितकङ्कटैः[6] रिपुषु शत्रुषु जातेन रोषेण कोपेनारुणीभूतया लोहितया छव्या कान्त्या च्छुरितः कङ्कटः कवचो[7] येषां तैः । संध्याघनाकारैः संध्यायाः संध्याकालस्य घनस्य मेघस्याकार इवाकारो येषां तैः । भीषितारिघटैः भीषिता[8] विभीषिता[9] अरीणां शत्रूणां घटः (घटा) समूहो यैस्तैः । भटैः योद्धृभिः । रेजे । लिट् । उपमा ॥९॥ भूरिति । भूरिभैरवधीरायाः भूर्या बहुलाया भैरव्या भयंकराया धीरायाः[10] स्थिरायाः[11] । प्रतिगजश्रुतेः प्रतिगजानां प्रतिकूलकरिणां श्रुतेर्ध्वनेः सकाशात् । रुष्टैः कुपितैः । इरायाः[12] सुरायाः । समदानैः समं समानं दानं मदजलं येषां तैः । इभैः करिभिः । [स्वपाणिना स्वकरेण । भूः पृथिवी] । अवधि[13] ताडयते स्म । हन हिंसागत्योः कर्मणि लुङ् । यमकम्[14] ॥१०॥ पुण्यैरिति । पुण्यैः शुभ[15]कर्मभिः । कवचितस्य आच्छादितस्य । अस्य राज्ञः । मया[16] । अपरम् अन्यत् । कृत्यं कार्यम् । किं वर्तते ? । इतीव[17] एवमिव । नृपतेः पद्मनाभस्य । अङ्गे देहे । संनाहः कवचादिसंनाहः । अनिष्ठया[18] अनिष्ठावस्थया । अविशत् विशति स्म । विश प्रवेशने लङ् ॥११॥ जयेति । जयलक्ष्मीपरिष्वङ्गव्यवायेन[19] जयलक्ष्म्याः परिष्वङ्गेनालिङ्गनेन व्यवायेन व्यवहितेन । अमुना[20] अनेन सह । मम मे । किं प्रयोजनम् ? इति । युवेशस्य सुवर्णनाभस्य । संनाहे[21] संनाहकरणे । अतिगौरवम् अतिमहत्त्वम् । नासीत् नाभूत् । अस भुवि लङ्[22] । आक्षेपः (?) ॥१२॥

गयी ॥८॥ शत्रुओंके प्रति रोष होनेसे सैनिकोंके नेत्र लाल हो गये और उनकी लाल कान्तिसे उनके कवच भी लाल हो गये । अतएव वे सन्ध्याकालीन मेघोंके समान हो गये । उन्हें देखकर शत्रुमण्डल भयभीत हो गया । उस समय उनकी शोभा देखते ही बनती थी ॥९॥ शत्रुओंके हाथियोंकी बहुत भयावनी और गम्भीर चिंघाड़ सुनकर (गन्धकी दृष्टिसे) मद्यके समान मदजल बहानेवाले, पद्मनाभके हाथियोंने अपनी सूंडसे पृथिवीका ताडन शुरू कर दिया ॥१०॥ 'राजा पद्मनाभ पहलेसे ही पुण्यका कवच पहने हुए है—मुझे जो काम करना चाहिए, उसे पुण्य पहलेसे ही कर रहा है, अब इससे अधिक इसका और क्या काम है, जो मुझे करना चाहिए', मानो यही सोचकर निष्ठा न रहनेपर भी कवचने पद्मनाभके शरीरमें प्रवेश किया—पद्मनाभने कवच पहना ॥११॥ 'जयलक्ष्मीके आलिङ्गनमें व्यवधान डालनेवाले इस कवचसे मुझे क्या काम है', मानो यह सोचकर युवराज सुवर्णनाभको कवच पहननेके विषयमें विशेष महत्त्व प्रतीत नहीं हुआ

१. अ संध्यायना° । २. इ °गजश्रुतैः । ३. आ इ ममाधुना । ४. अ °गौरवः । ५. आ 'च' नास्ति । ६. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु च मूलासु 'कण्टकैः' इत्येव समुपलभ्यते । ७. श च्छुरितं कङ्कटं कवचं । ८. श भीषितो विभाषितो° । ९. आ 'विभीषिता' इति नास्ति । १०. = गभीरायाः । ११. आ शुद्धायाः । १२. 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इत्यमरः । १३. = ताडिता । १४. आ 'यमकम्' इति नस्ति । १५. आ सुखक° । १६. = संनाहेन । १७. = अस्माद्धेतोरिव । १८. = अनास्थया । १९. = जयलक्ष्म्याः परिष्वङ्ग आलिङ्गने व्यवायेन व्यवधानेन । 'व्यवायस्तु मैथुनव्यवधानयोः' अनेका० ३।५३३ । २०. = संनाहेन । २१. = कवचे । २२. आ लुङ् ।

तेजो मूर्तमिवात्मीयं सुदुर्भेदमरातिभिः ।
बभौ भीमरथो बिभ्रत्कवचं विकचाननः ॥१३॥
अभूद्भैमरथेरङ्गे समरोत्कर्षशालिनः ।
द्वितीय इव संनाहो घनकण्टकितच्छवौ ॥१४॥
दीनानाथकृतोत्सर्गः स जयश्रीसमुत्सुकान् ।
प्रसादैः पूजयामास सामन्तान् रणदीक्षितान् ॥१५॥
भीमं भासुरवासोभिः सुभीमं मणिकङ्कणैः ।
मकुटेन महासेनं सेनं मौक्तिकमालया ॥१६॥

तेज इति । आत्मीयं स्वकीयम् । 'दोश्च्छः' इति छ-प्रत्ययः । मूर्त्तं साकारमिव । तेजः[1] प्रतापः[2] (एम्) । अरातिभिः शत्रुभिः । सुदुर्भेदं सुदुःखेन महता कष्टेन भेदं भेद्यम् । कवचं तनुत्रम् । बिभ्रत् धरत् । विकचाननः विकचं विकसितमाननं मुखं यस्य सः । भीमरथः भीमरथभूपतिः । बभौ रराज । लिट् । उपमा[3] ॥१३॥ अभूदिति । समरोत्कर्षशालिनः समरस्य संग्रामस्योत्कर्षेण शालिनः[4] संपन्नस्य । भैमरथेः भीमरथस्यापत्यं भैमरथिस्तस्य । 'अत इञ्' इति इञ्-प्रत्ययः । भीमरथपुत्रस्य[5] महीधराख्यस्य । घनकण्टकितच्छवौ घना सान्द्रा कण्टकिता[6] रोमाञ्चयुक्ता छविः कान्तिर्यस्य तस्मिन् । अङ्गे शरीरे । संनाहः संनहनम् । द्वितीय इव अपर इव । अभूत् । उपमा[7] ॥१४॥ दीनेति । दीनानाथकृतोत्सर्गः दीनेभ्यो दरिद्रेभ्योऽनाथेभ्यश्च[8] कृतो विहित उत्सर्गस्त्यागो येन सः । सः पद्मनाभः । जयश्रीसमुत्सुकान् जयश्रियां जयलक्ष्म्यां समुत्सुकान् आसक्तान् । रणदीक्षितान् रणदीक्षायुक्तान् । सामन्तान् भूपतीन् । प्रसादैः वस्त्रादिसत्कारैः[9] । पूजयामास सत्करोति स्म ॥१५॥ भीममिति । भासुरवासोभिः भासुरैर्भासमानशीलैर्वासोभिर्वस्त्रैः । भीमं भीमराजम् । मणिकङ्कणैः मणिभिर्निर्मितैः कङ्कणैः करभूषणैः । सुभीमं सुभीमराजम् । मकुटेन[10] किरीटेन । महासेनं महासेनराजम् । मौक्तिकमालया मौक्तिकैर्मुक्ताफलैर्निर्मितया मालया माल्येन ।

॥१२॥ अपने प्रतापकी मूर्ति सरीखे प्रतीत होनेवाले, शत्रुओंके द्वारा दुर्भेद्य कवचको धारण करके भीमरथका चेहरा खिल उठा और उस समय वह बड़ा सुन्दर मालूम पड़ रहा था ॥१३॥ युद्धकलाके उत्कर्षसे विभूषित भैमरथी—(राजा भीमरथके पुत्र) के सघन रोमाञ्चसे युक्त शरीरमें कवच ऐसा जाना पड़ता था मानो दूसरा हो । रोमाञ्च पहले कवचकी भाँति सुशोभित हो रहे थे और लौह कवच उसके ऊपर पहने हुए दूसरे कवचकी भाँति प्रतीत हो रहा था ॥१४॥ पद्मनाभने दीन और अनाथोंको दान दिया तथा विजयलक्ष्मीको पानेके लिए उत्सुक, सङ्ग्रामकी दीक्षा लेनेवाले सामन्तोंको उपहार देकर सम्मानित किया—॥१५॥ भीमको चमचमाते वस्त्र, सुभीमको मणिकङ्कण, महासेनको मुकुट, सेनको मोतियोंकी माला, चित्राङ्गको चूडामणि, परंतपको लम्बी माला, कण्ठको कण्ठी, सुकुण्डलको कुण्डल, भीमरथको अमूल्य मणि और महीरथको मनोहर हार—इस तरह अपने सुन्दर आभूषण उपहारमें देकर चतुर पद्मनाभने

---

१. = आत्मीयं मूर्तं तेज इव । २. आ श तेजः प्रतापः । मूर्तं साकारमिव । आत्मीयं स्वकीयम् । ३. उत्प्रेक्षा । ४. = शोभिनः । ५. आ भीमरथस्य पुत्रस्य । ६. श घना संग्रामकण्टकिता । ७. = उत्प्रेक्षा । ८. आ 'च' नास्ति । ९. श° दिप्रसादसत्कारैः । १०. 'मुकुटेन' इति पाठः सर्वासु प्रतिषु ।

चूडारत्नेन चित्राङ्गं प्रालम्बेन परंतपम् ।
रत्नकण्ठिकया कण्ठं कुण्डलाभ्यां सुकुण्डलम् ॥१७॥
अनर्घमणिना भीमरथं हारेण हारिणा ।
महीरथं स्वाभरणैश्चतुरः सच्चकार सः ॥१८॥ (कुलकम्[1])
अन्योऽपि यस्य यो योग्यः सन्नाहस्तुरगो[2] रथः ।
वारणो वा विशेषज्ञस्तत्सादकृत तं नृपः ॥१९॥
सेना सेना यती बद्धराजिराजिसमुत्सुका ।
चक्रे चक्रेषुखड्गास्त्रसारा सारातिसाध्वसम् ॥२०॥
सज्जीकृतं महामात्रै रोपितास्त्रं पुरोधसा ।
वनकेलिमथारुह्य निरगादभिशत्रु सः ॥२१॥
रथिना युवराजेन सोऽनुसस्रे नराधिपः ।
ऐरावतसमारूढो रविणेव सुराधिपः ॥२२॥

सेनं सेनराजम्[3] ॥१६॥ चूडेति । चूडारत्नेन चूडामणिना । चित्राङ्गं चित्राङ्गराजम् । प्रालम्बेन सुवर्णमययज्ञोपवीतेन । परंतपं परंतपराजम् । रत्नकण्ठिकया रत्नकण्ठाभरणेन । कण्ठं कण्ठराजम् । कुण्डलाभ्यां कर्णवेष्टनाभ्याम् । सुकुण्डलं सुकुण्डलराजम्[3] ॥१७॥ अनर्घेति । अनर्घमणिना अनर्घेणामूल्येन मणिना रत्नेन युक्तेन । हारिणा मनःप्रीतिकारिणा, हारेण । भीमरथं भीमरथराजम् । स्वाभरणैः[4] अनर्घाभरणैः । महीरथं महीरथराजम् । चतुरः प्रौढः । सः पद्मनाभः । सच्चकार सत्करोति स्म । दीपकम् ॥१८॥ अन्य इति । अन्योऽपि परोऽपि । यः । सन्नाहः तनुत्रादिः । तुरगः अश्वः । रथः स्यन्दनः । वारणः गजः । यस्य राज्ञः । योग्यः उचितः । तम् । विशेषज्ञः सकलज्ञः । नृपः पद्मनाभः । तत्सात् तेषामधीनम् । अकृत अविधात्[6] (व्यधात्) । लुङ् ॥१९॥ सेनेति । सेना इनेन स्वामिना सह वर्तते इति सेना । यती गच्छती[7] । बद्धराजिः बद्धा रचिता राजिः पङ्क्तिः[8] । आजिसमुत्सुका आजौ संग्रामे समुत्सुका आसक्ता । चक्रेषु खड्गास्त्रसारा चक्रेण चक्रायुधेन इषुणा बाणेन खड्गेन अस्त्रेण[9] मन्त्रायुधेन च सारा उत्कृष्टा । [सा] सेना चमूः । अरातिसाध्वसम् अरातीनां शत्रूणां साध्वसं भयम् । चक्रे चकार । लिट् । यमकम् ॥२०॥ सज्जीति[10] । अथ अनन्तरम् । सः पद्मनाभः । महामात्रैः हस्तिशिक्षकैः । सज्जीकृतं संनद्धीकृतम् । पुरोधसा पुरोहितेन । रोपितास्त्रं रोपितं पूरितं (रोपितानि पूरितानि अस्त्राणि यस्मिन् तम्) । वनकेलिं वनकेलिनामगजम् । आरुह्य । अभिशत्रु शत्रोरभिमुखम् । निरगात् निर्जगाम । इण गतौ लुङ् । जातिः ॥२१॥ रथिनेति । सः नराधिपः पद्मनाभः । ऐरावतसमारूढः ऐरावतं देवगजं समारूढः[11] । सुराधिपः सुराणां देवानामधिप इन्द्रः । रविणेव सूर्येणेव ।

सब राजाओंका सत्कार किया ॥१६–१८॥ कवच, घोड़ा, हाथी तथा रथ आदि और भी जो पदार्थ जिसके योग्य था, उसे विशेषताके पारखी राजा पद्मनाभने, उसीके अधीन कर दिया ॥१९॥ चक्र, बाण, खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित, युद्धके लिए उत्सुक, स्वामी सहित, और पंक्तिबद्ध होकर आगेकी ओर जाती हुई, पद्मनाभकी उस सेनाने शत्रुओंको भय उत्पन्न कर दिया ॥२०॥ इसके बाद जिसे महावतोंने सजाया और जिसके ऊपर पुरोहितने अस्त्र रख दिये, उस वनकेलि नामक हाथीपर सवार होकर राजा पद्मनाभ शत्रुकी ओर चल दिया ॥२१॥ युवराज सुवर्णनाभने रथपर सवार होकर राजा पद्मनाभका अनुगमन किया—आगे राजा चला जा रहा था और उसके पीछे युवराज । जैसे ऐरावतपर चढ़े हुए इन्द्रका

१. क ख ग घ 'कुलकम्' नोपलभ्यते । २. म स वाहस्तुरगो॰ । ३. = सच्चकार । ४. = सच्चकार । ५. = स्वकीयैराभरणैः । ६. आ अवीरात् । ७. = गच्छन्ती । ८. = यया सा । ९. = अस्त्रायुधेन । १०. आ श सज्जेति । ११. श आरूढः ।

नगोत्तुङ्गं समारुह्य नागेन्द्रं रणविग्रहम् ।
तमन्वगाद्भीमरथः प्रताप इव पूषणम् ॥२३॥
परिज्वलन्महास्त्रौघं रथं सारथिसज्जितम् ।
मनोरथमिवास्थाय निर्जगाम महीरथः ॥२४॥
परितः परिवव्रुस्तमन्येऽप्येत्य नराधिपाः ।
चतुरङ्गबलोपेताश्चतुरम्बुधिविश्रुताः ॥२५॥
प्रयाणतूर्यनिर्घोषसंमिलत्सर्वसैनिका[1] ।
सासीद्बह्वादिसंख्येव व्यक्तेयत्ता न वाहिनी ॥२६॥
विसस्वान शिवा तस्य वामतः शिवशंसिनी ।
तामेव दिशमाश्रित्य ररास मृदु रासभः ॥२७॥

रथिना रथारूढेन । युवराजेन सुवर्णनाभेन । अनुसस्रे[3] अनुगम्यतेस्म । उपमा ॥२२॥ नगेति[4] । भीमरथः भीमरथराजः । नगोत्तुङ्गं नग इव पर्वत इवोत्तुङ्गमुन्नतम् । रणविग्रहं रणविग्रहनामधेयम् । नागेन्द्रं[5] गजेन्द्रम् । समारुह्य । पूषणं सूर्यम् । प्रताप इव तेज इव । तं युवराजम् । अन्वगात् अनुगच्छतिस्म । उपमा ॥२३॥ परीति । परिज्वलन्महास्त्रौघं परिज्वलन् प्रज्वलन् महास्त्राणां महामन्त्रायुधानामोघो यस्मिन् तम् । सारथिसज्जितं सारथिना सज्जितं संनद्धम् । मनोरथमिव[6] मनःसंतोषमिव । रथं स्यन्दनम् । आस्थाय आरुह्य । महीरथः महीरथराजः[7] । निर्जगाम निरगात् ॥२४॥ परित इति । चतुरम्बुधिविश्रुताः चतुरम्बुधीन् चतुःसमुद्रपर्यन्तं विश्रुताः प्रसिद्धाः । चतुरङ्गबलोपेता चतुरङ्गेण चतुरवयवेन बलेन सेनया उपेता युक्ताः । अन्ये [अपि] परेऽपि । नराधिपाः भूमिपाः । एत्य गत्वा । तं पद्मनाभम् । परितः समन्तात् । परिवव्रुः परिवृण्वन्ति स्म । वृञ् वरणे लिट् ॥२५॥ प्रयाणेति । प्रयाणतूर्यनिर्घोषसंमिलत्सर्वसैनिका प्रयाणस्य निर्याणस्य तूर्यस्य वाद्यविशेषस्य निर्घोषेण रवेण संमिलन्तो राशीभवन्तः सर्वे निखिलाः सैनिका भटा यस्यां सा । सा वाहिनी सेना । बह्वादिसंख्येव बह्वादिरेव संख्या सेव । आदिशब्देन यूथगण इत्यादि । [व्यक्तेयत्ता] व्यक्ता स्पष्टा इयत्ता एतत्प्रमाणता यस्याः सा । न भवति । उपमा ॥२६॥ विवस्वानेति[8] । तस्य पद्मनाभस्य । वामतः वामभागतः । शिवशंसिनी शिवस्य शुभस्य[9] शंसिनी सूचिनी[10] । शिवा शृगाली[11] । विसस्वान[12] निनाद । स्वन शब्दे लिट् । तामेव वामरूपामेव । दिशं दिशाम् । आश्रित्य आगत्य । रासभः खरः । मृदु मृदुलं यथा तथा ।

सूर्य (जो रथपर सवार रहता है) अनुगमन करता है ॥२२॥ पहाड़के समान उन्नत रणविग्रह नामक गजराजपर चढ़कर भीमरथने युवराजका अनुगमन किया । जैसे प्रताप सूर्यका अनुगमन करता है ॥२३॥ चमचमाते हुए बड़े-बड़े अस्त्रोंके समूहसे युक्त, सारथीके द्वारा सजाये गये और मनोरथके समान प्रतीत होनेवाले रथके ऊपर बैठकर राजा महीरथ, भीमरथके पीछे-पीछे चलने लगा ॥२४॥ चारों समुद्रों तक प्रसिद्ध और भी राजे-महाराजे चतुरङ्गिणी सेनाओंको अपने साथ लिवाकर आ गये और पद्मनाभके आगे-पीछे और दाएँ-बाएँ भागोंमें—इस तरह उसे चारों ओरसे घेरकर चलने लगे ॥२५॥ प्रयाणके समय रणभेरीका शब्द सुनते ही सभी सैनिक सेनामें आकर सम्मिलित हो गये । उस समय वह सेना बहु आदि संख्याके समान स्पष्ट प्रमाणसे युक्त नहीं थी—अगणित थी ॥२६॥ जाते समय पद्मनाभकी बाईं ओर मङ्गलकी सूचना देनेवाली शृगाली शब्द करने लगी और उसी दिशामें अर्थात् बाईं ओर ही एक गदहा कोमल

१ क ख ग घ प्रयाणे तूर्य° । २. म °सैनिकाः । ३. = अनुसृतः । ४. श नग इति । ५. श नगेन्द्रं । ६. = मनोऽभिलाषमिव । ७. श महीरथनामधेयः । ८. आ श विवस्वान इति । ९. आ सुखस्य । १०. श सूचनी । ११. आ श शृगालः । १२. श विसस्वने ।

भारद्वाजः कुतोऽप्येत्य परीयाय प्रदक्षिणम् ।
क्षीरिणं वृक्षमारुह्य ववाशे वल्गु वायसः ॥२८॥
सहसैव समुद्भिद्य सुस्रुवे करिणां कटः ।
भेजे कोऽपि महोत्साहो रोमाञ्चकवचैर्भटैः ॥२९॥
इष्टैरिष्टार्थपिशुनैः परितोषितसैनिकैः ।
शकुनैरेभिरन्यैश्च स व्यक्तविजयोऽभवत्[1][2] ॥३०॥
इत्युत्थितं समाकर्ण्य[3] पद्मनाभं सराजकः[4] ।
संनह्य पृथिवीपालोऽप्यमर्षादभिनिर्ययौ ॥३१॥
दक्षिणं गणयामास नाशिवं स शिवारवम्[5] ।
क्षुतं न पौनःपुनिकं न मार्गमहिखण्डितम् ३२॥

ररास निनाद । रस चुक्ष शब्दे लिट् ॥२७॥ भारद्वाज इति । भारद्वाजः खञ्जरीटपक्षी । कुतोऽपि[6] कस्मादपि । एत्य आगत्य । प्रदक्षिणं प्रदक्षिणावर्तम्[7] । परीयाय[8] जगाम । इण गतौ लिट् । क्षीरेण युक्तम् । वृक्षं भूरुहम् । आरुह्य आस्थाय । वायसः बलिभुक् । वल्गु मधुरम् । ववाशे दध्वान । वाशि शब्दे लिट् ॥२८॥ सहसेति । करिणां गजानाम् । कटैः कपोलप्रदेशैः । सहसैव वेगेनैव । समुद्भिद्य संविदार्य[9] । सुस्रुवे दुद्रुवे । द्रु स्रु गतौ भावे लिट् । रोमाञ्चकवचैः रोमाञ्चो रोमहर्षणं स एव कवचो येषां तैः । भटैः योद्धृभिः । कोऽपि[10] कश्चिदपि । महोत्साहः महासंभ्रमः । भेजे शिश्रिये । श्रिञ् सेवायां कर्मणि लिट् ॥२९॥ इष्टैरिति । इष्टार्थपिशुनैः इष्टस्याभीष्टस्यार्थस्य प्रयोजनस्य पिशुनैः सूचकैः । परितोषितसैनिकैः परितोषिताः संतोषिताः सैनिका यैस्तैः[11] । इष्टैः अभिप्रेतैः । एभिः एतैः । अन्यैश्च अपरैश्च । शकुनैः एष्यत्सू[12]चकनिमित्तैः । व्यक्तविजयः व्यक्तो व्यक्तीभूतो विजयो[13] यस्य सः । अभवत् अभूत् । भू सत्तायां लङ् । अनुमितिः ॥३०॥ इतीति । इति एवम् । उत्थितं निर्गतम् । [तं] पद्मनाभं पद्मनाभभूपतिम् । आकर्ण्य[14] श्रुत्वा । सराजकः राजकेन राज्ञां समूहेन सह वर्तत इति तथोक्तः-राजसमूहयुक्तः । पृथिवीपालोऽपि पृथिवीपालभूपोऽपि । संनह्य[15] सज्जीकृत्य । अमर्षात् कोपात् । अभिनिर्ययौ[16] अभिनिर्जगाम । या प्रापणे लिट् । जातिः ॥३१॥ दक्षिणमिति । सः पृथिवीपालः[17] । दक्षिणं दक्षिणभागं गतम् । अशिवम्[18] अमङ्गलम् । शिवारवं शिवायाः शृगालस्य (शृगाल्याः) रवं ध्वनिम् । न गणयामास न गणयति स्म । गण संख्याने लिट् । पौनःपुनिकं

शब्दोंमें बोलने लगा ॥२७॥ भारद्वाज-खञ्जरीट पक्षी कहींसे भी आकर पद्मनाभकी परिक्रमा करके चला गया और कौआ दूध बहानेवाले किसी वट आदि वृक्षपर बैठकर सुन्दर ढंगसे बोलने लगा ॥२८॥ हाथियोंके गण्डस्थल सहसा फूट पड़े और उनसे मदजल झरने लगा । सैनिकोंको रोमाञ्च हो आया और उन्हें अद्भुत महान् उत्साहका अनुभव होने लगा ॥२९॥ इष्ट अर्थकी सूचना देनेवाले और इसीलिए सैनिकोंको सन्तुष्ट करनेवाले इन इष्ट शकुनोंसे तथा इन सरीखे और-और भी शकुनोंसे पद्मनाभकी विजय स्पष्ट हो गई ॥३०॥ इस प्रकार राजा पद्मनाभको युद्धके लिए निकला हुआ सुनकर पृथिवीपाल भी अपने पक्षके राजवर्गके साथ युद्धकी तैयारी करके बड़े क्रोधसे निकल पड़ा ॥३१॥ पृथिवीपालके प्रयाण करते समय दाईं ओर शृगालोंका अमङ्गलकारी शब्द होने लगा; बार-बार छींकें आने लगीं; साँप रास्ता काट गया; कँटोले पेड़ों-

१. क ख ग घ व्यक्तव्यजयो°, म वक्तव्यजयो° । २. अ °जयोऽभजत् । ३. अ क ख ग घ म तमाकर्ण्य । ४. आ इ सराजकम् । ५. क ख ग घ म शिवारुतम् । ६. = कुतश्चनापि । ७. श प्रदक्षिणप्रदेशेन । ८. = परिक्रम्य जगाम । ९. आ संविधार्य १०. = अङ्गुनीऽपूर्वोवा । ११. आ येषां तैः । १२. आ एतत्सू । १३. = विशिष्टो जयः । १४. श समाकर्ण्य । १५. = सज्जीभूय । १६. आ 'अभि' नास्ति । १७. श पृथ्वीपालः । १८. आ अशुभम् ।

न कण्टकद्रुमस्थस्य काकस्य परुषं रवम्[1]।
न वाजिपुच्छज्वलनं न चार्तरुदितस्वरम्[2] ॥३३॥
न प्रातिकूल्यमत्यन्तं मनःपवनगोचरम्।
नासृक्प्रवर्षमाकाशे[3] क्रोधान्तरितचेतनः ॥३४॥
क्षयानिलचलत्पूर्वपश्चिमार्णवतुल्ययोः।
तयोर्बभूव संघट्टः सैन्ययोरुभयोरपि ॥३५॥
अन्योन्यालोकनोद्भूतत्वरांस्तुरगसंभवः।
पांसुर्निवारयामास कृपयेव क्षणं भटान् ॥३६॥
माद्यद्दन्तिमदोत्सेकच्छन्न[4]पांसौ रणाजिरे।
वल्गत्यन्योन्यमुद्दिश्य रराज भटसंहतिः ॥३७॥

पुनः पुनः भूयो भूयः प्रवर्तमानम्। क्षुतं[5] न। अहिखण्डितम् अहिना सर्पेण खण्डितं निवारितम्। मार्गं पन्थानम्। न गणयामासेति प्रत्येकमभिसंबन्धः। दीपकम्[6] ॥३२॥ नेति। कण्टकद्रुमस्थस्य कण्टके कण्टकयुक्ते द्रुमे वृक्षे स्थितस्य। काकस्य[7] वायसस्य। परुषं निष्ठुरम्। रवं ध्वनिम्। न गणयामास। वाजिपुच्छज्वलनं वाजिनामश्वानां पुच्छानां वालधीनां ज्वलनं[8] संतापम्। न। आर्तरुदितस्वरम् आर्तेन दुःखेन रुदितस्य रोदनस्य स्वरं ध्वनिम्। न च गणयामास। अयमपि दीपकः[9] ॥३३॥ 卐नेति[10]। क्रोधान्तरितचेतनः क्रोधेन कोपेनान्तरितं व्यवहितं चेतनं (अन्तरिता व्यवहिता चेतना) बुद्धिर्यस्य सः। मनःपवनगोचरं मनोवाय्वोर्विषयम्। अत्यन्तं भृशम्। प्रातिकूल्यं प्रतिकूलत्वम्। न गणयामास। 卐। आकाशे गगने। असृक्प्रवर्षम् असृजो रक्तस्य प्रवर्षं वृष्टिम्। न गणयामास। त्रिभिः कुलकम्[11] ॥ ॥३४॥ क्षयेति। क्षयानिलचलत्पूर्वपश्चिमार्णवतुल्ययोः। क्षयस्य प्रलयकालस्यानिलेन वायुना चलतोः[12] संचलतोः पूर्वपश्चिमयोः पूर्वापरयोरर्णवयोः समुद्रयोस्तुल्ययोः समानयोः। तयोरुभयोरपि द्वयोरपि। सैन्ययोः सेनयोः। संघट्टः[13] संबन्धः। बभूव भवतिस्म। लिट्। अतिशयः[14] ॥३५॥ अन्योन्येति। अन्योन्यालोकनोद्भूतत्वरान् अन्योन्यस्य परस्परस्यालोकनेन दर्शनेन उद्भूत[15] उत्पन्नः त्वरः शीघ्रं येषां तान्। भटान् योद्धॄन्। तुरगसंभवः तुरगैः अश्वैः संभवः संजातः। पांसुः रजः। कृपयेव कारुण्येनेव। क्षणम् अल्पकालपर्यन्तम्। निवारयामास निवारयति स्म। वृञ् वरणे लिट्। उत्प्रेक्षा ॥३६॥ माद्यदिति। माद्यद्दन्तिमदोत्सेकच्छन्न[16]पांसौ माद्यतां मदयुक्तानां दन्तिनां गजानां मदस्य मदजलस्योत्सेकेन छन्नो लीनः पांसू रजो[17] यस्य तस्मिन्। रणाजिरे

पर कौओंका परुष स्वर सुनाई देने लगा; घोड़ोंकी पूंछोंमें आग लग गयी; दुखियोंके रोनेका दुःखभरा स्वर होने लगा; मनमें प्रतिकूल विचार आने लगे; प्रतिकूल वायु बहने लगी और आकाशमें लहू बरसने लगा, पर चेतनापर क्रोधका असर आ जानेसे उसने अपशकुनोंपर कोई ध्यान ही नहीं दिया ॥३२-३४॥ प्रलयकालीन वायुसे क्षुब्ध हुए पूर्व और पश्चिम समुद्रों सरीखे दोनों सेनाओंके दलोंका आपसमें खूब जोरका संघर्ष शुरू हो गया ॥३५॥ एक-दूसरेको देखकर सैनिक आपसमें प्रहार करनेके लिए उतावले हो उठे, किन्तु घोड़ोंकी टापोंके प्रहारसे उत्पन्न हुई धूलिने मानो दयाके कारण उन्हें कुछ क्षणों तक रोक लिया ॥३६॥ मदमाते हाथियोंके मदजलके छिड़कावसे धूलि शान्त हो जानेपर रणाङ्गणमें एक-दूसरेको लक्ष्य करके आगे बढ़नेवाला

१. अ स्वरम्। २. क ख ग घ म °रुदितं स्वरम्। ३. अ °र्षमकरोत्। ४. अ आ इ °कसन्न°। ५. = क्षवं। ६. = तुल्ययोगिता। ७. श 'काकस्य' इति पदं नास्ति। ८. = दहनम्। ९. = दीपकम्। १०. आ स्वस्तिकान्तगतः पाठो नास्ति। ११. मूलप्रतिषु 'त्रिभिः कुलकम्' इति नास्ति। १२. = क्षुब्धयोः। १३. = संघर्षः। १४. = उपमा। १५. = उद्भूता समुत्पन्ना त्वरा शीघ्रता। १६. श °त्सेकसन्न°। १७. श सन्नो लीनः पांसुर्धूलिः।

हेषासक्तहये गर्जद्गजे प्रध्वनदानके ।
तस्मिन्बलद्वये शब्दमयमासीदिवाखिलम् ॥३८॥
रैरोरा रैररैरेरी रोरो रोरुररेररि– ।
रुरूरूरुरूरूरोरारारीररुरोररम् ॥३९॥
तुरङ्गिणां पदातीनां रथिनां गजरोहिणाम् ।
यस्य येन समा कक्षा स तमाह्वास्त वीतभीः[1] ॥४०॥
युद्धमार्गविदो योद्धुमारभन्त महाभटाः ।
प्राणैरस्थास्नुभिः स्थास्नुयशःक्रेतुं[2] मभीप्सवः ॥४१॥

रणस्याजिरे[3]ऽङ्गणे । अन्योन्यं परस्परम् । उद्दिश्य उद्देश्यं कृत्वा । [वल्गती गच्छन्ती] भटसंहतिः भटानां योद्धृणां संहतिः समूहः । रराज बभौ । लिट् ॥३७॥ हेषेति । हेषासक्तहये हेषायां तुरगध्वनौ आसक्ताः प्रीता[6] हयास्तुरङ्गमा यस्मिन् तस्मिन् । गर्जद्गजे गर्जन्तो ध्वनन्तो गजा यस्मिन् तस्मिन् । प्रध्वनदानके प्रध्वनन्तो ध्वनन्त आनकाः पटहा यस्य[4] तस्मिन् । तस्मिन् बलद्वये बलयोः सेनयोर्द्वये सति । अखिलं सकलम् । शब्दमयमिव शब्दस्वरूपमिव । आसीत् अभवत् । अस भुवि लङ् । उपमा (?) उत्प्रेक्षा च[5] ॥३८॥ रैर इति । रैरोराः रै (राः) द्रव्यम्, रायं राति[6] ददातीति रैरम्, रैरम् उरो हृदयं यस्य स रैरोराः, द्रव्यदानहृदयः—त्यागशील इत्यर्थः । रैररैरेरिः रायं द्रव्यं रातीति रैरो धनदाता, रैरो धनदः कुबेर इत्यभिप्रायः, रैरश्चासौ रैरश्च रैररैरो धनदधनद इत्यर्थः, तमीरयति क्षिपति परिभवतीति रैररैरेरिः—धनदजिदित्यर्थः, वित्तदायककुबेरतिरस्करणशील इत्यर्थः । रोरुः भृशं ध्वनन् । उरूरुः उरुश्च उरुश्च उरूरू स्थूलस्थूलौ उरूरू उरू यस्य सः उरूरुः, अत्यन्तपीवरोरुरित्यर्थः । रोरोः रोरवीति रोरुः तस्य रोरोः, शब्दयतः (शब्दं कुर्वतः) । रु गतावित्यस्य औणादिक उ-प्रत्ययः, भृशं ध्वनत इत्यर्थः । उरूरूरोः अतिमहद्रूरुयुतस्य । उरोः महतः । अरेः शत्रोः । अरिः शत्रुः । अरीरैः अरा (आरा) धारा विद्यते एषामित्यरीणि, चक्राणीत्यर्थः, अरीणामीराः क्षेपाः तैः, चक्रक्षेपैरित्यर्थः । अरम् अत्यन्तम् । आर ढौकते स्म । ऋ गतौ[7] लिट् । एकव्यञ्जनचित्रमिदम् ॥३९॥ तुरङ्गिणामिति । तुरङ्गिणाम् अश्वारोहाणाम् । पदातीनां पादचारिणाम् । रथिनां रथारूढानाम् । गजारोहिणां गजारूढानाम् । यस्य पुरुषस्य । येन पुरुषेण । कक्षा सामर्थ्यम् । समा[8] समानम् । वीतभीः वीता रहिता भीर्भीति र्यस्य सः । सः पुरुषः । तं पुरुषम् । आह्वास्त आह्वयति स्म । ह्वय स्पर्द्धायाम् । लङ्[9] ॥४०॥ युद्धेति । युद्धमार्गविदः युद्धस्य संग्रामस्य मार्गं विदन्तीति तथोक्ताः । अस्थास्नुभिः अस्थिरैः । 'ग्लास्थस्स्नुः' इति स्नु-प्रत्ययः । प्राणैः असुभिः । स्थास्नु स्थिररूपम् । यशः कीर्तिम् । क्रेतुं स्वीकाराय । अभीप्सवः[10] अभिलिप्सवः । महाभटाः महायोद्धारः । योद्धुं योधनाय ।

सैनिकोंका समूह सुशोभित हो रहा था ॥३७॥ दोनों सेनाओंमें घोड़े हिनहिना रहे थे, हाथी चिंघाड़ रहे थे और रणभेरियाँ बज रही थीं । अतएव सारा विश्व केवल शब्दमय-सा प्रतीत होने लगा ॥३८॥ हृदयसे धन प्रदान करनेवाले, धन देनेवाले कुबेरको भी मात करनेवाले, सिंहनाद करनेवाले और स्थूल ऊरुओंवाले एक योद्धाने, सिंहनाद करनेवाले और मोटे ऊरुओंवाले एक महायोद्धाके ऊपर चक्रका वार किया और वह उसके निकट जा पहुँचा ॥३९॥ कुछ योद्धा घोड़ोंपर सवार थे, कुछ हाथियोंपर और कुछ रथोंपर । इनके अतिरिक्त पयादे भी थे । किन्तु जो जिसके जोड़का था, उसने उसे निर्भय होकर ललकारा ॥४०॥ अस्थिर प्राण देकर स्थिर यशके क्रय (खरीद) को चाहनेवाले युद्धकलामें कुशल महान् योद्धाओंने युद्ध प्रारम्भ कर दिया ॥४१॥

---

१. अ धीरधीः । २. क ख ग घ म °यशश्चेतुं । ३. = रण एवाजिरं तस्मिन् । ४. = यस्मिन् । ५. आ उपमोत्प्रेक्षा चेति नास्ति । ६. श रातीति । ७. आ रु गतौ । ८. = तुल्या । ९. आ आह्वयते स्म । ह्वेञ् स्पर्द्धायां लुङ् । १०. श अभोच्छवः ।

स्वामिप्रसादमासीद्यो मुखरागः प्रतीच्छताम् ।
तेषामासीत्स[1] एवारिशरजालं प्रतीच्छताम् ॥४२॥
निजेषुरचितस्फारमण्डपोत्सारितातपाः ।
तत्र नाज्ञासिषुर्योधाः प्रहरन्तः परिश्रमम् ॥४३॥
स्वामिसंमानयोग्यं यद्यत्स्वसंभावनोचितम् ।
यच्चाम्नायसमं तत्ते स्मारंस्मारं डुढौकिरे ॥४४॥
शस्त्रप्रहारैर्गुरुभिः समुदा येन यो जितः ।
तेनामर्षात्पुनः सोऽस्त्रसमु[2]दायेन योजितः ॥४५॥
कस्याप्यश्वगतस्येभकुम्भं निर्भिन्दतोऽसिना ।
ततः पतन्त्यभा[3]त्पुष्पवृष्टिवन्मौक्तिकावलिः ॥४६॥

आरभन्त उपक्रमते[4] स्म । रभि[5] राभस्ये ॥४१॥ स्वामीति । स्वामिप्रसादं स्वामिनः प्रभोः [6]प्रसादमादरम् । प्रतीच्छतां वाञ्छताम् । यो मुखरागः मुखे वदने रागो हर्षः संतोषः, पक्षे मुखे रागो रुधिरेणारुणता[7] । आसीत् अभवत् । लङ् । अरिशरजालम् अरेः शत्रोः शराणां बाणानां जालं समूहम् । प्रतीक्षताम् अङ्गीकुर्वताम् । तेषां भटानाम् । स एव मुखराग एव । अभूत् । लुङ् । यमकम् ॥४२॥ निजेष्विति । तत्र संग्रामे । निजेषुरचितस्फारमण्डपोत्सारितातपाः निजानां स्वेषामिषुभिर्बाणैः रचितेन निर्मितेन स्फारेण महता मण्डपेनोत्सारितो निवारित आतपो येषां ते । प्रहरन्तः युद्धं कुर्वाणाः । योधाः भटाः । परिश्रमम् आयासम् । न आज्ञासिषुः न जानन्ति स्म । ज्ञा अवबोधने लुङ् ॥४३॥ स्वामीति । स्वामिसम्मानयोग्यं स्वामिनः प्रभोः सम्मानस्य सत्कारस्य योग्यम् । स्वसंभावनोचितं स्वेषां संभावनस्य सामर्थ्यस्योचितं योग्यम् । यद् यत् । (तत् तत्) सर्वम् । ते भटाः स्मारं स्मारं स्मृत्वा स्मृत्वा । 'भृशाभीक्ष्ण्ये खमुञ्' इति खमुञ्–प्रत्ययः डुढौकिरे ययुः । ढौकृञ् गतौ लिट् ॥४४॥ शस्त्रेति । गुरुभिः महद्भिः । शस्त्रप्रहारैः शस्त्राणामायुधानां प्रहारैर्घातैः । समुदा संतोषयुक्तेन । येन भटेन । यः भटः । जितः पराजितः । तेन पराजितभटेन । अमर्षात् क्रोधात् । पुनः पश्चात् सः विजयी भटः । अस्त्रसमुदायेन अस्त्राणामायुधानां समुदायेन निकरेण । योजितः[8] संबन्धितः[9] ॥४५॥ कस्येति । असिना खड्गेन । इभकुम्भम् इभस्य गजस्य कुम्भं कुम्भस्थलम् । निर्भिन्दतः[10] विदलतः । अश्वगतस्य[11] अश्वं वाजिनं गतस्य यातस्य । कस्यापि कस्यचिद्भटस्य । ततः इभकुम्भात् । पतन्ती च्यवन्ती । मौक्तिकावलिः मौक्तिकानां मुक्ताफलानामावलिः संहतिः । पुष्पवृष्टिवत् पुष्पाणां कुसुमानां वृष्टिवत् वर्षमिव ।

युद्ध क्षेत्रमें उतरनेसे पहले अपने स्वामीके प्रसादको ग्रहण करते समय योद्धाओंके चेहरोंपर जो लालिमा और अनुराग था, युद्धक्षेत्रमें उतरनेपर शत्रुओंके बाणोंको सहते समय भी उनके चेहरोंपर वही लालिमा और अनुराग छाया हुआ था ॥४२॥ योद्धाओंने अपने बाणोंसे (आकाशमें) बहुत बड़ा मण्डप बनाकर धूपको दूर कर दिया था, इसलिए उन्हें प्रहार करनेपर भी आयास नहीं जान पड़ता था ॥४३॥ जो अपने स्वामीके सम्मानके, अपनी शक्तिके और अपनी परम्पराके योग्य था, उसे बारम्बार स्मरण करते हुए सैनिक आगे चले जा रहे थे ॥४४॥ एक योद्धाने शस्त्रोंके असह्य प्रहारोंसे जिस विरोधीको जीत लिया था और खुशी मनाई थी, उसने पुनः क्रुद्ध होकर उसे (जिसने जीत लिया था) अस्त्रोंके सुमूहसे पूर दिया ॥४५॥ अपने खड्गसे हाथीके गण्डस्थलका विदारण करनेवाले किसी अश्वारोहीके ऊपर उस विदीर्ण गण्डस्थलसे गिरनेवाली गजमुक्ताओं-

१. म °मसूत् स° । २. क ख ग घ म सोऽस्त्रसमु° । ३. आ इ परन्त्यभा° । ४. = उपक्रमन्ते । ५. आ रभ । ६. = प्रसन्नताम् । ७. श °रक्तता । ८. = वेष्टितः । ९. आ संबाधितः । १०. = विदारयतः । ११. = अश्वारूढस्य ।

योधाः शस्त्रक्षताः पेतुर्भूरितापा रणाशयाः ।
भूतैर्बुभुक्षितैर्युद्धभूरिता पारणाशया ॥४७॥
भग्ने चापे गुणे छिन्ने रिक्तीभूते च बाणधौ ।
कस्याप्यासीद्द्विषा दीर्घं दण्डादण्डि कचाकचि ॥४८॥
धीरधीरारिरुधिरैरुरुधाराधरैररम् ।
धरा धराधराधारा रुरुधेऽधोऽधराधरा ॥४९॥
ये तत्र जज्ञिरेऽस्राणां प्रगुञ्जन्निनदा नदाः ।
तेष्वासन्मूलनिर्लूनाः करिणां मकराः कराः ॥५०॥

अभात् राजते[1] स्म । लङ् । उपमा[2] (उत्प्रेक्षा) ॥४६॥ योधा इति । रणाशयाः रणे संग्रामे आशयो योद्धुमभिप्रायो येषां ते । शस्त्रक्षताः शस्त्रेण खड्गेन क्षता हताः । भूरितापाः भूरि[3] बहुलः तापो येषां ते । योधाः भटाः । पेतुः पतन्ति स्म । पत्लृ गतौ लिट् । बुभुक्षितैः भोक्तुं वाञ्छद्भिः[4] । भूतैः राक्षसैः । पारणाशया पारणायां भोजने आशया वाञ्छया । युद्धभूः युद्धस्य रणस्य भूर्भूमिः । इता प्राप्ता । यमकम् ॥४७॥ [5]भग्न इति । चापे कोदण्डे । भग्ने वधिते । गुणे ज्यायाम् । छिन्ने त्रुटिते । बाणधौ इषुधौ । रिक्तीभूते शून्ये जाते च । कस्यापि भटस्य । द्विषा शत्रुणा । दीर्घं चिरम् । दण्डादण्डि दण्डाश्च दण्डाश्च परस्परस्य प्रहरणं (यस्मिन्) युद्धे तद्दण्डादण्डि । 'मिथो ग्रहणे प्रहरणे च सरूपं युद्धेऽव्ययीभावः' इति समासः । कचाकचि कचाश्च कचाश्च परस्परस्य ग्रहणं यस्मिन् युद्धे तत् कचाकचि । आसीत् अभवत् । लङ्[6] ॥४८॥ धीरेति । उरुधाराधरैः उर्वी महतीं धारां प्रवाहं धरन्तीत्युरुधाराधरास्तैः । धीरधीरारिरुधिरैः धीराणां धीरा धीरधीराः ते च तेऽरयश्च धीरधीरारयः तेषां रुधिरैः रक्तैः । धराधराधारा धराधराणां पर्वतानामाधाराऽधिकरणम्[7] । अधोऽधः [अधः] अधोभागे[8] । 'सामीप्ये—' इत्यादिना द्विः (?) । अधराधरा भृशं निम्नरूपा । धरा भूमिः । अरम् अत्यन्तम् । रुरुधे रुध्यते स्म । रुधृञ् आवरणे कर्मणि लिट् । द्व्यक्षरचित्रम् ॥४९॥ [9]य इति । तत्र रणभूमौ । अस्राणां रक्तानाम् । प्रगुञ्जन्निनदाः प्रगुञ्जन्नव्यक्तो निनदो ध्वनिर्येषां ते । ये केचित् । नदाः नद्यः । जज्ञिरे जायन्ते स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे लिट् । तेषां नदानाम् (तेषु नदेषु) । मूलनिर्लूनाः मूलात्[10] प्रथमात् निर्लूनाः खण्डिताः । करिणां गजानाम् । कराः शुण्डादण्डाः । मकराः जलचरविशेषाः । आसन् अभूवन् । अस भुवि लङ् । यमकम्

की झड़ी पुष्पवृष्टि सरीखी प्रतीत हो रही थी ॥४६॥ रणकी इच्छासे कुछ योद्धा ज्योंही आगे बढ़े त्योंही वे शत्रुओंके शस्त्रोंसे घायल होकर अत्यधिक सन्तापका अनुभव करते हुए युद्ध भूमिमें गिर गये, और फिर पारणा करनेकी इच्छासे भूखे भूतोंने उसे घेर लिया ॥४७॥ एक धनुर्धारी योद्धा दूसरे धनुर्धारी योद्धासे लड़ रहा था, किन्तु जब उसका धनुष टूट गया, प्रत्यञ्चा कट गयी और तर्कस (तूणीर, जिसमें बाण रखे जाते हैं) खाली हो गया, तब उसने लाठी लेकर प्रतिपक्षीसे युद्ध किया, और जब लाठी भी टूट गयी तब वह उसके बालोंको पकड़कर लड़ा ॥४८॥ पर्वतोंका आश्रय पाकर रहनेवाली पृथिवी, नीचेकी ओर जिधर खूब ढालू थी, अत्यन्त धीर योद्धाओंके बड़े-बड़े, रुधिरके मेघोंके द्वारा लबालब भर दी गयी ॥४९॥ उस युद्धभूमिमें अव्यक्त शब्द करनेवाली रुधिरकी बड़ी-बड़ी नदियाँ बहने लगीं । उनमें जड़से कटकर गिरी हुई

---

१. श आभात् राजति । २. आ 'उपमा' इति नास्ति । ३. श भूरिः । ४. आ वाञ्छितैः । ५. श भग्ने इति । ६. आ लुङ् । ७. आ °धारा निलय । = धराधराः पर्वता एवाधारोऽवष्टम्भो यस्याः सा । ८. आ अधोभागेऽधोभागे । ९. श ये । १०. = मूलभागतः ।

कश्चिदालोहनिर्मग्नैः प्रत्यङ्गं पूरितः शरैः ।
बभावभ्यरि निष्कम्पः सप्ररोह[1] इव द्रुमः ॥५१॥
केन तत्रसुरालोकं गतेन प्रेतवर्तिना ।
के न तत्र सुरा लोकं त्यक्त्वा स्वं कौतुकागताः ॥५२॥
जज्ञे मांसोपदंशासृगासवोन्मत्तचेतसाम् ।
डाकिनीनां नटन्तीनां कबन्धैर्नाट्यसूरिभिः ॥५३॥
निरन्तरनिपातीषुजालप्रच्छन्नमूर्तिना ।
भयादिव कुतोऽप्यासीद्भानुनापि पलायितम् ॥५४॥
योधानामायुधच्छिन्नैर्विरेजे रणरङ्गभूः ।
शिरोभिः शतपत्रौघैरिव व्योमसरश्च्युतैः ॥५५॥

॥५०॥ कश्चिदिति । प्रत्यङ्गम् अङ्गमङ्गं प्रति [2]प्रत्यङ्गम्, प्रत्यवयवमिति यावत् । आलोहनिर्मग्नैः आलोहं लोहशलाकापर्यन्तं निर्मग्नैः प्रविष्टैः । शरैः बाणैः । पूरितः व्याप्तः । कश्चित् एको भटः । सप्ररोहः प्ररोहैः सहितः । द्रुम इव वृक्ष इव । अभ्यरि अरेः शत्रोरभिमुखम्[3] । निष्कम्पः निश्चलः । बभौ भातिस्म । उत्प्रेक्षा ॥५१॥ केनेति । स्वं स्वकीयम् । लोकं जगत् । त्यक्त्वा विमुच्य । कौतुकागताः कौतुकेन कुतूहलेन आगता आयाताः । के सुराः के देवाः । तत्र रणे । आलोकं दर्शनपदम् । गतेन यातेन । प्रेतवर्तिना प्रेते प्रेतभूमौ वर्तिना वर्तनशीलेन । केन मस्तकेन । 'कं वारिणि च मूर्धनि च' । न तत्रसुः न बिभ्यति स्म । [4]त्रसैं उद्वेजने लिट् । यमकम् ॥५२॥ जज्ञे[5] इति । मांसोपदंशासृगासवोन्मत्तचेतसां मांसमेवोपदंशो यस्य तन्मांसोपदंशं (तत्) च तत् असृग्रक्तं च (तदेव) आसवो मद्यं तेनोन्मत्तमुन्मादयुक्तं चेतो यासां तासाम् । नटन्तीनां नृत्यन्तीनाम् । डाकिनीनां पिशाचभेदानाम् । मध्ये । कबन्धैः शवैः । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमरः । नाट्यसूरिभिः नाट्यस्य[6] नाटकस्य सूरिभिराचार्यैः । जज्ञे जायते स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे लिट् । उत्प्रेक्षा (रूपकम्) ॥५३॥ निरन्तरेति । निरन्तरनिपातीषुजालप्रच्छन्नमूर्तिना निरन्तरं निरवकाशं निपातिनां निपततामिषूणां बाणानां जालेन समूहेन प्रच्छन्ना व्यवहिता मूर्तिर्यस्य तेन । भानुनापि सूर्येणापि । कुतोऽपि कस्मादपि । भयात् भीतेः । पलायितमिव विद्रुतमिव । उत्प्रेक्षा ॥५४॥ योधानामिति । आयुधच्छिन्नैः आयुधैः शस्त्रैश्छिन्नैःछेदितैः । योधानां भटानाम् । शिरोभिः मस्तकैः । रणरङ्गभूः रणस्य संग्रामस्य रङ्गस्य भूर्भूमिः । व्योमसरश्च्युतैः卐

हाथियोंकी सूंडें मगर सरीखी प्रतीत हो रही थीं ॥५०॥ किसी वीर योद्धाके अङ्ग-अङ्गमें बाण प्रविष्ट हो गये थे—बाणोंके नुकीले अगले भाग-जो लोहेके थे—अन्दर धँसे हुए थे और शेष भाग बाहर निकले हुए थे, फिर भी वह शत्रुके सामने निष्कम्प होकर खड़ा हुआ था। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो अङ्कुरित वृक्ष खड़ा हो ॥५१॥ रण देखनेके कौतूहलसे अपना लोक छोड़कर वहाँ (रण भूमिमें) आये हुए वे कौनसे देव थे, जो धड़से अलग हुए, मृत योद्धाके सिरको देखकर न डर गये हों ? ॥५२॥ मांसरूपी जायकेदार खाद्यवस्तु और रुधिर रूपी मद्यका सेवन करनेसे डाकिनियोंको उन्माद हो गया, उनके चित्त भ्रान्त हो गये और इसीलिए वे नाचने लगीं। उन्हींके साथ धड़ भी नाच रहे थे, जो उन्हें नृत्यकी शिक्षा देनेवाले नाट्याचार्य सरीखे जान पड़ते थे ॥५३॥ निरन्तर गिरनेवाले बाणोंके जालसे सूर्य तिरोहित हो गया—दृष्टिसे ओझल हो गया। अतएव ऐसा प्रतीत होता था मानो वह डरके कारण कहीं भाग गया हो ॥५४॥ आयुधोंसे कटकर गिरे हुए योद्धाओंके सिरोंसे रणभूमिरूपी रङ्गमञ्च

१. अ आ इ सप्रारोह° । २. आ 'अङ्गमङ्गं प्रति प्रत्यङ्गम्' इति नोपलभ्यते । ३. श °मुखः । ४. आ त्रस्ये । ५. श जज्ञे । ६. = नृत्यस्य ।

येनैकोऽपि जितः श्लाघ्यः स्वामिनामा न ना नृता ।
बभूव तस्य न कृता स्वामिना माननानृता ॥५६॥
न पपात रणे तावद्धीरश्छिन्नेऽपि[1] मूर्धनि ।
तत्कालोद्गीर्णखड्गेन रिपुर्यावन्न पातितः ॥५७॥
पाणिभिर्गलितास्त्रौघाश्चरणैश्छिन्नपाणयः ।
छिन्नाङ्घ्रयो दुर्वचनैः प्रजह्रुः शौर्यशालिनः ॥५८॥
दन्तिनो दन्तिभिर्भिन्नाः पत्तयः पत्तिसादिताः ।
पेतू रथा रथिच्छिन्नास्तुरगास्तुरगिक्षताः ॥५९॥

व्योमेव गगनमेव सरः सरोवरं (रः) तस्माच्च्युतैः [2]पतितैः卐 । शतपत्रौघैरिव शतपत्राणां कमलानामोघैः समूहै रिव । विरेजे रराज । राजृ[3] दीप्तौ । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥५५॥ येनेति । येन भटेन । श्लाघ्यः संस्तुत्यः[4] । स्वामिनामा स्वामीति नाम यस्य सः, महानित्यर्थः । कोऽपि[5] (एकोऽपि) ना पुमान् । न जितः न पराजितः । तस्य भटस्य नृता पुरुषत्वम् । न बभूव न भवति स्म । स्वामिना प्रभुणा [तस्य] मानना पूजना । अनृता असत्या । [न] कृता (न) विहिता । येन भटेन प्रतिभटो नजितस्तस्य पुरुषत्वं व्यर्थमेव, जितश्चेत्सार्थकं भवति, इत्यर्थः । यमकम् ॥५६॥ नेति । धीरः[6] धैर्यवान् । मूर्धनि मस्तके । छिन्नेऽपि । तत्कालोद्गीर्णखड्गेन तत्काले शिरश्छेदनकाले उद्गीर्णेनोद्धृतेन खड्गेनायुधेन । रिपुः शत्रुः । यावत् यावत्पर्यन्तम् । न पातितः न घातितः । तावत् तावत् पर्यन्तम् । रणे संग्रामे । न पपात न च्यवति[7] स्म । पत्लृ गतौ लिट् । वीरपुरुषः परभटाननिहत्य स्वयं न पततीत्यर्थः ॥५७॥ पाणिभिरिति । गलितास्त्रौघाः गलिता रिक्ता अस्त्राणामायुधानामोघाः समूहा येषां ते । शौर्यशालिनः शौर्येण शूरत्वेन शालिनः संपन्नाः । पाणिभिः हस्तैः । छिन्नपाणयः छिन्ना खण्डिताः पाणयो येषां ते । चरणैः पादैः । छिन्नाङ्घ्रयः छिन्ना भिन्ना[8] अङ्घ्रयः पादा येषां ते । दुर्वचनैः दुष्टवचनैः । [9]प्रजह्रुः युयुधिरे । हृञ्[10] हरणे लिट् ॥५८॥ दन्तिन इति । दन्तिभिः करिभिः । भिन्नाः छिन्नाः । दन्तिनः करिणः । पत्तिसादिताः पत्तिभिः पदातिभिः सादिताः विदारिताः । पदातयः 卐 प[11] (पा) दचारिभटाः रथिच्छिन्नाः रथिभी रथारोहैश्छिन्ना भिन्नाः । रथाः स्पन्दनाः तुरगिक्षताः तुरगिभिः अश्वारोहैः क्षता हताः । तुरगाः

ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसके ऊपर आकाशरूपी सरोवरसे टूटकर कमलोंकी राशि गिर पड़ी हो ॥५५॥ जिस योद्धाने युद्धभूमिमें किसी एक भी श्लाघ्य 'स्वामी' कहे जानेवाले महान् प्रतिपक्षीको नहीं जीता, उसकी मर्दानगी (पुंस्त्व) झूठी पड़ गयी । फलतः उसके स्वामीने भी उसका सम्मान नहीं किया ॥५६॥ रणमें सिर कट जानेपर भी एक वीर तब तक भूमिपर नहीं गिरा, जब तक कि उसने तत्काल ही म्यानसे निकाली हुई तलवारसे शत्रुको गिरा नहीं दिया ॥५७॥ शूरवीर लोग अस्त्रोंके समाप्त होनेपर हाथोंसे प्रहार करने लगे, हाथोंके कट जानेपर पैरोंसे प्रहार करने लगे और फिर पैरोंके भी कट जानेपर दुर्वचनों अर्थात् गालियोंका प्रहार करने लगे ॥५८॥ द्वन्द्व युद्धमें हाथियोंके द्वारा घायल किये गये हाथी, घुड़सवारोंके द्वारा घायल किये गये घोड़े, रथारोहियोंके द्वारा तोड़े गये रथ और पयादोंके द्वारा मारे गये

---

१. आ इ क ख ग घ म °द्वीरच्छिन्ने° । २. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । ३. आ राजृ । ४. आ स्तुत्यः । ५. 'कोऽपि' इति टीकाकृदभिमतः पाठः, प्रतिषु तु सर्वास्वपि 'एकोऽपि'—'येनैकोऽपि' इति समुपलभ्यते । ६. 'धीरः' इति टीकायां मूलप्रतिषु तु 'वीरः' इत्येव पाठः समुपलब्धः । ७. = च्यवते । ८. आ भग्नाः । ९. श प्रजगृहुः । १०. आ हृ । ११. आ स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते ।

क्वचित्पतितपत्त्यश्वं क्वचिद्भग्नमहारथम् ।
क्वचिद्भिन्नेभमासीत्तद् दुःसंचारं रणाजिरम् ॥६०॥
भङ्गं गृह्णत्यथात्मीये सैन्येऽरिशरजर्जरे ।
पृथिवीपालसेनानीरुत्तस्थौ चन्द्रशेखरः ॥६१॥
भद्राः[1] किं प्रपलायध्वं मार्गोऽयमुचितो न वः ।
दैवादुपस्थिते कृच्छ्रे शूराणां विक्रमः क्रमः[2] ॥६२॥
संभ्रमं मा वृथा कृढ्वं रूढे रणधुरां[3] मयि ।
अदृष्टपूर्वं भवतां ननु पृष्ठ[4]मरातिभिः ॥६३॥

अश्वाः । पेतुः पतन्ति स्म । पत्लृ गतौ लिट् । दीपकम् 卐 ॥५९॥ क्वचिदिति[5] । क्वचित् कस्मिंश्चित्प्रदेशे । पतितपत्त्यश्वं पतिता निपतिता पत्तयः पदातयः अश्वाः तुरगा यस्मिन् तत् । क्वचित् प्रदेशे । भिन्नेभं भिन्नाः खण्डिता इभा गजा यस्मिन् तत् । रणाजिरं रणस्य संग्रामस्याजिरमङ्गणम् । दुःसंचारं संचरितुमशक्यम् । आसीत् अभूत् । अस भुवि लङ् ॥६०॥ भङ्गमिति । अथ वीरभटयुद्धानन्तरम् । अरिशरजर्जरे[6] अरीणां शत्रूणां शरैर्बाणैर्जर्जरे[7] ग्लाने । आत्मीये स्वकीये । सैन्ये सेनायाम् । भङ्गं पराजयम् । गृह्णति सति याते सति । पृथिवीपालसेनानीः पृथिवीपालस्य सेनानीः सेनापतिः । चन्द्रशेखरः चन्द्रशेखरनामधेयः । उत्तस्थौ आगतः ॥६१॥ भद्रा इति । भद्राः भो मङ्गलपुरुषाः ! [किं] किंनिमित्तम् ? प्रपलायध्वं धावत । अय[8] गतौ । लोट्[9] । 'रो लोऽयौ'[10] इति प्रर[11] शब्दस्य र लः । अयम् एषः । मार्गः । वः युष्माकम् । 'पदाद्वाक्यस्य—' इत्यादिना युष्मच्छब्दस्य षष्ठीबहुवचनस्य वसादेशः । उचितो न योग्यो न भवति । दैवात् विधिवशात् । शूराणां वीरपुरुषाणाम् । कृच्छ्रे कष्टे । उपस्थिते[12] सति समीपं गते सति[13] । विक्रमः पराक्रमः । क्रमः परिपाटी । अर्थान्तरन्यासः ॥६२॥ संभ्रममिति । मयि । रणधुरां रणस्य संग्रामस्य धुरां भारम् । रूढे वहति[14] सति । वृथा मुधा । संभ्रमं[15] संचलनम् । मा कृध्वं मा कुरुध्वम् । डुकृञ् करणे लुङ् । भवतां युष्माकम् । पृष्ठं पृष्ठभागः । आरातिभिः शत्रुभिः । अदृष्टपूर्वं ननु दृष्टपूर्वं न भवति खलु । प्राक् पलायिता न भवत इत्यर्थः ॥६३॥

पयादे रणक्षेत्रमें गिरने लगे ॥५९॥ रणाङ्गणमें कहीं पयादे पड़े हुए थे, कहीं घोड़े तड़प रहे थे, कहीं घायल हाथी छटपटा रहे थे और कहीं टूटे हुए बड़े-बड़े रथोंका अम्बार लगा हुआ था। अतएव वहाँ संचार करना कठिन हो गया ॥६०॥ शत्रुओंके बाणोंसे जर्जर होकर अपनी सेना ज्योंही हिम्मत हारकर पराजय मानने और भागनेके लिए तैयार हुई, त्योंही पृथिवीपालका सेनापति चन्द्रशेखर उठकर सामने आ गया ॥६१॥ और यों कहने लगा—'हे भद्र पुरुषों ! क्यों भाग रहे हो ? यह भागनेका मार्ग तुम्हारे लिए उचित नहीं है। भाग्यवश सङ्कट उपस्थित हो जानेपर पराक्रम दिखलाना शूरवीरोंकी परिपाटी है ॥६२॥ सङ्ग्रामका भार मैं संभालता हूँ। आप लोग व्यर्थ ही मत घबराओ। निश्चय ही आप लोगोंकी पीठको शत्रुओंने आज तक नहीं देखा—आप लोग पहले कभी भी पीठ दिखलाकर सङ्ग्राम भूमिसे नहीं भागे ॥६३॥

---

१. अ क ख ग घ म भटाः । २. क ख ग घ म विक्रमक्रमः । ३. आ इ रणधुरं । ४. अ दृष्टम° । ५. आ अस्य श्लोकस्य व्याख्यापूर्णा समवलोक्यते । ६. आ °जर्झरे । ७. आ °जर्झरे । ८. आ अय पय । ९. श लेट् । १०. श 'रो लोऽयो' इति नास्ति । ११. आ पर श° । १२. = समायाते । १३. आ 'समीपं गते सति' इति नास्ति । १४. आ 'वहति' इति नास्ति । १५. श संभ्रमः ।

प्राणैरस्थास्नुभिः स्थास्नु यशश्चेदधिगम्यते ।
क्रियते स्वामिकार्यं च ना पुष्येद्[1] मरणं रणे ।।६४।।
इति संधीरयन्नात्मसैन्यं रणपराङ्मुखम् ।
डुढौके चण्डदोर्दण्डकृष्टकोदण्डदारुणः ।।६५।।
शरपञ्जरसंछन्न[2]समस्तगगनोदरः ।
चकार क्षणमात्रेण स शत्रुकुलमाकुलम् ।।६६।।
तं रथस्थं रथारूढः स्वर्भानुरिव भास्करम् ।
भीमः कटाक्षयामास पद्मनाभचमूपतिः[3] ।।६७।।
तयोर्बभूव तुमुलं रणधूर्धरयो रणम्[4] ।
व्योमव्यापीषुसंपातैर्दूरमुत्सारितामरम् ।।६८।।

प्राणैरिति । चेत् यदि । अस्थास्नुभिः (वि-) शरारुभिः । प्राणैः असुभिः । स्थास्नु स्थिररूपम् । यशः कीर्तिः । अधिगम्यते लभ्यते । गम्लृ गतौ कर्मणि लट् । स्वामिकार्यं च स्वामिनः प्रभोः कार्यं सेवनं [च] क्रियते विधीयते । कर्मणि लट् । रणे संग्रामे । ना भटपुरुषः मरणं प्राणत्यागम् । पुष्येत् प्रवर्धयेत् । पुष पुष्टौ कर्मणि लिङ् । भटो रणे मरणं शोभावहं मन्यत इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ।।६४।। इतीति । रणपराङ्मुखं रणस्य संग्रामस्य[5] पराङ्मुखं विमुखम् । आत्मसैन्यम् आत्मनो निजस्य सैन्यं सेनाम् । इति उक्तप्रकारेण । संधीरयन् धैर्ययुक्तं कुर्वन् । चण्डदोर्दण्डकृष्टकोदण्डदारुणः चण्डेनोग्रेण दोर्दण्डेन भुजदण्डेन कृष्टेनाकृष्टेन कोदण्डेन चापेन दारुणो भयंकरः । डुढौके रुरुधे । ढौकृञ् गतौ लिट् । जातिः ।।६५।। शरेति । शरपञ्जरसंछन्नसमस्तगगनोदरः शराणां बाणानां पञ्जरेण संछन्नं गगनस्याकाशस्योदरं मध्यप्रदेशो यस्य[6] सः । चन्द्रशेखरःक्षणमात्रेण अल्पकालमात्रेण । शत्रुकुलं रिपुकुलम् । आकुलं चिन्ताक्रान्तम् । चकार विदधौ[7] । लिट् । जातिः ।।६६।। तमिति । रथारुढः रथं स्यन्दनमारूढः । भीमः भीमनामधेयः । पद्मनाभचमूपतिः पद्मनाभस्य राज्ञः चमूपतिः सेनापतिः । रथस्थं रथे स्थितम् । तं चन्द्रशेखरम् । भास्करं सूर्यम् । स्वर्भानुरिव राहुग्रह इव । कटाक्षयामास अपाङ्गेन वीक्षां[8] चकार । उपमा ।।६७।। तयोरिति । रणधूर्धरयोः रणस्य संग्रामस्य धुरं भारं धरयोर्धरतोः । तयोः भीमचन्द्रशेखरयोः । व्योमव्यापीषुसंपातैः व्योम गगनं व्यापिनां संकिरतामिषूणां बाणानां संपातैर्विमोचनैः । दूरं विप्रकृष्टम् । उत्सारितामरम् उत्सारिता निवारिता अमरा देवा यस्मिन् (यस्मात्) तत् । तुमुलं परस्पर-

यदि अस्थिर प्राणोंसे स्थिर यश मिल जाता है और साथमें अपने स्वामीका काम भी हो जाता है, तो सङ्ग्राममें मर जाना बुरा नहीं—कोई घाटेका सौदा नहीं है । एक योग्य सैनिक ऐसे मरणका अवश्य ही समर्थन करेगा ।।६४।। अपनी, रण विमुख सेनाको इस तरह ढाढस बंधाता हुआ सेनापति चन्द्रशेखर आगे बढ़ा, और उसने अपने प्रचण्ड भुजोंसे धनुष खींचना शुरू कर दिया। इस समय वह बड़ा ही भयङ्कर दिखलाई पड़ रहा था ।।६५।। सेनापति चन्द्रशेखरने आकाशके मध्यभागको बाणोंके पञ्जरमें बन्द कर दिया—आकाशके मध्यमें चन्द्रशेखरके बाण-ही-बाण दृष्टिगोचर हो रहे थे । बाणोंसे खाली आकाश किसी ओर भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। उसने क्षणभरमें शत्रुओंके समुदायको व्याकुल कर दिया ।।६६।। रथपर बैठे हुए सेनापति चन्द्रशेखरको पद्मनाभके सेनापति भीमने—जो रथके ऊपर आरूढ़ था—वक्रदृष्टिसे देखा । जैसे राहु सूर्यको देखता है ।।६७।। युद्धकलामें कुशल भीम और चन्द्रशेखर सेनापतिमें घोर सङ्ग्राम

१. 'पुष्येत्' इति टीकानुसारी पाठः, प्रतिषु तु 'नाकृत्यं मरणं रणे' इति दृश्यते । २. क ख ग °संछिन्न° । ३. म 'त्रिभिः कुलकम्' । ४. अ °दुर्धरयो रणम् । ५. = रणात् संग्रामात् । ६. = येन । ७. = विदधे । ८. श ईक्षां ।

परस्परास्त्रसंघट्टप्रोच्छलद्धुतभुक्छिखम् ।
तीक्ष्णरोपपरिक्षेपखण्डितान्योन्यकेतनम् ॥६९॥
प्रध्वनद्धनुरारावरोषितक्षीबकुञ्जरम् ।
प्रहारविगलद्रक्तधारारचितदुर्दिनम् ॥७०॥
रन्ध्रं प्राप्यार्धचन्द्रेण ततो भीमस्य भासुरम् ।
किरीटं पातयामास सचिह्नं शशिशेखरः ॥७१॥
भीमेनापि हतः शक्त्या क्रोधादरिरुरःस्थले ।
निपपात वमन्नस्रं[1] सह स्वामिजयाशया ॥७२॥
पुरः पतितमालोक्य तं प्रतापमिव प्रभोः ।
केतुः केतुरिवोत्तस्थौ त्रासयन्नखिलं जनम् ॥७३॥

संघट्टनरूपम् । रणं (रणः) संग्रामः । बभूव भवति स्म । लिट् ॥६८॥ परस्परेति । परस्परास्त्रसंघट्टप्रोच्छलद्धुतभुक्शिखं परस्परस्यान्योन्यस्य अस्त्राणां संघट्टनेन[2] स्पर्द्धेन प्रोच्छलन्ती उद्गच्छन्ती हुतभुजो अग्नेः शिखाज्वाला यस्मिन् तत् । तीक्ष्णरोपपरिक्षेपखण्डितान्योन्यकेतनं तीक्ष्णरोपाणां बाणानां परिक्षेपेण विकिरणेन खण्डितानि छिन्नानि अन्योन्यस्य केतकानि[3] ध्वजानि यस्मिन् (तत्) ॥६९॥ प्रध्वनदिति । प्रध्वनद्धनुरारावरोषितक्षीबकुञ्जरं प्रध्वनतां ध्वनिं कुर्वतां धनुषां चापानामारावेण शब्देन रोषिताः कोपिताः क्षीबा मत्ताः कुञ्जरा गजा यस्मिन् तत् । प्रहारविगलद्रक्तधारान्तरितदुर्दिनं[4] प्रहारेण प्रहरणेन विगलन्त्या प्रस्रवन्त्या रक्तस्यासृजो धारया प्रवाहेणान्तरितं व्यवहितं दुर्दिनं मेघच्छन्नदिनं यस्मिन्[5] तत् । त्रिभिः कुलकम् (विशेषकम्) ॥७०॥ रन्ध्रमिति । ततः पश्चात् । शशिशेखरः चन्द्रशेखरः । रन्ध्रं समयम् । प्राप्य लब्ध्वा । अर्धचन्द्रेण[6] अर्धचन्द्राकारेण बाणेन । भीमस्य पद्मनाभसेनापतेः । भासुरं देदीप्यमानम् । किरीटं मकुटम् । सचिह्नं ध्वजसहितम्[7] । 'ध्वजः पताका केतुश्च चिह्नं यद्वैजयन्त्यपि' । पातयामास अपनिनाय । पत्लृ गतौ णिजन्ताल्लिट् ॥७१॥ भीमेनेति । भीमेनापि पद्मनाभस्य सेनापतिनापि । क्रोधात् कोपात् । उरःस्थले वक्षःस्थले । शक्त्या शक्त्यायुधेन । हतः हिंसितः । अरिः शत्रुः । स्वामिजयाशया स्वामिनोर्विभोर्जयस्य विजयस्याशया वाञ्छया । सह साकम् । अस्रं रक्तम् । वमन् उद्गिरन् । निपपात पतति स्म । लिट् । सहोक्तिः[8] ॥७२॥ पुर इति । प्रभोः स्वामिनः । प्रतापमिव सामर्थ्यमिव । पुरः अग्रे । पतितं तं चन्द्रशेखरम् । आलोक्य वीक्ष्य । केतुरिव धूमकेतुवत् । केतुः केतुराजः । निखिलं[9] सकलम् । जनं लोकम् । त्रासयन् तर्जयन् । उत्तस्थौ उत्तिष्ठति स्म ।

छिड़ गया । दोनोंके आकाशव्यापी बाणोंके गिरनेसे देव लोग वहाँसे बहुत दूर हट गये ॥६८॥ परस्परके अस्त्रोंके टकरानेसे अग्निकी ज्वाला निकल पड़ी । तीखे बाणोंके प्रहारसे दोनोंने एक दूसरेके झण्डे काट डाले ॥६९॥ दोनोंके धनुषोंके शब्द सुनकर मदोन्मत्त हाथी क्रुद्ध हो उठे, और अस्त्रोंके प्रहारसे रुधिरकी धारा बहने लगी, उसने वर्षाकालीन दिनको—जिसमें खूब मेघ घुमड़ रहे हों—मात कर दिया ॥७०॥ चन्द्रशेखरने अवसर पाकर अर्धचन्द्राकार बाणसे भीमका चिह्न सहित देदीप्यमान मुकुट गिरा दिया ॥७१॥ भीमने भी क्रुद्ध होकर चन्द्रशेखरके सीनेपर शक्ति नामक आयुधका प्रहार किया, जिससे उसके मुखसे खून आने लगा, और फिर वह अपने स्वामीकी विजयकी आशाके साथ नीचे गिर गया ॥७२॥ राजा पृथिवीपालके प्रतापके समान प्रतीत होनेवाले चन्द्रशेखरको सामने गिरा हुआ देखकर केतु

---

१. म वमन्नस्त्रं । २. = संघर्षणेन । ३. = ध्वजाः । ४. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु °रचितदुर्दिनम् इत्येव दृश्यते । ५. = येन । ६. श °चन्द्रिणा । ७. आ ध्वजसहितं यथा । ८. श उपमा । ९. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'अखिलं' इति समुपलभ्यते ।

स क्रुद्धेन सुभीमेन स्फुरद्दर्पमहाविषः ।
तार्क्ष्येणाशीविष इव निर्विषीकृत्य तर्जितः ॥७४॥

रथस्थेन समुत्तस्थे भग्ने केतौ सुकेतुना ।
पुरः प्रदर्शितात्मीयमरुच्चञ्चलकेतुना ॥७५॥

तं महास्त्रैर्महासेनश्चकार शतशर्करम् ।
दुर्धरैःप्रलयाम्भोदो[1] वज्रैरिव महीधरम् ॥७६॥

वीक्ष्य तार्क्ष्यमिव च्छिन्नपक्षं तं पतितं रणे ।
विरोचन इवासह्यधामाधावद्विरोचनः ॥७७॥

तं गजस्थं गजारूढः सेनः सेना[2]समन्वितः ।
संमुखैर्विमुखं बाणैर्विदधे पुरुविक्रमः[3] ॥७८॥

लिट् । उपमा ॥७३॥ स इति[4] । स्फुरद्दर्पमहविषः स्फुरन् प्रज्वलन् दर्प इव (एव) महत् पृथुलं विषं गरलं यस्य सः । सः केतुराजः । क्रुद्धेन[5] कोपितेन । भीमेन पद्मनाभस्य सेनान्या । रूपकम् । तार्क्ष्येण गरुडेन । आशीविष इव सर्पवत् । निर्विषीकृत्य सामर्थ्यरहितं कृत्वा । तर्जितः त्यक्तः । उपमा ॥७४॥ रथेति । केतौ केतुराजे । भग्ने[6] भङ्गं याते सति । पुरः अग्रे । प्रदर्शितात्मीयमरुच्चञ्चलत्केतुना प्रदर्शिताः प्रकाशिता आत्मीयाः स्वकीया मरुता वायुना चञ्चलाः कम्पमानाः केतवः पताका यस्य तेन । रथस्थेन रथे आस्थितेन[7] । सुकेतुना सुकेतुराजेन । समुत्तस्थे समुत्थीयते स्म ॥७५॥ तमिति । प्रलयाम्भोदः प्रलयस्य प्रलयकालस्याम्भोदो मेघः । दुर्धरैः दुर्वारैः । वज्रैः अशनिभिः । महीधरमिव पर्वतमिव । महासेनः महासेनराजः । महास्त्रैः महाशस्त्रैः । तं सुकेतुम् । शतशर्करं शतखण्डं शतचूर्णं वा । चकार करोति स्म । उपमा ॥७६॥ वीक्ष्येति । छिन्नपक्षं छिन्नो भिन्नः पक्षः पतत्रं यस्य तम् । तार्क्ष्यमिव गरुडमिव । रणे संग्रामे । पतितं च्युतम् । तं सुकेतुम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । विरोचन इव सूर्य इव । असह्यधामा असह्यं सोढुमशक्यं धाम तेजो यस्य सः । विरोचनः विरोचनराजः । अधावत् वेगेनागच्छत् । सृ गतौ लङ् । उपमा ॥७७॥ तमिति । गजारूढः गजं करिणमारूढः । पुरुविक्रमः पुरुर्महान् विक्रमः पराक्रमो यस्य सः । सेनः पद्मनाभपक्षसेनराजः । सेनासमन्वितं[8] सेनया समन्वितं सहितम् । गजस्थं गजारूढम् । तं विरोचनराजम् । संमुखैः अभिमुखैः । बाणैः शरैः । विमुखं

ग्रह सरीखा केतु नामक राजा सभी प्रतिपक्षी लोगोंको भयभीत करता हुआ लड़नेके लिए खड़ा हो गया ॥७३॥ जहरीले नागको भाँति केतुका घमण्ड रूपी तीव्र विष बढ़ता जा रहा था, पर भीमने गरुड़की तरह क्रुद्ध होकर विष उतार दिया और उसे निर्जीव-सा कर दिया ॥७४॥ केतुके पराजित हो जानेपर सुकेतु सामने आया, वह रथपर सवार था और उसके द्वारा प्रदर्शित झण्डा हवासे लहरा रहा था ॥७५॥ उसे महासेनने अपने बड़े-बड़े अस्त्रोंसे सौ टूंक कर डाला । जिस तरह प्रलयकालीन मेघ दुर्वार वज्रोंको बरसाकर पहाड़को सौ टूंक कर देता है—चूर-चूर कर देता है ॥७६॥ कटे पंखोंवाले गरुडकी भाँति उस सुकेतुको रणमें गिरा हुआ देखकर सूर्यकी तरह असह्य तेजको धारण करनेवाला विरोचन बड़े वेगसे सामने आया ॥७७॥ वह हाथीपर सवार था, अतः अत्यन्त पराक्रमी सेन राजाने भी—जिसके साथ सेना भी थी—हाथीपर चढ़कर उसे

---

१. म दुर्धरप्रलयाम्भोदै । २. इ सेनः सेनां । ३. अ गुरुविक्रमः । ४. श 'सक्रुद्धेन....' इत्यादि पद्यस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ५. =कुपितेन । ६. =पराजिते । ७. =रथारूढेन । ८. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'समन्वितः' इत्येव दृश्यते ।

धनुर्महारथेनाथ दुधुवे धैर्यशालिना ।
स्वपक्षव्यसनालोकसमुद्दीपितचेतसा ॥७९॥
नग्नश्रावितनामासौ बद्धभ्रुकुटिभीषणः ।
ववर्ष शरधाराभिरभि शत्रुपताकिनीम् ॥८०॥
क्वासौ भीमरथो यस्य बलेन किल जेष्यति ।
पद्मनाभो नटत्क्रूरकबन्धामरिवाहिनीम् ॥८१॥
गर्वगद्गदमित्युक्त्वा चिह्नोद्देशेन संमुखम् ।
धावन्प्रत्यवतस्थेऽरिः शरैर्भीमरथेन सः ॥८२॥
चिरमक्षतदेहौ तौ शरैरप्राप्तखण्डितैः ।
युयुधाते महावीरौ विस्मितामरवीक्षितौ ॥८३॥

पराङ्मुखम् । विदधे चक्रे । लिट् ॥७८॥ धनुरिति । अथ विरोचनवैमुख्यानन्तरम्[2] । स्वपक्षव्यसनालोकसमुद्दीपितचेतसा स्वस्य आत्मनः पक्षस्य व्यसनस्य आलोकेन वीक्षणेनोद्दीपितं कोपितं चेतश्चित्तं यस्य तेन । धैर्यशालिना धैर्येण धीरत्वेन शालिना संपन्नेन । महारथेन महारथराजेन । धनुः चापं[3] । दुधुवे धूयते स्म[4] । धूञ्[5] कम्पने कर्मणि लिट् ॥७९॥ नग्नेति । नग्नश्रावितनामा नग्नैः स्तुतिपाठकैः श्रावितमाकर्णितं (श्रुतिविषयतां नीतं) नाम यस्य सः । बद्धभ्रुकुटिभीषणः बद्धया रचितया भ्रुकुट्या भ्रूभङ्गेन भीषणो भयङ्करः । असौ महारथः । शत्रुपताकिनीं रिपुसेनाम् । अभि अभिमुखम् । शरधाराभिः शराणां बाणानां धाराभिः प्रवाहैः । ववर्ष वर्षति स्म । वृष(षू) सेचने लिट् ॥८०॥ क्वेति । यस्य राज्ञः । बलेन सहायेन । पद्मनाभभूपः । नटत्क्रूरकबन्धां नटन् नृत्यन् क्रूरो निष्ठुरः कबन्धः शवो यस्यां ताम् । अरिवाहिनीम् अरेः शत्रोर्वाहिनीं सेनाम् । जेष्यति परिभविष्यति किल । असौ एषः । भीमरथः भीमरथनामा । क्व कुत्र वर्तते ? ॥८१॥ गर्वेति । गर्वगद्गदं गर्वेणाहङ्कारेण गद्गदोऽव्यक्तवचनं यस्मिन्कर्मणि तत्० । इति एवम् । उक्त्वा निगद्य । चिह्नोद्देशेन चिह्नेन लक्षणेन उद्देशेन वचनेन । संमुखम् अभिमुखम् । धावन् वेगेनागच्छन् । सः । अरिः शत्रुः । भीमरथेन भीमरथराजेन । शरैः बाणैः । प्रत्यवतस्थे निरुध्यते स्म । ष्ठा[6] गतिनिवृत्तौ कर्मणि

सम्मुख बाणोंसे विमुख कर दिया ॥७८॥ विरोचनके पराङ्मुख होते ही महारथने—जो धैर्यसे विभूषित था और जिसे अपने पक्षपर आये हुए सङ्कटको देखकर क्रोध उत्पन्न हो गया था—धनुष उठा लिया, और उसे हिलाना शुरू कर दिया ॥७९॥ लोगोंने उसका नाम स्तुति पाठकोंसे सुना । भ्रकुटि टेढ़ी कर लेनेसे वह बड़ा भयङ्कर दिख रहा था । उसने शत्रु सेनापर बाण बरसाना प्रारम्भ किया ॥८०॥ 'पद्मनाभ, जिसके बलसे शत्रुओंकी सेनाको—जिसमें धड़ नाच रहे हैं—जीतेगा वह भीमरथ कहाँ है ?' ॥८१॥ गर्वसे गद्गद होकर यों कहते ही महारथ भीमरथके चिह्नको लक्ष्यकर उसकी ओर दौड़ा, पर भीमरथने अपने बाणोंसे उसे बीच ही में रोक दिया ॥८२॥ वे दोनों ही बड़े वीर थे, और थे धनुर्विद्यामें प्रवीण । दोनों एक दूसरेके ऊपर बाण बरसा रहे थे, किन्तु बीचमें ही काट दिये जानेसे, वे किसीको भी नहीं लग पाते थे । अतः दोनों बहुत देर तक लड़ते रहे, पर घायल नहीं हुए । देव लोग भी उन्हें

---

१. आ °विमुखान° । २. श व्यसनस्यास्वर्धनपत्तेरालोकेन । ३. = चापः । ४. श दुदुवे दूयते स्म । ५. दूञ् । ६. श स्था ।

ककुप्पर्यन्तविश्रान्ततद्बाणभयविह्वलम् ।
नूनं व्योम तदा ह्यासीन्मुक्तमूर्तिपरिग्रहम् ॥८४॥
वीराभि[1]लाषात्सर्पन्ती समीपमुभयोर्मुहुः ।
गतागतपरिक्लेशं न जयश्रीरजीगणत् ॥८५॥
मन्त्रेणेव ततः शत्रोः शङ्कुना मूर्ध्नि ताडितः ।
मूर्च्छां भीमरथो भीमभुजंगम इवागमत् ॥८६॥
क्षणं प्रतीक्षते यावत्क्षात्रध[2]र्माश्रयादरिः ।
उत्तस्थौ दशनैस्तावत्स दशन्दशनच्छदम् ॥८७॥

लिट् ॥८२॥ चिरमिति । अप्राप्तखण्डितैः अप्राप्तैरनालग्नैः खण्डितैश्छिन्नैः । शरैः बाणैः । चिरं बहुकालपर्यन्तम् । अक्षतदेहौ अक्षतौ अबाधितौ देहौ ययोस्तौ । महावीरौ महाविक्रान्तौ । विस्मितामरवीक्षितौ विस्मितैराश्चर्ययुक्तैरमरैर्देवैर्वीक्षितौ दृष्टौ । तौ महारथभीमरथौ । युयुधाते युध्येते स्म । युधि संप्रहारे लिट् ॥८३॥ ककुबिति । ककुप्पर्यन्तविश्रान्ततद्बाणभयविह्वलं ककुभां दशदिशां पर्यन्तेऽवसाने विश्रान्तैः पतितैस्तयोर्महारथभीमरथयोर्बाणैः शरैर्जनितेन भयेन विह्वलं मूर्च्छितम् । व्योम गगनम् । तदाद्या [तदा हि] ततः प्रभृति । मुक्तदेहपरिग्रहं मुक्तस्त्यक्तो देहस्य शरीरस्य परिग्रहो[3] यस्य[4] तत् । आसीत् अभूत् । लङ् । नूनं निश्चयोऽयम् । अनुमितिः[5] ॥८४॥ वीरेति । वीराभिलाषात् वीरस्य शूरस्याभिलाषाद् वाञ्छायाः सकाशात् । उभयोः महारथभीमरथयोः । समीपम् अन्तिकम् । मुहुः[6] पश्चात् । सर्पन्ती गच्छन्ती । जयश्रीः जयलक्ष्मीः । गतागतपरिक्लेशं गतागताभ्यां गमनागमनाभ्यां जातं परिक्लेशं श्रमम् । नाजीगणत्[7] संख्यां न करोति स्म । गण संख्याने लुङ् ॥८५॥ मन्त्रेणेति । ततः पश्चात् । मन्त्रेणेव मन्त्रप्रयोगेणेव । शत्रोः रिपोः । शङ्कुना शङ्कुनामायुधेन । मूर्ध्नि मस्तके । ताडितः[8] प्रहारितः । भीमरथः भीमरथराजः । भीमभुजङ्गम इव भीमो भयङ्करः स चासौ भुजङ्गमश्च सर्पश्च तथोक्तः स इव । मूर्च्छां[9] विह्वलं । अगमत् अगच्छत् । लुङ् । उपमा ॥८६॥ क्षणमिति । अरिः महारथः । क्षात्रधर्माश्रयात् क्षात्रस्य[10] क्षत्रसंबन्धस्य धर्मस्य स्वभावस्याश्रयादाश्रयणात् । यावत् यावत्पर्यन्तम् । क्षणं स्वकल्पकालपर्यन्तम् । प्रतीक्षते[11] विलोकते । [तावत्] तावदेव । दशनैः दन्तैः । दशनच्छदम् ओष्ठम् । दशन् पीडयन् । सः भीमरथः । उत्तस्थौ उत्तिष्ठति स्म । लिट् ।

आश्चर्यसे देख रहे थे ॥८३॥ इसके पश्चात् दोनोंका युद्ध और भी उग्र हो गया । दोनोंके बाण दिशाओंके अन्त तक पहुँचने लगे, जिससे उस समय आकाश भी भयभीत हो गया । मानो इसीलिए उसने मूर्तिका परिग्रह छोड़ दिया—अमूर्तिक हो गया ॥८४॥ दोनोंकी बराबरीकी जोड़ी थी, अतः कभी एक की विजय होती थी तो कभी दूसरेकी । दोनोंमें जो भी वीर निकलेगा, उसे पानेकी अभिलाषासे विजयलक्ष्मी बार-बार दोनोंके पास आ-जा रही थी उसने जाने-आनेके बहुत भारी क्लेशकी कोई पर्वाह नहीं की । वीरवरके वरणकी कामना जो थी ॥८५॥ जिस प्रकार मन्त्रसे कीलित सर्प, चाहे कितना ही भयङ्कर क्यों न हो, मूर्च्छित हो जाता है । इसी प्रकार महारथके बाणकी नोक सिरमें धँस जानेसे भीमरथ—जो जहरीले काले नागकी भाँति भयङ्कर था—मूर्छित हो गया ॥८६॥ भीमरथके बेहोश हो जानेपर महारथने क्षत्रिय धर्मका पालन करनेके लिए प्रहार बन्द कर दिया, और थोड़ी देर तक

---

१. अ वीरोऽभि° २. आ इ क्षत्त्रधर्मा° ॥ ३. आ भवानि परिग्रहो°; श भवः परिग्रहो° । ४. = येन । ५. = उत्प्रेक्षा । ६. = पुनः पुनः । ७. = न गणयामास । ८. = ताडनं प्रापितः । ९. = विह्वलताम् । १०. = क्षत्रसंबन्धिनः । ११. प्रतिपालयति ।

क्रोधस्तदङ्गे यः पूर्वं मनाक्सुप्त इव स्थितः ।
गाढारातिप्रहारेण स प्रबुद्धः[1] क्षणादभूत् ॥८८॥
स रोषाद्द्विगुणोत्साहो दन्तिना प्रेर्य दन्तिनम् ।
प्रतीच्छन्सुरसूनौघं[2] जीवग्राहं तमग्रहीत् ॥८९॥
ततः पितुर्ग्रहामर्षा[3]त्समुत्तेजितसारथिः ।
रथी सूर्यरथोऽधावद्धीरध्वनि धुनन्धनुः[4] ॥९०॥
समापतन्त[5]मालोक्य पितुः श्रान्तस्य संमुखम् ।
महीरथस्तमाह्वास्त दत्वा स्वरथमन्तरा ॥९१॥
प्रहृत्य च चिरं चञ्चच्चारुचामीकरच्छवौ ।
निचखान तदीयोरःस्थलस्थाले[6] शिलीमुखम् ॥९२॥

समाहितः ॥८७॥卐 क्रोध इति । तदङ्गे तस्य भीमरथस्याङ्गे शरीरे । पूर्वं प्राक् । मनाक् ईषत् । सुप्त इव । स्थितः आसितः । यः क्रोधः कोपः[7] 卐 । गाढारातिप्रहारेण गाढेन दृढेनारातेः शत्रोः प्रहारेण ताडनेन । सः क्रोधः । क्षणात् शीघ्रात्[8] । प्रबुद्धः[9] जागरितः । अभूत् । लुङ् ॥८८॥ स इति । रोषाद्द्विगुणोत्साहः रोषेण कोपेन द्विगुणो[10] द्विगुणयुक्तः उत्साहो वीररसो यस्य सः । सः भीमरथः । दन्तिना गजेन । दन्तिनं गजम् । प्रेर्य प्रेरयित्वा । सुरसूनौघं सुरैर्देवैः कृतं सूनौघं पुष्पवृष्टिम् । प्रतीक्षन् अङ्गीकुर्वन् । तं महारथम् । जीवग्राहं[11] गृहीतपुरुषम् । अग्रहीत्[12] । ग्रह[13] उपादाने लुङ् । 'कृञ् ग्रहोऽकृतजीवात्' इति णम्-प्रत्ययः ॥८९॥ तत इति । ततः पश्चात् । पितुः जनकस्य । ग्रहामर्षात् ग्रहाद् ग्रहणाज्जाताद् अमर्षात् कोपात् । समुत्तेजितसारथिः[14] समुत्तेजितः प्रेरितः सारथिः सूतो येन सः । रथी[15] रथयुक्तः । सूर्यरथः[16] सूर्यस्य रथनामा महारथपुत्रः । धीरध्वनि धीरो गम्भीरो ध्वनिर्यथा तथा । धनुः चापम् । धुनन् कम्पयन् । अधावत् शीघ्रमगच्छत् । जातिः ॥९०॥ समेति[17] । श्रान्तस्य आयासं गतस्य । पितुः जनकस्य । संमुखम् अभिमुखम् । समापतन्तम् आगच्छन्तम् । तं सूर्यरथम् । 卐 समालोक्य [आलोक्य[18]] वीक्ष्य । महीरथः महीरथराजः । स्वरथं निजस्यन्दनम् । अन्तरा भीमरथसूर्यरथयोर्मध्ये । दत्वा नीत्वा[19] 卐 । आह्वास्त आह्वयति स्म । ह्वेञ् (ञ्) स्पर्द्धायां लङ्[20] ॥९१॥ प्रहृत्येति चिरं बहुवेलापर्यन्तम् । प्रहृत्य युद्धं कृत्वा ।

उसकी प्रतीक्षा करता रहा । इतनेमें ही वह होठ चबाता हुआ उठ बैठा ॥८७॥ उसके शरीरमें जो क्रोध पहले सोया हुआ-सा पड़ा था, वह शत्रुके तीव्र प्रहारसे शीघ्र ही जाग उठा ॥८८॥ क्रोधके कारण भीमरथका उत्साह दूना हो गया । फिर उसने अपने हाथीसे महारथके हाथीको पीछे हटवा दिया । यह देखकर देवोंने पुष्पवृष्टि की । बस, फिर क्या था, उसने पुष्पवृष्टि स्वीकार करते हुए महारथको जीतेजी ही पकड़ लिया ॥८९॥ इसके बाद पिताके पकड़े जानेपर सूर्यरथने—जो रथपर सवार था—अपने सारथीको रथ हांकनेकी आज्ञा दी, और धनुषकी ध्वनि करता हुआ, बड़े वेगसे आगे बढ़ा ॥९०॥ अपने पिताको पस्त देखकर सूर्यरथ उसकी सहायताके लिए चला जा रहा था, पर उसके रास्तेमें रथ खड़ा करके महीरथने उसे अपने साथ युद्ध करनेके लिए ललकारा ॥९१॥ बहुत देर तक प्रहार करके महीरथने सूर्यरथके चमचमाते हुए

१. इ संप्रबुद्धः । २. म सुरसेनौघं । ३. आ इ पितृग्रहामर्षात् । ४. म ध्वनद्धनुः । ५. क ख ग घ म समायान्तं समा° । ६. अ स्थलस्थाने । ७. आ प्रतौ स्वस्तिकान्तर्गता व्याख्या नास्ति । ८. = शीघ्रम् । ९. = उद्बुद्धः । १०. = द्विगुणितः । ११. = जीवितमेव । १२. जग्राह । १३. श गृहि । १४. श 'समुत्तेजितसारथिः' इति नास्ति । १५. = रथारूढ इत्यर्थः । १६. = सूर्यरथनामा । १७. श समिति । १८. = विलोक्य । १९. आ स्वस्तिकान्तर्गता व्याख्या नोपलभ्यते । २०. श 'ह्वेङ् स्पर्द्धायां' इति नास्ति केवलं 'लुङ्' इत्यस्ति नतु लङ् ।

सप्रहारं तमादाय सारथिर्ववले बले।
सुरमुक्तानि[1] पुष्पाणि पेतुर्माहीरथे रथे ॥९३॥
ततः कलकलारावबधिरीकृतदिङ्मुखम्।
डुढौके धर्मपालेन पृथिवीपालसूनुना ॥९४॥
वपुः कोपारुणं बिभ्रद्धृतदिव्यशरासनः।
सवर्षञ्शरधाराभिर्घनः सांध्य इवाबभौ ॥९५॥
संभूयाभिमुखीभूतं बलिनस्तस्य राजकम्।
शरवर्षैर्घनस्येव संचुकोच गवां कुलम् ॥९६॥

चञ्चच्चामीकरच्छवौ चञ्चतो देदीप्यमानस्य चारोर्मनोहरस्य चामीकरस्येव सुवर्णस्येव छविः कान्तिर्यस्य तस्मिन्। तदीयोरःस्थलस्थाले तदीयस्य[2] सूर्यरथसंबन्धस्य उरसो वक्षसः स्थलमेव प्रदेश एव स्थालं भाजनं तस्मिन्। शिलीमुखं बाणम्। निचखान चिक्षेप। खनुञ् अवदारणे[3] लिट्। रूपकम् ॥९२॥ सेति। सारथिः क्षत्ता। सप्रहारं क्षतेन युक्तम्। तं सूर्यरथम्। आदाय उद्धृत्य। बले सेनायाम्। वावले (ववले) पुनराजगाम। वलि संवरणे लिट्। सुरमुक्तानि सुरैर्देवैर्मुक्तानि वर्षितानि[4] पुष्पाणि कुसुमानि। माहीरथे[5] महीरथसंबन्धे। रथे स्यन्दने। पेतुः पतन्ति स्म। पत्लृ गतौ लिट् ॥९३॥ तत इति। ततः पश्चात्। पृथिवीपालसूनुना पृथिवीपालस्य सूनुना कुमारेण। धर्मपालेन धर्मपालनामयुतेन। कलकलारावबधिरीकृतदिङ्मुखं कलकलेन कलकलरूपेण आरावेण शब्देन बधिरीकृतमेडीकृतं दिशां मुखं यस्मिन् कर्मणि तत्०। डुढौके रुरुधे। ढौकृञ् गतौ कर्मणि लिट्। जातिः ॥९४॥ वपुरिति। कोपारुणं कोपेन रोषेणारुणं लोहितवर्णयुतम्। वपुः शरीरम्। बिभ्रत् धरन्। धृतदिव्यशरासनः धृतं दिव्यं दिव्यरूपं शरासनं धनुर्येन सः। सः धर्मपालः। शरधाराभिः शराणां बाणानां धाराभिः पङ्क्तिभिः, जलधाराभिश्च। 'शरं वनं घनं तोयं नीरं जीवनमब्विषम्[6]।' वर्षन्[7] सेचयन्। सान्ध्यः सन्ध्यायां भवः। घन इव मेघ इव। आबभौ भातिस्म। भा दीप्तौ लिट्। उपमा[8] ॥९५॥ संभूयेति। घनस्य मेघस्य। शराणां जलानाम्। वर्षैः। गवां धेनूनाम्। कुलं यूथमिव। बलिनः पराक्रमयुतस्य। तस्य धर्मपालस्य। शरवर्षैः शराणां बाणानां वर्षैः। संभूय मिलित्वा। अभिमुखीभूतं संमुखमायातम्।

स्वर्णके समान कान्ति धारण करनेवाले वक्षस्थलरूपी थालमें एक बाण ठोक दिया ॥९२॥ घायल हुए सूर्यरथको लेकर सारथी उसकी सेनामें चला गया, और इधर महीरथके रथपर देवोंने पुष्प वृष्टि की ॥९३॥ इसके उपरान्त 'कल-कल' शब्दसे सारी दिशाओंको बहरा बनाता हुआ, पृथिवीपालका पुत्र धर्मपाल सामने आया ॥९४॥ जिस प्रकार इन्द्रधनुषको धारण करनेवाला संध्याकालीन लाल मेघ जल बरसाकर सुशोभित होता है। उसी प्रकार क्रोधके कारण लाल शरीर वाला, सुन्दर धनुषको धारण करनेवाला और बाणोंकी बरसा करनेवाला धर्मपाल सुशोभित हो रहा था ॥९५॥ राजाओंका सङ्घटित वर्ग बलवान् धर्मपालका मुकाबला करनेके लिए सामने आया, किन्तु उसकी बाण वर्षाके सामने टिक न सका, चुपकेसे भाग गया। जैसे मेघसे जल गिरनेपर गायोंका झुण्ड सिकुड़कर इधर-उधर भाग जाता

---

१. अ मरमुक्तानि। २. = तत्संबन्धिनः। ३. आ अवधारणे। ४. = वृष्टानि। श 'वर्षितानि' इति पदं नास्ति। ५. = महीरथसंबन्धिनि। ६. 'शरं वनं कुशं नीरं तोयं जीवनमब्विषम्' इति धनञ्जयः। ७. = विकिरन्, पक्षे सिञ्चन्। ८. = उत्प्रेक्षा।

कृत्स्नमायासितं दृष्ट्वा सामन्तकुलमाकुलम् ।
सुवर्णनाभोऽभिमुखीबभूव रिपुघस्मरः ॥९७॥
तं वाहितरथं वीक्ष्य धर्मपालो ज्वलन्क्रुधा ।
विव्याधेति वचोबाणैरधिक्षेपविषोक्षितैः ॥९८॥
अपसर्प प्रयाहीतः किं पुरो धृष्ट तिष्ठसि ।
भवद्विधे न मद्बाहुः प्रहर्तुमयमिच्छति ॥९९॥
नूनमिच्छति नो जेतुं भवतैव भवत्पिता ।
त्वन्मतेनान्यथा कस्मात्करोत्यसमविग्रहम् ॥१००॥
कस्त्वं भीमरथः को वा कियन्मात्रः स ते पिता ।
संभूय मेऽग्रतः सर्वे यदि शक्नुथ तिष्ठथ ॥१०१॥

राजकं राज्ञां समूहः । संचुकोच स्थगति स्म । कुच संकोचने लिट् । श्लेषोपमा ॥९६॥ कृत्स्नमिति । आयासितं संजातप्रयासम्[1] । 'सञ्जातं तारकादिभ्य इतः' इति इत[2]-प्रत्ययः । आकुलं व्याकुलत्वयुतम् । कृत्स्नं सकलम् । सामन्तकुलं सामन्तानां राज्ञां कुलं निवहम् । दृष्ट्वा विलोक्य । रिपुघस्मरः रिपूणां शत्रूणां घस्मरो विनाशकः । 'भक्षको घस्मरोऽद्मरः' इति । तस्य । सुवर्णनाभो युवराजः । अभिमुखीबभूव संमुखो भवति स्म । प्रागनभिमुख इदानीमभिमुखो बभूवेति तथोक्तः ॥९७॥ तमिति । क्रुधा कोपेन । ज्वलन् प्रज्वलन् । धर्मपालः पृथिवीपाल-पुत्रः । वाहितरथं वाहित[3] आरूढो रथो येन तम् । तं सुवर्णनाभम् । वीक्ष्य दृष्ट्वा । अधिक्षेपविषोक्षितैः अधिक्षेप एव तिरस्कार एव विषं तेन उक्षितैः संसिक्तैः[4] । वचोबाणैर्वचांस्येव बाणास्तैः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । विव्याध विध्यते स्म । व्यधीष्[5] भयचलनयोः (व्यध ताडने) लिट् ॥९८॥ अपेति । धृष्ट[6] भो धूर्त ! अपसर्प अपसर । इत एतस्मात्प्रदेशात् । प्रयाहि गच्छ । या प्रापणे लेट्[7] । पुरः अग्रे । किं किं निमित्तम् । तिष्ठसि वर्तसे । अयम् एषः । मद्बाहुः मम बाहुर्भुजः । भवद्विधे भवतस्तव विधे सदृशे । प्रहर्तुं प्रहरणाय । नेच्छति न वाञ्छति । इषु इच्छायां लट् । 'यमामिषोश्शिच्छः' इति च्छादेशः ॥९९॥ नूनमिति । भवतैव त्वयैव । भवत्पिता भवतस्तव पिता जनकः । नः अस्मान् । जेतुं जयनाय । इच्छति वाञ्छति । नूनं[8] निश्चयम् । अन्यथा नो चेत् । असमविग्रहम् असमेन समान (ता) रहितेन, बलिनेत्यर्थः[9] । विग्रहं संग्रामम् । त्वन्मतेन[10] तवानुमतेन । कस्मात् कारणात् । करोति विदधाति । लट् । अनुमितिः ॥१००॥ क इति । त्वं भवान् । कः कियान् । भीमरथः को वा कियान् । सः । ते तव । पिता जनकः । कियन्मात्रः कियत्प्रमाणः । यदि शक्नुथ समर्था भवन्ति चेत्[11] । सर्वे यूयम् । संभूय मिलित्वा । मे मम । अग्रतः अग्रे । तिष्ठथ[12] आध्वम्[13] ।

है ॥९६॥ समस्त सामन्तोंका समूह थक कर चूर हो गया और घबरा गया, यह देखकर शत्रुओंका संहार करनेवाला सुवर्णनाभ सामने आया ॥९७॥ अपने रथको आगे बढ़वानेवाले सुवर्णनाभको देखकर धर्मपाल क्रोधसे जल उठा, और आक्षेपके विषसे सिञ्चित वचन-बाणोंसे उसे बींधनेको उद्यत हो गया—॥९८॥ अरे ढीठ ! जा, यहाँसे भाग, सामने क्यों खड़ा हुआ है ? मेरा बाहु तुझ सरीखे (क्षुद्र) व्यक्तिपर प्रहार नहीं करना चाहता ॥९९॥ जान पड़ता है तेरा बाप पद्मनाभ तेरे बूतेपर ही हमें जीतना चाहता है । अन्यथा वह तेरी सलाहसे अपनेसे बड़ोंके साथ युद्ध क्यों करता ? ॥१००॥ मेरे सामने तू कौन होता है ? भीमरथ कौन होता है ? और वह तेरा बाप भी मेरे आगे क्या है ? यदि तुम

---

१. =श्रान्तमित्यर्थः । २. आ इतच् । ३. =प्रापितः । ४. आ सिक्तैः । ५. आ व्यदिष् । ६. 'धृष्टस्तु वियातो धृष्णुधृष्णजौ' अभिधान० । ७. =लोट् । ८. =निश्चितम् । ९. श अतुल्येनेत्यर्थः । १०. =तवानुमत्या । ११. आ भवतश्चेति । १२. आ श तिष्ठत । १३. श 'आध्वम्' इति नास्ति ।

नीचोचितां समाकर्ण्य[1] तदीयामिति भारतीम् ।
जगाद युवराडित्थं धनुर्ज्यामास्पृ[1]शन्मुहुः ॥१०२॥
किमेभिरधमालापैर्मातुश्चापलसूचनैः ।
अस्ति कोऽप्यभिमानश्चेड्ढौकस्वालं विलम्बनैः ॥१०३॥
गदितुं युज्यतेऽस्माकं न भवद्भाषितं वचः ।
तुलयन्ति महान्तो हि नात्मानमधमैः समम्[2] ॥१०४॥
स्वैरेव दुर्नयैः पापाः पच्यन्ते येन दुर्जनाः ।
विभाषमाणान्सुजनस्तेन तानवमन्यते[3] ॥१०५॥
इत्यालापैर्युवेशस्य मानवानपमानितः ।
अलक्ष्यमोक्षसंधानान् स रोषादमुचच्छरान् ॥१०६॥

आक्षेपः ॥१०१॥ नीचेति । नीचोचितां नीचस्य निकृष्टस्योचितां विहिताम् । तदीयां[4] धर्मपालसंबन्धाम् । इति एवम् । भारतीं वचनम् । समाकर्ण्य श्रुत्वा । धनुर्ज्यां धनुषश्चापस्य ज्यां मौर्वीम् । आस्पृशन्[5] झङ्कारं कुर्वन् । युवराट् सुवर्णनाभः । मुहुः पश्चात् । जगाद अब्रवीत् । गद व्यक्तायां वाचि लिट् ॥१०२॥ किमिति । मातुः जनन्याः । चापलसूचनैः चापलस्य[6] चञ्चलस्य सूचनैर्दर्शयमानैः[7] । एभिः एतैः । अधमालापैः अधमैर्निकृष्टैरालापैर्वचनैः । किं किं प्रयोजनम् । कोऽपि कश्चिदपि । अभिमानः गर्वः । अस्ति चेत् वर्तते चेत् । ढौकस्व आगच्छ । लोट्[8] । विलम्बनैः कालक्षेपैः । अलं पर्याप्तम् ॥१०३॥ गदितुमिति । भवद्भाषितं भवता त्वया भाषितमुक्तम् । वचः वचनम् । अस्माकम् । गदितुं वक्तुम् । न युज्यते न प्रयुज्यते । महान्तः महापुरुषाः । अधमैः नीचैः । समं सह[9] । आत्मानं स्वम् । न तुलयन्ति[10] नोपमयन्ति । तुलाञ् इति सुब्धातुः । अर्थान्तरन्यासः ॥१०४॥ स्वैरिति । येन कारणेन । पापाः[11] धूर्ताः । दुर्जनाः खलाः । स्वैः स्वकीयैः । दुर्नयैः दुर्नीतिभिरेव । पच्यन्ते दह्यन्ते । डुपचीष् पाके कर्मणि लट् । तेन कारणेन । विभाषमाणान् विरुद्धं जल्पतः । तान् दुर्जनान् । सुजनः सत्पुरुषः । अवमन्यते[12] उदासीनं करोति । १०५॥ इतीति । युवेशस्य सुवर्णनाभस्य । इति एवं प्रकारैः । आलापैः वचनैः । अपमानितः[13] भञ्जितः । मानवान् अभिमानवान् । स धर्मपालः । अलक्ष्यमोक्षसंधानान् अलक्ष्ये लक्षयितुमयोग्ये मोक्षो मोचनं संधानं स्वीकरणं च येषां तान्[14] । शरान् बाणान् ।

सब मिलकर के भी मेरे आगे टिक सकते हो तो ठहरो (अभी मजा चखाते हैं) ॥१०१॥ नीच पुरुषके योग्य उसके इन वचनोंको सुनकर युवराज सुवर्णनाभ अपने धनुषकी डोरीका बार-बार स्पर्श करता हुआ यों बोला—॥१०२॥ मा की चपलताको सूचित करनेवाले इन नीच मनुष्योंके योग्य वचनोंसे क्या लाभ ? यदि शक्तिका अभिमान है तो आओ, अब विलम्ब न करो ॥१०३॥ आपने जो वचन कहे हैं, वे हमारे कहने योग्य नहीं हैं। क्योंकि महान् पुरुष अपनेको नीचों-जैसा नहीं बनाना चाहते ॥१०४॥ चूँकि पापी दुर्जन लोग अपनी ही दुर्नीतिसे जला करते हैं, इसलिए यद्वा-तद्वा बोलनेवाले उन लोगोंकी सज्जन लोग उपेक्षा कर दिया करते हैं ॥१०५॥ युवराज सुवर्णनाभके इन वचनोंसे अपमानित होकर अहंकारी धर्मपालने रोषपूर्वक दनादन बाण मारना शुरूकर दिया। वह इतनी शीघ्रतासे बाण बरसा रहा था, कि दर्शकोंको उनके

१. आ इ क ख ग घ म °माभृशन् । २. अ सह । ३. इ °वमान्यते । ४. = धर्मपालसंबन्धिनीम् । ५. आ आमृशन् । ६. = चपलतायाः । ७. श दर्शमानैः । ८. श लेट् । ९. श 'सह' इति नास्ति । १०. = न समीकुर्वन्ति । ११. = पापिनः । १२. = अवजानाति समुपेक्षते वा । १३. = अवज्ञातः । १४. श त एषां तान् ।

अर्धमार्गगतामेव तदीयामिषुसंहतिम् ।
सोऽप्यच्छिनदविच्छिन्नै रोपै रोपितकार्मुकः ॥१०७॥
शिलीमुखक्षये प्रासैः कुन्तैः प्रासपरिक्षये ।
कुन्तक्षयेऽसिभिर्वीरो तावकम्पौ[1] प्रजह्रतुः ॥१०८॥
द्वावप्यतुलसामर्थ्यौ द्वावप्यस्त्रकृतश्रमौ ।
न जानीमो जयः क्वेति समशेत बलद्वयम् ॥१०९॥
चिरयुद्धपरिश्रान्तः प्रहृत्य स ततोऽसिना ।
दध्रे सुवर्णनाभेन पृथिवीपालनन्दनः[2] ॥११०॥
बन्दिभिः स्तूयमानस्तं बन्दीकृत्य[3] सुदुर्जयम् ।
हर्षास्राबि[4]लनेत्रस्य निनाय पितुरन्तिकम् ॥१११॥

रोषात् कोपात् । अमुचत् अमुञ्चत् । मुच्लृज् मोक्षणे लुङ् ॥१०६॥ अर्धेति । रोपितकार्मुकः रोपितमारोपितं कार्मुकं[5] चापं येन सः । सोऽपि सुवर्णनाभोऽपि । अर्धमार्गगताम् अर्धमार्गमायातमेव । तदीयां धर्मपालसंबन्धिनीम् । इषुसंहतिम् इषूणां बाणानां संहतिं सन्दोहम् । अविच्छिन्नैः निरन्तरैः । रोपैः बाणैः । अच्छिनत् अखण्डयत् । छिदृिर् विदारणे लङ् ॥१०७॥ शिलीमुखेति । अकम्पौ चलनरहितौ । तौ युवराजधर्मपालौ । वीरौ शूरौ । शिलीमुखक्षये शिलीमुखानां बाणानां क्षये नाशे सति । प्रासैः यष्ट्यायुधैः । प्रासपरिक्षये सति प्रासानां परिक्षये सति । कुन्तैः कोणैः । कुन्तक्षये सति कुन्तानां क्षये नाशे सति । असिभिः खड्गैः । प्रजह्रतुः युयुधाते । हृञ् हरणे लिट् ॥१०८॥ द्वाविति । द्वावपि युवराजधर्मपालावपि । अतुलसामर्थ्यौ अतुलमुपमारहितं सामर्थ्यं ययोस्तौ । द्वावपि उभावपि । अस्त्रकृतश्रमौ अस्त्रेषु आयुधेषु कृतो विहितः श्रमोऽभ्यासो ययोः[6] तौ । जयः विजयः । क्वेति कस्मिन्निति । न जानीमः न बुद्ध्यामहे । ज्ञा अवबोधने लट् । बलद्वयं सैन्यद्वयम् । समशेत अशङ्कत[7] । शीङ् स्वप्ने लङ् । संशयः ॥१०९॥ चिरेति । ततः पश्चात् । चिरयुद्धपरिश्रान्तः चिरं बहुसमयपर्यन्तं युद्धे संग्रामे[8] परिश्रान्त आयस्तः । सः पृथिवीपालनन्दनः धर्मपालः । असिना खड्गेन । प्रहृत्य प्रहरणं कृत्वा । सुवर्णनाभेन[9] युवराजेन । दध्रे बिभ्रे[10] । धृञ् धरणे कर्मणि लट् ॥११०॥ बन्दिभिरिति । बन्दिभिः स्तुतिपाठकैः । स्तूयमानः प्रशस्यमानः । सुदुर्जयं जेतुमशक्यम् । तं धर्मपालम् । बन्दीकृत्य[11] बन्धनं[12] विधाय । हर्षास्राविलनेत्रस्य हर्षादानन्दाज् जातास्रेण बाष्पोदकेन[13] आविले[14] आर्द्रिते नेत्रे नयने यस्य तस्य । पितुः पद्मनाभस्य । अन्तिकं समीपम् । निनाय नयति स्म । नीङ् (णीञ्) प्रापणे लिट् । जातिः ॥१११॥

छोड़ने और रखनेका कुछ पता ही नहीं पड़ रहा था ॥१०६॥ सुवर्णनाभने भी धनुष चढ़ा लिया और लगातार बाणोंकी बरसा करके धर्मपालके बाणोंकी परम्पराको बीचमें ही काट डाला ॥१०७॥ बाणोंके समाप्त होनेपर प्रासोंसे, और प्रासोंके समाप्त होनेपर भालोंसे, और भालोंके भी समाप्त हो जानेपर तलवारोंसे, वे दोनों वीर निर्भय होकर एक दूसरेपर प्रहार करते रहे ॥१०८॥ 'दोनों अनुपम सामर्थ्यसे युक्त हैं, और दोनोंने ही अस्त्रविद्यामें परिश्रम किया है। अतः न जाने दोनोंमें कौन जीतेगा, ? इस प्रकार दोनों ही सेनाएँ सन्देहमें पड़ गयीं ॥१०९॥ बहुत देर तक युद्ध करनेसे पृथिवीपालका पुत्र धर्मपाल थक गया, तब उसने तलवारका वार किया, पर उससे बचकर सुवर्णनाभने धर्मपालको पकड़ लिया ॥११०॥ अजेय धर्मपालको बन्दी बनाकर सुवर्णनाम, जिसकी स्तुति स्तुति पाठककर रहे थे, अपने पिताके पास ले गये। पुत्रकी

---

१. म सावकम्पौ। २. अ °पालस्य नन्दनः । ३. आ इ बन्धीकृत्य । ४. अ हर्षाश्रावि° । ५. = चापः । ६. = याभ्यां । ७. आ आशकत, श अशङ्कत । ८. = युद्धेन संग्रामेण । ९. श सुवर्णराजेन । १०. = बभ्रे । ११. श बन्वीकृत्य । १२. = वन्दिनं । १३. आ हर्षोदकेन । १४. श 'आविले' इति नास्ति ।

परंतपस्तडिद्वक्त्रं चित्राङ्गः सिंहविक्रमम् ।
विजिग्ये वरुणं कण्ठश्च[1]न्द्रकीर्तिं सुकुण्डलः[2] ॥११२॥
अन्येऽपि रिपुपक्षस्था राजानो ये डुढौकिरे ।
ते पद्मनाभसामन्तैः कृता भग्नमनोरथाः ॥११३॥
अत्रान्तरे क्रुधाधावत्स्वयमेव महाबलः ।
पृथिवीपालभूपालः करालीकृतलोचनः ॥११४॥
तमसाधारणैश्चिह्नैः प्रत्यभिज्ञाय मन्त्रिणः ।
पद्मनाभमिति स्थित्वा कर्णमूले व्यजिज्ञपन् ॥११५॥
देव कोऽप्ययमत्यन्तममानुषबलः खलः ।
श्रूयते[3] पृथिवीपालः समस्तकपटालयः ॥११६॥

परमिति । परंतपः[4] राजा । तडिद्वक्त्रं[5] तडिद्वक्त्रराजम् । चित्राङ्गः चित्राङ्गनामा राजा । सिंहविक्रमनामानम् । कण्ठः कण्ठसंज्ञः । चन्द्रकीर्ति चन्द्रकीर्तिनामानम् । सुकुण्डलः सुकुण्डलाख्यः । विजिग्ये जयति स्म । जि ज्रि अभिभवे लिट् । 'जे र्लिट् सनि' इति कवर्गादेशः । यथासंख्यालङ्कारः ॥११२॥ अन्य इति । रिपुपक्षस्थाः रिपोः शत्रोः पक्षस्थाः सहाये तिष्ठन्तः । अन्येऽपि शेषा अपि ये केचित् । राजानः भूपाः । डुढौकिरे[6] युयुधिरे । लिट् । ते सर्वे । पद्मनाभसामन्तैः पद्मनाभपक्षस्थभूपैः । भग्नमनोरथाः भग्नोऽवमर्दितो मनोरथो जयाभिलाषो येषां ते । कृताः विहिताः ॥११३॥ अत्रेति । अत्रान्तरे अत्रावसरे । महाबलः महद् बलं शौर्यं यस्य सः । करालीकृतलोचनः करालीकृते भयंकर विहिते[7] लोचने नयने यस्य सः । पृथिवीपालभूपालः पृथिवीपालभूपः । स्वयमेव असहाय एव । क्रुधा कोपेन । अधावत्[8] शीघ्रमगच्छत् । जातिः ॥११४॥ तमिति । मन्त्रिणः सचिवाः । असाधारणैः असामान्यैः । चिह्नैः पताकादिचिह्नैः । तं पृथिवीपालम् । प्रत्यभिज्ञाय विज्ञाय[9] । कर्णमूले तस्य श्रोत्रसमीपे । स्थित्वा आसित्वा । पद्मनाभं[10] पद्मनाभभूपतिम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । व्यजिज्ञपन् विज्ञापयन्ति स्म[11] ॥११५॥ देवेति । देव भो स्वामिन् । अत्यन्तम् अधिकम् । अमानुषबलः अमानुषं[12] देवसंबन्धं बलं सामर्थ्यं यस्य सः । खलः धूर्तः । कोपी कोपवान् । अयम् एषः । समस्तकपटालयः समस्तानां सर्वेषां कपटानां व्याजानामालयो निलय इति । पृथिवीपालः पृथिवीपालनृपः ।

विजयसे उस समय उसकी आँखोंसे हर्षाश्रु प्रवाहित हो रहे थे । ॥१११॥ परन्तपने तडिद्वक्रको, चित्रांगदने सिंहविक्रमको, कण्ठने वरुणको और सुकुण्डल राजाने राजा–चन्द्रकीर्तिको जीत लिया ॥११२॥ शत्रुपक्षके और भी जो राजे लड़नेके लिए सामने आये, पद्मनाभके सामन्तोंने उनकी आशाओंपर पानी फेर दिया—उन्हें पराजित कर दिया और उनके मनोरथको भग्न कर दिया ॥११३॥ इस अवसरपर महाबली पृथिवीपाल स्वयं लड़नेके लिए दौड़ता हुआ आया । उसकी आँखें क्रोधके कारण बड़ी भयंकर दिख रही थीं ॥११४॥ असाधारण चिह्नोंसे उसे पहचानकर—मन्त्रियोंने पद्मनाभके निकट जाकर उसके कानमें यों निवेदन किया—॥११५॥ हे राजन् ! यह पृथिवीपाल बड़ा क्रोधी है, अत्यधिक दैवबलसे सम्पन्न है, धूर्त है और सभी प्रकारके

---

१. अ कन्तुश्च । २. क ख ग घ सकुण्डलः । ३. क ख ग घ म स्तूयते । ४. = परंतपनामा । ५. टीकाकृता पूर्वं 'तडिद्वक्त्रं' ततः 'परंतपः' पदं व्याख्यातम् । ६. = संयुगे समायाताः । ७. = भयंकरे विहिते । ८. = त्वरितमायातः । ९. आ विज्ञाय इति नास्ति । १०. आ 'पद्मनाभं' इति नास्ति । ११. श तस्य व्यजिज्ञपत् विज्ञापयति स्म । १२. = दिव्यं ।

तदस्मिन्नप्रमत्तेन प्रहर्तुं स्वयमुत्थिते ।
योद्धव्यं स्वामिना नायमवज्ञाविषयो रिपुः ॥११७॥
इति मन्त्रिगिरं कृत्वा हृदये दयितामिव ।
बभूव संमुखं शत्रोः सज्जीकृतशरासनः ॥११८॥
पादरक्ष[1]समूहेन परिवारितकुञ्जरौ ।
तावभीयतुरन्योन्यमनन्यसमविक्रमौ ॥११९॥
उभावुभयमायोद्धुं निषिध्य बलमुद्यतम् ।
दर्पादेकाकिनावेव प्रारेभाते महाहवम् ॥१२०॥
शिलीमुखशतैश्छन्नास्तयोस्तिर्यग्विसर्पिभिः ।
अदृश्यन्त दिगाभोगाः पतदुल्कोत्करा इव ॥१२१॥

श्रूयते आकर्ण्यते । श्रु श्रवणे कर्मणि लिट् । जातिः ॥११६॥ तदिति । तदस्मिन् तदेतस्मिन् पृथिवीपाले । प्रहर्तुं प्रहरणाय । स्वयं स्वस्मिन् । उपस्थिते आयाते सति । अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन । स्वामिना स्वया । योद्धव्यं युद्धं कर्तव्यम् । अयम् एषः । रिपुः शत्रुः । अवज्ञाविषयः अवज्ञाया[2] उदासीनस्य विषयो गोचरः । न भवति ॥११७॥ इतीति[3] । इति एवम् । मन्त्रिगिरं मन्त्रिणां सचिवानां गिरं वाणीम् । दयितामिव वनितामिव । हृदये चित्ते । कृत्वा विधाय । सज्जीकृतशरासनः सज्जीकृतं संनद्धीकृतं शरासनं चापं येन सः । शत्रोः रिपोः । संमुखः अभिमुखः । बभूव भवति स्म । लिट् ॥११८॥ पादेति । पादरक्षसमूहेन पादानां गजपादानां रक्षाणां रक्षकाणां भटानां समूहेन निकरेण । परिवारितकुञ्जरौ परिवारितौ परिवृतौ गजौ ययोस्तौ । अनन्यसमविक्रमः अनन्यसमः[4] अन्यसमान रहितो असाधारणेति विक्रमः पराक्रमो[5] ययोस्तौ । तौ पद्मनाभपृथिवीपालौ । अन्योन्यं परस्परम् । अभीयतुः अभिजग्मतुः ॥११९॥ उभाविति । उभौ द्वौ भूपालौ । आयोद्धुम् आसमन्ताद् योधनाय । उद्यतम् उद्युक्तम् । उभयं द्वयम् । बलं सेनाम् । निषिध्य निवार्य । दर्पात् गर्वात् । एकाकिनावेव असहायावेव[6] । 'एकादाकिंश्चासहाये' इति आकिन्-प्रत्ययः । महाहवं महायुद्धम् । प्रारेभाते उपचक्रमाते । रभि राभस्ये लिट् । प्रथमपुरुषद्विवचनम् ॥१२०॥ शिलीमुखेति । तिर्यग्विसर्पिभिः तिर्यग्रूपेण गच्छद्भिः । तयोः भूपयोः । शिलीमुखशतैः शिलीमुखानां बाणानां शतैरनेकैः । छन्नाः व्याप्ताः । दिगाभोगाः दिशां ककुभामाभोगाः समूहाः । पतदुल्कोत्करा इव पतन् उल्कानामुत्करः समूहो येषां[7] त इव ।

कपटोंका घर है—पूरा चार सौ बीस है, ऐसा सुना जाता है—॥११६॥ यह स्वयं आपके ऊपर प्रहार करनेके लिए—आपसे लड़नेके लिए उपस्थित हुआ है । अतः इसके साथ आपको बड़ी सावधानीसे युद्ध करना चाहिए ? यह शत्रु उपेक्षा करने योग्य नहीं है ॥११७॥ इस प्रकारकी मन्त्रियोंकी वाणीको, जो प्रियाके समान प्यारी थी, हृदयमें रखकर, एवं धनुषको सजाकर पद्मनाभ शत्रुके सामने जा पहुँचा ॥११८॥ असाधारण पराक्रमको धारण करनेवाले वे दोनों आमने-सामने आ गये । दोनों हाथियोंपर सवार थे, और दोनोंके हाथियोंके पैरोंके पास बहुतसे रक्षक खड़े हुए थे ॥११९॥ यों दोनोंकी सेनाएँ युद्ध करनेके लिए तैयार थीं, पर उन्हें रोककर दोनों राजोंने—जिन्हें अपने पराक्रमपर गर्व था—अकेले ही घोर संग्राम शुरू कर दिया ॥१२०॥ दोनोंके तिरछी गतिसे फैलनेवाले सैकड़ों बाणोंने सारी दिशाओंके मध्यभागको भर दिया । उस समय वह ऐसा दृष्टिगोचर हो रहा था मानो गिरती हुई उल्काओंके समूहसे घिर

१. अ पादरक्षा° । २. = औदासीन्यस्य । ३. टीकायां पद्यमिदं पूर्वं व्याख्यातं तदनन्तरं तदस्मिन्नित्यादि (११७) । ४. = अन्येन समोऽन्यसमो नान्यसमोऽनन्यसमोऽसाधारण इत्यर्थः । ५. श पराक्रमः शक्तिः । ६. श एकाकिनामेवासहायानामेव । ७. = येषु ।

तच्छस्त्रकौशलालोकविनिश्चलविलोचनम् ।
भुवि भूमिभुजां सैन्यं तस्थौ दिवि दिवौकसाम् ॥१२२॥
चलनैर्वलनैः स्थानैर्वल्गनैर्मर्मवञ्चनैः ।
तयोरभूद्धनुर्युद्धं दृप्तदोर्दण्डचण्डयोः ॥१२३॥
यान्यानमुञ्चतारातिरनिष्ठितशरः शरान् ।
रोपैरर्धागतानेव पद्मनाभो लुलाव तान् ॥१२४॥
शिलीमुखैरजय्योऽयं धनुर्वेदविशारदः ।
इति मत्वाक्षिपत्प्रासान्स प्रयासविवर्जितः ॥१२५॥
खण्डयामास तानर्धचन्द्रैश्चन्द्रोज्ज्वलाननः ।
गुरुः सुवर्णनाभस्य सुवर्णाचलनिश्चलः ॥१२६॥

अदृश्यन्त अवेक्ष्यन्त[1] । दृशृ[2] प्रेक्षणे कर्मणि लङ्[3] । उपमा[4] [उत्प्रेक्षा] ॥१२१॥ तदिति । तच्छस्त्रकौशलालोकविनिश्चलविलोचनं तयोः पद्मनाभपृथिवीपालयोः शास्त्राणां बाणानां कौशलस्य[5] प्रौढत्वस्य आलोके वीक्षणे निश्चले निष्पन्दे विलोचने नयने यस्य तत् । भूमिभुजां भूपानाम् । सैन्यं सेना । भुवि भूमौ । तस्थौ तिष्ठति स्म । लिट् । दिवौकसां देवानाम् । सैन्यम् । दिवि गगने । तस्थौ । दीपकम् ॥१२२॥ चलनैरिति । दृप्तदोर्दण्डचण्डयोः दृप्ताभ्यां गर्विताभ्यां दोर्दण्डाभ्यां भुजदण्डाभ्यां चण्डयोर्बलिष्ठयोः । तयोः भूपयोः । चलनैः स्थानान्तर[6]गमनैः । वलनैः पर्यटनैः । स्थानैः स्थितिक्रियाभिः । वलनैः [वल्गनैः] लङ्घनक्रियाभिः । मर्मवञ्चनैः मर्मणो मर्मस्थानस्य वञ्चनैः प्रतारणैः । धनुर्युद्धं चापयुद्धम् । अभूत् अभवत् । लुङ् । जातिः ॥१२३॥ यानिति । अनिष्ठितशराः अनिष्ठिता अक्षयाः शरा बाणा यस्य सः । अरातिः शत्रुः । यात् यान् कांस्कान् । शरान् बाणान् । अमुञ्चत अमुचत् । लङ् । अर्धगतानेव[7] अर्धगतपर्यन्तम् आगतानेव । तान् शरान् । पद्मनाभः पद्मनाभभूपतिः । रोपैः बाणैः । लुलाव छिनत्ति स्म ॥१२४॥ शिलीमुखैरिति । धनुर्वेदविशारदः धनुर्वेदे धनुर्विद्यायां विशारदो निपुणः । अयं पद्मनाभः । शिलीमुखैः शरैः । अजय्यः जेतुमशक्यः । 'क्षय्यजय्यौ शक्तौ' इति साधुः । इति एवं मत्वा प्रयासविवर्जितः प्रयासेन श्रमेण विवर्जितो रहितः । स पृथिवीपालः । प्रासान् कुन्तान् । अक्षिपत्[8] प्रेरितवान् । क्षिप प्रेरणे लङ् ॥१२५॥ खण्डयामासेति । चन्द्रोज्ज्वलाननः चन्द्रवदुज्ज्वलं भासमानमाननं मुखं यस्य सः । सुवर्णाचलनिश्चलः सुवर्णाचल इव महामेरुवद् निश्चलो निष्कम्पः । सुवर्णनाभस्य युवराजस्य । गुरुः पिता पद्मनाभः । तान् कुन्तान् । अर्धचन्द्रैः अर्धचन्द्राकारबाणैः । खण्डयामास खण्डयति स्म । खडुङ् मन्थे णिजन्ताल्लिट् । उपमा ॥१२६॥

गया हो ॥१२१॥ उनके शस्त्रकौशलको देखकर पृथ्वीपर राजाओंका सैन्य और आकाशमें देवोंका वृन्द अपलक दृष्टि होकर खड़ा था ॥१२२॥ सगर्व भुजबलसे युक्त और क्रुद्ध दोनों राजाओंका धनुर्युद्ध हुआ, जो, स्थान बदलने, मुड़ने, एक स्थानपर खड़े रहने, लाँघने और मर्म स्थल की सुरक्षाके लिए एक-दूसरेको छकानेकी दृष्टिसे दर्शनीय था ॥१२३॥ पृथिवीपालके बाण जहाँ तक पहुँचना चाहिए वहाँ तक नहीं पहुँच रहे थे; क्योंकि वह जिन बाणोंको छोड़ता था वे आधे मार्ग तक ज्यों ही पहुँचते थे त्यों ही पद्मनाभ उन्हें अपने बाणोंसे काट डालता था ॥१२४॥ 'यह पद्मनाभ धनुर्विद्यामें प्रवीण है, अतः बाणोंसे जीतने योग्य नहीं है।' यह सोचकर पृथिवीपालने उसके ऊपर भाले फेंकना शुरू कर दिया। इससे वह उस प्रयाससे मुक्त हो गया, जो प्रत्यञ्चा खींचनेमें करना पड़ रहा था ॥१२५॥ सुवर्णनाभके पिता पद्मनाभने, जो सुमेरु

१. आ आवेक्ष्यन्त । २. आ दृशिर् । ३. आ लिट् । ४. आ 'उपमा' इति नोपलभ्यते । ५. = नैपुण्यस्य । ६. श ग्रामान्तरग° । ७. = अर्धमार्गपर्यन्तम् । ८. = विक्षेप ।

स चक्राणि विचिक्षेप क्षेपेण रहितो रुषा।
तानि सौवर्णमालश्च चूर्णयामास मुद्‌गरैः ॥१२७॥
शक्तिं शक्तित्रयाक्रान्तविष्टपो विससर्ज सः।
गदाभिघातैस्तां वन्ध्यां व्यधाद्रत्नपुराधिपः[1] ॥१२८॥
परशुं वाहयामास कृत्वासन्नं स दन्तिनम्।
वनकेलिवरेणासौ[2] वज्रमुष्ट्या कणीकृतः॥१२९॥
ततो मुमुक्षतः शङ्कुं तस्य सोमप्रभाप्रियः।
चञ्चच्चक्रेण चिच्छेद कदलीकन्दवच्छिरः ॥१३०॥
विद्रुते विद्विषां सैन्ये विलोक्य पतनं प्रभोः।
रणं संशोधयामास वनकेलिशिरः स्पृशन् ॥१३१॥

स इति। क्षेपेण कालविलम्बेन। रहितः विरहितः[3]। स पृथिवीपालः। रुषा कोपेन। चक्राणि चक्रायुधानि। विचिक्षेप क्षिपति स्म। सौवर्णमालः सुवर्णमालाया अपत्यं[4] पद्मनाभश्च। मुद्‌गरैः अयोदण्डैः। चूर्णयामास विषयामास (?)। लिट् ॥१२७॥ शक्तिमिति। शक्तित्रयाक्रान्तविष्टपः शक्तीनां प्रभुशक्त्यादीनां त्रयेणाक्रान्तं व्याप्तं विष्टपं जगद् यस्य[5] सः। सः पृथिवीपालः। शक्तिं शक्त्यायुधम्। विससर्ज चिक्षेप। सृज विसर्गे लिट्। रत्नपुराधिपः रत्नपुरस्याधिपः[6] पद्मनाभः। गदाभिघातैः दण्डाघातैः। तां शक्तिम्। वन्ध्यां निष्फलाम्। व्यधात् अकरोत्। डुधाञ् धारणे च लुङ् ॥१२८। परशुमिति। सः पृथिवीपालः। दन्तिनं गजम्। आसन्नं समीपम्। कृत्वा विधाय। परशुं वाहयामास आनयामास[7]। वहि प्रापणे णिजन्ताल्लिट्। असौ परशुः। वनकेलिवरेण वनकेलिगजस्य वरेण प्रभुणा पद्मनाभेन। वज्रमुष्ट्या[8] वज्रमुष्ट्यायुधेन। कणीकृतः चूर्णीकृतः ॥१२९॥ तत इति। ततः पश्चात्। शङ्कुं शल्यायुधम्। मुमुक्षतः मोक्तुमिच्छोः। तस्य पृथिवीपालस्य। शिरः मस्तकम्। सोमप्रभाप्रियः सोमप्रभाया देव्याः प्रियो दयितः, पद्मनाभः। चञ्चच्चक्रेण चञ्चता प्रज्वलता चक्रेण चक्रायुधेन। कदलीकन्दवत् कदल्या रम्भायाः कन्दवद् मूलवत्। चिच्छेद छिनत्ति स्म। छिदृञ्[9] विदारणे लिट् ॥१३०॥ विद्रुत इति। प्रभोः स्वामिनः। पतनं मरणम्। विलोक्य वीक्ष्य। विद्विषां शत्रूणाम्। सैन्ये सेनायाम्। विद्रुते पलायिते सति। वनकेलिशिरः वनकेलिगजस्य शिरोमस्तकम्। स्पृशन् आस्फालयन्।

पर्वतके समान निष्कम्प था और जिसका चेहरा पूर्णचन्द्रके समान निर्मल था, अर्धचन्द्राकार बाणोंसे पृथिवीपालके भालोंको काट डाला—॥१२६॥ फिर पृथिवीपालने क्रुद्ध होकर शीघ्र ही चक्र फेंकना शुरू कर दिया, जिन्हें सुवर्णमालाके पुत्र पद्मनाभने मुद्‌गरोंसे चूर-चूर कर डाला ॥१२७॥ फिर पृथिवीपालने—जिसकी प्रभु, मन्त्र और उत्साह इन तीन शक्तियोंकी चर्चा सारे संसारमें होती थी—शक्ति नामक आयुध चलाना शुरू कर दिया, किन्तु उसे भी रत्नपुरके स्वामी पद्मनाभने गदाके प्रहारसे निष्फल कर दिया ॥१२८॥ पृथिवीपालने अपने हाथीको पासमें ले जा करके पद्मनाभके ऊपर परशुका प्रहार किया, जिसे वनकेलि नामक हाथीके स्वामी—पद्मनाभने वज्रमुष्टि नामक अस्त्रसे चूर-चूरकर डाला ॥१२९॥ इसके उपरान्त पृथिवीपाल शंकु नामक अस्त्र छोड़ना ही चाहता था, पर सोमप्रभाके पति पद्मनाभने सिरको अपने चमकदार चक्रसे केलेकी जड़की तरह काट डाला ॥१३०॥ अपने स्वामी पृथिवीपालका पतन देखकर शत्रुओंकी सेना भाग गयी। फिर पद्मनाभने वनकेलिका सिर थपथपाते हुए युद्धभूमिका संशोधन-निरीक्षण

१. क ख ग घ म °त्नसुराधिपः। २. अ क ख ग घ म °केलिधरेणासौ, इ नवकेलिवरेणासौ। ३. श 'विरहितः' इति नोपलभ्यते। ४. =पुमान्। ५. =येन। ६. आ रत्नसुराधिपः रत्नसुरस्याधिपः। ७. आ आनयति स्म। ८. आ 'वज्रमुष्ट्या' इति पदं नास्ति। ९. आ छिदिर्।

युद्धमूर्ध्नि शवीभूतान्बन्धूनुच्चित्य बान्धवाः ।
संस्कारं प्रापयामासुरिन्धनीकृतसायकाः ॥१३२॥

अथ केनचिदानीय सेवकेन कृतं पुरः ।
पश्यन्क्षिति शिरः शत्रोर्निर्वेदमगमन्नृपः ॥१३३॥

धिक्कष्टमीदृशं कर्म करोति कथमीरितः ।
लक्ष्म्या कुलटया लोकः क्षणरक्तविरक्तया ॥१३४॥

विपत्संपदि जागर्ति जरा जागर्ति यौवने ।
मृत्युरायुषि जागर्ति वियोगः प्रियसंगमे ॥१३५॥

पद्मनाभः । रणं संग्रामम् । [सं] शोधयामास शोधयति स्म[1] । शुधि शौचे लिट् ॥१३१॥ युद्धेति । युद्धमूर्ध्नि युद्धस्य मूर्ध्नि अग्रे । शवीभूतान्[2] विगतप्राणान् । बन्धून् बान्धवान् । इन्धनीकृतसायकाः इन्धनीकृताः काष्ठीकृताः सायका येषां[3] ते । बान्धवाः । उच्चित्य[4] राशीकृत्य[5] । संस्कारं[6] दहनम् । प्रापयामासुः यापयन्ति स्म । आप्लृ व्याप्तौ लिट् ॥१३२॥ अथेति । अथ दहनानन्तरम् । केनचित् एकेन । सेवकेन भृत्येन । आनीय आदाय । पुरः अग्रे । कृतं विहितम् । रिपोः पृथिवीपालस्य । शिरः मस्तकम् । पश्यन् वीक्षमाणः । नृपः पद्मनाभः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । अगमत् गच्छति । गम्लृ गतौ लुङ् ॥१३३॥ धिगिति । क्षणरक्तविरक्तया[7] क्षणमल्पकालं रक्तः प्रीतो विरक्तो विगतप्रीतिर्यस्याः तया । कुलटया पुंश्चल्या । लक्ष्म्या[8] संपदा । ईरितः प्रेरितः । लोकः जनः । ईदृशम् एतादृशम् । कष्टं कृच्छ्रम् । कर्म व्यापारम् । कथं केन प्रकारेण । करोति विदधाति । लट् । धिक्[9] ॥१३४॥ विपदिति । संपदि संपत्तौ । विपत् विपत्तिः । जागर्ति प्राप्नोति, संपद् विपदवसाना–इत्यर्थः । यौवने सति तारुण्ये सति । जरा वार्धक्यम् । जागर्ति प्राप्नोति । आयुषि सति । मृत्युः मरणम् । जागर्ति । प्रियसङ्गमे प्रियाणां मित्राणां सङ्गमे सति । विगमः

किया ॥१३१॥ युद्धभूमिके अगले भागमें मारे गये बन्धुओंको खोजकर उनके बन्धु–बान्धवोंने बाणोंकी चिता तैयार करके उनका अग्नि संस्कार किया ॥१३२॥ इसके बाद किसी सेवकने पृथिवीपालका कटा हुआ सिर लाकर राजा पद्मनाभके आगे रख दिया, जिसे देखते-देखते उसे इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न हो गया–॥१३३॥ लक्ष्मी पूरी वेश्या है जो क्षणभर ही राग दिखलाकर विरक्त हो जाती है । इसी लक्ष्मी रूपी कुलटासे प्रेरित होकर लोग कैसे ऐसे खोटे-खोटे कर्म कर डालते हैं ? ओह धिक्कार है ! ऐसी बातोंके बारेमें सोचते ही खेद होने लगता है ॥१३४॥ सम्पत्ति होनेपर विपत्ति उस (सम्पत्ति) का स्थान पानेके लिए जागरूक रहती है, यौवन आनेपर बुढ़ापा उसे नष्ट करनेकी ताकमें रहता है, आयु या जीवन प्राप्त होनेपर मृत्यु उसे घातनेके लिए सावधान रहती है और इष्ट समागम होनेपर उसका वियोग जागरण करता है । सम्पत्तिके बादमें विपत्ति, यौवनके बादमें बुढ़ापा, जीवनके बादमें मरण और प्रियके समागमके

---

१. आ बोधयामास बोधयति स्म । बुधि धातोर्लिट् । २. आ''''यातान् । ३. = यैः । ४. श उच्छित्य । = बन्धूनन्विष्य । ५. आ दूरीकृत्य । ६. = दाहसंस्कारम् । ७. = क्षणं स्वल्पकालं रक्ता पश्चाद्विरक्ता तया ८. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'लक्ष्मीकुलटया' इति समुपलभ्यते । ९. आ श दिक् ।

नावियोगः सुहृत्सङ्गो न जन्मामृत्युदूषितम् ।
यौवनं नाजराग्रस्तं श्रीर्नापदकटाक्षिता ।।१३६।।
रक्षायै प्रजया दत्तं षष्ठांशं वेतनोपमम् ।
गृह्णन्भृतकवन्मूढो राजाहमिति मन्यते ।।१३७।।
क्रोधादिभिरयं जीवः कषायैः कलुषीकृतः ।
तत्किंचित्कुरुते कर्म यत्स्वस्यापि भयावहम्[1] ।।१३८।।
भ्रातॄन्हन्ति पितॄन्हन्ति हन्ति बन्धून्[2] निरागसः ।
हन्त्यात्मानमपि क्रोधाद्धिक्क्रोधमविचारकम्[3] ।।१३९।।
हन्ता यथाहमस्यात्र परत्रैष तथैव मे ।
संसारे हि विवर्तन्ते बलवीर्यविभूतयः ।।१४०।।

वियोगः । जागर्ति । यथासंख्यम् ।।१३५।। नेति । अवियोगः वियोगरहितः । सुहृत्सङ्गः सुहृदां मित्राणां सङ्गः संयोगः । न नास्ति । अमृत्युदूषितं मृत्युना मरणेनादूषितं दूषणरहितम् । जन्म[4] जातिः । न नास्ति । अजराग्रस्तं जरया वार्धक्येनाग्रस्तं रहितम् । यौवनं तारुण्यम् । न नास्ति । आपदकटाक्षिता आपदा विपत्या अकटाक्षिता अविलोकिता । श्रीः संपत् । न नास्ति ।।१३६।। रक्षायै इति । रक्षायै पालनाय । प्रजया जनेन । दत्तम् अर्पितम् । वेतनोपमं भृत्यदेयसमम् । षष्ठांशं षष्ठम् अंशं भागम् । भृतकवत् कर्मकरवत् । गृह्णन् स्वीकुर्वन् । मूढः अज्ञः । अहं राजा इति प्रभुः इति । मन्यते बुध्यते । बुधि मनि ज्ञाने लट् । आक्षेपः (?) ।।१३७।। क्रोधेति । क्रोधादिभिः क्रोधप्रमुखैः । कषायैः[5] चतुष्कषायैः । कलुषीकृतः कल्मषीकृतः[6] । अयम् एषः । जीवः प्राणी । यत् । किंचित् ईषत् । कर्म कार्यम् । स्वस्य [अपि] आत्मनोऽपि । भयावहं[7] भयं कुर्वत् । तत्[8] कार्यं । कुरुते विधत्ते । लट् ।।१३८।। भ्रातॄनिति । क्रोधात् कोपात् । निरागसः निरपराधान् । भ्रातॄन् सहोदरान् । हन्ति हिनस्ति । हन हिंसागत्योर्लट् । पितॄन् जनकान् । हन्ति हिनस्ति । बन्धून् बन्धुजनान् । हन्ति । आत्मानमपि स्वमपि[9] । हन्ति । अविचारकं विचारशून्यम् । क्रोधं क्रोधपरिणामम् । धिक् । 'हा धिक् समया—' इत्यादिना द्वितीया । आक्षेपः (?) ।।१३९।। हन्तेति । अत्र इह लोके । अहं यथा येन प्रकारेण । अस्य एतस्य । हन्ता हिंसकः । 'कृतकामुकस्य—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । तथैव तेन प्रकारेणैव । परत्र परलोके । एषः अयम् । मे मम । हन्ता भविष्यति । संसारे[10] जन्मनि । बलवीर्यविभूतयः बलम् औपाधिकशक्तिः तच्च,

बादमें उसका वियोग निश्चित है ।।१३५।। वियोग रहित इष्ट संयोग, मरण रहित जन्म, बुढ़ापा रहित यौवन और विपत्ति रहित सम्पत्ति नहीं हो सकती । संयोगके पीछे वियोग, जन्मके पीछे मृत्यु, यौवनके पीछे बुढ़ापा और सम्पत्तिके पीछे विपत्ति निश्चित है ।।१३६।। रक्षणके लिए प्रजाके द्वारा वेतनके समान उपजका जो छठा भाग (टैक्स) दिया जाता है, उसे नौकर की भांति ग्रहण करनेवाला मूर्ख पुरुष अपनेको राजा मानता है ।।१३७।। क्रोध आदि चार कषायोंसे कलुष किया गया यह जीव कुछ ऐसे कर्म कर डालता है, जो स्वयं उसे भी भयावह होते हैं ।।१३८।। क्रोधके आवेशमें आकर यह पुरुष अपने निरपराध भाई, पिता और बन्धुओंको भी मार डालता है । और तो और स्वयं अपनेको भी मार डालता है— आत्मघात कर बैठता है । धिक्कार है ऐसे क्रोधको, जो विचारोंका दिवालिया होता है ।।१३९।। जैसे यहाँ मैं इसका जीवन नष्ट कर रहा हूँ—इसे जानसे मार रहा हूँ, उसी प्रकारसे परलोकमें यह भी मेरे जीवनको नष्ट करेगा—जानसे मार डालेगा । इस जन्ममें मैं इसका हन्ता हूँ तो

१. आ जयावहम् । २. क ख ग घ म बन्धूनपि निरागसः । ३. क ख ग घ म °मविचारकः । ४. = उत्पत्तिः । ५. = क्रोधमानमायालोभैः । ६. श 'कल्मषीकृतः' इति नास्ति । ७. = भयकारि । ८. = कर्म । ९. श स्वयमपि । १०. = संसृतौ ।

भोगान्धिग्धिग्धनं धिग्धिग्धिग्धिगिन्द्रियजं सुखम् ।
धिग्धिक्परोपघातेन यदन्यदपि जायते ।।१४१।।
हा कथं वञ्चितः पापः पापैरिन्द्रियगोचरैः ।
विज्ञाताखिलसंसारदुरवस्थितिरप्यहम् ।।१४२।।
न परं बन्धनं प्रेम्णो न विषं विषयात्परम् ।
न कोपादपरः शत्रुर्न दुःखं जन्मनः परम् ।।१४३।।
तस्मात्करोमि तत्किंचिन्नृजन्मनि सुदुर्लभे ।
छिनद्मि कर्मणा येन गतागतपरिश्रमम् ।।१४४।।
दौस्थित्यमिति संचिन्त्य संसारस्य नरेश्वरः ।
वितीर्य युवराजाय राज्यं सपुरवाहनम् ।।१४५।।

वीर्यं स्वाभाविकशक्तिः तच्च, विभूतिः ऐश्वर्यं सा च, तथोक्ताः । विवर्तन्ते विपर्ययन्ति । वृतुङ् वर्तने लट् ।।१४०।। भोगानिति । भोगान् विषयानुभवान् धिग् धिक् । धनं द्रव्यं धिग् धिक् । दह दह (?) । इन्द्रियजम् इन्द्रियैः पञ्चेन्द्रियैर्जनितम् । सुखं सातम् । धिग् धिक् । परोपघातेन परेषामन्येषामुपघातेन पीडया । यद् यत् किंचित् । अन्यदपि अपरमपि । जायते संभवति । तत् । धिग् धिक् । वीप्सायां द्विः ।।१४१।। हा इति । पापः पापिष्ठः । अहम् विज्ञाताखिलसंसारदुरवस्थितिरपि विज्ञाता विदिता अखिला निखिला संसारस्य दुरवस्थितिर्दुरवस्था येन सः । पापैः कष्टैः । इन्द्रियाणां गोचरैर्विषयैः । कथं केन प्रकारेण । वञ्चितः प्रतारितः । हा कष्टम् । आक्षेपः (?) ।।१४२।। नेति । प्रेम्णः प्रीतेः । परम् अन्यत् । बन्धनम् आसञ्जनम् । न नास्ति, प्रेमैव परं बन्धनमित्यर्थः । विषयात्[2] पञ्चेन्द्रियात् । परम् अन्यत् । विषं गरलम् । न नास्ति । कोपात् क्रोधात् । अपरः अन्यः । शत्रुः रिपुः । न नास्ति । जन्मनः जननात् सकाशात् । परम् अन्यत् । दुःखम् । न नास्ति ।।१४३।। तस्मादिति । तस्मात् कारणात् । येन[3] कर्मणा रत्नत्रयाचरणेन । गतागतपरिश्रमं गतागतेन चतुर्गतीनां गमनागमनेन जातं परिश्रमं संतापम् । छिनद्मि भिनद्मि । छिदृर्[4] विदारणे लिट् । अतिदुर्लभे लब्धुमशक्ये । नृजन्मनि मनुष्यभवे । तत् रत्नत्रयम् । किंचित् ईषत् । करोमि विदधामि । लट् ।।१४४।। दौस्थित्यमिति । नरेश्वरः नराणामीश्वरः । स्वामी पद्मनाभः । संसारस्य चतुर्गतिरूपस्य । दौस्थित्वं कष्टवर्तनत्वम् । इति एवम् । संचिन्त्य[5] संभाव्य । सपुरवाहनं पुरेण रत्नसंचयपुरेण वाहनैर्गजादि-

---

अगले जन्ममें यह मेरा हन्ता होगा । क्योंकि बल, वीर्य और विभूति ये सब इस संसारमें अदलते-बदलते रहते हैं—ये किसी भी एक व्यक्तिके साथ हमेशा नहीं रहते ।।१४०।। भोगोंको धिक्कार है, धनको धिक्कार है, इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखको धिक्कार है, धिक्कार है और दूसरोंको मारकर जो और भी सुख होता है उसे भी बार-बार धिक्कार है ।।१४१।। सारे संसारकी दुरवस्थाको जानकर भी हाय मैं इन कष्टदायी इन्द्रियोंके विषयोंसे कैसे ठग लिया गया हूँ ।।१४२।। प्रेमसे बढ़कर कोई बन्धन नहीं, विषयसे बढ़कर कोई विष नहीं, क्रोधसे बढ़कर कोई शत्रु नहीं और जन्मसे बढ़कर कोई दुःख नहीं—सबसे बड़ा बन्धन प्रेम है, सबसे बड़ा विष विषय है, सबसे बड़ा शत्रु क्रोध है और सबसे बड़ा दुःख जन्म है ।।१४३।। इसलिए इस दुर्लभ मनुष्य जन्ममें कुछ वह कर्म भी करलूँ, जिससे चारों गतियों या चौरासी लाख योनियोंमें बार-बार आने-जानेके परिश्रमसे बच सकूँ ।।१४४।। इस तरह संसारकी दुर्दशाका विचार करके राजा

---

१. म त्रिभिः कुलकम् (विशेषकम्) इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते । २. =पञ्चेन्द्रियगोचरात् । ३. श 'येन' इति नास्ति । ४. आ दृञ् । ५. =विभाव्य ।

आज्ञां सुवर्णनाभस्य कुर्वंस्तिष्ठ पितुः पदे।
शान्तयित्वेति शोकार्तं पृथिवीपालनन्दनम् ॥१४६॥
पादानतानवज्ञाय सामन्तान्सह सूनुना।
स श्रीधरमुनेरन्ते शिश्रिये श्रमणश्रियम् ॥१४७॥
ज्ञानर्द्धावुपजातायां सहैव व्रतरोपणैः।
दीक्षासमय एवास्य शिक्षासमयतां ययौ ॥१४८॥
द्वादशाङ्गश्रुताधारो द्वादशादित्यभासुरः।
प्रत्यहं बृंहयामास स द्वादशविधं तपः ॥१४९॥
विधिभिर्विविधाकारैः सिंहनिष्क्रीडितादिभिः।
कर्मणा सह तस्यासीत्तनुस्तनुरतन्द्रिणः ॥१५०॥

वाहनैः सहितम्। राज्यं स्वामित्वम्। युवराजाय सुवर्णनाभाय। वितीर्य दत्वा ॥१४५॥ आज्ञामिति। सुवर्णनाभस्य युवराजस्य। आज्ञाम् अनुज्ञाम्। कुर्वन् सन्[4]। पितुः जनकस्य पृथिवीपालस्य। पदे स्थाने। तिष्ठ प्रवर्तस्व। इति एवम्। शोकार्तं शोकेन दुःखेनार्तं पीडितम्। पृथिवीपालनन्दनं पृथिवीपालस्य नन्दनं तनयम्। शान्तयित्वा[5] संतर्पयित्वा ॥१४६॥ पादेति। सूनुना तनयेन सुवर्णनाभेन। सह साकम्। पादानतान् पादयोश्चरणयोरानतान्। सामन्तान् राज्ञः। अनुज्ञाय[6] संमतं कारयित्वा। सः पद्मनाभः। श्रीधरमुनेः श्रीधराचार्यस्य। अन्ते समीपे। श्रमणश्रियं तपोलक्ष्मीम्। शिश्रिये सिषेवे। श्रिञ्[7]। सेवायां लिट्। त्रिभिर्विशेषकम्[8] ॥१४७॥ ज्ञानर्द्धाविति[9]। व्रतरोपणैः व्रतानां पञ्चमहाव्रतानां रोपणैः स्वीकारैः। सहैव साकमेव। ज्ञानर्द्धौ बुद्धयर्द्धौ। उपजातायां सत्यां संजातायां सत्याम्। अस्य पद्मनाभमुनेः। दीक्षासमय एव दीक्षाकाल एव। शिक्षासमयतां शिक्षाकालत्वम्। ययौ जगाम। या प्रापणे। सहोक्तिः ॥१४८॥ द्वादशेति। द्वादशाङ्गश्रुताधारः द्वादशाङ्गस्य द्वादशावयवस्य श्रुतस्याधार आश्रयभूतः। द्वादशादित्यभासुरः द्वादशादित्यवद् द्वादशसूर्यवद् भासुरो देदीप्यमानः। सद्वादशविधं[10] द्वादशविधैर्द्वादशभेदैः सहितम्। तपः। प्रत्यहं प्रतिदिनम्। बृंहयामास वर्धयामास[11]। बृह[12] वृद्धौ लिट्[13] ॥१४९॥ विधिभिरिति। सिंहवि (निष्) क्रीडितादिभिः सिंहवि (निष्) क्रीडितविधानमादिर्येषां तैः। विविधाकारैः विविधा अनेके आकारा भेदा येषां तैः। विधिभिः तपोभिः। अतन्द्रिणः आलस्यवर्जितस्य। तस्य पद्मनाभमुनेः। तनुः शरीरम्। कर्मणा दुरितेन। सह साकम्।

पद्मनाभने युवराज सुवर्णनाभको पुर और वाहन सहित राज्य देकर—। 'युवराज सुवर्णनाभकी आज्ञाका पालन करते हुए तुम अपने पिताके पदपर बैठे रहो' इन शब्दोंमें पृथिवीपालके शोकाकुल पुत्र धर्मपालको शान्त करके—। और सुवर्णनाभके साथ अपने चरणोंमें झुके हुए समस्त सामन्तोंको घर जानेकी अनुमति देकर श्रीधर मुनिके निकट जिनदीक्षा ले ली ॥१४५॥१४६॥-१४७॥ पञ्च महाव्रत ग्रहण करनेके साथ ही ज्ञान ऋद्धि उत्पन्न हो जानेसे पद्मनाभको दीक्षाका समय ही शिक्षाका समय हुआ ॥१४८॥ द्वादशांग श्रुतको जाननेवाले और बारह सूर्योंके समान तेजको धारण करनेवाले पद्मनाभने प्रतिदिन बारह प्रकारके तपको बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया ॥१४९॥ सिंह निष्क्रीडित आदि व्रतोंको अनेक प्रकारकी विधियोंसे पद्मनाभका—जिसे प्रमाद

---

१. म सान्त्वयि°। २. क ख ग घ म पदान°। ३. अ °शभिर्द। ४. =पालयन् सन्। ५. आ सान्त्वयित्वा। ६. =आज्ञाप्य। ७. आ श श्रीञ्। ८. आ श कुलकम्। ९. श 'ज्ञानाद्धविपु°' इत्यादिपद्यस्य व्याख्या नोपलभ्यते। १०. =सः पद्मनाभः। द्वादशविधं द्वादश विधाः प्रकारा यस्य तत्, द्वादशप्रकारकमित्यर्थः। ११. श 'वर्धयामास' इति नास्ति। १२. श बृह। १३. आ 'लिट्' इति नास्ति।

त्रयोदशविधं तस्य चारित्रं चरतश्चिरम् ।
तीर्थकृत्कारणानीति समपद्यन्त षोडश ॥१५१॥
सम्यग्दर्शनसंशुद्धिः शङ्कादिपरिवर्जिता[1] ।
सधर्मिणि गुरौ वृद्धे श्रुते च विनयोऽधिकः ॥१५२॥
व्रतेष्वहिंसाप्रभृतिष्वतिचारविपर्ययः ।
तदङ्गेषु च शीलेषु क्रोधसंत्यजनादिषु ॥१५३॥
ज्ञानोपयोगः सततमुपधानादिपूर्वकः ।
संवेगो घोरसंसारदुःखभीरुत्वलक्षणः ॥१५४॥
त्यागश्चाभयदानादिप्रविभेदसमन्वितः ।
तपश्चागूढसामर्थ्यं शरीरक्लेशलक्षणम् ॥१५५॥

तनुः कृशा । आसीत् अभवत् । लङ् । सहोक्तिः ॥१५०॥ त्रयोदशेति । त्रयोदशविधं त्रिभिरधिका दश त्रयोदश, 'द्वाष्टात्रय—' इति त्रय-आदेशः, त्रयोदश विधा भेदा यस्य तत् । चारित्रम् आचारम् । चिरं बहुकालपर्यन्तम् । चरतः आचरतः । तस्य पद्मनाभमुनेः । षोडश षड्भिरधिका दश षोडश । 'एकादश—' इत्यादिना षोडश इति साधुः । तीर्थकृतः तीर्थकरनामकर्मणः । कारणानि हेतवः[2] । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । समपद्यन्त समभवन् । पदि[3] गतौ लङ् ॥१५१॥ सम्यगिति । शङ्कादिपरिवर्जिता शङ्कादिभिः शङ्कादिदर्शनदोषैः परिवर्जिता रहिता । सम्यग्दर्शनसंशुद्धिः सम्यग्दर्शनस्य संशुद्धिः । दर्शनविशुद्धिरिति भावना । सधर्मिणि समानो धर्मो यस्य तस्मिन् । 'सः समानस्य धर्मादिषु च' इति समानस्य स-इत्यादेशः । 'धर्मादन् द्वि पदात्' इति अन्नन्तः[4] । गुरौ विद्यागुरौ शिक्षागुरौ च । वृद्धे ज्ञानादिगुणैः प्रवृद्धे[5] । श्रुते च परमागमे च । अधिकः बहुलः । विनयः विनयगुणः । विनयसंपन्नतेति भावना । जातिः ॥१५२॥ व्रतेष्विति । अहिंसाप्रभृतिषु अहिंसा अप्राणिवधः प्रभृति मुख्यं[6] येषां तेषु । व्रतेषु पञ्चमहाव्रतेषु । क्रोधसंत्यजनादिषु क्रोधस्य कोपस्य संत्यजनं विसर्जनं तदादि येषां (तेषु), उत्तमक्षमादिषु—इति भावः । तदङ्गेषु तेषां व्रतानामङ्गेषु कारणेषु च । शीलेषु शीलव्रतेषु । अतिचारविपर्ययः अतिचारस्य वधाद्यतिक्रमस्य विपर्ययोऽभावः । शीलव्रतेष्वनतिचारभावना ॥१५३॥ ज्ञानेति । सततम् अनवरतम् । उपदा (धा)[7]नादिपूर्वकः, उपदा (धा) नादिः नियमपुरःसरं विद्यास्वीकारादिः, स एव पूर्वो यस्य सः । ज्ञानोपयोगः ज्ञानस्यागमज्ञानस्योपयोगोऽभ्यासः, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगभावना । घोरसंसारदुःखभीरुत्वलक्षणः घोरात्संसाराज्जाते दुःखे (जाताद् दुःखाद्) भीरुत्वं भयत्वं तदेव लक्षणं यस्य सः संवेगः, संवेगभावना ॥१५४॥ त्याग इति । अभयदानादिप्रविभेदसमन्वितः अभयस्य दानमादिर्येषां तेषां प्रविभे-

नहीं था—शरीर, कर्मोंके साथ-ही-साथ क्षीण होने लगा ॥१५०॥ चिरकाल तक तेरह प्रकारके चारित्रको पालन करनेवाले पद्मनाभने दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंको—जो तीर्थंकर पद दिलानेमें कारण हैं—माना शुरू कर दिया ॥१५१॥ (१) शंका आदि पच्चीस दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि, दर्शनविशुद्धि कहलाती है (२) सधर्मा, गुरु, वृद्ध और परमागमके विषयमें अधिक विनय करना विनयसम्पन्नता कहलाती है ॥१५२॥ (३) अहिंसा आदि व्रतों और क्रोध आदिके परित्याग रूप शीलोंमें—जो व्रतोंके अंग हैं—अतिचार नहीं लगने देना शीलव्रतानतिचार है ॥१५३॥ (४) निरन्तर नियम पूर्वक ज्ञानाभ्यास करना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है । (५) संसारके घोर दुःखोंसे डरना संवेग है ॥१५४॥ (६) अभयदान आदि अनेक

१. क ख ग घ °वर्जितः । २. आ हेतुः । ३. आ पद । ४. आ 'धर्मादनिच् केवलात्' इत्यन्नन्तः । ५. श 'ज्ञानादिगुणैः प्रवृद्धे' इति नोपलभ्यते । ६. श मुख्यो । ७. = शास्त्राभ्यासायोपवासादिको यो विधिः पूर्वमारभ्यते स 'उपधानम्'—इत्युच्यते ।

समाधिस्तपसो विघ्ने कुतश्चित्समुपस्थिते ।
गुणिनां दुःखसंपाते वैयावृत्त्यसमुद्यमः[1] ॥१५६॥
भक्तियोगोऽर्हदाचार्येष्वनुरागैकलक्षणः ।
बहुश्रुतेषु चाशेषशास्त्रार्थग्रन्थभेदिषु[2] ॥१५७॥
श्रुते च द्वादशाङ्गादिबहुभेदसमन्विते ।
षण्णामवश्यकार्याणां क्रियाणामपरिच्युतिः ॥१५८॥

देन विशेषेण[3] समन्वितः । त्यागश्च, शक्तितस्त्यागभावना । अगूढसामर्थ्यम्[4] अगूढमव्यवहितं सामर्थ्यं यस्य[5] तत् । शरीरक्लेशलक्षणं शरीरस्य कायस्य क्लेशनिग्रह एव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् । तपश्च, शक्तितस्तपोभावना ॥१५५॥ समाधिरिति । तपसः बाह्याभ्यन्तरभेदस्य । कुतश्चित् । चारित्र (?) विघ्ने[6] अन्तराये । समुपस्थिते सति संजाते सति । समाधिः[7], साधुसमाधिभावना । गुणिनां सद्गुणयुक्तसाधूनाम् । दुःखसंपाते दुःखस्य संपाते संबन्धे सति । वैयावृत्त्यसमुद्यमः वैयावृत्त्यस्य करचरणादिसंवाहनादेरुद्यम उद्योगः, वैयावृत्त्यकरणभावना ॥१५६॥ भक्तीति । अर्हदाचार्येषु अर्हति अर्हत्परमेष्ठिनि, आचार्येषु च आचार्यपरमेष्ठिषु च । अशेषशास्त्रार्थ-ग्रन्थभेदिषु[8] (ग्रन्थिभेदिषु) अशेषस्य समस्तस्य शास्त्रस्य आगमस्य अर्थस्य ग्रन्थभेदेषु ग्रन्थभेदयुक्तेषु (ग्रन्थि-भेदिषु मर्मस्थलोद्घाटकेषु) । बहुश्रुतेषु[10] च उपाध्यायपरमेष्ठिषु च । आनुरागैकलक्षणः अनुराग एव प्रीतिरेव एकं मुख्यं लक्षणं स्वरूपं यस्य सः । भक्तियोगः, अर्हदाचार्यबहुश्रुतभक्तिभावना ॥१५७॥ श्रुत इति । द्वादशा-ङ्गादिबहुभेदसमन्विते द्वादशाङ्गादिभिः[11] द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वादिभिर्बहुभेदैरनेकविकल्पैः समन्विते संयुक्ते । श्रुते च परमागमे च । [12]भक्तियोगः, प्रवचनभक्तिभावना । अवश्यकार्याणाम् अवश्यं नियमेन कार्याणां[13] करणीया-नाम् । षण्णां षट्संख्यानाम् । क्रियाणां प्रतिक्रमणादिक्रियाणाम् । अपरिच्युतिः अपरित्यागः । षडावश्यका-

प्रकारका विधिपूर्वक यथा शक्ति दान करना शक्तितस्त्याग है । (७) सामर्थ्यको न छिपाकर—यथाशक्ति कायक्लेश सहना शक्तितस्तप है ॥१५५॥ (८) साधुके तपमें कहींसे विघ्न उपस्थित होनेपर उसे दूर करना साधुसमाधि है । (९) गुणी पुरुषोंके ऊपर दुःख आ पड़नेपर उसे दूर करनेके लिए उनकी सेवा-शुश्रूषाका उद्यम करना—वैयावृत्त्य है ॥१५६॥ (१०–१३) अरिहंतों, आचार्यों, समस्त परमागमके अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी ग्रन्थोंकी ग्रन्थियाँ खोलने-वाले बहुश्रुत विद्वानों अर्थात् उपाध्याय परमेष्ठियों और बारह अंग आदि नाना भेदोंवाले श्रुत—प्रवचनके विषयमें अनुराग रखना अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचन भक्ति है । (१४) छह आवश्यक क्रियाओंका यथा समय करना, उनका परित्याग नहीं करना

१. क ख ग घ °समुद्यतः । २. आ इ °ग्रन्थिभेदिषु, म ग्रन्थवेदिषु । ३. =प्रविभागेन । ४. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'अगूढसामर्थ्यशरीरक्लेशलक्षणम्' इति समस्तमेकपदमुपलभ्यते । ५. =यस्मिन् । ६. आ चारित्र्ययोनघे । ७. =तत्प्रशमनम् । ८. श करचरणयोः संवाह° । ९. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु क्वचिद् '°ग्रन्थिभेदिषु' क्वचिद् '°ग्रन्थवेदिषु' क्वचिच्च '°ग्रन्थभेदिषु' पाठः समुपलभ्यते । १०. आ बहुव्रतेषु । ११. श तस्य द्वाद° । १२. श तस्य भक्ति° । १३. श 'अवश्यं नियमेन कार्याणां' इति नोपलभ्यते ।

मार्गप्रभावनाज्ञानतपःप्रभृतिकारणैः ।
तथा दर्शनवात्सल्यं सधर्म[1]स्नेहलक्षणम् ॥१५९॥
इति शिवसुखसिद्ध्यै भावयन्षोडशैता
रहितसकलसङ्गो भावनाः[2] शुद्धभावः ।
परहितकरचर्याबद्धबुद्धिर्बबन्ध
व्रतनियमसमृद्धस्तीर्थकृन्नामकर्म ॥१६०॥
संन्यस्य सङ्गमखिलं निरवद्यवृत्ति-[8]
राराध्य दृक्चरणबोधतपांस्यपांसुः ।
त्यक्त्वा तपोभरतनुं स्वतनुं स धीरो
भेजे सुरालयमनुत्तरवैजयन्तम् ॥१६१॥

परिहाणिभावना ॥१५८॥ मार्गेति । ज्ञानतपःप्रभृतिकारणैः ज्ञानतपसी प्रभृती[3] मुख्ये येषां तैः । कारणैः हेतुभिः । मार्गभावना जिनधर्मप्राकट्यकरणं मार्गप्रभावना । तथा तेन प्रकारेण । सद्ध(ध)र्मस्नेहलक्षणं सधर्मिणि चतुःसङ्घे स्नेह एव प्रीतिरेव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् । दर्शनवात्सल्यं दर्शने वात्सल्यम् । प्रवचनवात्सल्यभावना ॥१५९॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । एताः इमाः । षोडश षोडशसंख्याकाः[4] । भावनाः । शिवसुखसिद्ध्यै शिवसुखस्य मोक्षसुखस्य सिद्ध्यै साधनाय । भावयन् ध्यायन् । रहितसकलसङ्गः रहितस्त्यक्तः सकलो निखिलः सङ्गः परिग्रहो येन सः । शुद्धभावः शुद्धो निर्मलो भावश्चित्तं यस्य सः । परहितकरचर्याबद्धबुद्धिः परेषामन्येषां हितकरे[5] मोक्षकरणे चर्ये प्रवर्तने आबद्धा विहिता बुद्धिर्यस्य सः । वराकान्[6] इत्येवं भावनापर इत्यर्थः (?) । व्रतनियमसमृद्धः व्रतैरहिंसादिव्रतैर्नियमैरनशनादिव्रतैः समृद्धः संपूर्णः सन् । तीर्थकृन्नामकर्म तीर्थकरत्वनामकर्म[7] । बबन्ध बध्नाति स्म ॥१६०॥ संन्यस्येति । निरवद्यवृत्तिः निरवद्या निर्दोषा वृत्तिर्यस्य सः । अपांसुः न विद्यते पांसुः पापं यस्य सः । धीरः धैर्ययुक्तः । सः पद्मनाभमुनिः । अखिलं सकलम् । सङ्गं परिग्रहम् । संन्यस्य त्यक्त्वा । दृक्चरण[8]बोधतपांसि दृग् दर्शनं सा च, चरणं चरित्रं तच्च, बोधो ज्ञानं स च, तपश्च तथोक्तानि । आराध्य आराधनां कृत्वा । तपोभरतनुं तपोभरेणातिशयेन तनुं कृशाम् । स्वतनुं स्वस्य तनुं शरीरम् । त्यक्त्वा विमुच्य । अनुत्तरमनुत्तरनामानं वैजयन्तं वैजयन्तविमानम् ।

आवश्यकापरिहाणि है ॥१५७॥१५८॥ (१५) ज्ञान और तप आदि कारणोंसे सन्मार्गकी प्रभावना करना मार्गप्रभावना है । (१६) तथा सधर्मासे स्नेह करना, उसे देखते ही निःस्वार्थ प्रेम—वात्सल्य प्रकट करना प्रवचन वात्सल्य है । ॥१५९॥ इन सोलह भावनाओंको मोक्षसुखकी सिद्धिके लिए भाते हुए समस्त परिग्रहके त्यागी, शुद्ध परिणामी, परोपकार करनेवाली चर्यामें बुद्धि लगानेवाले और व्रत तथा नियमोंसे समृद्ध पद्मनाभने तीर्थंकर प्रकृतिका—जो नाम कर्मके भेदोंमें परिगणित है—बन्ध कर लिया ॥१६०॥ मुनि पद्मनाभकी वृत्ति निर्दोष थी । वे स्वयं निष्पाप थे और थे धीर । उन्होंने समस्त परिग्रहका परित्याग करके, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपकी आराधना की । फिर अन्तमें तपस्याके प्रकर्षसे कृश हुए अपने शरीरको छोड़कर वे अनुत्तर वैजयन्त नामक स्वर्गमें चले गये ।—सोलह स्वर्ग, नव ग्रैवेयक और नव अनुदिशोंके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं; वैजयन्त उन्हींमेंसे एक है, जिसे पद्मनाभने प्राप्त

---

१. अ क ख ग घ म सद्धर्म° । २. इ भावनां । ३. श प्रभृति । ४. श षोडशसंख्याः । ५. श हितकरणे । ६. आ बद्धदेयुवराकान् । ७. श 'तीर्थकरत्वनामकर्म' इति नास्ति । ८. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'दृक्करण°' इत्येव दृश्यते ।

फुल्लन्मल्लीकुसुमसदृशामोदमामोदिताशं
रत्नज्योत्स्नारुचिरमचिराद्देहमासाद्य सद्यः।
दिव्यैः पुण्योदयपरिणतैस्तत्र भूत्वाहमिन्द्रो
रेमे भोगैस्त्रयसमधिकत्रिंशदब्धिप्रमायुः ॥१६२॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

सुरालयं स्वर्गम्। भेजे भजति स्म ॥१६१॥ फुल्लन्निति। फुल्लन्मल्लीकुसुमसदृशामोदं फुल्लन्तीनां विकसन्तीनां मल्लीनां मल्लिकानां कुसुमानां पुष्पाणां सदृशः समान आमोदः परिमलो यस्य तम्। आमोदिताशम् आमोदिताः परिमलिता आशा यस्य (येन) तम्। रत्नज्योत्स्नारुचिरं रत्नानां ज्योत्स्नया आह्लादनाकारकिरणेन रुचिरं मनोहरम्। देहं शरीरम्। अचिरं शीघ्रम्। आसाद्य लब्ध्वा। तत्र वैजयन्ते। त्रयसमधिकत्रिंशदब्धिप्रमायुः त्रयेण समधिकानां त्रिंशतोऽब्धीनां सागराणां प्रमा प्रमाणमायुर्जीवितं यस्य सः। अहमिन्द्रः अहमिन्द्राख्यः। सद्यः तदैव। भूत्वा समुत्पद्य। पुण्योदयपरिणतैः पुण्यानां प्रशस्तकर्मणामुदयेन परिणतैर्जातैः। दिव्यैः दिवि भवैः[1]। भोगैः सुखैः। रेमे रमते स्म। रमि[2] क्रीडायां लिट् ॥१६२॥

इति श्री वीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च
विद्वन्मनोवल्लभाख्ये पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

किया ॥१६१॥ वहाँपर पद्मनाभने शीघ्र ही (अन्तर्मुहूर्तमें ही) दिव्य शरीर प्राप्त कर लिया, जो विकसित मल्लीलताके फूलके समान सुगन्धित था और इसीलिए सारी दिशाओंको सुगन्धित करनेवाला था, तथा रत्नोंकी प्रभासे अत्यन्त ही सुन्दर था। वहाँपर पद्मनाभ अहमिन्द्र हुआ; उसकी आयु तेतीस सागर प्रमाण थी। वह पुण्य कर्मके ऊपरसे प्राप्त हुए दिव्य भोगोंको भोगकर आनन्द करने लगा ॥१६२॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयांक चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें
पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५॥

---

१. आ देव्यैः देवीभवैः। २. आ रमु।

[१६. षोडशः सर्गः]

लक्ष्मीवानिह भरते सरोजखण्डैरुद्दण्डैरथ विधुदीधितिप्रकाशैः ।
स्वैश्चिह्नैरिव परितो विराजमानो देशानामधिपतिरस्ति पूर्वदेशः ॥१॥
भारेण स्तनकलशद्वयस्य यस्मिन्नुत्थातुं मुहुरसहा विदग्धगोप्यः ।
गीतेन स्फुटकलमाग्रमञ्जरीणां लुण्ठाकं हरिणगणं विमोहयन्ति ॥२॥
चीत्कारारवबधिरीकृताखिलाशैर्यत्राह्वामिव विदधद्भिरिक्षुयन्त्रैः
व्याकृष्टाः सरसरसामृतं पिबन्तः पान्थौघा न पथि परिश्रमं विदन्ति ॥३॥

श्रीमत्समुद्रविजयक्षितिपालपुत्रं नानानिनादितमहोद्धुरपाञ्चजन्यम् ।
शङ्खध्वजं दशधनुःप्रतिमं(प्रमितं)जिनेशं नेमीश्वरं प्रतिभवे(जे)हरिवंशजातम् ॥

लक्ष्मीवानिति । अथ अनुत्तरगमनान्तरम् । इह जम्बूद्वीपे । भरते भरतक्षेत्रे । विधुदीधितिप्रकाशैः विधोश्चन्द्रस्य दीधितिरिव प्रकाशः कान्तिर्येषां तैः । उद्दण्डैः उन्नतैः । सरोजखण्डैः सरोजानां कमलानां षण्डैः कदम्बैः । स्वैः स्वसंबन्धिभिः । चिह्नैरिव छत्रादिभिरिव । परितः समन्तात् । विराजमानः भासमानः । लक्ष्मीवान् शोभावान् । देशानां जनपदानाम् । अधिपतिः प्रभुः । पूर्वदेशः पूर्व इति देशः अस्ति वर्तते । लट्[1] । उत्प्रेक्षा ॥१॥ भारेणेति । यस्मिन् देशे । स्तनकलशद्वयस्य[2] स्तनावेव कलशौ तयोर्द्वयं तस्य । भारेण । मुहुः[3] पश्चात् । उत्थातुम् उत्थानाय । असहाः असमर्थाः । विदग्धगोप्यः विदग्धाः प्रौढाः गोप्यो गोपस्त्रियः । स्फुटकलमाग्रमञ्जरीणां स्फुटकलमानां स्फुटानां परिणतानां शालि[4]सस्यानामग्रे विद्यमानानां मञ्जरीणां स्तबकानाम् । लुण्ठाकम्[5] अपहरन्तम् । हरिणगणं हरिणानां गणं समूहम्[6] । गीतेन गानेन । विमोहयन्ति परवशं कुर्वन्ति । मुह वैचित्ये लट् । अतिशयः ॥२॥ चीत्कारेति । यत्र[7] पूर्वदेशे । चीत्कारारवबधिरीकृताखिलाशैः चीत्कारेण चीत्काररूपेणारवेण बधिरीकृता अखिला निखिला आशा दिशो येषां[8] तैः । आह्वाम् आह्वानम् । विदधद्भिरिव कुर्वद्भिरिव । इक्षुयन्त्रैः । व्याकृष्टाः आकारिताः । सरसरसामृतं सरसो माधुर्ययुक्तो रस इक्षुरसः स एवामृतं तत् । पिबन्तः पानं कुर्वन्तः । पान्थौघाः पान्थानां पथिकानामोघाः समूहाः । 'नित्यं णः पन्थश्च' इति ण-प्रत्ययः पन्थादेशश्च । पथि मार्गे । परिश्रमं श्रमम् । विदन्ति न जानन्ति[9] । विद ज्ञाने लट् । उत्प्रेक्षा ॥३॥

इसके उपरान्त—इसी जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें एक पूर्वदेश है, जो शोभा और लक्ष्मीसे सम्पन्न है और सभी देशोंका राजा है। उन्नत मृणालवाले एवं चन्द्रमाकी किरणोंके समान सफ़ेद कमलोंसे वह ऐसा जान पड़ता है मानो सभी ओरसे अपने राजचिह्नों—छत्र आदिसे सुशोभित हो ॥१॥ जिस देशमें कृषीबलोंकी कुशल महिलाएँ स्तनकलशोंके भारके कारण बार-बार उठनेमें असमर्थ हैं। अतः वे अपने खेतोंमें विकसित धानकी बालियोंको उजाड़नेके लिए आनेवाले हरिणोंके झुण्डको गानसे मोह लेती हैं। फलतः वह मूछित-सा होकर खड़ा रह जाता है—उजाड़ नहीं करता ॥२॥ जिस देशमें 'ची···चो·····' शब्दसे सारी दिशाओंको बधिर करनेवाले इक्षुयन्त्र—कोल्हू अपने शब्दसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो रसपान करनेके लिए पथिकोंके समूहको बुला रहे हों। उनके शब्दसे आकृष्ट हुए राहगीर मधुर इक्षुरसरूपी अमृतका पान करके मार्गमें थकानका अनुभव नहीं करते—रस पीते ही उनकी थकान पच जाती है ॥३॥

१. श 'लट्' इति नास्ति । २. आ श °द्वयेन । ३. =पुनः पुनः । ४. आ शाखसस्या° । ५. आ 'लुण्ठाकम्' इति नास्ति, श प्रतौ 'लुण्ठन्तम्' इत्यस्ति । ६. श 'समूहं' इति नोपलभ्यते । ७. आ 'यत्र' इति नास्ति । ८. =यैः । ९. श 'न जानन्ति' इति नास्ति ।

संतापप्रसरमुषः समाश्रितानां तुङ्गत्वे सति फलसंपदा नमन्तः ।
सच्छायाः सरसतया सदैव यत्र सादृश्यं दधति महीरुहा महद्भिः ॥४॥
नीरन्ध्रैर्विपुलफलैरकृष्टपच्यैः संपन्नं सुरकुरुवत्समस्तसस्यैः ।
न स्प्रष्टुं यमलमवग्रहा ग्रहोत्था[1] निर्दोषं नरमिव दुर्जनापवादाः ॥५॥
संगीतध्वनिमुखरैर्विराजमाना प्रासादैः शशधरबिम्बचुम्बनोत्कैः ।
तत्रास्ति त्रिदशपुरीव राजधानी विख्याता त्रिजगति चन्द्रपुर्यभिख्या ॥६॥
विस्तीर्णोन्नतशिखरावलीकराग्रैरुत्तम्भामिव विदधन्निराश्रयस्य ।
कारुण्यात्पवनपथस्य भाति यस्यां प्राकारो ध्वजरमणीयगोपुराग्रः ॥७॥

संतापेति । यत्र[2] देशे । समाश्रितानाम् आश्रितजनानाम् । संतापप्रसरमुषः संतापस्य प्रसरं प्रचारं[3] मुष्णन्तीति तथोक्ताः । तुङ्गत्वे औन्नत्ये सति । फलसंपदा फलानां संपदा समृद्धया । नमन्तः विनताः । सच्छायाः अनातपेन युक्ताः, (पक्षे) कान्त्या युक्ताः । 'छाया स्यादातपाभावे सत्कान्त्युत्कोचकान्तिषु । प्रतिबिम्बेऽर्ककान्तायां तथा पङ्क्तौ च पालने ॥' सरसतया जलयुक्ततया, (पक्षे) पक्षिराजयुक्ततया । सदैव सर्वदैव । महद्भिः सत्पुरुषैः । सादृश्यं समानत्वम् । दधति धरन्ति । लट् । श्लेषोपमा ॥४॥ नीरन्ध्रैरिति । नीरन्ध्रैः निरन्तरैः । विपुलफलैः विपुलानि सान्द्राणि फलानि येषां तैः । अकृष्टपच्यैः[4] अकृष्टं पच्यं येषां तैः । समस्तसस्यैः समस्तैः सर्वैः सस्यैः । सुरकुरुवत् देवकुरुनामोत्तमभोगभूमिवत् । संपन्नं समृद्धम् । यं पूर्वदेशम् । ग्रहोत्थाः ग्रहैरादित्यादिनवग्रहैरुत्था उत्पन्नाः । अवग्रहाः दुर्भिक्षाणि । निर्दोषं पापरहितम् । जनं लोकम् । दुर्जनापवादाः दुर्जनैर्विहिता अपवादा निन्दाः । इव । स्प्रष्टुं स्पर्शनाय । नालं न समर्था भवन्ति । 'शक्तार्थवषड्—' इत्यादिना अलं शब्दयोगे चतुर्थी । उपमा ।.५॥ संगीतेति । तत्र देशे । संगीतध्वनिमुखरैः संगीतस्य ध्वनिना रवेण मुखरैर्वाचालैः । शशधरबिम्बचुम्बनोत्कैः शशधरस्य चन्द्रस्य बिम्बस्य मण्डलस्य चुम्बने स्पर्शने उत्कैरुत्सुकैः । प्रासादैः हर्म्यैः । विराजमाना भासमाना । त्रिदशपुरीव त्रिदशानां देवानां पुरीव पुरमिव । [त्रि] जगति लोके [लोकत्रये] । विख्याता प्रसिद्धा । चन्द्रपुर्यभिख्या चन्द्रपुरी इत्यभिख्या नामधेयं यस्याः सा । राजधानी पुरी । अस्ति वर्तते । उपमा ॥६॥ विस्तीर्णेति । यस्यां चन्द्रपुर्याम् । ध्वजरमणीयगोपुराग्रः ध्वजैः पताकाभी रमणीयं मनोहरं गोपुराणां (पुर-) द्वाराणामग्रमूर्ध्वभागो यस्य सः । प्राकारः सालः ।

जहाँपर वृक्ष महान् पुरुषोंके समान दृष्टिगोचर होते हैं। महान् पुरुष अपने आश्रयमें आनेवालोंके मानसिक सन्तापके वेगको दूर कर देते हैं, धन-सम्पत्तिकी दृष्टिसे उन्नत होकर भी विनम्र होते हैं, सुन्दर कान्तिसे युक्त होते हैं और होते हैं सदा सरस। इसी प्रकार उस देशके वृक्ष अपने आश्रयमें आनेवालोंके सन्तापको शान्त कर देते हैं, खूब उन्नत होकर भी फलोंके लगनेपर झुक जाते हैं, घनी छायावाले हैं और हैं हमेशा हरे-भरे ॥४॥ वह देश सघन, अधिकसे अधिक फल देनेवाले और बिना जोते ही पैदा होनेवाले सभी प्रकारके अनाजोंसे देवकुरु—उत्तम भोग-भूमिकी भाँति समृद्ध है। सूर्य आदि ग्रहोंके प्रकोपसे उत्पन्न होनेवाले अवग्रह—सूखा आदि उसे छू भी नहीं सकते, जैसे दुर्जनोंके द्वारा लगाये गये अपवाद निर्दोष मनुष्यको नहीं छू सकते ॥५॥ उस देशकी राजधानीका नाम चन्द्रपुरी है। वह पुरी सुरपुरीकी भाँति तीनों लोकोंमें विख्यात है। वह ऐसे महलोंसे सुशोभित है, जिनमें संगीतकी ध्वनि गूँजती रहती है, और जो अत्यधिक उन्नत होनेसे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो चन्द्रबिम्बको चूमनेके लिए उत्सुक हों ॥६॥ उस राजधानीके चारों ओर प्राकार-चहारदीवारी बना हुआ है। उसमें चारों

१. म गृहोत्था। २. आ तत्र। ३. श प्रचुरं। ४. = कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपच्यानि न कृष्टपच्यान्यकृष्टपच्यानि।

काचाद्रिप्रतिमविलोलवीचिनाम्भःखातेनापरिमितकुक्षिणा निजेन ।
या शोभां वहति समन्ततः परीता तद्रत्नान्यभिलषता पयोधिनेव ॥८॥
यत्रोर्वीरुहनिचयः परं वियोगी सर्पादिः समजनि केवलं विलापी ।
वैरस्यं परमतिपीडितेक्षुदण्डे संग्रामे परमभवद् गदाभिघातः ॥९॥
पातालोदरमिव सेवितं सहस्रैर्नागानां हृदयमिवोरु सज्जनानाम् ।
शाक्यानां मतमिव यत्र भूमिकाभिर्बह्वीभिः स्थितमवभाति राजवेश्म ॥१०॥

विस्तीर्णोन्नतशिखरावलीकराग्रैः विस्तीर्णानां विशालानामुन्नतानां प्रांशूनां शिखराणामावल्य एव श्रेणय एव (कराग्राणि तैः) कराग्रैर्हस्ताग्रैः । निराश्रयस्य निर्गताधारस्य । पवनपथस्य गगनस्य । कारुण्यात् दयायाः । उत्तम्भां हस्ताधारम्[1] । विदधन्निव कुर्वन्निव । भाति विराजते । भा दीप्तौ लट् । उत्प्रेक्षा ॥७॥ काचेति । काचाद्रिप्रतिमविलोलवीचिना काचाद्रेरञ्जनपर्वतस्य प्रतिमाः समाना विलोलाश्चञ्चला वीचयस्तरङ्गा यस्मिन् तेन । अपरिमितकुक्षिणा अपरिमितोऽप्रमितः कुक्षिरुदरं यस्य तेन । निजेन स्वकीयेन । अम्भःखातेन अम्भसो जलस्य खातेन खातिकया । तद्रत्नानि तस्य पुरस्य रत्नानि मणीन् । अभिलषता वाञ्छता । पयोधिनेव समुद्रेणेव । समन्ततः परितः । परीता परिवृता । या पुरी । शोभां मनोहरत्वम् । वहति धरति । वहि[2] प्रापणे लट् । उत्प्रेक्षा ॥८॥ यत्रेति । यत्र चन्द्रपुर्याम् । परं केवलम् । उर्वीरुहनिचयः उर्वीरुहाणां वृक्षाणां निचयः समूहः । वियोगी वीनां पक्षिणां योगी संबन्धी । जनो[3] वियोगी न । केवलं परम् । सर्पादिः भुजङ्गादिः । विलापी बिलमाप्नोतीति बिलापी । विलापी[4]न विप्रलापकारी न । समजनि समजायत[5] । जनैङ्[6] प्रादुर्भावे लुङ् । वैरस्यं विरसत्वम् । परं केवलम् । अतिपीडितेक्षुदण्डे अतिपीडिते यन्त्रेणातिमर्दिते इक्षूणां रसालानां दण्डे यष्टौ समजनि[7] । परं केवलम् । संग्रामे रणे । गदाभिघातः गदया दण्डेनाभिघातः । गदाभिघातः[8] गदैर्व्याधिभिरभिघातो बाधा । न अभवत् । परिसंख्या ॥९॥ पातालेति । यत्र पुर्याम् । पातालोदरमिव पातालस्याधोभागस्योदरमिव मध्यप्रदेश इव[9] । नागानां नागदेवतानाम्, (पक्षे) गजानाम् । सहस्रैः अनेकैः ।

दिशाओंमें चार बड़े-बड़े दरवाजे—फाटक बने हुए हैं, जिनके ऊपर लहराते हुए झण्डोंसे अपूर्व सुषमा छायी रहती है । वह प्राकार अपने विशाल और उन्नत-शिखररूपी हाथोंसे आकाशका स्पर्श करता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह करुणावश, निराश्रय आकाशको हस्तावलम्बन देकर थामे हुए हो ॥७॥ राजधानीके चारों ओर परिखा बनी हुई है । उसमें अगाध जल भरा हुआ है । उसमें जो चंचल लहरें उत्पन्न होती हैं वे अंजनगिरि सरीखी प्रतीत होती हैं । उस परिखासे वह राजधानी ऐसी जान पड़ती है मानो उसके रत्नोंको पानेकी अभिलाषासे समुद्रने उसे सभी ओरसे घेर लिया हो । परिखासे राजधानीकी अपूर्व शोभा है ॥८॥ वहाँपर केवल वृक्षोंका समूह ही वियोगी अर्थात् पक्षियोंके सम्पर्कसे युक्त है, किन्तु और कोई भी वियोगी—विरही नहीं है । वहाँपर केवल सर्प आदि जन्तु ही बिलापी हैं—बिलोंके निवासी हैं, और कोई भी विलापी—विलाप करनेवाले नहीं हैं । वहाँ विरसता या नीरसता केवल अच्छी तरह कोल्हूमें पेरे गये गन्नोंमें पायी जाती है, और किसी भी मनुष्यमें नीरसता नहीं पायी जाती । तथा वहाँपर केवल संग्राममें ही गदाका प्रहार होता है, और किसीके भी ऊपर रोगका आक्रमण नहीं होता ॥९॥ वहाँका राजमहल देखते ही बनता है । जिस प्रकार पातालका मध्यभाग हजारों नागकुमार जातिके देवोंसे युक्त है, उसी प्रकार वह (राजमहल) हजारों

१. आ हस्तधारम् । २. आ वह । ३. = तत्रत्यः कश्चन मानवः । ४. = तत्रत्यः कश्चिदपि । ५. श जायते स्म । ६. आ जनी । ७. = परं तत्रत्ये कस्मिंश्चिदपि पुंसि वैरस्यं न समजनि । ८. = 'परं तत्र' इत्युपरिष्टाद् योज्यम् । ९. श मध्यमिव ।

प्रख्यातः प्रशमरतः प्रतापराशिस्तत्रासीदवनिपतिर्महादिसेनः ।
यः क्रान्ताखिलभुवनैर्गुणैरुदारैरिक्ष्वाकोः कुलममलैरलंचकार ॥११॥
कुन्देन्दुद्युतिनिकरावदातयान्यान्न्यक्कुर्वञ्जगति महीभृतः स्वकीर्त्या ।
कल्याणप्रकृतितया न केवलं यः स्थैर्येणाप्यनुविदधे सुराचलेन्द्रम् ॥१२॥
लावण्यं भृशमदधादभूदगाधो रत्नानामपि परमालयो बहूनाम् ।
अन्वेतुं तदपि शशाक यं महेच्छं नाम्भोधिः प्रलयपराकृतव्यवस्थः ॥१३॥

सेवितम् आश्रितम् । सज्जनानां सत्पुरुषाणाम् । हृदयमिव चित्तमिव । उरु महत् । शाक्यानां बौद्धानाम् । मतमिव समय इव । बह्वीभिः बहुलाभिः । भूमिकाभिः माध्यमिक—सौत्रान्तिक-वैभाषिक—योगाचारादिमत-भेदैः, (पक्षे) तलैः । स्थितम् । राजवेश्म राजसदनम् । [अव–] भाति विराजते । लट् । उपमा[2] ॥१०॥ प्रख्यात इति । तत्र पुर्याम् । यः । क्रान्ताखिलभुवनैः क्रान्तं व्याप्तमखिलं सकलं भुवनं लोको यैस्तैः । उदारैः महद्भिः । अमलैः निर्मलैः । गुणैः माधुर्यादिभिः । इक्ष्वाकोः इक्षून् आकायत[3] इति इक्ष्वाकुः, तस्य पुरुदेवस्य[4] । कुलं वंशम् । अलंचकार बुभूष । (सः) । प्रशमरतः प्रशमे नयगुणे रतः प्रीतः । प्रतापराशिः प्रतापानां तेजसां राशिः पुञ्जः । महादिसेनः महासेन इति[5] । अवनिपतिः भूमिपतिः । आसीत् अभवत् । लङ् । अतिशयः ॥११॥ कुन्देति । कुन्देन्दुद्युतिनिकरावदातया कुन्देन्दोर्माध्यचन्द्रयोर्द्युतीनां निकर इव निचय इवाव-दातया शुभ्रया । स्वकीर्त्या स्वास्यात्मनः कीर्त्या यशसा । अन्यान् शेषान् । महीभृतः भूपान्[6], पक्षे पर्वतांश्च । जगति लोके । न्यक्कुर्वन् तिरस्कुर्वन् । यः भूपः । न केवलं न परम् । कल्याणप्रकृतितया कल्याणस्य भद्रस्य, पक्षे सुवर्णस्य प्रकृतितया[7] स्वभावतया । स्थैर्येणापि धैर्येणापि, पक्षे स्थिरत्वेनापि । सुराचलेन्द्रं महामेरुम् । अनुविदधे अनुकरोति स्म । डुधाञ् धारणे च लिट् । श्लेषोपमा ॥१२॥ लावण्यमिति । भृशम् अत्यन्तम् । लावण्यं शरीरकान्तिम्, लवणत्वमिति ध्वनिः । अदधात् धरति स्म । अगाधः अतलस्पर्शः । बहूनां बहुला-नाम् । रत्नानामपि मणीनामपि । परमालयः प्रकृष्टनिलयः । अभूत् अभवत् । तदपि तथापि । प्रलयपराकृत-व्यवस्थः प्रलयेन प्रलयकालेन पराकृता निराकृता व्यवस्था मर्यादा यस्य सः । अम्भोधिः समुद्रः । महेच्छं महती पृथुला इच्छा चित्तं यस्य तम् । यं भूपम् । अन्वेतुं सदृशो भवितुम् । न शशाक समर्थो न बभूव ।

हाथियोंसे युक्त है । जिस तरह सज्जनोंका हृदय विशाल होता है, उसी प्रकार वह भी विशाल है । जैसे बौद्धोंके मतमें अनेक भेद-प्रभेद हैं वैसे ही उसमें अनेक खण्ड हैं ॥१०॥ वहाँ महासेन नामक राजा राज्य करता था । वह शान्तिप्रेमी और प्रतापका पुंज था । वह सारे भूमण्डलमें विख्यात था । उसने समस्त संसारमें फैले हुए अपने महान् निर्मल गुणोंसे इक्ष्वाकु वंशको सुशोभित किया था ॥११॥ उसने कुन्दपुष्प और चन्द्रकिरणोंकी राशिके समान शुभ्र, अपनी कीर्तिसे इस भूतलपर अन्य सभी राजाओं (पर्वतों) को मात कर दिया था, तथा न केवल भद्र (स्वर्ण) प्रकृतिके कारण, वरन् स्थिरताके कारण भी सुमेरुपर्वतको अपने समान बना लिया था ॥१२॥ महासेनके शरीरपर मोती सरीखी आभा अत्यधिक मात्रामें थी । वह गम्भीर था, बहुतसे रत्नोंका आश्रय स्थान था और अत्यन्त उदारचेता था । यों समुद्र भी लावण्य—खारेपनसे युक्त होता है, खूब गहरा होता है और होता है अगणित रत्नोंका आकर, किन्तु फिर भी वह प्रलयकालमें अपनी मर्यादाको छोड़ देता है, जब कि महासेन बड़ेसे बड़े संकटके अवसरपर भी अपनी मर्यादाको नहीं बदलता रहा, अतः समुद्र उसकी बराबरी नहीं कर

१. अ महोर्श । २. आ अस्य नवमश्लोकस्य व्याख्यापूर्णैव वर्तते । ३. आ आनायत । ४. श मरुदेवस्य । ५. श महाधिसेनः महाधिसेन इति । ६. आ भूपालान् । ७. आ प्रकृतिकतया ।

शौर्यं नातिशयि समुज्झितं नयेन न क्षान्त्या रहितमुदारया प्रभुत्वम् ।
यस्यासीद्विनयविनाकृता न विद्या वित्तं नानवरतदानभोगहीनम् ॥१४॥
तस्योर्वीवलयविशेषकस्य राज्ञः पर्याप्तानुगुणवर्णनेयतैव ।
संसारार्णवमथनस्य भव्यभानोर्यद् भेजे सकलजगद्गुरोर्गुरुत्वम् ॥१५॥
तस्य श्रीरिव कमलालयादुपेता पातालादिव परिनिर्गताहिकन्या ।
पुष्पेषो रतिरिव लक्ष्मणेति जाया सर्वान्तःपुरपरमेश्वरी बभूव ॥१६॥
सच्छाया विपुलतरोर्महालतेव मेघानामिव पदवी सतारतारा ।
चापश्रीरिव वरवंशलब्धजन्मा या रेजे सुकविकथेव चारुवर्णा ॥१७॥

निषेधोपमा ॥१३॥ शौर्यमिति । यस्य भूपस्य । अतिशयि अतिशयोपेतम् । शौर्यं[2] सामर्थ्यम् । नयेन नयगुणेन । न समुज्झितं विरहितं न भवति । तस्य प्रभुत्वं स्वामित्वम् । उदारया महत्या । क्षान्त्या क्षमया । रहितं समुज्झितं न । विद्या शास्त्रपरिज्ञानम् । विनयविनाकृता विनयेन विनयगुणेन विनाकृता अभावविहिता । नासीत् नाभवत् । वित्तं द्रव्यम् । अनवरतदानभोगहीनम् अनवरतं सततं दानभोगाभ्यां त्यागानुभवाभ्यां हीनं रहितम् । न स्यात्, सर्वं सार्थकमेव भवतीत्यर्थः ॥१४॥ तस्येति । यत् यस्मात् कारणात् । संसारार्णवस्य संसारसमुद्रस्य मन्थनस्य प्रमर्दनस्य । भव्यभानोः भव्यानां विनेयजनानां[3] भानोः सूर्यस्य, सन्मार्गप्रकाशकस्येत्यर्थः । सकलजगद्गुरोः स्वामिनः । गुरुत्वं पितृत्वम्[4] । भेजे भजतिस्म । लिट् । उर्वीवलयविशेषकस्य उर्व्या भूमेर्वलयस्य मण्डलस्य विशेषकस्य तिलकस्य । तस्य महासेनस्य । राज्ञः भूपस्य । गुणवर्णना गुणानां वर्णना कीर्तना । इयतैव एतावत्प्रमाणेनैव । पर्याप्ता संपूर्णा । ननु[5] निश्चयम् ॥१५॥ तस्येति । कमलालयात् कमलमेवालयं तस्मात् । उपेता आगता । श्रीरिव लक्ष्मीरिव । पातालात् अधोभुवनात् । परिनिर्गता आयाता । अहिकन्येव नागकन्येव । पुष्पेषोः कामस्य । रतिरिव रतिदेवीव । तस्य महासेनभूपस्य । सर्वान्तःपुरपरमेश्वरी सर्वस्याखिलस्यान्तःपुरस्य निशान्तस्य परमेश्वरी स्वामिनी । लक्ष्मणा इति लक्ष्मणादेवी इति । जाया प्राणवल्लभा । बभूव भवति स्म । भू सत्तायां लिट् । उपमा (उत्प्रेक्षा) ॥१६॥ सच्छायेति । विपुलतरोः विपुलस्य महतस्तरोर्वृक्षस्य । महालतेव[6] वल्लरीव[7] । सच्छाया कान्तियुक्ता, (पक्षे) अनातपसहिता । मेघानां जलधराणाम् । पदवीव वीथीव, गगनमिवेत्यर्थः । सुतारतारा सुतारा महत्यस्तारा मौक्तिकाः, पक्षे तारा नक्षत्राणि यस्याः सा । चापश्रीरिव चापस्य धनुषः श्रीरिव शोभेव । वरवंशलब्धजन्मा वरे श्रेष्ठे वंशे,

सका ॥१३॥ उसका सर्वोत्कृष्ट पराक्रम नीतिसे रहित नहीं था, प्रभुता उत्तम क्षमासे रहित नहीं थी, विद्या विनयसे रहित नहीं थी और धन कभी भी दान और भोगसे हीन नहीं था ॥१४॥ राजा महासेन सारे भूमण्डलका तिलक था । निश्चय ही उसके गुणोंका वर्णन इतना ही पर्याप्त है कि वह संसारसमुद्रके मथन करनेवाले, भव्यजीवोंको सन्मार्ग प्रदर्शन करनेके लिए सूर्यको समता करनेवाले और सारे संसारके गुरु बननेवाले भगवान् चन्द्रप्रभका गुरु-पिता था ॥१५। उसकी लक्ष्मणा नामकी पट्टरानी थी, जो सभी रानियोंमें प्रमुख थी, और जो ऐसी प्रतीत होती थी मानो कमलरूपी आलयको छोड़कर आयी हुई लक्ष्मी हो, पातालसे निकलकर आयी हुई नागकन्या हो या कामदेवके पाससे आयी हुई रति (कामदेवकी पत्नी) हो ॥१६॥ जिस प्रकार विशाल वृक्षकी बहुत बड़ी शाखा अच्छी छायासे युक्त होती है उसी प्रकार पट्टरानी लक्ष्मणा अच्छी छाया-कान्तिसे युक्त थी; जिस तरह आकाश चमकते हुई ताराओंसे युक्त होता है उसी तरह वह चमचमाते निर्मल मोतियोंसे भूषित थी; जैसे धनुषकी सुषमा श्रेष्ठ

१. अ क ख ग घ म 'महातरो र्ल°' । २. =पराक्रमः । ३. आ विनयजनानां, श विनीयजनानां । ४. श वेतृत्वम् । ५. =निश्चयेन । ६. =महाशाखेव । ७. श 'वल्लरीव' इति नोपलभ्यते ।

लोलत्वं नयनयुगे न चित्तवृत्तौ मन्दत्वं गतिषु न सज्जनोपचारे[1] ।
कार्कश्यं कुचयुगले न वाचि यस्या भङ्गोऽभूदलकचये न चापि शीले ॥१८॥
सौभाग्यं क्वचिदितरत्र रूपमात्रं क्वापि स्याद्विनयगुणोऽपरत्र शीलम् ।
यस्यां तत्समुदितमेव सर्वमासीत्प्रायेण प्रभवति तादृशी न सृष्टिः[2] ॥१९॥
सर्वेषामपि तमसां छिदः[3] पुरस्ता[4]त्तीर्थस्य क्षतरजसोऽष्टमस्य कर्ता ।
यद्गर्भं गुणनिधिरात्मनाधिशिश्ये कस्तस्या गुणगणनां विधातुमीशः ॥२०॥

गोत्रे, पक्षे वेणौ लब्धं प्राप्तं जन्म जननं यस्याः[4] सा । सुकविकथेव सुकवेः महाकवीश्वरस्य कथेव वाणीव । चारुवर्णा चारुर्मनोहरो वर्णः कान्तिः, पक्षे वर्णोऽक्षरं यस्याः सा । या देवी । रेजे भाति स्म । लिट् । श्लेषोपमा ॥१७॥ लोलत्वमिति । यस्याः लक्ष्मणायाः । नयनयुगे नयनयोर्नेत्रयोर्युगे युगले । लोलत्वं चञ्चलत्वम् । चित्तवृत्तौ चित्तस्य मनसो वृत्तौ वर्तने । न नाभूत् । मन्दत्वम् आलस्यम् । गतिषु गमनेषु । सज्जनोपकारे सज्जनानां सत्पुरुषाणामुपचारे सत्कारे । न । कार्कश्यं कठिनत्वम् । कुचयुगले स्तनयुगले । वाचि वचने । न । भङ्गः कौटिल्यम् । अलकचये अलकानां चूर्णकुन्तलानां चये समूहे । शीले सदाचारे । न चाप्यभूत् नाभवत् । परिसंख्या ॥१८॥ सौभाग्यमिति । क्वचित् कस्यांचित् स्त्रियाम् । सौभाग्यम्[6] आदेयमूर्तित्वम् । इतरत्र अन्यस्याम् । रूपमात्रं सौन्दर्यमात्रम् । क्वापि[7] कस्यामपि स्त्रियाम् । विनयगुणः विनयरूपो गुणः । अपरत्र अपरस्यां वनितायाम् । शीलं सदाचारः । स्यात् भवेत् । यस्यां लक्ष्मणायाम् । तत्सर्वं तत्सकलम् । समुदितमेव युगपदेव । आसीत् अभवत् । तादृशी तद्रूपा । सृष्टिः स्त्रीसृष्टिः । प्रायेण बहुलेन[8] । न प्रभवति ॥१९॥ सर्वेषामिति । पुरस्तात् अग्रे । सर्वेषामपि सकलजनानामपि । तमसाम् अज्ञानानाम् । छिदः नाशयतः । क्षतरजसः क्षतं विनष्टं रजः पापं यस्य[9] तस्य । अष्टमस्य अष्टानां पूरणस्य । 'नो मट्' इति मट्—प्रत्ययः । तीर्थस्य परमागमस्य । कर्ता प्रभुः । गुणनिधिः गुणानामनन्तज्ञानादीनां निधिर्निधानम् । यद्गर्भं यस्या लक्ष्मणाया गर्भमुदरम् । आत्मना स्वयमेव । अधिशिश्ये प्रेरितवान् । 'शीङ्स्थासोऽधेराधारः' इति आधारे कर्म । तस्याः लक्ष्मणायाः । गुणगणानां गुणानां पातिव्रत्यादीनां गुणानां गणनां संख्याम् । विधातुं कर्तुम् । कः

बाँससे उत्पन्न होती है वैसे वह श्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न हुई थी और जिस प्रकारसे अच्छे कविकी कथा सुन्दर वर्णोंसे युक्त होती है उसी प्रकारसे वह भी सुन्दर वर्ण-रंगसे युक्त थी । वह सभी दृष्टिसे सुन्दर थी । उसकी निराली शोभा थी ॥१७॥ उसके नेत्र युगलमें चंचलता थी, न कि मनोवृत्तिमें; उसकी चाल सालस-धीमी थी, किन्तु उसे सत्पुरुषोंके उपकार करनेमें आलस नहीं था; उसके स्तनयुगलमें कठोरता थी न कि वचनोंमें और उसके केशपाशमें घुँघरालापन था किन्तु उसका शील कभी स्वप्नमें भी भंग नहीं होता था ॥१८॥ किसी स्त्रीमें केवल सौभाग्य, किसीमें केवल रूप, किसीमें केवल विनय गुण, तो किसीमें केवल शील ही पाया जाता है, किन्तु पट्टरानी लक्ष्मणामें क्या सौभाग्य, क्या रूप, क्या विनय और क्या शील—ये सभी गुण एक ही साथ प्रकट हो गये थे । ऐसी स्त्रियोंकी सृष्टि प्रायः नहीं होती, होती भी है तो बहुत ही कम ॥१९॥ आगे जाकर सभी प्रकारके अज्ञानको मिटानेवाले, और पापोंको नष्ट करनेवाले अष्टम तीर्थके प्रवर्त्तक अत्यधिक गुणवान् भगवान् चन्द्रप्रभ जिसके गर्भमें अवतरित होंगे उसके

---

१. आ इ क ख ग घ म °पकारे । २. आ इ दृष्टिः । ३. म तमसां स्थितिः । ४. क ख ग घ म परस्तात्ती° । ५. =यया । ६. =सुभगता । ७. श 'अपि' नास्ति । ८. =बहुलम् । ९. =येन ।

तां क्षोणीमिव चतुरर्णवावसानामायातां तनुमनुकृत्य मानवीयाम् ।
प्राप्योर्वीपतिरखिलेन्द्रियार्थसारामात्मानं स कलयति[1] स्म सार्वभौमम् ॥२१॥
व्यासक्तस्तदधरपल्लवे स राज्यश्रीचिन्तामपि शिथिलीचकार भूपः।
प्रायेण स्थिरमतयोऽपि विभ्रमोहं नीयन्ते मदनफलैरिवेन्द्रियार्थैः ॥२२॥
निर्मग्नं विषयसुखाम्बुधावगाधे तं मन्दोद्यममवधार्य राजकार्ये ।
स्वातन्त्र्यं ययुरखिलानि मण्डलानि मन्दत्वं भवति न कस्य वाभिभूत्यै ॥२३॥
व्युत्थानं सचिवमुखान्निशम्य राज्ञां राजेन्द्रो निजमभिनिन्द्य च प्रमादम् ।
निर्जेतुं स दश दिशोऽन्यदा प्रतस्थे सामन्तैः परिकलितः[2] सहस्रसंख्यैः ॥२४॥

को वा । ईशः समर्थः । अतिशयः ॥२०॥ तामिति । सः उर्वीपतिः महासेनभूपतिः । मानवीयां मनुष्यसंबन्धिनीम् । तनुं शरीरम् । अनुकृत्य धृत्वेत्यर्थः । आयतां विशालाम् [आयाता] (समागताम्)। चतुरर्णवावसानां चत्वारोऽर्णवाः समुद्राः चतुरर्णवास्त एवावसाना अवधयो यस्याः ताम् । क्षोणीमिव भूमिमिव[3] । अखिलेन्द्रियार्थसाराम् अखिलानां निखिलानामिन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणामर्थानां विषयाणां सारां सारभूताम् । तां लक्ष्मणाम् । प्राप्य लब्ध्वा । आत्मानं स्वम् । सार्वभौमं चक्रवर्तिनम् । कलयतिस्म मन्यते स्म । कल संख्याने लट् । उत्प्रेक्षा ॥२१॥ व्यासक्त इति । तदधरपल्लवे तस्या लक्ष्मणाया अधर एव ओष्ठ एव पल्लवः किसलयं तस्मिन् । व्यासक्तः आसक्तः । भूपः महासेनभूपः । राज्यश्रीचिन्तामपि राज्यस्य श्रियः संपदश्चिन्तामाध्यानमपि । शिथिलीचकार प्रागशिथिला इदानीं शिथिलां (शिथिला तां) चकार । लिट् । तथा हि । स्थिरमतयोऽपि स्थिरया स्थिररूपया मत्या बुद्ध्या युक्ता अपि । मदनफलैरिव[4] इन्द्रियार्थैरिव, पञ्चेन्द्रियविषयैः । प्रायेण तावत् बाहुल्येन । विभ्रमोहं भ्रान्तिम् । नीयन्ते प्राप्नुवन्ति । णीञ् प्रापणे लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥२२॥ निर्मग्नमिति । अगाधे अतलस्पर्शे । विषयसुखाम्बुधौ विषयाणां पञ्चेन्द्रियाणां[5] सुखमेवाम्बुधिः समुद्रः तस्मिन् । निर्मग्नं प्रविष्टम् । राजकार्ये राज्ञां भूपानां कार्ये दुष्टनिग्रहादिकार्ये कृत्ये । मन्दोद्यमम् अल्पोद्योगम् । तं महासेनम् । अवधार्य निश्चित्य । अखिलानि सर्वाणि । मण्डलानि[6] भूवलयानि । स्वातन्त्र्यं स्वाधीनत्वम् । ययुः यान्ति स्म । सकलदेशाधिपाः स्वाधीना बभूवु इत्यर्थः । मन्दत्वम् अलसत्वम् । कस्य वा पुरुषस्य । अभिभूत्यै तिरस्करणाय । न भवति किन्तु[7] भवत्येव । अर्थान्तरन्यासः ॥२३॥ व्युत्थानमिति । राजेन्द्रः राजश्रेष्ठः । सः महासेनः । सचिवमुखात् मन्त्रिवदनात्[8] । राज्ञां सामन्तभूपानाम् । व्युत्थानं विरोधाचरणम्[9] । निशम्य श्रुत्वा । निजं स्वकीयम् । प्रमादं[10] मतिविभ्रमम् । अभिनिन्द्य च

गुणोंकी गणना भला कौन कर सकता है ? ॥२०॥ पट्टरानी लक्ष्मणा ऐसी जान पड़ती थी मानो वह मानव देह धारण करके उपस्थित हुई, चारों समुद्रोंसे वेष्टित विशाल भूमि हो। वह सभी इन्द्रियोंके विषयोंका सार थी। उसे पाकर महासेनने अपनेको सार्वभौम-चक्रवर्ती माना ॥२१॥ लक्ष्मणके अधरपल्लवमें आसक्त होकर राजा महासेनने राज्यलक्ष्मीकी चिन्ताको भी कम कर दिया। सच तो यह है कि जिनकी बुद्धि स्थिर है वे भी धतूरेके फल सरीखे पचेन्द्रियोंके विषयोंसे मोहित कर दिये जाते हैं ॥२२॥ महासेन विषयसुखके अगाध समुद्रमें मग्न रहने लगा और उसने राजकीय कार्यमें ढील डाल दी। यह जानकर सारी छोटी-बड़ी रियासतें—जो अधीन रहीं—स्वतन्त्र हो गयीं ! आलस किसके अपमानके लिए नहीं होता ? ॥२३॥ अपने मन्त्रियोंके मुखसे, अनेक अधीन राजाओंके सिर उठानेके समाचार सुनकर राजाधिराज

१. आ इ कलयते । २. क ख ग घ म परिकरितः । ३. श 'भूमिमिव' इति नास्ति । ४. = धत्तूरफलैरिव । ५. = पञ्चेन्द्रियसंबन्धिनां । ६. = सामन्तानां राज्यभूभागाः । ७. = सर्वेषामपि । ८. श वचनात् । ९. आ 'विरोधाचरणम्' इति पदं नोपलभ्यते। १०. = अनवधानताम् ।

प्राक्प्राचीं[1] दिशमुपसृत्य धूतधन्वा कृत्वाथ स्वशरशरव्यमङ्गराजम् ।
कारुण्यात्प्रणतिपरे रराज राज्यं तत्सूनौ विदधदुपायनीकृतेभे ॥२५॥
प्रोद्दामद्विरदरदप्रभेदनिर्यद्योधासृक्प्लुतरथचक्रचक्रवाले ।
तेनाजौ प्रविदधिरे कलिङ्गभर्तुः कामिन्यो वलयविहीयमानहस्ताः ॥२६॥
पादाब्जद्वितयशिलीमुखायमानं स्वग्रीवानिहितकुठारमेकवीरः[2] ।
पञ्चालाधिपतिमसौ व्ययुङ्क्त रत्नैर्न प्राणैः प्रणतकृपालवो महान्तः ॥२७॥

निन्दयित्वा । सहस्रसंख्यैः अनेकैः । सामन्तैः[3] राजभिः । परिकलितः युक्तः सन् । दशदिशः दशककुभः । निर्जेतुं विजयनिमित्तम् । अन्यदा अन्यस्मिन् काले । प्रतस्थे निर्जगाम । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् ॥२४॥ प्रागिति । धूतधन्वा धूतं कम्पितं धन्व[4] येन सः । सः महासेनः । प्राक् प्रथमम् । प्राचीं पूर्वाम् । दिशं ककुभम् । उपसृत्य गत्वा । अङ्गराजम् अङ्गदेशराजम् । स्वशरशरव्यं स्वस्य शरस्य बाणस्य शरव्यं लक्ष्यम् । कृत्वा विधाय । प्रणतिपरे प्रणतौ प्रणमने परे तत्परे । उपायनीकृतेभे उपायनीकृता उपग्राह्य (ह्याः) विहिता गजा येन तस्मिन् । तत्सूनौ तस्याङ्गराजस्य सूनौ पुत्रे । राज्यं प्रभुत्वम् । विदधत् कुर्वन् सन् । रराज भाति स्म । लिट् ॥२५॥ प्रोद्दामेति । तेन राज्ञा । प्रोद्दामद्विरदप्रभेदनिर्यद्योधासृक्प्लुतरथचक्रचक्रवाले प्रोद्दाम्नां द्विरदानां गजानां रदानां दन्तानां प्रभेदेन विदारणेन निर्यता निर्गच्छता योधानां भटानामसृजा रक्तेन प्लुतान्यार्द्रितानि रथानां स्यन्दनानां चक्राणि रथाङ्गानि[5] चक्रवाले[6] मण्डले यस्य तस्मिन् । आजौ संग्रामे । कलिङ्गभर्तुः कलिङ्गस्य कलिङ्गदेशस्य भर्तुः राज्ञः । कामिन्यः वनिताः । वलयविहीयमानहस्ताः वलयैः कङ्कणैर्विहीयमाना विमुच्यमाना हस्ता पाणयो यासां ताः । प्रविदधिरे प्रचक्रिरे । डुधाञ् धारणे च कर्मणि लिट् ॥२६॥ पादाब्जेति । एकवीरः एकशूरः । असौ महासेनः । पादाब्जद्वितयशिलीमुखायमानं पादाब्जयोः पादारविन्दयोर्द्वितये द्वये शिलीमुखायमानं[7] शिलीमुख इव भ्रमर इवाचर्यमाणम् । स्वग्रीवानिहितकुठारं स्वस्यात्मनो ग्रीवायां कण्ठे निहितः स्थापितः कुठारः परशुर्येन तम् । पाञ्चालाधिपतिं पाञ्चालस्य पाञ्चालदेशस्याधिपतिं पतिम् । रत्नैः मणिभिः । व्ययुङ्क्त रहितमकरोत् । युजृ्ञ् योगे लङ् । प्राणैः असुभिः । न न व्ययुङ्क्त । पादाब्जविनतत्वात् तेनोपायनीकृतं रत्नमेव गृहीतवान् प्राणापहारं न कृतवानित्यर्थः । तथा हि । महान्तः सत्पुरुषाः । प्रणतकृपालवः प्रणतानां विनताना-

महासेनने अपने प्रमादकी निन्दा की, और फिर वह हजारों सामन्तोंसे युक्त होकर दस दिशाओंको जीतनेके लिए निकल पड़ा ॥२४॥ इसके पश्चात् वह सबसे पहले पूर्व दिशामें गया । उसके हाथमें धनुष था । उसने प्रथमतः अंगदेश (जहाँ आज जिला हजारीबाग है) के राजाको अपने बाणका लक्ष्य बनाया । यह देखकर उस (अंगदेशके राजा) का राजकुमार, महासेनके चरणोंमें झुक गया और उसे उसने उपहारमें हाथी प्रदान किये । महासेनको दया आ गयी । फलतः उसने अंगदेशका राज्य वहाँके राजकुमारको दे दिया । इसीमें उसकी शोभा थी ॥२५॥ मदमाते दुर्दम हाथियोंके दाँतोंके प्रहारसे घायल हुए सैनिकोंके रक्तसे संग्रामभूमि तर हो गयी और उसमें रथोंके पहिये सन गये । ऐसे घोर संग्राममें महासेनने कलिंग (उड़ीसा) नरेशकी रानियोंके हाथोंको चूड़ियोंसे मुक्त कर दिया—नरेशको मारकर उन्हें विधवा बना दिया ॥२६॥ पांचाल देशका राजा अपने गलेमें कुठार लटकाकर—दीनतापूर्वक महासेनके निकट गया, और उसके चरणकमलोंमें भौंरेकी भाँति लीन हो गया—उसकी शरण ले ली । महासेनने उसे शरणागत मानकर जीवित छोड़ दिया, तथा उसके द्वारा उपहारमें दिये गये

१. अ क ख ग घ म प्राक्पूर्वां । २. आ इ °वीरः । ३. श 'सामन्तैः' इति नास्ति । ४. आ धनुः । ५. = तेषां चक्रवालं मण्डलं यस्मिन् । ६. आ मध्ये । ७. = भ्रमरायमाणं ।

संछन्नाखिलककुभो घनानिवौढ्रान्निर्धू[1]यायुधजनिताचिरांशुशोभान् ।
चेदीशं द्रुममिव निघ्नतः समूलं तस्यासीन्मरुदनुकारकारि वीर्यम् ॥२८॥
संप्राप्तस्तटभुवि पूर्ववारिराशेरुद्वेलः क्षितितलपालिनो बलौघः ।
प्रोत्खात[2]द्विषदवनीरुहप्रतानो जज्ञेऽसावपरपयोधिसंगमाभः ॥२९॥
कल्लोलोच्चलितविदीर्णशुक्तिमुक्तां ते मुक्तावलिमनुवेलमिन्दुगौरीम् ।
गच्छन्तीमिव रिपुकीर्तिमब्धिपारं गृह्णन्तः क्षितिपतिसैनिका विरेजुः ॥३०॥

मुपरि कृपालवो दयायुक्ताः हि । 'कृपाहृदयादालुः' इति आलु-प्रत्ययः । अर्थान्तरन्यासः ॥२७॥ संछन्नेति । घनानिव मेघानिव । संछन्नाखिलककुभः संछन्ना आच्छादिता अखिलाः सकलाः ककुभो दिशो यैस्तान् । आयुधजनितांशुशोभान् आयुधेन खड्गेन जनितेन जातेन अंशुना किरणेन शोभा येषां तान् । औढ्रान् औढ्रदेशभूपान् । निर्धूय कम्पयित्वा । चेदीशं चेदिदेशाधिपतिम् । द्रुममिव वृक्षमिव । समूलं मूलसहितम् । निघ्नतः विनाशयतः । तस्य महासेनस्य । वीर्यं सामर्थ्यम् । मरुदनुकारकारि मरुतो वायोरनुकारं[3] समानं करोतीत्येवं शीलम् । आसीत् अभूत् । लङ् । उपमा ॥२८॥ संप्राप्त इति । पूर्ववारिराशिः (शेः) पूर्वसमुद्रः (पूर्वसमुद्रस्य) । तटभुवि तीरभूमौ । संप्राप्तः संगतः । उद्वेलः वेलां मर्यादामुद्गतः । प्रोत्खातद्विषदवनीरुहप्रतानः प्रोत्खातं द्विषद एव अरातय एव अवनीरुहा वृक्षाः तेषां प्रतानं समूहो येन सः । असौ अयम् । क्षितितलपालिनः क्षितितलं भूतलं पालिनो रक्षकस्य महासेनस्य । बलौघः बलानां सैन्यानामोघः समूहः । अपरपयोधिसङ्गमाभः अपरस्य पश्चिमस्य पयोधेः समुद्रस्य सङ्गमस्य संसर्गस्याभः[4] सदृशः । पश्चिमसमुद्रः पूर्वसमुद्रस्पृष्ट इव सेनानिवहो जात इत्यभिप्रायः । जज्ञे जायते स्म । लिट् । उपमा ॥२९॥ कल्लोलेति । अनुवेलं वेलायास्तटस्य समीपे । 'समीपे' इत्यमुना अव्ययीभावः । गच्छन्तीं यान्तीम् । इन्दुगौरीम् इन्दुरिव चन्द्र इव गौरीं शुभ्राम् । कल्लोलोच्चलित-[5]विदीर्णशुक्तिमुक्तां कल्लोलानां महातरङ्गाणामुच्चलितेनोर्ध्वचलनेन विदीर्णाभिर्भिन्नाभिः शुक्तिभिर्मुक्तां पतिताम् । मुक्तावलिं मुक्तानां मौक्तिकानामावलिं पङ्क्तिम् । रिपुकीर्तिमिव रिपूणां शत्रूणां कीर्तिमिव । अब्धिपारं समुद्रतीरे[6] । गृह्णन्तः । क्षितिपतिसैनिकाः क्षितिपतेर्महासेनस्य सैनिकाः सेनाचराः । रेजुः भान्ति-

---

रत्नोंको स्वीकार कर लिया । महान् पुरुष, विनम्र व्यक्तियोंपर दया रखते हैं ॥२७॥ उढ्रदेशके राजे मेघोंके समान थे । जिस प्रकार मेघ सभी दिशाओंको आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकारसे उढ्रदेशके राजे सारी दिशाओंको आच्छादित कर रहे थे—सभी दिशाओंमें छाये हुए थे । मेघोंको बिजली सुशोभित करती है, तो उन राजोंको आयुधरूपा बिजली सुशोभित कर रही थी । उन सभीको कम्पित करके महासेनने—जिसका पराक्रम वायु सरीखा था—चेदिदेशके नरेशको वृक्षकी तरह मूलसे उखाड़ दिया ॥२८॥ समस्त भूतलके पालन करनेवाले राजा महासेनकी चारों सेनाओंका समूह—जो सीमातीत था, तथा जिसने शत्रुरूपी वृक्षोंके मण्डलको उखाड़ डाला था—पूर्व समुद्रके तटपर पहुँच कर ऐसा जान पड़ा मानो दूसरा (पश्चिम) समुद्र पूर्व समुद्रसे जा मिला हो ॥२९॥ उत्ताल तरंगोंसे उछलकर फूटी हुई सीपोंसे जो मोती निकल पड़े थे, उनकी पंक्ति—जो चन्द्रमाके समान सफेद थी—पूर्व समुद्रके तटपर बिखरी पड़ी थी, उसे महासेनके जो सैनिक ग्रहण कर रहे थे, वे ऐसे जान पड़ते थे मानो वहाँसे दूसरे

---

१. आ इ °निवोद्ग्रान्निर्धूया; म °निवोग्राग्निर्धूया° । २. अ प्राखात° । ३. = अनुकरणं । ४. = आभेवाभा यस्य सः, तत्सदृश इत्यर्थः । ५. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु निखिलास्वपि °च्छलित° इत्येव दृश्यते । ६. = समुद्रतीरं ।

ते पीत्वा प्रहरणधारिणामरीणामायुर्भिः सह शुचिनालिकेरनीरम् ।
वेलान्तर्वणविवरेषु तस्य योधाः कक्कोलानिलविहृतश्रमा ववल्गुः ॥३१॥
स स्तम्भं जयककुदं निषूदितारिर्वेलाद्रेः शिरसि निखानयांबभूव ।
भ्रान्ताखिलककुभः स्वकीयकीर्तेर्विश्रान्त्यास्पदमिव नाकमारुरुक्षोः ॥३२॥
भूभर्तुर्दिशमभिदक्षिणां यियासोः सैन्योत्थैरथ पथि सैकतै रजोभिः ।
कुर्वद्भिः सितमुडुवर्त्म तस्य कार्ष्ण्यं शत्रूणामिव समधार्यताननेषु ॥३३॥
तत्रासौ समुपगतः समुद्यतासिरान्ध्रीणां[२] रणविनिपातितप्रियाणाम् ।
संपूर्णं तुलितकलङ्कगण्डभित्ति व्यालम्बालकमकृताननेन्दुबिम्बम् ॥३४॥

स्म । लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३०॥ त इति । तस्य भूपस्य । ते योधाः ते भटाः । प्रहरणधारिणां खड्गधारिणाम् । अरीणां शत्रूणाम् । आयुर्भिः आयुष्यैः । सह । शुचि निर्मलम् । नालिकेरनीरं नालिकेरस्य नीरमुदकम् । पीत्वा पानं कृत्वा । वेलान्तर्वणविवरेषु वेलायास्तटस्यान्तर्वणानां समीपवनानां विवरेषु मध्येषु । 'प्राग्रेऽन्तः—' इत्यादिना वनशब्दस्य णत्वम् । कक्कोलानिलविहृतश्रमाः कक्कोलात् कक्कोल[३]नामगन्धवृक्षवनादागतेनानिलेन वायुना विहृतो निराकृतः श्रम आयासो येषां ते । भूत्वा । ववलुः (ववल्गुः) चलन्ति स्म । वल्गु चलने लिट् । सहोक्तिः ॥३१॥ स इति । निषूदितारिः निषूदिता हिंसिता अरयो रिपवो येन सः । सः महासेनः । प्रभ्रान्ताखिलककुभः प्रभ्रान्ताः प्रचलिता अखिलाः सकलाः ककुभो दिशो यया तस्याः । नाकं स्वर्गम् । आरुरुक्षोः आरोढुमिच्छोः । स्वकीयकीर्तेः स्वसंबन्धिन्याः कीर्तेर्यशसः । विश्रान्त्यास्पदमिव विश्रान्त्या विश्रमस्यास्पदमिव प्रदेशवत्[४] । जयककुदं जयस्य ककुदं चिह्नम् । 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । स्तम्भं निश्चलस्तम्भम् । वेलाद्रेः वेलापर्वतस्य । शिरसि अग्रे । निखानयां बभूव स्थापयति स्म । खनूञ् अवदारणे[५] णिजन्ताल्लिट् उत्प्रेक्षा ॥३२॥ भूभर्तुरिति । अथ जयस्तम्भस्थापनानन्तरम् । पथि मार्गे । दक्षिणाम् अवाचीम् । दिशम् अभि दिशं प्रति । 'वीप्स्य—' इत्यादिना अभि-योगे द्वितीया । यियासोः यातुमिच्छोः । भूभर्तुः भूमिपतेः । सैन्योत्थैः सैन्येन सेनया उत्थैः समुद्भूतैः । उडुवर्त्म गगनम् । सितं धवलम् । कुर्वद्भिः विदधद्भिः[६] । सैकतैः शुभ्रमिलितैः (शुभ्रसिकतायुतैः) । रजोभिः रेणुभिः । तस्य गगनस्य । कार्ष्ण्यं कृष्णत्वम् । यथा तथा क्रियाविशेषणम् । शत्रूणां रिपूणाम् । आननेषु मुखेषु । समधार्यत इव समवलिप्यत इव । उत्प्रेक्षा ॥३३॥ तत्रेति । तत्र दिशि । समुपगतः आगतः । समुद्यतासिः समुद्यत उत्खातोऽसिः खड्गो येन सः । असौ

तटपर जानेवाली, शत्रुओंकी कीर्तिको पकड़ रहे हों ॥३०॥ महासेनके सैनिकोंने युद्धमें सशस्त्र शत्रुओंको आयुको नरियलके शुद्ध और शुभ्र जलके साथ पीकर पूर्व समुद्रतटके निकटवर्ती वनोंके बीचमें सैर करना शुरू कर दिया। वहाँ कंकोल वृक्षोंके स्पर्शसे सुख देनेवाली वायुका सेवन करनेसे उनकी थकान दूर हो गयी ॥३१॥ शत्रुओंपर विजय पानेवाले राजा महासेनने पूर्व समुद्र-तटके निकटवर्ती पर्वतके शिखरपर विजयका चिह्न स्वरूप एक स्तम्भ स्थापित कर दिया, जो ऐसा जान पड़ता था मानो सभी दिशाओंमें परिभ्रमण करके स्वर्ग जानेके लिए उत्सुक हुई, उसकी कीर्तिका विश्राम करनेका स्थान हो ॥३२॥ इसके पश्चात् महासेनके मनमें दक्षिण दिशाकी ओर जानेकी इच्छा उत्पन्न हुई अतः ज्यों ही वह आगे बढ़ा त्यों ही मार्गमें धूलि उड़ने लगी, जिसमें बालूके सफेद कण मिले हुए थे। उसने आकाशको सफेद कर दिया। इस अवसरपर आकाशकी कालिमा बिलकुल ही अदृश्य हो गयी, अतः ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसकी कालिमा महासेनके शत्रुओंके मुखपर पोत दी गयी है ॥३३॥ दक्षिणमें पहुँचते ही

१. म कङ्कोला° । २. अ आ इ रन्ध्रीणां । ३. श कक्कोल° । ४. = प्रदेशमिव । ५. आ श अवधारणे । ६. श 'विदधद्भिः' इति पदं नास्ति ।

यत्काचेष्विव भृशमन्यपार्थिवेषु न व्यक्तिं व्यपगतधामसु प्रपेदे।
कर्णाटेष्वजनि परिस्फुटं तदीयं तद्भानोरिव तपनोपलेषु तेजः ॥३५॥

सामन्तोपचितचमूपयुक्ततोया रिक्तत्वं ययुरचिरेण याः सरस्यः।
तास्तत्र द्रमिलवधूवियोगजाश्रुस्रोतोभिः स पुनरपूरयत्प्रवृद्धः ॥३६॥

घर्षद्भिर्मलयगिरौ[1] महागजानां ग्रैवेयैरकृषत चन्दनेषु येऽङ्काः।
तस्योर्वीतलतिलकायमानकीर्तेस्तेऽपाचीप्रविजयसाक्षिणो बभूवुः ॥३७॥

महासेनः। रणविनिपातितप्रियाणां रणे संग्रामे विनिपातिता निहिंसिताः प्रियाः प्राणकान्ता यासां तासाम्। आन्ध्रीणां तेलुग[2]देशस्त्रीणाम्। संपूर्णं परिपूर्णम्। आननेन्दुबिम्बम् आननं मुखं तदेवेन्दुबिम्बं चन्द्रमण्डलम्। तुलितकलङ्कगण्डभित्तिव्यालम्बालकं तुलितः सदृशीकृतः[3] कलङ्को यैस्ते तुलितकलङ्काः गण्डभित्तौ गण्डप्रदेशे व्यालम्बाः लम्बमाना अलकाश्चूर्णकुन्तला यस्य तत्। अकृत अकार्षीत्। डुकृञ् करणे लुङ्। तस्य दुःखेन मुक्तकेशं कृतवानित्यर्थः। रूपकम् ॥३४॥ यदिति। यत् तेजः। काचेष्विव काचमणिष्विव। व्यपगतधामसु व्यपगतमपनीतं धाम कान्तिः प्रतापो येषां तेषु। अन्यपार्थिवेषु शत्रुभूपालेषु[4]। भृशम् अत्यन्तम्। व्यक्तिं[5]। प्रादुर्भूतिम्। न प्रपेदे न जगाम। पदि गतौ लिट्। तदीयं तेषां संबन्धि। तत् तेजः कान्तिः प्रतापः। तपनोपलेषु सूर्यकान्तशिलासु। भानोरिव सूर्यस्य तेज इव। कर्णाटेषु कर्णाटभूपेषु। परिस्फुटं व्यक्तम्। अजनि अभूत्। लुङ्। उपमा ॥३५॥ सामन्त इति। सामन्तोपचितचमूपयुक्ततोयाः सामन्तैः राजभिरुपचितया चम्वा सेनया उपभुक्तं तोयं जलं यासां ताः। याः सरस्यः सरोवराः। अचिरेण शीघ्रम्। रिक्तत्वं जलशून्यत्वम्। ययुः यान्ति स्म। तत्र देशे। प्रवृद्धः अधिकः। द्रविड[6]वधूवियोगजाश्रुस्रोतोभिः द्रविडस्य[7] द्रविड[8]देशस्य वधूनां वनितानां वियोगजानां दुःखजनितानामश्रूणां नयनोदकानां स्रोतोभिः प्रवाहैः। पुनः पश्चात्। अपूरयत् पूरयति स्म[9]। पूर आप्यायने णिजन्ताल्लङ्। परिवृत्तिः ॥३६॥ घर्षद्भिरिति। मलयगिरौ मलयपर्वते। चन्दनेषु गन्धसारेषु। महागजानां महाकरिणाम्। घर्षद्भिः मर्दयद्भिः। ग्रैवेयैः कण्ठब(र)त्राभिः। ये अङ्काः यानि चिह्नानि। अकृषत अकुरुत। लुङ्। उर्वीतलतिलकायमानकीर्तेः उर्वीतलस्य भूतलस्य तिलकायमाना कीर्तिर्यस्य तस्य। तस्य भूपस्य। काः (ते)। अवाचीप्रविजयसाक्षिणः अवाच्या दक्षिणदिशः प्रविजयस्य

महासेनने नंगी तलवार लेकर संग्राममें आन्ध्रदेशकी स्त्रियोंके—जिनके पति युद्धमें मार दिये गये थे—बिखरे हुए केशोंसे युक्त मुखको पूर्णमासीके सकलंक चन्द्रमण्डलके समान बना दिया ॥३४॥ काच सरीखे निस्तेज अन्य राजाओंमें महासेनका जो तेज व्यक्त नहीं हुआ था, वह कर्णाटक देशके तेजस्वी राजाओंमें खूब ही व्यक्त हुआ, जैसे सूर्यका तेज सूर्यकान्त मणियोंमें व्यक्त होता है ॥३५॥ इसके पश्चात् महासेन द्रविड देशमें पहुँचा। वहाँपर उसके सामन्तोंको भारी सेनाओंने जिन जलाशयोंके जलका उपयोग किया वे खाली हो गये, पर महासेनने युद्ध-भूमिमें मुकाबला करनेके लिए आये हुए वीरोंको अमरलोकका यात्री बनाकर उनकी स्त्रियोंके नेत्रोंसे उमड़े हुए अश्रुप्रवाहको प्रवाहित करके उन (रिक्त जलाशयों) को फिरसे भर दिया ॥३६॥ मलय पर्वतपर महासेनके बड़े-बड़े हाथियोंने अपनी ग्रीवा रगड़कर उसमें बँधी हुई जंजीरोंके संघर्षणसे चन्दनके वृक्षोंमें जो चिह्न बना दिये थे वे उस (महासेन) के—जिसकी कीर्ति

१. अ मलयगिरिम°। २. आ कलिङ्ग°। ३. आ सदृशितः। ४. श 'शत्रुभूपालेषु' इति नास्ति। ५. =अभिव्यक्ति। ६. श द्रविल°। ७. श द्रविलस्य। ८. श द्राविड°। ९. श अपूरयन् पूरयन्ति स्म।

पण्यस्त्रीमिव समुपात्तपत्रपूगैस्तैर्भुक्त्वा मलयजभूषितामपाचीम् ।
संसर्पत्परिमलकुङ्कुमाभिरामा[1] तद्योधैर्द्रुतमकटाक्षि पश्चिमाशा ॥३८॥
भूपाले विजितसमस्तदक्षिणाशे यत्राभूत्प्रतिहतशक्तिरन्तकोऽपि ।
कस्तत्र त्वमिति मरुच्चलैः प्रचक्रे तच्चिह्नैरिव वरुणापसारसंज्ञा[2] ॥३९॥
लाटीनां कठिनबृहत्पयोधराग्रसंघट्टप्रतिहतिजर्जरे पुरैव ।
लाटीये हृदयतटे पतंस्तदीयः शस्त्रौघः परमजनिष्ट कीर्तिभागी ॥४०॥

जयस्य साक्षिण: साक्रोशयुताः (?) । बभूवुः भवन्ति स्म लिट् ॥३७॥ पण्यस्त्रीमिति । समुपात्तपत्रपूगैः समुपात्तः स्वीकृतः पत्राणां वाहनानां पूगो निवहो यैस्तैः, पक्षे[3] पत्रसंहतियुतैः । 'पत्रं वाहनपर्णयोः' इत्यमरः । 'पूगः क्रमुकवृन्दयोः' इत्यमरः । तद्योधैः तस्य महासेनस्य योधैर्भटैः । पण्यस्त्रीमिव वेश्या (वेश) स्त्रीमिव । मलयजभूषितां मलयजेन श्रीगन्धेन भूषितामलंकृताम् । अपाचीं[4] दक्षिणाशाम् । भुक्त्वा अनुभूय । संसर्पत्परिमलकुङ्कुमाभिरामा संसर्पत्ता विसर्पता परिमलेन सुरभिणा युक्तेन कुङ्कुमेन काश्मीरजेनाभिरामा मनोहरा । पश्चिमाशा प्रतीची । द्रुतं शीघ्रम् । अकटाक्षि[5] कटाक्षमकार्षीत् । कटाक्ष इत्यस्य सुब्धातो लुङ् । श्लेषोपमा[6] ॥३८॥ भूपाल इति । यत्र यस्मिन् । भूपाले महासेने । विजितसमस्तदक्षिणाशे विजिता जिता समस्ता दक्षिणा आशा येन तस्मिन् सति । अन्तकोऽपि यमोऽपि । प्रतिहतशक्तिः प्रतिहता नष्टा शक्तिः सामर्थ्यं यस्य सः । अभूत् अभवत् । लुङ् । तत्र महासेनमहाराजे । त्वं भवान् । कः कियान् । इति एवम् । मरुच्चलैः मरुता वायुना चलैश्चलनयुक्तैः । तच्चिह्नैः तस्य राज्ञश्चिह्नैः पताकाभिः[7] । वरुणापसारसंज्ञा वरुणस्य पश्चिमदिक्पालस्यापसारस्यापसारणस्य संज्ञा सूचना । चक्रे क्रियते स्म । कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षा ॥३९॥ लाटीनाम्[8]मिति । पुरैव प्रागेव । लाटीनां[9] लाटदेशवनितानाम् । कठिनबृहत्पयोधराग्रसंघट्टप्रतिहत (ति) जर्जरे कठिनस्य कर्कशस्य बृहतो महतः पयोधरस्याग्रस्याग्रभागस्य[10] संघट्टेन मर्दनेन प्रतिहतेन जर्जरे शिथिले । लाटीये[11] ल(ला)टदेशराजानां संबन्धे[12] । हृदयतटे हृदयप्रदेशे । पतन् निपतन् । तदीयः तस्य राज्ञः संबन्धः[13] । शस्त्रौघः शस्त्राणामायुधानामोघः । कीर्तिभागी कीर्तिभाक् । परम् उत्कृष्टम् । अजनिष्ट जायते

पृथ्वीपर तिलकको भाँति सुशोभित है—दक्षिण दिशाकी विजयके साक्षी थे ॥३७॥ महासेनके सैनिक विलासियोंके समान थे। जिस प्रकार विलासी पुरुष चन्दन आदिसे भूषित एक वेश्याको भोगकर और आवभगतमें उससे ताम्बूल तथा सुपाड़ी स्वीकार करके सुगन्धित कुंकुम आदिसे सुन्दर प्रतीत होनेवाली अन्य वेश्याकी ओर कटाक्ष विक्षेप करते हैं, उसी प्रकार चन्दन-वृक्षोंसे विभूषित दक्षिण दिशाका निरीक्षण करके और वहाँके वाहनोंके समुदाय या पान सुपाड़ीको स्वीकार करके महासेनके सैनिकोंने पश्चिम दिशाकी ओर दृष्टि डाली, जो सुगन्धि फैलानेवाली कुंकुमसे मनोज्ञ थी ॥३८॥ 'जिस राजा महासेनके द्वारा सारी दक्षिण दिशा जीत लेनेपर यमराजकी शक्ति भी शिथिल हो गयी, उसके सामने तुम्हारी क्या हस्ती है' मानो यह कहकर हवासे हिलते हुए महासेनके झण्डे, चमर और छत्र आदि राजचिह्नोंने वरुणको भाग जानेके लिए इशारा कर दिया ॥३९॥ लाट (गुजरात) नरेशका हृदय वहाँकी नायिकाओंके कठोर और बड़े-बड़े स्तनोंको नोंकके संघर्षणसे आहत होकर पहलेसे ही जर्जर था, अतः उस (हृदय) पर गिरकर महासेनके शस्त्रोंका समूह केवल यशका भागी हुआ, उसे परिश्रम तनिक-सा भी

१. अ °भिरामां । २. म वरुणोपसारसंज्ञः । ३. = समुपात्तं पत्रं ताम्बूलं पूगः क्रमुकश्च यैस्तैः । ४. आ अवाचीं । ५. = दृष्टा । ६. आ 'श्लेषोपमा' इति नास्ति । ७. श पताकादिभिः । ८. आ लाजिना° । ९. आ लाजिनां । १०. = संघट्टस्य संघर्षणस्य प्रतिहतिः प्रतिघातः, तया । ११. आ लाजीये । १२. = संबन्धिनि । १३. = संबन्धी ।

तत्तेजो विहितविपक्षकक्षदाहं लेशेनाप्यजनि न वाडवाविहीनम्[1]।
गम्भीरे स्थितिमति सत्त्वभाजि सिन्धुनाथेऽपि ज्वलितुमलं यतो बभूव ॥४१॥
दर्पान्धाञ्झटिति हठेन पारसीकान्वैतस्या विनतरिपुर्विनीय वृत्त्या।
तैर्दत्तां बहुविधरत्नगर्भदण्डव्याजेनादित गुरुदक्षिणामिवासौ ॥४२॥
भूभर्तुः कुसुमशरानुकारिकान्तेः संपर्कं समुपगता करेण सद्यः।
सा वल्गत्तुरगखुरोत्थरेणुरूपान्रोमाञ्चानमुचदिवोच्चकैः प्रतीची ॥४३॥
संप्राप्तैस्तटमपराम्बुधेर्बलेभैः संरम्भादभिपततो निहत्य मुक्तान्।
वेलान्तोच्छ्रितसरुपद्लमयत्स स्वख्यातिस्मृतिकरणक्षमाञ्जलेभान् ॥४४॥

स्म। लुङ्॥४०॥ तदिति। यतः यस्मात्कारणात्। गम्भीरे गभीरे। स्थितिमति[3] मर्यादावति। सत्त्वभाजि सामर्थ्याश्रिते, (पक्षे) प्राण्याश्रिते। सिन्धुनाथेऽपि समुद्रे सिन्धुदेशराजेऽपि। ज्वलितुं प्रज्वलितुम्। अलं बभूव समर्थं भवति स्म। विहितविपक्षकक्षदाहं विहितः कृतः विपक्ष एव[4] शत्रुपक्ष[5] एव वनं तस्य दाहो येन तत्। तत्तेजः तस्य राज्ञः तेजः प्रतापः। लेशेनापि अल्पेनापि। वाडवाविहीनं वाडवया वाडवानलाद् विहीनं रहितम्। नाजनि नाजायत। लुङ्। वाडवानलादधिकं भवति स्मेत्यर्थः ॥४१॥ दर्पेति। विनतरिपुः विनता रिपवो यस्य सः। असौ महासेनः। दर्पान्धान् दर्पेण गर्वेणान्धान्। पारसीकान् पारसीकदेशाधिपान्। वैतस्या वेतसस्येयं वैतसी तया, स्पर्द्धया (?) इत्यर्थः। वृत्त्या वर्तनेन। हठेन बलात्कारेण। झटिति शीघ्रम्। विनीय[7] शिक्षां कृत्वा। भुजरूपेण प्रवृद्धानेधितान् वेतसान् तृणविशेषान् गृहीत्वा प्रह्वीकरणमिव विनम्रान् चकारेति तात्पर्यम्। तैः पारसीकैः। दत्तां वितीर्णाम्। तस्मात् तस्य भुवां गुरुदक्षिणामिव देयविद् एतस्य तत् स्त्रीमिव (?) बहुविधरत्नगर्भदण्डव्याजेन बहुविधानि नानाप्रकाराणि रत्नान्येव गर्भेऽन्तर्भागे यस्य स चासौ दण्डश्च प्रसभ इति व्याजेन। अदित अगृहीत्। डुदाञ् दाने लुङ्[8]। उपमा ॥४२॥ भूभर्तुरिति। कुसुमशरानुकारिकान्तेः कुसुमशरं मन्मथम् अनुकारिणी सदृशकारिणी[10] कान्तिः लावण्यं यस्य तस्य। भूभर्तुः महासेनस्य। करेण सिद्धायेन[11], (पक्षे) हस्तेन। सद्यः तदानीमेव। संपर्कं सङ्गम्। समुपगता समुपयाता। सा प्रतीची पश्चिमाशाङ्गना। उच्चकैः उच्चैः। वल्गत्तुरगखुरोत्थरेणुरूपान् वल्गतां चलतां तुरगाणां वाजिनां खुरैः शफैरुत्था रेणवो धूल्य त एव रूपं स्वरूपं येषां तान्। रोमाञ्चान् रोमहर्षणानि। अमुचदिव अमोचय-दिव। मुच्लृञ् मोक्षणे लुङ्। उत्प्रेक्षा ॥४३॥ संप्राप्तैरिति। अपराम्बुधेः पश्चिमसमुद्रस्य। तटं तीरम्।

नहीं करना पड़ा ॥४०॥ शत्रुरूपी जंगलको जलानेवाला, महासेनका प्रताप वाडवाग्निसे तनिक भी कम नहीं था; क्योंकि जिस तरह वाडवाग्नि गहरे, सीमाका पालन करनेवाले और जल-जन्तुओंसे व्याप्त समुद्रमें जला करती है, उसी तरह महासेनका प्रताप गम्भीर, कुलकी मर्यादा पालनेवाले और सामर्थ्यशाली, सिन्धुनरेश रूपी बहुत बड़े समुद्रमें भी जलनेके लिए समर्थ सिद्ध हुआ ॥४१॥ शत्रुओंका सिर नीचा करनेवाले राजा महासेनने दर्पान्ध पारसीक नरेशोंको बल-पूर्वक वेतकी भाँति विनम्र रहनेकी शिक्षा देकर उनके द्वारा अनेक प्रकारके रत्नोंके साथ समर्पित सेनाके उपहारको लेनेके बहाने मानो गुरुदक्षिणा स्वीकार की ॥४२॥ कामदेव सरीखी कान्तिको धारण करनेवाले राजा महासेनके हाथ (टैक्स) के सम्पर्कको पाकर पश्चिम दिशाने शीघ्र ही, चलते हुए घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई धूलिके रूपमें मानो प्रचुर मात्रामें रोमांचोंको धारण किया ॥४३॥ महासेनने पश्चिम समुद्रके तटपर पहुँचे हुए अपने हाथियोंके—जो सेनामें शामिल

१. म वाडवाद्विहीनम्। २. आ स्वाख्याति°। ३. आ स्थानवति। ४. श 'विपक्ष एव' इति नास्ति। ५. श 'पक्ष' इति नास्ति। ६. = 'विदुलो वेतसः शीतो वानीरो वञ्जुलो रथः।' इति हैमः। ७. = शिक्षयित्वा। ८. श लुङ्' इति नास्ति। ९. = अनुकरोतीति। १०. = तत्सादृश्यकारिणी। ११. श 'सिद्धायेन' इति नास्ति।

तत्राशामभिचलिते कुबेरगुप्तां सध्वान्तं[1] तुरगखुरोत्थितैः परागैः[2] ।
व्योमासीद्बलभरपीड्यमानमूर्ध्नामुच्छ्वासैरिव फणिनां रसातलोत्थैः ॥४५॥
प्राप्तस्योत्तरदिशमेति तीव्रभावं तिग्मांशोरपि न विना क्रमेण तेजः ।
व्याक्षेपक्षणमनपेक्ष्य सद्य एव स त्वासीद[3]रिजनदुःसहप्रतापः ॥४६॥
तस्योर्वीवलयभुजः समस्तदिक्कैः सामन्तैः समुपगतैः प्रबृंहितेभ्यः[4] ।
सैन्येभ्यः परिददतावकाशदेशं स्वानन्त्यं प्रकटितमुत्तरापथेन ॥४७॥

संप्राप्तैः समागतैः । बलेभैः सेनागजैः सह । संरम्भात् क्रोधात् । अभिपततः गच्छतः । निहत्य हत्वा । मुक्तान् त्यक्तान्, पूर्वं हत्वा पश्चान्मुक्तान् इत्यर्थः । स्वख्यातिस्मृतिकरणक्षमान् स्वस्यात्मनः ख्यातेः कीर्तेः स्मृतिकरणे स्मरणविधाने क्षमान् समर्थान् । जलेभान् नीरगजान् । सः राजा । वेलान्तोच्छ्रिततरुषु वेलायास्तटस्यान्ते समीपे विद्यमानेषूच्छ्रितेषून्नतेषु वृक्षेषु । अलम्बयत् बन्धयति स्म । अबुङ् अवस्रंसने णिजन्ताल्लङ् ॥४४॥ तत्रेति । तत्र राज्ञि । कुबेरगुप्तां कुबेरेण[5] राजराजेन गुप्तां रक्षिताम् । आशां दिशम् । उत्तरदिशमित्यर्थः । अभिचलिते प्रयाते । बलभरपीड्यमानमूर्ध्नां बलस्य सेनाया भरेण भारेण पीड्यमानो बाध्यमानो मूर्धा मस्तको[6] येषां तेषाम् । फणिनां नागानाम् । रसातलोत्थैः रसातले पाताले[7] उत्थैः संजातैः । उच्छ्वासैरिव ऊर्ध्वश्वासैरिव । तुरगखुरोत्थैः तुरगाणां तुरङ्गाणां खुरैः खुरपुटैरुत्थैरुत्पन्नैः । परागैः रजोभिः । व्योम गगनम् । सध्वान्तं तमोयुक्तम् । आसीत् अभूत् । अतिशयः ॥४५॥ प्राप्तस्येति । उत्तरदिशम् उत्तराशाम् । प्राप्तस्य गतस्य । तिग्मांशोरपि सूर्यस्यापि । तेजः प्रतापः । क्रमेण विना क्रमं विना । तीव्रभावं तीक्ष्णत्वम् । न न भवति [न एति] (न गच्छति) । सः तु राजा । अरिजयनदुःसहप्रतापः अरीणां शत्रूणां जयनेन विजयेन दुःसहः सोढुमशक्यः प्रतापो यस्य सः (अरिजनदुःसहप्रतापः अरिजनानां दुःसहः प्रतापो यस्य सः)। व्याक्षेपणं तिरस्करणम् (व्याक्षेपो विलम्बस्तस्य क्षणं स्वल्पमपि समयम्) । अनपेक्ष्य (अपेक्षां न विधाय, तत्प्रतीक्षां न विधायेत्यर्थः) । सद्य एव तदानीमेव आसीत्[8] । लङ् ॥४६॥ तस्येति । उर्वीवलयभुजः उर्व्या भुवो वलयं मण्डलं भुनो[9] भुञ्जतः । तस्य महासेनस्य । समस्तदिक्कैः समस्तासु दिशासु विद्यमानैः । समुपगतैः समायातैः । सामन्तैः राजभिः । प्रबृंहितेभ्यः प्रवर्द्धितेभ्यः । सैन्येभ्यः सैनिकेभ्यः । अवकाशदेशम् अवकाशेन अवगाहनेन युक्तं देशं प्रदेशम् । परिददता परियच्छता । उत्तरापथेन उत्तरश्चासौ पन्थाश्चोत्तरापथस्तेनोत्तर-

थे—ऊपर रोषसे झपटनेवाले समुद्री हाथियोंको मारकर छोड़ दिया, फिर समुद्रके तटवर्ती वृक्षोंके ऊपर उन्हें अपनी कीर्तिके स्मारकके रूपमें बँधवा दिया ॥४४॥ इसके पश्चात् महासेनने उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया । उस समय सारा आकाश, उसकी सेनाके घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई धूलिसे ढँक गया । अतः वह ऐसा जान पड़ता था मानो सेनाके बोझसे पातालके जिन नागोंके सिर अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे, उनकी श्वास वायुसे व्याप्त हो गया हो ॥४५॥ उत्तर दिशाको प्राप्त (उत्तरायण) हुए सूर्यका भी तेज क्रमके बिना तीव्र नहीं होता, पर उत्तर दिशामें पहुँचते ही, महासेनका प्रताप अविलम्ब ही उसके शत्रुओंको असह्य हो उठा ॥४६॥ भूमण्डलका पालन करनेवाले राजा महासेनकी सेनाएँ सभी दिशाओंसे आये हुए सामन्तोंसे खूब ही बढ़ गयी थीं, उन्हें भरपूर अवकाश देकर उत्तरापथ (उत्तर प्रदेश) ने तो जैसे

१. क ख ग घ म संछन्नं । २. क ख ग घ म रजोभिः । ३. अ एव तस्यासीद । ४. अ प्रवृद्धितेभ्यः । ५. आ श गुप्तां रक्षिताम्. उत्तरदिशमित्यर्थः । दिशम् आशाम् । ६. आ मस्तकं । ७. श पाञ्चा (ता)ललोके । ८. = अरिजनदुःसहप्रताप आसीदित्यर्थः । ९. = भुनक्तीति भुक्, तस्य, पालयत इत्यर्थः ।

तत्रेन्दूपलशकलोज्ज्वलैः समन्तात्सर्पद्भिर्नभसि करेणुशीकरौघैः ।
कौबेर्या इव निजनायकाभिभूतिं शङ्किन्याः प्रविगलदश्रुभिश्चकाशे ॥४८॥
हृत्वापि द्रविणमसावभोगवृद्धं टक्कानां वधकरणोद्यतासिरासीत्[1] ।
नाज्ञासीत्तदपहृतेर्विधानमात्रादेवामून्स्वयमसुभिर्विमुक्तदेहान् ॥४९॥
काश्मीरप्रभविषु भूमिभृत्सु वज्रीभूयासौ पृथुकटकान्वितेषु भूपः ।
कीरीणामभिनवयौवनोद्धतानां लावण्यश्रियमतनिष्ट[2] शोचनीयाम् ॥५०॥
कापोताङ्गरुहविधूसरः समन्ताद्यः पांसुर्नभसि ससर्प[3] तच्चमूत्थः ।
संत्रासोदयपरिकम्पमानपक्षे संजज्ञे खशमशके स एव धूमः ॥५१॥

देशेन । स्वानन्त्यं निजनिरवधित्वम् । प्रकटितं प्रकटीकृतम् ॥४७॥ तत्रेति । तत्र नभसि गगने । समन्तात् परितः । सर्पद्भिः निर्गच्छद्भिः । इन्दूपलशकलोज्ज्वलैः इन्दूपलानां चन्द्रकान्तशिलानां शकला[4] खण्डानीव उज्ज्वलैः । करेणुशीकरौघैः करेणूनां करिणीनां शीकराणां जलकणानामोघैः समूहैः । निजनायकाभिभूतिशङ्किन्याः निजनायकस्य स्वनायकस्य,[5] कुबेरस्याभिभूतौ तिरस्कारे शङ्किन्या सन्देहिन्याः । कौबेर्याः कुबेरदिगङ्गनायाः । प्रविगलदश्रुभिः [इव] प्रविगलद्भिः प्रस्रवद्भिरश्रुभि र्नयनोदकैरिव । चकाशे बभासे । काशि दीप्तौ भावे लिट् । उत्प्रेक्षा ॥४८॥ हृत्वेति । असौ राजा । अभोगवृद्धम् अभोगेनाननुभवेन वृद्धं प्रवृद्धम् । ठक्कानां ठक्कदेशस्य (टक्कानां टक्कदेशस्य) राज्ञाम् । द्रविणं द्रव्यम् । हृत्वापि स्वीकृत्यापि । वधकरणोद्यतासिः वधस्य हिंसायाः करणे विधाने उद्यत उद्धृतोऽसिः खड्गो येन सः । आसीत् अभूत् । लङ् । तदपहृतेः तस्य द्रव्यस्यापहृतेरपहरणस्य । विधानमात्रात् करणमात्रादेव । अमून् ठक्कान् (टक्कान्) असुभिः प्राणैः । समं सह । [स्वयं स्वतः] विमुक्तदेहान्[6] विमुक्तो देहो यैस्तान् । नाज्ञासीत् न जानाति स्म ॥४९॥ काश्मीरेति । असौ भूपः महासेनः । काश्मीरप्रभविषु काश्मीरे काश्मीरदेशे प्रभविषु जातेषु । पृथुकटकान्वितेषु पृथुभिर्महद्भिः कटकैर्वलयैः, (पक्षे) सानुभिः[7] अन्वितेषु युतेषु । भूमिभृत्सु राजसु, पर्वतेष्विति ध्वन्यते । वज्रीभूय[8] वज्रायुधयुतो भूत्वा । अभिनवयौवनोद्धतानाम् अभिनवेन नूतनेन यौवनेनोद्धतानां गर्वितानाम्[9] । कीरीणां कीरदेशस्त्रीणाम् । लावण्यश्रियं लावण्यस्य देहकान्तेः श्रियं शोभाम् । शोचनीयां[10] दुःखितुं योग्याम् । अतनिष्ट करोति स्म । तनूञ्[11] विस्तारे लुङ्[12] । श्लेषः ॥५०॥ कापोतेति । कापोताङ्गरुहविधूसरः कापोतं[13] पारावतसंबन्धम्

अपनी अनन्तता ही प्रकट कर दी ॥४७॥ हाथी और हथिनियोंकी सूँडसे निकले हुए, चन्द्रकान्तमणिके टुकड़ों सरीखे शुभ्र जलकण सभी ओरसे आकाशमें उड़ रहे थे, जिन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो अपने स्वामी (कुबेर) के तिरस्कारकी आशंका करनेवाली उस (कुबेर) की दिशा (उत्तर दिशा) रूपी नायिकाके आँसू टपक रहे हों ॥४८॥ टक्क नामसे विख्यात देशके निवासियोंके उपभोग न करनेसे बढ़े हुए धनको छीनकर भी महासेनने उन्हें मारनेके लिए तलवार उठा ली । उस समय उसे यह खयाल नहीं रहा कि उनका धन छीनने मात्रसे ही उनके प्राण निकल गये हैं ॥४९॥ काश्मीरी राजाओं (पर्वतों) पर—जो बड़ी-बड़ी छावनियों (चोटियों) से युक्त थे—वज्र बनकर राजा महासेनने नव यौवनसे उद्धत कीरदेशकी अंगनाओंके सौन्दर्यको (उन्हें विधवा बनाकर) शोकका विषय बना दिया ॥५०॥ महासेनकी सेनाकी कबूतरके रोमोंके समान मटमैली जो धूलि सभी ओरसे उड़कर आकाशमें

१. अ °वृद्धटक्कानां वधरक्षणोद्य° । २. अ क ख ग घ म °मजनिष्ट । ३. अ समर्प । ४ = खण्डानि तद्वत् । ५. =कुबेरस्याभिभूतिं तिरस्कृतिं शङ्कत इति शङ्किनी, तस्याः । ६. श वियुक्तदेहान् वियुक्तो विमुक्तो देहो यैस्तान् । ७. =मध्यभागैः । ८. =वज्ररूपतामेत्य । ९. श 'गर्वितानाम्' इति नास्ति । १०. =शोकार्हां । ११. आ तनु । १२. श 'लुङ्' इति नास्ति । १३. =पारावतसंबन्धि ।

कस्तूरीमृगसुरभौ हिमाचलेन्द्रे प्रश्चोतत्पयसि निवेशितात्मसैन्यः ।
स्वं वीणा[1]कलितकरैः स किंनरौघैः[2] शुश्रावेन्दुरुचि यशः प्रगीयमानम् ॥५२॥
इत्याशाः समदवधूरिव क्षितीशः संक्षेपात्करकलिताः[3] स संविधाय ।
संतुष्टाखिलजनवर्धितोत्सवायां प्रत्यागादतुलपराक्रमः स्वपुर्याम् ॥५३॥
भूपानां वसनयुगादिसत्कृतानां संघातं सपदि यथायथं विसर्ज्य[4] ।
संपश्यन्मुखकमलं स लक्ष्मणायाः साम्राज्यं समनुबभूव दीर्घकालम् ॥५४॥

अङ्गरुहमिव पक्ष इव विधूसर ईषच्छुभ्रः । तच्चमूत्थः तस्य भूपस्य चम्वा सेनया उत्थ उद्गतः । यः पांसुः परागः । नभसि गगने । समन्तात् सर्वतः । ससर्प व्याप्नोति स्म । सर्प गतौ लिट् । संत्रासोदयपरिकम्पमानपक्षे संत्रासेन भयेन परिकम्पमानो[5] धुनानः पक्षः सहायो गरुद्वा (पक्षे, गरुत्) यस्य[6] तस्मिन् । खशमशके खशराज एव मशको मक्षिका तस्मिन् । सः एव पांसुरेव । धूमः । संजज्ञे जातः । लिट् ॥५१॥ कस्तूरीति । कस्तूरीमृगसुरभौ कस्तूरीमृगैः सुरभिः परिमलो यस्मिन् तस्मिन् । प्रश्चोतत्पयसि प्रश्चोतत् प्रस्रवत् पयो जलं यस्मिन्[7] तस्मिन् हिमाचलेन्द्रे हिमवत्पर्वते । निवेशितात्मसैन्यः निवेशितं निवासितमात्मनः स्वस्य सैन्यं सेना येन सः । सः राजा । वीणाकलितकरैः वीणया कलितो युक्तः करो हस्तो येषां तैः । किंनरौघैः किंनराणामोघैः समूहैः । प्रगीयमानं स्तूयमानम् । इन्दुरुचि इन्दोश्चन्द्रस्य रुचिरिव रुचिः कान्तिर्यस्य तत् । स्वं स्वकीयम् । यशः कीर्तिम् । शुश्राव शृणोति स्म । श्रु श्रवणे लिट् । उपमा ॥५२॥ इतीति । इति एवम् । अतुलपराक्रमः अतुलः सादृश्यरहितः पराक्रमः शक्तिर्यस्य सः । सः महासेनः । क्षितीशः भूपतिः । समदवधूरिव मदेन संतोषेण सहिता वधूरिव नारीरिव । आशाः दिशः । संक्षेपात्[8] संक्षेपणात् करिकलिताः करेण सिद्धायेन कलिता गृहीताः । संविधाय कृत्वा । अखिलजनवर्धितोत्सवायाम् अखिलैः सकलैर्जनैर्वर्धितोऽभिनन्दित उत्सवो यस्यां तस्याम् । स्वपुर्यां स्वस्य पुर्यां नगर्याम् । संतुष्टया संतोषेण । प्रत्यागात् पुनरागमत् । इण् गतौ लुङ् । 'गैत्योः' इति गादेशः । श्लेषोपमा ॥५३॥ भूपानामिति । स महासेनः । सपदि शीघ्रम् । वसनयुगादिसत्कृतानां वसनस्य वस्त्रस्य युगादिभिर्द्विपदिकादिभिरित्यर्थः, सत्कृतानां संमानितानाम् । तस्य (?) । भूपानां राज्ञाम् । संघातं समूहम् । यथायथं[9] यथा भवति० । स्वदेशं विसर्ज्य[10] प्रेष्य । लक्ष्मणायाः लक्ष्मणादेव्याः । मुखकमलं मुखमेव नलिनम् । पश्यन् विलोकमानः । दीर्घकालं बहुकालपर्यन्तम् । साम्राज्यं राज्यम्[11] । समनुबभूव अनुभवतिस्म । रूप-

जा रही थी, वही 'खश' राजारूपी मच्छरोंको—जिनके पक्ष (पंख) के लोम भयके कारण काँप रहे थे—भगदड़ मचानेके लिए धूम-धुआँ थी ॥५१॥ हिमालय पर्वतपर कस्तूरी मृगोंकी सुगन्धि फैल रही थी और झरनोंका जल बह रहा था। वहाँ अपनी सेनाको ठहराकर राजा महासेनने अपने शुभ्र यशका गान सुना, जो दिव्य वीणाको अपने हाथोंमें लेकर गन्धर्व आदि देवोंके द्वारा गाया जा रहा था ॥५२॥ इस प्रकार संक्षेपमें सभी दिशाओंको, सन्तुष्ट पत्नीकी भाँति अपने अधीन करके अतुल पराक्रमी राजा महासेन अपनी राजधानीमें—जहाँ सभी नागरिक सन्तुष्ट होकर खूब उत्सव मना रहे थे—लौट आया ॥५३॥ इसके पश्चात् वस्त्रोंकी जोड़ी आदि उपहार देकर सभी सहयोगी राजाओंके वर्गका शीघ्र ही यथायोग्य सन्मान किया और फिर उन्हें बिदा करके महासेनने लक्ष्मणा (पट्टरानी) का मुख-कमल देखते (भोग भोगते)

१. क ख ग घ म स्ववीणा° । २. क ख ग घ म किंनराद्यैः । ३. अ करमलिताः, म करमिलिताः । ४. अ विसर्ग्य । ५. =वेपमानः । ६. श यस्मिन् । ७. =यस्मात् । ८. =संक्षेपतः । ९. =यथायोग्यम् । १०. आ विसृज्य । ११. आ 'राज्यम्' इति नोपलभ्यते ।

प्रागेव प्रमुदितधीर्जिनावताराद्रत्नानाममुचदहिद्विषा प्रयुक्तः ।
कोटयर्धं प्रतिदिवसं त्रिकोटियुक्तं षण्मासानथ धनदस्तदीयगेहे ॥५५॥
अष्टौ च त्रिदशपतेर्निदेशवाक्यात्तस्यान्तःपुरमुपगम्य दिक्कुमार्यः ।
व्यानम्राः स्वमभिनिवेद्य लक्ष्मणायाः कर्तव्यं व्यधिषत गर्भशोधनादि ॥५६॥
सौधोत्सङ्गे तुङ्गपल्यङ्कसुप्ता कल्याणाङ्गी यामिनी पश्चिमार्धे ।
चिह्नीभूताञ्जैनजन्मानुमाने स्वप्नानेतान्साथ देवी ददर्श ॥५७॥
शैलेन्द्राभं शुभ्रमैन्द्रं गजेन्द्रं दर्पोत्सेकोद्रेकमाणं गवेन्द्रम् ।
नागेन्द्रौघं द्रावयन्तं मृगेन्द्रं लक्ष्मीं हस्तन्यस्तलीलारविन्दाम् ॥५८॥

कम् ॥५४॥ प्रागिति । अथ दिग्विजयानन्तरम् । प्रमुदितधीः प्रमुदिता संतुष्टा धीश्चित्तं यस्य सः । अहिद्विषा देवेन्द्रेण । प्रयुक्तः प्रेरितः । धनदः कुबेरः । जिनावतारात् जिनस्य चन्द्रनाथस्यावताराद् गर्भावतरणात् । प्रागेव पूर्वमेव । रत्नानां मणीनाम् । त्रिकोटियुक्तं त्रिसृभिः कोटिभिर्युक्तं युतम् । कोटयर्धं कोटचा अर्धं दलम् । तदीयगेहे तदीये[1] तत्संबन्धे गेहे सदने । षण्मासान् षण्मासपर्यन्तम् । प्रतिदिवसं[2] दिनं प्रति । अमुचत् ववर्ष । लुङ् ॥५५॥ अष्टाविति । त्रिदशपतेः देवेन्द्रस्य । निदेशवाक्यात् निदेशस्याज्ञाया वाक्याद् वचनात् । अष्टौ च अष्टसंख्याप्रमिताः । दिक्कुमार्यः । तस्य राज्ञः । अन्तःपुरम् अवरोधम् । उपगम्य प्राप्य । लक्ष्मणायाः लक्ष्मणादेव्याः । व्यानम्राः विनमनशीलाः सत्यः । स्वम्[3] आत्मनः अभिनिवेद्य विज्ञाप्य । गर्भशोधनादि गर्भस्य शोधनादि । कर्तव्यं कार्यम् । व्यधिषत कुर्वन्ति स्म । डुधाञ् धारणे च ॥५६॥ सौधेति । अथ गर्भशोधनानन्तरम् । सौधोत्सङ्गे सौधस्य प्रासादस्योत्सङ्गे[4]ऽग्रे (मध्ये) । तुङ्गपल्यङ्कसुप्ता तुङ्गे उन्नते पल्यङ्के मञ्चके सुप्ता शयिता । कल्याणाङ्गी कल्याणं मनोहरमङ्गं यस्याः सा । 'असहनञ्—' इत्यादिना ङी-प्रत्ययः । सा देवी लक्ष्मणा देवी । यामिनीपश्चिमार्धे यामिन्या रात्रेः पश्चिमार्धेऽवसाने । जैनजन्मानुमाने जैनस्य[5] जिनसंबन्धस्य जन्मनो जननस्यानुमानेऽनुमितौ । चिह्नीभूतान्[6] लक्षीभूतान् । एतान् इमान् । स्वप्नान् । ददर्श वीक्षां चक्रे । दृशृ[7] प्रेक्षणे लिट् ॥५७॥ शैलेति । शैलेन्द्राभं शैलेन्द्रस्य गिरीन्द्रस्य आभं[8] सदृशम् । ऐन्द्रम्[9] इन्द्रसंबन्धम् । गजेन्द्रं हस्तीन्द्रम् । शैलेन्द्राभम्—इत्यौन्नत्येन मेरुसदृशो न वर्णेन । शुभ्रमिति विशेषणस्य दत्तत्वात्, मेरोः (च) सुवर्णवर्णत्वात् । दर्पोद्रेकात् दर्पस्य गर्वस्योद्रेकादुत्कर्षात् । रेकमाणं ध्वनन्तम् । गवेन्द्रं वृषभम् । नागेन्द्रौघं नागेन्द्राणां गजेन्द्राणामोघं समूहम् । द्रावयन्तं धावयन्तम् । मृगेन्द्रं कण्ठीरवम् । हस्तन्यस्तलीलारविन्दां हस्ते पाणौ न्यस्तं लीलायै विलासार्थमरविन्दं

हुए चिरकाल तक साम्राज्यके सुखका अनुभव किया ॥५४॥ दिग्विजयके बाद महासेनके घर चन्द्रप्रभके गर्भावतारके पहले लगातार छह मास तक (तीनों सन्ध्याओंमें) प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वर्षा, कुबेरने, इन्द्रकी प्रेरणासे प्रसन्नतापूर्वक की ॥५५॥ इन्द्रकी आज्ञासे आठों दिक्कुमारियोंने महासेनके अन्तःपुरमें जाकर एवं नम्रतापूर्वक अपने आनेका अभिप्राय बतलाकर लक्ष्मणाके गर्भ-शोधन आदि कर्त्तव्यको पूर्ण किया ॥५६॥ इसके उपरान्त लक्ष्मणाने—जो राजमहलके मध्यमें ऊँची सेजपर सोयी हुई थी और जिसका शरीर समस्त लोकके लिए कल्याणकारी था (तीर्थंकरको जन्म देनेसे)—रात्रिके पिछले भागमें इन (सोलह) स्वप्नोंको देखा, जो जिन भगवान् (चन्द्रप्रभ) के जन्मका अनुमान लगानेमें सहायक थे ॥५७॥ सुमेरुके समान उन्नत, इन्द्रके शुभ्र गजराज—ऐरावतको; दर्पके प्रकर्षसे डकारते हुए श्रेष्ठ बैलको; गजराजोंके झुण्डको भगाते हुए सिंहको और उस लक्ष्मीको, जिसके हाथमें लीला कमल स्थित था, (देखा) ॥५८॥

१. = तत्संबन्धिनि । २. = प्रतिदिनम् । ३. = आत्मानम् । ४. = मध्ये । ५. = जिनसंबन्धिनः । ६. = लक्ष्मभूतान् । ७. आ दृशिर् । ८. = आभेवाभा यस्य तं । ९. = इन्द्रसंबन्धिनम् ।

मालायुग्मं प्रान्तविभ्रान्तभृङ्गं सान्द्रज्योत्स्नं पार्वणं शीतभानुम् ।
भानुं भासा भासिताशान्तरालं मीनद्वन्द्वं क्रीडदन्योन्यरक्तम् ॥५९॥
कुम्भावम्भोजावृतावम्बुपूर्णौ शुभ्राम्भोजोद्भासितोयं तटाकम्[1] ।
वीचीचक्रैश्चुम्बिताकाशमब्धिं सिंहव्यूढं विष्टरं शैलतुङ्गम् ॥६०॥
दिव्यं दिव्यैः[2] सेव्यमानं विमानं नागावासं नागकन्याभिरामम् ।
सर्पत्तेजोमण्डलं रत्नराशिं धूमत्यागादुज्ज्वलं धूमकेतुं ॥६१॥ (कुलकम्)
स्वप्नानेतान्भूरिकल्याणहेतून्गत्वा प्रातः[3] प्रीतिविस्तारिताक्षी ।
सा भूभर्तुः सूचयामास देवी चक्रे तेनापीति सा तत्फलज्ञा ॥६२॥

कमलं यस्याः ताम् । लक्ष्मीं श्रीदेवीम् ॥५८॥ मालेति । प्रान्तविभ्रान्तभृङ्गं प्रान्ते समीपे विभ्रान्ताश्चलिता[4] भृङ्गा मधुकरा यस्य तत् । मालायुग्मं मालयोर्दाम्नोर्युग्मं युगलम् । सान्द्रज्योत्स्नं सान्द्रा घना ज्योत्स्ना चन्द्रिका यस्य तम् । पार्वणं पौर्णमास्यां भवम्[5] । शीतभानुं चन्द्रम् । भासा कान्त्या । भासिताशान्तरालं भासितं प्रकाशितमाशानां दिशामन्तरालमभ्यन्तरं यस्य[6] तम् । भानुं सूर्यम् । क्रीडत् विहरत् । अन्योन्यरक्तम् अन्योन्यं परस्परं रक्तं प्रीतियुक्तम् । मीनद्वन्द्वं मीनयोर्मत्स्योर्द्वन्द्वं युगलम् ॥५९॥ कुम्भाविति । अम्भोजावृतौ अम्भोजैः कमलैरावृतौ परिवृतौ । अम्बुपूर्णौ अम्बुना सलिलेन पूर्णौ उम्भितौ[7] । कुम्भौ मङ्गलकलशौ । शुभ्राम्भोजोद्भासितोयं शुभ्रैः श्वेतैरम्भोजैः सरसिजैरुद्भासि विलसत् तोयं जलं यस्मिन् तम् । तटाकं सरोवरम् । वीचिचक्रैः वीचीनां तरङ्गाणां चक्रैः समूहैः । चुम्बिताकाशं चुम्बितं स्पृष्टमाकाशं गगनं यस्य[8] तम् । अब्धिं समुद्रम् । सिंहव्यूढं सिंहैः कण्ठीरवैर्व्यूढं धृतम्[9] । शैलतुङ्गं शैलवत् पर्वतवत् तुङ्गमुन्नतम् । विष्टरं सिंहासनम् ॥६०॥ दिव्यमिति । दिव्यं दिवि स्वर्गे भवम् । दिव्यैः देवैः । सेव्यमानं श्रयमाणम् । विमानं व्योमयानम् । नागकन्याभिरामं नागकन्याभिर्नागवनिताभिरभिरामं मनोहरम् । नागावासं नागानां नागकुमाराणामावासं भवनम् । सर्पत्तेजोमण्डलं सर्पन्[10] स्रवन् तेजसां कान्तीनां मण्डलं यस्य तम् । रत्नराशिं रत्नानां मणीनां राशिं निकरम् । धूमत्यागात् धूमस्य त्यागादभावात् । उज्ज्वलं प्रज्वलम् । धूमकेतुम् अग्निम् । ददर्श इति प्रत्येकमभिसंबन्धः । पञ्चभिः कुलकम् । दीपकम् ॥६१॥ स्वप्नानिति । भूरिकल्याणहेतून् भूरिणो बहुलस्य कल्याणस्य हेतून् कारणानि । एतान् इमान् । स्वप्नान् । प्रातः विभाते । गत्वा प्राप्य । प्रीतिविस्फारिताक्षी प्रीत्या संतोषेण विस्फारिते उद्घाटिते अक्षिणी नयने यस्याः सा । सा देवी लक्ष्मणा देवी । भूभर्तुः महासेनराजस्य । सूचयामास विज्ञापयामास । सूच पैशून्ये लिट् । तेनापि । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । सा

दो मालाओंको, जिनके आसपास भौंरे गुंजार कर रहे थे; सघन ज्योत्स्नासे युक्त पूर्णमासीके चन्द्रमाको; अपने प्रकाशसे सारी दिशाओंको प्रकाशित करते हुए सूर्यको और एक दूसरेसे अनुराग करनेवाले किलोल करते हुए मीन युगलको (देखा) ॥५९॥ कमलोंसे ढंके हुए और जलसे भरे हुए दो मंगलकलशोंको, जलमें लहलहाते हुए सफेद कमलोंसे अलंकृत सरोवरको, आकाशको छूनेवाली उत्ताल तरंगोंसे युक्त समुद्रको और सिंहोंपर आश्रित सिंहासनको, जो पहाड़के समान उन्नत था, (देखा)॥६०॥ देवोंसे सेवित दिव्य विमानको, नागकन्याओंसे सुन्दर नागभवनको, फैलाते हुए तेजोमण्डलसे युक्त रत्नराशिको और धूमरहित होनेसे उज्ज्वल अग्निको (देखा) ॥६१॥ अत्यधिक कल्याणके कारण-स्वरूप इन स्वप्नोंके बारेमें लक्ष्मणाने—जिसके नेत्र प्रीतिसे विकसित हो रहे थे—प्रभात होते ही अपने पति राजा महासेनको सूचना दी, और फिर महासेनने

---

१. अ क ख ग घ म तडागम् । २. अ क ख ग घ म देवैः । ३. अ प्रीता । ४. श चञ्चलिताः । ५. श पार्वणं पौर्णवम् । ६. =येन । ७. श 'उम्भितौ' इति नास्ति । ८. =येन । ९. आ 'धृतम्' इति नास्ति । १०. = उद्गच्छन् ।

ब्रूते नागस्ते त्रिलोकैकमुख्यं कल्याणास्ये सूनुमुक्षा गभीरम् ।
सिंहः सिंहोदारदुर्लङ्घ्यवीर्यं लक्ष्मीर्देवेन्द्राभिषेकैकयोग्यम् ॥६३॥
दामद्वन्द्वात्सुभ्रु सोऽनन्तकीर्तिर्भावी चन्द्रात्तृप्तिहेतुः प्रजानाम् ।
मोहध्वान्तध्वंसकस्तिग्मभासा[1] पाठीनाभ्यां सर्वशोकैर्विमुक्तः ॥६४॥
कुम्भालोकाल्लक्षणैः[2] पूर्णदेहस्तृष्णावह्निच्छित्सरोवीक्षणेन ।
पाथोनाथात्केवलज्ञानभागी लब्धा सिद्धेर्धाम सिंहासनेन[3] ॥६५॥
स्वर्गादेता देवि देवालयेन नागावासाद्धर्मतीर्थस्य कर्ता ।
क्रीडाशैलो रत्नपुञ्जाद्गुणानां धक्ष्यत्युग्रं वह्निना कर्मकक्षम् ॥६६॥

देवी । तत्फलज्ञा तेषां स्वप्नानां फलज्ञाना । चक्रे क्रियते स्म । कर्मणि लिट् ॥६२॥ ब्रूत इति । नागः गजः । तं सूनुं पुत्रम् । त्रिलोकैकमुख्यं त्रयाणां लोकानामेकमसहायं मुख्यं श्रेष्ठम् । कल्याणाङ्ग[4] कल्याणं मनोहरमङ्गं शरीरं यस्य तम् । ब्रूते वक्ति । उक्षाः वृषभः । गभीरं गम्भीरम् । सिंहः कण्ठीरवः । सिंहोदारदुर्लङ्घ्यवीर्यं सिंह इवोदारं[5] महितं दुर्लङ्घ्यं लङ्घितुमशक्यं वीर्यं पराक्रमो यस्य तम् । लक्ष्मीः श्रीदेवी । देवेन्द्राभिषेकैकयोग्यं देवेन्द्रैर्विहितस्याभिषेकस्यैकं मुख्यं योग्यम् ।६३। दामेति । सुभ्रु ! सुशोभने भ्रुवौ यस्यास्तस्याः संबोधनं भो मनोहरभ्रूमहिते ! दामद्वन्द्वात् दाम्नोर्माल्ययोर्द्वन्द्वाद् युग्मात् । भावी भविष्यन् । सः पुत्रः । अनन्तकीर्तिः अनन्तयशाः । चन्द्रात् सोमात् । प्रजानां जनानाम् । तृप्तिहेतुः । तिग्मभासा सूर्येण । मोहध्वान्तध्वंसकः मोह एव ध्वान्तं तस्य ध्वंसकः । पाठीनाभ्यां मीनाभ्याम् । सर्वशोकैः सर्वदुःखैः । विमुक्तः रहितः ॥६४॥ कुम्भेति । कुम्भालोकात् कुम्भयोः कलशयोरालोकाद् दर्शनात् । लक्षणैः हलकुलिशादिचिह्नैः । पूर्णदेहः संपूर्णशरीरः[6] । सरोवीक्षणेन सरसः सरोवरस्य वीक्षणेन दर्शनेन । तृष्णावह्निच्छित् तृष्णैव वाञ्छैव वह्निरग्निस्तं छिनत्तीति तथोक्तः । पाथोनाथात्[7] जलधिदर्शनात् । केवलज्ञानभागी पञ्चमज्ञानभाजनः (नम्) । सिंहासनेन हरिपीठदर्शनेन । सिद्धेः मोक्षस्य । धाम स्थानम् । लब्धा लप्स्यते । डुलभिष[8] प्राप्तौ लुङ् ॥६५॥ स्वर्गादिति । देवि भो देवि ! देवालयेन देवविमानदर्शनेन । स्वर्गात् त्रिदिवात् । एता एष्यति । नागावसात् नागभवनदर्शनात् । धर्मतीर्थस्य परमागमस्य । कर्ता स्वामी । रत्नपुञ्जात् रत्नराशिदर्शनात् । गुणानां सम्यक्त्वादिगुणानाम् । क्रीडाशैलः लीलापर्वतः । वह्निना अग्निदर्शनेन । उग्रं क्रूरम् । कर्मकक्षं कर्मकाननम् । धक्ष्यति भस्मयिष्यति ।

भी लक्ष्मणाको उनके फलका ज्ञान कराया—॥६२॥ हे कल्याणमुखी ! ऐरावत हाथी तेरे पुत्रको तीनों लोकोंमें मुख्य बतला रहा है, बैल उसे गम्भीर, सिंह महान् और दुर्लङ्घ्य पराक्रमका धारी और लक्ष्मी इन्द्रोंके द्वारा अभिषेक करने योग्य सूचित कर रही है ॥६३॥ हे सुन्दर भ्रुकुटि वाली देवी ! दो मालाओंके देखनेसे वह अनन्तकीर्तिको धारण करनेवाला होगा, चन्द्रमा देखनेसे प्रजाकी तृप्तिका हेतु, सूर्य देखनेसे मोहरूपी अन्धकारको मिटानेवाला और मछलियोंकी जोड़ीको देखनेसे सभी प्रकारके शोकसे मुक्त होगा ॥६४॥ कलश देखनेसे उसके दिव्य देहमें शुभ लक्षण होंगे, सरोवर देखनेसे तृष्णारूपी अग्निको शान्त करनेवाला होगा, समुद्र देखनेसे केवलज्ञानी होगा और स्वर्ण-सिंहासनके देखनेसे मुक्तिको पानेवाला होगा ॥६५॥ देवि ! देवोंका विमान देखनेसे वह स्वर्गसे अवतरित होगा, नागभवन देखनेसे धर्मतीर्थका प्रवर्त्तक होगा, रत्नोंकी राशि देखनेसे समस्त गुणोंका क्रीड़ा-पर्वत होगा और अग्नि देखनेसे उग्र कर्मोंके

---

१. क ख ग घ म °तिग्मभासः । २. क ख ग घ म °लक्ष्मणैः । ३. क ख ग घ म सिद्धेर्हेमसिंहा° ।
४. 'कल्याणाङ्ग' इति टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु निखिलास्वपि 'कल्याणास्ये' इति समुपलभ्यते । कल्याणं मनोहरमास्यं मुखं यस्यास्तत्संबुद्धौ हे कल्याणास्ये शुभवदने । ५. = महत् । ६. आ °र्णदेहः । ७. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'यादोनाथात्' इत्येव समुपलभ्यते । सानुप्रासः टीकापाठः साधीयानित्यत्र न काचन संशीतिः ।
८. श डुलभष् ।

फलं स्वप्नावल्याः सकलमिति निश्चित्य दयिता-
द्दधाना रोमाञ्चं प्रकटमपरं कञ्चुकमिव ।
प्रमोदं सा भेजे कमपि वचनानामविषयं
मुदे केषां न स्यादभिलषितसंप्राप्तिरथवा ॥६७॥
अथाहमिन्द्रः स ततोऽवतीर्य स्वायुःक्षयेऽनुत्तरवैजयन्तात् ।
कुक्षौ प्रशस्तेऽहनि लक्ष्मणाया विवेश शुक्ताविव वारिबिन्दुः ॥६८॥
तस्मिन्गर्भावतारं कृतवति भुवनक्षोभसंपादिपुण्ये
सर्वाटोपेन गत्वा क्षितिपतिभवने सासुरेन्द्राः सुरेन्द्राः ।
कृत्वा कल्याणमुच्चैर्हतपटुपटहा वेणुवीणाभिरामं
नृत्यन्तः स्वं निवासं कृतजिनजननीपादपूजाः प्रजग्मुः ॥६९॥

लृट् ॥६६॥ फलमिति । स्वप्नावल्याः स्वप्नामावल्याः समूहस्य । सकलं समस्तम् । फलम् । दयितात् प्राणनायकात् । इति उक्तप्रकारेण । निश्चित्य निर्णीय । प्रकटं व्यक्तम् । अपरम् अन्यत् । कञ्चुकमिव कूर्पासमिव । रोमाञ्चं लोमहर्षणम् । दधाना धरन्ती । सा लक्ष्मणा देवी वचनानां वाचाम् । अविषयम् अगोचरम् । कमपि कंचित् । प्रमोदं संतोषम् । भेजे भजते स्म । भजि[1] सेवायां लिट् । अथवा तथा हि । अभिलषितसंप्राप्तिः अभिलषितस्य समीहितस्य संप्राप्ति[2]र्लब्धिः । केषां जनानाम् । मुदे संतोषाय । न स्यात् न भवेत् । अस भुवि लिङ् । अर्थान्तरन्यासः ॥६७॥ अथेति । अथ स्वप्नदर्शनान्तरम् । सः अहमिन्द्रः पद्मनाभचराहमिन्द्रः । स्वायुःक्षये स्वस्यायुषः जीवितस्य क्षये[3] परिक्षीणे सति । अनुत्तरवैजयन्तात् । अवतीर्य आगत्य । प्रशस्ते शुभे । अहनि दिने । लक्ष्मणायाः लक्ष्मणादेव्याः । कुक्षौ गर्भे । शुक्तौ शुक्तिपुटे[4] । वारिबिन्दुरिव स्वातिजलबिन्दुवत् । विवेश प्रविष्टः । विश प्रवेशने लिट् । उपमा[5] ॥६८॥ तस्मिन्निति । भुवनक्षोभसंपादिपुण्ये भुवनेषु[6] त्रिलोकेषु[7] क्षोभं संभ्रमं[8] संपादि समुद्भावि पुण्यं शुभकर्म यस्य तस्मिन् । तस्मिन् अहमिन्द्रे । गर्भावतारं गर्भावतरणम् । कृतवति सति विहितवति सति[9] । सासुरेन्द्राः असुरेन्द्रैः सहिताः । सुरेन्द्राः देवेन्द्राः । सर्वाटोपेन संभ्रमेण । क्षितिपतिभवने क्षितिपतेर्महासेनस्य भवने सदने । गताः याताः । कल्याणं गर्भावतरणकल्याणम् । कृत्वा विधाय । उच्चैः अधिकम् । हतपटुपटहाः हताः ताडिताः पटवः स्पष्टाः पटहा दुन्दुभयो यैस्ते । वेणुवीणाभिरामं वेणुवीणाभ्यामभिरामं मनोहरं यथा भवति तथा । नृत्यन्तः नटन्तः । कृतजिनजननीपादपूजाः कृता विहिता

जंगलको जलानेवाला होगा ॥६६॥ इस तरह अपने पतिसे सभी स्वप्नोंके फलको निश्चित करके लक्ष्मणाके शरीरपर रोमांच प्रकट हो गये, जिन्हें देखनेसे ऐसा जान पड़ता था मानो उसने दूसरा ब्लाऊज पहन लिया हो । उस समय उसे अनिर्वचनीय आनन्द हुआ । इष्टकी प्राप्ति भला किसके हर्षके लिए नहीं होती ? ॥६७॥ इसके पश्चात् आयुके समाप्त होते ही उस अहमिन्द्रने वैजयन्त नामक अनुत्तर विमानसे अवतरित होकर शुभ दिनमें लक्ष्मणाके गर्भमें प्रवेश किया, जैसे जल-बिन्दु सीपमें प्रवेश करता है ॥६८॥ अहमिन्द्रका पुण्य सारे संसारमें प्रसन्नताकी लहर उत्पन्न करनेवाला था । अतः उसने लक्ष्मणाके गर्भमें ज्यों ही अवरण किया त्यों ही देवेन्द्र—जिनके साथ असुरेन्द्र भी थे—बड़ी धूमधामके साथ राजा महासेनके घर पहुँचे, और गाजे-बाजेके साथ उन्होंने गर्भ-कल्याणका उत्सव मनाया, एवं बाँसुरी और वीणाकी तानको

१. आ भज । २. आ अखिलक्षितसंप्राप्तिः अखिलस्य क्षितस्य समीहितस्य संप्राप्तिः । ३. = परिक्षये । ४. आ शुक्तिषु । ५. आ उपमानन्तरं 'तस्य तत् तस्मिन् तस्य' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते । ६. = त्रिषु लोकेषु । ७. = त्रिलोके लोकत्रये वा । ८. = संपादयति समुद्भावयोतस्येवं भूतम् । ९. श 'विहितवति सति' इति नोपलभ्यते ।

श्रीह्रीधृत्यादिभिः स्वान्वपुषि वरगुणान्कान्तिलज्जादिरूपा-
न्देवीभिस्तन्वतीभिः सततमनुपमप्रीतिभिः सेव्यमाना।
पश्यन्ती रत्नवृष्टिं स्वयमुदयवतीं प्रत्यहं स्वर्गिमुक्तां
मासान्गर्भप्रभावान्नव नलिनमुखी सा सुखेनैव निन्ये ॥७०॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये षोडशः सर्गः ॥१६॥

जिनस्य जिनेशस्य जनन्या मातुः पादयोश्चरणयोः पूजा यैस्ते। स्वं स्वकीयम्। निवासं स्वर्गावासम्। प्रजग्मुः प्रययुः। गम्लृ गतौ लिट् ॥६९॥ श्रीति। कान्तिलज्जादिरूपान् कान्तिलज्जे आदौ[1] येषां तानि तथोक्तानि कान्तिलज्जादीन्येव रूपाणि स्वरूपाणि येषां ते[2]। स्वान् स्वकीयान्। वरगुणान् प्रकृष्टगुणान्। वपुषि शरीरे। तन्वतीभिः कुर्वतीभिः[3]। अनुपमप्रीतिभिः अनुपमा सादृश्यरहिता प्रीतिः प्रेम यासां ताभिः। श्रीह्रीधृत्यादिभिः श्रीह्रीधृतय आदयो[4] यासां ताभिः। देवीभिः देवस्त्रीभिः। सततम् अनवरतम्। सेव्यमाना आराध्यमाना। उदयवतीं संपत्तियुक्ताम्। प्रत्यहं प्रतिदिनम्। स्वर्गिमुक्तां स्वर्गिभिर्देवैर्मुक्तां वृष्टाम्। रत्नवृष्टिं रत्नानां मणीनां वृष्टिं वर्षणम्। स्वयं, पश्यन्ती वीक्षमाणा। नलिनमुखी नलिनमिव कमलमिव मुखं वदनं यस्याः सा। सा[5] लक्ष्मणा देवी। गर्भप्रभावात् गर्भस्य जिनबालकस्य प्रभावात् सामर्थ्यात्। 'कुक्षिभ्रूणार्भका गर्भाः' इत्यमरः। नव नवसंख्याकान्। मासान् सुखेनैव। निन्ये[6] नयति स्म। णीञ् प्रापणे लिट्[7] ॥७०॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये षोडशः सर्गः ॥१६॥

सुन्दरताके साथ नृत्य किया, फिर लक्ष्मणाके चरणोंकी अर्चना करके वे अपने निवास-स्थानको चले गये ॥६९॥ कान्ति और लज्जा आदि श्रेष्ठ गुणोंको—जो उनकी प्रशस्त आकृतिपर छाये हुए थे—विकसित करनेवाली तथा अनुपम प्रीति करनेवाली श्री, ह्री और धृति आदि देवियाँ लक्ष्मणाकी निरन्तर सेवा करने लगीं। उस अभ्युदयशालिनी कमलमुखी लक्ष्मणाने देवोंके द्वारा प्रतिदिन की जानेवाली रत्न-वृष्टिको—जो गर्भके प्रभावके से नौ मास तक हुई थी—देखते हुए सुख-पूर्वक समय बिताया ॥७०॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दि विरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यमें सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

---

१. = आदौ। २. = तान्। ३. श 'कुर्वतीभिः' इति नास्ति। = कुर्वत भिः—कुर्वन्तीभिः। ४. = आदौ। ५. श 'सा' इति नास्ति। ६. श 'निन्ये' इति नास्ति। ७. श 'लिट्' इति नास्ति।

[१७. सप्तदशः सर्गः]

अथ सा प्रसूतिसमयेन जिनमिव दिदृक्षुणेरिता ।
पौषमलिनदशमीक्षयजां तिथिमाप्य सुन्दरमजीजनत्सुतम् ॥१॥
ककुभः प्रसेदुरजनिष्ट निखिलममलं नभस्तलम् ।
तस्य जननसमये[1] पवनः सुरभिर्ववौ सुरभयन्दिगङ्गनाः ॥२॥
वियतः पतद्भिरतिहृष्टहृदयसुरवृन्दवर्षितैः ।
दिव्यकुसुमनिकरैररुचत्क्षितिमण्डलं भ्रमरबद्धमण्डलैः ॥३॥
मणिघण्टिकाः सदसि रेणुरकरहति कल्पवासिनाम् ।
ज्योतिरमरसदने सहसा प्रजगर्जुरूर्जितरवं[2] गजारयः ॥४॥

काशीपुराधिपमहोपतिविश्वसेनप्रीतात्मजो मरकतद्युतिभासुराङ्गः ।
ध्यानात् पुनर्न च चचाल महोपसर्गे श्रीपार्श्वनाथजिनपो जगदेकनाथः ॥१॥

अथेति । अथ गर्भावतरणानन्तरम् । जिनं जिनेश्वरम् । दिदृक्षुणेव द्रष्टुमिच्छुनेव । प्रसूतिसमयेन प्रसूतेः प्रसवस्य समयेन कालेन । ईरिता प्रेरिता । सा लक्ष्मणा देवी । पौषमलिनदशमीक्षयजां पौषस्य पौषमासस्य मलिनस्य कृष्णपक्षस्य दशम्या दशमीतिथेः क्षयजां क्षयेन जातामेकादशीमित्यर्थः । तिथिं दिनम् । आप्य लब्ध्वा । सुन्दरं मनोहरम् । सुतं तनयम् । अजीजनत् जनयति स्म । जनैङ् प्रादुर्भावे लङ् । उद्गतावृत्तम् ॥१॥ ककुभ इति । तस्य जिनबालकस्य । जननसमये जन्मनः समये काले । ककुभः दिशः । प्रसेदुः निर्मला बभूवुः । निखिलं सकलम्[3] । नभस्तलं गगनतलम् । अमलं विमलम् । अजनिष्ट जायते स्म । लुङ् । दिगङ्गनाः दिश एव अङ्गना वनिताः । सुरभयन् परिमलयन् । सुरभिः परिमलयुतः । पवनः वायुः । ववौ वाति स्म । वा गतिगन्धनयोः । लिट् । अतिशयः ॥२॥ वियत इति । अतिहृष्टहृदय-सुरवृन्दवर्षितैः अतिहृष्टेनात्यन्तं संतुष्टेन हृदयेन चित्तेन युतेन सुराणां देवानां वृन्देन समूहेन वर्षितैर्वर्षितैः । वियतः अकाशात् । पतद्भिः वर्षद्भिः । भ्रमरबद्धमण्डलैः भ्रमरैर्मधुकरैर्बद्धं रचितं मण्डलं वलयं येषां[4] तैः । दिव्यकुसुमनिकरैः दिव्यानां स्वर्गजातानां कुसुमानां निकरैर्वृन्दैः । क्षितिमण्डलं भूमण्डलम् । अरुचत् भाति स्म । रुचि दीप्तौ । 'द्युद्भ्यो लुङः' इति तङ्[5] । अतिशयः ॥३॥ मणीति । कल्पवासिनां कल्पवासिदेवानाम् । सदसि सभायाम् । मणिघण्टिकाः मणिभिर्निर्मिता घण्टिकाः । अकरहति कराहतिं विना यथा तथा । रेणुः ध्वनन्ति स्म । रण शब्दे लिट् । ज्योतिरमरसदने ज्योतिष्कदेवानां सदने निवासे । गजारयः गजानां करिणामरयः शत्रवः, सिंहा इत्यर्थः । ऊर्जितरवम् उच्चैःस्वरं यथा तथा । सहसा शीघ्रम् । प्रगर्जुः ध्वनन्ति स्म । गर्ज क्षिर्ज[6] शब्दे

गर्भावतारके पश्चात् प्रसूतिका समय मानो अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रके दर्शनोंके लिए लालायित था, अतः उस (प्रसूति समय) की प्रेरणासे महारानी लक्ष्मणाने पौषकृष्ण एकादशी-के दिन सुन्दर पुत्रको जन्म दिया ॥१॥ पुत्रके जन्मके शुभ अवसरपर सभी दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं, सारा नभस्तल निर्मल हो गया और दिशारूपी अङ्गनाओंको सुवासित करता हुआ सुगन्धित पवन बहने लगा ॥२॥ देवोंका वृन्द हृदयसे प्रसन्न होकर दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगा। वे पुष्प अत्यन्त सुगन्धित थे, अतः ज्यों ही वे आकाशसे गिरने लगे त्यों ही उनपर भौंरोंके झुण्ड मड़राने लगे, उनके संयोगसे भूमण्डलकी जो शोभा उत्पन्न हुई, वह देखते ही बनती थी ॥३॥ कल्पवासी देवोंकी सभामें मणिर-चित घण्टियाँ बिना हाथ लगाये ही बजने लगीं और ज्योतिषी देवोंके आवास स्थानोंमें एकाएक खूब जोर-जोरसे सिंह गर्जन करने

---

१. आ इ जन्मसमये । २. अ गर्जितरवं । ३. श 'सकलम्' इति नास्ति । ४. = येषु । ५. आ तिप्, श तिप् । ६. आ षिर्ज ।

प्रणनाद भावनगृहेषु जलदपटुशङ्खसंहतिः ।
व्यन्तरसुरभवनेष्वहताः पटहाः[1] प्रतिध्वनिमुचः[2] प्रदध्वनुः ॥५॥
इति हेतुभिः प्रचलितैश्च समसमयमात्मविष्टरैः ।
ज्ञातजिनपतिभवा परितो गगनं प्रपूर्य विबुधाः प्रतस्थिरे ॥६॥
प्रचलत्सुरासुरकिरीटकिरणनिकुरम्बरञ्जिताः ।
मण्डनमिव जगृहुः ककुभोऽप्यथवा न कस्य जिनजन्म वृद्धये[3] ॥७॥
अधुना व्यनक्ति जिन एव [4]भुवनमिदमत्र किं मया
कृत्यमिति सुरविमानचयैस्त्रपयेव भानुरभवत्तिरोहितः ॥८॥

लिट् ॥४॥ प्रणनेति[5] । भावनगृहेषु भवनामरसंबन्धिषु गृहेषु भवनेषु । शङ्खसंहतिः शङ्खानां संहतिः समूहः । जलदपटु जलदवद् मेघवत् पटु व्यक्तं यथा तथा । प्रणनाद दध्वान । णद शब्दे लिट् । व्यन्तरसुरभवनेषु व्यन्तरसुराणां भवनेषु गृहेषु । अहताः अताड़िताः । प्रतिध्वनिमुचः प्रतिध्वनिं मुञ्चन्तीति तथोक्ताः । पटहाः दुन्दुभयः । प्रदध्वनुः[6] रुरुवुः[7] । ध्वन शब्दे लिट् ॥५॥ इतीति । इति हेतुभिः इत्येवं हेतुभिः । समसमयं समः समानः समयः कालो यस्मिन् कर्मणि तत्० । प्रचलितैः कम्पितैः । आत्मविष्टरैः [च] आत्मनां स्वेषां विष्टरैरासनैश्च । ज्ञातजिनपतिभवाः ज्ञातो विदितो जिनपतेर्भवो जन्म यैस्ते । विबुधाः देवाः । परितः सर्वतः । गगनम् आकाशम् । प्रपूर्य व्याप्य । प्रतस्थिरे निर्जग्मुः । ष्ठा गति निवृत्तौ[8] । अनुमितिः ॥६॥ प्रचलदिति । प्रचलत्सुरासुरकिरीटकिरणनिकुरम्बरञ्जिताः प्रचलतां सुरासुराणां सुरासुरदेवानां किरीटानां निकुरम्बेण निकरेण रञ्जिता उपरञ्जिताः । ककुभोऽपि दिशोऽपि । मण्डनम् अलंकरणम् । जगृहुरिव स्वीचक्रुरिव । अथवा तथाहि । जिनजन्म जिनस्यार्हतो जन्म जननम् । कस्य पुरुषस्य । वृद्धये समृद्धये[9] । [न] न भवति । अर्थान्तरन्यासः[10] ॥७॥ अधुनेति । अधुना इदानीम् । अत्र जिनजन्मनि । इदम् एतत् । भुवनं जगत् । जिन एव जिनेश्वर एव । व्यनक्ति व्यक्तीकरोति, प्रकाशयतीत्यर्थः । मया किं कृत्यं करणीयम् । इति, त्रपयेव लज्जयेव । सुरविमानचयैः सुराणां देवानां विमानानां व्योमयानानां चयैः समूहैः । भानुः सूर्यः । तिरोहितः व्यवहितः ।

लगे—सिंहनाद होने लगा ॥४॥ भवनवासी देवोंके घरोंमें मेघोंकी भाँति गम्भीर शंख समूहकी ध्वनि सुनाई पड़ने लगी और व्यन्तर देवोंकी निवास भूमिमें बिना बजाये ही दुन्दुभि बाजे बजने लगे तथा सभी ओर उनकी प्रतिध्वनि गूँजने लगी ॥५॥ इन कारणोंसे एवं एक ही साथ अपने-अपने आसनके कम्पित होनेसे सभी देवोंको जिन भगवान्के जन्मका पता चल गया। फलतः उन्होंने अपने-अपने स्थानसे चन्द्रपुरीको, जहाँ जिन भगवान्का जन्म हुआ था, प्रस्थान कर दिया। जाते समय उन्होंने आकाशको सभी ओरसे व्याप्त कर दिया ॥६॥ क्या सुर और क्या असुर सभी बड़े वेगसे आगे बढ़ रहे थे। उनके मुकुटोंकी किरणोंके समूहसे सारी दिशाएँ रंग विरंगी हो गयीं, अतः ऐसा जान पड़ता था मानो उन्होंने आभूषण पहन लिये हों। भला जिन भगवान्का जन्म किसकी वृद्धिके लिए नहीं होगा? ॥७॥ 'इस समय जिनभगवान् ही सारे संसारको प्रकाशित कर रहे हैं, अब यहाँ मेरा क्या काम'? यह सोचकर मानो लज्जाके कारण

१. आ इ °भवनेषु पटहाः । २. अ °ध्वनिमुदः । ३. अ वृषाय । ४. आ इ भवन° । ५. आ प्रणतीति । ६. = ध्वनिं चक्रुः । ७. आ रुराव । ८. = लिट् । ९. श 'समृद्धये' इति नोपलभ्यते । १०. = उत्प्रेक्षा ।

[1]सुरपङ्क्तिरानृपतिगेहमरुचदमरालयात्तता ।[2]
अन्तरमकलयता द्युभुवोरिव मानरज्जुरुदतारि वेधसा ॥९॥
स चतुर्विधोऽपि नृपसद्म विविधमणिरत्नभासुरः ।
प्राप भृतसकलभूमितलो जलराशिवत्सुरगणः सवासवः ॥१०॥
अथ मायया जनितमात्ततदनुकृतिरूपमर्भकम् ।
मातुरुरसि विनिवेश्य शची जिनमुज्जहार गुरुभक्तिभाविता ॥११॥
तमुदीक्ष्य भासुरमशीतरुचिमिव शचीसमाहृतम् ।
पद्मवनमिव विकासमगाद्युगपत्सहस्रमपि चक्षुषां हरेः ॥१२॥

अभवत् अभूत् । लङ् । उत्प्रेक्षा ॥८॥ सुरपङ्क्तिरिति । अमरालयात् स्वर्गावासात् । आनृपतिगेहं महासेन-भूपतिगृहपर्यन्तम्[3] । तता विस्तृता । सुरपंक्तिः सुराणां देवानां पङ्क्ती राजिः । द्युभुवोः द्यावाभूम्योः । अन्तरं मध्यम् । अकलयता निश्चयमकुर्वता । वेधसा ब्रह्मणा । मानरज्जुः मानस्य प्रमाणस्य रज्जुः सूत्रम् । उदतारि इव विरचयामास इव । तॄ प्लवनतरणयोर्लङ् । अरुचत् । रुचि अभिप्रीत्यां लुङ् । 'द्युद्भ्यो लङः' इति लङ् ।[4] उत्प्रेक्षा ॥९॥ स इति । विविधमणिरत्नभासुरः विविधैर्नानाप्रकारैर्मणिभिरुत्तमै रत्नैर्भासुरः प्रकाशमानः । 'भञ्जभास'–इत्यादिना घुरः । भृतसकलभूमितलः भृतं[5] धृतं सकलं सर्वं भूमितलं येन सः । सवासवः वासवेन देवेन्द्रेण, पक्षे वासवेन विष्णुना सहितः । चतुर्विधोऽपि चतस्रो विधाः प्रकारो यस्य सः । सः सुरगणः सुराणां देवानां गणो निकरः । जलराशिवत् समुद्र इव । नृपसद्म नृपस्य राज्ञः सद्म सदनम् । प्राप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । श्लेषोपमा ॥१०॥ अथेति । अथ देवगमनानन्तरम् । गुरुभक्तिभाविता गुर्व्या महत्या भक्त्या गुणानुरागेण भाविता परिणता । शची इन्द्राणी । मायया । जनितं जातम् । आत्ततदनुकृतिरूपम् आत्तं स्वीकृतं तस्य जिनबालकस्यानुकृतं [रूपं] समानं यस्य तम् । अर्भकं मायाशिशुम् । मातुः जिनाम्बिकायाः उरसि वक्षसि । विनिवेश्य संस्थाप्य । जिनं जिनबालकम् । उज्जहार स्वीकरोति स्म । हृञ् हरणे लिट् ॥११॥ तमिति । शचीसमाहृतं शच्या शचीमहादेव्या समाहृतमानीतम् । अशीतरुचिमिव सूर्यमिव[6] भासुरं देदीप्यमानम् । तं जिनबालकम् । उदीक्ष्य विलोक्य हरिः देवेन्द्रः (हरेः देवेन्द्रस्य) । चक्षुषां नयनानाम् । सहस्रमपि दशशतप्रमितमपि । पद्मवनमिव पद्मानां कमलानां वनमिव षण्डमिव । युगपत् सकृत् । विकासं विकसनम् ।

सूर्य, देवोंके विमान समूहकी ओटमें छिप गया ॥८॥ स्वर्गसे राजा महासेनके घर तक लगातार फैली हुई देवोंकी पंक्ति ऐसी मालूम पड़ रही थी मानो ब्रह्मदेवने—जिसे स्वर्गसे पृथ्वी तकका फासला अज्ञात था—माप करनेके लिए रस्सी डाल दी हो ॥९॥ अनेक प्रकारके मणियों और रत्नोंसे देदीप्यमान चारों प्रकारके देवोंका वृन्द—जिसके साथ इन्द्र भी थे—राजमहलमें जा पहुँचा। उसने वहाँकी सारी भूमिको व्याप्त कर दिया, अतः वह रत्नाकरकी जलराशिके समान दृष्टि गोचर हो रहा था ॥१०॥ इसके उपरान्त अत्यधिक भक्ति भावसे युक्त इन्द्राणीने प्रसूति गृहमें प्रवेश किया। वह वहाँपर मायासे उत्पन्न किये हुए एक बच्चेको—जो आकार प्रकारमें जिनभगवान्के समान था—माँ की गोदमें रखकर जिनभगवान्को उठा लाई ॥११॥ इन्द्राणीके द्वारा लाये गये सूर्यके समान प्रतीत होनेवाले उस तेजस्वी बालकको देखकर इन्द्रके

१. क ख ग स्वरप° । २. म °याततः । ३. श °पतिगेह° । ४. आ श तिप् । ५ = पूरितं व्याप्तं वा ।
६. आ सूर्यचन्द्रमिव, श चन्द्रमिव ।

सुरबृंहिते जयजयेति भुवनमभिसर्पति ध्वनौ ।
हस्तधृतवपुषमात्मगजं तमरोपयत्प्रथमकल्पनायकः ॥१३॥
इतरे च तं परमभक्तिभरनतकिरीटकोटयः ।
भेजुरमरपतयोऽन्तगता विधृतातपत्रकलशाब्दचामराः ॥१४॥
सुरयोषितो विविधधूपबलिकुसुमरुद्धपाणयः ।
मङ्गलमुखरमुखाम्बुरुहाः करिणीगताः समुपतस्थिरेऽग्रतः ॥१५॥
चलितेऽभिमेरु सुरनाथनिवहपरिवारिते जने ।
नेदुरथ विबुधहस्तहताः परितः प्रयाणपरिशंसिभेरिकाः[1] ॥१६॥

अगात् अयात् । इण् गतौ लुङ् ।[2] उपमा ॥१२॥ सुरेति । सुरबृंहिते सुरैर्देवै बृंहिते प्रवर्धिते । जय जयेति ध्वनौ शब्दे[3] । भुवनं जगत् । अभिसर्पति व्याप्नुवति । प्रथमकल्पनायकः प्रथमस्य कल्पस्य सौधर्मकल्पस्य । नायकः प्रभुः । हस्तधृतवपुषं[4] हस्तेन पाणिना धृतं भृतं वपुः शरीरं यस्य तम् । तं जिनशिशुम् । आत्मगजम् आत्मनः स्वस्य गजमैरावतम् । अरोपयत् अवाहयत् । रुह बीजजन्मनि णिजन्ताल्लङ् 'रुहः पः' इति पकारादेशः ॥१३॥ इतरे इति । परमभक्तिभरनतकिरीटकोटयः परमाया महत्या भक्त्या भरेण भारेण नताः किरीटानां कोटयः समूहा येषां ते । अन्तगताः अन्तं समीपं गताः । इतरे च शेषाश्च । अमरपतयः अमराणां देवानां पतय इन्द्राः । विधृतापत्रकलशाब्दचामराः विधृतानि[5] भृतानि आतपवारणभृङ्गारदर्पणचामराणि यैस्ते । तं जिनबालकम् । भेजुः सेवन्तेस्म । भजि[6] सेवायां लिट् ॥१४॥ सुरेति । विविधधूपबलिकुसुमरुद्धपाणयः विविधैर्नानाप्रकारैर्धूपेन कालागरुधूपेन बलिना पूजाद्रव्येण कुसुमेन पुष्पेण च रुद्धा युक्ताः पाणयो हस्ता यासां ताः । मङ्गलमुखरमुखाम्बुरुहाः मङ्गलेन मङ्गलगानेन मुखरं वाचालं मुखमेव वदनमेवाम्बुरुहं कमलं यासां ताः । करिणीगताः करिणीः करेणूः[7] गता आरूढाः । सुरयोषितः सुराणां योषितो वनिताः । अग्रतः पुरस्तात् । समुपतस्थिरे समुपययुः । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् । रूपकम् ॥१५॥ चलित इति । सुरनाथनिवहपरिवारिते सुरनाथानां देवेन्द्राणां निवहेन निकायेन परिवारिते परिवृते । जिने जिनेशे । अभिमेरु मेरोरभिमुखम् । 'लक्षणेनाभिप्रत्याभिमुख्ये' इति अव्ययीभावः । चलिते याते सति । अथ अनन्तरम् । विबुधहस्तहताः विबुधानां देवानां हस्तैः पणिभिः हताः ताडिताः । प्रयाणपरिशंसिभेरिकाः प्रयाणं यात्रां[8] परिशंसिन्यः सूचिका भेरिका दुन्दुभयः । परितः

एक हजार नेत्र, कमलोंके वनकी भाँति विकसित हो उठे ॥१२॥ जिन बालकको देखते ही सभी देवोंके मुखसे जय जयकारकी ध्वनि निकालने लगी और वह खूब ही बढ़ी एवं सारे संसारमें फैलने लगी । इसी ध्वनिके बीचमें सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने जिन-बालकको अपने हाथोंमें लेकर अपने हाथीपर चढ़ा लिया ॥१३॥ और अन्य इन्द्र भी जो समीपमें ही खड़े हुए थे, और प्रगाढ़ भक्तिके भारसे जिनके मुकुटोंके शिखर झुके हुए थे, तथा जिनके हाथोंमें छत्र, कलश, दर्पण और चामर थे, जिन बालकको सेवा कर रहे थे ॥१४॥ देवियाँ हथिनियोंपर सवार होकर और अपने-अपने हाथोंमें अनेक प्रकारकी धूप, पूजा सामग्री तथा फूल लेकर मंगलगान करती हुई आगे-आगे चल रही थीं ॥१५॥ भगवान् चन्द्रप्रभ—जो अभी शिशु अवस्थामें थे—सभी ओरसे देवेन्द्रोंसे घिरे हुए थे—उनके चारों ओर देवेन्द्र खड़े हुए थे । ज्योंही उन्होंने सुमेरुकी ओर प्रस्थान किया त्यों ही जिधर देखो उधर देवोंके हाथोंमें स्थित प्रस्थान सूचक भेरियाँ

---

१. अ 'तेरिकाः । २. आ लङ् । ३. श 'शब्दे' इति नास्ति । ४. श 'हस्तधृत वपुष'' इति नोपलभ्यते । ५. = विधृतानि भृतानि । ६. आ भज । ७. श 'करेणूः' इति नास्ति । ८. = परिशंसन्तीति ।

सुरपेटकैः पटु नटद्भिरतिललितगीतवादितैः[1] ।
नृत्तमयमिव तदा सकलं सदिगन्तरं समभवन्नभस्तलम् ॥१७॥
भुवनातिशायिजिनरूपविनिहितविलोचनोत्पलैः ।
लङ्घितमपि बुबुधे विबुधैर्न सुराद्रिवर्त्म तदुपात्तविस्मयैः ॥१८॥
अथ ते परीत्य सुरशैलमुरुरुचिरचैत्यमन्दिरम् ।
पाण्डुकदृषदि सुरप्रमुखा हरिविष्टरे सुखमतिष्ठपञ्जिनम्[2] ॥१९॥
सुरपङ्क्तिमाशु विरचय्य कृतविततिमापयोम्बुधेः ।
चक्रुरमलतरदुग्धघटैरभिषेचनं त्रिदशलोकनायकाः ॥२०॥

समन्तात् । नेदुः ध्वनन्ति स्म । णद अव्यक्ते शब्दे लिट् ॥१६॥ सुरेति । अतिललितगीतवादितैः अतिललितमतिमनोहरं गीतस्य (गीतं गानं) वादितं वादनं (च) येषां तैः । पटु नटद्भिः पटु स्फुटं नटद्भिर्नृत्यद्भिः । सुरपेटकैः सुराणां पेटकैर्निकरैः । तदा गमनसमये । सदिगन्तरं दिगन्तरेण दिग्विवरेण सहितम् । नभस्तलं आकाशप्रदेशम् (शः) । नृत्यमयमिव नृत्यस्वरूपमिव । समभवत् समभूत् । लङ् । उपमा[3] ॥१७॥ भुवनेति । भुवनातिशायिजिनरूपविनिहितविलोचनोत्पलैः भुवनस्यातिशायिनि उत्कृष्टे जिनस्य जिनेशस्य रूपे विनिहितानि निक्षिप्तानि लोचनानि नयनानि तान्येवोत्पलानि कुवलयानि येषां तैः । तदुपात्तविस्मयैः तस्मिन् जिने उपात्तः कृतो विस्मयोऽद्भुतं[4] येषां तैः । सुराद्रिवर्त्म महामेरुमार्गः । लङ्घितमपि विलङ्घितमपि । विबुधैः सुरैः । न बुबुधे न जज्ञे । बुधि मनि ज्ञाने लिट् । रूपकम् ॥१८। अथेति । अथ महामेरुमार्गगमनानन्तरम् । उरुरुचिरचैत्यमन्दिरम् उरूणि महान्ति रुचिराणि मनोहराणि चैत्यमन्दिराणि चैत्यालया यस्मिन् तम् । सुरशैलं मेरुपर्वतम् । सुरप्रमुखाः सुराः कल्पवासिनः प्रमुखा आदयो येषां ते । ते सुरपादयो देवाः । परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य । पाण्डुकदृषदि पाण्डुकशिलायाम् । हरिविष्टरे सिंहासने । जिनं जिनेशम् । सुखं संतोषं यथा तथा । 'सुखमा...' इति वैजयन्ती[6] । अतिष्ठपन्[7] अथन्ति स्म लुङ् ॥१९॥ सुरेति । त्रिदशलोकनायकाः त्रिदशानां देवानां लोकस्य स्वर्गस्य नायका इन्द्राः । आ पयोम्बुधेः क्षीरसमुद्रपर्यन्तम् । कृतविततिं कृता विहिता विततिर्विस्तृतिर्यया ताम् । सुरपङ्क्तिं सुराणां देवानां पङ्क्तिं श्रेणिम्[8] । आशु शीघ्रम् । विरचय्य निर्माय । अमलतरदुग्धघटैः अष्टयोजनोदरव्यासैरेकयोजनमुखव्यासैः काञ्चनरजतगारुत्मतादिरत्ननिर्मितैर्निर्मलैर्दुग्धेन क्षीरेण पूर्णैर्घटैः ।

बजने लगीं ॥१६॥ सभी देव लोग अत्यन्त सुन्दर ढंगसे गाना गा रहे थे, बाजे बजा रहे थे और कलापूर्ण नृत्य कर रहे थे, जिससे सारी दिशाएँ और पूरा आकाश उस समय नृत्यमय दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥१७॥ जिनेन्द्र भगवान्का रूप लोकातिशायी था । सभी देवोंके नेत्र उसे देखनेमें लगे हुए थे और वे उसके बारेमें आश्चर्यका अनुभव कर रहे थे । फलतः सुमेरु पर्वतका मार्ग, जिसे वे लाँघ चुके थे, उन्हें ज्ञात ही नहीं हुआ कि कब निकल गया ॥१८॥ इसके पश्चात् उन सभी देवोंने—जिनमें इन्द्र प्रमुख थे—बड़े-बड़े सुन्दर जिनमन्दिरोंसे विभूषित सुमेरु पर्वतको परिक्रमा की, फिर उन्होंने पाण्डुक शिलापर रखे गये सिंहासनपर जिनभगवान्को सुख पूर्वक बैठा दिया ॥१९॥ फिर इन्द्रोंने सुमेरु पर्वतसे लेकर क्षीरसागर तक देवोंकी खूब लम्बी पंक्ति खड़ी करके (उनसे मगाये गये) अत्यन्त निर्मल दूधसे भरे हुए कलशोंसे जिन-

१. अ सुरपेटकैः पटुभिरतिगीतललितवादितैः । २. क ख ग घ म °तिष्ठयञ्जिनम् । ३. = उत्प्रेक्षा । ४. = आश्चर्यं यैः । ५. आ 'महा' इति नास्ति । ६. आ वैजयन्त्याम् । ७. = स्थापयामासुः । ८. श श्रेणीम् ।

अभिषिच्य तं ललितनृत्यमधुररवगीतवादितैः[1] ।
वज्रमयनिशितसूचिकया विविधुर्युगं श्रवणयोः सुरेश्वराः ॥२१॥
मणिकुण्डलाङ्गदकिरीटकटकरशनादिभूषणैः ।
दिव्यकुसुमवसनैश्च सुरास्तमभूषयंस्त्रिभुवनैकभूषणम् ॥२२॥
प्रविधाय ते समयमेकममरपतयः कृतोत्सवाः ।
चन्द्रसमरुचिरयं भगवानिति चन्द्रपूर्वममुमाह्वयन्प्रभुम् ॥२३॥
अथ भक्तितः प्रथमकल्पपतिरितरवासवान्वितः ।
स्तोतुमिति विरचिताञ्जलि[2] तं सहजत्रिबोधसहितं प्रचक्रमे ॥२४॥

अभिषेचनम् अभिषवणम् । चक्रुः विदधुः । लिट् । जातिः ॥२०॥ अभीति । सुरेश्वराः देवेन्द्राः । ललितनृत्यमधुररवगीतवादितैः ललितेन मनोहरेण नृत्येन मधुररवयुतेन मधुरध्वनियुक्तेन गीतेन वादितैर्नादितैः । तं जिनम् । अभिषिच्य अभिषवणं कृत्वा । वज्रमयनिशितसूचिकया वज्रमय्या निशितया क्रूराग्रया । सूचिकया सूच्या । श्रवणयोः कर्णयोः । युगं द्वन्द्वम् । विविधुः छिद्रं चक्रुः । विध विधाने लिट् ॥२१॥ मणीति । सुराः देवाः । मणिकुण्डलाङ्गदकिरीटकटकरशनादिभूषणैः कुण्डले कर्णवेष्टने च, अङ्गदे केयूरे च, किरीटं मकुटं च, कटके कङ्कणे च, रशना मेखला च तथोक्ताः, ता [3]आदिः येषां तानि तथोक्तानि, तानि च तानि भूषणानि च तथोक्तानि, मणिभी रत्नैर्निर्मितानि कुण्डलाङ्गदकिरीटरशनादिभूषणानि तैः । दिव्यकुसुमवसनैश्च दिव्यैः स्वर्गजैः कुसुममयैः पुष्पलिखितैर्वसनैर्दुकूलवस्त्रैः । त्रिभुवनैकभूषणं त्रिभुवनस्य त्रिजगत एकं मुख्यं भूषणमलंकारम् । तं जिनेशम् । अभूषयन् अलंकुर्वन्ति स्म । भूष अलंकारे[4] लङ् ॥२२॥ प्रविधायेति । कृतोत्सवाः[5] विहितसंभ्रमयुक्ताः । ते अमरपतयः देवेन्द्राः । भगवान् स्वामी । अयम् एषः । चन्द्रसमरुचिः चन्द्रस्य सोमस्य समा समाना रुचिः कान्तिर्यस्य सः, विधुनिभद्युतियुत इत्यर्थः । इति उक्त्वा । एकं मुख्यम् । समयं संकेतं, संज्ञाम् इति भावः । प्रविधाय कृत्वा । अमुम् एनम् । प्रभुं जिनेशम् । चन्द्रपूर्वं चन्द्रशब्दपूर्वयुतम्[6] । प्रभुं चन्द्रप्रभम् इत्यर्थः । आह्वयन् आकारयन्ति स्म । ह्वेञ् स्पर्धायां वाचि लङ् ॥२३॥ अथेति । अथ नामकरणानन्तरम् । इतरवासवान्वितः इतरैः शेषैर्वासवैरिन्द्रैरन्वितः सहितः । प्रथमकल्पपतिः प्रथमकल्पस्य सौधर्मकल्पस्य पतिः प्रभुः, सौधर्मेन्द्र इत्यर्थः । सहजत्रिबोधसहितं सहजैर्निसर्गजैः त्रिबोधैर्मतिश्रुतावधिरूपैः सहितः तम् । तं जिनम् । भक्तितः[7] स्वसामर्थ्यात् । स्तोतुं स्तवनाय । विरचिताञ्जलि विरचितोऽञ्जलि-

भगवान्का अभिषेक किया ॥२०॥ सुन्दर नृत्य, मधुर गान और बाजोंकी आवाजके साथ उनका अभिषेक करके इन्द्रोंने वज्रकी पैनी सुईसे उनके दोनों कानोंका छेदन किया ॥२१॥ तीनों लोकोंके एकमात्र भूषण स्वरूप भगवान् चन्द्रप्रभको देवोंने मणिमय कुण्डल, बाजूबन्द, मुकुट, कड़े, करधनी आदि आभूषणोंसे और दिव्य पुष्पों एवं वस्त्रोंसे विभूषित किया ॥२२॥ इस प्रकार उत्सव करके इन्द्रोंने, ये भगवान् चन्द्रमाके समान कान्तिसे युक्त हैं, इस आशयको प्रकट करनेवाला संकेत करके उन्हें 'चन्द्रप्रभ' नामसे पुकारा—उनका नाम 'चन्द्रप्रभ' रखा ॥२३॥ इसके उपरान्त अन्य इन्द्रोंके साथ सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने हाथ जोड़कर अपनी सामर्थ्यके अनुसार, जन्मसे ही तीन ज्ञानोंके धारी भगवान् चन्द्रप्रभकी स्तुति इस प्रकारसे प्रारम्भ की—॥२४॥

१. आ इ °वादित्रैः । २. अ क ख ग घ °ताञ्जलिः । ३. = आदौ । ४. श अलंकरणे । ५. = कृतो विहित उत्सव उद्यावो यैस्ते । ६. आ °र्वयुक्तम् । ७. आ शक्तितः । = (भक्तितः-गुणानुरागतः) ।

सकलावबोधमकलङ्कमनुपममचिन्त्यवैभवम् ।
जन्मरहितमजरामरणं जितमत्सरं जिनमभिष्टुवेऽष्टमम् ॥२५॥
स्तुतिशक्तिरस्ति न ममेश तदपि हितकाङ्क्षया[1] स्तुवे ।
शक्यमिदमिदमशक्यमिति प्रविचारबाह्यमतयो हि कार्यिणः ॥२६॥
हरिविष्टरस्थितमशेषजननयनहारि ते वपुः ।
कान्तिरुचिरमुदयाद्रिशिरोगतमिन्दुमण्डलमिवावभासते ॥२७॥
जिन यः समाश्रयति[2] मार्गमखिलजनवत्सलस्य ते ।
तस्य न भवभयमस्ति पुनः किमु नौश्रितो[3] जलनिधौ निमज्जति ॥२८॥
तव नाथ यश्चरणयुग्ममविचलितभक्ति[4] सेवते ।
तस्य किमु खलु करोति यमो नहि बाधते तुहिनमग्निसेविनम् ॥२९॥

र्यस्मिन् कर्मणि तत्० । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । प्रचक्रमे प्रारभे[5] । क्रमू पादविक्षेपे लिट् ॥२४॥ सकलेति । सकलावबोधं सकलेन सर्वेणावबोधेन युक्तम् । अकलङ्कं निर्मलम् (कलङ्करहितम्) । अनुपमम् उपमातीतम् । अचिन्त्यवैभवम् अचिन्त्यं ध्यातुमशक्यं वैभवं[6] यस्य तम् । जन्मरहितं जननरहितम् । जरामरणरहितम् । जितमत्सरं जितमात्सर्यम् । जिनं जिनेशम् । अष्टमं चन्द्रप्रभम् । अभिष्टुवे[7] अभिनौमि । जातिः ॥२५॥ स्तुतीति । ईश स्वामिन् । मम मे । स्तुतिशक्तिः स्तुतौ स्तोत्रकरणे शक्तिः सामर्थ्यम् । नास्ति । तदपि तथापि । हितकांक्षया हितस्यानन्तसुखस्य इच्छया [कांक्षया] वाञ्छया । स्तुवे स्तौमि । ष्टुञ् स्तुतौ लट् । कार्यिणः कार्ययुताः । इदं कार्यं शक्यमिदं कार्यमशक्यम् । इति एवम् । प्रविचारबाह्यमतयो हि प्रविचारात् परीक्षणाद् बाह्या मतिर्येषां ते । अर्थान्तरन्यासः ॥२६॥ हरीति । हरिविष्टरस्थितं हरिविष्टरे[8] सिंहासने स्थितम् । अशेषजननयनहारि अशेषाणां सकलानां जनानां नयनानां हारि मनोहरम् । कान्तिरुचिरं कान्त्या लावण्येन रुचिरं सुन्दरम् । ते भवतः । वपुः शरीरम् । उदयाद्रिशिरोगतम् उदयाद्रेरुदयपर्वतस्य शिरो अग्रभागं गतं यातम् । इन्दुमण्डलमिव इन्दोश्चन्द्रस्य मण्डलमिव बिम्बमिव । अवभासते विभाति[9] । भासृ[10] दीप्तौ लट् । उपमा ॥२७॥ जिनेति । जिन भो जिनेश । अखिलजनवत्सलस्य अखिलानां जनानां वत्सलस्य प्रीतस्य । ते भवतः । मार्गं रत्नत्रयधर्मम् । यः पुरुषः । समाश्रयति[11] भजते[12] । श्रिञ् सेवायां लट् । तस्य पुरुषस्य । भवभयं भवात् संसाराज्जातं भयम् । नास्ति । नौ श्रितः नावं यानपात्रं श्रित आरूढः । पुनः पश्चात् । जलनिधौ समुद्रे । निमज्जति [किमु] ? । डुमस्ज्[13] शुद्धौ लट् । अर्थान्तरन्यासः ॥२८॥ तवेति[14] ।

मैं समस्त ज्ञानोंसे युक्त, निष्कलंक, अनुपम, अचिन्त्य वैभवमय, जन्म, जरा और मरणसे रहित और मात्सर्यपर विजय पानेवाले अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रकी स्तुति करता हूँ ॥२५॥ हे भगवन् ! मुझमें आपकी स्तुति करनेकी शक्ति नहीं है, तो भी मैं अपने हितकी कामनासे आपकी स्तुति कर रहा हूँ। सच तो यह है कि अपने कामको सिद्ध करनेकी चाह रखनेवाले लोगोंकी बुद्धि 'यह शक्य है या अशक्य' इसविचारसे निश्चय ही दूर रहती है ॥२६॥ भगवन् ! सिंहासनपर विराजमान, सारे संसारके नेत्रोंको हरण करनेवाला, तुम्हारा कान्तिमय सुन्दर शरीर उदयाचलके शिखरपर स्थित चन्द्रमण्डलकी भाँति सुशोभित हो रहा है ॥२७॥ हे जिन ! सबके प्रति वात्सल्य भाव रखनेवाले आपके रत्नत्रय मार्गका जो कोई भी आश्रय लेता है, उसे पुनर्जन्मका भय नहीं रहता। क्या जहाजपर बैठनेवाला समुद्रमें डूबता है ? ॥२८॥ हे नाथ !

१. आ कांक्षिणः । २. आ इ समाश्रयते । ३. म नौस्थितो । ४. अ °लितातिभक्ति । ५. = प्रारेभे । ६. आ °मशक्यो वैभवो° । ७. = अभिष्टौमि । ८. श 'हरिविष्टरे' इति नास्ति । ९. श विभासि । १०. आ भासृञ्, श भासृङ् । ११. श °श्रयते । १२. आ भजति । १३. श डुमस्जि । १४. श अस्य श्लोकस्य व्याख्या नास्ति ।

तव दर्शनं जगदधीश विदधदजरामरं जगत् ।
कस्य न कथय रसायनवद्विदुषामभव्यमपहाय रोचते ॥३०॥
सुखमाश्रिताय जिननाथ वितरसि यदिच्छया विना ।
शक्तिरियमनघ ते सहजा किमु विस्रसा श्रमहरं न चन्दनम् ॥३१॥
स कृती कृतार्थमपि तस्य जगति कलयामि जीवितम् ।
यस्य हृदयसरसि स्फुरति प्रतिवासरं जिन तवाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥३२॥
सुरपूज्य यः सततमेव वहति हृदयेन नाम ते ।
मन्त्रकुशलमिव शाकिनिकाः प्रभवन्ति न च्छलयितुं तमापदः ॥३३॥

भो नाथ हे स्वामिन् । तव ते । चरण-युग्मं चरणयोर्युग्मं तयोक्तम् । अविचलितभक्ति अविचलिता निश्चला भक्तिर्गुणानुरागो यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा । सेवते । सेवृञ् सेवने । तस्य पुरुषस्य । यमः कालः । खलु[1] निश्चयम् । किं करोति । डुकृञ् करणे । तुहिनं हिमम् । अग्निसेविनम् अनिल (अनल-) सेविनम् आश्रययुक्तं पुरुषम् । न बाधते[2] हि न बाध्यते हि ॥२९॥ तवेति। जगदधीश जगतां लोकानामधीश स्वामिन् । जगत् लोकम् । अजरामरं जरामरणरहितम् । विदधत्[3] । तव भवतः । दर्शनं मतम् । विदुषां बुधानाम् । अभव्यम् अभव्यजीवम् । अपहाय विमुच्य । कस्य जीवस्य । रसायनवत्[4] अमृतवत् । न रोचते[5] न प्रीणयति । रुचि अभिप्रीत्याञ्च लट् । उपमा ॥३०॥ सुखमिति । जिननाथ भो जिनेश । अनघ पापरहित । ते भवतः । आश्रिताय[6] सेविताय । इच्छया विना अभिलाषेण विना । सुखम् आनन्दम् । वितरसि ददासि । तु[7] प्लवन-तरणयोर्लट् । इति. यत् यस्मात् । इयम् एषा । सहजा स्वाभाविका । शक्तिः सामर्थ्यम् । चन्दनं श्रीगन्धः। विस्रसा स्वभावेन । श्रमहरं परिश्रमवारणम् । न किमु न किम् ? किन्तु श्रमहरमेव । अर्थान्तरन्यासः ॥३१॥ स इति । जिन भो जिनेश । यस्य पुरुषस्य । हृदयसरसि हृदयमेव सरस्तस्मिन् । तव भवतः । अङ्घ्रिपङ्कजम् अङ्घ्रिरेव पाद एव पङ्कजं कमलम् । प्रतिवासरं प्रतिदिनम् । स्फुरति शोभते । स्फुर स्फुरणे लट् । सः पुरुषः । जगति लोके । कृती पुण्यवान् । तस्य पुरुषस्य । जीवितमपि जीवनमपि । कृतार्थं संपूर्णप्रयोजनम् । कलयामि मन्ये । कल संख्याने लट् ॥३२॥ सुरेति । सुरपूज्य सुरैर्देवैः पूज्य आराधनीय, भो देवाराध्य । यः पुरुष. । ते भवतः । नाम नामधेयम् । सततमेव अनवरतमेव । हृदयेन चित्तेन । वहति धरति । वहि[8] प्रापणे लट् । तं पुरुषम् । शाकिनिकाः दुष्टग्रहाः । मन्त्रकुशलमिव मन्त्रेष्वाकर्षणादिमन्त्रेषु कुशलमिव निपुणमिव । आपदः

जो भी स्थिर भक्तिसे आपके चरणोंकी सेवा करता है, यमराज (मृत्यु) उसका क्या कर सकता है ? आग तापनेवालेको जाड़ा नहीं सता पाता ॥२९॥ हे जगन्नाथ ! सारे संसारको अजर और अमर कर देनेवाला आपका दर्शन रसायनके समान है । वह अभव्यको छोड़कर, बताइये और किस विद्वान्‌को नहीं रुचता ? ॥३०॥ भगवन् ! आप रागादि कषायोंके विजेता हैं, सबके स्वामी हैं और हैं निष्पाप । आपका जो कोई भी आश्रय लेता है, उसे आप सुख देते हैं, वह भले ही उसे (सुखको) पानेके लिए अपनी इच्छाको व्यक्त न करे । यह आपकी स्वाभाविक शक्ति है । क्या चन्दन स्वभावसे ही थकानको दूर करनेवाला नहीं होता ? ॥३१॥ हे जिन ! वह पुण्यात्मा है और मैं उसके जीवनको इस जगत्‌में कृतकृत्य समझता हूँ, जिसके हृदय रूपी सरोवरमें प्रतिदिन आपके चरण-कमल सुशोभित हुआ करते हैं ॥३२॥ भगवन् ! आपको देव लोग भी पूज्य मानते हैं । जो मनुष्य आपके नामका सदा हृदयसे स्मरण करता है, उसे आपदाएँ छल नहीं सकतीं—पीड़ा नहीं दे सकतीं । जैसे कुशल मान्त्रिकको शाकिनी-डाकिनी नहीं छल

---

१. =निश्चयेन । २. =न पीडयति । ३. =कुर्वत् । ४. =जराव्याधिजिदौषधमिव । ५. =न स्वदते । ६. =आश्रयं प्राप्ताय । ७. श तु । ८. आ वह ।

मतिमातनोति हरतेऽघमुपनयति सर्वसंपदः।
किं तदधिप विदधाति न यद्भवदङ्घ्रिपङ्करुहसेवनं नृणाम्[1] ॥३४॥
सकलोऽप्यपेक्ष्य किमपीश परहिततरतः प्रजायते।
न क्वचिदियमुपलब्धचरी तव निर्व्यपेक्षभुवनोपकारिता ॥३५॥
हरयोऽभिषेकमुपगम्य विदधति शची प्रसाधिका।
वारि वहति निवहो द्युसदामपरस्य कस्य महिमा जिनेदृशः ॥३६॥
पशवोऽपि संनिधिमवाप्य तव जिन भवन्ति भाक्तिकाः।
मानुषतनुरपि यस्तु मतिं त्वयि नातनोतु स पशुः पशोरपि ॥३७॥
भयरोगशोकमरणानि भयभव[1] विचित्रवेदनाः।
तावदभव भजते भवभृत्त्वयि यावदस्य हृदयं न लीयते ॥३८॥

विपत्तयः। छलयितुं पीडितुम्। न प्रभवन्ति समर्था न भवन्ति। लट्। उपमा ॥३३॥ मतिमिति। अधिप भो स्वामिन्। भवदङ्घ्रिपङ्करुहसेवनं भवतस्तवाङ्घ्री पादावेव पङ्करुहं कमलं तस्य सेवनम्। नृणां[2] मनुष्याणाम्। मतिं बुद्धिम्। आतनोति करोति। अघं पापम्। हरते निराकरोति। सर्वसंपदः सर्वसंपत्तीः। उपनयति संपादयति। यत् कार्यम्। न विदधाति न करोति। तत् कार्यम्। किमस्ति? नास्तीत्यर्थः ॥३४॥ सकल इति। ईश भो स्वामिन्। सकलोऽपि सर्वोऽपि जनः। किमपि। प्रयोजनम्। अपेक्ष्य उद्दिश्य[3]। परहितरतः परेषामन्येषां हिते उपकारे रतः प्रीतः। प्रजायते संभवति। लट्। तव भवतः। इयम् एषा। निर्व्यपेक्षभुवनोपकारिता निर्व्यपेक्षा अपेक्षारहिता भुवनस्य लोकस्योपकारिता उपकारित्वम्। क्वचित् कुत्रापि। नोपलब्धचरी प्रागुपलब्धा न भवति ॥३५॥ हरय इति। जिन भो जिनेश। हरयः इन्द्राः। उपगम्य आगत्य। अभिषेकम् अभिषवणम्। विदधति कुर्वन्ति। शची शची देवी। प्रसाधिका[4] अलंकारिता। द्युसदां देवानाम्। निवहः समूहः। वारि क्षीरोदकम्। वहति धरति। अपरस्य अन्यस्य। कस्य। ईदृशः[5] एतादृशः। महिमा अस्ति, किन्तु नास्तीत्यर्थः अतिशयः ॥३६॥ पशव इति। जिन भो जिनेश। पशवोऽपि तिर्यञ्चोऽपि। तव भवतः। संनिधिं समीपम्[6]। अवाप्य लब्ध्वा। भाक्तिकाः भक्तियुक्ताः। भवन्ति। लट्। यस्तु पुरुषः। मानुषतनुरपि मानुष्या मनुष्यसंबन्धिन्या तन्वा शरीरेण युतोऽपि। त्वयि भवति। मतिं भक्तिबुद्धिम्। नातनोति न करोति। लट्। सः पुरुषः। पशोरपि तिरश्चोऽपि। पशुः[7] पशुजातिः। आक्षेपः ॥३७॥ भयेति। अभव संसाररहित। अस्य संसारिणः। हृदयं मानसम्। [यावत्] यावत् पर्यन्तम्। त्वयि भवति। न लीयते

सकतीं ॥३३॥ हे स्वामिन्! आपके चरण-कमलोंकी सेवा-शुश्रूषा मानवोंकी बुद्धिको विकसित करती है, पापोंको दूर करती है, सारी सम्पदाओंको समीपमें ला देती है। फिर और क्या है जिसे वह नहीं करती? ॥३४॥ हे ईश! सभी लोग किसी-न-किसी स्वार्थसे दूसरोंके हितमें प्रवृत्त होते हैं, पर आपकी यह लोकोपकारकी प्रवृत्ति सर्वथा निःस्वार्थ है। वस्तुतः ऐसी प्रवृत्ति इस लोकमें अभी तक कहीं भी नहीं पाई गयी ॥३५॥ हे जिन! आपके सिवा और किसकी ऐसी महिमा है जिसका अभिषेक स्वयं इन्द्र (स्वर्गसे) आकर करें, इन्द्राणी शृंगार करे और देवोंका वृन्द जल भरकर लावे? ॥३६॥ हे जिन! समीपमें आकर पशु भी आपके भक्त हो जाते हैं। पर जो मानव-देहको पाकर भी अपनी बुद्धिको आपकी ओर नहीं लगाता—आपका भक्त नहीं बनता वह पशुसे भी बढ़कर पशु है—पशुसे भी गया बीता है ॥३७॥ हे भगवन्! आप भव परम्परासे मुक्त हैं। जिस संसारी जीवका हृदय जब तक आपमें लीन नहीं रहता,

१. क ख ग घ म भवभय। २. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'नृणाम्' इत्यस्ति। ३. श आदिश्य। ४. = प्रसाधिका अलंकर्त्री। ५. श ईदृक्। ६. = सामीप्यम्। ७. = पशुतोऽपि निकृष्ट इत्यर्थः।

नम इत्यपि त्वयि जिनेन्द्र विनिगदितमक्षरद्वयम् ।
पापमखिलमपहन्ति नृणामपरस्तु वाग्विभव एव वाग्मिनाम् ॥३९॥
इति संप्रधार्य भुवनेश भवति विनुतिः प्रबन्धतः[1] ।
सिद्धनुतिकृतफलेन मया न वितन्यते जिन ततो नमोऽस्तु ते ॥४०॥
तमिति प्रणुत्य गुरुभक्तिभरनततनुः पुरंदरः ।
सोत्सवमनयत चन्द्रपुरीं परिवारितः सुरगणेन नृत्यता ॥४१॥
प्रविधाय तत्र पुनरेव मुदितहृदया महोत्सवम् ।
भेजुरमरनिवहाः स्वभुवं विनिवेद्य तं [2]जनकयोर्जिनार्भकम् ॥४२॥

न संबध्यते । लीङ्[3] श्लेषणे कर्मणि लट्[4] । [तावत्] तावत्पर्यन्तम् । भवभृत् संसारी । भयरोगशोकमरणानि भीतिरोगदुःखमरणानि । भवभवविचित्रवेदनाः भवे भवे जन्मजन्मान्तरे दुःखानि, भवे संसारे भवा उत्पन्ना विचित्रा बहुविधा वेदनाः तीव्रपीडाः, इति च । भजते श्रयते । भजि[5] सेवायां लट् ॥३८॥ नम इति । जिनेन्द्र जिननाथ । त्वयि भवति । गदितं प्रोक्तम् । 'नमः' इति । अक्षरद्वयमपि वर्णद्वयमपि । नृणां जनानाम् । अखिलं सकलम् । पापं दुरितम् । अपहन्ति हिनस्ति । हन हिंसागत्योः लट् । अपरस्तु इतरस्तु । वाग्मिनां वाक्चतुराणाम् । वाग्विभव एव वाचो वचनस्य विभव एव रचनैव[6] ॥३९॥ इतीति । भुवनेश लोकेश । इति 'नमः' इत्यक्षरद्वयमपि पापमपहरति, इति संप्रधार्य निश्चित्य । भवति त्वयि । विनुतिः स्तोत्रम् । सिद्धनुतिकृतफलेन सिद्धया निष्पन्नया नुत्या स्तुत्या कृतं विहितं फलं प्रयोजनं यस्य तेन । मया । प्रबन्धतः विस्तरतः । न वितन्यते न क्रियते । कर्मणि लट् । जिन भो जिनेन्द्र ततः तस्मात् । ते तुभ्यम् । नमः नमनम् । अस्तु भूयात् । लोट्[7] ॥४०॥ तमिति । गुरुभक्तिभरनततनुः गुर्व्या महत्या भक्त्या गुणानुरागस्य भरेण भारेण नता विनता तनुर्यस्य सः । पुरंदरः देवेन्द्रः । 'पुरंदरभगंदर' इत्यादिना साधुः । तं चन्द्रप्रभजिनम् । इति एवम् । प्रणुत्य स्तुत्वा । नृत्यता[8] नर्तयता । सुरगणेन सुराणां देवानां गणेन निकायेन । परिवारितः परीतः । चन्द्रपुरीं चन्द्रपुरम् । सोत्सवं संभ्रमसहितं यथा तथा । अनयत प्रापयति स्म । णीञ् प्रापणे लङ् ॥४१॥ प्रविधायेति । तत्र चन्द्रपुर्याम् । मुदितहृदयाः मुदितं संतुष्टं हृदयं चित्तं येषां ते । अमरनिवहाः अमराणां निवहा निकायाः । पुनरेव पश्चाद्[9] एव । महोत्सवं महासंभ्रमम् । प्रविधाय कृत्वा । जनकयोः मातृपित्रोः[10] तं जिनार्भकं जिनबालकम् । विनिवेद्य विज्ञाप्य । स्वभुवं स्वेषां

तभी तक वह भय, रोग, शोक, मरण और भवभवकी विविध वेदनाओंको प्राप्त करता है ॥३८॥ हे जिनेन्द्र ! आपके विषयमें श्रद्धासे कहे गये 'नमः' ये दो अक्षर भी, कहनेवाले—नमस्कार करनेवाले मनुष्योंके सारे पापोंको नष्ट कर देते हैं । और तो वक्ताओंकी वाणीका केवल वैभव ही है ॥३९॥ 'नमस्कार करने मात्रसे समस्त पाप विलीन हो जाते हैं', यह सोचकर मैं पूर्ण-स्तुतिकृत फलके निमित्तसे विस्तारपूर्वक आपकी स्तुति नहीं कर रहा हूँ । अतः हे जिन, आपको मेरा नमस्कार हो ॥४०॥ इस प्रकार स्तुति करके इन्द्रने अत्यधिक भक्तिसे विभोर होकर चन्द्रप्रभके सामने अपने शरीरको नवा दिया—साष्टांग नमस्कार किया और फिर वह नृत्य करते हुए देववृन्दके साथ चन्द्रप्रभको उत्सवपूर्वक चन्द्रपुरी लिवा ले गया । चन्द्रपुरी जाते समय इन्द्र बीचमें था और सभी नृत्य करनेवाले देव उसके चारों ओर ॥४१॥ चन्द्रपुरीमें, प्रसन्न मन वाले सभी देवोंने फिरसे उत्सव मनाया और फिर वे जिन बालकको उनके माता-

१. क ख ग घ म प्रबन्धता । २. म जनवयो° । ३. आ लिट्, श लीञ् । ४. आ लिट् । ५. श भज । ६. =वागाडम्बर एव । ७. श लेट् । ८. = नटता । ९. = अपि । १०. = जननीजनकयोः ।

[1]स्वकराङ्गुलीर्निजमुखेन विबुधपतियोजितामृताः[2] ।
प्रीतिविकसितमुखः स लिहन्न चकार मातृकुचयोरतिस्पृहाम्[3] ॥४३॥
विदधज्जितस्फटिककान्तिरखिलजनलोचनोत्सवम् ।
वृद्धिमभजत जिनाधिपतिः प्रतिपच्छशाङ्क इव सोऽनुवासरम् ॥४४॥
तमरीरमत्सुरकुमारसमितिरभिगम्य सुन्दरम् ।
पौरजनहृदयहृष्टिकरैः करकन्दुकप्रभृतिभिर्विनोदनैः ॥४५॥
प्रकृतिस्फुटं ग्रहगणस्य गमनमिव चापलं शिशोः ।
क्रीडनमकृत पृथग्जनवत्प्रतिबुद्धबुद्धिरपि यज्जिनेश्वरः[5] ॥४६॥

स्वकीयानां भुवम् आवासम् । भेजुः आश्रयन्ति स्म । लिट् ॥४२॥ स्वकरेति । विबुधपतयः[6] (?) विबुधानां देवानां पतय इन्द्राः । जितामृताः जितममृतं सुधा यासां[7] ताः । स्वकराङ्गुलीः स्वस्यात्मनः करस्य हस्तस्याङ्गुलीः करशाखाः । निजमुखेन स्ववदनेन । लिहन् आस्वादयन् । प्रीतिविकसितमुखः प्रीत्या संतोषेण विकसितं मुखं वदनं यस्य सः । मातृकुचयोः मातुर्जनन्याः कुचयोः स्तनयोः । अतिस्पृहाम् अधिकवाञ्छाम् । न चकार न करोति स्म । लिट् । समासोक्तिः (?) ॥४३॥ विदधदिति । जितस्फटिककान्तिः जिता विजिता स्फटिकस्य कान्तिः शोभा यस्य[8] सः । अखिलजनलोचनोत्सवम् अखिलानां सकलानां जनानां लोकानां नयनानामुत्सवं संतोषम् । विदधत् कुर्वन् । सः जिनाधिपतिः जिनेश्वरः । अनुवासरम् अनुदिनम् । प्रतिपच्छशाङ्क इव प्रतिपद्दिनस्य शशाङ्क इव चन्द्र इव । वृद्धिं प्रवृद्धिम् । अभजत आश्रयति स्म । लङ् । उपमा ॥४४॥ तमिति । सुरकुमारसमितिः सुरकुमाराणां देवकुमाराणां समितिः समूहः । सुन्दरं मनोहरम् । तं जिनम् । अभिगम्य अभ्युपेत्य । पौरजनहृदयहृष्टिकरैः पौराणां जनानां लोकानां हृदयस्य मानसस्य हृष्टिकरैः संतोषकरैः । करकन्दुकप्रभृतिभिः करकन्दुकः[9] प्रभृतिर्येषां तैः । विनोदैः विलासैः । अरीरमत् रमयति स्म । रमि क्रीडायां णिजन्ताल्लङ् । जातिः ॥४५॥ प्रकृतीति । शिशोः बालकस्य । चापलं चञ्चलत्वम् । ग्रहगणस्य ग्रहाणामष्टाशीतिग्रहाणां गणस्य निवहस्य । गमनमिव गतिरिव । प्रकृतिस्फुटं प्रकृत्या स्फुटं[10] व्यक्तम् जिनेश्वरः जिननाथः । प्रतिबुद्धबुद्धिरपि प्रतिबुद्धा ज्ञाता बुद्धिः सम्यग्ज्ञानं[11] यस्य सः, विदितसम्यग्ज्ञानयुक्तोऽपि । पृथग्जनवत् अज्ञानिजनवत् । यत् कारणात् । क्रीडनं विनोदम् । अकृत करोति स्म ।

पिताको सौंपकर अपने-अपने निवास स्थानमें चले गये ॥४२॥ जिन-बालक चन्द्रप्रभ अपने हाथकी अंगुलियोंको मुखसे चूसा करते थे, जिनमें इन्द्रोंने अमृतका लेप कर दिया था । अतएव उन्हें अपनी माँके दूधकी विशेष चाह नहीं रहती थी, और उनका मुख प्रीतिसे कमलकी भाँति विकसित रहता था ॥४३॥ चन्द्रप्रभकी कान्ति स्फटिक मणिकी कान्तिको मात करनेवाली थी । वे लोगोंके नेत्रोंको आनन्द प्रदान करते थे । वे प्रतिपत्के चन्द्रमाकी भाँति प्रतिदिन क्रमसे वृद्धिगत हो रहे थे । शुक्ल पक्षका चन्द्रमा जिस तरह प्रतिदिन वृद्धिगत होता है उसी तरह चन्द्रप्रभ भी वृद्धिगत हो रहे थे ॥४४॥ जिन-बालक अत्यन्त सुन्दर थे । देव कुमार उनके पास आकर उन्हें गेंद आदिसे नाना प्रकारके मनोरञ्जक खेल खिलाते थे, जिन्हें देखकर पुरवासी लोग मन-ही-मन बड़े प्रसन्न होते थे ॥४५॥ ग्रहचक्रका गमन जिस प्रकार स्वभावतः स्पष्ट है इसी प्रकार जिनबालक चन्द्रप्रभका चपल स्वभाव भी स्वभावतः स्पष्ट है; क्यों कि वे विशिष्ट बुद्धि-

१. अ °कराङ्गुलीं । २. अ °पतयो जितामृताम् । ३. °रपि स्पृहाम् । ४. म °बद्धबु° । ५. अ °रपि तनुर्जिनेश्वरः । ६. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु सर्वास्वपि 'विबुधपतियोजितामृताः' इत्येव वर्तते । ७. = यासु । ८. = येन । ९. आ °कन्दुका । १०. आ 'प्रकृत्या स्फुटं' इति नास्ति । ११. श ज्ञाता बुद्धिर्यस्य ज्ञानं ।

विचरन्स कुट्टिममहीषु परिजनकराङ्गुलिश्रितः[1] ।
मन्दनिहितचरणो रुरुचे सरसीषु हंस इव भासुरद्युतिः[2] ॥४७॥
शुशुभे करात्करतलानि सकलसुहृदां स संचरन् ।
दीधितिरुचिरवपुर्वणिजामविबुद्धमूल्य इव वारिधेर्मणिः ॥४८॥
[3]मणिमुद्रिकाकटकहारवसनरसनादिभूषणम् ।
तस्य सुरपतिगिरा धनदः प्रजिघाय सर्वमपि शैशवोचितम् ॥४९॥
स कुमारयोग्यजलकेलिगजतुरगरोहणादिभिः ।
कर्मभिरतिशयितान्यजनैरनयत्कियन्तमपि कालमूर्जितः ॥५०॥

लुङ् । उपमा ॥४६॥ विचरन्निति । परिजनकराङ्गुलिश्रितः परिजनानां सेवकजनानां कराणां हस्तानामङ्गुलिं श्रितोऽवलम्बितः । मन्दनिहितचरणः मन्दं[4] मृदु निहितौ निक्षिप्तौ चरणौ यस्य[5] सः । भासुरद्युतिः भासुरा देदीप्यमाना द्युतिः कान्तिर्यस्य सः । कुट्टिममहीषु कुट्टिमे रत्नकुट्टिमैर्निष्पन्नासु महीषु भूमिषु । विचरन् संचरन् । सः जिनबालः । सरसीषु सरोवरेषु । हंस इव मराल इव । रुरुचे भाति स्म । रुचि दीप्तौ लिट् । उपमा ॥४७॥ शुशुभ इति । सकलसुहृदां सकलानां सर्वेषां सुहृदां मित्राणाम् । करात् हस्तात् । करतलानि हस्ततलानि । संचरन् गच्छन् । दीधितिरुचिरवपुः दीधित्या कान्त्या रुचिरं चारु वपुः शरीरं यस्य सः । सः जिनबालकः । वणिजां विशाम् । अविबुद्धमूल्यः अविबुद्धमज्ञातं मूल्यं[6] विक्रेयं यस्य सः । वारिधेः समुद्रस्य । मणिरिव रत्नमिव । शुशुभे शोभते स्म । शुभि दीप्तौ लिट् । उपमा ॥४८॥ मणीति[7] । मणिमुद्रिकाकटकहारवसनरशनादिभूषणं मणिमुद्रिका रत्नाङ्गुलीयकं कटकं हस्तभूषणं हारो मौक्तकमाला वसनं क्षौमं रसना कटिभूषणमेतानि[8] आदीनि प्रभृतीनि यस्य तद् भूषणमलंकरणम् । शैशवोचितं शैशवस्य बाल्यस्योचितं योग्यम् । सर्वमपि सकलमपि । तस्य जिनबालकस्य । धनदः कुबेरः सुरपतिगिरा सुराणां देवानां पतिरिन्द्रः तस्य गिरा वचनेन । प्रजिघाय प्रेषयति स्म । लिट् ॥४९॥ स इति । ऊर्जितः[9] प्रसिद्धः[10] । सः जिनबालकः अतिशयितान्यजनैः अतिशयिताः[11] अतिशयीकृताः अन्ये इतरे जना लोका यैस्तैः । कुमारयोग्यजलकेलिगजतुरगरोहणादिभिः कुमारस्य योग्यान्युचितानि जलकेलिहर्जलक्रीडा च गजानां करिणां तुरगाणामश्वानामारोहणं [रोहणम् आरोहणं] च तथोक्तानि तान्यादीनि येषां तैः । कर्मभिः कृत्यैः । कियन्तमपि किं प्रमाणमस्य

से युक्त होकर भी जन-साधारणकी तरह क्रीड़ा किया करते थे ॥४६॥ जिनबालक चन्द्रप्रभके चेहरेपर अपूर्व दीप्ति थी । जब वे अपने परिवार या सेवकके हाथकी अंगुलीके सहारे फर्शपर धीरे-धीरे पैर जमाकर घूमते थे तब सरोवरमें धीरे-धीरे तैरनेवाले हंसकी भाँति सुशोभित होते थे ॥४७॥ जिनबालकके शरीरपर कान्तिकी अपूर्व सुषमा थी । वे महासेनके मित्रोंके हाथोंमें बारी-बारीसे संचार करते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे जगमगाता हुआ समुद्रका रत्न—जिसका मूल्य नहीं आंका गया हो—जौहरियोंके हाथोंमें बारी-बारीसे पहुँचकर शोभित होता है ॥४८॥ इन्द्रकी आज्ञाके अनुसार कुबेर जिनबालकके लिए उनके बाल्यकालमें पहनने योग्य मणिजटित अँगूठियां, कड़े, हार, करधनी एवं वस्त्र आदि सभी आभूषण भेजा करता था ॥४९॥ जिनबालक बहुत बलवान् थे । उन्होंने अपने बचपनके कुछ कालको जड़क्रीडा एवं हाथी-घोड़ोंकी सवारी आदिमें बिताया । उनकी जल-क्रीड़ा तथा हाथी-घोड़ोंकी सवारी आदि

१. अ आ इ °लीः श्रितः । २. म वासरद्युतिः । ३. इ 'मणि' इति नोपलभ्यते । ४. = शनैः शनैः । ५. = येन । ६. = अर्घः । ७. श एतच्छ्लोकटीका तु मूले नोपलभ्यते तथापि विरच्य लिख्यते । ८. = आदौ यस्मिन् । ९. श ऊजितः । १०. = 'बलवान्' इति स्यात् । ११. = अतिक्रान्ताः ।

हरिपीठमास्थितवतोऽथ निखिलनिजपार्थिवान्वितः ।
तस्य विरचितविवाहविधेरकरोत्पिता नृपतिपट्टबन्धनम् ।।५१।।
प्रशशास पूज्यवचनस्य स पितुरुपरोधतो महीम् ।
मुक्तिसुखविनिहितैकमतेर्नहि तस्य क्वापि विषयाभिलाषिता ।।५२।।
वसुधामवत्यतुलधाम्नि चतुरुदधिवारिमेखलाम् ।
तत्र भृशमभिननन्द[3] जनो जनवृद्धिहेतुरुदयो हि तादृशाम् ।।५३।।
न बभूव कस्यचिदकालमरणमखिलेषु जन्तुषु ।
जातुचिदपि न जनाकुलतां व्यदधादवृष्टिरतिवृष्टिरेव वा ।।५४।।

कियान्, तम् । कालं समयम् । अनयत्[४] प्रापयत् णीञ् प्रापणे लङ् । जातिः ।।५०।। हरीति । अथ कुमारावस्थानन्तरम् । निखिलपार्थिवान्वितः निखिलैः सकलैः पार्थिवैः राजभिरन्वितो युक्तः । पिता जनकः । हरिपीठे[५] सिंहासने आस्थितवतः आसितस्य । 'शीङ्स्थासोऽधेराधारः' इति आधारे द्वितीया । विरचितविवाहविधेः विरचितो विहितो विवाहस्य पाणिग्रहणस्य विधिर्यस्य । तस्य[६] जिनेशस्य । नृपतिपट्टबन्धनं नृपतीनां पट्टबन्धनम् । अकरोत् करोति स्म । लङ् ।।५१।। प्रशशासेति । पूज्यवचनस्य पूज्यमाराध्यं वचनं यस्य तस्य । पितुः जनकस्य । उपरोधतः[७] प्रार्थनातः । सः चन्द्रनाथः । महीं भूमिम् । प्रशशास पालयति स्म । शासु अनुशिष्टौ लिट् । मुक्तिसुखविनिहितैकमतेर्मुक्तेर्मोक्षस्य सुखे विनिहिता स्थापिता एका मुख्या मतिर्बुद्धिर्यस्य[८] तस्य । तस्य महासेनराजस्य । क्वापि कीदृश्यपि । विषयाभिलाषिता विषयलोलुपत्वम् । नहि नास्त्येव[९] ।।५२।। वसुधेति । अतुलधाम्नि अतुलं निरुपमं धाम तेजो यस्य तस्मिन्[१०] । तत्र चन्द्रप्रभे[११] । चतुरुदधिवारिमेखलां चतुर्णामुदधीनां समुद्राणां वारि जलं मेखला काञ्चीदाम यस्यास्ताम् । वसुधां भूमिम् । अवति रक्षति सति । जनः प्रजा । भृशम् अत्यन्तम् । अभिननन्द तुतोष । टुनदु समृद्धौ लिट् । तादृशाम्[१२] एतादृशां जिनादीनाम् । उदयः अभ्युदयः । जनवृद्धिहेतुः जनानां लोकानां वृद्धेरैश्वर्यस्य हेतुः कारणं हि । अर्थान्तरन्यासः ।।५३।। नेति । अखिलेषु सकलेषु । जन्तुषु प्राणिषु । अकालमरणम् अपमृत्युः, कदलीघात इत्यर्थः । कस्यचिदपि कस्यापि प्राणिनः । न बभूव न भवति स्म । अवृष्टिः अवर्षणम् । अतिवृष्टिरेव वा अतिवर्षणमेव वा । जातुचिदपि सकृदपि । जनाकुलतां जनानां प्रजानामाकुलतां[१३] पीडनत्वम् । न व्यदधात् नाकरोत् । लङ् । अति-

कामोंमें जो विशेषता थी, वह अन्य लोगोंमें नहीं थी ।।५०।। बाल्यकाल समाप्त होनेपर राजा महासेनने चन्द्रप्रभका विवाह-संस्कार किया, जिसमें उनके पक्षके सभी राजे सम्मिलित हुए थे । इसके पश्चात् उन्हें सिंहासनपर बैठाकर उनके पिताने उनका पट्टबन्धन किया ।।५१।। पिताके वचनको वे (आगमकी भाँति) पूज्य समझते थे, अतः उनके अनुरोधसे उन्होंने (चन्द्रप्रभने) पृथिवीका शासन किया । किन्तु उनका मन मुक्ति सुखकी ओर लगा हुआ था । फलतः उन्हें किसी भी इन्द्रिय-विषयके सुखकी अभिलाषा नहीं थी ।।५२।। राजा चन्द्रप्रभका तेज अनुपम था । चारों समुद्रोंकी सीमासे घिरी हुई पृथिवीका जब उन्होंने शासन किया, तब प्रजाके लोगोंको बहुत ही अधिक आनन्द हुआ, और वे खूब ही समृद्ध हुए; क्योंकि सच तो यह है कि ऐसे महान् पुरुषोंका उदय लोगोंके अभ्युदयको बढ़ानेका कारण होता है ।।५३।। चन्द्रप्रभके शासनकालमें किसी प्राणीका अकाल मरण नहीं हुआ और न अवृष्टि—सूखा या अतिवृष्टिने भी कभी

१. अ निखिलजन° । २. म °विवाहविधि° । ३. अ °मति ननन्द । ४. = यापयामास । ५. = हरिपीठं सिंहासनम् । ६. श 'तस्य' इति नास्ति । ७. = आग्रहतः । ८. = येन । ९. आ क्वापि कुत्रापि । विषयाभिलाषिता विषयेषु पञ्चेन्द्रियगोचरेषु अभिलाषिता प्रीतित्वं न भवति हि । समासोक्तिः ।।५२।। १०. श अतितेजस्विचन्द्रप्रभनृपे । ११. श 'चन्द्रप्रभे' इति नास्ति । १२. = हि यतः । तादृशाम् । १३. = व्याकुलताम् ।

न समीरणः श्रवणभेदिपरुषरवदारुणो ववौ ।
नास्पदमलभत रोगगणः समपादि नातिहिममुष्णमेव वा ॥५५॥
न विबाधनं जनपदस्य समजनि कदाचिदीतिभिः ।
क्रूरमृगसमुदयोऽप्यभवन्न पुरैव[1] हिंसनविषक्तमानसः ॥५६॥
तमुपायनैः समुपगम्य सदसि परचक्रपार्थिवाः ।
द्वाःस्थकथितनिजनामकुलाः शिरसा प्रणेमुरवनीतलस्पृशा[2] ॥५७॥
रजनीमहश्च स विभज्य विबुधनुतबुद्धिरष्टधा ।
कर्मभिरनयत सर्वजगन्नयमार्गदर्शनपरो यथोचितैः ॥५८॥
तमुपेत्य शक्रवचनेन नरपतिसहस्रमध्यगम् ।
भेजुरमरवनिता विविधैः प्रतिवासरं ललितगीतनर्तनैः ॥५९॥

शयः ॥५४। नेति । श्रवणभेदिपरुषरवदारुणः श्रवणौ कर्णौ भेदिना विदारिणा परुषेण[3] कठिनेन रवेण ध्वनिना दारुणो भयंकरः । अनिलः[4] वायुः । न ववौ न वाति स्म । रोगगणः रोगाणां व्याधीनां गणः समूहः । आस्पदं स्थितिम् । नालभत न प्राप्नोति स्म । डुलभिष् प्राप्तौ लङ् । अतिहिमम् अतिशीतम् । उष्णमेव वा । न समपादि न समुत्पद्यते स्म । पदि गतौ लुङ् ॥५५॥ नेति । जनपदस्य देशस्य । ईतिभिः अतिवृष्ट्यादिभिः । कदाचित् एकदापि । विबाधनं पीडा । न समजनि न जन्यते स्म । कर्मणि लुङ् । पुरैव प्रागेव । हिंसनविषक्तमानसः हिंसने हिंसायां विषक्तं मानसं यस्य सः । क्रूरमृगसमुदयोऽपि क्रूराणां मृगाणां समुदयः समूहोऽपि । नाभवत् नाभूत् । लुङ् । ॥५६॥ तमिति । परचक्रपार्थिवाः परचक्रस्य परराष्ट्रस्य पार्थिवा भूमिपाः । उपायनैः उपग्राह्यैः सह । समुपगम्य समागत्य । द्वास्थकथितनिजनामकुलाः द्वास्थैर्द्वारपालकैः कथितानि निजनामानि कुलानि येषां ते । तं चन्द्रप्रभम् । अवनीतलस्पृशा अवनीतलं भूतलं स्पृशतीत्यवनीतलस्पृक् तेन । शिरसा मस्तकेन । प्रणेमुः नमन्ति स्म । णम प्रह्वत्वे शब्दे लिट् ॥५७॥ रजनीमिति । विबुधनुतबुद्धिः विबुधैरमरैर्नुता स्तुता बुद्धिर्यस्य सः । नयमार्गदर्शनपरः नयस्य नीतेर्मार्गस्य शास्त्रस्य दर्शने प्रकाशने परः तत्परः । सः जिनेशः । रजनीं रात्रिम् । अहश्च दिनं च । अष्टधा अष्टभिः प्रकारैः । विभज्य भागं कृत्वा । सर्वजगत् सर्वलोकम् । यथोचितैः यथायोग्यैः । कर्मभिः कृत्यैः । अनयत यापयति स्म । णीञ् प्रापणे लङ् ॥५८॥ तमिति । अमरवनिताः अमराणां सुराणां वनिता रमण्यः । शक्रवचनेन

प्रजाके किसी मनुष्यको आकुलता उत्पन्न की ॥५४॥ कानोंको फोड़ देनेवाली कठोर आवाजसे दारुण प्रतीत होनेवाली आँधी नहीं चली, रोगोंने स्थान नहीं पाया (क्योंकि कोई रोगी ही नहीं था) और न कभी अधिक सर्दी या गर्मी ही पड़ी ॥५५॥ छह ईतियोंसे जनपदको कभी कोई पीड़ा नहीं हुई तथा क्रूर पशुओंके झुण्डने भी अपने मनसे हिंसाकी पुरातन आसक्ति दूर कर दी ॥५६॥ अन्य राष्ट्रोंके राजे-महाराजे अनेक प्रकारके उपहार लेकर, चन्द्रप्रभकी सभामें द्वारपालोंके द्वारा अपने नाम और कुलका परिचय भिजवाकर एवं प्रवेशकी अनुमति लेकर पहुँचते रहे और भूतलपर सिर नवाकर उन्हें प्रणाम करते रहे ॥५७॥ क्या देव और क्या विद्वान् सभी चन्द्रप्रभकी बुद्धिकी प्रशंसा करते थे। वे जगत्को नीति मार्ग दिखलानेमें तत्पर रहते थे। उन्होंने रात और दिनके समयको आठ भागोंमें विभक्त कर दिया था, तथा यथायोग्य कार्योंमें संलग्न रहकर वे उस (समय) का सदुपयोग किया करते थे ॥५८॥ इन्द्रकी आज्ञासे देवाङ्गनाएँ

१. म पुरे च । २. अ तलस्पृशाः । ३. = कठोरेण । ४. मूले 'समीरणः' पदं वर्तते न तु 'अनिलः' इति ।

कमलप्रभाप्रभृतिदिव्यनिजयुवतिवृन्दवेष्टितः ।
भोगसुखमिति यथाभिमतं चिरमन्वभूत्स जगदेकनायकः ॥६०॥
अपरेद्युरुन्नमितबाहुरधिकजरया निपीडितः ।
तस्य सदसि समुपेत्य शनैः श्रितयष्टिरित्यकृत कोऽपि पूत्कृतिम् ॥६१॥
सुरवृन्दवन्द्य करुणार्द्र शरणगतलोकवत्सल ।
त्रातरखिलजगतां कृपणं भयभीतमस्तभय रक्ष रक्ष माम् ॥६२॥
कथितो निमित्तिपुरुषेण रजनिसमये समेत्य माम् ।
मृत्युरविहतगतिप्रसरस्तव पश्यतोऽद्य जगदीश नेष्यति ॥६३॥

शक्रस्य देवेन्द्रस्य वचनेन आज्ञया[1] । [2]सुरपतिसहस्रमध्यगं सुराणामिन्द्राणां सहस्रस्य मध्यगं मध्यं गतम् । तं चन्द्रप्रभम् । विविधैः नानाविधैः । ललितगीतनर्तनैः ललितैर्मनोहरैर्गीतैर्नर्तनैर्नृत्यैश्च । प्रतिवासरं प्रतिदिनम् । भेजुः सिषेविरे । लिट् ॥५९॥ कमलेति । कमलप्रभाप्रभृतिनिजयुवतिवृन्दवेष्टितः कमलप्रभा卐 कमल[प्रभा]देवी, सा प्रभृतिर्मुख्या यासां तासां कमलप्रभाप्रभृतीनां दिव्यानां मनोहराणां निजस्य स्वस्य युवतीनां वनितानां वृन्देन निवहेन वेष्टितः परिवृतः । जगदेकनायकः जगतां भुवनानामेको मुख्यो नायकः स्वामी । सः चन्द्रप्रभः[3]卐 । यथाभिमतम् अभिमतमनतिक्रम्य, वाञ्छामनतिक्रम्येत्यर्थः । भोगसुखं भोगानां विषयाणां सुखम् । इति एवम् । चिरं बहुकालपर्यन्तम् । अन्वभूत् अन्वभवत् । लुङ् । अतिशयः ॥६०॥ अपरेद्युरिति । अपरेद्युः[4] अन्यस्मिन्[5] दिने । 'पूर्वापर—' इत्यादिना एद्युस–प्रत्ययः । उन्नमितबाहुः उन्नमितौ उद्धृतौ[6] बाहू भुजौ यस्य[7] सः । अधिकजरया अधिकया प्रवृद्धया जरया वार्धक्येन । निपीडितः बाधितः । श्रितयष्टिः आश्रिताधारयष्टिः । तस्य चन्द्रप्रभस्य । सदसि सभायाम् । शनैः मन्दम् । समुपेत्य आगत्य । कोऽपि पुरुषः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । पूत्कृतिं[8] पूत्कारम् । अकृत अकरोत् । लुङ् । जातिः ॥६१॥ सुरेति । सुरवृन्दवन्द्य सुराणाममराणां वृन्देन निकायेन वन्द्य वन्दनीय, भो सुरनिकायपूज्य । करुणार्द्र करुणया कृपया आर्द्र मृदुल । शरणगतलोकवत्सल शरणगतस्य शरणागतस्य लोकस्य जनस्य वत्सल पालक । अखिलजगतां निखिललोकानाम् । त्रातः रक्षक । अस्तभय अस्तं निरस्तं भयं यस्य[9] तस्य संबोधनम्[10] । कृपणं दीनम् । भयभीतं भयैः सप्तभयैर्भीतं विभीषितम्[11] । माम् । रक्ष रक्ष पालय पालय । रक्ष पालने लोट्[12] । वीप्सायां द्विः । जातिः ॥६२॥ कथित इति । जगदीश भो जगतां लोकानाम् ईश स्वामिन् । अविहतगतिप्रसरः अविहतो बाधारहितो गत्या गमनस्य

हजारों राजों-महाराजोंके बीचमें बैठे हुए चन्द्रप्रभके पास जाकर नाना प्रकारके सुन्दर गीतों और नृत्योंसे प्रतिदिन उनकी सेवा किया करती थीं ॥५९॥ चन्द्रप्रभ सारे जगत्के एकमात्र नायक थे । कमलप्रभा आदि अपनी सुन्दर यौवनवती नायिकाओंके वर्गके बीचमें रहकर उन्होंने इस प्रकार चिरकाल तक यथेच्छ भोग भोगे ॥६०॥ एक दिनकी बात है । एक पुरुष, जो अत्यधिक वृद्ध था, तथा वृद्धावस्थाके कारण अत्यन्त पीडित था, लाठी टेकता हुआ धीरे-धीरे चन्द्रप्रभकी सभामें पहुँचा, और वहाँपर वह अपने दोनों बाहुओंको ऊपर उठाकर दुःखभरे शब्दोंमें यों चिल्लाने लगा—॥६१॥ भगवन् ! आप देववृन्दके द्वारा वन्दनीय हैं, आपका हृदय दयासे आर्द्र है, आप शरणागतवत्सल हैं, आप जगत्के समस्त प्राणियोंके रक्षक हैं और हैं समस्त भयोंसे मुक्त, और मैं दीन और भयभीत हूँ, अतः मेरी रक्षा कीजिए, मुझे बचाइए ॥६२॥ हे जगदीश एक निमित्त ज्ञानी पुरुषने समीपमें आकर मुझसे कहा है कि आज रात्रिके समय मृत्यु—

१. श आज्ञावचनेन । २. मूले नरपति" पदं वर्तते, अतो नरपतीनां नरेन्द्राणां सहस्रस्य मध्यं गच्छतीति मध्यगः, तम्—इति तद्व्याख्या भवेत् । ३. श स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ४. श 'अपरेद्युः' इति नास्ति । ५. श अपरस्मिन् । ६. श उद्धतौ । ७. = येन । ८. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'पूत्कृतिम्' इति समवलोक्यते । ९. = येन । १०. = तत्संबुद्धौ हे अस्तभय । ११. श निभीषितम् । १२. श लेट् ।

क्षमसे ततो यदि न पातुमसि जिन वृथान्तकान्तकः ।
वाचमिति समभिधाय पुरः[1] सहसा तिरोहितवपुर्बभूव सः ॥६४॥
वद देव कोऽयमिति सभ्यजनवचनमारुतेरितः ।
दृष्टनिखिलभुवनोऽवधिना भगवान्हसन्निति जगाद कारणम् ॥६५॥
मम कर्तुमेष विषयेषु विरतिममराधिपाज्ञया ।
धर्मरुचिरिति सुरस्त्रिदिवात्समुपाययौ विकृतवृद्धविग्रहः ॥६६॥
विनिवेद्य सभ्यनिवहस्य कृतपरमविस्मयस्य तत्[2] ।
भोगविरतहृदयः स भवस्थितिमित्यचिन्तयदचिन्त्यचेष्टितः ॥६७॥

प्रसरो विसरो यस्य सः । मृत्युः यमः । अद्य इदानीम् । रजनि[3]समये रात्रिकाले । समेत्य आगत्य । पश्यतः वीक्षमाणस्य । तव भवतः । पश्यन्तं त्वामनादृत्येति यावत् । मां नेष्यति[4] प्रापयिष्यति[5] । णीञ् प्रापणे लृट् । निमित्तपुरुषेण आदेशपुरुषेण । कथितः प्रोक्तोऽहम् । आक्षेपः (?) ॥६३॥ क्षमस इति । जिन भो जिनेश । ततः तस्माद् यमात् । यदि पातुं मां रक्षितुम् । न क्षमसे न समर्थोऽसि । वृथा[6] मुधा । अन्तकान्तकः अन्तकस्य यमस्यान्तको यमः । असि भवसि । अस भुवि लट् । सः सुरः देवः । इति एवम् । वाचं वचनम् । समभिधाय सम्यगुक्त्वा । सहसा शीघ्रम् । तिरोहितवपुः तिरोहितं व्यवहितं वपुः शरीरं यस्य सः । बभूव भवति स्म । आक्षेपः (?) ॥६४॥ वदेति[7] । भो देव । अयं कः किमभिधानः । वद ब्रूहि । इति एवम् । सभ्यजनवचनमारुतेरितः सभ्यजनस्य सभ्यलोकस्य वचनमारुतेन भाषणवायुना ईरितः प्रेरितः । अवधिना अवधिज्ञानेन । दृष्टनिखिलभुवनः दृष्टं ज्ञातं निखिलं सकलं भुवनं जगद् येन सः । भगवान् स्वामी चन्द्रप्रभः । हसन् प्रहसन् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । कारणं हेतुम् । जगाद ऊचे । लिट् ॥६५॥ ममेति । विकृतवृद्धविग्रहः विकृतो निर्मितो वृद्धस्य स्थविरस्य विग्रहो देहो यस्य[8] सः । धर्मरुचिरिति धर्मरुचिनामधेयः । एषः अयम् । सुरः देवः । अमराधिपाज्ञया अमराधिपस्य देवेन्द्रस्याज्ञयानुज्ञया । मम मे । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । विरतिं विरागम् । कर्तुं विधातुम् । त्रिदिवात् स्वर्गात् । समुपाययौ समागच्छत् । या प्रापणे लिट् ॥६६॥ विनिवेद्येति । कृतपरमविस्मयस्य कृतो विहितः परम उत्कृष्टो विस्मयो यस्य[9] तस्य । सभ्यनिवहस्य सभ्यानां[10] सामाजिकानां निवहस्य निकरस्य । तत् तदागमनम् । विनिवेद्य ज्ञापयित्वा । भोगविरतहृदयः भोगेषु विषयेषु[11] विरतं विरक्तं हृदयं चित्तं यस्य सः । अचिन्त्यचेष्टितः अचिन्त्यं चेष्टितं व्यापृतं यस्य सः । सः चन्द्रप्रभः ।

जिसे कोई टाल नहीं सकता—आप (चन्द्रप्रभ) के देखते उठा ले जायगा ॥६३॥ हे जिन ! यदि आप उससे मुझे नहीं बचा सकते तो आप व्यर्थ ही अन्तकके अन्तक अर्थात् अन्तकारि या मृत्युंजय कहे जाते हैं । ये वचन कहकर वह देव शीघ्र ही अन्तर्धान हो गया—दृष्टिसे ओझल हो गया ॥६४॥ जिनदेव ! यह कौन था ? बताइए, इस तरह सभासदोंके वचनका रुख देखकर और उससे प्रेरणा पाकर भगवान् चन्द्रप्रभ—जो अवधिज्ञानसे सारे संसारको जानते थे—हंसते हुए, उसके आनेके कारणका यों निरूपण करने लगे—॥६५॥ यह देव था । इसका नाम धर्मरुचि था । यह विक्रियाके बलसे बुड्ढेका रूप धारण करके, इन्द्रकी आज्ञा पाकर मुझे पंचेन्द्रियोंके विषयसे विरक्त करनेके लिए स्वर्गसे यहाँ आया था ॥६६॥ सभी सभासदोंसे भगवान् चन्द्रप्रभने जब उसके बारेमें यों निवेदन किया, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । इसके पश्चात् चन्द्रप्रभका—जिनकी चेष्टाएँ अचिन्त्य थीं—हृदय भोगोंसे विरक्त हो गया । फलतः वे जगत्-

१. आ इ सुरः । २. आ इ ताम्, म तम् । ३. श रजनी° । ४. आ श नेष्यते । ५. = जन्मान्तरमिति शेषः । ६. = तद् वृथा । ७. आ अस्य श्लोकस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ८. = येन । ९. = येन । १०. आ सभानिवहस्य सभानां । ११. = भोगेभ्यो विषयेभ्यः ।

धनयौवनप्रभृति सर्वमनुगतमिदं शरीरिणाम् ।
न क्षणमपि भवति स्थितिमन्निजपूर्वजन्मकृतपुण्यसंक्षये ॥६८॥
विषयेषु शत्रुसदृशेषु विविधपरितापहेतुषु ।
सक्तिमविरतमतिः कुरुते हतबुद्धिरेव न तु बोधभासुरः ॥६९॥
विविधासु योनिषु वपूंषि विविधरचनानि धारयन् ।
इन्द्रियसुखलवलुब्धमतिर्नटवत्प्रयाति तनुमान्विडम्बनाम् ॥७०॥
वपुराद्धत्प्रविजहच्च विविधमिह यैर्विडम्बितः[1] ।
कर्मभिरहमधुना तपसा क्षपयामि[2] तानि निखिलानि मूलतः ॥७१॥

भवस्थितिं भवस्य संसारस्य स्थितिम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । अचिन्तयत् चिन्तयति स्म ॥६७॥ धनेति । शरीरिणां संसारिणाम् । अनुगतम् अनुयातम् । धनयौवनप्रभृति धनं द्रव्यं यौवनं[3] प्रभृति मुख्यं यस्य[4] तत् । इदम् एतत् । सर्वं समस्तम् । निजपूर्वजन्मकृतपुण्यसंक्षये निजस्य स्वस्य पूर्वस्मिन् जन्मनि कृतस्य विहितस्य पुण्यस्य शुभकर्मणः संक्षये नाशे । क्षणमपि अल्पकालपर्यन्तमपि । 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' इति द्वितीया । स्थितिमत् स्थितियुक्तम्[5] । न भवति । लट् । ६८॥ विषयेष्विति । विविधपरितापहेतुषु विविधानां नानाप्रकाराणां परितापानां हेतुषु कारणेषु । शत्रुसदृशेषु शत्रूणां सदृशेषु समानेषु[6] । विषयेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु । अविरतमतिः अविरता वैराग्यरहिता मतिर्बुद्धिर्यस्य सः । हतबुद्धिरि(रे)व सम्यग्ज्ञानशून्य इ (ए) व । सक्तिम् आसक्तिम् । कुरुते करोति । लट् । (न तु) बोधभासुरः बोधेन ज्ञानेन भासुरो भासमानः । न तु भवति[7] । उपमा ॥६९॥ विविधास्विति । विविधासु नानाप्रकारासु । योनिषु[8] जन्मसु । विविधरचनानि नानारचनानि संनिवेशसहितानि । वपूंषि शरीराणि । नटवत् नर्तकवत् । धारयन् । इन्द्रियसुखलवलुब्धमतिः इन्द्रियेभ्यः पञ्चेन्द्रियेभ्यो जातस्य सुखस्य लवे[9] स्तोके लुब्धा सक्ता मतिर्बुद्धिर्यस्य सः । तनुमान् संसारिजीवः । विडम्बनां तिरस्कारं हास्यं वा प्रयाति । लट् ॥७०॥ वपुरिति । इह संसारे । विविधं नानाविधम् । वपुः शरीरम् । आददत्[10] स्वीकुर्वन् । प्रतिजहत् च त्यजन् । अहम् । यैः कर्मभिः शुभाशुभरूपैः । विडम्बितः तिरस्कृतः । अधुना इदानीम् । निखिलानि सकलानि । तानि कर्माणि । मूलतः निःशेषतः । तपसा बाह्याभ्यन्तररूपेण । क्षपयामि

की स्थितिके बारेमें यों सोचने लगे—॥६७॥ संसारी जीवोंको जो ये धन और यौवन आदि सारी वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे उनके अपने पूर्वजन्मके पुण्यके नष्ट होते ही नष्ट हो जाती हैं, फिर वे एक क्षण भी नहीं रह सकतीं ॥६८॥ इन्द्रियोंके विषय शत्रु सरीखे हैं और वे शत्रुओंके समान नाना प्रकारके सन्तापके कारण हैं । इनमें बुद्धिहीन संसारी ही—जिसकी बुद्धिमें कभी विषयसे विरक्तिका विचार भी नहीं उत्पन्न होता—आसक्त होता है, न कि सम्यग्ज्ञानी ॥६९॥ नाना योनियोंमें तरह-तरहके शरीर धारण करके और जरासे इन्द्रियसुखके लोभमें फँसकर यह संसारी जीव नटकी भाँति विडम्बनाको प्राप्त करता है । परिहास या तिरस्कारका पात्र बनता है ॥७०॥ नाना प्रकारके शरीरको धारण करते और छोड़ते हुए मुझे जिन शुभ और अशुभ कर्मोंने तिरस्कृत किया है, उन सबको मैं अब तपस्याके द्वारा मूलसे नष्ट कर डालूँगा ॥७१॥ भगवान्

---

१. अ विखण्डितः, म विवञ्चितः । २. म क्षिपयामि । ३. = तारुण्यम् । ४. = यस्मिन् । ५. = स्थिरमित्यर्थः । ६. आ समानेषु सदृशेषु । ७. = न कुरुते । ८. = उत्पत्तिस्थानेनु । ९. = लेशे । १०. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'आदधत्' वर्तते ।

इति चिन्तनाकुलमुपेत्य सदसि जगदन्तिकामराः ।
चिन्तितमखिलहितं भवता जिन साधु साध्विति तमभ्यनन्दयन् ॥७२॥

विमलाभिधानशिबिकास्थममरपतिरेत्य सामरः ।
प्रापयदथ[1] सकलर्तुवनं तमुरूत्सवेन कृतदुन्दुभिध्वनिः ॥७३॥

प्रवितीर्य राज्यमवदातचरितवरचन्द्रसूनवे ।
षष्ठयुगभिहितसिद्धनुतिः स तपोऽग्रहीद्दशशतैर्महीभुजाम् ॥७४॥

मणिभाजने समधिरोप्य विबुधपतिरात्मभक्तितः ।
क्षीरजलनिधिजले निदधे[2] दृढपञ्चमुष्टिभिरपाकृतान्कचान् ॥७५॥

नाशयामि । क्षप हिंसायां लट् ॥७१॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । चिन्तनाकुलं चिन्तनया वैराग्ययुतचित्तव्यापारेणाकुलं युक्तम् । जगदन्तिकामराः जगदन्तिका लौकान्तिका अमरा देवाः । सदसि सभायाम् । उपेत्य आगत्य । जिन भो जिननाथ । भवता त्वया । अखिलहितम् अखिलेभ्यो हितमुपकारम्[3](रः) । चिन्तितं विचारितम् । साधु साधु सम्यक् सम्यक् । 'वीप्सायाम्' इति द्विः । इति एवम् । तं जिनेशम् । अभ्यनन्दन् स्तुवन्ति स्म । टुनदु समृद्धौ लङ् ॥७२॥ विमलेति । अथ लौकान्तिकप्रतिबोधनानन्तरम् । सामरः देवैः सहितः । अमरपतिः देवेन्द्रः । एत्य आगत्य । विमलाभिधानशिबिकास्थं 'विमला' इत्यभिधानं यस्यास्तस्यां शिबिकायां तिष्ठतीति तथोक्तम् । तं चन्द्रप्रभम् । कृतदुन्दुभिध्वनि कृतो विहतो दुन्दुभीनां देवपटहानां ध्वनिर्यस्मिन् कर्मणि तत्० । उरूत्सवेन[4] महासंतोषेण । सकलर्तुवनं सकलर्तुकाख्योद्यानम् । प्रापयत् नयति स्म । लङ्[5] ॥७३॥ प्रवितीर्येति । अवदातचरितवरचन्द्रसूनवे अवदातेन निर्मलेन चरितेन चारित्रेण युताय वरचन्द्रसूनवे वरचन्द्राख्यसूनवे पुत्राय । राज्यं प्रभुत्वम् । प्रवितीर्य दत्वा । षष्ठयुक् षष्ठेन उपवासद्वयेन युक् युतः । अभिहितसिद्धनुतिः अभिहितोच्चरिता सिद्धस्य नुतिः स्तोत्रं यस्य[6] सः । चन्द्रप्रभः । महीभुजां भूपतीनां दशशतैः सहस्रेण सह । तपः बाह्याभ्यन्तररूपम् । अग्रहीत् गृह्णाति स्म । ग्रहि उपादाने लुङ् ॥७४॥ मणीति । विबुधपतिः विबुधानां पतिरिन्द्रः । दृढपञ्चमुष्टिभिः दृढाभिः पञ्चभिर्मुष्टिभिः । अपाकृतान् उत्पाटितान्[7] । कचान् केशान् । आत्मभक्तितः आत्मनः स्वस्य भक्तितो गुणानुरागात्[8] । मणिभाजने रत्नमयपात्रे । समधिरोप्य निक्षिप्य । क्षीरजलनिधिजले क्षीरजलनिधेः पञ्चमाब्धेर्जले सलिले । निदधे स्थापयति स्म । लिट्

चन्द्रप्रभ इस प्रकारसे चिन्तन करनेमें व्यग्र थे, इतनेमें ही लौकान्तिक देवोंने सभामें उनके निकट जाकर और यह कहकर कि 'हे जिन ! आपने सभीके हितके लिए जो विचार किया है वह सुन्दर है, अति सुन्दर है (साधु, साधु), उनका अभिनन्दन किया ॥७२॥ इसके उपरान्त देवोंके साथ इन्द्र आ पहुँचा । उसने चन्द्रप्रभ भगवान्को 'विमला' नामकी शिबिका (पालकी) में बिठाकर दुन्दुभि बाजोंकी ध्वनिके साथ बड़े उत्सवसे 'सकलर्तु' नामक वनमें पहुँचा दिया ॥७३॥ वहाँपर अपने निर्मलचरित वरचन्द्र नामक पुत्रको राज्य देकर, दो उपवासोंका नियम लेकर और सिद्धपरमेष्ठीको नमन करके उन्होंने एक हजार मुनियोंके साथ तप करना स्वीकार किया ॥७४॥ इस अवसरपर भगवान् चन्द्रप्रभने पाँच दृढ़ मुष्टियोंसे जिन केशोंका लुञ्चन किया, उन्हें इन्द्रने अन्तरङ्गभक्तिसे मणिमय भाजनमें रखकर क्षीर समुद्रमें प्रवाहित कर दिया ॥७५॥ फिर इन्द्र आदि सभी देवोंने वहाँपर दीक्षा कल्याणकका महान् उत्सव मनाया, जिसकी सुन्दरता-

---

१. म प्रापदथ । २. आ इ निधने । ३. = कल्याणम् । ४. = महोद्यावेन । उद्याव:उत्सवः । ५. आ लुङ् । ६. = येन । ७. आ उत्पूजितान् । ८. श गुणानुरागेण ।

प्रविधाय तत्र पटुवाद्यनिनदरमणीयमुत्सवम् ।
क्षोभितसकलमहीवलयं प्रययुः पुनः सुरगणा यथायथम् ॥७६॥
अथ सोमदत्तनृवरस्य[2] नलिनपुरपालिनो गृहे ।
पञ्च वसुनिपतनप्रभृतीन्यकृताद्भुतानि स गृहीतपारणः ॥७७॥
प्रशमादिभिः स चतुरोऽपि चतुरमतिरूर्जितैर्गुणैः ।
नाशमनयत कषायरिपून्विहरंस्तपस्विजनयोग्यधामसु ॥७८॥
न परीषहास्तमसहन्त धृतिकवचिनं प्रबाधितुम् ।
क्षुत्तृडवनिशयनप्रमुखा युधि संवृताङ्गमिव शत्रुपत्रिणः ॥७९॥

॥७५॥ प्रविधायेति । तत्र परिनिष्क्रमणकल्याणे । पटुवाद्यनिनदरमणीयं पटूनां गंभीराणां वाद्यानां निनदेन रवेण रमणीयं मनोहरम् । क्षोभितसकलमहीवलयं क्षोभितं व्याप्तं सकलं महीवलयं भूमण्डलं येन तम् । उत्सवं संभ्रमम् । प्रविधाय कृत्वा । सुरगणाः सुराणां देवानां गणा निवहाः । यथा तथा [यथायथं[3]] । स्वर्गम् । प्रययुः प्रजग्मुः । अतिशयः ॥७६॥ अथेति । अथ देवगमनानन्तरम् । नलिनपुरपालिनः नलिनाख्य-पुररक्षकस्य । सोमदत्तनृपवरस्य (सोमदत्तनृवरस्य) सोमदत्तस्य सोमदत्ताख्यस्य नृप (नृ) वरस्य नरपस्य । गृहे सदने । गृहीतपारणः[4] स्वीकृतपारणायुतः । सः चन्द्रप्रभमुनिः । वसुनिपतनप्रभृतीनि वसूनां रत्नानां निपतनं प्रभृतिर्येषां तानि । पञ्च पञ्चसंख्यानि । अद्भुतानि आश्चर्याणि । अकृत करोति स्म । लङ्[5] ॥७७॥ प्रशमादिभिरिति । चतुरमतिः मनःपर्ययज्ञानी । सः चन्द्रप्रभमुनिः । तपस्विजनयोग्यधामसुतपस्विजनानां मुनिजनानां योग्येषु उचितेषु धामसु स्थानेषु । विहरन् संचरन् । ऊर्जितैः समर्थैः[6] । प्रशमादिभिः प्रशम उत्तमक्षमा[7] आदिर्येषां तैः । गुणैः । चतुरोऽपि प्रौढोऽपि । कषायरिपून् कषायशत्रून् । नाशं विनाशम् । अनयत प्रापयति स्म । णीञ् प्रापणे लङ् ॥७८॥ नेति । क्षुत्तृडवनिशयनप्रमुखाः क्षुत् बुभुक्षा तृट् पिपासा अवनिशयनं क्षुच्च तृट् च अवनिशयनं च तानि प्रमुखानि मुख्यानि येषां ते । परीषहाः[8] । धृतिकवचिनं धृतिरेव धैर्यमेव[9] कवचिनं कवचयुतम् । तं चन्द्रप्रभम् । शत्रुपत्रिणः शत्रुणा प्रयोजिताः पत्रिणो बाणाः । 'पत्रिणौ शरपक्षिणौ' इत्यमरः । युधि संग्रामे । संवृताङ्गमिव संवृतं कवचितमङ्गं शरीरं यस्य तमिव । प्रबाधितुं

में सुन्दर बाजोंकी ध्वनिने चार चाँद लगा दिये, और जिसने सारे भूमण्डलको प्रभावित कर दिया । इसके बाद वे देव लोग अपने-अपने स्थानमें चले गये ॥७६॥ उपवास समाप्त होने-पर भगवान्ने नलिनपुरके पालन करनेवाले राजा सोमदत्तके घर पारणा की, जिससे उसके यहाँ रत्नवृष्टि आदि पाँच आश्चर्य प्रकट हुए ॥७७॥ यों भगवान् चन्द्रप्रभ स्वभावतः चतुर थे फिर भी उन्हें चतुर्थ ज्ञान–मनःपर्यय और प्राप्त हो गया । उन्होंने क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच इन समृद्ध गुणोंसे क्रोध, मान, माया और लोभ इन अभ्यन्तर शत्रुओंको नष्ट कर दिया । वे साधुओंके योग्य स्थानोंमें विहार किया करते थे ॥७८॥ उन्होंने धैर्यरूपी कवच धारण कर लिया था, इसलिए भूख, प्यास और भूमिशयन आदि परीषहें उन्हें बाधा नहीं पहुँचा सकीं । जैसे युद्धमें जो कवच पहने रहता है, उसे शत्रुओंके बाण बाधा नहीं पहुँचा सकते ॥७९॥ आगमोक्त

---

१. आ इ °निनाद° । २. श °नृपवरस्य । ३. = यथायोग्यम् । ४. = स्वीकृतपारणः । ५. श लुङ् । ६. श 'समर्थैः' इति नास्ति । ७. श 'क्षमा' इति नास्ति । ८. = वेदनाविशेषाः । ९. = कवचं यस्य तम्, अतिधीरमिति यावत् ।

अपरापरैः स समुपेत्य समयगततत्त्वगोचरम् ।
संशयमलमपहस्तयितुं प्रतिवासरं मुनिजनैरसेव्यत ॥८०॥
प्रकृतीर्नयंस्तनुतरत्वमतनुतपसा स कर्मणाम् ।
तत्र पुनरपि जगाम वने समपादि यत्र निजमेव दीक्षणम् ॥८१॥
मुनिभिः स्थितः सह समेत्य तलभुवि स नागशाखिनः ।
ध्यानमतुलमवलम्ब्य सितं हतघातिकर्मरिपुराप केवलम् ॥८२॥
तस्मिन्काले सह परिजनैर्यक्षराजेन गत्वा शक्रादेशात्समवसरणं निर्ममे तस्य भर्तुः ।
जैनादाद्यात्समवसरणाद्योजनार्धार्धहान्या सार्धान्यष्टौ यदनुगदितं योजनान्यागमज्ञैः ॥८३॥

पीडितुम् । नासहन्त समर्था न भवन्ति स्म । उपमा ॥७९॥ अपरेति । सः मुनिः । समयगततत्त्वगोचरं समयं परमागमं गतानि तत्त्वानि जीवादिद्रव्याणि तान्येव गोचरो यस्य तत् । संशयमलं[1] संशयमेव मलम् । अपहस्तयितुं निराकर्तुम् । अपरापरैः अन्यैः । मुनिजनैः योगिजनैः । प्रतिवासरं प्रतिदिनम् । असेव्यत आराध्यते स्म । सेवृङ्[2] सेवने कर्मणि लङ् ॥८०॥ प्रकृतीरिति[3] । यत्र सकलर्त्वाख्ये । वने उद्याने । निजमेव स्वकीयमेव । दीक्षणं[4] परिनिष्क्रमणम् । समपादि जायते स्म । पदि गतौ लुङ् । कर्मणां[5] पापानाम् । प्रकृतीः स्वभावान् । अतनुतपसा अतनुना महता तपसा तपश्चरणेन । 卐तनुतरत्वम् अतिकृशत्वम् । नयन् प्रापयन् । सः चन्द्रप्रभमुनिः । पुनरपि पश्चादपि । तत्र वने[6]卐। जगाम ययौ । लिट् ॥८१॥ मुनिभिरिति । मुनिभिः[7] यतिभिः । सह साकम् । समेत्य गत्वा । नागशाखिनः नागवृक्षस्य । तलभुवि तलक्षितौ । स्थितः आसितः । सः मुनिः । अतुलम् असदृशम्, सादृश्यरहितमिति भावः । सितं शुक्लाख्यम् । ध्यानम्[8] एकाग्रचिन्तनम् । अवलम्ब्य आश्रित्य । हतघातिकर्मरिपुः हतो जीवाद् विश्लेषितो घातिकर्माण्येव रिपुर्येन सः । केवलं नवकेवललब्धिम् । आप ययौ । आप्लृ व्याप्तौ लिट् । रूपकम् ॥८२॥ तस्मिन्निति । आद्यात् प्रथमात् । जैनात् जिनसंबन्धिनः । समवसरणात् समवसृतेः सकाशात् । योजनार्धार्धहान्या योजनस्यार्धेनार्धेन हान्या हीयमानक्रमेण । सार्धानि अर्धेन दलेन युतानि । अष्टौ अष्टसंख्यानि । योजनानीति । आगमज्ञैः परमागमवेदिभिः । अनुगदितम् अनूक्तम् । यत् समवसरणं वृषभजिनेश्वरसमवसरणम् । द्वादशयोजनप्रमितम् । ततः परमजितादितीर्थकराणामर्धार्धयोजनेन हीनमित्यर्थः । शक्रादेशात् देवेन्द्राज्ञया । तस्मिन् काले केवलज्ञानोत्पत्तिकाले । परिजनैः सह परिवारदेवैः साकम् । यक्षराजेन

तत्त्वोंमें उत्पन्न हुए संशयको सर्वथा दूर करनेके लिए और-और मुनि लोग उनके पास प्रतिदिन आने लगे और उनकी आराधना करने लगे ॥८०॥ घोर तपश्चरणके द्वारा कर्मोंकी प्रकृतियोंको क्षीण करते हुए वे पुनः उसी वनमें जा पहुँचे, जहाँ उन्होंने जिनदीक्षा ली थी ॥८१॥ उस 'सकलर्तु' नामक वनमें मुनियोंके साथ पहुँचकर वे नागवृक्षके नीचे आसन लगाकर बैठ गये, और फिर अनुपम शुक्ल ध्यानका अवलम्बन लेकर उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मोंको नष्ट करके केवल ज्ञान प्राप्त किया ॥८२॥ जिस समय केवलज्ञान हुआ, उसी समय इन्द्रके आदेशसे कुबेरने अपने परिजनके साथ भगवान् चन्द्रप्रभके पास जाकर उनके समवसरणकी रचना की । आगमके जाननेवाले विद्वानोंने भगवान् चन्द्रप्रभके समवसरणका प्रमाण साढ़े आठ योजन बतलाया है । प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ देवके समवसरणका प्रमाण बारह योजन था । उनके बाद अजित आदि तीर्थङ्करोंके समवसरणोंका प्रमाण आधा-आधा

१. = संशय एव मलो दोषस्तम् । २. श सेवृङ् । ३. आ श प्रकृतिरिति । ४. = जिनदीक्षा । ५. = ज्ञानावरणादीनाम् । ६. श स्वरित्तकान्तर्गतः पाठो पोपलभ्यते । ७. = साधुभिः । ८. = एकाग्रचिन्तानिरोधनम् ।

धूलीसालो वलयसदृशस्तस्य बभ्राम पार्श्वे
मानस्तम्भाश्चतसृषु महादिक्षु तस्यान्तरस्थाः ।
चत्वार्यूर्ध्वं विकचकमलाम्भांसि तेभ्यः सरांसि
तेभ्यश्चोर्ध्वं विविधकुसुमा खातिका वारिपूर्णा[1] ॥८४॥
नानापुष्पा समजनि ततः पुष्पवाटी विशाला
प्राकारोऽस्या विरचितचतुर्गोपुरोऽभ्यन्तराले ।
द्वाराद्द्वारात्परमुभयतो द्वे शुभे नाट्यशाले
चत्वार्यासन्नमरनिचितान्यूर्ध्वमाभ्यां वनानि ॥८५॥
चत्वारोऽर्चारुचिरवपुषो यागवृक्षा वनेषु
तिस्रस्तिस्रो मणिमय[2]तटैर्मण्डितास्तेषु वाप्यः ।
तत्रैवासन्बहुविधसभामण्डपाः क्रीडशैला
धारायन्त्रैरलिवृ[3]तलतामण्डपैर्भ्राजमानाः ॥८६॥

कुबेरेण । गत्वा प्राप्य । तस्य भर्तुः चन्द्रप्रभस्वामिनः । निर्ममे निर्मीयते स्म । माङ् माने कर्मणि लिट् ॥८३॥ धूलीति । तस्य समवसरणस्य । पार्श्वे बाह्ये । वलयसदृशः वलयस्य कङ्कणस्य सदृशः समानः, परिधिरूप इत्यर्थः । धूलीसालः धूलीभी रत्नमयरेणुभिरुपलक्षितः सालः प्राकारः । बभ्राम परिवव्रे । भ्रमू चलने लिट् । तस्य धूलीसालस्य । अन्तरस्थाः अन्तर्भागे स्थिताः । चतसृषु चतुःसंख्याकासु । महावीथिषु [महादिक्षु[4]] महारथ्यासु । मानस्तम्भाः । विरेजुः । तेभ्यः मानस्तम्भेभ्यः । ऊर्ध्वं परम् । विकचकमलाम्भांसि विकचै- र्विकसितैः कमलैः सरसिजैर्युक्तमम्भो जलं येषां तानि । चत्वारि । सरांसि सरोवराः । मानस्तम्भस्य तस्य चतुर्दिक्षु चत्वारि सरांसि । तेभ्यः सरोवरेभ्यः । ऊर्ध्वं पुरः । विविधकुसुमा विविधैर्नानाविधैः कुसुमैः पुष्पैः सहिता । वारिपूर्णा वारिणा जलेन पूर्णा उम्भिता । खातिका परिखा । समजनि ॥८४॥ नानेति । ततः उर्ध्वम् । विशाला विस्तीर्णा । नानापुष्पा नाना पुष्पाणि[5] विविधानि पुष्पाणि यस्यां सा । पुष्पवाटी पुष्पित- वल्लीभूमिः । समजनि जायते स्म । अस्याः पुष्पवाट्याः । अभ्यन्तराले अन्तर्भागे । विरचितचतुर्गोपुरः विरचितानि चत्वारि गोपुराणि द्वाराणि यस्य[6] सः । प्राकारः प्रथमप्राकारः द्वाराद्[7] द्वारात् परं तत ऊर्ध्वम् । उभयतः उभयपार्श्वे । शुभे शोभायुते । द्वे द्विसंख्ये । नाट्यशाले नर्तनशाले । आभ्यां नाट्यशालाभ्याम् । ऊर्ध्वं पुरः । अमरनिचितानि अमरैः सुरैर्निचितानि निमितानि । चत्वारि चतुःसंख्यानि । वनानि उपवनानि आसन् अभवन् । अस भुवि लङ् ॥८५॥ चत्वार इति । वनेषु चतुर्वनेषु । [8]अर्चारुचिरवपुषः अर्चाभिः प्रतिबिम्बै-

---

योजन कम था । इसीलिए आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभका समवसरण ऋषभदेवके समवसरणसे साढ़े तीन योजन कम था ॥८३॥ समवसरणके चारों ओर वलयाकार–गोल, धूलीसाल––पाँच रंगके रत्नोंकी धूलिसे बना हुआ प्राकार (चहारदीवारी) था, उसके अन्दर चारों दिशाओंमें चार मानस्तम्भ थे, उनके आगे जलसे लबालब भरी हुई और नाना प्रकारके पुष्पोंसे विभूषित परिखा थी ॥८४॥ उसके आगे अनेक प्रकारके फूलोंसे अलंकृत विशाल फुलवाड़ी थी, उसका चार दरवाजोंसे युक्त प्राकार था, उसके प्रत्येक दरवाजेके अन्दर दोनों भागोंमें दो-दो सुन्दर नृत्यशालाएँ थीं, उनके आगे चार वन थे, जो देवोंसे व्याप्त थे ॥८५॥ उन वनोंमें जिनबिम्बोंसे

---

१. क ख ग घ म वारिकर्णा । २. म °मयतटै° । ३. क ख ग म °रभिवृतल° । ४. = चतुर्दिक्षु । ५. श नाना पुष्पाणि' इति नास्ति । ६. = यस्मिन् । ७. श 'द्वारात्' इति नास्ति । ८. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'चात्वारोऽर्वा रुचि°' इत्येव समलोक्यते । अर्वाः-प्रतिमाः ।

तेभ्योऽप्यूर्ध्वं मणिमयचतुस्तोरणा वेदिकाभू-
र्यस्या भागे[1] समजनि परे केतुपङ्क्तिर्विचित्रा ।
तस्याश्चोर्ध्वं मणिमयचतुर्गोपुरो हेमसालो
रम्यं कल्पद्रुमवनमतोऽभूत्परस्मिन्विभागे ॥८७॥
तस्माज्जज्ञे पुनरपि चतुर्गोपुरा वज्रवेदी[2]
तस्या रेजुर्दश[3] दश पराण्युल्लसत्तोरणानि ।
तेषां स्तूपा नव नव बभुर्मध्यदेशेषु सार्चाः[4]
तत्रैवासन्मुनिजनसभामण्डपास्तुङ्गशृङ्गाः ॥८८॥

रुचिराणि मनोहराणि वपूंष्यवयवा येषां ते । चत्वारः चतुःसंख्याः । यागवृक्षाः यागैः[5] पूजाभिर्युता वृक्षा, चैत्यवृक्षा इत्यर्थः । तेषु वनेषु । मणिमयतटैः रत्ननिर्मिततटयुतैः । मण्डिताः भूषिताः । त्रिस्रः त्रिस्रः त्रित्रिसंख्याः[6] । वाप्यः सरांसि । तत्रैव वनेष्वेव । धारायन्त्रैः जलप्रवाहयन्त्रैः । अलिवृतलतामण्डपैः अलिभिर्भ्रमरैर्वृतैर्व्याप्तै-र्लतामण्डपैर्लतागृहैः । भ्राजमानाः विराजमानाः । बहु[विध] सभामण्डपाः बहुविधास्थानमण्डपयुताः । क्रीडाशैलाः क्रीडापर्वताः । आसन् अभवन् । लङ् ॥८६॥ तेभ्य इति । तेभ्यः वनेभ्योऽपि । ऊर्ध्वं पुरः । मणिमयचतुस्तोरणा मणिमयानि रत्नमयानि चत्वारि तोरणानि वन्दनमाला यस्यां सा । वेदिकाभूः वेदिका-भूमिः । यस्याः वेदिकाभूमेः । अपरे अग्रे । भागे प्रदेशे । विचित्रा करिहरिवृषभादिचिह्नयुक्तत्वान्नानाविधा । केतुपंक्तिः केतूनां ध्वजानां पङ्क्तिः राजिः । समजनि समजायत । लङ् । तस्याः ध्वजपङ्क्तेश्च । ऊर्ध्वं पुरः । मणिमयचतुर्गोपुरः मणिमयानि रत्ननिर्मितानि चत्वारि गोपुराणि द्वाराणि यस्य[7] सः । हेमसालः हेम्ना कनकेन निर्मितः सालः प्राकारः । अतः हेमसालात् । अपरस्मिन् उत्तरस्मिन् । विभागे प्रदेशे । रम्यं मनोहरम् । कल्पद्रुमवनं कल्पद्रुमाणां कल्पवृक्षाणां वनमुद्यानम् । अभूत् अभवत् । लुङ् ॥८७॥ तस्मादिति । तस्मात् कल्प-द्रुमवनात् । पुनरपि पश्चादपि । चतुर्गोपुरा चतुर्भिर्गोपुरैः सहिता । वज्रवेदी वज्रमयवेदिका । जज्ञे जायते स्म । लिट् । तस्याः वज्रवेदिकायाः । पराणि पुरो[8] वर्तमानानि । दशदश दशदशप्रमितानि । उल्लसत्तोरणानि उल्लसन्ति विराजमानानि तोरणानि वन्दनमालाः । रेजुः भान्ति स्म । राजृ् दीप्तौ लिट् । तेषां तोरणानाम् । मध्यदेशेषु अन्तरालदेशेषु । सार्चाः जिनबिम्बसहिताः । नव नव स्तूपाः । बभुः भान्ति स्म । भा दीप्तौ लिट् । तत्रैव संगीतभूम्याम् । तुङ्गशृङ्गाः तुङ्गान्युन्नतानि शृङ्गाणि शिखराणि येषां ते । मुनिजनसभामण्डपाः

विराजित चार चैत्यवृक्ष थे, मणिनिर्मित तटोंसे युक्त तीन-तीन वापिकाएँ थीं, अनेक प्रकारके सभामण्डप थे और ये क्रीड़ापर्वत, जो जलकी धारा बहानेवाले यन्त्रों तथा भौंरोंसे व्याप्त लतामण्डपोंसे विभूषित थे ॥८६॥ उन वनोंके आगे मणिरचित चार तोरणोंसे विभूषित वेदी थी, उसके श्रेष्ठ मैदानमें विचित्र ध्वजाएँ एक पंक्तिमें लगी हुई थीं, उस वेदीके आगे मणिमय चार दरवाजोंसे मण्डित स्वर्ण-रचित प्राकार था, इससे आगे एक ओर कल्पवृक्षोंका सुन्दर वन था ॥८७॥ उस वनके आगे फिर एक चार गोपुरोंसे युक्त वज्रनिर्मित वेदी थी, उसके ऊपर दश-दश जगमगाते हुए तोरण थे, उनके बीच-बीचमें नौ-नौ स्तूप थे, तथा वहींपर उन्नत

---

१. अ आ इ तस्या भा°, म °यस्याभोगे । २. क ख ग घ म हेमवेदी । ३. आ इ दशदिशि । ४. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'सर्वे' इति दृश्यते । ५. श पूजादिभिः । ६. आ त्रिसंख्या । ७. = यस्मिन् । ८. आ परो ।

प्राकारोऽच्छस्फटिकघटितोऽभूत्पुरस्ताच्च तेभ्यः
कोष्ठास्तस्य स्फुरितरुचयो द्वादशान्ते बभूवुः ।
तेभ्यः स्थानं परमनुपमं गन्धकुट्याख्यमासी-
ज्जज्ञे तत्र स्फुरदुरुमणिभ्राजितं सिंहपीठम् ॥८९॥

तस्योपरि स्फुरितभासुररत्नरश्मेः
स प्रातिहार्यपरिभूषितदिव्यमूर्तिः ।
निर्वारवीर्यसुखबोधनिधिर्जिनेन्द्र-
स्तत्त्वोपदेशकथनाभिमुखोबभूव ॥९०॥

तत्राद्या[1] मुनिभिः समं गणधराः कल्पस्त्रियः संयता[2]
ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरवधूसंघास्ततो भावनाः ।

मुनिजनानां सभामण्डपा आस्थानमण्डपाः । आसन् अभवन् । लङ् ॥८८॥ प्राकार इति । तेभ्यः स्तूपेभ्यः । पुरस्तात् अग्रे । अच्छस्फटिकघटितः अच्छेन निर्मलेन स्फटिकेन घटितः कृतः । प्राकारः सालः । अभूत् अभवत् । लुङ् । तस्य स्फटिकप्राकारस्य । अन्ते । स्फुरितरुचयः स्फुरिता दीप्ता रुचिः कान्तिर्येषां ते । द्वादश द्वाभ्यामधिका दश । 'द्व्यष्टा—' इत्यादिना द्वा—आदेशः । कोष्ठाः बभूवुः कोष्ठा भवन्ति स्म । लिट् । तेभ्यः कोष्ठेभ्यः । परं परः[3] । तत् । अनुपमम् उपमातीतम् । गन्धकुट्याख्यं गन्धकुटी आख्या अभिधानं यस्य तत्[4] । स्थानं प्रदेशः । आसीत् अभवत् । लङ्[5] । तत्र गन्धकुट्याम् । स्फुरदुरुमणिभ्राजितं स्फुरद्भिः प्रज्वलद्भिरुरुभिर्मणिभिर्भ्राजितं विभासितम् । सिंहपीठं सिंहैरुपलक्षितं[6] पीठं सिंहपीठम् । जज्ञे अजायत । लिट् । अतिशयः ॥८९॥ तस्येति । स्फुरितभासुररत्नरश्मेः स्फुरितः प्रवृद्धो भासुराणां देदीप्यमानानां रत्नानां रश्मिः कान्तिर्यस्य तस्य । तस्य सिंहपीठस्य । उपरि अग्रे । प्रातिहार्यपरिभूषितदिव्यमूर्तिः प्रातिहार्यैरष्टमहाप्रातिहार्यैः परिभूषिता अलंकृता दिव्या परमौदारिकाख्या मूर्तिस्तनुर्यस्य सः । [7]निर्वारवीर्यसुखबोधनिधिः निर्वाराणां निवारयितुमशक्यानां, वीर्यमनन्तवीर्यं तच्च, सुखमनन्तसुखं तच्च, [बोधः] बोधनं (अनन्तं) ज्ञानं तच्च, तथोक्ताः तेषां निधिः । सः जिनेन्द्रः जिनेश्वरः । तत्त्वोपदेशकथनाभिमुखः तत्त्वानां जीवादितत्त्वानामुपदेशस्य प्रतिबोधनस्य कथने निगदनेऽभिमुखः । बभूव[8] भवति स्म । लिट् । जातिः ॥९०॥ तत्रेति । तत्र कोष्ठेषु । मुनिभिः योगिभिः[9] । समं साकम् । गणधराः गणाधिपाः । आद्याः प्रथमाः । कल्पस्त्रियः [10]कल्पवनिताः । संयताः नर[11]-

शिखरोंसे युक्त मुनियोंके सभामण्डप थे ॥८८॥ उन स्तूपोंके आगे स्वच्छ स्फटिक मणिनिर्मित प्राकार था, उसके अन्दर चमकती हुई कान्तिसे युक्त बारह कोठे थे, उनके आगे अनुपम गन्धकुटी नामका एक उत्कृष्ट स्थान था; उसमें जगमगाते हुए बड़े-बड़े मणियोंसे विभूषित सिंहासन था ॥८९॥ चारों ओर फैलनेवाली, देदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंसे विभूषित, उस सिंहासनके ऊपर वे जिनेन्द्र भगवान् चन्द्रप्रभ विराजमान हुए, जिनकी दिव्य मूर्ति आठ प्रातिहार्योंसे विभूषित थी, जो अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यकी निधि थे और तत्त्वोपदेश देनेके लिए सभीके लिए अभिमुख थे ॥९०॥ बारह कोठोंमें, क्रमशः मुनिराजोंके साथ गणधर, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकाएँ, ज्योतिष्क देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासिनी

१. क ख ग घ म दत्ताद्या° । २. म सज्जिता° । ३. = पुरः । ४. श 'गन्धकुटी आख्या अभिधानं यस्त तत्' इति नास्ति, 'गन्धकुट्यभिधानम्' इत्यस्ति । ५. श 'लङ्' इति नास्ति । ६. श सिंहरूपकल्पितम् । ७. एष टीकाश्रयः पाठः, मूलप्रतिषु तु 'निर्बाध०' इत्यस्ति । ८. अयमपि टीकाश्रयः पाठः मूलप्रतिषु तु 'ऽवतस्थे' इति दृश्यते । ९. आ यतिभि । १०. आ स्वर्गव° । ११. श 'नरस्त्रियः' इति नास्ति ।

वन्या ज्योतिषकल्पजाश्च विबुधाः स्वस्योदयाकाङ्क्षिण-
स्तस्थुर्द्वादशसु प्रदक्षिणममी कोष्ठेषु मर्त्या मृगाः ॥९१॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

स्त्रियः आर्यिकाः । ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरवधूसङ्घाः ज्योतिषां ज्योतिष्काणां व्यन्तराणां वन्यानां भावनानाममराणां देवानां वधूनां वनितानां सङ्घाः समूहाः । ततः परम् । भावनाः भवनवासिकदेवाः । वन्याः व्यन्तरदेवाः ज्योतिषकल्पजाः ज्योतिषा ज्योतिष्कदेवाः कल्पजाः कल्पवासिकाश्च । विबुधाः देवाः । मर्त्याः मनुष्याः । मृगाः सिंहादयो मृगाः । स्वस्य आत्मनः । उदय [या] कांक्षिणः उदयमभ्युदयं [यमा] कांक्षन्तीत्येवंशीलाः । अमी एते । द्वादशसु द्वादशप्रमितेषु । कोष्ठेषु । प्रदक्षिणं प्रदक्षिणं यथा तथा । तस्थुः तिष्ठन्ति स्म । ष्ठा गतिनिवृत्तौ लिट् । यथासंख्यालंकारः ॥९१॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने
च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशु ये सभी अपने-अपने अभ्युदयकी कामना करनेवाले जीव, भगवान् चन्द्रप्रभके चारों ओर ऐसे ढंगसे बैठे हुए थे जैसे परिक्रमा देते हैं ॥९१॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दिविरचित उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित महाकाव्यमें
सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७॥

[१८. अष्टादशः सर्गः]

सर्वभाषास्वभावेन ध्वनिनाथ जगद्गुरुः ।
जगाद गणिनः प्रश्नादिति तत्त्वं जिनेश्वरः ॥१॥
जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरावथ निर्जरा ।
मोक्षश्चेति जिनेन्द्राणां सप्त तत्त्वानि शासने ॥२॥
बन्ध एव प्रविष्टत्वादनुक्तिः पुण्यपापयोः ।
तयोः पृथक्त्वपक्षे[1] च पदार्था नव कीर्तिताः ॥३॥
चेतनालक्षणो जीवः कर्ता भोक्ता स्वकर्मणाम् ।
स्थितः शरीरमानेन स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥४॥

विज्ञाय पीठचलनाज्जिनजन्म जिष्णुरागत्य मातृसदनं च शचीसमेतः ।
आरोपयञ् जिनशिशुं करिमस्तकाग्रे मेरुं निनाय सुरवर्त्मपथा समोदः ॥

सर्वेति । अथ उपदेशाभिमुखानन्तरम् । जगद्गुरुः जगतां गुरुः । जिनेश्वरः जिनेन्द्रः । गणिनः । प्रश्नात्[2] प्रार्थनायाः । सर्वभाषास्वभावेन सर्वाः समस्ता भाषा एव स्वभावो यस्य तेन । तदुक्तम्—'गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं[3], कण्ठोष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतम् । स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथनं निःशेषभाषात्मकं, दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः ॥' इति । ध्वनिना दिव्यध्वनिना । दात् (?) । तत्त्वं जीवादितत्त्वम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । जगाद ब्रवीति स्म । लिट् । जातिः ॥ १ ॥ जीवेति । अथ अनन्तरम् । जिनेन्द्राणां जिनेश्वराणाम् । शासने स्याद्वादशासने । जीवाजीवास्रवाः जीवो जीवतत्त्वम्, अजीवतत्त्वम् आस्रवतत्त्वं च । बन्धसंवरौ बन्धश्च बन्धतत्त्वं च संवरश्च संवरतत्त्वं च । निर्जरा निर्जरातत्त्वं च । मोक्षश्चेति मोक्षतत्त्वमिति । तत्त्वानि सप्तविधानि । भवन्ति ॥ २ ॥ बन्ध इति । पुण्यपापयोः पुण्यपदार्थपापपदार्थयोः । बन्ध एव बन्धतत्त्व एव । प्रविष्टत्वात् अन्तर्भूतत्वात् । अनुक्तिः पृथगुच्चारणं नास्तीत्यर्थः । तयोः पुण्यपापद्वयोः । पृथक्त्वपक्षे च भिन्नत्वपक्षाङ्गीकारे । नव नवसंख्याः । पदार्थाः नवपदार्था इति । कीर्तिताः प्रोक्ताः ॥ ३ ॥ चेतनेति । चेतनालक्षणः चेतयति ज्ञाने(न) जानाति दर्शनेन पश्यतीति चेतना, सैव लक्षणमसाधारणं स्वरूपं यस्य सः । स्वकर्मणां स्वस्य कर्मणां शुभाशुभरूपाणाम् । कर्ता विधाता । भोक्ता कर्मफलानां भोक्ता अनुभविता । शरीरमानेन स्वीकृतदेहप्रमाणेन । स्थितः आसितः । स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः स्थितिर्द्रव्यं (ध्रौव्यं) सा च उत्पत्तिर्जननं सा च व्ययो विनाशः स च, तथोक्ताः,

इसके पश्चात् जगद्गुरु जिनेश्वर भगवान् चन्द्रप्रभकी स्वभावतः सभी भाषाओंमें परिणत होनेवाली दिव्यध्वनि, गणधरके प्रश्नके अनुसार खिरी, जिसमें जीवादि तत्त्वोंका इस प्रकारसे निरूपण किया गया था—॥१॥ जिन शासनमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व बतलाये गये हैं ॥२॥ बन्धमें गर्भित होनेके कारण पुण्य और पापको अलगसे नहीं कहा गया है। यदि पुण्य और पापको अलग कहा जाय तो नौ पदार्थ हो जाते हैं—जीवादि सात और पुण्य-पाप दो। आगममें नौ पदार्थोंकी भी चर्चा की गई है ॥३॥ जीवका लक्षण चेतना है। वह शुभ एवं अशुभ कर्मोंका कर्त्ता है, अपने किये हुए कर्मोंके फलका भोक्ता है, देह-परिणामी है—जिस देहको वह प्राप्त करता है, उसीके बराबर होकर उसमें

१. म पृथक् च पक्षे । २. आ दत्तप्रश्नात् । ३. श °पेतं तथा ।

भव्याभव्यप्रभेदेन द्विप्रकारोऽप्यसौ पुनः।
नरकादिगतेर्भेदाच्चतुर्धा भेदमश्नुते ॥५॥
सप्तधा पृथिवीभेदान्नारकोऽपि[1] प्रभिद्यते।
अधोलोकस्थिताः सप्त पृथिव्यः परिकीर्तिताः ॥६॥
आद्या रत्नप्रभा नाम[2] द्वितीया शर्कराप्रभा।
सिकतादिप्रभाम्या च[3] परा पङ्कप्रभा मता ॥७॥
धूमप्रभा ततो ज्ञेया परा तस्यास्तमःप्रभा।
महातमःप्रभा चेति तासां नामान्यनुक्रमात्[4] ॥८॥
प्रथमायां पृथिव्यां ये नारकास्तेषु कीर्तिताः।
उत्सेधः सप्त चापानि त्रयो हस्ताः षडङ्गुलाः ॥९॥
द्विगुणो द्विगुणोऽन्यासु पृथिवीषु यथाक्रमम्।
द्वितीयादिषु विज्ञेयो यावत्पञ्चधनुःशती[5] ॥१०॥

त एवात्मा स्वरूपं यस्य सः ॥ ४ ॥ भव्येति। असौ अयम्। जीवः। पुनः पश्चात्। भव्याभव्यप्रभेदेन भव्याभव्ययोः—रत्नत्रयाविर्भवनयोग्यो भव्यः, इतरोऽभव्यः तयोर्भेदेन। द्विप्रकारोऽपि द्वौ प्रकारौ यस्य सः। नरकादिगतेः नरकप्रभृतिगतेः। भेदात् भेदरूपात्। चतुर्धा। भेदं भेदरूपम्। अश्नुते व्याप्नोति। अशोङ्[6] व्याप्तौ लट् ॥ ५ ॥ सप्तधेति। नारकोऽपि नरकगतजीवोऽपि। पृथिवीभेदात् पृथिवीनां रत्नप्रभादिसप्त-भूमीनां भेदात्। सप्तधा सप्तभिः प्रकारैः। प्रभिद्यते भेदः क्रियते। अधोलोकस्थिताः अधोलोकेऽधोभुवने स्थिता आश्रिताः। पृथिव्यः भूमयः। सप्तेति सप्तसंख्या इति। परिकीर्तिताः प्रोक्ताः ॥ ६ ॥ आद्येति। आद्या प्रथमा। रत्नप्रभा रत्नप्रभाख्या। नाम निश्चयेन। द्वितीया द्वयोः पूरणा। शर्कराप्रभा। अन्या परा तृतीया इत्यर्थः। सिकतादिप्रभा च सिकतैवादौ यस्याः सा, सा चासौ प्रभा च तथोक्ता वालुकाप्रभेत्यर्थः। परा चतुर्थी। पङ्कप्रभा पङ्कप्रभेति। मता अङ्गीकृता ॥ ७ ॥ धूमेति। ततः पश्चात्। धूमप्रभा पञ्चमी धूमप्रभा। ज्ञेया ज्ञातव्या। तस्याः पञ्चम्याः सकाशात्। परा अन्या, षष्ठी इत्यर्थः। तमःप्रभा। महातमः—प्रभा चेति सप्तमी महातमःप्रभा इति। अनुक्रमात् परिपाट्याः। तासां सप्तमीनाम् (?)। नामानि नाम-धेयानि। भवन्ति ॥ ८ ॥ प्रथमेति। प्रथमायाम् आद्यायाम्। पृथिव्यां भूम्याम्। ये नारकाः नरकगतिपर्याय-जीवाः। कीर्तिताः प्रोक्ताः। तेषु नारकजीवेषु। उत्सेधः देहोन्नतिः। सप्त। चापानि धनूंषि। त्रयः। हस्ताः अरत्नयः। षडङ्गुलाः षट् च ता अङ्गुलयश्च। 'संख्याव्ययादङ्गुलेः' इति ड-प्रत्ययः ॥ ९ ॥ द्विगुणेति। द्वितीयादिषु द्वितीया आदिर्यासां तासु। अन्यासु पृथिवीषु भूमिषु। यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य। तस्य द्विगुण-द्विगुणः[7] द्वौ गुणौ यस्य सः। विज्ञेयः वेदितव्यः। यावत् यावत्पर्यन्तम्। पञ्चधनुःशती पञ्चानां धनुःशतानां

स्थित हो जाता है और उत्पाद, व्यय, व ध्रौव्यात्मक है ॥४॥ यह भव्य और अभव्यके भेदसे दो प्रकारका है फिर भी नरक आदि चार गतियोंके भेदकी अपेक्षासे चार प्रकारका है ॥५॥ नरक गतिके जीव सात भूमियोंके भेदकी दृष्टिसे सात प्रकारके होते हैं। अधोलोकमें सात पृथिवियाँ बतलायी गयी हैं ॥६॥ (१) रत्नप्रभा, (२) शर्करा प्रभा, (३) वालुकाप्रभा, (४) पङ्क प्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा और (७) महातमःप्रभा—ये उन पृथिवियोंके क्रमशः सात नाम हैं ॥७–८॥ पहली पृथिवीमें जो नारकी बतलाये गये हैं, उनके शरीरकी ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल है ॥९॥ द्वितीय आदि अन्य पृथिवियोंमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई क्रमशः दूनी-दूनी जाननी चाहिए। इसी हिसाबसे सातवीं पृथिवीके नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई

१. अ नरकोऽपि। २. अ नाम्नी। ३. आ इ क ख ग घ °दिप्रभा चान्या। ४. क ख ग घ म °न्यनुक्रमम्। ५. क ख ग घ म °धनुःशतीम्। ६. श आशाश्। ७. श तस्य द्विगुणः-द्वौ गुणौ यस्य सः।

एकस्त्रयस्ततः सप्त दश सप्तदश क्रमात् ।
द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशत्तासु स्युः सागरोपमाः[1] ॥११॥
दशवर्षसहस्राणि जघन्यं प्रथमक्षितौ ।
द्वितीयादौ जघन्यं तत्प्रथमादौ यदुत्तमम् ॥१२॥
त्रिंशन्नरकलक्षाणि प्रथमायां ततः परम् ।
पञ्चविंशतिरुद्दिष्टास्ततः पञ्चदश क्रमात् ॥१३॥
दश त्रीणि ततो हीनं पञ्चभिर्लक्षमीरितम्[2] ।
ततः पञ्चैव नरकाश्चरमायां प्रकीर्तिताः ॥१४॥
बह्वारम्भादिसंभूतैः पापैः परवशीकृताः ।
तत्र जीवाः प्रपद्यन्ते दुःखं भूत्वौपपादिकाः ॥१५॥

समाहारः ॥१०॥ एक इति । तासु सप्तभूमिषु । आयुः आयुष्यम् । क्रमात् परिपाट्याः । एकः सागरोपमः । त्रयः त्रिसागरोपमाः । ततः पश्चात् । सप्तसप्तसागरोपमः । दश दशसागरोपमाः । सप्तदश सप्तदश-सागरोपमाः । द्वाविंशतिः द्वाविंशतिसागरोपमाः । त्रयस्त्रिंशत् त्रिभिरधिका त्रिंशत् सागरोपमाः । स्युः ॥११॥ दशेति । प्रथमक्षितौ प्रथमायामाद्यायां क्षितौ भूमौ । जघन्यं जघन्यायुष्यम् । दश दशप्रमितानि । वर्षसहस्राणि वर्षाणां संवत्सराणां सहस्राणि । भवेत् । प्रथमादौ रत्नप्रभादौ । यत् । उत्तमम् उत्कृष्टायुष्यम् । स्यात् । तत् । द्वितीयादौ शर्कराप्रभादौ । जघन्यं हीनायुष्यम् । भवेत् । प्रथमक्षितौ उत्तमायुष्यमेकसागरः, स एव द्वितीयक्षितौ जघन्यायुष्यम् । द्वितीयक्षितौ त्रिसागरोपमम्, तदेव तृतीयक्षितौ जघन्यायुष्यं भवेत्, एवं सर्वत्र योज्यम् ॥१२॥ त्रिंशदिति । प्रथमायां प्रथमभूमौ । नरकलक्षाणि नरकाणां लक्षाणि दश (शत) सहस्राणि । त्रिंशत् । ततः तस्याः । परं पुरः । पञ्चविंशतिः पञ्चविंशतिनरकलक्षाणि । उद्दिष्टाः प्रोक्ताः । [ततः] पञ्चदश पञ्चदशलक्षाणि । क्रमात् क्रमतः ॥१३॥ दशेति । ततः परम् । दश दशलक्षाणि । ततः परम् । त्रीणि त्रिलक्षाणि । पञ्चभिः पञ्चबिलैः रहितम् । लक्षम् एकलक्षम् । ईरितं निगदितम् । ततः परम् । चरमायां सप्तम्यां क्षितौ । नरकाः नरकबिलानि । पञ्चैव । प्रकीर्तिताः निगदिताः ॥१४॥ बह्विति[3] । तत्र नरकेषु । बह्वारम्भादिसंभूतैः बह्वारम्भादिभिर्बह्वारम्भपरिग्रहहिंसादिभिः[4] संभूतैः संजातैः । पापैः अशुभकर्मभिः । परवशीकृताः परवशं गताः । जीवाः प्राणिनः । औपपादिकाः उपपादेषु

पाँच सौ धनुष है ॥१०॥ उन सातों पृथिवियोंमें नारकियोंकी आयु क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागर प्रमाण है ॥११॥ प्रथम पृथिवीमें नारकियोंकी जघन्य आयु दस हजार वर्ष है, दूसरी पृथिवीमें जघन्य आयु वही है जो प्रथम पृथिवीमें उत्कृष्ट आयु है। इसी क्रमसे सातवीं पृथिवी तकके नारकियोंकी जघन्य आयु समझ लेनी चाहिए—पूर्व पृथिवीके नारकियोंकी जो उत्कृष्ट आयु है वही उससे अगली पृथिवीके नारकियोंकी जघन्य आयु जाननी चाहिए ॥१२॥ पहली पृथिवीमें तीस लाख नरक (नारकियोंके बिल), दूसरीमें पच्चीस लाख और तीसरीमें पन्द्रह लाख हैं ॥१३॥ चौथीमें दस लाख, पाँचवींमें तीन लाख, छठीमें पाँच कम एक लाख और अन्तिम अर्थात् सातवींमें केवल पाँच ही हैं ॥१४॥ बहुत आरम्भ और परिग्रह आदिके निमित्तसे किये गये पापोंसे विवश होकर जीव उपपाद जन्म धारण करके उन

१. क ख ग घ म °रोपमम् । २. इ °मीरितः । ३. श बह्वीति । ४. आ °हिंसानन्दादिभिः ।

इति नारकभेदेन कृता जीवस्य वर्णना ।
तिर्यग्गतिकृतो भेदः सांप्रतं वर्णयिष्यते ॥१६॥
त्रसस्थावरभेदेन तिर्यग्जीवो द्विधा स्मृतः ।
तत्र द्वीन्द्रियमारभ्य त्रसः पञ्चेन्द्रियावधि ॥१७॥
स्थावराः कायभेदेन पञ्चधा परिकीर्तिताः ।
पृथिवीकायिकाः केचित्केचिदप्कायिकाः स्मृताः ॥१८॥
तेजःकायभृतः केचिदपरे वायुकायिकाः ।
स्युर्वनस्पतिकायाश्च सर्वेऽप्येकेन्द्रियाः स्मृताः ॥१९॥
सहस्रं मानमुत्कर्षाद्योजनानां प्रकीर्तितम् ।
पञ्चेन्द्रियशरीरस्य तदेवैकेन्द्रियेऽधिकम् ॥२०॥
द्वीन्द्रिये द्वादशैव स्युर्योजनानि यथागमम् ।
त्रिक्रोशं त्रीन्द्रिये प्रोक्तं योजनं चतुरिन्द्रिये ॥२१॥

जाताः[1] । भूत्वा जनित्वा । दुःखं क्षेत्रजनितादिदुःखम्[2] । प्रपद्यन्ते प्राप्नुवन्ति । लट् ॥१५॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । नारकभेदेन नारकाणां नरकजनितानां जीवानां प्रभेदेन प्रकारेण । जीवस्य जीवतत्त्वस्य । वर्णना कीर्तना । कृता विहिता । साम्प्रतम् इदानीम् । तिर्यग्गतिकृतः तिर्यग्गत्या कृतो विहितः । भेदः प्रकारः । वर्णयिष्यते । वर्ण वर्णनक्रियायां[3] लृट् ॥१६॥ त्रसेति[4] । तिर्यग्जीवः तिर्यग्गतिगतजीवः त्रसस्थावर-भेदेन त्रसजीवस्थावरजीवयोर्भेदेन विकल्पेन । द्विधा । स्मृतः ज्ञातः[5] । तत्र त्रसस्थावरयोर्मध्ये । द्वीन्द्रियं द्वीन्द्रिय-जीवम् । आरभ्य प्रारभ्य । पञ्चेन्द्रियावधिः पञ्चेन्द्रिय एवावधिरवसानो यस्य सः । त्रसः त्रसजीव इति ज्ञातव्यः ॥१७॥ स्थावरा इति । स्थावराः स्थावरजीवाः कायभेदेन कायानां देहानां भेदेन विकल्पेन । पञ्चधा पञ्चप्रकारैः । परिकीर्तिताः परिभाषिताः । केचित् । पृथिवीकायिकाः पृथिवीकायिकजीवाः[6] । केचित् एके । अप्कायिकाः अप्कायिकजीवाः । स्मृताः ज्ञाताः ॥१८॥ तेज इति । केचित् एके । तेजस्कायभृतः तेजोऽग्निः स एव कायः तं बिभ्रतीति तेजस्कायिकजीवाः । अपरे केचित् । वायुकायिकाः वातकायिकजीवाः । केचित् । वनस्पतिकायिकाः वनस्पतिकायिकजीवाः । स्युः भवेयुः । सर्वेऽपि एते सर्वेऽपि । एकेन्द्रियाः इति एकमिन्द्रियं येषां ते । स्मृताः ज्ञाताः ॥१९॥ सहस्रमिति । पञ्चेन्द्रियशरीरस्य पञ्चेन्द्रिस्य पञ्चेन्द्रियजीवस्य शरीरस्य-देहस्य । उत्कर्षात् उत्कृष्टात् । योजनानाम् । सहस्रं दशशतम् । मानम् उत्सेधप्रमाणम् । प्रकीर्तितं प्रोक्तम् । तदेव योजनानां सहस्रमेव । एकेन्द्रिये जीवे । अधिकम्[7] उत्कृष्टमिति प्रकीर्तितम् ॥२०॥ द्वीन्द्रिय इति । द्वीन्द्रिये

नरकोंमें दुःख उठाते हैं ॥१५॥ इस प्रकार नारकियोंके भेदकी दृष्टिसे जीवोंका वर्णन किया । अब तिर्यग्गतिकी अपेक्षासे जीवोंके भेदोंका वर्णन किया जायगा ॥१६॥ त्रस और स्थावरके भेदसे तिर्यञ्च जीव दो प्रकारके होते हैं । उनमें द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं ॥१७॥ काय भेदकी दृष्टिसे स्थावर जीव पाँच प्रकारके कहे गये हैं— कोई जीव पृथिवीकायिक होते हैं, कोई जलकायिक होते हैं ॥१८॥ कोई तेजस्कायिक होते हैं, कोई वायुकायिक होते हैं और कोई वनस्पतिकायिक होते हैं । ये सभी जीव एकेन्द्रिय होते हैं ॥१९॥ पञ्चेन्द्रिय जीवके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण एक हजार योजन है और एकेन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजन है ॥२०॥ द्वीन्द्रिय जीवके

---

१. श 'जाताः' इति नास्ति । २. श क्षेत्रजनितानि । ३. आ वर्णक्रियायां । ४. श त्रसीति । ५. श जातः । ६. श °कायिका जीवाः । ७. = योजनसहस्रतोऽपि किंचिदधिकम् ।

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमितीन्द्रियम् ।
वर्धनीयं क्रमादेतेष्वेकैकं द्वीन्द्रियादिषु ॥२२॥
संवत्सरसहस्राणि द्वाविंशतिरुदाहृतम् ।
पृथिवीकायिकेष्वायुरुत्कर्षेण जिनागमे ॥२३॥
तान्यप्कायिषु[1] सप्त स्युस्त्रीणि मारुतकायिषु ।
वनस्पतौ दशोक्तानि तेजःकायिष्वहस्त्रयम् ॥२४॥
वर्षाणि द्वादशैवायुर्द्वीन्द्रियाणां प्रकीर्तितम् ।
दिनान्येकोनपञ्चाशत्त्रीन्द्रियेषु शरीरिषु ॥२५॥
षण्मासप्रमितं प्रोक्तं चतुरिन्द्रियदेहिषु ।
पञ्चेन्द्रियेषु पूर्वाणां कोटयेका परिकीर्तिता ॥२६॥

द्वीन्द्रियजीवे । यथागमम् आगममनतिक्रम्य । योजनानि । द्वादशैव द्वाभ्यामधिकानि दश द्वादश तान्येव । स्युः भवेयुः । अस भुवि लिङ्[2] । त्रीन्द्रिये त्रीन्द्रियजीवे । त्रिक्रोशं त्रयाणां क्रोशानां समाहारः त्रिकोशम् । चतुरिन्द्रिये चतुरिन्द्रियजीवे । योजनम् एकयोजनम् । प्रोक्तं निगदितम् ॥२१॥ **स्पर्शनमिति** । स्पर्शनं स्पर्शनमिति । रसनं रसनमिति । घ्राणं घ्राणमिति । चक्षुः चक्षुरिति । श्रोत्रं श्रोत्रमिति । इन्द्रियं भवेत् । द्वीन्द्रियादिषु द्वीन्द्रियादि-जीवेषु । एतेषु उत्सेधोक्तेषु । क्रमात् क्रमेण । एकैकम् । वीप्सायां द्विः । वर्धनीयम्[3] ऐधितव्यम् ॥२२॥ **संवत्स-रेति** । जिनागमे जिनशासने । पृथिवीकायिकेषु पृथिवीकायिकजीवेषु । उत्कर्षेण[4] उत्कृष्टेन । आयुः आयुष्यम् । द्वाविंशतिः द्वाभ्यामधिका विंशतिस्तथोक्ता । संवत्सरसहस्राणि संवत्सराणां सहस्राणि दशशतानि । उदाहृतं निगदितम् ॥२३॥ **तानीति**[5] । अप्कायिषु अप्कायिकेषु । सप्त सप्तवर्षसहस्राणि । मारुतकायिषु वायुकायिकेषु । त्रीणि त्रीणि वर्षसहस्राणि । वनस्पतौ वनस्पतिकायिके । दश दशवर्षसहस्राणि । तेजःकायिषु तेजस्कायिकेषु । अहस्त्रयं त्रीणि रात्रिन्दिवानि । उत्कृष्टा स्थितिरिति शेषः ॥२४॥ **वर्षेति** । द्वीन्द्रियाणां द्वीन्द्रियजीवानाम् । द्वादशैव । वर्षाणि संवत्सराः । आयुः आयुष्यम् । प्रकीर्तितं प्रभाषितम् । त्रीन्द्रियेषु त्रीन्द्रिययुतेषु[6] । शरीरिषु प्राणिषु । एकोनपञ्चाशत् एकरहिता पञ्चाशत् । दिनानि दिवसाः । प्रोक्तानि ॥२५॥ **षण्मासेति** । चतुरिन्द्रियदेहिषु चतुरिन्द्रियेषु देहिषु जीवेषु । षण्मासप्रमितं षण्मासैःप्रमितम् । आयुः । प्रोक्तं निगदितम् ।

शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण बारह योजन है, इससे अधिक नहीं, जैसा कि आगममें प्रतिपादित है। त्रीन्द्रिय जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण तीन कोश है और चतुरिन्द्रिय जीवके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण एक योजन है ॥२१॥ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं, इनमें-से क्रमसे एक-एक इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों-में बढ़ानी चाहिए। एकेन्द्रिय जीवोंमें केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है, द्वीन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन और रसना, त्रीन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन, रसना और घ्राण, चतुरिन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु तथा पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ॥२२॥ पृथिवी-कायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु जिनागममें बाईस हजार वर्षकी बतलायी गयी है ॥२३॥ जलकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्षकी; वायुकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्षकी, वनस्पतिकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु दश हजार वर्षकी और तेजस्कायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु केवल तीन दिनकी है ॥२४॥ द्वीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्षकी और त्रीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु एक कम पचास दिनकी है ॥२५॥ चतुरिन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु छह

१. म तान्यकायिषु । २. आ लेङ् । ३. आ वर्धमानीयम् । ४. = प्रकर्षेण । ५. आ श अस्य पद्यस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ६. श त्रीन्द्रियजीवेषु ।

तिर्यग्गतिप्रभेदस्य[1] क्रमोऽयं संप्रदर्शितः ।
कीर्त्यन्ते सांप्रतं केचिद्भेदा नरगतेरपि ॥२७॥
भोगकर्मभुवो भेदान्मानुषा द्विविधाः स्मृताः ।
देवकुर्वादिभेदेन स्युस्त्रिंशद्भोगभूमयः ॥२८॥
मध्योत्तमजघन्येन ताश्चत्रेधा[2] व्यवस्थिताः ।
षट्सहस्राणि चापानामुत्तमासु नृणां प्रमा ॥२९॥
मध्यमासु च चत्वारि द्वे जघन्यासु कीर्तिते[3] ।
त्रीणि पल्योपमान्यायुर्द्वे चैकं तास्वनुक्रमात् ॥३०॥
मद्याङ्गादिभिदाभिन्नं दशकल्पद्रुमोद्भवम्[4] ।
पात्रदानप्रभावेण[5] भुञ्जते तत्र ते फलम् ॥३१॥

पञ्चेन्द्रियेषु पञ्चेन्द्रियजीवेषु । पूर्वाणां 'पूर्व'—प्रतीतानाम् । वर्षाणाम् । एका कोटिरिति[6] । परिकीर्तिता प्रभाषिता ॥२६॥ तिर्यग्गतीति । तिर्यग्गतिप्रभेदस्य तिरश्चां तिर्यग्जीवानां गतेः प्रभेदस्य विकल्पस्य । अयम् एषः । क्रमः परिपाटी । संप्रदर्शितः प्रकीर्तितः । सांप्रतम् इदानीम् । नरगतेरपि नराणां मनुष्याणां गतेरपि भवस्यापि । केचित्[7] कियन्तः । भावाः विकल्पाः । कीर्त्यन्ते प्रदर्श्यन्ते । कृ शब्दे कर्मणि लट् ॥२७॥ भोगेति ।[8] मानुषाः मनुष्याः । भोगकर्मभुवः भोगभूश्च भोगभूमिश्च कर्मभूश्च कर्मभूमिश्च तयोः । भेदात् विकल्पात् । द्विविधाः द्विप्रकारकाः । स्मृताः । देवकुर्वादिभेदेन देवकुरुप्रभृतिभेदेन । भोगभूमयः । त्रिंशत् स्युः ॥२८॥ मध्येति । मध्योत्तमजघन्येन मध्येन मध्यमेनोत्तमेनोत्कृष्टेन जघन्येन चरमेण । भेदेन । ताश्च भोगभूमयः । त्रेधा त्रिधा—त्रिभिः प्रकारैः । 'प्रकारे धा'(?) ['एधाच्'] इति धा-प्रत्ययः । व्यवस्थिताः निश्चिताः । उत्तमासु उत्तमभोग[9]भूमिषु । नृणां मनुष्याणाम् । प्रमा-प्रमाणम् । चापानां धनुषाम् । षट् सहस्राणि कीर्तितानि ॥२९॥ मध्यमेति । मध्यमासु च मध्यमभोगभूमिषु । चत्वारि चतुःसहस्राणि । जघन्यासु जघन्यभोगभूमिषु । द्वे द्विसहस्रे । कीर्तिते प्रकाशिते । तासु भोगभूमिषु । अनुक्रमात् आनुपूर्व्यात्[10] । आयुः आयुष्यम् । त्रीणि पल्योपमानि त्रिपल्योपमानि । द्वे च द्विपल्योपमे च । एकम् एकपल्योपमम् । कीर्तितम् ॥३०॥ मद्येति । ते भोगभूमिमानवाः । तत्र भोगभूमिषु । पात्रदानप्रभावेण पात्राणां दानानां प्रभावेण माहात्म्येन । मद्याङ्गादिभिदा मद्याङ्गादीनां भिदा भेदेन । भिन्नदशकल्पद्रुमोद्भवं भिन्नैर्विकल्पितैर्दशभिः कल्पद्रुमैरुद्भवमुत्पन्नम् । फलं

मासकी है और पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटी की ॥२६॥ यह तिर्यग्गतिके भेदोंका क्रम दिखलाया है, अब मनुष्य गतिके भी कुछ भेदोंकी चर्चा की जा रही है॥२७॥ भोग-भूमि और कर्मभूमिके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके होते हैं । देवकुरु और उत्तरकुरु आदि भेदोंकी दृष्टिसे भोगभूमियाँ तीस हैं ॥२८॥ उत्तम, मध्यम और जघन्य इन भेदोंकी दृष्टिसे भोगभूमियाँ तीन प्रकारकी हैं । उत्तम भोगभूमिमें मनुष्योंकी ऊँचाई छह हजार धनुष है ॥२९॥ मध्यम भोगभूमिमें मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई चार हजार धनुष है और जघन्य भोगभूमियोंमें मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष है ॥३०॥ पात्रदानके प्रभावसे भोगभूमियोंमें उत्पन्न हुए जीव

---

१. म तिर्यगादिप्र° । २. म क्रमात् त्रेधा । ३. अ आ इ कीर्त्यते । ४. क ख ग घ °कल्प-तरूद्भवम् । ५. अ आ इ प्रभावेन । ६. आ कोटीति । ७. श 'केचित्' इति नास्ति । ८. आ श अस्य श्लोकस्य व्याख्या नोपलभ्यते । ९. श उक्तभोग° । १०. श आनुपूर्व्याः ।

आर्यम्लेच्छप्रभेदेन द्विविधाः कर्मभूमिजाः ।
भरतादिभिदा पञ्चदश स्युः कर्मभूमयः ॥३२॥
शतानि पञ्च चापानां कर्मभूमिनिवासिनाम् ।
पञ्चविंशतियुक्तानि मानमुत्कृष्टवृत्तितः ॥३३॥
पूर्वकोटिप्रमाणं च तेषामायुः प्रकीर्तितम् ।
वृद्धिह्रासौ विदेहे न भरतैरावतेष्विव ॥३४॥
भरतैरावते वृद्धिह्रासिनी कालभेदतः
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालभेदावुदाहृतौ ॥३५॥
सागरोपमकोटीनां दश कोटयोऽवसर्पिणी ।
प्रमाणं तावदेवाहुरुत्सर्पिण्याश्च तद्विदः ॥३६॥
सुषमोपपदा[1] प्रोक्ता सुषमा सुषमा ततः ।
दुःषमा सुषमाद्यान्या सुषमान्ता च दुःषमा ॥३७॥

निष्पन्नम् । भुञ्जते अनुभवन्ति । भुज पालनाभ्यवहारयोः लट् ॥३१॥ आर्येति । आर्यम्लेच्छप्रभेदेन आर्याणां म्लेच्छानां प्रभेदेन विकल्पेन । कर्मभूमिजाः कर्मभूमिजनिताः । मनुष्याः । द्विविधाः द्वे विधे प्रकारौ येषां ते । भरतादिभिदा भरतादीनां भिदा भेदेन । आदिशब्देनैरावतविदेहयोर्ग्रहणम् । कर्मभूमयः कर्मभुवः । पञ्चदश पञ्चभिरधिका दश । स्युः भवेयुः । लिङ्[2] ॥३२॥ शतानीति । कर्मभूमिनिवासिनां कर्मभूमिषु निवासिनां निवसताम् । उत्कृष्टवृत्तितः[3] उत्कृष्टवर्तनात् । मानं प्रमाणम् । पञ्चविंशतियुक्तानि पञ्चभिरधिकया त्रिंशत्या युक्तानि सहितानि । चापानां धनुषाम् । पञ्चशतानि प्रोक्तानि ॥३३॥ पूर्वेति । तेषां कर्मभूमिजमनुष्याणाम् । आयुः जीवनम् । पूर्वकोटिप्रमाणं पूर्वकोटिरेव प्रमाणं प्रमितिर्यस्य तत् । प्रकीर्तितं निगदितम् । भरतैरावतेष्विव भरतेषु ऐरावतेषु क्षेत्रेषु इव । विदेहे विदेहक्षेत्रे । वृद्धिह्रासौ वृद्धिहानी । न न भवतः ॥३४॥ भरतेति । कालभेदतः कालस्य भेदतो विभागतः[4] । भरतैरावते भरतैरावतक्षेत्रे । वृद्धिह्रासिनी वृद्धिहानिमती । उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ उत्सर्पिणी चावसर्पिणी च तथोक्ते । कालभेदौ कालविभागौ । उदाहृतौ प्रकीर्तितौ[5] ॥३५॥ सागरेति । सागरोपमकोटीनां सागरोपमानां कोटीनाम् । दशकोटयः दशकोटिकोटय इत्यभिप्रायः । अवसर्पिणी भवतीति । तद्विदः कालभेदज्ञाः । उत्सर्पिण्याश्च । तावदेव दशकोटिकोटय एव । प्रमाणम् । आहुः ब्रुवन्ति । 'ब्रुवस्तिप्यञ्चत.—' इति झेरुसादेशः तद्योगे ब्रुव आह—इत्यादेशः ॥३६॥ सुषमेति । सुषमोपपदा सुषमैवोपपदं यस्याः सा सुषमा इति । प्रोक्ता निगदिता । सुषमासुषमा—इत्यर्थः । ततः पुनः । अन्या इतरा । सुषमा

वहाँपर मद्यांग आदि दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए भोगोंको भोगते हैं ॥३१॥ आर्य और म्लेच्छके भेदसे, कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य दो-दो प्रकारके होते हैं । भरत आदिके भेदसे कर्मभूमियाँ पन्द्रह होती हैं ॥३२॥ कर्मभूमियोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाईका उत्कृष्ट प्रमाण पाँच सौ पच्चीस धनुष है ॥३३॥ कर्मभूमिके मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण एक पूर्व कोटि कहा गया है । भरत और ऐरावत क्षेत्रोंकी तरह विदेह क्षेत्रमें वृद्धि और ह्रास नहीं होते ॥३४॥ कालभेदके कारण भरत और ऐरावतमें वृद्धि और ह्रास होते हैं । उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो कालके भेद कहे गये हैं ॥३५॥ अवसर्पिणी दस कोडाकोड़ी सागरकी होती है, और उत्सर्पिणीका प्रमाण भी उतना ही है, जितना अवसर्पिणीका है—दस कोड़ाकोड़ी सागर॥३६॥ सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, दुःषमा और दुःषमा-दुःषमा—ये छह भेद अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनोंके कहे गये हैं । हाँ, इनके क्रममें अन्तर पड़

१ अ आ इ. सुखमोपपदा । २. आ लेङ् । ३. = प्रकर्षतः । ४. श विभागेन । ५. श कीर्तितौ ।

पञ्चमी दुःषमा ज्ञेया षष्ठी चात्यन्तदुःषमा ।
प्रत्येकमिति षड्भेदास्तयोरुक्ता द्वयोरपि ॥३८॥

सागरोपमकोटीनां चतस्रः कोटयः स्मृताः ।
पूर्वा तिस्रो द्वितीया च द्वे तृतीया प्रकीर्तिता ॥३९॥

द्वाचत्वारिंशता वर्षसहस्रैः परिवर्जिता[1] ।
एका कोटी च कोटीनां चतुर्थी परिकीर्तिता ॥४०॥

पञ्चमी च सहस्राणि वर्षाणामेकविंशतिः ।
षष्ठी तावत्प्रमाणैव जिनैः कालकलाः स्मृताः ॥४१॥

म्लेच्छाः[2] खण्डप्रभेदेन पञ्चधा परिकीर्तिताः ।
म्लेच्छखण्डा[3] यतः पञ्च कथ्यन्ते कर्मभूमिषु ॥४२॥

सुषमेत्यर्थः । सुषमाद्या सुषमैवाद्ये प्रथमे यस्याः सा दुःषमा सुषमादुःषमेत्यर्थः । सुषमान्ता च सुषमैवान्तेऽवसाने यस्याः सा दुःषमासुषमेत्यर्थः ॥३७॥ **पञ्चमीति** । पञ्चमी पञ्चानां पूरणा । दुःषमा दुःषमेति[4] । ज्ञेया ज्ञातव्या । षष्ठी षण्णां पूरणा षष्ठी । 'षट् कति कतिपयात् थट्' इति थट्—प्रत्ययः । अत्यन्तदुःषमा अतिदुःषमेत्यर्थः[5] । द्वयोः[6] द्विसंख्ययोः । तयोः उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः । प्रत्येकमपि पृथगपि । षड्भेदाः षड्विकल्पाः । उक्ताः उदाहृताः॥३८॥ **सागरेति**[7] । पूर्वा सुषमसुषमा । सागरोपमकोटीनां चतस्रः कोटयः—चतस्रः सागरोपमकोटीकोटयः—इत्यर्थः । स्मृताः । आगमज्ञैरिति शेषः । द्वितीया सुषमा । तिस्रः तिस्रः सागरोपमकोटीकोटयः । तृतीया च सुषमदुःषमा च । द्वे द्वे सागरोपमकोटीकोटयौ । प्रकीर्तिता प्रतिपादिता ॥३९॥ **द्वेति** । चतुर्थी चतुर्णां पूरणा चतुर्थी दुःषमासुषमा । द्वाचत्वारिंशता द्वाभ्यामधिकया चत्वारिंशता । वर्षसहस्रैः वर्षाणां सहस्राणि तैः । परिवर्जिता रहिता । कोटीनां सागरोपमानां कोटीनां कोटिसंख्यानाम् । एका कोटिः एकसागरोपमकोटिकोटिरित्यर्थः[8] । परिकीर्तिता प्रोक्ता ॥४०॥ **पञ्चमीति** । पञ्चमी पञ्चमी च दुःषमा । वर्षाणां संवत्सराणाम् । एकविंशतिः एकाधिका विंशतिः । सहस्राणि दशशतानि । षष्ठी अतिदुःषमा[9] । तावत्प्रमाणैव तावन्मात्रं प्रमाणं यस्याः सा, एकविंशतिसहस्रवर्षाणीत्यर्थः । जिनैः जिनेश्वरैः । कालकलाः कालभेदः[10] । स्मृता ज्ञाताः[11] ॥४१॥ **म्लेच्छा इति** । कर्मभूमिषु कर्मयुक्तभूमिषु । यतः यस्मात् । म्लेच्छखण्डाः । पञ्च पञ्चसंख्याः । कथ्यन्ते प्रोच्यन्ते । कथ वाक्यप्रबन्धे लट् । खण्डप्रभेदेन खण्डानां विभागानां प्रभेदेन विकल्पेन

जाता है । ऊपर जो क्रम दिया गया है, वह अवसर्पिणीका है, उत्सर्पिणीका इससे विपरीत है—दुःषमा-दुःषमा, दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, सुषमा-दुःषमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा ॥३७-३८॥ सुषमा-सुषमा, जो सबसे पहली है, चार कोड़ाकोड़ी सागरकी है, दूसरी सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागरकी है, तीसरी सुषमा-दुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागरकी है, चौथी दुःषमा-सुषमा बयालीस हजार वर्ष कम कोड़ाकोड़ी है, पाँचवीं दुःषमा इक्कीस हजार वर्षकी है और छठी दुःषमा-दुःषमा भी इक्कीस हजार वर्षकी है । इस तरह जिन भगवान्ने कालकी कलाओंका वर्णन किया है ॥३९–४१॥ चूँकि भरत आदि कर्मभूमियोंमें पाँच म्लेच्छ खण्ड होते हैं,

---

१. म परिकीर्तिता । २. म म्लेच्छखण्ड° । ३. क ख ग घ म्लेच्छाः खण्डा° । ४. श दुक्षमा दुक्षमेति । ५. श °दुक्षमा अतिदुक्षमा° । = दुःषमादुःषमा—इति यावत् । ६. श 'द्वयोः' इति नोपलभ्यते । ७. आ श अस्य श्लोकस्य व्याख्या नास्ति । ८. श °कोटीत्यर्थः । ९. श °दुःक्षमा । १०. = कालकलाः कालभेदाः । ११. = स्मृताः ज्ञाताः ।

आर्याः षट्कर्मभेदेन षोढा भेदमुपागताः ।
ते गुणस्थानभेदेन स्युश्चतुर्दशधा पुनः ॥४३॥
मिथ्यासासादनदृशौ[1] मिश्राविरतिदर्शनौ ।
प्रदेशविरतस्तस्मात्प्रमत्तविरतस्ततः ॥४४॥
स्यादप्रमत्तविरतस्ततोऽपूर्वक्रियः स्मृतः ।
अनिवृत्तिक्रियस्तस्मात्ततः[2] सूक्ष्मः प्रकीर्तितः ॥४५॥
शान्तक्षीणकषायौ[3] च सयोगः केवली स्मृतः ।
अयोगकेवली चेति गुणस्थानान्यनुक्रमम्[4] ॥४६॥
इति मानुषभेदेन कृता जीवनिरूपणा ।
सांप्रतं देवभेदेन कुर्वे किंचित्प्रपंचनम् ॥४७॥
चतुर्णिकायभेदेन स्मृता देवाश्चतुर्विधाः ।
असुराह्विकुमाराद्या दशधा तेषु भावनाः ॥४८॥

म्लेच्छाः म्लेच्छमानवाः । पञ्चधा पञ्चप्रकारैः । परिकीर्तिताः परिभाषिताः ॥४२॥ आर्या इति । षट्कर्मभेदेन षण्णां कर्मणां कृत्यानां भेदेन विकल्पेन । आर्याः आर्यखण्डजातमनुष्याः । षोढा षड्भिः प्रकारैः । भेदं विकल्पम् । उपागताः । पुनः पश्चात् । गुणस्थानप्रभेदेन गुणस्थानप्रभेदेन गुणस्थानानां प्रभेदेन विभागेन । चतुर्दशधा चतुर्दशप्रकारैः । स्युः भवेयुः । लिङ् ॥४३॥ मिथ्येति । मिथ्यासासादनदृशौ मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टी । मिश्राविरतदर्शनौ मिश्रपरिणाम्यसंयतसम्यग्दृष्टी । तस्मात् । प्रदेशविरतः देशसंयतः । ततः तस्मात् । प्रमत्तविरतः प्रमत्तसंयतः ॥४४॥ स्यादिति । ततः परम् । अप्रमत्तविरतः अप्रमत्तसंयतः । स्यात् भवेत् । अपूर्वक्रियः अपूर्वगुणस्थापकः । स्मृतः ज्ञातः । ततः तस्मात् परम् । अनिवृत्तिक्रियः अनिवृत्तिकरणः । ततः परम् । सूक्ष्मः सूक्ष्मसाम्परायः । प्रकीर्तितः प्रोक्तः ॥४५॥ शान्तेति । शान्तक्षीणकषायौ च उपशान्तकषायक्षीणकषायौ च । सयोगः योगसहितः । केवली सयोगकेवली भगवान्[5] । अयोगकेवली चेति अयोगिभगवान् चेति । अनुक्रमम् अनुक्रमेण । गुणस्थानानि चतुर्दशगुणस्थानभेदाः । स्युः ॥४६॥ इतीति । इति एवम् । मानुषभेदेन मानुषाणां भेदेन विकल्पेन । जीवनिरूपणा जीवस्य जीवतत्त्वस्य निरूपणा । कृता विहिता । सांप्रतम् इदानीम् । देवभेदेन देवानां भेदेन विकल्पेन । किंचित् ईषत् । प्रपञ्चनं विवरणम्[6] । कुर्वे करोमि । लट् ॥४७॥ चतुर्णिकायेति । चतुर्णिकायभेदेन चतुर्णां निकायानां समूहानां भेदेन विकल्पेन । देवाः सुराः । चतुर्विधाः चतुःप्रकाराः । स्मृताः ज्ञाताः । तेषु देवेषु । असुराह्विकुमाराद्याः असुरकुमारनागकुमारमुख्याः । भावनाः भवनजाताः । दशधा दशभिः प्रकारैः । प्रोक्ताः[7] ॥४८॥

अतः उनके खण्डोंकी दृष्टिसे म्लेच्छ मनुष्य भी पाँच प्रकारके कहे गये हैं ॥४२॥ असि आदि छह कर्मोंकी दृष्टिसे आर्य मनुष्य छह प्रकारके होते हैं, और मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानोंके भेदकी दृष्टिसे चौदह प्रकारके ॥४३॥ मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली—ये क्रमसे चौदह गुणस्थान होते हैं ॥४४–४६॥ इस प्रकार मनुष्योंके भेदकी दृष्टिसे जीवोंका निरूपण किया, अब देवोंके भेदकी दृष्टिसे कुछ विस्तार पूर्वक जीवोंका निरूपण करते हैं ॥४७॥ निकायोंके भेदकी दृष्टिसे देव चार प्रकारके होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। इनमेंसे

१. म °विधौ मिश्राः° । २. म °क्रियास्तम्भात् । ३. म शान्ततीक्ष्ण° । ४. आ द °नुक्रमात् । ५. आ °केवलिभगवान् । ६. आ विसरणम् । ७. = कथिताः ।

किंनरादिप्रभेदेन व्यन्तराश्चाष्टधा स्मृताः ।
सूर्यचन्द्रादिभेदेन[1] ज्योतिष्काः पंचधा स्मृताः ॥४९॥
वैमानिका द्विधा प्रोक्ताः कल्पातीताश्च कल्पजाः ।
सौधर्मादिषु कल्पेषु कल्पजाः परिकीर्तिताः[2] ॥५०॥
नवग्रैवेयकादिस्थाः कल्पातीताः प्रवर्णिताः ।
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्ताः समृद्धावधिचक्षुषः ॥५१॥
तत्रासुरकुमाराणां प्रमाणं पंचविंशतिः ।
धनूंषि दश चापानि शेषाणां भवनक्षिताम् ॥५२॥
दशसप्तधनुर्मानाः व्यन्तरा[3] ज्योतिषामराः ।
सौधर्मैशानयोर्मानं सप्त हस्ता दिवौकसाम् ॥५३॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः षट् प्रकीर्तिताः ।
ब्रह्मकापिष्ठयोः पञ्च तन्मध्यगतयोरपि ॥५४॥

किंनरेति । व्यन्तराश्च व्यतरामराश्च । किंनरादिप्रभेदेन किंनरादीनां प्रभेदेन विभागेन । अष्टधा अष्टभिः प्रकारैः । स्मृताः ज्ञाताः । ज्योतिष्काः ज्योतिष्कदेवाः । सूर्यचन्द्रादिभेदेन सूर्यचन्द्रमःप्रमुखानां भेदेन विकल्पेन । पञ्चधा पञ्चभिः प्रकारैः । स्मृताः ज्ञाताः ॥४९॥ वैमानिका इति । वैमानिकाः कल्पामराः । कल्पातीताश्च कल्पातीतदेवाश्च । कल्पजाः सौधर्मादिकल्पजनिताः । द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम् । प्रोक्ताः निगदिताः । सौधर्मादिषु सौधर्मप्रभृतिषु । कल्पेषु स्वर्गेषु । कल्पजा इति । परिकीर्तिताः प्रोक्ताः ॥५०॥ नवेति । नवग्रैवेयकादिस्थाः नवग्रैवेयकादिषु विमानेषु[4] स्थाः स्थिताः । सर्वार्थसिद्धिपर्यन्ताः सर्वार्थसिद्धिरेव पर्यन्तोऽवसानं येषां ते । समृद्धावधिचक्षुषः समृद्धं संपूर्णमवधिरेवावधिज्ञानमेव चक्षुर्येषां ते[5] । कल्पातीताः कल्पातीतामराः । प्रकीर्तिताः प्रोक्ताः ॥५१॥ तत्रेति । तत्र चतुर्णिकाये । भवनक्षितां भवनवासिनाम् । असुरकुमाराणाम् । पञ्चविंशतिः पञ्चभिरधिका विंशतिः पञ्चविंशतिः । धनूंषि चापानि । प्रमाणं प्रमितिः । शेषाणाम् अवशिष्टानाम् । दश कार्मुकाणि परिकीर्तितानि ॥५२॥ दशेति । व्यन्तराः व्यन्तरदेवाः । ज्योतिषामराः ज्योतिष्कदेवाः । दशसप्तधनुर्मानाः दश च सप्त च तथोक्तानि दशसप्तधनूंष्येव मानं प्रमाणं येषां ते स्युः । सौधर्मैशानयोः प्रथमद्वितीयकल्पयोः । दिवौकसां देवानाम् । मानं प्रमाणम् । सप्त हस्ताः स्युः ॥५३॥ सनत्कुमारेति । सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः सनत्कुमारकल्पमाहेन्द्रकल्पयोः । षट् षड् हस्ताः । प्रकीर्तिताः भाषिताः । ब्रह्मकापि-

भवनवासी देव दस प्रकारके होते हैं—असुरकुमार, नागकुमार आदि ॥४८॥ किन्नर आदिके भेदसे व्यन्तर आठ प्रकारके होते हैं, तथा ज्योतिष्क देव सूर्य और चन्द्र आदिके भेदसे पाँच प्रकारके ॥४९॥ वैमानिक देव दो प्रकारके कहे गये हैं—कल्पवासी और कल्पातीत । सौधर्म आदि कल्पोंमें रहनेवाले देव कल्पवासी कहे जाते हैं ॥५०॥ नवग्रैवेयक आदिमें स्थित देव कल्पातीत कहलाते हैं, जिनमें प्रथम ग्रैवेयकसे सर्वार्थसिद्धि तकके देव गिने जाते हैं । इन सबका अवधिज्ञान उत्तरोत्तर प्रबल होता है । यही ज्ञान उनका नेत्र है ॥५१॥ भवनवासी देव दस प्रकारके होते हैं । उनमें असुर कुमारोंके शरीरकी ऊँचाई पच्चीस धनुष है और शेष नौके शरीरकी ऊँचाई दस धनुष ॥५२॥ व्यन्तरों और ज्योतिष्क देवोंके शरीरकी ऊँचाई सत्रह धनुष है । सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई सात हाथ (अरत्नि) है ॥५३॥ सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई छह हाथ (अरत्नि) है । ब्रह्म,

१. अ आ इ क ख ग घ सूर्याचन्द्रा° । २. अ क ख ग घ परिवर्णिताः । ३. अ आ इ °व्यन्तरज्योति° । ४. = तिष्ठन्तीति नवग्रैवेयकादिस्थाः । ५. श °येषां तेषाम् ।

चत्वारः शुक्रमारभ्य हस्ताः प्रागानतात्[1] स्मृताः ।
आनते प्राणते चापि त्रयः सार्धाः प्रवर्णिताः ॥५५॥
आरणाच्युतयोर्हस्तास्त्रयः समनुवर्णिताः[2] ।
अधोग्रैवेयकेषूक्तौ त्रिषु द्वावर्धसंयुतौ ॥५६॥
द्वावरत्नी[3] समाम्नातौ मध्यग्रैवेयकत्रये ।
अर्धेन सहितो रत्निरूर्ध्वग्रैवेयकत्रये ॥५७॥
ग्रैवेयकविमानेभ्यः परे हस्तप्रमाः सुराः ।
सागरोपममुत्कर्षादायुर्भवनवासिनाम् ॥५८॥
अधिकं व्यन्तराणां तु पल्योपममुदाहृतम् ।
दशवर्षसहस्राणि जघन्यमुभयेष्वपि ॥५९॥

द्वयोः ब्रह्मकापिष्ठकल्पयोः। तन्मध्यगतयोरपि तयोर्ब्रह्मकाष्ठिकल्पयोर्मध्यगतौ ब्रह्मोत्तरलान्तवकल्पौ तयोरपि। पञ्च हस्ता इत्यर्थः ॥५४॥ चत्वार इति । शुक्रं शुक्रकल्पम् । आरभ्य उपक्रम्य । आनतात् आनतकल्पात् । प्राक् पूर्वम् । चतुःकल्पेषु । चत्वारः । हस्ताः अरत्नयः । स्मृताः ज्ञाताः । आनते आनतकल्पे । प्राणते प्राणतकल्पे चापि । सार्धाः अर्धेन सहिताः । त्रयः[4] त्रिहस्ताः । प्रवर्णिताः प्रकीर्तिताः[5] ॥५५॥ आरणेति[6] । आरणाच्युतयोः[7] आरणाच्युतकल्पयोः । त्रयो हस्ताः । समनुवर्णिताः परिकीर्तिताः । त्रिषु त्रिसंख्येषु । अधोग्रैवेयकेषु हेष्टमादि–(?) ग्रैवेयकेषु । अर्धसहितौ दलेन सहितौ । द्वौ हस्तौ । उक्तौ प्रोक्तौ ॥५६॥ द्वाविति । मध्यग्रैवेयकत्रये मध्यग्रैवेयकत्रये मध्यग्रैवेयकाणां त्रये त्रितये । द्वौ च (अ-) रत्नी हस्तौ । समाम्नातौ कथितौ । ऊर्ध्वग्रैवेयकत्रये ऊर्ध्वग्रैवेयकाणामुपरिग्रैवेयकाणां त्रये । अर्धेन दलेन । सहितः युतः । रत्निः[8] हस्तः । प्रोक्तः ॥५७॥ ग्रैवेयकेति । ग्रैवेयकविमानेभ्यः ग्रैवेयकेभ्यो विमानेभ्यः । परे अग्रे । प्रवर्तमानाः । सुराः देवाः । हस्तप्रमाः हस्त एव प्रमा प्रमाणं येषां ते । भवनवासिनां भवनवासिदेवानाम् । आयुः आयुष्यम् । उत्कर्षात्[9] उत्कृष्टात् । सागरोपमं सागरोपमप्रमाणम् ॥५८॥ अधिकमिति[10] । व्यन्तराणां तु व्यन्तरदेवानां तु । अधिकम्[11] उत्कृष्टमायुः । पल्योपमं पल्योपमप्रमाणम्[12] । (उत्कृष्टमायुः) । उदाहृतं प्रोक्तम् । उभयेष्वपि व्यन्तरभवन-

---

ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गोंके देवोंके शरीरकी ऊँचाई पांच हाथ (अरत्नि) है ॥५४॥ शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार इन आनतसे पहलेके चार स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई चार हाथ है। आनत और प्राणत स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई साढ़े तीन हाथ (अरत्नि) है ॥५५॥ आरण और अच्युत स्वर्गोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई तीन हाथ है। तीनों अधोग्रैवेयकोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई ढाई अरत्नि कही गई है ॥५६॥ तीनों मध्यम ग्रैवेयकोंमें देवोंके शरीरोंकी ऊँचाई दो अरत्नि मानी गई हैं और तीनों ऊर्ध्व ग्रैवेयकोंमें देवोंके शरीरकी ऊँचाई डेढ़ अरत्नि कही गई है ॥५७॥ ग्रैवेयकोंसे ऊपरके सभी देवोंके शरीरकी ऊँचाई एक अरत्नि है। भवनवासियोंकी उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम है ॥५८॥ व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्योपम कही गयी है। भवनवासी और व्यन्तर इन

---

१. म प्रागानताः । २. अ आ इ °नुवर्तिताः । ३. म द्वारवत्नी । ४. = त्रयो हस्ताः । ५. आ सार्धाः अर्धेन सहितौ द्वौ हस्तौ । उक्तौ प्रोक्तौ । ६. श आरणेत्यादि । ७. आ अस्य श्लोकस्य व्याख्या नास्ति । ८. श रत्निः' इति नास्ति । ९. प्रकर्षतः । १०. आ श 'अधिकमिति' इति नास्ति । ११. = साधिकम् । १२. श कल्पोपमं कल्पप्रमाणम् ।

ज्योतिष्काणां[1] तु देवानामधिकं पल्यमीरितम् ।
पल्यस्यैवाष्टमो भागो जघन्येन प्रकीर्तितः ॥६०॥
जिनैः साक्षात्कृताशेषत्रिजगद्वस्तुभिः स्मृतम् ।
द्वौ सागरोपमावायुः सौधर्मैशानकल्पयोः ॥६१॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः सप्त कीर्तिताः ।
ब्रह्मब्रह्मोत्तरे कल्पे दशैव परिवर्णिताः ॥६२॥
स्मृता लान्तवकापिष्ठकल्पयोश्च चतुर्दश ।
ततः शुक्रमहाशुक्रकल्पयोः षोडशोदिताः ॥६३॥
अष्टादश शतारे च सहस्रारे च संमताः ।
आनते प्राणते चापि विंशतिः समुदीरिताः ॥६४॥
आरणाच्युतकल्पे च द्वाविंशतिरनुस्मृताः ।
एकैकेन ततो वृद्धिर्यावत्त्रिंशत्त्रयाधिकाः ॥६५॥

वासिषु । जघन्यं जघन्यायुष्यम् । दशवर्षसहस्राणि दशानां वर्षाणां सहस्राणि । अनुवर्णितानि ॥५९॥ ज्योतिष्काणामिति । ज्योतिष्काणां च देवानां ज्योतिष्कदेवानाम् । अधिकम्[2] उत्कृष्टायुष्यम् । पल्यं पल्यप्रमाणमिति । ईरितं प्रोक्तम् । जघन्येन जघन्यरूपेण । पल्यस्यैव पल्यप्रमाणस्य । अष्टमः अष्टानां पूरणः । भागः अंशः । प्रकीर्तितः प्रोक्तः ॥६०॥ जिनैरिति । साक्षात्कृताशेषत्रिजगद्वस्तुभिः साक्षात्कृतानि प्रत्यक्षीकृतान्यशेषाणि समस्तानि त्रिजगत्सु भुवनेषु विद्यमानानि वस्तूनि यैस्तैः । जिनेश्वरैः । सौधर्मैशानकल्पयोः प्रथमद्वितीयकल्पयोः । आयुः आयुष्यम् । द्वौ सागरोपमौ सागरोपमप्रमाणाविति । स्मृतं ज्ञातम् ॥६१॥ सनत्कुमारेति । सनत्कुमारमाहेन्द्र— कल्पयोः तृतीयकल्पचतुर्थकल्पयोः । सप्त सप्तसागरोपमाः । कीर्तिताः निरूपिताः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरे पञ्चम (मे) षष्ठे च । कल्पे स्वर्गे दशैव दशसागरोपमा एव । परिवर्णिताः ॥६२॥ स्मृता इति । लान्तवकापिष्ठकल्पयोश्च सप्तमकल्पाष्टमकल्पयोश्च । चतुर्दश चतुर्दशसागरोपमा इति । स्मृताः ज्ञाताः । ततः पश्चात् । शुक्रमहाशुक्रकल्पयोः नवमदशमकल्पयोः । षोडश षोडशसागरोपमा इति । उदीरिता[3] [उदिताः] निगदिताः ॥६३॥ अष्टेति । शतारे च एकादशे कल्पे च । सहस्रारे च द्वादशकल्पे च अष्टादश अष्टभिरधिका दश तथोक्ताः—अष्टादश सागरोपमाः । 'द्व्यष्टात्रयोऽनशीतौ—' इति द्वा-(अष्टा-) आदेशः । संमताः अभ्युपगताः । आनते आनतकल्पे । प्राणते चापि प्राणतकल्पे चापि । विंशतिः विंशतिसागरोपमा इति । समुदीरिताः निरूपिताः ॥६४॥ आरणेति । आरणाच्युतकल्पे च आरणे आरणकल्पे अच्युतकल्पे च अन्त्यकल्पे च । द्वाविंशतिः द्वाविंशतिसागरोपमा इति । अनुस्मृताः सुनिरूपिताः । ततः परम् । यावत् यावत् पर्यन्तम् । त्रयाधिकाः त्रयेणाधिकाः, त्रिभिरधिका इत्यर्थः ।

दोनोंकी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है ॥५९॥ ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे कुछ अधिक कही गयी है और उनकी जघन्य आयु पल्यका आठवाँ भाग कहा गया है ॥६०॥ तीन लोकोंकी सारी वस्तुओंका साक्षात्कार करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रने सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें देवोंकी आयु दो सागरोपम बतलाई है ॥६१॥ सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गोंमें देवोंकी आयु सात सागरोपम कही गयी है तथा ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गोंमें केवल दस सागरोपम ॥६२॥ लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गोंमें चौदह सागरोपम तथा शुक्र और महाशुक्र स्वर्गोंमें सोलह सागरोपम आयु कही गई है ॥६३॥ शतार और सहस्रारमें अठारह सागरोपम तथा आनत और प्राणतमें बीस सागरोपम आयु है ॥६४॥ आरण और अच्युतमें बाईस सागरोपन आयु है । इस तरह सोलह स्वर्गोंके देवोंकी आयुका प्रमाण बतलाया गया है । इन स्वर्गोंके ऊपर नौ ग्रैवेयकों,

१. अ ज्योतिषाणां । २. साधिकम् । ३. आ समुदीरिताः ।

इति गत्यादिभेदेन कृता जीवनिरूपणा।
कुर्वे संप्रत्यजीवस्य किंचिद्रूपनिरूपणम् ॥६६॥
धर्माधर्मौ तथाकाशं कालः पुद्गल इत्यपि।
अजीवः पञ्चधा ज्ञेयो जिनागमविशारदैः ॥६७॥
एतान्येव सजीवानि षड् द्रव्याणि प्रचक्षते।
कालहीनानि पञ्चास्तिकायास्तान्येव कीर्तिताः ॥६८॥
जलवन्मत्स्ययानस्य तत्र यो गतिकारणम्।
जीवादीनां पदार्थानां स धर्मः परिवर्णितः ॥६९॥
लोकाकाशमभिव्याप्य[1] संस्थितो मूर्तिवर्जितः।
नित्यावस्थितिसंयुक्तः सर्वज्ञज्ञानगोचरः ॥७०॥

त्रिंशत् त्रिंशत्सागरोपमा इति। एकैकेन एकैकसागरोपमेण। वृद्धिः प्रवृद्धिः। कीर्तिता ॥६५॥ इतीति। इति एवम्। गत्यादिभेदेन गत्यादीनां भेदेन विकल्पेन जीवनिरूपणा जीवतत्त्वप्ररूपणा[2]। कृता विहिता। संप्रति इदानीम्। अजीवस्य अजीवतत्त्वस्य। रूपनिरूपणं रूपस्य स्वरूपस्य निरूपणमनुवर्णनम्। किंचित् स्तोकम्। कुर्वे ब्रुवे विदधामीति वा ॥६६॥ धर्मेति। अथ अनन्तरम्, अजीवः अजीवतत्त्वमिति। धर्माधर्मौ धर्मद्रव्याधर्म-द्रव्ये। आकाशम् आकाशद्रव्यम्। कालः कालद्रव्यम्। पुद्गल इति पुद्गलद्रव्यमिति। [3]जिनागमविशारदैः जिना-गमे[4] विशारदैः प्रौढैः। पञ्चधा पञ्चप्रकारैः। ज्ञेयः वेदितव्यः ॥६७॥ एतानीति। सजीवानि जीवतत्त्वसहि-तानि। एतान्येव धर्माधर्मादीन्येव। षड् द्रव्याणीति। प्रचक्षते ब्रुवते। चक्षि व्यक्तायां वाचि। कालहीनानि कालेन कालद्रव्येण हीनानि रहितान्येव। षड् द्रव्याण्येव। पञ्चास्तिकायाः पञ्चास्तिकाया इति। कीर्तिताः निरूपिताः ॥६८॥ जलवदिति। तत्र षड्द्रव्येषु। मत्स्ययानस्य मत्स्यस्य मीनस्य यानस्य गमनस्य। जलवत् सलिलवत्। यः। जीवादीनां जीवादिप्रभृतीनाम्। द्रव्याणाम्। सः धर्मः धर्मपदार्थ इति। परिवर्णितः निरू-पितः ॥६९॥ लोकेति। लोकाकाशं लोके वर्तमानमाकाशं तथोक्तम्। अभिव्याप्य व्यापयित्वा। संस्थितः आस्थितः[5]। मूर्तिवर्जितः मूर्त्या वर्जितो रहितः। नित्यावस्थितिसंयुक्तः नित्यया अवस्थित्या संयुक्तः सहितः।

नौ अनुदिशों और पाँच पञ्चोत्तरोंमें क्रमशः एक-एक सागरकी आयु बढ़ती जाती है, जो सर्वार्थसिद्धिमें तेतीस सागरोपम तक होती है—पहले ग्रैवेयकमें तेईस सागरकी आयु है, इससे ऊपरके ग्रैवेयकोंमें एक-एक सागरकी आयु बढ़ती जाती है। फलतः अन्तिम ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु है। नौ अनुदिशोंमें बत्तीस सागरकी आयु है और पाँच पञ्चोत्तरोंमें तेतीस सागरकी ॥६५॥ इस प्रकार गति आदिके भेदकी दृष्टिसे जीवका निरूपण किया। अब कुछ अजीवके स्वरूपका निरूपण करता हूँ ॥६६॥ जैन आगमके विशारदोंके द्वारा जानने योग्य अजीव द्रव्य पाँच प्रकारके हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल भी ॥६७॥ इन पाँच द्रव्योंमें जीव द्रव्यको मिला दिया जाय तो छह द्रव्य हो जाते हैं, और इनमेंसे काल द्रव्य निकाल दिया जाय तो पाँच अस्तिकाय हो जाते हैं ॥६८॥ जिस प्रकार मछलियोंके चलनेमें जल सहायक होता है, उसी प्रकार जो जीवों और पुद्गलोंको चलनेमें सहायक हो—उनके गमनमें कारण हो, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं (इसीको आधुनिक विज्ञान ईथर कहता है) ॥६९॥ धर्म द्रव्य सारे लोकाकाशमें व्याप्त है, अमूर्तिक है और है नित्य। अमूर्तिक होनेसे यह इन्द्रिय गोचर नहीं

---

१. अ °मभिव्याप्य। २. श °तत्त्वरूपणा। ३. श जीवागम°। ४. श जीवागमे। ५. आ आसितः।

द्रव्याणां पुद्गलादीनामधर्मः स्थितिकारणम् ।
लोकाभि[1]व्यापकत्वादिधर्मोऽधर्मोऽपि धर्मवत् ॥७१॥

नित्यं व्यापकमाकाशमवगाहैकलक्षणम् ।
चराचराणि भूतानि यत्रासंबाधमासते ॥७२॥

धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयाः प्रकीर्तिताः ।
प्रदेशाः सकलज्ञानैर्व्योमानन्तप्रदेशकम्[2] ॥७३॥

वर्तनालक्षणः कालः स स्वयं परिणामिनाम् ।
परिणामोपकारेण पदार्थानां प्रवर्तते ॥७४॥

क्रियां दिनकरादीनामुदयास्तमयात्मिकाम् ।
प्रविहायापरः कालो नास्तीत्येके प्रचक्षते ॥७५॥

सर्वज्ञज्ञानगोचरः सर्वज्ञस्य सर्ववेदिनो ज्ञानस्य केवलज्ञानस्य गोचरो विषय इति प्रोक्तः ॥७०॥ द्रव्याणामिति । अधर्मः अधर्मद्रव्यम् । पुद्गलादीनां पुद्गलप्रभृतीनाम् । द्रव्याणां द्रव्यरूपाणाम् । स्थितिकारणं स्थितेः कारणम् । धर्मवत् धर्मद्रव्यवत् । अधर्मोऽपि अधर्मद्रव्यमपि । लोकाभिव्यापकत्वादिधर्मः लोकाभिव्यापकत्वादिधर्मो यस्य स इति । निगदितः ॥७१॥ नित्यमिति । यत्र चराचराणि स्थावरजङ्गमानि । भूतानि भूतद्रव्याणि । असंबाधम् । आसते तिष्ठन्ति । नित्यं स्थिररूपम् । व्यापकं व्यापकरूपम् । अवगाहैकलक्षणम् अवगाह एव एकं मुख्यं लक्षणं यस्य तत् । आकाशम् आकाशद्रव्यमिति । प्रकीर्तितम् ॥७२॥ धर्मेति । सकलज्ञानैः केवलज्ञानयुतैः । धर्माधर्मैकजीवानां धर्मद्रव्यस्याधर्मद्रव्यस्यैकजीवस्य च । असंख्येयाः संख्यातुमयोग्याः[3] । प्रदेशाः । प्रकीर्तिताः निरूपिताः । व्योम आकाशम् । अनन्तप्रदेशकम् अनन्ता निरवसानाः प्रदेशा यस्य तत् । प्रोक्तम् ॥७३॥ वर्तनेति वर्तनालक्षणः वर्तनैव परिणाम एव लक्षणमसाधारणस्वरूपं[4] यस्य सः । कालः कालद्रव्यम् । स्वयं परिणामिनां स्वयमेव परिणामिनां परिणामसहितानाम् । पदार्थानां द्रव्याणाम् । परिणामोपकारेण परिणामस्य परिणमनस्योपकारेणोपग्राहकेण[5] । प्रवर्तते तिष्ठति । वृतुङ्[6] वर्तने लट् ॥७४॥ क्रियामिति । दिनकरादीनां सूर्यप्रभृतीनाम् । उदयास्तमयात्मिकाम्[7] । उदयास्तमयावेवात्मा स्वरूपं यस्याः ताम् । क्रियां कृत्याम् (?) । प्रविहाय परित्यज्य । अपरः अन्यः । कालः कालद्रव्यम् । नास्तीति न विद्यत इति । केचित् । प्रचक्षते ब्रुवन्ति । चक्षि व्यक्तायां

है, सर्वज्ञके ज्ञानका गोचर (विषय) है ॥७०॥ पुद्गल आदि द्रव्योंकी स्थितिमें जो द्रव्य कारण है, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं । यह अधर्म द्रव्य भी धर्म द्रव्यकी तरह सारे लोकाकाशमें व्याप्त है, अमूर्तिक है और है नित्य॥७१॥ आकाश नित्य और व्यापक है । जीव आदि समस्त द्रव्योंको अवगाहन देना, उसका लक्षण है । उसमें जङ्गम-त्रस और स्थावर सभी जीव बिना किसी बाधाके रहा करते हैं ॥७२॥ सर्वज्ञ भगवानने धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्येय प्रदेश बतलाये हैं । आकाशके अनन्त प्रदेश होते हैं ॥७३॥ वर्त्तना जिसका लक्षण है वह निश्चय काल है । वह स्वयं परिणमनशील पदार्थोंके परिणमनमें कारण है । परिणमन कराना उसका उपकार है, जिसके निमित्तसे दूसरोंके परिणमन करानेमें प्रवृत्त होता है ॥७४॥ सूर्य आदिकी उदय एवं अस्त आदि क्रियाओंको छोड़कर और कोई काल द्रव्य नहीं है, यह कुछ लोग कहते

---

१. क ख ग घ म लोकेऽभि° । २. म °प्रदर्शकम् । ३. = संख्यातुमशक्याः । ४. श °रणरूपं । ५. = उपग्रहेण । ६. आ वृतूङ् । ७. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु सर्वास्वपि "°मयादिकाम्" इत्येव समुपलभ्यते ।

तन्न युक्तं क्रियायां हि लोके काल इति ध्वनिः ।
प्रवृत्तो गौणवृत्त्यैव वाहीक इव गोध्वनिः ॥७६॥
न च मुख्यादृते गौणकल्पना नरसिंहवत् ।
तस्माद् द्रव्यस्वभावोऽन्यो मुख्यः कालोऽस्ति कश्चन[1] ॥७७॥
रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवान्[2] पुद्गलः स्मृतः ।
अणुस्कन्धप्रभेदेन द्विस्वभावतया स्थितः ॥७८॥
पृथिव्यादिस्वरूपेण स्थूलसूक्ष्मादिभेदतः ।
छायातपादिरूपेण बहुधा स विभिद्यते ॥७९॥

वाचि लट् ॥७५॥ तदिति । तत् उदयादि[3] । युक्तं युक्तियुक्तम् । न न भवति । लोके भुवने । क्रियायां कृत्यायाम् (?) । काल इति कालद्रव्यमिति । ध्वनिः शब्दः । वाहके भारवाहके । गोध्वनिः गौः इति शब्द इव । गौणवृत्त्यैव गौणवर्तनेनैव[4] । प्रवृत्तः स्थितः ॥७६॥ नेति[5] । न च मुख्याद् ऋते मुख्यं पदार्थं विना । नरसिंहवत् नरसिंह इव । गौणकल्पना गौणस्य कल्पना भवितुमर्हति । यथा असाधारणं पराक्रमगुणं दृष्ट्वा नरः सिंहत्वेनोपचर्यते—नरो नरसिंहत्वेन व्यवह्रियते । परं पराक्रमवन्तं वास्तविकं सिंहं विना नरसिंह इति गौणप्रयोगोऽसंभव एव । तस्मात् तस्मात् कारणात् । द्रव्यस्वभावः द्रव्यस्वभावोपेतः । कश्चन कश्चित् । अन्यः क्रियामात्रत्वेन स्वीकृतव्यवहारकालाद् भिन्नः । मुख्यः कालः निश्चयकालः । अस्ति वर्तते । 'कल्यते ज्ञायते निश्चीयते सङ्ख्यायते समयादिभिः पर्यायैर्मुख्यः कालो निर्णीयते यः स कालः ।' ॥७७॥ रूपेति । रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवान् रूपेण गन्धेन रसेन स्पर्शेन शब्देन च युक्तः । पुद्गलः पुद्गलद्रव्यमिति । स्मृतः ज्ञातः । अणुस्कन्धप्रभेदेन अणूनां सूक्ष्माणां स्कन्धानां स्थूलानां प्रभेदेन विकल्पेन । द्विस्वभावतया द्विरूपतया । स्थितः प्रवृत्तः ॥७८॥ पृथिव्यादीति । सः पुद्गलः । स्थूलसूक्ष्मादिभेदतः स्थूलादीनां बादरादीनां सूक्ष्मादीनां भेदतो विकल्पात् । पृथिव्यादिस्वरूपेण पृथिव्यादीनाम्, आदिशब्देन अप्तेजोवाय्वादीनां स्वरूपेण स्वभावेन । छायातपादि-

हैं ॥७५॥ उनका यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि उदय आदि क्रियाओंके होनेपर लोकमें जो 'काल' व्यवहार होता है, वह गौण रूपसे ही (लक्षणासे ही) प्रवृत्त हुआ है । जैसे वाहीकमें लक्षणासे 'बैल' का व्यवहार होता है । वाहीक–हल चलानेवाला मनुष्य, मनुष्य है और बैल, बैल है, दोनोंमें अत्यन्त भेद है, पर बैलमें जो जड़ता और मन्दता होती है, वही हल चलानेवालेमें भी यदि हो तो उसे भी लोग गौण रूप (लक्षणा या उपचार) से बैल कह दिया करते हैं । इसी तरह निश्चयकाल एक पृथक् पदार्थ है और सूर्यके उदय आदिकी क्रियाएँ पृथक्, फिर भी इन क्रियाओंमें जो 'काल' व्यवहार होता है वह गौण है ॥७६॥ और मुख्यके बिना गौण व्यवहारकी कल्पना ही नहीं हो सकती । सिंहके बिना मनुष्यमें नरसिंहका व्यवहार नहीं हो सकता । सिंह पराक्रमी होता है । यदि कोई मनुष्य भी पराक्रमी हो तो उसमें भी 'सिंह' का व्यवहार होने लगता है । अतएव काल नामक कोई मुख्य पदार्थ अवश्य है, जो उदय आदिमें होनेवाले व्यवहार कालसे भिन्न है; क्योंकि उसमें द्रव्यका लक्षण घटित होता है ॥७७॥ जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो, उसे पुद्गल कहते हैं, और वह अणु एवं स्कन्धके भेदसे दो प्रकारका है । उसमें पूरण और गलनका स्वभाव पाया जाता है, इसीलिए तो वह पुद्गल कहलाता है, और इसीलिए उसमें अणु और स्कन्ध भेद घटित हो जाते हैं ॥७८॥ स्थूल और सूक्ष्म आदि भेदोंकी दृष्टिसे वह पुद्गल पृथिवी आदिके रूपमें या छाया एवं आतप आदिके रूप-

१. अ कस्य न । २. म °शब्दवाः । ३. = कथनम् । ४. = लक्षणयैव । ५. आ श अस्य श्लोकस्य व्याख्या नोपलभ्यते ।

शरीरेन्द्रियरूपेण प्राणापानादिपर्ययैः ।
प्राणिनामुपकाराय स सर्वेषां प्रवर्तते ॥८०॥
विभक्तमित्यजीवस्य रूपमागमवर्णितम्[1] ।
संप्रत्यास्रवतत्त्वस्य किंचिद्रूपं निरूप्यते ॥८१॥
कर्मणामागमद्वारमास्रवं संप्रचक्षते[2] ।
स कायवाङ्मनःकर्मयोगत्वेन व्यवस्थितः ॥८२॥
शुभः पुण्यस्य पापस्य विपरीतः प्रकीर्तितः ।
सकषायोऽकषायश्च तस्य द्वौ स्वामिनौ स्मृतौ ॥८३॥
तत्रासादनमात्सर्यगुरुनिह्नवनादयः ।
ज्ञानावृतिदृगावृत्योरास्रवत्वेन वर्णिताः ॥८४॥

रूपेण छायातपादीनाम्, आदिशब्देन उद्योतादीनां रूपेण स्वभावेन । बहुधा बहुभिः प्रकारैः । विभिद्यते विकल्प्यते । भिदृर् विदारणे कर्मणि लट् ॥७९॥ शरीरेति । सः पुद्गलः । शरीरेन्द्रियरूपेण शरीराणां देहानामिन्द्रियाणां च रूपेण स्वरूपेण । प्राणापानादिपर्ययैः प्राणापानादिभिरुच्छ्वासनिश्वासादिभिः पर्ययैः परिणामैः । सर्वेषां समस्तानाम् । प्राणिनां जीवानाम् । उपकाराय उपकृतये । प्रवर्तते आस्ते । वृतुङ् वर्तने लट् ॥८०॥ विभक्तमिति । आगमवर्णितम् आगमेन जिनागमेन वर्णितं प्रोक्तम् । अजीवस्य अजीवद्रव्यस्य । रूपं स्वरूपम् । इति उक्तप्रकारेण । विभक्तं विभागेन प्रणीतम् । संप्रति इदानीम् । आस्रवतत्त्वस्य आस्रवपदार्थस्य । रूपं स्वरूपम् । किञ्चित् ईषत् । निरूप्यते प्रकीर्त्यते । रूप रूपक्रियायां कर्मणि लट् ॥८१॥ कर्मेति[2] । कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् । आगमनद्वारम् आगमनस्य द्वारम् । आस्रवम् । संप्रचक्षते प्रतिपादयन्ति । सः आस्रवः । कायवाङ्मनःकर्मयोगत्वेन कायश्च वाक् च मनश्च कायवाङ्मनांसि तेषां कर्म कायवाङ्मनस्कर्म, कायवाङ्मनस्कर्मयोगः, तस्य भावः तेन । व्यवस्थितः । 'कायवाङ्मनस्कर्म योगः' इति वचनात् ॥८२॥ शुभ इति । शुभः प्रशस्तास्रवः । पुण्यस्य शुभकर्मास्रवस्य । विपरीतः अशुभास्रवः । पापस्य अशुभकर्मास्रवस्य । इति प्रकीर्तितः प्ररूपितः । सः साम्पराय (यि) क जीवः । तस्य आस्रवस्य । कषायः क्रोधादि सहितः [सकषायः[3]] । अकषायः क्रोधादिरहितः इति । [तस्य[4]] । द्वौ द्विसंख्यौ । स्वामिनौ कर्तारौ । स्मृतौ ज्ञातौ ॥८३॥ तत्रेति । तत्र आस्रवे । आसादनमात्सर्यगुरुनिह्नवादयः आसादनं ज्ञानवत्सु विनयाभावः तच्च, मात्सर्यं तेषु मत्सरत्वं तच्च, गुरुनिह्नवो गुरुषु महापुरुषेषु निह्नवोऽपलापः स च तथोक्ता आसादनमात्सर्यगुरुनिह्नवा आदयो[5] येषां ते । ज्ञानावृतिदृगावृत्योः ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः । आस्रवत्वेन आगमत्वेन । वर्णितः निरूपितः ॥८४॥

में नाना प्रकारसे विभक्त हो जाता है ॥७९॥ शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास आदिके रूपमें वह पुद्गल सभी प्राणियोंके उपकारमें लगा हुआ है ॥८०॥ इस प्रकारसे अजीव तत्त्वके भेदों और उनके स्वरूपका आगमानुसार वर्णन किया, अब थोड़ा-सा आस्रव तत्त्वका निरूपण किया जा रहा है ॥८१॥ कर्मों के आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं, वह मन, वचन और कायकी चंचलता (योग) से होता है ॥८२॥ शुभ योग पुण्यास्रवका और अशुभ योग पापास्रवका कारण है । उस आस्रवके स्वामी दो हैं—(१) सकषाय जीव और (२) अकषाय जीव । सकषाय जीवोंके साम्परायिक आस्रव होता है और अकषाय जीवोंके ईर्यापथ आस्रव होता है ॥८३॥ आसादन, मात्सर्य और गुरुका नाम छिपाना आदि, ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण

---

१. म विरक्त° । २. आ श अस्य श्लोकस्य व्याख्या नास्ति । ३. = क्रोधादिकषायसहितः । ४. = आस्रवस्य । ५. = आदौ ।

परिदेवनसंतापशोकाक्रन्दवधादयः ।
असातवेदनीयस्य कर्मणः समनुस्मृताः ॥८५॥
सरागसंयमो दानं शौचं क्षान्त्यनुकम्पने ।
इत्येवमादयो ज्ञेयाः सातवेद्यस्य कर्मणः ॥८६॥
केवलिश्रुतधर्माणां देवस्य च गणस्य च ।
अवर्णवदनं दृष्टिमोहनीयस्य कीर्तितम् ॥८७॥
यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः प्रजायते ।
चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः सोऽनुवर्णितः ॥८८॥
नारकस्यायुषो ज्ञेयो बह्वारम्भपरिग्रहः
माया बहुविधाकारा तैर्यग्योनस्य कीर्तिताः ॥८९॥
मानुषस्यावगन्तव्यः स्वल्पारम्भपरिग्रहः ।
सरागसंयमत्वादि दैवस्य परिवर्णितम् ॥९०॥

परिदेवनेति । परिदेवनसंतापशोकाक्रन्दवधादयः परिदेवनं विप्रलापः तच्च, संतापः पश्चात्तापः स च, शोको दुःखं स च, आक्रन्द आक्रोशः स च, वधः प्राण्यपरोपणं स च, तथोक्ताः परिदेवनसंतापशोकाक्रन्दवधाः ते आदयो येषां ते । असातवेदनीयस्य असातवेदनीयाख्यस्य कर्मणः । आस्रवा इति । समनुस्मृताः सम्यग्ज्ञाताः ॥८५॥ सरागेति । सरागसंयमः सरागो रागसहितः संयमश्चारित्रम् । दानं लोभाभावः। शौचं क्रोधाद्यभावः । क्षान्त्यनुकम्पने क्षान्तिः क्षमा सा च अनुकम्पनं प्राणिदया तच्च तथोक्ते । इत्येवमादयः एवंप्रभृतयः । सातवेद्यस्य सातवेदनीयाख्यस्य कर्मणः । आस्रवाः । ज्ञेयाः ॥८६॥ केवलीति । केवलिश्रुतधर्माणां केवली अर्हत्परमेष्ठी श्रुतं तत्प्रणीतागमो धर्मो रत्नत्रयस्वरूपः तेषाम् । देवस्य चतुर्णिकायामरसमूहस्य । गणस्य चतुःसङ्घस्य । अवर्णवादनम्[1] अवर्णस्य निन्दाया वादनं वचनम् । केवलिनः कवलाहारत्वम् । श्रुतस्य हिंसाप्रतिपादनम् । धर्मस्य दयाविलोपनम् । देवस्य[2] ॥८७॥ य इति । कषायोदयात् कषायस्य क्रोधादिस्वभावस्योदयाद् विपाकात् । यः । तीव्रः क्रूरः । परिणामः परिणतिः । प्रजायते समुत्पद्यते । जनैङ् प्रादुर्भावे । सः परिणामः । चारित्रमोहनीयस्य चारित्रमोहस्य । कर्मण. कर्मपरीत[3] पुद्गलस्य । अनुवर्णितः आस्रवत्वेन वर्णितः ॥८८॥ नारकस्येति । बह्वारम्भपरिग्रहः बहुना बहुत्वेनारम्भेण पापव्यापारेण युक्तः परिग्रहः । नारकस्य[4] नरकसंबन्धस्य । आयुषः आयुष्यस्य । ज्ञेयः आस्रव इति ज्ञातव्यः । बहुविधाकारा बहुविधेनाकारेण युक्ताः । मायाः मायाकषायाः । तैर्यग्योनस्य तिर्यग्जन्मनः । कीर्तिताः आस्रवत्वेन निरूपिताः ॥८९॥ मानुषस्येति । अ[स्व]ल्पारम्भपरिग्रहः अ[स्व]ल्पेन स्तोकेनारम्भेण युक्तः परिग्रह. क्षेत्रादिपरिग्रहः । मानुषस्य मनुष्यायुष्यस्य । अवगन्तव्यः आस्रव इत्यवगन्तव्यो ज्ञातव्यः । सरागसंयमत्वादि सरागसंयमत्वादि चारित्रत्वादि । दैवस्य देवायुष्यस्य । परिवर्णितं प्ररूपितम्

हैं ॥८४॥ परिदेवन, सन्ताप, शोक, आक्रन्दन और बध आदि असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं ॥८५॥ सराग संयम, दान, शौच-लोभका परित्याग, क्षान्ति-क्षमा और अनुकम्पा आदि सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं ॥८६॥ केवली, श्रुत, धर्म, देव और सङ्घका अवर्णवाद करना (झूठे दोष लगाना) दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं ॥८७॥ कषायके उदयसे जो तीव्र परिणाम होता है, वह चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है ॥८८॥ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायुके आस्रवके कारण हैं। नाना प्रकारकी माया तिर्यग्योनिके आस्रवका कारण है ॥८९॥ थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्यायुके आस्रवका

१. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'अवर्णवदनं' इत्येव दृश्यते । २. = मद्यमांसोपसेवनाद्याघोषणम् । गणस्य च चतुर्विधसङ्घस्य च शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनम् । दृष्टिमोहनीयस्य दर्शनमोहनीयस्य । कीर्तितं प्रतिपादितम् । आस्रवहेतुत्वेन—इति शेषः । ३. = कर्मपरिणत° । ४. = नरकसंबन्धिनः ।

विसंवादनमत्यन्तयोगवक्रत्वमित्यपि ।
नाम्नोऽशुभस्य विज्ञेयं विपरीतं शुभस्य च ॥९१॥
विज्ञेयास्तीर्थकृन्नाम्नो दृक्शुद्धयाद्याश्च षोडश ।
स्वप्रशंसान्यनिन्दादि नीचैर्गोत्रस्य वर्णितम्[1] ॥९२॥
स्वनिन्दान्यप्रशंसादिरुच्चैर्गोत्रस्य गम्यताम्[2] ।
दानादिविघ्नकरणमन्तरायस्य कीर्तितम् ॥९३॥
इत्यास्रवपदार्थस्य तत्त्वं समुपवर्णितम् ।
अधुना बन्धतत्त्वस्य स्वरूपं व्याकरिष्यते ॥९४॥
असम्यग्दर्शनं योगा विरतेश्च[3] विपर्ययः ।
प्रमादाश्च कषायाश्च पञ्च बन्धस्य हेतवः ॥९५॥

॥९०॥ विसंवादनमिति । विसंवादनम् अन्यथाप्रवर्तनम् । अत्यन्तयोगवक्रत्वम् अत्यन्तं योगानां मनोवाक्काय-व्यापाराणां वक्रत्वं कौटिल्यम् । इत्यपि एवमपि । अशुभस्य अप्रशस्तस्य । नाम्नः नामकर्मणः । विज्ञेयम् आस्रवणमिति विज्ञेयम् । विपरीतम् । अविसंवादनं योगसरलत्वं च । शुभस्य प्रशस्तनामकर्मणः । आस्रव इति ज्ञेयः ॥९१॥ विज्ञेया इति । दृक्शुद्धयाद्याश्च दर्शनशुद्धयादयः । षोडश षोडशभावनाः । तीर्थकृन्नाम्नः तीर्थकृन्नामकर्मणः । विज्ञेयाः आस्रवा इति विज्ञेया ज्ञातव्याः । स्वप्रशंसान्यनिन्दादि स्वस्य आत्मनः[4] ॥९२॥ (स्वनिन्देति । स्वनिन्दान्यप्रशंसादिः स्वस्यात्मनो निन्दा दोषकीर्तनमन्यस्य प्रशंसा गुणकीर्तनं च तत्प्रभृति । उच्चैर्गोत्रस्य उच्चगोत्राभिधस्य कर्मणः । गम्यताम् आस्रवहेतुत्वेन ज्ञायताम् ।) दानादिविघ्नकरणं दानादीनाम् आदिपदेन लाभभोगादिग्रहणं,विघ्नकरणं विघ्नस्य प्रत्यूहस्य करणं विधानम्। अन्तरायस्य अन्तरायकर्मणः । कीर्तितं प्ररूपितम् ॥९३॥ इतीति। इति एवम्। आस्रवपदार्थस्य आस्रवस्य पदार्थस्य। तत्त्वं स्वरूपम् । समुपवर्णितं कीर्तितम् । अधुना इदानीम् । बन्धतत्त्वस्य बन्धपदार्थस्य । स्वरूपं लक्षणम् । व्याकरिष्यते व्याख्यास्यते । डुकृञ् करणे लृट् ॥९४॥ असम्यगिति । असम्यग्दर्शनं पञ्चविधमिथ्यात्वम् । योगाः कायवाङ्मनोयोगाः । विरतेश्च चारित्रस्य । विपर्ययः नाशः । प्रमादाश्च राजकथादिपञ्चदशप्रमादाः । कषायाश्च क्रोधादिचतुष्कषायाश्च । पञ्च पञ्चविधाः ।

कारण है । सरागसंयम आदि देवायुके आस्रवके कारण हैं ॥९०॥ विसंवाद और योगोंकी अत्यधिक वक्रता अशुभनाम कर्मके आस्रवके कारण हैं तथा अविसंवाद एवं योगोंकी अत्यधिक सरलता शुभनाम कर्मके आस्रवके कारण हैं ॥९१॥ दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ तीर्थ-ङ्कर नाम कर्मके आस्रवमें कारण हैं । अपनी प्रशंसा, और, औरोंकी निन्दा आदि नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं ॥९२॥ अपनी निन्दा और दूसरोंकी प्रशंसा करना उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं । दान आदिमें विघ्न करना अन्तराय कर्मके आस्रवमें कारण है ॥९३॥ इस प्रकारसे आस्रवके स्वरूपका निरूपण किया, अब बन्धनामक तत्त्वके स्वरूपका निरूपण किया जा रहा है—॥९४॥ मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धके कारण हैं ॥९५॥

१. अ आ इ क ख ग घ कीर्तिताः । २. म वर्णितम् । ३. अ योगो विरतेश्च, म योगाविरतेश्च । ४. =प्रशंसा श्लाघा, अन्यस्य परस्य निन्दादि दोषकथनादिकम् । नीचैर्गोत्रस्य नीचगोत्रस्य । वर्णितम् आस्रवहेतुत्वेन कीर्तितम् ।

सकषायतया जन्तोः कर्मयोग्यैर्निरन्तरम् ।
पुद्गलैः सह संबन्धो बन्ध इत्यभिधीयते ॥९६॥
विभेदात्प्रकृतिस्थित्योरनुभागप्रदेशयोः ।
जिनागमनदी[1]स्नातैर्विज्ञेयः स चतुर्विधः ॥९७॥
ज्ञानदृष्ट्यावृती वेद्यं मोहनीयायुषी तथा ।
नामगोत्रान्तरायाश्चेत्यष्टौ प्रकृतयः स्मृताः ॥९८॥
भेदाः पञ्च नव द्वौ च विंशतिश्चाष्टसंयुताः ।
चतुर्द्विचत्वारिंशद् द्वौ पञ्च तासामनुक्रमम् ॥९९॥
ज्ञानावृतिदृगावृत्योर्वेदनीयान्तराययोः ।
सागरोपमकोटीनां कोट्यस्त्रिंशत्परा स्थितिः ॥१००॥

बन्धस्य । हेतवः कारणानि । स्युः भवेयुः[2] ॥९५ । सकषायेति । जीवस्य संसारिजीवस्य । सकषायतया क्रोधादिकषाययुक्ततया । कर्मयोग्यैः कर्मणां योग्यैरुचितैः । पुद्गलैः पुद्गलपरमाणुभिः । सह साकम् । निरन्तरं सततम् । संबन्धः संयोगः । बन्ध इति बन्धपदार्थ इति । अभिधीयते निगद्यते । डुधाञ्[3] धारणे च कर्मणि लट् ॥९६॥ विभेदादिति । जिनागमनदीस्नातैः जिनागम एव जिनशासनमेव नदी तरङ्गिणी तस्यां स्नातैः स्नानं कृतैः (निष्णातैः) मुनीश्वरैः । प्रकृतिस्थित्योः प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धयोः । अनुभागप्रदेशयोः अनुभागबन्धप्रदेश (बन्ध) योश्च । विभेदात् विकल्पात् । सः बन्धः । चतुर्विधः चत्वारो विधाः प्रकारा यस्य सः । इति विज्ञेयः वेदितव्यः ॥९७॥ ज्ञानेति । ज्ञानदृष्ट्यावृती ज्ञानदृष्ट्योर्ज्ञानदर्शनयोरावृती आवरणे । वेद्यं वेदनीयम् । मोहनीयायुषी मोहनीयायुष्यकर्मणी । तथा तेन प्रकारेण । नामगोत्रान्तरायाश्च नामकर्म-गोत्रकर्म–अन्तरायकर्माणि च । इति एवम् । अष्टौ अष्टसंख्याः । प्रकृतयः[4] प्रकृतय इति । स्मृताः ज्ञाताः ॥९८॥ भेदा इति । पञ्च, नव, द्वौ च, अष्टसंयुता अष्टभिः संयुता सहिता विंशतिश्च, चतुर्द्विचत्वारिंशद्वाः[5] (?) चत्वारश्च (द्वि) चत्वारिंशच्च द्वौ च चतुर्द्विचत्वारिंशद्वाः (?), पञ्च । तासां प्रकृतीनाम् । अनुक्रमम् । भेदाः विकल्पाः । स्युः । ज्ञानावरणीयस्य पञ्च भेदाः । दर्शनावरणीयस्य नव भेदाः । वेदनीयस्य द्वौ भेदौ । मोहनीयस्य अष्टाविंशतिर्भेदाः । आयुष्यस्य चतुर्भेदाः । नामकर्मणः द्वाचत्वारिंशद्भेदाः । गोत्रस्य द्वौ भेदौ । अन्तरायस्य पञ्च भेदा इत्यर्थः ॥९९॥ ज्ञानेति । ज्ञानावृतिदृगावृत्योः ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीययोः । वेदनीयान्तराययोः वेदनीयकर्मान्तरायकर्मणोः । परा प्रकृष्टा । स्थितिः स्थितिबन्धः । सागरोपमकोटीनां सागरोपमाणां कोटयः तासाम् । त्रिंशत् त्रिंशत्संख्याः

सकषाय होनेके कारण जीवका कर्मयोग्य पुद्गलोंसे जो सम्बन्ध होता है, उसे बन्ध कहते हैं ॥९६॥ प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धके भेदसे जैन आगमके निष्णात विद्वानोंने बन्ध चार प्रकारका बतलाया है, जो सभीके लिए जानने योग्य है ॥९७॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये आठ प्रकृतिबन्धके भेद हैं ॥९८॥ इन ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंके क्रमसे (१) पाँच, (२) नौ, (३) दो, (४) अट्ठाईस, (५) चार, (६) बयालीस, (७) दो और (८) पाँच भेद हैं—ज्ञानावरणके पाँच, दर्शनावरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अट्ठाईस, आयुके चार, नामके बयालीस, गोत्रके दो और अन्तरायके पाँच ॥९९॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंकी

१. म नदीस्नातैः । २. श 'भवेयुः' इति नास्ति । ३. आ डुदाञ् । ४. श 'प्रकृतयः' इति नास्ति । ५. एष टीकाश्रय. पाठः, प्रतिषु तु 'चत्वारिंशद् द्वौ' इत्येवावलोक्यते ।

सप्ततिर्मोहनीयस्य विंशतिर्नामगोत्रयोः ।
आयुषश्च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमसंमिताः ॥१०१॥
मुहूर्ता वेदनीयस्य द्वादशैवापरा स्थितिः ।
स्यान्नामगोत्रयोरष्टौ शेषाश्चान्तर्मुहूर्तकाः ॥१०२॥
कर्मणां यो विपाकस्तु भवक्षेत्राद्यपेक्षया ।
सोऽनुभागः समाम्नातो जिनैः केवललोचनैः ॥१०३॥
योगभेदादनन्ता ये प्रदेशाः कर्मणः स्थिताः ।
सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु स प्रदेश इति स्मृतः ॥१०४॥
एवमेष चतुर्भेदभिन्नो बन्धो निरूपितः ।
संवरस्याधुना रूपं किंचिदुद्योतयिष्यते ॥ १०५ ॥

कोटयः[1] प्रयुतप्रमाः[2] । स्युः ॥१००॥ सप्ततिरिति । मोहनीयस्य मोहनीयकर्मणः । सप्ततिः सप्ततिकोटि-कोटि-सागरोपमाः । नामगोत्रयो. नामगोत्रकर्मणोः । विंशतिः विंशतिकोटि-कोटिसागरोपमाः । आयुषस्तु[3] आयुष्य-कर्मणः । सागरोपमप्रमिता[4] सागरोपमैः प्रमिता संमिता । त्रयस्त्रिंशत् त्रिभिरधिका त्रिंशत् । 'द्व्यष्टान्त्रय–' इत्यादिना त्रयस्–आदेशः ॥१०१॥ मुहूर्ता इति । वेदनीयस्य वेदनीयकर्मणः । द्वादशैव द्वाभ्यामधिका दश द्वादशैव । मुहूर्ताः मुहूर्तप्रमाणा । अपरा जघन्या । स्थितिः स्थितिबन्धः । नामगोत्रयोः नामगोत्रकर्मणोः । अष्टौ मुहूर्ताः । शेषाः प्रकृतयस्तु । अन्तर्मुहूर्तकाः[5] अन्तर्मुहूर्तसहिताः ॥१०२। कर्मणामिति । भवक्षेत्राद्यपेक्षया भवस्य नरकादीनां भवस्य क्षेत्रादीनां नरकादिक्षेत्रादीनामपेक्षया विवक्षया, आदिशब्देन कालभावद्रव्याणि ग्राह्याणि । यः । कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् । विपाकः परिणतिः । सः फलादानपरिणामः । केवललोचनैः केवलमेव केवलज्ञानमेव लोचनं येषां तैः । जिनैः जिनेश्वरैरर्हद्भिः । अनुभागः[6] अनुभागबन्धः । समाम्नातः निरूपितः ॥१०३॥ योगेति । योगभेदात् कायवाङ्मनोयोगानां भेदाद् विकल्पात् । कर्मणः ज्ञानावरणादेः । सर्वेषु सकलेषु । आत्मप्रदेषु आत्मनो जीवस्य प्रदेशेषु । ये । अनन्ताः अनन्तपरिमाणाः । प्रदेशाः । स्थिताः आसिताः[7] । सः प्रदेश इति प्रदेशबन्ध इति । स्मृतः ज्ञातः ॥१०४। एवमिति । एवं प्रकारेण । चतुर्भेदभिन्नः चतुर्भिर्भेदैर्भिन्नो युक्तः । एषः अयम् । बन्धः बन्धपदार्थः । निरूपितः प्रकीर्तितः । अधुना इदानीम् । संवरस्य संवरपदार्थस्य । रूपं

उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है ॥१००॥ मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है, नाम और गोत्र इन दो कर्मोंकी बीस-बीस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है और आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर प्रमाण है ॥१०१॥ वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है; नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है और शेष कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है ॥१०२॥ भव और क्षेत्र आदि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव) की अपेक्षासे कर्मोंके विपाकको अनुभाव बन्ध जानना चाहिए। केवलज्ञानी भगवान् जिनेन्द्रदेवने ऐसा निरूपण किया है ॥१०३॥ योगोंकी विशेषताके अनुसार आत्माके सभी प्रदेशोंमें प्रति समय जो कर्मोंके अनन्तप्रदेश आकर स्थित होते हैं, इसीको प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥१०४॥ इस प्रकार चार भेदोंमें विभक्त बन्धका

१. श 'कोटयः' इति नास्ति । २. श युतप्रमाः । ३. आ आयुषस्य, मूलप्रतिषु च आयुषश्च । ४. मूलप्रतिषु तु °संमिताः । ५. श मुहूर्ताः, मुद्रितप्रतौ तु °मुहूर्तकम् । ६. एष टीकाश्रय पाठः, प्रतिषु तु 'अनुभावः' समुपलभ्यते । ७. श 'आसिताः' इति नोपलभ्यते ।

आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते ।
कर्म संव्रियते येनेत्येवं व्युत्पत्तिसंश्रयात् ॥१०६॥
चारित्रगुप्त्यनुप्रेक्षापरीषहजयादसौ ।
दशलक्षणधर्माच्च समितिभ्यश्च जायते ॥१०७॥
इति संवरतत्त्वस्य रूपं संक्षिप्य कीर्तितम् ।
इदानीं क्रियते किंचिन्निर्जराया निरूपणम् ॥१०८॥
यथाकालकृता काचिदुपक्रमकृतापरा ।
निर्जरा द्विविधा ज्ञेया कर्मक्षपणलक्षणा ॥१०९॥
या कर्मभुक्तिः श्वभ्रादौ सा यथाकालजा स्मृता ।
तपसा निर्जरा या तु सा चोपक्रमनिर्जरा ॥११०॥

स्वरूपम् । किंचित् स्तोकम् । उद्योतयिष्यते प्रकाशयिष्यते । द्युति दीप्तौ णिजन्ताल्लट् ॥१०५॥ आस्रवस्येति । आस्रवस्य कर्मणामास्रवस्य । यः । निरोधः निवारणम् । संवर इति संवरपदार्थ इति । निगद्यते । गद व्यक्तायां वाचि कर्मणि लट् । अनेन एतेन । कर्म ज्ञानावरणादि । संव्रियते निरुध्यते । इति एवं प्रकारेण । व्युत्पत्तिसंश्रयात् व्युत्पत्तेर्निरुक्तेः संश्रयात् आश्रयात् ॥१०६॥ चारित्रेति । असौ संवरः । चारित्रगुप्त्यनुप्रेक्षापरीषहजयात् चारित्रं त्रयोदशविधं तच्च, गुप्तिर्यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं गुप्तिः सा च, अनुप्रेक्षा शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा सा च. परीषहजयात् परीषहाणां क्षुत्पिपासादीनां जयो विजयः स च, तथोक्ताः, तेषां समाहारः चारित्रगुप्त्यनुप्रेक्षापरीषहजयं तस्मात् । दशलक्षणधर्माच्च दशलक्षणान्यसाधारणस्वरूपाणि यस्य तस्मात् धर्मात् इष्टस्थाने धरणरूपात् । समितिभ्यश्च प्राणिपीडापरिहारपरिणतिः समितिः, पञ्च समितयः ताभ्यश्च । जायते समुत्पद्यते । लट् ॥१०७॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । संवरतत्त्वस्य संवरपदार्थस्य । रूपं स्वरूपम् । संक्षिप्य समस्य । कीर्तितं प्रोक्तम् । इदानीम् अधुना । निर्जरायाः निर्जरापदार्थस्य । निरूपणम् अनुवर्णनम् । किंचित् ईषत् । क्रियते विधीयते । कर्मणि लट् ॥१०८॥ यथेति । तावत्[1] । यथाकालकृता यथाकालं कालमनतिक्रम्य कृता विहिता । अपरा अन्या । उपक्रमकृता उपक्रमेण कृता विहिता । कर्मक्षपणलक्षणा कर्मणां ज्ञानावरणादीनां क्षपणं विनाशः तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा । निर्जरा निर्जरापदार्थः । द्विविधा द्विप्रकारा-द्वौ विधौ प्रकारौ यस्याः सा । ज्ञेया वेदितव्या ॥१०९॥ येति । श्वभ्रादौ नरकादिगत्याम् । कर्मभुक्तिः कर्मणां भुक्तिरनुभवना जायते । या निर्जरा । सा यथाकालजा कालमनतिक्रम्य जनिता इति । स्मृता ज्ञाता । या तु ।

निरूपण किया, अब थोड़ा संवरके स्वरूपपर प्रकाश डाला जा रहा है ॥१०५॥ आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं । आनेवाले कर्मोंका जिसके द्वारा संवरण हो—निरोध हो, उसे संवर कहते हैं—'कर्म संव्रियते येन स संवरः' यह संवरकी व्युत्पत्ति है । इसी व्युत्पत्तिके आधारपर उक्त अर्थ किया गया है ॥१०६॥ यह संवर, चारित्र, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, दशलक्षण-धर्म और समितियोंसे होता है ॥१०७॥ इस प्रकार संक्षेपमें संवरतत्त्वका स्वरूप कहा, अब थोड़ा निर्जराका निरूपण किया जा रहा है ॥१०८॥ पहले बँधे हुए कर्मोंका अंशतः क्षपण होना—झड़ना निर्जराका लक्षण है, और वह निर्जरा दो प्रकारकी होती है—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । स्वाभाविक क्रमसे प्रति समय कर्मोंका, फल देकर झड़ना सविपाक निर्जरा है । इसीका दूसरा नाम अनुपक्रम निर्जरा या यथाकाल निर्जरा है । तपके द्वारा कर्मों-का उनके उदयके समयके पहले ही झड़ा देना अविपाक निर्जरा है । इसीका दूसरा नाम उपक्रम निर्जरा है ॥१०९॥ नरक आदि गतियोंमें कर्मोंका फल भोगना—अपने समयके अनुसार फल

१. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'काचित्' इत्येवास्ति ।

स्थितं द्वादशभिर्भेदैर्निर्जराकरणं तपः ।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेति मूलभेदद्वयान्वितम् ॥१११॥
उपवासावमोदर्ये वृत्तिसंख्या रसोज्झनम्[1] ।
विविक्तवासता[2] कायक्लेशश्चेति बहिर्भवम् ॥११२॥
स्वाध्यायो व्यावृतिर्ध्यानं व्युत्सर्गो विनयस्तथा ।
प्रायश्चित्तमिति ज्ञेयमान्तरं षड्विधं तपः ॥११३॥
स्वाध्यायानशनादीनां व्यक्तत्वादप्रपञ्चनम् ।
क्रियते दुर्विबोधत्वाद्ध्यानस्यैव प्रपञ्चनम् ॥११४॥
आर्तं रौद्रं च धर्मं च शुक्लं चापि चतुर्विधम् ।
ध्यानमाख्यातमर्हद्भिः शुभाशुभगतिप्रदम् ॥११५॥

उपक्रमनिर्जरा उपक्रमेण जाता निर्जरा[3] । स्मृता ॥११०॥ स्थितमिति । निर्जराकारणं निर्जरायाः कर्मविना॰शस्य कारणं हेतुः । तपः[4] तपश्चरणम् । द्वादशभिः । भेदैः विकल्पैः । स्थितम् आसितम् । बाह्यं बहिर्जातम् । आभ्यन्तरं चेति अन्तरङ्गजनितं चेति । मूलभेदद्वयान्वितं मूलभेदयोर्द्वयेनान्वितं सहितम् ॥१११॥ उपवासेति । उपवासावमोदर्ये उपवासोऽनशनं स च, अवमोदर्यम् अवमं रिक्तमुदरं जठरं यस्य सोऽवमोदरः तस्य भावोऽव-मौदर्यं तच्च तथोक्ते । वृत्तिसंख्या । रसोज्झनं रसानां क्षीरघृतादीनामुज्झनं त्यजनम् । विविक्तवासता विविक्ते एकान्ते वासता स्थितित्वम् । कायक्लेशश्चेति कायक्लेश इति । बहिर्भवं बाह्यम् । तप इति स्मृतम् ॥११२॥ स्वाध्याय इति । स्वाध्यायः श्रुताध्ययनम् । व्यापृतिः[5] वैयावृत्यम् । ध्यानम् एकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणम् । व्युत्सर्गः कायोत्सर्गः । विनयः ज्ञानादिविनयः । तथा तेन प्रकारेण । प्रायश्चित्तमिति । आन्तरम् अन्तरङ्गभवम् तपः तपश्चरणम् । षड्विधं षट्प्रकारम् । ज्ञेयं वेदितव्यम् ॥११३॥ स्वाध्याय इति । स्वाध्यायानशनादीनां स्वाध्यायानशने आदी येषां तेषाम् । व्यक्तत्वात् विशदत्वात् । अप्रपञ्चनम् अविवेचनम् । ध्यानस्यैव दुर्विबोधत्वात् ज्ञातुमशक्यत्वात् । प्रपञ्चनं विवरणम् । क्रियते विधीयते । कर्मणि लट् ॥११४॥ आर्तमिति । शुभाशुभगति-प्रदं शुभगत्यशुभगती प्रददातीति शुभाशुभगतिप्रदम् । ध्यानम् । आर्तम् ऋते भवमार्तम् । रौद्रं रोदयतीति[6] रुद्रः तस्य भावो रौद्रम् । धर्म्यं[7] च धर्मादनपेतम् । शुक्लं चेति शुक्लमिति । चतुर्विधं चत्वारो[8] विधा विकल्पा

देकर बद्ध कर्मोंका अंशतः झड़ जाना यथाकालजा—सविपाक निर्जरा है, और जो तपश्चरण-से कर्मोंकी निर्जरा होती है वह उपक्रम निर्जरा या अविपाक निर्जरा कहलाती है ॥११०॥ निर्जराका कारण तप है, जो बारह प्रकारका है। तपके मूल भेद दो हैं, बाह्य और आभ्यन्तर ॥१११॥ बाह्य तप छह प्रकारका है—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शयनासन और कायक्लेश ॥११२॥ स्वाध्याय, वैयावृत्ति, ध्यान, व्युत्सर्ग, विनय और प्रायश्चित्त ये छह आभ्यन्तर तप जानने चाहिए ॥११३॥ स्वाध्याय और अनशन आदि किसे कहते हैं; यह स्पष्ट है, अतः इनका विस्तार छोड़ते हैं। दुर्बोध होनेके कारण केवल ध्यानका ही विस्तार किया जा रहा है ॥११४॥ भगवान् अरिहंतने उस ध्यानके चार भेद बतलाये हैं—आर्त्त, रौद्र, धर्म, और शुक्ल। इनमें आर्त्त और रौद्र

---

१. म रसोप्सनम् । २. अ विविक्ता वासना, आ इ विविक्तावासता, म विविक्तवासना । ३. = तपसा तपश्चरणेन । निर्जरा जायते । सा च । ४. श 'तपः' इति नोपलभ्यते । ५. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'व्यावृतिः' वर्तते । ६. श रोघयतीति । ७. एष टीकाश्रयः पाठः प्रतिषु तु 'धर्मं च' इति समुपलभ्यते । ८. = चतस्रो ।

अनिष्टसंगमे तस्य वियोगपरिचिन्तनम् ।
विप्रयोगे मनोज्ञस्य समागमविचिन्तनम् ॥११६॥
रोगादिजनितायाश्च वेदनाया मुहुः स्मृतिः ।
निदानं चेति चत्वारो भेदाः पूर्वस्य कीर्तिताः ॥११७॥
रौद्रं हिंसानृतस्तेयविषयप्रतिपालनैः ।
चतुर्भिर्जायमानत्वात्कारणैः स्याच्चतुर्विधम् ॥११८॥
आज्ञा विपाकविचयावपायविचयस्तथा ।
संस्थानविचयश्चेति धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥११९॥
पृथक्त्वादिवितर्कान्तं शुक्लमाद्यमुदीरितम् ।
एकत्वादिवितर्कान्तं द्वितीयमनुगद्यते ॥१२०॥

यस्य तत् । अर्हद्भिः सर्वज्ञैः । आख्यातं प्रोक्तम् ॥११५॥ अनिष्टेति । अनिष्टसङ्गमे अनिष्टस्य सङ्गमे संयोगे सति । तस्य अनिष्टवस्तुनः । वियोगपरिचिन्तनं वियोगे विगमे परिचिन्तनं स्मरणम् । 卐 मनोज्ञस्य इष्टवस्तुनः । विप्रयोगे विरहे सति । समागमनचिन्तनं[1] समागमने संप्रापणे चिन्तनं स्मरणम्[2] 卐 ॥११६॥ रागेति । रागादि[3] जनितायाश्च रागादिभी रागद्वेषादिभिर्जनितायाश्च । वेदनायाः पीडायाः । मुहुः स्मृतिः विगमचिन्तनम् । निदानं चेति संपदाद्यपेक्षणं चेति । पूर्वस्य आर्तध्यानस्य । चत्वारः । भेदाः विकल्पाः । कीर्तिताः निरूपिताः ॥११७॥ रौद्रमिति । रौद्रं रौद्रध्यानम् । हिंसानृतस्तेयविषयप्रतिपालनैः हिंसा प्रमत्तयोगात् प्राण्यपरोपणं सा च, अनृतम् असदभिधानं तच्च, स्तेयम् अदत्तादानं तच्च, विषयाः पञ्चेन्द्रियगोचराः, तेषां प्रतिपालनं तच्च, तथोक्तानि तैः । चतुर्भिः चतुःसंख्यैः । कारणैः हेतुभिः । जायमानत्वात् उत्पद्यमानत्वात् । चतुर्विधं चतुर्विकल्पम् । स्यात् । लिङ्[4] ॥११८॥ आज्ञेति । आज्ञाविपाकवचियौ आज्ञाविचयश्च विपाकविचयश्च तथोक्तौ । अपायविचयः । तथा तेन प्रकारेण । संस्थानविचयश्चेति । धर्म्यं[5] ध्यानं धर्म्यं च तद्ध्यानं च तथोक्तम् । चतुर्विधं चत्वारो[6] विधाः प्रकारा[7] यस्य तत् ॥११९॥ पृथक्त्वेति । आद्यं प्रथमम् । शुक्लं शुक्लध्यानम् । पृथक्त्वादिवितर्कान्तं पृथक्त्वम् आदौ यस्य तत् पृथक्त्वादि, वितर्कोऽन्ते यस्य तद् वितर्कान्तं, पृथक्त्वादि च तद् वितर्कान्तं च तथोक्तम् । पृथक्त्ववितर्कसंज्ञमित्यर्थः । यद्यपि पृथक्त्ववितर्क विचार इति नाम शुक्लाध्यानस्य तथापि पृथक्त्ववितर्कमित्युच्ये, 'नामैकदेशो नाम्नि प्रवर्तते' इति वचनात् । इत्युदीरितं[8] प्रोक्तम् । एकत्वादिवितर्कान्तम् एकत्वमादौ यस्य तत्, वितर्कोऽन्ते यस्य तत्, एकत्वादिवितर्कान्तं च तथोक्तम् । एकत्ववितर्कविचार-

अशुभगतिके कारण हैं और धर्म और शुक्ल शुभ गति के ॥११५॥ अनिष्ट समागम होनेपर बार-बार यह सोचना कि यह कैसे दूर हो अनिष्ट संयोग नामक आर्त्तध्यान है। इष्ट वियोग होनेपर बार-बार यह सोचना कि उसका समागम कैसे हो इष्ट वियोग नामक आर्त्तध्यान है ॥११६॥ रोगादिजनित वेदनाके होनेपर बार-बार उसीका स्मरण करना वेदना नामक आर्त्तध्यान है। आगामी भोगोंकी बार-बार चिन्ता करना निदान नामक आर्त्तध्यान है। इस तरह ये चार पहले आर्त्तध्यान के भेद हैं ॥११७॥ हिंसा, झूठ, चोरी और विषयोंके संरक्षणकी चिन्ता करना रौद्रध्यान है। हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और विषयानन्दी ये चार रौद्रध्यानके भेद हैं। चार कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण यह चार प्रकारका होता है ॥११८॥ धर्मध्यान चार प्रकारका है—आज्ञाविचय, विपाकविचय, अपायविचय और संस्थान विचय ॥११९॥ शुक्लध्यान भी चार प्रकारका है—पहला पृथकत्ववितर्क, दूसरा

१. एष टीकाश्रय पाठः प्रतिषु तु निखिलास्वपि 'समागमविचिन्तनम्' इति समुलभ्यते। २. श स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते। ३. अयमपि टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'रोगादि॰' दृश्यते। ४. आ लेङ्। ५. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'धर्म॰' इत्यस्ति। ६. = चतस्रो। ७. आ विकल्पाः। ८. श इत्युदितं।

अन्यत् सूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रतिपात्यन्तमुच्यते ।
चतुर्थं प्रतिपात्यन्तं समुच्छिन्नक्रियादिकम् ॥१२१॥
कथितेति समासेन निर्जरा सनिबन्धना ।
सांप्रतं मोक्षतत्त्वस्य रूपं व्यावर्णयिष्यते[1] ॥१२२॥
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो भव्यस्य परिणामिनः ।
ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयोपायः प्रकीर्तितः ॥१२३॥
तत्त्वप्रकाशकं ज्ञानं दर्शनं तत्त्वरोचकम् ।
पापारम्भपरित्यागश्चारित्रमिति कथ्यते ॥१२४॥
संसारव्याधिविध्वंसे[2] भाव्यमानमिदं त्रयम् ।
हेतुरेकाङ्गविकलो[3] न हेतुरिव भेषजम् ॥१२५॥

मित्यर्थः । द्वितीयं द्वितीयशुक्लध्यानमिति । निगद्यते[4] प्रकीर्त्यते । कर्मणि लट् ॥१२०॥ अन्यदिति । अन्यत् तृतीयम् । सूक्ष्मक्रियापूर्वप्रतिपात्यन्तं[5] सूक्ष्मक्रिया पूर्वा प्रथमा यस्य तत् प्रतिपातिशब्दोऽन्ते यस्य तत् तथोक्तं सूक्ष्मक्रियापूर्वं च तत् प्रतिपात्यन्तं च तथोक्तं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातीत्यर्थः । उच्यते निगद्यते । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि कर्मणि लट् । चतुर्थं तुरीयम् । समुच्छिन्नक्रियादिकं समुच्छिन्नक्रिया आदौ यस्य तत् तथोक्तम् । प्रतिपात्यन्तं प्रतिपातिशब्दोऽन्ते यस्य तत् तथोक्तम् । निरूपितम् ॥१२१॥ कथितेति । सनिबन्धना[6] सकारणा । निर्जरा[7] निर्जरापदार्थः । समासेन संक्षेपेण । इति एवम् । कथिता प्रोक्ता । सांप्रतम् इदानीम् । मोक्षतत्त्वस्य मोक्षपदार्थस्य । रूपं स्वरूपम् । व्यावर्णयिष्यते परिकीर्त्यते । वर्ण वर्णक्रियायां लृट् ॥१२२॥ कृत्स्नेति । परिणामिनः परिणामयुक्तस्य । भव्यस्य आसन्नभव्यस्य । कृत्स्नकर्मक्षयः कृत्स्नानां सकलानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां क्षयो विनाशः । ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयोपायः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां त्रयमेवोपायो यस्य सः । मोक्ष इति । प्रकीर्तितः निरूपितः ॥१२३॥ तत्त्वेति । तत्त्वप्रकाशकं तत्त्वानां जीवादिपदार्थानां प्रकाशकं प्रतिभासकम् । ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । तत्त्वरोचकं तत्त्वेषु रोचकं रुचिकरम् । दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । पापारम्भपरित्यागः पापस्य पापरूपस्यारम्भस्य व्यापारस्य परित्यागः त्यजनम् । चारित्रमिति सम्यक्चारित्रमिति । कथ्यते निगद्यते । कथ वाक्यप्रबन्धे[8] कर्मणि लट् ॥१२४॥ **संसारेति** । भाव्यमानं निश्चीयमानम् । इदम् एतत् । त्रयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयम् । संसारव्याधिविध्वंसे[9] संसार एव व्याधिस्तस्य विध्वंसे विनाशकरणे । हेतुः कारणम् । एकाङ्गविकलम् (लः)

एकत्ववितर्क, तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और चौथा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति (व्युपरत क्रियानिर्वर्ति) ॥१२०॥१२१॥ इस प्रकार संक्षेपमें निर्जराका और उसके कारणोंका भी निरूपण किया, अब मोक्षतत्त्वके स्वरूपका निरूपण किया जायगा ॥१२२॥ समस्त कर्मोंका क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है, जो परिणामी नित्य (न सांख्योंकी तरह सर्वथा नित्य और न बौद्धोंकी तरह सर्वथा क्षणिक) भव्य जीवके ही सम्भव है । मोक्षका उपाय रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है ॥१२३॥ जीवादि सात तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाला सम्यग्ज्ञान होता है, जीव आदि तत्त्वोंमें अभिरुचि उत्पन्न करनेवाला सम्यग्दर्शन होता है और पापमय आरम्भका परित्याग करना सम्यक्चारित्र कहलाता है ॥१२४॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी भावना की जाय तो ये संसाररूपी व्याधिके विध्वंसक

१. क ख ग घ संवर्णयिष्यते । २. अ इ क ख ग घ °व्याधिविध्वंसि । ३. अ आ इ हेतुरेकान्त° क ख ग घ हेतुरेकाङ्गविकलं । ४. मूले 'अनुगद्यते' इत्यस्ति न तु 'निगद्यते' इति । ५. एष टीकाश्रयः पाठः, मूले तु 'सूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रतिपात्यन्तं' इति वर्तते । ६. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'संनिबन्धना' इति समुपलभ्यते । ७. आ 'निर्जरा' इति पदं नास्ति । ८. श व्यक्तप्रबन्धे । ९. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु '°विध्वंसि' इत्येवास्ति ।

केवलं न यथा ज्ञातं[1] रुचितं समनुष्ठितम् ।
औषधं ध्वंसयेद् व्याधिं तथा तत्त्वं च संसृतिम् ॥१२६॥
यथा सम्यक्परिज्ञातं[2] रुचितं समनुष्ठितम् ।
औषधं ध्वंसयेद् व्याधिं तथा तत्त्वं च संसृतिम् ॥१२७॥
कर्मणां प्रतिपक्षत्वान्मुक्तेर्ज्ञानादि कारणम् ।
ज्ञानादीनां विवृद्ध्या हि रागादिक्षयदर्शनात्[3] ॥१२८॥
रागादेश्च क्षयात्कर्मप्रक्षयो हेत्वभावतः ।
तस्माद्रत्नत्रयं हेतुर्विरोधात्कर्मणां क्षये ॥१२९॥

एकेन त्रयाणां मध्ये एकेनाङ्गेनावयवेन विकलं (लो) विरहितम् (तः)। हेतुः संसारविध्वंसहेतुः । न स्यात् । भेषजमिव औषधमिव । एकमूलकाद्यवयवहीनं भेषजं व्याधिविध्वंसे हेतुर्यथा न स्यात् तथेत्यर्थः ॥१२५॥ केवलमिति । केवलं रुचितम्; केवलं ज्ञातम्; केवलं समनुष्ठितमित्यर्थः । औषधं भेषजम् । व्याधिं रोगम् । यथा । न विध्वंसयेत् न विनाशयेत् । तथा । तत्त्वं च दर्शनादित्रयाणां मध्ये एकैकविकलम् । संसृतिं संसारम् । न ध्वंसयेदिति शेषः ॥१२६॥ यथेति । सम्यक्परिज्ञातं सम्यग्विदितम् । रुचितं विशस्तम् । समनुष्ठितं सम्यक्-सेवितम् । औषधं भेषजम् । यथा । व्याधिं रोगम् । ध्वंसयेत् विनाशयेत् । तथा । तत्त्वं च । रत्नत्रयमिलितं[4] चेत् । संसृतिं संसारम् । ध्वंसयेत् । ध्वंसू अवस्रंसने ॥१२७॥ कर्मणामिति । ज्ञानादि सम्यग्ज्ञानादित्रयम् । कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् । प्रतिपक्षत्वात् प्रतिकूलत्वात् । मुक्तेः मोक्षस्य । कारणं हेतुः । भवेत् । कथम् इति चेत् । ज्ञानादीनां सम्यग्ज्ञानादीनाम् । विवृद्धया आधिक्येन हि । रागादिक्षयदर्शनात् रागादीनां रागद्वेषादीनां क्षयस्य नाशस्य वीक्षणात् ॥१२८॥ रागादेरिति । रागादेः रागद्वेषादेश्च । क्षयात् नाशात् । कर्म [प्र] क्षयः कर्मणां [प्र] क्षयो नाशः । कथमिति चेत् । हेत्वभावतः हेतोः रागादेः कारणस्याभावतोऽसद्भावात् । तस्मात् कारणात् । रत्नत्रयम् । विरोधात् प्रतिपक्षात् । कर्मणां ज्ञानावरणादीनाम् । क्षये विनाशे । हेतुः

हो जाते हैं। यदि इन तीनोंमें-से किसी एकको भी कमी रह जाय तो ये संसार रूपी व्याधिके विध्वंसमें कारण नहीं हो सकते। जैसे एक दवासे रहित नुस्खा बीमारीको नष्ट करनेमें कारण नहीं हो सकता ॥१२५॥ जिस प्रकार औषधिकी केवल जानकारी, केवल श्रद्धा या केवल उसके अनुकूल आचरण करना व्याधिको दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार जीवादि सात तत्त्वोंका केवल ज्ञान, केवल श्रद्धा या केवल अनुष्ठान—चारित्र संसाररूपी व्याधिको नष्ट नहीं कर सकता ॥१२६॥ जैसे दवाका ठीक ज्ञान हो, उसके प्रति विश्वास हो और उसके अनुकूल आचरण (परहेज आदि) हो तो वह व्याधिको नष्ट कर देती है, वैसे ही जीव आदि सात तत्त्वोंका ठीक ज्ञान हो, उनके प्रति श्रद्धा हो और हो उनके अनुकूल आचरण तो वे संसाररूपी व्याधिको नष्ट कर देते हैं ॥१२७॥ सम्यग्ज्ञान आदि, ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंके प्रतिकूल होनेसे मुक्तिके कारण हैं; क्योंकि सम्यग्ज्ञान आदिके बढ़नेसे राग आदि कषायोंका क्षय देखा जाता है ॥१२८॥ और राग-द्वेष आदि कषायोंके क्षय हो जानेसे समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है; क्योंकि कारणके अभावमें कार्यका अभाव हो जाता है। कर्मोंके बन्धके कारण राग आदि हैं, इसलिए राग आदिके दूर होनेपर कर्मोंका क्षय हो जाना स्वाभाविक है। अतः रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) कर्मोंके प्रतिकूल होनेसे उन (कर्मों) के क्षयमें

१. म यथाज्ञानं । २. म °परिज्ञानं । ३. म °क्षयदर्शनम् । ४. आ दर्शनादित्रयाणां मध्ये एकैक-विकलम् ।

क्षीणकर्मा ततो जीवः स्वदेहाकृतिमुद्वहन् ।
ऊर्ध्वं स्वभावतो याति वह्निज्वालाकलापवत् ॥१३०॥
लोकाग्रं प्राप्य तत्रासौ स्थिरतामवलम्बते ।
गतिहेतोरभावे न धर्मस्य परतो गतिः ॥१३१॥
इति तत्त्वोपदेशेन प्रह्लाद्य सकलां सभाम् ।
भव्यपुण्यसमाकृष्टो व्यहरद्भगवान्भुवि ॥१३२॥
निस्वेदत्वादिभिस्तस्य सहजैर्दशभिर्गुणैः ।
बभासे भुवनोद्भासि वपुर्भास्करभासुरम् ॥१३३॥
व्यहरद्यत्र यत्रासौ तत्र तत्र सुभिक्षता ।
अजायत जनप्रीत्यै योजनानां शतद्वये[1] ॥१३४॥

कारणम् । भवेत् ॥१२९॥ क्षीणेति । ततः रत्नत्रयात् । क्षीणकर्मा क्षीणानि कर्माणि यस्य सः । जीवः आत्मा । स्वदेहाकृतिं स्वस्यात्मनो देहस्य शरीरस्याकृतिमाकारम् । उद्वहन् धरन् । स्वभावतः स्वरूपतः । वह्निज्वाला-कलापवत् वह्नेरग्नेर्ज्वालानामर्चिषां कलापवत् समूहवत् । ऊर्ध्वम् अग्रम् । याति । लट् ॥१३०॥ लोकेति । असौ जीवः । लोकाग्रं जगदग्रम् । प्राप्य गत्वा । तत्र लोकाग्रे । स्थिरतां स्थिरत्वम् । अवलम्बते प्रवर्तते । गतिहेतोः गतेर्गमनस्य हेतोः कारणस्य । धर्मस्य धर्मास्तिकायस्य । अभावे विरहे सति । परः [परतः] लोकाग्रात् परतः । गतिः गमनं नास्ति ॥१३१॥ इतीति । इति उक्तप्रकारेण । तत्त्वोपदेशेन तत्त्वानामुपदेशेन निरूपणेन । सकलां निखिलाम् । सभां समवसरणास्थानम् । प्रह्लाद्य संतोष्य । भव्यपुण्यसमाकृष्टः भव्यानां रत्नत्रयाविर्भवनयोग्यानां पुण्यैः शुभकर्मभिराकृष्ट आहूतः । भगवान् स्वामी । भुवि भूमौ । व्यहरत् विहरति स्म ॥१३२॥ निस्वेदेति । तस्य चन्द्रप्रभजिनेशस्य । भास्करभासुरं भास्कर इव सूर्य इव भासुरं देदीप्यमानम् । भुवनोद्भासि भुवने लोके उद्भासि प्रकाशमानम् । वपुः शरीरम् । निःस्वेदत्वादिभिः निःस्वेदत्वमादिर्[2] येषां तैः । सहजैः सहजातैः । दशभिः दशसंख्यैः । गुणैः । बभासे बभौ । भा दीप्तौ लिट् ॥१३३॥ व्यहरदिति । असौ चन्द्रप्रभः । यत्र यत्र यस्मिन् यस्मिन् देशे । व्यहरत् विहरति स्म । तत्र तत्र तस्मिन् तस्मिन् देशे । योजनानाम् । शतद्वये शतयोर्द्वयं तस्मिन् । सुभिक्षता सुभिक्षत्वम् । जनप्रीत्यै जनानां

कारण है ॥१२९॥ कर्मोंका क्षय करनेवाला जीव अपने शरीरकी आकृतिको धारण करता हुआ, उस स्थानसे, जहाँ कर्मोंका क्षय किया है, अग्नि की ज्वालाकी भाँति स्वभावसे ही ऊपर (लोकके अग्रभागमें) चला जाता है ॥१३०॥ लोकके अग्रभागमें जाकर वह मुक्त जीव वहीं पर स्थिर हो जाता है। धर्मद्रव्यके, जो गतिमें कारण हैं, अभाव होनेसे मुक्तजीव लोकाग्रसे ऊपर नहीं जा सकता ॥१३१॥ इस प्रकार जीव आदि सात तत्त्वोंके उपदेशसे सारी सभाको प्रसन्न करके भगवान् चन्द्रप्रभने भव्य जीवोंके पुण्यसे आकृष्ट होकर भूमण्डलमें विहार किया ॥१३२॥ उनका सूर्य सरीखा देदीप्यमान शरीर—परमौदारिक दिव्य देह सारे संसारको प्रकाशित कर रहा था, तथा पसीना न आना आदि जन्मसे उत्पन्न हुए दस अतिशयोंसे सुशोभित था ॥१३३॥ भगवान् चन्द्रप्रभने जहाँ-जहाँ विहार किया वहाँ-वहाँ लोगोंकी प्रीतिके

१. अ आ इ शतद्वयं । २. आ °मादिः ।

गगने गमनं तस्य सर्वेषामपि हृष्टये ।
बभूव प्राणिनां प्राणिविरोधेन[1] विवर्जितम् ॥१३५॥
तस्य भुक्त्यु[2]पसर्गाभ्यां मनागपि न पस्पृशे ।
शीतेतरकरस्येव च्छायाविरहितं वपुः ॥१३६॥
चतुराननतारूपमहातिशयशालिनः ।
चतुरा न नता तस्य काभ्युत्थाय स्वयं प्रजा ॥१३७॥
पक्ष्मस्पन्दविनिर्मुक्ते बभतुस्तस्य लोचने ।
नीलोत्पले इवात्यन्तनिर्वातस्थानसंस्थिते ॥१३८॥
सर्वविद्येशिनः[3]स्तस्य यथास्थनखमूर्धजम् ।
असाधारणतां तस्य वपुर्वक्तुमिवाभवत् ॥१३९॥

प्रीत्यै प्रीतिनिमित्तम् । अजायत जायते स्म । लङ् ॥१३४॥ **गगन** इति । तस्य चन्द्रप्रभस्य । प्राणिविरोधनविवर्जितं[4] प्राणिनां विरोधनेन वधेन विवर्जितं रहितम् । गगने आकाशे । गमनं यानम् । सर्वेषामपि निखिलानामपि । प्रणिनां जीवानाम् । संतोषाय । बभूव भवति स्म । लिट् ॥१३५॥ तस्येति । शीतेतरकरस्येव सूर्यस्येव । छायाविरहितं छायया प्रतिबिम्बेन विरहितं विहीनम् । तस्य चन्द्रप्रभस्य । वपुः शरीरम् । भुक्त्युपसर्गाभ्यां भुक्तेरुपसर्गाच्च । मनागपि स्तोकमपि । न पस्पृशे न स्पृश्यते स्म । स्पृश स्पर्शने कर्मणि लिट् ॥१३६॥ चतुरेति । चतुराननतारूपमहातिशयशालिनः चत्वारि आननानि यस्य तस्य भावश्चतुराननता चतुर्मुखता सा च रूपं यस्य सः चतुराननतारूपः स चासौ महातिशयश्च चतुराननतारूपमहातिशयः तेन शालते शोभते इति तथोक्तः, तस्य । तस्य भगवतः । चतुरा प्रौढा । [का] प्रजा जनः । स्वयम् । अभ्युत्थाय गौरवं कृत्वा । नता विनता । न भवति । अपितु सर्वा प्रजा विनतैव । ।१३७॥ पक्ष्मेति । पक्ष्मस्पन्दविनिर्मुक्ते पक्ष्मणोर्नयनच्छदयोः स्पन्देन निमीलनादिना विनिर्मुक्ते विरहिते । तस्य जिनेशिनः । लोचने नयने । अत्यन्तनिवातस्थानसंस्थिते । अत्यन्तं निवाते वातरहिते स्थाने सरोवरप्रदेशे संस्थिते स्थिते । नीलोत्पले इव नीले च ते उपले च ते इव । बभतुः भातः स्म । भा दीप्तौ लिट्[5] ॥१३८॥ सर्वेति । सर्वविद्येशिनः सर्वासां विद्यानामीशिनः स्वामिनः । तस्य भगवतः । असाधारणतां साधारण (ता) रहितत्वम् । स्वस्य आत्मनः । वपुः शरीरम् वक्तुमिव निगदितुमिव । यथास्थनखमूर्धजं यथा तिष्ठन्तीति यथास्था नखाः कररुहा मूर्धजाः शिरोरुहा यस्य तत् । अभवत् अभूत् । लङ् ॥१३९॥ स इति ।

लिए दो सौ योजन तक सुभिक्ष हो जाता था ॥१३४॥ सभी प्राणियोंकी प्रसन्नताके निमित्तसे उनका गमन आकाशमें होता था, तथा उनके गमनसे किसी भी प्राणीकी विराधना नहीं होती थी ॥१३५॥ उनका शरीर सूर्यमण्डलकी भाँति परछाईंसे रहित था, तथा कवलाहार और उपसर्गसे अछूता था ॥१३६॥ उनमें एक ऐसा अतिशय था, जिससे उनका मुख चारों ओर दिखलाई पड़ता था—उनमें चतुर्मुख होनेकी अतिशय था, उससे उनका रूप देखते ही बनता था । प्रजामें ऐसा कौन सा मनुष्य था जो उन्हें स्वयं उठकर नमन नहीं करता था ? ॥१३७॥ उनके नेत्रोंके पलक झपते नहीं थे—सदा निर्निमेष रहते थे, अतः वे (नेत्र) जहाँ वायुका संचार बिलकुल भी नहीं है, उस स्थानमें स्थित सरोवरके नीलकमलोंकी भाँति सुशोभित होते थे ॥१३८॥ वे समस्त विद्याओंके स्वामी थे । मानो उनकी असाधारणताको बतलानेके लिए

१. अ प्राणविरो° । २. अ आ इ °भक्त्यु° । ३. म °विद्येशितु° । ४. एष टीकापाठः प्रतिषु तु 'प्राणिविरोधेन विवर्जितम्' इति दृश्यते । ५. श 'लिट्' इति नास्ति ।

स घातिक्षयजैरेभिरपरैर्दशभिर्गुणैः ।
रराज रजसा मुक्तो मुक्तिसंगमनोत्सुकः ॥१४०॥
सर्वभाषात्मिका तस्य सर्वसत्त्वावबोधिनी ।
मागधी या बभौ भाषा मैत्री चाखिलगोचरा ॥१४१॥
जज्ञे विहारतस्तस्य सर्वर्तुफलशालिनी ।
कृतरत्न[1]विनिर्माणा भूर्दर्पणतलोपमा ॥१४२॥
पादौ विरेजतुस्तस्य हेमाब्जरुचिपिञ्जरौ ।
जितेन रागमल्लेन भयादिव समाश्रितौ ॥१४३॥
इत्येवमादिभिश्चान्यैः स चतुर्दशभिर्जिनः ।
दिद्युतेऽतिशयैर्देवनिकायपरिकल्पितैः ॥१४४॥

रजसा कर्मणा। मुक्तः त्यक्तः। मुक्तिसंगमनोत्सुकः मुक्तेर्मोक्षस्य संगमने संयोजने उत्सुकः तत्परः। सः भगवान्। [अ] परैः[2] उत्कृष्टैः। घातिक्षयजैः घातिनां[3] घातिकर्मणां क्षयजैः क्षयेण[4] नाशेन जनितैः। एभिः एतैः। दशभिः दशसंख्यैः। गुणैः। रराज बभौ। राजृ् दीप्तौ लिट् ॥१४०॥ सर्वेति। सर्वभाषात्मिका सर्वाः सकला भाषा एव स्वरूपं यस्याः सा। सर्वसत्त्वावबोधिनी सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनामवबोधिनी उपदेशिनी। मागधीया मगध[5]देशसंबन्धा। तस्य भगवतः। भाषा दिव्यध्वनिः। अखिलगोचरा अखिला[6] एव गोचरो विषयो यस्याः सा। मैत्री च मित्रता च ॥१४१। जज्ञ इति। तस्य भगवतः। विहारतः श्रीविहारात्। सर्वर्तुफलशालिनी सर्वेषाम् ऋतूनां फलैः शालिनी संपूर्णा। कृतरत्नविनिर्माणा कृतं विहितं रत्नैर्विनिर्माणं यस्याः सा। दर्पणतलोपमा दर्पणस्य आदर्शस्य तलस्य प्रदेशस्योपमा[7] समाना। भूः भूमिः। जज्ञे जायते स्म। जनैङ् प्रादुर्भावे लिट् ॥१४२॥ पादाविति। हेमाब्जरुचिपिञ्जरौ हेमाब्जानां हेमारविन्दानां रुच्या कान्त्या पिञ्जरौ उपरञ्जितौ। तस्य भगवतः। पादौ चरणौ। जितेन निराकृतेन। रागमल्लेन राग एव मल्लः तेन। भयात् भीतेः। समाश्रिताविव सेविताविव। रेजतुः बभतुः। लिट् ॥१४३॥ इतीति। इत्येवमादिभिः इत्येवं प्रमुखैः। देवनिकायपरिकल्पितैः देवानाममराणां निकायेन समूहेन परिकल्पितैर्निर्मितैः। चतुर्दशभिः चतुर्निरधिकैर्दशभिः अतिशयैः। अन्यैश्च शेषैश्च। सः जिनः चन्द्रप्रभजिनेशः[8]। दिद्युते बभासे। द्युत दीप्तौ लिट्

उनका शरीर नखों और केशोंकी वृद्धिसे रहित था ॥१३९॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जाने से—केवलज्ञान उत्पन्न हो जानेसे प्रकट हुए उक्त दस गुणोंसे सुशोभित थे, और वे कर्मरजसे मुक्त होकर मुक्तिके समागमके लिए उत्सुक थे ॥१४०॥ उनकी भाषा अर्धमागधी थी। उसमें यह विशेषता थी कि वह समस्त भाषाओंमें परिणत हो जाती थी और इसीलिए वह समस्त प्राणियोंकी समझमें आ जाती थी। समस्त प्राणियोंमें परस्पर मित्रता हो गई थी ॥१४१॥ उनके विहार करते समय सभी ऋतुओं-के फल-फूल एक ही साथ उत्पन्न हो गये, तथा रत्नजड़ित पृथिवी, दर्पणतलकी भाँति दृष्टिगोचर होने लगी ॥१४२॥ स्वर्णकमलोंकी कान्तिसे प्रभावित होकर उनके दोनों चरण ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो उन (चन्द्रप्रभ) के द्वारा पराजित किया गया राग रूपी मल्ल भयके मारे उनके चरणोंकी शरणमें आगया हो। (विहारके समय देव लोग उनके चरणोंके नीचे कमल रख देते थे) ॥१४३॥ देव वर्गके द्वारा किये गये इन (श्लोकोंमें वर्णित) तथा

---

१. म कृतरक्त°। २. = सहजातिशयभिन्नैः। ३. श घातीनां। ४. श क्षयेन। ५. श मागत्र°। ६. श अखिलानि। ७. = यस्याः सा, तत्समाना-इत्यर्थः। ८. श °जिनेश्वरः।

प्रातिहार्यैश्च सोऽष्टाभिः शुशुभे शुभचेष्टितः ।
छत्त्रत्रयादिभिः सर्वजगदैश्वर्यशंसिभिः ॥१४५॥
नवतिस्त्र्यधिका तस्य सभायां गणिनोऽभवन् ।
द्वे तीक्ष्णतरबुद्धीनां सहस्रे पूर्वधारिणाम् ॥१४६॥
शिक्षकाणामुभे लक्षे चतुर्भिरधिकैः शतैः ।
अवधिज्ञानिनामष्टौ सहस्राणि महाधियाम् ॥१४७॥
दश केवलनेत्राणां सहस्राण्यमलात्मनाम् ।
चतुर्दश सहस्राणि विक्रियर्द्धिमुपेयुषाम् ॥१४८॥
मनः पर्ययिणामष्टसहस्राणि सतेजसाम् ।
सह षड्भिः शतैः सप्त सहस्राणि च वादिनाम् ॥१४९॥
वरुणाद्यार्यिकाणां च विशुद्धतरचेतसाम् ।
अशीतिश्च सहस्राणि लक्षमेकं क्षतैनसाम् ॥१५०॥

॥१४४॥ प्रातिहार्यैरिति । सर्वजगदैश्वर्यशंसिभिः सर्वेषां जगतां भुवनानामैश्वर्यं शंसिभिः सूचकैः[1] । सुरचेष्टितैः सुरैरमरैश्चेष्टितै निर्मितैः । छत्रत्रयादिभिः छत्राणामातपवारणानां त्रयं तदेवादिर्येषां तैः । अष्टाभिः अष्टसंख्यैः । प्रातिहार्यैश्च प्रातिहार्याख्यातिशयैश्च । सः भगवान् । शुशुभे भाति स्म । शुभि दीप्तौ लिट् ॥१४५॥ नवतिरिति । तस्य चन्द्रप्रभजिनेन्द्रस्य । सभायां समवसरणे । त्र्यधिका त्रिभिरधिका । नवतिः नव वारान् दश । गणिनः गणधराः । अभवतां [अभवन्] अभूवन् । लङ् । तीक्ष्णतरबुद्धीनां तीक्ष्णतरा पटुतरा बुद्धिर्धीर्येषां तेषाम् । पूर्वधारिणां पूर्वधराणाम् । द्वे सहस्रे । अभवताम् ॥१४६॥ शिक्षकाणामिति । शिक्षकाणां शिक्षाचार्यमुनीनाम् । चतुर्भिः । अधिकैः । युते शते [शतैर्युते] उभे लक्षे नियुते । अभवन् । महाधियां महती धीर्येषां तेषाम् । अवधिज्ञानिनां तृतीयज्ञानयुतानाम् । अष्टसहस्राणि[2] अष्ट च तानि सहस्राणि च । अभवन् ॥१४७॥ दशेति । अमलात्मनाम् अमलो निर्मल आत्मा येषां तेषाम् केवलनेत्राणां केवलं पञ्चमज्ञानं तदेव नेत्रं येषां तेषाम् । दश दशप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् । विक्रियर्द्धिं विक्रियाम् ऋद्धिम् । उपेयुषां प्राप्तानाम् । चतुर्दश चतुर्भिरधिका दश, चतुर्दशप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् ॥१४८॥ मन इति । सतेजसां प्रभावसहितानाम् । मनःपर्ययिणां चतुर्थज्ञानिनाम् । अष्टौ अष्टप्रमितानि । सहस्राणि । अभवन् । वादिनां महावादिनाम् । षड्भिः षट्प्रमितैः । शतैः । सह साकम् । सप्तसहस्राणि । अभूवन् ॥१४९॥ वरुणेति । क्षतैनसां क्षतं नष्टमेनः पापं यासां तासाम् । विशुद्धतरचेतसां विशुद्धतरं प्रकृष्टनिर्मलं चेतो यासां तासाम् । वरुणाद्यार्यिकाणां वरुणार्यिका आद्या मुख्या यासां तासामार्यिकाणां च । एकं लक्षम्, अशीतिः सहस्राणि च । अभूवन् ॥१५०॥

इन्हीं सरीखे और भी, जिनकी कुल संख्या चौदह है, अतिशयोंसे वे सुशोभित हो रहे थे ॥१४४॥ उनकी चेष्टाएँ शुभ थीं। वे सारे जगतके ऐश्वर्यको सूचित करनेवाले छत्रत्रय–तीन छत्र आदि आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित थे ॥१४५॥ उनकी सभा (समवसरण) में तेरानवे गणधर थे और दो हजार तीक्ष्ण बुद्धिवाले पूर्वधारी ॥१४६॥ दो लाख चारसौ उपाध्याय तथा आठ हजार तीव्रबुद्धिवाले अवधिज्ञानी थे ॥१४७॥ दस हजार निर्मल आत्मावाले केवली और चौदह हजार विक्रिया-ऋद्धि-धारी साधु थे ॥१४८॥ आठ हजार तेजस्वी मनःपर्ययज्ञानी थे और सात हजार छह सौ वादी (शास्त्रार्थी) मुनि थे ॥१४९॥ एक लाख अस्सी हजार वरुणा आदि आर्यिकाएँ थीं, जिनके समस्त पाप विलीन हो चुके थे, और जिनके हृदय अत्यन्त विशुद्ध हो

१. आ सूचयद्भिः । २. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'अष्टौ सहस्राणि' इति समुपलभ्यते ।

श्रावकाणां च लक्षाणि त्रीणि सम्यक्त्वशालिनाम् ।
लक्षाणि पञ्च पूतानां श्राविकाणां[1] व्रतादिभिः ॥१५१॥

इत्थं विहृत्य भगवान्सकलां धरित्री-
मध्यासितो गणधरैर्मुनिवृन्दवन्द्यैः ।
धर्मोपदेशजलवर्धितभव्यसस्यः[2]
संमेदशैलशिखरं स समाससाद ॥१५२॥

तत्रासौ परिमुक्तमासविहृतिः पक्षे सिते सप्तमी-
तिथ्यां भाद्रपदे स्थितः प्रतिमया सार्धं मुनीनां गणैः ।
निर्बाधं दशपूर्वलक्षपरिमायुक्तायुषः[3] प्रक्षये[4]
शुक्लध्याननिरस्तकृत्स्नकलुषः सिद्धेः पदं शिश्रिये ॥१५३॥

श्रावकाणामिति । सम्यक्त्वशालिनां सम्यक्त्वसंपन्नानाम् । श्रावकाणाम् उपासकानाम् । त्रीणि त्रिप्रमितानि । लक्षाणि । अभूवन् । व्रतादिभिः व्रताद्यैः । पूतानां पवित्राणाम् । श्राविकाणाम् उपासकवनितानाम् । पञ्चलक्षाणि । अभवन् ॥१५१॥ इत्थमिति । मुनिवृन्दवन्द्यैः । मुनीनां वृन्देन निकायेन वन्द्यैराराधनीयैः । गणधरैः गणनायकैः । अध्यासितः प्रार्थितः (?) । धर्मोपदेशजलवर्धितभव्यसस्यः धर्मस्योपदेश एव जलं तेन वर्धितानि प्रतिपालितानि भव्य एव विनेयजन एव सस्यानि यस्य[5] सः । सः चन्द्रप्रभजिनेन्द्रः । भगवान् स्वामी । सकलां समस्ताम् । धरित्रीं भूमिम् । इत्थम् अनेन प्रकारेण । विहृत्य श्रीविहारं विधाय । संमेदशैलशिखरं संमेदशैलस्य संमेदपर्वतस्य । शिखरम् अग्रम् । समाससाद समाप । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु लिट् ॥१५२॥ तत्रेति । तत्र संमेदशिखरे । परिमुक्तमासविहृतिः मासं मासपर्यन्तं विहृतिर्मासविहृतिः । 'कालाध्वनोर्व्याप्तौ' इति द्वितीया, परिमुक्ता मासविहृतिर्येन[6] सः । भाद्रपदे भाद्रपदमसे । सिते शुक्ले । पक्षे । सप्तमीतिथ्यां सप्तम्यां तिथौ । मुनिनां यतीनाम् । गणैः समूहैः । सार्धं साकम् । निर्बाधं[7] परबाधारहितं यथा तथा । प्रतिमयां प्रतिमायोगेन । स्थितः आसितः । दशपूर्वलक्षपरिमायुक्तायुषः[8] दशानां पूर्वाणां लक्षाणां परिमया प्रमाणेन युक्तस्यायुषः । प्रक्षये परिक्षये[9] सति । शुक्लध्याननिरस्तविश्वकलुषः शुक्लध्यानेन निरस्तानि निराकृतानि विश्वानि अखिलानि कलुषाणि पापानि यस्य[10] सः । असौ । भगवान् । सिद्धेः मोक्षस्य । पदं स्थानम् ।

गये थे ॥१५०॥ तीन लाख सम्यग्दृष्टि श्रावक और पांच लाख व्रत आदिसे पवित्र श्राविकाएँ थीं ॥१५१॥ इस प्रकार भगवान् चन्द्रप्रभ ने—जिनके साथ समस्त मुनियोंके द्वारा वन्दनीय गणधर थे—सारी पृथिवीमें विहार किया और धर्मोपदेश रूपी जलसे भव्य जीव रूपी अनाजको विकसित किया। इसके पश्चात् वे सम्मेदाचल (शिखर जी) के शिखरपर जाकर विराजमान हुए ॥१५२॥ वहाँ उन्होंने एक मास पर्यन्त विहारका परित्याग करके मुनि-सङ्घके साथ प्रतिमा-योग धारण किया। फिर भाद्रपद शुक्ला सप्तमी (भादों सुदी सातें) को शुक्लध्यानके द्वारा समस्त पापोंको नष्टकर सारी बाधाओंसे रहित, दस लाख पूर्व प्रमाण आयुके समाप्त होते ही

१. म श्रावकाणां । २. म °सस्यसंमेद° । ३. म °परिमाणस्यायुषः । ४. आ इ °युषः सप्तम- । ५. = येन । ६. श यस्य । ७. श परिबाधा° । ८. श °परिमाणयुक्ता° । ९. श परक्षये । १०. = येन ।

संश्लिष्टामथ तस्य भूधरपतेश्चैत्यालयोद्भासिनः
पूते मूर्धनि सार्धकार्मुकशतोत्सेधां तदीयां तनुम् ।
संस्कृत्यागुरुचन्दनप्रभृतिभिः प्राप्तोरुपुण्योदयाः
कल्याणं प्रविधाय पञ्चममगुः स्वं स्वं पदं स्वर्गिणः ॥१५४॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्येऽष्टादशः सर्गः ॥१८॥

शिश्रिये आश्रयते स्म ॥१५३॥ संश्लिष्टामिति । अथ निर्वाणगमनानन्तरम् । चैत्यालयोद्भासिनः चैत्यालयैरुद्भासिनो देदीप्यमानस्य । तस्य भूधरपतेः तस्य प्रोक्तस्य भूधराणां पर्वतानां पतेः (पत्युः) प्रभोः संमेदपर्वतस्य पूते पवित्रे । मूर्धनि शिखरे । संश्लिष्टां संश्रिताम् । सार्धकार्मुकशतोत्सेधां सार्धम् अर्धसहितं—पञ्चाशत्सहितं कार्मुकाणां शतमुत्सेधो यस्याः ताम् । तदीयां तस्य संबन्धिनीम् । तनुं शरीरम् । [1]अगरुचन्दनप्रभृतिभिः अगरुः कालागरुः स च चन्दनं च ते प्रभृती येषां तैः । संस्कृत्य दहनं विधाय प्राप्तोरुपुण्योदयः प्राप्तो लब्ध उरूणां महतां पुण्यानां शुभकर्मणामुदयो यैस्ते । स्वर्गिणः देवाः । पञ्चमं परिनिर्वाणाख्यम् । कल्याणं मङ्गलकार्यम् । प्रविधाय । स्वं स्वं स्वकीयं स्वकीयम् । पदं स्थानम् । अगुः ययुः । लुङ्[2] ॥१५४॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तद्व्याख्याने च विद्वन्मनोवल्लभाख्ये
अष्टादशः सर्गः ॥१८॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

मुक्ति प्राप्त की ॥१५३॥ इसके पश्चात् चैत्यालयोंसे विभूषित उस सम्मेदाचलके पवित्र शिखर पर स्थित भगवान् चन्द्रप्रभके डेढ़ सौ धनुष ऊँचे शरीरका पुण्यात्मा देवोंने अगुरुचन्दन आदिसे अन्तिम संस्कार किया, फिर वे उनके मोक्षकल्याणके उत्सवको मनाकर अपने-अपने स्थानको चले गये ॥१५४॥

इस प्रकार महाकवि वीरनन्दिकृत उदयाङ्क चन्द्रप्रभ चरित
महाकाव्यमें अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८॥

॥ समाप्त ॥

---

१. एष टीकाश्रयः पाठः, प्रतिषु तु 'अगुरु' इत्येव समुपलभ्यते । २. आ लङ् ।

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः ।

बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धुः पतिर्मुनीनां गणभृत्समानः ।
सदग्रणीर्देशिगणाग्रगण्यो[1] गुणाकरः श्रीगुणनन्दिनामा ॥१॥
गुणग्रामाम्भोधेः[2] सुकृतवसते[3]र्मित्रमहसा-[4]
मसाध्यं यस्यासीन्न किमपि महीशासितुरिव ।
स तच्छिष्यो ज्येष्ठः[5] शिशिरकरसौम्यः समभव-
त्प्रविख्यातो नाम्ना विबुध[6]गुणनन्दीति भुवने ॥२॥
मुनिजननुतपादः प्रास्तमिथ्याप्रवादः[7]
सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्यः प्रसिद्धः ।
अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी
स्वमहिमजितसिन्धुर्भव्यलोकैकबन्धुः ॥३॥
भव्याम्भोजविबोधनोद्यतमते[8]र्भास्वत्समानत्विषः
शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधियः श्रीवीरनन्दीत्यभूत् ।
स्वाधीनाखिलवाङ्मयस्य भुवनप्रख्यातकीर्तेः[9] सतां
संसत्सु व्यजयन्त यस्य जयिनो वाचः कुतर्काङ्कुशाः ॥४॥
शब्दार्थसुन्दरं तेन रचितं चारुचेतसा ।
श्रीजिनेन्दुप्रभस्येदं चरितं रचनोज्ज्वलम्[10] ॥५॥

श्री गुणनन्दी नामके आचार्य थे । वे भव्यजीव रूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्य थे; समस्त मुनियोंके नायक थे गणधरके समान सम्मानित थे; सज्जनोंके अग्रसर थे; देशिगण-के मुनियोंमें प्रमुख थे और थे गुणोंकी खान ॥१॥ एक राजाकी भाँति उनके लिए कोई भी काम कठिन नहीं था। उनके प्रथम शिष्य विबुध गुणनन्दी थे, जो समस्त गुणोंके समुद्र थे; पुण्यके निवास स्थान थे; सूर्य सरीखे तेजस्वी थे; प्रकृत्या चन्द्रमाकी भाँति सौम्य थे और अपने नामसे सारे संसारमें प्रसिद्ध थे ॥२॥ उन (विबुध गुणनन्दी) के शिष्य अभयनन्दी थे, जो समस्त मुनियोंके द्वारा पूज्य थे; जिन्होंने समस्त मिथ्यावादोंका निरसन किया था; जो समस्त गुणोंमें समृद्ध थे; जिन्होंने जैन धर्मकी वृद्धिकी थी; जिन्होंने अपनी गम्भीरताकी महिमासे समुद्रको मातकर दिया था और जो भव्य जीवोंके एक मात्र बन्धु थे ॥३॥ उनकी बुद्धि भव्य-जीव रूपी कमलोंके विकासके लिए सदा तत्पर रहा करती थी; वे सूर्यके समान तेजस्वी थे; बड़े गुणी थे और थे अत्यन्त बुद्धिमान् । उनके शिष्य श्री वीरनन्दी थे; जिन्होंने समस्त वाङ्मय को अपने अधीनकर लिया था; जिनकी कीर्ति सारे संसारमें फैली हुई थी; जिनके वचन कुतर्कों-का निवारण करनेवाले थे और इसीलिए जो सत्पुरुषोंकी सभामें विजयी होते थे ॥४॥ उन्हीं सहृदय वीरनन्दीने यह चन्द्रप्रभचरित लिखा है । यह क्या शब्द और क्या अर्थ दोनों ही दृष्टियों-से सुन्दर, और रचनामें मोतियों जैसा उज्ज्वल है ॥५॥

---

१. अ °देशगणो हि गण्यो° । २. अ °ग्रामाम्भोधिः । ३. अ सुकृतवसतिः । ४. क ख ग घ °मन्त्रमहसा ५. अ क ख ग घ स तस्याद्यः शिष्यः शिशिर° । ६. क ख ग घ वित्रिधगुण° । ७. क ख ग घ °मिथ्यापवादः ८. अ °नोद्धतमते° । ९. अ °प्रख्यातकीर्तिः । १०. अ क ख ग घ मौक्तिकोज्ज्वलम् ।

[1]यः श्रीवर्मनृपो बभूव विबुधः सौधर्मकल्पे तत-
स्तस्माच्चाजितसेनचक्रभृदभूद्यश्चाच्युतेन्द्रस्ततः।
यश्चाजायत पद्मनाभनृपतिर्यो वैजयन्तेश्वरो
यः स्यात्तीर्थकरः स सप्तमभवे चन्द्रप्रभः पातु नः ॥६॥

इति ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः।

जो क्रमशः (१) राजा श्री वर्मा, (२) प्रथम स्वर्गमें देव, (३) अजितसेन चक्रवर्ती, (४) अच्युतेन्द्र, (५) राजा पद्मनाभ, (६) वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र और फिर (७) चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर हुए, वे भगवान्, चन्द्रप्रभ हम सबकी रक्षा करें ॥६॥

इति ॥

१. अ प्रतौ पद्यमिदं नोपलभ्यते, आ—इ प्रतियुगले च सकलापि प्रशस्तिर्नास्ति।

परिशिष्ट

१. पञ्जिका

स्वस्ति श्री सरस्वत्यै श्री श्रुतमुनिमुनये नमः ।

प्रणम्य वीरं नृसुरासुरस्तुतं प्रकृष्टबोधं विबुधेष्टसंमतम् ।
करिष्यते संशयधामभञ्जिका मयाथचन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिका ॥१॥

अथ श्री वीरनन्द्याचार्याः शिष्याणां हितानुचिन्तनप्रवणमनसः श्रीचन्द्रप्रभस्वामिचरितं[1] महाकाव्यं प्रारब्धुकामास्तदादौ विशिष्टेष्टदेवताभिशंसनार्थमादाविदमभिदधते—श्रियं क्रियादित्यादि । अवयवार्थप्रतिपत्तिपूर्विका समुदायार्थप्रतिपत्तिरिति व्याख्यापद्धतिरतोऽवयवार्थो निरूप्यते । तत्र, अवयवाः—स सचराचरे जगति प्रसिद्धो जिनः । श्रियम् आत्यन्तिकीं लक्ष्मीम् । क्रियात् विधेयात् । जयति कर्मारातीनिति जिनः । उपलक्षणत्वात् सर्वज्ञः । कर्मारातिजये हि सकलज्ञत्वं सुप्रसिद्धमेव । किमभिधानोऽसावग्रजः । अग्रे प्रथमं सकलजिनानां जातोऽग्रजः । कालापेक्षया वाग्रजः । अग्रजग्रहणादनादिपुरुषस्य ब्रह्मणः प्राप्तिरित्येके,[2] तन्निरासार्थं जिन इति विशेष्यपदम् । अस्य च विशेषणत्वम्; यतस्तस्य ब्रह्मणोऽनादिसिद्धत्वात् सुविशुद्धत्वप्ररूपणमेव; पुनरवतीर्य कर्मजयाभावात् । यद्यवतीर्यैव कर्माणि जयति तदा सुविशुद्धपरमात्मत्वाभावः इत्यलमतिप्रसङ्गेन । यत्तदोर्नित्यसंबन्धाद् यस्य भगवतः श्रीमदादिजिनस्य । सभा समवसृतिः । बभौ शुशुभे । क्व, सुरागमे देवागमने । यदा ज्ञानमुत्पन्नं तदैव देवा आयाता इति भावः । किंलक्षणा, नटत्सु० नटन्तश्च ते सुरेन्द्राश्च नटत्सुरेन्द्राः तेषां नेत्राणि नटत्सुरेन्द्रनेत्राणि तेषां प्रतिबिम्बानि नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बानि तैर्लाञ्छिता नटत्सुरेन्द्र० नृत्यद्देवेन्द्रनयनप्र(ति)कृतिचिह्निता । पुनः किं लक्षणा, रत्नमयी रत्नैर्निर्वृत्ता । प्राचुर्यविकारप्राधान्यादिषु मयट्[3] । किंलक्षणेव कृतोपहारेव कृत उपहारः पूजाविशेषो यस्यां सा । विहितरचना । कैर्महोत्पलैः अरविन्दैरिवेति । अथवा महाकाव्यानां सकलसभासु[4] विद्वद्भिरादरणीयत्वात् 卐 तदभिमतव्याख्यानेऽग्रजो रामचन्द्रस्तस्यापि भ्रातृचतुष्टयापेक्षयाग्रजत्वात् । जिनः समस्तान् शत्रून् जयतीति जिनः । तस्यापि प्रार्थितवरप्रदातृत्वाद्[5] 卐 इन्द्रादिभिः सभायां पूज्यत्वम् । यो यच्छत्रून् निहन्ति स तैः पूज्यो भवतीति । अथवा बौद्धमतापेक्षया जिनो बुद्धः शेषं तथैव । ननु[6] चाचार्यैरभिमतदेवतानमस्कारः प्रथमं कथं न विहितः, इत्यत्रोच्यते । 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।' इति वचनादाशीर्वचनेऽपीष्टाभिशंसनमेव,[7] तत्र भगवतो गुणातिशयस्य वर्णनात्, तस्य च मङ्गलहेतुत्वात् । किं तन्मङ्गलम्, 'मं मलमित्युक्तमुपचारसमाश्रयात् । तद्विगालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥१॥' अथवा 'मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः । तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥२॥' तन्मङ्गलं द्विविधं मुख्यमौपचारिकं चेति । 'यथार्हद्गुणस्तोत्रं तन्मुख्यं मङ्गलं मतम् । अमुख्यं तद्गुणौपम्यात्पूर्णकुम्भादि लौकिकम् ॥' इति । सभाख्यानजिनत्वादिगुणप्रकाशनत्वमेव मङ्गलमिदम् । आशीश्च विनेयविबोध्यशिष्याणां निर्विघ्नतः काव्यादिव्युत्पत्तिजननाय स्वस्य च तथैव परिसमाप्त्यादिफलप्रकाशनायेति । तदुक्तम्—'विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न क्षुद्रदेवाः परिलङ्घयन्ति । अर्थान् यथेष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥' ॥१॥ अथाष्टमजिनानुस्मरणायाह—स पातु इत्यादि । स जिनः । पातु रक्षतु । कान्, वः युष्मान् । स कः, शशिलाञ्छनः शशी चन्द्रो लाञ्छनं यस्य सः । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् । विदिद्युते चकासे । कैः, अमरैः; न म्रियन्त इत्यमरा देवास्तैः । किं लक्षणैः, विनिमग्नमूर्तिभिः निनिमग्ना मज्जन्ती मूर्तिर्येषां ते विनिमग्नमूर्त-

---

१. °विरचि° । २. ब प्रतीति° । ३. ब °न्यादिमयट् । ४. ब 'सु' नोपलभ्यते । ५. ब स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । ६. ब वाचा° । ७. ब °शंस° ।

यस्तैर्मज्जत्कायैः । क्व, प्रभाविताने प्रभाया वितानं प्रभावितानं तस्मिन् प्रभामण्डले । किं लक्षणे, स्फटिको० स्फटिकोपलस्य प्रभेव प्रभा यस्य तत् तस्मिन् स्फटिकपाषाणसदृशकान्तौ । पुनः कथंभूतैरिव, दुग्ध० दुग्धपयोधेः क्षीरसमुद्रस्य मध्यं गच्छन्तीति दुग्धपयोधिमध्यगास्तैः क्षीरसमुद्रमध्यस्थितैरिव । प्रभामण्डलक्षीरसमुद्रयोरुपमानो- पमेयभावः ॥२॥ अथ शान्तिजिनमभिष्टौति[2] । अनन्तविज्ञानमित्यादि । यः विभुः । अनन्तचतुष्टयं चत्वारोऽ- वयवा यस्य तच्चतुष्टयम् अनन्तं च तच्चतुष्टयं च तत् । 'अवयवे तयट् ।' बिभर्ति दधाति । के [3]तेऽवयवाः अनन्तं च तद्विज्ञानं चानन्तविज्ञानं तत् । तथा अनन्तं च तद्वीर्यं चानन्तवीर्यं तस्य भावोऽनन्त- वीर्यता ताम् । तथा अनन्तं च तत् सौख्यत्वं चानन्तसौख्यत्वं तत् । तथानन्तं च तद्दर्शनं चानन्तदर्शनं तद् इति । अथवानन्तं विज्ञानं यत्र तदनन्तविज्ञानं, तदनन्तचतुष्टयस्य विशेषणत्वाद् बहुव्रीहिरपि सर्वत्र । विज्ञानं केवलज्ञानम् । वीर्यं बलम् । सौख्यं सम्यक्त्वम् । दर्शनं दृष्टिरिति । सः प्रसिद्धः । शान्तिः भगवान् षोडशतीर्थकरः । नः अस्माकम् । भवस्य दुःखानां शान्तिरुपशमस्तस्यै संसारदुःखोपशमाय । अस्तु भवतु । समुच्चयोऽयम् ॥ ३ ॥ अथान्त्यतीर्थकरं नमस्करोति । अहं श्रीवीरनन्दी । वीरं नमामि नमस्करोमि । किंलक्षणं स्मरणीयं परोक्षीभूतम् । कस्याः जराजरत्याः । अथवा जरैव जरती वृद्धस्त्री तया- स्मरणीयं न स्मरणार्होऽस्मरणीयस्तम् । जरा कथयति नन्वेनमोश्वरं न स्मरामि मोक्षलक्ष्म्याः[4] स्वयंवरीभूतोऽयं यत इति । अस्वयंवरः स्वयंवरः क्रियतेऽनयेति स्वयंवरोभूतस्तम् । कस्या अनश्वरश्रिय० । अनश्वरा चासौ श्रीश्चानश्वरश्रीतस्या मोक्षलक्ष्म्याः । पुनः किंलक्षणं, निरामयं निर्गत आमयान्निरामयो निर्व्याधिस्तम् । वीतं विशेषेण इतं गतं भयं यस्मात् स तं वीतभयम् । भवं छिनत्तीति भवच्छित् तं संसारच्छेदकम् । नृसुरासुरस्तुतं नरश्च सुराश्चासुराश्च नृसुरासुरास्तैःस्तुतस्तं मनुजदेवदैत्यनुतमिति । ननु च चत्वार एव तीर्थकराः कथम- भिष्टुता, न सर्वेऽपीति चेद् उच्यतेऽत्रकवेरभिप्रायः—बृहत्कथाप्रवरस्यास्य काव्यस्य विस्तरभयात् । अथवा उत्सर्पिणीसमयादितीर्थप्रवर्तनाद् आदिजिनस्याभिष्टवः; प्रारब्धकाव्यकथानायकत्वाद् अष्टमस्य; निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्तेः कारणत्वात् शान्तेः; वर्तमानतीर्थस्वामित्वाद् अन्त्यस्येति । तद्वापि (तथापि) शेषाणां नमनाकरणेऽपरीक्षकत्वमिति चेत्, इत्यत्रोच्यते सर्वेऽपि नुता भगवताचार्येण—वीरं विशिष्टाम् ईं समवसरणादि- लक्षणां लक्ष्मीम् ईरते इति वीरस्तीर्थकरसमुदायस्तं नमामि । यतः सर्वेषामपि श्रीः पञ्चकल्याणाभिधा प्राति- हार्यादिलक्षणा समानैव श्रूयते श्रुते, इति । शेषं व्याख्यानं तथैव[5] । तथा परसमयाभिप्रायेण व्याख्यानकरणे ईश्वरं महादेवं नमामि तस्यापि जराजरत्या अस्मरणीयत्वात्, अनश्वरश्रियः स्वयंवरत्वात्, निरामयत्वात्, वीतभयत्वात्, भवच्छित्त्वात्, वीरत्वात् महाभटत्वात्, नृसुरासुरस्तुतत्वाच्च । तथानश्वरश्रियः अनश्वरा निश्चला या श्रीर्लक्ष्मीः पाणिगृहीती तस्या स्वयमात्मना वरीभूतं वरमेव लक्ष्मीपतिम्; शेषं तथैव । तथा भवच्छिदं भवं छिनत्तीति० संसारातिक्रान्तं ब्रह्माणम् । शेषविशेषणानि पूर्ववदिति ॥ ४ ॥ अथ जिनानभिष्टूय जिनागममनुस्मरति—हितमित्यादि । अहं जिनागमं जिनप्रवचनम् । शरणं त्राणम् । गतोस्मि प्राप्तो भवामि । कस्मात् ? शरण्यभूतत्वात् । कुतः शरणार्हम्, प्रवितीर्णा दत्ता मुक्तिर्येन स तम्; दत्तमुक्तित्वात् । अतएव भव्यजनानामेकबान्धवत्वं तस्य । न चेदमसिद्धं भव्यप्राणिबान्धवत्वम्; परमागमस्य हितत्वात् । कुतश्च हितम्, विसंवादविवर्जितस्थिति[6]त्वात् । विसंवादोऽप्रतिपत्तिस्तेन विवर्जिता स्थितिर्यस्य स तम् । अतएवापरैरेकान्त- वादिभिरभेद्यमजेयमिति हेतुमद्व्याख्यानमिदम् । हेतुरयं जातिर्वा ॥ ५ ॥ अथ परगुरुणा प्रतिपादितमागममनु- स्मृत्यापरगुरुभारतीमनुस्मरति—गुणान्वितेत्यादि । परं केवलम् । हारयष्टिर्हारलतैव दुर्लभा दुःप्रापा न, किन्तु समन्तभद्रादिभवा भारती च । समन्तभद्रादिभ्यो जाता समन्त० । किंलक्षणा हारलता भारती चेति तुल्यत्व- मुच्यते । गुणैस्तन्तुभिर्दवरकैरन्विता, पक्षे गुणैरौदार्यादिभिः । तदुक्तम्—'औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्ति- प्रसन्नता । समाधिः श्लेष ओजोऽथ माधुर्यं सुकुमारता ॥' इति भारतीगुणाः । पुनः किंलक्षणा, निर्म० वृत्तानि वर्तुलानि च तानि मौक्तिकानि मुक्ताफलानि च वृत्तमौक्तिकानि, निर्मलानि मलरहितानि वृत्तमौक्तिकानि

१. ब 'प्रभा' इति नास्ति । २. ब °स्तौति । ३. ब 'ते' नास्ति । ४. ब °लक्ष्म्या । ५. ब तथैव तथाख्यातम् । ६. ब °स्थित° ।

यस्यां सा निर्मलवृत्तमौक्तिका, पक्षे निर्मलानि निरवद्यानि च तानि वृत्तानि पद्यानि च निर्मलवृत्तानि तानि मौक्तिकानीव यस्यां सा तथा। विद्यामलानि यथा—'अनर्थकं श्रुतिकटु व्याहतार्थमलक्षणम्। स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थमप्रसिद्धमसंमतम्॥' इति। पुनः किंलक्षणा। नरोत्तमैः पुरुषप्रधानैर्विद्वद्भिश्च। कण्ठविभूषणीकृता अकण्ठविभूषणं कण्ठविभूषणं क्रियते स्म या सा कण्ठविभूषणीकृता। उभयत्रापि साम्यम्। तुल्ययोग्य (गि) तेयमलंकृतिः। अथवेत्थं व्याख्यानकरणे व्यतिरेकश्च। उभयत्र गुणसाम्येऽपि समन्तभद्रस्वामिप्रमुखभवा भारती दुर्लभैव अन्यत्र न प्राप्यते च, पुनः हारलता दुर्लभा न; सर्वत्रापि दृश्यमानत्वात्। भारतीदुर्लभत्वं च समन्तभद्रादिदुर्लभत्वात्। तदुक्तम्—'विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बराः श‍ृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते। ये ते च प्रति सद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः॥' अन्यच्च 'सुप्रापाः स्तनयित्नवः शरदि ते साटोपमुत्थाय ये प्रत्याशं प्रसृताश्चलप्रकृतयो गर्जन्त्यमन्दं मुधा। ये प्रागब्दचितान्[1] फलर्द्धिमुदकैर्व्रीहीन्नयन्तो नवान् सत्क्षेत्राणि पृणन्त्यलं जनयितुं ते सद्घना दुर्लभाः[2]॥' ॥ ६॥ अथो प्रागभ्यस्तगुणदोषयोः सुजनदुर्जनयोर्लक्षणमाह[3]—गुणानगृह्णन्नित्यादि। सुजनः शिष्टः। गुणान् सौजन्यौदार्यस्थैर्यदाक्षिण्यप्रियहितपूर्वकप्रथमाभिभाषणादीन्। अगृह्णन् अस्वीकुर्वन्। निर्वृतिं सौख्यम्। न प्रयाति न गच्छति। दुर्जनः दुष्टः। दोषान् तद्विपरीतान्। अवदन् अकथयन्। निर्वृतिं न प्रयाति। च–अव्ययानामनेकार्थत्वाद् यस्मात्[4]। चिरंतनाभ्या० चिरंतनः पुरातनश्चासावभ्यासो भृशप्रवृत्तिश्च चिरंत० स एव निबन्धनं चिरंतनाभ्यासनि० तेन ईरिता प्रेरिता मतिर्बुद्धिः। गुणेषु यशःप्रकाशनेषु। दोषेषु अयशःसूत्रकेषु। जायते उत्पद्यते। हेतुरयमलंकारः॥ ७॥ अथ तयोरपि सत्कारमाह—गुणानित्यादि। यथैव प्रशंसया श्लाघया। गुणान् सौजन्यादिकान्। उपदिशन् प्ररूपयन्। सुजनः शिष्टः। गुरुत्वबुद्धया गुरुत्वमत्या। काव्येषु सदर्थप्ररूपकत्वात् सुजने गुरुत्वं वर्तते इति गुरुत्वबुद्धिः। नमस्यते नमस्क्रियते। तथैव तेनैव प्रकारेण। प्रणिन्दया प्रगर्हणया। दोषान् दिशतः प्रतिपादयतः। खलस्यापि दुर्जनस्यापि। गुरुत्वबुद्धया मया अयमञ्जलिः कृतो विहितः। 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्'। यतो हि दुर्जनः काव्येषु दोषान् गृहीत्वा प्रकाशयति तेन कविर्निर्दोषमेव काव्यं बध्नातीति दुर्जनोऽपि सन्मतिजनकत्वाद् गुरुरेवेति भावः। तदुक्तम्—'दोषान् कांश्चन नः प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं सार्द्धं तैः सहसा मृषे (म्रिये) यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्। तस्मान् मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः। तुल्ययोगितेयमुपमा वा॥ ८॥ अथात्मनो गर्वपरिहारमाह—सुदुष्करमित्यादि। गणस्याधिपः—ऋष्यर्जिकाश्रावकश्राविका इति गणः; अथवा ऋषि-यति-अनगार-मुनयस्तेषां वाधिपः, गणधरोऽपि। अपि विशेषे। किं पुनरन्यः। यद् अर्हच्चरितम्। सुदुष्करं दुःखेन कर्तुं शक्यं दुष्करं, सु अतिशयेन दुष्करं सुदुष्करम्। मनुते जानीते। वाग्देवी सरस्वती अपि। आत्मनः स्वस्य यद् भारं मनुते। अल्पधीः अल्पा धीरस्येत्यल्पधीर्मन्दमतिः। अहं तद्विधित्सुः विधातुमिच्छुः। सतां महद्बुद्धीनाम्। हास्यतां हास्यत्वम्। न यास्यामि (इति) न, अपि तु यास्यामि। उभौ नकारौ प्रकृतं गमयतः। यथा प्रकृतेऽर्थः[5]। 'मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।' इति। अथवा नु अहो ध्रुवं हास्यतां न यास्यामीति काकुः, पाठान्तरम्। आक्षेपः॥ ९॥ अशक्यानुष्ठानेऽपि भक्त्या करणीयत्वमाह—तथापीत्यादि। तथापि तत्करणे हास्यप्राप्तावपि। सुदुःप्रवेशेऽपि सुष्ठु दुःखेन प्रवेशो यत्र स सुदुःप्रवेशः तस्मिन्नपि। गुरुसेतु० गुरव एव सेतवस्तैर्वाहितस्तस्मिन् आचार्यपरम्परालिप्रापिते। तस्मिन् प्रसिद्धे। पुराण० पुराणमेव सागरस्तस्मिन् पुराणसमुद्रे। यथात्म० आत्मनः शक्तिमनतिक्रम्य यथात्मशक्ति। प्रयतोऽस्मि यत्नवान् भवामि। यूथाधि० यूथस्य सजातीयकुलस्याधिपतिः स्वामी यूथाधिपतिः तेन प्रवर्तितो वाहितस्तस्मिन्। पथि मार्गे। पोतकः कलभः। 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः' इति। इव यथा, उपमेये। यथा सुदुःप्रवेशेऽपि पुरातनसमुद्रे महासमुद्रे गुरुसे० गुरुश्चासौ सेतुश्च गुरुसेतुस्तेन वाहिते प्रचालिते पथि मार्गे यूथाधिपतिना प्रवर्तिते सति पोतकोऽपि यथात्मशक्ति प्रयतो भवति तथा श्रीवीरनाथप्ररूपितेऽपि पुराणसमुद्रे श्रीजिनसेनादिसेतुना प्रयतोऽस्मीति भावः॥ १०॥ अथ कथावतारः—अथास्तीत्यादि। अथ अनन्तरम्।

---

१. ब °चिता°। २. ब दुर्लभाः सद्घनाः। ३. ब °हुः। ४. ज च यस्मात्। ५. ज °र्थः।

शृङ्गेन(ण) शिखरेणोल्लि[खि]त उद्घृष्टः अमराणां देवानामालयो येन सः, शिखरोद्घृष्टनाकः । द्विपू० द्वयोः पूरणो द्विपूरणः सचासौ द्वीपश्च द्विपूरणद्वीपस्तत्र गतो द्वितीयद्वीपस्थितः । व्योमनि आकाशे । कलमाग्र० कलमानां कलमशालीनामग्राणि कल० तानीव पीताः पिङ्गलाः (पिङ्गलाः पीताः) तैः कलमशालिकडारैः । गभस्तिभिः घृणिभिः । अमेघां मेघरहिताम् । तडिच्छ्रियं तडितः श्रीस्तडिच्छ्रीस्तां विद्युच्छोभाम् । सृजन् उत्पादयन् । पूर्वमन्दरः पूर्वस्यां मन्दरः—पूर्वमेरुः । अस्ति विद्यते । जात्यलंकारः ॥ ११ ॥ अथ नवभिः पद्यैर्देशमुपवर्णयति—विभूष्येत्यादि । देशः विषयः । समस्ति विद्यते । कथंभूतो देशः ? प्रथितः प्रतीतः । कया मङ्गला० मङ्गलावतीति संज्ञया । कथंभूतया अर्थयुक्तया अर्थेनाभिधेयेन युक्ता अर्थसहिता तया । पुनः कथंभूतः नाकि० नाकिनां देवानां निवासः स्वर्गस्तेन सन्निभः सदृशः । कया, श्रिया लक्ष्म्या । कस्य आत्मनः स्वस्य । पुनरपि कथंभूतः । स्थितः वर्तमानः । क्व, भुवि । किंकृत्वा विभूष्यालंकृत्य । कं तत्पू० तस्य पूर्वविदेहस्तत्पूर्वविदेहस्तम् । जातिः ॥१२॥ भूमयः धरित्र्यः । हरन्ति मुष्णन्ति । कानि, चेतांसि मनांसि । कस्य जनस्य लोकस्य । कथंभूताः, चिताः संभृताः । कैः समानसस्याङ्कुरसंचयैः सस्यानां धान्यानामङ्कुराः अभिनवप्ररोहाः समानाश्च ते सस्याङ्कुराश्च० समान० तेषां संचयाः संघातास्तैः । कथंभूतैर्निरन्तरैः सान्द्रैः । पुनः कथंभूतैः शुकाङ्ग० शुकानामङ्गानि शुकाङ्गानि तानीव कोमलानि मृदूनि तैः । पुनः कथंभूता इव हरिन्मणिव्रा० हरिन्मणीनामश्मगर्भाणां व्रातो निवहस्तेन विनिर्मिताः रचिता इव । उपमेयम् ॥ १३ ॥ निशाकरांशु इत्यादि । यः देशः । विभाति शोभते । कैः सरोवरैः तटाकैः । किंलक्षणैः निशा० निशाकरस्यांशवो निशाकरांशवस्तेषां प्रकरो निशाकरांशुप्रकरः स इवाच्छं वारि येषु ते, तैः चन्द्रकरनिकरनिर्मलजलैः । पुनः किंलक्षणैः विनिद्र० विनिद्राणि च तानि नीलोत्पलानि च विनिद्र० तेषां रश्मयस्तैः रञ्जितास्तैः । कैरिव खण्डैरिव प्रदेशैरिव । कथंभूतैः च्युतैः पतितैः । कस्य, विहायसः आकाशस्य, कया, निरालम्बतया निर्गत आलम्बो यस्य स निरालम्बस्तस्य भावो निरालम्बता तया आलम्बरहिततया । उत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥ निशासु इत्यादि । जलराशेः समुद्रस्य योषितो नद्यो जलराशियोषितः । वहन्ति यान्ति । कथंभूताः, कूल० कूलं रोधमु (उ) द्रुजन्ति उद्धर्षयन्तीति कूलमुद्रुजाः । अलु (क्) क्वचित् । पुनः किंलक्षणाः परिपूरितमन्तरं यासां ताः परिपूरितान्तराः संभृतमध्याः । कैः पयःप्रवाहैः पयसां प्रवाहाः पयःप्रवाहास्तैः जलपूरैः । कथंभूतैः शीतांशु० शीतांशुमणीनां चन्द्रकान्तानां स्थलानि तेभ्यश्चुतैः स्रुतैः[1] । कासु निशासु रात्रिषु । केष्वपि निदाघकालेष्वपि उष्णोपगमेष्वपि । क्व, यस्मिन् देशे । अतिशयः ॥ १५ ॥ सदायमित्यादि । विपदा आपदा । जातु कदाचित् । न विलोक्यते न निरीक्ष्यते । कोऽसौ, लोकः जनः । कयेव विहिता० विहिता कृता अभ्यसूया गुणेष्वपि दोषारोपो यस्या सा तया । कथमिति । इतीति किम् । अयं जनः सदा सर्वदा । कृताधिवासः कृतोऽधिवासो येन सः । कया, धन० धनानि च धान्यानि च धन० तेषां संपत् तया । किंलक्षणया, अस्म० मम प्रतिपक्षभूता अस्मत्प्रतिपक्षभूता तया मत्सपत्न्या । क्व, यस्मिन् देशे । उत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥ विकासवद्भिरित्यादि । यो व्यनक्ति प्रकटयति । किं तत् समस्त० समस्तश्चासौ देशश्च समस्तदेशस्तस्याधिपतिस्तस्य भावस्तत् । कस्य, आत्मनः स्वस्य । कैः स्थलनीरजाकरैः नीरजानामाकरा नीरजाकराः स्थलानां नीरजाकराः स्थलनीर०, तैः । किंलक्षणैः, विकासो विद्यते येषु तेषु ते विकासवन्तस्तैः । पुनर० शरदभ्राणीव पाण्डुराः शरदभ्रपाण्डुरास्तैः । कैरिव, सितानि च तान्यातपत्राणि च सितात० तैः [इव] । किंलक्षणैः प्रसारितैः विस्तारितैः । क्व, लोके । उपमा ॥ १७ ॥ समुज्ज्वलाभिरित्यादि । वसुमती वसुन्धरा । यथार्थनामा यथार्थं नाम यस्याः सा । अजायत संजाता । कथंभूता कृतास्पदा कृत आस्पदो यया (कृतं विहितमासादमाश्रयो यस्याः) सा विहितावकाशा । काभिः खनिभिः आकरैः । किंलक्षणाभिः, जनर्द्धिहेतुभिः जनानामृद्धयः संपत्तयस्तासां हेतवो यास्ताभिः । पुनः कथंभूताभिः समुज्ज्वलाभिः विशदाभिः । पुनरपि क० कनकं सुवर्णमादिर्येषां धातूनां ते कनकादयस्तेषां योनय उत्पत्तिस्थानानि यास्ताभिः । पुनरपि क० विकासनीभिः विकासो विद्यते यासु ता विकासिन्यस्ताभिः । कथं समन्ततः सामस्त्येन ॥ १८ ॥ शिखावलीत्यादि । यस्मिन् निगमाः ग्रामाः । विभान्ति । कैः नूतन०

१. ब 'स्रुतैः' नास्ति ।

नूतनानि नवीनानि च तानि धान्यानि च तेषां राशयस्तैः नवीनधान्यपुञ्जैः। कथंभूतैः बहिस्थितैः बाह्ये पुञ्जितैः। पुनरपि कथंभूतैः शिखावलि० शिखानामावल्यः पङ्क्तयः शिखा० ताभिः लीढो घनावनानां मेघानामध्वा यैस्ते तैः शिखरपङ्क्तिस्पृष्टावकाशैः। कैरिव कुलमेदिनीधरैः कुलपर्वतैरिव। किंविशिष्टैस्तैः उपयातैः समागतैः। कस्मात् कुतूहलात् कौतुकात्। उपमा ॥ १९ ॥ गतैरित्यादि। यः मङ्गला-वतीविषयः। भाति चकास्ति। कैः ग्रामपुरैः ग्रामाश्च पुराणि च ग्रामपुराणि तैः। किंलक्षणैः, निरन्तरोद्या० निरन्तराणि सान्द्राणि च तानि उद्यानानि च निरन्तरोद्यानानि तेषां वितानं मण्डनं (लं) तेन राजितानि शोभितानि तैः, अथवा उद्यानानां वितानमुद्यानवितानं तस्य राजिः उद्यानवितानराजिः, निरान्तरा चासौ उद्यानराजिश्च निरन्तरोद्यान० सा संजाता येषु तानि तैः। उत्प्रेक्ष्यते कैरिव गतैरिव। कां समासत्ति निकटत्वम्। कया दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया। कासाम् इतरेतरश्रियाम् इतरेतरेषां श्रिय इतरेतरश्रियस्तासां परस्परलक्ष्मीणाम्। कथंभूतनाम्, अनन्यत्रभुवां न अन्यत्र भवन्तीत्यनन्यत्रभुवस्ता-साम्। एताः श्रियोऽस्मास्वेव नान्यात्रेति परस्परदिदृक्षाभिप्रायः ॥ २० ॥ देशमुपवर्ण्येदानीं नगरमु-पर्णयति—वणिक्पथेत्यादि। अथ आनन्तर्ये। तस्मिन् देशे। पुरं नगरम्। समस्ति विद्यते। किमभिधं रत्नसंचयं नाम। किंलक्षणं वणिक्पथ० रत्नानां संचयः संघातो रत्नसंचयः वणिक्पथेषु विपणिपथेषु स्तूपितः पुञ्जितो रत्नसंचयो यत्र तत्। तथा यत्पुरं विभाति। कैः आलानितमत्तवारणैः मत्ताश्च ते वारणाश्च मत्तवारणाः क्षीवगजाः, आलानिता उत्तम्भिताश्च ते मत्तवारणाश्च आलानि० तैः। च पुनः। हर्म्यैः धनिनिवासैः। किंलक्षणैः समत्तवा० सहमत्तवारणैर्वर्तन्ते इति समत्तवारणानि तैः प्रग्रीवसहितैः। यमकम् ॥ २१ ॥ गभीरनादैरित्यादि। यत्परिखा यस्य खातिका। विराजते विभासते। किंलक्षणा, प्रथीयसी पृथुलतरा। पुनः किंलक्षणा, संकुलान्तरा संभृतमध्या। कैः पयोधरैः जलदैः। किंलक्षणैः, गम्भीरशब्दैः। पुनः किंलक्षणैः, प्रतिमानिपातिभिः प्रतिच्छायावत[1]रितैः। पुनः किं० मन्दसमीर० मन्दश्चासौ समीरणश्च तेन ईरितास्तैः अल्पवायुप्रेरितैः। कैरिव जलेभयूथैरिव वारिवारणसंघातैर्यथा। उपमा ॥ २२ ॥ परीतशृङ्गै-रित्यादि। परिधिः प्राकारः। विभाति। कैः नक्षत्रगणैः तारकानिकरैः। किंलक्षणैः, परीतशृङ्गैः परीतानि वेष्टितानि शृङ्गाणि यैस्ते परी०, तैः। पुनः किंलक्षणैः, स्फुरन्ति अंशूनां जालकानि येषां ते, तैः, स्फुरदं-शुजालकैः भास्वत्करनिवहैः। कैरिव, प्रदीपप्रकरैरिव प्रदीपानां प्रकरैः समूहैः प्रबोधितैः प्रकाशितैरिव। किं लक्षणैः, स्थिरप्रभैः निःकम्पदीप्तिभिर्मण्यादिजैर्वा। कथं, समन्ततः इतस्ततः। क्व, यस्मिन् पुरे। उपमा ॥ २३ ॥ मलीमसमित्यादि। यत्र जनैश्चन्द्रमण्डलं विलोक्यते। किंलक्षणं, घनाध्वमध्यगं घनानामध्वा घनाध्वा तस्य मध्यं गच्छतीति घनाध्वमध्यगंस्तम्[2] (तत्)। पुनः किंलक्षणं मलीमसं मलिनम्। केन, भृङ्ग-निभेन भ्रमरसदृशेन। लक्ष्मणा चिह्नेन। उत्प्रेक्ष्यते किमिव अभ्रं लिहन्तीत्यभ्रंलिहः शृङ्गाणां कोटयो येषां तानि, तैः। गृहैः सदनैः निघृष्टदेहच्छवीव निघृष्टा उद्घर्षिता देहस्यच्छविर्यस्य तत् ॥ २४ ॥ मदाभमित्यादि। यत्र घनैः मेघैः। गजभ्रमः हस्तिभ्रान्तिः। वितन्यते क्रियते। केषां शरीरिणां प्राणिनाम्। कथंभूतानां गोपुरस्य शृङ्गे वर्तन्ते इति गोपुरशृङ्गवर्तिनस्तेषाम्। कथंभूतैर्घनैः, मदाभं मदसदृशम्। अम्भः जलम्। विसृजद्भिः श्र (स्र) वद्भिः। उल्लसन्ती चासौ तडिल्लता च उल्लसत्तडिल्लता सा अलंकरणं येषां ते, तैः विकसत्क्षण-प्रभाभरणैः। पुनः किं०, अधोगतैः अधःस्थितैः ॥ २५ ॥ सुगन्धिनिश्वासेत्यादि। यत्र पुरे। मधुव्रतव्रजः मधुकरसमूहः। जनैर्विलोक्यते, क इव, राहुः सैंहिकेय इव। किं लक्षणो राहुः, समापतन् समागच्छन्। कया इन्दुशङ्कया चन्द्रारेकया। क्व, कामिनीमुखे नारीवदने। किंलक्षणे, आपाण्डुनि आ ईषत् पाण्डुरे। केन, मनो-भुवा कामेन। पुनः कथंभूते सुगं० शोभनो गन्धो यत्र स सुगन्धिः, निःश्वासस्य मरुत् निःश्वासमरुत्, सुगन्धि-श्चासौ निःश्वासमरुच्च सुगं० तेन मनोहरं तस्मिन् सुगन्धोच्छ्वासवायुसुन्दरो[3] (रे) अत्र मुखचन्द्रयोः कान्तिमत्तया समानत्वेऽपि सुगन्धित्वेन कामिनीमुखे विशेष इति भावः ॥ २६ ॥ निपातयन्तीत्यादि। यत्र नवा नवोढा। वधूः कामिनी। जीवितेश्वरं प्राणनाथम्। गाढं यथा भवति तथा नालिङ्गति नाश्लिष (ष्य)

---

१. ब° यावित°। २. ब °गस्तम्। ३. ब° री।

ति । कया जनाभिशङ्कया जनेभ्योऽभिशङ्का तया—किमेते जनाः सन्तीत्यारेकया । कथंभूता नवा वधूः, तरले चञ्चले, विलोचने विशिष्टनयने । निपातयन्ती इतस्ततः प्रक्षिपन्ती । कासु निवासभित्तिषु निवासस्य भित्तयो निवासभित्तयस्तासु गृहकुड्येषु । किंलक्षणासु सजीव० सह जीवचित्रैर्वर्तन्त इति सजीवचित्रास्तासु । जीवचित्राणि पुत्तलिकाविशेषाः । भ्रान्तिमान् ॥ २७ ॥ शशाङ्ककान्तेत्यादि । तथा यत्र पयस्ताण्डवं तनोति । किं लक्षणं, विकासि प्रोत्फुल्लबर्हम् । क्व, अकाण्डे अनवसरे । केषां, शिखण्डिनां मयूराणाम् । किंलक्षणम् पयोदशङ्किनां पयोदानां[1] शङ्का विद्यते येषां ते पयोदशङ्किनस्तेषां जलधरारेकिनाम् । किंलक्षणं तत्पयः । पतत् क्षरत् । कस्मात् सौधचयात् । सौधानां चयस्तस्मात् राजसदननिकरात् । किंलक्षणम् शशाङ्ककान्ता० शशाङ्ककान्ताश्च तेऽश्मानश्च शशाङ्क० तैर्मया (?) निवृत्ता ऊर्ध्वभूमिका वेदिका यस्य स तस्मात् । क्व, विधूद्गमे चन्द्रोदये । अयमपि भ्रान्तिमान् ॥ २८ ॥ निशागमेत्यादि[2] । तथा यत्र, विधुः चन्द्रः । कलङ्कलेखया लाञ्छनरेखया । विभज्यते विभिद्यते । किंलक्षणो विधुः, अभिन्नदेशः न भिन्नो देशो यस्य सोऽनन्यदेशः । कस्मात्, आननाम्बुजात् आननमेवाम्बुजं तस्मात् मुखकमलात् । किंलक्षणात्, अमलगण्डमण्डलात् अमलं गण्डयोर्मण्डलं यत्र तत्तस्मात् निर्मलकपोलबिम्बात् । कस्य, वधूजनस्य । किंलक्षणस्य, सौधशि० सौधानां राजसदनानां शिरांसि शिखराण्यधिरोहतीति० स तस्य । क्व, निशागमे रात्रिप्रारम्भे ॥२९॥ समुल्लसद्भिरित्यादि । तथा यत्पुरं विभाति । कैः, ध्वजांशुकैः । ध्वजानामंशुकानि ध्वजांशु० तैः केतनवसनैः । किंलक्षणैः, समुल्लसद्भिः समुल्लासमूर्ध्वपरिस्पन्दं कुर्वद्भिः । पुनः किंलक्षणैः, शरद० शरदोऽभ्राणि शरभ्राणि तानीव पाण्डुराः शरद० तैः । निरालम्बविशेषणत्वात् पुल्लिङ्गः । पुनरपि किंलक्षणम्[3], विनिवारि० विशेषेण निवारित आतप औष्ण्यं यैस्तानि तैः । बहुव्रीह्यालम्बनत्वात् नपुंसके । कैरिव, निर्मोकलवैरिव निर्मोकस्य लवा निर्मोकलवास्तैः । कञ्चुकलेशैः (इव) । किं लक्षणैर्निर्मोकलवैः, निर्मलैः मलरहितैः । कस्य उष्णगोः—उष्णा गावो यस्य स तस्य आदित्यस्य । किं लक्षणस्य सतः । गृहाग्र० गृह्णात्यर्थं पुरुषेणोपार्जितमिति गृहम्, तस्य तेषां वा अग्रभागास्तैरुल्लिखितस्य सौधोपरिप्रदेशे घृष्टस्य इति ॥ ३० ॥ विशालशालोपवनेत्यादि । यस्मिन् जिनालयाः चैत्यगृहाणि विभान्ति । किंलक्षणाः, विशाल० शालश्च उपवनं च शालोपवने विशाले च ते शालोपवने च विशा० ताभ्यामुपशोभिनः 卐[4]विस्तीर्णप्राकारवाटिकाराजमानाः । पुनः किं०, शिरः० शिरोभिः समुत्तम्भिता मेघानां पङ्क्तिर्यैस्ते शिखरस्थगित[5]जलधरघटाः । पुनरपि किं० 卐सिंह० सिंहैः सनाथा मूर्तिर्येषां ते लेप्यमृगेन्द्राधिष्ठिततनवः । के इव, धरणीधरा इव पर्वता यथा । किं लक्षणाः पर्वताः, विशाला विस्तीर्णाश्च ते शाला वृक्षविशेषाश्च विशा० तेषामुपवनं तेनोपशोभिनः । शेषं स्पष्टम् । श्लेषोपमा ॥ ३१ ॥ मदेनेत्यादि । यस्मिन् मदेन मद्येन योगः केवलं परं द्विरदेषु गजेषु विलोक्यते, अन्यत्र अवलेपेन योगो न । सोपसर्गता उपसर्गसहितत्वम् केवलं धातुषु भ्वादिषु । निपातनक्रियाः साधुत्वं, पक्षे मारणक्रियाः । शब्देषु शब्दादिषु[6] । करयोः पीडनानि करपीडनानि, पक्षे भागधेयस्य दुःखानि । कुचेषु स्तनेषु । भवन्ति, न जनेषु—इति सर्वत्र संबध्यते । परिसंख्यालंकारः ॥३२॥ द्विजिह्वितेत्यादि । यत्र द्विजिह्वता द्विरसना, पक्षे पिशुनता । परं केवलम् । फणाभृतां फणिनाम् । कुलेषु यूथेषु, न जनेष्विति सर्वत्र संबन्धः । चिन्तापरता चिन्तैकाग्रता (चित्तैकाग्रता), पक्षे सचिन्तता । योगिषु ध्यानिषु । दरिद्रता क्षीणत्वं, पक्षे निर्धनत्वम् । नितम्बि[7]नीनां कामिनीनाम् । उदरेषु कटीषु । अधरत्वसंभवः अधरशब्दवाच्यत्वं, पक्षे हीनजातित्वम् । ओष्ठेषु रदनच्छदेषु । वृत्तद्वयेऽपि परिसंख्या ॥ ३३ ॥ विभान्तीत्यादि । यस्मिन् गृहाणि सदनानि विभान्ति । किंलक्षणानि, सर्वतः सामस्त्येन । विविधो० उज्ज्वलाश्च ते उपलाश्च उज्ज्व० विविधाश्च ते उज्ज्वलो० विविधोज्ज्व० तैः प्रणद्धाः खचिता भित्तयो येषां तानि । किंलक्षणानीव, लीनानीव तिरोभूतानीव । केषु, दीप्तता कान्तिमत्तां दधत्सु निजेषु स्वेषु धामसु महःसु । कया, पतङ्गसंतापभिया पतङ्गस्य भानोः संतापः परितापस्तस्माद् भीः तया । उत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥ स न प्रदेशोऽस्तीत्यादि । यत्र स प्रदेशः प्रकृष्टो देशो न, यो जनाकुलः जनसंभृतो न । असौ जनोऽपि न, यो

---

१. ज पयोदत् । २. =निशागम इत्यादि । ३. ज 'लक्षणं' इति नास्ति । ४. ब स्वतिकान्तर्गतः पाठो नास्ति । ५. =°स्थापित° । ६. ज सद्य आदिषु । ७. ज नितम्बि° इति नोपलभ्यते ।

धनेश्वर इम्यो न । तद् धनं द्रव्यं न, यद् भोगसमन्वितं भोगसहितं न । स भोगोऽपि न, यः संततोऽनवरतो न । एकावलीयमलंकृतिः ॥ ३५ ॥ विलुठेत्यादि । यत्र सितेतराणि सितानि चेतराणि च यद्वा सितेभ्य इतराणि नीलानि । अम्बुरुहाणि कंजानि । लुठन्ति प्रकम्पन्ते । कुतः, तापात् अन्तःक्लेशादिव । किंलक्षणानि योषितां कामिनीनाम्, विलोचनोत्पलैः विशिष्टनयनकुशेशयैः, विलुप्तशोभानि जितकान्तीनि । क्व, दीर्घिकाजले वापीतोये । किंलक्षणे, मरुच्चल० मरुता वायुना चलन्त्यो वीचयः कल्लोला यत्र तत् तस्मिन् । पुनः किं लक्षणे, शीतले । अन्योऽपि यः कश्चित् केनापि जितो भवति सोऽपि वायुना शीतले जले लुठति । उपमेयमलंकृतिः (हेतूत्प्रेक्षा) ॥ ३६ ॥ महागुणैरित्यादि । यत् पुरम् । महाजनैः गरिष्ठलोकैः । अधिष्ठितम् आश्रितम् । प्रतिभाति चकास्ति । किंलक्षणैस्तैः, महागुणैः महान्तो गुणाः सौजन्यौदार्यस्थैर्यप्रभृतयो येषु ते महागुणास्तैरपि । अगुणैः गुणरहितैः, पक्षे यतो महागुणैरतएवागुणैः; 'सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः ।' तेभ्यः, तमोगुणरहितैः, अथवा अस्य कृष्णस्य गुणा इव गुणा येषां तेऽगुणाः तैः । मदोज्झितैः त्यक्तमदैः अपि प्रवृ० परिणतप्रकृष्टमदैः, पक्षे यतो मदोज्झितैरत एव परिणतहर्षैः; मानिनां सदा संततत्वाद्धर्षाभाव एव । प्रकामम् अतिशयेन । निर्भयैः भयरहितैरपि । परे शत्रवश्च ते लोकाश्च परलोकास्तेभ्यो भीरुभिर्भीलुकैः, पक्षे परलोकः प्रेत्यभावः । विरोधालंकारः ॥ ३७ ॥ स यत्रेत्यादि । यत्र स एव परं दोषो यत्कामिनः कामुकाः, स्वकान्तानुनयस्य स्वकामिनीचाटुकारस्य, रसं रहस्यं न जानते नावबुध्यन्ति । क्व सति कूजति कूणति सति । कस्मिन्, पतत्कुले पक्षियूथे । किंलक्षणे, वेदिकानां सौधोपरिभूमिकानां शिरःशिखासु शेते इति वेदिकाशिरःशिखाशायि तस्मिन् । पुनः किंलक्षणे मानभञ्जने मानं भनक्तीति मानभञ्जनं तस्मिन् । कामिन्यः खलु सुरतावसरे कूजन्ति स्वचातुर्यात् । तत्र पतत्त्रिणां कूजनश्रवणात् तासां मानभङ्गः, मानभङ्गे च नीरसत्वमिति भावः ॥ ३८ ॥ अथ पञ्चदशभिः पद्यैः राजोपवर्ण्यते । अथाभवदित्यादि । अथ नरेश्वरः भूपतिः । अभवत् । किंलक्षणः, भूरिगुणैः प्रचुरगुणैः । अलंकृतः भूषितः । पुनः किं०, तस्य पुरस्य रत्नसंचयस्य । शासिता रक्षकः । तथा यः, उवाह दधौ । कां, कनकप्रभाभिधां कनकप्रभ इत्यभिधा कनकप्रभाभिधा ताम् । कया, रूढ्या लोकप्रसिद्ध्या । कथं तथापि, तथापीति किं, यः, केनचिदुपमानेन तुलितद्युतिर्न तुलिता समीकृता द्युतिर्यस्य स तुलि० ॥ ३९ ॥ यशोभिरित्यादि । महौजसः महदोजो बलं यस्य तस्य । यस्य राज्ञः । विधूपितं संतापितमरातीनां कुलं यैस्तानि । तेजांसि महांसि । न ममुः न संमान्ति स्म । क्व, भूतले पृथिव्याम् । किंलक्षणे, पूरितमन्तरं मध्यं यस्य तत् तस्मिन् । कैः, यशोभिः, किंलक्षणैः एणाङ्ककला० एणाङ्कस्य चन्द्रस्य कला एणाङ्ककलाः ताभिरिव समुज्ज्वलानि एणाङ्क० तैरेणाङ्ककलासमुज्ज्वलैः । किं लक्षणैरिव, पुरः प्रयातैः पुरोगैरिव ॥ ४० ॥ प्रयासमुच्चैरित्यादि । ततो जयश्रीः पुनश्चिरं स्थिरा बभूव । किं कृत्वा, उच्चैः कटकं यद्भुजं यस्य बाहुम् । अधिगम्य संप्राप्य । किंलक्षणा, भीतेव त्रस्तेव । कुतो भीता यतो जयश्रीः प्रयासमवाप गतवती । कुत संचारवशात् संचारस्य पर्यटनस्य वशस्तस्मात् । केषु, भूभृतां राज्ञां पर्वतानां च । गणेषु समूहेषु । किंलक्षणेषु, उच्चैः कटकेषु उच्चैः कटकाः शिबिरा (शिबिराणि) येषां ते तेषु; अथवा उच्चैर्वलयेषु उच्चैर्नितम्बेषु च । अन्यस्यापि उच्चैःकटकेषु उच्चैर्नितम्बेषु भूभृतां पर्वतानां गणेषु भ्रमतः प्रयासो भवति ततः कुत्रचिदवस्थानमिति लेषः[1] (?) ॥ ४१ ॥ यः पुरुषोत्तमोऽपि कृष्णोऽपि, पक्षे पुरुषप्रधानः । वृषोच्छेद० वृषोच्छेदविधायि चेष्टितं यस्य स वृषोच्छेदविधायिचेष्टितः—दैत्यध्वंसकारिवृत्तिः, पक्षे पुण्यघातिचेष्टितः, नाभूत्; अथवा वृषोच्छेदविधायिनी चासौ चेष्टा च वृषो० सा संजाता यस्य स तथाविधः, नाभूत् नाजनिष्ट । किंलक्षणः, अचिन्त्य० महात्मनो भावो माहात्म्यमचिन्त्योऽनवधार्यो माहात्म्यस्य प्रभुत्वस्य गुणो यस्य सः । जनानामाश्रयो जनाश्रयः । स्वस्य विक्रमोऽतिशक्तिता स्वविक्रमस्तेनाक्रान्तं व्याप्तं समस्तं विष्टपं येन स स्वविक्र० । श्रिया सनाथः लक्ष्म्या सहितः ॥ ४२ ॥ कल्पवृक्षेभ्योऽप्याधिक्यं यस्य सूच्यते । कल्पोपपदैर्महीरुहैः कल्पवृक्षैः । नितान्तम् अतिशयेन । विमनस्कवृत्तिता विमनस्का चासौ वृत्तिश्च विम० तस्या भावो विमनस्कवृत्तिता । दधे

---

१. ब विलेषः (श्लेषः) ।

दध्रे । कया, शुचेव शोकेनेव। किं लक्षणैः सद्भिः, निर्जितैः पराभूतैः। केन, निसर्गजश्चासौ त्यागगुणश्च निसर्ग० तेन निसर्गजत्यागगुणेन । किं लक्षणेन, गरीयसा गरिष्ठेन । कस्य, यस्य । किल०, परार्था संपद् यस्य स तस्य अन्यनिमित्तसंपत्तेः ॥ ४३ ॥ कुरङ्गलाञ्छनः चन्द्रः । यं जेतुं न शशाक शक्नोतिस्म । किल०, उज्ज्वलं निर्मलम् । कया, प्रदोष० प्रदोषो रजनीमुखं, पक्षे प्रकृष्टदोषाः (षः) तस्य तेषां वा संसर्गिता तया । उभयत्र साम्येऽपि चन्द्रस्य प्रदोषसंसर्गित्वमस्य चोज्ज्वलत्वं 卐 चन्द्रस्य कुरङ्गलाञ्छनत्वमस्य च सद्रङ्गनिर्लञ्छित्वमिति भावः 卐 । इति व्यतिरेका[2]लंकारः । किं लक्षणोऽपि सः, कलाभिः समग्रोऽपि संपूर्णोऽपि । पुनः किं० जनानभिनन्दतीति जनाभिनन्द्यपि । पुनरपि किं० अभिभूतं विष्टपं यया सा तां तिरस्कृतलोकाम् । श्रियं दधानोऽपि बिभ्राणोऽपि ॥ ४४ ॥ अथ समुच्चयः । यः जगद्विशेषकः चित्रकः । विशेषयामास अलंचकार । किं तत्, कुलम् । केन, विशुद्धवृत्तिना चरित्रेण अनुष्ठानविशेषेण । तथा शरदभ्राणीव विभ्रमो येषां तानि, तैः । यशोभिः आशाः । गुणैः वपुः । श्रवणेन शास्त्राकर्णनेन । शेमुषीं बुद्धिम् ॥ ४५ ॥ विरोधो यथा, तत्परिहारश्च। षण्णां गणः षड्गणः, साधितो वशं नीतः शत्रूणां षड्गणो येन सः । तदुक्तम्—'कामः क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा मदः । अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः क्षितीशानां भवत्ययम् ॥' यः भूरिदानोऽपि कटोद्भेदः, पक्षे वितरणं भूरिदानं यस्य स भूरिदानः । मदेन मद्येनावलेपेन च । च पुनः । अहीनां सर्पाणामिनस्तस्य संसर्गेण समन्वितोऽपि अजगरसंसर्गसहितोऽपि, पक्षे उत्कृष्टसंयोगसहितोऽपि । द्विजिह्व० द्विजिह्वानां सर्पाणां दुर्जनानां च संसर्गितया संबन्धितया । दूषितः कलुषितः । न बभूवेति ॥ ४६ ॥ सर्वं च तद् विष्टपं च सर्व० तत्र प्रतीता प्रथिता कीर्तिर्यस्य स राजा कनकप्रभः । वसुन्धरां वसुमतीम् । गामपि धेनुमपि । करिणीं हस्तिनीं चकार । विरोधोऽयं, तत्परिहारश्च—गां गोशब्दवाच्यां पृथ्वीं वसुमतीं वसु दधानामपि पृथ्वीं, तेजोभिर्दानवतीं चकारेति भावः, करिणीं भागधेयवतीं चकारेति । किं कृत्वा, अभिभूय तिरस्कृत्य । कान्, समस्तान् सकलान् । मण्डलिनः मण्डलेशान् । किंलक्षणान्, समुद्धतान् उत्कटान् । कैः, धामभिः तेजोभिः । किंलक्षणैः, अतिदुःसहैः अतिशयेन दुःखेन सोढुं शक्यैः । पुनः किं० निजैः स्वकीयैः । विरोधालंकारः ॥ ४७ ॥ यस्य विभोः स्वामिनः । तेजसा महसा । श्रीः लक्ष्मीः । वधूरिव । व्यतिरेको वा । चपला चञ्चलापि निश्चला । व्यधीयत अक्रियत । अतिशयोऽयम् । केनेव, कञ्चुकिना सौविदल्लेनेव । उपमेयम् । किंलक्षणेन, नितान्तम् अतिशयेन वृद्धेन लोकान्तमासेन, पक्षे परिणतवयसा । कठोरा कर्कशा परोपघातिनी वृत्तिर्वर्तनं यस्य तत्, तेन, पक्षे दाक्षिण्यवर्जितेन । सनीतिना सह नीतिभिर्वर्तत इति सनीतिः, तेन, उभयत्रापि, श्लेषोऽयम् । संकरोऽयमलंकारः ॥ ४८ ॥ सः राजा । ईश्वरः रुद्रः, ऐश्वर्ययुक्तश्च । सन् अपि भवन् अपि । असमदृष्टिदूषितो[3] न बभूव । शम्भोः किल विषमदृष्ट्या दूषणं वर्ततेऽस्य चासमा देवताभा सानुगामिनी दृष्टिः श्रद्धानं तथा किल महद्दूषणम् (?) । 'दृष्टिः ज्ञानेऽक्ष्णि दर्शने' इत्यमरः । व्यतिरेकोऽयम् । किंलक्षणः, धराश्रयः धरायाः पृथिव्या आश्रयोऽवष्टम्भः । संततम् अनवरतम् । भूतेः संपदो भस्मनश्च संगमो यस्य सः । शशाङ्कवत् कान्तो मनोरमः, शशाङ्केन कान्तश्च; शशाङ्कः कस्य शिरसोऽन्ते ललाटे यस्येति वा । धृत उदूढो नागनायकेन गजेन यः सः, धृतो धारितो नागनायकः सर्पराजो येन स च । अधो भवन्तो न्यग्भवन्तो गोपतयः पृथ्वीनाथा यस्य सः, पक्षे अधोभवन् वाहनीभूतो गोपतिर्यस्य सः । अत्र श्लेषोऽपि तेन संकरश्च स्यात् ॥ ४९ । यदीयेत्यादि । अधुनाऽपि सांप्रतमपि । पयोनिधिः समुद्रः । पूत्कारमिव दीनाक्रन्दनमिव । करोति विदधाति । किंलक्षणः, उदस्तकल्लोलभुजः सन् उदस्ता ऊर्ध्वीकृताः कल्लोला वीचय एव भुजा बाहवो येन सः । पुनः कथंभूतः, लुप्तयशोमहाधनः लुप्तं पराभूतं यश एव महाधनं यस्य सः । केन, यदीय० गाम्भीर्यमेव गुणो गाम्भीर्यगुणः, यदीयश्चासौ गाम्भीर्यगुणश्च यदीय० तेन यद्गम्भीरत्वगुणेन । किंलक्षणेन, निर्मलप्रसिद्धिना निर्मला उज्ज्वला प्रसिद्धिः ख्यातिर्यस्य स तेन । उत्प्रेक्षेयम् ॥ ५० ॥ नरेन्द्रेत्यादि । यस्य राज्ञः । पौरुषं बलम् । अष्टापदवृत्ति अष्टापदस्य वृत्तिरिव वृत्तिर्यस्य तत् । न अजायत नाभूत् । किंलक्षणस्य यस्य, निःशेषितशत्रुसंततेः निःशेषिता निर्मूलिता शत्रूणां रिपूणां संततिर्येन सः, तस्यापि । किंलक्षणस्य सतः, विधित्सतः चिकीर्षतः । कानि,

१. ब स्वस्तिकान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । २. ज °रेको° । ३. ब °भूषि° ।

कार्याणि विधेयानि । किं कृत्वा, विमृश्य विचार्य । कया, धिया बुद्धया । किंलक्षणया, विशुद्धया निर्मलया । कस्मात्, नरेन्द्र० नरेन्द्राणां विद्याः आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्याः तासामधिगमः परिज्ञानं तस्मात् । पौरुषेण अष्टापदतुल्यत्वेऽपि धिया विमृश्यकारित्वाद् व्यतिरेकोऽयम् ॥ ५१ ॥ रतिप्रदानेनेत्यादि । येन राज्ञा । प्रजा प्रसाधिता अलंकृता । किंलक्षणा, कृतायतिः कृता विहिता आयतिर्विस्तारो यया सा कृता० । पुनः किं०, गुणानुरा० गुणानामौदार्यादीनामनुरागः प्रीतिः तेनोपनता प्रणता । किंलक्षणेन च येन, रति० रतिरनुरागस्तस्याः प्रदानं तत्र प्रवीणेन । पुनरपि किंलक्षणेन, कुर्वता । काम् उज्ज्वलां, विचित्र० विचित्रा नानाविधाश्च ते वर्णाश्च द्विजादयस्तेषां क्रमवृत्तिः संकीर्णताभावस्ताम्, उज्ज्वलां निरतिचारां कुर्वता विदधता । केव वधूरिव अङ्गनेव । यथा भर्तृगुणानुरागप्रवणा कृतोत्तरकालफला वधूः रतिप्रदानचतुरेण विशिष्टकान्तिप्रकृतिवर्तनमुज्ज्वलं विदधता रमणेन प्रसाध्यते । इत्युपमा ॥ ५२ ॥ अतीतसंख्यैरित्यादि । यस्मिन् राजनि । गुणैः समुदायिता चयत्वम् । अकारि विदधे । किंलक्षणैः, अखिलैः । पुनरपि किंलक्षणैः, अतीतसंख्यैः अतीता अतिक्रान्ता संख्या यैस्ते, तैः । पु०, परिलब्धा कीर्तिर्यैस्ते, तैः । पु०, शरदो निशानाथश्चन्द्रस्तस्य मरीचय इव निर्मलास्तैः । किंलक्षणैरिव, दोषचमूं दोषसेनां, रुरुत्सुभिः रोद्धुमिच्छद्भिरिव । सेना खलु समुदायाभावे जेतुं न शक्यते । सकललोकवर्तिनो ये गुणास्तेऽस्मिन् समुदिता इति भावः ॥ ५३ ॥ अथ चतुर्भिर्वृत्तैः कान्तोपवर्ण्यते पराक्रमेत्यादि । 'अथ' इत्यानन्तर्यार्थे । 'सुवर्णमाला' इति नाम्नी । भामिनी मानिनी । बभूव अजनि । किंलक्षणा, निशा० निशान्तस्य सकलान्तःपुरस्य । नायिका पट्टमहिषी । कस्य नृपस्य । किंलक्षणस्य, पराक्र० पराक्रमेण शक्त्या आक्रान्ता व्याप्ता महीभुजो राजानो येन स तस्य । पुनः किंलक्षणस्य, जगल्ल० जगतो ललामा तिलका चासौ लक्ष्मीश्च जग० तया निलयीकृतमास्पदीकृतमुरो वक्षो यस्य स तस्य ॥ ५४ ॥ यदीयेत्यादि । यदीयं यत्संबन्धि । शीलं सद्वृत्तम् । जातुचित् कदाचित् । मलीमसं मलिनम् । नाभूत् । किंलक्षणम्, अविनिन्दितं निन्दारहितम् । कथंभूतमिव, नितान्तनिर्धौतमिव नितान्तमेकान्तेन निर्धौतं प्रक्षालितं निता० । 'तीव्रैकान्तनितान्तानि' इत्यमरः । केन, कान्तिमयेन कान्त्या निर्वृत्तेन । वारिणा जलेन । किंलक्षणेन, विसारिणा विस्तीर्णेन । पुनरपि०, एणाङ्कस्य चन्द्रस्य मरीचयः त्विष इव हारि मनोहरं तेन । उपमा । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषाः ।' इति सूचितम् ॥ ५५ ॥ वहन्नित्यादि । यत्तनौ यच्छरीरे । न ऊनमनूनं, 'हीनन्यूनावूनगर्ह्यौ' इत्यमरः, अनूनं च तल्लावण्यं च कान्तिमयत्वं तेन मयः । पयोनिधिः समुद्रः । विचकास उल्ललास । किंलक्षणः, सहासफेनः हास एव फेनो डिण्डीरः, सह हासफेनेन वर्तत इति सहासफेनः । किं कुर्वन्, शशाङ्कस्य चन्द्रस्य । शङ्काम् आरेकाम् । वहन् धारयन् । क्व, वक्त्रपङ्कजे वक्त्रमेव पङ्कजं कुवलयं तत्र । किंलक्षणे, स्मरापाण्डुकपो० स्मरेण कामेन आपाण्डु ईषत्पाण्डु कपोलयोर्गल्लयोर्मण्डलं यत्र तत् तस्मिन् । भ्रान्तिमान् । लावण्यपयोनिध्योर्मुखचन्द्रयोश्चोपमानोपमेयभावो वा । यौवने हि सुष्ठु परिणते मुखं चन्द्रवदाभाति ततश्च तनुरतीव कान्तिं दधातीति भावः ॥ ५६ ॥ भुव इत्यादि । सा मृगेक्षणा हरिणलोचना । तस्य नृपस्य । मन्दिरे गृहे । लक्ष्मीः श्रीः । बभूव । किंलक्षणस्य नृपस्य, पुरुषोत्तमस्य पुरुषप्रधानस्य, कृष्णस्य च । किंलक्षणस्य तस्य, भुवः पृथिव्याः समुद्धर्तुः उद्धरणशीलस्य जगद्धारकस्य च । पु०, बलेन पराक्रमेण बलभद्रेण च । अधिष्ठितात्मनः समाश्रितस्य । पुन०, सत्यानु० सत्ये तथ्येऽनुरतमेकमद्वितीयं चेतो यस्य, सत्यायां सत्यभामायां च । श्लेषः ॥ ५७ ॥ अथ पुत्रोत्पत्तिमाह परस्परेत्यादि । सः प्रसिद्धः । स्तनन्धयः पुत्रः । किंलक्षणः, धाम्नां निधिः तेजोनिधानम् । कयोः तयोः । किंलक्षणयोः, पर० परस्परम् अन्योन्यं स्नेहेन प्रणयेन निबद्धं नियन्त्रितं चेतो मनो याभ्यां तौ पर० तयोः । येन पद्मनाभता संज्ञया अभिधया न दध्रे नरकद्विषा अर्थेन च । पद्मनाभः किल नरकस्य दैत्यविशेषस्य द्विट्, अयमपि नरकस्य दुर्गतेरित्यन्वर्थता । तुल्ययोगितेयम् ॥ ५८ ॥ अथ चतुर्भिः पद्यैः पद्मनाभकुमार उपवर्ण्यते—कलासनाथस्येत्यादि । यस्य पद्मनाभस्य । बाल्येऽपि शैशवेऽपि । विवेकरिक्तता सदसद्विवेचनशून्यत्वम् । न बभूव । किंलक्षणस्य, निःशेषाश्च ते जनाश्च तेष्वनुकम्पायुक्तस्य । 'कृपा दयानुकम्पा स्यात्' इत्यमरः । किंलक्षणस्य, हिमद्युतेः चन्द्रस्येव, कला० कलाभिः सनाथस्य सहितस्य । कलाः शस्त्रधारणाद्याः षोडशो भागश्च । हिमेतरा उष्णा

अंशवो यस्य स तस्येव तीव्रं तेजो यस्य स तस्य असह्यमहसः । चन्द्रसूर्ययोरिव शान्ततीव्रस्यापि आशुकार्यकरणे सविवेकित्वमिति भावः । प्रतिवस्तूपमा । अथवा चन्द्रः सूर्यान्वयिनां क्लेशकारी सूर्यश्च चन्द्रवंशिनाम्, अस्य चोभयसाम्येऽपि क्वचिदनुयायिनि विवेकरिक्तताभावाद् व्यतिरेकश्च ॥ ५९ ॥ समाचरन्नित्यादि । यः कृतज्ञः कृतं जानातीति । पलिताङ्कुरैः शुक्लकेशैर्विना । वृद्धः स्थविरः । बभूव । किंलक्षणः, सम० समस्ताश्च ता विद्याश्चान्वीक्षिक्यादयस्तासामधिगमः परिज्ञानम्, 'आन्वीक्षिक्यामात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ । अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥' इति, तेन प्रबुद्धा धीर्यस्य सः । पुनः किंलक्षणः, समाचरन् अनुभवन् । काः, क्रियाः । किंलक्षणाः, शिशुभावः शैशवं तत्र दुष्प्रापा[1]ः । ताः पुनः कथंभूताः, नयमार्गेण नीतिपथेन शालिनीः शोभमानाः । विभावनेयमलंकृतिः ॥ ६० ॥ गलदि (न्नि) त्यादि । यस्य अङ्कुशः सृणिः, गुरुः जनकादिः, अभवत् । किंलक्षणस्य, गरीयसा गरिष्ठेन, ओजसा बलेन, युतस्य सहितस्य । पुनः किंलक्षणस्य, गलन्मदस्य गलन्मदो यस्य स तस्य—स्रवन्मदस्य, मदः स्रुत्वा गत इत्यर्थः । अत एवोन्नतवंशेनोच्चवंशेन शाली शोभमानः तस्य । पुनरपि० गृहीतः सम्यग्विनयो येन स तस्य आदृतप्रश्रयस्य । पुनर०, सोन्नतेः सह उन्नत्या औद्धत्येन (उच्छ्रित्या) वर्तत इति सोन्नतिस्तस्य । कस्येव, गजाधिपस्येव । यथा स्रवन्मदस्य, उन्नतपृष्ठशोभिनः, सुशिक्षितविनयस्य, उच्चैस्तरस्य च गजेन्द्रस्याङ्कुशो गरिष्ठः स्यादिति । उपमा ॥ ६१ ॥ विभूषितमित्यादि । व्यसनैः व्यस्यन्ति परेहलोकमिति व्यसनानि द्यूतादीनि, तैः । किंलक्षणैः, प्रमाथिभिः प्रपातिभिः । यस्य मनो न जह्रे न मुष्टम् । किंलक्षणस्य, मनस्विनः पण्डितस्य । पुनररि०, जिताः पूराभूता आन्तरा अन्तराश्रिता द्विषो येन सः, तस्य । पुनरपि०, विग्रहं शरीरम् दधतः । धारयतोऽपि । किंलक्षणं विग्रहं, विभूषितं परिष्कृतम् । कया, यौवनस्य रूपसंपत् तया । किंलक्षणया, विकारवत्या विकारसहितया ॥ ६२ ॥ स बह्वित्यादि । स विशामधीश्वरः पृथ्वीपतिः । बहूनि अपत्यानि यस्य सोऽपि । जिष्णुना जयशीलेन । तेनैव सुतेन पुत्रेण । रराज बभासे । अत्रार्थान्तरमुपन्यस्यते—अनेकाश्च (अनेके च) ते शकुन्ताः पक्षिणश्च तैः संकीर्णः । जलाधारो राजहंसेन विना न विराजते । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः ।' ॥ ६३ ॥ अथेत्यादि । अथ अनन्तरम् । जातु कदाचित् । सः । मेदिन्याः पृथ्व्याः पतिः स्वामी । परिहृष्टा हर्षं प्राप्ता मतिर्यस्य स परिहृष्टमतिः सन् । निजा चासौ लक्ष्मीश्च तया परिभूषितं परिष्कृतम् । पुरं नगरम् । विलोकयन् अवलोकयन् । गुरुश्चासौ सौधो राजसदनं च, तस्य मस्तके । अवतस्थे स्थितः । जातिः ॥ ६४ ॥ तदा तस्मिन्नवसरे । तेन कनकप्रभेण । गवां गणः गोयूथः । ददृशे लुलोके । कथंभूतः, समुत्तरन् विनिःसरन् । किं कृत्वा, पयः पानीयं परिपाय पीत्वा । किंलक्षणेन तेन, यदृच्छया स्वेच्छया, दृशं दृष्टिं, विनिपातयता इतस्ततः प्रसारयता । क्व, आस० अतिशयेनासन्नमासन्नतमं तच्च तदेकपल्वलमल्पसरश्च, तस्मिन् । जातिः ॥ ६५ ॥ किल इति पुराणोक्तौ । असौ विचक्षणः विदग्धः । तत्र पल्वले । एकं जरद्गवं जरंश्चासौ गौश्च जरद्गौः, तं म्रियमाणं प्राणांस्त्यजन्तम् । अवेक्ष्य अवलोक्य । तत्क्षणात् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण । निर्वेदं वैराग्यम् । जगाम । कथंभूतं जरद्गवं, घनपङ्क० घनश्चासौ पङ्कश्च तत्र निमग्नो ब्रुडितः, तम् । पुन०, अक्षमं क्षीणगात्रम् ॥ ६६ ॥ क्षणभङ्गुरेत्यादि । भवं भजन्तीति भवभाजस्तेषां भवभाजां प्राणिनाम् । जीवितं प्राणाः । क्षणभं० क्षणेन तत्कालं भङ्गुरा विनश्वरा वृत्तिर्वर्तनं यस्य तत् क्षणभङ्गुरवृत्ति । इत्यत्र विस्मयः अद्भुतं न । इह जीविते । अवश्यद्भि[2]ः पण्डितैरपि प्रमुह्यते । तदेतदीदृशमद्भुतं विस्मयः ॥ ६७ ॥ क्षणदृष्टेत्यादि । जनः लोकः । क्षण० दृष्टाश्च तिरोहिताश्च दृष्टतिरोहिताः, क्षणेन दृष्टतिरोहिताः क्षणदृष्टतिरोहिताः, तैः-क्षणदृष्टनष्टैः । विषयैः भोग्यैः । स्वप्ने इव प्रतार्यते वञ्च्यते । तथापि अयं जडबुद्धिर्मन्दमतिः । तेषु रतिं रागम्, एति । अनात्मवेदितां जडत्वम् । धिक् ॥ ६८ ॥ प्रहतमित्यादि । एषः जनः । जन्तुं जन्तुं प्रतिजीवितं मरणेन प्रहतं बाधितं पश्यति । यौवनं तारुण्यम् । जरसा वार्धक्येन, प्रहतं पश्यति । तदपि मन्दमतिरसौ स्वहिते न पश्यति जागर्ति । अहो आश्चर्यम् ॥ ६९ ॥ यदतीतेत्यादि । यत् सुखम् । अतीतम् अतिक्रान्तम् । तत् अतीतमेव ।

---

१. ब °प्राप्याः । १. ब ज अवश्यद्भिः ।

आगामिनि सुखे विनिश्चयः क. । तत्क्षणसौख्यमोहितः तत्कालसुखेन वञ्चितः पुरुषः । बत इति खेदे । वृथा श्रमं समुपैति । अन्तर्दृष्टिं परित्यज्य भूतभविष्यत्सुखस्यास्थिरत्वमवलोक्यापि वर्तमानसुखस्य स्थिरत्वमवबुद्ध्यतीति खेदः ॥ ७० ॥ परिणामेत्यादि । यः पुमान् । सद्यः सुखस्य लिप्सया लालसत्वेन । परिणामहिते आगामिसुखकारिणि । पथि मार्गे । न समीहते प्रयतते । स शिवात् कल्याणात् । अतिविप्रकृष्यते दूरीक्रियते । विरुद्धसेवया अपथ्यभजनेन ज्वररोगी यथा ॥ ७१ ॥ दहन इत्यादि । त्रयाणां समबलत्वेऽपि कामस्याधिक्यम् ॥ दहनः अग्निः । तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येत् । उदधिः नदीशतैरपि तृप्येत् । काममुखैः पुमान् न तृप्येत् खलु । अहो कापीयं कर्मणो बलवत्ता बलिष्ठत्वम् ॥ ७२ ॥ वपुरित्यादि । वपुरपि शरीरमपि । आयुषः क्षये । आन्तरम् अन्तःस्थितं प्राणिनम् । अतिमात्रम् अतितराम् । त्यजति खलु । अहो । बहिरङ्गैः बाह्यस्थितैः धनमित्रबान्धवैर्विरहे वियोगेऽत्र विस्मयः कः, न कोऽपि ॥ ७३ ॥ सुखेत्यादि । इष्टसमागमे इष्टसंयोगे । यथा येन प्रकारेण । सुखम् । तथैव तस्य इष्टस्य विरहे वियोगे च । असुखं दुःखम् । अतएव सुधियः पण्डिताः । सङ्गसु० सङ्गस्य सुखं सङ्गसुखं तत्र एकनिःस्पृहाः अद्वितीयेहारहिताः सन्तः । निर्वृतौ मुक्तौ । सजन्ति सावधाना भवन्ति ॥ ७४ ॥ हितमित्यादि । कश्चन हितमेव मोक्षस्तत्कारणतत्त्वं च हितं तदेव । न वेत्ति । अन्यः पुमान् । खलु शास्त्रोक्तौ । तत्र हिते । संशयं सन्देहम् । भजते । परः अन्यः । विपरीतरुचिः विपरीता अतद्गुणे तद्गुणाभा रुचिः श्रद्धा यस्य सः । एवंविधैस्त्रिभिरज्ञानतमोभिः अज्ञानान्धकारैः । जगत् भुवनम् । आहतं बाधितम् । तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु न प्रवर्तत इति ॥ ७५ ॥ परिणामेत्यादि । जिनवाक्यम् अर्हद्वचः । विहाय त्यक्त्वा । शरीरिणां प्राणिनाम् । परि० परिणामस्योदर्ककालस्य सुखम् । न विद्यते । सरुजां हितकार्यौषधं पथ्यमिव । यथा पथ्यं विहायौषधं परिणामहितं न । अनात्मज्ञतया जडतया । तत् जिनवाक्यम् । न रोचते ॥ ७६ ॥ यथाविधि विधिमनतिक्रम्य । श्रुतं शास्त्रम् । अधिगम्य परिज्ञाय । उत्तमाश्च ते साधवश्च तेषां संगमं संपर्कम् । प्रतिपद्य आश्रित्य । इमां प्रसिद्धाम् । भवफलगुतां संसारस्यासारत्वम् । अवयन् जानन् । अहमिव अहं यथा । अपरः अन्यः । कः पुमान् प्रमाद्यति, न कोऽपि ॥ ७७ ॥ सुखमित्यादि । मन्दमतिः जडः । आयतिदुःखम् उदर्कासुखकरम् । अक्षजम् ऐन्द्रियकम् । सुखं भजते बुद्धिमान् न । अत्रर्थान्तरमुपन्यस्यते— खलु अहो । कः अमन्दधीः । मधुना दिग्धं प्रलिप्तं मुखं यस्याः सा ताम् । असिधारां खड्गधाराम् । लिलिक्षति लेढुमिच्छति, न कोऽपि ॥ ७८ ॥ असुखैकेत्यादि । यः प्रविरक्ता निर्विण्णा मतिर्यस्य सः । असुखमेवैकं फलं यस्य स तम् । पल्लवं किसलयम् । टसिति झटिति । प्रभज्य आमर्द्य । न प्रवर्तते । स पुरुषः । श्रेयसि मुक्त्यर्थम् । वञ्चितः विप्रलब्धः । ही विस्मये । निर्विण्णेन झटिति उद्यमो विधेय इति । भावः ॥ ७९ ॥ इतीत्यादि । स चारुचेताः चारुमनाः । इति उक्तप्रकारेण । विषयेभ्यो विरक्तः सन् । छन्नया गूढया । मुक्तिदूत्या निर्वृत्तिसंचारिकया । स्वयमात्मना । कर्णजाहं श्रवणसमीपम् । एत्य आगत्य । व्याहूत इव आहूत इव । मुनिमार्गे रत्नत्रये । चेतसा मनसा । न्यविशत तस्थौ । उचितमेतत् । हि यस्मात् । मतिभाजां मतिमताम् । काललब्धिः । वन्ध्या निरर्थिका । न भवति ॥ ८० ॥ प्रपृच्छयेत्यादि । स राजा कनकप्रभः । अपरेद्युः अन्येद्युः । आत्मनः स्वस्य । उद्यन्ती अतिवर्धमाना श्रीर्यस्य स तम्—उद्यच्छ्रियम् । तं प्रसिद्धम् । सुतं पुत्रम् । प्रपृच्छ्य आपृच्छ्य । च पुनः । विगलन्ति पतन्त्यश्रूणि रोदनबिन्दवो याभ्यां ते तदक्षिणी तस्य नेत्रे । प्रमृज्य संविशुद्धे विधाय । अविनिन्दितं निन्दारहितम् । श्रीधरं श्रीधराभिधानम् । मुनीन्द्रं यतीशम् । समभिवन्द्य प्रणम्य । भूरिभिः प्रचुरैः । नृपतिभिः समम् । तपः तपश्चरणम् । समधिशिश्रिये आश्रितः ॥ ८१ ॥ गुरुविरहेत्यादि । तदा तस्मिन्नवसरे । पद्मनाभः भूमीशः नरपतिपदं राज्यम् । आस्थितोऽपि समाश्रितोऽपि । गुरुविरहभवेन पितृवियोगजनितेन । असुखेन दुःखेन । भृशम् अत्यर्थम् । तताम चक्लाम[1] । हि यस्मात् । बान्धवैर्वियुक्ता वियोगिनी । लक्ष्मीः । मुदे हर्षाय । नहि भवति ॥ ८२ ॥ विपुलेत्यादि । असौ सुधीः । विपुल० विशालप्रतिभाभिः । वृद्धामात्यैः प्रौढसचिवैः । कृतप्रतिबोधनः कृतं प्रतिबोधनं यस्य सः, सन् । कियद्भिः परिमितैः । दिनैः दिवसैः । पितृविरहजं जनकवियोगजनितम् । शोकं, हित्वा । नयनविगलद्बाष्पापूराः नयनाभ्यां विगलन्तो

१. ब चक्लाम, ज पक्लाम ।

वाष्पापूरा यस्याः सा ताम् । स्वामिस्ने० स्वामिनः कनकप्रभस्य स्नेहस्तेनाकुलीकृतं चेतो यस्या सा ताम् । उभयीम् उभयप्रकाराम् । प्रकृति प्रजाम् । समभाव [य] त् संस्कृतवान् ॥ ८३ ॥ एतस्येत्यादि । अनृजुः वक्रः । अयमष्टमीमृगाङ्कः अष्टमीचन्द्रः । एतस्य महीपतेः । विकटं च तल्ललाटपट्टकं च तेन । व्याक्षिप्तः जितः । इतीव संजातानतिभिः संजाता आनतिर्येषु ते तैः । भूपालैः राजभिः । नृपासनस्थे सिंहासनस्थिते । तत्र राजनि । कुटिलता वक्रत्वम् । न भेजे । यत्रायमष्टमीमृगाङ्कोऽनेन वक्रतरोऽपि जितस्तत्र के वयमिति वक्रत्वं विहाय पदयोः पतिता इति भावः ॥ ८४ ॥ तेजोनिधावित्यादि । स पद्मनाभः भूमिपतिः । तेजोनिधौ महोधामनि । उदयधाम्नि उदयास्पदे । सुवर्णनाभ० सुवर्णनाभाभिधाने । तनये पुत्रे । युवराजशब्दं युवा चासौ राजा च युव० तेन शब्दयते[1] आहूयते युवराजशब्दः, तम्—युवराजाभिधानम् । प्रवर्त्य । सोमप्रभा० सोमप्रभाया दशनाः सोम० तैर्जातं च तत् किणं च तेनाङ्कितश्चिह्नित ओष्ठो यस्य सः, सन् । भोगान् विषयान् । सदा अनुभवन् निर्विशन् । अवास्थित तस्थौ ॥ ८५ ॥

इति चन्द्रप्रभचरिते[2]महाकाव्यपञ्जिकायां प्रथमः सर्गः[3] ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।
श्रुतादिः स मुनिर्जीयाच्छब्दादिगुणभासिवाक् ॥ १ ॥

आस्थानं सदः । प्रतीहारः द्वारपालः । वनपालः मालाकारः । व्यजिज्ञपत् विज्ञापयामास ॥ १ ॥ मनोहरे शब्देन मनोहरनामनि, अर्थेन हृदयहारिणि ॥ २ ॥ पुण्डरीकं सिताम्भोजम् ॥ ३ ॥ दारुणं भीषणम् । समाहारेण संकरेण ॥४॥ मोक्षस्य मुक्तेः संधानमेकाग्रता तत्र चित्तं यस्य सः, पक्षे मोक्षो वेध्यम् । गुणस्थानानि मार्गणाः गत्यादयस्ताभ्यां शोभमानेन, पक्षे गुणो मौर्वी मार्गणः शरः ॥ ५ ॥ परिनिष्ठितं परिकलितम् ॥ ६ ॥ सुवर्णैः शोभनाक्षरैः कनकैश्च । मुक्ताः सिद्धाः मुक्ताफलानि च । कर्णपूरायन्ते कर्णयोः श्रोत्रयोः पूरायन्ते कुण्डलायन्ते च ॥ ७ ॥ गणनीयतां गणनाविषयतां गणेन जनवृन्देन नीयतां प्राप्यतां च ॥ ८ ॥ पांसुसंपर्कात् रजःसंसर्गात् । वासचूर्णेषु सुगन्धिद्रव्येषु ॥ ९ ॥ भास्वान् सूर्यः, पक्षे दीप्तिमान् । सेव्यपादः सेव्यरश्मिः, पक्षे सेव्यचरणः । कुमुदं कुवलयं, पक्षे भूमुदम् ॥ १० ॥ विवक्षामि वक्तुमिच्छामि ॥ ११ ॥ अनपेक्ष्य अनादृत्य । कोरकान् उद्भेदान् ॥१२॥ विसोढं सहितम् ॥१३॥ मधुगण्डूषान् मद्यकुरलकान् । अनादृत्य अनपेक्ष्य ॥१४॥ तिलकः तिलकवृक्षः । व्यकसत् विकासमगमत् ॥ १५ ॥ जातविबोधाः समुत्पन्नपरिज्ञानाः । अलयः भ्रमराः ॥ १६ ॥ शुकैः कीरैः ॥ १७ ॥ कुड्मलः कलिका ॥ १८ ॥ शिखण्डिनां मयूराणां ताण्डवस्य नृत्यस्य [आटोपं] ताण्डवाटोपं नृत्यविस्तारम् ॥ १९ ॥ पलायमानस्य देशत्यागं विदधतः । बाणावलिः शरपङ्क्तिः ॥ २० ॥ शुचिसंगात् ज्येष्ठसंबन्धात्, शुचिः निर्मलो वा ज्येष्ठः, सकलजगत्पूज्यत्वात् ॥ २१ ॥ रोमाञ्चकञ्चुकाधानात् रोमहर्षवारबाणधारणात् ॥ २२ ॥ सहजं जात्युत्पन्नम् ॥ २३ ॥ मुनिवृत्तान्तशंसिनीं यतिवार्ताकथयित्रीम् । उद्वेलः उत्कल्लोलः ॥ २४ ॥ पारितोषिकैः संतोषजनितैः । कृतार्थं कृतकृत्यम् ॥ २५ ॥ घोषयन् उच्चरन् । उदस्थात् उत्तिष्ठति स्म ॥२६॥ लक्ष्यम् अभिन्यासम् ॥ २७ ॥ व्यानशे व्याप्नोति स्म । संकेतिनोः संकेतयुक्ताः ॥ २८ ॥ पञ्च च षट् च (पञ्च वा षड्वा) पञ्चषाः तान् । पत्तीन् पदातीन् । अक्षुभ्यत चुक्षोभ ॥ २९ ॥ चचाल जगाम ॥ ३० ॥ लावण्येन लवणत्वेन संक्रान्तानि प्रतिबिम्बितानि दिदृक्षूणां द्रष्टुमिच्छूनां नयनानि यत्र सः ॥ ३१ ॥ पिप्रिये तुष्टः ॥ ३२ ॥ विपरिश्रमः विगतखेदः ॥ ३३ ॥ समादिश्य उपदिश्य आवासय संरक्षयः[4] ॥ ३४ ॥ चामरादिपरिच्छदां चामरादिपरिकरोपेताम् ॥ ३५ ॥

---

१. ज शब्दते । २. ब 'चरित' इति नास्ति ज 'चरित्र' इत्यस्ति । ३. ब प्रथमसर्गः । ४. ज °क्षय ।

शरत्प्रसन्ने वर्षान्तनिर्मले ॥ ३६ ॥ त्रिः परीत्य त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य । न्यविक्षत उपविष्टवान् ॥ ३७ ॥ मुकुलीकुर्वन् कोशीविदधत् । शीतगुत्वं चन्द्रत्वम् ॥ ३८ ॥ शोभा कान्तिः ॥ ३९ ॥ शान्ते उपरते । जगाद बभाण ॥ ४० ॥ निरालोके निःप्रकाशे । आलोक इव उद्योत इव ॥ ४१ ॥ स्फुरितं प्रतिभासितम् ॥ ४२ ॥ गुरुप्रत्ययवर्जितं गुरुविश्वासरिक्तम् ॥ ४३ ॥ प्राहुः वदन्ति । नास्तिकागमं चार्वाकसिद्धान्तम् । मानगोचरः प्रमाणविषयः ॥ ४४ ॥ तस्यात्यये जीवाभावे, अजीवः कथं वक्तुं युज्यते; जीवाजीवयोः सापेक्षत्वात् ॥ ४५ ॥ च पुनः तदत्यये बन्धमोक्षप्रभृतयो जीवधर्माः कथं स्युः ॥ ४६ ॥ उपप्लुतं बाधितम् । संवृतम् अप्रसारितं वा कल्पितम् (कल्पितं वा)। जीवो नास्ति, अजीवोऽपि नास्ति ततस्तत्त्वमुपप्लुतमेवेति तत्त्वोपप्लववादिनः ॥ ४७ ॥ विसंवदन्ते मिथ्या जल्पन्ति ॥ ४८ ॥ केचित् सांख्याः । केचित् मीमांसका एव । अन्ये नैयायिकाः । अन्ये बौद्धाः ॥ ४९ ॥ गहने दुःप्रवेशे, गहने वने ॥ ५० ॥ उच्चार्थी महदभिप्रायाम् । विरराम तूष्णीं चकार ॥ ५१ ॥ ईश्वरबुद्धयः प्रत्यग्रप्रतिभाः ॥ ५२ ॥ अस्पृष्टपरदूषणं परोपकल्पितदूषणसंपर्करहितं यथा स्यात् ॥ ५३ ॥ 'जीवो नास्ति' इति चार्वाकैरुपन्यस्यस्ते । प्रसिद्धो धर्मी पक्षः । तत्र चार्वाकाप्रसिद्धस्य जीवस्य पक्षत्वकरणे स्वविडम्बनां कः कुर्यात् ? प्रसिद्धपक्षस्य हेतुविषयत्वं क्रियते । अथवा जीवो नास्ति अनुपलब्धेः— इति भवतानुपलम्भविषयीक्रियमाणो जीवः पक्षः प्रत्यक्षेणोपलम्भेन स्वसंवेदनलक्षणेनैव निराकृत इति ॥ ५४ ॥ कथमुपलम्भविषयो जीवः, इति चेत्, उच्यते—प्रतिजन्तु इत्यादि । प्रतिजन्तु पक्षः, जीवः प्रतिभासते इति साध्यो धर्मः, स्वसंवेदनगोचरत्वात् (इति हेतुः)। न चेदं स्वसंवेदनगोचरत्वम् असिद्धं, सुखदुःखादिपर्यायैराक्रान्तत्वात् ॥ ५५ ॥ प्रमाणाधीनत्वात् प्रमेयस्य, अतः प्रमाणमेव मीमांस्यते । ननु चेदं स्वसंवेदनलक्षणं प्रमाणम् असिद्धम्, इति चेत्, उच्यते—न चास्वेत्यादि । ज्ञानं—स्वसंवेदनम्, अस्वविदितं भवति वेद्यत्वात् । यद्वेद्यं तदस्वविदितं यथा कलशादिः । न च—न वाच्यम् । यथा प्रदीपः स्वं प्रकाशयन्नेवार्थं प्रकाशयति तथा ज्ञानं स्वं विदन्नेवार्थं वेत्तीति ॥ ५६ ॥ यदि ज्ञानं स्वं वेत्ति तदा ज्ञेयमेव, न ज्ञानम्, इति चेत्, न; अस्ववेदिनो विषयान्तरसंचाराभावात् । अवयवाः—ज्ञानमर्थव्यवसायात्मकं स्वव्यवसायात्मकत्वात् । यन्न स्वव्यवसायात्मकं न तदर्थं व्यवस्यति । यथा घटः । न चेदमसिद्धमर्थव्यवसायात्मकत्वं ज्ञानस्य सकलजनानामन्योन्यज्ञानानां परस्परपरिज्ञानापेक्षया ज्ञेयत्वात् । अथवा सामान्यमेव व्याख्यानम् । अस्ववेदिनः स्वपरिज्ञानरहितस्य विषयान्तरे चेतनाचेतनान्तरे संचारो न स्यात् । अपरापरबोधस्य अन्योन्यपरिज्ञानस्य वेदनीयस्य ज्ञानजन्यस्य घटनात् ॥ ५७ ॥ तर्हि अनवस्था स्यात्, इति चेत्, अनवस्थाप्यत्रेष्टा । नभस्थलविसर्पिणी अनवस्थालता च स्यात् भवेत् । तेषु अपरापरबोधेषु यदेवाविदितं तदेव पूर्वस्य स्वस्य वेदकं न स्यात् ॥ ५८ ॥ ततश्चार्वाकः प्राह--विषयविज्ञानं परोक्षमेव, तत्परोक्षत्वे विषयस्यापि परोक्षत्वमेव ॥ ५९ ॥ इति चेत्, परोक्षमपीष्टमेव । परोक्षादपि ज्ञानादर्थाधिगतिरर्थपरिज्ञानमिष्यते । यथा अर्थः परेण विदितस्तथा स्वविदितोऽपि भवेत् । अतः स्याद्वादमतापेक्षया[1] जीवः स्वकीये काये स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् सिद्धः, परकीये चानुमानादिलक्षणात् परोक्षादिति भावः । तदुक्तम्—'स्वसंवेदनतः सिद्धे निजे वपुषि चेतने । शरीरे परकीयेऽपि स सिद्धयत्यनुमानतः ॥ ६० ॥' तस्मात् कारणाद् युक्तितः प्रमाणोपपत्त्या स्ववेदने स्वयं वेदने नाम्नि प्रत्यक्षे प्रमाणे सिद्धे व्यवस्थापिते सति । नास्तित्ववादिनां चार्वाकतत्त्वोपप्लवानां प्रत्यक्षेण बाधा प्रत्यक्षबाधा कथं न भवेत् । अध्यक्षेण जीवमपह्नुवानानां तेषां प्रत्यक्षमेव जीवव्यवस्थापकं भवेदिति भावः ॥ ६१ ॥ पुनः स्याद्वादी चार्वाकमनुसंधत्ते । गर्भादिमरणान्ते प्रकृतपर्यायापेक्षे जीवे सिद्धेऽपि तस्य जीवस्य प्रागूर्ध्वं--जन्मनः प्राङ् मरणाच्चोर्ध्वं कथं सिद्धिर्यदीति मन्यसे ॥ ६२ ॥ तदेदमुत्तरमाह--तत्रापि जीवे सदकारणवत्त्वेनानादिता, अनन्तता च सिद्धा । वाय्वग्निपृथिवीपयसां यथा । वादिप्रतिवाद्यपेक्षया । व्यवस्थाप्यमानो जीवः पक्षः । अनाद्यनन्तो भवति, सदकारणवत्त्वात्, येषां सदकारणवत्त्वं तेषामनाद्यनन्तत्वं यथा वाय्वग्निपृथिवीपयसाम् । सदकारणवांश्चासौ, तस्मादनाद्यनन्त इति ॥६३॥ ननु चाकारणवत्त्वमसिद्धं तस्य, इति न वाच्यम् । अहेतुत्वम् अकारणवत्त्वम् । तस्यासिद्धं न । कस्यापि हेतोः कारणस्य । अयोगतः अघटनात् । ननु च भूतानि हेतवः इति

1. ज °दि° ।

चेत्, न सहप्रत्येकपक्षयोः क्रमेण युगपद्वा भूतानां हेतुत्वं च ॥६४॥ एतदेव विव्रियते—प्रत्येकपक्षे एककाद्भूताज्जीवोत्पत्तौ जीवानां भूतसंख्या प्रसज्यते। सहपक्षे युगपदेतेभ्यो जीवोत्पत्तौ तेभ्योऽसंविद्भ्योऽचेतनेभ्यश्चेतनः कथं स्यात् ॥६५॥ कुतः, हि यस्मात् घटपटादिषु कार्येषु सजातीयमुपादानं दृष्टम्; कस्मात्, मृदादीनां हेतूनां कारणानां घटाद्यनुगमेक्षणात् घटादिकार्यानुवर्तनात् ॥ ६६ ॥ स्यान्मतं विजातीयादपि कारणाद्विजातीयकार्योत्पत्तिदर्शनाच्छृङ्गादेः शरादिवत् इति। तत्रापि शृङ्गादेः शरादिना व्यभिचारोऽपि न युज्यते। कस्मात्, पुद्गलत्वेन पुद्गलत्वजात्या सजातीयत्वसंभवात् ॥६७॥ अथवा यदि विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यश्चेतनो जायत एव तदा पयसोऽपि पृथ्वी भवेत्। एवं च तत्त्वचतुष्टयं न—तत्त्वसंकरः स्यात् ॥ ६८ ॥ ननु भूतानां चैतन्योत्पत्तौ सहकारित्वमेव, इति चेत्, न, उपादानाभावात् भूम्यादिव्यतिरेकतः भूम्यादि[1] विना अन्यदुपादानं च भवन्मते नास्ति येनोपादानेन सता भूतानां संहतिः समुदायः सहकारिणी कल्प्येत ॥६९॥ काये कोऽप्युपादानधर्मो नावलोक्यते, भिन्नलक्षणत्वात्। शरीरे तदवस्थेऽपि जीवे विकृतिदर्शनात् विविधाकृत्यवलोकनात् ॥ ७० ॥ घटादिकारणेषु मृदादिषु। एतत् भिन्नलक्षणत्वम्। नेक्ष्यते च। ततः तस्मात्। अनुमानबाधापि पक्षे वीक्षते। यथा प्रत्यक्षेण पक्षबाधा तथानुमानेनापीति रहस्यम् ॥ ७१ ॥ तस्य जीवस्य। अभावसाधनेऽनुपलम्भादिहेतुरसिद्धः स्वसंवेदनस्य तद्भावसाधकत्वात् ॥ ७२ ॥ विभिन्नप्रतिभासित्वात् चिदचितोः प्रतिभासभेदात् ॥ ७३ ॥ अत्राहापरः—भवतु नामैवमात्मा प्रत्यक्षादिसिद्धः, स च सर्वथा नित्य एव, इत्येवं ब्रुवन् प्रत्यक्षेण बाधित एव ॥ ७४ ॥ कथं प्रत्यक्षबाधिताः ते, यत आत्मा प्रतिप्राणि सततं सुखदुःखादिपर्ययैर्विवर्तमानः स्ववेदनात् प्रकाशते ॥ ७५ ॥ ते च सुख-दुःखादिपर्याया जीवात् सर्वथा विभेदिनः, इति चेत्, न भेदे सति 'तस्यामी' इति संबन्धानुपपत्तेः ॥ ७६ ॥ अस्ति समवायलक्षणः संबन्धः इति न वाच्यम्, नित्यस्य समवायो न युज्यतेऽनुपकारित्वात्। यतः सर्वापि संबन्धसमवस्थितिरुपकाराश्रयैव स्यात् ॥ ७७ ॥ अस्ति नित्यस्योपकारित्वम्, इति चेत्, तस्मादुपकारोऽभिन्नो भिन्नो वा। अभिन्नश्चेत् समो भिन्नश्चेत् संबन्धासिद्धिः। उपकारान्तरमपेक्ष्य संबन्धकरणेऽनवस्थितिः स्यात् ॥ ७८ ॥ ततो जीवः सुखदुःखादिपर्ययैः स्यात् कथंचिदभिन्नः परिणामित्वात्। तथा च कथं कूटस्थनित्यता ॥ ७९ ॥ एतेन कूटस्थतानिराकरणेन। तस्य आत्मनः। जडताम् अज्ञत्वम्। ब्रुवाणाः नैयायिकविशेषाः। विनिवारिताः प्रतिक्षिप्ताः। चिद्रूपसुखदुःखादिपर्यायैः विवर्तैः। ऐक्यसंभवात् परिणामित्वेनैक्यघटनात् ॥ ८० ॥ तर्हि आत्मा अकर्ता, इति चेत्, तस्य आत्मनोऽकर्तृतापि न च, बन्धाभावादिदोषात्। हि—यस्मात्, कुशलाकुशलक्रियाः-मनोज्ञामनोज्ञकार्याणि अकुर्वन् आत्मा कथं बध्येत, न कथमपि ॥ ८१ ॥ एतदेवोच्यते—कापिलः 'आत्मा भोक्ता' इति भुक्तिक्रियायां स्वयं कर्तृत्वं वदन् तदेवापह्नुवानः किं न जिह्रेति ॥ ८२ ॥ ननु आत्मा न बध्यते, इति चेत्, न, अचेतनस्य प्रधानस्य बन्धादिरप्ययुक्तिकः। चेतनमे (ए) व बध्यत इत्यर्थः। तस्माद् आत्मनोऽकर्तृता पापादपि पापीयसी मता ॥ ८३ ॥ चित्तसंततिमात्रम् आत्मा, इत्येके। तत्र चित्तसंततिमात्रत्वमपि [अ] युक्तं प्रकल्पितं—स्थापितम्। यतः संतानिव्यतिरेकेण काचित् संततिर्न। पूर्वं संतानी चेत् ततः संततिर्वक्तुं युज्यते ॥ ८४ ॥ संतानिनः सकाशात् संततिर्भिन्ना अभिन्ना वा। यद्यभिन्ना तर्हि तत्समा। भिन्ना चेत्, संतानिनो भिन्ना संततिर्नित्यानित्या वा। अत्रोच्यते व्यतिरेकेऽपि संतानिनः सकाशात् संतानव्यतिरेकेऽपि यदि तस्य नित्यत्वमिष्यते तदा क्षणिकैकान्तवादिनां प्रतिज्ञाहानिदोषः[2] स्यात्। 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इति तेषां प्रतिज्ञा ॥ ८५ ॥ संतानस्य क्षणिकत्वेऽपि यद् दूषणं संतानिपक्षे निक्षिप्यते तत् संतानेऽपि। ततः संतानस्यापि क्षणिकत्वे तस्य क्षणिकत्ववादि (नः) सर्वमेव कृतनाशादिकं प्रसज्यते ॥ ८६ ॥ तस्य व्यापकत्वेन कृतनाशादेरभावः, इति चेत्, न, तस्य व्यापकता घटनां नोपढौकते, स्वसंविदितरूपस्य तस्य देहाद् बहिरवेदनात् ॥ ८७ ॥ तस्माज्जीवः प्रमाणतोऽनादिनिधनो देहप्रमाणकः स्थितः, कर्ता भोक्ता चिदाकारः सिद्धः ॥ ८८ ॥ येऽप्यजीवादयो भावाः तेऽपि सिद्धाः, तदपेक्षत्वात्। तत् तत्त्वम् उपप्लुतं न ॥ ८९ ॥ अपरे मीमांसापक्षपातिनो मीमांसका जीवाजीवा [दि] षड्वर्गं प्रतिपद्य अङ्गीकृत्य मोक्षे विप्रतिपद्यन्ते विवदन्ति (न्ते) ॥ ९० ॥ तेषामपि मीमांसकानामनुमानबाधा

१. ज °दि। २. ज °हानिरिति दोषः।

पृष्ठतः परिधावति; । यतो मोक्षः कर्मक्षयो निगद्यते, सचानुमानतः सिद्धः ॥ ९१ ॥ तथा हि[1] क्वचिदपि पुंसि पक्षः । कृत्स्नावृतिक्षयोऽस्तीति साध्यो धर्मः । तत्कार्यसकलज्ञत्वस्यान्यथानुपपत्तेः । आवृतिक्षयः कारणं सर्वज्ञत्वं च कार्यम् ॥ ९२ ॥ ननु च सर्वज्ञः कश्चिद् नास्ति, साधकाभावात्, इति चेत्, कस्यचित् सर्वज्ञत्वमसिद्धं न, बाधकात्ययात्––बाधकाभावात् । सर्वत्र वस्तुव्यवस्थितिर्बाधकाभावादेव ॥ ९३ ॥ तथाहि––तस्य बाधकं तावत् प्रत्यक्षं नोपपद्यते, अक्षजत्वात् । तस्यात्यक्षेऽतीन्द्रिये विधिर्न निषेधनं न ॥ ९४ ॥ अनुमानमपि तद्बाधां विधातुं क्षमं न; यतोऽखिलं पुरुषत्वादि तल्लिङ्गं व्यभिचारि दृश्यते ॥ ९५ ॥ कथं तल्लिङ्गं व्यभिचारि, इति चेत्, यथा हि पुरुषत्वेऽपि कस्यापि वेदार्थज्ञानगोचरोऽतिशयस्तद्वत् कस्यापि सर्वार्थज्ञानगोचरोऽपि ॥ ९६ ॥ यथा देशान्तरे कालान्तरे चाखिलो रासभः शृङ्गी न तथा देशान्तरे कालान्तरे कश्चित् पुमान् सर्वज्ञोऽपि नास्ति [॥ ९७ ॥] इत्याद्युपमानं हि युक्तं न, इष्टविघातात् । कथमिष्टविघातः, इति चेत्, तथाहि––खचरादीनां खगमनादिकं न स्यात् । यथात्रत्येदानीन्तनपुरुषाः खगामिनो न, तथा देशान्तरे कालान्तरे च नैवेतीष्टविघातः ॥ ९८ ॥ तस्माद् यस्य सा सकलज्ञता असौ नरविशेषः । तथैव खरविशेषश्चेत् विषाणिता च स्यात् ॥ ९९ ॥ तर्हि अर्थापत्तिः सर्वज्ञाभावसाधिका, इति चेत्, न, अर्थापत्तिरपि सर्वज्ञाभावसाधिनी नास्ति, तेन विना सर्वज्ञाभावप्रतिबद्धः कोऽर्थः सम्भवी यस्तं सर्वज्ञाभावं प्रकल्पयेत् ॥ १०० ॥ आगमेनापि कर्तृकेनाकर्तृकेन वा सर्वज्ञो न बाध्यते, कर्तृहीनस्य तस्याप्याग [म] स्यात्यन्तमसंभवात् ॥ १०१ ॥ अकर्तृक एवागमः, कर्तुरस्मरणात्, इति चेत्, कर्तुरभावः कर्तुरस्मरणादिभ्यो न सिद्धयति, अज्ञातकर्तृकैर्वाक्यैर्व्यभिचारस्य संभवात्––घटनात् ॥ १०२ ॥ पौरुषेयेष्वसंभवी कश्चिद्विशेषो पौरुषेये नास्ति । यथा अतीन्द्रियार्थसंवादोऽपौरुषेये तथा पौरुषेयेऽपि दृश्यते ॥ १०३ ॥ ततो विवादापन्नं शास्त्रं सकर्तृकं दृष्टं, दृष्टकर्तृकतुल्यत्वात् । यद् दृष्टकर्तृकतुल्यं तत् सकर्तृकं, यथा अकलङ्कादिशास्त्रम् [॥ १०४ ॥] तस्मादकर्तृकं शास्त्रं सर्वज्ञबाधकं नास्ति, कृतकं च । तत् कृतकं द्विधा भिन्नं सर्वज्ञकर्तृकमसर्वज्ञकर्तृकं चेति [॥ १०५ ॥] तावद् असर्वज्ञप्रणीतमतीन्द्रिये प्रमाणं न । तु–पुनः । सर्वज्ञप्रणीतं तस्य प्रत्युत साधकमेव ॥ १०६ ॥ प्रस्तुतस्य प्रमाणपञ्चकाभावः प्रत्यक्षादिनिराकृतिः ॥ १०७ ॥ अक्षादिबुद्धिवत्––इन्द्रियज्ञानं यथा ॥ १०८ ॥ रत्नत्रयनिबन्धनः––रत्नत्रयं निबन्धनं कारणं यस्य सः ॥ १०९ ॥ चुम्बकैः–चुम्बकपाषाणैरिव । आचकर्ष निष्काषयति स्म ॥ ११० ॥ प्रपद्य अङ्गीकृत्य निश्चित्येत्यर्थः ॥ १११ ॥ आरेभे प्रारब्धा । परा उत्कृष्टा ॥ ११२ ॥ तृतीये पुष्करार्धनामनि । लताभवनैः वल्लीमण्डपैः ॥ ११३ ॥ सीतोदा नाम नदी तस्या उत्तरदिक्तटम् ॥ ११४ ॥ बृहद्दु० दीर्घोर्ध्वदण्डपक्षातपवारणशोभाम् ॥ ११५ ॥ अर्थवतीम् अर्थयुक्ताम् ॥ ११६ ॥ अकृष्टपच्यैः लाङ्गलाद्यप्रयासपच्यैर्धान्यैः पूर्णे । निरीतौ ईतिरहिते । 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः । स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः ।' निरवग्रहे अवृष्टिरहिते ॥ ११७ ॥ कुक्कुटसंपात्यैः कुक्कुटसंपाते वसन्तीति कुक्कुटसंपात्यास्तैः ॥ ११८ ॥ परलोकक्रियोद्यताः प्रेत्यभावक्रियोद्यमिनः ॥ ११९ ॥ अध्वन्याः पथिकाः ॥ १२० ॥ जिगीषतीव [जेतुमिच्छतीव] ॥ १२१ ॥ कृष्णानि मलिनानि । चरितानि आचरणानि ॥ १२२ ॥ निगमाः ग्रामाः ॥ १२३ ॥ मज्जत्सी० ब्रुडद्विलासिनीसमूहस्तनविगलत्काश्मीरैः । जलधियोषितः नद्यः ॥ १२४ ॥ त्रिविष्टपं त्रिदशालय इव ॥ १२५ ॥ रत्नोपलमरीचिभिः रत्नपाषाणकरैः । ज्योतिर्गणविभा नक्षत्रनिकरदीप्तिः ॥ १२६ ॥ मिमीते जानीते । शालसं० प्राकारान्तरितसूर्यमृगाङ्कोदयम् ॥ १२७ ॥ अकाण्डेऽपि अकालेऽपि ॥ १२८ ॥ वासराधिपतिः सूर्यः । तुङ्गप्रतोलीशिखरम् उच्चपुरद्वार[2]शिरः । ॥ १२९ ॥ तारतारा० मनोहरोडुसमूहैः ॥ १३० ॥ उत्तम्भितोडुभिः स्थगिततारकैः ॥ १३१ ॥ मानेन प्रमाणेनावलेपेन वा । महाभोगाः परिपूर्णतासहिताः, गरिष्ठभोगाश्च । मत्तवा० प्रग्रीवराजमानाः प्रभिन्नगजशोभिनश्च । बहुभूमियुताः बहुक्षणसहिताः प्रचुरभूमि [–भाज] श्च ॥ १३२ ॥ घनकिञ्जल्कः प्रचुरकेसरः । हिरण्यखचिता सुवर्णनिर्मिता ॥ १३३ ॥ पातालोपवनारेका पातालवनभ्रान्तिम् ॥ १३४ ॥ काशसंकाशा काशो[3] नाम तृणजातिः ॥ १३५ ॥ मुग्धस्त्रीणां बालाङ्गनानाम् [॥ १३६ ॥] मज्जत्पु० ब्रुडत्सुचरित्रा-

---

१. ब पि । २. ब 'द्वार' इति नास्ति । ३. ब 'काशो' इति नोपलभ्यते ।

संयतकचपतदुज्ज्वलमल्लिका । पञ्चभिः कुलकम् ॥ १३७ ॥ तीक्ष्णत्वं कर्कशत्वम् । मानसे चेतसि ॥ १३८ ॥ कचेषु केशेषु । विरसत्वं रसाभावः [॥ १३९ ॥] विरोधः वैरं, पक्षिरोधश्च ॥ १४० ॥ [प्राकार०] प्राकारखातिकाधूलिशालैः ॥ १४१ ॥ मानेन प्रस्थादिना, प्रमाणेन वा । प्रमिन्वते प्रमाणविषयीकुर्वते ॥ १४२ ॥ वापी दीर्घिका । वनम् उद्यानम् । आयतनं चैत्यम् । सौधः राजसदनम् । तडागः कासारः । गुरुणा बृहस्पतिना ॥ १४३ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।
श्रुतादि : स मुनिर्जीयाच्छन्दादिगुणभासिवाक् ॥

तत्र श्रीपुरे । आनन्दविषयीकृतस्वकीयसमस्तबन्धुपङ्कजः । न्यायगभस्तिसमूहनिराकृतदुर्नीतितिमिरः । मुकुलीकृतशत्रुवधूमुखचन्द्रश्रीः । भानुनिभः सूर्योपमः ॥१॥ विलङ्घ्यमानमूर्तिः अतिक्रम्यमाणतनुः । प्रभूष्णुः समर्थः ॥२॥ अनुरागकरैः आनन्दविधायकः । तन्मात्र० प्रकाशमात्रकार्यकरणसमर्थाय ॥३॥ संपूर्णः समग्रश्चासौ शारदनिशाकरश्च तेनेव कान्तं मनोहरं च तत् कीर्तिवल्लीवितानं च मण्डलं च संपूर्ण० तेन परिवेष्टितं विष्टपान्तं येन सः । व्यसनापनोदात् आपदपसारणात् ॥४॥ व्यस्यन्ति पातयन्तीति व्यसनानि, प्रशान्तानि सकलव्यसनानि यस्मात् स तस्मिन् । बुद्धिमाहात्म्यम् ॥५॥ अद्रिपतिना मेरुणा । हरिणा इन्द्रेण । वशिता जितेन्द्रियता । तुलितं प्रमितम् ॥ ६ ॥ पदातिवृषभाः भृत्यप्रधानाः, पदातयश्च वृषभा बलीवर्दाश्चेति वा । आक्रम्य तिरस्कृत्य ॥ ७ ॥ यत्र कुचित् यस्मिन्कस्मिंश्चित्पुरुषे । जातनिर्भररुषा उत्पन्नगाढकोपेन ॥ ८ ॥ वरवीरलक्ष्म्याः प्रधानशूरश्रियः ॥ ९ ॥ अजलोऽपि नदीनभावं समुद्रत्वम् । वसुमत्यां तिलको वृक्षविशेषोऽपि, अशोको वृक्षजातिः । कलाधरोऽपि चन्द्रोऽपि दोषाकरो न बभूव । विरोधोऽयं, तत्परिहारः—अपि निश्चयेन यतोऽजडः पण्डितोऽतएव दीनभावं न भेजे । यतश्च वसुमत्याः वसुधायास्तिलको ललामभूतोऽत एवाशोकः शोकरहितः । यतश्च कलाधरोऽतएव दोषाणामसौजन्यादीनामाकरो न बभूव ॥ १० ॥ अर्थसंचयनिमित्तं द्रव्यसंचयकारणम् । इतरः कामः । व्यपेक्षां परस्पराश्रयम् । विजहुः तत्यजुः ॥ ११ ॥ अभ्यर्थितः प्रार्थितः । आलयभूतम् आस्पदम् ॥ १२ ॥ मनाक् ईषत् धामाधिकः तेजोऽधिकः । तेन सूर्येण चन्द्रेण च ॥ १३ ॥ सरसिजाकरसंनिवासिनी कमलवनवासिनी चासौ श्रीश्च तद्वत् कान्तया मनोरमया । अव्यतिरिक्तया अभिन्नया ॥ १४ ॥ लावण्य० सौन्दर्यसंपदमलोदके । शरद्विश० शरन्निर्मलचन्द्रकरसितः । समुदितः चयं गतः ॥ १५ ॥ उच्चिरस्य परिज्ञाय । वव्रे[1] वृतवती ॥ १६ ॥ परीतवता वेष्टितवता ॥ १७ ॥ दोषायाः रात्रेः, दोषाणां दौर्जन्यादीनां च । तमसा अन्धकारेण पापेन च प्राभातिकी प्रभातसमयोद्भवा । अम्बुजबान्धवस्य सूर्यस्य । औ[2]षधिपतेः चन्द्रस्य । परिभूय तिरस्कृत्य ॥ १८ ॥ प्रणयकोप० स्नेहकषायविहितावकाशानि ॥ १९ ॥ अखिलावसरं निखिलकृत्यम् । उदश्रुणी नयने यस्याः सा स्रवद्रोदकनेत्रा ॥ २० ॥ विभक्तुं विभागेनोभयत्र विधातुम् । त्वरमाणवृत्तिः 'कथय कथय[3]' इति शीघ्रवर्तनः । शोकसमुद्भवस्य शोकोत्पत्तेः ॥ २१ ॥ दुर्वारवीर्याः दुर्निवारपराक्रमाः । प्रसृतः विस्तृतः । सोढुमशक्यतेजसि ॥ २२ ॥ अप्रभूष्णोः असमर्थात् । प्रणयस्य स्नेहस्य ॥ २३ ॥ त्वदधीनवृत्तौ त्वदायत्तजीवने । त्वत्प्रेमनिघ्नमनसि तव स्नेहपरचेत[4]सि । शाठ्यं शठत्वम् ॥ २४ ॥ छन्दो (न्दा) नुवर्तिषु छन्दःकारिषु (?) । निशां० अन्तःपुरस्त्रीलोकेषु । अशक्नुवत्सु असमर्थेषु ॥ २५ ॥ आपरि० असंतोषकारणेषु ॥ २६॥ ह्रीवशान् लज्जावशात् । परेङ्गितज्ञा परचेष्टामवबुद्ध्यन्ती

१. ब वव्रेव । २. ब ओग[3] । ३. ब ज 'कथय २' । ४. ज[°] परवशचे[°] ।

॥ २७ ॥ नियतिः विधिः ॥ २८ ॥ अनुभावः प्रभावः। अध्यरुक्षत् आरुरोह। आकृष० धनिकुमारात् डिम्भान् ॥ २९॥ विषण्ण[1]० म्लानमुखकमला। कुक्षिः जन्म वा ॥ ३० ॥ मद्विधाः मया सदृशाः। पुष्पम् आर्तवं पुष्पम् ॥ ३१ ॥ स्वयानधर्मिणि गर्भाधानवति। कार० निष्कारणकम्। व्यप० संज्ञाभिलाषी ॥ ३२ ॥ चन्द्रोज्झतां मृगाङ्करहिताम् ॥ ३३ ॥ उज्झितां रहिताम् ॥ ३४ ॥ न्यपप्तत् पतितवती ॥ ३५ ॥ निशम्य आकर्ण्य ॥ ३६ ॥ शुचः शोकस्य ॥ ३७ ॥ कर्म चित्तं कर्तव्यं दैवमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ अलस० मन्दगामिनि। एकान्ततः सर्वथा इति भावमंस्थाः न जानीहि ॥ ३९ ॥ नानाबुद्धयादिलब्धिसहिताः ॥ ४० ॥ प्रतिविधातुं प्रतिकर्तुम्। कम्रैः मनोहरैः। करदीकृताशः अकरदाः करदीकृता आशा येन सः ॥ ४१ ॥ अभ्ययासीत् निर्जगाम ॥ ४२ ॥ नटन्मयूरे। कोमलकूजत्कोकिले ॥ ४३ ॥ तारापथात् अम्बरात् ॥ ४४ ॥ रोमहर्षचर्चितशरीरः। ननाम अनंसीत् ॥ ४५ ॥ निजस्मितेन ईषद्धास्येन ॥ ४६ ॥ संकुचत्कमलप्रतिमो। रश्मिवि० दीप्तिमण्डलेन ॥ ४७ ॥ रजसः पापस्य ॥ ४८ ॥ उन्मूलयति मूलत उत्खनति। उदीरयते उत्पादयति। अतिशयेनाल्पमल्पीयः [तस्य] ॥ ४९ ॥ प्रसीद प्रसादं कुरु। परिजानतः अवबुध्यतः। विरतिं वैराग्यम् ॥ ५० ॥ चेतोगतां चेतसि स्थिताम्। अवबुद्धमानः परिजानन्। सूनुवाञ्छा पुत्राभिलाषः ॥ ५१ ॥ सा सूनुवाञ्छा। अरिकुलोन्मथनायैकोऽसहायो वीरः। विघ्नं० अन्तरायकारणम् ॥ ५२ ॥ अग्रमहिषी पट्टदेवी। पुटभेदने पत्तने। अभिनन्दिताः समन्ताद्वृद्धिं नीताः सर्वबन्धवो येन सः ॥ ५३ ॥ भ्रष्टकायकान्तिम्। ईदृग् गर्भपीडिततनुः ॥ ५४ ॥ प्रतिपद्य प्रतीक्ष्य। उद्धृतपुण्यान् ॥ ५५ ॥ अनपत्यम् अपुत्रम्। तस्य निदानस्य ॥ ५६ ॥ पृथुधाम्नि विपुलमहसि। अशेषितो निरस्तः कर्मबन्धो येन सः ॥ ५७ ॥ आनन्द्य आह्लाद्य। इष्ट० अभिलषितप्ररूपणेन। धाम स्थानम् ॥ ५८ ॥ पुरा पूर्वमुपचितैः पुष्टिं नीतैः पुण्यैर्निबद्धं नियन्त्रितम्। आकलय्य विचार्य। निबबन्ध चकार। नियतं निश्चितम्। अङ्गं प्रधानं कारणम् ॥ ५९ ॥ प्रक्षोभिताः संभ्रमिता अखिलाः समस्ताः सुरासुरनागलोका येन तत्। समाससाद आजगाम ॥ ६० ॥ समीहितनिमित्तं पुत्रोत्पत्त्यभिलाषकारणम्। जिनबिम्बस्नानस्याधः स्नानं चक्रे ॥ ६१ ॥ प्रह्लादनम् आनन्दम् ॥ ६२ ॥ आपाण्डुरम् ईषच्छुभ्रम् ॥ ६३ ॥ प्रसृतपाण्डिम प्रसृता (ताः) पाण्डिमा यत्र। षट्चरणः भ्रमरः। अनुचकार अनुसरतिस्म ॥ ६४ ॥ सर्प० कुचद्वययोः (स्य) या विपाण्डुरता शुभ्रत्वं तस्य गुणः, सर्पन् प्रसरंश्चासौ विपां० गुणश्च तेन ॥ ६५ ॥ अन्तः समीपम् ॥ ६६ ॥ नीलोत्पलानि कुवलयानि। प्रथमं विजितानि, इदानीं पुण्डरीकैः सिताम्भोजैः, सार्द्धं अभ्ययुपे ॥ ६७ ॥ शिरीष० शिरीषपुष्पकोमलगात्रायाः ॥ ६८ ॥ भावितीर्थकरम् आगामितीर्थनाथम् ॥ ६९ ॥ अभीषुभृति सूर्ये ॥ ७० ॥ मुखरं वाचालम्। नरनाथगृहम् ॥ ७१ ॥ निरित्य निर्गत्य। जन्मवतां प्राणिनाम्। प्रघोषः प्रणादः ॥ ७२ ॥ निवेदयद्भ्यः सूचकेभ्यः। अजीगणत् गणयामास ॥ ७३ ॥ रभसेन वेगेन। अन्तः मध्यम्। हृदयं मनः ॥ ७४ ॥ शुभे दिवसे सुवर्णनिर्वृत्तैः पुष्पैः सर्वज्ञं पूजयित्वा वंशवृद्धैः सह मङ्गलनिमित्तं 'श्रीवर्मा' इति नाम चक्रे ॥ ७५ ॥ परान् शत्रून्। अमिताम् अमर्यादाम्। ननन्द ववर्द्ध ॥ ७६ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छन्दादिगुणभासिवाक् ॥

पद्माकरवत् कमलवनवत्। श्लेषोपमा ॥१॥ कलाभिः चतुष्षष्टिभिः, षोडश [भागैः] श्च ॥२॥ उपास्य संसेव्य। विद्याः चतुर्दश, उपविद्याः तदन्याः। प्रचण्ड इन्दुमि(रि)ति पाठान्तरम् ॥३॥ वयसा वेषेण। आक-

---

[1] ब विशिन्न ज विषिन्न०। २. ब अमुमी ज असुयां।

रोत्थः खनिजः ॥४॥ अवाप्तुं प्राप्तुम् । सदाभियुक्तैः अभियुज्यन्ते इत्यभियुक्ताः तैः सेवापरैः । उप० उपजीवनविषयीकृतः ॥५॥ इयेष इच्छति स्म ॥६॥ वदान्यतां दानशौण्डताम् । तद्वद्भिः वदान्यतायुक्तैः । परतः अन्यतः ॥७॥ शूरतरः अतिशयेन शूरः । महीयः गरीयः । द्विपारेः सिंहस्य ॥८॥ स्पर्द्धति ईर्ष्याविशेषात् ॥९॥ प्रपूरयन् पोषयन् ॥१०॥ खलस्वभावाः दुर्जनाः ॥११॥ अभिभव० तिरष्करणचतुरम् ॥१२॥ आयतनम् आस्पदम् । उत्सेकं गर्वम् ॥१३॥ षण्णां वर्गः षड्वर्गः स चासौ रिपुश्च षड्व० निरस्तः षड्वर्गरिपुर्येन सः । 'कामः क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा मदः । अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः क्षितीशानां भवत्ययम्' ॥१४॥ निदेशात् अनुग्रहात् (आज्ञातः) । उपयेमे परिणीतवान् ॥१५॥ नियोज्य निवेश्य । धुर्यं धौरेयम् ॥१६॥ वाञ्छयैव कृतं संनिधानं यैः ॥१७॥ अम्बरतः आकाशात् । विषयेषु भोग्येषु । १८॥ अशाश्वतं विनश्वरम् । पुत्रकलत्रैर्मोहितः ॥१९॥ नगापगाः प्रसिद्धाः ॥२०॥ क्षणक्षयिणि क्षणिके । स्थिराभिमानं निश्चलमतिम् ॥२१॥ समागमाः संयोगाः पुत्रमित्रकलत्रादयः । ऋच्छति गच्छति ॥२२॥ कृते निमित्तम् ॥२३॥ अव्यपायाम् अविनश्वराम् । वृणुते स्वीकुर्वन्ति । अपः पानीयानि ॥२४॥ अणुप्रमाणस्य परमाणुमितस्य । गिरीन्द्रोपमं मेरुप्रमितम् ॥२५॥ तालया कृतं तालीयं, काकस्य तालीयं का० (काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालं, काकतालमिव काकतालीयम्—काकतालसमागमसन्निभमिति यावत्) । क्लेश० कर्मणां विनाशात् ॥२६॥ फल्गुभावम् असारताम् । अपगतरागः ॥२७॥ मन्दीभवंश्चासौ प्रेम्णः स्नेहस्य रसश्च । युवराजानम् (युवराजम्) ॥२८॥ वात्या वातमण्डली । उपेत्य आगत्य । विहन्तुं त्यक्तुम् ॥२९॥ निजप्र० स्वस्य उद्यमताम् । अवसानं प्रान्तम् ॥३०॥ वयोऽनु० वयसा सह । प्रस्ख० गद्गदा भवितुम् ॥३१॥ दुःखदावपीडितम् । परिपन्थिना प्रतिकूलेन ॥३२॥ पुरैव पूर्वमेव । अपेतम् उज्झितम् । अवतिष्ठे स्थितोऽहम् ॥३३॥ अपास्तव्यसनः परित्यक्तद्यूतादिः । अपहस्तितः क्षिप्तो निराकृतोऽरिवर्गाणामुदयो येन सः ॥३४॥ अभ्युदिते उदयं प्राप्ते । चाराः गूढपुरुषाः चक्षुर्यस्य सः । 'गन्धेन गावः पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदचक्षुषा । चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः' ॥३५॥ मोद्वीविजः उद्वेगविषयं मा कृथाः । आत्मनीनम् आत्महितम् । निबन्धनं कारणम् ॥३६॥ निर्व्यसनस्य अनुपद्रुतस्य । गरीयः गरिष्ठम् । व्यसनम् उपद्रवः—आपत्[1] ॥३७॥ विधित्सुः कर्तुमिच्छुः । एनं परिवारम् । कृतज्ञतायाः कृतकृत्यतायाः (?) । उद्वेजयते उद्वेगविषयं कुरुते ॥३८॥ दोषाः दौर्जन्यादयः । लोकद्वयम् इहपरलोकम् ॥३९॥ वृद्धानुमत्या मन्त्रिवचनेन । वि० निरालस्यः । विनीयमानः अनुनीयमानः । गुरुणा वृद्धेन ॥४०॥ निगृह्णतः बाधयतः । बन्दिनः स्तुतिपाठकाः ॥४१॥ संवृतमनाः । फला० निष्पत्तिनिश्चेयानि । निजस्येहितानि वाञ्छितकार्याणि ॥४२॥ आशाः वाञ्छितानि दिशश्च । भूभृतः राजानः पर्वताश्च । कराणां भागधेयानां, किरणानां च । निर्विबन्धः प्रतिकूलतारहितः ॥४३॥ विश्राणयामास ददौ । प्रतीयेष जग्राह ॥ ४४ ॥ श्रीप्रभो नाम मुनिस्तस्य पादमूले । समासदत् प्राप ॥ ४५ ॥ विनिर्ययौ निर्जगाम ॥ ४६ ॥ मौलम् अङ्गरक्षकृतम् आटविकं भिल्लशबरादिजनितम् । सामन्तबलं क्षत्रियसैन्यम् ॥ ४७ ॥ खरकेशधूसरम् । परं केवलम् । दिशाम् आशानाम् ॥ ४८ ॥ अप्रतिकूलः अनुकूलः । व्याधूननं प्रकम्पनम् । अन्तर्दधे तिरोहितः ॥ ४९ ॥ प्रयाण० विजयसमयः । मातङ्ग (ङ्गाः) हस्तिनः । प्रतानः धूलिप्रसरः ॥ ५० ॥ मूर्च्छन् व्याप्नुवन् । विवरेषु रन्ध्रेषु ॥ ५१ ॥ प्रत्युद्ययै प्रतिगृहीतः ॥ ५२ ॥ निशम्य श्रुत्वा । प्रस्थानं विजयप्रयाणम् । महाव्याकुल० व्यग्रचित्तानाम् । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ॥ ५३ ॥ अनपेक्ष्य अवगणय्य ॥ ५४ ॥ भयविह्व० साध्वसविह्वलाङ्गाः । शरण्यं शरणार्हम् । अपोह्य परित्यज्य ॥ ५५ ॥ शौर्येण शूरत्वेन शौण्डैरुद्धतैः । अभ्येत्य आगत्य । पतङ्गानां पक्षिणां वृत्तिम् ॥ ५६ ॥ पत्रं वाहनम् । अशेषाणि समस्तानि रत्नानि । उपायनीकृत्य प्राभृतीकृत्य । हिमर्तुवृक्षाः यथा प्रालेयोपद्रुताः शातिताङ्गाः पत्रादिरहिता भवन्ति ॥ ५७ ॥ गृहीत० स्वीकृतद्रव्यविशेषान् कृत्वा । न्ययुङ्क्त अस्थापयत् ॥ ५८ ॥ उपेयुषः समागतान् । अन्वग्रहीत् पितृपदेषु अनुजग्राह । तनूजान् पुत्रान् ॥ ५९ ॥ गता० क्रोध (गर्व) रहितैः । दत्तमभयं येभ्यस्ते दत्ताभयास्तैः । कटकं सैन्यम् । यया समुद्रं जेतुमिच्छया ॥ ६० ॥ गण्डस्थलामोदः कटोद्भेदपरिमलः ।

---

१. ब अश ।

विक्लेदितम् आर्द्रितम् । उपायनेभैः प्राभृतगजैः ॥ ६१ ॥ शावैः बालैः । पार्वतीयाः पर्वतवासिनः ॥ ६२ ॥ उपदीकृत्य उपायनीकृत्य ॥ ६३ ॥ अङ्गारिणीः अङ्गारयुक्ताः शत्रूणां चिताभिः चितिभिः । प्रधूमिता धूसरा । यां च चकांक्ष अभिलाषमकरोत् । 'यस्यां दिशि सूर्यः सा शान्ता, अन्ये ज्वलितप्रधूमिते' इति ॥ ६४ ॥ विकिरन् प्रसारयन् । करं भागधेयम् ॥ ६५ ॥ प्रतिकूलिता द्विष्टा आज्ञा येन सः ॥ ६६ ॥ समानां मानसहिताम् । अम्भोनि० समुद्रजलपरिधाना ॥ ६७ ॥ भूतधात्रीं वसुन्धराम् । धात्रीं दधानाम् । आससाद प्राप ॥ ६८ ॥ प्रत्यागतं समाय[2] । श्लेषः ॥ ६९ ॥ गोपुरस्य पुरद्वारस्य ॥ ७० ॥ क्ष्मारुहाः विटपिनः । विरोधीन् कन्धरविशेषान् ॥ ७१ ॥ कलं मनोहरम् । निषेदुषी निवसन्ती । हंसावलिः हंसपङ्क्तिः ॥ ७२ ॥ विनिर्यत् निःसरत् । पाठीनकुलं मत्स्ययूथम् ॥ ७३ ॥ गवाक्षः वातायनम् । संभूय एकीभूय । श्लथ० अधोवस्त्रबन्धनदवरकम् ॥ ७४ ॥ पञ्चबाणः कामः ॥ ७५ ॥ शशिसम० चन्द्रसमदीप्त्या । विलासैः शृङ्गारभेदैः । निकृतशत्रुः खण्डितारिः ॥ ७६ ॥ निर्वेदं वैराग्यम् ॥ ७७ ॥ प्रवज्य दीक्षित्वा । परमोदयः महर्द्धिकः ॥ ७८ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।
स श्रुतादि[3]मुनिर्जीयाच्छ्रुतादिगुणभासिवाक् ॥

धातकीखण्डभुवम् ॥ १ ॥ भरतप्रमुखक्षितीश्वराः भरतेश्वरादयः । कविवेधसां कविचक्रिणाम् ॥ २ ॥ तरुणीः कमनीयकामिनीः । स्थल० स्थलकमलिनीः । हृदयंगमा रुच्याः ॥ ३ ॥ यदीयनिगमान्तगताः यद्ग्रामप्रान्तस्थिताः ॥ ४ ॥ अस्पृश्यमध्याः ॥ ५ ॥ शकुन्ताः पक्षिणः ॥ ६ ॥ समयोचित (तं) यथाभिलिखितं (-भिलषितम्) । सकलर्तुषु षड्ऋतुषु ॥ ७ ॥ सुपयोधराः स्वच्छजलधराः, पक्षे शोभनस्तनधारिण्यः ॥ ८ ॥ नवं वयः तारुणत्वम् । अपमृत्युहतः दुर्मृत्युबाधितः ॥ ९ ॥ निरवग्रहैः निरुपद्रवैः, अवृष्टिरहितैरित्यर्थः । सुरकुरुः भोगभूमिः ॥ १० ॥ तरुराजयः वृक्षपङ्क्तयः ॥ ११ ॥ तत्र विषये तस्मिन् देशे । प्रचुर० पुण्यैरुपलक्षिता जनाः पुण्यजनाः, प्रचुराश्च ते पुण्यजनाश्च प्रचुरपुण्यजनाः तैः—बहुलपुण्यम (व) द्भिः, पक्षे प्रचुरश्रीदैः ॥ १२ ॥ अतनुधारं मुसलप्रपातम् ॥ १३ ॥ निर्वृतये विध्यापनाय ॥ १४ ॥ विविधासु नानाप्रकारासु ॥१५॥ जिगमिषुं गन्तुमिच्छुम् ॥ १६ ॥ विच्छुरितः कर्बुरितः ॥ १७ ॥ परिघेः प्राकारस्य ॥ १८ ॥ मानसे सरोभेदे । शिशिक्षिषया शिक्षितुमिच्छया ॥ १९ ॥ प्रतोलीशिखरं पुरद्वारशृङ्गम् । संवलितः कर्बुरितः ॥ २० ॥ भिदा भेदः ॥ २१ ॥ त्रिदशा० स्वर्गतिरस्कारिणि ॥ २२ ॥ शक्तीनां प्रभावादीनामुपचयेन समूहेनानुगतः सहितः । जगति जयो जगज्जयो नयविक्रमाभ्यामर्जितो जगज्जयो येन सः ॥ २३ ॥ बिसतन्तुः मृणालसूत्रम् । उडुपतिना चन्द्रेण ॥ २४ ॥ अवजेतुम् अवगणयितुम् । पृथु प्रचुरम् ॥ २५ ॥ गुरुतां महत्त्वम् ॥ २६ ॥ भुव० जगदतिक्रान्तेन ॥ २७ ॥ येन राज्ञा । दहनेन भस्मीकरणेन । कमनीयतया मनोहरतया ॥ २८ ॥ गृणातीति गुरुः । ईष्टे इतीश्वरः । नरकं दुर्गतिं, दैत्यभेदं च । धनं ददातीति धनदः, कुबेरश्च । कमलाया आलयः, ब्रह्मा च । शिशिराः शीतला गावो वाण्यो यस्य सः, चन्द्रश्च । बुध्यते इति बुधो धीमान्, रौहिणेयश्च । सुष्ठु गतं ज्ञानं यस्य सः, बुद्धश्च । सकलैर्देवैर्मयो निर्वृत्तः सकलदेवमयः ॥ २९ ॥ विववृधे वृद्धिं गता ॥ ३० ॥ बाष्पजलैः अश्रुतोयैः ॥ ३१ ॥ निजविक्रमेणाहितः स्वीकृतो रणैकरसो येन सः । प्रधने संग्रामे ॥ ३२ ॥ तिरस्कृतसूर्यतेजसि ॥ ३३ ॥ सह० स्वाभाविकसरलतया, पक्षे भद्रजातितया । वंशः अन्वयः पृष्ठं च । दिक्षु करी यस्य स दिक्करी तस्य, दिक्कुञ्जरस्य च । मदः अवलेपः ॥ ३४ ॥ परिघा० अर्गलाकारे । भुग्नं निम्नं शेषशिरःसमूहम् [॥ ३५ ॥] योगं सहायम् ॥ ३६ ॥ समितेः समूहस्य । अजन्यत

१. ब °गतां ज °गता । २. ब ज °यातां । ३. ब °तादिः ।

उत्पादिता ॥ ३७ ॥ अवयवैः करचरणादिन्यासैः । अभारि अधारि ॥ ३८ ॥ इतवति गतवति । सचन्द्रत्वम् ॥ ३९ ॥ तनुभूः पुत्रः ॥ ४० ॥ उपचिकाय उपचयं नीतवान् ॥ ४१ ॥ अवयवे बुबुधे । विफलः निःप्रयोजनम् ॥ ४२ ॥ वार्तं फल्गु ॥ ४३ ॥ अलं० भूषयांचकार ॥ ४४ ॥ लघयन्तं लघूकुर्वन्तम् ॥ ४५ ॥ पिदधाति तिरोदधाति—आच्छादयति । गत्रादेरलोपः[1] । 'अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च ।' इत्यमरः ॥ ४६ ॥ इतं गतम् । सकलतेजस्विनाम् ॥ ४७ ॥ परम् अन्यत् । अलंकरणं भूषणम् ॥ ४८ ॥ न्यवीविशत् स्थापयामास ॥ ४९ ॥ अधरि० न्यक्कृतदेवताधीशस्थानम् ॥ ५० ॥ नयनाभिरामं नेत्रयोः सुन्दरम् । दृशोविषयं दृष्टिगोचरम् ॥ ५१ ॥ उपायनेनोपग्राह्येना (णा) नुगता अन्वायाता ये मण्डलिनस्तेषाम् । आस्त तस्थौ ॥ ५२ ॥ परिमोह्य विमोहं प्राप्य । जहार हृतवान् ॥ ५३ ॥ सुतशून्यं पुत्ररहितम् ॥ ५४ ॥ इन्द्रजालं हरिचन्द्रपुरम् (मायाम्) ॥ ५५ ॥ असुसदृशः प्राणसमानः ॥ ५६ ॥ मुक्तः करुणया आर्तरवो यत्र कर्मणि तद् यथा भवति ॥ ५७ ॥ अनलम् असमर्थः ॥ ५८ ॥ अभिहितम् उक्तम् ॥ ५९ ॥ अनिबन्धनं निष्कारणम् । अकुशलम् अकल्याणम् । उपेक्षसे अवगणयसि ॥ ६० ॥ सहजविनयता ॥ ६१ ॥ क्षतं बाधितम् ॥ ६२ ॥ तिमिरावृताः अन्धकारवेष्टिताः ॥ ६३ ॥ अनुत्सवताम् अकल्याणताम् ॥ ६४ ॥ व्यपहस्तितं मुष्टम् ॥ ६५ ॥ तुहिन० चन्द्रसुभगम् ॥ ६६ ॥ विषयत्वं गोचरत्वम् ॥ ६७ ॥ दयित प्रियपुत्र ॥ ६८ ॥ दुर्व्यसनम् आपत् ॥ ६९ ॥ धुनीपयसः नदीजलस्य ॥ ७० ॥ आधिं मानसव्यथाम् । अन्तरयितुं प्रच्छादितुम् ॥ ७१ ॥ व्यलोकयत् लुलोके ॥ ७२ ॥ उद्ग्रीवम् ऊर्ध्वमुखम् ॥ ७३ ॥ जवेन वेगेन । जज्ञे अजनिष्ट ॥ ७४ ॥ कृशत्वं क्षीणताम् ॥ ७५ ॥ उत्तरीयम् ऊर्ध्ववस्त्रम् ॥ ७६ ॥ उपहिताम् अग्रतः समानीताम् । सः मुनिः ॥ ७७ ॥ अभू० पूर्वं कदाचिदपि न भूतो यः ॥ ७८ ॥ खेचरत्वात् गगनगामित्वात् ॥ ७९ ॥ सप्रश्रयां सविनयाम्[2] ॥ ८० ॥ अभ्युपेतः समागतः । मदनुग्रहार्थी ममोपकाराभिलाषुकः । अभूमिः अगोचरः ॥ ८१ ॥ कल्या० श्रेयस्करी ॥ ८२ ॥ समुच्छ्वासि उद्गतम् ॥ ८३ ॥ श्रुति० श्रोत्रसुखजनकम् ॥ ८४ ॥ प्रियविप्रयुक्तम् इष्टवियोगिनम् ॥ ८५ ॥ शतक्रतोः इन्द्रस्य ॥ ८६ ॥ साधारणौ समवृत्त्या वर्तमानौ ॥ विगणय्य विचार्य ॥ ८७ ॥ अर्हसि न योग्यो भवसि, अदृष्टोपजनितासु ॥ ८८ ॥ अकुशलम् अकल्याणम् । संयोजयसे संयोगं गमिष्यसि ॥ ८९ ॥ निश्चितार्थां निःसंदिग्धाम् ॥ ९० ॥ उग्रतेजसः । विश्वस्तमना (नसा) निश्चित-चेतसा ॥ ९१ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छुद्धादिगुणभासिवाक् ॥

निपपात पतति स्म । उच्छलद्ग्राहसमूहे ॥ १ ॥ अपविद्धेषु अपध्वस्तेषु ॥ २ ॥ पार्ष्णिः गुल्फयोरधोवर्तमानः ॥ ३ ॥ कर्बुरयन् चित्रयन् ॥ ४ ॥ पादाः रश्मयश्चरणा वा ॥ ५ ॥ मृगराजः सिंहः ॥ ६ ॥ प्रियकाः चमूरवः ॥ ७ ॥ शबराः भिल्लाः । पुण्डरीकः व्याघ्रः । हिंसिताः मारिताः । सामजाः हस्तिनः ॥ ८ ॥ प्रचुरप्रान्त० अमर्यादावसानवल्ली, अथवा प्रचुराणि प्रान्तानि पुष्पाणि यासु ताश्च ता लताश्च । क्रमं पदम् ॥ ९ ॥ अजोढ० निवारितशीताः । शयुः अजगरः । प्लवगाः वानराः ॥ १० ॥ विनिचाय्य निरीक्ष्य । प्रतस्थे प्रचलितः ॥ ११ ॥ वंशः अन्ववायः, पृष्ठं च[3] । सत्त्वं पराक्रमः । सत्त्वाश्च प्राणिनः ॥ १२ ॥ खड्गिनः अनुचराः पादचारिणः, गण्डकाश्च । वनपर्यन्तस्य बुभुत्सा ज्ञातुमिच्छा तया ॥ १३ ॥ वर्षाकालोद्भवजल-दश्यामः ॥ १४ ॥ प्रतिशब्दितसकलभूधरविवरः । त्वरया वेगेन । अविषह्यैः सोढुमशक्यैः ॥ १५ ॥

---

१. ब °देर्लो° । २. ज° नयम् । ३. ज °ष्ठश्च ।

आक्रान्तुं व्याप्तुम् । अनन्यसेव्याम् ॥ १६ ॥ अनवाप्य प्राप्य(?) । शक्तः समर्थः ॥ १७ ॥ धरणीध्रे भूधरे ॥ १८ ॥ विप्रलब्धः वञ्चितः । अस० अविचारितम् ॥ १९ ॥ निशम्य आकर्ण्य । मर्मच्छेदिनीम् ॥ २० ॥ भवद्विधे त्वत्सदृशे ॥ २१ ॥ अलं पूर्यताम् । संमितं स्तोकम् ॥ २२ ॥ तरसा वेगेन ॥ २३ ॥ निभृताभिः मिलिताभिः । तरु० वृक्षसमूहमध्येन, वा वृक्षजालान्तरेण (वृक्षजालान्तरेण वा) । वनदेवताभिः अरण्यदेवताभिः वा[1] जलदेवताभिः ॥ २४ ॥ करणैः गात्रविशेषैः । क्रमेण जातो जयो यत्र तत् ॥ २५ ॥ समु० आन्दोल्य ॥ २६ ॥ अभिदधे जगौ ॥ २७ ॥ कृत० कपटसंग्रामेण ॥ २८ ॥ कृतिनः पुण्यम(व)तः ॥ २९ ॥ परनिघ्नं पराधीनम् ॥ ३० ॥ उद्यमेन शोभमानस्य ॥ ३१ ॥ निवेदयामि निरूपयामि । वृत्तं चरित्रम् ॥ ३२ ॥ उपेत्य आगत्य ॥ ३३ ॥ निपातितः मारितः । प्रचुरयोनौ ॥ ३४ ॥ लेशात् लवात् ॥ ३५ ॥ मिष्टाक्षरमनोहराम् ॥ ३६ ॥ उत्तीर्णम् उल्लङ्घितम् ॥ ३७ ॥ पला० नश्यन्तम् ॥ ३८ ॥ उपसृत्य उपगम्य ॥ ३९ ॥ निर्वि० विरक्तचेताः । उदन्तं वृत्तान्तम् ॥ ४० ॥ धनधान्याभ्यामाढ्या धनिनश्च ते जनाश्च । साड्वलाः (शाद्वलाः) हरिता ॥ ४१ ॥ उच्चराजगृहशिखरैः ॥ ४२ ॥ यस्यातीव्रो विपक्षश्चासौ करो भागधेयश्च ॥ ४३ ॥ पूरितेच्छा । यथा दिननायविभा पूरितदिशा । वितीर्णं कामस्य सुखं यथा सा । यथा रतिः कामाय सुखं वितरति ॥ ४४ ॥ ललाम(मं) तिलकम् ॥ ४५ ॥ अचिरायुषे आसन्नमृत्यवे ॥ ४६ ॥ निहत्य विजित्य ॥ ४७ ॥ प्रतस्थे प्रययौ ॥ ४८ ॥ परीतं वेष्टितम् ॥ ४९ ॥ असंस्तुतत्वात् अनिवेदितत्वात् । हस्तिसंकीर्णमार्गम् ॥ ५० ॥ नृपाज्ञाम् । अति० उल्लङ्घ्य । परिगच्छसि ॥ ५१ ॥ प्रवृद्धमत्सरः ॥ ५२ ॥ मतङ्गजाः हस्तिनः ॥ ५३ ॥ गरुत्मा गरुडः । मनिण् प्रत्ययः[2] ॥ ५४ ॥ अहि० सूर्यात् ॥ ५५ ॥ शत्रुवनदवाग्निम् । विहितक्षौमश्रीकम् ॥ ५६ ॥ राजगृहम् । भावान् विकारान् ॥ ५७ ॥ बुबुधे ज्ञाता ॥ ५८ ॥ विहितसत्कारः ॥ ५९ ॥ निजगाद बभाण । परेङ्गि० अन्यचेष्टितज्ञा ॥ ६० ॥ अनास्थां निर्ममत्वम् ॥ ६१ ॥ क्षीणकपोला समाहूते समानीते ॥ ६२ ॥ आन्तरङ्गः मध्यस्थितः ॥ ६३ ॥ उदस्यते उद्भ्रस्यते ॥ ६४ ॥ विषम् अमृतपर्यायेण कालकूटम् ॥ ६५ ॥ तस्याः शरीरम् ॥ ६६ ॥ प्लुष्यति[3] मर्दयति ॥ ६७ ॥ असा० अनन्यरूपम् । अन्यथा तदभावे ॥ ६८ ॥ प्रवि० कर्तव्यम् । हरिणस्यायते चक्षुषी इव चक्षुषी यस्याः सा । कामस्य ॥ ६९ ॥ उद्यत्पुलकः उद्यद्रोमाञ्चः ॥ ७० ॥ आदरपरस्वरूपः ॥ ७१ ॥ ख्यातमहाः । अवतस्थे स्थितः ॥ ७२ ॥ उत्तम्भितः स्थगितः ॥ ७३ ॥ निर्मलकञ्चुकः । आकाशसर्पस्य ॥ ७४ ॥ रजत० रौप्यनिर्मलतया । निर्मले किल प्रतिबिम्बं भवति ॥ ७५ ॥ खेचरराज्ञः (खेचरराजान्), पक्षे पर्वतान् । विप० विगतसहायान्, पक्षे पक्षरहितान् ॥७६॥ क्षुल्लकं वर्णिनम् ॥ ७७ ॥ प्रति० सपर्याभिः । अग्र० प्रतिजग्राह ॥ ७८ ॥ तेन क्षुल्लकेन ॥ ७९ ॥ कामम् अतिशयेन ॥ ८० ॥ प्रियम् इष्टं कर्तुम् । सुधर्माचार्यात् ॥ ८१ ॥ जनान्ते देशे ॥ ८२ ॥ अविभ्रमसहिता ॥ ८३ ॥ धन्यः श्रेष्ठः ॥ ८४ ॥ विषसाद विषादं कृतवान् । साध्वसं भयम् ॥ ८५ ॥ मदीयचिन्तया । निःप्रमादमनाः ॥ ८६ ॥ देश० क्षुल्लकम् । कृत्यं करणीयम् । प्रच्छन्नमन्त्रः ॥ ८७ ॥ रुरोध रुणद्धिस्म ॥ ८८ ॥ प्रजिघाय प्राहिणोत् । अभि० अभिप्रायम् ॥ ८९ ॥ सार्थसंज्ञ ॥ ९० ॥ प्रवितीर्णा दत्ता ॥ ९१ ॥ गुर्वी गरिष्ठा ॥ ९२ ॥ अभिजातिः निश्चितजातिः (कुलम्) ॥ ९३ ॥ नोढा न परिणीता ॥ ९४ ॥ अभ्यधात् अवदत् । कोविदः पण्डितः ॥ ९५ ॥ अभ्येतु अभिगच्छतु ॥ ९६ ॥ अजितसेनाय वराय कुमाराय ॥ ९७ ॥ दुष्टविद्याधरम् ॥ ९८ ॥ रोपितं स्थापितं दिव्यानां देवोपनीतानां शस्त्राणां जालं समूहो यत्र ॥ ९९ ॥ सुरो हिरण्यः सारथिर्यस्य । सेनासन्मुखम् ॥ १०० ॥ खरांशुवत् सूर्यवत् । विकलीकृताः । संभूय एकीभूय ॥ १०१ ॥ क्षतात् त्रातीति क्षत्रं, न क्षत्रमेतेष्वस्तीति बुद्धचा । एकस्योपरि बहूनामागमने क्षात्रवृत्तिर्नास्तीति । पृषत्कैः बाणैः ॥ १०२ ॥ असाध्यम् अवश्यम् । तमोबाणम् ॥ १०३ ॥ सुरेण दत्तं सुर० सुरदत्तं च तद्विसर्जितं च ॥ १०४ ॥ विघ्नविना० बाणविशेषेण ॥ १०५ ॥ हतहेतिः[4] क्षत[5]गुणः । उद्यम्य उद्धाट्य ॥ १०६ ॥ न हतोद्धृते । उड्डीय नगं विजयार्द्धं गते ॥ १०७ ॥ महाशयः ।

---

१. ज वा कान्तरेण जल° । २. ज मनि णू स्थः । ३. ब पुष्य° । ४. ब 'हतहेतिः' इति नास्ति । ५. ब कृत° ।

गुरुणा पुरोधसा, वा गरिष्ठेन (गरिष्ठेन वा) ॥ १०८ ॥ उषित्वा वसित्वा । श्वसुरानुज्ञां गृहीत्वा ॥ १०९ ॥ अध्वा मार्गः । अति० स्तोकैः ॥११० ॥ उद्धृतरिपुं संहृतशत्रुम् । विकसत्कदम्बाकारम् ॥१११॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छ्रद्धादिगुणभासिवाक् ॥

पाकशासनः इन्द्रः । उदपादि उत्पन्नम् ॥ १ ॥ जटिलीकृतं कर्बुरीकृतम् । व्यभाव्यत परिज्ञातम् ॥ २ ॥ प्रकाशिताकाशरन्ध्रः । दृश्या जिह्वा यस्य ॥ ३ ॥ घर्मवारणं छत्रम् ॥ ४ ॥ उपयो० साधनाङ्गेन । विधेयतां नियोज्यताम् ॥ ५ ॥ अनल्प० प्रचुराभोगम् ॥ ६ ॥ अद्रिकुलिशादीनां भेदिनं विघटनम् । वज्रकपाटादीनां भेदः खलु दण्डादेवेति श्रुतिः । प्रायकर्मसु बाहुल्यकार्येषु । ऊर्जितं गरिष्ठम् । शुभं सत्कर्म ॥ ७ ॥ चक्रिभयप्रासकम्पस्य । यस्य वासवेन्द्रस्य ॥ ८ ॥ भास्करादीनां रुचामविषयीभवदन्धकारनिरसनकरणे । पटीयसी पटिष्ठा ॥ ९ ॥ प्रावृड्जलधरश्यामलनिकटस्थान्धकारविनाशकरणसमर्थः ॥ १० ॥ छलात् व्याजात् । शैलराट् मेरुः ॥ ११ ॥ अप्रतिहतगमनम् । प्रचुरबलयुक्तम् । सिसंध (?) । मनोवेगम् । पर्यु० सेवाम् ॥ १२ ॥ अरिभिः सोढुमशक्यपराक्रमभयार्ण (न) कः । शूरत्वभूमिः ॥ १३ ॥ देवैः सुरैर्मानवैः ठकादिविद्यायुक्तमनुष्यैः शुभेतरग्रहैर्दुष्टग्रहैः प्रापिता या आपत् तस्या अपहस्तने रोधकरणे समर्थः । देहवान् पुण्यपुञ्ज इव ॥ १४ ॥ कल्पः सदृशः । चणः प्रवीणः ॥ १५ ॥ गृहकार्यचतुरः । समुद्ययौ अजायत ॥ १६ ॥ प्रासिधन् सिद्ध्यन्ति स्म । सत्कर्ममन्दिरस्य ॥ १७ ॥ उपतस्थिरे उदपादिषत ॥ १८ ॥ व्यशिश्रणत् अदात् ॥ १९ ॥ पिङ्गलो नाम निधिः ॥ २० ॥ ईप्सितं मनोऽभिलषितम् ॥ २१ ॥ रन्ध्रभेदतो भेर्यादयः, नद्धभेदतः मुरजादयः, निबिडभेदतः तन्त्र्यादयः । व्यतीर्यत सकलं वाद्यजातं दत्तम् ॥ २२ ॥ वस्त्रजातं वसनजातिम् ॥ २३ ॥ तपनीयं कनकम् ॥ २४ ॥ शात्रवघ्नं शत्रुसंघातनाशकम् ॥ २५ ॥ सोपधानं सोपबर्हम् । नैसू० नैसर्पनिधिदत्तम् ॥ २६ ॥ चित्ररत्न० किर्मीररत्नज्योतिभिः ॥ २७ ॥ [न] उदसिक्त न जगर्व । तादृशीं नवनिधिचतुर्दशरत्नलक्षणाम् ॥ २८ ॥ व्यधत्त अकरोत् ॥ २९ ॥ निरवर्तयत् निवर्तयामास ॥ ३० ॥ उच्छसत् उद्गतम् ॥ ३१ ॥ केवलं परम्, पुरजनस्त्रीणां मण्डलं प्रसन्नतासहितप्रस्फुरत्कनीनिकं विशदवस्त्रतया सुन्दरं नाभवत् किन्तु ककुभामपि चक्रवालं सप्रसादसविकासोत्कं निर्मलाकाशतया चेतोहरं[1] समभवत् ॥ ३२ ॥ भूमिजैः मध्यलोकोद्भवैः । दिविजैः ऊर्ध्वलोकोद्भवैश्च ॥ ३३ ॥ उदितकेतु उद्गतध्वजम्, उ अहो खण्डितध्वजं च ॥ ३४ ॥ द्यौः सुरलोकः ॥ ३५ ॥ कोकिलध्वनिमञ्जुनादाः ॥ ३७ ॥ वारिणि नियुक्तैर्वारिकैः । वारिदैः मेघकुमारैः ॥ ३७ ॥ तेषां बन्धूनां[2] मनोरथपथं साभिप्रायमार्गमतिगच्छतीति तन्मनोरथपथातिगा सा चासौ श्रीश्च तया ॥ ३८ ॥ सहजदीधितिः स्वभावकान्तिः[3] ॥ ३९ ॥ चन्द्रिका कौमुदीस्पृष्ट० ॥ ४० ॥ सिंहासनस्थितम् । रभसेन वेगेन ॥ ४१ ॥ तत्त्वविषयम् ॥ ४२ ॥ त्वयि सति जगत् संशयविपर्ययाकुलं यतस्तिष्ठते (ति) ॥ ४३ ॥ निशम्य आकर्ण्य । अधरस्पन्दरहितं यथा भवति तथा ॥ ४४ ॥ सम्यगीक्षणविपर्ययो मिथ्यादर्शनं तत्र स्थितः । 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इति वचनात् ॥ ४५ ॥ लोहकान्तमणिः चुम्बकविशेषः ॥ ४६ ॥ खल्वाटश्रीफलवत् ॥ ४७ ॥ संचिनोति आदत्ते ॥ ४८ ॥ कर्मबन्धनप्रतिकूलभूतया ॥ ४९ ॥ पापकार्यविरमणलक्षणम् ॥ ५० ॥ संगतं मिलितं, परस्परसापेक्षमित्यर्थः ॥ ५१ ॥ उपार्जितक्षपकम् ॥ ५२ ॥ अबुधैः अज्ञानिभिः सांख्यादिभिः । अनुष्ठितैः उपयुक्तैः ॥ ५३ ॥ त्वरयते

---

१. ब °हरः ज °हर । २. ब वधू° । ३. ज °कान्तः ।

उत्तालयति ॥ ५४ ॥ प्रहाय त्यक्त्वा ॥ ५५ ॥ उत्कटपुरद्वारम् ॥ ५६ ॥ पुरः प्र० अग्रेसरगमने ॥ ५७ ॥ छत्रव्याजेन ॥ ५८ ॥ विकृत्य निर्वृत्य ॥ ५९ ॥ पुरःसरम् अग्रेसरम् ॥ ६० ॥ करभयात् भागधेयभीतेः ॥ ६१ ॥ पतदश्रुनयनाः ॥ ६२ ॥ उपतस्थिरे प्रतिजगृहुः ॥ ६३ ॥ उपचितान् पुष्टान् ॥ ६४ ॥ संनिकृष्टं निकटस्थम् ॥ ६५ ॥ एत्य समागत्य । मागधः साक्षाद् बन्दी ॥ ६६ ॥ पर्युपास्त सेवयामास ॥ ६७ ॥ पूर्वदक्षिणपश्चिमस्थितान् ॥ ६८ ॥ प्रभावोत्साहमन्त्रलक्षणाभिः । पराभूतसूर्यदीप्तेः ॥ ६९ ॥ न्यक्कृतशत्रुपराक्रमः ॥ ७० ॥ द्वात्रिंशत्सहस्रमुनिमस्तकेषु ॥ ७१ ॥ विद्युच्चमत्कृतिषण्णवतिसहस्रमहिलामुखभ्रमरः ॥ ७२ ॥ 'मन्दगामी तु मन्थरः', चतुष्टयेनाधिकान्यशीतिलक्षाणि मानं येषां ते चतुष्ट०, ते च ते करिणश्च चतुष्टया०, मन्थराश्च ते चतुष्टयाधिकाशीतिलक्षकरिणश्च मन्थर०, तेषां दानं तस्य कर्दमास्तैः ॥ ७३ ॥ अष्टादशकोटिजात्यहयैः ॥ ७४ ॥ आचिताः सम्भृताः ॥७५॥ सस्यसम्पदं बान्यर्द्धिम् ॥ ७६ ॥ ईप्सितम् अभिलषितम् ॥ ७७ ॥ अधिगम्य प्राप्य । द्यावाभूमी तु रोदसी ॥ ७८ ॥ बहुरत्नखनिभिः ॥ ७९ ॥ अखण्डम् अनूनम् । कोदण्डं कार्मुकम् । साभिलाषस्वकीयबन्धुलोकाम् ॥ ८० ॥ विपणिविहिताधिकशोभायाम् ॥ ८१ ॥ गुणवान् तन्तुमान्, गुणयुक्तश्च । अनिष्टः ॥ ८२ ॥ उदग्र० शिथिलितबन्धनम् । अन्तरीयं परिधानम् ॥ ८३ ॥ चित्रं मण्डनम् । चित्रं चमत्कृतिम् ॥ ८४ ॥ परभागं शोभाम् । अनश्नुवाना अप्राप्नुवती ॥ ८५ ॥ 'ग्रावोऽलर्को द्रुमामयः' । 'अतिरिक्तः समधिके' ॥ ८६ ॥ संहतः मिलितः । उत्क्षि० ऊर्ध्वं कुर्वती ॥ ८७ ॥ अञ्जितनयना । सहास्यावलोकिनः । ईश्वरस्मरणहेतुताम् ॥ ८८ ॥ बन्धनरहिततया । रसना कटिमेखला ॥ ८९ ॥ चित्तभ्रंशम् । संस्का० चित्तभ्रमः ॥ ९० ॥ विद्युत्कान्ताः । विनि० स्थापित० ॥ ९१ ॥ क्षणचतुष्कं चतुर्थभूमिः वा क्षणेन चतुष्कं मङ्गलस्त्रीभिर्विरचितं स्वस्तिकम् ॥ ९२ ॥ चक्रिणा विसर्जिताः ॥ ९३ ॥ निविशत् अनुभवन् ॥ ९४ ॥

इति चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यपञ्जिकायां सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छुद्धादिगुणभासिवाक् ॥

पदकमलनम्रस्य । लोकसमूहस्य । रक्षके चक्रिणि । पृथ्वीं रक्षति सति । भ्रमराणाम् । विहिततन्मकरन्दास्वादनाम् । पङ्क्तिम् । हर्षयन् । वसन्तोऽजनि । ॥ १ ॥ अश्रुसहितैः । मनोहरैः । यैः नेत्रैः । कान्तास्त्यक्तास्तैः । वियोगिनः । वृक्षेषु । भ्रमराणाम् । नूतननूतनोद्भिदलीनाम् । संहतिं वृन्दम् । अवलोकितुम् । न समर्था बभूवुः ॥ २ ॥ अणौ सूक्ष्मे । हे कामनिष्पादिनि । चम्पककमकरन्दे । पतति सति । प्रविश्लिष्टमतिः । पथिकः । देवानाम् । नितम्बिनीमिव । मनोहरध्वनिम् । कामिनीम् । सस्मार । विधुरं तु प्रविश्लेषे[1] ॥ ३ ॥ अलम् अतिशयेन । पापश्यामलं मधुव्रतं दधती । नागकेसरवृक्षस्य कलिका कोरकः । भर्तृशयनीयम् अप्राप्तानां कामिनीनां कामपीडां चकार ॥ ४ ॥ नाना मधुपुष्परसं भक्षयन्ती कमलसंज्ञकं पुष्पं भक्षयन्ती भ्रमरावलिः । स्त्रीजनचित्तं मध्ये बिभेद । च पुनः । इतस्ततः कूजन्तः पिकाः । कामिनीजनचित्तमभिनत् । अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति ॥ ५ ॥ आम्रवृक्षं जातकोशमवलोक्य पञ्चबाणबाणैरत्यर्थं विद्धा का नितम्बिनी भर्त्रा सह प्रेमकरं मैथुनं न चकार, अपि तु सर्वापि ॥ ६ ॥ वनभूमीनां शीतलो वायुः । चलं स्त्रीजनं भर्तृस्थाननिमित्तमलमुत्कण्ठयन् । प्रविकसन्ती कमला आस्ये यस्य तत् प्रतिकसत्कमलवदनं कं[2] किशलयं नृत्यरहितं चक्रे, न कमपि ॥ ७ ॥ अये पथिक, स्तबकेन गुच्छेन नम्रः सैरेयकस्तव भवतः केन कारणेन तापकारी न । अतस्त्वं नो प्रावसः प्रोषितो भव । कोकिलध्वनिः पान्थं प्रति, इत्यदः, वचनं नाम्यधित

---

१. ब प्रतिषेधे । २. ब किं ।

न जगाद, अपि तु जगाद ॥ ८ ॥ भर्तृभिः सह यो मानोऽभवत् तमशक्नुवन् स्त्रीसमूहः कामसहायेन सहकारमकरन्दकर्बुरेण वायुना प्रत्यबाध्यतापीडितः ॥ ९ ॥ पुष्पविगलत्पुष्परसानुरागिणो मधुव्रता मिष्टा या वाणीविस्तारयामासुः, विसदृशाभिराभिर्गीभिः प्रवासिनः संपूर्णं हृदयस्थं वस्तु प्रयोजनं हालाहलं संबभूवे ॥ १० ॥ तानि दिनानि समाश्रित्यानवरततपोनिष्ठानामपि यतीनां वसन्तस्य पुष्पेष्ववलोकि तेषु मानसं मनः प्रस्फुरत्काममजायत ॥ ११ ॥ मन्दकम्पितबकुलवनेन वायुना स्पृष्टशरीराणां कामिनीनां मर्यादारहितेन मनोहरेण पञ्चमनादेनोदपादि ॥ १२ ॥ अथ पञ्चभिः कुलकम् । भर्त्रा सह काचित् कामिनी रुष्टा । तन्मानापसारणार्थं भर्त्रा काचिद् दूती प्रेषिता वदति हे वयस्ये त्वं समागच्छ । तदा सा प्राह–हे सखि, अहं, नागमिष्यामि । त्वमाग्रहं मा भजस्व । यद् यस्मात् स दयितो मायाः कपटान् करोति[1] । तस्य वक्तुमनुचितत्वेऽपि प्राणसदृशायास्तव भवत्याः पुरतः कथं गोप्यते अन्तर्धीयते । तेन तनु कृशमिदमङ्गकं शरीरम् । पुष्टिं स्थूलत्वं न तनुते ॥ १३ ॥ यत् तस्य मयि ममतापि नास्ति तेन ममेदं मानसं संतापि तापयुक्तम् । हे सखि, तत् तस्मात् । अनेन तन्नमनेन मम दुःखप्रतीकारो मास्तु ॥ १४ ॥ मानकारणमाह–यः प्रियोऽपराधकारणेषु दुर्जनेशः तेन प्रणयिना सार्द्धं सुखलेशः कणोऽपि कः । तद् वयं वरं श्रेष्ठं महिमानं कुर्वन्तं युक्तमेव मानं विदधीमहि ॥ १५ ॥ हे सखि, अहं दुःखितापि प्रियं दयितं गन्तुं प्राप्तुं न यते न प्रयत्नवती भवामि । किमर्थं, धाम्नि गृहवासार्थम् । किंलक्षणं प्रियं, नियं० नियतं निश्चितम् इहाभिलाषो यस्य सः । क्व, अप्रि० अनिष्टकरणे । किंलक्षणाप्यहम्, इत्याह अस्य मम वपुषः शरीरस्य, किंलक्षणस्य विधुरस्य वियुक्तस्य तापहारि संतापनाशकं चन्दनजलं न, वा विधुश्चन्द्रोऽपि नास्तीति ॥ १६ ॥ इति या अन्यदा वसन्तं विहाय आस्त तस्थौ । किंलक्षणा, वचनानि वदन्ती वाक्यानि भाषमाणा । कां, दूतिकां प्रति । क इव महान् दन्ती इव । पुल्लिङ्गोदाहरणं मानिन्या मदनिरूपणार्थम्; दन्तिन्या मदाभावात् । माधवो वसन्तस्तां वशेऽकुत व्यधत्त । कस्य प्रियस्य । किंलक्षणस्य, मधुरस्य मधु मिष्टं रौतीति मधुरस्तस्य मिष्टभाषिणः । पुनः किंलक्षणस्य, धृता अवलम्बिता कामस्य धुरा येन स तस्य । अथवा महान् दन्ती इव वसन्तः शनैः समागत्य प्रियस्य वशे तामकृत ॥ १७ ॥ अथ काचिन् मानिनी वसन्तोद्रेकान् मानं विहाय प्रियं गन्तुमुद्यतमना दूती गत्वा प्राह—मच्छुभैर्मम पुण्यैस्तादृशीकै (?) तथाविधः पटुः कार्यकरणचणा वयस्या सखी अकारि । यस्या मूर्तिर्मुखम् । ग्रहपतेश्चन्द्रस्य मूर्तिरिवोत्सवकरी । कस्य, सज्जनस्य प्रियस्य । त्वां दृष्ट्वैव सज्जनः सार्द्रो भविष्यतीति भावः । किंलक्षणस्य, सविकासिनी प्रसरमाणा कला चातुर्यं यस्य तस्य । पुनः किंलक्षणस्य, सकलस्य समग्रस्य अद्य यावन् मां प्रति न त्रुटित इत्यर्थः । वा त्वं सकलस्य सविकासिकलस्य सज्जनस्य स्वसंबन्धिनः ॥ १८ ॥ हे आलि सखि, तत् तस्माद्, दयितं वल्लभं, प्रगम्य गत्वा, त्वम् उचिताभिरभिलषिताभिर्वाग्भिर्निगदेः वदेः । अत्रार्थान्तरमुपन्यस्यते—यत् कार्यं, प्रियमनुकूलमेकवचो[2] येषां ते प्रियैकवचसस्तेषामिष्टभाषिणां, जायते उत्पद्यते, तद् अपरस्याप्रियैकवचसः, किंलक्षणस्य, असाम अप्रेमपरं वाक्यं तेन परस्य [अ] मिष्टस्य[3] न जायते । अतस्त्वया मिष्टमेव वाच्यमिति ॥ १९ ॥ हे सखि, अनेन कार्येण विधीयमानेन, अहं तव सदा किंकरी दासी भवामि । त्वं मन्मनो मम चित्तं, प्रियतमस्य वल्लभस्यानयनेन, ह्लादय मोदय । किंलक्षणं मन्मनः, सुरतं कामं व्यवायं कामयते इति सुरतकामि । पुनः किंलक्षणं, सह दाहेन वर्तते इति सदाहं दाहयुक्तम् । हे मृगीनयने, अत्र त्वं न क्षमा, (इति) न, अपितु क्षमैव । वा मन्मनः प्रियतमानयनेन ह्लादय । अहं तव सदा किंकरी न भवामि, अपि तु भवामि । अत्र त्वं क्षमा न, अपितु क्षमा असि ॥ २० ॥ हे मानिनि, मधुदिनानि मम मानसं तापयन्ति । किंलक्षणं, तान्तं क्लिष्टम् । कथं, नितान्तम् अतिशयेन । तत् त्वं दयितं मम दयमानं दयां कुर्वाणं विधेहि । किंलक्षणं दयितं महोदयो मानो यस्य स तं गरिष्ठ उ (ष्ठो) दयमानयुक्तम् । कैः सामभिः । 'साम प्रेमपरं वाक्यं नैदानं वैतस्य चार्पणम्' इति वचनात् ॥ २१ ॥ इति काचिद् दूतिकां विनयेन जगौ । किंलक्षणा, उत्पलयोस्तुला [सहे] सादृश्यासहे नेत्रे यस्याः सा । पुनः किंलक्षणा, रन्तुं क्रीडितुमुत्सुकमनाः उत्कण्ठहृदया । केन, नेत्रा भर्त्रा सह । किंलक्षणेन विनयेन, येन भावि भविष्यत्काले, दुःखं क्लेशो न उद्भवति

१. व ॰पटानुकरोतु । २. अ ॰वचनो । ३. ज निष्टस्य ।

संजायते ॥ २२ ॥ कुलकम् ॥ विरहिणीसंतापको वसन्तः पुनरुपवर्ण्यते । अत्र वसन्ते का कामिनी न विननाश, अपितु सर्वापि । किंलक्षणा, क्षता विद्धा । कैः सायकैः बाणैः । कस्य, हृद० हृदयभूः काम एव शबरो मार्गलुण्टाकस्तस्य । पुनः किंलक्षणा, संस्मरन्ती स्मरणं कुर्वन्ती । कस्य, वरस्य भर्तुः । किंलक्षणस्य, प्रोषितस्य प्रवासिनः पुनः किंलक्षणस्य, उपमारहितस्य । पुनः किंलक्ष०, मधुमासश्चैत्रो हितो यस्मै—अहं मधुमासे आगमिष्यामीति प्रतिज्ञावतः ॥ २३ ॥ पुनः किंलक्षणोऽयं वसन्तः । यत्र बकुलानि, अबलाहसितानां कामिनीहास्यानां साम्यं सादृश्यं प्रापुः । कामिनीर्वसन्ते दुःखवतीर्दृष्ट्वा हसन्तीवेत्यर्थः ॥ किंलक्षणानां, नीररिक्तजलवाहाः शरद्घनास्तैरिव सितानां श्वेतानाम् । किंलक्षणानि बकुलानि, प्रीणितानि तोषितानि सर्पनरसुराणां कुलानि यैस्तानि । पुनः किंल० नितरामतिशयेन प्रोल्लसन्ति विकासवन्ति ॥ २४ ॥ कालिनी भ्रमरिणी, अरं नारमत, अपि तु अरमत । क्व, काञ्चनारपुष्पे । किंलक्षणे, द्युतिमतो भावो द्युतिमत्ता तया ह्रेपिता लज्जाविषयीकृता अमला विद्युद् येन तस्मिन् । पुनः किंलक्षणा, मत्ता घूर्म (र्ण) यन्ती । पुनः किंलक्षणा, ध्वनिं नादं[1] कुर्वन्ती । कथम्, अतारम् अतारंमन्दं मन्दम् । पुनः किंलक्षणा, सरसा रसवती ॥ २५ ॥ अथ पञ्चभिः कुलकम् । काचिद् दूती दयितया प्रेषिता रुष्टमपि प्राणनाथं प्रति प्राह । हे नयकोविद, शशाङ्कस्य चन्द्रस्य कराः 'तां[2] भवत्प्रणयिनीं विदहन्ति तापयन्ति । च पुनः । मन्मथश्च तां हन्ति । किंलक्षणां तां, पीडितां बाधिताम् । केन, निजं च तन्मनश्च निजमनः तच्च तत् कमलं च निजमनः कमलं तेन । किंलक्षणेन, त्वद्वियोगाद्भूवं शोकमलं यत्र तत् तेन । शशाङ्कस्तु कमलं दहति । मन्मथोऽपि वियोगयुक्तं मन इति कोविदेन भवता विचार्यमिति भावः ॥ २६ ॥ पुनर्दूती प्राह । त्वं यदि तां वल्लभां पासि त्रासि । अयं भवतो गुणः । कथंभूतां ताम् । शीतेन दग्धा चासौ नलिनी च शीत० तया समो देहो यस्याः सा ताम् । पुनः किंलक्षणां, च्युता गता विलासमदयोरीहा अभिलाषो यस्याः सा ताम् । वा अथवा । हे जितमनोभव, एवंविधामपि तां जितकामस्त्वं यदि न एषि तदा तोयं जलं देहि । मृताय किल जलाञ्जलिर्दीयते इति भावः ॥ २७ ॥ पुनर्दूती प्राह । हे सखे यो रतिपतेः कामस्य इषुर्बाणः । रजनीषु रात्रिषु सुभ्रुवो वामलोचनाया हृदये प्रविश्य स्थैर्यवान् स्थिरतरोऽजनि । यद्येकवारं भवान् मानयिष्यति तदा पुनर्नाविराधिनी भविष्यतीत्याह । अनेन प्रसिद्धेन तव संगमनेन संपर्केणोद्धृतो निष्कासितः स इषुः सङ्गं पुनः संयोगं न व्रजति । अथवा अनेन हृदयेन सङ्गं न व्रजति ॥ २८ ॥ तत् तस्मात् कारणात् हे सुभग सारमयत्वं लोहमयत्वं संप्रहाय त्यक्त्वा गच्छ त्वं दयितं रमय । हे मन्मथ० मन्मथस्य कामस्य व्यसनं लुनातीति मन्मथव्यसनलावि तद् रहस्यं यस्य स तस्य संबोधने कामव्यसनानभिभूतहृदय[3], इन्दुवदना विरहस्य वियोगस्य क्षमा समर्था न ॥ २९ ॥ इति दूतिकोक्तं निकामम् अतिशयेन शुश्रुवान् कोऽपि कामुकः कोपयुक्ते मनसि तत्क्षणात् तत्कालं कामम् अभिलाषम् उपययौ । केन परमेण दीर्घमानकलुषोपरमेण, मानमेव(एव) कलुषं पापं तस्योपशमेन ॥ ३० ॥ कुलकम् ॥ अथ वसन्तवैभवमुच्यते । कर्णिकारं काञ्चनारकुसुमं तान्तं रिक्तमजनि । किंलक्षणम्, अथवा प्रोषितभर्तृका तस्या जनितमन्तं (जनितोऽन्तो—) येन तत् । कस्मात्, चारुगन्धगुणतः मनोज्ञपरिमलगुणात् । अत्र कारणमाह । सर्जने उत्पादने । अप्रतिमोहा(हो) असदृशविचारोऽपि विधिस्तस्य कर्णिकारस्य युक्तघटनां प्रति मोहो मूढोऽजनि । रूपं दत्तं परिमलं(लो) न दत्तमिति (दत्त इति) विधाता विस्मृतः ॥ ३१ ॥ वृक्षपङ्क्तिकामिन्या ओष्ठेन । मनोहरतोत्कृष्टपारधारकेन(ण) किंशुकेन पलाशपुष्पेण । असौ समयो मधुः । शुशुभे चकासे । असौ खड्गे सविलासं मनोहरम् अयो लोहं बिन्दुना जलेन इव ॥ ३२ ॥ शम० । संयमनाशकरेषु भ्रमरिणीसमूहेषु गायनेषु जातवत्सु मरुत् शोभनलतानां नर्तकोऽभूत् । कथंभूतानां, पांसुलस्य भावः पांसुलता पुष्परेणुभिः कृता पांसुलता स्थूलता यासां ताः तासाम् ॥ ३३ ॥ भवत् संजातम् अशोकेभ्यो बलं यस्य स तेन कन्तुना कामेन सकलो विरही मृत्युना यमेन कवलेन ग्रासेन, अथवा अकवलेन युगपद् एकवारमित्यर्थः, ग्रस्यते स्म । किंलक्षणो विरही, प्रमदायाः संस्मरन् । किंलक्षणायाः, अकम्प्रो निश्चलो मदो यस्याः सा तस्याः ॥ ३४ ॥ यो विरहिणीसमुदायः प्राग् वसन्तात् पूर्वमतीव समुदा हर्षेण मनसा तस्थिवान् स माधवेऽलिदुःसह-

१. ब ध्वनिर्नादम् । २. ब ' ' इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ३. ज °दयः ।

श्चासौ मनोभवश्च तेन दूनः कदर्थितः सुखितया सुखित्वेन ऊनो रिक्तोऽभवत् ॥ ३५ ॥ अथ काचिद् दूतिका रुदन्ती गतभर्तृकां प्रति प्राह। हे आलि कामशोक० कामाज्जातो यः शोकः स एव जलधिस्तस्मादुदितान्युत्पन्नानि सततं रुदितानि संहर। यतोऽमुक्तम् अत्यक्तं धैर्यं धीरत्वमापदामसनक्षमं निराकरणसमर्थमुक्तं भाषितम्। कथंभूतं धैर्यम्, आपदामसनं क्षेपणं तत्र क्षमं समर्थम् ॥ ३६ ॥ तत्र प्रेयसा यो वसन्तोऽवधिरकारि स भर्ता तमतिवर्तितुमलं नेत्यर्थः। किंलक्षणो वसन्तः, यत्र निजगुणैः स्वगुणैः सन्त इव शाखिनो वृक्षा अमलाभैर्निर्मलदीप्तिभिर्जनानां लोकानां मनोरमस्य लाभो येभ्यस्तानिति। कुसुमैर्भान्ति ॥ ३७ ॥ तं समयं मधुमतिवर्तितुमतिक्रमितुम् उत्सुकः। स तव भर्ता अलं समर्थो न। केन चेतसा। किंलक्षणेन विप्रयोगेन कृशा चासौ दाराश्च तदर्थं हितेन। पुनः किंलक्षणेन, कठिनता स्तब्धता (तया) रहितेन। किंलक्षणं समयं विकासं प्रकाशमयन्तं गच्छन्तम् ॥ ३८ ॥ युग्मम् ॥ हे आलि तदिदं वपुर्नियमेन रक्ष। यमेनातङ्केन लघ्वी हानि-'र्यस्य तल्लघुहानि'[1] शीघ्रनश्वरं मा विधेहि। त्वं तेन सहाल्पदिवसैः रस्यसे। यतः स भर्त्ता त्वदीयविरहं न सहते ॥ ३९ ॥ आल्या काचनेति हितं यथा भवति तथा जगदे। किंलक्षणा काचन, मन्दा दीप्तिर्यस्याः सा मन्ददीप्तिः। असुखावहं(हो) मानं(नो) यस्याः सा असुखावहमाना। पुनः किंलक्षणा, जीविते शिथिलतां वहमाना। पुनरपि किंलक्षणा, दूरदिशि पतिर्यस्याः सा। अपोहितं त्यक्तं माल्यं यया सा अपोहितमाल्या ॥ कुलकम् ॥ ४० ॥ कश्चित् कामी कामानलाभितप्तो मानिनीं चाटुभिर्मानयन्नाह। हे सुभ्रु तव 'भ्रुकुटीनां दारुणा कर्कशा विरचना कुटीनां साम्यमावहति, पक्षे दारुणा काष्ठेन। प्रियतमे मयि दास्यं धारयति सति तवास्यं कोपनं कोपयुक्तं किमिति'[2] जातवत् ॥ ४१ ॥ तथा हे सुभ्रु तव रतेन व्यवायेन विना मे का धृतिस्तोषः। अहं तव विनामे प्रह्वीभावे नोद्यताञ्जलिर्न। भवतो अमाने मयि नममाने वृथैव मानं किं तनोति ॥ ४२॥ तथा हे सुभ्रु नभोवदाकाशवदनन्ते कान्तिजले मग्नं कमलसदृशम्। जाय० उत्पद्यमानानेकविभ्रमरोहं ते वदनं पातुं लेढुं सादरमवलोकितुमित्यर्थः। अहं भ्रमर इवोत्सुकोऽस्मि ॥ ४३ ॥ हे सुतनु अनेन मदनेनानिशं बाध्यमानं मन्मनो भीमद् वर्तते। हे पीवरतरस्तनि स्थूलपयोधरे। रुषः क्रोधस्य तनोर्भावस्तनिमा तं कृशत्वम्। त्यज मानं मुञ्च ॥ ४४ ॥ इत्थं दयितेन भर्त्रा उदिता भाषिता काचित् तेन सार्द्धम् उदयि उदयोपेतं प्रेम स्नेहमकृत। अत्रार्थान्तरमुपन्यस्यते। बुधैः पण्डितै रचितानि रसभारेण चितानि संभृतानि वचांसि कं न प्रीणयन्ति, अपितु सर्वमपि ॥ ४५ ॥ कुलकम् ॥ इत्थं विलसति वसन्ते। भानुर्हिमवन्तमचलमाप। कथंभूतं, कन्दरासु दरीषु अनुकृताहिं सर्पसदृशं ध्वान्तं तमोनिकायमवन्तं रक्षन्तम्। यो हिमवान् शशीव शुद्धा नदा यस्यां सा तस्यां, वसन् धनदो यस्यां सा तस्यां दिशि भाति राजते। ४६ । तत्र वसन्ते लीनं षट्पदानां कुलं यस्यां सा लीन०। तिलैरिव काली श्यामला तिलकाली तिलपङ्क्तिर्यद्विकासमगमत् तेन गतहर्षेण मनसा मानिनो उदारं कामतापमगमत् गतवती ॥ ४७। तत्र वसन्तेऽलयो भ्रमरा अलिन्या सार्कं सततं रागकारि कमलिन्या मधु पुष्परसं निषेव्य यानि ध्वनितानि चक्रुः तानि सन्ति (निशम्य) अध्वनि के ययुर्न, केऽपीत्यर्थः ॥ ४८ ॥ तत्र जनेन परिवारेण शीतला इति ज्ञात्वा सजलतालवृन्तेन पातिता आपो जलानि जातविरहो निष्पन्नवियोगोऽलनुतापो बहुलक्लेशयुक्तः कः पुमान् क्वाथिताम्बु० उत्क्वालितजलसमानानि नातनुत, अपि तु उत्पन्नतापो वियोगी तापस्फेटनार्थं परिवारेण व्यजनेन क्षिप्ता आप उत्क्वलितजलसदृशा अकरोदित्यर्थः ॥ ४९ ॥ असमहानि असदृशहानियुक्तं पद्मखण्डं कमलवनम् अविकासं विकासरहितं वीक्ष्य अवलोक्य जातरुडिव उत्पन्नरोष इव तिग्मगुः सूर्यः। अहानि दिनानि अहिमानि उष्णानि विहितवान् अकरोत्। उचितमेतत्। भास्वतं हृदयं मानि नहि, (इति) न, मान्येव ॥ ५० ॥ अलयो भ्रमरा भ्रमरिण्या सार्द्धं रागोत्पादकं कमलिन्याः पुष्परसं सततं निषेव्य यानि शब्दितानि चक्रुस्तानि श्रुत्वा के पथिका अध्वनि पथि ययुः, अपि तु न केऽपि। मधुकरी० अलिनीवाचालितदिशि। व्याजृम्भिते विस्फूर्जति। कामसहजबन्धौ। विस्रब्धं सहसा ॥ ५१ ॥ परभृत० कोकिलशब्दितव्याजेन। प्रादुर्भवन्ती तिलकपत्रैर्विशेषशोभा यत्र सा ताम्। सीमन्ति०

१. ज ' ' इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते। २. ब ' ' इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते।

कामिनीव। कथंभूता सीमन्तिनी, प्रादुर्भवन्ती तिलकपत्रैर्विशेषशोभा यस्यां सा ताम् ॥ ५२ ॥ संभावयामि मानयामि ॥ ५३ ॥ ह्रीतो लज्जितः। व्यवस्येत् उद्यमेत। स्मरनिवासश्चासौ नितम्बश्च तं चुम्बति स्पृशतीति ॥ ५४ ॥ आनमतगात्रि (आनतगात्रि) अवनताङ्गे ॥ ५५ ॥ मुकुलजालं कोश (ष) कदम्बम् ॥ ५६ ॥ त्वच्छिष्यभावेन गमनस्पृहयालु न जनिष्यते ॥ ५७ ॥ नवप्रवालसंनिभे। स्मेरम् ईषद्धास्योपेतम् ॥ ५८ ॥ प्रतिहन्यमानः अभिभूयमानः। नः अस्मान् न तिरस्करिष्यति ॥ ५९ ॥ सज्जीकृतपदयुगा ॥६०॥ रहसि एकान्ते। 'वनक्रीडागमनडिण्डिमम्। आदिष्टवान् ॥ ६१ ॥ सजलजलधरशङ्किमनसः[1]।' व्योम आकाशम्। व्याप्नोति स्म ॥ ६२ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायामष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः।
स श्रुतादिमुनिर्जीयात् प्रवादिगुणभासिवाक् ॥

मधुना वसन्तेन मद्येन च। विभ्रमः पक्षिभ्रमणं भ्रूविक्षेपश्च ॥ १ ॥ ललित० निबिडतमक (चू) र्णकुन्तलाः, पक्षे सान्द्रतमालोपेताः। द्विजाः दन्ताः पक्षिणश्च। तिलकं पुण्ड्री[2] (ण्ड्र) कं वृक्षभेदश्च ॥ २ ॥ काञ्ची कटिमेखला ॥ ३ ॥ अलसगतिषु आलस्यगमनेषु। गुरुः गरिष्ठः, उपाध्यायश्च ॥ ४ ॥ उभयतः। इतस्ततः। व्यतिकरिणः मिश्रितस्य ॥ ५ ॥ मुग्धे मानिनि ॥ ६ ॥ पयोधरान्तराले स्तनमध्ये ॥ ७ ॥ विफला कृया (क्रिया) यस्य तद् विफलक्रियम् ॥ ८ ॥ किसलयभासि पल्लवप्रभम् ॥ ९ ॥ शीघ्रं गन्तुमिच्छुना[3]। जघनयोर्महाभरेण विघ्नो जातो यत्र तज्जघन० ॥ १० ॥ अथ पञ्चभिः संबन्धः। सकृत् एकवारम्। अबु० अज्ञानित्वेन। ततो निवर्तनम् ॥ ११ ॥ विरमति निवर्तते। नेतुमिच्छुना निनीषुणा ॥ १२ ॥ शरीरलतायाः। क्षयकारणम्। आधिं मानसं(सीं) व्यथाम् ॥ १३ ॥ क्रियादौ कार्यारम्भे चेतः स्थिरं यथा तथाङ्गीकृतनिर्वहणे स्थिरं न भवति ॥ १४ ॥ निराकृतमानकूटा ॥ १५ ॥ अंसयोः पृष्ठं तेन प्रगमितौ च पाणी च ताभ्यां धृतं प्रियाकुचाग्रं येन सः ॥ १६ ॥ कृत० कृतकामस्वरम्। अपदेशात् व्याजात् ॥ १७ ॥ मनसिशयः कामः। पुरः प्रयाताश्च ते क्षितिपतयश्च पुरः० तैः सेवितः कृत्रिमाद्रिर्येन (यंत्र) तत् ॥ १८ ॥ अनङ्गीकृतनयनद्वयसंपदाः ॥ १९ ॥ अरठ० पुराणपत्रसमूहे ॥ २० ॥ प्रतीपपत्न्याः सपत्न्याः ॥ २१ ॥ विटपिनि वृक्षे। तुङ्गम् उच्चैस्तरम्। भुजयुगमूलं कक्षाम्। द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा ॥ २२ ॥ उत्तमाङ्गे शिरसि ॥ २३ ॥ सुदति शोभनदन्ते। परभागं वर्णम् ॥ २४ ॥ कमनीयं सुन्दरम्। भावकृतः परिणामजनितः। विभागः सदसद्विभजनम् ॥ २५ ॥ अवचितं चुण्टितम् ॥ २६ ॥ ममज्ज ततार। सज्जीकृतः विद्यमानीकृतः ॥ २७ ॥ आहिता आरोपिताः आस्थापिताः ॥ २८ ॥ नुन्नतोयाः अपसारितजलाः ॥ २९ ॥ अकलुषं स्वच्छम्। अन्तरा मध्ये। अनुबध्नन् अनुपतन् ॥ ३० ॥ शिलीमुखाः भ्रमराः ॥ ३१ ॥ अपहृतवसनाः अपसारितान्तरीयाः ॥ ३२ ॥ नाभिदघ्ने नाभिप्रमाणे। तरण्डकं प्लवः[4] ॥ ३३ ॥ विमुग्धा अनभिज्ञा। संबभूवे संजनितम् ॥ ३४ ॥ अनश्नुवाना अप्राप्नुवती ॥ ३५ ॥ अति(भि) सर्पन् संमुखमभिपतन्। मधु पुष्परसम् ॥ ३६ ॥ अनभिमुखीं पराग्मु(ङ् मु) खाम्। समनुनयन् प्रसादयन्। चाटुकारान् प्रियवचनानि ॥ ३७ ॥ शफरी मत्सी ॥ ३८ ॥ अंसविलम्बि(म्बी) स्कन्धाधारीकृतः ॥ ३९ ॥ शाठ्यात् जाड्यात्। अविदिततत्त्वः अपरिज्ञातरहस्यः ॥ ४० ॥ सपत्न्याः प्रतिपत्न्याः[5]। अवधीत् तर्जयति स्म। परिभङ्गुरैः सभ्रुकुटिवक्रैः ॥४१॥

१. ब ' ' इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते। २. ब पुण्डरी। ३. ब. °च्छता। ४. ब लवः। ५. ब 'प्रतिपत्न्याः' इति नोपलभ्यते।

अनुमम्लौ म्लानिं गता । दरम् ईषत् ॥ ४२ ॥ विदधति धारयन्ति । विनियवृत्ति क्रयविक्रयशेषं गृहीत्वा वितरणमित्यर्थः ॥ ४३ ॥ जलात्मकानां द्रवरूपाणां, पक्षे जडतायुक्तानाम् ॥ ४४ ॥ शिलीमुखेन भ्रमरेणानुकुर्वती अनुविदधती ॥ ४५ ॥ विगाढैः विलोडितैः ॥ ४६ ॥ चिरं नि० चिरं स्थित्वा ॥ ४७ ॥ विचकृषुः आकर्षन्ति स्म । भुजङ्गवृत्ति विटत्वम् ॥ ४८ ॥ अतिरिच्यमानं समधिकम् ॥ ४९ ॥ प्रतियुवते सपत्न्याः ॥ ५० ॥ कबर्याः केशबन्धनतः ॥ ५१ ॥ कृष्णपत्रैः नीलोत्पलैः ॥ ५२ ॥ ममुः संमान्तिस्म ॥ ५३ ॥ कृतकृतकः जनितकपटः ॥ ५४ ॥ चलशफरीतरला मत्सी (?) ॥ ५५ ॥ वनजवनं कमलवनम् ॥ ५६ ॥ स्तनपरि० स्तनस्पर्शनसाभिलाषाः ॥ ५७ ॥ अनुपुलिनम् अनुतटम् । स्रवणपदेन निश्च्योतनव्याजेन ॥ ५८ ॥ प्रस्थं सानुम् । अम्भोधराध्वा गगनमार्गः । त्यक्तजलक्रीडाविशेषः ॥ ५९ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः ।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छ्रद्धा[1]दिगुणभासिवाक् ॥

उदयाः तेजोऽभिवृद्धयः । निरत्ययाः निरपायाः । अधिशिश्रिये अधिजग्मे ॥ १ ॥ नयनप्रान्ताः कटाक्षाः ॥ २ ॥ वल्लभः भर्ता ॥ ३ ॥ कृच्छ्रगतः कष्टगतः, आपद्गतश्च ॥ ४ ॥ अन्तरधीयत अतिरोधीयत ॥ ५ ॥ विधिरेव दैवमेव ननु सहायादिः । अभ्यभूयत तिरस्कृतः ॥ ६ ॥ मलिनैः श्यामलैः सपापैश्च ॥ ७ ॥ दीनरवैः अवद्यातशब्दैः । नीडं कुलायः । प्रविलापं परिदेवनध्वनिम् ॥ ८ ॥ विध्वंसभयात् विप्लवत्रासात् ॥ ९ ॥ अम्बरे गगने ॥ १० ॥ सदसत्प्रसंगजाः शुभाशुभसंसर्गजनिताः ॥ ११ ॥ परिवृत्तिम् आह्निकक्रियाः । सकाशादन्यथावृत्ति वेष्टनोद्वेष्टनवत् ॥ १२ ॥ कृतज्ञतां कृतोपकाराविस्मरणत्वम् । इयाय गतः ॥ १३ ॥ अपरज्यते विरक्तो भवति ॥ १४ ॥ विवरेषु मध्येषु । ध्वान्तलवाः अन्धकारलेशाः ॥ १५ ॥ आर्तनिःस्वनैः सकरुणध्वनिभिः । बहलं प्रचुरम् । मषी कज्जलम् ॥ १६ ॥ बिसतन्तुः मृण(णाल) सूत्रम् ॥ १७ ॥ अलकाः चूर्णकुन्तलाः । बलभि[2]द्दिशः पूर्वस्याः ॥ १८ ॥ [2]तिरोहितं प्रच्छादितम् ॥ १९ ॥ आजिघांसुना हन्तुमिच्छुना ॥ २० ॥ घनवीथिरथम् आकाशवाहनम् । परदारग्रहणोत्पन्नात् ॥ २१ ॥ श्रयदन्धकारप्रावरणम् । सुरतस्यां ग्राम्यधर्मवतीम् ॥ २२ ॥ घटना निष्पत्तिः । स्फुटीकृतं व्यक्तीकृतम् । चन्द्रस्य फिल कुवलयैः प्रयोजनाभावाद् निःकारणबन्धुत्वम् ॥ २३ ॥ न्यलीयत उपविष्टम् ॥ २४ ॥ अपनीतम् अपाकृतम् ॥ २५ ॥ कोटिं शिखरम् । अद्यभवा अद्यतनी ॥ २६ ॥ प्रसर्पति विस्तृते ॥ २७ ॥ अन्त्यजातिना चाण्डालेन । परिमृष्टा स्पृष्टा । घनव० आकाशमार्गे ॥ २८ ॥ नगाः पर्वताः । चन्द्रस्यात्राल्पकालोदयत्वं शान्तप्रतापत्वं च ॥ २९ ॥ उद्गमारुणं कुड्मलरक्तम् । आपीडः शेखरम् ॥ ३० ॥ सुखि सुखयुक्तम् । मिथुनं युगलम् ॥ ३१ ॥ उद्धरतिस्म निष्काशयामास ॥ ३२ ॥ काण्डपटः यवनिका-प्रच्छादनवस्त्रम् । 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः' ॥ ३३ ॥ मूर्च्छाकपटेन 'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया' इति वचनात् ॥ ३४ ॥ भासुरीभवत् देदीप्यमानम् । अनन्यायः (?) । 'वह्निना ज्वालिते तैले घृते वा कुत्रचिद् यथा । शीततोयच्छटापातः प्रतिप्रक्षालनं भवेत् ॥३५॥ रजसा परागेण—कुसुमरेणुना । निर्यत्पुलका रोमाञ्चवती ॥३६॥ त्वरमाणचेतसाम् उत्तालहृदयानाम् ॥३७॥ स्मरस्य सामर्थ्यसंपत्तेः । 'चन्द्रासवाभ्यां रमणीजनेभ्यः' इति भाषितात् ॥३८॥ अतः शक्तिः सामर्थ्यम् । हरिणाङ्काभिगमे चन्द्रागमने ॥३९॥ विभावर्याः रात्रेः प्रकाशने सदृशोपयोगः कुमु-

---

१. ज 'द्धा' इति नास्ति । २ ज अतिरो॰ ।

दिन्यां निरपेक्षोपकारः ॥४०॥ परिणामिनि [1]कालवृद्धिगते। विविक्तं विजनम् ॥४१॥ पुलकैः रोमाञ्चैः। पीनतां स्थूलत्वम् ॥४२॥ प्रतिकूलं क्षणं प्रतीक (पं) कालविडम्बनम्। शासनम् आज्ञा ॥४३॥ अरविन्दामुकुलितनेत्राणाम्। त्रपया रात्रौ किल कमलं च मुकुलितम्। सन्नमिताननैः ऊर्ध्वीकृतमुखैः ॥४४॥ विपरीततया कामस्य प्रतिकूलाचरणेन ॥४५॥ अमिमीत अनुमानेन अबुधत्[2] ॥४६॥ चुम्बने वक्त्रसंयोगकरणे। सहसा शीघ्रम्। आसंजयति स्म व्यापारयति स्म परिरम्भमकरोदित्यर्थः ॥४७॥ करताडनं करशब्देन करजातैस्ताडनं प्रहृतिः। परिरम्भः कराभ्यामालिङ्गनम्। दशच्छदः अधरः ॥४८॥ अनवकाशैः अवकाशं मध्यवसतिमप्राप्नुवद्भिः ॥४९॥ परिरम्भेण गाढालिङ्गनेन। अजीगमत् विलम्बयति स्म ॥५०॥ समीयुषे दीर्घकालगताय ॥५१॥ परिरेभे आलिलिङ्ग ॥५२॥ सचिवत्वं सहायत्वम् ॥५३॥ असंभवन् अवकाशमलभमानः ॥५४॥ परिरब्धुम् आश्लिष्टुं दृढबन्धहस्ताभ्यां संपुटीकरणं यथा भवति ॥ ५५ ॥ परिशान्त्य कषायरहितां प्रियवाक्यैर्विधाय। व्यदिध्यपत् विध्यापयतिस्म ॥ ५६ ॥ परितस्थे[3] उपरिस्थितम् ॥ ५७ ॥ वामं प्रतिकूलम् ॥ ५८ ॥ अतिमात्रसंस्तवात्[4] गाढालिङ्गनात् पुनः पुनः परिचयाद्वा। भणितैः रतिकूजितैः ॥ ५९ ॥ सुरतेषु मैथुनेषु ॥ ६० ॥ रतोत्सवे मैथुनानन्दे ॥ ६१ ॥ प्रक्षुभ्य एकहेलया शब्दयित्वा। क्षणं किंचित्कालम्। विश्रान्तिं विरामम्। सूताः बन्दिनः ॥ ६२ ॥ विकीर्णं विस्तृतम् ॥ ६३ ॥ केशकलापमध्ये[5] रेखा सीमन्तः ॥ ६४ ॥ ब्रह्माण्डप्रसृतं सकलजगद्व्यासम् ॥ ६५ ॥ रथाङ्गयुग्मं चक्रवाकयुगलम्। वक्षोजद्वयं स्तनयुग्मम् ॥ ६६ ॥ घर्मांशोः सूर्यस्य। प्रणुन्नम् अपसारितम्। वृत्ति पुनरागमनाय वर्तनम्। अनुशीलतां[6] भवच्छत्रुभिः सादृश्यम् ॥ ६७ ॥ प्रत्यूषः अहर्मुखम्। परिष्कृताङ्गाः भूषितशरीराः ॥ ६८ ॥ पाथेयं शम्बलम्। गरिष्ठवियोगमार्गगमनाय ॥ ६९ ॥ अनपायिना अनश्वरेण ॥ ७० ॥ नियतं निश्चितम्। अमङ्गलं मरणम् ॥ ७१ ॥ निजविरुतैः स्वशब्दैः। निशान्तं प्रातः। ताम्रचूडः समदः कुक्कुटः ॥ ७२ ॥ कलयामि सहजं न विभावयामि ॥ ७३ ॥ विवृत्य पराङ्मुखीभूय। अनुनयविषयां विधाय ॥ ७४ ॥ सप्तीनां हयानाम्। रुचिरं सुन्दरम्। प्रतीक्षां 'कालविलम्बम् ॥ ७५ ॥ रोचिष्मान् सूर्यः ॥ ७६ ॥ प्रबोधं निद्राक्षयम् ॥ ७७ ॥ तपने सूर्ये ॥ ७८ ॥ अभ्युज्जिहासोः शिखरं त्यक्त्वानन्तरं'[7] गन्तुमिच्छोः ॥ ७९ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां दशमः सर्गः ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

आप्तमीमांसादिशास्त्रप्रकाशं योऽकरोन्मुनिः।
स श्रुतादिमुनिर्जीयाच्छुद्धादिगुणभासिवाक् ॥
सच्छुद्धादिगुणैर्युक्तस्तपसां निधिरस्तु मे।
प्रकाशयामास मुनिः सर्वशास्त्राणि स श्रिये[8] ॥

विशां प्रजानाम्। अधिश्रिये अधितस्थौ। कलि (लप) त० आरोपितसिंहासनम् ॥ १ ॥ सर्वे च तेऽवसराश्च कार्यविशेषास्तत्साधनार्थं व्यवस्थितं सिंहासनारूढं वा स्नानविलेपनाद्यनन्तरं तत्रोपविष्टं वा। प्रधानदौवारिक० प्रधाना[9] विशिष्टाश्च ते द्वारिनियुक्ताश्च तैः सूचितो निवेदित आगम आगमनं येषां ते तथा। आश्लिष्टचुम्बितशिखरेण मौलिना किरीटेन ॥ २ ॥ प्रतीहारः द्वारपालः। यथायथं स्वोचितस्थाने। सभाजिरे प्राङ्गणे ॥ ३ ॥ अनल्पसत्त्वं प्रचुरोत्साहबलम्। गुरुवंश० गरिष्ठान्वयशोभमानं, पक्षे पृष्ठास्थि०। प्रलम्बहस्तम् आजानुकरं, (पक्षे) लम्बशुण्डादण्डम्। कुतूहलात् कौतुकात्। अचूचुदत् प्रेरयामास। धीरनरान् सुभट-

---

१. ब 'काल' इति नास्ति। २. ब °धत। ३. ब 'परितस्थे' इति नास्ति। ४. ब °संस्तुपात्। ५. ज मध्यं। ६. ब °शीलितां। ७. ब इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते। ८. ब श्रियै। ९. ब प्रधान।

पुरुषान् ॥ ४ ॥ समुपेत्य[1] प्राप्य । धीरधीः निष्कम्पमनाः । जघान ताडयामास । घनपीवरे श्लिष्टस्थूले । जवेन वेगेन । आरया लोहसूचीविशेषेण ॥ ५ ॥ निवृत्य परिवृत्य । प्रधावति ढौकते । निपत्य प्राप्य । स्थूललोष्टेन घातम् ॥ ६ ॥ विनीयमानः खेदं प्राप्यमाणः । शाशनदो ज्ञातः (शासनाद् अज्ञातः) । कृतक्रियैः विहितसमयोचितप्रयासैः । प्रधावितुं प्रपलायितुम् । उद्यतः सोद्यमः ॥ ७ ॥ गृहागतं करान्तःपतितम् । समास्फालयतिस्म उच्छाल्य पातयामास । व्ययुज्यत वियुक्तसर्वावयवोऽभूत् ॥ ८ ॥ विलीनं विलयं प्राप्तम् । निर्वेदं वैराग्यम् ॥ ९ ॥ 'भवगर्त० संसाररन्ध्रस्थितानाम् । अशाश्वतीं विनश्वरीम् ॥ १० ॥ गदेन व्याधिना । अशनिना मेघोत्पातेन । कटाक्ष्यते वक्रं निरीक्ष्यते ॥ ११ ॥ शाश्वतं ध्रुवम् । प्रमोहः मोहनीयोदयाद्भ्रान्तिः'[3] ॥ १२ ॥ परुद्दिने । 'परुत्परार्यैषमोऽब्दे पूर्वे पूर्वतरे यति[4]' । कर्तव्यं करणीयम् । आसन्नं निकटम् ॥ १३ ॥ असंमतात् अनिष्टात् । विलोभ्यमानः वञ्च्यमानः । आमिषं भोज्यविशेषः । अकर्तव्यं सद्भिर्निषिद्धम् ॥ १४ ॥ नयनान्तं (न्तः) कटाक्षः । सहासितुं युगपत्स्थातुम् । वज्रहविर्भुजः वज्राग्नेः । जये विजृम्भणे[5] ॥ १५ ॥ विलेक्ष्यते विलीयते । कालमरीचिमालिनः यमसूर्यस्य ॥ १६ ॥ विहास्यन्ति त्यक्ष्यन्ति । बद्धा गाढीकृता धनर्द्धिषु द्रव्यसंपत्तिषु बुद्धिर्यैस्ते । चूतावनिजम् आम्रवृक्षम् । जिहासवः त्यक्तुमिच्छवः ॥ १७ ॥ प्रपित्सु पतनाकांक्षि । निचयाः पुत्रादयः । नष्टुं [नंष्टुं] गन्तुम् । असमर्थम् ॥ १८ ॥ कषायाः क्रोधादयः सारेन्धनानि दृढकाष्ठानि तैर्बद्धा रचिता पद्धतिश्चतुर्गतिपङ्क्तिर्येन सः । उत्तुङ्गतर उच्चैःशिखः ॥ १९ ॥ दुरात्मकात् दुष्टस्वभावात् । भवात् संसारात् । अनर्थाः निष्प्रयोजनाः । उत्खातमूलः । सः भवः । अहेतुकाः कारणरहिताः ॥ २० ॥ सरागतां विषयैकतानत्वम् । तद्विपरीतेषु वैराग्येषु भावना निरन्तरं चिन्तनं यस्य सः । वारिदे मेघे । अलं समर्थः । अम्बरं गगनम् ॥ २१ ॥ चराचरे जङ्गमस्थावरे । अभोजि भुक्तम् । पराङ्मुखः पराचीनः । मोक्षसाधनात् रत्नत्रयात् ॥ २२ ॥ दुरन्ताः दुरवसानाः । शेमुषीं बुद्धिम् । लेशः कणः । उपरूढि प्ररोहम् । संसारवल्लीम् ॥ २३ ॥ मलिनस्य मलीमसस्य । हिते रत्नत्रये । विजाग्रति सावधाना भवन्ति ॥ २४ ॥ आगन्तुकदुःखं नारकादि पर्यायाः । संसारसौख्यम् । यत् यदा । [6]विषयुक्तस्य मिश्रितस्य ॥ २५ ॥ विबन्धकान् प्रतिरोधकान्[7] । वरीतुमिच्छोः विधातुमनसः । विबन्धुं प्रतिरोधुं[8] (द्धं) । परः प्रतिकूलः ॥ २६ ॥ वशं नाशम् । स्वकर्मणां ज्ञानावरणादीनां प्रकृतेः स्वभावान् । सिद्धिभागिनः मुक्तिसाधनोद्यतस्य ॥ २७ ॥ कदर्थिनीः पीडाविधायिनीः । प्रशान्तिं भोगोपरतिम् । क्लेशं दुःखम् । परम् अन्यत् ॥ २८ ॥ विवेकिनः चिदचिद्विभागं कृत्वा आत्मध्यानिनः । जन्मनः संसाराद् [वि-] पत्तयो नारकादिपर्यायास्तेभ्यो भीलुकाः । निरापदां सिद्धानाम् । अनीकं चक्रम् । ईशते प्रोत्सहन्ते ॥ २९ ॥ निर्वर्तितात्मा व्यावृत्तचेताः । चतुरः विवेकी । हितं मुक्तिस्तत्कारणं च ॥ ३० ॥ गुणप्रभसंज्ञकम् । सवृन्दं ससङ्घम् । मिथ्याज्ञानान्धकारभानुम् । उद्यानचरात् वनपालात् ॥ ३१ ॥ निशम्य आकर्ण्य । तस्थुषः समासीनस्य । अभ्युदस्थात् उत्तस्थौ । कृती पुण्यवान् । कृतकृत्यः ॥ ३२ ॥ निरित्य निर्गत्य । तद्धाम मुनिस्थानम् । समं सार्द्धम् । समन्वितैः तन्मयभावं गतैः ॥ ३३ ॥ गतस्य प्राप्तस्य । तस्य मुनेः । अवलोकयामास । कः परमात्मा समुत् परमानन्दैकस्वभावस्तत्र चेतो यस्य स तस्य । विविक्तं विजनम् । अत्यन्तम् अतिशयेन । स्त्रीपशुक्लीबादिभिरित्यर्थः । अजन्तुकं जन्तुभिः क्षुद्रजीवै रहितम् । आश्रमं स्थानम् । श्रिया तपोजनितशोभया ॥ ३४ ॥ गृहीतयोगं स्वीकृतध्यानम् । आतपे सूर्यप्रतापप्रकाशे स्थितम् उद्भीभूतम् । दिवाकरस्य सूर्यस्यांशवो मयूखास्तेषां प्रकरः ससुहस्तेनैकलक्ष्यतामतिशयगम्यताम् । उन्मूलितः समुत्पाटितो मोहविद्विड् येन स तम् ॥ ३५ ॥ प्रभावनायां जिनमार्गप्रकाशने । समुद्यतम् उद्यमयुक्तम् । ऐक्षत व्यलोकत ॥ ३६ ॥ उज्ज्वलात्मभिः निर्मलस्वभावैः । प्रवादिन एव खद्योता ज्योतिरिङ्गणास्तेषां चयं समूहम् । पराभवं पराजयम् । उद्योतितलोकं प्रकाशितभुवनम् । लोक्यन्ते जीवादयोऽर्था यस्मिन् स लोकस्तं—जीवादिपदार्थान् प्रकाशयन्तमित्यर्थः ॥३७॥ अतीतानागतवर्तमानानां त्रिकालानां भव्यस्थितम् । अनन्यगोचरं प्रत्यक्षविषयम् । परोक्षवस्तु सूक्ष्मान्तरितदूरार्थान् सर्वज्ञज्ञानविषयान्

---

१. ब °पेत्य । २. ब शाशदो । ३. ब ' ' इति चिह्नान्तर्गतः पाठो नोपलभ्यते । ४. ब यदि । ५. ब °णेषु । ६. ब विप्र° । ७. ब इदं पर्यायपदं नोपलभ्यते । ८. ब इदमपि पर्यायपदं नास्ति ।

परोक्षेण मतिश्रुतद्वयेनोपदिशन्तं प्रकाशयन्तम् । स्वस्य परमात्मनो मार्गो रत्नत्रयं तस्य माहात्म्यमतिशयस्तस्यनिवेदने कथने उद्यतमुद्यमपरम् । व्यलोकत विलोकयामास । अन्यम् अपरम् । तपोवनं तपस्विनम् ॥ ३८ ॥ अनेका बहुप्रकाराश्चेष्टास्तपश्चरणक्रिया येषु ते तैः। पर्युपासितं सेवितम्। तपस्विनां तपोधनानां वृन्दैः संहतिभिः । अविनिन्द्यवृत्तिभिः निरवद्यानुष्ठानैः । प्रणिपत्य नमस्कृत्य । इति वक्ष्यमाण प्रकारेण । प्रचक्रमे प्रारेभे ॥ ३९ ॥ मनस्विभिः विदग्धैः । भवान्तकृत् संसारनाशकारी[1] । आत्मवेदिभिः अध्यात्मनिरतैः । आत्तशुभाः प्राप्तपुण्यातिशयाः । कृतार्थतां कृतकृत्यत्वम् । कृता० विहितजीवादिविलोकने भवति। विचारणा चर्चा ॥ ४० ॥ महामोहो गाढमिथ्यात्वं स एव तमःपटोऽन्धकारप्रावरणं तेनावृतं वेष्टितम् । कुदृष्टयः षडनायतनानि तेषां सेवयोपासने विकसद्गाढभ्रान्तिम् । वाङ्मरीचयः वचनकिरणाः ॥ ४१ ॥ निराश्रयाणाम् आश्रयरहितनाम् । आलम्बनम् अवष्टम्भः । स्थिराश्रयः दृढतरः । यियासतां गन्तुमिच्छताम् ॥ ४२ ॥ स्वभावजैः सहजोत्पन्नैः । विकसत् । कुन्दपुष्पवच्छुभ्रैः । अमेयतां प्रमाणरहितताम् ॥ ४३ ॥ दिवसा० सूर्यवत्प्रकाशमान । मार्गस्य सम्यग्दर्शनादेः शुद्धिर्निर्मलत्वं, पक्षे मार्गस्य पथः शुद्धिः । इष्टस्थानहेतुरहितम्[2] (?) अलम्भि प्राप्ता । घूकायितं घूकमिवाचरिम् ॥ ४४ ॥ विभिन्दतः अपाकुर्वतः । हार्दं हृदिभवम् । तमः पापान्धकारम् । भास्वतः सूर्यस्य । वक्त्रं मुखं किल पूर्वं बहुभिर्दृष्टमर्घादिना सत्कृतं च । यतोऽयं भगवान् पूर्वं कैरपि न दृष्टस्ततोऽपूर्वभास्वान् ॥ ४५ ॥ अपायमुक्ताम् अविनश्वराम् । पदवीं मुक्तिमार्गं रत्नत्रयम् । परे मिथ्यादृशः । प्रापयितुं लम्भयितुम् । त्वदाश्रयः भवदाश्रयणम् ॥ ४६ ॥ मोक्षलक्ष्मीप्रतिरोधविधायिनाम् ॥ ४७ ॥ सशरीरविनयराशिसमारेकिणाम् । अक्षीणि नेत्राणि ॥ ४८ ॥ मिथः परस्परम् । उदंशुः प्रस्फुरत्किरणा । द्यौः किल धारितैकचन्द्रा, अहं द्विचन्द्रा । आह्लादकरत्वाच्चन्द्रेणोपमानम् ॥ ४९ ॥ विलोकितोऽशेषाणां सभ्यानां मुखेन्दुर्येन सः । उपाददे उद्गिरति स्म ॥ ५० ॥ पार्थिवता नृपता । कादम्बर्यादिर्वा (?) यथा मदकारणमित्युक्तिलेशः । सा पार्थिवता । अन्यथा मार्दवानुरूपा ॥ ५१ ॥ गतस्पृहाणां त्यक्ताकांक्षाणाम् ॥ ५२ ॥ तुलाव्यतीतः असमानः । सार्वभौमी सर्वस्या भूमेराधिपत्यं यस्यां सा ॥ ५३ ॥ परलोकसाधने प्रेत्यभावसंस्करणे ॥ ५४ ॥ प्रश्रय० विनयनतमूर्द्धा । यियासतः गन्तुमिच्छतः ॥ ५५ ॥ इति समाकलय्य विचार्य ॥ ५६ ॥ वरं वाञ्छितं ददातीति वरदः । आत्मना स्वीकृता या दीक्षा तया अस्मान् संस्कुरु । अनुग्रहः अनुभावः ॥ ५७ ॥ निवेदितां० प्ररूपितचित्तस्थवस्तुनः ॥ ५८ ॥ सुदुष्करं कर्तुमशक्यम् ॥ ५९ ॥ धर्माय धनं यस्य स तस्य, पक्षे धर्मो दशधा धनं यस्य । अनिन्द्यं निन्दारहितं वृत्तं वर्तनं यस्य, पक्षे वृत्तं चारित्रम् । परार्थं परनिमित्तं संपद् यस्य, पक्षे पर उत्कृष्टोऽर्थः प्रयोजनं मोक्षोद्यमो यस्य ॥ ६० ॥ साधुषु यतिषु रतो विनीतः । अतः कारणात् । अनुशाधि प्रतिपालय ॥ ६१ ॥ उदीरितायां जल्पितायाम् । अचलान्तराशयः निश्चलान्तःकरणः, पक्षे अङ्गीकृतम् ॥ ६२ ॥ शिरःसमभ्यर्च्य शिरसाधार्यम् । अनुशासनं शिक्षाविशेषः । जन्मव्यसनानि संसारदुःखानि ॥ ६३ ॥ दुराधयः दुष्टा मानसव्यथाः । श्रीजिनचन्द्रप्रतिपालितम् ॥ ६४ ॥ भवमृत्युसंततिः उत्पादमरणसंतानम् (नः) ॥ ६५ ॥ विनिश्चितः परिज्ञातः एकान्तेन सर्वथा तदीयस्तस्य राज्ञो निश्चयो हठप्रतिज्ञा येन सः ॥ ६६ ॥ अग्रहीत् जग्राह ॥ ६७ ॥ अघोरमानसः शान्तमनाः । स्थिरा निश्चला एकेनाद्वितीयेन पर्यङ्केनासनविशेषेण कृता विहिता स्थितिरवस्थानं येन सः । निस्त्रिंशैः प्राणहरैः ॥ ६८ ॥ विभीषणं भयानकम्[3] ॥ ६९ ॥ तपे ऊष्मागमे । अभिसूर्यप्रतिमं सूर्यबिम्बसन्मुखम् ॥ ७० ॥ भावनासु अनुप्रेक्षासु । ध्रुवं निश्चलम् । क्षुण्णमदः निरहंकारः ॥ ७१ ॥ विविधं बहुप्रकारम् । परिणता एकीभावेन जाता उज्ज्वला निर्मला निरतिचारा धर्म (र्मे) सत्क्षमादौ लेश्या यस्य सः ॥ ७२ ॥ द्वाविंशतिसागरप्रमाणायुः ॥ ७३ ॥ विगलितायुः सम्यगनुभूतबद्धायुः । जनमनोज्ञ सर्वजनतासुन्दर । बोध्यम् (?) ॥ ७४ ॥ तूष्णीमभूत् मौनवान् जातः । बद्धा (द्धो) अञ्जलिर्येन सः । यतिवृषं मुनिप्रधानम् ॥ ७५ ॥ तत्प्रत्ययं तेषां जन्मान्तराणां प्रत्ययं विश्वासजनकं ज्ञानम् । संशयाना संशयं प्राप्तवती ॥ ७६ ॥ निशम्य आकर्णयित्वा । संदेहपङ्कं संशयकर्दमम् । अपहस्तितुं निराकर्तुम् । मदान्धमतिः मदप्रच्छादितविवेकः ॥ ७७ ॥ तत्प्रत्ययात् स चासौ प्रत्ययश्च तस्मात् । अन्यत् परोक्षम् ।

---

१. ज °करी । २. ज °नहेतुताम् । ३. ब °याणकम् ।

यन्मतिमतां संवादकं प्रतीतिजनकं तत्प्रमाणम् ॥ ७८ ॥ प्रह्लादिना आनन्दजनकेन ॥ ७९ ॥ आकस्मिकोद्गता अकारणोत्पन्ना चासौ बृहती गरिष्ठा परचक्रशङ्का च तस्यास्त्रस्यन्तश्च ते जनाश्च तैरुक्तः किमिदमितिध्वनिस्तेन पूर्यमाणो वर्द्धमानः ॥ ८० ॥ वचस्वी वाग्मी ॥ ८१ ॥ क्षरत्करटभित्तिः उद्भिन्नकपोलः । ऐरावतपराक्रमः । आरटन्तम् आक्रन्दन्तम् ॥ ८२ ॥ प्रकटः तदृष्टिपथप्राप्तः । संहारकालः प्रलयः ॥ ८३ ॥ करटिनः गजस्य ॥ ८४ ॥ बाहुबलद्वितीयः भुजबलेन दृढः, अथवा मूलबलम् ॥ ८५ ॥ परिकरं तनुत्राणनितम्बपरिधाना-दिकम् । आजुहुवे आह्वानयति स्म डुढौके वा ॥ ८६ ॥ आयतः अभिगच्छतः । हस्तिनीमूत्रवासितम् ॥ ८७ ॥ तलेन उदराधोभागेन । निर्गतवान् ॥ ८८ ॥ परिधिः प्राकारः । सौधतलं राजसदनवेदिका ॥ ८९ ॥ निः-स्पन्दं निश्चलम् । विधृतसृणिः गृहीताङ्कुशः ॥ ९० ॥ अनुपमबलवीर्यैः असदृशपराक्रमप्रभावैः । लीलया हेलया ॥ ९१ ॥ केलिं क्रीडाम् । निवासं चक्रे । अवितथं सत्यम् । महेन उत्सवेन । उद्गीर्यमानं (णं) प्रघुष्यमाणम् ॥९२॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायामेकादशः सर्गः ॥११॥

द्वादशः सर्गः

जीयाच्छ्रुतमुनिनामा मुनिपः सच्छास्त्ररत्ननिकरस्य ।
शिष्यानुरोधबुद्ध्या प्रकाशको योऽत्र सद्दृष्टिः ॥

शासनात् अनुरोधात् । निजभर्तुः पृथ्वीपालराज्ञः (जस्य) । इलाधिपतिं तं पद्मनाभम् । कुशाग्रधीः जाग्रत्प्रतिभः । वचोहरः संदेशधारी दूतः ॥ १ ॥ कठिनान् कठोरान्, पक्षे स्तब्धान् । महीभृतः पर्वतान् राज्ञश्च । मित्रबान्धवैः बन्धूकपुष्पविशेषैः । सार्द्धम् । रिपवः क्षुद्राः । महापदाश्रिताः पर्वतादिगुहास्थिताः कृताः, पक्षे रिपवः शत्रवो मित्रबान्धवैः सार्द्धं महतीं गरिष्ठामापदमाश्रिताः कृताः ॥ २ ॥ प्रभुशक्तिः इन्द्रस्येव माहात्म्यसंपत् । शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः ॥ ३ ॥ द्वितयेन द्विधावृत्त्या । मानदः म (मा) नं पूज्यत्वं ददाति यच्छति द्यति खण्डयतीति वा मानदः । तद्विपरीतवृत्तिषु अप्रणतेषु ॥ ४ ॥ संक्रामित० नियोजितवचनावलिः । इति वक्ष्यमाणम् । अक्षतस्नेहम् । दूता वचोहरा मुखं येषां ते दूतमुखाः । 'गन्धेन गावः पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदचक्षुषा । चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ इति वचनात् ॥ ५ ॥' ते सौजन्यादयो गुणाः । 'क्व सरसि वनखण्डे पङ्कजानां क्व सूर्यः क्वच कुमुदवनानां कौमुदीबन्धुरिन्दुः । अति-परिचयबद्धा प्रायशः सज्जनानां नहि विचलति मैत्री दूरतोऽपि स्थितानाम् ॥' इति न्यायः ॥ ६ ॥ विनयैक-वृत्तिता विशिष्टो नयो विनयः प्रश्रयविशेषः, तत्र एकवृत्तिता एकतानत्वम् । सुमनोभिः प्रसूनैरिव ॥ ७ ॥ लज्जया द्रवता द्रवरूपतां गच्छता ॥ ८ ॥ निजनेतुः स्वहस्तिपकस्य ॥ ९ ॥ पुरातनं पूर्वजैरनुष्ठितम् । क्रमं परिपाटीम् ॥ १० ॥ करिणा हस्तिना ॥ ११ ॥ स्वयमेव । भवानेव । आत्मवान् वशीकृतेन्द्रियः ॥ १२ ॥ जात्यन्धः स्वभावान्धः । धिया अन्तःकरणेन ॥ १३ ॥ मदादयः—'कामः क्रोधश्च हर्षश्च लोभो मानस्तथा मदः । षडमी रिपवः प्रोक्ताः शरीरस्था हि देहिनाम् ॥' । शास्ति अनुकूलतया विदधाति ॥ १४ ॥ परिभूतिभयात् पराभवसाध्वसात् । अपास्य परित्यज्य । अपसरन्ति अपगच्छन्ति ॥ १५ ॥ शठता मदान्धता । अवधीरिता अवगणिता । दुःसहः अवधीरयितुमशक्यः ॥ १६ ॥ धृतः अवरुद्धः । सत्वरैः सवेगैः । चरैः गूढपुरुषैः ॥ १७ ॥ आत्मसात्कृतः स्वीकृतः । मत्तः सकाशात् । अपेक्षारहितेन निर्भयेन ॥ १८ ॥ अज्ञजनः नीतेरनभिज्ञः ॥ १९ ॥ अर्पय प्रयच्छ । मतङ्गजं सामजम् ॥ २० ॥ प्रसादितः प्रसन्नतां नीतः ॥ २१ ॥ जिगीषुतां जेतुमिच्छुताम् । प्रणंक्ष्यति विनश्यति ॥ २२ ॥ अतिलङ्घनम् अतिक्रमः ।

१. पर° ।

वाक्येन वचनप्रतीत्या । पयोऽपि जलमपि । गोरसः क्षीरम् ॥ २३ ॥ अकैतवताम् [अकैतवाम्] अवितथाम् । प्रिया इष्टा प्रिया भार्या यस्य सः ॥ २४ ॥ आक्षिपन् आक्षेपविषयां कुर्वन् । कटाक्षितः अक्ष्णा भाषितः । उदाहरत् बभाषे ॥ २५ ॥ विनयप्रशमौ एकं भूषणं यस्य—वचसः तत्, पक्षे विगतं नयप्रशमैकभूषणं यस्य तत् । परमश्चासौ न्यायश्च तस्य समर्थने पुष्टिदाने उद्यतमुत्कटं, पक्षे परं केवलमन्यायस्य अनीतेः समर्थनोद्यतम् । उपक्रमेत प्रारभेत ॥ २६ ॥ परा उत्कटा चासौ मेधा च उद्यमश्च योग्यता च तया सहितैः, पक्षे परं केवलम् एधांसि काष्ठानि तेषां निक्षेपणे उद्यमयोग्यता (तया) सहितैः । स्तवभूतिः स्तुतिसंपत्, पक्षे तव भवतः प्रभोर्मन्दिरे भूतिर्भस्म ॥ २७ ॥ विशिष्टनयेषु एका रतिर्यस्य सः, पक्षे विनष्टा नयैकरतिर्यस्य (सः) । महान् गुणो यस्य, पक्षे महानगुणो यस्य सः । उचितम् इति काकुवचनं, पक्षे योग्यमेव ॥ २८ ॥ अक्षमा तितिक्षा ॥ २९ ॥ निजं स्वभुजपराक्रमसाधितमात्मीयम् । अक्रमः अयोग्यता ॥ ३० ॥ क्रमसंप्रकाशनैः अनुक्रमोद्योतनैः ॥ ३१ ॥ कृतपुण्यं प्राक्पुण्यपुष्टम् । अपास्यते हठाद् गृह्यते ॥ ३२ ॥ [1]अथवा श्लोक्तिप्राधान्यात् इति चेत् भयदर्शिवचः किमभिधत्से वदसि अभिधत्ते भवानिति वा पाठः ॥ ३३ ॥ अभियोक्तुं योद्धुं सन्मुखीकर्तुम् ॥ ३४ ॥ अधिकक्रमता अत्युल्लङ्घनता । लिलङ्घिषोः लङ्घितुमिच्छोः ॥ ३५ ॥ प्रविधित्सुः कर्तुमिच्छुः । अतिक्रमम् उल्लङ्घनम् ॥ ३६ ॥ विबोधनां विनिद्रताम् ॥ ३७ ॥ अभियुज्य अभिकण्डूय । अभियुक्तः कटाक्षितः । संप्रधुक्षितः प्रेरितः ॥ ३८ ॥ क्षयवान् प्रक्षीणबलः । व्यसनी विरोधापद्गतः । दैवविवर्जितः शत्रुजये भाग्यरहितः ॥ ३९ ॥ क्षुद्रजने स्वभावतो दुर्जने ॥ ४० ॥ सांख्याः संख्यया गृहीतुं शक्याः पु [पू] रुषाः सामन्ता नरा यस्य स तम् ॥ ४१ ॥ न्यगदीत् जगाद ॥ ४२ ॥ अविधेयविधिः अप्राञ्जलदैवः ॥ ४३ ॥ निमित्तं शकुनादि ॥ ४४ ॥ निजविक्रमः स्वगृहमान्यपराक्रमः ॥ ४५ ॥ उदेतुं सन्मुखं गन्तुम् । शरभस्य अष्टापदस्य ॥ ४६ ॥ अधमेन स्वतो न्यूनेन ॥ ४७ ॥ परिवारितः वेष्टितः । हतबुद्धिः मतिभ्रष्टः ॥ ४८ ॥ स्तब्धवतः कठिनस्य । यथा—'स्तब्धमुत्खनति किं न दूरतः पादपं तटरुहं नदीरयः । वेतसः प्रणमनाद् विवर्तते चाटुरेव कुरुते हि जीवितम् ॥' ॥ ४९ ॥ बहुसत्त्वयुतौ प्रचुरप्राणियुक्तौ । स्थिराशयौ स्थिरस्य तोयस्य भाजनभूतौ ॥ ५० ॥ प्रियवादपरेषु इष्टवाक्यवादिषु । कुभटेषु अष्टरणेषु (?) ॥ ५१ ॥ प्रधने संग्रामे ॥ ५२ ॥ अभीप्सितं हृद्यम् ॥ ५३ ॥ मुक्तमत्सरः त्यक्ताभिमानः ॥ ५४ ॥ असौ पद्मनाभः । अनुवादिनः जल्पितजल्पिनः ॥ ५५ ॥ उदतिष्ठत् उत्तस्थौ । प्रविसर्जिता अखिलसभ्या येन सः ॥ ५६ ॥ समं युगपत् ॥ ५७ ॥ अवभासयते प्रकाशयते ॥ ५८ ॥ कौशलैः चातुर्यप्रयोगैः ॥ ५९ ॥ अभिजाग्रति सावधाना भवन्ति ॥ ६० ॥ मदमूढान् मदेन हिताहितापरिज्ञानिनः ॥ ६१ ॥ पुरस्कृतः संस्कृतः ॥ ६२ ॥ आहितश्रुतिभिः दत्तश्रवणैः । शठेन पिशुनेन ॥ ६३ ॥ परुषं कठोरम् । उपव्रजत् अनुगच्छत् ॥ ६४ ॥ उदयन् उद्गच्छन्, उत्पद्यमान एवेत्यर्थः ॥ ६५ ॥ प्रकृष्यते परिवर्द्धते । आसर्वविदः सर्वज्ञपर्यन्तम् ॥ ६६ ॥ पुरुभूतिर्नाम मन्त्री । पुरुभूतिः गरिष्ठसंपत् ॥ ६७ ॥ ऋद्धेः संपत्तेः ॥ ६८ ॥ लिप्तधीः गर्वितमतिः । परिजिह्रेति लज्जति (ते) ॥ ६९ ॥ अलक्षवेदिनः अमर्मज्ञस्य ॥ ७० ॥ अनुशिष्यः अनुजल्प्यः ॥ ७१ ॥ जिगीषुणा जेतुमिच्छुना ॥ ७२ ॥ शबरेण भिल्लेन । हरिः सिंहः ॥ ७३ ॥ नीतिवर्तिनां नयमार्गस्थितानाम् ॥ ७४ ॥ विघटेत विनश्येत ॥ ७५ ॥ उल्मुखं प्रज्वलितमङ्गारम् । कृच्छ्रं कष्टम् ॥ ७६ ॥ प्रथमः मुख्यः ॥ ७७ ॥ प्रत्युत विपरीतम् ॥ ७८ ॥ साम शान्तिनामा नयः । 'सामदाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम् ।' ॥ ७९ ॥ प्रभुदोषशतं गरिष्ठदोषगणम् । पयोमुचः मेघाः ॥ ८० ॥ उपप्रदानतः संप्रदानात् । भेदतः भेदनयात् ॥ ८१ ॥ सासूयं सेर्ष्यम् ॥ ८२ ॥ पशुः अनड्वान् ॥ ८३ ॥ अनिरूपितकृत्यया असंदर्शितकार्यया ॥ ८४ ॥ खरः कठोरः । अविभाव्या असंभावनीया प्रकृतिः स्वभावो यस्य ॥ ८५ ॥ क्रमते संचरते । ग्रावणि शैले ॥ ८६ ॥ उशन्ति जल्पन्ति । नासादवरकरहितः ॥ ८७ ॥ तपनीयवत् स्वर्णवत् ॥ ८८ ॥ विप्रकृष्यते दूरतयोरायते (?) ॥ ८९ ॥ पादसंगमं, गभस्तिसंसर्गम् । अतिग्म० चन्द्रस्य ॥ ९० ॥ कृपणस्य कदर्यस्य—परमुखावलोकिनः ॥ ९१ ॥ असारतां रिक्तताम् । निनदन् संप्रगर्जन् ॥ ९२ ॥ परिभूतिजीवितः अपमानप्राणधारकः ॥ ९३ ॥

१. ज अथ अथवा ।

मृगराजसेविता अभिमानरूपिणी ॥ ९४ ॥ अवगात् अवजानातिस्म । च्युतनीति नीतिरहितम् ॥ ९५ ॥ क्षीणबलः क्षयंगतकटकः, इति बलव्यपेक्षा । सुहृद्व्यसनं विरुद्धं यस्येति कालव्यपेक्षा ॥ ९६ ॥ अभियातुम् अभियोद्धुम् । प्रभवेत् जयवान् स्यात् ॥ ९७ ॥ भवभूतिर्नाम मन्त्री ॥ ९८ ॥ प्रतिशब्दः भाषितभाषि (ष) णम् ॥ ९९ ॥ असमुज्झितान्वयां वंशानुरूपाम् । बृहस्पतिः सुरगुरुः ॥ १०० ॥ गहने दुष्प्रवेश्ये ॥ १०१ ॥ रभसा करणं वेगेन विधानम् । कर्मणां कार्यव्यापाराणाम् ॥ १०२ ॥ विभेदकं भेदजनकम् ॥ १०३ ॥ युवराण्मतं दण्डोऽस्तु । समयः शास्त्रवाक्यम् । षण्णां गुणानां भावः षाड्गुण्यम् । 'सन्धिविग्रहयानासनद्वैधाश्रयाः षड्गुणाः ।' ॥ १०४ ॥ रिपोः शत्रोः सर्वस्वं रहस्यम् ॥ १०५ ॥ कृतकग्रथितैः कपटरचितैः । समवाये भवाः सामवायिकाः–सभ्याः ॥१०६॥ भीमरथस्य नाम्नो मित्रस्य । रंहसा वेगेन ॥ १०७ ॥ व्यसने द्वन्द्वे ॥ १०८ ॥ घनात्यये शरदि ॥ १०९ ॥ समरं संग्रामम् । प्रहीयतां प्रेष्यताम् । द्वयाश्रितैः उभयनयाश्रितैः ॥ ११० ॥ अनलसमतिः सोद्यमबुद्धिः ॥ १११ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

श्रुतादिमुनिपात् के के न ययुः शास्त्रवारिधेः ।
यतः पारं स वः पायाद् विपश्चित्सज्जनादयः ॥

निरगमत् निर्जगाम । जिगीषया जेतुमिच्छया । प्रशमितमपसारितं प्रकृतीनामष्टादशप्रजानां व्यसनं परेणोपद्रवजननं येन । जिगु(गी) षुणा किल स्वदेशं त्यक्त्वा परदेशे तत्सन्धौ वा योद्धुं गन्तव्यमिति ॥१॥ आतपवारणं छत्रम् ॥ २ ॥ जलदवीथि० नभो विशालं विपुलम् । उत्पन्नचन्द्रारेकैः ॥ ३ ॥ प्रसृतया विस्तृतया । वारिजरागमणिः पद्मरागमणिः ॥ ४ ॥ परस्परमन्योन्यं व्यतिकरेणानुप्रवेशेनोल्लसितोद्गतामलरोचिषो निर्मलदीप्तयो यस्य सः ॥ ५ ॥ परिभवति तिरस्कुरुते । माण्डलिकान् राज्ञो मण्डलाकारोपेतांश्च । अङ्गदे वलये ॥ ६ ॥ शिखिगलाकृतिना मयूरकण्ठनीलाकारेण । रशनाश्मनां कटिमेखलानीलरत्नानाम् ॥ ७ ॥ गुरूणां मन्त्रिणां मते पर्यालोचनेऽभिरतममलं निर्व्यसनं मानसं स्वान्तं यस्य० गुरुर्बृहस्पते(ति)श्च ॥ ८ ॥ तुरङ्गमैः शीघ्रगामिघोटकैः ॥ ९ ॥ तुरगिभिरश्ववारैर्यत्नेन प्रयासेन निरुद्धो महावेगो येषां ते तैः । हरिभिः घोटकैः ॥ १० ॥ निजौजसा स्वरंहसा । अनिलः वायुः ॥ ११ ॥ निरवधिप्रसृतैः अमर्यादं विस्तृतैः । बलैः कटकैः । बृंहिते वृद्धिं गते ॥ १२ ॥ प्रविलम्बते विस्तारयन्ति । विकसद्रत्नकम्बलैः ॥ १३ ॥ डिण्डिमः जयध्वनिवादित्रम् । ध्वनितं स्वनितम् । विवर्तिता व्यापरिता ॥ १४ ॥ हे गजाः ! वः युष्मान् (कं) बलदन्तिनां शिबिरगजानाम् । मधुलिड्गणाः भ्रमरकुलानि ॥ १५ ॥ जगृहिरे परिमुञ्चिरे । धातूनामनेकार्थः ॥ १६ ॥ प्रजविभिः वेगिभिः । विषमीकृते स्पपुटीकृते । रथकड्यया रथव्रजेन ॥ १७ ॥ अपरस्य मण्डलिनः । चीवरैः वस्त्रखण्डैः । अन्तरितं गूढम् ॥ १८ ॥ विवप्सुभिर्वातुम् (वप्तुम्) इच्छुभिः । मधुव्रतानां कुलं भ्रमरसमूहस्तेनाकुलं (लः) व्यग्रं (ग्रः) कपोलं (लः) येषां ते, तैः ॥ १९ ॥ बलभरेण शिबिरप्राग्भारेण । मण्डलानि चक्राणि ॥ २० ॥ भटगणाः सामन्तनिकराः ॥ २१ ॥ परिहितं परिधानीकृतमायसकञ्चुकं लोहसन्नाहस्तेन मेचकं श्यामलम् । पदातिकदम्बकं पत्तिसमूहः । तिमिरशत्रुः सूर्यः । तामसं ध्वान्तम् ॥ २२ ॥ वंशो वेणुः, अन्वयश्च । मुष्टिगता हस्ततलस्थिता, मौनस्थिता च । गुणः मौर्वी, कुलवधूगुणाः–'अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ संभाषणे नम्रता, तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधौ स्मेरा सपत्नीष्वपि । [सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति प्राच्यैः पुत्रि निवेदितः कुलवधूसिद्धान्तधर्मागमः ॥]' ॥ २३ ॥ अवरोधपुरन्ध्रयः अन्तःपुरसुचरित्राः । अ (आ) चिररोचिषी विद्युल्लतोद्भवाम् ॥ २४ ॥ पुटभेदनं पत्तनम् । निरतैः निश्चितं सावधानैः ॥ २५ ॥ परिचिते अवलोकिते । रमणीयं सुन्दरम् । अपोहति उज्झति ॥ २६ ॥ अवरोधिका

विलासिनी । गलदम्बरं प्रस्खलद्वस्त्रम् ॥ २७ ॥ मयः करभः ॥ २८॥ वृषैः बलीवर्दैः ॥ २९ ॥ वल्लव० गोपालकामिन्या ॥ ३० ॥ वैवधिकैः भारवाहिभिः ॥ ३१ ॥ पोतः प्रवहणम् ॥ ३२ ॥ सरभसैः सवेगैः । प्रतिपालयताम् अन्वेषयताम् ॥ ३३ ॥ तुङ्गतरङ्गाः, उच्चैश्श्रवाः । आह्वयता आकारयि (य)ता । प्रतिनिःस्वनैः प्रतिशब्दैः ॥ ३४ ॥ एधितया समृद्धया ॥ ३६ ॥ शिरोधरा कन्धरा । व्यधित अकृतं (त) ॥ ३७ ॥ मधु-पायिनां भ्रमराणाम् । वसुमतीदयितं राजानम् ॥ ३८ ॥ शारदयात्रया शरत्कालगमनेन ॥ ३९ ॥ हृदयहृतो(?) वयांसि पक्षिणो यासु ताः, पक्षे वयः प्रथमयौवनम् । अम्बरं गगनं, वस्त्रं च । पयोधराः मेघाः स्तनाश्च ॥४०॥ गोष्ठमहत्तरैः गोपालप्रभुभिः उपहितानि आनीतानि ॥ ४१ ॥ असहाम् असमर्थाम् । शुकानां कीराणाम् ॥ ४२ ॥ बृहन्तः (त्यः) स्थूलाश्च ते (ताः) अलाबुकास्तुम्बकाश्च बृहदलाबुकास्तेषां (तासां) गौरवेण भारेण वामनां मनिम्नाम् (निम्नाम्) । वृत्तिं वाडिम् ॥ ४३ ॥ समीहिताम् अभिलषिताम् । सज्जनगोचरा । सज्जनाः किल फलसंपदं प्राप्य नम्रा भवन्ति ॥ ४४ ॥ अवजानतीम् आदरमकुर्वाणाम् । कैतवं छद्म ॥ ४५ ॥ शशिकराङ्कुरवत् निर्गमवत् (?) निर्मला गावो भूमयो गोमण्डलानि वा येषु ते तान्, पक्षे गावो वाचो येषां बुधानां ते । सीमा बहिर्भूमिविशेषः, मर्यादा गाम्भीर्यं च ॥ ४६ ॥ कोकं चक्रवाकम् ॥ ४७ ॥ मथिध्वनिं मन्था (न्थ) न शब्दः । भुजङ्गद्विषां मयूराणाम् ॥ ४८ ॥ कुरङ्गकुलं मृगयूथम् ॥ ४९ ॥ 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः ।' ॥ ५० ॥ गौः दृष्टिः ॥ ५१ ॥ अवहितश्रुति सावधानं यथा भवति तथा ॥ ५२ ॥ कुथवाहिनीं 'कुथः स्यात्करिकम्बलः' वाहिनीं नदीम् ॥ ५३ ॥ घनाघनाः मेघाः ॥ ५४ ॥ समवगाढवतां मज्जताम् । कटतटात् कपोलमूलात् ॥ ५५ ॥ पततां पक्षिणाम् ॥ ५६ ॥ सततायनो वायुस्तस्य वर्त्म गगनम् । प्रतिमया प्रतिच्छायया ॥ ५७ ॥ अम्बुधराणां मेघानामध्वनि मार्गे विहायसि ॥ ५८ ॥ अंशुमदंशुषु प्रच्छादितसूर्यकरासु । नभःसदां खेचराणाम् ॥ ५९ ॥ उपरञ्जितवारिभिः संस्कृतजलैः ॥ ६० ॥ वारणानां गजानाम् ॥ ६१ ॥ अम्बुवाहवीथीम् अन्तरिक्षम् ॥ ६२ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

श्रुतादिमुनिपस्यास्य किं वर्ण्यन्ते वचोंऽशवः ।
बहुशोऽस्तानि भव्यानामज्ञानतिमिराणि यैः ॥

मणिकूटं नाम पर्वतम् । उच्चैर्दृषदं स्थूलोपलम् । तडित्वतां विद्युत्सहितानाम् ॥ १ ॥ कटैः [कटकैः] नितम्बैः । अद्वितीयाम् अनन्यसंभाविनीम् । चूडामणिः शिरोरत्नम् ॥२॥ किङ्किणीनां क्षुद्रघण्टिकानाम् ॥ ३ ॥ तपान्तः मेघकालः तस्य लक्ष्मीः शोभा ॥ ४ ॥ गगनेचराणां नभःसदाम् ॥ ५ ॥ सवितुः सूर्यस्य ॥ ६ ॥ प्रभावतः तपसा दीप्यमानस्य । प्रभावतः माहात्म्यात् । नरः पुमान् । गतः प्राप्तः । रोगतः व्याधेः ॥ ७ ॥ नितम्बः कटकः । खचराः विद्याधराः ॥ ८ ॥ इन्दुमणि० चन्द्रकान्तमणिप्रणालात् । अ [भि] नवोद्भिदाः ॥ ९ ॥ अनाशं० निःशङ्कमतयः । कान्तैः भर्तृभिः । कान्ताः कामिन्यः ॥ १० ॥ घना निबिडा अयमाने नीयमाने । घनायमाने मेघकल्पे । कमनीयभावं सुन्दरत्वम् । देहविभा कायकान्तिः । सुराणां देवानाम् । विभासुराणां देदीप्यमानानाम् । अचिरांशुदेश्या विद्युत्तुल्या ॥ ११ ॥ पतङ्गोपलः सूर्यकान्तपाषाणः । अपार-यन्त्यः अशक्नुवन्त्यः । द्विषन्ति निदन्ति । तुरङ्गवक्त्राः किन्नर्यः ॥ १२ ॥ ग्रावतले पाषाणोपरि । जडीकृतः शीतो विहितः । तपेऽपि ग्रीष्मेऽपि । पतङ्गः सूर्यः ॥ १३ ॥ श्रमापोहः श्रमापनयनम् । प्रत्युपकर्तुकामैः प्रत्युप-करणाभिलाषिभिः ॥ १४ ॥ कान्तैः मनोहरैः । विचित्राः बहुविधाः । प्ररूढैः प्ररोहतां गतैः । शाखिभिः वृक्षैः । तिरोहितः प्रच्छादित इनो रवि येन सः ॥ १५ ॥ मधु पुष्परसः । समुन्नयन्तः उत्पादयन्तः । भृङ्गाः भ्रमराः ॥ १६ ॥ घनध्वान० मेघघनादसदृशम् । यत्सानुगतं यच्छिखरस्थितम् । वितृष्णं विमनस्कम् ॥१७॥ ध्येयहिमे

चिन्त्यशीते । अभ्यन्त्रिषु जलयन्त्रयुक्तेषु । सिद्धाः देवविशेषाः ॥ १८ ॥ निस्तमसौ निरस्तान्धकारौ । समुत्कः सहर्षः । समुत्कः उत्कण्ठः (सुतरामुत्कण्ठितः) । चमून्या सेनापतिना । जगतो लोकस्य एकोऽद्वितीयः पाली रक्षकः । जगदे बभाषे । कपाली ईश्वरः ॥ १९ ॥ निषेव्यविवरः संसेव्यकन्दरः । वरः श्रेष्ठः । निर्झरः जलप्रवाहः । सहदन्तिभिर्गजैश्चमरैः सुरभिभिश्च यः । अमरैः देवैरुपहित उपरुद्धो माधवीनां लतानां मण्डपो यत्र सः । विकासीनि विकस्वराणि कमलानि पङ्कजानि यत्र । अमलोपलानां निर्मलपाषाणानां विचित्राभिर्भाभिर्भासुरः । नगः पर्वतः । ईक्षितः अवलोकितः ॥२०॥ पाण्डुरः विशदः । सैकतां सिकतामयीं । रजसा परागेण । एकतां मिश्रताम् । सरसां सजलाम् । अलंकृतदिशां विभूषितककुभाम् । सरसां सरोवरणाम् ॥ २१ ॥ सानुभाजः प्रस्थस्थितस्य । संप्रसर्पन् अभिगच्छन् ॥ २२ ॥ महीरुहाः वृक्षाः । विरहिताः उज्झिताः । सुरजनैः देवलोकैः । विकलाः रहिताः । अम्बुरुहैः कमलैः ॥ २३ ॥ कन्दरागोचरैः दरीषु स्थितैः । सुगन्ध-(न्धि-) निर्मलवस्त्रैः । अवसितसुरतैः सेवितकामैः । मारुतः वायुः ॥ २४ ॥ निकुरम्बं कदम्बकम् । स्थलपुण्डरीकखण्डैः स्थलकमलवनैः । विकासशालिभिः प्रकाशशोभमानैः । द्यौः गगनम् । उचितानि योग्यानि रुचितानि वा कान्तिमन्तीनि अनेकानि प्रचुराणि सलाञ्छनेन्दुबिम्बानि यस्याम् ॥ २५ ॥ रतिषु मैथुनेषु ॥ २६ ॥ गत्यन्तरव्यपगमात् उपायान्तराभावात् । पिदधत् आच्छादयत् । अधोवस्त्रापहारिणाम् । अधिगुहं गुहासु मध्ये ॥ २७ ॥ बिम्बिताः पुष्पगुच्छैः पुष्पस्तबकैर्निचिताः संभृता व्रततयो वल्लर्यो यासु, विद्युल्लतानुसरणसमर्थकान्तिषु । काञ्चन० सुवर्णतटीषु । धिषणां भ्रान्तिमतिम् । नीलदलोपहारविषयां नीलोत्पलविस्तारगोचराम् ॥ २८ ॥ मेचक [असित] रत्नानि श्यामरत्नानि । परितः इतस्ततः । मेचकितत्विषः श्यामलितकान्तयः । शरद्घनाः शरन्मेघाः ॥ २९ ॥ मानोन्मादस्य व्यपनयेऽपसारणे चतुराः प्रौढाः । षटिसयुवतयः योजिताङ्गनाः ॥ ३० ॥ गर्जितनितम्बभूतलम् । तारम् उच्चैः । अन्ते समीपे । प्रियाणां भर्तृणाम् । आदृतैः आदरयुक्तैः । हेममही सुवर्णभूमिः । नभोगैः गगनचारिभिः । अहीनभोगैः अधिकसुखिभिः ॥ ३१ ॥ यातुः [यातः] गच्छमानस्य । प्रविष्टं बिम्बितम् । रत्नभूमौ । वन्यः वने भवो वन्यः । पोतः अर्भकः । लौल्येन अतिगृद्धया ॥ ३२ ॥ मुनिघनः मुनिभिर्यतिभिर्घनो निबिडः । अघानां पापानां नोदने स्फेटने सहः समर्थः । हस्तिचमरैः सहितः । अमरोचिततटः देवयोग्यनितम्बः-मेरुसंनिभः । अम्बरसदां द्युसदाम् । अञ्चिता पुष्टिं गता विभा दीप्तिर्यस्य ॥ ३३ ॥ नीलोपलाः श्यामदृषदः । सान्द्रीकृतं घनीकृतम् । क्रीडा० रमणप्रच्छादितगात्राः । तासां युवतीनां श्वासो मुखवायुः तस्य संगेन सुरभिः सुगन्धः (न्धिः) । विवृणोति विस्पष्टयति ॥ ३४ ॥ कुसुमितवानीरालीः पुष्पितवानीराणां वेतसविशेषाणामालीस्ततीः । 'शीतवानीरवञ्जुलाः' इत्यमरः । आलीनालीः उपविष्टभ्रमराः । वायुवेगचलितप्रान्ताः । ताम्ताः दूनाः । घर्मैः आतपैः । अविरतमूलपातीः अनवरततटोद्धर्षकः । प्रसृतः विस्तृतः । नद्या नीरौघो जलसमूहः ॥ ३५ ॥ घाती (ति) नां चतुर्णां कर्मणां निर्मथनेन नाशकरणेन लब्धं प्राप्तं केवलं ज्ञानातिशयो यैस्ते । परिनिर्विवासवः मोक्तुमिच्छवः । समबलत्वं समानत्वम् ॥ ३६ ॥ शिखरे स्थितानां मणिशिलानाम् । शाखिनां वृक्षाणां शाखानामन्तरालैर्मध्यैः । प्रसृताः व्यापृता रविकरा येषु । उल्लसन् प्रकाशमानो यो रोचिषां दीप्तीनामोघः समूहः । तडितः विद्युतः । अनुकृतिम् अनुकरणं करोति तडि० । शङ्कित आरेकितोऽम्भोदकालो जलदसमयो यैस्ते । मदयितुम् उल्कोचयितुम् (?) । अलं समर्थः । नीलकण्ठान् मयूरान् ॥ ३७ ॥ तटरुहाः तटस्थाः । अतिमहतीषु प्रोच्चासु । कुसुमस्तबकः पुष्पगुच्छः ॥ ३८ ॥ निकरैः समूहैः । रुचां दीप्तीनाम् । तिमिरसंघातस्य नाशकरैः । अमितैः प्रचुरैः । वियत् गगनम् । अपारम् अमर्यादम् । इतैः प्राप्तैः । विहितैः मूर्च्छितैः । स्फुरन्मणिरुचौ स्फुरतां [मणीनां] रुचयो दीप्तयो यत्र । इह पर्वते । रजनिषु रात्रिषु । ग्रहपतेः चन्द्रस्य यथा ॥ ३९ ॥ निष्क्रान्तैः निःसृतैः । शिखरचयात् कूटसमूहात् । निरन्तरालैः सान्द्रैः । आलीढाः आलिङ्गिताः । सरसिजरागाः पद्मरागमणयस्तेषां किरणसमूहैः । श्रीमत्तां दीप्यमानत्वं लक्ष्मीमत्त्वं वा । दधति धारयन्ति । नीरक्तैः निश्चितमरुणैः । वसनैः वस्त्रैः । परिष्कृताङ्गाः भूषितावयवाः ॥ ४० ॥ एकवर्णम् एकादृशम् (?) । अप्रतिवार्यवीर्यः अनिवार्यपराक्रमः । उदीर्ण० उद्गतमणिदीप्ती ॥ ४१ ॥ राजीः वीथीः । उदितश्रमेण उत्पन्नखेदेन । पृतनायाः सेनायाः विनिवेशस्य अवस्थितेः स्थानम् ॥ ४२ ॥ उपाहितभूरिशोभाः स्वीकृतप्रचुरकान्तीः । प्रियाणां कमनीय-

कामिनीनाम् । शिशिरेतररश्मिः सूर्यः ॥ ४३ ॥ द्राघीयसोः दीर्घतराः । अविरलं सान्द्रम् । पटमयापणानां हट्टानां राजिभिः श्रेणिभिस्तताः (श्रेणिभिः शोभितान्ताः) । परस्परव्यतिकरोपेताः । वीथीः आपणपङ्क्तीः ॥ ४४ ॥ अक्षुभ्यत् चुक्षोभ ॥ ४५ ॥ राजाधिराजवसतेः पद्मनाभमहीशनिवासस्य । मन्दुरायाः वाजिशालायाः । पण्याङ्गनापरिषदः वेश्यासभायाः । विपणिः पण्यवीथिका । पर्याकलय्य विचार्य ॥ ४६ ॥ परिचितान् पूर्वमनुभूतान् । अनुपालयन्तः उपासयन्तः । वास्तव्यवत् स्वनिवासे यथा ॥ ४७ ॥ उरुपरिश्रमेण खिन्ने खेदं प्राप्ते जङ्घे यस्य । पर्यूहितुं वितर्कितुम् । स्ववर्गे भवः स्ववर्ग्यः तस्य व्याहारे[1] उक्ते नादे शब्दे दत्तकर्णः ॥ ४८ ॥ तत्कालीनपाकेन विस्तृतम् । इङ्गुरिकादिपरिमलम् । अजायत ज्ञानम् ॥ ४९ ॥ शिथिलं मन्दं मन्दं यथा भवति । अच्छाच्छम् अत्यन्तनिर्मलम् । श्रमव्यये अपनोदे चतुरः ॥ ५० ॥ उत्तीर्णः अपसारितः पल्ल्ययनस्य भूरिभारो येषां ते । भुवि वेल्लनाय लोठ (लुण्ठ) नाय । 'आवर्तस्त्वम्भसां भ्रमः' शिबिराम्बुराशिः कटकजलधिः । ॥ ५१ ॥ संमूर्च्छता प्रतिनादमुत्पादयता ॥ ५२ ॥ सप्तिनिकरे घोटकसमूहे । सलिलाशयानाम् अगाधजलानां ह्रदानाम् । कल्लोलनिकरैः ॥ ५३ ॥ संयेमिरे संयमिताः परिबद्धाः । क्षिप्तोलपासु प्रसारितदूर्वासु । वाजिशालासु । कथंचन महता कष्टेन ॥ ५४ ॥ तोयावगाहचलितैः प्रस्थितैः । नीलदेहैः श्यामतनुभिः । उत्सारितः दूरीकृतः । अद्रिकूटैः पर्वतशिखरैः ॥ ५५ ॥ पुष्कराणि करिहस्ताग्राणि । उदमीमिलत् प्रकाशयत् ॥ ५६ ॥ अनुकृतान्याचलानां तुङ्गशृङ्गाणि यैः । रुचिरावयवैः मनोहरगात्रैः ॥ ५७ ॥ भूभृत्सरित्सु पर्वतनदीषु । गण्डस्थलेभ्यः कपोलमूलेभ्यः प्रविगलन् प्रच्योतमानश्चासौ मदपूरश्च तेन पूर्णम् । उत्तितीर्षोः उत्तीर्तुं (उत्तर्तुं) मिच्छोः ॥ ५८ ॥ जितकाशिना शुभ्रा गजाः । सलीलं लीलायुक्तम् । मदेन मन्दं मन्दं यथा भवति । करेणुपाश्चात्यभागः हस्तिनीपृष्ठतलम्[2] ॥ ५९ ॥ वन्येभानां वनगजानां गण्डकषमं कपोलोद्धर्षणं तस्मात् स्वीकृतदानपरिमले । नियमनाय नियन्त्रणाय । नियन्त्रा हस्तिपकेन । अपदेऽपि अस्थानेऽपि ॥ ६० ॥ श्यामलमेघसदृशैः । प्रविशालवंशैः विस्तीर्णपृष्ठभागैः । नागैः गजैः ॥ ६१ ॥ रुचये ग्रासप्रीत्यै । प्रत्युत पुनरेवाहिता उत्पादिता वनस्मृतिः स्मरणं येन तत् । सावज्ञम् अनादरसहितम् ॥ ६२ ॥ महोक्षाः अनड्वाहः । श्रमच्छेदकानाम् । कूलानि रोधांसि । खलः पिण्याको दुर्जनश्च ॥ ६३ ॥ क्षितिरुहां वृक्षाणाम् । बभूवे तस्थे । अलसमीलितनेत्रयुगलैः ॥ ६४ ॥ विच्छिन्न० प्रच्छादितकर्णसुखकारिस्वका [क] लीकम् । 'काकली तु कले सूक्ष्मे' इत्यमरः । मयानाम् उष्ट्राणाम् ॥ ६५ ॥ क्षुद्रेतरक्षितिरुहां महद्वृक्षाणाम् । करभैः उष्ट्रैः । प्रवालजाले विद्रुमसमूहे । भृशायतशिरोधिभिः उद्धृतकन्धरैः । अस्यमाने ग्रस्यमाने । क्षीरापदेशः क्षीरव्याजेन प्रमदाश्रुजलम् । महतां किल स्वसंपदि परार्थायां प्रमोदः स्यात् ॥ ६६ ॥ चन्द्राकार० स्कन्धावारं सैन्यम् । अमलानि मलरहितानि डिण्डीराणामब्धिकफानां पिण्डानि यत्र सः । पयोधिः । चञ्चन्तो धावमाना वाजिव्रजाः समूहा यत्र तज्जयी । अविरतमनवरतमुद्भ्रान्ता कल्लोलमाला यत्र । सर्पन्तश्चङ्क्रममाणा मत्तद्विपा यत्र तत् तज्जयी । अभिसरन्नक्रचक्रः अभिगच्छद्ग्राहसमूहः । अपारः पारवर्जितः ॥ ६७ ॥ निविष्टसैन्यम् आस्थापितशिबिरम् । अन्तिके निकटे ॥ ६८ ॥ बलं सैन्यम् । विभावरी रात्रिः । प्रफुल्लन्न (न) क्षत्रेक्षणा । तारकाक्षणः कनीनिका इत्युक्तिलेशः ॥ ६९ ॥ तस्यां विभावर्याम् । श्रुतपरबलं (लः) आकर्णितायातशत्रुसैन्यः । भाविसंग्रामचर्चाम् आगामिसमरगोष्ठीम् । विशिष्टाम् ई श्री[3] (श्रियम्) ईरते इति वीरः ॥ ७० ॥ भुवनभवनं जगद्गृहं तत्र प्रदीपीभूतं प्रकाशकरं बिम्बं यस्य सः । नियत्या धात्रा उदयविरुद्धामस्ताभिधाम् । मुकुलित० मीलितकृशतारानयना । आलोचन्ती विरहमिव शोचयन्ती ॥ ७१ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

---

१. ज °हारस्य । २. ब °स्थलम् । ३. ब श्रोई ।

पञ्चदशः सर्गः

श्रीमत्तार्किकचक्रचर्चितपदं सिद्धान्तसत्तोयधे-
र्मध्योन्मज्जनलब्धदृष्टिधिषणासद्वृत्तरत्नत्रयम् ।
स्याद्वादास्तसमस्तशिष्यहृदयध्वान्तं स्वसंवेदन-
ज्ञानज्ञातनिजं श्रुतादिकमुनिं वन्दे जनोद्बोधकम् ॥

अथ आनन्तर्ये[1] भूभृतां पर्वतानां राज्ञां च । कटकाः नितम्बाः सैन्यानि च । संनाहार्थं पटहानां ध्वनिः ॥ १ ॥ तस्मिन् ध्वनौ पताकिनी सेना ॥ २ ॥ मदोद्धताकारैः प्रोन्मत्तावयवैः । 'चक्षुषी द्वे कपोलौ च पाणिपान्नाभिमेहनाः । अष्टौ स्थानानि नागानां मदस्य स्रुतिहेतवः ॥ ३ ॥' आनशिरे पूरितानि । पुलकोद्गमैः रोमाञ्चैः ॥ ४ ॥ उपचक्रमे प्रारब्धम् । समरे संग्रामे । समरेखकं चतुरस्रम् । हृष्यति पुलकिते । तनुच्छदं कङ्कटकम् । अपर्याप्तम् अनीप्सितम् । ना पुमान् कश्चित् । नामुञ्चत् शरीरे न त्यक्तवान् । पुनरमुचत् त्यक्तवान् । पुनः वारं वारम् ॥ ६ ॥ लघुभूतं स्तोकीभूतम् । स्वकरस्पर्शात् स्वहस्तसंश्लेषात् ॥ ७ ॥ वीररसे विद्यमानेऽपि कान्तां दृष्ट्वा शृङ्गाररसेन द्विगुणीभूतैः । अन्तर्दधे अन्तर्हिता ॥ ८ ॥ रिपुरोषेणारुणीभूता या छविः तया छुरित० कर्बुरितकवचैः ॥ ९ ॥ बहुभयानकगभीरायाः । भूः भूमिः । इभैः गजैः । अवधि ताडिता । इरायाः सुरायाः । 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इत्यमरः । सदृशमदैः । अत्र मद्यसदृशे दाने भूमौ पतिते स्वमेव प्रतिबिम्बं दृष्ट्वा पूर्वदृष्टस्य प्रतिगजस्य श्रुतेरवधारणाद् भूरेवावधि ॥ १० ॥ अनिष्ठया चलतया ॥ ११ ॥ व्यवायेन व्यवधानभूतेन । जयलक्ष्म्याः परिष्वङ्गमहं विदधे । व्यवाय[2]मयं करोतीति वा हेतोः ॥ १२ ॥ भीमरथो नाम नृपतिः ॥ १३ ॥ भीमरथस्यापत्यं भैमरथिः ॥ १४ ॥ कृतोत्सर्गः विहितसंप्रदानः ॥ १५ ॥ सः चतुरः । सच्चकार संमानयामास । कुलकम् ॥ १८ ॥ विशेषज्ञः कार्यविपश्चित् । तत्सात् तदीयमेव ॥ १९ ॥ सेना वाहिनी । सह इनेन प्रभुणा वर्तते इति सेना । यती प्रयत्ने गच्छमाना । बद्धराजिः कृतश्रेणिः । आजिसमुत्सुका संग्रामोत्कण्ठा । चक्राणि च इषवश्च खड्गाश्च अस्त्राणि च तैः सारा स्थिरा । सा सेना अरातिसाध्वसं भियं चक्रे विदधे ॥ २० ॥ महामात्रैः प्रधानैः । सज्जीकृतं सावधानीकृतम् । पुरोधसा रोपितास्त्रं मन्त्रपूतत्तया धृतास्त्रम् । अभिशत्रु शत्रुसन्मुखम् ॥ २१ ॥ रथिना रथारूढेन । अनुसस्रे अनुजग्मे ॥ २२ ॥ रणविग्रहं (रणविग्रह-) नामानम् । पूषणं सूर्यम् ॥ २३ ॥ दीप्यमानार्घ्यशस्त्रमूलम् ॥ २४ ॥ हस्त्यश्वरथपादातिलक्षणबलसहिताः ॥ २५ ॥ व्यक्तेयत्प्रमाणा ॥ २६ ॥ स्वनं कृतवती ॥ २७ ॥ परीयाय प्रदक्षिणं कृतवान् । 'लोमा कांस भर[3]जनकुलः खञ्जरीटकः । एतेषां दर्शनं ग्राह्यं दुर्लभा च प्रदक्षिणा ॥' प्रदक्षिणं दक्षिणां दिशमासृ (श्रि) त्य काको मृदु वावसे [ववाशे] शब्दितवान् ॥ २८ ॥ सुश्रुवे श्रुतम् [सुसुवे सुतम्] ॥ २९ ॥ इष्टैः मनोऽभिलषितैः । इष्टार्थो जयस्तस्य सूचकैः ॥ ३० ॥ सराजकनृपतिः [सराजकः] क्षत्रियगणसहितः । अमर्षात् रोषात् ॥ ३१ ॥ अशिवम् अकल्याणकरम् ॥ ३२ ॥ आर्तं रुदितस्य स्वरं शब्दम् ॥ ३३ ॥ सम्मुखवाराम् । रुधिरवर्षणम् ॥ ३४ ॥ संघट्टः तुमुलम् ॥ ३५ ॥ त्वरान् शीघ्रवेगान् ॥ ३६ ॥ मदोत्सेकेन मद्यसिञ्चनेन । वल्गन्ती शस्त्रश्रमं कुर्वती ॥ ३७ ॥ 'हेषा ह्रेषा च निस्वनः' इत्यमरः । कूजत्पटहे ॥ ३८ ॥ अरिः कश्चिच्छत्रुः । किंविशिष्टः । रैरोराः रायं द्रव्यं राति ददातीति रैरो धनदस्तद्वदुरो हृदयं यस्यासौ रैरोराः—धनदवत् त्यागकरणे विपुलमनाः । रैररैरेरी रायं रातीति रैरो धनदाता स चासौ रैरश्च धनदश्च रैररैरः धनव्ययकर्ता धनदः तमीरयति परिभवतीति रैररैरेरी । स्वदातृत्वेन धनदातुर्धनदस्यापि जेता, परिभवकर्तेत्यर्थ । पुनरपि किंविशिष्टोऽरिः । रोरुः शब्दयन् स्वमाहात्म्यं (त्म्य-) सूचक इत्यर्थः । पुनरपि किंविशिष्टः । उरूरूरुः ऊरू च ऊरू च स्थूलस्थूलौ ऊरू जङ्घे यस्य स उरूरूरुः दृढजानुरित्यर्थः । स च (चा) रेः शत्रोः सम्मुखम् । अरीरैः अराश्चक्राङ्गानि विद्यन्ते येषां तान्यरीणि चक्राणि तेषामीरैः क्षेपैः चक्रक्षेपैरित्यर्थः । कथम् । अरम् अतिशयेन । आर डुढौके । किंविशिष्टस्यारेः । रोरोः

१. ब °न्तरे । २. ब विवाह° । ३. ब 'भर' इति नास्ति ।

स्वमाहात्म्यं शब्दयतः । 'रु शब्दे' धातो रु—प्रत्ययः । उणादिकः । पुनः किंविशिष्टस्यारेः । उरूरूरोः स्थूलस्थूलोरोः स्वसदृशजङ्घस्य । पुनरपि किंविशिष्टस्य । उरोः गरिष्ठस्य जनप्रसिद्धस्येत्यर्थः । एकाक्षरः ॥ ३९ ॥ कक्षा स्पर्द्धा । आह्वास्त आकारयति स्म ॥ ४० ॥ अस्थास्नुभिः अस्थिरैः । क्रेतुं मौल्येनादातुम् ॥ ४१ ॥ अरिशरजालं शत्रुबाणसमूहम् ॥ ४२ ॥ निजाश्च ते इषवो बाणाश्च० । नाज्ञासिषुः न ज्ञातवन्तः ॥ ४३ ॥ स्मारं स्मारं स्मृत्वा स्मृत्वा ॥ ४४ ॥ समुदा सहर्षेण । येन शत्रुणा । यः शत्रुर्जितः । तेन जितेनापि । सः शत्रुः । अस्त्रसमुदायेन शस्त्रसमूहेन योजितः ॥ ४५ ॥ ततः इभकुम्भकुम्भात् ॥ ४६ ॥ भूरितापाः प्रचुरसंतापकराः । रणाशयाः समराभिप्रायाः । भूतैः देवभेदैः । युद्धभूः संग्रामभूमिः । इता प्राप्ता । पारणाशया भोजनाभिप्रायेण ॥ ४७ ॥ बाणधौ भस्त्रे ॥ ४८ ॥ धीरधीरारिरुधिरैः धीराश्च धीराश्च धीरधीराः निष्कम्पाः ते च तेऽरयश्च अन्योन्यशत्रवस्तेषां रुधिराणि तैः । उरुधाराधरैः उरवश्च ते धाराधरा मेघाश्च, अथवा गरिष्ठधारया पतमानैः । अरम् अतिशयेन । धराधराः पर्वतास्ते आधारोऽवष्टम्भो यस्याः सा । अधः प्रदेशेऽधरा धरा निम्ना निम्ना[1] धरा भूमिस्तैः रुधे पूरिता आधृता[2] इत्यर्थः । द्व्यक्षरचित्रम् ॥ ४९ ॥ जज्ञिरे जाताः । प्रगुञ्जज्झिनदाः प्रगुञ्जच्छब्दाः । नदाः ह्रदाः । आसन् जाताः । मूल० मूलताश्छन्नाः । मकराः जलजीवाः । कराः शुण्डादण्डानि (-ण्डाः) ॥ ५० ॥ अङ्गमङ्गं प्रति प्रत्यङ्गम् ॥ ५१ ॥ केन पतता मस्तकेन । तत्रसुः त्रस्ताः । आलोकं दृष्टिगोचरताम् । गतेन प्राप्तेन । मृतकसंबन्धिना[4] । के प्रसिद्धाः । तत्र आजौ । सुराः देवाः । स्वम् आत्मीयम् । लोकं देवलोकम्[5] । त्यक्त्वा । कौतुकं द्रष्टुमागताः[6] ॥ ५२ ॥ कबन्धैः अ-प मूर्द्धकलेवरैः ॥ ५३ ॥ निरन्तरनिपातिनां सान्द्रवर्षिणामिषूणां बाणानां जालैः समूहैः ॥ ५४ ॥ रणरङ्गभूः समरोत्साहभूमिः ॥ ५५ ॥ स्वामिनामा प्रभुशब्दवाच्यः । ना पुमान् । येनैकोऽपि न जितः । तस्य नृता पुरुषत्वं न बभूव । स्वामिना प्रभुणा च । अनृता असत्या । मानना मान्यत्वम् । न कृता ॥ ५६ ॥ धीरः निष्कम्पः ॥ ५७ ॥ प्रजह्रुः युयुधुः ॥ ५८ ॥ प्रति-[पत्ति-] सादिताः पदातिभिर्मारिताः ॥ ५९ ॥ रणाङ्गणम् ॥ ६० ॥ भङ्गं पलायनम् । उत्तस्थौ[7] ढुढौके ॥ ६१ ॥ कृच्छ्रे कृ [क] ष्टे ॥ ६२ ॥ संभ्रमं भङ्गम् । न पूर्वं दृष्टं कैश्चिदित्यदृष्टपूर्वम् ॥ ६३ ॥ रणे युद्धे ॥ ६४ ॥ कोदण्डेन धनुषा दारुणो भीष्मः ॥ ६५ ॥ शत्रुकुलं यूथम्[8] ॥ ६६ ॥ कटाक्षयामास अभिसस्रै (स्रे) ॥ ६७ ॥ 'तुमुलं रणसंकुले' । इत्यमरः ॥ ६८ ॥ हुतभुक्शिखम् अग्निज्वालम् । रोपाः इषवः ॥ ६९ ॥ आरावः शब्दविशेषः । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' । इत्यमरः । मेघच्छन्नाहः ॥ ७० ॥ रन्ध्रम् अवसरम् । शशिशेखरः पृथ्वीपालसेनानीः ॥ ७१ ॥ शक्त्या आयुधविशेषेण ॥ ७२ ॥ प्रभोः पृथ्वीपालस्य । पुरः अग्रे । केतुनामा[9]; केतुर्ग्रहविशेषः ॥ ७३ ॥ स्फुरदहंकारबृहद्द्विषः ॥ ७४ ॥ केतौ भग्ने पलायिते । सुकेतुनाम्नः[10] (म्ना) ॥ ७५ ॥ शतशः[11] । बहुखण्डम् ॥ ७६ ॥ छिन्नपक्षं भग्नबाहुम् । विरोचन इव सूर्यो यथा ॥ ७७ ॥ विमुखं वृत्तपृष्ठम् ॥ ७८ दुधुवे प्रकम्पितम् । समुद्दी० दर्पितमनसा ॥ ७९ ॥ अभिशत्रुपताकिनीं शत्रुसैन्यसन्मुखम् ॥ ८० ॥ अरिवाहिनीं शत्रुसेनाम् ॥ ८१ ॥ प्रत्यवतस्थे स्थगितः ॥ ८२ ॥ विस्मितामराः आश्चर्यं गतदेवाः (?) ॥ ८३ ॥ नूनं निश्चितम् । अमूर्तमेव ॥ ८४ ॥ नाजीगणत् न ज्ञातवती ॥ ८५ ॥ शङ्कुजा [ना] आयुधविशेषः (विशेषेण) ॥ ८६ ॥ प्रतीक्षते अवलम्बते । दशनच्छदम् उष्टम् (ओष्ठम्) ॥ ८७ ॥ गाढः दृढः ॥ ८८ ॥ प्रतीच्छन् लभमानः ॥ ८९ ॥ समुत्तेजित० त्वरित० ॥ ९० ॥ समापतन्तं समागच्छन्तम् ॥ ९१ ॥ प्रहृत्य चिरकालं युद्ध्वा ॥ ९२ ॥ ववले व्याघुटितः । माहीरथे महीरथसंबन्धिनि ॥ ९३ ॥ कोलाहलः कलकलः ॥ ९४ ॥ धृतं गृहीतं दिव्यं मन्त्रात्मकं शरासनं धनुर्येन ॥ ९५ ॥ संभूय एकीभूय । राजकं क्षत्रियगणः ॥ ९६ ॥ 'भक्षको घस्मरोऽद्मरः' । इत्यभिधानात् ॥ ९७ ॥ वाहितरथं व्यापारितस्यन्दनम् ॥ ९८ ॥ प्रहर्तुं घातं कर्तुम् ॥ ९९ ॥ नः अस्मान् । असदृशसंग्रामम् ॥ १०० ॥ शक्नुथ शक्ता भवथ ॥ १०१ ॥ धनुर्ज्यां मौर्वीम् । आस्पृशन् टङ्कारयन् ॥ १०२ ॥ चापलसूचनैः दुश्चरित्रप्रकाशनैः

---

१. ब 'निम्ना' इति नोपलभ्यते । २. ब °वृता । ३. ब ग्रहाः । ४. ज °न्धिनाः । ५. ब 'देवलोकम्' इति नास्ति । ६. ब दृष्टुमागताः । ७. ज °त्तस्थे । ८. ब 'यूथम्' इति नास्ति । ९. ब °तुर्नामा । १०. ज सुकेतुना नाम्ना । ११. ब शतत् ।

॥ १०३ ॥ अधमैः न्यग्भिः ॥ १०४ ॥ दुर्नयैः दुरभिप्रायैः ॥ १०५ ॥ न लक्ष्यो मोक्षो मुञ्चनं संधानं च येषां ते, तान् ॥ १०६ ॥ अविच्छिन्नैः निरन्तरैः ॥ १०७ ॥ प्रजह्रतुः प्रहारं चक्रतुः ॥ १०८ ॥ समशेत संदिदेह ॥ १०९ ॥ दध्रे जीवन् गृहीतः ॥ ११० ॥ अन्तिकम् उपकण्ठम् ॥ १११ ॥ विजिग्ये जितवान् ॥ ११२ ॥ भग्नमनोरथाः गतमनोऽभिप्रायाः ॥ ११३ ॥ करालीकृते विषमीकृते लोचने येन सः ॥ ११४ ॥ असाधारणैः लोकोत्तरैः ॥ ११५ ॥ न मनुष्यस्येव बलं यस्य सः—असमसामर्थ्यः ॥ ११६ ॥ अवज्ञा शिथिलत्वम् ॥ ११७ ॥ दयितां वल्लभाम् ॥ ११८ ॥ असाधारणपराक्रमौ ॥ ११९ ॥ महाहवम् अधिकसंग्रामम् ॥ १२० ॥ दिगाभोगाः दिग्मण्डलानि ॥ १२१ ॥ निष्कम्पनयनम् ॥ १२२ ॥ दृप्त० दर्पोद्धतयोर्दोर्द् (-दोर्दर्प-) प्रगल्भयोश्च ॥ १२३ ॥ लुलाव चिच्छेद ॥ १२४ ॥ प्रयासेन खेदेन विवर्जितो रहितः ॥ १२५ ॥ गुरुः जनकः ॥ १२६ ॥ सुवर्णमालाया अपत्यम् ॥ १२७ ॥ वन्ध्यां निरर्थ (-र्थि-) ·काम्[1] ॥ १२८ ॥ कणीकृतः चूर्णी विहितः । ॥ १२९ ॥ विच्छेद द्विधा व्यधात् ॥ १३० ॥ स्पृशन् आस्फालयन् ॥ १३१ ॥ शि (श-) वीभूतान् प्रेत्यभावं गतान् ॥ १३२ ॥ निर्वेदं वैराग्यम् ॥ १३३ ॥ कुलटया दुश्चरित्रया ॥ १३४ ॥ जागर्ति कटाक्षते[2] ॥ १३५ ॥ अवज्ञाय अनादरीकृत्य । शिश्रिये आश्रितः । श्रमणश्रियं मुनिभावम् ॥ १४७ ॥ एकादश श्लोकाः सुगमाः ॥ शिक्षासमयतां ज्ञानग्रहणयोग्यताम् ॥ १४८ ॥ बृंहयामास प्रवृद्धं चकार ॥ १४९ ॥ तनुः कृशः । अतन्द्रिणा आलस्योज्झितस्य ॥ १५० ॥ इति वक्ष्यमाणानि ॥ १५१ ॥ शङ्कादिरहिता । अधिकः संपन्नता ॥ १५२ ॥ अतिचारविपर्ययः शीलव्रतेष्वतिचारः ॥ १५३ ॥ उपधानादिपूर्वकः अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः ॥ १५४ ॥ अगूढसामर्थ्यं वीर्यमनतिक्रम्य ॥ १५५ ॥ समुद्यमः करणम् ॥ १५६ ॥ भेदिषु रहस्यज्ञेषु ॥ १५७ ॥ अवश्यकार्याणाम् आवश्यकक्रियाणाम् ॥ १५८ ॥ दर्शनवात्सल्यं प्रवचनवत्सलत्वम् ॥ १५९ ॥ व्रतनियमैः पूर्णः ॥ १६० ॥ दृक्करणबोधतपांसि आराधनाचतुष्टयम् । अपांसुः विरजः (जाः) ॥ १६१ ॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरायुः ॥ १६२ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

यो बुध्वा सर्वशास्त्राम्बुधिमनुगनरस्वान्तसंशीतिगाढ–
ध्वान्तध्वंसं विधाय प्रमितिनयसुधापूरपूतैः स्ववाक्यैः ।
चक्रेऽत्यन्तं प्रबुद्धान् सुरजनसहितान् शिष्यवर्गान् श्रुतादि–
र्भूयात् सोऽयं मुनिर्नो दृगवगमचरित्रादिहेतुर्यतीशः ॥ १ ॥

सरोजखण्डैः कमलवनैः । परितः इतस्ततः ॥ १ ॥ असहाः असमर्थाः । विदग्धाः चतुरा गोप्यः क्षेत्ररक्षिकाः ॥ २ ॥ आरवः शब्दविशेषः । सरसरसामृतं स्वादुरसपीयूषम् ॥ ३ ॥ सच्छायाः सती प्रशस्ता छाया येषां ते, पक्षे सत्सु छाया कान्तियेभ्यस्ते ॥ ४ ॥ नीरन्ध्रैः निरन्तरैः । सुरकुरुः उत्कृष्टभोगभूमिः । अवग्रहाः अन्तरायाः ॥ ५ ॥ मुखरैः वाचालैः । त्रिदशपुरी अमरावती ॥ ६ ॥ कराग्रैः हस्ताग्रैः । पवनपथस्य गगनस्य । गोपुरं पुरद्वारम् ॥ ७ ॥ काचाद्रि० नीलपर्वतसदृशः ॥ ८ ॥ वियोगी वीनां पक्षिणां योगः संगतिर्यस्य, नान्यः कश्चिद् वियोगवान् । विलमाप्नोतीति, विशालपरिदेवनशब्दयुक्तो न । विगतो रसो विरसस्तस्य भावो वैरस्यम् । कलियुक्तता न च । गदया शस्त्रभेदेनाभिघातः; गदेन व्याधिना न ॥ ९ ॥ नागानां गजानां सर्पाणां च । उरु गरिष्ठं विपुलं च । शाक्यानां सौगतानाम् ॥ १० ॥ महाद्विसेनः महासेनः ॥ ११ ॥ कल्याणं शुभं तत्स्वभावेन स्वर्णं च । मेरुम् ॥ १२ ॥ प्रलयपराकृतं (त) व्यवस्थः । अम्भोधेर्व्यवस्था स्थितिः प्रलयेन पराकृता, अस्य न ॥ १३ ॥ राजविद्याः आन्वीक्षिक्यादिः ॥ १४ ॥ विशेषकस्य तिलकस्य । इतया [-तैव] अनेनैव प्रकारेणैव । गुरुत्वं पितृत्वम् ॥ १५ ॥ पुष्पेषोः[3] कामस्य । परमेश्वरी मान्या ॥ १६ ॥ वंशोऽन्वयः, वेणुश्च ॥ १७ ॥

१. ज °र्थकम् । २. ब °क्षति । ३. ब पुष्पेशोः ।

वर्णोऽक्षरादिः, स्तुतिश्च ॥ १८ ॥ मन्दत्वं गमने मन्दता, मूर्खत्वं च ॥ १९ ॥ पारे । आत्मना स्वयम् ॥२०॥ सार्वभौमं चक्रिणम् ॥ २१ ॥ मदनफलैः धत्तूरबीजैः ॥ २२ ॥ मन्दोद्यमं शिथिलसाहसम् । स्वातन्त्र्यं स्वाधीनत्वम् । अभिभूत्यै तिरस्काराय ॥ २३ ॥ व्युत्थानं प्रतिरोधवृत्तिम् । निशम्य आकर्ण्य । प्रतस्थे प्रस्थानं चक्रे ॥ २४ ॥ धूत० निर्जितधन्वा । स्वशरव्यं स्वेन वेध्यम् । विदधत् ददत् । उपाय० प्राभृतीकृतगजे ॥ २५ ॥ प्रोद्दाम० प्रोत्कटाश्च ते द्विरदा दन्तिनश्च तेषां रदानां दन्तान् (-नां) प्रभेदात् प्रहाराद् निर्याता, भग्नाश्च ते योधाश्च तेषामसृताप्लुतं रथचक्रस्य चक्रवालं मण्डलं यत्र । वलयम् अङ्गदादि ॥ २६ ॥ शिलीमु० भ्रमरायमानम् (णम्) । व्ययुङ्क्त व्ययविषयमकृत ॥ २७ ॥ उद्धान् उद्भटान् । अचिरांशुशोभान् विद्युत्सदृशान् । मरुदनुकारकारि पवनप्रचण्डम् ॥ २८ ॥ क्षितितलपालिनः भूमिपतेः । बलौघः सेनाप्रवाहः । प्रोत्खात० समूलमुत्पाटितं द्विषदवनीरुहाणां शत्रुराज्ञां (-राजानां) प्रतिरोधिवृक्षाणां[1] च प्रतानं संततिर्येन सः । जज्ञे जातः । संगमाभः संगमसदृशः ॥ २९ ॥ विदीर्णा प्रस्फुटिता । ते प्रसिद्धाः । अनुवेलं वेलां कल्लोलम् अनु ॥ ३० ॥ प्रहरणम् आयुधम् । शुचि निर्मलम् । अन्तर्वणं वनमध्ये । कक्कोलं[2] चन्दनफलम् । ववल्गुः जगर्जुः ॥ ३१ ॥ जयककुदं जयचिह्नम् । 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्के ककुदोऽस्त्रियाम् ।' इत्यभिधानात् । निखानयांबभूव निचखान । नाकं स्वर्गम् । आरुरुक्षोः चटितुमिच्छोः ॥ ३२ ॥ यियासोः गन्तुमिच्छोः । सैकतैः सिकतामयैः । उडुवर्त्म गगनम् ॥ ३३ ॥ अन्ध्रीणाम् अन्ध्रप्रदेशस्त्रीणाम् । गण्डभित्तिः कपोलतलम् ॥ ३४ ॥ व्यपगतधामसु प्रतापप्रकाशरहितेषु । नयनोपलेषु सूर्यकान्तेषु ॥ ३५ ॥ उपयुक्ततोयाः पीतपीयूषाः । स्रोतोभिः प्रवाहैः । प्रवृद्धैः प्रचुरैः ॥ ३६ ॥ ग्रैवेयैः कण्ठभूषाभिः । अकृषत आकृष्टाः ॥ ३७ ॥ पण्यस्त्रीमिव गणिकां यथा । अवाचीं दक्षिणां दिशम् । संसर्पता प्रसरता । अकटाक्षि भोक्तुमुत्प्रेक्षिता ॥ ३८ ॥ प्रतिहतशक्तिः निःसामर्थ्यः । अपसारसंज्ञा साररहितनामा ॥ ३९ ॥ पयोधराग्रं स्तनाग्रम् । लाटीये लाटदेशोद्भवनरसंबन्धिनि ॥ ४० ॥ विपक्षाणां कक्षं पक्षं, वनं च । ज्वलितुं संतपितुम् ॥ ४१ ॥ पारसीकान् पारसीकदेशोद्भवान् । वैतस्या वेतसवन्नम्रया । वृत्त्या वर्तनेन । विनीय विनदान् विधाय । आदित गृहीतवान् ॥ ४२ ॥ अनुकारि (णी) सदृशा । करेण भागधेयेन हस्तेन च ॥ ४३ ॥ संरम्भात् क्रोधोद्रेकात् । अभिपततः संमुखमागच्छमानान् । जलगजान् । निहत्य । मुक्तान् मुक्ताफलानि (?) । उदलम्बयत् प्रलम्बयामास ॥ ४४ ॥ कुबेरगुप्ताम् उदीचीम् ॥ ४५ ॥ तिग्मांशोः सूर्यस्यापि । व्याक्षेपक्षणं कलहकालम् ॥ ४६ ॥ अनन्तस्य भाव आनन्त्यम् । स्वस्यानन्त्यम् । 'अनन्त उत्तरापथः' इति लोकोक्तिः ॥ ४७ ॥ शीकरौघैः हस्तिनोजलकणसमूहैः ॥ ४८ ॥ हृत्वापि गृहीत्वापि । अभोगबद्धं भोगं विना चिरतरसंचितम् । टक्कानाम् उत्तरदेशोद्भवानां भिल्लानाम् ॥ ४९ ॥ भूमिभृत्सु राजसु भूधरेषु च । वज्रीभूय निर्नाशको भूत्वा, वज्रं पविश्च अजनिष्ट चकोरेत्यर्थः ॥ ५० ॥ खशाः खशदेशोद्भवा एव । मशकाः देशभेदाः । मशकेषु किल धूमो ध्वंसकः ॥ ५१ ॥ शुश्राव शृणोति स्म ॥ ५२ ॥ हस्तमर्दिताः बलिमर्दिताश्च ॥ ५३ ॥ वसनं वस्त्रं [तद्-] युगादिः[3] । यथायथं यथायोग्यम् ॥ ५४ ॥ प्रागेव षण्मासानिति संबन्धः । अहिद्विषा इन्द्रेण ॥ ५५ ॥ कर्तव्यं कार्यविशेषम् । व्यधिषत चक्रुः ॥ ५६ ॥ कल्याणाङ्गी भद्राङ्गी ॥ ५७ ॥ शैलेन्द्राभं विजयार्द्धतुल्यम् । रेकमाणं शब्दयन्तम् (नदन्तम्) ॥ ५८ ॥ शीतभानुं चन्द्रम् ॥ ५९ ॥ सिंहव्यूढं सिंहोद्धृतम् ॥ ६० ॥ धूमकेतुं वह्निम् ॥ ६१ ॥ कल्याणं मङ्गलम् । तत्फलज्ञा स्वप्नफलावगमनशीला ॥ ६२ ॥ उदार उत्कट (टा) दुर्लङ्घ्यो लङ्घितुमशक्यः ॥ ६३ ॥ हे सुभ्रु सुलोचने ॥ ६४ ॥ पाथोनाथात् समुद्रात् ॥ ६५ ॥ धक्ष्यति भस्मीकरिष्यति ॥ ६६ ॥ दयितात् वल्लभात् ॥ ६७ ॥ अनुत्तरवैजयन्तनामविमानात् ॥ ६८ ॥ क्षोभः व्याकुलत्वम् । आटोपेन संभ्रमेण ॥ ६९ ॥ तन्वतीभिः विस्तारयन्तीभिः ॥ ७० ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां षोडशः सर्गः ॥ १६॥

---

१. ज °वृक्षाणां । २. ब चन्दन° । ३. ज युगादिः यानादिः ।

सप्तदशः सर्गः

सदादिनयभासुरैरघहरैरशेषप्रियैर्वचोभिरिह सप्तभङ्गविषयैर्विनेयात्मनाम् ।
प्रणाशयति हृत्तमः करुणया रविर्वा परं श्रुतादिमुनिरन्वहं मुनिवरः स नः स्तान्मुदे ॥

द्रष्टुमिच्छुना दिदृक्षुणा । प्रसूतिसमयेन पौषे मासे कृष्णदशम्या अपगमे एकादशीं तिथिमाप्य । अजीजनत् जनयांचकार ॥ १ ॥ प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः । सुरभयन् सुगन्धीकुर्वन् ॥ २ ॥ वृन्दं समूहः । दिविभवैर्दिव्यैः । बद्धमण्डलैः कृतवेष्टनैः ॥ ३ ॥ रेणुः शब्दं चक्रुः । अकरहति करताडिता यथा भवन्ति । गजारयः सिंहाः ॥ ४ ॥ जलदवत् मेघवत् पटु सुन्दरं यथा भवति तथा । प्रतिध्वनिं कुर्वाणाः ॥ ५ ॥ समसमयम् एकवारं युगपत् । प्रतस्थिरे प्रस्थानं विदधिरे ॥ ६ ॥ किरणानां निकुरम्बं कदम्बकं तेन रञ्जिता रागवत्यः ॥ ७ ॥ व्यनक्ति प्रकाशयति । तिरोहितः व्यवहितः ॥ ८ ॥ अमरालयात् स्वर्गात् । नृपगृहं यावत् ॥ ९ ॥ सवासवः इन्द्रसहितः ॥ १० ॥ जनित० यथाजातरूपसदृशम् । अर्भकं बालम् । उज्जहार उद्धृतवती ॥ ११ ॥ भासुरं दीप्यमानम् । अशीतरुचिं सूर्यम् ॥ १२ ॥ सुरैश्चतुर्निकायैर्देवैर्बृंहिते वृद्धिं नीते । तं बालम् ॥ १३ ॥ अन्तगताः समीपस्थाः । अब्दः दर्पणः ॥ १४ ॥ मुखरं वाचालम् । समुपतस्थिरे जग्मिरे ॥ १५ ॥ नेदुः शब्दिताः । भेरिकाः पटहाः ॥ १६ ॥ पेटकैः वृन्दैः । दिगन्तरसहितम् ॥ १७ ॥ विनिहितानि आरोपितानि । सुराद्रिवर्त्म मेरुमार्गः ॥ १८ ॥ उरूणि गरिष्ठानि । रुचिराणि मनोहराणि चैत्यमन्दिराणि यत्र सः ॥ १९ ॥ कृतविततं (तिं) विहितमालाम् । अमलतरम् अतिनिर्मलं दुग्धं क्षीरार्णवः तस्य जलकुटैः ॥ २० ॥ ललितानि सुखव्याप्यानि[1] वृत्तानि । निशिता तीक्ष्णा ॥२१॥ त्रैलोक्यालंकारम् ॥२२॥ आह्वयन् आह्वाननं नाम चक्रुः ॥ २३ ॥ प्रथमकल्पपतिः सौधर्मेन्द्रः । इतरैः ईशानादिभिर्वासवैरन्वितः सहितः ॥ २४ ॥ अकलङ्कं कलङ्करहितम् ॥ २५ ॥ कार्यिणः [2]कार्याकांक्षिणः ॥ २६ ॥ हरिविष्टरस्थितं सिंहासनस्थम् ॥ २७ ॥ नौस्थितं (तः) प्रवहणमाश्रितः ॥ २८ ॥ अविचलितभक्ति स्थिरमनस्कतया दृढभक्ति ॥ २९ ॥ अभव्यम् । अपहाय त्यक्त्वा ॥ ३० ॥ विस्रसा स्वभावेन ॥ ३१ ॥ कृती पुण्यवान् ॥ ३२ ॥ आपदः ऐहिका आमुत्रिकाश्च ॥ ३३ ॥ भवदङ्घ्रिपङ्करुहसेवनं पदकमलोपासनम् ॥ ३४ ॥ उपलब्धचरी पूर्वं नोपलब्धा । निर्व्यपेक्षा निःकारणा ॥ ३५ ॥ अभिगम्य प्राप्य । प्रसाधिका अलंकरिष्णुः ॥ ३६ ॥ भाक्तिकाः भक्तिकरणशीलाः ॥ ३७ ॥ अस्य असुभृतः । हृदयं मनः । न लीयते न लीनं स्यात् ॥ ३८ ॥ वाग्मिनां वचनपाटवयुक्तानाम् ॥ ३९ ॥ सिद्धं नुतिकृतं फलं यस्य स तेन ॥ ४० ॥ प्रणुत्य (सं) स्तुत्य ॥ ४१ ॥ विनिवेद्य पुनरुत्सवादिना निगद्य ॥ ४२ ॥ योजितामृतं (तां) न्यस्तपीयूषं (षाम्) ॥ ४३ ॥ अनुवासरम् अनुदिनम् ॥ ४४ ॥ अरीरमत् रमयांचकार ॥ ४५ ॥ प्रतिबुद्धबुद्धिः विचारचतुरमतिः ॥ ४६ ॥ मन्दनिहितचरणः मन्दारोपितपदः ॥ ४७ ॥ अविबुद्धमूल्यः अज्ञातमूल्यः स्वभावः ॥ ४८ ॥ प्रजिघाय आददौ (ददौ) ॥ ४९ ॥ अनयत् अप्रापयत् ॥ ५० ॥ नृपतिपट्टबन्धनं राज्याभिषेकम् ॥ ५१ ॥ अनुरोधतः अनुग्रहात् ॥ ५२ ॥ अभिननन्द जहर्ष ववृधे वा ॥ ५३ ॥ जनाकुलतां व्यग्रताम् ॥ ५४ ॥ समीरणः वायुः । कर्णकटुककठोरशब्दभीष्मः ॥ ५५ ॥ ईतिभिः सप्तभिः । 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः । स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः ।' ॥ ५६ ॥ उपायनैः प्राभृतैः ॥ ५७ ॥ विभज्य विभागं कृत्वा ॥ ५८ ॥ प्रतिवासरम् अनुदिनम् ॥ ५९ ॥ यथाभिमतं यथेष्टम् ॥ ६० ॥ कोऽपि वृद्धः ॥ ६१ ॥ कृपणं कदर्यम् ॥ ६२ ॥ जगदीश त्रिलोकीपते ॥ ६३ ॥ तिरोहितवपुः विलीनकायः ॥ ६४ ॥ सभ्यजनभारुता वचनेन ॥ ६५ ॥ विकारेण कृतो वृद्धविग्रहः शरीरं येन ॥ ६६ ॥ इति वक्ष्यमाणाम् ॥ ६७ ॥ अनुगतं विनश्वरम् ॥ ६८ ॥ अविरतमतिः संततमतिः ॥ ६९ ॥ विविधरचनानि विविधाकाराणि ॥ ७० ॥ तानि कर्माणि ॥ ७१ ॥ जगदन्तिकामराः लो (लौ) कान्तिका देवाः ॥ ७२ ॥ अमरपतिः इन्द्रः ॥ ७३ ॥ प्रवितीर्य दत्वा । अवदातचरितः निर्मलाचरणः अभिहितसिद्धनुतिः 'नमः सिद्धेभ्यः' इत्युच्चरितसिद्धस्तवः ॥ ७४ ॥ अपाकृतान् उत्पाटितान् ॥ ७५ ॥ उत्सवं

---

१. ज °पाद्यानि । २ ब कार्याणां कांक्षिणः ।

महविशेषातिशयम् । क्षोभितं पुण्यातिशयेन प्रचालितम् ॥ ७६ ॥ पञ्चाश्चर्यप्रभृतीनि । रत्नपुष्पगन्धोदकवृष्टयः सुरभिमृदुपवनो देवदुन्दुभिश्चेति ॥ ७७ ॥ चतुरा ईर्यासमित्यादिभिः सहिता गतिर्यस्य ॥ ७८ ॥ असहन्त अशक्नुत । धृत्या संतोषेण वर्मितम् । पत्रिणः रोपाः ॥ ७९ ॥ अपहस्तयितुं निराकर्तुम् ॥ ८० ॥ तनुतरत्वं स्वफलदानासमर्थत्वम् । अतनु प्रचुरम् ॥ ८१ ॥ नागवृक्षतले । अतुलम् असदृशम् ॥ ८२ ॥ तस्मिन् केवलोत्पत्तिसमये । समवसरणं सभाविशेषः ॥ ८३ ॥ धूलीशालः पञ्चवर्णमणिचूर्णप्राकारः । वलयः अङ्गदः । अन्तरस्थाः मध्यस्थाः । विकचकमलानि व्याकोशाम्बुजानि ॥ ८४ ॥ विशाला विस्तीर्णा । विरचितान्यागमोक्तशोभयालंकृतानि चतुर्गोपुराणि यस्य । उभयतः इतस्ततः उभयपार्श्वे ॥ ८५ ॥ अर्चाः[1] प्रतिमाः । यागवृक्षाः चैत्यवृक्षाः । मणिमयतटैः मणिनिर्मितभित्तिभिः । लतामण्डपैः वल्लीगृहैः भ्राजमानाः शोभमानाः ॥ ८६ ॥ केतुपङ्क्तिः ध्वजमाला । विचित्रा मालामृगेन्द्रादिनानाविधा । हेमशालः स्वर्णप्राकारः ॥ ८७ ॥ पराणि परार्ध्यानि (णि) । सभामण्डपाः सभागृहाणि ॥ ८८ ॥ अच्छस्फटिकः शुद्धस्फटिकः । अन्ते मध्ये । अनुपमम् अनन्यसदृशम् ॥ ८९ ॥ स्फुरिता दीप्यमानाः । भासुररत्नानां रश्मयः किरणा यत्र । बोधः अनन्तज्ञानमनन्तदर्शनं च सहचरितत्वात् ॥ ९० ॥ उदयं पुण्यप्रादुर्भावमाकांक्षन्ते इति उदयाकांक्षिण ॥ ९१ ॥

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायां सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

सम्यग्ज्ञानसुधाप्रवाहनिचयैर्येनेह शिष्यव्रजो-
धौताज्ञानरजश्चयः शुभमतिर्वाग्मी कृतः सद्गुणैः ।
स्यान्नित्यादिनयप्ररूपणपरैः स श्रीश्रुतादिर्मुनिः
संभूयात् प्रशमाय संयतपतिर्बोधप्रकर्षाय नः ॥

सर्वभाषास्वभावेन बोध्यजीवानुभाषानुकारिलक्षणेन ध्वनिना अनक्षरात्मकभाषातिशयेन ॥ १ ॥ शासने मते ॥ २ ॥ पृथक्त्वपक्षे भिन्नोच्चारणे ॥ ३ ॥ अवस्थानजननाशलक्षणलक्षणः ॥ ४ ॥ भवितुं योग्यो भव्यस्तद्विलक्षणोऽभव्यः, शुद्ध्यशुद्धिभेदात् । यथा—'शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् । साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥' ॥ ५ ॥ प्रथमायां भूमौ उत्सेधः ७ धनु० ३ ह० ६ अं० । अन्त्ये इन्द्रके ततश्च द्वितीयाया अन्त्ये द्विगुणः—१५ धनु० २ ह० १२ अं० । तृतीयेऽन्त्ये ३१ धनु० १ ह० । चतुर्थेऽन्त्ये ६२ धनु० २ ह० । पञ्चमेऽन्त्ये १२५ धनु० । षष्ठेऽन्त्ये २५० धनु० । सप्तमे ५०० धनु० ॥ ९, १० ॥ प्रथमेऽन्त्ये सागरैकमायुः (एक सागरोपममायुः) । सा० १, सा० ३, सा० ७, सा० १०, सा० १७, सा० २२, सा० ३३ । प्रथमे पटले १०००० जघन्यमायुः । प्रथमे पटले १०००० जघन्यमायुः । प्रथमे नरके यदुत्कृष्टं सागरैकम् (एक सागरोपमम्) आयुः, तद्द्वितीये जघन्यम् । शेषं सुगमम् ॥ ११, १२ ॥ २२ (?) प्रथमायां विलानि ३०००००० द्वितीयायां २५००००० तृतीयायां १५००००० । (अवशिष्टासु क्रमशः) १०००००० । ३०००००० । ९९९९५ । ५ ॥ १३, १४ ॥ देवकुरुः उत्तमभोगभूमिः ॥२९॥ शेषं सुगमम् । कर्मभूम्युद्भवानामुत्सेधः—धनु० ५२५ । इति उक्तप्रकारेण । गत्यादिभेदेन यथा—'गइ इंदिये य काये जोए वेए कसाय नाणे य । संजमदंसणलेस्सा भविया संमत्त संणि आहारे॥' इति परमागमे विस्तारः॥ ६८ (?) ॥ शेषं स्पष्टम् । पञ्चधा अजीवभेदाः । एकीकृता जीवेन सह षड् द्रव्याणि । कालरहितानि द्रव्याणि पञ्चास्तिकायाः ॥ ७० (?) ॥ वर्तना ॥ इति द्रव्याणां नवजीर्णतालक्षणम् । परमार्थकालः । समयावल्यादिर्व्यवहारकालः ॥ ७७ ॥ सकषायः । दशमगुणस्थानं यावत् ॥ उपशान्ताद्ययोगगुणस्थानं यावन्निःकषायः ॥ ८५ ॥

१. ब अर्वा ।

आसादनं विराधनम् । मात्सर्यम् । अहंकृतिः । निह्नवनम् । गुरूणां प्रच्छादनम् ॥ ८६ ॥ परिदेवनम् । व्यथाजननम् ॥ ८७ ॥ सरागसंयमोऽणुव्रतलक्षणो देशसंयमः ॥ ८८ ॥ (?) । अवर्णवादः । यदृच्छया कथनम् ॥ ९ (?) ॥ विसंवादनं स्वेच्छया जल्पनम् । जिनेन स्वामिना प्रणीते संशयः ॥ ९३ (?) ॥ मिथ्यादर्शनम् । आह च स्वामी—'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद (कषाय) योगा बन्धहेतवः ।' इति । स च बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणः ॥ ९८ ॥ (?) असौ संवरः ॥ 'स गुप्तिसमितिधर्मान्नुप्रेक्षा १२ परीषह २२ जय चारित्रैः' । १३ श्लो० ९ (?) पूर्वस्य आर्तस्य । १९ (?) सनिबन्धना कारणसहिता । २४ अपरतः । अलोकेऽगमनं गतिहेतोर्धर्मस्याभावात् ॥ ३२ (?) ॥ प्रह्लाद्य सानन्दां विधाय ॥ ३३ ॥ (?) इत्थम् उक्तप्रकारेण । धर्मदेशनां कुर्वन् । विहृत्य । समाससाद प्राप्तवान् ॥ ४३ (?) ॥ भाद्रपदे मासे सिते पक्षे सप्तम्यां तिथौ शुक्लध्यानेन निर्जितानि सकलानि अघानि कर्माणि येन । सिद्धेः पदं मुक्तिस्थानम् । संश्लिष्टां विलीनाम् । पुनर्मायया । उत्पाद्य परमभक्त्या अगुरुचन्दनादिभिः संस्कृतेत्यर्थः ।

इति चन्द्रप्रभकाव्यपञ्जिकायामष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

देशीयगणेऽग्रगण्यः प्रधानः । गुणनन्दीत्यर्थः ॥ २ ॥

॥ छ ॥ श्रीः ॥ छ ॥ श्रीः ॥ छ ॥

२. श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
अ			
अकृष्टपच्यसस्याढये	२	११७	६२
अचिन्त्यमाहात्म्यगुणो ज–	१	४२	१५
अचेतनस्य बन्धादिः	२	८३	५३
अजीवश्च कथं जीवापेक्ष–	२	४५	४१
अत एव च दण्डवर्जितः	१२	६६	२९५
अतिदूरतरोऽपि तेन सो–	६	११०	१६८
अतिरौद्रकिरातभल्लमिश्र–	६	७	१४१
अतीतसंख्यैः परिरब्धकी–	१	५३	१९
अतुलप्रतापपरिभूततमो	५	३३	१२४
अतुलप्रतोलिशिखराग्रगत–	५	२०	१२१
अत्यन्तदुर्घटमिदं नहि	३	३९	८२
अत्रान्तरे क्रुधाधावत्स्व–	१५	११४	३७२
अत्रान्तरे पृथुतपःश्रिय–	३	४४	८३
अथ कथमप्यपास्य दयिता–	१०	७८	२५०
अथ कश्चिदुपेत्य शासनाम्नि–	१२	१	२७९
अथ केनचिदानीय सेवकेन	१५	१३३	३७६
अथ कोशलेति भुवनत्रित–	५	१२	११९
अथ जातु स मेदिनीपतिर्नि–	१	६४	२३
अथ तत्र शक्त्युपचयानुग–	५	२३	१२२
अथ तामपरो महेन्द्रनामा	६	४६	१५२
अथ तेन परिभ्रमय्य मुक्तः	६	१	१४०
अथ ते परीत्य सुरशैलमु–	१७	१९	४०९
अथ घातकीत्युपपदेन युता–	५	१	११६
अथ पुण्यदिने मुहूर्तमात्रा–	६	१०८	१६८
अथ प्रजानां नयनाभिरामा–	४	१	९५
अथ प्रवृद्धे दिवसे विशांप–	११	१	२५२
अथ भक्तितः प्रथमकल्पप–	१७	२४	४१०
अथ भूपतिसूनुना कराभ्यां	६	२६	१४७
अथ मन्त्रगृहे स मन्त्रवित्	१२	५७	२९३
अथ मायया जनितमात्रत–	१७	११	४०७
अथ मायिनान्यभववैरवशा–	५	५६	१३०
अथ स प्रणयेन याजते	१२	३३	२८७
अथ स प्रियधर्मनामधेयं	६	७७	१६०

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
अथ स विक्रमवाग्नयभूषणो–	१३	१	३०८
अथ सा प्रसूतिसमयेन जि–	१७	१	४०५
अथ सोमदत्तनृवरस्य नलि–	१७	७७	४२३
अथाभवद्भूरिगुणैरलंकृतो–	१	३९	१४
अथास्ति शृङ्गोल्लिखितामरा–	१	११	५
अथाहमिन्द्रः स ततोऽवती–	१६	६८	४०३
अथेश्वरश्चन्दनसेचनाद्यैः	५	७२	१३४
अथैकदास्थानगतं प्रतीहार–	२	१	३०
अदयं दयितेन पातितै–	१०	५७	२४४
अधमेन समेन वाधिकाम–	१२	४७	२९१
अधरदलगतं निधाय रागं	९	४३	२२५
अधिकं व्यन्तराणां तु प–	१८	५९	४३९
अधिकमेधितया मुदितैर्जनैः	१३	३६	३१७
अधिकारपदे स्थितैस्तथा	१२	७१	२९७
अधिगम्य निपातित–	६	३४	१४९
अधिगम्य यथाविधि श्रुतं	१	७७	२६
अधिरुह्य स तत्र विस्मिता–	६	१००	१६६
अधिसूनु लालनविधावहि–	५	५९	१३१
अधुना व्यनक्ति जिन एव	१७	८	४०६
अनन्तविज्ञानमनन्तवीर्यता–	१	३	२
अनर्घमणिना भीमरथं	१५	१८	३५२
अनल्पसत्त्वं गुरुवंशशालिनं	११	.४	२५३
अनवस्थालता च स्यान्नभ–	२	५८	४५
अनिमिषकुलसंकुले विश–	९	५५	२२८
अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ	५	८७	१३८
अनिरूपितकृत्यानया	१२	८४	३००
अनिष्टसंगमे तस्य वियोग–	१८	११६	४५१
अनुगच्छति यः शठं प्रियैः	१२	९२	३०२
अनुपदाय बिसं प्रणयार्पितं	१३	४७	३२०
अनुपमबलवीर्यैः संमुखीभू–	११	९१	२७७
अनुरागपरापि बिभ्रती	१०	५०	२४२
अनेकचेष्टैरिति पर्युपासितं	११	३९	२६३
अन्तरेऽत्र नखचन्द्रचन्द्रिका–	७	४०	१८०
अन्यत्सूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रति–	१८	१२१	४५२
अन्यदा नृपतिवृन्दवेष्टितः	७	५७	१८५

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
अन्येद्युराहूय युवेशमीशः	४	२८	१०१
अन्येऽपि रिपुपक्षस्था रा–	१५	११३	३७२
अन्योन्यदर्शनसमुच्चरि–	१४	५२	३४१
अन्योन्यसंहतकराङ्गुलि–	७	८७	१९३
अन्योन्यालोकनोद्भूतत्व–	१५	३६	३५५
अन्योऽपि यस्य यो योग्यः	१५	१९	३५२
अपरं च निवेदयाम्यहं ते	६	३२	१४८
अपरानपि यच्छति द्विपा–	१२	२१	२८४
अपरापरैः स समुपेत्य	१७	८०	४२४
अपरेद्युरपृच्छदादृतात्मा	६	७१	१५८
अपरेद्युरशेषसैन्ययुक्तः	६	८८	१६३
अपरेद्युरुन्नमितबाहुरधिक–	१७	६१	४१९
अपरेद्युरेनमवनीतिलकं	५	४९	१२८
अपसर्प प्रयाहीतः किं	१५	९९	३६९
अपहन्ति नरो निसर्गजा–	१०	२५	२३७
अपहृतवसना वधूस्तरङ्गैः	९	३२	२२३
अपायमुक्तां पदवीं परे न	११	४६	२६५
अपि च सुवदने नरो न	९	१२	२१७
अपि तद्भवेद्दिनमपुण्यवतः	५	६७	१३३
अपि तस्य पूर्वभरते भरत–	५	२	११६
अपि मेरुसमे समुद्गते	१२	६०	२९४
अप्यनारततपोनियतीनां	८	११	१९८
अभवाम भवत्प्रसादतो–	१२	६८	२९६
अभिधाय गिरं ससौष्ठवामि–	१२	६७	२९६
अभिमानधनो हि विक्रियां	१२	७८	२९८
अभियातुमतः प्रयुज्यते	१२	९७	३०३
अभियुज्य निहन्ति यो रि–	१२	३८	२८८
अभिवाञ्छति पादसङ्गम–	१२	९०	३०२
अभिषिच्य तं ललितनृत्य–	१७	२१	४१०
अभूद्भैमरथेरङ्गे समरो–	१५	१४	३५१
अम्बुना घनकिंजल्क–	२	१३३	६६
अयमनभिमुखीं सुकेशि	९	३७	२२४
अयमपि मधुरस्वरोऽभिस–	९	३६	२२४
अयमुदकहृतो व्यथिष्यते	९	५४	२२८
अयं मुनिघनोऽघनोदनसहः	१४	३३	३३५
अर्घ्यादिकां सम्यगवाप्य पू–	५	७७	१३५
अर्थं धर्माय सेवन्ते	२	११९	६२
अर्धमार्गगतामेव तदी–	१५	१०७	३७१
अर्हस्यतस्त्वं प्रविधातुमेनं	५	८८	१३८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
अलिनीनिकुरुम्बचुम्बिताग्रैः	१४	२५	३३३
अवगम्य निपातितस्त्वया	६	३४	५१
अवगाच्युतनीति माभवा–	१२	९५	३०३
अवधार्य सुवर्णनाभजा–	१२	९८	३०४
अवभाति निजं स पौरुषं	१२	४५	२९०
अवभास्य जगद्गृहं करै–	१०	१०	२३३
अविकम्पितधीरसंस्तुतत्वात्	६	५०	१५३
अविदितागतवारणमीभव–	१३	३०	३१६
अष्टादश शतारे च सह–	१८	६४	४४०
अष्टौ च त्रिदशपतेर्निदेशवा–	१६	५६	४००
असतीजनं जिगमिषुं बहुल–	५	१६	१२०
असम्यग्दर्शनं योग विरते–	१८	९५	४४६
असर्वज्ञकृतं तावन्न	२	१०६	५९
असुखैकफलं प्रभजय यो–	१	७९	२७
अस्खलद्गति बृहद्बलान्वितं	७	१२	१७३
अस्पृष्टपांसू अपि खेचर–	५	७९	१३६
अस्मरत्पतति चम्पकरेणौ	८	३	१९६
अहितस्य हितोपदेशनै–	१२	५३	२९२
अहो नराणां भवगर्तवर्ति–	११	१०	२५४
आ			
आकस्मिकोद्गतबृहत्परच–	११	८०	२७४
आज्ञां सुवर्णनाभस्य	१५	१४६	३७९
आज्ञा विपाकविचयावपाय–	१८	११९	४५१
आद्या रत्नप्रभा नाम द्वि–	१८	७	४३०
आनीलनीरदनिभैः प्रवि–	१४	६१	३४४
आरणाच्युतकल्पे च द्वा–	१८	६५	४४०
आरणाच्युतयोर्हस्तास्त्रयः	१८	५६	४३९
आर्तं रौद्रं च धर्मं च शुक्लं	१८	११५	४५०
आर्द्रार्द्रदत्तनवयावकमण्डनेन	७	८६	१९२
आर्यम्लेच्छप्रभेदेन द्विविधाः	१८	३२	४३५
आर्याः षट्कर्मभेदेन षोढा	१८	४३	४३७
आस्रवस्य निरोधो यः	१८	१०६	४४९
इ			
इतरे च तं परमभक्तिभर–	१७	१४	४०८
इतरेतरबाहुपीडिताङ्गौ	६	२४	१४६
इतरेषु जनेषु का कथा न	१०	१	२३१
इति कृतविविधप्रकारचेष्टा–	९	१८	२१९
इति क्षितीशः सह शिक्षया	४	४४	१०५
इति गत्यादिभेदेन कृता	१८	६६	४४१

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
इति गिरमभिधाय निश्चि–	५	९०	१३८
इति च व्यचिन्तयदलाभि	५	४६	१२८
इति चाभिदधे हिरण्यना–	६	२७	१४७
इति चित्तममुष्य धीरधि–	६	९९	१६६
इति चिन्तनाकुलमुपेत्य	१७	७२	४२२
इति तत्त्वोपदेशेन प्रह्लाद्य	१८	१३२	४५४
इति तत्र गिरौ निविष्टसैन्यं	१४	६८	३४६
इति तद्वचनैर्विरुद्धचित्तो–	६	९५	१६५
इति तर्कयन्विकलमङ्गभुवा	५	५७	१३०
इति तस्य निशम्य गर्वग–	६	२०	१४५
इति तस्य निशम्य भारतीं	१२	४२	२९०
इति ते विनिवेदितं मया	१२	१९	२८३
इति दूतमसौ विसृज्य रा–	६	९७	१६५
इति देशयति नभश्चराणा–	६	८७	१६२
इति नारकभेदेन कृता	१८	१६	४३२
इति प्रजानामधिपः स्वचि–	४	२७	१००
इति प्रसाध्याखिलभूतधा–	४	६८	११२
इति ब्रुवन्तं तमुदारचेष्टितं	११	६६	२७०
इति भाषिण एव भारतीं	१२	२५	२८५
इति मन्त्रिगिरं कृत्वा	१५	११८	३७३
इति मानुषभेदेन कृता	१८	४७	४३७
इति वनविहृतिप्रसङ्गखिन्नं	९	२७	२२१
इति वाचमदृष्टमुद्गराभां स–	६	८५	१६२
इति वादिनि तत्र राजपु–	६	२३	१४६
इति विषयविरक्तश्छन्नया	१	८०	२७
इति वृद्धिमिते रतोत्सवे	१०	६१	२४५
इति शिवसुखसिद्धयै भावय–	१५	१६०	३८२
इति श्रुतिह्लादि वचो ब्रुवाणं	५	८४	१३७
इति श्रुत्वा स तद्वाणीं	२	२४	३६
इति हितमधुरैरिवाहिमन्त्रै–	९	१५	२१८
इति हेतुभिः प्रचलितैश्च	१७	६	४०६
इति संवरतत्त्वस्य रूपं	१८	१०८	४४९
इति संधीरयन्नात्मसैन्यं	१५	६५	३६२
इति संप्रधार्य भुवनेश भव–	१७	४०	४१४
इत्थं विधाय विविधं स–	११	७२	२७२
इत्थं विहृत्य भगवान्सकलां	१८	१५२	४५८
इत्थं नारीः क्षणरुचिरुचः	७	९१	१९४
इत्थमात्मनि संसिद्धे	२	७४	५०
इत्थं मधौ मधुकरीमुखरी–	८	५१	२०९
इत्यवेत्य भवदुःखभीरवः	७	४९	१८३
इत्यागमं करटिनो मुनि–	११	८४	२७५
इत्यादि नोपमानं च	२	९८	५७
इत्याद्यनेकसिद्धान्तगहने	२	५०	४२
इत्यालापैर्युवेशस्य मान–	१५	१०६	३७०
इत्याशाः समदवधूरिव क्षि–	१६	५३	३९९
इत्यास्रवपदार्थस्य तत्त्वं	१८	९४	४४६
इत्युक्त्वा वाचमुच्चार्या	२	५१	४३
इत्युत्थितं समाकर्ण्य	१५	३१	३५४
इत्येवमादिभिश्चान्यैः स–	१८	१४४	४५६
इदं करोम्यद्य परुद्विनेष्विदं	११	१३	२५५
इदमात्मवधाय मद्विरुद्धं	६	१९	१४५
इदमिदमिति दर्शयन्नशेषं	९	३९	२२४
इदमिन्द्रजालमुत धातुग–	५	५५	१३०
इयमपि शफरी समुत्पतन्ती	९	३८	२२४
इयमिह पुलिने निसर्गरम्ये	९	३५	२२३
इष्टैरिष्टार्थपिशुनैः परि–	१५	३०	३५४
इह गगनचरैः कंदरागोचरैः	१४	२४	३३२
इह तावददातुमिच्छतां	१२	३०	२८७
उ			
उत्तीर्णभारलघवः परितो–	१४	६३	३४४
उदककणचितैर्नितम्बिनीनां	९	५२	२२८
उदपादि तयोः शशिप्रभा–	६	४५	१५१
उदयाद्रिशिरःश्रितः शशी	१०	२०	२३५
उदितेन पयोधिरिन्दुना	१०	२६	२३७
उदीरितायामिति वाचि सू–	११	६२	२६९
उपकारोऽपि भिन्नत्वात्त–	२	७८	५१
उपवासावमोदर्यं वृत्तिसंख्या	१८	११२	४५०
उपसृत्य पुमांसमेकमाराद्भ–	६	३९	१५०
उभावुभयमायोद्धुं नि–	१५	१२०	३७३
ऋ			
ऋतुजनितरुचिर्वधूसमूहैर–	९	२६	२२१
ए			
एकस्त्रयस्ततः सप्त दश स–	१८	११	४३१
एतच्च प्रविकसदम्बुजाभि–	१०	६५	२४६
एतस्यानृजुरयमष्टमीमृगा–	१	८४	२९
एतान्येव सजीवानि षड्–	१८	६८	४४१
एतेन जडतां तस्य	२	८०	५२
एतेष्वसत्स्वपरितोषनिब–	३	२६	७८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
एत्य ढौकितविचित्रभूषणो–	७	६६	१८७
एवमेष चतुर्भेदभिन्नो ब–	१८	१०५	४४८
एषा तवाग्रमहिषी पुटभेद–	३	५३	८६
एषा पुरं त्वदनुभावविवृद्ध–	३	२९	७९
क			
ककुप्पर्यन्तविश्रान्तत–	१५	८४	३६६
ककुभः प्रसेदुरजनिष्ट नि–	१७	२	४०५
ककुभां विवरेषु तारका–	१०	१५	२३४
ककुभो मलिनात्मनाखिलं	१०	९	२३३
कठिनकुचविचूर्णितोऽप्यप–	९	४४	२२६
कठोरधारं विनिवेश्य कण्ठे	४	५५	१०८
कतिपयानि न यावदयुः प–	१३	२१	३१३
कथं च जीवधर्माः स्युः–	२	४६	४१
कथितेति समासेन निर्जरा	१८	१२२	४५२
कथितो निमित्तिपुरुषेण	१७	६३	४१९
कदम्बैः सहसा नाथ	२	२२	३५
कन्तुना भवदशोकबलेन	८	३४	२०५
कंदरास्वनुकृताहिमवन्तं	८	४६	२०८
कमलप्रभाप्रभृतिदिव्यनि–	१७	६०	४१९
कमलानना मधुकरीनयना	५	३	११६
कम्रताम्रतपनीयनिर्मितं	७	२४	१७६
करणैर्विविधैरशेषबन्धैश्च–	६	२५	१४६
करताडनमास्यचुम्बनं	१०	४८	२४२
करताडनमोष्ठखण्डनं	१०	५८	२४४
करिणं प्रदिशामि निश्चितं	१२	११०	३०७
करिणीपतिरन्यदेव वा	१२	३२	२८७
करिणो मदमूढचेतसः	१२	१२	२८२
कर्णिकारमधवाजनितान्तं	८	३१	२०४
कर्तुरस्मरणादिभ्यः	२	१०२	५८
कर्मणां यो विपाकस्तु	१८	१०३	४४८
कर्मणामागमद्वारमास्रवं सं–	१८	८२	४४४
कर्मणां प्रतिपक्षत्वान्मुक्ते–	१८	१२८	४५३
कर्मभिः परवशीकृतात्मनो–	७	४७	१८२
कलधौतमयोऽखिलासु	६	७४	१५९
कलं नदन्ती परिखातटेषु	४	७२	११३
कलमगोपकवंशरवाहितश्रु–	१३	४९	३२१
कलासनाथस्य हिमद्युतेरि–	१	५९	२१
कलासमग्रोऽपि जनाभिन–	१	४४	१६
कल्लोलहस्तैः स्फुरदंशुजा–	४	६५	१११

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
कल्लोलोच्चलितविदीर्णशु–	१६	३०	३९२
कश्चित्तनुच्छदं योग्यं	१५	६	३४९
कश्चिदालोहनिर्मग्नैः प्रत्यङ्गं	१५	५१	३५९
कषायनाम्नां विजयेन वै–	११	४७	२६५
कषायसारेन्धनबद्धपद्धति–	११	१९	२५७
कस्तूरीमृगसुरभौ हिमाच–	१६	५२	३९९
कस्त्वं भीमरथः को वा	१५	१०१	३६९
कस्याश्चिदन्यजनसंकुल–	७	८५	१९२
कस्याप्यश्वगतस्येभकुम्भं	१५	४६	३५७
का क्षता हृदयभूशबरस्य	८	२३	२०२
काचाद्रिप्रतिमविलोलवी	१६	८	३८६
काचिदित्थमुदिता दयितेन	८	४५	२०८
काचिदुत्पलतुलासहनेत्रा	८	२२	२०१
काचिद्विहाय गृहभित्तिगतं	७	८४	१९२
काञ्चनारकुसुमे द्युतिमत्ता–	८	२५	२०२
काठिन्यं तन हृदये स्तन–	१०	७३	२४८
कादम्बरीमद इवाशय–	७	९०	१९४
का धृतिस्तव रतेन विना मे	८	४२	२०७
कान्तकुण्डलमनोज्ञमुद्रिका–	७	२०	१७५
कान्तिवारिणि नभोवदनन्ते	८	४३	२०७
कान्तैर्विचित्रोज्ज्वलचन्द्र–	१४	१५	३३०
कापोताङ्गरुहविधूसरः सम–	१६	५१	३९८
कामशोकजलधेरुदितानि	८	३६	२०५
कालुष्यं त्यज भज तुङ्गमा–	१०	७२	२४८
काश्मीरप्रभविषु भूमिभृ–	१६	५०	३९८
किंकरी तव भवामि सदा–	८	२०	२०१
किं किं किमेतदुपयाहि	११	८१	२७४
किंचिद्वपुः शिथिलताम–	३	६३	८९
किंत्वत्र कारणमभूदपरं	३	२८	७८
किंनरादिप्रभेदेन व्यन्तरा–	१८	४९	४३८
किमभूदमीष्वपि न वत्सल–	५	६८	१३३
किमिदं परमाद्भुतं मया य–	६	३७	१४९
किमु कोऽपि बलोद्धतस्त्व–	६	१६	१४४
किमु तस्य न सन्ति वार–	१२	३४	२८८
किमेभिरधमालापैर्मातु–	१५	१०३	३७०
कुचभरादसहां शुक्रवारणे	१३	४२	३१९
कुन्देन्दुद्युतिनिकरावदात–	१६	१२	३८७
कुम्भालोकाल्लक्षणैः पूर्णदे–	१६	६५	४०२
कुम्भावम्भोजावृतावम्बुपू–	१६	६०	४०१

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
कुर्याः सदा संवृतचित्रवृ–	४	४२	१०४
कुर्वन्ति यामनुकृताचलतु–	१४	५७	३४२
कुलं चरित्रेण विशुद्धवृत्ति–	१	४५	१६
कुलजोऽकुलजोऽथवास्तु	६	९६	१६५
कुवलयनयनाभिरस्यमाना–	९	५८	२२९
कुसुमकिसलयं विचेतुकामां	९	२२	२२०
कुसुमाद्यया विटपिनो व–	५	४८	१२८
कूटस्थमित्यतां केचित्	२	४९	४२
कृतकटुस्वरमायतकंधरं	१३	२८	३१५
कृतकप्रधनेन रूपमन्यत्	६	२८	१४७
कृतचरणनमस्क्रियास्तदा–	७	९३	१९५
कृतदयितविवञ्चना मुहूर्तं	९	४५	२२६
कृतदीसरवैर्विहंगमैनिज–	१०	८	२३२
कृतपरस्परकेलिभिरुच्छल–	१३	५६	३२३
कृतपरस्परवाजिविघट्टना	१३	३७	३१८
कृतमनसिजवेगमूरुयुग्मं	९	१७	२१९
कृतसमुन्नतवंशपरिग्रहा	१३	२३	३१४
कृत्वा करावथ स संकुचद–	३	४७	८४
कृत्वा क्षणं जनकुतूहल–	१४	५९	३४३
कृत्वापरेद्युरखिलावसरं	३	२०	७६
कृत्वा विषादमिति दुःस्थि–	३	३५	८१
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो भ–	१८	१२३	४५२
कृत्स्नमायासितं दृष्ट्वा साम–	१५	९७	३६९
कृपणस्य परानुवर्तनैः	१२	९१	३०२
केचिदित्थं यतः प्राहुः	२	४४	४०
केन तत्रसुरालोकं गतेन	१५	५२	३५९
केवलं तदभिषेकवारिभि–	७	३१	१७८
केवलं न मणिबन्धभासुरं	७	३८	१७९
केवलं न यथा ज्ञातं रुचितं	१८	१२६	४५३
केवलिश्रुतधर्माणां देवस्य	१८	८७	४४५
कोऽपि क्षरत्करटभित्तिरु–	११	८२	२७५
कोऽपीत्थं प्रणयरुषा विवृत्य	१०	७४	२४९
क्रमतेऽरिषु मत्पराक्रमो–	१२	६२	२९५
क्रियां दिनकरादीनामुद–	१८	७५	४४२
क्रियावसाने विरसैर्मुखप्रि–	११	१६	२५६
क्रोधस्तदङ्गे यः पूर्वं मना–	१५	८८	३६७
क्रोधादिभिरयं जीवः	१५	१३८	३७७
क्वचित्पतितपत्त्यश्वं क्वचि–	१५	६०	३६१
क्वचिद्गोधनहुंकारैरिक्षु–	२	१२३	६३
क्वासौ भीमरथो यस्य	१५	८१	३६५
क्ष			
क्षणक्षयिण्यायुषि मूढबुद्धिः	४	२१	९९
क्षणदानिलभासुरीभव–	१०	३५	२३९
क्षणदृष्टतिरोहितैर्जनो–	१	६८	२४
क्षणभङ्गुरवृत्ति जीवितं	१	६७	२३
क्षणमरुणितलोचना रमण्यः	९	५३	२२८
क्षणमुपास्य परां प्रियमागतं	१३	४५	३२०
क्षणं प्रतीक्षते यावत्क्षात्र–	१५	८७	३६६
क्षणादशोकसंयुक्तं पुंनाग–	२	३२	३७
क्षणिकत्वेऽपि संतानि–	२	८६	५४
क्षणिमिति मधुराभिर्भूपति–	८	६१	२१३
क्षमते निजमेव रक्षितुं	१२	१५	२८२
क्षमते विनयातिलङ्घनं	१२	२३	२८५
क्षमसे ततो यदि न पातुम–	१७	६४	४२०
क्षयवान्विजिगीष्यते परै–	१२	३९	२८९
क्षयानिलचलत्पूर्वपरिचमा–	१५	३५	३५५
क्षीणकर्मा ततो जीवः	१८	१३०	४५४
क्षुद्रेतरक्षितिरुहां करभैः	१४	६६	३४५
क्षुभितामिति तस्य भाषि–	१२	५५	२९३
ख			
खचराधिप योगिनोऽपि	६	८०	१६०
खण्डयामास तानर्धचन्द्रै–	१५	१२६	३७४
खपुष्पं तदहं मन्ये भुवने	२	४२	३९
खरशीतमारुतरजोरहिते	५	७	११७
खिन्नं ते वपुरनपायिना–	१०	७०	२४८
खुरनिपातविदारितभूमिभिः	१३	१७	३१२
ग			
गगनमुभयतः प्रपूर्यमाणं	९	५	२१५
गगनात्पतितस्य तस्य धा–	६	२	१४०
गगने गमनं तस्य सर्वेषां	१८	१३५	४५५
गच्छंल्लावण्यसंक्रान्तदिदृक्षु–	२	३१	३७
गच्छ तत्सुभग सारमयत्वं	८	२९	२०३
गच्छती क्षितितलरोपितै–	१०	६९	२४७
गजेन्द्रदन्तैश्चमरीकचौघै–	४	६२	११०
गण्डस्थलामोदहृतद्विरेफैर्म–	४	६१	११०
गतस्य तस्योपवने वनेचरो–	११	३४	२६१
गतावलेपैः प्रविशद्भिरेत्य	४	६०	११०
गतैः समासत्तिमिवेतरेतर–	१	२०	८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
गत्वा निसर्गपरिमन्थरया	८	५७	२११
गत्वा सुदूरमपि यस्य	३	४८	८४
गदितुं युज्यतेऽस्माकं न	१५	१०४	३७०
गदेन मुक्तोऽशनिना कटा–	११	११	२५५
गन्तुं पतङ्गोपलवह्नितप्ता–	१४	१२	३२९
गम्भीरनादैः प्रतिमानिपाति–	१	२२	३
गरीयसा यस्य परार्थसंपदो–	१	४३	१५
गर्भस्थितस्य जननान्तर–	३	६८	९०
गर्वगद्गदमित्युक्त्वा	१५	८२	३६५
गलिताश्रुभिरार्तनिःस्वनै	१०	१६	२३४
गवाक्षनिक्षिप्तमुखारविन्दाः	४	७४	११४
गलन्मदस्योन्नतवंशशालि–	१	६१	२२
गहनान्तमथापहाय राष्ट्रं	६	३८	१५०
गायत्प्रनृत्यदभितो रभ–	३	७४	९२
गायनेष्वलिवधूनिकरेषु	८	३३	२०४
गिरिरस्त्यथ खेचराधिवासः	६	७३	१५९
गुणग्रामाम्भोधेः सुकृतवस–	प्र. प्र.	२	४६०
गुणनिर्मितैः सुरभिभिः कु–	५	४२	१२७
गुणवत्सल मा गमस्त्वम–	६	८६	१६२
गुणवानपि स त्वमीदृशो–	१२	१०	२८१
गुणवान्समुपैति सेव्यतां	१०	१४	२३४
गुणसंपदा सकलमेव जग–	५	४५	१२७
गुणानगृह्णन्सुजनो न निर्वृतिं	१	७	४
गुणान्यथैवोपदिशन्प्रशंसया	१	८	४
गुणान्विता निर्मलवृत्तमौ–	१	६	३
गुणिनं मनोरथशताधिगतं	५	६२	१३२
गुरुभरग्रहकुब्जितविग्रहै–	१३	३१	३१६
गुरुमताभिरतामलमानसं	१३	८	३१०
गुरुरीश्वरो नरकविद्वनदः	५	२९	१२३
गुरुवंशमथाप्रमाणसत्त्वं	६	१२	१४३
गुरुविरहभवेन पद्मनाभो–	१	८२	२८
गुरून्गुरून्सम्यगुपास्य	४	३	९४
गुहोदरे ध्येयहिमे हिमर्तुं	१४	१८	३३०
गृहिणी शशिसूर्यनामधेया–	६	३३	१४८
गृहीतयोगं तपसा कृशीकृ–	११	३५	२६२
ग्रहागतं तं मदमूढमानसो–	११	८	२५४
ग्रामैः कुक्कुटसंपात्यैः स–	२	११८	६२
ग्रैवेयकविमानेभ्यः परे	१८	५८	४३९

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
घ			
घटादिकारणेष्वेतन्मृदा–	२	७१	४९
घनघटासदृशीषु कृतासना	१३	२४	३१४
घनतरैरुपरञ्जितवारिभिः	१३	६०	३२४
घनपङ्कनिमग्नमक्षमं किल	१	६६	२३
घनपादपसंकटान्तराले	६	११	१४३
घनवीथिरथं क्षपापतावपि–	१०	२१	२३६
घर्मांशोरुदयमहीध्ररुद्धमूर्ते	१०	६७	२४७
घर्मोदबिन्दुभिरुपाहित–	१४	४३	३३८
घर्षाद्भिर्मलयगिरौ महागजा–	१६	३७	३९४
घातिनिर्मथनलब्धकेवला–	१४	३६	३३६
च			
चक्रवर्तिविभवोचितोत्सवं	७	३०	१७७
चक्रवर्त्यपि गृहीतदर्शनः	७	५६	१८४
चतुराननतारूपमहातिशय–	१८	१३७	४५५
चतुर्णिकायभेदेन स्मृता–	१८	४८	४३७
चत्वारः शुक्रमारभ्य हस्ताः	१८	५५	४३९
चत्वारोऽर्वा रुचिरवपुषो–	१७	८६	४२५
चन्द्रकान्तस्स्रुतेर्यत्र	२	१२७	६४
चन्द्रकारस्थलममलिनो–	१४	६७	३४६
चन्द्रोज्ज्वलेन यशसा	३	१७	७५
चन्द्रोज्झितां रविरलंकुरुते	३	३३	८०
चराचरे नास्ति जगत्यभो–	११	२२	२५८
चलनैर्वलनैः स्थानैर्वल्गनै–	१५	१२३	३७४
चलितवद्भिरजीयत वाजि–	१३	११	३११
चलितशैलचयेन गरीयसा	१३	२०	३१३
चलितेऽभिमेरु सुरनाथनि–	१७	१६	४०८
चारित्रगुप्त्यनुप्रेक्षापरीषह–	१८	१०७	४४९
चित्तसंततिमात्रत्वम–	२	८४	५३
चित्तपट्टलिखितव्ययागमो–	७	१६	१७४
चित्रनेत्रपटचीनपट्टिका–	७	२३	१७६
चित्रमेतदतिदूरवर्तिना	७	६२	१८६
चित्ररत्नकिरणैः प्रवर्तयन्	७	२७	१७७
चित्ररत्नपरिपूर्णकुक्षयो–	७	५९	१८५
चिरमक्षतदेहौ तौ शरै–	१५	८३	३६५
चिरयसि परमेव निक्षिपन्ती	९	९	२१६
चिरयुद्धपरिश्रान्तः प्र–	१५	११०	३७१
चीत्काराववबधिरीकृताखि–	१६	३	३८४
चूडारत्नेन चित्राङ्गं प्रा–	१५	१७	३५२

श्लोकांश	सर्ग	श्लो०	पृ०
चेतनालक्षणो जीवः कर्ता	१८	४	४२९
च्युत्वा ततो विगलितायु—	११	७४	२७२
छ			
छत्रमुल्लसितफेनपाण्डुरं	७	५८	१८५
छन्दानुवर्तिषु पदातिषु	३	२५	७७
छायासु यत्क्षितिरुहां तृण—	१४	६४	३४५
ज			
जगत्यमुष्मिन्दिवसाधिपो—	११	४४	२६४
जगन्महामोहतमःपटावृतं	११	४१	२६३
जज्ञे पयः प्रविशतः सुतरं	१४	५८	३४३
जज्ञे मांसोपदंशासृगास—	१५	५३	३५९
जज्ञे विहारतस्तस्य सर्वर्तु—	१८	१४२	४५६
जनतानुरागपरिवृद्धिकरः	५	४१	१२६
जनभयपरिविद्रुतेऽपि पत्यौ	९	३४	२२३
जनमनःशयने शयितं मनो—	१३	५२	३२२
जनरवात्त्रसतो निपतन्त्यध—	१३	२७	३१५
जनादशेषाद्वयसा लघीया—	४	४	९५
जनेन पौरेण वृतः पुराद—	११	३३	२६१
जन्मान्तराणि भगवन्भ—	११	७६	२७३
जन्मान्तरे शुभमथाप्यशुभं	३	३८	८१
जन्मावलीमिति यथावदसौ	११	७५	२७३
जयन्रुचा निस्तमसो समु—	१४	१९	३३१
जयलक्ष्मीपरिष्वङ्गव्यवा—	१५	१२	३५०
जयवाञ्जयवर्मनामधेयो—	६	४३	१५१
जयशब्दं वयःशब्दैः	२	१८	३४
जयशालिनः सहजभद्रतया	५	३४	१२५
जराजरत्याः स्मरणीयमीश्वरं	१	४	२
जलदनादगभीरमथिध्वनि—	१३	४८	३२१
जलदवीथिविशालमुरः प्रभोः	१३	३	३०८
जलदीर्घिका जनविगाह्यज—	५	६	११७
जलनिर्झरसङ्गशीतवाते	६	१८	१४५
जलमकलुषमन्तरानुबध्नन्	९	३०	२२२
जलवन्मत्स्ययानस्य तत्र	१८	६९	४४१
जातोऽहमद्येन्दुसमानको—	५	८१	१३६
जिन यः समाश्रयति मार्ग—	१७	२८	४११
जिनैः साक्षात्कृताशेषत्रि—	१८	६१	४४०
जीवमन्ये प्रपद्यापि	२	४८	४२
जीवाजीवादि यत्पृष्टम्	२	५३	४३
जीवाजीवादिषड्वर्गं	२	९०	५५

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
जीवाजीवास्रवा बन्धसंव—	१८	२	४२९
जीवे सिद्धेऽपि गर्भादि—	२	६२	४६
जीवो नास्तीति पक्षोऽयं	२	५४	४३
जृम्भाभवत्सततसंनिहिता	३	६६	९०
ज्ञ			
ज्ञानदृष्ट्यावृती वेद्यं	१८	९८	४४७
ज्ञानमर्थपरिबोधलक्षणं	७	५०	१८३
ज्ञानमागमनिरोधि कर्मणो—	७	५२	१८३
ज्ञानमात्रमिह संसृतिक्षये	७	५३	१८४
ज्ञानर्द्ध्युपजातायां सहैव	१५	१४८	३७९
ज्ञानावृतिदृगावृत्योर्वेद—	१८	१००	४४७
ज्ञानोपयोगः सततमुप—	१५	१५४	३८०
ज्योतिरुज्ज्वलमनल्पमण्डलं	७	६	१७१
ज्योतिष्काणां तु देवाना—	१८	६०	४४०
त			
तं यौवराज्ये परिणीतभार्यं	४	१६	९८
तं रथस्थं रथारूढः स्वभर्ता—	१५	६७	३६२
तं बाहितरथं वीक्ष्य धर्म—	१५	९८	३६९
तं गजस्थं गजारूढः	१५	७८	३६४
तच्छस्त्रकौशलालोकवि—	१५	१२२	३७४
तटगतामलनीलशिलातलो—	१३	५७	३२३
तटगतासितरत्नविनिःसृतैः—	१४	२९	३३४
तटपादपसंरुद्धैर्निष्कम्प—	२	१३६	६७
तटरुहकुटजावनीरुहाणा—	१४	३८	३३७
ततः कलकलारावबधिरी—	१५	९४	३६८
ततः पितुर्ग्रहामर्षासमु—	१५	९०	३६७
ततः प्रतीहारकृतप्रवेशने	११	३	२५२
ततः स तेनानुमतो महीप—	११	६७	२७०
ततः स पुत्रार्पितराज्यभा—	४	४५	१०५
ततो मुमुक्षतः शङ्कु तस्य	१५	१३०	३७५
ततो मोक्षोऽपि संसिद्धो—	२	१०९	६०
ततोऽवगन्तुमिच्छामि	२	४३	४०
तत्क्षणात्क्षुभितसिंहविष्टरः	७	६५	१८७
तत्क्षणाभिलषितामराधिपा—	७	१५	१७४
तत्तेजो विहितविपक्षकक्ष—	१६	४१	३९६
तत्त्वप्रकाशकं ज्ञानं दर्शनं	१८	१२४	४५२
तत्प्रगम्य दयितं रुचिताभि—	८	१९	२००
तत्प्रत्ययात्स्वयमिदं न चि—	११	७८	२७४
तत्र त्वदीयचरणाम्बुजता—	८	५६	२११

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
तत्र शासति महीं जनताया–	८	१	१९६
तत्राद्या मुनिभिः समं गण–	१७	९१	४२७
तत्राभिनन्दितनिजाखिल–	३	१	७०
तत्राशामभिचलिते कुबेरगु–	१६	४५	३९७
तत्रासादनमात्सर्यगुरुनिह्न–	१८	८४	४४४
तत्रासुरकुमाराणां प्रमाणं	१८	५२	४३८
तत्रासौ परिमुक्तमासविहृतिः	१८	१५३	४५८
तत्रासौ समुपगतः समुच–	१६	३४	३९३
तत्रेन्दूपलशकलोज्ज्वलैः	१६	४८	३९८
तत्सङ्गादिव संजात–	२	१३	३३
तथापि तस्मिन्गुरुसेतुवाहिते	१	१०	५
तथाहि क्वचिदप्यस्ति	२	९२	५५
तदखिलमपि वारि निक्षिप–	९	२९	२२२
तदखिलं पुटभेदनमुद्भटैः	१३	२५	३१४
तदपि क्वचन प्रयत्नसाध्ये	६	३१	१४८
तदयं स्वविनाशमीक्षमाणः	६	४८	१५२
तदलं परिभाषितैरमीभि–	६	२२	१४६
तदवेत्य वचः प्रभोरिदं	१२	२०	२८४
तदस्मिन्नप्रमत्तेन प्रहर्तुं	१५	११७	३७३
तदाज्ञयैकः समुपेत्य घोर–	११	५	२५३
तदिदं शरदभ्रशुभ्रकीर्ते–	६	९२	१६४
तदीयसङ्गादखिलोऽपि भो–	४	८	९६
तद्धर्मश्रवणाज्जातविबोधा–	२	१६	३४
तद्भारतीमिति निशम्य	११	७७	२७३
तद्रूपलोकनविलोभितलोच–	७	८३	१९१
तनयः स तनोति यः कुलं	१२	१०८	३०६
तनुकुक्षयोऽप्यतनुवारमपो–	५	१३	११९
तन्न युक्तं क्रियायां हि	१८	७६	४४३
तपश्चरन्घोरमघोरमानसः	११	६८	२७१
तपेऽभिसूर्यं प्रतिमाव्यवस्थि–	११	७०	२७१
तपो वपुर्भिः कठिनैः सुदु–	११	५९	२६८
तमकारणबान्धवं ततोऽसौ	६	५६	१५४
तमनन्यसमानतेजसं	१२	१०९	३०६
तमरीरमत्सुरकुमारसमिति–	१७	४५	४१५
तमसाखिलमेव कुर्वता नि–	१०	११	२३३
तमसाधारणैश्चिह्नैः प्रत्य–	१५	११५	३७२
तमसाध्यमवेत्य मानुषास्त्रै–	६	१०३	१६७
तमिति प्रणुत्य गुरुभक्तिभ–	१७	४१	४१४
तमुदीक्ष्य खरांशुवद्दुरीक्ष्यं	६	१०१	१६६

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
तमुदीक्ष्य भासुरमशीतरुचि–	१७	१२	४०७
तमुपायनैः समुपगम्य सद–	१७	५७	४१८
तमुपेत्य शक्रवचनेन नरप–	१७	५९	४१८
तमेत्य सर्वावसरव्यवस्थितं	११	२	२५२
तं महास्त्रैर्महासेनश्चकार	१५	७६	३६४
तयोर्द्वयोरपि नृपयोः प्रता–	१४	६९	३४६
तयोर्बभूव तुमुलं रणधू–	१५	६८	३६२
तरसोभयवेतनैर्वशीक्रि–	१२	१०६	३०६
तरुराजयः सकुसुमाः कुसु–	५	११	११९
तरुविटपशिखावसक्तहस्ता	९	१९	२१९
तव कापि शशिप्रभाभिधा–	६	९१	१६४
तव कार्यविदोऽभिजल्पितुं	१२	६९	२९६
तव कीर्तिभिरेव सर्वदिग्वि–	१२	७	२८०
तव तात न युक्तमाकुलत्वं	६	९८	१६५
तव दर्शनं जगदधीश विद–	१७	३०	४१२
तव नाथ यश्चरणयुग्ममवि–	१७	२९	४११
तव मानधनाखिलप्रकारैः	६	८१	१६१
तव संनहनं नाथ लघु–	१५	७	३४९
तस्माज्जज्ञे पुनरपि चतुर्गो–	१७	८८	४२६
तस्मात्करोमि तत्किंचिन्नृज–	१५	१४४	३७८
तस्मात्स्ववेदने सिद्धे	२	६१	४५
तस्मादकर्तृकं शास्त्रं	२	१०५	५९
तस्मादनादिनिधनः स्थितो–	२	८८	५४
तस्मादशेषवित्कश्चिद–	२	१०८	६०
तस्मादुपप्लुतं सर्वं तत्त्वं	२	४७	४१
तस्माद्भवान्तरभवादशुभा–	३	५६	८७
तस्माद्विषयविज्ञानमप्रत्यक्ष–	२	५९	४५
तस्मान्न दुष्टकरिणो यदि	११	८५	२७६
तस्मान्नरविशेषोऽसौ	२	९९	५७
तस्मिन्काले सह परिजनैर्य–	१७	८३	४२४
तस्मिन्गर्भवितारं कृतवति	१६	६९	४०३
तस्मिन्नधीताशिषि साधु–	५	८०	१३६
तस्मिन्नम्बुदगम्भीरे दिग–	१५	२	३४८
तस्मिन्मृगाङ्क इव सर्वमनो–	३	५७	८७
तस्मिन्विधाय महतीम्	३	६१	८८
तस्य भुक्त्युपसर्गाभ्यां	१८	१३६	४५५
तस्य मन्थरचतुष्टयाधिका–	७	७३	१८९
तस्य मारुतविलोलमूर्तिभि–	७	७४	१८९
तस्य वाजिखुरजै रजश्चयै–	७	६१	१८६

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
तस्य वारिनिधिवारिमेखला	७	७६	१८९
तस्य श्रीरिव कमलालयादु–	१६	१६	३८८
तस्यां रक्षां श्रुतपरबलः	१४	७०	३४७
तस्यां वणिक्पथकृताधिक–	७	८१	१९१
तस्यापरविदेहेऽस्ति	२	११४	६१
तस्यायतः करिवधूज्झित–	११	८७	२७६
तस्योपरि स्फुरितभासुर–	१७	९०	४२७
तस्योर्वीवलयभुजः समस्त–	१६	४७	३९७
तस्योर्वीविजयविशेषकस्य	१६	१५	३८८
तां शशाङ्ककिरणा विदहन्ति	८	२६	२०२
तां क्षोणीमिव चतुरर्णवाव–	१६	२१	३९०
तानिन्दुसुन्दरमुखानव–	३	३०	७९
तां तादृशीं समवलोक्य	३	२१	७६
तान्यप्कायिषु सप्त स्युस्त्री–	१८	२४	४३३
तापकृत्कुरबकः स्तबकेन	८	८	१९८
तापयन्ति मम मानिनि ता–	८	२१	२०१
तापहारि वपुषो विधुरस्य	८	१६	२००
तावद्भवान्मोचयितुं प्रयत्ना–	४	३२	१०२
तिमिरप्रविधायि धावमानं	६	१०४	१६७
तिमिरेभमदुर्नं हिंसितुं श–	१०	२९	२३८
तिरश्चां संहतिस्तत्र पर–	२	२३	३५
तिर्यग्गतिप्रभेदस्य क्रमो–	१८	२७	४३४
तिलकमिति यदत्र पूर्वमा–	९	२३	२२०
तिलकस्तिलकं पृथ्व्यास्तं	२	१५	३३
तीक्ष्णत्वं केवलं यत्र	२	१३८	६७
तीरजैस्तरुसंतानैः पयसि–	२	१३४	६६
तीरेष्वेलाः कुसुमितवानी–	१४	३५	३३६
तीर्थभूतमुरुभक्तिभावित–	७	४२	१८१
तुङ्गत्वमद्रिपतिना हरिणे–	३	६	७१
तुरगरोहकराग्रसमुत्पतत्त–	१३	३४	३१७
तुरगवारकठोरकरद्वयी –	१३	९	३१०
तुरगियत्ननिरुद्धमहारयै–	१३	१०	३१०
तुरङ्गिणां पदातीनां रथिनां	१५	४०	३५६
तुलाव्यतीतो विनयः क्व	११	५३	२६७
तुषाररश्मि भजते निशायां	४	६	९५
तुष्ट्या ददत्स्वसुतजन्म	३	७३	९२
तुहिनपाण्डुरतीरजसैकतां	१४	२१	३३२
तेजःकायभृतः केचिदपरे	१८	१९	४३२
तेजस्विनः पूरयतोऽखिला–	४	४३	१०५
तेजोनिधावुदयधाम्नि सुव–	१	८५	२९
तेजो मूर्तमिवात्मीयं सु–	१५	१३	३५१
तेन स स्ववशभावमाहृतः	७	४६	१८२
तेनोज्झितां निजकुलैकवि–	३	३४	८०
ते पीत्वा प्रहरणधारिणाम्–	१६	३१	३९३
तेभ्योऽधिगम्य तव संतति–	३	४१	८२
तेभ्योऽप्यूर्ध्वं मणिमयचतु–	१७	८७	४२६
तेषामप्यनुमाबाधा परि–	२	९१	५५
तेषु माषचणकातसीतिल–	७	१९	१७५
तोयावगाहचलितैरलिनी–	१४	५५	३४२
त्यज मम विरहोऽधुनैव प–	९	१४	२१८
त्यागश्च शौर्यं च तथैव सत्यं	४	९	९६
त्यागश्चाभयदानादि प्रविभे–	१५	१५५	३८०
त्र			
त्रयोदशविधं तस्य चारित्रं	१५	१५१	३८०
त्रसस्थावरभेदेन तिर्यग्जी–	१८	१७	४३२
त्रासितारिरुदभून्निजद्युति–	७	३	१७०
त्रिंशन्नरकलक्षाणि प्रथमा–	१८	१३	४३१
त्रिःपरीत्य प्रणम्य त्रि–	२	३७	३८
त्रिकालगोचरानन्तपर्या–	२	६	३१
त्रिकालमध्यस्थमनन्यगो–	११	३८	२६२
त्रिदशाधिवासजिति यत्र स–	५	२२	१२१
त्रिदशो यदि वा दितेस्तनू–	६	१७	१४४
त्रुटिताप्यतिमात्रसंस्तवा–	१०	५९	२४५
त्रैलोक्यशोभाभिभवप्रवीणं	४	१२	९७
त्वत्पादपद्मशरणे त्वद–	३	२४	७७
त्वमतः प्रथमो विवेकिनां	१२	७७	२९८
त्वमेव भोगामिषलोभ्यलो–	११	२८	२६०
त्वयैवं ब्रुवता सूक्तं नृप	२	५२	४३
त्वादृशी पटुरकारि वयस्या	८	१८	२००
द			
दक्षिणं गणयामास ना–	१५	३२	३५४
दत्तश्रुति किंनरकामिनीनां	१४	५	३२७
ददृशे च गतेन तेन तस्मि–	६	४९	१५२
ददृशे च मुनिस्तेन स्थितो–	२	३६	३८
दधानमिन्दोः परिवेषभाज–	५	७३	१३४
दन्तिनो दन्तिभिर्भिन्नाः	१५	५९	३६०
दयापरः साधुरतः परत्रधी–	११	६१	२६९
दयावतो धर्मधनस्य धीम–	११	६०	२६८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
दयितामतिपीवरस्तनीं	१०	५५	२४४
दर्पान्धाज्झटिति हठेन पा–	१६	४२	३९६
दश केवलनेत्राणां सहसा–	१८	१४८	४५७
दश त्रीणि ततो हीनं प–	१८	१४	४३१
दशवर्षसहस्राणि जघन्यं प्र–	१८	१२	४३१
दशसप्तधनुर्माना व्यन्तरा–	१८	५३	४३८
दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि	१	७२	२५
दहनेन येन रिपुवंशततेः	५	२८	१२३
दानाम्भोभिर्भूरिभिर्वारणानां	१३	६१	३२४
दानेन संयमिजनस्य जि–	३	६०	८८
दामद्वन्द्वात्सुभ्रु सोऽनन्त–	१६	६४	४०२
दारान्सुतानप्यनपेक्ष्य केचि–	४	५४	१०८
दारुणं यस्तपस्तेने:	२	४	३१
दारुणा विरचना भ्रुकुटीनां	८	४१	२०७
दिङ्नागान्प्रतिदन्तिशङ्किमनसः	८	६२	२१३
दिननाथविभेव पूरिताशा	६	४४	१५१
दिनमद्य मे गतमनुत्तमव्रतां	५	६४	१३२
दिनैरल्पैरेव प्रथितगुणराशे–	५	९१	१३९
दिवसाधिपवल्लभागमे	१०	३	२३१
दिव्यं दिव्यैः सेव्यमानं वि–	१६	६१	४०१
दिव्यान्दिव्याकारकान्तास–	७	९४	१९५
दिशि तस्यामवस्थाय	२	२७	३६
दीनानाथकृतोत्सर्गः स–	१५	१५	३५१
दुःखेन ते प्रथममस्म्यहमेव	३	३७	८१
दुरन्तभोगाभिमुखां निवर्त–	११	२३	२५८
दुरात्मकादेव भवाद्भयंकरा–	११	२०	२५७
दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दलनप्रवी–	३	२२	७६
दूतिकोक्तमिति कोऽपि नि–	८	३०	२०४
दृष्टचोर्मदालिषु लतासु शरीर–	८	६०	२१२
दृष्ट्वा कदाचिदथ शारदमभ्र–	४	७७	११५
देव कोऽप्ययमत्यन्तममा–	१५	११६	३७२
देव देवोचितस्थाने सुगन्ध–	२	२	३०
देवमानवशुभेतरग्रहप्रापि–	७	१४	१७३
दोषानुबन्धरहिता तमसा	३	१८	७५
दौःस्थित्यमिति संचिन्त्य	१५	१४५	३७८
द्रव्याणां पुद्गलादीनामधर्मः	१८	७१	४४२
द्राघीयसीरविरलं रचिता	१४	४४	३३८
द्वयेषामप्यथ प्रातः स्थावरे	१५	१	३४८
द्वाचत्वारिंशता वर्षसहस्रैः	१८	४०	४३६
द्वादशाङ्गश्रुताधारो द्वाद–	१५	१४९	३७९
द्वाराग्रग्रथितामलारुणमणि–	१०	७९	२५१
द्वावप्यतुलसामर्थ्यौ द्वाव–	१५	१०९	३७१
द्वावरत्नी समाम्नातौ मध्य–	१८	५७	४३९
द्विगुणो द्विगुणोऽन्यासु	१८	१०	४३०
द्विजिह्वता यत्र परं फणा–	१	३३	१२
द्विरदानिव मद्विधान्सदा	१२	६१	२९४
द्वीन्द्रिये द्वादशैव स्युर्यो–	१८	२१	४३२
द्वीपसिन्धुविविधाकरोद्भवैः	७	६७	१८७
द्वीपे नृप तृतीये यो विद्यते	२	११३	६१
द्वीपेषु दुर्गेष्वथ मण्डलेषु	४	६६	१११
ध			
धनयौवनप्रभृति सर्वमनु–	१७	६८	४२१
धनहानिरुपप्रदानतो–	१२	८१	२९९
धनुर्धरैः खड्गिभिरश्ववारैर्ग–	४	५	९५
धनुर्महारवेणाथ दुधुवे	१५	७९	३६५
धरणीध्वज इत्यभूत्प्रशास्ता	६	७६	१५९
धरणीध्वज इत्यमोघनामा	६	९०	१६३
धराश्रयः संततभूतिसंगमः	१	४९	१८
धर्माधर्मविधाकाशं कालः	१८	६७	४४१
धर्माधर्मैकजीवानामसंख्ये–	१८	७३	४४२
धर्मार्थयोरविदधत्स–	३	१९	७५
धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं	४	३९	१०४
धर्मोऽर्थसंचयनिमित्त–	३	११	७३
धवलारुणकृष्णदृष्टिपातैः	६	४	१४१
धिक्कष्टमीदृशं कर्म करोति	१५	१३४	३७६
धीरघोरारिरुधिरैरुरुधारा–	१५	४९	३५८
धूमप्रभा ततो ज्ञेया परा	१८	८	४३०
धूमोद्गमैरागुरवैः सुरस्त्री–	१४	४	३२७
धूलीसालो वलयसदृश–	१७	८४	४२५
ध्रुवमस्य रूपविभवेन जित–	५	४३	१२७
ध्वनन्नितम्बावनि तारमन्ते	१४	३१	३३४
न			
न कण्टकद्रुमस्थस्य काक–	१५	३३	३५४
न काकतालीयमिदं कथं	४	२६	१००
न काचिदीहा कृतकृत्यभा–	५	८२	१३६
न केवलं सर्वगुणाश्रयेण	४	११	९६
नगतुङ्गमतङ्गजोग्रनक्रे	६	५३	१५३
नगापगातोयतरङ्गलोलं–	४	२०	९८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
नगोत्तुङ्गं समारुह्य नागेन्द्रं	१५	२३	३५३
नग्नश्चावितनामासौ बद्ध–	१५	८०	३६५
न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति	२	१०३	५८
न च मुख्यादृते गौणक–	१८	७७	४४३
न च व्यापकता तस्य	२	८७	५४
न च सखि सुसहस्त्वयापि	९	१३	२१७
न चात्मभूतयोरैक्यं	२	७३	५०
न चानुमानं तद्ग्राह्यं	२	९५	५६
न चान्यदस्त्युपादानं	२	६९	४८
न चाप्यकर्तृता तस्य	२	८१	५२
न चार्थापत्तिरप्यस्ति	२	१००	५८
न चासिद्धमहेतुत्वं हेतोः	२	६४	४६
न चास्वविदितं ज्ञानं वे–	२	५६	४४
न चोपादानधर्मोऽपि	२	७०	४९
न जहाति पुमान्कृतज्ञता–	१०	१३	२३४
न तथाप्यनुवर्तनामहं	१२	१०१	३०४
न तस्य तावानसुसंनिभस्य	५	७८	१३५
न तस्य बाधकं तावत्प्र–	२	९४	५६
न तादृशी स्वे विभवे न	११	५४	२६७
न त्वाहं विरहभयाद्गृणामि	१०	७१	२४८
न नवं वयो व्यसनवर्गहतं	५	९	११८
न निमित्तमिहोपदेशको–	१२	४४	२९०
न पपात रणे तावद्धीर–	१५	५७	३६०
न परं बन्धनं प्रेम्णो न	१५	१४३	३७८
न परीषहास्तमसहन्त धृति–	१७	७९	४२३
न प्रातिकूल्यमत्यन्तं मनः–	१५	३४	३५५
न बभूव कस्यचिदकालमरण–	१७	५४	४१७
न भवान्किमवैति यद्बलात्	१२	४१	२८९
न भूरिदानोऽपि मदेन सं–	१	४६	१७
नम इत्यपि त्वयि जिनेन्द्र	१७	३९	४१४
न महीरुहाः परिहृताः कुसु–	१४	२३	३३२
नयनाभिराममकलङ्कतनुं	५	५१	१२९
नयप्रमाणांशुभिरुज्ज्वला–	११	३७	२६२
नयमार्गममुञ्चतः स्वयं	१२	७५	२९८
नयमिन्द्रलाघवकरो विभवो–	५	४४	१२७
नयविक्रमयोर्नयो बली	१२	७३	२९७
नयविक्रमशक्तिशोभितो	१२	४	२७९
नयशास्त्रनिदर्शितेन यः	१२	७६	२९८
न यावदद्यापि पवित्रपांसू	५	७६	१३५

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
नयेन नृणां विभवेन नाकि–	११	५२	२६६
नरनाथ युवा यदा स दृष्टो	६	६१	१५६
नराधिप त्वां प्रियविप्रयुक्तं	५	८५	१३७
नरेन्द्रविद्याधिगमाद्विशुद्धया	१	५१	१८
नरो विबध्येत सरागतां ग–	११	२१	२५८
नवग्रैवेयकादिस्थाः कल्पा–	१८	५१	४३८
नवतिस्त्र्यधिका तस्य सभा	१८	१४६	४५७
नवसंगमजन्मना ह्रिया	१०	४४	२४१
न विबाधनं जनपदस्य सम–	१७	५६	४१८
नवोदयं प्रस्फुरितप्रतापं प्र–	४	६९	११२
न समीरणः श्रवणभेदिपरु–	१७	५५	४१८
न सहते करपातमयं नृपो–	१३	१८	३१३
नहि कार्यविपश्चितः पुरो–	१२	७०	२९६
नागाः पदातिवृषभा–	३	७	७१
नानापुष्पा समजनि ततः	१७	८५	४२५
नाप्यागमेन सर्वज्ञः	२	१०१	५८
नामयन्नतुलदैवपौरुषाः	७	६४	१८६
नारकस्यायुषो ज्ञेयो बह्वा–	१८	८९	४४५
नावियोगः सुहृत्सङ्गो न	१५	१३६	३७७
नास्ति तस्य मयि यन्मम–	८	१४	१९९
निःशेषमम्बुधरधीरगभीर–	३	७१	९१
निःस्पन्दं गजमिति संवि–	११	९०	२७७
निकरैः रुचां तिमिरहानि–	१४	३९	३३७
निखिलानमितानलक्ष्यमो–	६	१०२	१६६
निखिले विधिवद्विवेचिते	१२	९९	३०४
निगृह्णतो बाधकरान्प्रजानां	४	४१	१०४
निजधामविवृद्धिकारिणी	१०	४०	२४०
निजभर्तृदुर्व्यसनदुःखचितं	५	६९	१३३
निजभुजयुगलैरुदस्य जाया–	९	५७	२२९
निजमधुरविलासशोभितानां	९	४२	२२५
निजरूपविभ्रममनोरमया–	५	३६	१२५
निजविक्रमाहितरणैकरसो–	५	३२	१२४
निजशौर्यवह्निहुतशत्रुगणे	५	३०	१२४
निजैषुरचितस्फारमण्डपो–	१५	४३	३५७
निजैः समस्तानभिभूय धा–	१	४७	१७
नितम्बवाप्यः खचराङ्गना–	१४	८	३२८
नितरां परिकोपितो मनो–	६	६८	१५७
नितान्तवृद्धेन कठोरवृत्ति–	१	४८	१७
नित्यं व्यापकमाकाशमव–	१८	७२	४४२

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
नित्यसनिहितदेहदेवतादत्त–	७	१८	१७४
नित्यस्यानुपकारित्वात्सम–	२	७७	५१
निपतति कुचमण्डले रमण्याः	९	५०	२२७
निपातयन्ती तरले विलो–	१	२७	१०
निपातितानां रणमूर्ध्न्यरीणा–	४	५९	१०९
निमज्जतो मे परिमूढबुद्धेरे–	५	८३	१३७
निमित्तभावेन मदस्य भूय–	११	५१	२६६
निरन्तरनिपातीषुजालप्र–	१५	५४	३५९
निरन्तरैर्यत्र शुकाङ्गकोमलैः	१	१३	६
निरवग्रहैर्नवनवैः परितः	५	१०	११८
निरवधि प्रसृतैर्वसुधातले	१३	१२	३११
निरस्तषड्वर्गरिपुः कृतज्ञो–	४	१४	९७
निरालोके जगत्यस्मिन्न–	२	४१	३९
निराश्रयाणां पततामधोग–	११	४२	२६४
निर्मग्नं विषतसुखाम्बुधात्र–	१६	२३	३९०
निर्वर्तितात्मा विषयेभ्य इत्य–	११	३०	२६०
निवसन्कृतसत्कृतिः स त–	६	५९	१५५
निवारयन्तोऽपि दरीमुख–	१४	६	३२७
निवृत्य यावत्किल पृष्ठवर्ति–	११	६	२५३
निवेदितान्तःकरणस्य भूभु–	११	५८	२६८
निशम्य तस्यागमनं स पा–	११	३२	२६१
निशम्य तस्यातुलपुण्यश–	४	५३	१०८
निशाकरांशुप्रकराच्छवारि–	१	१४	६
निशागमे सौधशिरोधिरोहि–	१	२९	११
निशासु शीतांशुमणिस्थल–	१	१५	६
निषेव्य विवरो वरो विविध–	१४	२०	३३१
निष्क्रान्तैः शिखरचयान्नि–	१४	४०	३३७
निष्क्रामति प्रविशति प्रक–	१	८३	२७५
निःस्वेदत्वादिभिस्तस्य सह–	१८	१३३	४५४
निहतप्रमुखे ततोऽरिसैन्ये	६	१०७	१६८
निहत्य नूनं शमखङ्गधारया	११	२६	२५९
निजोचितां समाकर्ण्य	१५	१०२	३७०
नीरन्ध्रैर्विपुलफलैरकृष्टपच्यैः	१६	५	३८५
नीलाननं प्रसृतपाण्डिम–	३	६४	८९
नीलोत्पलानि निजया	३	६७	९०
नीलोत्पलोल्लसितलोलमरी–	१४	३४	३३५
नूनमिच्छति नो जेतुं	१५	१००	३६९
नृत्यच्छिखण्डिनि मृदु–	३	४३	८३
नृपतिरेकक एव कुलं	१३	१५	३१२
नृपतेर्मुकुलीकुर्वन्स करा–	२	३८	३९
नृपपराक्रमबीजविवप्सुभि–	१३	१९	३१३
नृपवधूजनयानवितानकै–	१३	३२	३१६
नोदसिक्त स मदप्रवर्तिनीं	७	२८	१७७
प			
पक्ष्मस्पन्दविनिर्मुक्ते बभ–	१८	१३८	४५५
पञ्चमी च सहस्राणि वर्षा–	१८	४१	४३६
पञ्चमी दुःषमा ज्ञेया षष्ठी	१८	३८	४३६
पञ्चषानपि कृत्वाग्रे पत्ती–	२	२९	३७
पटहजेन पटुध्वनिना मुहु–	१३	३५	३१७
पठितव्यमिहान्यथा स्थितं	१२	८३	३००
पण्यस्त्रीमिव समुपात्तपत्रपू–	१६	३८	३९५
पतिरङ्गनया न्यषेधि यत्प–	१०	४५	२४१
पत्रं धनं धान्यमशेषरत्नान्यु–	४	५७	१०९
पथि वृषैः करिसूत्कृतिवि–	१३	२९	३१५
पथिषु हस्तिपकाहतडिण्डि–	१३	१४	३१२
पदवीमतीत्य तमसां तपता	५	६३	१३२
पदातिसार्थो विभवाश्च बान्ध–	११	५६	२६७
पयसि समवतीर्य नाभिदघ्ने	९	३३	२२३
परकृत्यविधौ समुद्यतः	१०	४	२३१
परंतपस्तडिद्वक्त्रं चित्राङ्ग–	१५	११२	३७२
परया प्रभुशक्तिसंपदा	१२	३	२७९
परवृद्धिनिबद्धमत्सरे विफ–	१२	८५	३००
परशुं वाहयमास कृत्वा स–	१५	१२९	३७५
परस्परस्नेहनिबद्धचेतसोः	१	५८	२१
परस्परास्त्रसंघट्टप्रोच्छल–	१५	६९	३६३
पराक्रमाक्रान्तमहीभुजो–	१	५४	२०
परिचिते बहुशोऽप्यवनीश्वरे	१३	२६	३१५
परिज्वलन्महास्त्रौघं रथं	१५	२४	३५३
परिणामसुखं शरीरिणां	१	७६	२६
परिणामहिते समीहते पथि	१	७१	२४
परिणामिनि यामिनीमुखे	१०	४१	२४०
परिणेष्यति तां य एव ध–	६	८४	१६२
परितः परिचूर्णयन्नुपेता–	६	३	१४०
परितः परिवत्रस्तमन्येऽप्ये–	१५	२५	३५३
परितापविनाशनाय शय्या	६	६६	१५७
परिदेवनसंतापशोकाक्रन्द–	१८	८५	४४५
परिभवत्यरिनिर्जयनिर्गतो–	१३	६	३०९
परिमितैर्गमनैः कुथवाहिनीं	१३	५३	३२२

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
परिरभ्य दृढं स मत्प्रभुर्म–	१२	५	२८०
परिरम्भभवो वधूवपुःपरि–	१०	५३	२४३
परिरम्भिणि जीवितेश्वरे	१०	५४	२४३
परिवर्धयति स्वकौशलैः	१२	५९	२९४
परिशून्यमना विचिन्तय–	६	६२	१५६
परिस्रुतानीन्दुमणिप्रतानात्	१४	९	३२८
परिहितायसकञ्चुकमेचकं	१३	२२	३१४
परीतशृङ्गः स्फुरदंशुजालकै–	१	२३	९
परुषं मम शृण्वतस्तथा	१२	६४	२९५
परोक्षादपि चेज्ज्ञाना–	२	६०	४५
पर्यन्तचर्यः कनकोज्ज्वलासु	१४	३	३२६
पर्यन्तजाततरुजालनिरुध्य–	८	५९	२१२
पशवोऽपि संनिधिमवाप्य	१७	३७	४१३
पश्चात्पुरोऽप्युभयतश्च गजा–	११	८९	२७७
पश्य प्रिये परभृतध्वनित–	८	५२	२१०
पाणिभिर्गलितास्त्रीधाश्चरणै–	१५	५८	३६०
पातालोदरमिव सेवितं सह–	१६	१०	३८६
पादरक्षसमूहेन परिवारित–	१५	११९	३७३
पादानताननुज्ञाय सामन्तान्	१५	१४७	३७९
पादाब्जद्वितयशिलीमुखाय–	१६	२७	३९१
पादौ विरेजतुस्तस्य हेमा–	१८	१४३	४५६
पिङ्गत्वादिव विरहानलप्र–	१०	६६	२४६
पितुर्निदेशादथ सुन्दराङ्गीं	४	१५	९७
पीताम्भसः श्रमलवानिव–	१४	५४	३४१
पुंसां पुरोपचितपुण्यनिबद्ध–	३	५९	८८
पुण्यैः कवचितस्यास्य	१५	११	३५०
पुरःपतितमालोक्य तं	१५	७३	३६३
पुरनाथपुरःसरः कुमारः	६	५७	१५५
पुरुषस्तपनीयवद्गुरुर्न परै–	१२	८८	३०१
पुरुषेण जिगीषुणा सदा	१२	७२	२९७
पुरैव संसारपरम्पराया–	४	३३	१०२
पुलिनभूमिषु यत्र तटद्रुम–	१३	५९	३२४
पुष्पमम्बुरुहनाम धुनाना	८	५	१९७
पूर्वकोटिप्रमाणं च तेषा–	१८	३४	४३५
पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणः	७	१	१७०
पूर्वजन्मकृतपुण्यकर्मणा	७	७२	१८८
पृथक्त्वादिवितर्कान्तं शुक्ल–	१८	१२०	४५१
पृथिवीपतिपुत्रपृच्छयासा–	६	४०	१५०
पृथिव्यादिस्वरूपेण स्थूल–	१८	७९	४४३
पृथुतुङ्गनिरन्तरैस्तरूणां	६	५	१४१
पृथु दक्षिणतोऽस्ति तत्र	६	७५	१५९
पेठुरेत्य नटगायकादयो–	७	३६	१७९
पौरैः समागत्य गृहीतरत्न–	४	५२	१०७
प्रकृतिस्फुटं ग्रहगणस्य	१७	४६	४१५
प्रकृतीर्नयंस्तनुतरत्वमतनु–	१७	८१	४२४
प्रक्षुभ्य क्षणमथ मङ्गलैकहे–	१०	६२	२४५
प्रख्यातः प्रशमरतः प्रताप–	१६	११	३८७
प्रगमितमरविन्दलोचनायाः	९	२१	२२०
प्रचलत्सुरासुरकिरीटकिर–	१७	७	४०६
प्रजिघाय च दूतमुद्धताख्यं	६	८९	१६३
प्रणदितकलकाञ्चिनूपुरोत्थं	९	३	२१५
प्रणनाद भावनगृहेषु जल–	१७	५	४०६
प्रणमन्ति मदन्वयोद्भवं	१२	११	२८१
प्रणिगद्य नयान्वितं वचः	१२	८२	२९९
प्रतिजन्तु यतो जीवः	२	५५	४४
प्रतिनादितसर्वशैलरन्ध्रः	६	१५	१४४
प्रतिपत्तिभिरर्घपूर्विकाभिः	६	७८	१६०
प्रतिबुद्धवानसुरमोहनजं	५	५४	१३०
प्रत्यग्रपाकविततं सुरभी–	१४	४९	३४०
प्रत्यहं द्विगुणषोडशावनी–	७	७१	१८८
प्रत्यूषोद्भवहिमबिन्दुभिः	१०	६८	२४७
प्रत्येकपक्षे जीवानां भूत–	२	६५	४७
प्रथमं द्विषि साम बुद्धिमान–	१२	७९	२९९
प्रथमायां पृथिव्यां ये ना–	१८	९	४३०
प्रथितोऽथ चण्डरुचिरित्य–	५	५३	१२९
प्रथितोऽयमरिंजयाभिधा–	६	४१	१५०
प्रध्वनद्धनुरारावरोषित–	१५	७०	११९
प्रपित्सु संपक्वफलोपमान्वि–	११	१८	२५७
प्रपूरयन्धान्यधनैरशेषं	४	१०	९६
प्रपृच्छ्य सुतमात्मनस्तमप–	१	८१	२७
प्रभञ्जनः खेचरसुन्दरीणां	१४	१४	३२९
प्रभावतो लब्धमहर्द्धिकस्य	१४	७	३२८
प्रभावनायां जिनवर्त्मनो–	११	३६	२६२
प्रभुदोषशतं प्रमार्जितुं	१२	८०	२९९
प्रयाणकालप्रभवैरुदारैस्त–	४	५०	१०७
प्रयाणतूर्यनिर्घोषसंमिल–	१५	२६	३५३
प्रयासमुच्चैःकटकेषु भूभृ–	१	४१	१५
प्रलयाहिमदीधितेरिवोल्कां	६	५५	१५४

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
प्रलापिनीशे करुणार्द्रभावं	५	७४	१३५
प्रविकासिनि यन्यलीयत	१०	२४	२३६
प्रविचिन्त्यमुदेतुमिच्छता	१२	४६	२९१
प्रविचेष्टितमेवमेव चेदु–	१२	१०३	३०५
प्रवितीर्य राज्यमवदात–	१७	७४	४२२
प्रविधाय तत्र पटुवाद्यनि–	१७	७६	४२३
प्रविधाय तत्र पुनरेव मुदि–	१७	४२	४१४
प्रविधाय ते समयमेकम–	१७	२३	४१०
प्रविश्य भवनान्तरं क्षणच–	७	९२	१९४
प्रविसर्जितसर्वपादसेवागत–	६	७९	१६०
प्रविहाय जिगीषुतामिमां	१२	२२	२८४
प्रविधाय मामशरणं सहसा	५	५८	१३१
प्रवृत्तसंभाषणयोर्मिथस्तयो–	११	४९	२६५
प्रशमादिभिः स चतुरोऽपि	१७	७८	४२३
प्रशशास पूज्यवचनस्य स	१७	५२	४१७
प्रसिद्धेनाविरुद्धेन मानेना–	२	१४२	६८
प्रसीद नस्तद्वरदात्मदीक्षया	११	५७	२६८
प्रसृतया बभतुर्वरकुण्डलग्र–	१३	४	३०९
प्रसृतालकतुल्यलाञ्छनधु–	१०	१८	२३५
प्रस्तुतस्यानुमानस्य	२	१०७	५९
प्रस्वेदफेनलवविच्छुरिताङ्ग–	१४	५१	३४०
प्रहतं मरणेन जीवितं जर–	१	६९	२४
प्रहृत्य च चिरं चञ्चच्चारु–	१५	९२	३६७
प्रह्लादनं विदधती शशिनः	३	६२	८९
प्रह्लादिनेति वचसा वदतां	११	७९	२७४
प्राकारः परितो यत्र	२	१३१	६५
प्राकारपरिखावप्रैः परितः	२	१४१	६८
प्राकारशिखरासन्नैस्तार–	२	१३०	६५
प्राकारोऽच्छस्फटिकघटि–	१७	८९	४२७
प्राक्प्राचीं दिशमुपसृत्य धूत–	१६	२५	३९१
प्रागतीव मनसा समुदा य–	८	३५	२०५
प्रागपागवरुणदिग्व्यवस्थित–	७	६८	१८७
प्रागेव प्रमुदितधीर्जिनावत–	१६	५५	४००
प्राणैरस्थास्नुभिः स्थास्नु	१५	६४	३६२
प्रातिहार्यैश्च सोऽष्टाभिः	१८	१४५	४५७
प्राप वारवनिताप्रवर्तितैः	७	३५	१७९
प्राप्तश्चिरादुरुपरिश्रमखिन्न–	१४	४८	३३९
प्राप्तमानवभवोऽपि कृच्छ्रतः	७	४८	१८२
प्राप्तस्योत्तरदिशमेति तीव्र–	१६	४६	३९७

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
प्राप्ते प्रसूतिसमयेऽथ तिथौ	३	६९	९१
प्राप्य चक्रधरराज्यसंपदा–	७	३९	१८०
प्राप्याच्युतं सपदि कल्प–	११	७३	२७२
प्रावेशिकानकनिनादविबो–	७	८२	१९१
प्राससायकरथाङ्गमुद्गरं	७	२५	१७६
प्रासादशृङ्गसंलग्नरत्नोपल–	२	१२६	६४
प्रासिदज्ञिति शशिप्रभान्वि–	७	१७	१७४
प्रियचाटुषु कोविदोऽपरो–	१०	५६	२४४
प्रियवादपरेषु विश्वसीत्कु–	१२	५१	२९२
प्रियसङ्गसमुत्सुकाङ्गनानय–	१०	२	२३१
प्रीणिताहिनरदेवकुलानि	८	२४	२०२
प्रोद्दामद्विरदरदप्रभेदनिर्य–	१६	२६	३९१
प्रोद्बभूव नवमेघमेचकप्रा–	७	१०	१७२
फ			
फलं स्वप्नावल्याः सकलमि–	१६	६७	४०३
फलितसस्यसमूहनिरन्तरा–	१३	५१	३२२
फुल्लन्मल्लीकुसुमसदृशामोद–	१५	१६२	३८३
ब			
बकुला अपि दृष्ट्वा तमणु–	२	१४	३३
बद्धाञ्जलीन्खण्डितमानशृ–	४	५८	१०९
बद्ध्वा दृढं परिकरं विनिवा–	११	८६	२७६
बध्यते कथय कर्मभिः कथं	७	४३	१८१
बन्दिभिः स्तूयमानस्तं ब–	१५	१११	३७१
बन्दिभ्यो ललितपदक्रमा–	१०	७७	२५०
बन्ध एव प्रविष्टत्वादनुक्तिः	१८	३	४२९
बभुरौषधयः समन्ततः शि–	१०	३९	२४०
बभूव भव्याम्बुजपद्मबन्धुः	प्र०प्र०	१	४६०
बलगर्वितयैव निष्फलं	१२	३६	२८८
बलवानपि जायते रिपुः	१२	७४	२९७
बलवानहमित्यहंक्रिया	१२	३५	२८८
बलवान्विधिरेव देहिनां	१०	६	२३२
बहुनागमनेकखड्गिसेव्यं	६	१३	१४३
बहुप्रकारा यदि न स्युरङ्गि–	११	६४	२७०
बहुभिः परिवारितोऽखिलं	१२	४८	२९१
बहुशः प्रणिपत्य बोधिता	१०	५२	२४३
बहुसत्त्वयुतौ स्थिराशया	१२	५०	२९२
बह्वारम्भादिसंभूतैः पापैः	१८	१५	४३१
बिभेति पापान्न सतामसंम–	११	१४	२५६
बिभ्रती काशसंकाशपक्ष–	२	१३५	६६

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
बिभ्रती मधुकरं कलिकालं	८	४	१९७
बिभ्राणैर्बृहदुद्दण्डपिच्छ-	२	११५	६१
बिम्बितपुष्पगुच्छनिचितव्र-	१४	२८	३३३
बिसतन्तुनिर्मलतमैर्जनता-	५	२४	१२२
बृहदलाबुकगौरववामनां	१३	४३	३१९
ब्रूते नागस्ते त्रिलोकैकमु-	१६	६३	४०२
भ			
भक्तियोगोऽर्हदाचार्येष्व-	१५	१५७	३८१
भग्ने चापे गुणे छिन्ने रि-	१५	४८	३५८
भङ्गः कचेषु नारीणां	२	१३९	६७
भङ्गं गृह्णत्यथात्मीये सैन्ये	१५	६१	३६१
भजते गदवन्न विक्रियामु-	१२	६५	२९५
भजते भयमेभिरर्थशून्यैर्व-	६	२१	१४५
भटानां भाविसंग्रामभव-	१५	४	३४८
भद्राः किं प्रपलायध्वं मा-	१५	६२	३६१
भयरोगशोकमरणानि भव-	१७	३८	४१३
भयात्पलायमानस्य कामस्य	२	२०	३५
भरक्षमक्ष्मारुहमूलबद्ध-	४	७१	११३
भरतैरावते वृद्धिह्रासिनी	१८	३५	४३५
भवति प्रियमिष्टसाधकं	१२	४०	२८९
भवतीह विनापि हेतुना	१०	२३	२३६
भवतो ननु पुण्यमत्र हेतु-	६	९४	१६४
भवानपास्तव्यसनो निजेन	४	३४	१०२
भव्याभव्यप्रभेदेन द्विप्रका-	१८	५	४३०
भव्याम्भोजविबोधनोद्यत-	प्र. प्र.	४	४६०
भानुर्भवेद्यदि मनागिह	३	१३	७३
भारद्वाजः कुतोऽप्येत्य	१५	२८	३५४
भारेण स्तनकलशद्वयस्य	१६	२	३८४
भास्करादिदृग्गोचरीभव-	७	९	१७२
भास्वानपि च यः सेव्य-	२	१०	३२
भीमं भासुरवासोभिः सु-	१५	१६	३५१
भीमेनापि हृतः शक्त्या	१५	७२	३६३
भुक्तिक्रियायाः कर्तृत्वं	२	८२	५३
भुजगान्गरुडेन वह्निमद्भिः	६	१०५	१६७
भुवः शोभा भवद्योगाद्या-	२	३९	३९
भुवः समुद्धर्तुरधिष्ठितात्म-	१	५७	२०
भुवनभवनदीपीभूतबिम्बे	१४	७१	३४७
भुवनव्यापिनीं भव्यपुण्ड-	२	३	३०
भुवनातिगेन यशसा कथितं	५	२७	१२३
भुवनातिशायिजिनरूपवि-	१७	१८	४०९
भूपानां वसनयुगादिसत्कृ-	१६	५४	३९९
भूपाले विजितसमस्तदक्षि-	१६	३९	३९५
भूभर्तुः कुसुमशरानुकारि	१६	४३	३९६
भूभर्तुर्दिशमभिदक्षिणां यि-	१६	३३	३९३
भूरिभैरवधीराया रुष्टैः	१५	१०	३५०
भेजे नितान्तमजलोऽपि-	३	१०	७२
भेदाः पञ्च नव द्वौ च	१८	९९	४४७
भोगकर्मभुवो भेदान्मानुषा-	१८	२८	४३४
भोगान्धिग्धिग्धनं धिग्धिग्	१५	१४१	३७८
भोगैः स वाञ्छाकृतसंनि-	४	१७	९८
भ्रमन्ति भुवनाभोगे	२	८	३२
भ्रातॄन्हन्ति पितॄन्हन्ति	१५	१३९	३७७
म			
मकरसूत्कृतदूरसमुच्चल-	१३	५८	३२३
मज्जत्पुरंध्रिधम्मिल्लगल-	२	१३७	६७
मज्जत्सीमन्तिनीसार्थकुच-	२	१२४	६४
मणिकुण्डलाङ्गदकिरीटक-	१७	२२	४१०
मणिघण्टिकाः सदसि रेणु-	१७	४	४०५
मणिदीपकप्रकटनिर्वृतये	५	१४	११९
मणिप्रभाभिर्मणिकूटमद्रि	१४	१	३२६
मणिभाजने समधिरोप्य	१७	७५	४२२
मणिमुद्रिकाकटकहारवस-	१७	४९	४१६
मतिमातनोति हरतेऽघमुप-	१७	३४	४१३
मत्वानुपप्लवशिखानिह	१४	२७	३३३
मदगन्धिषु सप्तपर्णकेषु	६	९	१४२
मदनरसमिवातिरिच्यमानं	९	४९	२२७
मदभाजि परापमानता	१२	८७	३०१
मदमूढमतिर्हिताहितं	१२	१३	२८२
मदान्धकान्तानयनान्त-	११	१५	२५६
मदाम्भमम्भो विसृजद्भिरुल्ल-	१	२५	९
मदेन योगी द्विरदेषु केवलं	१	३२	१२
मदो मदोद्धताकारैर्दिक्कु-	१५	३	३४८
मद्याङ्गादिभिदा भिन्नदश-	१८	३१	४३४
मधुराक्षरहारिणीं स वाणीं	६	३६	१४९
मधुविनिहितविभ्रमाभिरामां	९	१	२१४
मध्यमासु च चत्वारि द्वे	१८	३०	४३४
मध्ये जलं प्रकटचञ्चलपृष्ठ-	१४	५३	३४१
मध्योत्तमजघन्येन ताश्च त्रे-	१८	२९	४३४

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
मध्वासवापानमनोज्ञगाना:	१४	१६	३३०
मनःपर्ययिणामष्टसह–	१८	१४९	४५७
मनस्विभिर्नाथ भवान्भवा–	११	४०	२६३
मनुष्यजन्मेदमवाप्य दुर्लभं	११	२४	२५९
मनो दधद् द्वादशसु प्रतिक्षणं	११	७१	२७१
मनोहरैः संहतकच्छवाटैः	४	७०	११३
मन्त्रेणेव ततः शम्भोः स–	१५	८६	३६६
मन्ददीधितिसुखावहमाना	८	४०	२०६
मन्दधूतबकुलोपवनेन	८	१२	१९९
मन्मनः सुतनु भीमदनेन	८	४४	२०७
मम कः प्रतापमवजेतुमलं	५	२५	१२२
मम कर्तुमेष विषयेषु विर–	१७	६६	४२०
ममेदमस्याहमिति ग्रहेण	४	२५	१००
मयि पश्यति माभिभूयतां	१०	५	२३२
मलसङ्गवर्जितमितं पृथुतामु–	५	४७	१२८
मलीमसं भृङ्गनिभेन लक्ष्म–	१	२४	९
महतामतिदूरवर्तिनोऽप्य–	१२	६	२८०
महागुणैरप्यगुणैर्मदोज्झितैः	१	३७	१३
महाविभवसंपन्नं तत्रास्ति	२	१२५	६४
महिमा निसर्गविनयेन यथा	५	२६	१२२
महीभृतस्तस्य सतां प्रणाय–	११	५०	२६६
महौषधीगन्धगतप्रभावान्नि–	१४	१०	३२८
माग्रहं सखि भजस्व स मा–	८	१३	१९९
माद्यद्दन्तिमदोत्सेकच्छन्न–	१५	३७	३५५
माधुर्यमिच्छुरतिशायि परि–	८	५५	२११
मानुषस्यावगन्तव्यः स्व–	१८	९०	४४५
मानोन्नता महाभोगा–	२	१३२	६६
मानोन्मादव्यपनयचतुरा–	१४	३०	३३४
मार्गप्रभावनाज्ञानतपःप्रभृ–	१५	१५९	३८२
मालायुग्मं प्रान्तविभ्रान्त–	१६	५९	४०१
मिथ्यासासादनदृशो मिश्रा–	१८	४४	४३७
मुकुटरत्नचयेन परस्पर–	१३	५	३०९
मुखमसदृशविभ्रमैर्विदित्वा	९	४०	२२५
मुखमिदमरविन्दसुन्दरं नः	९	४०	२२६
मुनिजननुतपादः प्रास्त–	प्र.प्र.	३	४६०
मुनिना वक्तुमारेभे तस्मै	२	११२	६१
मुनिभिः स्थितः सह समेत्य	१७	८२	४२४
मुनेस्तस्य प्रभावेण या	२	११	३३
मुषिता वदनश्रिया मम	६	६५	१५७
मुहुः प्रणष्टा मुहुरेव दृष्टाः	४	२२	९९
मुहूर्ता वेदनीयस्य द्वादशैवा–	१८	१०२	४४८
मूर्च्छन्दरीणां विवरेषु तस्य	४	५१	१०७
मृगदृष्टिरविभ्रमप्रहीणा	६	८३	१६१
मृगराजविदारितेभकुम्भ–	६	६	१४१
मृत एव विलीन एव वा	१२	९३	३०२
मोक्षसंधानचित्तेन गुण–	२	५	३१
म्लेच्छाः खण्डप्रभेदेन पञ्चधा	१८	४२	४३६
य			
यः श्रीवर्मनृपो बभूव विबु–	प्र.प्र.	४	४६१
यः कषायोदयात्तीव्रः परि–	१८	८८	४४५
यः प्रविश्य हृदये रजनीषु	८	२८	२०३
यतः स्ववेदनादात्मा	२	७५	५०
यत्काचेष्विव भृशमन्यथा–	१६	३५	३९४
यत्पादपांसुसंपर्कादलंकृत–	२	९	३२
यत्प्रासादशिरोलग्नपद्म–	२	१२८	६५
यत्र क्वचिद्गुणगणो गतवा–	३	८	७२
यत्र प्रशान्तसकलव्यसने	३	५	७१
यत्र भान्ति कुसुमैरम–	८	३७	२०५
यत्रोर्वीरुहनिचयः परं	१६	९	३८६
यत्सल्लकीकिसलयं रुचये	१४	६२	३४४
यथाकालकृता काचिदुप–	१८	१०९	४४९
यथा पलाशास्तत्रैव शोभ–	२	१७	३४
यथा भवत्यभ्युदिते जनोऽ–	४	३५	१०२
यथाभिलषितं वस्तु	२	१२१	६३
यथा सम्यक्परिज्ञातं रुचि–	१८	१२७	४५३
यथा हि पुरुषत्वेऽपि	२	९६	५६
यदतीतमतीतमेव तत्सुख–	१	७०	२४
यदधुः प्रियकोपधूपिते	१०	३२	२३८
यदभूत्सुरासुरवधूसमितेरु–	५	३७	१२५
यदसह्यशोकघनकालबल–	५	७०	१३४
यदि भाग्यवशेन वारणो–	१२	२९	२८६
यदि वा कुतश्चिदपि कार–	५	६१	१३१
यदीदमागन्तुकदुःखकारणं	११	२५	२५९
यदीयगाम्भीर्यगुणेन निर्म–	१	५०	१८
यदीयमेणाङ्कमरीचिहारिणा	१	५५	२०
यदुक्तं सूरिणा तेन	२	१११	६०
यद्भावि भूतमथवा मुनिना–	३	५०	८५
यद्राज निजभासुरप्रभा–	७	८	१७२

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
यमवनीशगमावसरे मर्द	१३	१६	३१२
यशसः सुखस्य विभवस्य	५	६५	१३२
यशोभिरेणाङ्ककलासमुज्ज्व–	१	४०	१४
यस्तवावधिरकारि वसन्तः	८	३७	६९
यस्मात्केलिमसावुवास विद–	११	९२	२७८
यस्मिन्निरन्तरारामविश्रामै–	२	१२०	६३
यस्य देवस्य गन्तव्यं स–	२	२६	३६
यस्य प्रतापदहनेन विल–	३	२	७०
यस्य स्फुरद्भिरनुरागक–	३	३	७०
याः प्रसूनविगलन्मधुरागा–	८	१०	१९८
या कर्मभुक्तिः श्वभ्रादौ सा	१८	११०	४४९
या तेन मुक्ता रविणेव साभू–	४	६४	११९
यात्येषा नृवर विभावरी वि–	१०	६३	२४६
या दुःखसाध्या चपला दु–	४	२३	९९
यानि द्विपेन्द्रनिवहो निज–	१४	५६	३४२
यान्तीभिरात्मनिलयाय	१४	४५	३३९
यान्यदास्त वचनानि वदन्ती	८	१७	२००
यान्यानमुञ्चतारातिरर्नि–	१५	१२४	३७४
या मद्विधाः पुनरसंचित–	३	३१	७९
यावत्पुनः स वलतेऽभिमु–	११	८८	२७६
यावन्न तीर्थोपगमप्रवीणो	४	३०	१०१
या स्त्यानधर्मिणि पुरंध्रि–	३	३२	८०
युक्तोऽन्यदा क्षितिपतिः	३	४२	८३
युज्यते व्यभिचारोऽपि	२	६७	४८
युद्धमार्गविदो योद्धुमार–	१५	४१	३५६
युद्धमूर्ध्नि शवीभूतान्बन्धू–	१५	१३२	३७६
युवराण्मतमस्तु किं तु नः	१२	१०४	३०५
ये तत्र जज्ञिरेऽस्त्राणां	१५	५०	३५८
येनैकोऽपि जितः श्लाघ्यः	१५	५६	३६०
येऽप्यजीवादयो भावा–	२	८९	५५
योगभेदादनन्ता ये प्रदेशाः	१८	१०४	४४८
योधाः शस्त्रक्षताः पेतु–	१५	४७	३५८
योधानामायुधच्छिन्नैर्विरेजे	१५	५५	३५९
योऽपराधरचनासु खलेश–	८	१५	१९९
योऽभवत्प्रियतमैः सह मानः	८	९	१९८
र			
रक्ष तद्वपुरिदं नियमेन	८	३९	२०६
रक्षार्थं प्रजया दत्तं षष्ठांशं	१५	१३७	३७७
रजनी तमसान्त्यजाविना	१०	२८	२३७

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
रजनीपतिना प्रतर्जितं कर–	१०	३४	२३९
रजनीपतिबिम्बदर्शनात्प्रिय–	१०	३७	२४०
रजनीमहश्च स विभज्य वि–	१७	५८	४१८
रजनीषु यत्र गुरुहर्म्यशि–	५	१७	१२०
रतिप्रदानप्रवणेन कुर्वता	१	५२	१९
रतिरूपसंपदभिभूतिकरै–	५	३८	१२६
रथस्थेन समुत्तस्थे भग्ने	१५	७५	३६४
रथिना युवराजेन सोऽनु–	१५	२२	३५२
रन्ध्रनद्धनिबिडादिभेदतो–	७	२२	१७५
रन्ध्रं प्राप्यार्धचन्द्रेण ततो–	१५	७१	३६३
रविणेव निजेन तेजसा	१२	२	२७९
रश्मिजालजटिलीकृताखि–	७	२	१७०
रहितः सहजेन तेजसा	१२	९४	३०१
रागादेश्च क्षयात्कर्मप्रक्षयो–	१८	१२९	४५३
राजलीलां परित्यज्य	२	३५	३८
राजाधिराजवसतेर्हय–	१४	४६	३३९
रासभो न यथा भृङ्गी	२	९७	५७
रिपुरोषारुणीभूतच्छवि–	१५	९	३५०
रिपुसुन्दरीविततबाष्पजलैः	५	३१	१२४
रुचिररत्नकराजितविग्रहैः	१३	४१	३१९
रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवान्	१८	७८	४४३
रैरोरा रैररैरेरी रोरो रोरु–	१५	३९	३५६
रोगादिजनितायाश्च वेदना–	१८	११७	४५१
रोमाञ्चचर्चिततनू रभसेन	३	४५	८३
रौद्रं हिंसानृतस्तेयविषय–	१८	११८	४५१
ल			
लक्ष्मीवानिह भरते सरोज–	१६	१	३८४
लघु जिगमिषुणेति काचि–	९	१०	२१७
लब्धसौरभगुणैर्मधुव्रत–	७	३३	१७८
ललितघनतमालका मनोज्ञ–	९	२	२१४
ललिततिलकमण्डनानि मुग्धे	९	६	२१६
ललितभ्रु लोचनयुगं वद–	५	६६	१३३
लाटीनां कठिनबृहत्पयोध–	१६	४०	३९५
लावण्यं भृशमदधादभूदगा–	१६	१३	३८७
लावण्यसंपदमलाम्भसि	३	१५	७४
लीनषट्पदकुला तिलकाली	८	४७	२०८
लोकाकाशमभिव्याप्य सं–	१८	७०	४४१
लोकाग्रं प्राप्य तत्रासौ	१८	१३१	४५४
लोलत्वं नयनयुगे न चित्त–	१६	१८	३८९

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
व			
वक्षःश्रियो भुजयुगं वर–	३	९	७२
वचनं क्व खलूपयुज्यते	१२	३१	२८७
वचनामृतैः सुखरसज्ञमिदं	५	६०	१३१
वचोभिरिति तत्त्वार्थ–	२	११०	६०
वज्रपांसुजलवर्मवारणं	७	४	१७१
वणिक्पथस्तूपितरत्नसंचयं	१	२१	८
वद देव कोऽयमिति सभ्य–	१७	६५	४२०
वदन्तमेवं तमुवाच भूपतिः	११	५५	२६७
वदान्यतां तस्य विलोक्य	४	७	९५
वनकेलिरिति द्विपाधिपः	१२	१७	२८३
वनजवनगताः करेण लो–	९	५६	२२९
वन्येभगण्डकषणाहितदान–	१४	६०	३४३
वपुः कोपारुणं बिभ्रद् धृत–	१५	९५	३६८
वपुरप्यतिमात्रमान्तरं	१	७३	२५
वपुरादधत्प्रविजहच्च विवि–	१७	७१	४२१
वपुर्धनं यौवनमायुरन्यद–	११	१२	२५५
वपुषा जयतामरेन्द्रलक्ष्मी–	६	५८	१५५
वपुषि कनकभासि चम्प–	९	२४	२२०
वयमप्यगमाम कौशलं नयमार्गे	१२	५८	२९४
वयोनुरूपेण विवर्धमानो–	४	३१	१०१
वरुणाद्यार्यिकाणां च	१८	१५०	४५७
वर्तनालक्षणः कालः स स्व–	१८	७४	४४२
वर्षाणि द्वादशैवायुर्द्वीन्द्रि–	१८	२५	४३३
वसन्तमनपेक्ष्यैव तस्या–	२	१२	३३
वसुधामवत्यतुलधाम्नि चतु–	१७	५३	४१७
वसुधां पयोनिधिपयोवसनां	५	३५	१२५
वस्तुतत्त्वमधिगन्तुमिच्छतो–	७	४४	१८१
वस्तूपदीकृत्य विचित्ररूपं	४	६३	११०
वस्त्रं गलद्विगतनीवितया	७	८९	१९३
वहन्स्मरापाण्डुकपोलमण्ड–	१	५६	२०
वाञ्छद्भिराश्रयविशेषमि–	३	१२	७३
वाञ्छन्विभूतीः परमप्रभा–	४	३६	१०३
वात्येव यावन्न वपुःकुटीर–	४	२९	१०१
वापीवनायतनसोधतडाग–	२	१४३	६९
वायुना विदधे किंचित्	२	३३	३८
वारिकैर्मृदुजलच्छटोद्यतैः	७	३७	१७९
वासराधिपतिस्तुङ्गप्रतोली–	२	१२९	६५
विकसत्कुमुदाकरं सरः	१०	२७	२३७

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
विकसिताम्बुरुहाणि सरोव–	१३	३९	३१८
विकासवद्भिः शरदभ्रपाण्डु–	१	१७	७
विगलत्तिमिरावगुण्ठनामुडु–	१०	२२	२३६
विचकृषुरलकान्विलासिनी–	९	४८	२२७
विचरन्स कुट्टिममहीषु परि–	१७	४७	४१६
विचित्रदुःखा भवमृत्युसंत–	११	६५	२७०
विचित्ररत्नैः कटकैः स्वकी–	१४	२	३२६
विच्छिन्नकर्णसुखकृन्निज–	१४	६५	३४५
विजातिभ्योऽपि भूतेभ्यो–	२	६८	४८
विज्ञेयास्तीर्थकृन्नाम्नो–	१८	९२	४४६
विततखिलक्षितितलाः पु–	५	४	११७
विदधज्जितस्फटिककान्ति–	१७	४४	४१५
विदधत्तिमिरं तिरोहितं क–	१०	१९	२३५
विदधाति मतिं सुताविमो–	६	९३	१६४
विदधातु भुजंगसङ्गभाजो–	६	६७	१५७
विद्युतश्चञ्चला यत्र स्वभा–	२	१२२	६३
विद्रुते विद्विषां सैन्ये वि–	१५	१३१	३७५
विधाय मौलं बलमात्ममूले	४	४७	१०६
विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं	४	३८	१०३
विधिना द्रवरूपताम्बुधे–	१२	८	२८१
विधिना परिणीय राजपुत्रीं	६	१०९	१६८
विधिभिर्विविधाकारैः सिंह–	१५	१५०	३७९
विधुतपङ्करुहो मधुपायिना–	१३	३८	३१८
विध्यातेऽप्यनिलवशेन	१४	२६	३३३
विनयप्रशमैकभूषणं परम–	१२	२६	२८५
विनयैकरतिर्महागुणः	१२	२८	२८६
विनिपातयता यदृच्छया	१	६५	२३
विनिवृत्तनिजाह्निकक्रियं	१०	१२	२३३
विनिवेद्यमिदं प्रयोजनं	१२	१०७	३०६
विनिवेद्य सभ्यनिवहस्य कु–	१७	६७	४२०
विनीयमानो नृपशासनेन	११	७	२५४
विपत्संपदि जागर्ति जरा	१५	१३५	३७६
विपुलं विपुलाभिधां दधानं	६	४२	१५१
विपुलमतिभिर्वृद्धामात्यैः कु–	१	८३	२८
विपुलाख्यमरिंजयाभिधाने	६	८२	१६१
विप्रयोगकृशदाररहितेन	८	३८	२०६
विबभावधिरोहदम्बरे विधु–	१०	३०	२३८
विभक्तमित्यजीवस्य रूप–	१८	८१	४४४
विभान्ति यस्मिन्बहुधो–	१	३४	१३

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
विभिन्दतो हार्दमनेकजन्म–	११	४५	२६४
विभीषणोल्काशतपात–	११	६९	२७१
विभूषितं यौवनरूपसंपदा	१	६२	२२
विभूष्य तत्पूर्वविदेहमात्मनः	१	१२	५
विभूतोऽसि यथाम्बुजाक्ष–	६	२९	१४७
विभेदात्प्रकृतिस्थित्योरनु–	१८	९७	४४७
विमलाकृतीरपरिदृष्टतलाः	५	५	११७
विमलाभिधानशिबिका–	१७	७३	१३८
वियतः पतद्भिरतिहृष्टहृदय–	१७	३	४०५
विरचयसि समादरेण हारं	९	७	२१६
विरहश्वसितोष्णनीरसाधर–	१०	५१	२४३
विरहे तनुतामतीव ये	१०	४२	२४१
विरोधः पञ्जरेष्वेव न	२	१४०	६८
विलुप्तशोभानि विलोचनो–	१	३६	१३
विलोक्य तं शारदमेघ–	११	९	२५४
विवादविषयापन्नं ततः	२	१०४	५९
विविधभङ्गतरङ्गशिरःस्थितैः–	१३	५४	३२२
विविधासु धन्यजनहर्म्य–	५	१५	१२०
विविधासु योनिषु वपूंषि	१७	७०	४२१
विवृणोति मनोगतामियं	१२	९	२८१
विवेकिनो जन्मविपत्तिभी–	११	२९	२६०
विशङ्कमानोऽकुशलं तनूजे	५	८९	१३८
विशदामसमुज्झितान्वयां	१२	१००	३०४
विशालशालोपवनोपशोभि–	१	३१	११
विश्रान्त्यर्थं समनुसरति प्र–	९	५९	२३०
विषयान्तरसंचारो न च	२	५७	४४
विषये खलु संनियोजितः	१२	८६	३०१
विषये गुणवद्विवर्जिते	१०	७	२३२
विषयेषु शत्रुसदृशेषु	१७	६९	४२१
विषवल्लिशिखामिवेषुमालां	६	५४	१५४
विसंवादनमत्यन्तयोग–	१८	९१	४४६
विसरन्बिसतन्तुनिर्मलो–	१०	१७	२३५
विसस्वान शिवा तस्य वा–	१५	२७	३५३
विस्तीर्णोन्नतशिखरावली–	१६	७	३८५
विहर्तुमत्रावसरे समागतं	११	३१	२६१
विहाय ये निर्वृतिमव्यपायां	४	२४	१००
वीक्ष्य जातमुकुलं सहकारं	८	६	१९७
वीक्ष्य जातरुडिवासमहानि	८	५०	२०९
वीक्ष्य तार्क्ष्यमिव छिन्न–	१५	७७	३६४

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
वीतरागचरणौ समर्च्य स–	७	२९	१७७
वीराभिलाषात्सर्पन्ती	१५	८५	३६६
वृक्षगुल्मलतिकासमुद्भवं	७	२१	१७५
वृक्षपङ्क्तियुवतेरधरेण	८	३२	२०४
वृत्तिमद्रिकुलिशादिभेदन–	७	७	१७१
वृद्धानुमत्या सकलं स्वका–	४	४०	१०४
वेश्यागणाः परिचितानुप–	१४	४७	३३९
वैमानिका द्विधा प्रोक्ताः	१८	५०	४३८
व्यतिरेकेऽपि नित्यत्वं	२	८५	५३
व्यहरद्यत्र यत्रासौ तत्र	१८	१३४	४५४
व्यानशेऽथ तदादेशात्पु–	२	२८	३६
व्यासक्तस्तदधरपल्लवे स रा–	१६	२२	३९०
व्युत्थानं सचिवमुखाच्छिश–	१६	२४	३९०
व्योम्ना यातः पत्रिणोऽत्र	१४	३२	३३५
व्रजति मम जलक्रिया स–	९	४६	२२६
व्रजन्सहैवोन्नतिमुज्ज्वला–	४	२	९४
व्रज योगगुहासनादिकं	१२	५६	२९३
व्रतेष्वहिंसाप्रभृतिष्वति–	१५	१५३	३८०
श			
शक्ति शक्तित्रयाक्रान्त–	१५	१२८	३७५
शक्तिभिस्तिसृभिरन्वितो–	७	६९	१८८
शक्नोतीक्षितुमवरीकृतप्रता–	१०	७६	२४९
शठता भवतोऽङ्कुशक्रिया	१२	१६	२८३
शतानि पञ्च चापानां कर्म–	१८	३३	४३५
शक्रदुर्विषहशक्तिभीषण–	७	१३	१७३
शनैर्विहास्यन्ति गतश्रियं	११	१७	२५७
शबराहतपुण्डरीकयूथैः–	६	८	१४२
शब्दार्थसुन्दरं तेन रचितं	प्र.प्र.	५	४६०
शयितस्य हरेः प्रबोधनामि–	१२	३७	२२८
शरपञ्जरसंछन्नसमस्तगग–	१५	६६	३६२
शरीरेन्द्रियरूपेण प्राणापाना–	१८	८०	४४४
शशाङ्ककान्ताश्ममयोर्ध्वभू–	१	२८	१०
शशिकराङ्कुरनिर्मलगून्वहिः	१३	४६	३२०
शशलाञ्छनेऽस्तमित–	५	३९	१२६
शस्त्रप्रहारैर्गुरुभिः समुदा	१५	४५	३५७
शान्तक्षीणकषायौ च स–	१८	४६	४३७
शान्ते जयजयेत्युच्चैर्भव्य–	२	४०	३९
शिक्षकाणामुभे लक्षे चतु–	१८	१४७	४५७
शिखरमणिशिलानां शा–	१४	३७	३३६

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
शिखराणि यत्र परिधेः प–	५	१८	१२०
शिखावलीलोढघनाघनाध्व–	१	१९	७
शिखिगलाकृतिना रशना–	१३	७	३०९
शिरःसमभ्यर्च्यमपीश ल–	११	६३	२६९
शिरसा न निजेन तेऽस्ति	६	५१	१५३
शिलातले यस्य घनायमाने	१४	११	३२९
शिलीमुखक्षये प्रासैः कुन्तैः	१५	१०८	३७१
शिलीमुखशतैश्छन्नास्तयो–	१५	१२१	३७३
शिलीमुखैरजय्योऽयं धनु–	१५	१२५	३७४
शिवहेतुरुदाहृता क्षमा	१२	८९	३०१
शिशिरांशुकराभिमर्शना–	१०	३६	२३९
शीतदग्धनलिनीसमदेहां	८	२७	२०३
शीतला इति विभाव्य जनेन	८	४९	२०९
शीतलो वनभुवामनिलोऽलं	८	७	१९७
शीलक्षमाविनयरूपगुणै–	३	१६	७४
शुचिसङ्गाद्विकासो मे	२	२१	३५
शुद्धकुन्ददलरोचिषां गवा–	७	७५	१८९
शुभः पुण्यस्य पापस्य	१८	८३	४४४
शुभ्रं नभोऽभवदभीषुम–	३	७०	९१
शुशुभे करात्करतलानि स–	१७	४८	४१६
शुश्रुवानिति स बन्धमोक्ष–	७	५४	१८४
शृङ्गारद्विगुणीभूतैरमाति	१५	८	३४९
शैलानिलः शिथिलकम्पि र–	१४	५०	३४०
शैलेन्द्राभं शुभ्रमैन्द्रं गजेन्द्रं	१६	५८	४००
शौर्यं नातिशयि समुज्झितं	१६	१४	३८८
श्रवणतटविलम्बि संविग्रस्ते	९	८	२१६
श्रावकाणां च लक्षाणि त्रीणि	१८	१५१	४५८
श्रियं क्रियाद्यस्य सुरागमे	१	१	१
श्रीकान्तया सरसिजाकर–	३	१४	७४
श्रीकान्ताय समर्प्य राज्य–	४	७८	११५
श्रीवर्मराजोऽपि पितुर्वियो–	४	४६	१०६
श्रीह्रीधृत्यादिभिः स्वान्वपुषि	१६	७०	४०४
श्रुतवानिति तद्गिरं गरीयः–	६	७०	१५८
श्रुतशुद्धधीरधरितेन्द्रपदं	५	५०	१२९
श्रुतान्वितस्यात्यशरीरभा–	५	८६	१३७
श्रुते च द्वादशाङ्गादिबहुभे–	१५	१५८	३८१
श्रुत्वा घनध्वाननिभं नट–	१४	१७	३३०
श्रुत्वा तं सकलत्रमुद्धृतरि–	६	१११	१६९
श्रुत्वेति तद्वचनमेवमुवाच	३	५१	८५

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
श्रेयस्तनोति परिवर्धयते	३	४९	८५
श्वसितैरहिमैर्नितान्तदीर्घैः	६	६४	१५६
ष			
षट्खण्डमण्डितमखण्डमिति	७	८०	१९०
षडमी रिपवः शरीरजा–	१२	१४	२८२
षण्मासप्रमितं प्रोक्तं चतु–	१८	२६	४३३
स			
संवत्सरसहस्राणि द्वावि–	१८	२३	४३३
संश्लिष्टामथ तस्य भूधरपते–	१८	१५४	४५९
संसर्पत्तटगतकर्कटा समी–	१३	६२	३२५
संसारव्याधिविध्वंसे भाव्य–	१८	१२५	४५२
संस्पृश्य पूर्वं परितः करेण	४	६७	११२
संहृति नवनवाङ्कुरलीनां	८	२	१९६
स कदाचनाथ युवराजयुतः	५	५२	१२९
सकलं प्रविगाह्यतां चरैः	१२	१०५	३०५
सकललोकमनोरममुल्लसत्	१३	२	३०८
सकलावबोधमकलङ्कमनु–	१७	२५	४११
सकलोऽप्यपेक्ष्य किमपीश	१७	३५	४१३
सकषायतया जन्तोः कर्म–	१८	९६	४४७
स कुमारयोग्यजलकेलिग–	१७	५०	४१६
स कृतो कृतार्थमपि तस्य	१७	३२	४१२
सकृदबुधतया कृतेऽपराधे	९	११	२१७
स क्रुद्धेन सुभीमेन स्फुर–	१५	७४	३६४
स खातिकायाः पयसो वि–	४	७३	११३
सख्या मुखादिति निशम्य	३	३६	८१
स घातिक्षयजैरेभिरपरै–	१८	१४०	४५६
संकुलं नरनभश्चरामरै–	७	७९	१९०
संक्षेपतो गिरमिमामभि–	३	५८	८७
संगतं त्रयमिदं प्रजायते	७	५१	१८३
संगीतध्वनिमुखरैर्विराजमाना	१६	६	३८५
स चक्राणि विचिक्षेप क्षे–	१५	१२७	३७५
स चतुर्विधोऽपि नृपसद्म	१७	१०	४०७
सचिवैरधुना भवद्विधैः	१२	२७	२८६
सच्छाया विपुलतरोर्महाल–	१६	१७	३८८
सजातीयं ह्युपादानं दृष्टं	२	६६	४७
सज्जीकृतं महामात्रै रोपि–	१५	२१	३५२
संछन्नाखिलककुभो घना–	१६	२८	३९२
सतडिदाभरणाः प्रविलम्बते	१३	१३	३११
स ततः प्रभृति प्रतीततेजा–	६	७२	१५८

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
सततप्रसृतैरपोढशीताः	६	१०	१४२
स ततो हतहेतिरुग्रकोपाद–	६	१०६	१६७
स तदीयवचःप्रवृद्धमन्यु–	६	५२	१५३
स तयोर्गुणाभरणभूषितयो	५	४०	१२६
सति निजकरजारुणांशुभिन्ने	९	२०	२१९
सति मानसेऽप्यकलुषाम्भ–	५	१९	१२१
सत्कृत्य स स्वकीयैस्तं	२	२५	३६
सदकारणवत्त्वेन सिद्धा	२	६३	४६
सदायमस्मत्प्रतिपक्षभूतया	१	१६	७
सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः	१८	५४	४३८
सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः	१८	६२	४४०
स न प्रदेशोऽस्ति न यो–	१	३५	१३
स निरस्तमनोरथस्त्विदानीं	६	४७	१५२
संततोत्सवनिविष्टचेतसां	७	३४	१७८
संतापप्रसरमुषः समाश्रिता–	१६	४	३८५
संतापमूलमुहृदं विरहं	३	२३	७७
सन्त्येव केवलदृशोऽवधि–	३	४०	८२
संदर्शनादेव तदा महर्षेस्त–	५	७५	१३५
संनह्य सैन्यैः सह शौर्यशौ–	४	५६	१०८
संनिषेव्य सततं कमलि–	८	४८	२०८
संन्यस्य संगमखिलं नि–	१५	१६१	३८२
सपदि प्रविधीयतां तदत्र	६	६९	१५८
स पातु यस्य स्फटिकोप–	१	२	१
सपौरः ससुहृद्वर्गः सकल–	२	३०	३७
सप्ततिर्मोहनीयस्य विंशति–	१८	१०१	४४८
सप्तधा पृथिवीभेदाभ्रा–	१८	६	४३०
सप्तीनां रुचिरनवालपल्लुता–	१९	७५	२४९
सप्रमादहृदयः कषाययुग्यो–	७	४५	१८१
सप्रसादसविकाससारकं	७	३२	१७८
स प्रहाय शमसक्तमानसः	७	५५	१८४
सप्रहारं तमादाय सारथि–	१५	९३	३६८
स बह्वपत्योऽपि विशाम–	१	६३	२२
समधिकनवयौवनोदयश्री–	४	७५	११४
समधिगम्य समस्तसमीहि–	१३	४४	३२०
समभूत्सुखिचक्रवाकयो–	१०	३१	२३८
समवगाढवतां वनदन्तिनां	१३	५५	३२२
समस्तमेवं विषमेव पुंसाम–	४	१९	९८
समागमो निर्व्यसनस्य रा–	४	३७	१०३
समाचरन्यः शिशुभावदुर्ल–	१	६०	२१

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
समाधिस्तपसो विघ्ने कृत–	१५	१५६	३८१
समापतन्तमालोक्य पितुः	१५	९१	३६७
समुच्चलत्तस्य तुरंगमोत्थं	४	४८	१०६
समुज्ज्वलाभिः कनकादि–	१	१८	७
समुद्गतैर्ग्रीवतले पतित्वा	१४	१३	३२९
समुद्धतान्पापरिपून्हनिष्य–	११	२७	२५९
समुपार्जितपूर्वपुण्यलेशाद–	६	३५	१४९
समुल्लसद्भिः शरदभ्रपाण्डु–	१	३०	११
संपश्यता कुसुमवासितदि–	१४	४२	३३८
संपूर्णशारदनिशाकरकान्त–	३	४	७१
संप्राप्तस्तटभुवि पूर्ववारिरा–	१६	२९	३९२
संप्राप्तैस्तटमपराम्बुधेर्बले–	१६	४४	३९६
संभावयामि तदहं तमनङ्ग–	८	५३	२१०
संभावितैकनयना रुचिरा–	७	८८	१९३
संभूयाभिमुखीभूतं बलिन–	१५	९६	३६८
संभ्रमं मा वृथा कुरुध्वं	१५	६३	३६१
सम्यग्दर्शनसंशुद्धिः शङ्का–	१५	१५२	३८०
स यत्र दोषः परमेव वेदि–	१	३८	१४
सरभसैर्नरनाथविनिर्गमं	१३	३३	३१७
सरलनवमृणालनालबाहुश्च	९	३१	२२२
सरसिजरजसारुणे सपत्न्याः	९	४१	२२५
सरागसंयमो दानं शौचं	१८	८६	४४५
स रोषाद्द्विगुणोत्साहो–	१५	८९	३६७
सर्पत्कुचद्वयविपाण्डुरता–	३	६५	८९
सर्वज्ञं कनकमयैः समर्च्य	३	७५	९३
सर्वज्ञत्वं न चासिद्धं कस्य–	२	१३	५६
सर्वभाषात्मिका तस्य सर्व–	१८	१४१	४५९
सर्वभाषास्वभावेन ध्वनि–	१८	१	४२९
सर्वविद्येशिनस्तस्य यथा–	१८	१३९	४५५
सर्वेषामपि तमसां छिदः	१६	२०	३८९
स संपदामायतनं जयश्री–	४	१३	९७
ससुतः समुपेत्य तत्सभा–	१२	५४	२९३
स स्तम्भं जयककुदं निषू–	१६	३२	३९३
सह वल्लभया पतिं प्रजा–	६	६०	१५५
सह शशिसमकान्त्या शील–	४	७६	११४
सहसापहृताधरांशुकः	१०	४७	२४२
सहसैव समुद्भिद्य सुसुवे	१५	२९	३५४
सहस्रं मानमुत्कर्षाद्योज–	१८	२०	४३२
सागरोपमकोटीनां चतस्रः	१८	३९	४३६

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
सागरोपमकोटीनां दश–	१८	३६	४३५
सागरधर्मनिरता प्रतिपद्य	३	५५	८७
सा च प्रणश्यति न तावद–	३	५२	८६
साधयन्विविधरत्नमण्डितां	७	७०	१८८
सान्यां विलोक्य नवयौवन–	३	५४	८६
सामन्तोपचितचमूपयुक्त–	१६	३६	३९४
सा ह्रीवशादश गिरा किम–	३	२७	७८
सिंहविष्टरनिविष्टमच्युतं	७	४१	१८०
सिकतास्थलोज्ज्वलबृहज्ज–	५	८	११८
सितकुसुमचयैश्च्युतैः कबर्याः	९	५१	२२७
सिद्धरत्नमवगम्य संमुखी–	७	६३	१८६
सिन्दूरद्युतिरिव पूर्वदिक्पु–	१०	६४	२४६
सिन्धुतोयतरणादिषु क्रिया–	७	५	१७१
सुखदुःखादिपर्याया जीवा–	२	७६	५१
सुखमायतिदुःखमक्षजं	१	७८	२६
सुखमाश्रिताय जिननाथ	१७	३१	४१२
सुखमिष्टसमागमे यथा	१	७४	२५
सुगतिगामिनि भावितमान–	१३	५०	३२१
सुगन्धिकुसुमामोदैः	२	११६	६२
सुगन्धिनिःश्वासमरुन्मनोह–	१	२६	१०
सुतशोकशङ्कुपरिविद्धमनाः	५	७१	१३४
सुदुष्करं यन्मनुते गणाधि–	१	९	४
सुभगाकृतिसीत्कृतं कल–	१०	६०	२४५
सुरपङ्क्तिमाशु विरच्य कृ	१७	२०	४०९
सुरपङ्क्तिरानृपतिगेहमरु–	१७	९	४०७
सुरपूज्य यः सततमेव वह–	१७	३३	४१२
सुरपेटकैः पटु नटद्भिरति	१७	१७	४०९
सुरबृंहिते जयजयेति भुव–	१७	१३	४०८
सुरयुवतिजनस्य सानुभाजो–	१४	२२	३३२
सुरयोषितो विविधधूप–	१७	१५	४०८
सुरवृन्दवन्द्य करुणार्द्र श–	१७	६२	४१९
सुरसुन्दरीसमशरीरलताः	५	२१	१२१
सुललितगमनो न राजहंसः	९	४	२१५
सुवर्णैरभिनिर्वृत्ता दत्त–	२	७	३१
सुविचार्य करोति बुद्धिमान्	१२	१०२	३०५
सुषमोपपदा प्रोक्ता सुषमा	१८	३७	४३५
सुहृदर्थपरैर्महात्मभिर्न	१०	३८	२४०
सेनापतिं समादिश्य सेना–	२	३४	३८
सेनापतेरिति वचो ललितै–	१४	४१	३३७

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
सेना सेना यतो बद्धराजि–	१५	२०	३५२
सैन्यध्वजैरप्रतिकूलवात–	४	४९	१०७
सैन्यनाटचनिधिरत्नभोजना–	७	७७	१९०
सोऽधिगम्य वसुधाविशेष–	७	७८	१९०
सोपधानशयनासनादि	७	२६	१७६
सोऽप्यात्मनः परिसमाप्य	३	४६	८४
सौधोत्सङ्गे तुङ्गपल्यङ्कसुप्ता	१६	५७	४००
सौभाग्यं क्वचिदिलरत्र रू–	१६	१९	३८९
स्तुतिं विधायेति मुनेर्मनो–	११	४८	२६५
स्तुतिशक्तिरस्ति न ममेश	१७	२६	४११
स्थावराः कायभेदेन पञ्च–	१८	१८	४३२
स्थितं द्वादशभिर्भेदैर्निर्जरा–	१८	१११	४५०
स्थितोऽथ हर्म्ये स नृपः क–	४	१८	९८
स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः	१८	२२	४३३
स्फुटमिह कमनीयमन्यथा	९	२५	२२१
स्फुरदोष्ठतटः करालवक्त्रो–	६	१४	१४४
स्मरपरवशबुद्धिरंसपृष्ठप्रग–	९	१६	२१८
स्मृता लान्तवकापिष्ठक–	१८	६३	४४०
स्यन्दमानमदनिर्झरश्चलच्च–	७	११	१७२
स्यादप्रमत्तविरतस्ततोऽपू–	१८	४५	४३७
स्यादभिन्नस्ततो जीवः	२	७९	५२
स्वकराङ्गुलीर्निजमुखेन वि–	१७	४३	४१५
स्वनिन्दान्यप्रशंसादिरुच्चै–	१८	९३	४४६
स्वप्नानेतान्भूरिकल्याणहेतून्	१६	६२	४०१
स्वभावजैः क्षान्तिदयाद–	११	४३	२६४
स्वयमेतदुदाहृतं मया	१२	५२	२९२
स्वयमेव किल प्रहेष्यसि	१२	१८	२८३
स्वममेव न वेत्ति किं प्रभुः	१२	९६	३०३
स्वयमेव भवद्भिराहित–	१२	६३	२९५
स्वयमैक्षि यतो नदीरया–	१२	४९	२९१
स्वर्गादेता देवि देवालयेन	१६	६६	४०२
स्वस्माद्बहिर्भवनतः प्रकटं	३	७२	९२
स्वस्वकृत्यकरणोद्यताशयं	७	६०	१८५
स्वहितं स्वधियैव बुध्यते	१२	४३	२९०
स्वाध्यायानशनादीनां	१८	११४	४५०
स्वाध्यायो व्यावृतिर्ध्यानं	१८	११३	४५०
स्वामिप्रसादमासीद्यो मुख–	१५	४२	३५७
स्वामिसंमानयोग्यं यद्–	१५	४४	३५७
स्वैरेव दुर्नयैः पापाः पच्य–	१५	१०५	३७०

श्लोकांश	सर्ग	श्लोक	पृष्ठ
ह			
हठकारिणि यावदङ्गनाः	१०	४३	२४१
हतदृक्प्रसरा निरन्तरस्त–	१०	४६	२४१
हन्ता यथाहमस्यात्र पर–	१५	१४०	३७७
हरयोऽभिषेकमुपगम्य वि–	१७	३६	४१३
हरिपीठमा स्थितवतोऽथ	१७	५१	४१७
हरिविष्टरस्थितमशेषजन–	१७	२७	४११
हस्तेन सुन्दरि मुहुर्विनि–	८	५८	२१२
हा कथं वञ्चितः पापः पा–	१५	१४२	३७८
हासानिव विमुञ्चन्तः	२	१९	३४
हितं विसंवादविवर्जितस्थि–	१	५	३
हितमितवचनानि मन्त्रि–	१२	१११	३०७
हितमिच्छसि चेदर्कतवां	१२	२४	२८५
हितमेव न वेत्ति कश्चन	१	७५	२५
हिमदग्धसरोरुहोपमाङ्ग्या	६	६३	१५६
हिमरश्मिकरापसारिते ति–	१०	३३	२३९
हृत्वापि द्रविणमसावभोग–	१६	४९	३९८
हृदयहृद्वयसो विमलाम्बराः	१३	४०	३१८
हृदयाभिमतं वरं वृणोष्व–	६	३०	१४८
हृदये हरिणीदृशां प्रिय–	१०	४९	२४२
हृषिततनुरुहाश्चिरेण भीरु–	९	२८	२२२
हृष्यदङ्गतया सद्यः स्फुट–	१५	५	३४९
हेतुश्चानुपलम्भादिरसिद्धो–	२	७२	५०
हेपासक्तङ्घे गर्जद्गजे प्रध्व–	१५	३८	३५६
ह्रीतो विहाय मम लोचन–	८	५४	२१०

■

३. टीकान्तर्गत ग्रन्थान्तरों के अवतरण

अ

अवतरण	पृष्ठ
१. अङ्गणं चत्वराजिरे [अमर० २।२।१३]	२५३
२. अङ्गारिणी हसन्त्यां च[1] भास्करत्यक्तदिश्यपि । [अनेकार्थसं० ४।७६]	१११
३. अत इञ् [शाकटा० २।४।२१]	३५१
४. अधरो दन्तवसनेऽनूर्ध्वे हीनेऽधरोऽन्यवत् । [विश्व० रत्रिकम् ९६]	१२
५. अध्वानं यखौ [शाकटा० ३।३।५७]	६३
६. अनुपसर्गे ज्ञः[2] [शाकटा० १।४।६६]	७२
७. अपत्यगोत्रसमूहसुरकुजेषु सन्तानः । [नानार्थको०]	६६
८. अमात्याश्च पौराश्च सद्भिः प्रकृतयः स्मृताः । [कात्याः]	३०८
९. अयुक्तितः प्रणीतः कामक्रोधलोभमदमानहर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः [नीतिवा० ४।१]	९७
१०. अलिबाणौ शिलीमुखौ [अमर० ३।३।१८]	२२९
११. अवयवात्तयट् [शाकटा० ३।३।७२]	४८, १८३, ३१५
१२. असहनञ्—[शाकटा० १।३।२७]	७७, ९८, १६२, १९२, २१४, २४८, ४००
१३. अस्तिभ्रुवोर्भूवचौ [शाकटा० ४।२।९१]	५१, ७८, १३६, १६५, १८१, २६८, ३४९
१४. अस्त्यस्मिन्निति मतुः [शाकटा० ३।३।११६]	७, ८१, ९२

आ

१५. आ घञ्—[शाकटा० २।२।१०७]	२६५
१६. आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च । [अमर० ३।३।१०९]	२०
१७. आभोगः परिपूर्णता [अमर० २।६।१३७]	३२
१८. आमोदः सोऽतिनिर्हारी [अमर० १।५।१०]	६२
१९. आयतिर्दीर्घतायां स्यात्प्रभुतागामिकालयोः [वैजयन्ती स्त्री० ३]	१९
२०. आराद् दूरसमीपयोः [अमर० ३।३।२४३]	१५०
२१. आलोको दर्शनोद्योतौ [अमर० ३।३।३]	३९

इ

२२. इन्द्रासोमादिषु देवतानाम् [शाकटा० २।२।३३]	३१

ई

२३. ईशो [शाकटा० ३।२।१५३]	१७७

उ

२४. उत्तरः काल आयतिः [अमर० २।८।२९]	२६
२५. उपसर्गः स्मृतो रोगे[3] विघ्नोपप्लवयोरपि । [विश्व० गचतु० ५४]	१२

---

१. मुद्रितेऽनेकार्थसंग्रहे तु 'च'—स्थाने 'स्यात्' इति वर्तते । २. 'ओदिदपवदानुपसर्गज्ञः' इति शाकटा० १।४।६६ । ३. 'रोगभेदोप' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे समुपलभ्यते ।

ऋ

२६. ऋक् पूः पथ्यपोऽत् [शाकटा० २।१।१३९] ८, २६४

ए

२७. एकयोक्त्या द्यावाभूमी रोदस्यौ रोदसी तथा। १९०
२८. एकादश—[शाकटा० २।२।१०१] ३८०
२९. एकादाकिंश्चासहाये [शाकटा० ३।४।१२१] ३७३
३०. एचोऽश्याः [शाकटा० ४।१।१८०] २०१

क

३१. कंश्रिद्रु—[शाकटा० ४।३।७] १०३, २४३
३२. कं वारिणि च मूर्धनि [अमर० ३।३।२५०] ३५९
३३. कटकं वलये सानौ राजधानीनितम्बयोः [विश्व० कत्रिकम् ६३] १५
३४. कथमित्थमुः [शाकटा० ३।४।२६] ४०
३५. कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्। [अमर० २।८।११८] ३५९
३६. कर्म्येककर्तृकात्—[शाकटा० ४।१।१६] ३३, ६३, १०३, १६०, १८५
३७. करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे [अमर० ३।३।५२] २७६
३८. कर्मकर्तृभ्याम्—[शाकटा० ३।४।५५] २, १२२, १२९, १४०, २६२
३९. कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके। षोडशांशे च चन्द्रस्य कलनाकालयोः कला: ॥
[विश्व० लद्विकम् ४३] १६
४०. कषायो रसभेदे स्याद्गन्धरागे विलेपने।
निर्यासे च कषायोऽथ सुरभौ लोहितेऽन्यवत् ॥
कटुतिक्तकषायास्तु सुगन्धस्याभिधायका:। २११
४१. काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु। [अमर० ३।३।४३] १०, ६५
४२. कामक्रोधलोभमदमानहर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः। [नीतिवा० ४।१] २८२
४३. कारिका—[शाकटा० १।१।२७] १६
४४. कालविशेषोत्सवयोः क्षणः [अमर० ३।३।४७] ३४
४५. कालशबल—[शाकटा० १।३।६४] २०८
४६. कालाध्वनोर्व्याप्तौ [शाकटा० १।३।१२६] १०६, १३४, १४०, १९९, २२८, ४२१, ४५८
४७. किमिदमः कीश् [शाकटा० २।२।१०८] २५५, २६८, ३०५
४८. कुक्षिभ्रूणार्भका गर्भाः [अमर० ३।३।१३५] ४०४
४९. कुथः स्यात्करिकम्बलः [अनेकार्थध्वनि० १४] ३११, ३२२
५०. कूलादुदि रुजवहः [शाकटा० ४।३।१५१] ६
५१. कृञ् ग्रहोऽकृतजीवात् [शाकटा० ४।४।१७२] ३६७
५२. कृतकामुकस्य—[शाकटा० १।३।१६६] २०, ४५, १४९, १६२, १९६, २८८, ३७७
५३. कृपाहृदयादालुः [शाकटा० ३।३।१३८] ३९२
५४. कोः कदचि [शाकटा० २।२।११८] २६०
५५. क्त्राः [शाकटा० २।१।१११] १०३
५६. क्वस उस् [शाकटा० १।२।१४५] ८७

क्ष

५७. क्षत्रियाद् ब्राह्मणीजोऽपि सूतः पारदबन्दिनोः । [विश्व० तद्वि० ११] २४५
५८. क्षय्यजय्यौ शक्तौ [शाकटा० ४।२।१०७] ३७४

ख

५९. खगबाल्यादिनोर्वयः [अमर० ३।३।२३१] ३४
६०. खित्यहः [शाकटा० २।२।७८] ६, ९

ग

६१. गड्वादिभ्यः [शाकटा० २।१।११४] १४५
६२. गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं[1] ४२९
कण्ठोष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतम् ।
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं
दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः ।। [[2]समवसरणस्तो० २९]
६३. गमः खखड्डाः [शाकटा० ४।३।१५९] ९
६४. गह्वरदुःखविपिनकलिलेषु गहनम् । [नानार्थको०] ४२
६५. गुणः ३१९
६६. गुणाङ्गाद्वेष्ठेयसु [शाकटा० ३।४।७५] ८, १५, ९५, १५६
६७. गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि [अमर० ३।३।१२४] १३, १७
६८. गैत्योः [शाकटा० ४।३।१२४] २३, ३५, ७९, ८१, ८७, २३४, ३०३, ३९९
६९. गोरथवातात् त्रकडचोलम् [शाकटा० २।४।१४१] ३१३
७०. गोस्तत्पुरुषात् [शाकटा० २।१।३६८] २३
७१. ग्रहे ग्राहो वशः [अमर० ३।२।८] २५४
७२. ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल् [शाकटा० २।४।१४३] ८१, ११२, १२२, १२९, १९६
७३. ग्रावाणो शैलपाषाणौ [अमर० ३।३।१०६] ३०१
७४. ग्लास्थस्स्नुः [शाकटा० ४।३।२२५] ३५६

घ

७५. घत्विदं किमः [शाकटा० ३।३।६८] २५५, २६८, ३०५
७६. घनाघनो घनो मेघः [ध० नाम० १८] ७
७७. घुमास्थागापाहाक्सः [शाकटा० ४।२।८६] ७९
७८. घुमीमा—[शाकटा० ४।१।६०] १०३

च

७९. चमूरुप्रियकावपि [अमर० २।५।९] १४२
८०. चम्पकस्वर्णसुगन्धवसन्तपशुमनोज्ञेषु सुरभिः । [नानार्थको०] १९८
८१. चुम्बको बहुगुरुधूर्तायस्कान्तकार्मुके । ६०
८२. चेर्वा [शाकटा० ४।१।७३] १२७
८३. चौ चास्यानव्ययस्ये: [शाकटा० २।३।४०] २, १२२, १२९, १४०, २६२

१. 'दोषैरपेतं हितं' इति मुद्रिते स्तोत्रे वर्तते । २. आचारसारेऽपि (४।९५) पद्यमिदं समुपलभ्यते ।

छ

८४. छन्दो वशेऽप्यभिप्राये ह्रादाख्याचित्तवृत्तयोः[1] । [विश्व० दद्वि० ११] ७७
८५. छाया स्यादातपाभावे सत्कान्त्युत्कोचकान्तिषु ।
प्रतिबिम्बेऽर्ककान्तायां तथा पङ्क्तौ च पालने ॥ [विश्वलो० यान्त २१-२२] ३८५

ज

८६. जडोऽज्ञः [अमर० ३।१।३८] ४२
८७. जराया ङसिन्द्रयस्याचि [शाकटा० १।२।३७] २४
८८. जलजबलन्याय्यस्थिरांशवरधनेषु सारः [नानार्थको०] २०३
८९. जेर्लिट् सनि [शाकटा० ४।१।७२] ६३, १८५, १८८, २६६, ३०८, ३७२
९०. जातेश्च्छस्सामान्यवति [शाकटा० २।१।२०२] ४७

ञ

९१. ञेः [शाकटा० ४।२।३९] १९९, २२०, २२३

ट

९२. टिड्ढण्ञेञणल्गौरादिभ्यः [शाकटा० १।३।१४] २३७, २७१

ण

९३. णिज्बहुलं कृञादिषु [शाकटा० ४।१।२८] ६२, १२०
९४. णेरिक्त—[शाकटा० ४।२।१०१] १०३, २४३

त

९५. तत्पुरुषे कृति बहुलम् [शाकटा० २।२।१४] १४३, ३२७
९६. तदस्य प्रमाणाम्मात्रट् [शाकटा० ३।३।६०] २२२
९७. तपस्स्रग्मायामेधासो विन् [शाकटा० ३।३।१५०] ६७
९८. तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम् [अमर० २।६।१२३] १६
९९. तातोऽनुकम्प्ये जनके [विश्वलो० १९।१२२] १६५
१००. तुमो मनस्कामे [शाकटा० २।२।६९] ७५,२२०
१०१. तेमयावेकत्वे [शाकटा० १।२।१९३] ३३
१०२. तेन वित्ते चुञ्चुचणौ [शाकटा० ३।३।९३] १७४
१०३. तौ युतावञ्जलिः पुमान् [अमर० २।६।८५] ४
१०४. त्यदाद्य—[शाकटा० ४।३।१०८] २३, ९९, २६५, २६७, २६८
१०५. त्यागगजमदशुद्धिपालनच्छेदनेषु दानम् । [नानार्थको०] १७
१०६. त्वामौ द्वितीयायाः [शाकटा० १।२।१९४] २४८

द

१०७. दंशसञ्जश्शपि [शाकटा० ४।१।२२४] २५
१०८. दन्तविप्राण्डजा द्विजाः [अमर० ३।३।३०] २१४
१०९. दयायास्क—[शाकटा० १।४।८३] १६

---

१. 'हृदाख्याचित्तबुक्कयोः' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे दृश्यते ।

११०. दरी तु कन्दरो वा स्त्री [अमर० २।३।६] ३३२
१११. दिवाविभानिशा—[शाकटा० ४।३।१३२] २६२
११२. दीप्पूर्जन—[शाकटा० ४।३।१५] २१९, २२३
११३. दुद्रुचो लुङ: [शाकटा० १।४।१९] ३१४, ४०५, ४०७
११४. दुहि याचि रुधि प्रच्छि (?) [शाकटा० १।३।१६९] २३७
११५. देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम् । [अमर० ३।३।१०१] ३३२
११६. दोरच्छ: [शाकटा० ३।१।२६] २०, ७१, ७७, ३५१
११७. द्वाष्टात्रयोऽनशीतौ—[शाकटा० २।२।१०२] ३८०, ४२७, ४४०, ४४८
११८. द्विगो: [शाकटा० १।३।३६] ७२
११९. द्विजिह्वौ सर्पसूत्रकौ [अमर० ३।३।१२३] १२
१२०. द्वित्रिभ्यां लुग्वा [शाकटा० ३।३।७३] १८३
१२१. द्वित्रेस्तीयद्रेश्च ऋश् [शाकटा० ३।३।८६] ६१, २११
१२२. द्विर्धातु:—[शाकटा० ४।१।४३] १०३, २४३
१२३. द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत: [न्याय सं० पृ० ६०] ४
१२४. द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ [अमर० ३।३।२१४] २२

ध

१२५. धर्मादिन् द्विपदात् [शाकटा० २।१।१९९] ३८०
१२६. ध्वजः पताका केतुश्च चिह्नं तद्वैजयन्त्यपि [धन० नाममा० ८४] ३६३

न

१२७. नक्च।ऽन्वृदाद्यनेकहल: [शाकटा० ४।१।१०६] ३७, १३७, ३४९
१२८. न नञः [शाकटा० २।१।१२५] ७२
१२९. न नम् [शाकटा० १।२।१५] ७४
१३०. न पर्याङ्वे रमः [शाकटा० १।४।६८] ४३, २१७
१३१. नमो वरिवस्तपस: क्यच् [शाकटा० ४।१।४०] ४
१३२. नम्कम्यजस्कम्पस्मिहिंसदीपो र: [शाकटा० ४।३।२६३] १३, १८७, २८४, ३२६
१३३. नश्मस्जसोर्नम् [शाकटा० २।४।१९६] २८५
१३४. नानानेकोभयार्थयो: [अमर० ३।३।२४८] १९७
१३५. नाभेर्नाम्नि [शाकटा० २।१।१९५] २१, २७४
१३६. नामैकदेशो नाम्नि प्रवर्तते ४५१
१३७. नित्यं णः पंथश्च [शाकटा० ३।२।८८] १९८, ३८४
१३८. [निद्रातन्द्रा–] श्रद्धा—[शाकटा० ४।३।२३०] २४४
१३९. निर्वृत्तिस्तु मनस्तोषे मोक्षे समेयवाद्ययो: । [वैजयन्ती स्त्रीलिङ्गा० ११] ४
१४०. नृदुगि—[शाकटा० १।३।७] ८१, २२०
१४१. [२]नेत्रं मृदुगुणे वस्त्रे तरुमूले विलोचने । नेत्रं रथे च नद्यां च नेत्रो नेतरि भेद्यवत् ॥ [विश्वप्र० रद्वि० ४३] १७६
१४२. नो मट् [शाकटा० ३।३।८५] ३८९
१४३. न्यग्रोध्यतोऽनंशी—[शाकटा० २।१।१२३] ३२०

१. क्षे॰ऽस्तम॰ इति तु वैजयन्त्याम् । २. 'नेत्रं मन्थिगुणे वस्त्रे तरुमूले विलोचने । नेत्रं रथे च नाड्यां च नेत्रो नेतरि वाच्यवत् ॥' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे ।

प

१४४. पञ्चमी भयादिभिः [शाकटा० २।१।४१] १३
१४५. पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च [अमर० ३।३।२०] १३
१४६. पत्तनं पुटभेदनम् [अमर० २।२।१] ८६
१४७. पत्रं वाहनपत्रयोः [अमर० ३।३।१७९] १०९, ३९५
१४८. पत्रिणौ शरपक्षिणौ [अमर० ३।३।१०६] ४२३
१४९. पदः [शाकटा० ४।३।१६] १२४
१५०. पदाक्राक्यस्य—[शाकटा० १।२।१९१] १, २, २९६, ३१२, ३६१
१५१. पद्न्—[शाकटा० १।२।१४३] १२०
१५२. परभागो गुणोत्कर्षः [अभिधा० ६।११] २२०
१५३. परः स्यादुत्तमानात्मवैरिदूरेषु केवलः[1] । [विश्व० रद्वि० ६] १९२
१५४. परिस्तोमः कुथो द्वयोः [अमर० २।८।४२] ३११
१५५. परुत्परारि—[शाकटा० ३।४।२३] २५५
१५६. पल्लवः किसलये षिङ्गे विटपे विस्तरे जवे ।
स्पृङ्गारेऽलक्तरागेऽपि [विश्वः] १९७
१५७. [पाघ्राध्मा–] धेट् दृशः शः [शाकटा० ४।३।९६] २४, १००, २३४
१५८. पाघ्राध्मास्था—[शाकटा० ४।२।५८] ८५, २८४
१५९. पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः—[अमर० ३।३।८९] ३२
१६०. पारे मध्येऽन्तष्षष्ठ्या—[शाकटा० २।१।९] ३४१
१६१. पाशादेश्च यः [शाकटा० २।४।१४२] १०१
१६२. पुरंदरभगंदर—[शाकटा० ४।३।१५५] ४१४
१६३. पुरुषे का वा [शाकटा० २।२।१२१] १४५
१६४. पूगः क्रमुकवृन्दयोः [अमर० ३।३।२०] ३९५
१६५. पूर्वापर—[शाकटा० ३।४।२१] २७,७६,१०१,१४८,४१९
१६६. पूर्वापरावरो—[शाकटा० २।१।२५] १०७
१६७. पृथिवीसर्वभूमिभ्यामञ् [शाकटा० ३।२।१५२] २६७
१६८. पृथुकः शावकः शिशुः [अमर० २।५।३८] ७९
१६९. पृथ्वादेर्वेमन् [शाकटा० ३।३।८] १२३
१७०. पृषत्कबाणविशिखाः [अमर० २।८।८६] १६७
१७१. पोटायुवतिः [शाकटा० २।१।७३] २५८
१७२. प्रकारे[2] था (?) [शाकटा० ३।४।२५] ४३४
१७३. प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । छन्दःकारणगुह्येषु अन्त्वमात्यादिमातृषु ॥
[वैजय० स्त्रीलिङ्गा० १२] २८
१७४. प्रणयः प्रेम्णि विस्रम्भे याञ्चाप्रसरयोरपि । [विश्वः] २५०
१७५. प्रतिबन्धगजालीकवृष्टिबन्धेष्ववग्रहः । ६२
१७६. प्रधूमिता क्लेशितायां सूर्यगन्तव्यदिश्यपि । [अनेकार्थसं० ४।११९] १११
१७७. प्रमाणीसंख्याड्डः [शाकटा० २।१।१८९] ३७
१७८. प्रस्रवणप्रवासनिवासवारिकान्तारेषु वनम् । [नानार्थको०] २२९

१. 'केवले' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । २. 'द्वित्रेर्धमेधौ' शाकटा० ३।४।३० ।

१७९. प्रहरणात् सप्तमी च [शाकटा० २।१।११३ [१६६
१८०. प्राग्रेऽन्तः—[शाकटा० २।२।१६१] ३९३
१८१. प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम् । [अमर० ३।३।९२] ३९३
१८२. प्रायो भूम्न्यन्तगमने [अमर० ३।३।१५४] १७१
१८३. प्रियस्थिर—[शाकटा० २।३।५२] १५, १५६, ३१३, ३३८
१८४. प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् [शाकटा० १।४।२५] २६३, २६९, २८६
१८५. प्रोपोत्सं पादपूरणे [शाकटा० २।३।६] २६९
१८६. प्क्यङ् [शाकटा० ४.१।२२] ६५

फ

१८७. फलं जातिः [शाकटा० २।१।९९] १७५

ब

१८८. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । [त० सू० १०।२] ५५
१८९. बलिहस्तांशवः कराः [अमर० ३।३।१३३] १२
१९०. बशो भष्—[शाकटा० १।२।७६] २८८
१९१. बहुलं क्लुक् पुष्पमूले [शाकटा० २।४।१६९] १४
१९२. बह्वल्पार्थ—[शाकटा० २।२।४६] ३७
१९३. बाहुलेयस्तारकजित् [अमर० १।१।४०] १७३
१९४. ब्रुवस्तिप्पञ्चतो—[शाकटा० १।४।१०४] ४१, ३०४, ४३५

भ

१९५. भंजभास—[शाकटा० ४।३।२५९] ३२६, ४०७
१९६. भक्षको घस्मरोऽद्मरः [अमर० ३।१।२०] ३६९
१९७. भागो[1] रूपार्धके प्रोक्तो भागधेयैकदेशयोः । [विश्व० गद्वि० ६] १९२
१९८. भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः [शाकटा० १।३।१०२] ४२, २२७
१९९. भूजेस्स्तुक् [शाकटा० ४।३।२२४] २२, ७०, १६१
२००. भूतपूर्वे प्चरट् [शाकटा० ३।४।१] १४९
२०१, भूतिर्भस्मनि संपदि [अमर० ३।३।६९] १८
२०२. भूभृद्भूमिधरे नृपे [अमर० ३।६।६१] १५
२०३. भृशाभीक्ष्ण्याविच्छेदे प्राग् द्विः [शाकटा० २।३।२] ३५७
२०४. भेषजादि—[शाकटा० ३।४।१२७] २
२०५. भोगः सुखे धने चाहेः शरीरफणयोरपि[2] । पालने व्यवहारे च निर्वेशे पण्ययोषिताम् ॥
[विश्व० गद्वि० १०] ६६
२०६. भोगोत्तरपदात्मभ्यां खः [शाकटा० ३।२।२१७] १०३
२०७. म्यः क्रुकुकक्लुकाः [शाकटा० ४।३।२६५] २६०

म

२०८. मणितं रतिकूजितम्[3] [अभिधानचि० ६।४४] २४५
२०९. मण्डलो रात्रिजागरः ३०२

१. 'भागे' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे वर्तते । २. 'योर्मतः' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ३. मुद्रितेऽभिधानचिन्तामणौ तु 'रतकूजितम्' इति वर्तते । अमरकोषे तु 'मणितं रतिकूजितम्' इति न विलोक्यते ।

२१०. मत्तवारणमिच्छन्ति दानविलन्नकटद्विपे । महाप्रासादवीथीनां वरण्डे चाप्युपाश्रये ॥
[विश्व० णपञ्च० १०७] ८, ६६
२११. मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे तद्वत्कृपणयोस्त्रिषु । [अमर० ३।३।१७२] ९७
२१२. मदकलः स्यान्मत्तेभे मदेनाव्यक्तवाचि च । [विश्वलो० लान्त० १६६] २१४
२१३. मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः । १२
मद्येऽपि मद आख्यातो मुदि[1] कृतकवस्तुनि ॥ [विश्व० दद्वि० २]
२१४. मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि [अमर० ३।३।१०३] १९७
२१५. मर्यादा धारणा स्थितिः [अमर० २।८।२६] ३
२१६. मलादिमसश्च [शाकटा० ३।३।१४५] ९,१०६,१२६,२३२,२३३
२१७. मलीमसं तु मलिनम् [अमर० ३।१.५५] ९
२१८. मानं प्रमाणे प्रस्थादौ मानश्चित्तोन्नतौ ग्रहे । [विश्वलो० नान्त० १७] ६६
२१९. मान्तोपान्त— [शाकटा० १।२।९६] ७,८१,९२
२२०. मिथो ग्रहणे प्रहरणे च सरूपं युद्धेऽव्ययीभावः [शाकटा० २।१।६] ३५८
२२१. मीनपाठीन एव च ११३
२२२. मुग्धः सुन्दरमूढयोः [विश्व प्र० धद्वि० १०] २१६
२२३. मूर्तिः काठिन्यकाययोः [अमर० ३।३।६६] १२
२२४. मौर्व्याप्रदा (धा) न पारदेन्द्रियसूत्रसत्त्वादिसन्ध्यादिविद्यादिहरितादिषु गुणः[2] [नानार्थको०] ३

य

२२५. यत्तदः [शाकटा० ३।३।७०] ८६,१३५
२२६. यथाथाः [शाकटा० २।१।१९] ६३
२२७. यदभावो भावलक्षणम् [शाकटा० १।३।१८०] ४५
२२८. यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित् । [वाग्भटा० १।२०] १९८
२२९. यस्मभिषोश्शिच्छः [शाकटा० ४।२।५७] ४०,२०३,३६६
२३०. युष्मदस्मदोऽञखञौ— [शाकटा० ३।१।५७] ७७,१६२,२२६,२६७

र

२३१. राजन् सखेः [शाकटा० २।१।१६९] २४०
२३२. राष्ट्रं जनपदो निर्गो जनान्तो विषयः स्मृतः । [ध० नाममा० ४८।९७] १५१
२३३. रुट्क्रुधौ स्त्रियौ [अमर० १।७।२६] २०९
२३४. रुहः पः [शाकटा० ४।१।१९६] ४०८
२३५. रूपादौ तन्तुषु ज्यायामप्रधाने नये गुणः । [ध० अनेकार्थना० ३७] १३
२३६. रो लोऽयौ [शाकटा० ४।२।२५३] ३६१

ल

२३७. लक्षणेनाभि— [शाकटा० २।१।१२] २७६, ४०८
२३८. लिटः क्वसुकानौ [शाकटा० १।४।८०] ८७, १०९, २६१
२३९. लुक्कोऽणि [शाकटा० ३।१।७०] २७१
२४०. लोकप्रसिद्धशब्दस्वरूपोच्चारणं [ि] पातनम् । १२
२४१. लोलश्चलसतृष्णयोः [अमर० ३।३।२०६] १९७

१. 'मदो' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । २. 'मौर्व्याप्रधानपारदेन्द्रियसूत्रसत्त्वादिसंज्ञादिहरितादिषु' इति नानार्थरत्नकोषे—इति मुनिसुव्रतका० टी० पृ० १८१ ।

व

२४२. वंशो वेणौ कुले वर्गे पृष्ठस्यावयवेऽपि च । [विश्व० शद्वि० १०] २२
२४३. वयसि दन्तस्य दतृ [शाकटा० २।१।२०८] २२०
२४४. वरिवस्या तु शुश्रूषा सेवा भक्तिरुपासना[1] । [अमर० २।७।३५] १७०
२४५. वर्णदृढादिभ्यः— [शाकटा० ३।६।९] १२३
२४६. वर्त्स्यति फलकारणे [शाकटा० ४।४।१२३] ३०७
२४७. वश्यपथ्य— [शाकटा० ३।२।१९५] १०३, ११२, १५५, २७७
२४८. वसती रात्रिवेश्मनोः [अमर० ३।३।६७] १९७
२४९. वहाभ्राल्लिहः [शाकटा० ४।३।१५२] ९
२५०. वात्या वातस्तु मुञ्चति[2] १०१
२५१. वा नाकस्य— [शाकटा० १।३।१६८] ४, १८४, २८६, २९१, ३०७
२५२. वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना सर्वला तोमरोऽस्त्रियाम् । [अमर० २।८।९३] १७६
२५३. वामे (मो) वक्रे मनोहरे [ध० अनेकार्थना० ६] २४५
२५४. विक्लवो विह्वलः स्यात्तु विवशोऽरिष्टदुष्टधीः । [अमर० ३।१।४४] ९२
२५५. विटपः पल्लवे षिड्गे[3] विस्तारे स्तम्बशाखयोः । [विश्वः पत्रि १३] १४२
२५६. विप्रलापे वा [शाकटा० १।४।५३] ४२
२५७. विस्तारावसरक्रतुवृत्तभेदतुच्छमन्दसमाजेषु वितानम् । [नानार्थको०] ८
२५८. वीप्स्यलक्षणेत्थं भवनेष्वभिना [शाकटा० १।३।१०१] ३९३
२५९. वीप्सायाम् [शाकटा० २।३।८] ९१, ९५, १९६, २०२, २१८, २२४, २२९, २६०, २६६, २९४, ४२२
२६०. वेणौ वर्गे कुले वंशः पृष्ठस्यावयवेऽपि च २५३
२६१. वोर्ध्वं दघ्नड्द्वयसट् [शाकटा० ३।३।६२] २२३
२६२. व्यतिकरः स्याद्[4] व्यसनव्यतिषङ्गयोः [विश्वः रत्र० २२६] २१५
२६३. व्याघ्रादिभिर्गौणैस्तदनुक्तौ [शाकटा० २।१।६४] ७२
२६४. व्याप्तौ सात् [शाकटा० ४।४।१२३] २८३

श

२६५. शक्तार्थवषड्नमःस्वस्ति—[शाकटा० १।३।१४२] २०२, ३८१
२६६. शपनाथशिक्ष—[शाकटा० १।४।४२] ७२
२६७. शरणं गृहरक्षित्रोः [अमर० ३।३।५३] ३
२६८. शरं वनं कुशं नीरं तोयं जीवनमब्विषम् । [ध० नाममा० १५] ३६८
२६९. शशिवृषोत्पलकपिकृपणदिग्गजेषु कुमुदः । [नानार्थको०] ३२
२७०. शालो[5] हाले नृपे मत्स्यप्रभेदे सर्जपादपे । विश्व० लद्वि० १४] ११
सालः[6] पादममात्रे स्यात् प्राकारे शिशुकद्रुमे ॥ [विश्व० लद्वि० १५]
२७१. शाध्येधिजहि [शाकटा० ४।२।३३] २६९
२७२. शिरोधिः कन्धरेत्यपि [अमर० २।६।८८] ११३

---

१. मुद्रितेऽमरकोषे तु 'परिचर्याप्युपासना' इति पाठो दृश्यते ॥ २. 'वात्यावातस्तु मण्डली' इति वैजयन्त्याम् । ३. 'शृङ्गे' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ४. व्यतिकरः समाख्यातः' इति तु मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ५. 'शालो हालनृपे' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे । ६. सालः पादपमात्रे स्यात्' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे ।

२७३. शीङ्स्थासोऽधेराधारः [शाकटा० १।३।१२२] २८, १२९, २७१, ३८९, ४१७
२७४. शीलं स्वभावे सद्वृत्ते [अमर० ३।३।२०१] २०
२७५. शेषोऽप्राणो [शाकटा० २।१।१००] २२०
२७६. श्रवणं श्रुतिकर्णयोः [विश्वः णत्रिकम् ५०] १६
२७७. श्रितादिभिः [शाकटा० २।१।३३] ३३
२७८. श्रेष्ठवासकसौरभेयधर्मराशिभेदपुरुषे वृषः । [नानार्थको०] १५
२७९. श्लुग्वा [शाकटा० २।२।१३७] २१
२८०. श्वयत्यश्वच्यतोऽङ्‌यथगुम्पम् [शाकटा० ४।३।७] ८१, २२६
२८१. श्व्या--[शाकटा० ४।१।११५] ४१, १६५

ष

२८२. षट् कति कतिपयात् थट् [शाकटा० ३।२।७९] ४३६
२८३. षष्ठी चानादरे [शाकटा० १।३।१८३] २५४

स

२८४. संख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः [शाकटा० ३।२।१२६] ५९
२८५. संख्याव्ययादङ्गुलेः [शाकटा० २।१।१८५] ४३०
२८६. सङ्घे सभायां समितिः [अमर० ३।३।७०] १२५
२८७. संजातं तारकादिभ्य इतः [शाकटा० ३।३।११४] २२७, २६९
२८८. संपर्युपात्कृञः—[शाकटा० ४।२।२११] ३०९
२८९. संभ्रमेऽसकृत् [शाकटा० २।३।१] २७४
२९०. संविप्रावात् [शाकटा० १।४।३६] २९, १५२, १५८
२९१. संवेगभयादरेषु संभ्रमः [नानार्थको०] २३३
२९२. संस्तवः स्यात्परिचयः [अमर० ३।२।२३] २४५
२९३. सतां हि प्रह्वता शान्त्यै खलानां दर्पकारणम् [क्षत्रचू० ५।१२] ३००
२९४. सदकारणवन्नित्यम् [वैशेषिकसू० ४।१।१] ४६
२९५. स दैवस्यापराधो न मन्त्रिणां यत्सुघटितमपिकार्यं न घटते । [नीतिवा० १०।५७] २९
२९६. सदैतर्ह्यधुनेदानीं तदानीं सद्यः [शाकटा० ३।४।१९] ६४, २१८
२९७. सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः [अमर० २।८।१८] १७
२९८. सन्भिक्षा—[शाकटा० ४।३।२२७] ४, ८, १०३
२९९. सप्तम्याः [शाकटा० १।२।१५९] २२९
३००. समीपे [शाकटा० २।१।१४] ३३८, ३९२
३०१. सर्तिशास्तिलिदद्युत्पुष्यादेः [शाकटा० ४।३।११] ८१, ८९, १६२, १७१, १७३, १९४, २०८, २२६, २५०, ३४८
३०२. सर्तेर्धौ वेगे [शाकटा० ४।२।५९] ५५, २१२, २५३, २७६
३०३. सल्लड्--[शाकटा० १।४।७९] ४, १६, ६१, ६७
३०४. सः समानस्य धर्मादिषु च [शाकटा० २।२।१०९] ३८०
३०५. सहसा झटिति द्रुतम् [ध० नाममा० १७२] २४२
३०६. सामीप्येऽधोऽध्युपरि [शाकटा० २।३।७] ३५८
३०७. सायं चिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययात् [शाकटा० ३।१।७४] ४, २३७

३०८. सार्थो वणिक्समूहे[1] स्यादपि संघातमात्रके [विश्व० थद्वि० ९]　६४
३०९. सीमसीमे स्त्रियामुभे [अमर० २।२।२०]　६२
३१०. सुखसलिलमोक्षमङ्गलकीलकवालुकाभयामलवयद्विजाक्रोष्टुशङ्करेषु शिवम् [नानार्थको०]　२४
३११. सुखदुःखतत्क्रियायां लङ्　३१८
३१२. सुखमा　४०९
३१३. सुज्वा--[शाकटा० २।१।१२]　३७
३१४. सुन्दरविशालविकरालेषु विकटः। [नानार्थको०]　२९
३१५. सूत्पूतिसुरभेर्गन्धादिद् गुणे [शाकटा० २।१।२०४]　१०, ६२
३१६. स्तं मत्वर्थे [शाकटा० १।१।६६]　३२६
३१७. स्तुतिरूपयशोऽक्षरविलेपनद्विजातिशुक्लादिषु वर्णः। [नानार्थको०]　१९
३१८. स्थेयप्रकाशने [शाकटा० १।४।३७]　१८१
३१९. स्पृहेर्वा [शाकटा० १।३।१३९]　७५, ७९, २४४
३२०. स्मृत्यर्थ--[शाकटा० १।३।१११]　२०२, २०५
३२१. स्मे च लट् [शाकटा० ४।३।२१५]　९५
३२२. स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः।　३७
सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः ॥ [अमर० ३।१।५९]
३२३. स्यान्मण्डलं द्वादशराजके च देशे च बिम्बे च कदम्बके च।　१७
कुष्ठप्रभेदेऽप्युपसूर्यकेऽपि भुजङ्गभेदे शुनि मण्डलः स्यात् ॥ [विश्व:लत्रि० ८१]
३२४. स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले।　११, १९८
लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः ॥ [अमर० ३।३।२५]

ह

३२५. हन्दृशि--[शाकटा० ४।३।१८]　१९९
३२६. हा दुःखहेता उ (वु) द्दिष्टो हा (ही) विस्मयविषादयोः। [विश्व० हा० ७१]　२७
३२७. हा धिक् समया--[शाकटा० १।३।१००]　२४, २३८, ३७७
३२८. हिम्नोऽड्डे कुः पूर्वात् [शाकटा० ४।१।७१]　१६३
३२९. ह्रीव्लीरीक्नू--[शाकटा० ४।१।२०१]　२८४

१. °समूहे' इति मुद्रिते विश्वप्रकाशे।

४. पञ्जिकान्तर्गत ग्रन्थान्तरों के अवतरण

अ

अवतरण — पृष्ठ

१. अतिरिक्तः समधिके[1] [अमर० २।१।७५] ४८५

२. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः ।
स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः ॥ [उ० द्विसं० टी० पृ० ३४] ४७७, ५०४

३. अनर्थकं श्रुतिकटु व्याहतार्थमलक्षणम् ।
स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थमप्रसिद्धमसंमतम् ॥ [वाग्भटा० २।६] ४६५

४. अनन्त उत्तरापथः ५०३

५. अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च । [अमर० १।३।१३] ४८२

६. अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ संभाषणे[2] नम्रता
तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधौ स्मेरा सपत्नीष्वपि[3] ।
[सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति]
प्राच्यैः पुत्रि निवेदितः कुलवधूसिद्धान्तधर्मागमः[4] ॥ [उ० सागर० टी० १।११] ४९६

७. अवयवात्तयट् [शाकटा० ३।३।७२] ४६४

आ

८. आन्वीक्षिक्यामात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥ [काम० नी० १।७] ४७२

९. [5]आवर्तस्त्वम्भसां भ्रमः [अमर० १।१०।६] ४९९

१०. आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् । [काव्याद० १।१४] ४६३

इ

११. इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात् [अमर० ३।३।१७६] ५००

औ

१२. औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता ।
समाधिः श्लेषः ओजोऽथ माधुर्यं सुकुमारता ॥ [वाग्भटा० ३।२] ४६४

क

१३. काकली तु कले सूक्ष्मे [अमर० १।७।२ ४९९

१४. कामः क्रोधश्च हर्षश्च मानो लोभस्तथा मदः[6] ।
अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः क्षितीशानां भवत्ययम् [का० नी० १।५७] ४८०

---

१. 'समधिको' इति तु मुद्रितेऽमरकोषे । २. तद्भाषणे । ३. तस्योपचर्या स्वयम् । ४. °सिद्धान्तधर्मा इमे । वस्तुतस्त्वेष श्लोको राजशेखरस्येति सूक्तिमुक्तावली (पृ० ४२४) तो ज्ञायते । (२, ३, ४ पाठान्तराणि मुद्रितायां सागारधर्मामृतटिप्पण्याम्) । ५. 'आवर्तोऽम्भसां' इति तु मुद्रितेऽमरकोषे पाठभेदो दृश्यते । ६. कामः क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मदः । इति तु मुद्रिते कामन्दकनीतिसारे ।

१५. कामः क्रोधश्च हर्षश्च लोभो मानस्तथा मदः ।
षड्मी रिपवः प्रोक्ताः शरीरस्था हि देहिनाम् ॥ ४९४
१६. कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः ४९०
१७. कुथः स्यात्करिकम्बलः [अनेकार्थध्वनि० १४] ४९७
१८. कृपा दयानुकम्पा स्यात् [अमर० १।७।१८] ४७१
१९. क्व सरसि वनखण्डे पङ्कजानां क्व सूर्यः
क्व च कुमुदवनानां कौमुदीबन्धुरिन्दुः ।
अतिपरिचयबद्धा प्रायशः सज्जनानां
न विचलति हि मैत्री दूरतोऽपि स्थितानाम् ॥ ४९४

ग

२०. गइ इंदिएसु काये जोगे वेदे कसाय नाणे य ।
संजम दंसण लेस्सा भविया संमत्त सण्णि आहारे ॥ ५०५
[पंचसंग० गा० ४६ पृ० ५७५]
२१. गन्धेन[2] गावः पश्यन्ति ब्राह्मणा वेदचक्षुषा ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ४८०, ४९४

च

२२. चक्षुषो द्वे कपोलौ च पाणिपान्नाभिमेहनाः।
अष्टौ स्थानानि नागानां मदस्य स्रुतिहेतवः ॥ ५००
२३. चन्द्रासवाभ्यां[3] रमणीजनेभ्यः [उ० द्वि० सं० टी० पृ० १८] ४९०

त

२४. तुमुलं रणसंकुले [अमर० २।८।१०६] ५०१
२५. तीव्रैकान्तनितान्तानि [अमर० १।१।६७] ४७१
२६. तौ युतावञ्चलिः पुमान् [अमर० २।६।८५] ४६५

द

२७. दृष्टिः ज्ञानेऽक्षिण दर्शने [अमर० ३।३।३८] ४७०
२८. दोषान् कांश्चन नः[4] प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं
सार्धं तैः सहसा भृषे (म्रियेद्) यदि गुरुः पश्चात्करोत्येष किम् ।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः [आत्मानु० १४१] ४६५
२९. द्यावाभूमी[5] तु रोदसी ४८५

प

३०. पश्चरार्यैषमोऽब्दे पूर्वे पूर्वतरे यति । [अमर० ३।४।२०] ४९२

---

१. कामः क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मदः । इति तु मुद्रिते कामन्दकनीतिसारे ॥ २. गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति वै द्विजाः । चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ उ० पंचतन्त्र० ३।६५ पृ० २१५ । ३. आस्तां परेषां नरकीटकानां ततः स्थितानामपि हा मुनीनाम् । चन्द्राशवाभ्यां रमणीजनेभ्यः प्रोद्दीपनं केशवनन्दनस्य ॥ इति सम्पूर्णः श्लोकः । ४. 'नः' इत्यस्य स्थाने 'तान्' इति तु पाठो मुद्रिते, आत्मनुशासने दृश्येत । ५. 'द्यावाभूम्योस्तु रोदसी' इत्यभिधानचिन्तामणौ । ६।१६२ ।

३१. पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः [अमर० २।५।३८] ४६५
३२. प्राचुर्यविकारप्राधान्यादिषु मयट् ४६३
३३. प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्के ककुदोऽस्त्रियाम् । [अमर० ३।३।९२] ५०३

भ

३४. भक्षको घस्मरोऽद्मरः [अमर० ३।१।२०] ५०१

म

३५. मं[1] मलमित्युक्तमुपचारसमाश्रयात् ।
[2]तद्धि गालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः [सत्प्ररू० पृ० ३४] ४६३
३६. मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः ।
तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मलं पण्डितैर्जनैः[3] ॥ [सत्प्ररू० पृ० ३३] ४६३
३७. मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः [अमर० ३।१।२३] ५०१
३८. मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् । [रघु० १।३] ४६५
३९. मन्दगामी तु मन्थरः [अमर० २।८।७२] ४८५
४०. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः । [त० सू० ८।१] ४८४, ५०६
४१. मूर्च्छा पित्ततमःप्राया [माधव० मूर्च्छानि० १९] ४९०

य

४२. यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषाः । ४७१
४३. यथार्हद्गुणस्तोत्रं तन्मुख्यं मङ्गलं मतम् ।
अमुख्यं तद्गुणौपम्यात्पूर्णकुम्भादि लौकिकम् । ४६३
४४. यस्यां दिशि सूर्यः सा शान्तव्ये ज्वलितप्रधूमिते । ४८१
४५. यावोऽलक्तो द्रुमामयः [अमर० २।६।१२५] ४८५

र

४६. राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः । [अमर० २।५।२४] ४७२, ४९७

ल

४७. लोमा कासभरजनकुलः खञ्जरीटकः ।
एतेषां दर्शनं ग्राह्यं दुर्लभा च प्रदक्षिणा ॥ ५००

व

४८. वह्निना ज्वालिते तैले घृते वा कुत्रचिद्यथा ।
शीततोयच्छटापातः प्रतिप्रक्षालनं भवेत् ॥ ४९०
४९. विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बराः
शृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते ।
ये ते च प्रतिसद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो
येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ॥ [पद्मनन्दि० १।१११] ४६५

---

१. 'पापं मलमिति प्रोक्तमु' इति सत्प्ररू० पृ० ३४ । २. 'तद्धि गालयतीत्युक्तं' इति सत्प्ररू० ३४ ।
३. 'मङ्गलं मङ्गलार्थिभिः' इति सत्प्ररू० पृ० ३३ ।

५०. विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु न क्षुद्रदेवाः[1] परिलङ्घयन्ति ।
अर्थान् यथेष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥ [उ० सत्प्ररु० पृ० ४१] ४६३

श

५१. शीतवानीरवञ्जुलाः [अमर० २।४।३०] ४९८
५२. शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥ [आप्तमी० का० १००] ५०५

स

५३. स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः । [त० सू० ९।२] ५०६
५४. सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः । ४६९
५५. सन्धिविग्रहयानासनद्वैधाश्रयाः षड्गुणाः । ५९६
५६. सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् । ४७६
५७. सुप्रपाः स्तनयित्नवः शरदि ते साटोपमुत्थाय ये
प्रत्याशं प्रसृताश्चलप्रकृतयो गर्जन्त्यमन्दं मुधा ।
ये प्रागब्दचितान् फलर्द्धिमुदकैर्व्रीहीन् नयन्तो नवान्
सत्क्षेत्राणि [2]पृणन्त्यलं जनयितुं ते सद्घना दुर्लभाः[3] ॥ [अनगार० १।८] ४६५
५८. सामदाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम् । ४९५
५९. साम प्रेमपरं वाक्यं दानं वित्तस्य चार्पणम् । [उ० द्वि० सं० टी० पृ० ५८] ४८६
[भेदो रिपुजनाकृष्टिर्दण्डः श्रीप्राणसंहृतिः ॥]
६०. स्तब्धमुत्खनति किं न दूरतः पादपं तटरुहं नदीरयः ।
वेतसः प्रणमनाद् विवर्तते चाटुरेव कुरुते हि जीवितम् ॥ ४९५
६१. स्वसंवेदनतः सिद्धे निजे वपुषि चेतने ।
शरीरे परकीयेऽपि स सिद्ध्यत्यनुमानतः ॥ ४७५

ह

६२. हीनन्यूनावूनगर्ह्यौ [अमर० ३।३।१२८] ४७१
६३. हेषा ह्रेषा च निस्वनः [अमर० २।८।४७] ५००

१. 'दुष्टदेवाः' इति तु सत्प्ररूपणायाम् । २. 'पणन्त्यलं' इति तु मुद्रितेऽनगारधर्मामृते । ३. 'दुर्लभा-स्तद्घनाः' इत्यपि पाठोऽनगारधर्मामृते दृश्यते ।

५. मूल ग्रन्थकी सूक्तियाँ

चिरंतनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः	१।७
विराजतेऽनेकशकुन्तसंकुलो न राजहंसेन विना जलाशयः	१।६३
स्वहितं मन्दमतिर्न पश्यति	१।६९
बलवत्ता खलु कापि कर्मणः	१।७२
सुधियः सङ्गसुखैकनिःस्पृहाः	१।७४
मधुदिग्धमुखाममन्दधीरसिधारां खलु को लिलिक्षति	१।७८
भवति हि मतिभाजां काललब्धिर्न वन्ध्या	१।८०
···लक्ष्मीर्भवति मुदे नहि बान्धवैर्वियुक्ता	१।८२
स्वपक्षदर्शनात् कस्य न प्रीतिरुपजायते	२।१५
यस्य देवस्य गन्तव्यं स देवो गृहमागतः	२।२६
संदिग्धं हि परिज्ञानं गुरुप्रत्ययवर्जितम्	२।४३
सति धर्मिणि धर्मा हि भवन्ति न तदत्यये	२।४६
यातु दिग्भ्रमसंभ्रान्तः पुरुषः केन वर्त्मना	२।५०
उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः	२।५२
उपकाराश्रया सर्वा संबन्धसमवस्थितिः	२।७७
नन्वाश्रयाय सकलस्य सतां प्रयासः	३।९
सर्वं हि विस्मयकरं महतां स्वरूपम्	३।१०
कर्तव्यवस्तुनि पुनर्नियतिः प्रमाणम्	३।२८
अन्धः सुलोचन इति व्यपदेशकामः	३।३२
पुत्रं विहाय निजसंततिबीजमन्यो न त्वस्ति मण्डनविधिः कुलपुत्रिकाणाम्	३।३३
तत्रोत्सुकं भवति भाग्यवतां हि चेतो यत्संपदां नियतमङ्गमनागतानाम्	३।५९
विक्षिप्तवृत्ति हि मनो न विचारदक्षम्	३।७३
मदं भजन्ते न महानुभावाः	४।१३
प्रज्ञां हि मोहः शिथिलीकरोति	४।१७
नारम्भदोषान्गणयत्यनन्तदुःखप्रदान्मोहवशेन जीवः	४।२०
बुद्धेः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः	४।२७
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम्	४।३८
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितीशः	४।३९
विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्रः	४।४०
गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम्	४।४२
पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः	४।४४
सतां हि कोपो नमनावसानः	४।५८
युक्तैव दीनेषु कृपोन्नतानाम्	४।५९

चेतः प्रभूणां नहि नोचितज्ञम्	४।६३
दैवेऽनुकूले किमु नानुकूलम्	४।६६
सन्तः प्रयान्ति विषयेषु हि नातिसक्तिम्	४।७७
गुणसंपदेव गुरुतां नयते	५।२६
न सुपुत्रतः परमलंकरणम्	५।४८
गुणेषु केषां न मनोऽनुरक्तम्	५।८५
अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ साधारणौ सर्वशरीरभाजाम् ।	
इत्यात्मबुद्ध्या विगणय्य विद्वान्न खेदयत्यात्ममनो विषादैः	५।८५
विपत्सु दैवोपनिबन्धनासु प्रखिद्यते कातरधीर्न धीरः	५।८८
नहि विद्वानसमीक्षितं विधत्ते	६।१९
संमितभाषिणो हि सन्तः	६।२२
न सहायविनाकृता कदाचित्पुरुषस्योद्यमशालिनोऽपि सिद्धिः	६।३१
मतयो न खलूचितज्ञतायां मृगयन्ते महतां परोपदेशम्	६।७८
जनयत्युत्सुकतां न कस्य बन्धुः	६।११०
दुर्लभं किमथवा शुभोदये	७।१७
धर्म एष हि सतां क्रमागतो यन्न यान्ति विभवेन विक्रियाम्	७।२८
श्रेयसि त्वरयते हि भव्यता	७।५४
मूर्तिरुत्सवकरी सकलस्य सज्जनस्य सविकासकलस्य	८।१८
यत्प्रियैकवचसामपरस्य जायते तदसामपरस्य	८।१९
सर्जने हि विधिरप्रतिमोहस्तस्य युक्तघटनां प्रति मोहः	८।३१
मेरुभूधरसदृक्षममुक्तं धैर्यमापदसनक्षममुक्तम्	८।३६
कं वचांसि रसभा रचितानि प्रीणयन्ति न बुधै रचितानि	८।४५
भास्वतां न हृदयं नहि मानि	८।५०
सकृदबुधतया कृतेऽपराधे भवति ततो विनिवृत्तिरेव दण्डः	९।११
नहि भवति यथा स्थिरं क्रियादावधिकृतनिर्वहणे तथैव चेतः	९।१४
न खलु हितं मदमूढधीरवैति	९।३०
व्रजति खलु बुधोऽपि विप्रमोहं युवतिषु कैव कथा जलात्मकानाम्	९।४४
परकृत्यविधौ समुद्यतः पुरुषः कृच्छ्रगतोऽपि पूज्यते	१०।४
बलवान् विधिरेव देहिनां न सहाया न मतिर्न पौरुषम्	१०।६
विषये गुणवृद्धिवर्जिते गुणहीनाः प्रभवन्ति का गतिः	१०।७
गुणदोषाः सदसत्प्रसङ्गजाः	१०।११
न जहाति पुमान् कृतज्ञतामसुभङ्गेऽपि निसर्गनिर्मलः	१०।१३
गुणवान् समुपैति सेव्यतां गुणहीनादपरज्यते जनः	१०।१४
भवतीह विनापि हेतुना घटना कस्यचिदेव केनचित्	१०।२३
अपहन्ति नरो निसर्गजानपि दोषान् गुणवन्तमाश्रितः	१०।२५
महतां हि परोपकारिता सहजा नाद्यतनी मनागपि	१०।२६
शरणागतरक्षणं सतां नहि जातु व्यभिचारमेष्यति	१०।२९
धिगिमां दग्धविधेर्विडम्बनाम्	१०।३१

सुहृदर्थपरैर्महात्मभिर्न पुनः स्वार्थपरैरुदीयते १०।३८
निरपेक्षा हि परोपकारिता १०।४०
नो किंचित्फलमतिभग्नपीडनेन १०।७०
कोपोऽयं नियतममङ्गलावसानः १०।७१
किं जातु त्यजति महामृतस्य वृक्षो माधुर्यं विषवनमध्यसंप्रसूतः १०।७३
अहो नराणां भवगर्तवर्तिनामशाश्वतीं पश्यत जीवितस्थितिम् ११।१०
बिभेति पापान्न सतामसंमतान्न मन्यते दुर्गतिदुःखमुद्धतम् ।
विलोभ्यमानो विषयामिषाशया करोत्यकर्तव्यशतानि मानवः ११।१४
अहेतुकाः क्वापि न कार्यसंपदः ११।२०
निरन्तरं मुञ्चति वारि वारिदे विगाहितुं धूलिरलं हि नाम्बरम् । ११।२१
भवाम्बुराशौ पुनरापदां पदे पतन्ति ते ये न हिते विजाग्रति ११।२४
यदीदमागन्तुकदुःखकारणं प्रशस्यते संसृतिसौख्यमज्ञकैः ।
तदा प्रशंसास्पदमेतदप्यहो विषान्वितस्यास्तु गुडस्य भक्षणम् ११।२५
हितान्न योऽपैति स एव पण्डितः ११।३०
हितानुबन्ध्याचरितं महात्मनाम् ११।५४
शुभं तनोत्याशु निहन्ति चाशुभं करोति किं वा न सतामनुग्रहः ११।५७
किमस्ति दीनोद्धरणात्परं तपः ११।६१
स्थिरा हि सन्तः करणीयवस्तुनि ११।७०
प्रत्यक्षमन्यदथवा जगति प्रमाणं संवादकं मतिमतां सकलं प्रमाणम् ११।७८
नहि जगति नराणां पुण्यभाजामसाध्यम् ११।९१
महतामतिदूरवर्तिनोऽप्यनुरागं जनयन्ति ते गुणाः १२।६
भजते मदवृत्तिमात्मवान् क इवानात्महितप्रवर्तिनीम् १२।१२
मदमूढमतिर्हिताहितं न हि जात्यन्ध इवावलोकते
परिपश्यति सोऽथवा धिया न मदान्धस्तु धिया न चक्षुषा १२।१३
ननु खड्गबलेन भुज्यते वसुधा न क्रमसंप्रकाशनैः १२।३१
बलवानहमित्यहंक्रिया नहि सर्वत्र भवेत्प्रशान्तये १२।३५
भवति प्रियमिष्टसाधकं महति क्षुद्रजने हठक्रिया १२।४०
स्वहितं स्वधियैव बुध्यते पुरुषः सत्युदये सुकर्मणः ।
अविधेयविधिर्न बुध्यते स्वधिया नापि परेण बोधितः १२।४३
न निमित्तमिहोपदेशको न च शास्त्रं न च साधुसंगतिः ।
कुशलाकुशला च जायते धिषणा दैववशेन देहिनाम् १२।४४
प्रविचिन्त्यमुदेतुमिच्छता प्रथमं स्वस्य परस्य चान्तरम् ।
परिमृश्य कृतो न हि क्रमः शरभस्येव विपाकदारुणः १२।४६
अधमेन समेन वाधिकामधिगच्छन्निजभाग्यसंपदम् ।
मतिमान् विदधातु विग्रहं बलवद्भिः सह कोऽस्य विग्रहः १२।४७
परिवारितमप्यगैर्नगं क्षुभितः प्लावयितुं क्षमोऽम्बुधिः १२।५१
स्फुटतामुपयाति कस्यचिद्रसभेदो नहि जिह्वया विना १२।५२
प्रतिकूलजने ह्युपेक्षणं हितशिक्षानुगतैकवृत्तिषु १२।५३

अवभासयतेऽखिलं जगद्दिवसोऽयं महिमा रवेरसौ	१२।५८
अपथाद्विनिवर्तयेत को गुरवश्चेन्न भवेयुरङ्कुशाः	१२।६१
नहि धामधनोऽप्यसारथिर्नभसः पारमुपैति भास्करः	१२।६२
नहि कार्यविपश्चितः पुरो निगदन्राजति शास्त्रपण्डितः	१२।७०
नयविक्रमयोर्नयो बली नयहीनस्य वृथा पराक्रमः	१२।७३
बलवानपि जायते रिपुः सुखसाध्यः खलु नीतिवर्तिनाम्	१२।७४
परिनिर्वाति किमग्निरग्निना	१२।७८
प्रभु दोषशतं प्रमार्जितुं पुरुषस्यैकमपि प्रियं वचः	१२।८०
धनहानिरुपप्रदानतो बलहानिर्नियमेन दण्डतः ।	
अयशः कपटीति भेदतो बहुभद्रं नहि सामतः परम्	१२।८१
पठितव्यमिहान्यथा स्थितं करणीयप्रतिपत्तिरन्यथा ।	
नहि पृष्ठभरे नियुज्यते हलसंभावितयोग्यतः पशुः	१२।८३
अविभाव्यप्रकृतिर्हि दुर्जनः	१२।८५
विषये खलु संनियोजितः सदुपायः फलवान्न चान्यथा ।	
नहि वज्रधरायुधोचिते क्रमते ग्रावणि लोहमायुधम्	१२।८६
उपयाति सुखेन वश्यतां किमनड्वानपनाथनासिकः	१२।८७
पुरुषस्तपनीयवद्गुरुर्न परैर्यावदसौ निगृह्यते ।	
तुलितस्तु स एव तत्क्षणात्तृणराशौ निपतत्यसंशयम्	१२।८८
शिवहेतुरुदाहृता क्षमा व्रतिनामेव न मेदिनीभुजाम्	१२।८९
कृपणस्य परानुवर्तनैः सततार्तस्य धिगस्तु जीवितम् ।	
अनुनीय परं निजोचितैर्ललितैर्जीवति किं न मण्डलः	१२।९१
सहते कः खलु मानखण्डनम्	१२।९३
रहितः सहजेन तेजसा पशुवत्केन बलान्न वाह्यते ।	
महतामत एव वल्लभा ननु वृत्तिर्मृगराजसेविता	१२।९४
सुविचार्य करोति बुद्धिमानथवा नारभते प्रयोजनम् ।	
रभसात्करणं हि कर्मणां पशुधर्मः स कथं नु मानुषे	१२।१०२
तनयः स तनोति यः कुलं स सुहृद् यो व्यसनेऽनुवर्तते ।	
स नृपः परिपाति यः प्रजां स कविर्यस्य वचो न नीरसम्	१२।१०८
गुरुवचनं ह्युदयैषिणामलङ्घ्यम्	१२।१११
क्वचिदतीव गुणोऽप्यगुणायते	१३।४२
सहजमेव पुरंध्रिषु कैतवम्	१३।४५
विषयिणो नियतं विपदां परम्	१३।४९
न श्रेयसे खलु भवत्यपदेऽपि कोपः	१३।६०
शान्त्यै भवत्युपकृतं क्व खलप्रियेषु	१४।६३
रम्यं कुतूहलकरं न यथा ह्यपूर्वम्	१४।६५
युक्तः परार्थघटने महतां प्रमोदः	१५।६६
दैवादुपस्थिते कृच्छ्रे शूराणां विक्रमः क्रमः	१५।६२
तुलयन्ति महान्तो हि नात्मानमधमैः समम्	१५।१०४

धिक् कष्टमीदृशं कर्म करोति कथमीरितः ।
लक्ष्मीकुलटया लोकः क्षणरक्तविरक्तया १५।१३४
विपत् संपदि जागर्ति जरा जागर्ति यौवने ।
मृत्युरायुषि जागर्ति वियोगः प्रियसंगमे १५।१३५
नावियोगः सुहृत्सङ्गो न जन्मामृत्युदूषितम् ।
यौवनं न जराग्रस्तं श्रीर्नापदकटाक्षिता १५।१३६
रक्षायै प्रजया दत्तं षष्ठांशं वेतनोपमम् ।
गृह्णन् भृतकवन्मूढो राजाहमिति मन्यते १५।१३७
क्रोधादिभिरयं जीवः कषायैः कलुषीकृतः ।
तत् किंचित् कुरुते कर्म यत् स्वस्यापि भयावहम् १५।१३८
भ्रातॄन् हन्ति पितॄन् हन्ति बन्धूनपि निरागसः ।
हन्त्यात्मानपि क्रोधाद्धिक् क्रोधमविचारकम् १५।१३९
हन्ता यथाहमस्यात्र परत्रैष तथैव मे ।
संसारे हि विवर्तन्ते बलवीर्यविभूतयः १५।१४०
भोगान् धिग् धिग् धनं धिग् धिग् धिग् धिगिन्द्रियजं सुखम् ।
धिग् धिक् परोपघातेन यदन्यदपि जायते १५।१४१
न परं बन्धनं प्रेम्णो न विषं विषयात् परम् ।
न कोपादपरः शत्रुर्न दुःखं जन्मनः परम् १५।१४३
प्रायेण स्थिरमतयोऽपि विप्रमोहं नीयन्ते मदनफलैरिवेन्द्रियार्थैः १६।२२
मन्दत्वं भवति न कस्य वाभिभूत्यै १६।२३
प्रणतकृपालवो महान्तः १६।२७
मुदे केषां न स्यादभिलषितसंप्राप्तिरथवा १६।६७
अथवा न कस्य जिनजन्म वृद्धये १७।७
शक्यमिदमशक्यमिति प्रविचारबाह्यमतयो हि कार्यिणः १७।२६
किमु नौश्रितो जलनिधौ निमज्जति १७।२८
नहि बाधते तुहिनमग्निसेविनम् १७।२९
किमु विस्रसा श्रमहरं न चन्दनम् १७।३१
जनवृद्धिहेतुरुदयो हि तादृशाम् १७।५३
सक्रिमविरतमतिः कुरुते हतबुद्धिरेव न तु बोधभासुरः १७।६९

६. मूलग्रन्थगत विशिष्ट-शब्द-सूची

व्यक्तिगत-नाम

अकलङ्क (२.१०४) : तत्त्वार्थ-वार्तिक आदि ग्रन्थोंके प्रणेता

अग्रज (१.१) : प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव

अजितंजय (५.२३) : कोशला नगरीका राजा

अजितसेना (५.३६) : रा० अजितंजयकी पत्नी

अजितसेन (५.४०) : रा० अजितंजयका पुत्र

अनन्त (३.४४) : इस नामके एक चारणमुनि

कण्ठ (१५.१७) : रा० पद्मनाभका सामन्त

कनकप्रभ (१.३९) : रत्नसंचयपुरका राजा

केतु (१५.७३) : रा० पृथिवीपालका सामन्त

गुणप्रभ (११.३१) : इस नामके एक मुनि

चण्डरुचि (५.५३) : इस नामका एक असुर

चन्द्रकीर्ति (१५.११२) : रा० पृथिवीपालका सामन्त

चन्द्रशेखर (१५.६१) : रा० पृथिवीपालका सेनापति

चित्राङ्ग (१५.१७) : रा० पद्मनाभ का सामन्त

जयवर्मा (६.४३) : विपुलपुरका राजा

जयश्री (६.४४) : रा० जयवर्माकी पत्नी

जितशत्रु (११.६७) : सम्राट् अजितसेनका पुत्र

तपोभूषण (५.७२) : इस नामके एक मुनि

देवाङ्गद (३.५३) : इस नामका एक वणिक्

धरणीध्वज (६.७६) : आदित्यपुरका राजा

धर्मपाल (१५.९४) : रा० पृथिवीपालका पुत्र

धर्मरुचि (१७.६६) : इस नामका एक देव

धृति (१६.७०) : इस नामकी एक देवी

पद्मनाभ (१.५८) : रा० कनकप्रभका पुत्र

परंतप (१५.१७) : रा० पद्मनाभका सामन्त

पुरुभूति (१२.६७) : रा० पद्मनाभका प्रधान मन्त्री

पृथिवीपाल (१२.३) : रा० पद्मनाभ विरोधी राजा

प्रभावती (४.१५) : श्रीवर्माकी पत्नी

प्रभास (७.६५) : इस नामका एक देव

प्रियधर्म (६.७७) : इस नामके एक क्षुल्लक

भीम (१५.१६) : रा० पद्मनाभका सामन्त

भीम (१५.६७) : रा० पद्मनाभका सेनापति

भीमरथ (१५.१८) : रा० पद्मनाभका सामन्त

महासेन (१५.१६) : रा० पद्मनाभका सामन्त

महासेन (१६.११) : भ० चन्द्रप्रभके पिता

महीरथ (१५.१८) : रा० पद्मनाभका सामन्त

मागध (७.६६) : इस नामका एक देव

लक्ष्मणा (१६.१६) : भ० चन्द्रप्रभकी माता

वरुणा (१८.१५०) : इस नामकी एक आर्यिका

विरोचन (१५.७७) : रा० पृथिवीपालका सामन्त

वीर (१.४) : चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर

शशिप्रभा (६.४५) : रा० जयवर्माकी पुत्री

शशिलाञ्छन (१.२) : अष्टम-तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ

शशिशेखर (१५.७१) : रा० पृथिवीपालका सेनापति (चन्द्रशेखर इसीका अपर नाम है)

शशी (६.३३). इस नामका एक किसान
शान्ति (१.३) : सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ
श्री (१६.७०) : इस नामकी एक देवी
श्री (३.५३) : देवाङ्गद वणिक्‌की पत्नी
श्रीकान्ता (३.१४) : रा० श्रीषेणकी पत्नी
श्रीधर (१.८१) : इस नामके एक मुनि
श्रीप्रभ (४. ४५) : इस नामके एक आचार्य
श्रीवर्मा (३.७५) रा० श्रीषेणका पुत्र
श्रीषेण (३.१) : श्रीपुरका राजा
समन्तभद्र (१.६) : देवागम आदि ग्रन्थोंके प्रणेता
सुकुण्डल (१५.१७) : रा० पद्मनाभका सामन्त
सुधर्म (६.८१) : इस नामके एक मुनि
सुनन्दा (३.५३) : देवाङ्गद वणिक्‌की पुत्री
सुभीम (१५.१६) ; रा० पद्मनाभका सामन्त
सुवर्णनाम (१.८५) : रा० कनकप्रभका पुत्र
सुवर्णमाला (१.५४) : रा० कनकप्रभकी पत्नी
सुकेतु (१५.७५) : रा० पृथिवीपालका सामन्त
सूर्य (६.३३) : इस नामका एक किसान
सूर्यरथ (१५.९०) : रा० पृथिवीपालका सामन्त
सेन (१५.१६) : रा० पद्मनाभका सामन्त
सोमप्रभा (१.८५) : रा० पद्मनाभकी पत्नी
सौवर्णमाल (१५.१२७) : सुवर्णनाभका अपर नाम
हिरण्य (६.३५) : इस नामका एक देव
ह्री (१६.७०) : इस नामकी एक देवी

पशु-नाम

अश्व (१५. ६०) : घोड़ा
अष्टापद (१.५१) : आठ पैरोंका हिंसक पशु
करेणु (१४.५९) : हथिनी
कुरङ्ग (१.४४) : मृग
केसरिन् (५.३२) : सिंह
खर (२.९९) : गदहा
खड्गिन् (६. १३) : गेंडा
गज (१.२५) : हाथी
गजेन्द्र (६.१२) : गजराज
गो (१.४७) : गाय तथा पृथिवी
गो (१.६५) : बैल
चमर (१४.२०) : विशेष प्रकारका मृग
चमरी (४.६२) : विशेष प्रकारकी मृगी
जरद्गव (१.६६) : बूढ़ा बैल
जलेभ (१.२२) : जलगज
तुरग (३.७) : घोड़ा
दिक्करिन् (५.३४) : दिग्गज
नाग (३.७) : हाथी
पुण्डरीक (६.८) : बाघ
पोतक (१.१०) : दस वर्षका हाथीका बच्चा
प्लवग (६.१०) : बन्दर
मत्तवारण (२.१३२) : उन्मत्त हाथी तथा छज्जा
मय (१३.२८) : ऊँट
मार्जारपोत (१४.३२) : बिलावका बच्चा
मृगेन्द्र (४.६२) : सिंह
रासभ (२.९७) : गदहा
वेगसर (१३.२७) : खच्चर
वृषभ (१४.६४) : बैल
व्याघ्री (२.७१) : वाघिन
शिवा (१५.२७) : शृगाली
सप्ति (१०.७५) : घोड़ा
सिंह (१.३१)
हरिण (१६.२)

पक्षि-नाम

अन्यपुष्ट (३.४३) : कोकिल
कपोत (१६.५१) : कबूतर
कुक्कुट (२.११८) : मुर्गा
कोक (९.३७) : चक्रवाक
कोकिल (८.८)
गरुत्मन् (६.५४) : गरुड़
घूक (३.२) उल्लू
चकोर (३.६४)
चक्रवाक (४.३५)
तार्क्ष्य (१५.७४) : गरुड़
नीलकण्ठ (१४.३७) : मयूर
भारद्वाज (१५.२८)
रथाङ्ग (१०.६६) : चक्रवाक
राजहंस (१.६३)
वायस (१५.२८) : कौवा
शिखण्डिन् (१.२८) : मयूर
शिखिन् (८.५४) : ,,
शुक (१.१३) : तोता
सारिका (१२.९९) : मैना
हंस (२.१३५)
हंसी (८.५७)

वृक्ष-नाम

अशोक (२.१३) : इसी नामसे प्रख्यात वृक्ष
कदम्ब (२.२२) : इसी नामसे प्रख्यात वृक्ष
कर्णिकार (८.३१) : कनेर
क्रमुक (२.११५) : सुपाड़ीका वृक्ष
काञ्चनार (८.२५) : कचनार
कुटज (२.१९) : कौरैया
कुन्द (२.१८) : इसी नामसे प्रसिद्ध वृक्ष
कुरबक (८.८) लाल कटसरैया
चम्पक (२.१६) : चम्पा
चूत (२.१२) : आमका वृक्ष
तमाल (९.२) : इसी नामसे विख्यात काले रंगका वृक्ष
तिलक (२.१५) : तालमखाना
नवमल्लिका (२.२१) : वसन्ती नेवारी वृक्ष
नागशाखिन् (१७.८२) : नाग-वृक्ष
पलाश (२.१७) : ढाक
पुन्नाग (२.३२) : नागकेसर
बकुल (२.१४) : मौलसिरी
बाण (२.१०) : इसी नामसे प्रसिद्ध वृक्ष
मल्लिका (२.१३७) : छोटी बेला
सप्तपर्ण (६.९) : सप्तच्छद
सल्लकी (१४.६२) : सलई

आभूषण-नाम

अङ्गद (१३.६) बाजूबन्द
कटक (१७.४९) : कड़े
कर्णपूर (२.७)
कुण्डल (१३.४)
चूडारत्न (१५.१७) : चूडामणि
नूपुर (९.३) : पायल
प्रालम्ब (१५.१७) : लम्बा हार
मणिकङ्कण (१५.१६)
मणिमाला (१०.५९)
मणिमुद्रिका (१७.४९)
मुकुट (७.९३)
मौक्तिकमाला (१५.१६)
रत्नकण्ठिका (१५.१७)
रशना (७.८९) : करधनी
हार (९.७)
हारयष्टि (१.६)
हारलता (१३.३)
हारलतिका (७.८५)

शस्त्रास्त्र-नाम

अचलास्त्र (६.१०५)
अब्दास्त्र (६.१०५)
अर्धचन्द्र (१५.७१)
असि (६.१०६)
आग्नेयास्त्र (६.१०५)
इषु (६.५४)
उद्यमास्त्र (६.१०५)
कुन्त (१५.१०८)
कुलिश (६.१०५)
गदा (१५.१२८)
गरुडास्त्र (६.१०५)
चक्र (१५.१२७)
चाप (२.५)
तन्द्रास्त्र (६.१०५)
तपनास्त्र (६.१०४)
तामसास्त्र (६.१०३)
दण्ड (१५.४८)
पवनास्त्र (६.१०५)
प्रास (१५.१०८)
भुजगास्त्र (६.१०५)
मुद्गर (१५.१२७)
वज्रमुष्टि (१५.१२९)
विघ्नविनायकास्त्र (६.१०५)
शक्ति (१५.१२८)
शंकु (१५.८६)
सिद्धयस्त्र (६.१०५)
हेति (६.१०६)

भौगोलिक नाम

अङ्ग (१६.२५) : भागलपुरसे मुंगेर तक फैले हुए प्रदेश में 'अङ्ग' नामक देश था।
अनुत्तर वैजयन्त (१५.१६१) : यह विमान पाँच अनुत्तर विमानोंमें दूसरा है।
अपर विदेह (२.११४) पुष्करद्वीपवर्ती पूर्वमन्दरगिरिकी पश्चिम दिशाका एक क्षेत्र।
अयोध्या (७.८०) : धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व भरतकी एक नगरी।
अरिञ्जय (६.४१) : ,, ,, का ,, देश।
अलका (५.२) : ,, ,, ,, ,, ,,।
आदित्यपुर (६.७५) : ,, ,, के विजयार्ध पर्वतके दक्षिणका एक नगर।
आन्ध्र (१६.३४) : सम्प्रति इसका यही नाम है।
इषुकार गिरि (५.१) : धातकीखण्ड द्वीपके दक्षिणका एक पर्वत, जिसका आकार बाण सरीखा है।
उत्तरापथ (१६.४७) : भारतवर्षका उत्तरी भाग पहले उत्तरापथ कहलाता था।
उदयाद्रि (१०.१९) : धातकीखण्ड द्वीपका एक पर्वत।
उड्र (१६.२८) : यह देश किसी समय उड़ीसाके भूभागमें विद्यमान था।
कर्णाट (१६.३५) : वर्तमान कर्णाटक, जिसमें मैसूर तथा कुर्ग आदि जिले सम्मिलित हैं।
कलिङ्ग (१६.२६) : यह देश कभी उड़ीसासे आन्ध्र तक फैला हुआ था।
काश्मीर (१६.५०) : इस समय भी इसका यही नाम प्रसिद्ध है।
कीर (१६.५०) : पंजाबका कीर ग्राम या बैजनाथ।
कोशला (५.१२) : धातकीखण्ड द्वीपके अलका नामक देशकी एक नगरी।
खश (१६.५१) : इस देशकी स्थिति काश्मीरके दक्षिणमें थी।
चन्द्रपुरी (१६.६) : वाराणसीके निकट गंगातटपर स्थित यह पुरी अभी भी जैनोंमें इसी नामसे प्रसिद्ध है।
चेदी (१६.२८) : मध्यप्रदेशकी चंदेरीके आस-पासका प्रदेश पहले 'चेदी' देशके नामसे प्रख्यात रहा।
जलवाहिनी (१३.५३) : धातकीखण्ड द्वीपकी एक नदी।
टक्क (१६.४९) : झेलम और सिन्धु नदियोंके बीचका प्रदेश 'टक्क' या 'वाहीक' देश कहलाता था।
द्विपूरणद्वीप (१.११) : दूसरा द्वीप—धातकीखण्ड।
द्रमिल (१६.३६) : यह द्रविड देशका ही अपर नाम है, जो कृष्णा और पोलार नदियोंके बीचमें था।
परुषा (६.४) : धातकीखण्ड द्वीपकी एक अटवी।
पाञ्चाल (१६.२७) : उत्तरप्रदेशका रुहेलखण्ड 'पाञ्चाल' देशके नामसे प्रख्यात रहा।
पारस (१६.४२) : फर्सिया या फारस 'पारस' देशके नामसे प्रसिद्ध था।
पूर्वदेश (१६.१) : वाराणसीसे आसाम और बर्मा तकका पूर्वीय भारत 'पूर्व देश' कहा जाता था।
पूर्वमन्दर (१.११) : धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वभागका पर्वत, जो पाँच मेरुपर्वतोंमें गिना जाता है।
पूर्व विदेह (१.१२) : ,, पूर्व मन्दरके पूर्व भागका एक क्षेत्र।
मङ्गलावती (१.१२) : ,, ,, ,, विदेह का ,, देश।
मनोहर (२.२) : रत्नसंचयपुरका एक उद्यान।
मणिकूट (१४.१) : धातकीखण्ड द्वीपका एक पर्वत।
मलयगिरि (१६.३७) : दक्षिण भारतके ट्रावनकोरकी पर्वत श्रेणियाँ।
रत्नसंचयपुर (१.२१) : धातकीखण्डद्वीपके मङ्गलावती देशका एक पुर।
लाट (१६.४०) : दक्षिणी गुजरात और खानदेशका सम्मिलित प्रदेश 'लाट' कहलाता था।

विजयार्ध (६.७३) : हिमवान् और दक्षिण समुद्रके मध्यमें स्थित, धातकीखण्डके भरतक्षेत्रका एक पर्वत।
विपुलपुर (६.४२) : धातकीखण्ड द्वीपके भरतक्षेत्रका एक पुर।
वेलाद्रि (१६.३२) : वीरनन्दीके निर्देशानुसार यह भारतके पूर्व समुद्रके निकटका एक पर्वत है।
शिवंकर (११.३२) : धातकीखण्ड द्वीपके भरतक्षेत्रका एक उद्यान।
शीतोदा (२.११४) : पुष्करार्धद्वीपके अपर विदेह क्षेत्रकी एक नदी।
श्रीपुर (२.१२५) : ,, सुगन्धि देशका एक समृद्ध नगर।
सम्मेदशैल (१८.१५२) : 'शिखरजी' नामसे प्रख्यात पुनीत तीर्थ पर्वत, जो हजारीबाग जिले में है।
सुगन्धि (२.११४) : पुष्करार्धद्वीपस्थ पूर्वमन्दरके अपर विदेहका एक देश।
सिन्धु (१६.४१) : यह देश सम्प्रति भारतके उत्तरी भागमें 'सिन्ध' नामसे प्रसिद्ध है।
हिमाचल (१६.५२) : यह पर्वत भारतके उत्तरमें है, जो हिमाचल या हिमालय नामसे प्रख्यात है।

पारिभाषिक शब्द

अधर्म (१८.६७) : जीवों और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायक एक अचेतन द्रव्य, जो व्यापक है।
अनन्तचतुष्टय (१.३) : अनन्त—अन्त रहित, चतुष्टय—चार ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य।
अनवस्था (२.५८) : वह दोष, जिसमें अनन्त अप्रामाणिक कल्पनाओंका विराम न हो।
अर्हत् (१.९) : चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके पूर्ण ज्ञान आदि गुणोंको प्राप्त करनेवाले अरिहन्त।
अवसर्पिणी (१८.३५) : वह काल, जिसमें बौद्धिक और शारीरिक आदि सभी प्रकारके ह्रास होते चले जायें।
आर्त (१८.११५) : इष्टवियोग आदि कारणोंसे जन्य दुर्ध्यान—अशुभ ध्यान।
उत्सर्पिणी (१८.३५) : वह काल, जिसमें बौद्धिक एवं शारीरिक आदि सभी प्रकारकी वृद्धि होती चली जाये।
उपादान (२.६९) वह कारण, जो स्वयं कार्यरूपमें परिणत हो जाये।
कषाय (११.४७) : कर्मरजको आत्माके साथ संश्लेष करानेमें जो गोंद जैसा कार्य करे।
गणधर (१८.१५२) : तीर्थङ्करोंके शिष्य, जो चार ज्ञानोंसे विभूषित विशिष्ट मुनि होते हैं।
गणाधिप (१.९) : समवसरणस्थ बारह गणोंके स्वामी—प्रधान गणधर या गणधर।
घाति (१४.३६) : आत्माके अनुजीवी ज्ञान आदि गुणोंके घातक ज्ञानावरण आदि चार कर्म।
धर्म (१८.६७) : जीवों और पुद्गलों में सहायक अचेतन द्रव्य, जो सर्वत्र व्याप्त है।
धर्म्य (१८.११५) : आज्ञाविचय आदि चार भेदोंमें विभक्त एक शुभ ध्यान।
नय (३.११) : वस्तुके एक अंशको जाननेवाला ज्ञान।
नास्तिक (२.४४) : वह व्यक्ति या दर्शन, जो आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक और मोक्षको न माने।
निदान (३.५४) : भविष्यत्कालीन भोगोंकी लालसा।
परिदेवन (१८.८५) : ऐसा रोना, जिसे सुनकर दूसरोंको भी रोना आ जाये।
पुद्गल (१८.७८) : वह अचेतन द्रव्य, जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण हों।
प्रमाण (११.३७) : सच्चा ज्ञान।
रौद्र (१८.११५) : एक अशुभ ध्यान, जो हिंसानन्दी आदि भेदोंसे चार प्रकारका है।
शुक्ल (१८.११५) : सर्वोत्कृष्ट शुभ ध्यान। अन्य ध्यानोंकी भाँति यह भी चार प्रकारका है।
समवसरण (१७.८३) : तीर्थङ्करोंकी दिव्य देशनाकी एक विशिष्ट सभा।

विविध शब्द

अ

अङ्कदोर्लालित (५.५८) : गोद-का खिलौना
अङ्गारिणी (४.६४) : अङ्गार-युक्त
अकण्टक (१२.४१) : क्षुद्र शत्रु-ओंसे रहित
अकृष्टपच्य (१२.११७) : बिना हल जोते ही उत्पन्न होने-वाला अनाज
अखिलावसर (३.२०) : आम सभा
अगम्य (४.४२) : अजेय या अभेद्य
अनलम् (५.५८) : असमर्थ
अन्तरीय (७.८३) : अधोवस्त्र
अन्त्यशरीरभाक् (५.८६) : तद्भवमोक्षगामी
अभिजाति (६.९३) : कुल
अभिशत्रु (१५.२१) : शत्रुके अभिमुख
अर्चा (१७.८८) : जिनप्रतिमा
अवर्षण (१६.५) : वृष्टि न होना—सूखा
अष्टशोभा (६.५६) : मार्जन आदि
अष्टापदवृत्ति (१.५१) : अष्टापद[1]-की भाँति स्वयंको हानि-कर अविचारित व्यापार

आ

आजिकण्डु (६.२४) : युद्धकी खुजलाहट
आधि (९.१३) : मानसिक व्यथा
आयसकञ्चुक (१३.२२) : लौह कवच
आशीविष (१५.७४) : जहरीला नाग

इ

इड्डुरिका (१३.४९) : पूरी-पकवान

उ

उपप्लुत (२.४७) : बाधित

क

कच्छवाट (४.७०) : कछवाड़ा
कञ्चुकिन् (१.४८) : अन्तःपुर-का अधिकारी
कन्दर (१४.६५) : गुफा
कन्दु (१४.४९) : मिठाई
कपाली (१४.१९) : महादेव
कम्र (३.४१) : मनोहर
कलम (१३.४२) : धान
काकली (१४.६५) : मधुर ध्वनि
काकतालीय (४.२६) : 'अक-स्मात्' अर्थमें प्रयुक्त काक-तालीय न्याय
कापिल (२.८२) : सांख्य
कार्यिन् (१७.२६) : कार्याभि-लाषी
कुथ (१३.१३) : झूल
कुलपुत्रिका (३.३३) : कुलीन स्त्री
कुलमेदिनीधर (१.१९) : कुला-चल
कूटस्थनित्य[2] (२.४९) : सर्वथा-नित्य
कूर्च (१२.८४) : दाढ़ी-मूँछ
कृत्स्न (२.९२) : समस्त

क्ष

क्षुत् (१५.३२) : छींक

ख

खपुष्प (२.४२) : आकाशका फूल—अवस्तु
खल्वबिल्वविधि (७.४७) : 'अक-स्मात्' अर्थमें प्रयुक्त खल्व-बिल्वन्याय
खेचर (६.७३) : विद्याधर

ग

गृहमेधिन् (११.६०) : गृहस्थ

घ

घनवर्त्म (५.४७) : आकाश

च

चक्ररत्न (७.१) : सम्राट्के चौदह रत्नोंमें पहला
चर (१२.१७) : गुप्तचर
चारणमुनि (३.४४) : चारण ऋद्धिके धारक आकाश-चारी मुनि

ज

जलधियोषित् (२.१२४) : नदी
जलराशियोषित् (१.१५) : नदी
जात्यन्ध (१२.१३) : जन्मान्ध

त

तनुच्छद (१५.६) : कवच
तरसा (१२.१०६) : शीघ्र

---

१. अष्टापद आठ पैरोंका कुत्तेके आकारका एक हिंसक पशु होता है। वह जिस जानवरका शिकार करता है, उसीके ऊपर बैठा रहता है। फलतः उसमें उत्पन्न हुए कीड़ोंसे वह स्वयं मारा जाता है। विशेषके लिए द्विसन्धानके 'न विक्रमः शरभनिपातसन्निभः……' इत्यादि श्लोक (२.२०) की संस्कृत टीका द्रष्टव्य है।
२. वेदान्ती (ब्र० सू० शाङ्करभाष्य पृ० २०) आत्माको कूटस्थनित्य मानते हैं। यद्यपि सांख्योंकी भी यही मान्यता है, पर वह यहाँ विवक्षित नहीं है। विशेषके लिए 'तत्त्वसंसिद्धिः' (राज विद्या-मन्दिर, बी० २४।१०९, कश्मीरीगंज, वाराणसी–१) अवलोकनीय है।

द

दिक्करी (५.३४) : दिग्गज
दीपोत्सव (२.१३०) : दीपावली
दून (८.३५) : सन्तप्त

ध

धरणीध्र (६.१८) : पर्वत
धर्मी (२.४६) : पदार्थ

न

नाथ (१२.८७) : बैलकी नाकमें पिरोयी गयी रस्सी
नान्दीश्वरपर्व (३.६०) : आष्टाह्निक पर्व
निकुरम्ब (५.३५) : समूह
निधि (७.१८) : पाण्डुक आदि नौ
निबन्धन (१.७) : निमित्त
नियति (३.२८) : भाग्य
निर्वेद (४.७७) : वैराग्य
नृकीट (६.२१) : तुच्छ मनुष्य

प

पञ्चम कल्याण (१८.१५४) : मोक्ष
पटवास (१४.४) : कपड़ोंको सुवासित करनेवाला चूर्ण
पयोविकार (४.५२) : दही आदि
परभाग (७ ८०) : शोभा
परिच्छद (९.२७) : सामग्री
परारि (११.१३) : परसों
परुत् (११.१३) : कल-अगला दिन
पल्ययन (१४.५१) : घोड़ेकी जीन
पाण्डुकदृषत् (१७.१९) : पाण्डुकशिला
पुटभेदन (३.५३) : नगर
पूत्कार (१.५०) : दुःखभरा शब्द—चीत्कार
प्रणायक (११.५०) : उत्कृष्ट नायक
प्रधूमिता (४.६४) : मलिन
प्रधान (२.८३) : सांख्याभिमत जड़तत्त्व-प्रकृति

ब

बन्दिन् (४.६८) : स्तुतिपाठक
बल्लव (१३.३०) : अहीर
बिस (१०.१७) : कमलदण्ड
बुभुत्सा (६.१३) : जिज्ञासा

भ

भीलुक (११.३०) : भीरु
भोग (७.१७) : भोग्य पदार्थ

म

मण्डलिन् (१.४७) : सामन्त
मन्दुरा (१४.४६) : घुड़साल
मय (१३.२८) ऊँट
महेच्छ (६.१०८) : महाशय
मीमांसापक्षपातिन् (२.९०) : मीमांसक
मौल[1] (४.४७) : वंशपरम्परागत
मौलि (११.२) : मुकुट

य

यतिवृष (११.७५) : श्रेष्ठमुनि
योजन (१७.८३) : चार कोस

र

रथकड्या (१३.७) : रथसमूह
रंहसा (१२.१०७) : शीघ्र
रल्लक (१३.४१) : कम्बल

ल

ललन (१२.९१) : पूछ हिलाना
लाघव (११-८९) स्फूर्ति-फुर्ती
लाङ्गल (१३.५१) : हल
लिङ्ग (२.९५) : हेतु
लिलङ्घिषु (१२.३५) : लांघनेका अभिलाषी
लोहकान्तमणि (४.४६) : चुम्बक

व

वचोहर (१२.१) : दूत
वणिक्पथ (७.८१) : बाजार
वनेचर (११.३४) : माली
वन्य (१७.९१) : व्यन्तर देव
वंश (१३.४९) : वांसुरी
वारिक (७.३७) जल भरनेवाले कहार
विप्लवि (५.५५) : भ्रमयुक्त
विवप्सु (१३.१९) : बोनेके लिए इच्छुक
विस्रसा (१७.३१) : स्वभावतः
वैवधिक (१३.३१) : काँवरसे बोझ ढोनेवाले
व्यपहस्तित (५.६५) : अपहृत

श

शक्ति (७.६९) : प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति
शतक्रतु (५.८६) : इन्द्र
शयु (६.१०) : अजगर
शाकुनिक (१७.३३) : दुष्टग्रह
शाक्य (१६.१०) : बौद्ध
शिखिन् (१२.३८) : अग्नि
शिशिक्षिषा (५.१९) : सीखनेकी इच्छा

ष

षड्वर्ग (४.१४) : काम, क्रोध, हर्ष, लोभ, मान, मद
षाड्गुण्य (१२.१०४) : सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव

स

संघट्ट (१५.३५) : संघर्ष या टक्कर
सदस् (५.५७) : सभा
सन्दंशक (१०.३२) : संसी-संड़सी
संभ्रम (५.७७) : शीघ्रता
समुत्क (१४.१९) : उत्कण्ठित
सर्वावसर (११.२) : आम सभा
सांख्यपूरुष (१२.४१) : अकिंचित्कर
सिद्धालय (३.५७) : मोक्ष
सिद्धि (४.४५) : मुक्ति
सिंहनिष्क्रीडित (१५.१५०) : एकव्रत
सुगत (५.२९) : बुद्ध
सुहृत् (३.२३) : कारण
सृणि (११.९०) : अङ्कुश
स्मृतिविप्रमोष (७.९०): स्मृतिभ्रंश

ह

हठक्रिया (१२.४०) : बलात्कार
हस्तिपाल (१४.६२) : महावत

---

१. मन्त्रि-पुरोहित-सेनापति-दुर्गाधिकारि–कर्माधिकारि – कोषागारिक–दैवज्ञा इति सप्तविधं मौलं बलम् । —व्याख्या ४.४७, पृ० १०६

७. व्याख्यान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची

शब्द	पृष्ठ	पङ्क्ति
अ		
अधिकबन्धु	१३७	१३
अनन्तजिनप	१७०	८
अन्याय	१०४	९
अमर	११	१६
अर्हदीश	१	७
आ		
आख्यानता	२९४	१८
आरादण्ड	२५३	१६
उ		
उत्कलिका	६५	२१
क		
कदलीघात	११८	१७
कर्पूरकदली	१४२	१६
काष्ठज्योति	२४०	१९
कुन्थुनाथ	२५२	८
कुरण्टक	३५	१२
क्षीरविकार	३००	११
ज		
जूर्ति	१५६	१५
त		
तुम्बिगण्डिका	२२३	१६
तृणगृह	१०१	१५
द		
दोहल	९१	८
ध		
धर्मनाथ	१९६	७
धूर्तपाप	२३८	१९
न		
नानार्थकोष	१५	१८
नियम	७८	२२
नीतिवाक्यामृत	९७	१९
नेमीश्वर	३८४	८
प		
पार्श्वनाथ	४०५	१०
पीडा	४६	७
पुष्पदन्त	३०	७
प्रार्थनात्	१०५	१६
ब		
बाधना	२९९	११
भ		
भक्तग्राम	८	८
य		
यौवनजन	३१५	१८
र		
राजेन	१४१	१८
व		
वाणिज	६८	१४
विश्व	११	२१
श		
शीतल	७०	८
शीघ्रात्	३८	११
शीघ्रेण	११५	१३
श्रीगन्ध	८४	१८
श्रीविहार	४५८	१६
स		
सूत्रकार	५५	१९
स्मराहरं	१	६

८. पञ्जिकान्तर्गत विशिष्ट-शब्द-सूची

शब्द	पृष्ठ	पङ्क्ति
अतिशक्तिता	४६९	३५
अपरगुरु	४६४	३३
आप्तमीमांसा	४७४	१३
कटोद्भेद	४७०	१२
कडार	४६६	५
कुरलक	४७४	२३
घृणि	४६४	४
जिनसेन	४६५	३८
दवरक	४६४	३५
परगुरु	४६४	३२
भृशप्रवृत्ति	४६५	१४
महादेव	४६४	२४
रामचन्द्र	४६३	१८
विद्यामल	४६५	२
श्रुतमुनि	४६३	१
सप्त ईति	४७७	२७

९. चं० प्र० में प्रयुक्त छन्दोंका विवरण

		छन्दोंके अनुसार श्लोक संख्या
१. अतिरुचिरा—	१४.६९	१
२. अनुष्टुप्—	२.१–१४२, १५. १–१५९, १८.१–१५१, प्र० ५	४५३
३. इन्द्रवज्रा—	१४.१५	१
४. उद्गता—	१७.१–८२	८२
५. उपजाति—	४.१–७४, ५.७३–७५, ७७–८१, ८३, ८६–८९, १४.३–५, ८–१०, १२–१४, १६–१९, ३१, १६.६८, प्र० १	१०३
६. उपेन्द्रवज्रा—	५.७२, ७६, ८२, ८४–८५, १४.१–२, ६–७, ११	१०
७. औपच्छन्दसिक—	१४.२५,६८	२
८. क्षमा—	१४.२४	१
९. जलधरमाला—	१४.३५	१
१०. जलोद्धतगति—	१४.३३	१
११. द्रुतविलम्बित—	१३.१–६०, १४.२१, २९	६२
१२. नर्कुटक—	१०.७८	१
१३. पुष्पिताग्रा—	१.८२, ४.७५, ५ ९०, ७.९३, ९.१–५८, १२. १११, १४.२२,३८	६५
१४. पृथ्वी—	१.८१, ७.९२, १४.२०	३
१५. प्रमिताक्षरा—	५.१–७१, १४.२३, ३९	७३
१६. प्रहर्षिणी—	१.८४, ३.७५, १०.६२–७७, ११.९०, १३.६२, १४.२६, ४०, १६.१–५६	७८
१७. भ्रमरविलसित—	१४.३०	१
१८. मन्दाक्रान्ता—	७.९१, ९.५९, १४.६७, ७०, १५.१६२, १७.८३–८९	१२
१९. मालिनी—	१.८०, ४.७६, ८.६१, ११.९१, १४.३७, ७१, १५.१६०, प्र० ३	८
२०. रथोद्धता—	७.१–७९, १४.३६	८०
२१. वंशस्थ—	१.१–६३, ११.१–७१	१३४
२२. वंशपत्रपतित—	१४.२८	१
२३. वसन्ततिलका—	१.८५, २.१४३, ३.१–७४, ४.७७, ७,८०–९०, ८.५१–६०, ११. ७२–८९, १४.२७, ३४,४१–६६, १५.१६१, १७.९०, १८.१५२	१४७
२४. वसन्तमालिका—	६.१–११०	११०
२५. शार्दूलविक्रीडित—	४.७८, ६.१११, ८.६२, १०.७९, ११.९२, १७.९१, १८. १५३–१५४, प्र० ४,६	१०
२६. शालिनी—	७.९४, १३.६१, १४.३२, १६.५७–६६	१३
२७. शिखरिणी—	५.९१, १६.६७, प्र० २	३
२८. सुन्दरी—	१.६४–७९, १०.१–६१, १२.१–११०	१८७
२९. स्रग्धरा—	१६.६९–७०	२
३०. स्वागता—	८.१–५०	५०
३१. हरिणी—	१.८३, ३.७६	२
		कुल १६९७

१०. संकेत-विवरण

ग्रन्थ-संकेत	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थ-प्रकाशन
अनगार०	अनगारधर्मामृतम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
अनेकार्थध्वनि०	अनेकार्थध्वनिमञ्जरी	चौखम्बा, वाराणसी
अनेकार्थसं०	अनेकार्थसंग्रहः	,, ,,
अभिधा०	अभिधानचिन्तामणिः	,, ,,
अलङ्कारचि०	अलङ्कारचिन्तामणिः	जैनेन्द्र प्रेस, कोल्हापुर
आत्मानु०	आत्मानुशासनम्	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
आप्तमी०	आप्तमीमांसा	जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
उ० पु०	उत्तरपुराणम्	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
का० नी०	कामन्दकीय नीतिसारः	आनन्दाश्रम, पूना
काव्यप्र०	काव्यप्रकाशः	ज्ञानमण्डल, वाराणसी
काव्याद०	काव्यादर्शः	चौखम्बा, वाराणसी
काव्यानु०	काव्यानुशासनम्	निर्णयसागर, बम्बई
किरात०	किरातार्जुनीयम्	,, ,,
क्षत्रचू०	क्षत्रचूडामणिः	कृष्णविलास प्रेस, तंजौर
चं० च०	चन्द्रप्रभचरितम्	प्रस्तुत ग्रन्थ
जिनदत्तच०	जिनदत्तचरितम्	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
त० सू०	तत्त्वार्थसूत्रम्	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत
तत्त्वार्थवा०	तत्त्वार्थवार्तिकम्	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तिलोय०	तिलोयपण्णत्ती	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
त्रिषष्टिस्मृति०	त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रम्	माणिकचन्द्रदिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
त्रिषष्टिशलाकापु०	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्	श्री जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर
द्वि०सं०	द्विसन्धानमहाकाव्यम्	निर्णयसागर, बम्बई
ध० नाम०	धनञ्जयनाममाला	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
धर्मश०	धर्मशर्माभ्युदयम्	निर्णयसागर, बम्बई
नीतिवा०	नीतिवाक्यामृतम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
नैषध०	नैषधीयचरितम्	निर्णयसागर, बम्बई

न्यायसं०	न्यायसंग्रहः	निजधर्माभ्युदय यन्त्रालय, वाराणसी (प्रकाशन वर्ष वीरनि० सं २४३७)
पञ्चसं०	पञ्चसंग्रहः	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
पद्मनन्दि०	पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
पार्श्वनाथच०	पार्श्वनाथचरितम्	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
पुराणसा०	पुराणसारसंग्रहः	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
प्रमेयरत्नमा०	प्रमेयरत्नमाला	चौखम्बा, वाराणसी
बु० च०	बुद्धचरितम्	,, ,,
माघ०	माघ-शिशुपालवधमहाकाव्यम्	,, ,,
माधवनि०	माधवनिदानम्	पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर
मुनिसुव्रतका०	मुनिसुव्रतकाव्यम्	जैनसिद्धान्तभवन, आरा
रघु०	रघुवंशमहाकाव्यम्	चौखम्बा, वाराणसी
वाग्भटा०	वाग्भटालङ्कारः	निर्णयसागर, बम्बई
विश्व०	विश्वप्रकाशः	चौखम्बा, वाराणसी (प्रकाशन वर्ष सन् १९०४)
विश्वलो०	विश्वलोचनम्	निर्णयसागर, बम्बई
वैजयन्ती०	वैजयन्तीकोषः	मद्रास (प्रकाशन वर्ष ई० १८९३)
वैशेषिकसू०	वैशेषिकसूत्रम्	ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा
शाकटा०	शाकटायनव्याकरणम्	जैनेन्द्रमुद्रणालय, कोल्हापुर
सत्प्ररू०	सत्प्ररूपणा (षट्खण्डागमः)	जैनसाहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती
सागार०	सागारधर्मामृतम्	माणिकचन्द्रदि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
सा० द०	साहित्यदर्पणः	निर्णयसागर, बम्बई

●

व्याप्तः सर्वत्र भूमौ शशधरधवलः शम्भुहासापहासी
कीर्तिस्तोमो यदीयो जनयति नितरां क्षीरपाथोधिशङ्काम्।
यस्मिन् सम्मग्नकाया अमरपतिगजो दिग्गजाश्चन्द्रतारा-
जाताः सर्वाङ्गशुभ्राः स जयति सततं वीरनन्दी कवीन्द्रः ॥

जैन संस्कृति संरक्षक संघ

जीवराज जैन ग्रन्थमाला

फलटण गल्ली, शोलापुर-२.

महत्त्वपूर्ण धार्मिक ग्रन्थ

कार्यालयः-सन्तोषभुवन,

फलटण गल्ली, शोलापुर-२.

१ तिलोयपण्णत्ति भाग १ : मूल्य रु. १६-००

आचार्य यतिवृषभकृत, जैन भूगोल आदि विषयक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ; सं० डॉ० आ० ने० उपाध्ये तथा डॉ० हीरालाल जैन; पृष्ठ ५३२, संस्करण १९४३, द्वितीय संस्करण १९५६।

१ तिलोयपण्णत्ति भाग २ : मूल्य रु. १६-००

उपर्युक्त ग्रन्थका उत्तरार्ध; विस्तृत अँगरेजी और हिन्दी प्रस्तावना; पृष्ठ ५२९ से १०३२ प्रथम संस्करण १९५१। १ अ० तिलोयपण्णत्तीका गणित ले० प्रा० लक्ष्मीचन्द्र जैन; यह स्वतन्त्र पुस्तिका मिलती है। मूल्य रु० ३।

२ यशस्तिलक अँड इण्डियन कल्चर : मूल्य रु. १६-००

ले० प्रो० कृष्णकान्त हन्दिकी; गौहाटी विश्वविद्यालयके उपकुलपति; इस अँग्रेजी ग्रन्थमें आचार्य सोमदेवके महान् ग्रन्थ यशस्तिलकका (दसवीं सदी) का भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे गहन अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पृष्ठ ५४०; प्रथम संस्करण १९४९।

३ पाण्डवपुराण : मूल्य रु. १२-००

भट्टारक शुभचन्द्र विरचित संस्कृत कथाग्रन्थ; प्रस्तावना तथा हिन्दी अनुवाद सहित; सं० पं० जिनदास शास्त्री फडकुले; पृष्ठ ५२०; प्रथम संस्करण १९५८।

४ प्राकृतशब्दानुशासन : मूल्य रु. १०-००

त्रिविक्रमविरचित प्राकृत व्याकरण, सं० डॉ० परशुराम लक्ष्मण वैद्य; पृष्ठ ४७८; प्रथम संस्करण १९५७।

५ सिद्धान्तसार संग्रह : मूल्य रु. १०-००

नरेन्द्रसेनाचार्यकृत, प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ, पाठान्तर और हिन्दी अनुवाद सहित; ले० सं० पं० जिनदासशास्त्री फडकुले; पृष्ठ ३००, प्रथम संस्करण १९५७।

६ जैनिझम इन् साउथ इण्डिया अँड सम जैन एपिग्राफस् : मूल्य रु. १६-००

ले० डॉ० पी० बी० देसाई; इस अँगरेजी ग्रन्थमें आन्ध्र, कर्नाटक और तमिलनाडमें जैनधर्मके कार्यका विशद और प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। पृष्ठ ४४६, प्रथम संस्करण १९५७।

७ जम्बूदीवपण्णत्ति संगह : मूल्य रु. १६-००

आचार्य पद्मनन्दीकृत जैन भूगोल विषयक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ, (दसवीं शताब्दी) सं० डॉ० आ० ने० उपाध्ये व डॉ० हीरालाल जैन, हिन्दी अनुवादक पं० बालचन्द्र शास्त्री; तिलोयपण्णत्तीका गणित शीर्षक विस्तृत हिन्दी निबन्ध (ले० प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन) भी इसमें हैं। पृष्ठ ५००, प्रथम संस्करण १९५८।

८ कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह : मूल्य रु. ६-००

सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री; आचार्य कुन्दकुन्दके समग्र ग्रन्थोंका विषयानुसारी वर्गीकरण, अध्ययन समयसारके सम्पूर्ण अनुवादके साथ, विस्तृत प्रस्तावना सहित; पृष्ठ ८, प्रथम संस्करण १९६०।

९ भट्टारकसंप्रदाय : मूल्य रु. ८-००

सं० प्रो० विद्याधर जोहरापूरकर; बलात्कारगण तथा काष्ठसंघके भट्टारकोंका इतिहास तथा उसके साहित्यिक-शिलालेखीय और परम्परागत साधनोंके विस्तृत उद्धरण, पृष्ठ ३२६, प्रथम संस्करण १९५८।

१० पंचविंशति : मूल्य रु. १०–००

पद्मनन्दी आचार्यकृत संस्कृतके २४ और प्राकृतके दो प्रकरणोंका संग्रह (१२ वीं सदी) सं० डॉ० आ० ने० उपाध्ये व डॉ० हीरालाल जैन, हिन्दी अनुवादक पं० बालचन्द्र शास्त्री, विस्तृत प्रस्तावना (अँगरेज़ी और हिन्दी) पृष्ठ २८४, प्रथम संस्करण १९६२ ।

११ आत्मानुशासन : मूल्य रु. ५–००

आचार्य गुणभद्रकृत प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ (नौवीं सदी); इसमें विविध धार्मिक उपदेशपर सुभाषित हैं । सं० डॉ० आ० ने० उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन व पं० बालचन्द्र शास्त्री; हिन्दी अनुवाद पृष्ठ २६०, प्रथम संस्करण १९६१ ।

१२ गणितसारसंग्रह : मूल्य रु. १२–००

महावीराचार्यकृत प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ (नौवीं शताब्दी); सं० प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० एस्-सी; पृष्ठ ८६, प्रथम संस्करण १९६२ ।

१३ लोकविभाग : मूल्य रु. १०–००

सर्वनन्दी आचार्यकृत जैन भूगोल विषयक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ, हिन्दी अनुवाद, सं० पं० बालचन्द्र शास्त्री; पृष्ठ २५६, प्रथम संस्करण १९६२ ।

१४ पुण्यास्त्रवकथाकोष : मूल्य रु. १०–००

रामचन्द्रकृत संस्कृत ग्रन्थ । इसमें सरल धार्मिक कथाओंका संग्रह है । सं० डॉ० आ० ने० उपाध्ये व डॉ० हीरालाल जैन, हिन्दी अनुवादक पं० बालचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ ३६८, प्रथम संस्करण १९६४ ।

१५ जैनिझम इन् राजस्थान : मूल्य रु. ११–००

ले० प्रो० कैलाशचन्द्र जैन, अजमेर; इस अँगरेजी ग्रन्थमें राजस्थानमें प्राचीन समयसे अबतक जैन समाजके इतिहासका वर्णन और विवेचन किया गया । पृष्ठ २८४, प्रथम संस्करण १९६३ ।

१६ विश्वतत्त्वप्रकाश : मूल्य रु. १२–००

आचार्य भावसेनकृत पुरातन संस्कृत ग्रन्थ । (तेरहवीं शताब्दी), इसमें विभिन्न दर्शनोंके विचारोंका जैन दार्शनिक दृष्टिसे परीक्षण किया गया है । सं० डॉ० विद्याधर जोहरापूरकर, पृष्ठ ३९२, प्रथम संस्करण १९६४ ।

१७ तीर्थवन्दनसंग्रह : मूल्य रु. ५–००

जैन तीर्थक्षेत्रोंके विषयमें ४० दिगम्बर जैन लेखकोंकी कृतियोंका संकलन और अध्ययन, सं० डॉ० विद्याधर जोहरापूरकर, पृष्ठ २००, प्रथम संस्करण १९६५ ।

१८ प्रमा–प्रमेय : मूल्य रु. ५–००

भावसेन त्रैविद्य लिखित प्रमाणग्रन्थ ले० डॉ० व्ही० पी० जोहरापूरकर द्वारा हिन्दीमें अनुवादित पृष्ठ १५८, प्रथम संस्करण १९६६ ।

१९ एथिकल डॉक्ट्रिन्स इन् जैनिझम : मूल्य रु. १२–००

जैन आचारका विशद रूपसे प्रतिपादन करनेवाला महत्त्वपूर्ण अँगरेजी ग्रन्थ; ले० डॉ० के० सी० सोगानी पृष्ठ ३०२, प्र० सं० १९६७ ।

२० जैन व्ह्यू ऑफ लाइफ : मूल्य रु. ६–००

जैन आचारोंका तुलनात्मक अभ्यास

पार्श्वाभ्युदय मूल्य रु. २०–००

अगले प्रकाशन

सुभाषितसंदोह, धर्मपरीक्षा, ज्ञानार्णव, धर्मरत्नाकर आदि ।